भारतीय दर्शन

द्वितीय खण्ड

भारतीय दर्शन

द्वितीय खण्ड

मूल्य एक सौ पचास रुपए (150.00)
संस्करण : 1986 © प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित
BHARATIYA DARSHAN (Philosophy) by Dr. Radhakrishnan

भारतीय दर्शन

हिन्दूधर्म-पुनर्जागरण काल से वर्तमान तक

डॉ० राधाकृष्णन

राजपाल एण्ड सन्ज़

Indian Philosophy by Dr S Radhakrishnan का अनुवाद

अनुवादक :

नन्दकिशोर गोभिल

प्रस्तावना

इस खण्ड मे भी, जिसका प्रतिपाद्य विषय वैदिक षड्दर्शन का विवेचन है, मैंने पहले खण्ड जैसी ही योजना तथा विधि अपनाई है। इसके अतिरिक्त, मैंने उस भावना को भी अपनाने का प्रयत्न किया है जो दार्शनिक व्याख्या के लिए उचित मानी गई है, अर्थात् प्राचीन लेखको तथा उनके विचारो की सुचारु रूप से व्याख्या करके उन्हे दर्शन तथा धर्म-सम्बन्धी आज के विचारणीय विषयो के सन्दर्भ मे रखना। वाचस्पति मिश्र ने, जो हिन्दू विचारधारा के लगभग सभी दर्शनो के टीकाकार है, प्रत्येक पर अपनी लेखनी का जिस प्रकार प्रयोग किया है उससे प्रतीत होता है मानो वे उनके सिद्धान्तो मे भी विश्वास रखते हैं। विचारधारा की उन प्रवृत्तियो को जो प्राचीन काल मे परिपक्वता को पहुची थी और जो अनेक दुर्बोध ग्रथो मे लिपिबद्ध है, बुद्धिपूर्वक प्रस्तुत करने मे यह आवश्यक हो गया कि विशेष दृष्टिकोणो को चुना जाए, उन पर बल दिया जाए और उनकी आलोचना तक की जाए। यह कार्य, स्वभावत यह प्रकट कर देता है कि मेरी अपनी विचारधारा किस दिशा मे चल रही है। इस प्रकार के कार्य मे क्योकि विवरण-सम्बन्धी अनेक प्रकार के निर्णयो का समावेश रहता है, अत यह आशा नही की जा सकती कि यह पुस्तक निर्णय-सम्बन्धी भूलो से मुक्त होगी। किन्तु मैंने, प्रमाणो मे किसी प्रकार की उलट-फेर करने से बचते हुए, केवल विषयपरक प्रतिपादन का ही प्रयत्न किया है।

मैं यहा इस बात को दोहरा देना आवश्यक समझता हू कि मेरे विषय-प्रतिपादन को सर्वथा पूर्ण न मान लेना चाहिए। क्योकि, लगभग प्रत्येक अध्याय मे जितने विषय का प्रतिपादन है, उसके अध्ययन के लिए एक पूर्णतया सन्नद्ध विशेषज्ञ अपना पूरा जीवन लगा देता है। विशिष्ट दर्शनो के ब्यौरेवार विवेचन के लिए पृथक् निबन्धो की आवश्यकता है। मेरे कार्य का क्षेत्र सीमित है, अर्थात् विविध विचारधाराओ के आन्दोलनो की उनकी प्रेरक भावनाओ और उनके परिणामो की एक मोटी रूपरेखा तैयार करना। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के अल्प-महत्त्व के लेखको मे परस्पर जो गौण मतभेद पाए जाते है, उनको दर्शाने की मैंने वस्तुत कोई चेष्टा नही की है। शैव, शाक्त और परवर्ती वैष्णव दर्शनो के सम्बन्ध मे, जो भारत के दार्शनिक विकास की अपेक्षा धार्मिक इतिहास से अधिक सम्बन्ध रखते है, मेरा विवेचन बहुत सक्षिप्त तथा सार मात्र है। यदि मैं प्रकल्पनात्मक भारतीय विचारधारा के नाना रूपो की वास्तविक भावना का एक चित्र, जो भले ही अपर्याप्त हो, अपने पाठको के सम्मुख रख सका तो मुझे पूर्ण सन्तोष हो जाएगा।

यदि यह खण्ड पहले की अपेक्षा कुछ कठिन है तो मैं आशा करता हू कि पाठक अनुभव करेंगे कि कठिनाई का निर्माता मैं नही हू, बल्कि कुछ सीमा तक यह कठिनाई विषयगत है और गम्भीर विवेचन के कारण है जो विषय के अध्ययन के लिए आवश्यक है। मैंने अनुभव किया कि तथ्यो के पुञ्ज को एक ऐसे विशद आख्यान मे समाकर रखना, जिसे पाठक सम्भ्रम मे पडे बिना और बिना उकताए समझ सके, एक ऐसा कार्य है जिसे पहले से मापना मेरे लिए सम्भव नही था। शैथिल्य तथा पाण्डित्याभिमान के बीच मे से मध्यम मार्ग का अवलम्बन करके चलने मे मैं कहा तक सफल हो सका हू,

इसका निर्णय पाठक करेंगे। साधारण पाठक के सुभीते के विचार से अधिक पारिभाषिक अथवा सन्दर्भ-सम्बन्धी वाद-विवाद ऊपर और नीचे कुछ स्थान छोड़कर पृथक् रूप से दिए गए हैं।

इस खण्ड के सकलन मे मुझे विविध सम्प्रदायो के सस्कृत के सन्दर्भों से ही नहीं, बल्कि ड्यूसन और कीथ, थिबौत और गार्बे, गंगानाथ झा और विद्याभूषण प्रभृति विद्वानो के लेखो से भी बहुत सहायता मिली है। मैं अपने मित्रों, श्रीयुत बी० सुब्रह्मण्य ऐयर तथा प्रोफ़ेसर जे० एस० मैकेंज़ी का अत्यन्त कृतज्ञ हू क्योकि इन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि और प्रूफ के अनेक भागो को देखने का कष्ट किया तथा अनेको मूल्यवान् सुझाव दिए। प्रोफ़ेसर ए० बेरीडेल कीथ ने प्रूफ देखने की कृपा की और इनकी समालोचनाओ से पुस्तक को बहुत लाभ हुआ। मुझे पुस्तक के प्रधान सम्पादक प्रोफ़ेसर जे० एच० म्यूरहेड को भी हार्दिक धन्यवाद देना है, जिन्होंने प्रथम खण्ड के समान ही, इस खण्ड के लिए भी अपना बहुत समय और चिन्तन प्रदान किया। यदि इनकी उदार सहायता प्राप्त न होती तो इस पुस्तक मे जो भी त्रुटिया अब रह गई हैं उनसे कही अधिक रह जाती।

—राधाकृष्णन

विषय-सूची

अध्याय 1 : विषय-प्रवेश 9-18

दर्शनशास्त्रों का प्रादुर्भाव—वेदों के साथ सम्बन्ध—सूत्र-साहित्य—सामान्य विचार-धाराएं।

अध्याय 2 : न्यायशास्त्र का तर्कसम्मत यथार्थवाद 19-150

न्याय और वैशेषिक—न्याय की प्रारम्भिक अवस्था—साहित्य और इतिहास—न्याय का क्षेत्र—परिभाषा का स्वरूप—प्रत्यक्ष अथवा अन्तर्दृष्टि—अनुमान-प्रमाण—परार्थानुमान—आगमन अनुमान—कारण—उपमान अथवा तुलना—आप्त प्रमाण—ज्ञान के अन्य रूप—तर्क और वाद—स्मृति—संशय—हेत्वाभास—सत्य अथवा प्रमा—भ्रान्ति—न्याय के प्रमाणवाद का सामान्य मूल्यांकन—भौतिक जगत्—जीवात्मा और उसकी नियति—जीवात्मा तथा चेतना के सम्बन्ध के विषय में न्याय के सिद्धान्त पर कुछ आलोचनात्मक विचार—नीतिशास्त्र—ब्रह्मविद्या—उपसंहार।

अध्याय 3 : वैशेषिक का परमाणु-विषयक अनेकवाद 151-213

वैशेषिक दर्शन—निर्माणकाल तथा साहित्य—ज्ञान का सिद्धान्त—पदार्थ—द्रव्य—परमाणुवाद की प्रकल्पना—गुण—कर्म अथवा क्रिया—सामान्य—विशेष—समवाय—अभाव—नीतिशास्त्र—ईश्वर—वैशेषिक दर्शन का सामान्य मूल्यांकन।

अध्याय 4 : सांख्य दर्शन 214-287

प्रस्तावना—पूर्ववर्ती परिस्थिति—साहित्य—कार्यकारणभाव—प्रकृति—गुण—विकास—देश और काल—पुरुष—लौकिक जीवात्मा—पुरुष और प्रकृति—पुरुष और बुद्धि—ज्ञान के उपकरण—ज्ञान के स्रोत—सांख्य की ज्ञान सम्बन्धी प्रकल्पना पर कुछ आलोचनात्मक विचार—नीतिशास्त्र—मोक्ष—परलोक-जीवन—क्या सांख्यनिरीश्वरवादी है—सामान्य मूल्यांकन।

अध्याय 5 : पतञ्जलि का योगदर्शन 288-320

प्रस्तावना—पूर्ववर्ती परिस्थिति—निर्माणकाल और साहित्य—सांख्य और योग—मनोविज्ञान—प्रमाण—योग की कला—नैतिक साधना—शरीर का नियन्त्रण—प्राणायाम—इन्द्रिय-निग्रह—ध्यान—समाधि अथवा एकाग्रता—मोक्ष—कर्म—अलौकिक सिद्धियां—ईश्वर—उपसंहार

अध्याय 6 : पूर्वमीमांसा 321-367

प्रस्तावना—रचनाकाल और साहित्य—प्रमाण—प्रत्यक्ष ज्ञान—अनुमान—वैदिक प्रामाण्य—उपमान प्रमाण—अर्थापत्ति—अनुपलब्धि—प्रभाकर की ज्ञानविषयक प्रकल्पना—कुमारिल की ज्ञानविषयक प्रकल्पना—आत्मा—यथार्थता का स्वरूप—

नीतिशास्त्र—अपूर्व—मोक्ष—ईश्वर।

अध्याय 7 . वेदान्त-सूत्र 368-381

प्रस्तावना—सूत्रकार तथा सूत्रों की रचना का काल—अन्य सम्प्रदायों के साथ सम्बन्ध—अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विचार—उपसंहार।

अध्याय 8 . शंकर का अद्वैत वेदान्त 382-577

प्रस्तावना—शंकर का जन्मकाल—साहित्य—गौडपाद—अनुभूत ज्ञान का विश्लेषण—सृष्टि-रचना—नीतिशास्त्र और धर्म—गौडपाद और बौद्ध धर्म—भर्तृहरि—भर्तृप्रपंच—उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र के साथ शंकर का सम्बन्ध—शंकर तथा अन्य सम्प्रदाय—आत्मा—ज्ञान का तन्त्र या रचना—प्रत्यक्ष—अनुमान—शास्त्र-प्रमाण—विषयी विज्ञानवाद का निराकरण—सत्य की कसौटी—तार्किक ज्ञान की अपूर्णता—अनुभव—अनुभव, तर्क तथा श्रुति—परा तथा अपरा विद्या—शंकर के सिद्धान्त और कुछ पाश्चात्य विचारों की तुलना—विषयनिष्ठ मार्ग : देश, काल और कारण—ब्रह्म—ईश्वर अथवा शरीरधारी परमात्मा—ईश्वर का मायिक रूप—जगत् का मिथ्यात्व—मायावाद—अविद्या—क्या जगत् एक भ्रांति है—माया और अविद्या—प्राकृतिक जगत्—जीवात्मा—साक्षी और जीव—आत्मा और जीव—ईश्वर और जीव—एकजीववाद तथा अनेकजीववाद—नीतिशास्त्र—शंकर के नीतिशास्त्र पर किए गए आरोपों पर विचार—कर्म—मोक्ष—परलोक—धर्म—उपसंहार।

अध्याय 9 . रामानुज का ईश्वरवाद 578-632

प्रस्तावना—आगम—पुराण—रामानुज का जीवन—इतिहास और साहित्य—भास्कर—यादवप्रकाश—ज्ञान के साधन—कारण तथा द्रव्य—आत्मा तथा चैतन्य—ईश्वर—जीवात्मा—प्रकृति—सृष्टि-रचना—नैतिक तथा धार्मिक जीवन—मोक्ष—सामान्य मूल्यांकन।

अध्याय 10 . शैव, शाक्त तथा परवर्ती वैष्णव ईश्वरवाद 633-670

शैव सिद्धान्त—साहित्य—सिद्धान्त—प्रत्यभिज्ञादर्शन—शाक्त सम्प्रदाय—मध्वाचार्य—जीवन तथा साहित्य—ज्ञान का सिद्धान्त—ईश्वर—जीवात्मा—प्राकृतिक जगत्—ईश्वर और जगत्—नीतिशास्त्र और धर्म—समीक्षात्मक विचार—निम्बार्क—वल्लभ—चैतन्य का आन्दोलन।

अध्याय 11 उपसंहार 671-684

दार्शनिक विकास—समस्त दर्शनपद्धतियों का समन्वय—दर्शन और जीवन—आधुनिक युग में दर्शनशास्त्र का ह्रास—वर्तमान स्थिति।

परिशिष्ट : टिप्पणियां, पारिभाषिक शब्द 685-696

वैदिक षड्दर्शन

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

दर्शनशास्त्रो का प्रादुर्भाव—वेदो के साथ सम्बन्ध—सूत्र साहित्य— सामान्य विचारधाराए।

1. दर्शनशास्त्रो का प्रादुर्भाव

भारत मे हम बौद्धकाल मे दार्शनिक चिन्तन की एक महती लहर उमडती हुई पाते है। दर्शनशास्त्र की प्रगति, साधारणत , किसी ऐतिहासिक परम्परा पर होनेवाले किसी प्रबल आक्रमण के कारण ही सम्भव होती है, जब कि मनुष्य-समाज पीछे लौटने को और उन मूलभूत प्रश्नो को एक बार फिर उठाने के लिए बाध्य हो जाता है जिनका समाधान उसके पूर्वपुरुषो ने प्राचीनतर योजनाओ के द्वारा किया था। बौद्ध तथा जैन धर्मो के विप्लव ने, वह विप्लव अपने-आप मे चाहे जैसा भी था, भारतीय विचारधारा के क्षेत्र मे एक विशेष ऐतिहासिक युग का निर्माण किया, क्योकि उसने कट्टरता की पद्धति को अन्त मे उडाकर ही दम लिया तथा एक समालोचनात्मक दृष्टिकोण को उत्पन्न करने मे सहायता दी। महान् बौद्ध विचारको के लिए तर्क ही एक ऐसा मुख्य शस्त्रागार था जहा सार्वभौम खडनात्मक समालोचना के शस्त्र गढकर तैयार किए गए थे। बौद्ध धर्म ने मस्तिष्क को पुराने अवरोधो के कष्टदायक प्रभावो से मुक्त करने मे विरेचन का काम किया। वास्तविक तथा जिज्ञासा-भाव से निकला हुआ सशयवाद विश्वास को उसकी स्वाभाविक नीवो पर जमाने मे सहायक होता है। नीव को अधिक गहराई मे डालने की आवश्यकता का ही परिणाम महान् दार्शनिक हलचल के रूप मे प्रकट हुआ, जिसने छ दर्शनो को जन्म दिया जिनमे काव्य तथा धर्म का स्थान विश्लेषण और शुष्क समीक्षा ने ले लिया। रूढिवादी सम्प्रदाय अपने विचारो को सहितावद्ध करने तथा उनकी रक्षा के लिए तार्किक प्रमाणो का आश्रय लेने को बाध्य हो गए। दर्शनशास्त्र का समीक्षात्मक पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण हो गया जितना कि अभी तक प्रकल्पनात्मक पक्ष था। दर्शनकाल से पूर्व के दार्शनिक मतो द्वारा अखण्ड विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध मे कुछ सामान्य विचार तो अवश्य प्राप्त हुए थे, किन्तु यह अनुभव नही हो पाया था कि किसी भी सफल कल्पना का आधार ज्ञान का एक समीक्षात्मक सिद्धान्त ही होना चाहिए। समालोचको ने विरोधियो को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वे अपनी प्रकल्पनाओ की प्रामाणिकता किसी दिव्य ज्ञान के सहारे सिद्ध न करें, बल्कि ऐसी स्वाभाविक पद्धतियो द्वारा सिद्ध करें जो जीवन और अनुभव पर आधारित हो। कुछ ऐसे विश्वासो के लिए, जिनकी हम रक्षा करना

चाहते हैं, हमारा मापदण्ड शिथिल नही होना चाहिए। इस प्रकार आत्मविद्या अर्थात् दर्शन को अब आन्वीक्षिकी[1] अर्थात् अनुसंधानरूपी विज्ञान का सहारा मिल गया। दार्शनिक विचारो का तर्क की कसौटी पर इस प्रकार कसा जाना स्वभावत. कट्टरतावादियो को रुचिकर नही हुआ।[2] श्रद्धालुओं को यह निश्चय ही निर्जीव लगा होगा, क्योंकि अत -प्रेरणा के स्थान पर अब आलोचनात्मक तर्क आ गया था। चिन्तन की उस शक्ति का स्थान जो सीधी जीवन और अनुभव से फूटती है, जैसी कि उपनिषदो मे, और आत्मा की उस अलौकिक महानता का स्थान जो परब्रह्म का दर्शन और गान करती है, जैसा कि भगवद्गीता मे है, कठोर दर्शन ले लेता है। इसके अतिरिक्त, तर्क की कसौटी पर पुरानी मान्यताए निश्चय ही खरी उतर सकेंगी यह भी निश्चितरूप से नही कहा जा सकता था। इतने पर भी उस युग की सर्वमान्य भावना का आग्रह था कि प्रत्येक ऐसी विचारधारा को, जो तर्क की कसौटी पर खरी उतर सके 'दर्शन' के नाम से ग्रहण करना चाहिए। इसी कारण उन सभी तर्कसम्मत प्रयासो को जो विश्व के सम्बन्ध मे फैली विभिन्न बिखरी हुई धारणाओ को कुछ महान् व्यापक विचारो मे समेटने के लिए किए गए, दर्शन की सज्ञा दी गई।[3] ये समस्त प्रयास हमे सत्य के किसी न किसी अश को अनुभव कराने मे सहायक सिद्ध होते हैं। इससे यह विचार बना कि प्रकट रूप मे पृथक् व स्वतन्त्र प्रतीत होते हुए भी, ये सब दर्शन वस्तुत. एक ही वृहत् ऐतिहासिक योजना के अग हैं। और जब तक हम इन्हें स्वतन्त्र समझते रहेगे, तथा ऐतिहासिक समन्वय मे इनकी स्थिति पर ध्यान नही देंगे, तब तक हम इनकी वास्तविकता को पूर्णरूप से हृदयगम नही कर सकते।

2. वेदो के साथ सम्बन्ध

तर्क की कसौटी को स्वीकार कर लेने पर काल्पनिक मान्यताओ के प्रचारको का विरोध नरम पड गया और इससे यह स्पष्ट हो गया कि उनका आधार उतना सशक्त व सुदृढ नही था और उन विचारधाराओ को दर्शन का नाम देना भी ठीक नही था। किन्तु भौतिकवादियो, सशयवादियो और कतिपय बौद्ध धर्मानुयायियो के विध्वसात्मक जोश ने

1 न्यायभाष्य, 1 1, 1, मनु, 7 43। कौटिल्य (लगभग 300 ई० पू०) का कहना है कि आन्वीक्षिकी विद्याध्ययन की एक अलग ही शाखा है और अन्य तीन शाखाओ, त्रयी अर्थात् वेदों, वार्ता, अर्थात् वाणिज्य और दण्डनीति और राजनीति या कूटनीति के अतिरिक्त है (1 2)। ई० पू० छठी शताब्दी, जबकि इसके विशेष अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की गई, भारत मे एक क्रमबद्ध दर्शन-पद्धति के प्रारम्भ के लिए प्रसिद्ध है और ई० पू० पहली शताब्दी तक आन्वीक्षिकी नाम के स्थान पर 'दर्शन' शब्द प्रयुक्त होने लगा (देखिए, महाभारत, शान्तिपर्व, 10 45, 'भागवतपुराण', 8 14, 10)। प्रत्येक जिज्ञासा सशय को लेकर ही प्रारम्भ होती है और एक आवश्यकता की पूर्ति करती है। तुलना कीजिए—जिज्ञासया सन्देहप्रयोजने सूचयति ('भामति' 1 1, 1)।

2. रामायण में आन्वीक्षिकी को निन्दित माना गया है, क्योंकि यह मनुष्यो को धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं से विमुख करती है (2 100, 36)। (महाभारत, शान्तिपर्व, 180 47-49, 246-8)। मनु के अनुसार ऐसे व्यक्तियो का जो तर्क (हेतुशास्त्र) द्वारा पथभ्रष्ट होकर वेदो तथा धर्मसूत्रो का अनादर करते हैं, बहिष्कार करना चाहिए (2 11), फिर भी गौतम अपने धर्मसूत्र (11) मे और मनु (7 43), राजाओ के लिए आन्वीक्षिकी के एक पाठ्यक्रम का विधान करते हैं। तार्किको को विधान सभाओ मे सम्मिलित किया जाता था। तर्क जब धर्मशास्त्र का समर्थन करता है तो उसकी प्रशसा होती है। व्यास का दावा है कि उन्होंने आन्वीक्षिकी द्वारा वेदों की व्यवस्था की (न्यायसूत्रवृत्ति, 1 1)।

3 माधव, सर्वदर्शनसग्रह।

निश्चयात्मक ज्ञान के आधार को ही नष्ट कर दिया। हिन्दू मानस इस निषेधात्मक परिणाम को कभी भी शांति से ग्रहण नहीं कर पाया। मनुष्य संशयवादी रहकर जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। निरे बौद्धिक द्वन्द्व में ही काम नहीं चल सकता। वाद विवाद का स्वाद मानव की आत्मिक भूख को शान्त नहीं कर सकता। ऐसे शुष्क तर्क से कुछ लाभ नहीं जो हमें किसी सत्य तक न पहुंचा सके। यह असम्भव था कि उपनिषदों के ऋषियों जैसे आत्म-निष्ठ महात्माओं की आशाएं और महत्त्वाकांक्षाएं, तार्किक समर्थन के अभाव में, यों ही नष्ट हो जातीं। और यह भी असंभव था कि शताब्दियों के संघर्ष और चिन्तन से भी मानव-समस्या के समाधान की दिशा में कुछ आगे न जाता। एकमात्र निराशा में ही उसका अन्त नहीं होने दिया जा सकता था। तर्क को भी अन्ततोगत्वा श्रद्धा का ही आश्रय ढूंढना पड़ता है। उपनिषदों के ऋषि पवित्र ज्ञान के शिक्षणालय के महान शिक्षक हैं। वे हमारे आगे ब्रह्मज्ञान व आध्यात्मिक जीवन की सुन्दर व्याख्या रखते हैं। यदि निरे तर्क से मानव यथार्थ सत्य की प्राप्ति नहीं कर सकता तो निश्चय ही उसे उन ऋषियों के महान लेखों की सहायता प्राप्त करनी चाहिए, जिन्होंने आध्यात्मिक ध्रुव सत्य को प्राप्त करने का दावा किया है। इस प्रकार, जो कुछ श्रद्धा के द्वारा स्वीकार किया गया था उसकी वास्तविकता को तर्क द्वारा सिद्ध करने के प्रबल प्रयास किए गए। यह ढंग बुद्धि-संगत न हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दर्शन उस प्रयास का ही दूसरा नाम है जो मानव-समाज के बढ़ते हुए अनुभव की व्याख्या के लिए किया जाता है। किन्तु जिस खतरे से हमें सावधान रहना होगा वह यह है कि कहीं श्रद्धा को ही दार्शनिक विज्ञान का परिणाम स्वीकार न कर लिया जाए।

सब दर्शनों में छः दर्शन अधिक प्रसिद्ध हुए—महर्षि गौतम का 'न्याय', कणाद का 'वैशेषिक', कपिल का 'सांख्य', पतञ्जलि का 'योग', जैमिनि का 'पूर्व मीमांसा', और बादरायण का 'उत्तर मीमांसा' अथवा 'वेदान्त'।[1] ये सब वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। जो दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक कहलाते हैं, और जो उसे स्वीकार नहीं करते उन्हें नास्तिक की संज्ञा दी गई है। किसी भी दर्शन का आस्तिक या नास्तिक होना परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर न होकर वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर है।[2] यहां तक कि बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का भी उद्गम उपनिषदों में है, यद्यपि उन्हें सनातन धर्म नहीं माना जाता है, क्योंकि वे वेदों की प्रामाणिककता को स्वीकार नहीं करते। कुमारिल भट्ट, जिनकी सम्मति इन विषयों में प्रामाणिक समझी जाती है, स्वीकार करते हैं कि बौद्ध दर्शनों ने उपनिषदों से प्रेरणा ली है, और वे यह युक्ति देते हैं कि इनका उद्देश्य अत्यन्त विषय-भोग पर रोक-थाम लगाना था। वे यह भी घोषणा करते हैं कि ये सब प्रामाणिक दर्शन हैं।[3]

वेद को स्वीकार करने का अर्थ यह है कि आध्यात्मिक अनुभव से इन सब विषयों में शुष्क तर्क की अपेक्षा अधिक प्रकाश मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे वेद-

1 हरिभद्र अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय दर्शन का विवेचन करता है (1 3)। जिनदत्त और राजशेखर इस मत से सहमत हैं।

2 प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु। मनु का कहना है कि नास्तिक वह है जो वेदों की निन्दा करता है। नास्तिको वेदनिन्दकः (2 11)। देखिए, महाभारत, 12 270, 67।

3 'तन्त्रवार्तिक', 1 3, 2, पृष्ठ 81।

प्रतिपादित सब सिद्धान्तो को भी स्वीकार करते हैं, या परमात्मा के अस्तित्व मे भी विश्वास रखते हैं। इसका अर्थ केवल जीवन के मूल रहस्य के उद्घाटन के लिए गम्भीर प्रयास करना है, क्योकि इन सम्प्रदायो ने वेदो की निर्दोषता तक को समान रूप मे स्वीकार नही किया है। हम देखते हैं कि वैशेषिक और न्याय परमात्मा की सत्ता को अनुमान-प्रमाण द्वारा ही स्वीकार करते हैं। साख्य ईश्वरवादी नही है। योग वेद से वस्तुत स्वतन्त्र ही है। दोनो मीमासा शास्त्र अवश्य ही वेद पर स्पष्ट रूप से निर्भर करते हैं। पूर्व मीमासा मे वर्णित देवता का सामान्य विचार वेदमूलक अवश्य है, किन्तु उसे परब्रह्म के रूप की चिन्ता नही है। उत्तर मीमासा ब्रह्म के अस्तित्व को श्रुति के आधार पर स्वीकार करता है, किन्तु उसकी सिद्धि मे अनुमान-प्रमाण का भी उपयोग करता है, और उसकी सम्मति मे उसका साक्षात्कार ज्ञान व ध्यान द्वारा हो सकता है। परवर्ती काल के आस्तिक विचारक साख्य को सनातन दर्शनशास्त्रो के अन्तर्गत मानने को तैयार नही थे।[1]

इस प्रकार वेद की प्रामाणिकता मानने से इन छ दर्शनो की दार्शनिकता मे कोई विशेष अन्तर नही आता।[2] श्रुति और स्मृति का भेद सर्वविदित है, और जहा दोनो मे परस्पर मतभेद हो वहा श्रुति की ही प्रधानता मानी जाती है। श्रुति भी अपने-आपमे दो भागो मे विभक्त है, कर्मकाण्ड (सहिता भाग और ब्राह्मण ग्रन्थ) और ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्)। ज्ञानकाण्ड का महत्त्व अधिक है, यद्यपि इसके अधिकाश भाग को केवल अर्थवाद अर्थात् अनावश्यक या गौण कथन कहकर एक ओर रख दिया गया है। इन सबके कारण वेद की प्रामाणिकता को बहुत उदार भाव से ही ग्रहण किया जा सकता है। वेदो की व्याख्या भी व्याख्याकारों की दार्शनिक रुचियो पर निर्भर करती है। तार्किक विधियों का प्रयोग करते हुए और युक्तिसगत सत्यो पर पहुचते हुए भी, वे प्राचीन मंत्रो से उनकी सगति बनाए रखने के लिए बराबर उत्सुक रहे। उनकी इच्छा बराबर यही रही कि उन्हें किसी बिलकुल नवीन विषय का प्रतिपादक न समझा जाए। यद्यपि इससे उनकी स्पष्टवादिता का कुछ अभाव ही टपकता है, तो भी इससे उन सिद्धान्तो के प्रसार मे सहायता मिली जिन्हें वे सत्य मानते थे।[3] भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के समालोचक और टीकाकार

1 भीमाचार्य के 'न्यायकोष' के अनुसार, आस्तिक वह है जो परलोकाद्यस्तित्ववादी है और नास्तिक वेदमार्गम् अननुरुन्धान, है। वे साख्य और अद्वैत वेदान्त को दूसरी कोटि मे रखते हैं। "मायावादिवेदान्त्यपि नास्तिक एवं पर्यवसाने सम्पद्यते।" कुमारिल की दृष्टि मे साख्य, योग, पचरात्र और पाशुपत दर्शन भी ऐसे ही वेद विरोधी हैं जैसे कि बौद्धदर्शन ('तन्त्रवार्तिक', 1 . 3, 4)।

2 कीथ ने जो कुछ न्याय और वैशेषिक के विषय मे कहा है वह अन्य दर्शनो के विषय मे भी सत्य है। "ये दर्शन नि सन्देह सनातनधर्मी हैं और धर्मशास्त्रो के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, किन्तु ये जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए मानवीय साधनो का आश्रय लेते हैं और धर्मशास्त्र केवल समस्याओ के उक्त समाधानो को धार्मिकता का रूप देने के लिए ही प्रयुक्त होते है। उक्त समाधान न केवल धर्मशास्त्रों की सहायता के बिना भी निकलते हैं, बल्कि वे धार्मिक आज्ञाओ के साथ सामजस्य रखते हो प्राय: इसमे भी सन्देह रहता है।"

—'इण्डियन लाजिक एण्ड ऐटोमिज्म', पृष्ठ 3।

3 गेटे से तुलना कीजिए . "कुछ ऐसे अत्यन्त मेधावी एव प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रकट हुए जिन्होंने इस विषय में तितलियों की भाति, अपनी कोशशायी अवस्थाओ को भुलाकर, उस आवरण को उतार फेंका जिसके अन्दर रहकर वे परिपक्व हुए थे। अन्य कुछ ऐसे थे जो अधिक ईमानदार और नम्र थे। उनकी तुलना उन फूलो के साथ की जा सकती है जो सौन्दर्य के पूर्ण विकास को प्राप्त करते हैं, पर अपने मूल को नही छोडते और न अपने पौधे के तने से ही पृथक् होते हैं, बल्कि इसी सम्बन्ध को निभाते हुए प्रत्याशित फल को परिपक्व अवस्था तक पहुचाते हैं।"

—मर्ज मे उद्धृत, 'योरोपियन थाट इन द नाइटीथ सेंचुएरी, खण्ड 4, पृष्ठ, 134, पादटिप्पणी 1।

अपने-अपने मत की पुष्टि मे वेद की सम्मति का दावा करते है, और जहा यह सम्मति स्वत दृष्टि मे नही आती वहा बलपूर्वक सगति बैठाने मे अपनी पटुता दिखाते हैं। परवर्ती काल के वाद-विवादो के प्रकाश मे, ये लोग वेदो की भाषा मे उन विषयो पर भी सम्मति ढूढते है जिनका ज्ञान इन्हे बहुत ही कम था, बिलकुल नही होता। वेदो के साधारण विचार न तो निश्चित ही हैं और न विस्तृत रूप मे स्पष्ट ही हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वालो को उनके अर्थों मे खीचातानी करने का सुयोग मिल जाता है। इसके अतिरिक्त, वेदो की विशालता के कारण भी, ग्रन्थकारो को अपने विश्वास के अनुसार कोई-सा भाग चुन लेने से एक नवीन विचार का प्रचार करने के लिए सामग्री मिल जाती है।

इन दर्शनो मे विषयो की विविधता इसलिए है कि दार्शनिक कल्पनाओ के पीछे धार्मिक उद्देश्य छिपा है। शब्द की नित्यता का सिद्धान्त दार्शनिक समस्या से अधिक आस्तिकवाद की समस्या है, क्योकि इसका सम्बन्ध वेद की निर्दोषता के सिद्धान्त से है। हरएक वैदिक दर्शन मे तर्क, मनोविज्ञान, तत्त्वज्ञान और धर्म का सम्मिश्रण पाया जाता है।

3. सूत्र-साहित्य

जब वैदिक साहित्य बहुत अधिक बढ गया और वैदिक विषय के विचारको को अपने विचारो को क्रमबद्ध करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी तब सूत्र-साहित्य की उत्पत्ति हुई। दर्शनो के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त सक्षेप मे सूत्रो के रूप मे रखे गए हैं। इन्हे, जहा तक सम्भव हो सका छोटे से छोटे कलेवर मे, शकारहित, किन्तु वास्तविक तत्त्व को प्रकट करनेवाले रूप से रखा गया है, जिसमे अनावश्यक व अशुद्ध अश के लिए कोई स्थान नही है।[1] सब प्रकार के अनावश्यक पुनरुक्तिदोष से रहित और चुने हुए कम-से-कम शब्दो मे इनका निर्माण किया गया है।[2] प्राचीन काल के लेखको को विस्तार से लिखने का कोई प्रलोभन नही था, क्योकि वे छपे हुए ग्रन्थो की अपेक्षा स्मृति पर अधिक निर्भर करते थे। अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे होने के कारण सूत्रो के पूरे आशय को बिना टीका की सहायता के समझना एक कठिन कार्य है।

दार्शनिक विचारो के विभिन्न क्षेत्रो मे विभिन्न पद्धतियो का विकास हुआ। कितनी ही पीढियो मे विचार एकत्र होते गए और अन्त मे सूत्रों के रूप मे उनका सग्रह किया गया। सूत्र किसी एक विचारक के परिश्रम का परिणाम नही है न किसी एक युग मे इनका निर्माण हुआ है। ये कितने ही और कई पीढियो मे बटे हुए विचारको के सतत परिश्रम का परिणाम है। सूत्रो का रूप लेने से पूर्व उन विचारो की कितने ही समय तक गर्भरूप मे बढते रहने की कल्पना की जा सकती है, इसलिए उनके उद्गम को खोज निकालना एक कठिन कार्य है। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रारम्भ के विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी धारणा बनाना कठिन है। सूत्र ग्रन्थ प्राचीन काल के शृङ्खलाबद्ध प्रयासो का परिणाम है और इन्हे 'एक बिलकुल केन्द्रीय स्थान प्राप्त है, क्योकि जहा एक ओर ये

1. अल्पाक्षरम् असन्दिग्धम् सारवद विश्वतोमुखम्।
अस्तोभम् अनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदु ॥ (ब्रह्मसूत्र पर मध्व, 1 · 1, 1)। जयतीर्थकृत न्यायसुधा को देखिए, 1 1, 1, भामती, 1 1, 1।

2 इस कथन से कि "एक वैय्याकरण यदि आधी मात्रा भी बचा सकने मे सफल हो सके तो उसे वैसी ही प्रसन्नता होती है जैसी कि पुत्र के उत्पन्न होने से होती है" यह निर्दिष्ट होता है कि शब्दो की बचत करना उद्देश्य था।

पुराने साहित्यिक निबन्धों का, जो कितनी ही पीढ़ियों में लिखे गए होंगे, सार प्रस्तुत करते हैं, वहां दूसरी ओर ये टीकाकारों तथा स्वतन्त्र लेखकों के उस उत्तरोत्तर बढ़ते कार्य-कलाप का मुख्य स्रोत भी हैं जिसकी परम्परा हमारे काल तक पहुंचती है और शायद कुछ आगे भी जा सकती है।"[1] दर्शनों का विकास सूत्रों के निर्माण से बहुत समय पूर्व हो गया होगा। दार्शनिक सूत्रों की समस्त शैली और भाव से यह प्रतीत होता है कि ये लगभग एक ही काल में बने हैं।[2] सूत्रों के निर्माता दर्शनशास्त्रों के संस्थापक अथवा उत्पादक न होकर केवलमात्र उनके संग्राहक ही हैं। यही कारण है कि दार्शनिक सूत्रों में यत्र-तत्र परस्पर-विरोधी प्रकरण पाए जाते हैं। और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विविध दर्शनशास्त्रों का निर्माण साथ-साथ एक ही समय में हो रहा था और वह समय सूत्रों के निर्माण काल के पूर्व का समय है। मिले-जुले दार्शनिक समाधानों में से दर्शनों के पृथक्-करण का समय बुद्ध के पश्चात् की प्रारम्भिक शताब्दियों में और ईसा के समय से पूर्व आंका जा सकता है। उस समय दार्शनिक विचारों का आदान-प्रदान पुस्तकों के द्वारा न होकर मौखिक रूप में होता था। यह सम्भव है कि मौलिक शिक्षा की परम्परा टूट जाने के बाद कई प्रमुख ग्रन्थ नष्ट हो गए हों और जो आज हमें उपलब्ध हैं उनके अन्दर बहुत-सी मिलावट हो गई हो। कुछ अति प्राचीन प्रमुख सूत्रग्रन्थ, यथा बृहस्पतिसूत्र, वैखानससूत्र, और भिक्षुसूत्र, और कितना ही दार्शनिक साहित्य आज हमें प्राप्त नहीं है, और उसके साथ ही बहुत-सी उपयोगी सामग्री भी, जो विभिन्न दर्शनों के कालानुक्रम पर प्रकाश डाल सकती थी, आज लुप्त हो गई है। मैक्समूलर के अनुसार सूत्रग्रन्थों का निर्माण-काल बुद्ध से लेकर अशोक के समय तक है, यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि वेदान्त, सांख्य और योग के लिए उससे बहुत पूर्व का समय दिया जा सकता है। इस मत की पुष्टि कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र की साक्षी से होती है। उस समय तक परम्परागत आन्वीक्षिकी अथवा तार्किक पद्धतियां मुख्यत दो सम्प्रदायों, पूर्व मीमांसा और सांख्य में बंटी हुई थी। यद्यपि बौद्ध-ग्रन्थों में बहुत ही स्पष्ट उल्लेख है, तो भी यह कहा जा सकता है कि बौद्धसूत्रों से षड्-दर्शन से [illegible]

का विक [illegible]

का रूप ने [illegible]

वर्तन यद्यपि पीछे के भाष्यकारों के हाथों हुए, तो भी इनका श्रेय इनके आदि निर्माताओं को ही दिया जाता है। वेदान्त दर्शन व्यास का कहलाता है, यद्यपि शंकर, रामानुज और अन्य अनेक भाष्यकारों ने इसमें सिद्धान्त सम्बन्धी मौलिक परिवर्तन किए हैं। बड़े से बड़े भारतीय विचारक अपने को प्राचीन परिपाटी का अनुयायी ही मानते रहे हैं, यद्यपि मूल-सूत्रों का भाष्य करते समय उन्होंने उनको अधिक उन्नत बना दिया है। प्रत्येक दर्शन ने अन्य दर्शनों को सामने रखकर उन्नति की है। वर्तमान समय तक भी षड्दर्शनों के विकास में उन्नति होती रही है। उत्तरोत्तर भाष्यकार विरोधियों के आक्षेपों के सामने अपने परम्परागत सिद्धान्त की बराबर रक्षा करते आए हैं।

प्रत्येक दर्शन के निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में दार्शनिक विचार का एक प्रकार

1 थिबो : इण्ट्रोडक्शन टु शांकरभाष्य, पृष्ठ 12।

2 किसी न किसी रूप में ये दर्शन-पद्धतियां ईसवी सन् से पूर्व अवश्य रही होंगी। जैनियों के प्राचीन धार्मिक साहित्य में वैशेषिक, बौद्धदर्शन, सांख्य, लोकायत और षष्टितन्त्र का उल्लेख पाया जाता है। वेबरकृत 'संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ 236, टिप्पणी 249)। और देखिए, 'ललितविस्तर', 12, 'चरकसंहिता', महाभारत, नारायणीय विभाग।

का उबाल-सा आता है जो आगे चलकर एक विशेष स्थल पर सूत्ररूप मे संक्षिप्त आकार धारण करता है। इसके पश्चात् सूत्रो के भाष्यो का समय आता है। फिर उनपर टिप्पणिया, टीकाए एव सारभूत व्याख्याए आती है, जिनके कारण मौलिक सिद्धान्त मे बहुत-सा परिवर्तन, सुधार व विस्तार भी हो जाता है। भाष्य प्रश्नोत्तर के रूप मे होते है, क्योकि उपनिषदो के समय से ही इस पद्धति को जटिल विषय को विशद रूप मे समझाने का एकमात्र उपयुक्त साधन समझा जाता रहा है। इस प्रकार भाष्यकार को विरोधी विचारो का उत्तर देते हुए मौलिक सिद्धान्त के समर्थन का उत्तम अवसर प्राप्त हो जाता है। और इस विधि से उन्ही विचारो की पुन स्थापना करते हुए अन्यान्य विचारो की तुलना मे उसकी उत्कृष्टता सिद्ध हो जाती है।

4. सामान्य विचारधाराएं

छ के छ दर्शन कुछ मौलिक सिद्धान्तो मे परस्पर एकमत है।[1] वेद की प्रामाणिकता मान्य होने से ध्वनित होता है कि इन सभी दर्शनो का विकास विचारधारा के एक ही आदिम स्रोत से हुआ है। हिन्दू शिक्षको ने भूतकाल के अपने पूर्वपुरुषो से प्राप्त ज्ञान का उपयोग इसलिए भी किया क्योकि इस आधार पर व्यक्त किए गए विचार सरलता से समझ मे आ सकते थे। यद्यपि अविद्या, माया, पुरुष और जीव आदि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग यह प्रकट करता है कि विभिन्न दर्शनो की भाषा एक समान है, तो भी इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि उक्त पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग भिन्न-भिन्न दर्शनो मे भिन्न भिन्न अर्थो मे हुआ है। विचारशास्त्र के इतिहास मे प्राय ऐसा होता है कि उन्ही शब्दो और परिभाषाओ का भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले अपने भिन्न-भिन्न अर्थो मे प्रयोग करते है। प्रत्येक दर्शन अपने विशेष सिद्धान्त के प्रतिपादन मे सर्वोच्च धार्मिक विवेचन की उसी प्रचलित भाषा का प्रयोग आवश्यक परिवर्तनो के साथ करता है। इन दर्शनशास्त्रो मे दार्शनिक विज्ञान आत्मचेतन रूप मे विद्यमान है। वेदो मे उल्लिखित अध्यात्म अनुभवो की तार्किक आलोचना इन ग्रन्थो का विषय है। ज्ञान की यथार्थता और उसको प्राप्त करने के साधन प्रत्येक दर्शन का एक मुख्य अध्याय है। प्रत्येक दार्शनिक योजना ज्ञान के सम्बन्ध मे अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रतिपादित करती है, जो उस दर्शन के प्रतिपाद्य विषय—अध्यात्मविद्या—का मुख्य भाग है। अन्तर्दृष्टि, अनुमान और वेद सब दर्शनो को एक समान मान्य है। युक्ति और तर्क को अन्तर्दृष्टि के अधीन ही स्थान दिया गया है। जीवन की पूर्णता का अनुभव केवल तर्क द्वारा सम्भव नही है। आत्मचेतन का स्थान विश्व मे सर्वोपरि नही है। कोई वस्तु आत्मचेतना से भी ऊपर है जिसे अन्तर्दृष्टि, दिव्य ज्ञान, विश्वचेतना, और ईश्वरदर्शन आदि नाना सज्ञाए दी गई है। क्योकि हम ठीक-ठीक इसकी व्याख्या नही कर सकते, इसलिए हम इसे उच्चतर चेतना के नाम से पुकारते है। जब कभी इस उच्च सत्ता की झलक हमारे सामने आती है तो हम अनुभव करते है कि यह एक पवित्र ज्योति की सत्ता है जिसका क्षेत्र अधिक विस्तृत है। जिस प्रकार 'चेतना' और

1 मैंने प्राचीन दर्शनो का जितना ही अधिक अध्ययन किया उतना ही मै विज्ञानभिक्षु आदि के इस मत का अनुयायी होता गया कि षड्दर्शन की परस्पर भिन्नता की पृष्ठभूमि मे एक ऐसे दार्शनिक ज्ञान का भण्डार है जिसे हम राष्ट्रीय अथवा सर्वमान्य दर्शन कह सकते है जिसकी तुलना हम उस विशाल मानसरोवर से कर सकते है जो यद्यपि सुदूर प्राचीन काल रूपी दिशा मे अवस्थित था तो भी जिसमे से प्रत्येक विचारक को अपने उपयोग के लिए सामग्री प्राप्त करने की अनुज्ञा मिली हुई थी।

—मैक्समूलर 'सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी', पृष्ठ 17।

आत्मचेतना का भेद पशु और मनुष्य के भेद को प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार आत्म-चेतना और उच्चतर चेतना का भेद मनुष्य को, जैसा कि वह है, उस मनुष्य से भिन्न प्रदर्शित करता है जैसा कि उसे बनना चाहिए। भारतीय दर्शन का आधार एक ऐसी भावना है जो केवल तर्क से ऊपर है, और उसका यह मत है कि जिस संस्कृति की नींव केवल तर्क और विज्ञान पर हो, उसमें कार्यक्षमता भले ही हो किन्तु उससे प्रेरणा नहीं मिल सकती।

सभी वैदिक दर्शन बौद्धों के संशयवाद के विरुद्ध हैं और एक शाश्वत, अस्थिर परिवर्तन-क्रम के विपरीत, एक उद्देश्यपूर्ण वास्तविकता और सत्य के पक्ष में अपना झंडा ऊंचा करते हैं। यह सृष्टि-प्रवाह अनादि है और यह केवल मन की कल्पनामात्र न होकर वास्तविक है और एक उद्देश्य को लिए हुए है। इसीको अनादि प्रकृति, माया अथवा परमाणु कहा है। उस सत्ता को जिसमें नाम और रूप से रहित विश्व स्थित है, कोई प्रकृति, कोई माया और कोई परमाणु नाम से पुकारते हैं।[1] यह मान लिया गया है कि जिसका प्रारम्भ है उसका अन्त भी है। अनेक हिस्सों से मिलकर जिस वस्तु का निर्माण हुआ है, वह न तो नित्य हो सकती है और न अपना अस्तित्व सदा स्थिर रख सकती है। यथार्थ अस्तित्व अविभाज्य है। देश और काल की सीमा में बंधा हुआ यह जगत् वास्तविक नहीं है, क्योंकि बनना व बिगड़ना इसका प्रकृत स्वभाव है। इससे अधिक गहराई में कुछ है—परमाणु और जीवात्माएं, अथवा पुरुष और प्रकृति, अथवा ब्रह्म।

सभी दर्शन इस महान विश्वव्यापी प्रवाह के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का क्रम अनन्त काल से चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। इस सिद्धान्त का प्रगति-सम्बन्धी विश्वास के साथ कोई विरोध नहीं है; क्योंकि इसमें सृष्टि की गति के अपने अन्तिम लक्ष्य तक अनेक बार पहुंचने और फिर नये सिरे से प्रारम्भ करने का प्रश्न नहीं उठता। उत्पत्ति और विनाश का तात्पर्य यहां विश्व के नये सिरे से उत्पन्न होने और सर्वथा विनष्ट हो जाने से नहीं है। नवीन सृष्टि विश्व-इतिहास का अगला पड़ाव होता है, जबकि बची हुई सद् और असद् क्षमताओं को अपनी पूर्णता तक पहुंचने का अवसर प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मानव-जाति को नये सिरे से आत्मदर्शन के अपने मार्ग पर आरूढ़ होने का अवसर प्राप्त होता है। यह संसार के युगों का कभी समाप्त न होनेवाला विधान है जिसका कोई आरम्भकाल नहीं है।

पूर्व मीमांसा को छोड़, अन्य सभी वैदिक दर्शनों का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति के क्रियात्मक उपायों को ढूंढ निकालना है। मोक्ष का अर्थ इन शास्त्रों के अनुसार है, जीवात्मा का पाप अथवा भूलों से छूटकर अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानना व उसे प्राप्त करना। इस रूप में सभी दर्शनों का एक ही उद्देश्य है, अर्थात् पूर्ण मानसिक संतुलन, जीवन की विषमताओं और अनिश्चितताओं, दुःखों और कष्टों से छुटकारा पाना, 'एक ऐसी शान्ति जो शाश्वत बनी रहे' जिसमें कोई संशय विघ्न न डाल सके और पुनर्जन्म जिसे भंग न कर सके। जीवन्मुक्ति के विचार को, अर्थात् इसी जन्म में मुक्त होने के भाव को अनेक सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है।

हिन्दुओं का यह एक मूल विश्वास है कि इस विश्व का संचालन पूर्णरूप से किसी नियम के अनुसार हो रहा है, और तो भी मानव को अपने भाग्य का निर्णय करने में

1 विज्ञानभिक्षु अपने योगवार्तिक में वृद्धवसिष्ठ के उद्धृत करते हैं
"नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामन्ये परे त्वणून् ॥"

पूर्णतया स्वतन्त्र रखा गया है।

> हमारे कार्य दूर से अभी भी हमारा पीछा करते है, जो कुछ हम पहले रहे है उसी के अनुसार हमारा वर्तमान रूप है।

सारे दर्शन पुनर्जन्म एव पूर्वजन्म मे आस्था रखते है। हमारा जीवन एक ऐसे मार्ग पर एक डग है जिसकी दिशा व लक्ष्य अनन्त मे निहित है। इस मार्ग मे मृत्यु अन्त नही है और न ही वह बाधा है। अधिक से अधिक वह नये डगो का प्रारम्भ है। आत्मा का विकास एक निरन्तर चलनेवाली प्रक्रिया है, यद्यपि भिन्न-भिन्न पडावो पर मृत्युरूपी सस्कार द्वारा बार-बार इसकी लडी टूटती रहती है।

दर्शन हमे गन्तव्य स्थान के द्वार तक ले जाता है, किन्तु उसके अन्दर प्रवेश नही करा सकता। उसके लिए अन्तर्दृष्टि या आत्मज्ञान आवश्यक है। हम ससाररूपी अन्धकार मे भटक गए बच्चो के समान है, जिन्हे अपने असली रूप का ज्ञान नही है। इसीलिए हम भयभीत होते हैं, और अपने चारो ओर व्याप्त दुख मे आशा को लेकर चिपके हुए है। इसीलिए प्रकाश की आवश्यकता है जो हमे वासनाओ से मुक्त करके अपने शुद्ध एव वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराए और उस अवास्तविक स्थिति का भी परिचय दे सके जिसमे हम अज्ञानवश रह रहे हैं। इस प्रकार के अन्तर्निरीक्षण को मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है, यद्यपि अन्तर्निरीक्षण के उद्देश्य के विषय मे मतभेद अवश्य है।[1] अज्ञान ही बधन का कारण है और इसलिए सत्य का ज्ञान प्राप्त होने पर ही उससे मुक्ति मिल सकती है। दर्शनशास्त्रो का आदर्श नीतिशास्त्र की सतह से ऊपर उठने का है। पवित्रात्मा पुरुष की तुलना कमल के उस सुन्दर पुष्प से की गई है जो उस पक से भी अलिप्त रहता है जिससे कि वह उत्पन्न होता है। उसके लिए अच्छाई ऐसा लक्ष्य नही है जिसे कि प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना होता है, बल्कि वह अपने-आपमें एक निश्चित सत्य है। जबकि पाप व पुण्य इस ससारचक्र मे अच्छे व बुरे जीवन की ओर ले जाते हैं हम अपने सदाचारमय जीवन से ऊपर उठकर इस ससार से भी छुटकारा पा सकते हैं। सभी दर्शन हमे नि स्वार्थ प्रेम और निष्काम कर्म की शिक्षा देते हैं और सदाचार के लिए चित्तशुद्धि पर बल देते हैं। भिन्न भिन्न अनुपातो मे वे वर्णव्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था के नियमो का पालन करने का आदेश देते हैं।

भारतीय दर्शन का इतिहास, जैसा कि हमने विषय-प्रवेश[2] मे बताया है, अनेक प्रकार की कठिनाइयो से पूर्ण है। प्रमुख शास्त्रकारो और उनके ग्रन्थो के समय के विषय मे सशयरहित कुछ भी कहा नही जा सकता और कितने ही सुप्रसिद्ध ग्रन्थकारो की ऐतिहासिकता के विषय मे भी बहुत मतभेद है, कितने ही प्रासगिक ग्रन्थ तो उपलब्ध नही है और कतिपय जो प्रकाशित हुए है उनमे से सबका अभी आलोचनात्मक अध्ययन नही हुआ है। महान भारतीय विचारको ने भी भारतीय दर्शन की ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन नही की है। माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसग्रह मे सोलह विभिन्न दर्शनो का विवेचन किया है। प्रथम खण्ड मे हमने भौतिकवादी, बौद्ध और जैन विचारो की चर्चा की

1 बौद्ध विचारक धर्मकीर्ति भी अपने न्यायबिंदु नामक ग्रथ का प्रारम्भ इसी कथन से करते हैं कि मनुष्य को समस्त इच्छाओ की पूर्ति से पूर्व सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धि (1)।

2 भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड।

है। इस खण्ड में हम न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, और वेदान्त दर्शनों का विवेचन करेंगे। शैवसिद्धान्त के चारों सम्प्रदायों और रामानुज व पूर्णप्रज्ञ के सम्प्रदायों का आधार वेदान्त सूत्र हैं, और वे भिन्न-भिन्न प्रकार से उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। पाणिनि के मत का महत्त्व दार्शनिक दृष्टि से बहुत कम है। वे शब्द की नित्यता के सम्बन्ध में मीमांसा के मत से सहमत होकर स्फोट अर्थात् प्रत्येक शब्द के अन्तर्गत अर्थ की अभिव्यक्ति के अविभाज्य रूप को स्वीकार करते हैं। वैदिक षड्दर्शनों में वैशेषिक दर्शन की अधिक प्रतिष्ठा नहीं है, जबकि न्यायदर्शन का तर्कपक्ष अधिक प्रचलित है और इसके भक्त व अनुयायी विशेष रूप से बंगाल में बहुत अधिक हैं। योगदर्शन का क्रियात्मक प्रयोग बहुत कम मिलता है, जबकि पूर्व मीमांसा का हिन्दू कानून के साथ निकट सम्बन्ध है। सांख्य का प्रचार नहीं के बराबर है, जबकि वेदान्त अपने भिन्न-भिन्न रूपों में प्राय: सर्वत्र छाया हुआ है। हिन्दू-विचारधारा के प्रतीक इन छः दर्शनों के विषय में लिखते हुए हम अधिकतर अपना ध्यान प्राचीन शास्त्रों, सूत्रों तथा उनके प्रमुख भाष्यकारों पर ही केन्द्रित करेंगे। अर्वाचीन काल के प्राय: सभी विचारकों के आध्यात्मिक ग्रंथ, कुछेक अपवादों को छोड़कर, पर्याप्त मात्रा में प्रभावोत्पादक नहीं हैं। उनका अध्ययन तो विस्तृत है, किन्तु अवनति के युग में लिखित होने के कारण उनके कृतित्व में टीका-टिप्पणियों व पुरानी बातों को दोहराने के अतिरिक्त किसी नवीन सृजन की शक्ति नहीं पाई जाती। उनमें मताग्रह को अत्यधिक मात्रा में सुविधाएं दी गई हैं। प्रत्यक्ष को भी रहस्यमय करके वर्णन करने की प्रवृत्ति, आस्तिकवाद के प्रति पक्षपात और तात्त्विक अनुर्वरता के कारण उनपर विशेष ध्यान देना आवश्यक नहीं है।

प्रचलित प्रथा के अनुसार ही, जिसके प्रतिकूल व्यवहार करना व्यर्थ होगा, हम पहले न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त को ही लेंगे, जो हमें अनुभव के संसार का विश्लेषण प्रदान करते हैं। फिर हम सांख्य और योग को लेंगे, जिनमें अनुभव का साहसपूर्ण कल्पनात्मक वर्णन किया गया है। इसके बाद अन्त में हम दोनों मीमांसा दर्शनों का विवेचन करेंगे, जिनमें यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि श्रुति के दिव्य ज्ञान और दर्शन के अन्तिम निर्णयों में परस्पर सामञ्जस्य है। विवेचन का इस प्रकार का क्रम ऐतिहासिक विकासकाल की दृष्टि से भले ही संगत न हो, किन्तु तार्किक दृष्टि से पूर्णतया संगत होगा।

दूसरा अध्याय

न्यायशास्त्र का तर्कसम्मत यथार्थवाद

न्याय और वैशेषिक—न्याय की प्रारम्भिक अवस्था—साहित्य और इतिहास—न्याय का क्षेत्र—परिभाषा का स्वरूप—प्रत्यक्ष अथवा अन्तर्दृष्टि—अनुमान-प्रमाण—परार्थानुमान—आगमन-अनुमान—कारण—उपमान अथवा तुलना—आप्त प्रमाण—ज्ञान के अन्य रूप—तर्क और वाद—स्मृति—संशय—हेत्वाभास—सत्य अथवा प्रमा—भ्रान्ति—न्याय के प्रमाणवाद का सामान्य मूल्यांकन—भौतिक जगत—जीवात्मा और उसकी नियति—जीवात्मा तथा चेतना से सम्बन्ध के विषय मे न्याय के सिद्धान्त पर कुछ आलोचनात्मक विचार—नीतिशास्त्र—ब्रह्मविद्या—उपसंहार।

1 न्याय और वैशेषिक

भारतीय विचारधारा के अन्य दर्शन जहा मुख्यतया कल्पनापरक है, इन अर्थों मे कि वे ससार की अखण्ड रूप मे विवेचना करते है, वहा न्याय और वैशेषिक विश्लेषणात्मक दर्शन का प्रतिनिधित्व करते है, और साधारण ज्ञान व विज्ञान का आश्रय लेकर चलते है तथा उनकी उपेक्षा नही करते। इन दोनो सम्प्रदायो मे विशेषत्व यह है कि ये एक ऐसी विधि का प्रयोग करते है जिसे इनके अनुयायी वैज्ञानिक मानते है। तार्किक जाच तथा आलोचनात्मक विधि का प्रयोग करके, ये यह दर्शाने का प्रयत्न करते है कि बौद्ध विचारक जिन परिणामो पर पहुचे वे परिणाम आवश्यक रूप से अभिमत नही थे। ये इस बात को भी दर्शाने का प्रयत्न करते है कि तर्क हमे जीवन को सदा के लिए नश्वर एव क्षण-क्षण मे परिवर्तनशील मानने के लिए भी बाध्य नही करता। इन दर्शनो का मुख्य उद्देश्य उन सशयवादी परिणामो का निराकरण करना है जो बौद्धो के प्रत्यक्ष ज्ञानवाद से निकलते है, क्योकि वह बाह्य यथार्थ को मन के विचारो मे मिला देता है। इनका प्रयास परम्परागत निष्कर्षों के प्रति, अर्थात् अन्तर्जगत् मे जीवात्मा और बाह्य जगत् मे प्रकृति के प्रति विश्वास को पुन दृढ करने की ओर है। और ये ऐसा केवल प्रामाण्य के आधार पर नही, बल्कि तर्क के आधार पर करते है। सशयवाद का जो प्रवाह बाढ की तरह आया उसकी रोक-थाम केवल आस्था द्वारा नही की जा सकती थी, विशेषत जबकि नास्तिको ने उसके दुर्ग पर ही आक्रमण करने के लिए इन्द्रियजन्य ज्ञान व तर्क का आधार ले रखा हो। ऐसे समय मे जीवन व धर्म के लक्ष्यो की प्राप्ति विशुद्ध ज्ञान के साधनो व उनकी विधियो की गम्भीर जाच से ही हो सकती है। धर्मशास्त्र एवं इन्द्रियो द्वारा प्राप्त किए जानेवाले ज्ञान की जो सामग्री हमारे सम्मुख आती है उसकी तार्किक छानबीन ही का प्राचीन

नाम आन्वीक्षिकी दिया है।[1] नैयायिक उस सबको सत्य मानता है जो तर्क की कसौटी पर ठीक उतर सकता है।[2] वात्स्यायन और उद्योतकर इस विषय पर बल देते हैं कि यदि न्यायदर्शन केवल जीवात्मा और उसकी मुक्त अवस्था के विषय का ही प्रतिपादन करता तो उपनिषदों से उक्त दर्शन में कोई विशेष भेद न होता, क्योंकि वे भी इन समस्याओं का विवेचन करते हैं। न्यायदर्शन की विशेषता यही है कि यह आध्यात्मिक समस्याओं का आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन करता है। वाचस्पति के अनुसार, न्यायशास्त्र का उद्देश्य ज्ञान के विषयों की सर्वबुद्धि द्वारा आलोचना और छानबीन करना है।[3]

न्याय और वैशेषिक दोनों ही परम्परागत सामान्य दार्शनिक पदार्थों, यथा देश, काल, कारण, भौतिक प्रकृति, मन, जीवात्मा और ज्ञान को लेकर उनके विषय में उचित अनुसन्धान करके विश्व की रचना का समाधान करते हैं। तर्कसम्मत तत्त्व-विभाग इस परम्परा की मुख्य विशेषता रही है। न्याय और वैशेषिक दोनों क्रमशः आन्तरिक तथा बाह्य जगत की व्याख्या करते हैं। न्याय अत्यन्त विस्तार के साथ ज्ञानप्राप्ति की पद्धति की व्याख्या करता है और बलपूर्वक उस संशयवाद का युक्तियुक्त विरोध करता है जो कि प्रत्येक पदार्थ की अनिश्चितता की घोषणा करता है। वैशेषिक का मुख्य विषय इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अथवा अनुभव का विश्लेषण करना है। यह उन पदार्थों के विषय में सामान्य धारणाएं देता है जो या तो प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा श्रुति के प्रमाण द्वारा जाने जाते हैं। इस प्रकार का रूप अपनाते हुए यदि न्याय और वैशेषिक जीवात्माओं को वास्तविक मानने के विश्वास का समर्थन करें तो कुछ आश्चर्य नहीं। यह जीवात्माएं अपने चारों ओर व्याप्त वस्तुओं के विधान में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया में संलग्न हैं।

दोनों दर्शन बहुत समय से एक-दूसरे के पूरक माने जाते रहे हैं। कभी-कभी यह सुझाया जाता है कि उक्त दोनों दर्शन एक ऐसे उद्गम से निकली दो स्वतन्त्र विचार-धाराएं हैं जिसमें ज्ञात पदार्थों तथा ज्ञान के साधनों का विवेचन किया गया था। परन्तु, इस विषय पर निश्चितरूप से कुछ कहना कठिन है। बाद के ग्रन्थकारों ने दोनों दर्शनों को एक ही सामान्य विचारधारा का अंश स्वीकार किया है।[4] यहां तक कि वात्स्यायन के न्यायभाष्य में दोनों के अन्दर भेद नहीं किया गया है। वैशेषिक का उपयोग न्याय के परि-शिष्ट के रूप में हुआ है।[5] उद्योतकर के न्यायवार्तिक में वैशेषिक सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है। जैकोबी का कहना है कि "उक्त दोनों सम्प्रदायों का सम्मिश्रण बहुत पहले

1 प्रत्यक्षागमाभ्याम् ईक्षितस्य अन्वीक्षा तया वर्तत इत्यान्वीक्षिकी (न्यायभाष्य, 1 1, 1)। आगे चलकर "इस अन्वीक्षा, अर्थात् अनुसन्धान कहा जाता है क्योंकि इसका कार्य प्रत्यक्ष तथा शब्द-प्रमाण के आधार पर पहले देखी हुई (ईक्षित) वस्तु का फिर से ईक्षण (अनु ईक्षण) करना है" (न्यायभाष्य, 1 1, 1)। तत्त्वज्ञान दूसरे कारणों का विज्ञान है जैसा कि अरस्तू का कहना है, यह अनिवार्यरूप से ज्ञान का अपने सम्बन्ध में चिन्तन करता है।

2 बुद्ध्या यद् उपपन्नं तत् सर्वं न्यायमतम्।

3 तुलना कीजिए प्रमाणैरर्थपरीक्षणम् (न्यायभाष्य तथा न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, 1 : 1, 1)।

4 देखिए, चन्द्रप्रभकृत वार्त्तिकव्याख्या, केशवमिश्रकृत तर्कभाषा, शिवादित्यकृत सप्तपदार्थी, विश्वनाथकृत भाषापरिच्छेद और सिद्धान्तमुक्तावली, अन्नंभट्टकृत तर्कसंग्रह और दीपिका, जगदीश-कृत तर्कामृत, और लौगाक्षि भास्करकृत तर्ककौमुदी। बौद्ध विचारक आर्यदेव और हरिवर्मन न्याय को वैशेषिक दर्शन से स्वतन्त्र नहीं मानते। (उद्धृत वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ 45 और 56)।

5 न्यायभाष्य, 1 1, 4। वात्स्यायन ने उद्धृत किया है। न्यायभाष्य, 2 . 2, 34 में वैशेषिक सूत्र, 3 1, 16 न्यायभाष्य, 3 . 1, 33 और 3 . 1, 67 में वैशेषिक सूत्र, 4 1, 6।

आरम्भ हो गया था और उसकी पूर्ति उस समय हुई लगती है जबकि न्यायवार्तिक लिखा गया।"[1] कितने ही न्यायसूत्रों में वैशेषिक के सिद्धातों की पूर्वकल्पना की गई है। इन्हें समानतन्त्र अथवा सयुक्त दर्शन नाम से भी पुकारा जाता है, क्योंकि दोनों ही जीवात्माओं के अनेक होने, एक पृथक् ईश्वर की सत्ता, परमाणुरूप जगत् की सत्ता में विश्वास करते हैं, और बहुत-सी एक-जैसी युक्तियों का उपयोग करते हैं। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उक्त दोनों दर्शन-पद्धतिया बहुत प्राचीन काल में ही एक साथ मिल गई थीं फिर भी जहा एक ने तर्क के विषय का प्रतिपादन किया वहा दूसरे ने भौतिक जगत् की व्याख्या की। इस प्रकार दोनों में भेद प्रकट होता है।[2] जबकि न्याय तर्क द्वारा पदार्थों के ज्ञान की प्रक्रियाओं और प्रणालियों का वर्णन करता है, वैशेषिक पदार्थों की परमाणु द्वारा रचना की व्याख्या करता है जिसे न्याय ने बिना किसी तर्क के स्वयसिद्ध स्वीकार कर लिया है।[3]

न्यायदर्शन को अत्यन्त प्राचीन काल से ही बहुत प्रतिष्ठा के साथ देखा जाता रहा है। मनु ने इसका समावेश श्रुति के अन्दर किया है, याज्ञवल्क्य ने भी इसे वेद के चार अगों में से एक माना है।[4] हिन्दुओं के पाच प्राचीन पाठ्यविषयों, काव्य (साहित्य), नाटक, अलकार, तर्क (न्यायदर्शन) और व्याकरण में न्याय की भी गणना की गई है। आगे चलकर विद्यार्थी किसी भी विषय के विशेष अध्ययन को भले ही स्वीकार करे, किंतु

1 इसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड 2, पृष्ठ 201।

2 उद्योतकर का कहना है कि 'अन्य दिङ्नाग का कार्य प्रमाणों के विषय का प्रतिपादन करना नहीं है यद्यपि वे उन पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं जो उनके द्वारा जाने गए हैं।' (न्यायवर्तिक, 1 : 1, 1)।

3 गार्बे वैशेषिक को न्याय का पूर्ववर्ती मानता है (इसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड 12 पृष्ठ 569) और देखिए फिलासफी आफ एशियण्ट इण्डिया पृष्ठ 20 जैकोबी (जनरल आफ द अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी 31) जबकि गोल्डस्टकर वैशेषिक का न्याय की एक शाखामात्र मानता है। कीथ का झुकाव पूर्वमत की ओर है। (इण्डियन लाजिक एण्ड ऐटोमिज्म पृष्ठ 21 22)। यह अधिक तर्कसम्मत है क्योंकि रूढ़िपरक तत्त्व मीमांसा के पश्चात् ही सामान्यतः समालोचनात्मक अनुसन्धान उत्पन्न होते हैं। न्यायसूत्रों का अधिक क्रमबद्ध स्वरूप है तथा उनमें शब्द की नित्यता आत्मा के स्वरूप और अनुमान की प्रक्रिया की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया गया है, जिससे कीथ का विचार पुष्ट होता है। न्यायसूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट रूप में उल्लेख (4 1, 19) उससे कहीं अधिक है जो कुछ वैशेषिक ने इस प्रश्न पर कहा है। शारीरिक क्रियाओं से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो युक्ति दी गई है वह न्याय के मत की तुलना में असस्कृत है। न्याय ने मानसिक प्रतीति को आत्मा का आधार माना है। ब्रह्मसूत्रों में जो वैशेषिक सिद्धान्त की समीक्षा करते हैं (2 2 12 17), न्याय का कोई स्पष्ट उल्लेख न होने से वैशेषिक की प्राचीनता के मत की पुष्टि होती है। न्याय में जो प्रतितन्त्र सिद्धान्त का उल्लेख है यदि उसे वैशेषिक का सकेत समझा जाए तो इस मत की और भी पुष्टि हो जाएगी। वैशेषिक सूत्रों में अनुमान के आधारों का जो अधिक विस्तृत रूप में प्रतिपादन है और हेत्वाभासों की अधिक सरल योजना है, उनका महत्त्व निर्माण-काल की दृष्टि से कुछ अधिक नहीं है। हमें न्यायसूत्रों तथा वैशेषिक सूत्रों में बहुत सी समानताए मिलती हैं। न्यायसूत्र 3 1, 36 2 1, 54 1 1 10 3 1 28 3 1, 35, 3 1 63, 3 1, 71, 3 2, 63 को क्रमश वैशेषिक सूत्र, 4 1 8 7 2 20, 3 2 4, 4 2 3, 4 1 6 13 7 2 4-5 8 2, 5 7 1 23 से तुलना कीजिए)। यदि कुछ वैशेषिक सूत्र न्याय के विचारों के ही परिष्कृत रूप लाते हैं तो इससे केवल इतना ही परिणाम निकल सकता है कि वे सूत्र न्यायसूत्रों के बाद बने। इससे अधिकाश वैशेषिक सूत्रों की पूर्ववर्तिता पर कुछ असर नहीं पड़ता।

4 याज्ञवल्क्य स्मृति 1 3। तुलना कीजिए आत्मोपनिषद्, 2 और विष्णुपुराण 3 6।

प्रारम्भिक विषयों में तर्कशास्त्र अवश्य सम्मिलित था, जो समस्त पाठ्यविषयों का आधार समझा जाता था। प्रत्येक हिन्दू दर्शन न्याय द्वारा प्रतिपादित मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। यहाँ तक कि न्यायदर्शन की आलोचना के लिए भी न्याय की तार्किक परिभाषाओं का आश्रय लेता है। इस दृष्टिकोण से न्याय एक प्रकार से समस्त व्यवस्थित दर्शनविज्ञान की भूमिका है।[1]

2. न्याय की प्रारम्भिक अवस्था

आन्वीक्षिकी विद्या का प्रयोग, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, अध्यात्मविषयक समस्याओं की तार्किक समीक्षा के लिए हुआ है। साथ ही इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में भी हुआ है, जिसमें इसमें सांख्य, योग और लोकायत आदि उन समस्त व्यवस्थित प्रयासों का समावेश हो जाता है जो दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए किए गए थे। इन विभिन्न दर्शनों में समान रूप से प्रयुक्त होनेवाली तार्किक पद्धति व आलोचना के स्वरूप की ओर शीघ्र ही ध्यान गया है। प्रत्येक विज्ञान न्याय के नाम से पुकारा जा सकता है, क्योंकि न्याय का शाब्दिक अर्थ है किसी विषय के भीतर जाना अर्थात् उसकी विश्लेषणात्मक समीक्षा करना। इसलिए हम न्यायदर्शन को, जिसमें आलोचनात्मक छानबीन की सामान्य योजना और पद्धति का अध्ययन किया जाता है, विज्ञानों का विज्ञान कह सकते हैं। मीमांसकों ने जो केवल श्रुतियों के भाष्यकार ही नहीं थे किन्तु तार्किक भी थे, इस प्रकार के तार्किक अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। हो सकता है कि कर्मकाण्ड की आवश्यकताओं के कारण ही तर्कबुद्धि का उदय हुआ हो, खासकर तब जब कि कर्मकाण्ड की नाना विधियों, नियमों तथा उनके फलों की ठीक-ठीक व्याख्या करने की आवश्यकता हुई। इसीलिए जिन विचारकों ने मीमांसाशास्त्र की नींव रक्खी और उसे उन्नत किया उन्होंने तर्कशास्त्र की उन्नति में भी सहायता की।[2] जब गौतम ने अन्य विचारकों की अपेक्षा तार्किक पक्ष की व्याख्या की ओर विशेष ध्यान दिया तो उनके दृष्टिकोण का आन्वीक्षिकी के साथ तादात्म्य हो गया। इस प्रकार एक पारिभाषिक शब्द, जो बहुत प्राचीन काल से सामान्य अर्थों में प्रत्येक व्यवस्थित दर्शन के लिए प्रयुक्त होता था, संकुचित अर्थों में प्रयुक्त होने लगा।[3]

पूर्व की जिन शृंखलाबद्ध अवस्थाओं में से गुजरकर न्यायशास्त्र विकसित हुआ उनमें तार्किक वाद-विवाद का विशेष स्थान है।[4] न्याय को कभी-कभी तर्कविद्या

1 तुलना कीजिए कौटिल्य (1 2), जिसे न्यायभाष्य, 1 1, 1 में उद्धृत किया गया है।

2 मीमांसा ग्रंथों के नामों यथा माधवकृत न्यायमालाविस्तार, पार्थसारथि मिश्रकृत न्यायरत्नाकर और आपदेवकृत न्यायप्रकाश से यह स्पष्ट है कि न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के पर्यायवाची शब्द के रूप में होता था। और भी देखिए आपस्तम्बकृत धर्मसूत्र, 2 . 4, 8, 23, 2 : 6, 14, 3।

3 और देखिए मनु, 7 43, गौतमकृत धर्मसूत्र, 11, रामायण, अयोध्याकाण्ड, 100, 36, महाभारत, शान्तिपर्व, 180, 47।

4 पहले सूत्र में उन विषयों की सूची गिनाई गई है जिनका प्रतिपादन इस दर्शन में किया गया है और वे हैं (1) प्रमाण, ज्ञान के साधन (2) प्रमेय, ज्ञान के विषय, (3) संशय, (4) प्रयोजन; (5) दृष्टान्त, (6) सिद्धान्त, मान्य सत्य, (7) अवयव, परार्थानुमान के घटक, (8) तर्क, अप्रत्यक्ष प्रमाण, (9) निर्णय, सत्य का निश्चय, (10) वाद, बहस, (11) जल्प, निरर्थक कथन, (12) वितण्डा, खण्डनात्मक समालोचना, (13) हेत्वाभास, दोषपूर्ण युक्तियाँ; (14) छल, (15) जाति,

और वादविद्या, अर्थात् वादविवाद-सम्बन्धी विज्ञान का नाम भी दिया गया है। बहस अथवा वाद बौद्धिक जीवन का प्राण है। सत्य के अन्वेषण के लिए इस विधि का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। सत्य स्वयं मे एक अत्यन्त जटिल विषय है और इसीलिए विना विभिन्न मस्तिष्कों के सम्मिलित सहयोग के सत्य के अन्वेषण मे सफलता नही मिलती।[1] उपनिषदो मे ऐसी विद्वत्परिषदो का उल्लेख मिलता है जिनमे दार्शनिक विषयो पर वाद-विवाद होते थे।[2] यूनानी तर्कशास्त्र भी बहुत हद तक सोफिस्ट आन्दोलन से विकसित हुआ जिसमे प्रश्नोत्तर के रूप मे वाद-विवाद होता था। वाद-विवाद की कला के अभ्यास से ही सोफिस्टो ने न केवल तर्क के यथार्थ सिद्धांतो, बल्कि कुतर्क और वाक्छल का भी आविष्कार किया। प्लेटो के 'डायलौग्स्' से पता चलता है कि सुकरात वाद-विवाद की कला का उपयोग सत्य के अन्वेषण के लिए करता था। अरस्तू ने अपनी दो पुस्तको, टापिक्स तथा सोफिस्टिकल रेफ्यूटेशन्स् का प्रयोग विवाद-प्रतियोगिता के मार्गप्रदर्शन के लिए किया है, यद्यपि वह विशुद्ध तर्क को भाषणकला से पृथक् रखता था और तर्क के सिद्धातो को वाद-विवाद के नियमो से अलग रखता था। इसी प्रकार इसमे सदेह नही कि गौतम के न्यायशास्त्र का जन्म भी ऐसी ही वादविवाद प्रतियोगिताओं अथवा शास्त्रार्थो से हुआ, जिनका प्रचार राजदरबारो तथा दार्शनिको मे बराबर था। ऐसे शास्त्रार्थो को नियमबद्ध करने के प्रयत्नो से ही तर्कशास्त्र का विकास हुआ। अरस्तू के समान गौतम ने भी तर्क के सिद्धातो को एक व्यवस्थित रूप दिया, सत्य से असत्य का भेद किया, और अनेक प्रकार के वितण्डा व वाक्छल का विस्तृत विवरण दिया। पहले सूत्र मे गिनाए गए सोलह विषय शास्त्रार्थ द्वारा ज्ञानप्राप्ति के साधन है।[3] तर्कशास्त्र पर लिखे गए परवर्तीकाल के कितने ही ग्रथो मे वादविवाद के नियमो पर बहस की गई है।[4] जबकि वे सब ग्रथ विवादसबधी समस्याओ की ओर निर्देश करते है।[5]

जयन्त अधिकारपूर्वक कहता है कि यद्यपि गौतम का न्यायदर्शन तर्कशास्त्र के विषय को एक सन्तोषजनक रूप मे उपस्थित करता है फिर भी गौतम से पूर्व भी तर्कशास्त्र विद्यमान था, जैसे कि जैमिनि से पूर्व मीमासा और पाणिनि से पूर्व

निरर्थक आपत्तिया और (16) निग्रहस्थान, दोषारोपण के अवसर। पिछले सात की अपेक्षा पहले नौ अधिक सही अर्थो मे तर्कसम्मत है, क्योंकि पिछले सातो का कार्य अधिकतर भ्रमात्मक ज्ञान का निषेध है। ये भूल को मिटाने के लिए हथियार का काम करते है, किन्तु सत्य की प्रस्थापना का काय उतना नही करते।

1 सुकरात ने इसका प्रयोग किया। प्लेटो के ग्रथ इसके महत्त्व को सत्य की प्राप्ति के साधन रूप मे दर्शाते हैं। अरस्तू का कहना है कि "कुछ व्यक्ति विषय के एक पहलू को देखते है तथा अन्य दूसरे पहलू को देखते हैं, किन्तु सब मिलकर सब पहलुओ को देख सकते है" (पालिटिक्स)। मिल्टन के 'एरियोपैगिटिका' तथा मिल के 'एसे आन लिबर्टी' मे निर्मुक्त विवाद की प्रशसा की गई है।

2 देखिए, छान्दोग्य उपनिषद्, 5 3, 1, बृहदारण्यक उपनिषद् 6 2, 1, प्रश्नोपनिषद् 1, 6। और देखिए, मनु, 6 50, 8 269, 12. 106, महाभारत शान्तिपर्व, 180 47, 246, 181 मनु, 12 110-111, पाराशर, 8, 19 और याज्ञवल्क्य, 1 9 तथा विनयपिटक के परिवार मे इन परिषदो का ब्यौरा दिया गया है।

3 और देखिए, न्यायभाष्य, 1 · 1, 1।

4 तार्किकरक्षा।

5 कौटिल्य ने बत्तीस पारिभाषिक शब्दो का वर्णन किया है जिन्हें तत्रयुक्त सज्ञा दी गई है। यह सूची चरकसहिता, सिद्धिस्थान 12 और सुश्रुत सहिता, उत्तरतत्र 65 मे भी मिलती है। चरक-सहिता के आन्वीक्षिकी भाग मे वाद-विवाद के नियमो का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है (विमानस्थान, 8)।

व्याकरण विद्यमान था।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में वाकोवाक्य का[2] वर्णन मिलता है जिसे शंकर ने तर्कशास्त्र[3] ही बतलाया है। महाभारत में भी तर्कशास्त्र और आन्वीक्षिकी का उल्लेख है।[4] वहां कहा गया है कि नारद न्यायशास्त्र के परार्थानुमान एवं वैशेषिक के युति और न्यास में परिचित थे। विश्वनाथ कुछेक पुराणों से एक वाक्य उद्धृत करता है जिसके अनुसार न्याय की गणना वेदों के उपांगों में की गई है।[5] यद्यपि बौद्धदर्शन मुख्यतः बुद्धि पर आश्रित था तो भी उसके प्राचीन ग्रंथों में कोई व्यवस्थित तार्किक पद्धति नहीं मिलती। केवल तर्कविद्या में निपुण व्यक्तियों का वर्णन मिलता है। ब्रह्मजालसुत्त में तक्की (वितण्डावादी) और वीमांसी[6] का उल्लेख है। मज्झिमनिकाय में आए अनुमान सुत्त इस नाम से यह प्रकट होता है कि अनुमान शब्द का प्रयोग शायद अनुमान-प्रमाण के लिए हुआ है। कथावस्तु में पतिञ्ञा (प्रतिज्ञा), उपनय, निग्गह आदि शब्दों का व्यवहार उनके पारिभाषिक अर्थों में ही हुआ है।[7] यमक परिभाषाओं के विभाग और रूपांतर के नियमों से परिचित है। पतिसम्भिदामग्ग शब्दों और पदार्थों के विश्लेषण का वर्णन करता है। नेत्तिपकरण तार्किक सिद्धांत के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करता है। मिलिन्द के प्रश्नों में न्यायदर्शन का वर्णन शायद नीति के नाम से आया है।[8] ललितविस्तर ने न्यायशास्त्र का वर्णन हेतुविद्या के नाम से किया है। जैन आगमों ने भी भारतीय न्यायशास्त्र की प्राचीनता को प्रमाणित किया है। आर्यरक्षित ने जो ईसा की प्रथम शताब्दी में विद्यमान था, अपने अणुयोगद्वार में अनुमान के तीन विभाग, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट गौतम के सूत्र के अनुसार ही किए हैं। आर्यरक्षित केवल एक प्राचीन ग्रंथ का संकलनकर्ता प्रतीत होता है जिसका वर्णन भगवती सूत्र में, ई० पू० तीसरी शताब्दी में पाटलिपुत्र में संघटित जैन सिद्धान्तों में पाया जाता है। सम्भवतः अनुमान-

1 डाक्टर विद्याभूषण का मत है कि न्यायसूत्र के रचयिता से पूर्व भी अनेक लेखकों का भारतीय न्यायशास्त्र में योगदान रहा है। इन लेखकों में दत्तात्रेय, पुनर्वसु आत्रेय, सुलभा मैत्रेयिनी और अष्टावक्र का नाम लेते हैं। ('हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ 9-17)।

2 7 1, 2।

3 और देखिए, 'सुबाल उपनिषद्, 2। कुछ परवर्ती उपनिषद् प्रमाण शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में करते हैं। देखिए, मैत्री उपनिषद्, 6, 6 24, नृसिंहोत्तरतापनी, 9, सर्वोपनिषत्सार, 4, कालाग्निरुद्रोपनिषद्, 7, मुक्तिकोपनिषद्, 2। तैत्तिरीय आरण्यक में स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य अर्थात् परम्परा और अनुमान ज्ञान के चार स्रोत बताए गए हैं। और देखिए रामायण, 5 87-23, मनु 12 105। प्राचीन ग्रंथों में न्याय की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं, यथा तर्क (कठोपनिषद्, 2 . 9, मनु, 12 . 106, महाभारत, 2 . 153), वाद (मनु, 6 53, रामायण, 1 ; 13-23, 7 53-60), युक्ति (ऐतरेय ब्राह्मण, 6 ' 23, रामायण, 2 1, 13), जल्प (महाभारत, 13 4322), वितण्डा (महाभारत, 2 1310, 7 3022, और पाणिनी, 4 4, 102), छल (मनु 8 . 49, रामायण, 4 57 10), निर्णय (महाभारत, 13 7553, 7535), प्रयोजन (मनु, 7 100, महाभारत, 1 5905), प्रमाण (मनु, 2 · 13, रामायण, 2 · 37, 21, महाभारत, 13 . 5572), प्रमेय (रामायण 1 52, 3, महाभारत, 1 : 137, 7 . 1410)। देखिए, विद्याभूषण की 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ 23।

4 महाभारत, 1 - 70, 42, 12 . 210, 22।

5 न्यायसूत्रवृत्ति, 1 1, 1।

6 और देखिए, उदान, 6 10।

7 और देखिए, विषय पृष्ठ 293 से लेकर आगे।

8 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', पृष्ठ 6-7।

प्रमाण के तीन प्रकारो का सिद्धान्त ई० पू० तीसरी शताब्दी से भी पुराना है।

न्यायशास्त्र का आरम्भ बौद्धकाल से पूर्व हो गया था, यद्यपि उसकी वैज्ञानिक विवेचना बौद्धकाल के आरम्भ मे और मुख्य सिद्धातो की स्थापना ई० पू० तीसरी शताब्दी से पहले हुई। किन्तु सूत्र-निर्माण से पूर्व के न्याय के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध मे बहुत कम सामग्री उपलब्ध है।

3. साहित्य और इतिहास

न्यायशास्त्र का इतिहास बीस शताब्दियो मे फैला हुआ है। गौतम का न्यायसूत्र, जो पाच अध्यायो मे बटा है जिनमे से प्रत्येक के दो-दो परिच्छेद हे, न्यायशास्त्र की प्रथम पाठ्य-पुस्तक है। वात्स्यायन के अनुसार ग्रन्थ उद्देश्य, लक्षण, और परीक्षा की विधि का अनुसरण करता है। प्रथम अध्याय मे सामान्यत सोलह विषयो का वर्णन है जिनपर अगले चार अध्यायो मे विचार किया गया है। दूसरे अध्याय मे सशय के रूप का प्रतिपादन है, और हेतु प्रामाण्य का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय मे आत्मा के स्वरूप, भौतिक देह, इन्द्रिया और उनके विषयो, अभिज्ञान व मन के विषय मे विचार किया गया है। चौथे अध्याय मे सकल्पशक्ति, शोक, दु ख और उससे छुटकारे के विषय पर विचार किया गया है। प्रकरणवश इस अध्याय मे त्रुटि और पूर्ण व उसके अशो के परस्पर सम्बन्ध का भी वर्णन किया गया है। अतिम अध्याय मे जाति, अर्थात् निराधार आक्षेपो और निग्रहस्थान, अर्थात् दोषारोपण के अवसरो का विवेचन किया गया है। न्यायसूत्र वैदिक विचारधारा के निष्कर्षो को तर्कसम्मत सिद्धान्तो के आधार पर, उसके धार्मिक एव दार्शनिक मतो के साथ जोडता है, और इस प्रकार आस्तिक यथार्थवाद का तर्क द्वारा समर्थन करता है। गौतम के सूत्र, कम से कम उनमे से प्राचीनतम, ई० पू० तीसरी शताब्दी की रचनाए है। वह युग आह्निको अर्थात् दैनिक पाठो, यथा पतञ्जलिकृत व्याकरण महाभाष्य के नवाह्निक का युग था। परन्तु कुछ न्यायसूत्र निश्चित रूप से ईसा की मृत्यु के पीछे बने है।[1]

1 जेकोबी का मत है कि न्यायसूत्र और न्यायभाष्य लगभग एक ही समय के हैं, हो सकता है कि उनके बीच एक पीढी का व्यवधान हो। वह इन्हें दूसरी शताब्दी (ईस्वी) जबकि शून्यवाद का विकास हुआ और पाचवी शताब्दी (ईस्वी) के मध्य मे रखता है जबकि विज्ञानवाद व्यवस्थित रूप मे आया (देखिए जनरल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी 31 1911, पृष्ठ 2 13)। उसका विचार है कि न्यायसूत्र मे जिन बौद्ध विचारो की आलोचना की गई है, वे नागार्जुन द्वारा समर्थित शून्यवाद के विचार हैं जिनका समय तीसरी शताब्दी (ईस्वी) रखा गया हे। वे असग और वसुबन्धु के विज्ञानवाद के विचार नही हैं जिनका समय चौथी शताब्दी (ईस्वी) का मध्य माना गया है। किन्तु इस मत को मानना कठिन है। वात्स्यायन और वाचस्पति दोनो का ही मत है कि न्याय सूत्र 4 2, 26 मे विज्ञानवाद का विरोध किया गया है। हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि न्याय सूत्र में शून्यवाद का खण्डन किया गया हैं (न्यायसूत्र 4 1, 40, 4 1, 48 की क्रमश माध्यमिक कारिका 15 6 और 7 20 के साथ तथा न्यायसूत्र 4 1, 34-35 की चन्द्रकातिकृत 'वृत्ति पृष्ठ 64-71 के साथ तुलना कीजिए)। किन्तु शून्यवाद नागार्जुन से पहले का है और वे न्यायशास्त्र की परिभाषाओ से परिचित है तथा परमाणुवाद को अस्वीकार करते है (न्यायसूत्र 4 2, 18-24, 31-32 की माध्यमिक कारिका, 7 34 से तथा न्यायसूत्र 3 2 11 और 4 1, 64 की तुलना कीजिए)। हम केवल यही कह सकते हैं कि न्यायसूत्र नागार्जुन से पहले का है, यद्यपि माध्यमिक

वात्स्यायन का न्यायभाष्य न्यायसूत्र पर शास्त्रीय टीका है। यह प्रकट है कि वात्स्यायन गौतम के तुरन्त बाद नहीं हुआ था, क्योंकि उसके ग्रन्थ में वार्तिक

परम्परा के पश्चात् का है (और देखिए, 'भारतीय दर्शन' खण्ड 1, पृष्ठ 591 टिप्पणी : सुई 'वैशेषिक फिलासफी' पृष्ठ 85)। सत्तावनत्तर सूत्र में सांख्यिकों और वैयायिकों का उल्लेख है। प्रो. यदि हम यह स्मरण रखें कि विश्वविज्ञान-सम्बन्धी विचार, जिनका न्यायसूत्र में खण्डन किया गया है, उतने ही पुराने हैं, जितना कि प्रारम्भिक बौद्धदर्शन है, तो जैकोबी द्वारा मान्य काल, जिसका सुआली ने भी समर्थन किया है, क्योंकि वह न्यायसूत्र का 300 या 350 ईस्वी का बताता है, बहुत पीछे का प्रतीत होता है (और देखिए सुई 'वैशेषिक फिलासफी' पृष्ठ 16)। गार्बे का झुकाव इस ओर है कि न्यायसूत्र पहली शताब्दी (ईस्वी) का है क्योंकि पञ्चशिख उससे परिचित था, जिसे वह चरक का समकालीन मानता है जो 100 और 300 ईस्वी के मध्य कभी हुआ था। गौतम ब्रह्मसूत्रों की परिभाषाओं से (तुलना कीजिए न्यायसूत्र 3 2, 14 16 और ब्रह्मसूत्र 2 1, 24) और जैमिनि के पूर्वमीमांसा से (देखिए न्यायसूत्र 2 1, 61, 67, बोडासकृत इण्ट्रोडक्शन टू तर्कसंग्रह) परिचित हैं। बोडास का मत है कि वैशेषिक सूत्र 4 1, 4-5 बादरायणकृत परमाणुवाद की समालोचना को आगे रखते हैं और वैशेषिक सूत्र 3 2, 9 (तुलना कीजिए न्यायसूत्र, 3 1, 28 30) का लक्ष्य वेदान्त का यह मत है कि आत्मा को केवल श्रुति के द्वारा ही जाना जाता है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र 4 2, 2-3 ब्रह्मसूत्र 2 2, 21-22 के इस विचार का विरोध करता है कि शरीर पांच या तीन तत्त्वों के संयोग का परिणाम है। गौतम अनेक स्थलों पर बादरायण के ही विचारों का प्रतिपादन करते हैं। देखिए, न्यायसूत्र 4 1, 64 और 3 2 14 16। ब्रह्मसूत्रों और मीमांसासूत्रों में न्याय के सम्बन्ध में सीधा कोई उल्लेख नहीं है, इसपर कभी-कभी बल दिया जाता है। यह सम्भव है कि व्यास ने, जिसे गौतम का शिष्य समझा जाता है न्याय के मत की आलोचना करना ठीक न समझा हो, विशेषकर इसलिए कि वह ईश्वर को मानने में सहमत था। फिर कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ब्रह्मसूत्र 2 1, 11-13 न्याय के इस मत को ठीक नहीं मानता कि तर्क द्वारा ईश्वर की सिद्धि होनी चाहिए। परमाणुवाद तथा असत्कार्यवाद के सिद्धान्तों की समीक्षा ब्रह्मसूत्र 2 2, 10-16 और 2 1, 15-20 में की गई है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में ऐसी कोई सामग्री नहीं पाई जाती जिससे न्यायसूत्र के निर्माणकाल का पता चल सके। कात्यायन (चौथी शताब्दी ई० पू०) और पतञ्जलि (जिसका महान ग्रन्थ लगभग 140 ई० पू० लिखा गया था) न्यायदर्शन से परिचित थे। देखिए गोल्डस्टकरकृत 'पाणिनि'। भगवान् उपवर्ष थे, जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने दोनों मीमांसाओं पर टीका लिखी थी, शबर के उद्धरण यह निर्देश करते हैं कि उपवर्ष न्याय के विचारों से अभिज्ञ थे। हरिवर्मन (260 ईस्वी) न्याय के सोलह विषयों से परिचित है। अश्वघोष पञ्चावयव वाले परार्थानुमान का प्रयोग करता है। देखिए सुई 'वैशेषिक फिलासफी' पृष्ठ 56 और 81। इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि न्यायसूत्र चौथी शताब्दी ई० पू० में थे अवश्य, भले ही वे अपने वर्तमान रूप में न रहे हों। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का कहना है, "मैं यह निश्चय से नहीं कह सकता कि न्यायसूत्र वर्तमान रूप धारण करने से पूर्व अनेक संशोधनों में से न गुजरे हों।" (जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, 1905, पृष्ठ 178, और देखिए पृष्ठ 245 से आगे)। वाचस्पति ने 'न्यायसूची' तथा 'न्यायसूत्रोद्धार' ये सूत्रों को संग्रह करने के दो प्रयत्न किए, और इस प्रकार न्यायसूत्र की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह प्रकट किया। डा० विद्याभूषण का मत है कि गौतम ने ग्रन्थ का केवल पहला ही अध्याय लिखा और वह धर्मसूत्र के रचयिता बुद्ध का समकालीन था, जो मिथिला में छठी शताब्दी ई० पू० में निवास करता था (देखिए सेक्रेड बुक्स आफ हिन्दूज न्यायसूत्र पृष्ठ 5 8 और भण्डारकर कामेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ 161-162)। उसका मत है कि गौतम के असली विचार वे हैं जो 'चरकसंहिता' में हैं (विमानस्थान, 8)। न्यायसूत्र और 'चरकसंहिता' में बहुत-सी बातें एक समान हैं। किन्तु यह कहा गया है "न्याय सिद्धान्तों तथा वैशेषिक के पदार्थों के सम्बन्ध में चरक का उल्लेख न्यायसूत्रों का समय निर्धारित करने में अधिक महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि उक्त ग्रन्थ में बहुत परिवर्तन हुए और उसका रचनाकाल भी अनिश्चित है।" ('इण्डियन लाजिक एण्ड एटोमिज्म' पृष्ठ 13)।

न्यायसूत्र का रचयिता गौतम था, इस विषय में सन्देह प्रकट किए गए हैं। वात्स्यायन, उद्योतकर और माधव अक्षपाद को न्यायसूत्रों की रचना का श्रेय देते हैं। इस मत का समर्थन वाचस्पति और जयन्त ने भी किया है। 'पद्मपुराण' (उत्तरखण्ड, 263) और 'स्कन्दपुराण'(कालिका

के सन्दर्भ पाए जाते है जो कि गौतम के सप्रदाय मे हुए वाद-विवादो के निष्कर्षों को सार रूप मे रखते है। वात्स्यायन ने कुछ सूत्रो की प्रकारान्तर से व्याख्या की है, जिससे प्रकट होता है कि उससे पूर्व भी टीकाकार हो गए है जो उक्त सब सूत्रो की व्याख्या के विषय मे एकमत नही थे।[1] इसके अतिरिक्त, वात्स्यायन गौतम को अत्यन्त प्राचीन काल का एक ऋषि मानता है और अपनी मान्यता के समर्थन मे पतञ्जलि के महाभाष्य, कौटिल्य के अर्थशास्त्र[2] और वैशेषिक सूत्र[3] से भी उद्धरण देता है। 'उपायकौशल्य' और 'विग्रहव्यावर्तनी' ग्रन्थो का रचयिता नागार्जुन निश्चित रूप मे वात्स्यायन से पहले हुआ, क्योकि वात्स्यायन ने नागार्जुन के विचारो का कही-कही खण्डन भी किया है। दिग्नाग ने बौद्ध दृष्टिकोण से वात्स्यायन के भाष्य की आलोचना की है। इस सबसे हम यह अनुमान करते है कि वात्स्यायन 400 ईस्वी से कुछ पहले विद्यमान था।[4]

खण्ड, 17) के अनुसार, न्यायसूत्र का रचयिता गौतम है और विश्वनाथ की भी सम्मति यही है। हिन्दु परम्परा के अनुसार गौतम और अक्षपाद दोनो एक हैं और कहा जाता है कि गौतम का ही नाम अक्षपाद था अर्थात् जिसके पाव मे आखें हो। कथा इस प्रकार कही जाती है कि गौतम ध्यान में मग्न था और एक कुए मे गिर पडा। ईश्वर ने दया करके उसके पावो में देखने की शक्ति दे दी जिससे कि वह आग इसी विपत्ति मे न पडे। डा० विद्याभूषण एक मान्य परम्परा के विरुद्ध जाकर कहते हैं कि "गौतम और अक्षपाद दोनो ने ही उक्त ग्रथ की रचना मे भाग लिया है। न्यायसूत्र मुख्य रूप से पाच विषया का प्रतिपादन करता है यथा (1) प्रमाण अर्थात सत्यज्ञान का साधन, (2) प्रमेय, सत्य-ज्ञान का विषय, (3) वाद अर्थात् विवेचन, (4) अवयव अर्थात् परार्थानुमान के घटक, और (5) अन्यमतपरीक्षा अर्थात समकालीन दूसरे दाशनिक सिद्धातो की समीक्षा। दूसरा और तीसरा विषय और सम्भवत अपने आदिम रूप मे पहला विषय भी, जिनके अनेक उल्लेख पुरातन वैदिक, बौद्ध तथा जैन ग्रथो मे पाए जाते हैं, बहुत सम्भव है गौतम ने ही प्रतिपादित किए थे जिसकी आन्वीक्षिकी विद्या इन्हीसे बनी है। चौथा और पाचवा विषय और सम्भवत अपने व्यवस्थित रूप मे पहला विषय भी अक्षपाद द्वारा आन्वीक्षिकी विद्या मे प्रस्तुत किया गया, और ये ही अपने अतिम रूप मे न्यायसूत्र कहलाए। इसलिए न्यायसूत्र का असली रचयिता अक्षपाद था जिसने गौतम की आन्वीक्षिकी विद्या से बहुत कुछ सामग्री ग्रहण की।" ('हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक' पृष्ठ 49-50)। यह मत केवल एक कल्पना है जिसका न तो खण्डन ही किया जा सकता है और न जिसे स्वीकार किया जा सकता है। गौतम को न केवल 'धर्मसूत्र' का भी रचयिता माना जाता है बल्कि वाल्मीकि रामायण मे वर्णित गौतम ऋषि भी कहा जाता है जिसका सम्बन्ध अहल्या के उपाख्यान मे है। महाभारत (शाति पर्व 265, 45) के अनुसार मेधातिथि भी गौतम का ही एक दूसरा नाम है। भास कवि ने अपने 'प्रतिमा नाटक' मे मेधातिथि का उल्लेख न्यायदर्शन के संस्थापक के रूप मे किया है 'मानवीय धर्मशास्त्र माहेश्वर योगशास्त्र, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्।" (अक 5)। और देखिए 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक' पृष्ठ 766।

1 देखिए न्यायभाष्य 1 1, 5, 1 · 2, 9। वात्स्यायन अपनी शैली मे अन्य व्याख्याकारो का 1 1, 32 मे इस प्रकार उल्लेख करता है एके (कुछ), केचित् (कोई-कोई), अन्ये (अन्य)। देखिए महाभारत, आदिपर्व 42-44।

2 न्यायभाष्य 1 · 1, 1, और अर्थशास्त्र 2, न्यायभाष्य 5 1, 10 और महाभाष्य 1 1, 3।

3 तुलना कीजिए, वैशेषिक सूत्र 4 1, 6 और न्यायभाष्य 3 . 1, 33, 33, 3 1, 67, वैशेषिक सूत्र 3 1, 16 और न्यायभाष्य 2 2, 34।

4 डाक्टर विद्याभूषण का मत है कि वात्स्यायन दक्षिण भारत का निवासी था और चौथी शताब्दी (ईस्वी) के मध्य मे हुआ ('हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ 42, 116-117, ए०, 1915, वात्स्यायन पर लेख)। कीथ (इण्डियन लाजिक एण्ड ऐटोमिज्म पृष्ठ 28) और बोडस (इण्ट्रोडक्शन टू 'तर्कसग्रह') इस मत का स्वीकार करते हैं। जैकोबी और सुआली का झुकाव उसे छठी शताब्दी (ईस्वी) मे अथवा उससे कुछ पूर्व रखने की ओर है। हरप्रसाद शास्त्री वात्स्यायन को नागार्जुन तथा

दिङ्नाग के ग्रन्थ, जो तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित है, ये हैं : 'प्रमाणसमुच्चय' जिसपर ग्रन्थकार का अपना निजी भाष्य है, 'न्यायप्रवेश', 'हेतु-चक्रहमरु', 'आलम्बनपरीक्षा' और 'प्रमाणशास्त्रप्रवेश'। कहा जाता है कि जापान में ये ग्रन्थ लोकप्रिय हैं।[1] दिङ्नाग पाचवीं शताब्दी (ईस्वी) में हुआ।[2] न्यायदर्शन के सिद्धान्तों में जितने ही आवश्यक परिवर्तन जो प्रशस्तपाद ने किए थे, दिङ्नाग के कारण ही किए गए। यदि प्रशस्तपाद को दिङ्नाग का पूर्ववर्ती माना जाए तो दिङ्नाग की मौलिकता में बाधा आएगी।

उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' (छठी शताब्दी ईस्वी)[3] में दिङ्नाग द्वारा वात्स्यायन पर किए गए आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। धर्मकीर्ति का 'न्यायबिन्दु' उद्योतकर द्वारा दिङ्नाग की आलोचना के उत्तर में लिखा गया था। यदि हम यह मान लें कि 'वादविधि', जिसका उद्योतकर ने उल्लेख किया है,[4] धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' का ही दूसरा नाम है, और धर्मकीर्ति ने अपने न्यायबिन्दु[5] में जिस शास्त्र का उल्लेख किया है वह उद्योतकर का वार्तिक ही है, तो हम अवश्य ही इन दोनों लेखकों के एक ही काल में विद्यमान होने की कल्पना कर सकते हैं। धर्मकीर्ति का समय अधिक से अधिक सातवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जा सकता है।[6] नवीं शताब्दी में धर्मोत्तर ने अपनी न्यायबिन्दु टीका में दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति का अनुसरण किया।

नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वाचस्पति ने अपनी 'न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका' में न्याय के प्राचीन सिद्धान्तों की फिर से स्थापना की। उसने न्यायशास्त्र पर

आर्यदेव के पीछे आनेवाला मानते हैं क्योंकि वह महायान सम्प्रदाय के क्षणिकवाद, शून्यवाद, व्यक्तित्व आदि सिद्धान्तों से परिचित है (देखिए जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1905, पृष्ठ 178-179)।

1 उसके विषय में सम्बन्ध में कुछ विचार डा० विद्याभूषण की 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ 276-299 से और उद्योतकर के दिङ्नाग के विचारों के उल्लेखों से, जो न्यायवार्तिक में दिए गए हैं, प्राप्त हो सकते हैं।

2 तारानाथरचित 'हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म' में कहा गया है कि दिङ्नाग कांजीवरम के एक ब्राह्मण का पुत्र था जो शीघ्र ही हीनयान की शिक्षाओं में पारंगत हो गया, यद्यपि उसने बाद में वसुबन्धु से महायान की शिक्षाएं प्राप्त कीं। युवान च्वांग की साक्षी के अनुसार वसुबन्धु बौद्ध होने से पूर्व न केवल बौद्धधर्म के अट्ठारह सम्प्रदायों का ही अपितु हिन्दुओं के षड्दर्शन का भी पूरा पण्डित था। वसुबन्धु का जन्म चौथी शताब्दी (ईस्वी) के पूर्वार्ध में हुआ बताया जाता है और दिङ्नाग 400 (ईस्वी) के लगभग रहा होगा। कालिदास द्वारा उसके मेघदूत काव्य में जो दिङ्नाग का उल्लेख आया है उससे भी इस मत की पुष्टि होती है क्योंकि कालिदास का भी वही समय है (देखिए कीथ : 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ 31-32 और 'भारतीय दर्शन', खण्ड 1, पृष्ठ 573, टिप्पणी 2)।

3. सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में उद्योतकर का उल्लेख न्याय के रक्षक के रूप में आया है (देखिए हाल का संस्करण, पृष्ठ 235)। बाण ने 'हर्षचरित' में, जो राजा हर्ष के काल में लिखा गया था, 'वासवदत्ता' (1) का उल्लेख मिलता है जो कि उद्योतकर का उल्लेख करती है। हर्ष की राजधानी थानेश्वर में थी और वह एक ईस्वी सन् 629-645 (ईस्वी) में राज्य करता था, जबकि चीनी यात्री युवान च्वांग ने भारत की यात्रा की थी। इसलिए यह धारणा बनाना सर्वथा निर्दोष होगा कि वह छठी शताब्दी (ईस्वी) में था। उद्योतकर का गोत्र भारद्वाज था और वह पाशुपत सम्प्रदाय का था।

4 न्यायवार्तिक 1. 33।

5 'न्यायबिन्दु' 3, पीटर्सन का संस्करण, पृष्ठ 110-111।

6. ईत्सिंग उसका उल्लेख करता है। देखिए ताकाकुसु : 'ईत्सिंग', पृष्ठ 58।

'न्यायशुचिनिबन्ध' एवं 'न्यायसूत्रोद्धार'[1] जैसे छोटे-छोटे ग्रन्थ भी लिखे। वाचस्पति एक प्रतिभाशाली विद्वान था जिसने अन्य दर्शनों पर भी प्रामाणिक टीकाएं लिखीं, जैसे अद्वैत वेदान्त पर 'भामती' टीका और साख्यदर्शन पर 'साख्यतत्त्वकौमुदी' नामक टीका। इसलिए उसे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र एवं षड्दर्शनीवल्लभ की संज्ञा दी गई है। उदयन (984 ईस्वी) की 'तात्पर्यपरिशुद्धि' नामक एक बहुमूल्य टीका वाचस्पति के ग्रन्थ पर मिलती है। उसका 'आत्मतत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ आत्मा के नित्यत्व के सिद्धान्त के समर्थन में तथा आर्यकीर्ति आदि बौद्ध विचारकों की आलोचना में लिखा गया था। उसका 'कुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ न्यायशास्त्र के परमात्मसिद्धि विषय का प्रथम व्यवस्थित ग्रन्थ है।[2] उसके अन्य ग्रन्थ हैं 'किरणावलि' और 'न्यायपरिशिष्ट'। जयन्त की 'न्यायमञ्जरी' 'न्यायसूत्र' पर एक स्वतन्त्र टीका है। जयन्त, जिसने वाचस्पति का अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है और जिसका उल्लेख रत्नप्रभा एवं देवसूरी द्वारा किया गया है, दसवीं शताब्दी में हुआ।[3] भासर्वज्ञ का 'न्यायसार', जैसाकि नाम से प्रकट होता है, न्यायदर्शन का सर्वेक्षण है। वह प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वाक्य इन तीनों प्रमाणों को स्वीकार करता है तथा तुलना को वस्तुसिद्धि का स्वतन्त्र साधन नहीं मानता। वह शैवमतावलम्बी है, सम्भवतः काश्मीरी शैव सम्प्रदाय का है, और उसका समय दसवीं शताब्दी (ईस्वी) है। वर्धमान का 'न्यायनिबन्धप्रकाश' (1225 ईस्वी) उदयन के 'न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि' नामक ग्रन्थ पर टीका है, यद्यपि इसमें नव्यन्याय सम्प्रदाय के संस्थापक व वर्धमान के पिता गंगेश के विचारों का समावेश किया गया है। रुचिदत्त के 'मकरन्द' (1275 ईस्वी) में वर्धमान के विचारों का विकास हुआ है।[4]

न्यायशास्त्र पर लिखे गए परवर्ती ग्रन्थ वैशेषिक के पदार्थों को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं, जिन्हें वे प्रमेय अर्थात् ज्ञान के विषयों के अन्तर्गत या अर्थ के अन्तर्गत रखते हैं, जो बारह प्रकार के प्रमेयों में से एक है। वरदराज का 'तार्किकरक्षा' (बारहवीं शताब्दी ईस्वी) नामक ग्रन्थ समन्वयवादी सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वह प्रमेय के अन्तर्गत न्याय के बारह पदार्थों तथा वैशेषिक के छः पदार्थों का भी समावेश करता है। केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' (तेरहवीं शताब्दी के अन्त में निर्मित) में न्याय और वैशेषिक के विचारों का सम्मिश्रण किया गया है।[5]

1 'न्यायसूत्रोद्धार' का रचयिता इस ग्रन्थकार से भिन्न है और वह पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था। वाचस्पति ने लिखा है कि उसका 'न्यायसूची' ग्रन्थ 898 में बना। यह विक्रम संवत् प्रतीत होता है और ईस्वी सन् इसके अनुसार 841 ही बैठता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह बौद्ध तार्किक रत्नकीर्ति (1000 ईस्वी) से पूर्व विद्यमान था।

2 जब उसने यह अनुभव किया कि उसकी ईश्वरभक्ति के उत्तर में ईश्वर कोई अनुकम्पा उसके ऊपर नहीं दिखाता, तो उसने सर्वोच्च सत्ता को इन शब्दों में सबोधित किया "अपनी शक्ति के गर्व में तुम मेरा तिरस्कार करते हो, जबकि बौद्ध नास्तिकों का जोर होने पर तुम्हारा अस्तित्व मुझपर ही निर्भर करता था।"

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

3 देखिए 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ 147 और 'इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज़्म', पृष्ठ 33।

4 यह वर्धमान के प्रकाश अथवा उदयन की कुसुमाञ्जलि पर टीका है।

5 डाक्टर झा ने अपने ग्रंथ 'इण्डियन थॉट', खण्ड 2 में इसका अनुवाद किया है।

जैन दर्शन के प्रमुख तर्क-ग्रन्थ हैं भद्रबाहुकृत 'दशवैकालिकनिर्युक्ति' (लगभग 357 ई० पू०), सिद्धसेन दिवाकर का 'न्यायावतार' (छठी शताब्दी ईस्वी), माणिक्यनन्दी का 'परीक्षामुखसूत्र' (800 ईस्वी), देवसूरी का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार' (बारहवीं शताब्दी ईस्वी) और प्रभाचन्द्र का 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'। जैन विचारकों और बौद्ध तार्किकों ने तर्कशास्त्र के क्षेत्र को धर्म और अध्यात्म विषय से पृथक रखा, जबकि हिन्दू विचारधारा में तर्कशास्त्र उक्त दोनों विषयों से मिश्रित था। हिन्दू लेखकों द्वारा लिखे गए न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में परमाणु व उनके गुणों, जीवात्मा और पुनर्जन्म, परमात्मा और जगत् तथा प्रकृति व ज्ञान की सीमा-सम्बन्धी तार्किक समस्याओं का वर्णन है। बौद्ध व जैन विचारकों ने प्राचीन न्याय के अध्यात्म विषय में रुचि न लेकर केवल तार्किक विषय पर ही बल दिया, और इस प्रकार नव्यन्याय के लिए मार्ग तैयार किया, जो विशुद्ध तर्क और वाद-विवाद से सम्बन्ध रखता है।

गंगेश का 'तत्त्वचिन्तामणि' नव्यन्याय का एक मान्य ग्रन्थ है।[1] गंगेश के पुत्र वर्धमान ने अपने ग्रन्थों में इसी परम्परा को जारी रखा है। जयदेव ने 'तत्त्वचिन्तामणि' पर एक टीका लिखा है जिसका नाम 'आलोक' (तेरहवीं शताब्दी) है। वासुदेव सार्वभौम की 'तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या'[2] को नवद्वीप सम्प्रदाय का पहला बड़ा ग्रन्थ माना जा सकता है, और यह पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में या सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया था। सौभाग्यवश उन्हें बहुत प्रसिद्ध शिष्य भी प्राप्त हुए, जिनमें मुख्य हैं प्रसिद्ध वैष्णव सुधारक चैतन्य महाप्रभु, प्रसिद्ध नैयायिक रघुनाथ जो 'दीधिति' और 'पदार्थखण्डन'[3] ग्रन्थों के रचयिता हैं, प्रसिद्ध स्मृतिकार रघुनन्दन, और कृष्णानन्द जो तान्त्रिक विषयों के अधिकारी विद्वान माने जाते हैं। यद्यपि गंगेश ने केवल चार प्रमाणों पर ही लिखा है और अध्यात्म विषय को स्पष्ट रूप में नहीं लिया है, परन्तु रघुनाथ ने इस सम्प्रदाय के कुछ अन्य लेखकों की भांति अध्यात्म विषयों पर भी बहुत लिखा है। जगदीश (सोलहवीं शताब्दी के अन्त में) और गदाधर (सत्रहवीं शताब्दी) इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध तार्किक हुए हैं। अन्नं भट्ट[4] (सत्रहवीं शताब्दी) ने, जो आन्ध्र देश का एक ब्राह्मण था, प्राचीन तथा नव्यन्याय और वैशेषिक को लेकर एक व्यवस्थित दर्शनपद्धति विकसित करने का प्रयत्न किया यद्यपि उसके विचारों का झुकाव अधिकतर प्राचीन न्याय की ही ओर था। उसके द्वारा रचित 'तर्कसंग्रह' और 'दीपिका' न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय की दो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। वल्लभ का 'न्याय लीलावती', विश्वनाथ का 'न्यायसूत्रवृत्ति' (सत्रहवीं शताब्दी)

1 विद्याभूषण ने 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ 407-453 में इस पक्ष का सार दिया गया है। गंगेश बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में मिथिला में रहता था। यह इससे स्पष्ट है कि वह उदयन के ग्रन्थ व शिवादित्य तथा हर्ष के उद्धरणों से परिचित है। 'तत्त्वचिन्तामणि' (2 पृष्ठ 233) में हर्ष के विचारों की आलोचना की गई है।

2 इसका नाम 'सारावलि' है और मुझे बतलाया गया है कि इसकी पाण्डुलिपि वाराणसी के सरकारी संस्कृत कालेज के पुस्तकालय में है।

3 वैशेषिक का यह कमलेश्वर 'पण्डित' (24 और 25) में 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' शीर्षक के अन्तर्गत छपी है।

4 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ 388।

आदि अन्य ग्रन्थ भी प्रमुख है।[1]

भारतवर्ष में तर्कशास्त्र के अध्ययन के विकास के भिन्न-भिन्न पहलुओं को जानना असम्भव नहीं है। सबसे पहले आन्वीक्षिकी है, जिसे महाभारत में न्यायशास्त्र के साथ पृथक् स्थान दिया गया है। शीघ्र ही यह न्याय के साथ मिल जाती है और प्राचीन सम्प्रदाय के सूत्रों में हमें अखण्ड विश्व का आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी उसके तार्किक सिद्धान्त के साथ-साथ मिलता है। जैसाकि वात्स्यायन ने लिखा है, "सर्वोच्च लाभ की तभी प्राप्ति होती है जबकि मनुष्य निम्नलिखित की यथार्थ प्रकृति को ठीक-ठीक समझ लेता है : (1) जिसे छोड़ देना ही उत्तम है (अर्थात् कारणोंसहित दुख की जो अविद्या या अज्ञान और उसके परिणामों के रूप में होता है), (2) जिससे दुख का नाश होता है, दूसरे शब्दों में ज्ञान या विद्या, (3) वे साधन जिनके द्वारा दुख का नाश होता है, अर्थात् दार्शनिक ग्रन्थ, और (4) प्राप्तव्य लक्ष्य, या सर्वोच्च लाभ।"[2] प्राचीन न्यायशास्त्र तार्किक प्रश्नों पर बहस करता है, किन्तु केवल बहस के विचार से ही नहीं। जैन व बौद्ध दार्शनिकों ने इस विषय में एक सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण सम्मुख रखा। नव्यन्याय ने केवल ज्ञानमात्र में ही अपनी रुचि प्रकट करते हुए तर्क और जीवन के बीच जो घनिष्ट सम्बन्ध है उसे सर्वथा भुला दिया। तर्क व अध्यात्म विद्या के बीच जो सम्बन्ध है, उसका विचार प्राचीन नैय्यायिक के सामने अधिक स्पष्ट रूप में था। विचारगत विषय का विचार के प्रामाणिक रूपों के साथ क्या सम्बन्ध है, तर्क के द्वारा केवल इसी का हमें निश्चय हो सकता है। नव्य नैय्यायिक अधिकतर ध्यान केवल प्रमाण अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के साधनों और परिभाषा के सिद्धान्त पर ही देता है,[3] और प्रमेय अर्थात् ज्ञातव्य पदार्थों के प्रश्न को बिलकुल ही छोड़ देता है। साम्प्रदायिक बारीकियों, तार्किक वाक्-छल और बाल की खाल निकालने-वाले ग्रन्थ, जिनकी रचना में गंगेश के उत्तराधिकारियों ने अधिक रुचि दिखाई, बहुतों को भयभीत कर देते हैं, यहां तक कि जिन्होंने इनमें गहराई तक प्रवेश किया है वे भी यह निश्चय नहीं कर सकते कि उन्होंने इन ग्रन्थों के विचारों को पूरी तौर पर समझा है। ऐसे भी अनेक व्यक्ति हैं जिन्होंने इन ग्रन्थों की गहराई में उतरकर छानबीन की है। वे इनकी उज्ज्वल एवं आकर्षक वाक्‌चातुरी से तो प्रभावित अवश्य हुए, किन्तु उन्हें मति-विभ्रम ही हुआ और ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकी। विवाद विषय जटिलता के कारण धुंधले प्रतीत होने लगे। वैशिष्ट्य के ज्ञान के लिए लालायित एक तार्किक मस्तिष्क प्राय सूत्रों के प्रेम में फंस जाता है और औपचारिक विषयों में ही उलझे रहने से वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति उसे नहीं होती। वास्तविक ज्ञान का स्थान पारिभाषिक शब्दों की खोज ले लेती है। परिभाषाएं, जिनका प्रयोग वैशिष्ट्य के ज्ञान के लिए होना चाहिए था, कभी-कभी कठिनाइयों से बच निकलने के लिए काम में लाई जाती हैं। इन ग्रंथों में से कुछ के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि उनसे केवल यही प्रकट होता है कि जिस विषय का ग्रंथकार को कुछ भी ज्ञान न हो उसमें भी पाण्डित्य का प्रदर्शन किस प्रकार किया जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों को भी, जो यह मानते हैं कि उनकी बुद्धिरूपी चक्की बहुत ही बारीक पीसती है, यह स्वीकार करना पड़ता है कि इनके पास पीसने लायक

1 चीन और जापान में हिन्दू तर्कशास्त्र के इतिहास के लिए देखिए सुगुइरा : 'हिन्दू लाजिक ऐज प्रिजर्व्ड इन चाइना एण्ड जापान'।

2 न्यायभाष्य, 1 1, 1।

3 लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

अन्तर की कमी रहती है।[1] यह कहना कि नव्यन्याय बुद्धि के लिए एक शिक्षणभूमि है, अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा।

4 न्याय का क्षेत्र

न्याय शब्द का अर्थ है वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मस्तिष्क एक निष्कर्ष तक पहुँच सके।[2] इस प्रकार 'न्याय' तर्क का पर्यायवाची शब्द है और वह दर्शन, जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक पूर्णता के साथ तर्क विषय का प्रतिपादन करता है, न्यायदर्शन के नाम से जाना जाने लगता है। तर्क दो प्रकार का है मान्य और अमान्य। 'न्याय' शब्द का प्रयोग साधारण व्यवहार की भाषा में ठीक या उचित के अर्थ में होता है, और इसलिए ठीक या उचित तर्क के विज्ञान का नाम ही न्याय हो गया। संकुचित अर्थों में 'न्याय' से तात्पर्य परार्थानुमान तर्क से है,[3] जबकि व्यापक अर्थों में प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की समीक्षा करने का नाम न्याय है। इस दृष्टिकोण से यह प्रमाणित करने का अथवा विशुद्ध ज्ञान का विज्ञान है जिसे प्रमाणशास्त्र भी कहा जाता है। प्रत्येक ज्ञान के लिए चार प्रकार की सामग्री की आवश्यकता है (1) प्रमाता अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य रखने वाला, (2) पदार्थ अथवा प्रमेय जिसके ज्ञान के लिए साधना का प्रयोग किया जाता है, (3) ज्ञान अथवा प्रमिति, और (4) प्रमाण अथवा ज्ञान प्राप्त करने के साधन[4]। ज्ञान प्राप्ति की प्रत्येक क्रिया में, चाहे वह मान्य हो या अमान्य, तीन अवयवों का होना आवश्यक है एक, ज्ञान प्राप्त करने वाला कर्ता, दूसरा, पदार्थ जिसके अस्तित्व का पता ज्ञानकर्ता को है, और तीसरा इन दोनों के बीच, जो अलग-अलग नहीं हैं किन्तु पृथक्-पृथक् करके समझे जा सकते हैं, ज्ञान का सम्बन्ध। वह ज्ञान मान्य है अथवा अमान्य, यह चौथे अवयव अर्थात् प्रमाण पर निर्भर करता है। साधारण परिस्थितियों में प्रमाण मान्य ज्ञान का क्रियात्मक कारण होता है।[5]

जहां वात्स्यायन प्रमाण की परिभाषा करते हुए उसे ज्ञान-प्राप्ति का साधन बताता है, अर्थात् "जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाला अपने प्रमेय पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है,"[6] वहां उद्योतकर इसे ज्ञान के कारण (उपलब्धि

1 तुलना कीजिए, अठावले 'तर्कसंग्रह' पृष्ठ 13, कीथ 'इण्डियन लॉजिक एण्ड एटॉमिज़्म', पृष्ठ 35। डाक्टर विद्याभूषण न्यायशास्त्र के इतिहास को तीन कालों में विभक्त करते हैं प्राचीन (650 ई० पू० से 100 ईस्वी तक), मध्य (1200 ईस्वी तक) और नव्य (900 ईस्वी से आगे)। देखिए, उनका ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ 13। नव्यन्याय के स्वरूप का विचार प्राप्त करने के लिए देखिए डाक्टर [illegible] का 'स्टडी ऑफ मथुरानाथाज़ तत्त्वचिन्तामणिरहस्य', 1925।

2 नीयते अनेन इति न्यायः।

3 न्यायभाष्य, 1, 1, 1। वात्स्यायन ने परार्थानुमान के लिए परमन्याय शब्द का प्रयोग किया है जिसके अन्तर्गत पांच भाग हैं। दिङ्नाग परार्थानुमान के अवयवों को न्यायावयव नाम से पुकारता है। और देखिए न्यायवार्तिक 4, 1, 14। वाचस्पति की 'न्यायसूची' में परार्थानुमान विषयक अध्याय (1, 1, 32-39) को न्यायप्रकरण नाम दिया गया है। विश्वनाथ का तात्पर्य न्याय शब्द से परार्थानुमान का आवश्यक होता है। देखिए, उसकी न्यायसूत्रवृत्ति, 1, 1, 25, 1, 1, 31, 1, 1, 38, 1, 1, 40। माधव (सर्वदर्शनसंग्रह, 11) ने न्याय शब्द का प्रयोग परार्थानुमान के अर्थ में किया है।

4 प्रमाकरणं प्रमाणम्। 'वेदान्तपरिभाषा', 1 भी देखिए।

5 न्यायवार्तिक 1, 1, 1।

6 न्यायभाष्य, 1, 1, 1।

हेतु) के रूप मे मानता है।[1] वह यह स्वीकार करता है कि प्रमाण की यह परिभाषा अधिक व्यापक है, क्योकि ज्ञान प्राप्त करने वाला और ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञान के कारण हैं। किन्तु वह इसे इस आधार पर उचित ठहराता है कि "ज्ञाता और ज्ञेय प्रमाण को क्रियाशील करते है, इसलिए उन दोनो की उपयोगिता अन्य प्रकार की है। किन्तु प्रमाण की उपयोगिता केवल ज्ञान सम्पादन के कारण होने मे ही है। इसलिए ज्ञान का वास्तविक कारण प्रमाण ही है।" जहा भी प्रमाण उपस्थित है वहा ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रमाण की उपस्थिति के बिना ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता, चाहे अन्य अवयव क्यो न उपस्थित हों। इसलिए प्रमाण ही ज्ञान का मुख्य कारण है और ज्ञान की उपलब्धि से पहले प्रकट होने वाला आखिरी अवयव है।[2] शिवादित्य तार्किक भावार्थ उपस्थित करते हुए प्रमाण की परिभाषा यो करता है, कि प्रमाण वह है जो वास्तविकता के अनुरूप प्रमा अर्थात् ज्ञान को उत्पन्न करता है।[3] जयन्त के अनुसार, प्रमाण उस कारण का नाम है जो प्रमेय पदार्थों के विषय मे भ्रमरहित एवं निश्चित ज्ञान की प्राप्ति कराता है।[4]

प्रमाता और प्रमेय ये अवयव प्रत्यक्ष अथवा अनुमान ज्ञानोपलब्धि मे एक समान हो सकते है, परन्तु ज्ञान का विशिष्ट रूप प्रमाण ही पर निर्भर करता है। इसी प्रकार मन का आत्मा के साथ सयोग भी प्रत्येक प्रकार के ज्ञान मे सामान्य मध्यवर्ती कारण है। भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान मे केवल सयोग का प्रकार भिन्न-भिन्न होता है। ज्ञान के विषय का प्रतिपादन तो न्याय करता ही है, किन्तु उससे भी अधिक यह ज्ञान की सबसे बडी शर्त, अर्थात् प्रमाण का प्रतिपादन करता है, और इसी कारण इसे प्रमाणशास्त्र कहते हैं।[5] इससे पूर्व कि हम पदार्थो के स्वरूप का अनुसधान करें, हमे ज्ञानोपलब्धि के साधनो की शक्ति का ज्ञान होना चाहिए, क्योकि 'जिसे मापना है उसका ज्ञान माप के ज्ञान पर निर्भर करता है।[6] प्रमाणशास्त्र न केवल पदार्थो का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने मे सहायक होता है, बल्कि यह ज्ञान की यथार्थता के जाचने मे भी सहायक होता है।[7] यह

1 और देखिए न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1 1, 1।

2 न्यायवार्तिक 1 1, 1। एक अन्य आपत्ति पर विचार करता है, अर्थात यदि प्रमाण की उत्पत्ति ज्ञान प्राप्त करनेवाले प्रमाता तथा ज्ञेय पदार्थ के द्वारा ही होती है तो इन दोनो को प्रमाण से पूर्व विद्यमान होना चाहिए, यद्यपि वस्तुत जब तक प्रमाण न हो हम न प्रमाता और न प्रमेय का ही बोध प्राप्त कर सकते है जिनकी सार्थकता प्रमाण के ही कारण है। उद्योतकर इस सबको स्वीकार करता है, लेकिन कहता है कि "ये शब्द केवल अपने वर्तमान कम के साथ सम्बन्ध पर ही निर्भर नही करते।' रसोइया रसोइया ही है, भले वह रसोई न भी बना रहा हो। इस प्रकार के प्रयोग का कारण शब्द की अपनी अन्तर्निहित (अभिव्यक्ति की) क्षमता है। यह क्षमता हर समय विद्यमान रहती है। इसी प्रकार, इस कथन मे भी कि प्रमाण की उत्पत्ति प्रमाता तथा प्रमेय पदार्थ के द्वारा ही होती है कोई असगति नही मानी जा सकती।"

3 सप्तपदार्थी, विभाग 144 और देखिए 'सर्वदर्शनसग्रह', 11।

4 अव्यभिचारिणम, असदिग्धाम अर्थोपलब्धिम। 'न्यायमजरी', पृष्ठ 12।

5 विश्वनाथ ने प्रमाण को विष्णु के नाना नामो मे से एक माना है। इसीसे यह प्रतीत होता है कि हिन्दू विचारको ने प्रमाणो के अनुसधान को कितना महत्त्व दिया था।

6 मानाधीना मेयसिद्धि —चित्सुखी, 2 18।

7 तुलना कीजिए डब्ल्यू० ई० जानसन की परिभाषा के अनुसार 'विचार के विश्लेषण और समीक्षा' का नाम न्याय है।

दोनों प्रकार का है अर्थात् औपचारिक और वास्तविक, और संगति तथा सत्य दोनों में ही रुचि रखता है। न्यायशास्त्र इस धारणा को लेकर चलता है कि हमारे मस्तिष्क को यह जगत जिस रूप में प्रकट होता है वह बहुत हद तक इसका विश्वसनीय रूप है। सभी प्रकार का ज्ञान यथार्थ को दर्शाता है (अर्थप्रकाश)। प्रकृति ने हमारी रचना इस प्रकार की की है कि हम पदार्थों का इन्द्रियों द्वारा बोध पाते हैं, उनकी समानता को ध्यान में देखते हैं और उनसे अनुमान द्वारा एक विशेष परिणाम पर पहुंचते हैं। प्रत्येक मनुष्य, जो सोच सकता है, इस क्रिया को सम्पन्न करता है, यद्यपि प्रत्येक के कार्य में सावधानी तथा यथार्थता की दृष्टि से परस्पर भेद होता है। जब कभी हमारे मस्तिष्क में किसी पदार्थ की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चेष्टा उत्पन्न होती है तो हमें तार्किक आलोचना के लिए एक विषय मिलता है। सत्य के अन्वेषण का कार्य मानव के कार्यकलाप में पहले से ही विद्यमान है। तर्कशास्त्र उसे उत्पन्न नहीं करता। वह केवल उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करके सामान्य सिद्धान्तों के रूप में उसकी व्याख्या मात्र करता है। तर्कशास्त्र की समस्या अन्य भौतिक विज्ञानों की समस्या से अधिक भिन्न नहीं है। ठीक जिस प्रकार एक भौतिकविज्ञानशास्त्री उस विशेष प्रक्रिया के विषय में अनुसंधान करता है जिसके द्वारा प्रत्येक प्राणी जीवन धारण करता है, उसी प्रकार न्यायशास्त्री उन नियमों की व्याख्या करता है जो ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया का नियमन करते हैं। उसका उत्तरदायित्व भी उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि एक भौतिकविज्ञानशास्त्री का है।

न्यायशास्त्र यह नहीं मानता कि मूल्य और तथ्य एक-दूसरे से बिलकुल पृथक् पदार्थ हैं और इनके विवेचन के लिए भी भिन्न-भिन्न विधियों का प्रयोग आवश्यक है। मूल्य तथ्यों के साथ जुड़े हुए हैं और उनका अध्ययन उन्हीं के साथ हो सकता है। हम कभी भी खाली मस्तिष्क से आरम्भ नहीं करते। अपने निजी अनुभवों और परम्पराओं के आधार पर संसार के विषय में ज्ञान हमारे कोष में पहले से विद्यमान रहता है। श्रुति, स्मृति एवं धर्मशास्त्रों द्वारा हमें ज्ञान का एक महान सिलसिला मिला है। विज्ञान की अनुमानात्मक प्रणाली का उपयोग करके न्याय उन भिन्न उपायों का वर्गीकरण करता है जिनके द्वारा हमें ज्ञान प्राप्त होता है। वे चार प्रकार के प्रमाण, जिनके द्वारा हमें ज्ञान प्राप्त होता है, ये हैं (1) प्रत्यक्ष[1] अथवा अन्तर्दृष्टि, (2) अनुमान,[2] (3) उपमान अथवा तुलना, और (4) शब्द अर्थात् आप्त प्रमाण[3]। तर्कशास्त्र पर लिखे गए पाश्चात्य ग्रन्थों में सामान्यतः प्रत्यक्ष का प्रतिपादन नहीं किया गया[4]। किन्तु न्यायशास्त्र उसे ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार करता है। अनुमान न्यायदर्शन का एक मुख्य विषय है और न्याय को कभी-कभी हेतुविद्या भी कहते हैं, अर्थात् हेतु का विज्ञान जिस पर अनुमान रूपी तर्क निर्भर करता है।[5] इस दृष्टि से न्यायदर्शन अनुमान का सिद्धान्त

1 इन्द्रियजन्य बोध अन्तर्दृष्टि अथवा साक्षात् बोध का ही एक भेद मात्र है।

2 अनुमान का शब्दार्थ है दूसरे के द्वारा अथवा पीछे किसी वस्तु का ज्ञान होना।

3 न्यायसूत्र 1 : 1 : 3 । चरक में मिलता है आप्तोपदेश अर्थात् विश्वसनीय कथन, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति अर्थात् निर्णयरूप तर्क। और देखिए 'स्थानांगसूत्र'।

4 तुलना कीजिए परन्तु डब्ल्यू० ई० जॉनसन से जो कहता है : "सत्य का ज्ञान हम अन्तर्दृष्टि और अनुमान दो मार्गों से होता है।" ('सिस्टम आफ लॉजिक', इण्ट्रोडक्शन, पृष्ठ 4)।

5 'हेतुविद्या' शब्द ललितविस्तर (सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, खण्ड 35 : पृष्ठ 6-7) में आता है, और 'ललितविस्तर' (12) में भी है। यद्यपि 'हेतु' का अर्थ है कारण अथवा आधार, किन्तु जैन न्यायशास्त्र इसका प्रयोग अर्थों में करते हैं। और देखिए, 'मनु', 2 : 11, महाभारत, आदिपर्व, 1-67, शान्तिपर्व, 210, 22, आश्वमेधपर्व, 85 : 27। प्राचीन वैय्याकरण यथा पाणिनि, कात्यायन और पत-

है अर्थात् अनुमानवाद है। इस प्रकार ऐसा समझा जा सकता है कि अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न या प्रत्यक्ष ज्ञान न्यायशास्त्र के क्षेत्र से बाहर का विषय है। किन्तु न्यायशास्त्र इस सकीर्ण विचार को ठीक नही मानता। आप्त प्रमाण का समावेश, जिसमे कि ईश्वरप्रदत्त आस्तिकवाद भी आ गया, यह प्रदर्शित करता है कि यह दर्शन धार्मिक विषय मे भी रुचि रखता है। न्याय हमारे सामने ज्ञानप्राप्ति के इन चार साधनो की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार तार्किक अनुसधान मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर ध्यान दिए बिना, जिससे ज्ञानरूप मानसिक तत्व की प्राप्ति होती है, आगे नही चल सकता। यह शास्त्र उन उपायो का विस्तार से प्रतिपादन करता है जिनके द्वारा मस्तिष्क आगे बढता है और नये नये परिणामो को हमारे आगे प्रस्तुत करता है और इस प्रतिपादन मे यह उन विघ्नो की ओर भी निर्देश करता है जो उक्त उपायो के प्रयोग मे आ सकते है। तर्क-शास्त्र का काम केवलमात्र अनुमानात्मक ही नही है। इस सामान्य कथन से ही कि इन चार साधनो मे से ही किसी के द्वारा हमे सारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान की समस्या का समाधान नही हो जाता। सामान्य कथन समाधान नही हो सकता।

न्यायशास्त्र उन साधनो व उपायो का ही केवल अनुसधान नही करता जिनके द्वारा मानव-मस्तिष्क ज्ञान को आत्मसात् और विकसित करता है। यह तर्किक तथ्यो की भी व्याख्या करता है तथा उन्हे तार्किक सूत्रो मे प्रकट करता है, जो सत्य के अन्वेषण मे विविध सिद्धातो की स्थापना करते है। इस प्रकार प्रमाण ज्ञान के माप या मानदण्ड बनते हैं जिनके द्वारा हम अपने अन्दर पहले से विद्यमान ज्ञान की परीक्षा कर सकते है। इस प्रकार तर्कशास्त्र प्रमाण का विज्ञान है, अर्थात साक्षी का मूल्य निर्धारण करता है। यह उपलब्ध आधारो पर ज्ञान की निर्भरता को दर्शाकर अथवा यथार्थ के साथ उसकी अनुकूलता दिखाकर ज्ञान की प्रामाणिकता का विवेचन करता है। सत्य की समस्या तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी सिद्धात के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। न्यायशास्त्र यथार्थता का तत्वशास्त्र है और ज्ञान का सिद्धात है।[1] इस प्रकार यह केवल तर्कशास्त्र मात्र नही, बल्कि ज्ञानप्राप्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया की व्याख्या करने वाला शास्त्र है, जिसमे मनो-विज्ञान, तर्क, तत्वज्ञान और आस्तिकवाद सभी का समन्वय है।

5 परिभाषा का स्वरूप

न्यायसूत्रो मे विवेचना किए जानेवाले विषयो की पहले उपस्थापना की जाती है, फिर उनकी परिभाषा की जाती है और अन्त मे उनकी परीक्षा होती है।[2] परिभाषा के द्वारा वस्तु का तात्त्विक स्वरूप बतलाया जाता है जिससे कि उसे अन्य पदार्थो से भिन्न करके पहचाना जा सके। परिभाषा का कार्य किसी पदार्थ को उन सभी पदार्थो से भिन्न दिखाना है जिनके साथ उसके सादृश्य का भ्रम हो सकता है।[3] पदार्थो मे उनकी विशेषताओ की व्याख्या किए बिना भी परस्पर भेद किया जा सकता है। पदार्थ का असाधारण धर्म अर्थात विशेष गुण भी भेद करने मे सहायक होता है। परिभाषा मे हो सकने वाले दोष तीन

जलि भी इस मत को स्वीकार करते है। और देखिए, 'न्यायवार्तिक', 4 1 14 'इण्डियन लाजिक एण्ड एटोमिज्म, पृष्ठ 11।

1 न्यायभाष्य 1 1, 1।
2 उद्देश, लक्षण और परीक्षा, 'न्यायभाष्य', 1 1, 3।
3 न्यायभाष्य', 1 1, 3।

प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए गाय की परिभाषा करने में यदि कहा जाए कि गाय एक ऐसा जन्तु है जिसके सींग होते हैं तो यह 'अतिव्याप्ति' दोष होगा, क्योंकि ऐसी परिभाषा गाय के अतिरिक्त उस परिधि के बाहर वाले और जन्तुओं पर भी लागू हो जाएगी। इसी प्रकार गाय की परिभाषा करते हुए यदि कहा जाए कि गाय एक भूरे रंग का जन्तु है तो यह 'अव्याप्ति' दोष होगा, क्योंकि भूरे रंग के अतिरिक्त रंग की गाएँ भी अनेक होने से यह परिभाषा सारी गोजाति पर ठीक नहीं घटती। इसी प्रकार यदि गाय की परिभाषा करते हुए कहा जाए कि गाय एक बिना फटे खुरों वाला जन्तु है तो यह 'असम्भव' दोष है, क्योंकि ऐसी गाय जिसका खुर फटा हुआ न हो, नहीं मिलेगी। निर्दोष परिभाषा "एक ऐसी विशेषता दर्शाती है जो परिभाषित शब्द से अभिप्रेत सभी चीजों पर लागू होती है, वह न अधिक पर लागू होती है, न कम पर।"[1] उसकी प्राप्ति के लिए हम एक जाति से प्रारम्भ करके पीछे से उसके क्षेत्र को संकुचित करते-करते अमुक से इतर, अमुक से भिन्न आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए[2] अनावश्यक पदार्थों को उसमें से निकालते जाते हैं।

6. प्रत्यक्ष अथवा अन्तर्दृष्टि

ज्ञान के विविध साधनों में प्रत्यक्ष या अन्तर्दृष्टि का महत्त्व सबसे अधिक है। वात्स्यायन का कहना है कि "जब मनुष्य किसी पदार्थ-विशेष का ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा करता है और कोई विश्वसनीय पुरुष उसे उस पदार्थ के विषय में बतला भी देता है, तो भी उसके अन्दर एक अभिलाषा उसकी यथार्थता को अनुमान द्वारा विशेष-विशेष लक्षण जानकर परखने की रहती है। किन्तु इतने पर भी उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती जब तक कि वह स्वयं उसे अपनी आंखों से न देख ले। अपनी आंखों से देख लेने पर ही उसकी इच्छा पूर्ण होती है और तब वह फिर ज्ञान-प्राप्ति के लिए और किसी साधन की खोज नहीं करता।"[3] प्रत्यक्ष शब्द द्वयर्थक है, क्योंकि इसका प्रयोग परिणाम अर्थात् सत्य के ग्रहण के लिए और उस समस्त प्रक्रिया के लिए भी होता है जो सत्य का ग्रहण कराती है। यद्यपि 'प्रत्यक्ष' शब्द का व्यवहार प्रारम्भ में केवल इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार के लिए ही होता था, किन्तु शीघ्र ही इसके अन्तर्गत वह समस्त ज्ञान भी आ गया जिसका ग्रहण तुरन्त हो जाता है, भले ही उसमें इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता न भी हुई हो।[4] गंगेश ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार दिया है, वह ज्ञान जिसका ग्रहण सीधे रूप में अर्थात् साक्षात् हो।[5] यह ऐसा ज्ञान है जिसकी प्राप्ति में अन्य ज्ञान की आवश्यकता साधन के

1 असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्।

2 तुलना कीजिए, पृथ्वी की परिभाषा—जलादिभ्यः भिन्न द्रव्यं पृथिवी।

3 'न्यायभाष्य', 1 1, 3। यह स्पष्ट है कि एक ही पदार्थ कई प्रमाणों द्वारा जाना जा सकता है। जीवात्मा के अस्तित्व का ज्ञान धर्मशास्त्रों, अनुमान तथा आत्मबोध से भी हो सकता है। अग्नि की विद्यमानता का ज्ञान आप्त पुरुष द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर भी होता है तथा प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण द्वारा भी होता है। ऐसी अवस्थाएं भी हैं जहां ज्ञान की प्राप्ति में केवल एक ही प्रमाण व्यवहार में आ सकता है। अग्निहोत्र करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसका ज्ञान केवल धर्मशास्त्र द्वारा ही होता है। उद्योतकर की सम्मति में "जब एक ही पदार्थ विभिन्न प्रमाणों द्वारा जाना जाता है तो वह अपने विभिन्न रूपों में जाना जाता है" ('न्यायवार्तिक', भूमिका)।

4 'न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ 7, 'इण्डियन फिलासफी', प्रथम खण्ड, पृष्ठ 295 296।

5 प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्। 'तत्त्वचिन्तामणि', पृष्ठ 552।

रूप मे नही है।[1] अन्य तीनो, अर्थात् अनुमान, उपमान और आप्त प्रमाणो मे हमारी ज्ञानप्राप्ति का आधार, क्रमश , प्रस्तुत विषय का ज्ञान अथवा समानता अथवा परम्परा आदि पहले से उपस्थित रहते हैं। वह ज्ञान जिसे हमने पहले ग्रहण किया है, हमारी स्मृति मे रहता है। प्रत्यक्ष मे, ज्ञान की पहले आवश्यकता नही पडती। परमात्मा के अस्तित्व का ज्ञान साक्षात्, तुरन्त और पूर्ण रूप मे होने वाला ज्ञान है और इसके लिए किसी अन्य प्रकार के पूर्वबोध की आवश्यकता नही।

गौतम ने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की है वह ज्ञान जो किसी इन्द्रिय के साथ पदार्थ का सयोग होने से प्रादुर्भूत होता है, जिसे शब्दो द्वारा प्रकट न किया जा सके, भ्रमरहित हो और पूर्ण रूप से प्रकट हो रहा हो।[2] इस परिभाषा मे उन विभिन्न अवयवो का, जो ज्ञान की क्रिया मे विद्यमान रहते है, समावेश हो जाता है, अर्थात् (1) इन्द्रिया, (2) उनके द्वारा ज्ञेय पदार्थ, (3) इन्द्रियो का पदार्थ के साथ सयोग, और (4) वह ज्ञान जो इस सयोग से उत्पन्न होता है। इन्द्रियो का अस्तित्व अनुमान प्रमाण का विषय है। यदि देखने वाली चक्षु इन्द्रिय विद्यमान न हो तो रग का ज्ञान सम्भव नही होगा।[3] ज्ञानेन्द्रिया पाच बतलाई जाती हैं क्योकि इन्द्रियजन्य ज्ञान भी पाच प्रकार का है दर्शनात्मक, श्रवणात्मक, घ्राणात्मक, स्वादात्मक और स्पर्शात्मक।[4] इन इन्द्रियो के अधिष्ठान भी भिन्न-भिन्न है आखो के गोलक, कानो के गह्वर, नासिका, जिह्वा और त्वचा। गति, आकृति और जाति-भेद से भी यह स्पष्ट है कि इन्द्रिया पाच है। आख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा, इन पाच इन्द्रियो की भी प्रकृति वही है जैसाकि तेजस्, आकाश, पृथ्वी, जल और वायु आदि पाचो तत्त्वो की है, जिनके विशेष गुणो, रग, शब्द, गन्ध, स्वाद और स्पर्श आदि का आविर्भाव उक्त पाचो ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा होता है।[5]

डैमोक्रीटस के मत से मिलता-जुलता यह मत कि सभी इन्द्रिया त्वचा के ही परिवर्तित भेद है, इस आधार पर खण्डित हो जाता है कि एक अधा[6] पुरुष रग का ज्ञान प्राप्त नही कर सकता।[7] यदि त्वचा के विशेष भाग ही इन्द्रिया

1 ज्ञानकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्। तुलना कीजिए मैकटैगर्ट "एक ऐसा विश्वास जिसका आधार इन्द्रिय-साक्षात्कार है यथार्थ मे परमज्ञान कहलाता है, क्योकि यद्यपि इसका कोई आधार तो होता है, अर्थात् साक्षात्कार, पर यह अन्य किसी विश्वास पर आश्रित नही होता" ('दि नेचर ऑफ एग्जि-स्टेंस , पृष्ठ 42 43)।

2 1 1, 4। तुलना कीजिए, चरक ने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की है ऐसा ज्ञान जो आत्मा, मन तथा इन्द्रियो के अपने विषयो के सम्पर्क मे आने से उत्पन्न होता है। गगेश गौतम की परिभाषा की आलोचना कई आधारो पर करता है यह अतिव्याप्ति दोष से युक्त है क्योकि प्रत्येक प्रकार का बोध विषय (पदार्थ) और मन के सम्पर्क से ही उत्पन्न होता है और मन भी एक इन्द्रिय है। फिर इसमे अप्राप्ति दोष भी है क्योकि यह सब बोध जो ईश्वर को इन्द्रियो के बिना केवल अन्तर्दृष्टि से ही होना है उक्त परिभाषा के अन्दर नही आता। इन्द्रिय क्या है, इसका निर्णय भी केवल प्रत्यक्ष ज्ञान से ही होता है। और उक्त परिभाषा मे इन्द्रिय शब्द का प्रयोग भी चक्रक दोष से युक्त है।

3 क्योकि इन्द्रिया ऐसे अवयवो से मिलकर बनी हैं जिनमे नैसर्गिक रूप में विशेष गुण विद्यमान है, वे अपने विषयो (पदार्थो) का तो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं किन्तु अपने-आपको प्रत्यक्ष नही कर सकती। इनका केवल एक ही अपवाद है और वह शब्द है ('न्यायसूत्र', 3 1, 68 69, 71)।

4 'न्यायसूत्र', 3 1, 54।

5 एक अभौतिक सर्वव्यापी पदार्थ को कोई बाधा नही दे सकता। क्योकि आख को भौतिक वस्तुओ यथा दीवार से बाधा मिलती है, इसलिए वह स्वय भौतिक है।

6 'रत्नप्रभा' और 'भामती' ने (2 2, 10) इसे साख्य का मत बताया है।

7. 'न्यायसूत्र' 3 : 1, 51-52।

समझी जाए तो इन्द्रियों की संख्या अनगिनत ठहरेगी; और यदि ऐसा नहीं है तो रंग और शब्द इत्यादि का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता।[1] यदि एक ही इन्द्रिय का अस्तित्व माना जाए तो देखना, सुनना व सूंघना आदि सबका ज्ञान एक साथ ही हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त त्वचा केवल उन्हीं पदार्थों का ज्ञान करा सकती है जो समीप में हैं, जबकि देखने और सुनने में दूर-दूर के पदार्थों का भी ज्ञान होता है। जहां न्यायदर्शन समस्त इन्द्रियों की एकता को अस्वीकार करता है, वहां वह त्वचा के विशेष गुण को भी स्वीकार करता है। सापेक्ष चेतना का उत्पन्न होना उसी अवस्था में सम्भव है जबकि मन का सम्पर्क त्वचा के साथ हो। और जब मन, त्वचा के क्षेत्र से बाहर पुरीतत् में होता है, जैसाकि सुषुप्ति अवस्था में होता है, तो उस समय चेतना बिलकुल स्थगित अवस्था में रहती है।[2]

मन भी प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है। जिस समय हम अध्ययन में खूब मग्न होते हैं तो हमें वायु के शब्द की प्रतीति नहीं होती, यद्यपि शब्द श्रवणेन्द्रिय से टकराता है और देह-भर में व्याप्त आत्मा का भी उसके साथ सम्बन्ध रहता ही है। इसके अतिरिक्त, "एक से अधिक इन्द्रियों का सम्बन्ध अपने-अपने विषयों के साथ रहने पर भी सब विषयों का एकसाथ प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि मन का सम्पर्क एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ हो सकता है और बिना मन के साथ सम्पर्क हुए इन्द्रिय ज्ञान नहीं ग्रहण कर सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में मन का सम्पर्क आवश्यक है।"[3] जीवात्मा और इन्द्रियों के बीच में मन मध्यस्थ रहता है। यही कारण है कि एक ही समय में भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-ज्ञान एकसाथ नहीं हो सकता।[4] यद्यपि कभी-कभी शीघ्रता के साथ हो रहे क्रमिक प्रभावों के कारण केवलमात्र आभास होने लगता है कि अनेक प्रत्यक्ष ज्ञान साथ-साथ हो रहे हैं। जब हम पिन को कागज़ों के अनेक पन्नों में घुमाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि पिन एकसाथ ही अनेक पन्नों में छेद कर रहा है। किन्तु, वस्तुत वह एक के बाद दूसरे पन्ने में छेद करता है।[5] इससे परिणाम यह निकलता है कि जब मन का सम्पर्क एक इन्द्रिय से होता है तो उसी समय में दूसरी इन्द्रिय से उसका सम्पर्क नहीं हो सकता। इसीलिए आयाम के विचार से मन को अणु कहा गया है। इसके विपरीत यदि मन विभु अर्थात् देह-भर में व्याप्त होता तो हम प्रत्यक्ष ज्ञान की क्रमिकता की व्याख्या करने में अपने को असमर्थ पाते। ज्योंही इन्द्रिय किसी पदार्थ के सम्पर्क में आती है, मन विद्युत्-गति से तुरन्त वहां पहुंच जाता है। इसके अतिरिक्त, दो व्यापक पदार्थों के सम्पर्क की कल्पना भी असम्भव है। "स्मरण, अनुमान, आप्त ज्ञान, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ऊहा (कल्पना) और आनन्द आदि का प्रत्यक्ष करना भी उसी अवस्था में सम्भव है जबकि मन उपस्थित हो।"[6] आत्मा को जो बोध होते हैं वे भी अनुव्यवसाय को छोड़कर, स्वयं प्रकाशमय नहीं होते।[7] हमें उनका ज्ञान मन के द्वारा उसी प्रकार होता है, जैसाकि अनुभवों और इच्छाओं का होता है।

1 देखिए, 'न्यायसूत्र' 3 1, 51।
2 देखिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, 4 1, 19; 'तर्कसंग्रहदीपिका', 38।
3 न्यायभाष्य 1 1, 4।
4 1 1, 16, 2 1, 24, 3 2, 6-7, न्यायवार्तिक, 1 : 1, 16।
5 न्यायभाष्य, 3 2, 58।
6. न्यायभाष्य 1 1 16।
7 यहां तक कि नैय्यायिक भी अनुव्यवसाय को स्वयं प्रकाशमय मानते हैं।

वात्स्यायन मन की गणना इन्द्रियों के अन्दर करता है। वह इसे अन्तरिन्द्रिय मानता है जिसके द्वारा हम आन्तरिक मनोभावो, इच्छाओं और ज्ञानो का बोध प्राप्त करते है। जिस प्रकार आकाश मे विद्यमान सूर्य और टेबल पर रखी हुई दवात के बारे मे तुरन्त यह अनुभूति हो जाती है कि ये हमसे भिन्न बाह्य जगत् के पदार्थ हैं, उसी प्रकार सुख और दु ख की भावनाओ, प्रसन्नता व खिन्नता के मनोवेगो और इच्छा व अभिलाषा आदि की क्रियाओ के बारे मे भी तुरन्त यह अनुभूति होती है कि ये जीवात्मा की विशेषताए हैं। जीवात्मा मन ही के साधन से आन्तरिक अवस्थाओ का ज्ञान प्राप्त करता है, जबकि बाह्य जगत् के पदार्थों के ज्ञान के लिए मन को इन्द्रियो के सहयोग की आवश्यकता होती है।[1] आन्तरिक तथा बाह्य मे भेद ठीक वैसा ही नही है जैसाकि आत्मनिष्ठ और विषयनिष्ठ मे है, क्योंकि कागज पर लिखने की इच्छा भी प्रत्यक्ष ज्ञान का उतना ही विषय है जितना कि स्वय कागज है। ज्ञान का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार का है, विषय चाहे कागज के समान बाह्य हो या इच्छा के समान आन्तरिक हो। विषय का प्रत्यक्ष और तुरन्त ज्ञान दोनो मे एकसमान है।[2]

वात्स्यायन के मत मे मन भी एक इन्द्रिय है जिस प्रकार कि चक्षु आदि इन्द्रिया है, यद्यपि दोनो मे अनेक स्पष्ट भेद है। बाह्य इन्द्रिया भौतिक तत्त्वो से बनी है, कुछ विशेष पदार्थों का ज्ञान कराने की ही क्षमता रखती है, और कुछ विशेष गुण रखती हुई ही इन्द्रिय के रूप मे कार्य कर सकती है। परन्तु मन अभौतिक है, सभी प्रकार के पदार्थो का ज्ञान कराने मे एकसमान क्षमता रखता है और कोई विशेष गुण न रखता हुआ भी इन्द्रिय के रूप मे कार्य कर सकता है।[3] किन्तु उद्योतकर पूर्णरूपेण इस मत का समर्थन नही करता। भौतिक अथवा अभौतिक होना केवल उत्पन्न हुए पदार्थों पर ही लागू होता है, जबकि मन कोई उत्पन्न हुआ पदार्थ नही है। वह यह स्वीकार करता है कि मन सब पदार्थों पर कार्य करता है, जबकि इन्द्रिया परिमित क्षेत्रो मे ही कार्य करती है। इस लेखक के अनुसार, मन की जीवात्मा के साथ समानता इस अश मे है कि स्मृति के लिए जिस सम्पर्क की आवश्यकता होती है उसके दोनो ही आधार है और दोनो उस सम्पर्क के भी आधार है जो सुख का ज्ञान कराता है। प्रत्येक जीवात्मा

1 तुलना कीजिए लौक द्वारा किए गए सवेदन और चिन्तन के इस भेद के साथ कि बाह्य इन्द्रिय हमे बाह्य जगत का ज्ञान कराती है और अन्तरिन्द्रिय हमे अपनी मानसिक क्रियाओ का ज्ञान कराती है (ऐसे आन दि ह्यूमन अण्डरस्टैण्डिंग, 2 1 4) । उद्योतकर ने सुख तथा सुखानुभव के बीच भेद किया है। सुख वह विषय है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है और सुख का बोध तब उत्पन्न होता है जब मन सवेदना के सम्पर्क मे आता है। शैत्य की अनुकूलता का अनुभव त्वचा के ठण्डी वायु के साथ सम्पर्क मे आने से होता है, और जब मन उसके सम्पर्क मे आता है तब अनुकूलता का बोध उत्पन्न होता है।

2 मन को अपने निजी बोध का साधन नही माना जा सकता। पृथक् सामयिकता का बोध जो मन के अस्तित्व का सकेत करता है मन के द्वारा उत्पन्न होता है, और इस प्रकार प्राप्त किया गया मन का बोध मन की उपस्थिति के कारण होता है। यह वह अवस्था नही है जबकि मन अपने ऊपर कार्य करता है, क्योंकि मन अपने अस्तित्व अथवा अपने बोध का साधन नही है। मन के बोध मे मन अपने अभिसूचक बोध के साथ मिलकर साधन बनता है। इस प्रकार की उपाधि से युक्त मन स्वय मन नही है। देखिए न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 3 1, 17। उद्योतकर का मत है कि यौगिक क्रियाओ द्वारा मन का साक्षात ज्ञान हो सकता है। (न्यायवार्तिक, 3 1, 17)।

3 न्यायभाष्य 1 . 1 4।

के पास अपना-अपना मन है जो नित्य है, यद्यपि वह दुर्बोध तथा सूक्ष्म है।[1] प्रत्येक जीवात्मा के साथ केवल एक ही मन है अनेक नहीं, क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा के साथ यदि अनेक मनों का सम्बन्ध होता तो प्रत्येक अवस्था में भिन्न-भिन्न ज्ञान एकसाथ हो जाते और अनेक प्रकार की इच्छाएं भी एक साथ ही हो जाया करतीं जबकि ऐसा होता नहीं है।[2]

क्योंकि प्रत्यक्ष एक प्रकार का ज्ञान है, इसका सम्बन्ध जीवात्मा में है। यद्यपि जीवात्मा और मन का सम्पर्क एक विशेष अर्थ में नित्य है तो भी प्रत्येक मानसिक क्रिया में उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। न्यायशास्त्र जीवात्मा के भौतिक पदार्थों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध को स्वत: सिद्ध मानकर चलता है। उसके मत से बाह्य पदार्थों की जीवात्मा के ऊपर उसी प्रकार की छाप पड़ने की कल्पना की जाती है जिस प्रकार की लाख के ऊपर मोहर की छाप पड़ती है। न्यायशास्त्र का प्रत्यक्ष-विषयक सिद्धान्त शरीर-क्रिया सम्बन्धी मनोविज्ञान की मुख्य समस्या को अर्थात् एक बाह्य पदार्थ से उत्पन्न उद्दीपना, जो इन्द्रिय पर होती है और एक भौतिक सम्पर्क के रूप में परिणत हो जाती है, किस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक अवस्था का रूप धारण कर लेती है, हल नहीं करता। यह समस्या आज भी, जबकि विज्ञान ने इतनी अधिक उन्नति कर ली है, एक रहस्य ही है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के उदय होने के लिए कर्ता के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ का होना भी आवश्यक है। इस यथार्थ धारणा को स्वीकार कर लेने से न्यायशास्त्र अपनी रक्षा ज्ञान-सापेक्षतावाद से करने में समर्थ हो गया, जिसके अनुसार हमें केवल क्षणिक अनुभव ही होते हैं और बाह्य पदार्थ का यथार्थ अस्तित्व मानना मूढ़ पुरुषों की केवल भ्रमात्मक कल्पना-मात्र है। इन्द्रिय का अपने उपयुक्त विषय के साथ सम्पर्क उस पदार्थ का चेतना के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करा देता है। विषय जो उद्दीपक है, तथा चेतनामय परिणाम जो प्रत्यक्ष है, दोनों के आपसी सम्बन्ध का अध्ययन किया गया है और न्यूनतम संवेदना आदि के संकेतों की कमी नहीं है, यद्यपि सूक्ष्म यन्त्र के अभाव में इन प्रश्नों का समाधान ठीक-ठीक मिलना सम्भव नहीं है।

प्रत्यक्ष की परिभाषा आत्मा तथा मन के सम्पर्क को तथा मन और इन्द्रियों के सम्पर्क का स्वत:सिद्ध मान लेती है जो सब बोधों में विद्यमान रहता है, और 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' को उक्त ज्ञान का विशेष लक्षण बतलाती है।[3] इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सन्निकर्ष होने से जीवात्मा के अन्दर जो परिवर्तन होता है, उसीसे प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। "यदि इन्द्रियां पदार्थों के साथ सम्पर्क में आए बिना भी ज्ञान उत्पन्न कर सकतीं तो वे दीवार के पीछे से भी ज्ञान-सम्पादन करने में समर्थ हो सकतीं।"[4] किन्तु साधारणतः यह सम्भव नहीं है। 'सन्निकर्ष' का अर्थ, उद्योतकर के अनुसार, निकट सम्पर्क मात्र नहीं है, बल्कि केवलमात्र इन्द्रिय का विषय 'बन जाना' अथवा इन्द्रिय के साथ एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित हो जाना है।

पदार्थ (विषय) कई प्रकार के हैं। घास का पत्ता एक द्रव्य है, हरापन इसका एक गुण है, और चूंकि गुण द्रव्य के अन्दर रहते हैं, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान द्रव्य से अलग नहीं

1 न्यायवार्तिक 1, 1, 4।
2 न्यायवार्तिक 3, 2, 56।
3 2, 1, 26।
4 'न्यायकन्दली', पृष्ठ 23; न्यायभाष्य, 2, 1, 19।

हो सकता ।[1] द्रव्य और उनके गुण एक ही जाति के होने से उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं है और इसलिए उनका ज्ञान केवल उनके आधार के ज्ञान द्वारा ही होता है। इन्द्रिय और द्रव्य के मध्य जो सम्पर्क है वह सयोग है, किन्तु द्रव्य और उसके गुण अथवा जाति और अकेले के मध्य जो सम्बन्ध है यह उसमे समाविष्ट रहने से 'समवाय' सम्बन्ध है। उदाहरण के रूप मे, आख द्रव्य के साथ सीधे सम्पर्क मे आती है, किन्तु उसमे समाविष्ट रग के साथ उसका सपर्क केवल परोक्ष रूप मे ही होता है, और उससे भी अधिक परोक्ष रूप मे उस रग की विशेष जाति के साथ होता है जो उस रग मे समाविष्ट होती है, जो उस पदार्थ मे रहता है, जिसके साथ आख का सम्पर्क हुआ है।

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष छ भिन्न-भिन्न प्रकार का बताया गया है। पहला केवल सयोग मात्र है, जैसेकि हम एक घडे को देखते हैं। दूसरा द्रव्य के गुण अथवा उसकी जाति के साथ सम्पर्क जिसे सयुक्त समवाय कहते है, जैसेकि घडे के रग आदि का ज्ञान हमे होता है। तीसरी सयुक्त समवेत-समवाय, जैसेकि घडे के रग की विशेष जाति का, जो उसके भी अन्तर्गत है, ज्ञान होता है। चौथा समवाय है, जैसेकि हम शब्दरूपी गुण का ज्ञान प्राप्त करते है,[2] जहा कि कान और शब्द के बीच समवाय सम्बन्ध होता है। पाचवा समवेत-समवाय है जबकि हम किसी ऐसे गुण की जाति-विशेष का ज्ञान प्राप्त करते है जो द्रव्य से स्वतन्त्र है, जैसेकि शब्दरूपी गुण की जाति-विशेष का ज्ञान। छठा अर्थात अन्तिम है विशेषणता अथवा विशेषण का विशेष्य के साथ सम्बन्ध। इसका एक दृष्टान्त घडे के अभाव को देखने पर हमारे आगे आता है। यहा पर हमारी आख का सम्पर्क भूमितल के साथ होता है जिसमे घडे के अभाव रूपी विशेषण की विद्यमानता है। इस सम्पर्क को हम दो भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन कर सकते है। प्रथम यह कि घडे का अभाव रूपी विशेषत्व भूमि मे है (घटाभाववद् भूतलम्)। इसमे भूमि प्रतिपाद्य पदार्थ है और उसमे घडे का अभाव होना उसका विशेषण है। दूसरे रूप मे यह कि भूमि पर घडे का अभाव है (भूतले घटाभावोऽस्ति)। दूसरे प्रकार मे विशेषण और विशेष्य के पारस्परिक सम्बन्ध उलट गए। पहली अवस्था मे अभाव उसका विशेषण हुआ जिसके साथ इन्द्रिय का सम्पर्क है (सयुक्त-विशेषणता) अर्थात् भूमि का आख के साथ। दूसरी अवस्था मे अभाव का विशेष गुण उसके द्वारा बताया गया है जिसके साथ इन्द्रिय का सम्पर्क है (सयुक्त-विशेष्यता)।[3] उक्त विशेषताए यथार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध मे न्यायशास्त्र की इन तात्त्विक धारणाओ पर आधारित है कि वस्तुए, गुण तथा सम्बन्ध सब विषय रूप जगत् के ही हैं। वैशेषिक के समान न्याय की भी यह धारणा है कि द्रव्यो, गुणो, क्रियाओ, सामान्यता, विशेषता, समवाय और अभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व है। एक द्रव्य जिसका विस्तार है दृष्टि द्वारा देखा जाता है बशर्ते कि उसका रग प्रकट हो।[4] इस सम्पर्क का स्वरूप सयोग है, आख तथा पदार्थ को परस्पर

1 सिवाय शब्द के, जो गुण होते हुए भी अपना प्रत्यक्ष ज्ञान अपने-आप करता है।

2 श्रवणेन्द्रिय कान के गढे के अन्दर आबद्ध आकाश का नाम है और शब्द आकाश का गुण (धर्म) है।

3 कीथ इण्डियन लाजिक एण्ड एटोमिज्म, पृष्ठ 77।

4 वैशेषिक सूत्र 4 1, 6।

वास्तविक सम्पर्क में आया हुआ कहा जाता है। नव्यन्याय के मत में, यदि पदार्थ मूर्त रूप में है, तो स्पर्श भी पदार्थ का ज्ञान कराता है। गुणों और गति का ज्ञान सम्पर्क के दूसरे प्रकार द्वारा होता है। सामान्यता का ज्ञान दूसरे या तीसरे प्रकार से होता है, अर्थात् द्रव्य, उसके गुण या गति सम्बन्धी जैसी भी सामान्यता हो, उसके अनुसार होता है। न्यायशास्त्र के मत में समवाय अथवा अन्तर्गत गुण स्वयं ज्ञान का विषय है, जबकि वैशेषिक के मत में यह अन्तर्गत प्रमेय पदार्थ है। अभाव छठे प्रकार से आता है।

कुमारिल भट्ट तथा वेदान्त के अनुयायियों के मत में ज्ञान न होना (अनुपलब्धि) ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन है। कुमारिल के अनुसार जब हम घड़े के अभाव को देखते हैं तो हमें दो भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान होते हैं—एक तो निश्चित ज्ञान अर्थात् भूमि का और दूसरा निषेधात्मक ज्ञान अर्थात् घड़े के अभाव का। नैय्यायिक के मत में घड़े का अभाव रिक्तभूमि का एक विशेषण है और हमें इस प्रकार की अभाव-विशिष्ट भूमि का ज्ञान होता है। यदि यह कहा जाए कि हमें उन्हीं पदार्थों का ज्ञान होता है जो इन्द्रियों के सम्पर्क में आते हैं और पदार्थों के अभाव का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क नहीं हो सकता, तो नैय्यायिक का उत्तर यह है कि आलोचक भूल से यह धारणा बना लेते हैं कि केवल संयोग और समवाय दो प्रकार के ही सम्बन्ध हैं, अभाव के सम्बन्ध में इनमें से एक भी सम्भव नहीं, क्योंकि संयोग केवल दो द्रव्यों में ही सम्भव हो सकता है और अभाव द्रव्य नहीं है, तथा समवाय भी सम्भव नहीं, क्योंकि अभाव अविभाज्य रूप में किसी वस्तु के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकता।[1]

बौद्ध दर्शन के अनुसार, अभाव के ज्ञान का अर्थ अभाव का अस्तित्व नहीं है, बल्कि उसका तात्पर्य केवल ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व है जो अभाव का आधार है। घड़े से रहित भूमि के निश्चित ज्ञान को, भ्रम में पड़कर, घड़े के अभाव के ज्ञान के साथ मिला दिया गया है। किन्तु न्यायशास्त्र का मत है कि निश्चित सत्तात्मक पदार्थों का ज्ञान भी अपने-आपमें वैसा ही एक सत्य है जैसा कि अभावात्मक पदार्थों का ज्ञान है। यदि यह कहा जाए कि भूमि पर घड़े के प्रत्यक्ष ज्ञान का न होना घड़े से रहित भूमि का प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, तो प्रश्न उठता है कि भूमि का घड़े से रहित होना भूमि के साथ तादात्म्य रखता है या उससे भिन्न है? दोनों एकसमान नहीं हो सकते। यदि घड़े-रहित भूमि और घड़े-

[1] विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध के बारे में न्याय का जो मत है, उसकी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि वस्तुतः यह कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह ऐसी दो चीज़ों में विद्यमान नहीं है जो उससे (सम्बन्ध से) भिन्न हों। सम्बन्ध वह है जो दोनों सम्बद्ध चीज़ों में विद्यमान रहते हुए भी दोनों से भिन्न हो। संयोग डाल तथा दण्डी दोनों से भिन्न है यद्यपि विद्यमान दोनों में है। विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं है। छड़ी हाथ में लिए हुए व्यक्ति के विषय में छड़ी के गुण का स्वरूप छड़ी से भिन्न नहीं है और न ही व्यक्ति की विशिष्टता व्यक्ति से भिन्न है। विशेषण और विशेष्य का स्वयं इन चीज़ों के साथ तादात्म्य है। अभाव के विषय में, विशेषण और विशेष्य दोनों ही होने चाहिए, क्योंकि किसी भी द्रव्य, गुण व क्रिया के लिए अभाव में विद्यमान रहना सम्भव नहीं है। इस प्रकार अभाव में सम्बद्ध विशेषण का स्वरूप अपने ही में इस प्रकार का होना चाहिए कि अपना ज्ञान करा सके। इसीलिए कहा जाता है कि अभाव का सम्पर्क न होने से इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गंगेश का यह मत है कि एक ही साधन हमें पदार्थ और उसके अभाव का भी ज्ञान प्राप्त कराने में सहायक होता है। अभाव, ज्ञान के अभाव से होनेवाले अनुमान का परिणाम नहीं है, बल्कि स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान का एक विषय है।

रहित भूमि मे परस्पर भेद है तो जैसे एक का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, दूसरी का ज्ञान भी प्रत्यक्ष से हो सकता है।[1]

बौद्ध तार्किक सिद्ध करते है कि चक्षु और श्रवणेन्द्रिय अपने विषयो के साथ सीधे सम्पर्क मे नही आती, बल्कि दूर से भी पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करती है। ये दोनो इन्द्रिया, उनके मत मे अप्राप्यकारी अर्थात् पदार्थो का ज्ञान दूर से प्राप्त करने मे भी समर्थ है। नैय्यायिक का तर्क है कि चक्षु इन्द्रिय आखो के गोलक या पुतलियो का नाम नही है, जो इन्द्रियो के अधिष्ठान मात्र है। चक्षु इन्द्रिय तेजस् प्रकृति की है और प्रकाश की किरण पुतली से बाहर दूरस्थित पदार्थ तक जाती है और उसके साथ सीधे सम्पर्क मे आती है। यही कारण है कि हमे दिशा, दूरी व स्थिति का सीधा प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है।[2]

बौद्ध तार्किक निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर न्याय के मत पर आपत्ति करता है: (1) चक्षु इन्द्रिय आख की वह पुतली है जिसके द्वारा हम पदार्थो को देखते है और पुतली स्वय बाहर जा नही सकती कि दूरस्थित पदार्थो के साथ सम्पर्क स्थापित करे। (2) चक्षु इन्द्रिय आकार मे अपने से कितने ही बडे पदार्थो, यथा पर्वत आदि, का ज्ञान प्राप्त करती है, किन्तु इतने बड़े पदार्थों के निकट सम्पर्क मे वह आ नही सकती। (3) चक्षु इन्द्रिय को एक वृक्ष के ऊपर के हिस्से अथवा चन्द्रमा को देखने मे एकसमान ही समय लगता है जिससे यह प्रमाणित होता है कि इन्द्रिय को पदार्थ के निकट पहुचने की आवश्यकता नही है। (4) आख पदार्थ तक नही जा सकती, अन्यथा शीशे व अभ्रक आदि पारदर्शी पदार्थो के पीछे की वस्तुओ का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकती। दूरी व दिशा का ज्ञान प्रत्यक्ष नही है किन्तु प्राप्त किया गया है।[3] उदयन ने अपने 'किरणावलि'[4] नामक ग्रन्थ मे उक्त आपत्तियो का समाधान करने का प्रयत्न इस प्रकार किया है (1) जो कोई पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कराता है या उसे प्रकट करता है उसका उस पदार्थ के साथ सम्पर्क मे आना आवश्यक है। दीपक उस पदार्थ को प्रकाशित करता है जिसके सम्पर्क मे वह आता है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय, जो तेजोमय है, पुतली से निकलकर पदार्थ के सम्पर्क मे आती है। (2) पुतली से बाहर आकर प्रकाश फैलता है और पदार्थ को आच्छादित कर लेता है तथा समूचे क्षेत्र मे समा जाता है। (3) समीप और दूर के पदार्थो की ज्ञान-प्राप्ति मे समय की

1 'न्यायबिन्दु', पृष्ठ 11, और 'न्यायमजरी' पृष्ठ 53 57।

2 न्यायवार्तिक, 1 1, 4। चक्षु इन्द्रिय के विषय मे एक रोचक प्रश्न पर विचार किया गया है अर्थात् यह एक है या दो हैं। वात्स्यायन का कहना है कि इन्द्रिया दो हैं और जब हम किसी पदार्थ को पहले एक आख से और उसके बाद दूसरी आख से देखते है तब हमे ज्ञात होता है कि यह वही पदार्थ है जिसे पहले अवसर पर देखा था। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रष्टा एक ही व्यक्ति है। किन्तु उद्योतकर इस मत को स्वीकार नही करता (देखिए न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक 3 1 7, 11)। डेकार्ट के सामने यह एक बडी समस्या थी कि किस प्रकार और क्यो दो अलग अलग ज्ञान जो दो आखो तथा दो कानो के द्वारा प्राप्त होते हैं, परस्पर मिलकर मन के ऊपर समान प्रभाव डालते हैं। उसके विचार से,-शीर्षग्रन्थि से, जो एकमात्र वह मार्ग है जिसके द्वारा प्राणियो के अन्दर सब क्रियाए मस्तिष्क मे पहुचती है, वही इसका कारण है। किरणो के अन्दर स्वय प्रकट होने का गुण नही है। क्योकि उस अवस्था मे वे आखो व पदार्थ के मध्य में परदे के रूप मे प्रकट होकर हमारी दृष्टि मे बाधा उत्पन्न कर सकती थी। आखो की किरणें यद्यपि दिखलाई नही देती तो भी बाह्य प्रकाश की सहायता से पदार्थ तक पहुच जाती हैं (देखिए न्यायभाष्य 3 · 1, 38 49)।

3 न्यायवार्तिक 1 1, 4, और देखिए विवरणप्रमेयसग्रह, पृष्ठ 187 से आगे।

4 वाइबिल, इण्डियन एडीशन, पृष्ठ 286 से आगे।

अवधि में अन्तर अवश्य होता है यद्यपि हमें इसका स्पष्ट भान नहीं होता। दूर-स्थित चन्द्रमा आंख के खोलने पर इसलिए दिखाई देता है कि प्रकाश की गति इतनी वेगवती है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह सुझाव कि हमारी चक्षु इन्द्रिय से निकला हुआ प्रकाश बाहर के प्रकाश के साथ मिलकर तुरन्त एकाकार हो जाता है जिसके कारण समीप और दूर के पदार्थ एकसाथ दिखाई दे सकते हैं, युक्तिसंगत नहीं ठहरता, क्योंकि इस सिद्धान्त के आधार पर हमें उन पदार्थों का भी, जो हमारी दृष्टि से छिपे हुए हैं और जो हमारी पीठ के पीछे हैं, ज्ञान होना चाहिए। (4) शीशा एवं अभ्रक आदि कुछ वस्तुएं स्वभाव से पारदर्शक हैं और इसीलिए ये प्रकाश को आर-पार जाने देने में बाधा नहीं देतीं। पूर्वमीमांसा न्याय के इस मत का समर्थन करता है कि सभी इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, अर्थात् जिनका वे ज्ञान प्राप्त कराती हैं उन पदार्थों के सम्पर्क में आती हैं। श्रवण ज्ञान के विषय में, शब्द एक निश्चित स्थान से चलकर ध्वनि की लहरों द्वारा वायु के अन्दर गति करता है और इस प्रकार श्रवणेन्द्रिय का अन्तिम शब्द के साथ सम्पर्क होता है। शब्द अपने निकास-स्थान से चलकर क्रमशः लहरों के द्वारा वायु के माध्यम से सर्वत्र फैलता है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि पौधे का पराग वायु की लहरों द्वारा सब दिशाओं में दूर-दूर पहुंच जाता है।[1] किस दिशा से शब्द आ रहा है इसका परिज्ञान इस प्रकार होता है कि शब्द के निकास-स्थानों की विविधता शब्द में विशेषता पैदा कर देती है और श्रवणेन्द्रिय के विशेष भाग क्रियाशील हो जाते हैं। इसी प्रकार गन्ध के विषय में, पदार्थ के छोटे-छोटे कण वायु के माध्यम से नासिका तक पहुंचते हैं। पदार्थ का इन्द्रिय के साथ केवल सम्पर्क ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त है, जैसेकि सोता हुआ मनुष्य भी बिजली की कड़क सुन लेता है।[2]

गौतम के अनुसार, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का सबसे प्रथम स्वरूप यह है कि वह अवर्णनीय (अव्यपदेश्य) है। पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उसके नाम का होना आवश्यक नहीं है। नाम की आवश्यकता सामाजिक व्यवहार के लिए है। किन्तु पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ ही साथ उसके नाम का ज्ञान आवश्यक नहीं है। जयन्त ने एक प्रसिद्ध आचार्य की सम्मति उद्धृत करते हुए कहा है कि उन सब पदार्थों का ज्ञान जिनमें नाम पदार्थ का अनुभूत अवयव है, प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र से बाहर है। यदि एक मनुष्य किसी फल को देखकर उसके स्वरूप का अनुभव करता है तो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। किन्तु यदि वही मनुष्य किसी दूसरे पुरुष से उस फल का नाम 'बिल्व' सुनता है तो वह

1. देखिए जयनारायण की 'विवृति' 2 : 2, 37। कुमारिल इस विचार के सम्बन्ध में इस आधार पर आपत्ति उठाता है कि चूंकि आकाश एक तथा अविभाज्य है इसलिए सभी कानों पर शब्द का एक समान प्रभाव पड़ना चाहिए और हरएक शब्द सभी कानों द्वारा सुना जाना चाहिए, अथवा यदि एक कान बहरा है तो सभी कानों को सुनाई न पड़ना चाहिए। फिर वायु के साथ भ्रमण करते हुए शब्द उन शब्दों की अपेक्षा अधिक दूर तक सुनाई देते हैं जो वायु की गति के प्रतिकूल जाते हैं। इनका कोई युक्तिसंगत समाधान नहीं मिलता, क्योंकि लहरें तो आकाश में उत्पन्न होती हैं जिसपर वायु का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

2. न्यायभाष्य 2 : 1, 26। यह स्वेच्छा विरहित है, क्योंकि वह आत्मा के प्रयत्न के द्वारा नहीं होता और इस प्रकार अदृष्ट अथवा अदृश्य नियति इसका कारण समझा जाता है (न्यायभाष्य 2 : 1, 29)।

प्रत्यक्ष ज्ञान न होकर आप्त ज्ञान कहलाएगा।[1] वात्स्यायन का मत है कि पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान उसके नाम के साथ और उसके बिना भी हो सकता है। पहली अवस्था मे उसे निश्चयात्मक और दूसरी अवस्था मे अनिश्चयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान कहेगे।[2] अवर्णनीय (अव्यपदेश्य) और सुपरिभाषित (व्यवसायात्मक) से जो भेद है वही भेद निर्विकल्प तथा सविकल्प मे है।

वात्स्यायन और उद्योतकर इस भेद का उल्लेख नही करते और वाचस्पति, जो इसका उल्लेख करते हैं, इसे अपने गुरु त्रिलोचन का मत बताते है।[3] परवर्ती सभी दार्शनिक जैसे भासर्वज्ञ, केशवमिश्र, अन्नभट्ट और सांख्य तथा वैशेषिक के अनुयायी तथा कुमारिल भी इस विचार से सहमत है। गौतम अपनी परिभाषा मे सभी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान को निश्चयात्मक मानते है। यदि हमे इस विषय मे सन्देह है कि दूरस्थित पदार्थ मनुष्य है अथवा एक खभा है, धूल है या धुआ है, तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान नही है। जैन, जिनका मत है कि हम प्रत्येक प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रत्यक्ष के कर्ता तथा ज्ञेय पदार्थ दोनो से अभिज्ञ रहते है, प्रत्यक्ष ज्ञान के अनिश्चयात्मक होने की सम्भावना का निषेध करते हैं।

सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्दर ज्ञात पदार्थ किस जाति का है यह ज्ञान, उन विशेष गुणो का ज्ञान जो उसे उस जाति के अन्य पदार्थो से विशिष्ट करते है तथा दोनो के परस्पर सम्पर्क का ज्ञान, ये सब उपलक्षित रहते हैं। पदार्थ की जाति, विशिष्ट गुणो और दोनो के सम्पर्क का स्पष्ट ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे उपस्थित नही रहता।[4] निर्विकल्प

1 शाब्दिको का मत है कि सभी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय, विषय (ज्ञेय पदार्थ) का द्योतक शब्द है (वाग्रूप तत्त्वम)। जयन्त इसकी आलोचना करता है ('न्यायमञ्जरी' पृष्ठ 99), और वाचस्पति प्रश्न करते है कि यदि पदार्थ तथा नामो का परस्पर तादात्म्य है तो वे नित्य शब्दो के साथ भी तादात्म्य रखते है या परम्परागत शब्दो के साथ ? प्रत्यक्षानुभूत पदार्थ अप्रत्यक्षानुभूत शब्दो के साथ तादात्म्य नही रख सकते, न वे नामो के साथ ही तादात्म्य रख सकते है, क्योंकि बच्चे पदार्थों का साक्षात करते हैं यद्यपि उनके नाम से परिचित नही होते। इस प्रकार जो शब्द का अर्थ नही जानते, उन्हे निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है और जो उन्हे जानते हैं उन्हे भी प्रथम तो निर्विकल्प ही ज्ञान होता है जो अवचेतना मे पडे हुए भूतकाल के प्रत्यक्ष के नाम के सस्कार को पुनर्जीवित कर देता है इस प्रकार वही निर्विकल्प सविकल्प प्रत्यक्ष बन जाता है (न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, 1 1 4)।

2 न्यायभाष्य, 1 1, 4। और देखिए 'न्यायमञ्जरी' पृष्ठ 99। जयन्त का कहना है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष पदार्थ को प्रकट करने वाले शब्द अथवा नाम का बोध नही करा सकता। शब्द चक्षु इन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय नही है, और यदि लक्षण तथा लक्षित पदार्थ के परस्पर सम्बन्ध का बोध तथा अवशिष्ट चिह्न का पुनरुज्जीवन न हो तो शब्द का भी बोध नही हो सकता। सविकल्प प्रत्यक्ष शाब्दिक प्रतिबिम्बो के साथ जुडा हुआ है किन्तु निर्विकल्प प्रत्यक्ष ऐसा नही है और सामान्यता तथा गुणादि के बोध के विषय मे दोनो मे कोई भेद नही है। भर्तृहरि के मत मे भाषा के बिना कोई विचार नही रह सकता और इस प्रकार निर्विकल्प प्रत्यक्ष, जो सब प्रकार की भाषा से स्वतन्त्र समझा जाता है, उसके विचार से असम्भव है (न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, 1 1, 4)।

3 रत्नकीर्ति अपने 'अपोहसिद्धि' और 'क्षणभगसिद्धि' नामक ग्रथो मे इस लेखक का उल्लेख करता है। देखिए 'सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्टस', जिसका सम्पादन महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने किया है। विश्वनाथ निर्विकल्प तथा सविकल्प के भेद का वैकल्पिक व्याख्या के रूप मे उल्लेख करता है। देखिए उनकी 'न्यायसूत्र वृत्ति', 1 1 4।

4 'तर्कभाष' के मत मे निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे यद्यपि आत्मा का मन के साथ मन का इन्द्रियो के साथ और इन्द्रियो का पदार्थ के साथ सम्पर्क होता है तो भी पदार्थरूपी अन्तिम अवयव गौण होता है। किन्तु सविकल्प प्रत्यक्ष मे वह मुख्य हो जाता है।

और सविकल्प ज्ञान का भेद लगभग वैसा ही है जैसाकि पदार्थ के साधारण परिचय और उसके ज्ञान में, अर्थात् साधारण बोध तथा निर्णयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान में है।

प्राचीन वैशेषिक मतानुयायियों के अनुसार, निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो पदार्थ के सामान्य (जातिगत) एवं विशिष्ट स्वरूप के सम्बन्ध में प्रथम साक्षात्कार के समय उत्पन्न होता है, जिसमें उक्त दोनों के अन्तर का ज्ञान सम्मिलित नहीं है। सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में पदार्थ और उसके विशिष्ट गुणों का भेद स्पष्ट होकर पदार्थ का ज्ञान निश्चयात्मक हो जाता है।[1] वाचस्पति का विचार है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें पदार्थ के गुणों का ज्ञान तो होता है, किन्तु हम पदार्थ और उनमें विशेषण-विशेष्य भाव का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। और जब ऐसा कर पाते हैं तो उसकी सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान संज्ञा हो जाती है। श्रीधर का यही मत है। प्रभाकर प्राचीन वैशेषिक के अनुयायियों के साथ सहमत होकर कहता है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें केवल पदार्थ के स्वरूप-मात्र का ज्ञान होता है। यद्यपि हम जातिगत सामान्य और उक्त पदार्थ-गत विशेष गुणों को भी देखते हैं, किन्तु उनमें भेद न कर सकने से, जैसाकि सविकल्प ज्ञान में करते हैं, उक्त ज्ञान को निर्विकल्प संज्ञा देते हैं। गंगेश की सम्मति में निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जिसमें पदार्थ और उसके जातिगत गुणों का पृथक्-पृथक् ज्ञान तो हो किन्तु दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान ज्ञात न हो। पदार्थ का इन्द्रिय के साथ जैसेकि घड़े का आंख के साथ, सम्पर्क होने ही घड़े के विषय में तुरन्त यह ज्ञान नहीं होता कि यह घड़ा घड़ों की जाति का है।[2] किन्तु जब पदार्थ और जिस जाति का वह पदार्थ है उसके पारस्परिक सम्बन्ध का भी ज्ञान हो जाता है तो उसे हम सविकल्प अथवा निश्चयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। अन्नंभट्ट के अनुसार, निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थ के विशेष गुणों के ज्ञान से रहित केवलमात्र पदार्थ के ज्ञान का नाम है, जबकि सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्दर पदार्थ (विशेष्य) और उसके गुणों (विशेषणों) जैसेकि पदार्थ की संज्ञा और जाति के सम्बन्ध का ज्ञान आ जाता है।[3]

सविकल्प प्रत्यक्ष का उक्त विश्लेषण प्रत्यक्ष की क्रिया के अन्तर्गत दो अवयवों, अर्थात् सामान्य प्रत्यय तथा अन्तिम निर्णय को हमारे सामने उपस्थित करता है। मनो-वैज्ञानिक श्रेणीबद्ध प्रकल्पना के हेत्वाभास का कि पहले हमें प्रत्यक्ष होता है, फिर सामान्य प्रत्यय बनता है और उसके बाद अन्तिम निर्णय होता है, इस प्रकार निराकरण हो जाता है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में एक भिन्न प्रकार का विचार, जो कि वस्तुतः भ्रमोत्पादक है, हमें नव्यन्याय में देखने को मिलता है। वहां ऐसा कहा गया है कि चेतना में जो ज्ञान प्रस्तुत होता है वह सविकल्प प्रत्यक्ष है, और उससे हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष के

1 न्यायकन्दली', पृष्ठ 190। प्रभाकर तथा पार्थसारथि मिश्र, जिनके मत में सविकल्प प्रत्यक्ष इन्द्रिय द्वारा गृहीत तथा स्मृतिगत प्रतिबिम्ब दोनों का सम्मिश्रण है, उक्त दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

2 प्रथमतो घटघटत्वयोर्विशिष्टानवगाह्य एव ज्ञानं जायते, तदेव निर्विकल्पम्। देखिए 'सिद्धांत-मुक्तावलि', पृष्ठ 58।

3 वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष को निष्प्रकारक और सविकल्प प्रत्यक्ष को सप्रकारक भी कहता है। यहां प्रकारता का अर्थ है विशिष्ट बोध का गुण। इस प्रकार सप्रकारक ज्ञान पदार्थ-विशेष का बोध है, जो अन्य प्रकार के बोधों से पृथक् है।

अस्तित्व का अनुमान करते है। किसी पदार्थ का सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान, अर्थात् पदार्थ के विशेष गुणो मे युक्त होने का ज्ञान, उन गुणो के निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान की पूर्वावस्था का सकेत करता है, जिसके बिना सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नही हो सकता। यदि गुणो का प्रत्यक्ष ज्ञान भी सविकल्प होता तो उसका तात्पर्य होता गुणो के गुणो का प्रत्यक्ष ज्ञान और इस प्रकार उसका कही भी अन्त न होता। अतएव उक्त उलझन से दूर रहने के लिए हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के अस्तित्व को ही स्वीकार कर लेते है।[1]

कुछ नैय्यायिक निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान को अनुमान का विषय नही मानते, बल्कि इसे केवल चेतना की एक अवस्था-मात्र स्वीकार करते है जो हमे केवल अस्तित्व का बोध कराती है।[2] जो इसे चेतना का एक तथ्य मानते है उनका तात्पर्य इससे एक अस्पष्ट बोध से है। किन्तु जो इसे सविकल्प चेतना से निकसित अमूर्तभावरूप मानते है वे इसे भाववाचक गुणो की अभिज्ञता के समान समझते है और इसे वे निर्विकल्प इसलिए कहते हैं क्योकि इसमे अनुव्यवसाय को स्थान नही है।

न्यायशास्त्र का झुकाव प्रधानत निर्विकल्प प्रत्यक्ष को सब प्रकार के ज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु समझने की ओर है, यद्यपि उसकी सम्मति मे यह अपने-आपमे ज्ञान नही है। यह पदार्थ का तात्कालिक बोध है जो सही अर्थो मे ज्ञान नही कहला सकता। यह एक प्रकार की भेद-रहित, असम्बद्ध चेतनामात्र है, जो आत्मसात्करण, विभेदीकरण, विश्लेषण और समन्वय के कार्य से मुक्त है। इसे मूक, अव्यक्त तथा शाब्दिक प्रतिबिम्बो से मुक्त समझना चाहिए। सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान चेतना की एक व्यवहित, भेद-प्रदर्शक एव सम्बन्ध-निर्देशक अवस्था है जिसमे आत्मसात्करण और विभेदीकरण के परिणाम भी समाविष्ट हैं। यह व्यक्त, मूर्तरूप और निश्चित ज्ञान है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान मे जातिगत वैशिष्ट्य और सम्बन्ध अन्तर्निहित तो अवश्य है, किन्तु वे प्रकट होते है सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान मे ही। इस मत का समर्थन पार्थसारथि मिश्र ने किया है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रिय-सम्पर्क मे उत्पन्न अनुभव और सविकल्प प्रत्यक्ष जो प्रत्यक्ष ज्ञान का निर्णयात्मक रूप है दोनो एक ही प्रक्रिया के, जो प्रकृति से एक ही है, प्रारम्भिक और सपुन्नत रूप है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष क्योंकि तत्काल आगे नही बढ़ता, वह मूक और

1 इण्डियन लॉजिक एण्ड ऐटोमिज्म पृष्ठ 72 73। अन्नभट्ट अपनी 'दीपिका' (42) मे कहते है "विशिष्ट ज्ञान विशेषणज्ञानजन्य विशिष्टज्ञानत्वात् दण्डीति ज्ञानवत्। विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वे अनवस्थाप्रसगान्निर्विकल्पसिद्धि।" और देखिए 'सिद्धान्त मुक्तावलि', 58। विशिष्ट ज्ञान पदार्थ विशेष (विशेष्य) का निर्णय अथवा ज्ञान है जो पदार्थ का गुण (विशेषण) बतलाता है। न्याय का मत है कि इस प्रकार के ज्ञान के लिए, यह घडा है हमे केवल इन्द्रिय के विशेष्य पदार्थ (घडे) के साथ सम्पर्क की ही आवश्यकता नही होती, बल्कि विशेषण (घटत्व) के पूर्वज्ञान की भी [illegible] के खोखले इस पूर्वज्ञान को ही निर्विकल्प कहते है और इसका साक्षात् ज्ञान [illegible] (18) मे व्यक्त किया गया पूर्वमीमासा तथा वेदान्त गुण के पूर्वज्ञान की आवश्य[illegible] के निर्णयो मे भेद किया गया है।
इन्द्रिया गुण और उसके विषय (पदार्थ) दोनो, पृष्ठ 67।
घटत्व का निर्विकल्प ज्ञान होता है, [illegible] अशक्यत्वात् ('न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ 16)।
प्रकट नही होते। ज्ञान अनिश्चित।
कालनस की दृष्टि से, अनुभ[illegible] 1, 4।

2 वस्तुस्वरू[illegible]

विश्लेषण-रहित है, जेम्स के शब्दों में 'अपरिपक्व और आवाचिक अनुभव' है इसलिए सत्य-असत्य का भेद उसके विषय में लागू नहीं होता।[1] पहले-पहल जब हम प्रकाश को देखते हैं तो, कण्डिलैक के शब्दों में, हम उसे देखने की अपेक्षा हम वही होते हैं।"[2] इसलिए साधारण बोध में भूल होने की सम्भावना नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान सम्बन्धी निर्णय में, जहां कर्ता के विषय में कुछ विधान किया जाता है, तार्किक विवेचन की उत्पत्ति होती है, क्योंकि हमारा अपना निर्णय पदार्थ-सम्बन्धी व्यवस्था के अनुकूल हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। जब हम कहते हैं कि 'वह मनुष्य है', तो हमारा ज्ञान, जहां तक 'वह' शब्द का सम्बन्ध है, सत्य है, किन्तु जहां तक 'मनुष्य' शब्द का सम्बन्ध है, वह सत्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।[3]

विरोध में बौद्ध तार्किकों का कहना है कि सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान व्यवहित होने के कारण पूर्वधारणा से स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्वधारणा से स्वतन्त्र, अर्थात् कल्पनापोढ[4] है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में पदार्थ के गुणों अर्थात् सामान्यता, द्रव्यत्व, गुण, क्रिया, नाम आदि का ज्ञान नहीं होता, बल्कि यह केवल पदार्थ के स्वलक्षण[5], अर्थात् निजी अस्तित्व का ही ग्रहण कराता है। यथार्थ, जिसके हम सम्पर्क में आते हैं, अवर्णनीय है और जिसका हम वर्णन करते हैं उसका अंश सामान्य प्रत्यय है। धर्मकीर्ति का कहना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय स्वलक्षण है, जबकि व्यवहित ज्ञान का विषय सामान्य लक्षण है। उपस्थित पदार्थ अपूर्व, विशिष्ट और क्षणिक है और जाना हुआ पदार्थ आदर्श, सामान्य और स्थायी है।[6] जैसे ही हम किसी अनुभूत यथार्थ के विषय में कुछ कहते हैं, हम उसका सम्बन्ध किसी अन्य वस्तु के साथ स्थापित कर देते हैं, और इस प्रकार यथार्थ अपनी प्रकृति को खो देता है तथा बुद्धि के द्वारा आविष्कृत भावों से आरोपित हो जाता है। हम श्रवणेन्द्रिय द्वारा भन-भन की सी आवाज सुनते हैं और यह

1 देखिए नीलकण्ठकृत 'तर्कसंग्रहदीपिकाप्रकाश'।

2 जेम्स 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकोलाजी', खण्ड 2, पृष्ठ 4। और देखिए न्यायभाष्य 4 : 2, 37।

3 न्यायभाष्य 3 2, 37।

4 धर्मकीर्ति के अनुसार कल्पना विचार की वह क्रिया है जिसके द्वारा पदार्थ (विषय) को विशेष सत्ता दी जाती है। "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना।" यह वह ज्ञान है जिसका सम्बन्ध शब्दों के साथ हो सकता है। जयन्त का मत है कि कल्पना से तात्पर्य उस सम्बन्ध से है जो एक पदार्थ का अपने सहायकों, अर्थात् जाति, गुण, क्रिया, नाम और द्रव्य के साथ रहता है ('न्यायमंजरी', पृष्ठ 97)। बौद्धमत के अनुसार, व्यक्ति तथा जाति में, विशेष तथा सामान्य में, द्रव्य और गुण में कोई भेद नहीं है। हमारा सविकल्प प्रत्यक्ष जहां भेद नहीं है, वहां भेदों का आरोप करता है। हम गाय के अतिरिक्त गोजाति का प्रत्यक्ष नहीं करते, न गोरूपी द्रव्य का उसके गुणों से रहित प्रत्यक्ष करते हैं और न गति ही उससे भिन्न है जो गति करता है। हम जब पदार्थ को नाम देते हैं तो हम उन वस्तुओं को जो भिन्न-भिन्न हैं, एकसमान मान लेते हैं। जब हम कहते हैं कि 'यह चैत्र है' तो 'यह' एक पदार्थ का निर्देश करता है और 'चैत्र' एक शब्द का, और हमारा निष्कर्ष उन दोनों को [illegible] मान लेता है। इसी प्रकार द्रव्य का वर्ग उन पदार्थों में, जो वास्तविक रूप में भिन्न भिन्न हैं, इन्द्रिय द्वारा गृहीत [illegible] आरोप करता है। 'यह मनुष्य छड़ी लिए हुए है' इस वाक्य में [illegible] है। [illegible] के ही अधिष्ठान में निहित कहे जाते हैं। इस प्रकार

2 प्रथमतो घटपदत्वयोर्विशिष्टानवगाह्य एव [illegible] (उसी स्थान पर)।
[illegible] मुक्तावलि', पृष्ठ 58। [illegible], पृष्ठ 97)।

3 यह निर्विकल्प प्रत्यक्ष को निष्प्रकारक और सविकल्प सामान्य स्थापनाएं कल्पना में [illegible] यहां प्रकारता का अर्थ है विशिष्ट बोध का गुण। इस प्रकार सप्रकारक (पृष्ठ 278)। [illegible] का अन्य प्रकार के बोधों से पृथक् है।

आवाज यथार्थ है, किन्तु यह आवाज मक्खी की है या दूरस्थित वाष्पसीटी की, यह हमारी अपनी कल्पना है। धर्मोत्तर का तर्क है कि मा के स्तन तक का ज्ञान जो बच्चे को दूसरी बार होता है, अपने पूर्वअनुभव के आधार पर ही होता है, और इसलिए यह ज्ञान भी विशुद्ध या अनिश्चित नही है। जैसाकि काण्ट ने कहा है, सभी सपर्क ऐसे रूप है जो हमारे मन द्वारा उपस्थित तत्त्वो पर आरोपित किए गए है और तभी वे ज्ञान के विषय बन सके है। सविकल्प ज्ञान मे हम यथार्थ को मरोडकर उसका रूप बदल देते है और इसीलिए वह अप्रामाणिक कहलाता है।[1] दिग्नाग की सम्मति मे द्रव्यो, गुणो तथा क्रियाओ का ज्ञान मिथ्या है।[2] बाह्य पदार्थ क्षणिक है और इसलिए वे जाने नही जा सकते।[3] रचनात्मक कल्पना क्षणिक अवस्था को एक ऐसी शृ खला मे परिणत कर देती है, जिसमे भूतकाल प्रविष्ट होता है और जो आगे की ओर भविष्य मे बढी होती है। विचार-जगत् अयथार्थ (अनर्थ) है। परमार्थसत् अनुभूत सवेदना है।[4] यह समस्त मत इन विचारको की अध्यात्म-विषयक पूर्वकल्पनाओ द्वारा निर्धारित है। दिग्नाग एक विषयिविज्ञान-वादी है जो समस्त ज्ञान को विशुद्ध मानसिक मानता है। यथार्थ के स्वरूप के प्रश्न को उसने अनिर्णीत ही छोड दिया है, यद्यपि प्रत्यक्ष-विषयक तथ्य उसे यह स्वीकार करने को बाध्य कर देते है कि हम किसी यथार्थ सत्ता के सम्पर्क मे आते है, चाहे वह क्षणिक ही क्यो न हो। धर्मकीर्ति अपने सौत्रान्तिक झुकावो के कारण अतिमानसिक यथार्थ सत्ताओ को स्वीकार करता है, जिससे कि प्रत्यक्ष ज्ञान की विविधता का समाधान हो सके, यद्यपि उनका क्षणिक रूप उनके ज्ञान को असम्भव बना देता है। वह सवेदनाओ को वैयक्तिक तथा उनके पदार्थ-सम्बन्धी सकेत को अनुमानगम्य मानता है।

नैय्यायिक बौद्धमत की कडी आलोचना करते है। उद्योतकर का तर्क है कि विशुद्ध इन्द्रिय-ज्ञान जो अपने-आप मे विशिष्ट और स्वत प्रज्ञात है और जो नाम या जाति के सम्मिश्रण से रहित है, एक असम्भव धारणा है। हमारा पदार्थ-विषयक ज्ञान अनिवार्य रूप से व्यापक (जातिमात्र मे सामान्य) रूप धारण कर लेता है।[5] बौद्धो का यह मत कि सभी सामान्य स्थापनाएँ काल्पनिक है क्योकि केवल विशिष्ट पदार्थो का ही अस्तित्व है, नैय्यायिको को अमान्य है। उनका मत है कि सामान्य स्थापनाए उतनी ही यथार्थ है जितने कि वे पदार्थ-विशेष है जिनमे वे समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है। इस सम्बन्ध का ज्ञान या तो हमे सीधा प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा होता है या इस तथ्य से अनुमान द्वारा होता है कि हमे विशिष्ट पदार्थो के बारे मे यह अभिज्ञता होती है कि वे यथार्थ प्रकार के है। पदार्थो का स्वरूप ही अन्तिम साक्षी है जो स्वय प्रकट रूप मे हमारी चेतना को निर्धारित करता है। सम्बन्ध उपस्थित पदार्थो पर आरोपित नही किए जाते है बल्कि यथार्थ के स्वरूप मे ही भासित होते है। हमारी बोधशक्ति का कार्य यथार्थ की पूर्णता मे उस सम्बन्ध को केवल खोज निकालना है। यदि 'यथार्थ'

1 किन्तु काण्ट निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान की सम्भावना का निषेध करता है जिसके द्वारा बौद्ध की कल्पना मे, केवलमात्र भेद का ही अन्तर्दृष्टि से ज्ञान होता है। तुलना कीजिए उसके इस प्रसिद्ध वक्तव्य के साथ कि "प्रत्यक्ष ज्ञान भावो के बिना अन्धा है और भाव बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के खोखले है।" यद्यपि पूर्वतर मत के साथ इसका विरोध होता है जो 'प्रोलेगोमेना' (18) मे व्यक्त किया गया है और जिसमे प्रत्यक्ष ज्ञान के निर्णयो तथा अनुभवो के निर्णयो मे भेद किया गया है।

2 देखिए यूई 'वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ 67।

3 क्षणस्य (ज्ञानेन) प्रापयितुम अशक्यत्वात ('न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ 16)।

4 'न्यायबिन्दु' पृष्ठ 103।

5 न्यायवार्तिक 1 1, 4।

में सम्बन्ध निहित नहीं है और ज्ञान का विषय सम्बन्धयुक्त है, तो हमें बुद्धिगत विषय और दृष्टिगत विषय के मिथ्या विरोध को स्वीकार करना पड़ेगा। ज्ञात विषय वैसा नहीं है जैसाकि विषय वस्तुतः स्वयं है। वह ज्ञाता और उद्दीपक पदार्थ के मध्य स्थित एक तृतीय तत्त्व है। किन्तु जैसाकि हमने देखा, न्यायदर्शन के अनुसार निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान तात्त्विक रूप में एक ही हैं। सम्बन्ध शून्य से हठात् प्रकट नहीं हो जाते। वे निर्विकल्प ज्ञान में विद्यमान हैं, यद्यपि हम सविकल्प ज्ञान में ही उनके अस्तित्व से अभिज्ञ होते हैं। जयन्त का तर्क है कि सविकल्प ज्ञान का विषय अयथार्थ नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान के द्वारा भी उसका बोध होता है। विचार-सम्बन्धी अवयवों अथवा स्मृति के विषयभूत तत्त्वों की उपस्थितिमात्र इन्द्रियों की सक्रियता में हस्तक्षेप नहीं करती। सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान की जटिलता एक तार्किक दोष नहीं है। उसमें अन्तर्निहित विचार का प्रयोग उसकी प्रामाणिकता का समर्थन करता है। यदि सविकल्प प्रत्यक्ष उसीका ज्ञान कराता है जिसका ज्ञान पहले ही निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा हुआ है, तो यह कोई इस बात की दलील नहीं है कि वह सत्य नहीं हो सकता। नवीनता सत्य की कसौटी नहीं है। विचार विषयक तत्त्व विकल्पमात्र नहीं है। सामान्य जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है, केवलमात्र नाम ही नहीं है, क्योंकि नाम के अभाव में भी उसका ज्ञान होता है। दक्षिण भारत का निवासी जब उत्तर भारत में ऊंटों को देखता है तो वह उनकी सामान्यता को लक्ष्य करता है, चाहे उसे उक्त पशु के नाम का ज्ञान न हो। हम जब अपनी चारों उंगलियों को देखते हैं तो हम उनमें एक सामान्य भाव भी लक्ष्य करते हैं तथा उनके विशेष गुणों को भी लक्ष्य करते हैं। यदि हम पदार्थ के केवल विशेष रूप को ही ग्रहण करें तो हम दूसरी घटना का प्रथम के साथ सम्बन्ध स्थापित न कर सकेंगे। यदि यह तर्क दिया जाय कि जब हम दूसरी बार देखते हैं तो पहली बार का स्मरण हो आता है, तो जयन्त का कहना है कि पहले के स्मरणमात्र से कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि वह दूसरे के साथ सम्बद्ध नहीं है। यदि इसका तात्पर्य यह है कि दूसरे का ज्ञान पहले का संकेत देता है, क्योंकि दोनों एक ही वर्ग के हैं, तो यह स्पष्ट है कि पहले प्रत्यक्ष ज्ञान में भी उसकी सामान्यता और विशेषता का भी ज्ञान हुआ था। निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में सामान्य तथा विशिष्ट का ज्ञान अस्पष्ट रूप में और सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में स्पष्ट रूप में होता है। बौद्ध विचारक भी यह अस्वीकार नहीं करते कि जब हमें किसी विशिष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो हमें सामान्यता (अनुवृत्ति ज्ञान) का भी बोध होता है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस बोध (अनुवृत्तिज्ञानोत्पादिका शक्ति) का आधार क्या है, अर्थात् क्या यह विशिष्ट है अथवा उससे कुछ भिन्न है, नित्य है अथवा अनित्य है, प्रत्यक्ष होने योग्य है अथवा नहीं, क्योंकि यदि बोध में कोई वैशिष्ट्य है तो बोध के विषय में भी वैशिष्ट्य अवश्य होगा।[1] इसलिए सामान्य विशिष्ट से भिन्न है, वह व्याप्त होने से नित्य है, जबकि विशिष्ट पदार्थ उत्पन्न होते तथा नष्ट होते हैं। और सामान्य यथार्थ है, चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो या अनुमानगम्य हो।[2] इस तर्क को कि सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थ के निर्देशक शब्द के

1 विषयातिशयमन्तरेण प्रत्ययातिशयानुपपत्तेः ('न्यायमंजरी', पृष्ठ 314)।

2 देखिए 'न्यायमंजरी' पृष्ठ 309-311, 313-314। तुलना कीजिए न्याय के मत की सेण्ट टामस के इस मत के साथ कि मनुष्य के ज्ञान का मुख्य उद्देश्य एक ऐसा सारूप्यात्मक एकता है जिसमें इन्द्रिय और बुद्धि दोनों का अनिवार्य भाग रहता है। व्यक्तित्व अथवा परिमाणात्मक वैशिष्ट्य तो इन्द्रियां द्वारा प्राप्त होता है और गुणात्मक एकत्व बुद्धि से। ज्ञान के उद्दिष्ट विषय के अन्दर सामान्य या अन्तर्गत और विशेषों का ऐन्द्रिय ज्ञान ये सम्मिलित रहते हैं। यह न तो अकेला सार-

स्मरण पर निर्भर करता है और पदार्थ के इन्द्रिय के साथ सीधे सम्पर्क पर निर्भर नहीं करता, इस आधार पर आलोचना की गई है कि यद्यपि सविकल्प प्रत्यक्ष इन्द्रियगृहीत ज्ञान तथा स्मृतिगत प्रतिबिम्ब का सम्मिश्रण है, तो भी प्रमुख अवयव इन्द्रिय सम्पर्क ही है, नाम की स्मृति सहायक अवयव है। कोई भी बोध प्रत्यक्षजनित है अथवा नहीं, यह परिस्थित उत्तेजना की विद्यमानता अथवा उसके अभाव पर निर्भर करता है।[1]

यहाँ हम, बौद्ध तथा नैय्यायिकों द्वारा समर्थित यथार्थ-सम्बन्धी विचारों में जो मौलिक विभिन्नता है, उसपर पहुँचते हैं। बौद्धों की धारणा है कि यथार्थ सत्ता साधारण 'यह' है, अर्थात् एक क्षणिक विशिष्ट जो अपने गुण के अन्दर बन्द है, जो काल के अन्दर बराबर रहने अथवा देश के अन्दर विस्तार में सर्वथा स्वतन्त्र 'सर्व पृथक्' है। समस्त सबध स्वेच्छा से बाहर से कल्पना द्वारा फैलाया गया जाल है। इसके विपरीत, नैय्यायिक का तर्क यह है कि जिसका अस्तित्व है वह क्षणिक गुण नहीं है, बल्कि विशिष्ट पदार्थ है जिसके अन्दर विषयवस्तु की विविधता है। अनेकत्व के होते हुए भी वह एक रहता है। वह अनेकों में एक है। जहाँ तक वह दूसरों से पृथक् है वह अपने-आपमें विशिष्ट है; और जहाँ तक वह अपनी विविधता में एकसमान है वह सामान्य है, और अपनी इस समानता के कारण वह एक वर्ग का अग भी है। प्रत्येक विशिष्ट पदार्थ के ये दो पहलू हैं। अणु-रूप विशिष्ट पदार्थ, जो सब प्रकार के विभेदों से रहित है और केवलमात्र सम्बन्ध जिसका कोई अतिम बिन्दु नहीं है, एक ऐसा, मिथ्या विश्वास है जिसका सम्बन्ध जिसका समर्थन अनुभव से नहीं होता। तादात्म्य तथा विभेद एक पूर्ण इकाई के अन्दर ही पृथक्-पृथक् जाने जा सकते है, और ये ही जब स्वतन्त्र इकाइयों में बटकर कठोर हो जाते हैं तो मिथ्या हो जाते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान न्याय के इस मत का समर्थन करता है कि प्रस्तुत पदार्थगत विषय के दो पहलू हैं—इन्द्रियगम्य गुण और सम्बन्ध।

ऊपरी तौर पर विचार करने से हमें यह प्रतीत होता है कि अपरिपक्व इन्द्रिय संवेदनाएं जो ज्ञान की उत्पादक सामग्री है, उच्चतम यथार्थ सत्ता है। किन्तु इस स्थिति को स्वीकार करना कठिन है कि मनुष्य की खण्ड-खण्ड संवेदनाएं ही वस्तुओं का यथार्थ तत्व है। अस्तव्यस्त पड़े असख्य पत्थर, ईंटें तथा लकड़ी मकान नहीं है। अनुभूत संवेदनाएं ज्ञान नहीं हैं। वर्तमान क्षण की परिधि में आबद्ध सीमित ज्ञानवाद तो हमें सीधा

तत्त्व हैं जैसाकि डेकार्ट का विचार था, और न अकेली इन्द्रियप्रदत्त सामग्री है जैसाकि अनुभववादियों (इम्पीरिसिस्टग) का विश्वास है। हम वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, और वस्तुएं न तो अमूर्त सार तत्त्व हैं और न विश्रृंखलित प्रतिबिम्ब है। सामान्यों को विशेषों से पृथक् करने का अर्थ होगा वस्तुओं में उक्त दोनों के ऐक्य को न देखना।

1 न्यायकन्दली', पृष्ठ 193। पार्थसारथि मिश्र का कथन है कि "सविकल्पम् अपि अनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य, जायमानम् अपरोक्षावभासत्वात् प्रत्यक्षमेव' ("शास्त्रदीपिका', पृष्ठ 103 4)। बौद्ध मतावलम्बी तर्क करते है कि सविकल्प प्रत्यक्ष साक्षात नहीं है और न स्पष्ट ही है, यद्यपि इसके ठीक पूर्ववर्ती निर्विकल्प ज्ञान के साथ सम्बद्ध होने से यह ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु यह एक कल्पना है। प्रभाचन्द्र ने भी बौद्धमत की आलोचना की है। अस्पष्टता केवल सविकल्प प्रत्यक्षों की ही विशेषता नहीं है। शीशे अथवा अभ्रक में छिपे दूरस्थित पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान अस्पष्ट होते हैं, चाहे वे निर्विकल्प हों चाहे सविकल्प। यदि सविकल्प प्रत्यक्ष इसलिए अप्रामाणिक है कि वह भी उसीको प्रत्यक्ष करता है जिसका बोध पहले हो चुका है, तो अनुमान भी अप्रामाणिक है, क्योंकि वह भी उसीका बोध कराता है जिसका बोध पहले सामान्य व्याप्ति के साहचर्य द्वारा हो चुका है। बौद्धमत के आधार पर सब पदार्थ क्षणिक हैं और इस प्रकार कोई प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। अनुमान में भी हम विषय के विशिष्ट व्यक्तित्व को ग्रहण नहीं करते हैं। किन्तु उससे आनुमानिक ज्ञान अप्रमाणिक नहीं हो जाता। शब्द और विचार विषयक सम्बन्धों की विद्यमानता का प्रामाणिकता के साथ कोई वास्ता नहीं है। भूल हो जाने की सभावना और क्रियात्मक कार्यक्षमता सविकल्प तथा निर्विकल्प दोनों प्रत्यक्षों में रहती है।

बौद्धिक आत्मघात अथवा मर की ओर अग्रसर करेगा, क्योंकि उससे विचार सम्बन्धी जीवन एक कल्पित कहानी-मात्र रह जाएगा। बौद्ध दार्शनिक निष्क्रिय अभिज्ञता का वास्तविकता के अनुभव के साथ तादात्म्य बतलाते हैं। वे हमें मानसिक आलोचना के पाप से मुक्त होने का आदेश देते हैं। परन्तु व्यवधानशून्यता के लिए उनका ओज एक पूर्वग्रह मात्र है। तथ्य के प्रति निष्ठा का अर्थ मानसिक आलोचना से मुक्ति भी नहीं है। मैं जब यह कहता हूँ कि यह वस्तु, जिसे मैं अपने सम्मुख देखता हूँ, नारंगी है, तो निश्चय ही मैं इस सम्बन्ध में जानबूझकर कोई आलोचनात्मक मूर्खता नहीं करता हूँ। मानसिक आत्मबोध मानव-मस्तिष्क का स्वाभाविक कार्य है। मानव का मस्तिष्क कोई खाली कमरा तो है नहीं जिसमें इन्द्रियजन्य बोध तुरन्त घुस जाते हों। प्रत्येक इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रेरणात्मक पदार्थ के सम्पर्क की क्रियात्मक प्रतिक्रिया है। हम जन्मजात विचारक हैं और इसलिए जो ज्ञान हमें उपलब्ध होता है उसकी व्याख्या किए बिना हम नहीं रह सकते। संवेदनाएं हमें एक-दम सम्बन्ध-रहित प्राप्त नहीं होतीं। वे हमें विषयनिष्ठता के भाव के साथ प्राप्त होती हैं। वे अन्य तत्त्वों के सम्मिश्रित पुञ्ज में घिरी हुई हमारे आगे प्रस्तुत होती हैं। आणविक 'अब' (वर्तमान) का कोई अस्तित्व नहीं है। आकाश-स्थिति प्रत्येक बिन्दु के चारों ओर अन्य बिन्दु भी हैं, जैसेकि समय का प्रत्येक क्षण निरंतर दूसरे क्षण में परिवर्तित होता रहता है। बौद्ध दर्शन के मत से इन्द्रिय और अवबोध (प्रतिपत्ति) भिन्न-भिन्न हैं और दोनों के कार्य भी एक दूसरे से बिलकुल पृथक् हैं। इन्द्रियों द्वारा गृहीत सामग्री भिन्न-भिन्न विधियों से परस्पर एकत्र होकर ज्ञान के जगत् का निर्माण करती है। उक्त सामग्री में ऐसे सम्बन्ध जुड़े रहते हैं जिन्हें हमारा ज्ञान ही पृथक करके सुलझाता है। ज्ञान में यथार्थता का न तो हम निर्माण कर सकते हैं और न उसमें कोई परिवर्तन ही कर सकते हैं। इन्द्रियों द्वारा जो अस्पष्ट रूप में ज्ञान होता है उसका स्पष्ट ज्ञान तब होता है जब हम अवबोध के क्षेत्र में पहुंचते हैं। जो सम्बद्ध व तर्कसंगत है वही यथार्थ है। यथार्थता का स्वरूप न तो इन्द्रियों को प्राप्त होता है और न ही अवबोध को। वह केवल पूर्ण आत्मा को ही प्राप्त होता है।

धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष ज्ञान के चार प्रकार स्वीकार करता है: इन्द्रियजन्य ज्ञान, मानसिक ज्ञान (मनोविज्ञान), आत्मचेतना तथा यौगिक अन्तर्दृष्टि। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियां माध्यम का काम करती हैं। मानसिक ज्ञान को भी इन्द्रियजन्य ज्ञान के ही समान कहा गया है, क्योंकि दोनों एक ही श्रेणी के (एक सन्तान) हैं। यह ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान के अगले ही क्षण में उत्पन्न होता है। एक प्रकार से यह कुछ-कुछ पश्चात्-बिम्ब है, क्योंकि धर्मोत्तर का कहना है कि "मानसिक-ज्ञान तब तक उत्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि आंख अपना काम कुछ समय के लिए बन्द न कर दे। यदि आंख क्रियाशील रहे तो हमें आकृति तथा दृष्टिगोचर सम्बन्धी इन्द्रिय ज्ञान बराबर होते ही रहेंगे।"[1] सुख और दुःख का आन्तरिक प्रत्यक्ष ज्ञान तीसरे वर्ग के अन्तर्गत आता है जिसे

1 एतच्च मनोविज्ञानम् उपरतव्यापारे चक्षुषि प्रत्यक्षमिष्यते। व्यापारवति तु चक्षुषि यद् रूप-ज्ञानं तत् सर्वं चक्षुराश्रितम् एव (न्यायबिन्दुटीका, पृष्ठ 13)। तुलना कीजिए रिचर्ड सेमन के इस विचार के साथ कि हम संवेदनाओं का अनुभव दो रूपों में करते हैं, अर्थात् या तो मौलिक रूप में या स्मृति रूप में। मौलिक संवेदना उत्तेजना के साथ साथ एक ही समय में होती है और इस रूप में उत्तेजना के बन्द होने पर संवेदना भी बन्द हो जाती है। किन्तु, समुद्र में आए हुए तूफान की भांति, जिसके समाप्त हो जाने पर जैसे उठी हुई लहरों को धीरे-धीरे शान्त होने में समय लगता है, इसी प्रकार उत्तेजना के शांत होने पर भी संवेदना को समाप्त होने में समय लगता है। इस पश्चात्-बिम्ब प्रभाव को सेमन मौलिक संवेदना (akoluthic) की स्थिति की संज्ञा देता है। सेमन का कहना है कि

स्वसंवेदना या आत्मचेतना कहा गया है। हमें आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान उसकी सुख या दुःख जैसी भिन्न-भिन्न स्थितियों के ज्ञान के द्वारा होता है। यह सीधा अन्तर्ज्ञान है जिसके द्वारा जीवात्मा का आविर्भाव हमें होता है (आत्मन साक्षात्कारी)। यह बुद्धि के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र है और इसीलिए इसमें भ्रम की सम्भावना भी नहीं हो सकती। प्रत्येक मानसिक व्यापार में इसका सहयोग विद्यमान रहता है। धर्मोत्तर ने इस स्वसंवेदना को और उस आत्मीयता तथा भावुकतापूर्ण आवेश को, जो प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में उपस्थित रहता है, एक समान बताया है। नव्यन्याय ने इसे परवर्ती उपज कहा है जो चेतना के ऊपर आच्छादित हो जाती है। गणेश के मत से इसकी उत्पत्ति तब होती है जब हम कहते हैं कि "मैं जानता हूं कि यह एक बरतन है।" व्यवसाय अथवा सविकल्पज्ञान हमें किसी पदार्थ का ज्ञान कराता है, किन्तु इस ज्ञान को कि "मुझे पदार्थ का ज्ञान है" अनु अर्थात् पीछे से उत्पन्न होनेवाला व्यवसाय अथवा पश्चाद्‌ज्ञान कहा जाएगा। "यह एक घड़ा है" एक अवबोध है, "मैं जानता हूं कि यह घड़ा है,"[1] अनुव्यवसाय है, अर्थात् पदार्थ के अवबोध के पीछे होनेवाला ज्ञान है। सांख्य और वेदान्त का मत है कि चेतना की प्रत्येक वृत्ति पदार्थ को प्रकट करती है तथा अपने-आपको भी प्रकट करती है, जिसमें आत्मा सम्मिलित है।[2] धर्मकीर्ति के मतानुसार, हम बौद्धधर्म के चार सत्यों को, जो ज्ञान के

मौलिक संवेदना अपने पीछे, एक गहरा प्रभाव छोड़ जाती है जो अवसर पाकर तथा उचित अवस्था में एक ऐसी संवेदना को उत्पन्न करता है जिसे स्मृतिजन्य कहा जाता है और जो मौलिक नहीं होती। देखिए सेमन की 'नेमिक साइकोलॉजी।'

1 दीपिका, 34।

2 न्याय-वैशेषिक का मत कुमारिल के मत से भिन्न है। कुमारिल का मत है कि बोध का अनुमान पदार्थ की ज्ञातता से होता है। जैन दार्शनिकों, वेदान्तियों, तथा कुछेक बौद्धों का ऐसा विश्वास है कि बोध का बोध अपने से होता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार, बोध अपने ही ऊपर मुड़कर स्वयं बोध का विषय नहीं बन सकता। यह बोध परप्रकाशक है, स्वप्रकाशक नहीं है। यह एक अन्य बोध के द्वारा अभिव्यक्त होता है, क्योंकि यह एक कपड़े की भांति ज्ञान का विषय है (ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् पटादिवत्)। उक्त मत की जो आलोचना जैन दार्शनिकों ने की है वह संक्षेप में इस प्रकार रखी जा सकती है (1) जिस प्रकार सुख का बोध अपने-आपमें होता है दूसरे से नहीं, ईश्वरीय ज्ञान भी अपने-आपसे होता है दूसरे से नहीं, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मबोध को भी स्वतः ज्ञान मानना चाहिए, अन्यथा एक बोध को जानने के लिए दूसरे बोध की और उसके बोध के लिए एक अन्य बोध की आवश्यकता होगी और इस प्रकार शृंखला का कहीं अंत न होगा। (2) इस थोथी युक्ति की आलोचना कि ईश्वर के अन्दर दो बोध हैं, एक तो वह जो समस्त विश्व का बोध ग्रहण करता है और दूसरा वह जो इस बोध का बोध ग्रहण करता है सरलता के साथ हो सकती है। दूसरे बोध का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है या नहीं? यदि होता है तो अपने आपसे होता है या किसी अन्य से? यदि अपने-आपसे होता है तो क्यों न हम वही क्षमता पहले में भी मान लें? यदि दूसरे से होता है तो इस शृंखला का कहीं अन्त न होगा। यदि हम कहें कि दूसरे का ज्ञान पहले से होता है तो हम एक चक्रक दोष में आ जाते हैं। यदि दूसरे का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता और यदि वह बिना अपना प्रत्यक्ष ज्ञान हुए पहले का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है, तो क्या पहला अपना प्रत्यक्ष ज्ञान हुए बिना भी समस्त विश्व का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता? हमें स्वीकार करना ही होगा कि ईश्वरीय ज्ञान स्वतः ज्ञान है। समस्त विश्व का बोध ग्रहण करने में यह अपना बोध भी ग्रहण करता है। इस प्रश्न पर ईश्वरीय तथा मानवीय ज्ञान में कोई भेद नहीं है। अपने-आपको तथा अन्य को अभिव्यक्त करने का लक्षण (स्वपरप्रकाशक) चैतन्य के अन्दर है, वह चाहे मानवीय हो अथवा ईश्वरीय हो। किन्तु सर्वज्ञता सामान्य लक्षण नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल ईश्वरीय चैतन्य के साथ है। (3) प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा पश्चात्-बोध (अनुव्यवसाय) का कोई प्रमाण नहीं मिलता। न्याय के इस मत को कि अनुव्यवसाय में आत्मा का मन के साथ सम्पर्क रहता है, स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि मन का अस्तित्व असिद्ध है। (4) यदि एक बोध दूसरे से जाना जाता है तो जब तक पहला बना रहता है दूसरा उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि बोध पूर्वानुपर होते हैं। और जब

साधारण साधनों की पहुंच से परे हैं, यौगिक अन्तर्दृष्टि से प्रत्यक्ष देखते हैं जो समस्त भ्रम से उन्मुक्त है और बौद्धिक दोष से भी रहित है,[1] यद्यपि स्वरूप में वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही है। प्रत्यक्ष ज्ञान की नानाविध श्रेणियां हैं। बिल्लियां घने अन्धकार में भी पदार्थों को देख सकती हैं और गिद्ध अपने शिकार को बहुत दूर से ताक लेते हैं। निरन्तर ध्यान का अभ्यास करने से मनुष्य इन्द्रियातीत अर्थात् दिव्यदृष्टि प्राप्त कर सकता है, और समीप व दूर के, भूत और भविष्य के तथा सुदूर और दृष्टि से ओझल सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[2] इस अत्यन्त उच्च श्रेणी के अन्तर्ज्ञान में अन्तर्दृष्टि की व्यवधानशून्यता होती है। हमारी दृष्टि में जो चमत्कार प्रतीत होता है, ऋषियों के लिए वही एक प्राकृतिक देन है। हमारी विमूढ़ दृष्टि को जो अत्यन्त जटिल और रहस्यपूर्ण प्रतीत होता है, ऋषियों को वही हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाता है। यहां हर एक वस्तु रूपान्तरित है। सबसे निचले धरातल में पिण्डीभूत पदार्थों का सीधा-सादा इन्द्रियजन्य ज्ञान है और सर्वोच्च धरातल पर यौगिक अन्तर्दृष्टि है। प्रथम प्रकार का ज्ञान प्रकृत एकजन्मा मनुष्य का है, जबकि दूसरे प्रकार का ज्ञान आध्यात्मिक द्विजन्मा पुरुष का है। पहले प्रकार का ज्ञान आत्मान्वेषण का महान संघर्ष प्रारम्भ होने से पहले आता है, और दूसरे प्रकार का उस संघर्ष के अन्त में आता है। दूसरा ज्ञान एक सिद्धि है जो ज्ञान की परिपक्व अवस्था एवं आन्तरिक वेदना का परिणाम है यौगिक अन्तर्दृष्टि यथार्थ का ज्ञान, जैसाकि वह है, उसकी पूर्णता और एकलयता में प्राप्त करती है।[3] यौगिक अन्तर्दृष्टि तथा ईश्वरीय सर्वज्ञता में इतना अन्तर है कि पहली उत्पन्न होती है और दूसरी नित्य है।[4]

गंगेश लौकिक तथा अलौकिक प्रत्यक्ष में भेद करता है। अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं जो तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्षों, अर्थात् सामान्य लक्षण,

पहला नष्ट हो गया तो वह उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि तब बोध करने को कुछ विषय नहीं रहा। यदि यह पहले ज्ञान का, जिसका अब अस्तित्व नहीं है, बोध ग्रहण करता है तो यह द्विगुण चन्द्रमा के बोध के समान एक भ्रान्ति है। (5) यदि दूसरे बोध का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो इसे अवश्य अन्य बोध के द्वारा होना चाहिए और इस प्रकार इस शृंखला का कहीं अंत न होगा। यदि दूसरे बोध का प्रत्यक्ष नहीं होता तो स्वयं अज्ञात बोध पहले बोध का ज्ञान किस प्रकार करा सकता है? इसका अर्थ होगा कि मेरे बोध का ज्ञान किसी अन्य के बोध को हो सकता है जिसे मैं नहीं जानता। (6) इस प्रकार के तर्क पर कि जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियां नहीं जानी जातीं, यद्यपि वे पदार्थ के ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार अज्ञात दूसरा बोध पहले बोध को उत्पन्न कर सकता है, विश्वासपूर्वक बल नहीं दिया जा सकता। क्योंकि, उस अवस्था में यह मानना होगा कि बाह्य विषय का पहला बोध अपने विषय का बोध ग्रहण करता है, यद्यपि वह अपने-आप अज्ञात है, और यह एक ऐसी स्थिति है जिसे न्याय-वैशेषिक अस्वीकार करता है ('प्रमेयकमलमार्तण्ड', पृष्ठ 34 से आगे)।

1 और देखिए 'न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ 14-15। देखिए वैशेषिक सूत्र, 9 : 1, 13, इण्डियन लॉजिक एंड ऐटामिज्म, पृष्ठ 81 से आगे।

2 'न्यायमंजरी', पृष्ठ 103। भासर्वज्ञ का मत है कि ईश्वर की कृपा से भी यौगिक शक्तियां प्राप्त की जा सकती हैं।

3 समाधि के बल से प्राप्त जो अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान ऋषियों का है उसे कभी-कभी प्रतिभा भी कहा जाता है, यद्यपि 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग प्रायः अंतःप्रेरणाजन्य उस चमक के लिए होता है जो साधारण मनुष्यों में भी कभी-कभी दिखलाई पड़ती है (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 258)।

4 प्रशस्तपाद योगियों की अन्तर्दृष्टि के दो भेद बताता है (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 187)। 'न्यायकन्दली', पृष्ठ 195 से आगे। और देखिए 'उपस्कार', 9 : 1, 11।

ज्ञानलक्षण और योगज धर्म द्वारा उत्पन्न होते है।[1] अन्तिम यौगिक अतर्दृष्टि है। जब हम पदार्थों का जातिगत ज्ञान प्राप्त करते है तो यह सामान्य लक्षण है। प्राचीन न्याय सामान्यता के प्रत्यक्ष ज्ञान को स्वीकार करता है। गणेश के अनुसार, सामान्यो के ज्ञान मे बुद्धि के कार्य की विशेष महत्ता रहती है। किसी एक पदार्थ के जातिगत सामान्य धर्म के ज्ञान के द्वारा हम उस जाति के अन्य सभी पदार्थों को हर समय और हर स्थान मे जानने मे समर्थ होते है। यदि इस प्रकार का ज्ञान हरएक अवस्था मे हो सके तब तो हम सर्वज्ञ होते प्रतीत होगे। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए विश्वनाथ कहते है कि हम इस प्रकार से उन सब पदार्थों का केवल सामान्य ज्ञान ही प्राप्त करते है किन्तु उनके पारस्परिक भेद को जान नही पाते। सामान्य धर्म का ज्ञान बिना इद्रिय-सम्पर्क के होता है ऐसा कहा जाता है, क्योकि ऐसी अवस्था मे भी, जहा हमे धुआ नही दिखाई देता, सामान्य धर्म का ज्ञान हो सकता है। वहा पर पदार्थ-विशेष और सामान्य धर्म दोनो ही प्रकट है, वास्तविक रूप मे विद्यमान है और उनका साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान भी होता है। सामान्य धर्म मानसिक रचना नही है, बल्कि एक यथार्थ सारतत्त्व है जो पदार्थों के अन्दर निहित रहता है। यह सारतत्त्व हमे उन सब पदार्थों का स्मरण कराता है जिनमे इसकी प्रतीति होती है। सामान्य धर्म और पदार्थ-विशेष के सम्बन्ध का स्वरूप अभिन्न है और ये अवयवावयवी-भाव से अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान रहते है। सामान्य धर्म का ज्ञान ही अनुमान की प्रक्रियाओ द्वारा सामान्य सम्बन्धो की पूर्वानुभूति को सम्भव होने देता है।[2] जब हम चन्दन की लकडी को देखते है तो ज्ञान लक्षण हो जाता है, किन्तु सुगन्ध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय द्वारा ही होता है। चक्षु-इन्द्रिय के सन्निकर्ष के साथ-साथ सुगन्ध की स्मृति भी हो जाती है और उससे मन का सम्पर्क होता है। यह परोक्ष ज्ञान है। इसी का दूसरा नाम स्मृतिज्ञान भी है।

जैन दार्शनिको का विचार है कि यह चेतना की एक मिश्रित स्थिति (समूहालम्बनज्ञानम्) है जिसमे चन्दन का दृष्टिगत होना तथा सुगन्ध का विचार एक साथ मिश्रित है। 'वेदान्त परिभाषा' का मत है कि ज्ञान के एक विषयवस्तु मे दो तत्त्व हैं, एक तात्कालिक ज्ञान और दूसरा व्यवहित ज्ञान[3], जबकि जैन तथा अद्वैतवादी अलौकिक सन्निकर्ष को नही मानते, नैय्यायिक इसे मानते है। वे चेतना की मिश्रित स्थितियो को स्वीकार नही करते। प्रत्येक मनोविकार अपने-आपमे एक इकाई है और भिन्न है तथा मन का सूक्ष्म-स्वरूप एक साथ ही दो मनोविकारो की सम्भावना को असम्भव बनाता है इसलिए वे सुगन्धित चन्दन के चाक्षुष ज्ञान को एक साधारण मनोविकार मानते है, यद्यपि इससे पूर्व चन्दन का प्रत्यक्ष ज्ञान और सुगन्ध की स्मृति विद्यमान थी। श्रीधर और जयन्त का विचार है कि चाक्षुष ज्ञान सुगन्ध के पूर्वज्ञान की पुनरावृत्ति से सम्बद्ध है, और सुगन्धित चन्दन का वर्तमान ज्ञान चक्षु इन्द्रिय की अपेक्षा मन

1 और देखिए लौगाक्षि भास्करकृत 'तर्ककौमुदी', पृष्ठ 9, और विश्वनाथकृत 'भाषापरिच्छेद', विभाग 3।

2 'वेदान्तपरिभाषा' (1) का मत है कि अलौकिकप्रत्यक्ष को स्वीकार कर लेने पर अनुमान तथा अन्य प्रमाण अनावश्यक ठहरते हैं।

3 सुरभिचन्दनमित्यादिज्ञानमपि चन्दनखंडांशे अपरोक्ष गौरभांशे तु परोक्षम् (1)

के कारण अधिक है।[1] आधुनिक मनोविज्ञान इस घटना की व्याख्या प्रत्यय-साहचर्य (association of ideas) के सिद्धान्त के आधार पर करता है। योगज धर्मलक्षण वह है जो समाधिस्थ ध्यान से उत्पन्न होता है।

प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की घटना के स्वरूप का विवेचन जैसे कि "यह वही घडा है जिसे मैंने देखा था," यह ज्ञान साधारण है या मिश्रित, इसका विवेचन नैय्यायिकों ने किया है। क्या प्रत्यभिज्ञा की अवस्था दो ज्ञानों का सम्मिश्रण है—एक वह जो सीधा प्रत्यक्ष हुआ है, अर्थात् वह घडा जो दिखाई दिया और दूसरा जो स्मृति में है, अर्थात् वह घडा जिसके साथ वर्तमान घडे का तादात्म्य है? क्या यह ऐसा ज्ञान है जो अज्ञात प्रत्यक्ष है तथा अज्ञात स्मृति है जैसाकि प्रभाकर मानता है, या विशुद्ध स्मृति या विशुद्ध अनुभूति है? बौद्ध इसको अनुभवात्मक तथा स्मरणात्मक मानसिक अवस्थाओं का यान्त्रिक सम्मिश्रण मानते हैं।[2] यह अकेला अनुभवात्मक या स्मरणात्मक मनोविकार नहीं है, क्योंकि इसका कारण केवल इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं है क्योंकि भूतकाल के पदार्थ के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष हो नहीं सकता, और इसका कारण केवल संस्कार भी नहीं है, क्योंकि इस पहचान में 'यह' की चेतना विद्यमान है और यह इन दोनों का सम्मिश्रण भी नहीं है, क्योंकि दोनों पृथक्-पृथक् क्रिया करते हैं और दोनों के प्रभाव भी भिन्न हैं। यदि हम यह मान भी लें कि प्रत्यभिज्ञारूपी घटना अपने-आपमें एक पृथक् प्रभाव है तो प्रश्न उठता है कि इसका उद्दिष्ट पदार्थ क्या है? भूतकाल की घटना उद्दिष्ट पदार्थ नहीं हो सकती, क्योंकि उस अवस्था में प्रत्यभिज्ञा स्मृति से भिन्न नहीं ठहरती। भविष्य की घटना भी नहीं, क्योंकि उस अवस्था में प्रत्यभिज्ञा तथा रचनात्मक कल्पना में कोई भेद न रहेगा। केवल वर्तमान पदार्थ भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा का कार्य वर्तमान पदार्थ की भूतकाल के पदार्थ के साथ समता दिखाना है। इस प्रकार का मत प्रकट करना कि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ऐसे पदार्थ का ज्ञान होता है जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान में भी विद्यमान है, परस्पर विरोधी कथन होगा। इसलिए नैय्यायिक का कहना है कि प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार का विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान है जो हमें वर्तमान में अवस्थित पदार्थों का ज्ञान भूतकाल के गुणों के साथ विशिष्ट रूप में कराता है। हम एक पदार्थ को देखते हैं और पहचानते हैं कि इसे पहले भी देखा था।[3] मीमांसक और वेदान्ती इस मत का समर्थन करते हैं, जबकि जैन दार्शनिकों का तर्क है कि पहचानने की अवस्था यद्यपि साधारण है तो भी प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा स्मृति से स्वरूप में भिन्न है।[4] उनके अनुसार प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में अनुमान का अंश समाविष्ट रहता है। हम जिस समय एक वृक्ष को देखते हैं तो वस्तुत: केवल उसके एक भाग को ही देखते हैं, अर्थात् ऊपर के भाग के एक पार्श्व को देखते हैं। हम इन्द्रियानुभव को पदार्थ के मूर्तरूप अथवा अर्थ के साथ संश्लिष्ट करते हैं और इस प्रकार हमें पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है।[5] सम्पूर्ण पदार्थ का पूर्वज्ञान, और वर्तमान में प्राप्त किए गए उसके आंशिक ज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थ का अनुमान, ये प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रत्येक कर्म

1 देखिए 'न्यायमंजरी', पृष्ठ 461, और श्रीधरकृत 'न्यायकंदली', पृष्ठ 117।
2 और देखिए 'खण्डन', 1 : 14।
3 देखिए 'न्यायमंजरी', पृष्ठ 448 459। 'मितभाषिणी' (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, पृष्ठ 25) में कहा है "सोऽयं देवदत्त इत्यतीतवर्तमानकालविशिष्टविषयकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा।"
4 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', पृष्ठ 97 98।
5 न्यायभाष्य, 2 · 1, 30; और देखिए न्यायभाष्य, 2 · 1, 31-32।

मे समाविष्ट रहते है। स्मृति तथा अनुमान के तत्त्व सहायक हैं, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान मुख्य तत्त्व है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष से जो भी मानसिक स्थिति उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, भले ही उसमे अन्य तत्त्व भी जैसे स्मृति और अनुमान, क्यो न समाविष्ट हो।

गौतम की परिभाषा के अनुसार, भ्रान्तिरहित होना प्रत्यक्ष ज्ञान की विशिष्टता है। प्रत्येक इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रामाणिक नही होता। साधारण प्रत्यक्ष मे निम्नलिखित विषय विद्यमान रहते है . (1) पदार्थ, जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, (2) बाह्य माध्यम, जैसे चाक्षुष ज्ञान मे प्रकाश, (3) इन्द्रिय, जिसके द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है, (4) मन अथवा मुख्य इन्द्रिय, जिसकी सहायता के बिना ज्ञानेन्द्रिया अपने पदार्थो पर कार्य नही कर सकती, और (5) जीवात्मा। यदि इन पाचो मे से कोई एक भी ठीक-ठीक कार्य न करे तो भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। बाह्य पदार्थो मे या तो गति के कारण अथवा सादृश्य के कारण दोष हो सकते हैं। सादृश्य के कारण सीप चादी दिखती है। यदि प्रकाश मन्द है तो हमे पदार्थ स्पष्ट रूप मे दिखाई नही पडेगा। यदि हमारी आखो मे कोई रोग है या वे अंशत अन्धी हैं तो हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान मे भी दोष रहेगा। यदि मन किसी और जगह लगा है, या यदि जीवात्मा के अन्दर भावनावश उत्तेजना है, तो भ्रम उत्पन्न होगा।[1] भ्रमों के कारणो को तीन वर्गो मे बाटा गया है (1) दोष, अथवा इन्द्रिय मे त्रुटि, जैसे आख मे पीलिया रोग होना, (2) सम्प्रयोग, अर्थात् पदार्थ का सम्पूर्णरूप मे प्रकट न होना बल्कि उसके एक भाग या पहलू का ही गोचर होना, (3) सस्कार, अर्थात् स्वभाव अथवा मानसिक पक्षपात के विघ्नकारक प्रभाव के कारण असम्बद्ध स्मृतियो का उदय होना। रस्सी को देखकर उसमे साप का भ्रम होता है, क्योकि साप की स्मृति जाग जाती है।[2]

स्वप्नो का स्वरूप अनुभवात्मक है और उसके उद्दीपक तत्त्व बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो ही प्रकार के होते हैं। उनकी उत्पत्ति अवचेतन सस्कारो के पुनर्जीवन से होती है जिसका कारण इन्द्रिय-सम्बन्धी हलचलें तथा पिछले पुण्य व पाप होते है। भविष्यवाणी-पूर्ण स्वप्न, जिनका अस्तित्व अरस्तू तक ने स्वीकार किया है,[3] प्रेतात्माओ के प्रभाव से उत्पन्न होते है, ऐसा कहा जाता है।

कणाद स्वप्नो का कारण मुख्य इन्द्रिय, मन के साथ आत्मा का सयुक्त हो जाना बताता है, जिसमे पिछले अनुभवो के अवचेतना मे पडे हुए सस्कार सहायक होते हैं।[4] प्रशस्तपाद की दृष्टि मे स्वप्न मन के द्वारा किए गए आभ्यन्तर प्रत्यक्ष के कारण होते है, जबकि इन्द्रिया निद्रा मे दबी होती है और कार्य करना बन्द कर देती हैं।[5] पूर्वानुभूत ज्ञान के अवशिष्ट प्रभावो के आधार पर, शारीरिक वात, पित्त, कफ (त्रिदोष) के वैषम्य के कारण और अदृष्ट शक्तियो के कारण स्वप्नो की उत्पत्ति होती है। श्रीधर का कहना है कि स्वप्न केवल पूर्वानुभवों की पुनरुत्पत्ति ही नही है। उसका मत है कि वे केन्द्र की आभ्यन्तर उत्तेजनाओ से उत्पन्न होते है।[6] उदयन अपनी भिन्न सम्मति रखता है। उसके अनु-

1 न्यायमजरी', पृष्ठ 88 89, 173।
2 'न्यायबिदुटीका', पृष्ठ 12।
3 गौम्पर्ज 'ग्रीक थिकर्स' खण्ड 4, पृष्ठ 185।
4 वैशेषिक सूत्र, 9 2, 6-7।
5 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 183, 'उपस्कार', 9 2 7।
6 मनोमात्रप्रभव स्वप्नज्ञानम्।

सार, परिच्छिन्न मन स्वप्न की अवस्थाओं में कार्य करना बन्द नहीं करते। वह यह भी स्वीकार करता है कि स्वप्न कभी-कभी सच्चे निकलते हैं।[1] प्रभाकर, अपने सामान्य दृष्टिकोण के अनुरूप पूर्वानुभवों की पुनरुत्पत्ति को ही स्वप्न बनाता है, जो स्मृति के धुंधलेपन (स्मृतिप्रमोष) के कारण चेतना को तुरन्त प्रस्तुत हुए प्रतीत होते हैं। पार्थसारथि स्वप्नावस्था को स्मृति के समान बतलाता है।[2] प्रशस्तपाद स्वप्न ज्ञान और उस ज्ञान के मध्य जो निद्रा अथवा स्वप्न के समीप (स्वप्नान्तिक) होता है, भेद करता है। स्वप्नान्तिक में स्वयं स्वप्नगत अनुभवों की स्मृति होती है। भ्रान्ति, जिसका आधार (अधिष्ठान) कोई-न-कोई भौतिक तत्त्व होता है, उस माया व इन्द्रजाल से भिन्न है जिसका कुछ भी अधिष्ठान नहीं है, अर्थात् जो निरधिष्ठान है। श्रीधर उदाहरणस्वरूप में एक ऐसे व्यक्ति का रखते हैं जो किसी स्त्री के प्रेम में अन्धा हुआ-हुआ हर जगह अपनी प्रेयसी ही का रूप देखता है।[3]

7. अनुमान-प्रमाण

अनुमान का यौगिक अर्थ है 'किसी वस्तु के पश्चात् मापना'। यह वह ज्ञान है जो अन्य ज्ञान के पश्चात् आता है। चिह्न (लिंग) के ज्ञान से हम पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं जिसमें वह चिह्न विद्यमान हो। अनुमान शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में होता है जिसमें निगमन (deduction) और आगमन (induction) दोनों प्रकार की प्रक्रिया आ जाती है। अनुमान की परिभाषा कभी-कभी इस प्रकार की जाती है ऐसा ज्ञान जिससे पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है। वात्स्यायन की सम्मति में, "प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव में अनुमान हो ही नहीं सकता।" केवल उसी अवस्था में जबकि देखनेवाला आग और धुएं को एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध देख चुका है, तो वह दूसरी बार धुएं को देखकर वहां पर आग की उपस्थिति का भी अनुमान कर सकता है।[4] उद्योतकर ने प्रत्यक्ष ज्ञान और आनुमानिक ज्ञान में भेदजनक कुछ चिह्नों का निर्देश किया है। यथा (1) योगजन्य अन्तर्दृष्टि को छोड़कर अन्य समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान एक ही प्रकार का है, किन्तु अनुमान में विविधता है, (2) प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वर्तमान में विद्यमान ऐसे पदार्थों तक ही सीमित है जो इन्द्रियों की पहुंच के अन्दर आते हैं, जबकि अनुमान भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के पदार्थों से भी सम्बन्ध रखता है, (3) अनुमान में सामान्य सम्बन्ध या व्याप्ति के स्मरण की आवश्यकता है, जबकि प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं है।[5] जहां प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है वहां अनुमान के लिए कोई स्थान नहीं है।[6] हमारी इन्द्रियों की पहुंच के अन्दर जो पदार्थ हैं उनके ज्ञान के लिए हमें विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं होती।[7] अनुमान का विषय "न तो वह पदार्थ है जो अज्ञात है और न वह पदार्थ है जिसका ज्ञान

1 स्वप्नानुभवस्यापि क्वचित्सत्यत्वम्। 'कुसुमांजलि', पृष्ठ 147।
2 स्मृतिरेव सती स्वप्नज्ञानमिति निश्चीयते। श्लोकवार्तिक पर न्यायरत्नाकर, पृष्ठ 243।
3 'न्यायकंदली', पृष्ठ 179।
4 न्यायभाष्य 2 1 31।
5 न्यायवार्तिक, 2 1, 31।
6 प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः (शांकर : ड्यूसन सिस्टम ऑफ दि वेदान्त, आंग्लभाषानुवाद, पृष्ठ 88 टिप्पणी)।
7 परोक्षमिति विज्ञातुं नियमः कोऽप्यपेक्षते।

निश्चित रूप से है। केवल वही पदार्थ अनुमान के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं जिनके अस्तित्व में सन्देह है।"[1] इसका उपयोग यथार्थ के ऐसे भाग के ज्ञान के लिए किया जाता है जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्ष पदार्थ ऐसी वस्तु की ओर निर्देश करता है जो प्रत्यक्ष तो नहीं है किन्तु जिसका सम्बन्ध उसके साथ अवश्य है। भासर्वज्ञ ने अपने 'न्यायसार' में अनुमान की परिभाषा करते हुए कहा है कि यह इन्द्रियगोचर क्षेत्र से परे उस पदार्थ को जानने का साधन है जो इन्द्रियों के विषय के साथ अभिन्न सम्बन्ध रखता है। गगेश[2] शिवादित्य[3] का अनुसरण करते हुए अनुमानजन्य ज्ञान की परिभाषा करता है कि ऐसा ज्ञान जिसकी उत्पत्ति अन्य ज्ञान के द्वारा हो।

गौतम अनुमान के तीन भेद बताते हैं पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट[4]। और वात्स्यायन इस विभाग की थोड़ी भिन्न व्याख्या करता है, जिससे पता लगता है कि वात्स्यायन के पूर्व भी न्यायसूत्रों की परस्पर-विरोधी व्याख्याएं विद्यमान थीं। अनुमान में हम प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर जाते हैं जिससे यह सम्बद्ध है। और यह सम्बन्ध तीन प्रकार का हो सकता है, अनुमेय तत्त्व या तो प्रत्यक्ष तत्त्व का कारण हो सकता है, या उसका परिणाम हो सकता है अथवा दोनों ही किसी अन्य तत्त्व के संयुक्त परिणाम हो सकते हैं। जब हम बादलों को देखते हैं और उनसे वर्षा का अनुमान करते हैं तो यह 'पूर्ववत्' अनुमान है, जिसमें हम पूर्ववस्तु को देखकर परिणाम रूपी परवर्ती वस्तु के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। परन्तु इस अवस्था में अनुमान केवल कारण ही को देखकर नहीं किया गया, बल्कि पूर्व-अनुभव के आधार पर भी किया गया है। जब हम नदी में आई हुई बाढ़ को देखते हैं और अनुमान करते हैं कि वर्षा हुई होगी, तो यह शेषवत् अनुमान है, क्योंकि इसमें हम परवर्ती परिणाम को देखकर उसके पूर्ववर्ती कारण का अनुमान करते हैं। इसका प्रयोग ऐसे स्थान पर भी होता है जहां हम दो परस्पर सम्बद्ध पदार्थों में से एक को देखकर दूसरे का अनुमान करते हैं, अथवा एक भाग से या निरसन (elimination) विधि से दूसरे का अनुमान करते हैं। निरसन अथवा बहिष्कार (exclusion) विधि के सिद्धांत का एक दृष्टान्त यह है जिससे शब्द के गुण होने का अनुमान किया गया है। हम सिद्ध करते हैं कि शब्द सामान्य नहीं है, न विशेष ही है, समवाय भी नहीं है, न द्रव्य है, और न क्रिया है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इसे गुण होना चाहिए। जब हम किसी सींगों वाले पशु को देखते हैं और अनुमान करते हैं कि इस पशु के पूंछ भी है, तो यह सामान्यतोऽदृष्ट अनुमान का विषय है। इस अनुमान का आधार कार्य-कारणभाव उतना नहीं है जितनी कि अनुभव की समानता है। उद्योतकर इससे सहमत है और वह एक दृष्टान्त यह देता है कि जैसे किसी स्थान पर यदि सारस पक्षी दिखाई दें तो वहां पानी भी विद्यमान होगा, ऐसा अनुमान होता है। इसका (सामान्यतोऽदृष्ट का) उपयोग

1 न्यायभाष्य, 1 1, 1।

2 'तत्त्वचिन्तामणि', 2, पृष्ठ 2। तुलना कीजिए माणिक्यनंदी की अनुमान की इस परिभाषा से कि "साधनात् साध्यविज्ञानम्" ('परीक्षामुख सूत्र')।

3 'सप्तपदार्थी', 146।

4 तुलना कीजिए, पूर्वमीमांसा सूत्र, 1 2, 19, 22, 23 29, 3 1, 2-3, 3, 2-1, जहां 'पूर्व' और 'शेष' ये शब्द तार्किक दृष्टि से वाक्य अथवा पैराग्राफ के प्रारम्भिक और अंतिम भागों के लिए आते हैं, और कभी-कभी विधि तथा अर्थवाद का उल्लेख करने में प्रयुक्त होते हैं। पूर्व प्रधान अथवा प्राथमिक तथा शेष गौण है। यह प्रकट है कि पूर्वमीमांसा में शेष द्वारा किया गया तर्क गौण से प्रधान की ओर होगा। सम्भवत न्याय ने प्रधान तथा गौण के संबंध को कारण-कार्य संबंध मानकर व्याख्या की है। देखिए प्रोफेसर ध्रुव का लेख 'त्रिविधम् अनुमानम्' पर, जो 'प्रोसीडिंग्स आफ दि ओरियण्टल कान्फ्रेंस,' पूना में पृष्ठ 265 पर दिया गया है।

इन्द्रियातीत तथ्यों के अनुमान का निर्देश करने के लिए भी किया गया है।[1] हम धूप वाले भिन्न-भिन्न स्थानों को देखते हैं, और यद्यपि सूर्य को न भी देख सकें तो भी अनुमान कर लेते हैं कि सूर्य अवश्य गतिमान है। विरक्ति तथा स्नेह आदि भावों को देखकर हम जीवात्मा के अस्तित्व का अनुमान करते हैं, जिसका हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।[2]

उक्त सब दृष्टान्त यह प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त हैं कि व्यापक सम्बन्ध की, जिसे व्याप्ति कहा जाता है, विद्यमानता को स्वीकार करना आवश्यक है। प्रत्येक व्याप्ति दो तत्त्वों को जोड़ती है – एक व्यापक, अर्थात् जो फैला हुआ है, और दूसरा व्याप्य अर्थात् जिसमें वह (व्यापक) फैला है। अनुमान इस निश्चित तथ्य से कि इस पदार्थ में एक ऐसा गुण है जो एक अन्य गुण के साथ सहचारी रूप में व्याप्त पाया जाता है, एक निष्कर्ष पर पहुँचना है। हम इस विषय का निश्चय, कि पहाड़ में आग लगी है, इस तथ्य से करते हैं *कि पहाड़ में धुआं है, और धुएं के साथ आग सर्वत्र रहती है।* चिह्न के विचार से अर्थात् धुएं से हम अनुमान करते हैं कि वह पदार्थ जिसमें धुआं है उसमें आग भी है। उद्योतकर के अनुसार अनुमान, चिह्न तथा स्मृति के एक साथ मिलने से बने तर्क से उत्पन्न होता है[3] अथवा उस ज्ञान से जिसके पूर्व हेतु का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है और इस स्मृति से कि उसका साध्य के साथ निरन्तर साहचर्य है, उत्पन्न होता है। अनुमान-विषयक तर्क के भिन्न-भिन्न अवयव परार्थानुमान से प्रकट होते हैं।

8. परार्थानुमान

परार्थानुमान के पांच अवयव हैं (1) प्रतिज्ञा, अर्थात् वह विषय जिसे सिद्ध करना है – पहाड़ में आग लगी है, (2) हेतु अथवा कारण क्योंकि इसमें धुआं है; (3) उदाहरण, अथवा साधर्म्यनिदर्शक दृष्टान्त जहां-जहां धुआं दिखाई देता है वहां-वहां आग भी रहती है, उदाहरण के रूप में रसोईघर, (4) उपनय, अथवा प्रयोग इसी प्रकार का

1 कीथ का विचार है कि यह व्युत्पत्ति (अर्थ) असम्भव है (इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज्म, पृष्ठ 88 टिप्पणी)।

2 उद्योतकर वात्स्यायन द्वारा दिए गए अनुमान विषयक इस दृष्टान्त की आलोचना करता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों में और भिन्न-भिन्न समयों में सूर्य के प्रकट होने से यह अनुमान होता है कि सूर्य गतिमान है। उसका कहना है कि हम सूर्य के गति के भिन्न-भिन्न भागों को का देखते हैं, सूर्य की गति को नहीं देखते। यह ध्यान में रखना चाहिए कि उद्योतकर, पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट को अनुमान के तीन प्रकार नहीं मानता, बल्कि प्रामाणिक अनुमान की तीन शर्तें मानता है (1) पूर्ववत् का अभिप्राय है कि मध्यम पद (हेतु) पूर्व, अर्थात् साध्य के साथ अनिवार्य साहचर्य में होना चाहिए, (2) शेषवत् का अभिप्राय है कि मध्यम पद (हेतु) अन्य (शेष) स्थानों पर साध्य के साथ अनिवार्य साहचर्य में दिखाई देना चाहिए, (3) सामान्यतोऽदृष्ट शब्द सामान्यतः और अदृष्ट इन दो शब्दों से मिलकर बना है और इसका अभिप्राय है कि मध्यम पद (हेतु) विषय (साध्य) तथा विशेष के अभाव (साध्याभाव) दोनों में एकसमान नहीं होना चाहिए अर्थात् यह अनिश्चाप्ति दोष से युक्त नहीं होना चाहिए, जो साधारण का हेत्वाभास है। इसके साथ दो अन्य शर्तों को भी, जो 'च' से उपलक्षित होती हैं, सूत्र के अन्त में जोड़ दिया गया है, अर्थात् अनुमान को प्रत्यक्ष ज्ञान तथा श्रौत (श्रुति विषयक) प्रमाण का विरोधी नहीं होना चाहिए। एक अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में इन पांचों शर्तों की पूर्ति होनी चाहिए और केवलान्वयी अथवा केवलव्यतिरेकी अनुमान में चार शर्तों की पूर्ति होनी चाहिए।

3 स्मृत्यनुगृहीतो लिंगपरामर्शोऽनुमानम् (न्यायवार्तिक, 1, 1, 5)।

यह पहाड भी है, (5) निगमन, अथवा निष्कर्ष · इसलिए पहाड़ पर आग लगी हुई है।[1]

प्रतिज्ञा एकदम प्रारम्भ मे ही उस विषय को प्रस्तुत करती है जिसे सिद्ध करना है। यह समस्या प्रस्तुत करती है और जांच की सीमा का भी निर्धारण कर देती है। सुझाव अथवा प्रस्तावित विषय, जिसे सिद्ध करना है, प्रारम्भ से ही प्रक्रिया पर नियन्त्रण रखता है और अनुमान उसे सुदृढ करने मे शक्ति देता है। प्रतिज्ञा केवल एक 'प्रस्ताव या सम्भावनामात्र' है।[2] तर्क आगे बढ ही नही सकता जब तक कि हम प्रतिज्ञा मे उपस्थित विषय के सम्बन्ध मे अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा प्रकट न करें। प्रतिज्ञा के दो भाग होते है, अर्थात् एक उद्देश्य जिसका ज्ञान होता है और जो आम तौर पर या तो एक व्यक्तिरूप पदार्थ होता है या कोई वर्ग-विशेष होता है जिसे एक इकाई के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है[3] और दूसरा भाग विधेय है जिसको सिद्ध करना होता है। 'पहाड पर आग लगी हुई है', इस वाक्य मे 'पहाड' उद्देश्य पक्ष अथवा धर्मी है, और 'आग लगी' यह विधेय अर्थात् साध्य, धर्म अथवा अनुमेय है, अर्थात् जिसका अनुमान किया जाना है। उद्देश्य हमारे ध्यान को यथार्थ के एक भाग की ओर आकृष्ट करता है, और विधेय उद्देश्य को विशिष्ट बना देता है, यह बताकर कि इसमे अमुक गुण विद्यमान है या यह उन पदार्थो के वर्ग मे शामिल है जो अमुक गुण रखते है। परार्थानुमान का कार्य यह सिद्ध करना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयरूपी उद्देश्य मे वह विशेषता है जिसका विधेय मे निर्देश किया गया है। सयोजक अथवा विधेय वाचक क्रियापद भाषा का एक आकस्मिक पद है, यह प्रतिज्ञा का आवश्यक भाग नही है।[4] प्रतिज्ञा को प्रत्यक्ष ज्ञान के अथवा आम्नाय (श्रुति) के विरुद्ध न होना चाहिए। दिङ्नाग के अनुसार ऐसी प्रतिज्ञाएं जो बुद्धिगम्य नही हैं, स्वय मे विरोधी हैं, अथवा स्वत.प्रकाश्य हैं, प्रतिपाद्य विषय नही बन सकती।[5] उनमे अपरिचित पद नही रहने चाहिए तथा वे स्वीकृत सत्यधारणाओ के विपरीत नही होनी चाहिए और अपने सुनिश्चत विश्वासो के विपरीत नही होनी चाहिए।[6] यह पता लगाने के लिए कि 'क' 'ख' है, यह प्रतिज्ञा सत्य है अथवा नही, हम पक्ष को लेते है, उसके पृथक्-पृथक् तत्त्वो का विश्लेपण करते है, उसके अन्दर हेतु की विद्यमानता को खोजते है। प्रत्येक तर्क मे प्रतिज्ञा के बाद पक्ष का विश्लेपण आता है। परार्थानुमान का दूसरा अवयव पक्ष मे हेतु, या आधार, साधन, या सिद्ध करने के उपाय लिंग या चिह्न की विद्यमानता को बताता है। इससे उसमे ऐसा विशिष्ट लक्षण (पक्षधर्मता) प्राप्त होता है कि यह निष्कर्ष का विषय बन जाता है। पहाड मे धुआ दिखाई देता है। पक्षता अनुमान की एक आवश्यक शर्त है। कोई भी

1 न्यायसूत्र, 1 1, 32। तुलना कीजिए प्रशस्तपाद द्वारा दी गई सज्ञाओ से (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, पृष्ठ 233) प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसधान और प्रत्याम्नाय। पारिभाषिक शब्दो का यह भेद प्रदर्शित करता है कि वैशेषिक के तार्किक विचारो का स्वतन्त्र रूप मे विकास हुआ। वात्स्यायन निर्देश करता है कि परार्थानुमान मे ऐसे अश हैं जो भिन्न-भिन्न प्रमाणो से आए हैं। पहला शाब्दिक है, दूसरा आनुमानिक है, तीसरा प्रत्यक्ष-सम्बन्धी है, चौथा उपमान-सम्बन्धी है, और निष्कर्ष प्रदर्शित करता है कि ये सब उसी समस्या पर आधारित हैं (न्यायभाष्य, 1 1, 1)।

2 न्यायभाष्य, 1 . 1, 39।

3 न्यायसूत्र, 2 2, 66।

4-5 देखिए 'हिस्टरी आफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ 290। और देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, पृष्ठ 234, और वैशेषिक सूत्र, 3 . 1, 15।

6 और देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, पृष्ठ 234, वैशेषिक सूत्र, 3 1, 15।

पहाड़ पक्ष नहीं है। यद्यपि जैसे ही हमें उसमें धुआं दिखाई देता है और हम अनुमान से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उसमें आग भी है, वह पक्ष बन जा सकता है। किन्तु यदि हमें उसमें आग भी दिखाई देती है, तो पहाड़ पक्ष नहीं रहता। अन्न भट्ट ने पक्ष की परिभाषा इस प्रकार की है कि पक्ष वह कर्ता है जिसमें विधेय या साध्य का होना संदिग्ध है।[1] पक्ष पद में अधिक प्रस्तुत विषय है। परार्थानुमान के लिए आवश्यक तीन पद अब हमारे पास हो गए हैं, एक पक्ष, जिसके विषय में किसी बात का अनुमान किया गया है, दूसरा साध्य, जिसका अनुमान पक्ष के विषय में किया गया है, और तीसरा हेतु, जिसके द्वारा पक्ष के विषय में साध्य की सत्यता का अनुमान किया गया है।

हेतु के पक्ष में विद्यमान होने मात्र से ही, जिसे पक्षधर्मता कहते हैं, अनुमान तब तक प्रामाणिक नहीं हो सकता जब तक कि एक व्यापक सम्बन्ध हेतु और साध्य के बीच में स्थापित न हो। तीसरा अवयव, उदाहरण, 'जहां जहां धुआं है वहां-वहां आग रहती है जैसे रसोईघर में,' हमें अनुमान के आधार, साध्यपद की ओर ले जाता है। गौतम के अनुसार, उदाहरण से तात्पर्य एक ऐसे समान दृष्टान्त से है जहां साध्य का आवश्यक गुण विद्यमान हो। वात्स्यायन का भी यही मत प्रतीत होता है। यहां हम यह जताने की आवश्यकता नहीं है कि ये दोनों विचारक 'उदाहरण' को एक सामान्य नियम के दृष्टान्त रूप में स्वीकार करते हैं। सम्भवतः उनका विचार यह था कि समस्त तर्क विशिष्ट से विशिष्ट की ओर है। कुछेक विशिष्ट पदार्थों में एक विशेष गुण रहता है। एक या अनेक विशिष्ट पदार्थ उनके साथ कुछ अन्य गुणों में सादृश्य रखते हैं। इसलिए वे उस विशेष गुण में भी उनके साथ सादृश्य रखते हैं। यह हो सकता है कि न्यायशास्त्र का परार्थानुमान उदाहरण द्वारा प्रस्तुत तर्क में विकसित हुआ हो। उदाहरण को अरस्तू ने भी स्वीकार किया है।[2] किन्तु शीघ्र ही यह जाना गया कि यद्यपि यह ऐसी विधि है जिसके अनुसार हम प्रायः तर्क करते हैं, फिर भी यह तार्किक अनुमान नहीं है कि जहां निष्कर्ष पदों द्वारा समर्थित होता है। तर्क अप्रामाणिक ठहरता है, यदि उदाहरण सामान्य नियम का निर्देश न करता हो। साधर्म्य जातिगत स्वरूप (सामान्य) का संकेत करता है। प्रशस्तपाद साहचर्य की धारणा से अवगत हैं और इसे कणाद का मत घोषित करता है।[3] परवर्ती तर्कशास्त्र तीसरे अवयव (उदाहरण) की सामान्य सम्बन्ध के साथ तुलना दिखाता है।[4] जब तक कि चिह्न और अनुमानित लक्षण में सतत व्याप्ति विद्यमान न हो तब तक अनुमान हो ही नहीं सकता। 'वेदान्तपरिभाषा' का कहना है कि 'व्याप्ति का ज्ञान ही अनुमान का साधन है।'[5] उदाहरण के वर्णन करने का तात्पर्य है कि अनुमान दोनों प्रकार का होता है, अर्थात् आगमन और निगमन। सामान्यीकरण का आधार उदाहरण होते हैं और इससे हमें नये तथ्यों को तर्क के द्वारा जानने में सहायता मिलती है। दिङ्नाग ने उदाहरण के सहायक और गौण महत्त्वपूर्ण स्वरूप पर बल दिया है। धर्मकीर्ति का मत है कि उदाहरण अनावश्यक है और इसका उपयोग केवल मनुष्य को समझाने में सहायक के रूप में किया जाता है। उदाहरण विषय को स्पष्ट भले ही कर सकता है किन्तु यह नियम की व्यापकता को स्थापित नहीं कर सकता। डा० सील के

1 'तर्कसंग्रह', 49 और 51। संदिग्धसाध्यवान् पक्षः।

2 तुलना कीजिए थीब्स के विरुद्ध एथेंस का युद्ध दुष्टतापूर्ण था, क्योंकि वह युद्ध पड़ोसियों के मध्य था जैसा कि फोसिस के विरुद्ध थीब्स का युद्ध था।

3 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 205।

4 व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणम् ('तर्कसंग्रहदीपिका', 46)।

5 अनुमितिकरणञ्च व्याप्तिज्ञानम्, 2।

अनुसार, "साध्य पद (major premise) सम्बन्धी मिल के इस मत का कि वह पहले देखे गए तत्सदृश दृष्टान्तो का एक सक्षिप्त स्मरणपत्र है जिसमे उसे अनदेखी स्थितियो मे लागू करने की सिफारिश भी रहती है, और अरस्तू के इस मत का कि वह एक व्यापक प्रस्थापना है जो अनुमान का आधार है, उदाहरण मे मिश्रण और पूर्ण सामजस्य हो जाता है।'[1] उदाहरण भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते है—सजातीय अर्थात् स्वीकारात्मक (साधर्म्य जहा कि साध्य गुण और हेतु उपस्थित है जैसेकि रसोईघर, और विजातीय अथवा निषेधात्मक (वैधर्म्य) जहा कि साध्य गुण और हेतु दोनो ही अनुपस्थित है जैसे कि झील।[2] दिड्नाग इन दोनो मे सादृश्यबोधक उदाहरण और जोड देता है। वह दस प्रकार के हेत्वाभासो का भी वर्णन करता है जिनका सम्बन्ध उदाहरणो के साथ है, जबकि सिद्धसेन दिवाकर छ प्रकार के हेत्वाभास सजातीय उदाहरणो के बारे मे और छ प्रकार के विजातीय उदाहरणो के बारे मे बताता है।

हेतु अर्थात् मध्यपद की व्याप्ति के विषय मे यह कहा जाता है कि (1) हेतु के लिए पक्ष के कुल क्षेत्र को व्याप्त करना आवश्यक है, जैसाकि इस दृष्टान्त मे है 'शब्द अनित्य है क्योकि यह उत्पन्न पदार्थ है।" यहा हेतु अर्थात् उत्पन्न पदार्थ अपने अन्दर शब्द की प्रत्येक अवस्था को रखता है, (2) हेतु द्वारा निर्दिष्ट सब पदार्थ उन पदार्थों के सजातीय होने चाहिए जिनका निर्देश साध्य द्वारा होता है, जैसा कि इस दृष्टान्त मे है "सब उत्पन्न पदार्थ अनित्य है, और (3) साध्य के विजातीय किसी भी पदार्थ का हेतु मे समावेश नही होना चाहिए "कोई भी नित्य उत्पन्न पदार्थ नही है।" दिड्नाग इस पर बल देता है कि हेतु को व्यापक रूप से और सतत रूप से साध्य के साथ सम्बद्ध रहना चाहिए। उद्योतकर का तर्क है कि हेतु और साध्य मे व्यापक सम्बन्ध रहना चाहिए, यथा जहा-जहा साध्य है वहा-वहा हेतु भी होना चाहिए और जहा-जहा साध्य नही है वहा वहा हेतु भी नही होना चाहिए। प्रशस्तपाद भी इसी मत का समर्थन करता है जब वह यह कहता है कि लिंग अथवा हेतु वह है जो अनुमेय पदार्थ के साथ सम्बद्ध रहता है, और जिसके बारे मे हम यह जानते है कि जहा-जहा वह पदार्थ उपस्थित है वहा-वहा वह है और जहा-जहा वह पदार्थ अनुपस्थित है वहा-वहा वह भी नही है।[3] वरदराज हेतु की पाच विशेषताओ का वर्णन करता है, वे ये है—(1) पक्षधर्मता, अर्थात् हेतु का पक्ष मे विद्यमान रहना, जैसे पहाड मे धुए का होना, (2) सपक्षसत्त्व अर्थात् हेतु का साध्य के सजातीय निश्चयात्मक उदाहरणो मे विद्यमान रहना, जैसे कि धुए का रसोईघर मे होना, (3) विपक्षसत्त्व, अर्थात् साध्य के विजातीय निषेधात्मक उदाहरणो

1 दि पीज़िटिव साइसेज आफ दि ऐंशियण्ट हिन्दूज पृष्ठ 252।
2 न्यायभाष्य 1 1 36-37।
3 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह पृष्ठ 200।
यदनुमेयेन सम्बद्ध प्रसिद्ध च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गनुमापकम्॥
धर्मकीर्ति का विचार है कि जब तक उन पदार्थों मे, जिनमे अनुमेय विद्यमान है हेतु उपस्थित नही है, तथा उन सब पदार्थों मे जिनमे अनुमेय नही पाया जाता हेतु अनुपस्थित नही है, तब तक अनुमान की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। सिद्धसेन दिवाकर हेतु की परिभाषा इस प्रकार करता है कि हेतु वह है "जो साध्य के अतिरिक्त अन्य किसीके सम्बन्ध मे उपस्थित नही रहता। धुआ आग के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ से उत्पन्न नही हो सकता।

में हेतु का अनुपस्थित रहना, जैसे झील में धुआ नही है, (4) अबाधितविषयत्व, अथवा पक्ष के साथ सधानुकूलता; और (5) असत्प्रतिपक्षत्व, अर्थात् विरोधी शक्तियों का अभाव।[1] नितान्त स्वीकारात्मक एवं नितान्त निषेधात्मक अनुमानों मे विशुद्ध हेतु केवल चार प्रकार की आवश्यकताओं की ही पूर्ति करता है, क्योंकि यह निश्चयात्मक और निषेधात्मक दोनों मे समान रूप से विद्यमान नहीं रह सकता। अन्न भट्ट के मत से अनुमान तीन प्रकार का होने के कारण हेतु भी तीन प्रकार का है (1) निश्चयात्मक और निषेधात्मक (अन्वयव्यतिरेकी), जहा कि हेतु सतत रूप मे साध्य के साथ रहता है, जैसे आग के साथ धुआ। जहा-जहा धुआ है वहा-वहा आग है, जैसे रसोईघर मे, और जहा आग नही है वहा धुआ भी नही है, जैसेकि झील मे[2]; (2) केवल निश्चयात्मक (केवलान्वयी), जहा हमे केवल स्वीकारात्मक और सतत साहचर्य मिलता है, जैसे "जो जाना जा सकता है उसका नाम भी रखा जा सकता है," जहाँ हमे इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए निषेधात्मक दृष्टान्त नही मिल सकता कि "जिसे नाम नही दे सकते उसे जान भी नही सकते।" और (3) केवल निषेधात्मक (केवलव्यतिरेकी) जहा एक निश्चयात्मक दृष्टान्त सम्भव नही है। उन सभी सत्ताओ मे जिनमे पशु-क्रियाए हैं जीवात्मा विद्यमान है, यहा हम केवल यही सिद्ध कर सकते हैं कि कुर्सियो तथा मेजो मे पशु-क्रियाए नही हैं और इसलिए उनमे जीवात्मा का निवास नही है। किन्तु हम कोई निश्चयात्मक दृष्टान्त नही दे सकते क्योंकि जीवात्माए तथा वे सत्ताएँ जिनमें पशु-क्रियाए होती हैं अपनी प्रकृति मे सह-विस्तारी हैं।[3] वेदान परिभाषा के अनुसार, निश्चयात्मक व्याप्ति के द्वारा जो परिणाम निकलता है उसे ही हम अनुमान कहते हैं। किन्तु निषेधात्मक व्याप्ति से जिस परिणाम पर पहुचते हैं उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं, इस आधार पर कि इसमे किसी सामान्य सिद्धात का प्रयोग अवस्था-विशेष मे नही होता।[4] तो भी न्याय का विचार है कि प्रत्येक निषेधात्मक का विरोधी एक निश्चयात्मक होता है, और इसलिए निश्चयात्मक परिणाम निषेधात्मक व्याप्तियों से निकाले जा सकते हैं।[5] हेतु की मुख्य विशेषता यह है कि यह सब प्रकार की उपाधियो से मुक्त होना चाहिए।

1 पहले तीन का वर्णन धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर ने किया है। देखिए 'न्यायबिन्दु' पृष्ठ 104, तथा लौगाक्षि भास्करकृत 'तर्ककौमुदी' पृष्ठ 12, बोम्बे एडीशन।

2 यह ध्यान देने के योग्य है कि व्याप्त का निषेध निषेधात्मक व्याप्ति मे व्यापक बन जाता है और व्यापक का निषेध व्याप्त बन जाता है। देखिए श्लोकवार्तिक, अनुमान, पृष्ठ 121।

3 'तर्कसग्रह', 43। इस भेद को उद्योतकर और गगेश ने स्वीकार किया है। तुलना कीजिए इसको जैन मत के आप्त ग्रथो मे विहित अनुमान के वर्गीकरण के साथ जो इस प्रकार है . (1) यह है, क्योंकि वह है। वहा आग है क्योंकि वहा धुआ है। (2) यह नहीं है, क्योंकि वह है। यह ठण्डा नहीं है, क्योंकि अग्नि उपस्थित है, (3) यह है, क्योंकि वह नहीं है। यह ठण्डा है, क्योंकि अग्नि अनुपस्थित है। (4) यह नही है, क्योंकि वह नही है। यहा कोई आम का पेड नही है, क्योंकि यहा पेड ही नहीं है।

4 3।

5 व्याप्ति को या तो स्वीकारात्मक (अन्वय) अथवा निषेधात्मक (व्यतिरेक) होना चाहिए और पहली दो प्रकार की है : समव्याप्ति जहा हेतु तथा साध्य सहकारी रूप से विस्तृत हैं, जैसेकि इस दृष्टान्त में "समस्त उत्पन्न पदार्थ अनित्य हैं" और विषमव्याप्ति जहा वे दो सहकारी रूप से विस्तृत नहीं हैं। जहा-जहा धुआ होता है वहा-वहा आग अवश्य होती है, किन्तु इसका विपरीत तर्क ठीक न होगा।

हम इस प्रकार का तर्क नही कर सकते कि 'क' केवल इसलिए काला है क्योंकि वह 'ख' का लडका है, 'ख' के अन्य बच्चों के समान और अन्य मनुष्यो के बच्चो से भिन्न। यह निष्कर्ष सच हो भी सकता है और नही भी हो सकता, किन्तु यह तर्क की दृष्टि से दोषपूर्ण अवश्य है, क्योंकि 'ख' का लडका होने और काले रग मे कोई अनुपाधिक (उपाधिरहित) सम्बन्ध नही है।

उपनय (प्रयोग) परार्थानुमान का चौथा अवयव है। पक्ष मे प्रस्तुत हेतु की उपस्थिति एव अनुपस्थिति की यह स्थापना करता है। हेतु की उपस्थिति की अवस्थामे यह स्थापना निश्चयात्मक होती है, जैसेकि इस दृष्टान्त मे, "इसी तरह का यह पर्वत है," अर्थात् धुएवाला है और दूसरी अवस्था मे निषेधात्मक होती है, जैसे कि इस दृष्टान्त मे, "यह पर्वत ऐसा नही है, अर्थात् धुए वाला नही है।"[1]

निष्कर्ष प्रतिष्ठापित प्रतिज्ञा को इस प्रकार दोहराता है, "इसलिए पहाड मे आग लगी है।"[2] पहले अवयव मे जो बात अस्थायी रूप से रखी गई थी, निष्कर्ष मे उसकी स्थापना की जाती है।

वात्स्यायन का कहना है कि कुछ तार्किको की सम्मति मे परार्थानुमान के दस अवयव है। ऊपर दिये गये पाच अवयवो के अतिरिक्त निम्नलिखित और उनमे सम्मिलित किए गए है (1) जिज्ञासा, अथवा प्रतिज्ञा के सम्बन्ध मे सत्यज्ञान को खोज निकालने की अभिलाषा, अर्थात् सम्पूर्ण पहाड मे आग लगी है या उसके कुछ हिस्सो मे ही है, (2) सशय, कारण के विषय मे सन्देह कि जिसे हम धुआ समझ रहे है वह केवलमात्र भाप ही तो नही है, (3) शक्यप्राप्ति, अर्थात् दृष्टान्त की निष्कर्ष को समर्थित करने की योग्यता कि क्या धुआ सर्वदा ही आग के साथ रहता है क्योकि तपे हुए लाल लोहे के अन्दर धुआ नही भी पाया जाता, (4) प्रयोजन, अर्थात् निष्कर्ष निकालने का प्रयोजन, और (5) सशय-व्युदास, अर्थात् हेतु के साध्य के साथ सम्बन्ध और पक्ष मे उसकी विद्यमानता के बारे मे सब प्रकार के सशयो का निवारण।[3] परार्थानुमान के ये पाच अतिरिक्त

1 न्यायसूत्र, 1 1, 38।

2 न्यायसूत्र 1 1, 39।

3 न्यायभाष्य, 1 1, 32। यह इस विषय का एक सकेत है कि परार्थानुमान का स्वरूप वाद विवाद-कला के अभ्यासो तथा परम्पराओ मे से विकसित हुआ है। जैन तार्किक भद्रबाहु परार्थानुमान के दस अवयवो का एक पृथक सूची देता है अर्थात (1) प्रतिज्ञा (2) प्रतिज्ञा विभक्ति, अर्थात् प्रतिज्ञा की सीमा (3) हेतु अथवा कारण, (4) हेतु विभक्ति अर्थात हेतु की सीमा (5) विपक्ष, (6) विपक्ष-प्रतिषेध (7) दृष्टान्त (8) आकाक्षा अर्थात दृष्टान्त के प्रामाण्य मे सन्देह (9) आकाक्षा प्रतिषेध, (10) निगमन अर्थात निष्कर्ष ('दशवैकालिकनिर्युक्ति', पृष्ठ 74 निर्णय-सागर सस्करण)। भद्रबाहु यहा सिद्ध करने की द्विगुण विधि का आश्रय लेता है। जब शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए एक तर्क दिया जाता है तो एक विपरीत प्रतिज्ञा का कथन होता है और एक कथन द्वारा उसका निषेध किया जाता है। यदि शब्द नित्य होता तो यह उत्पन्न पदार्थ न होता। इस प्रकार का काल्पनिक तर्क पूर्व-अनुमान का समर्थन करता है यद्यपि अपने-आपसे इसका अधिक महत्त्व नही है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'न्यायावतार' ग्रथ मे परार्थानुमान को केवल पाच अवयवोवाला ही बताया है। अनन्तवीर्य उसपर (13) टीका करते हुए कहता है कि परार्थानुमान के सर्वोत्तम रूप मे दस अवयव रहते हैं, मध्यम मे पाच और निकृष्टतम मे दो अवयव रहते है।

अवयव वात्स्यायन के अनुसार सिद्धि के लिए अनावश्यक हैं, यद्यपि ये हमारे ज्ञान को विशद करने में सहायक होते हैं। ये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को दृष्टि में रखते हैं। जिज्ञासा, अर्थात् जानने की इच्छा निश्चय ही समस्त ज्ञान का प्रारंभिक बिन्दु है; किन्तु जैसाकि उद्योतकर का कहना है, यह विषयसिद्धि अथवा तर्क का अनिवार्य अवयव नहीं है।[1]

शीघ्र ही यह पता लगा कि निष्कर्ष में प्रारम्भिक प्रतिज्ञा को फिर से दोहराया जाता है, जबकि चौथा अवयव दूसरे की आवृत्तिमात्र है। वस्तुतः प्रत्येक परार्थानुमान के केवल तीन ही अवयव हैं। कहा जाता है कि नागार्जुन ने ही तीन अवयवयुक्त परार्थानुमान का प्रचलन अपने 'उपायकौशल्यसूत्र' में किया है, जहां वे बलपूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि निष्कर्ष की स्थापना तर्क और दृष्टान्त द्वारा ही हो सकती है, दृष्टान्त निश्चयात्मक हो या निषेधात्मक हो।[2] इसका श्रेय कभी-कभी दिङ्नाग को दिया जाता है।[3] अपने 'न्याय-प्रवेश' में उन्होंने परार्थानुमान के तीन अवयवों का ही वर्णन किया है, यद्यपि तीसरे अवयव में वह निश्चयात्मक एवं निषेधात्मक दोनों ही प्रकार के उदाहरणों की व्याख्या करते हैं, इस पहाड़ में आग लगी है, क्योंकि इसमें धुआं है, जहां-जहां धुआं होता है, आग भी होती है, जैसे रसोईघर में और जहां आग नहीं है वहां धुआं भी नहीं है, जैसे झील में। दिङ्नाग के अनुसार तीसरा अवयव एक सामान्य नियम है जो सांकेतिक दृष्टान्तों के सहित है। धर्म-कीर्ति का विचार है कि तीसरा अवयव भी आवश्यक है क्योंकि सामान्य प्रतिज्ञा तर्क के अन्दर स्वतः ध्वनित है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि पहाड़ पर आग है क्योंकि उसमें से धुआं निकल रहा है। इस प्रकार के अनुमान का उपयोग जो लुप्तावयव हेतुवद् अनुमान से मिलता-जुलता है, हिन्दू दार्शनिक ग्रंथों में भी बहुत मिलता है। जैन तार्किक माणिक्य नन्दी और देवसूरी[4] का भी यही मत है। मीमांसक और वेदान्ती केवल तीन अवयव वाले परार्थानुमान को ही स्वीकार करते हैं। वेदान्त-परिभाषा नामक ग्रन्थ पहले तीन अथवा अन्तिम तीन अवयवों के उपयोग की आज्ञा देता है।[5]

वात्स्यायन और उद्योतकर दोनों ही परार्थानुमान के अन्तिम दो अवयवों को छोड़ देने के विरुद्ध हैं।[6] वे स्वीकार करते हैं कि प्रथम अवयव को निष्कर्ष में दोहराया जाता है, जबकि चौथा दूसरे और तीसरे अवयव का मिश्रण है। यद्यपि तर्क की दृष्टि से वे अनावश्यक हैं, तो भी विवाद के लिए वे उपयोगी हैं क्योंकि वे तर्क की पुष्टि करते हैं, तथा उस प्रतिज्ञा की निश्चयपूर्वक स्थापना करने में सहायक होते हैं जो प्रारम्भिक अवयव

1 न्यायवार्तिक, 1 : 1, 32।

2 'हिस्टरी आफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ 119।

3 सुगुरा : 'हिन्दू लाजिक ऐज प्रिजर्व्ड इन चाइना एंड जापान', यूई 'वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ 82, टिप्पणी 2।

4 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार', पृष्ठ 3।

5 2 वरदराज ने अपने तार्किक रक्षा (पृष्ठ 82 से आगे) नामक ग्रंथ मीमांसा के मत के तीन अवयव वाले परार्थानुमान का बौद्ध मत के दो अवयव वाले परार्थानुमान का उल्लेख किया है। माठरवृत्ति पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त इन तीन अवयव वाले परार्थानुमान से परिचित है।

6 न्यायभाष्य, 1 : 1, 39, न्यायवार्तिक, 1 : 1, 39।

मे अस्थायी रूप से प्रस्तुत की गई थी। पचावयवी परार्थानुमान दूसरो को निश्चय कराने के लिए उपयोगी है, इसको परार्थानुमान सज्ञा इसीलिए दी गई है। तीन अवयवो वाला अपने निश्चय के लिए, पर्याप्त है, इसे स्वार्थानुमान की सज्ञा दी जा सकती है। पिछला अनुमान को विचार-सम्बन्धी गति की प्रक्रिया मानता है और इसलिए अन्वेषणात्मक विज्ञान की श्रेणी मे आता है, जबकि पहला प्रमाण से सम्बन्ध रखता है। गौतम और कणाद इसका उल्लेख स्पष्टरूप से नही करते, यद्यपि परवर्ती तार्किक इसे स्वीकार करते है।[1] प्रशस्तपाद अपने निश्चय के लिए उपयुक्त अनुमान (स्वनिश्चितार्थ) और दूसरो को निश्चय कराने के लिए उपयुक्त अनुमान (पदार्थ) मे भेद करता है।[2] दूसरो को निश्चय कराने के लिए उपयुक्त परार्थानुमान अधिकतर एक औपचारिक व्याख्या है। हम एक पहाड को देखते है और हमे सन्देह उत्पन्न होता है कि इसमे आग है या नही। धुए को देखकर हमे आग और धुए के सम्बन्ध का स्मरण होता है और हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि पहाड पर आग अवश्य होगी। इस सूचना को जब हम दूसरो तक पहुचाने का प्रयत्न करते है तो हम पचावयवी अनुमान की पद्धति का प्रयोग करते है।[3]

परार्थानुमान के अवयवो की सख्या के विषय मे मतभेद होते हुए भी, इस विषय मे सभी तार्किक सहमत है कि एक दोषविहीन अनुमान के लिए दो अवयव अनिवार्यरूप से आवश्यक है, अर्थात् व्याप्ति (व्यापक सम्बन्ध) अथवा साध्यपद और पक्षधर्मता अथवा पक्षपद। पहला गुणो के व्यापक सम्बन्ध को बतलाता है और पिछला बतलाता है कि कर्ता मे व्यापक सम्बन्ध का एक अवयव उपस्थित है।[4] ये जे० एस० मिल की उन दो विधियो के अनुकूल है जिनके द्वारा निश्चय होता है कि (1) कौन-से गुण और किनके चिह्न है, और (2) क्या किन्ही प्रस्तुत पदार्थो मे ये चिह्न पाए जाते है।

न तो साध्य और न पक्ष केवल अपने-आपसे किसी निष्कर्ष का निश्चय करा सकते है। दोनो का परस्पर सश्लेषण आवश्यक है। लिंगपरामर्श अथवा चिह्न का विचार अनुमान की प्रक्रिया का एक अनिवार्य तत्त्व है। गङ्गेश के अनुसार, व्याप्ति अपने-आपमे अनुमान-जन्य ज्ञान का परोक्ष कारण है और लिंगपरामर्श अथवा चिह्न का विचार अतिम कारण (चरम कारण) अथवा मुख्य कारण (कारण) है।[5] तथ्य साररूप मे यह है कि साध्य के साथ सम्बद्ध हेतु पक्ष रहता है[6] और वही हमे निष्कर्ष पर ले जाता है। परन्तु अनुमान की प्रक्रिया एक अखड प्रक्रिया है।

1 दिङ्नाग प्रशस्तपाद, धर्मकीर्ति, सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दी देवसूरी, भासर्वज्ञ और गङ्गेश आदि इस भेद को स्वीकार करते हैं।

2 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, पृष्ठ 231। तुलना कीजिए इसकी धर्मोत्तर के भेद ज्ञानात्मक और शब्दात्मक के साथ (न्यायबिन्दुटीका, पृष्ठ 21) तथा शिवादित्य के भेद अर्थरूपत्व और शब्द रूपत्व के साथ(सप्तपदार्थी, 154।)

3 तर्कसग्रह, पृष्ठ 45।

4 तत्त्वचिन्तामणि, 2, पृष्ठ 2; भाषापरिच्छेद, और सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ 66 और 68।

5 तत्त्वचिन्तामणि, 2, पृष्ठ 2।

6 व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् (तर्कसग्रह, पृष्ठ 44)। देखिए भाषा-परिच्छेद, पृष्ठ 66, तत्त्वचिन्तामणि, 2 2, जानकीनाथकृत न्यायसिद्धान्तमजरी,पृष्ठ 86-87, पडित सस्करण।

अद्वैतवादियों का तर्क है कि हेतु के विचार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञान साधनरूप कारण है। हमें इसका स्मरण होता है और हम निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं।[1] यह आपत्ति इस मत के विरुद्ध की गई प्रतीत होती है कि हमें पहले *प्रत्यक्ष ज्ञान होता है*, उसके बाद स्मृति होती है और उसके बाद अनुमान होता है। अद्वैतवादी यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि अनुमानक्रिया दो निर्णयों को एकसाथ रख देना नहीं है, बल्कि यह एक अकेली प्रक्रिया (व्यापार) है जिसमें दृश्यतत्त्व (पक्ष) स्मृति द्वारा आविर्भूत सामान्य सिद्धांत अर्थात साध्य के कार्य करता है। ये दोनों तत्त्व स्वतन्त्र मानसिक अवस्थाएं नहीं हैं, और अनुमान की प्रक्रिया में निश्चित स्थितियों के रूप में भाग नहीं लेते हैं। नैय्यायिक, जो अद्वैतवादियों की अपेक्षा तार्किक अधिक है, बलपूर्वक यह कहता है कि अनुमान के लिए संश्लेषण की क्रिया आवश्यक है।

दिङ्नाग अनुमेय के स्वरूप के सम्बन्ध में एक रोचक प्रश्न उठाता है। हम धुएं से आग का अनुमान नहीं करते हैं, क्योंकि यह कोई नया ज्ञान नहीं है। हम पहले से जानते हैं कि धुएं का आग के साथ सम्बन्ध है। इसी प्रकार आग और पहाड़ के परस्पर सम्बन्ध का अनुमान हमने किया, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्बन्ध के लिए दो वस्तुओं का होना आवश्यक है, जबकि अनुमान में हमारे पास केवल एक ही वस्तु अर्थात् पहाड़ है, क्योंकि आग तो दिखाई नहीं देती। जिसका हम अनुमान करते हैं वह न तो आग है और न ही पहाड़ है, बल्कि ऐसा पहाड़ है जिसमें आग लगी हुई है।[2] निष्कर्ष एक अंतिम निर्णय है।

नैय्यायिक ने उन भिन्न-भिन्न स्थितियों को जिनमें हेतु रह सकता है, कोई महत्त्व नहीं दिया है। उसने बारबरा को समस्त परार्थानुमान-सम्बन्धी तर्क के उदाहरण के रूप में माना है। निश्चयात्मक तथा निषेधात्मक उदाहरणों के उपयोग ने उसका झुकाव स्वीकारात्मक तथा निषेधात्मक सामान्य प्रतिज्ञाओं को परस्पर सम्बद्ध मानने की ओर किया। वस्तुतः समस्त अनुमान को दोनों ओर से पुष्टि प्राप्त होती है।[3] वस्तुतः हिंदू तर्कशास्त्र में एक ही सम्बन्ध-प्रकार (फिगर) और एक ही तत्त्व (मूड) है। जब हम यह जान लेते हैं कि प्रतिज्ञा के कर्ता में एक ऐसी विशेषता है जिसका साहचर्य निरंतर एक ऐसे गुण के साथ है जिसकी विद्यमानता को हम सिद्ध करना चाहते हैं, हम अनुमान करते हैं कि कर्ता में उक्त गुण विद्यमान है। इस सिद्धांत को गुण-निर्देश (कन्नोटेशन) की परिभाषा में व्यक्त किया जाता है। इसे यदि वर्गों की परिभाषा में परिवर्तित किया जाए तो हमें सामान्य से विशेष के अनुमान के सिद्धांत की उपलब्धि होती है। एक वर्ग-

1 वेदान्तपरिभाषा।

2 न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, न्यायसूत्र, 1 1, 5 में उद्धृत दिङ्नाग। वेदान्तपरिभाषा (2) के अनुसार, पहाड़ का तो प्रत्यक्ष होता है और आग का अनुमान होता है।

3 यदि क है तो ख है। यदि ख नहीं है, तो क नहीं है। धर्मकीर्ति जहां इससे सहमत है कि समस्त युक्तियों का स्वीकारात्मक अथवा निषेधात्मक रूप में व्यक्त किया जा सकता है, यदि वे साधर्म्य और वैधर्म्य पर आधारित हों, वहां उसका यह भी विचार है कि कुछ युक्तियां स्वभावतः पिछले ही रूप के अन्तर्गत हैं।

> सब पदार्थ, जो यहां और अब विद्यमान हैं, प्रत्यक्ष देखे जाते हैं,
> घड़ा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता,
> इसलिए घड़ा यहां और अब विद्यमान नहीं है।
> यह केमेस्ट्रस का मत है।

विशेष के प्रत्येक व्यक्ति के विषय में जो कुछ कहा जा सकता है, वह उस वर्ग के किसी व्यक्ति-विशेष के विषय में भी कहा जा सकता है। सही-सही विचार के लिए सवाक्य-प्रकारों तथा तत्त्वों के ब्यौरेवार भेदों की इतनी आवश्यकता नहीं है, यद्यपि वे सूक्ष्म विचार के लिए प्रशिक्षणभूमि प्रस्तुत करते हैं।[1] अरस्तू ने स्वीकार किया कि अंतिम तीन सवाक्य-प्रकारों का पहले में समावेश किया जा सकता है। न्याय पहले सवाक्य प्रकार में भी केवल बारबरा को स्वीकार करता है। न्याय में दराई (Darii) और फेरियो (Ferio) का प्रयोग नहीं हुआ है, क्योंकि निष्कर्ष सर्वदा एक परिमित पदार्थ से सम्बन्ध रखता है, और व्यापक तथा विशिष्ट के मध्य भेद नहीं उत्पन्न होता। यह भेद केवल अपेक्षाकृत है, क्योंकि एक परिमित वर्ग के लिए जो व्यापक है वह विस्तृत विषय में विशिष्ट हो जाता है। न्याय के परार्थानुमान में पक्ष सदा एक व्यक्तिरूप पदार्थ होता है अथवा वर्ग होता है और इसलिए वह व्यापक है, विशिष्ट नहीं। 'कुछ' दृष्टान्तों के विषय में प्राप्त निष्कर्ष हमें प्रस्तुत दृष्टान्त-विशेष के विषय में कोई निश्चित सूचना नहीं दे सकता। बारबरा से सेलेरेण्ट बड़ी सुगमता से जाना जा सकता है। अरस्तू ने स्वीकार किया कि उसके सब तत्त्व पहले सवाक्य-प्रकार के पहले दो तत्त्वों में समाविष्ट किए जा सकते हैं, और यदि हम यह जान लें कि सब निर्णय उभयपार्श्ववान होते हैं तो ये दोनों परस्पर परिवर्तनीय हैं।

तर्क की प्रक्रिया का विश्लेषण अरस्तू के परार्थानुमान-सम्बन्धी विश्लेषण के साथ बिलकुल निकट सादृश्य रखता है। पञ्चावयवीरूप में भी केवल तीन पद रहते हैं, और त्रि-अवयवी अनुमान में तीन विषय होते हैं जो अरस्तू के निष्कर्ष, पक्षपद तथा साध्यपद से अनुकूलता रखते हैं। इस प्रकार की अद्भुत समानता का कारण यह बताया जाता है कि दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ा है। डाक्टर विद्याभूषण का कहना है: "ऐसा विचार असंगत न होगा कि अरस्तू के तर्कविज्ञान ने अलेक्ज़ैण्ड्रिया, सीरिया तथा अन्य देशों के मार्ग से तक्षशिला में प्रवेश किया हो। मेरा विचार ऐसा है कि भारतीय तर्कशास्त्र में वस्तुतः परार्थानुमान की विधि अनुमान से स्वतः उदित नहीं हुई है और यह विचार हिन्दू तार्किकों में अरस्तू से ही आया है।"[2] विद्वान प्रोफेसर का विश्वास है कि परार्थानुमान की कला उधार ली गई है, यद्यपि अनुमान का सिद्धांत हमारा अपना है। प्रोफेसर कीथ लिखते हैं "प्राचीनकाल के तर्क-विषयक सिद्धान्तों का उद्गम ग्रीस देश को मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। गौतम और कणाद द्वारा प्रतिपादित 'परार्थानुमान' भी निःसन्देह यहीं उत्पन्न हुआ, भले ही यह रुद्ध विकास रहा हो। उप-मान-प्रमाण के द्वारा तर्क करने के स्थान पर, निरन्तर साहचर्य को अनुमान का आधार

1 गौम्पर्ज का कहना है कि 'अत्यधिक मौलिक विचार के आधार पर अरस्तू ने अनुमान के रूपों का अन्वेषण किया, उनमें परस्पर भेद किया तथा उनकी शाखाओं का विश्लेषण किया। और देखिए तथा विचार कीजिए कि अपने अनेकानेक ग्रंथों में उन दिनों उपलब्ध सम्पूर्ण ज्ञान के क्षेत्र को व्याप्त करते हुए भी उसने वस्तुतः परार्थानुमान के तत्त्वों एवं सवाक्य प्रकारों का बिलकुल भी प्रयोग नहीं किया। वह यह बात स्वीकार करने में भी संकोच नहीं करता कि रूपों के इस समस्त समूह को घटाकर केवल कुछ मौलिक रूपों में रखा जा सकता है और इससे प्रयोग में कोई हानि न होगी। हम यह और कह सकते हैं कि उसके बाद का अनुसन्धान, जिसमें महान विकास तथा परिष्कार हुआ है, इस विषय में उसकी पुष्टि करता है कि सवाक्य प्रकार तथा तत्त्व केवल प्राचीन आश्चर्यजनक विषयों के समूहमात्र रह गए हैं, जिन्हें विज्ञान के इतिहास ने सुरक्षित रखा है, किन्तु स्वयं विज्ञान ने भी उनका प्रयोग कभी नहीं किया।" (ग्रीक थिंकर्स, खण्ड 4, पृष्ठ 44-45) और देखिए एच० एन० रैण्डल 'ए नोट ऑन दि इण्डियन सिलोजिज्म', अक्तूबर, माइण्ड, 1924।

2 हिस्टरी आफ इण्डियन लौजिक, पृष्ठ 15।

बनाने का अपने-आप में पूर्ण सिद्धांत, यह ठीक है कि, दिङ्नाग के द्वारा ही प्रकट हुआ। और यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि सम्भवतः यहां हर ग्रीक प्रभाव ने भाग लिया हो।'[1] अपने इस सुझाव के समर्थन में वे इस बात का उल्लेख करते हैं कि दिङ्नाग के पूर्ववर्ती आर्यदेव को (जो उससे लगभग दो शताब्दी पूर्व हुआ था) ग्रीक ज्योतिष का ज्ञान था। भरतशास्त्र में पाई जानेवाली हिन्दू नाट्यकला की प्रकल्पना पर अरस्तू का जो प्रभाव बताया जाता है, उसके साथ यदि इस विचार को मिलाया जाए तो यह सम्भव प्रतीत होता है कि भारत और ग्रीस के मध्य परस्पर कुछ सांस्कृतिक आदान-प्रदान रहा हो। कभी-कभी यह प्रतिपादित किया गया है कि अरस्तू हिन्दू प्रकल्पना से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था जो उसके पास सिकन्दर के द्वारा पहुंची थी, क्योंकि सिकन्दर के विषय में यह कहा जाता है कि उसने भारत के तार्किकों के साथ वार्तालाप किया था। सीधे प्रभाव के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, और जब हम यह स्मरण करते हैं कि परार्थानुमान के नमूने की तर्कप्रणाली अरस्तू के समय से पूर्व हिन्दू और बौद्ध विचारकों के ग्रन्थों में पाई जाती है[2] तो ग्रीस से 'उधार लेने' की प्रकल्पना को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। मैक्समूलर के शब्दों को यहां दोहराया जा सकता है कि "हमें यहां पर भी यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि हमारे पूर्वज जहां तक चाहते थे उससे भी कहीं अधिक विचारों में ऐसा साम्य मिलता है, जिसके विषय में निश्चय ही कोई पूर्वयोजना नहीं रही होगी। हमें यह कदापि न भूलना चाहिए कि जो कुछ एक देश में सम्भव न हुआ वह अन्य देश में भी सम्भव हो सकता है।"[3] इस मत की ओर भी अधिक पुष्टि हो जाती है जब हमें यह विदित होता है कि भारतीय और ग्रीक परार्थानुमान विधियों में कितने ही मौलिक भेद भी हैं। ग्रीक तर्कशास्त्र में तर्क के विश्लेषण में 'उपमान' का स्थान नहीं है, जिसे कि हिन्दू विचारक व्यापक सम्बन्ध के कथन के लिए अनिवार्य समझते हैं। यह बिलकुल स्पष्ट है कि अनुमान का आधार व्यापक सम्बन्ध है, क्योंकि दृष्टान्त उस सम्बन्ध का उपयुक्त मूर्तरूप है।

9. आगमन अनुमान

अनुमान यथार्थता के प्रति सत्य होने का दावा करता है और यह दावा स्थिर नहीं रह सकता जब तक कि दोनों पद सत्य न हों। पक्षपद प्रत्यक्षज्ञान का परिणाम है और साध्यपद हमें आगमन अनुमान की समस्या तक ले जाता है।

व्यापक प्रतिज्ञाओं की सिद्धि कैसे होती है? नैय्यायिक इसके भिन्न-भिन्न उत्तर देता है। वह गणना, अन्तर्दृष्टि तथा परोक्ष प्रमाण को प्रस्तुत करता है। परार्थानुमान नियम के साथ-साथ एक उदाहरण का उल्लेख करता है। किसी नियम को दर्शाने के लिए उदाहरण पर्याप्त तो हो सकता है, किन्तु यह अपने-आपमें किसी व्यापक सम्बन्ध की स्थापना नहीं कर सकता। रसोईघर में धुएं का आग के साथ सतत साहचर्य हो सकता है, अथवा होम करने के स्थान में भी धुएं का सतत साहचर्य आग के साथ हो सकता है, किन्तु इसमें हम पहाड़ पर आग के होने का अनुमान केवल इसलिए नहीं कर सकते कि हम उसमें धुएं को देखते हैं, जब तक कि हम इस सिद्धांत की स्थापना न कर लें कि सभी अवस्थाओं में आग के साथ धुएं का साहचर्य पाया जाता है। यदि हम धुएं तथा आग को अनेक दृष्टान्तों

1. 'इण्डियन लॉजिक' एण्ड ऐटोमिज्म, पृष्ठ 18।
2. हिस्टरी आफ इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ 500, टिप्पणी 1, तथा परिशिष्ट बी।
3. सिद्धान्तसमुच्चय, पृष्ठ 385-86।

मे साथ-साथ देखते है तो हमारे अनुमान की भित्ति अधिक दृढ हो जाती है। बिना किसी अपवाद के (अव्यभिचरित साहचर्य) बार-बार अनुभव (भूयोदर्शन) हमे एक सामान्य नियम तक पहुचाने मे सहायक होता है। जहा-जहा आग है वहा-वहा धुए का दिखाई देना ही पर्याप्त नही है। हमारे लिए इस बात को लक्ष्य करना भी आवश्यक है कि जहा आग न हो वहा धुआ भी न हो। उपस्थिति मे समानता और अनुपस्थिति मे समानता, दोनो आवश्यक है।[1] यदि नियत साहचर्य के साथ-साथ अपवाद भी कही न मिले, अर्थात् अविनाभावरूप-सम्बन्ध हो तो व्याप्तिविषयक अनुमान को पुष्टि मिलती है और केवल उसी अवस्था मे हमे उपाधियो, अर्थात् आकस्मिक अवस्थाओ से रहित साहचर्य मिलता है।[2] यह आवश्यक नही है कि जहा-जहा आग है वहा-वहा धुआ भी पाया जाए। एक लाल गर्म लोहे के टुकडे मे आग तो है किन्तु धुआ नही है। केवल गीले ईंधन की आग के साथ ही धुए का साहचर्य है। इस प्रकार हम देखते है कि आग के साथ धुए का साहचर्य सोपाधिक है, जबकि धुए के साथ आग का साहचर्य निरुपाधिक अवश्यम्भावी है। इस प्रकार 'सब स्थानो पर आग के साथ धुआ होता' स्वीकार्य नही है, जबकि प्रत्येक ऐसी अवस्था मे जहा आग गीले ईंधन मे लगी हो, धुए का होना स्वीकार्य है। उपाधि का निश्चित रूप से दोष नहीं कहा जा सकता, क्योकि उपाधि से भ्रम केवल उसी अवस्था मे होता है जबकि उसका पृथक् ज्ञान न हो सके। जब कभी उपाधि का सन्देह हो तो हमारे लिए उन परिस्थितियो की विवेचना करना और यह दिखाना आवश्यक हो जाता है कि उक्त उपाधि की अनुपस्थिति मे साहचर्य बना रहता है। निश्चयात्मक दृष्टान्त उपाधिदोष का निराकरण करते है, क्योकि वे यह सिद्ध करते हैं कि हेतु तथा साध्य तो उपस्थित है, जबकि और कोई निरन्तर उपस्थित नही है। निषेधात्मक दृष्टान्त यह दिखाकर समर्थन करते हैं कि हेतु और साध्य अनुपस्थित है, जबकि और कोई भौतिक परिस्थिति निरन्तर अनुपस्थित नही है। परवर्ती तर्कशास्त्र ने निषेधात्मक दृष्टान्तो पर विशेष बल दिया है। और व्याप्ति की परिभाषा इस प्रकार की है जिससे कि अनुमेय के लिए हेतु की ऐकान्तिक पर्याप्तता प्रकट की जा सके।[3] नैय्यायिक बलपूर्वक कहता है कि व्यवस्थित मस्तिष्क के लिए उचित है कि वह अपनी स्वच्छद कल्पनाओ को वश मे करके यथार्थ तथ्य के आगे झुक जाए। परीक्षणात्मक विधियो का सही ब्यौरा परीक्षणात्मक विज्ञानो के साथ ही सम्भव है, और उसके अभाव मे, वैज्ञानिक विधि के

1 साहचर्यज्ञान और व्यभिचारज्ञानविरह (तर्कसग्रहदीपिका 45)।

2 उदयन उपाधि की परिभाषा यो करता है कि वह वस्तु जो अपना गुण समीपस्थ अन्य पदार्थ को दे दे (उपसमीपवर्तिनि आदधाति सङ्क्रामयति स्वीय धर्मम् इति उपाधि)। लाल रग का फूल जो अपने ऊपर रखे हुए स्फटिक को अपनी लाली देकर एक पद्मराग माणिक्य का सा बना देता है एक उपाधि है। तुलना कीजिए वरदराजकृत इस परिभाषा के साथ—साधनव्यापका साध्यसमव्याप्ता उपाधय (तार्किक रक्षा पृष्ठ 66)। एक निर्दोष व्यापक को ऐसी सभी उपाधियो से रहित होना चाहिए जिनका स्वय अपने को सन्देह हो सकता है, या जो विरोधी द्वारा आरोपित की जा सकती हैं। और देखिए वाचस्पतिकृत न्यायवार्तिक तत्त्व टीका, 1 1 1। उदयन के अनुसार तर्कशास्त्र मे उपाधि वह है जो (1) मध्यपद के साथ बराबर रहती है (2) जिसके साथ यह मध्यपद रहता है (3) और जो मध्यपद के साथ निरन्तर नही रहती। तर्कदीपिका मे चार प्रकार की उपाधिया मानी गई हैं। देखिए आथल्येकृत तर्कसग्रह पृष्ठ 317।

3 व्याप्ति की अनेक परिभाषाओ पर विचार करने के पश्चात् गगेश यह निष्कर्ष निकालते हैं कि निरन्तर साहचर्य साध्य के साथ हेतु की सह उपस्थिति है, जो उस निरपेक्ष अभाव की प्रतिकृति के स्वरूप से उपाधिवान् नही है जो हेतु के साथ उसी स्थिति मे रहता है किन्तु उस प्रतिकृति के सम्बन्ध में भिन्न स्थिति मे रहती है तत्त्व चिन्तामणि, 2 (देखिए हिस्टरी आफ इण्डियन लौजिक पृष्ठ 424।

बारे में भारतीय तार्किक के विचार कोई खास दिलचस्पी पैदा नहीं करते। नैय्यायिक आगमन की सामान्य समस्या से अभिज्ञ था और प्रकृतिनिष्ठ तथ्यों का सावधानी से निरीक्षण करने की पद्धति से भी अभिज्ञ था, जिसके द्वारा व्यापक प्रतिज्ञाओं पर पहुंचा जाता है।

प्रकृति सदा हमें ठीक ढंग के निश्चयात्मक तथा निषेधात्मक दृष्टान्त प्रदान नहीं करती कि जिनकी सहायता से हम किन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन या निराकरण कर सकें। नैय्यायिक का कहना है कि हम निषेधात्मक साक्ष्य की प्राप्ति के लिए तर्क अथवा अप्रत्यक्ष प्रमाण का प्रयोग कर सकते हैं। यदि यह सामान्य प्रतिज्ञा कि 'जहां-जहां धुआं है वहां-वहां आग है', ठीक नहीं है तो इससे विपरीत, अर्थात् कभी-कभी 'धुएं के साथ आग नहीं रहती', अवश्य ठीक होगी। दूसरे शब्दों में यह कि आग अनिवार्य रूप से धुएं की पूर्ववर्ती नहीं है। किन्तु हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि आग धुएं का कारण है। इस प्रकार एक व्यापक प्रतिज्ञा को पुष्ट करने के लिए, जो अबाधित मेल के निश्चयात्मक दृष्टान्तों पर आधारित है, तर्क का प्रयोग किया जाता है। यह किसी परिकल्पना को सिद्ध करने का भी एक उपाय है।[1] यह दिखाकर कि यदि हम सुझाई गई परिकल्पना को अस्वीकार करेंगे तो फिर किन असंगतियों में फंस जाएंगे, अप्रत्यक्ष प्रमाण उस प्रकल्पना की पुष्टि करने में प्रवृत्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य कोई प्रकल्पना तथ्यों का समाधान नहीं कर सकती।[2]

तर्क आगमन की उस अनुभवाश्रित प्रणाली के लिए, जिससे हमें व्यापक प्रतिज्ञाओं की उपलब्धि नहीं हो सकती, केवल एक सहायक का काम करता है। जहां हम सभी सम्भव अवस्थाओं का निरीक्षण करके अपने निष्कर्ष की परिपुष्टि अप्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा करते हैं, वहां भी हमें व्यापक प्रतिज्ञाओं के विषय में एकान्त निश्चितता उपलब्ध नहीं होती। जब तक वे परिमित निरीक्षण पर आश्रित हैं उनमें कोई आवश्यकता नहीं रहती। गणनात्मक व्याप्तियां केवल मात्र सम्भव हैं, निश्चित नहीं हैं। जहां पर यह सत्य है कि इन्द्रिय-ग्राह्य विशिष्टों का अनुभव व्यापकों के ज्ञान को उत्पन्न करता है, वहां यह नहीं कहा जा सकता कि व्यापकों का ज्ञान पूर्णतया इन्द्रिय-ग्राह्य विशिष्टों के द्वारा होता है, क्योंकि व्यापक किसी भी अथवा समस्त विशिष्टों से परे जाता है।

समष्टिगामी निर्णयों में भी व्यापक के ज्ञान की पूर्व धारणा रहती है। हम सब दृष्टान्तों की गणना नहीं करते किन्तु केवल उन्हींकी गणना करते हैं जिनके अन्दर वर्गीय गुण विद्यमान हैं, जिसके कारण ही उक्त दृष्टान्तों का स्थान उस वर्ग के अन्दर होता है। इसलिए व्यापक के ज्ञान के बिना गणना-पद्धति भी कार्य नहीं कर सकती। प्राचीन न्याय

1. न्यायसूत्र, 1. 1, 31।

2. एक न्याय्य परिकल्पना के लिए निम्नलिखित शर्तों को पूरा करना आवश्यक है —(1) परिकल्पना तथ्यों का समाधान करने में अवश्य समर्थ हो। (2) किसी भी ज्ञात तथ्य से अथवा स्थापित सामान्य सिद्धान्तों से उसका विरोध न हो। (3) जहां अनुभूत साधनों के द्वारा तथ्यों की सन्तोषजनक व्याख्या सम्भव हो सकती हो वहां अननुभूत साधनों की कल्पना कभी न करना चाहिए। (4) यदि दो प्रतिद्वन्द्वी प्रकल्पनाएं उपस्थित हों तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य अथवा कसौटी आवश्यक है। इस प्रकार की कसौटी की [illegible]

[illegible] ... अथवा दुरूह की अपेक्षा मान्यता देनी चाहिए। ऐसी प्रकल्पना को जो उक्त शर्तों को पूरा करती है, सिद्धान्तरूप में स्थापित होने से पहले, यथार्थता की जांच में भी खरा उतरना चाहिए। (सीलकृत 'दि पॉजिटिव साइंसेज आफ एंशिएण्ट हिन्दूज', पृष्ठ 248)।

का दावा है कि हम व्यापको को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा पहचान सकते है। गगेश व्यापको (सामान्य लक्षण) के ज्ञान मे इन्द्रियातीत क्रिया को स्वीकार करता है, जब वह इसे अलौकिक प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियातीत अन्तर्दृष्टि को एक प्रकार बताता है।[1] उक्त विचारो मे से किसी से भी दृष्टान्तो का सर्वांग सर्वेक्षण हमारे लिए आवश्यक नही है। व्यापक धूम्रमयता के प्रत्यक्ष द्वारा हम धूम्र-सम्बन्धी सब अवस्थाओ का ज्ञान प्राप्त करते है। आग और धुए की व्यापकताओ का ज्ञान हमे सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्ति द्वारा होता है और हम उनके अनिवार्य सम्बन्ध को अनुभव करते है। इस प्रकार एक दृष्टान्त के विश्लेषण द्वारा हम व्यापक सम्बन्ध को पहचान सकते है, और जो कुछ एक दृष्टान्त के विषय मे सत्य है उसे उक्त वर्ग के सब सदस्यो तक उचित रूप मे विस्तृत किया जा सकता है, क्योकि समानरूपता नाम की एक वस्तु अवश्य है। जो एक बार सत्य है, वह सर्वदा सत्य है। हम जब कहते है 'धुआ', तो हमारे मन मे उस समय धुए की सब अवस्थाए नही होती, किन्तु तो भी धुए का गुणनिर्देश हमारे मस्तिष्क मे उपस्थित रहता है। धुए तथा आग के गुण निर्देश व्याप्ति के अन्दर व्याप्य व्यापक-भाव से परस्पर सम्बद्ध हैं। हमारे सामने अनेको दृष्टान्तो का रहना आवश्यक है, इसलिए नही कि हमे इन विशिष्टो से व्यापक सम्बन्ध की प्राप्ति होती है, बल्कि इसलिए कि वह सम्बन्ध केवल एक उदाहरण से स्पष्ट रूप मे पहचाना नही जा सकता। यद्यपि विभेदक शक्ति मे प्रवीण पुरुष थोडे से उदाहरणो से भी सम्बन्धो मे भेद कर ही सकते हैं, व्यापक सम्बन्ध केवल खोजमात्र है, उसका सृजन नही होता। केवल एक दृष्टान्त से भी विशेष विचार द्वारा हम व्यापक सम्बन्ध तक पहुच सकते हैं। यदि स्वय अन्तिम निर्णय मे व्यापक सम्बन्ध हमारे सम्मुख स्पष्ट नही होता तो एकसमान घटनाओ की पुनरावृत्ति भी इस विषय मे हमारी सहायता नही कर सकती। यह विषय के अन्दर निहित है जिसे हमारी विचारशक्ति ने बनाया नही है। जो कुछ इन्द्रियातीत है वह अनुभवातीत भी हो, यह आवश्यक नही है। विधियुक्त प्रेक्षण तथा परीक्षण ऐसे अनुभव का केवल समर्थन करते हैं जो केवल एक घटना से कभी-कभी अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त हो जाता है। प्रकृति की प्रत्येक घटना अपने अन्दर एक विशेष सम्बन्ध अथवा नियम को छिपाये हुए है, जिसके अनुसार वह घटना सघटित हुई है। किसी घटना की मौलिक विशेषताओ को उसके आकस्मिक सहचारी विषयो से पृथक करके समझने मे केवल अन्तर्दृष्टि ही हमारी सहायक हो सकती है। व्यापक प्रतिज्ञाए विषय-वस्तु के सम्बन्ध हैं। यदि सभी लघुपित्त वाले प्राणी दीर्घायु होते है तो यह इसलिए नही कि मनुष्य, घोडा तथा खच्चर, जो लघुपित्त वाले है, दीर्घायु है, बल्कि इसलिए कि लघुपित्तता और दीर्घ जीवन की विषय-वस्तुओ मे एक आवश्यक सम्बन्ध है। न्याय के परार्थानुमान का महत्त्व उसे इस परिकल्पित निरुपाधिक रूप मे रखने से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। यदि 'क' तो 'ख', 'क' इसलिए 'ख'।

निगमनात्मक तर्क अपने निष्कर्ष मे हमे इस प्रकार आधारवाक्य (प्रेमिस) मे दी गई सामग्री से अधिक प्रदान कर सकता है, यह समस्या इस दृष्टिकोण से एक नये रूप मे प्रकट होती है। सामान्य सिद्धात, गणनात्मक निष्कर्ष नही है और वे सम्बन्ध जो विशिष्टो को शासित करते है, उतने ही यथार्थ है जितने कि स्वय विशिष्ट। जब हम

1 तुलना कीजिए अरस्तू के इस मत से कि व्यापक का ज्ञान, सम्बंधित विशिष्टो के प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात, मन (nous) द्वारा होता है। दृष्टान्तो की गणना, भले ही कितनी भी पूर्ण क्यो न हो, नितान्त निश्चितता प्रदान नही कर सकती, जब तक कि हम प्रकृति की अनिश्चितता का अतिक्रमण न कर लें (अरस्तू एन० पोस्ट०, 1 5।

व्यापक निष्कर्ष से एक विशिष्ट सत्य को निकालते है तो एक विशेष अर्थ मे निष्कर्ष आधारवाक्य मे भी परे पहुच जाता है, यद्यपि दूसरे अर्थ मे यह उसके अन्दर निविष्ट है।

किन्तु यदि व्यापक सम्बन्ध यथार्थ हैं और उनके लिए केवल अन्तर्दृष्टि ही की आवश्यकता है तो यह कैसे होता है कि प्रेमी तथा पागल उन सामान्य सिद्धातो के महत्त्व को ग्रहण नही कर सकते जो वैज्ञानिको तथा दार्शनिको की आखो मे गड जाते हैं ? और न इसका समाधान ही सरल है कि हमारे सामान्यानुमान कभी-कभी सत्य सिद्ध नही होते। त्रुटिपूर्ण आगमनात्मक अनुमानो मे सम्बन्धो का सही-सही बोध नहीं होता। विशिष्टो की असीम पूर्णता मे उनका ठीक-ठीक भेद नही किया जाता है। यथार्थता की जटिलता के कारण सम्बन्धो मे भेद करना कठिन होता है। राग, मानसिक पक्षपात और जडता तथा विचारहीनता के कारण हम प्रस्थापनाओ को सत्य मान लेते हैं, यद्यपि ये सत्य होती नही। इस अर्थ मे विशिष्ट प्रत्यक्ष भी अशुद्ध हो सकते हैं। अन्तर्दृष्टि द्वारा पुष्ट आगमनात्मक सिद्धात अधिक विश्वास-योग्य हो जाते हैं जब उनका प्रयोग नये विशिष्टो के लिए होता है, अर्थात् जब हम आगमन से निगमन अवस्था की ओर आते हैं। जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, व्याप्ति-सम्बन्धो की प्रामाणिकता को भी, अन्य सब ज्ञानो के समान, ज्ञान की अन्य विधियो मे सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। ऐसा अन्तर्ज्ञान जिसकी पुष्टि अनुभूति के आधार पर न हुई हो, परिकल्पना मात्र ही है। केवल अन्तर्ज्ञान कुछ अधिक उपयोगी नही है। आनुभविक सामग्री की पूर्ण निःशेषता एक ऐसा आदर्श है जिसको प्राप्त नही किया जा सकता। दोनों एक-दूसरे के परस्पर सहायक हैं। सामान्य सिद्धात में कुछ आवश्यकता निहित रहती है यद्यपि हम इसे केवल एक आनुभविक तथ्य के अवसर पर ही ठीक-ठाक समझ सकते हैं।

व्याप्ति के सम्बन्ध मे न्याय की यह धारणा है कि सामान्य स्थापनाए यथार्थसत्ता की अवयवभूत हैं,[1] व्याप्ति-सम्बन्ध यथार्थ हैं।[2] चार्वाक सम्प्रदाय वाले, जो भौतिकवादी हैं, व्याप्ति-सम्बन्धो की सम्भावना को स्वीकार नही करते और इसीलिए वे अनुमान की यथार्थता के भी विरोधी हैं। बौद्ध दार्शनिको के मत मे सामान्य प्रस्थापनाए आदर्श कृतिया हैं, यथार्थ सम्बन्ध नहीं हैं। सामान्य प्रस्थापनाए केवल नाममात्र हैं और उनकी पहचान केवल कल्पना है। बौद्ध ग्रन्थ 'सामान्यदूषणदिकप्रसारिता' में इस मत की कि हम सामान्य प्रस्थापनाओं का, यथार्थ की तरह प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं, आलोचना की गई है। हम हाथ की पाच अगुलियो को देखते हैं और इसके अतिरिक्त छठी सामान्य वस्तु को नही देखते, जो उतनी ही अवास्तविक है जितना कि सिर पर सींग।[3] यद्यपि इस मत की ठीक-ठाक व्याख्या के अनुसार, प्रत्येक प्रकार का अनुमान असम्भव ठहरता है, तो भी बौद्ध दार्शनिक क्रियात्मक रूप मे इसकी यथार्थता को स्वीकार करते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार के सामान्य सम्बन्धों मे भेद करते हैं। हेतु का साध्यपद के साथ स्वभाव (तादात्म्य), कारण-कार्यभाव

1. सामान्यस्य वस्तुभूतत्वात् (तर्कभाषा, पृष्ठ 31, पूना सस्करण)।

2. स्वभाविकस्तु सम्बन्धो व्याप्ति (पृष्ठ 35)।

3. बौद्ध 'बुद्धिस्ट रिलिजस', पृष्ठ 233। तुलना कीजिए बर्कले के अमूर्त विचारों के मत से, 'प्रिंसिपल्स आफ ह्यूमन नॉलेज', भूमिका, पृष्ठ 13।

अथवा अभाव (अनुपलब्धि) रूप से सम्बन्ध हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे अनुमान विध्यात्मक और निषेधात्मक हो सकते हैं और पहले प्रकार के भी विश्लेषणात्मक अथवा सश्लेषणात्मक हो सकते हैं।[1] जब हम इस प्रकार का कथन करते हैं कि "यह एक वृक्ष है क्योंकि यह देवदारु की श्रेणी का है" तो यह अनुमान या तो तादात्म्य, या विश्लेषण, स्वभाव, अथवा सह-अस्तित्व के नमूने का है। इसी प्रकार जब हम यह कथन करते हैं कि "चूंकि वहा धुआ है इसलिए वहा आग है" तो यह अनुमान तदुत्पत्ति (अर्थात् आग से धुआ उत्पन्न होता है), सश्लेषण, कार्यकारणभाव अथवा पूर्वानुपरक्रम के नमूने का है। अनुपलब्धिजन्य अनुमान वह है जहा हम घडे के अभाव का अनुमान घडा दिखाई न देने के कारण करते है। सामान्य सम्बन्धो का ज्ञान तथ्यो के निरीक्षण द्वारा नही होता बल्कि तात्त्विक तादात्म्य की पूर्वधारणाओ अथवा कार्यकारण रूपी आवश्यकता के आधार पर किए गए अनुमान से होता है। बौद्ध दार्शनिक इन कार्यकारणभाव तथा तादात्म्य सम्बन्धी सिद्धातो की सामान्य सत्ता को स्वीकार करते है, क्योकि बिना इनकी स्वीकृति के और कोई निस्तार नही है। दिङ्नाग के अनुसार, ज्ञान के द्वारा वस्तुनिष्ठ सत्ता के यथार्थ सम्बन्धो का स्पष्टीकरण नही होता है। अन्तर्निहितता, तत्त्व, गुण और उद्देश्य वस्तु के सम्बन्ध, जिनके द्वारा हम किसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं, ये सब विचार के द्वारा आरोपित किए जाते हैं।[2] सम्बन्ध केवल तर्कजन्य है।

वाचस्पति उक्त बौद्धमत की कडी छानबीन करता है। बौद्ध दार्शनिको की दृष्टि से कार्यकारणभाव के नियम की सन्तुष्टि हो जाती है यदि हम आग लगने की अवस्था मे धुए की उपस्थिति को किसी अदृश्य पिशाच के द्वारा उत्पन्न हुआ बता सकें। और उनके मत मे यह भी आवश्यक नही है कि कार्य-विशेष का कारण भी वही एक हो। यदि कारण वह है जो कार्य से पहले आता है तो दोनो का एक ही समय मे विद्यमान रहना नही बनता। धुए को देखने से हम वर्तमान मे नही किन्तु भूतकाल मे आग के अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं। और यदि दोनो का तादात्म्य है तो एक के प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ दूसरे का भी प्रत्यक्ष ज्ञान है, और उस अवस्था मे अनुमान की आवश्यकता नही रहती। वाचस्पति और जयन्त बलपूर्वक कहते है कि देवदारु और वृक्ष के मध्य सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध नही है, क्योकि सभी वृक्ष देवदारु नही हैं।[3] बौद्धमतानुयायी हमे यह नही बतलाते कि कार्यकारणभाव तथा तात्त्विक तादात्म्य सम्बन्धी सिद्धान्त स्वय कहा से आए। साहचर्य की अनेक ऐसी अवस्थाए है जिनका कार्यकारणभाव अथवा तादात्म्य से कोई सम्बन्ध नही है। नैय्यायिक के अनुसार, सभी प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति के अन्दर आते है। केवल वही सम्बन्ध नही जो कार्यकारणरूप से पूर्वापरभाव रखते है अथवा जाति एव उप-जाति के मध्य है, बल्कि इस प्रकार के अन्य सम्बन्ध भी जैसे कि सभी "सीगो-

1 न्यायबिंदु 3।

2 देखिए न्यायकदली, पृष्ठ 207। वाचस्पति दिङनाग से उद्धृत करता है— 'सर्वोऽयम् अनुमानानुमेयभावो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिरसदसत्त्वम् अपेक्षते।' (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1 1 5)।

3 न्यायमजरी, पृष्ठ 114, और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका 1 1, 5।

वाले पशुओं के खुर फटे हुए होते हैं", व्याप्ति के अन्दर आते हैं।[2]

10 कारण

अन्य सब सामान्य सिद्धान्तों की भांति, कार्यकारणभाव का नियम भी नैय्यायिक के लिए एक अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञात स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है, जिसकी पुष्टि अनुभव द्वारा होती है। देखे गए कार्यकारण-सम्बन्धों में उस सिद्धान्त का समर्थन होता है जिससे समस्त अनुसंधान आरम्भ होता है। कारण वह है जो, बिना अपवाद के, कार्य से पूर्व विद्यमान रहता है और जिसकी आवश्यकता केवल मात्र सहायक के रूप में ही नहीं, बल्कि कार्य की उत्पत्ति के लिए भी है। यह एक घटनाक्रम का पूर्ववर्ती अवयव है, जो सतत रूप से अनेक अवस्थाओं में पूर्ववर्ती रहा है। किन्तु केवल पूर्ववर्ती होना ही पर्याप्त नहीं है।[3] इसे एक आवश्यक पूर्ववर्ती होना चाहिए।

अन्यथासिद्ध उस पूर्ववर्ती को कहते हैं जिसका सम्बन्ध कार्य के साथ कार्यकारण रूप में न हो, यद्यपि उसके साथ विद्यमान भले ही रहा हो। विश्वनाथ[1] इस प्रकार के विभिन्न अन्यथासिद्ध कारणों का उल्लेख करता है। हम अपनी उंगली द्वारा किसी पदार्थ की आकाशीय स्थिति का संकेत कर सकते हैं। इस प्रकार उंगली द्वारा किया गया संकेत भले ही सतत उपस्थित रहता हो किन्तु आकाशीय स्थिति के प्रत्यक्ष के साथ यह कार्यकारणभाव से सम्बद्ध नहीं है। कुम्हार का डंडा एक निरुपाधिक पूर्ववर्ती है, जबकि उस डंडे के रंग से कोई प्रयोजन नहीं है। डंडे की गति से जो शब्द होता है, वह भी एक सहजात कार्य है। नित्य और सर्वव्यापी द्रव्य, जिन्हें स्वेच्छा से न तो उपस्थित ही किया जा सकता है और न हटाया ही जा सकता है, निरुपाधिक पूर्ववर्ती नहीं हैं। उपाधि की उपाधि का भी, जैसे कि कुम्हार के बाप का घड़े के निर्माण से कोई सम्बन्ध नहीं है, हम केवल तात्कालिक पूर्ववर्तियों से प्रयोजन है। एक ही कारण के सहजात कार्यों में भी कभी-कभी परस्पर कार्यकारण-सम्बन्ध की भ्रान्ति हो जाती है। गुरुत्वाकर्षण के सामान्य कारण से तराजू के पलड़ों का ऊपर उठना एवं नीचे गिरना होता है। जब ये दोनों सहजात कार्य एक-दूसरे के पश्चात् होते हैं, तब इस विषय की बहुत आशंका रहती है कि कहीं पूर्ववर्ती सहजात कार्य को पश्चाद्वर्ती सहजात कार्य का कारण न समझ लिया जाए। कार्य की उत्पत्ति के

1 प्रशस्तपाद उल्लेख करता है कि कार्यकारणभाव के विपरीत सह-अस्तित्व, जैसे कि चन्द्रमा के उदय में समुद्र के ज्वार तथा कुमुदिनी के खिलने का सम्बन्ध मिलता है, व्याप्ति के अन्दर आ जाता है (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 205)।

2. ग्लैंडावर —मेरे जन्म दिन में
आकाश का पूर्ण भाग आग्नेय आकृतियों से
तथा जलती हुई मशालों से भरा था, और मेरे जन्म के समय
पृथ्वी का यह महान ढांचा अपनी नींव समेत
एक भीरु मनुष्य की भांति कांप उठा था।

हाट्सपर —क्यों, यदि तुम्हारी मां की बिल्ली ने भी उसी मौसम में बच्चे दिए होते तो भी ऐसा ही होता, तुम्हारा जन्म भले ही उस समय न हुआ होता (1 हेनरी 4, 3, 1, 13)।

3 'सिद्धान्तमुक्तावलि', पृष्ठ 19-22।

लिए जो अनावश्यक है, वह उसका अनुपाधिक पूर्ववर्ती नही है। कारण को आनुषङ्गिक परोक्ष एवं नैमित्तिक या आकस्मिक उपकरणों के साथ मिश्रित नही करना चाहिए।[1] यह मानी हुई बात है कि यदि बाधक शक्तिया उपस्थित हैं तो कारण से कार्य नही निकलेगा। इसलिए कभी-कभी 'प्रतिबन्धकाभाव' को भी कारण की परिभाषा मे जोड़ दिया जाता है। केशव मिश्र ने कारण की परिभाषा इस प्रकार की है कि ऐसा आवश्यक पूर्ववर्ती जिससे कोई अन्य कार्य सम्पन्न न हो सके, कारण है। धागे कपड़े के कारण बनते हैं किन्तु उनका रंग कारण नहीं है, क्योंकि रंग कपड़े के विशेष रंग का कारण भले ही हो, कपड़े का कारण नही है।

ऐसे दो पदार्थों का परस्पर कार्यकारण-सम्बन्ध नही हो सकता जब तक कि उनके बीच अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध न हो अर्थात् कारण की विद्यमानता का अर्थ कार्य की विद्यमानता और कारण के अभाव का अर्थ कार्य का अभाव हो। कार्यकारण-सम्बन्ध पारस्परिक तथा प्रतिलोमी होते है। वे रहस्यमय शक्तियां नहीं हैं। उनका निश्चय इन्द्रियानुभव द्वारा पूर्वापरक्रम को देखकर किया गया है जो एकसमान तथा अपवाद-रहित है।[2] तथ्यो के सावधानी से निरीक्षण पर बल दिया गया है। उदयन कहता है—हमको परिश्रम के साथ प्रयास करके ऊहापोह के द्वारा अनेकों परिमितताओं तथा पृथक्करणों का निर्णय करना चाहिए।[3] प्रकृति हमारे समक्ष अन्तर्निहित सामग्री को जटिलरूप मे प्रस्तुत करती है। हमें अपनी विवेकबुद्धि द्वारा पूर्वापरक्रम की विवेचना करके असम्बद्ध अंशो को कार्य-कारण से अलग करना होगा। हमे यह भी खोज करनी होगी कि क्या कार्य का तिरोभाव संदिग्ध कारण के तिरोभाव की वजह से है? इस सब अनुसन्धान मे इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है कि अन्य किसी परिस्थिति मे तो परिवर्तन नही हुआ है। पूर्ववर्ती की अनुपाधिकता का निश्चय करने मे भेदपरक उभयविधि के प्रयोग का बड़ा महत्त्व है, जैसी कि पञ्चकारणी नामक बौद्ध सिद्धान्त मे पाई जाती है।[4]

कार्यकारण-सम्बन्ध न तो हेतुमुख और न ही फलमुख से प्राप्त किए जाते है। वे प्रस्तुत तथ्य नहीं हैं, बल्कि प्रस्तुत सामग्री के आधार पर की गई बौद्धिक रचनाएं हैं। यह कहना कि 'क' 'ख' का कारण है, इन्द्रियज्ञानगम्य विशिष्टों से ऊपर जाना और पूर्वापरक्रम के नियम का ज्ञान प्राप्त करना है। कार्यकारण का नियम केवल घटनाओं का क्रम न होकर तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध है। जबकि तत्त्व प्रस्तुत किए जाते हैं, सम्बन्ध प्रस्तुत नही किया जाता।

यदि हम कारणों के अनेकत्व को स्वीकार करें तो कार्यकारणभाव के नियम की प्रयत्नपूर्वक की गई व्याख्या बिलकुल ही निरर्थक हो जाती है। और यदि कारणों के अनेकत्व मे कोई वैज्ञानिक सचाई है तो अनुमान प्रमाण ज्ञान-प्राप्ति का प्रामाणिक साधन न रहेगा।[5] यदि हम किसी नदी का पानी बढ़ा हुआ देखें तो हम केवल यही अनुमान

1 अन्यथासिद्धनियमपूर्ववृत्तिकारणम्। देखिए तर्कसंग्रह पृष्ठ 38, तर्कभाषा, पृष्ठ 11।
2 भाषा-परिच्छेद पृष्ठ 16।
3 कुसुमाञ्जलि, 1 6।
4 भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 427।
5 न्यायभाष्य, 2 · 1, 37 38।

नहीं कर सकते कि यह पिछली वर्षा का परिणाम है। ऐसा आंशिक रूप में नदी के तट पर बांध बांधने से भी सम्भव हो सकता है। यदि हम चींटियों को अण्डे ले जाते हुए देखें तो यह कार्य उनके आश्रय-स्थानों के बिगड़ जाने से भी हो सकता है, और यह आवश्यक नहीं है कि यह आनेवाली वर्षा के ही कारण हो। मोर की केका-ध्वनि सुनाई पड़े तो यह निश्चित रूप से बादलों के घिरने के कारण ही नहीं हो सकती है। यह भी सम्भव हो सकता है कि कोई विशेष व्यक्ति मोर की आवाज की नकल कर रहा हो। न्याय का मत है कि कारणों में अनेकत्व नहीं है और एक कार्य के लिए एक ही कारण है। कारणों के अनेकत्व की प्रतीति त्रुटिपूर्ण विश्लेषण के कारण है। यदि कार्य को पर्याप्त रूप से परिमित तथा विशिष्ट बना दिया जाए तो अनेकत्व गायब हो जाता है। वर्षा के कारण नदी का बढ़ना और प्रकार का होता है और तट पर बांध बन जाने से नदी का बढ़ना और प्रकार का होता है। वर्षा के कारण आई हुई बाढ़ में पानी की धारा बहुत वेगवती होती है, पानी में झाग भी बहुत रहता है और फूल-पत्ती व फल आदि भी अधिक राशि में बहते हुए पाए जाते हैं। इसी प्रकार आश्रय-स्थान के बिगड़ने से जो चींटियां अण्डे लेकर भागती हैं उनकी गति में और वर्षा के आगमन की सूचना से जो चलती हैं उनकी गति में भी काफी अन्तर है। मोरों की स्वाभाविक [illegible] तथा मनुष्य के द्वारा की गई उसकी नकल में तो स्पष्ट ही भेद किया जा सकता है। यदि हम कार्य के विशेषत्व की ओर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि उसका एक ही विशेष कारण है। यदि हम कार्य का भावात्मक अमूर्तरूप से विचार करते हैं तो कारण का भी विचार उसी रूप से करना चाहिए। वाचस्पति और जयन्त हमें बताते हैं कि कारणों पर यदि हम पूरा-पूरा ध्यान देकर उनके वैशिष्ट्य को जांच करें तो उनका अनेकत्व मिट जाएगा। परन्तु कई तार्किक यह मान लेते हैं कि एक ही कार्य के विभिन्न सम्भावित कारण एक सामान्य शक्ति अथवा क्षमता (अतिरिक्त शक्ति) रखते हैं। कारणों के अनेकत्व को हम केवल उसी अवस्था में स्वीकार कर सकते हैं जबकि हम विज्ञान से विमुख होना पसन्द करें। उस अवस्था में, जैसाकि परवर्ती न्याय हमें बतलाता है, चूंकि किसी भी कार्य के लिए एक से अधिक कारण-कलाप की कल्पना हम कर सकते हैं, अतः कार्य उनमें से कारणसमूह का नहीं, किसी एक विशेष बल्कि प्रत्येक का चिह्न है। यदि कार्य के अभाव का हमें निश्चय हो तो उक्त कारणों में से भी किसी एक के अभाव का नहीं, बल्कि प्रत्येक के अभाव का निश्चय होना चाहिए। इन अर्थों में, सम्भावित और वैकल्पिक कारण-कलापों में से कोई एक ही ऐसा होगा कि जिसकी विद्यमानता से कार्य की भी सतत रूप से और बिना किसी उपाधि के विद्यमानता अवश्यम्भावी है। कारण को लक्षित करानेवाला (कारणतावच्छेदक) चिह्न सम्भावित कारण-कलापों में से किसी एक की उपस्थिति को ही बतलाता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

तीन प्रकार के कारण माने गए हैं[1]—(1) उपादान (भौतिक) कारण वह सामग्री है जिससे कार्य का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए धागे कपड़े का उपादान कारण हैं और मिट्टी घड़े का उपादान कारण है।[2] (2) अभौतिक अथवा असम-

1 वैशेषिकसूत्र, 10 2, 1-7, तर्कभाषा, पृष्ठ 15 25, भाषा परिच्छेद, 17-18, तर्कसंग्रह, 40।

2 न्याय के अनुसार, कार्य का नाश उपादान कारण के विनाश से होता है। जब एक धागे को नष्ट करते हैं तो असली कपड़ा भी नष्ट हुआ माना जाता है। इस तथ्य का समाधान कि कपड़ा उस अवस्था में भी बना रहता है और जुलाहे व उसको भरनी आदि की आवश्यकता उसके नये सिरे से

यायी कारण वह है जो भौतिक कारण मे रहता है और जिसकी क्षमता अच्छी तरह जानी हुई है। धागो का परस्पर सयोग कपडे का अभौतिक कारण है। यदि धागो को जोडा न जाएगा तो वे केवल एक बण्डलमात्र ही रह जाएगे और कपडे का निर्माण न कर सकेगे। धागो का रग भी अभौतिक कारण है क्योकि उसकी क्षमता कपडे के अन्दर रग लाने के सम्बन्ध मे जानी हुई है। उपादान कारण द्रव्य है, किन्तु अभौतिक कारण गुण अथवा क्रिया है।[1] न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपादित परमाणुवाद के सिद्धात के अनुसार भौतिक जगत मे समस्त परिवर्तन अशो के परस्पर जुडने व अलग होने के कारण होता है। मूल घटक यही परमाणु है, यद्यपि उनका योजनाक्रम प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है। निमित्त कारण पूर्वोक्त दोनो कारणो से भिन्न है। यह वह कारण है जिसकी प्रेरणा से कार्य की उत्पत्ति होती है, अर्थात् कार्य का प्रयोजन या साधन जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है। कुम्हार घडे का निमित्त कारण है, जबकि कुम्हार का डडा व चाक आदि सहकारी कारण हैं।[2] ये तीनो कारण अरस्तू द्वारा प्रतिपादित भौतिक, औपचारिक तथा निमित्त कारणो से अनुकूलता रखते है। स्वय कार्य को अरस्तू का अन्तिम कारण माना जा सकता है।

कभी-कभी ऐसे कारण को जो तुरत कार्य को उत्पन्न करता है, करण कहा जाता है और उसकी परिभाषा है कारणविशेष।[3] केशव मिश्र के अनुसार यह उच्चकोटि का कारण है।[4] कारणो के सग्रह मे कारण वह है जो तुरत कार्य को उत्पन्न करे।[5] प्रत्यक्ष ज्ञान की क्रिया मे ज्ञाता तथा ज्ञेय पदार्थ दोनो का उपस्थित रहना आवश्यक है, यद्यपि प्रधान कारण इन्द्रिय-सम्पर्क है। नीलकण्ठ ने करण की परिभाषा मे कहा है कि ऐसा कारण जिसके बिना अभिलषित कार्य किसी भी अवस्था मे उत्पन्न न हो सके।[6] घडे की उत्पत्ति मे कुम्हार का डडा साधनरूप कारण है। जगल का डडा कारण नही है। यह तभी कारण बनता है जबकि घडे की उत्पत्ति मे इसका प्रयोग वस्तुत किया जाता है। इसलिए 'व्यापारवद्'

निर्माण के लिए नही पडती इस धारणा मे होता है कि मौलिक उपादान कारण का सर्वथा नाश नही हुआ था बल्कि वह बचे हुए धागो मे एक अन्तर्निहित स्वत उत्पादक सस्कार अथवा स्वभाव (स्थितिस्थापक सस्कार) के रूप मे बना रहा था जिसमे कि वे तुरन्त एक नये कपडे को उत्पन्न कर सकें।

1 साख्य और वेदान्त ने इस दूसरे प्रकार के कारण को स्वीकार नही किया है। वे कार्य तथा कारण को तादात्म्य नियम मे आबद्ध मानते हैं। दोनो को परस्पर बाधने के लिए किसी कडी की आवश्यकता नही है। समवायी तथा असमवायी कारणो मे भेद करना टिक नही सकता। वस्तुत निमित्त कारण ही असमवायी कारण है। साख्य और वेदान्त तो उपादान तथा निमित्त कारणो को स्वीकार भी करते हैं किन्तु बौद्ध इस भेद को भी स्वीकार नही करते। प्रत्येक घटना क्षणिक है जो अन्य को उत्पन्न करती रहती है। दूध के अन्दर प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है, केवल हम उसे एक स्थिति मे दूध और दूसरी मे दही कहते हैं।

2 निमित्त कारणो मे सामान्य और विशिष्ट दो भेद किए गए हैं। सामान्य कारण आठ हैं ईश्वर उसका ज्ञान इच्छा और कर्म पूर्ववर्ती अभाव, देश काल, धर्म (पुण्य) और अधर्म (पाप), इनमे कभी कभी बाधक प्रभावो के अभाव को भी जोड दिया जाता है (तर्कसग्रह _07 208)।

3 असाधारण कारण करणम (तर्कसग्रह, 37)।

4 प्रकृष्ट कारणम।

5 अविलम्बन कार्योत्पत्ति।

6 'तर्कसग्रह 186।

विशेषण जोड़ दिया जाता है। आधुनिक न्याय एक पग और आगे बढ़ता है और कहता है कि कारण वह नहीं है जिसके अन्दर व्यापार अथवा क्रिया रहती है, बल्कि स्वयं क्रिया ही कारण है जो उपयुक्त कार्य का निकटतम कारण है।[1]

परवर्ती न्याय में कार्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि कार्य "अपने पूर्ववर्ती निषेध का प्रतिपक्षी अस्तित्व है।"[2] यह पूर्ववर्ती निषेध का निश्चित सह-संबंधी है। यह कहना कि कार्य का पहले अभाव होता है, यह स्वीकार करना है कि कार्य का आरम्भ होता है। यह असत्कार्यवाद का सिद्धांत है। इसे, दूसरे शब्दों में, आरम्भवाद भी कहते हैं। किन्तु क्रमविकासवाद का सिद्धांत यह है कि कार्य का अस्तित्व कारण में पहले से नहीं रहता किन्तु कार्य की उत्पत्ति नये सिरे से होती है, जिसे यों भी कह सकते हैं कि वस्तुसत्ता में रचनात्मक क्रम है जिसके अनुसार उसमें नित्य नूतन स्वरूप की वृद्धि होती रहती है।[3] कई बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व न तो उसके अस्तित्व को ही स्वीकार किया जा सकता है और न अभाव को ही, और दोनों को एक साथ भी नहीं माना जा सकता। न्याय का कहना है कि कारण से उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का अभाव रहता है और इस विचार की समता न्याय के इस सिद्धांत से भी ठीक बैठती है कि पूर्णरूप उन अंशों से जिनसे मिलकर वह बनता है, बिलकुल भिन्न है।[4] सांख्य तथा वेदांत का आग्रह है कि कार्य में पहले से विद्यमान क्षमताओं का वास्तविकीकरण होता है। सांख्य के मतानुसार निमित्त कारण केवल प्रकट होने की प्रक्रिया में सहायक मात्र है। नैयायिक इस मत की आलोचना इस प्रकार करता है कि यदि कपड़ा पहले से ही धागों में विद्यमान है तो हमें वह दिखाई क्यों नहीं देता? धागे ही कपड़ा नहीं हैं, कपड़े की तरह हम धागों को पहन नहीं सकते। कपड़ा प्रकट नहीं होता यह कोई तर्क नहीं है, क्योंकि प्रकट न होना ही तो वास्तविक समस्या है। यदि प्रकट होने से तात्पर्य "ऐसी आकृति के रूप में विद्यमान न रहना है जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और जो कार्य करने में सक्षम है" तो यह कारण की क्रिया से पूर्व कार्य का स्पष्ट ही अभाव है। कोई पदार्थ जो कारण की क्रिया से पूर्व एक आकृति-विशेष में विद्यमान नहीं था, अब कारण की क्रिया से अस्तित्व में आया है।[5] कार्य कारण से आकृति, क्षमता और स्थिति में भिन्न है। इसके अतिरिक्त, यदि सांख्य के अनुसार कार्य की कारण से अभिन्नता के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए तो यह समस्त भौतिक जगत् ही जो आद्य प्रकृति से बना है, प्रकृति के समान ही अदृश्य होना चाहिए। यदि कार्य का विस्तार शून्य आकाश में कारण ही के समान है तो इसका कारण यह है कि

1 फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणम्।

2 प्रागभावप्रतियोगी (तर्कसंग्रह, 39)।

3 कणाद ने यह दर्शाने के लिए कि कारण और कार्य सर्वथा भिन्न हैं, अनेकों युक्तियों का आश्रय लिया है (1) वे भिन्न-भिन्न विचारों के पदार्थ हैं, (2) और भिन्न-भिन्न शब्दों के भी; (3) वे भिन्न-भिन्न कार्यों को उत्पन्न करते हैं, और (4) समय के भिन्न-भिन्न क्षणों में होते हैं; (5) आकृति में भी अन्तर है (6) संख्या में भी, क्योंकि धागे अनेक हैं और कपड़ा एक है, (7) यदि कारण और कार्य एक समान होते तो कारण से कार्य को उत्पन्न करने के लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता न होती। और देखिए न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 3 2, 17।

4 न्यायसूत्र, 4 1, 48 54।

5 न्यायवार्तिक, 4 1, 49।

आधार कारण मे है। इसलिए प्राकृतिक तथ्यो द्वारा निर्दिष्ट इस मत को कि पदार्थ नये सिरे से उत्पन्न और नष्ट होते है अस्वीकार करने का कोई कारण प्रतीत नही होता।[1] यह मत भी, कि जब दूध दही के रूप मे परिवर्तित होता है तो केवलमात्र रूप मे परिवर्तन होता है, विनाश की कोई क्रिया नही होती, तर्कसंगत नही है। जब हम किसी नये पदार्थ को पुनर्निर्माण की नई विधि द्वारा बनते हुए देखते हैं तो उससे हम अनुमान करते है कि पहला पदार्थ नष्ट हो गया।[2] दूध के सघटित अवयव पहले फट जाते है और फिर वे पुन सघटित होकर दही को उत्पन्न करते है। नैय्यायिक स्वीकार करता है कि पूर्व पदार्थ का पूर्णरूपेण विनाश होने से नये पदार्थ का निर्माण होना असम्भव होगा। तात्पर्य यह निकला कि पदार्थ केवलमात्र अपनी पूर्वस्थिति को छोडता है, यद्यपि नैय्यायिक इसे प्रकट रूप मे स्वीकार करने को प्रवृत्त नही होता।

साख्य तथा वेदात के ग्रथो मे, जिनका सिद्धात कार्य-कारण भाव के सबध से भिन्न है, न्याय के विचार की आलोचना की गई है। यहा साख्यकारिका से एक दृष्टान्त दिया जा सकता है।[3] जिसका अस्तित्व नही है उसे कभी भी उत्पन्न नही किया जा सकता। हम चाहे कितना ही प्रयत्न क्यो न करे, नीले को पीले मे परिवर्तित नही कर सकते। और फिर उपादान कारण सदा ही कार्य के साथ जुडा हुआ मिलेगा, जैसे कि तेल के साथ तिल। क्योकि अभावात्मक पदार्थ के साथ सम्बन्ध सम्भव नही है, इसलिए कार्य को कारण मे विद्यमान मानना पडेगा। ऐसा कहना, कि कारण से कार्य की उत्पत्ति हो सकती है बिना उसके साथ सम्बन्ध रहते हुए भी, असगत होगा। क्योकि उस अवस्था मे, कोई भी पदार्थ किसी भी कारण से उत्पन्न हो सकता है और कार्यविशेष की उत्पत्ति के लिए कारणविशेष का भी प्रश्न नही उठता।[4] यदि कहा जाए कि असम्बद्ध कारण अपने अन्दर छिपी हुई क्षमता के कारण कार्य को उत्पन्न कर सकता है,[5] तो यदि उस शक्ति का कार्य से सम्बन्ध है तो यह कहना भी सर्वथा उचित ही होगा कि कार्य कारण के अन्दर पहले से विद्यमान है, और यदि सम्बन्ध नही है तो इस कठिनाई का कि एक कार्यविशेष एक शक्तिविशेष से क्यो उत्पन्न होता है, कोई हल नही मिलता। इसके अतिरिक्त, क्योकि कारण और कार्य दोनो की एक ही प्रकृति है, अत यदि एक विद्यमान है तो दूसरे को भी अवश्य विद्यमान होना चाहिए। साख्य और वेदात का आग्रह है कि यदि कार्य कारण से

1 न्यायभाष्य, 4 · 1, 49।
2 न्यायभाष्य, 3 2 16।
3 9।

4 इस मत के अनुसार कहा जाता है कि असम्भव पदार्थ जैसे शशक का सीग भी उत्पन्न किया जा सकता है। न्याय इसका उत्तर इस प्रकार देता है कि हमारे मत से जो कुछ उत्पन्न होता है वह पहले विद्यमान नही था, किन्तु हरएक पदार्थ जिसका पहले अस्तित्व न रहा हो उत्पन्न हो सकता है ऐसी बात नही है (न्यायमजरी पृष्ठ 494)।

5 यह उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता नही है तो उत्पादक की कार्यशीलता का क्षत्र कार्य से अलग कही और कल्पना करना पडेगा। दूसरे शब्दो मे, धागो के प्रति उत्पादक का प्रयत्न घडे को उत्पन्न कर सकता है। वैशेषिक इस कठिनाई का समाधान इस प्रकार करता है कि एक कारण विशेष मे जो निया लगाई जाती है वह उन्ही कार्यो को उत्पन्न कर सकती है जिनकी क्षमता उस कारण मे निहित हो।

अथवा भिन्न हैं तो दोनों को जोड़नेवाला कोई निर्णायक सिद्धांत नहीं हो सकता। नैयायिक का कहना है कि यदि कार्य कारण से भिन्न नहीं है तो हम उनके अन्दर कारण और कार्य का भेद नहीं कर सकते। दोनों विचार तर्कसंगत हैं, यद्यपि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर।

इस विषय से आगे बढ़ने से पूर्व हम न्यायशास्त्र के कार्यकारणभाव के विषय में [illegible] है। पूर्ववर्तित्व [illegible] कारण है, और [illegible] जब तक कि कार्य रहता है, और कार्य के पूर्व या पश्चात् कारण का अस्तित्व अनावश्यक है। सत्य की निष्ठा से नहीं किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से नैयायिक कार्यकारण भाव के लिए पूर्ववर्तित्व के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करता है।[1] पूर्ववर्ती अवस्थाओं के विषय में, और उस परिवर्तन के विषय में जो अवस्थाओं को एकत्र कर उन्हें कारण बना देता है जिससे कि वे कार्य को उत्पन्न करते हैं, न्याय का विश्लेषण भ्रमपूर्ण है। अवस्थाओं के एकत्र हो जाने से कार्य तुरन्त उत्पन्न हो जाता है। और यदि वे एकत्र नहीं होतीं तो कारण विद्यमान रहते हुए भी कार्य को उत्पन्न करने का काम प्रारम्भ नहीं करता। कार्य की उत्पत्ति के बिना कारण विद्यमान नहीं रह सकता। परिवर्तन की प्रक्रिया स्वयं कार्य है, उसके अतिरिक्त और किसी को कार्य नहीं कह सकते। अतः, उनके एकत्रीकरण और कार्य की उत्पत्ति में भेद करना काल्पनिक है।[2] शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है कि हम पूर्ववर्तिता और अनुवर्तिता अथवा अविभाज्यता दोनों पर जोर नहीं दे सकते। यदि कारण और कार्य परस्पर अविभाज्य सम्बन्ध से हैं, अर्थात् अयुतसिद्ध हैं, तो कारण का सदा कार्य से पूर्व होना आवश्यक नहीं है। यह कहना अधिक यथार्थ होगा कि कारण और कार्य एक ही वस्तु की दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं, अपेक्षा इसके कि वे दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं और अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं।[3] इस निष्कर्ष की पुष्टि न्याय के समवाय-सम्बन्ध अथवा अन्तर्निहितता पर बल देने से होती है। यदि कार्य तथा कारण परस्पर समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं तो उन्हें तादात्म्य-सम्बन्ध से सम्बद्ध मानना अधिक सरल होगा।

यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति के तथ्य अपने में कार्यकारण-सम्बन्धों को इतने स्पष्ट रूप में धारण किए हुए हैं कि केवल आंख खोलकर देखने मात्र से ही उनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाएगा। हम कहते हैं कि 'क' 'ख' का कारण है, अथवा यह कि 'क' आवश्यक है या 'ख' आनुषङ्गिक है, और इस प्रकार हम अपने अनुभव में क्रम का निर्माण करते हैं। कार्यकारणभाव हमारे विचार का एक रूप है अथवा बुद्धि की एक वृत्ति है। यह

1 कुसुमाञ्जलि 1 19।

2 कार्यकारणभाव वस्तुतः समय के अन्दर हो रही परिवर्तन-सम्बन्धी निरन्तर प्रक्रिया को पर्यवेक्षण [illegible] ... [illegible] है। (ब्रैडले : लॉजिक, 2, पृष्ठ 539 टिप्पणी)। कार्यकारणभाव का सूत्र एक रचनात्मक एकता है जिसको खोज और जिसका निर्माण हम परिवर्तनों के निरन्तर क्रम में करते हैं। किन्तु इस क्रम के प्रवाह में इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, पर यह पहले व्याप्तियों के रूप में रहता है (वही, पृष्ठ 540)।

3 शांकरभाष्य, 2 2. 17।

विश्व-नियमों के अधीन शासित होता है, यह एक स्वीकृत पक्ष है जिसे हम तर्कशास्त्र में स्वीकार कर लेते हैं और तब आगे चलते हैं, यद्यपि अध्यात्मशास्त्र में इसे सिद्ध करना होता है। जीवन में हम असली कारण को नहीं पूछते अथवा किसी भी घटना की व्याख्या नहीं चाहते। बल्कि एक विशेष कार्य को करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उनके ज्ञानमात्र से ही सन्तोष कर लेते हैं। मिट्टी घड़े का कारण है जहां प्रकृति तो मिट्टी प्रदान करती है और कुम्हार उसका उपयोग अपने प्रयोजन के लिए करता है। अवस्थाओं या परिस्थितियों का कहीं अन्त नहीं है और इसलिए हमारी सब स्थापनाएं सापेक्ष होती हैं। हम कहते हैं कि यदि ऐसी ऐसी अवस्थाएं हों और यदि इसके विरोधी कारण न हों तो अमुक कार्य अवश्य होगा। कारणों के भी कारण के विषय में जो कठिनाइयां हैं और उनकी वजह से जो विपरीत परिणाम हो सकता है, उन्हें नैय्यायिक केवल विवादास्पद कहकर त्याज्य समझता है। कारण और कार्य दोनों ही अस्थायी घटनाएं हैं। ये नित्य-सत्य नहीं हैं यद्यपि हम इनको अपना अस्तित्व रखने वाले पदार्थ समझकर इनकी व्याख्या करने में प्रवृत्त होते हैं। परमाणु यदि कारणरूप हैं तो वे यथार्थ नहीं हो सकते। कारण का परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं है और जो भी परिवर्तनशील है वह केवल अस्थायी घटनामात्र है। विश्लेषण करने पर कार्यकारणभाव केवल एक क्रम प्रतीत होता है ऐसी घटनाओं का, जो सदा एक-दूसरे पर निर्भर करती हैं, फिर भी हम उसे एक वास्तविक प्रत्यय की तरह प्रयुक्त करने को बाध्य हो जाते हैं। अनुभव के क्षेत्र में यह निश्चित रूप से उपयोगी है किन्तु हम इसकी नितान्त प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं कर सकते। कार्यकारणभाव अनुभव का एक रूपमात्र है।[1]

कारण में कार्य का अभाव है यह विचार जो न्याय ने स्वीकार किया है, इसका उद्गम इस प्राकृतिक पक्षपात से है कि यथार्थ वह है जो प्रत्यक्ष हुआ हो।[2] हम वस्तुतः उच्चतर और अधिक जटिल स्तरों को निम्न तथा सरल स्तरों से उदय होते देखते हैं, जिनमें वे पहले नहीं पाए गए थे। वर्तमान समय के अनेक वैज्ञानिक विचारक यथार्थसत्ता-सम्बन्धी इस विचार को एकदेशिक शृंखला के रूप में स्वीकार करते हैं, अर्थात् सरल से जटिल की ओर बढ़ना, तथा नीचे से ऊपर की ओर बढ़ना। वे यथार्थवादी नैय्यायिक से इस विषय में मतभेद रख सकते हैं कि अन्तिम सरल इकाई का स्वरूप क्या है। किन्तु उनकी व्याख्या का आदर्श तत्त्वरूप से वही है। हम चाहे भौतिक परमाणुओं से आरम्भ करें, जैसा कि नैय्यायिक करता है, या इलेक्ट्रानों से आरम्भ करें, जैसा कि आधुनिक वैज्ञानिक करता है, अथवा निरपेक्ष सामग्री या इन्द्रिय-सामग्री अथवा देशकाल से आरम्भ करें और उत्तरोत्तर बढ़ती विविध जटिलताओं में से गुजरें, जैसा कि कुछेक समकालीन यथार्थवादी करते हैं हमें एक अपर्याप्त आदर्श व्याख्या को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना होता है। दार्शनिक बोधगम्यता की पहली शर्त यह है कि अधिक में से न्यून निकल सकता है, किन्तु न्यून में से अधिक नहीं निकल सकता। विचारधारा की स्वाभाविक प्रवृत्ति हमें इसी सिद्धान्त को स्वीकार करने की प्रेरणा करती है। नदी की धारा अपने निकास-स्थान की ऊंचाई से ऊपर नहीं उठ सकती। यदि किसी मत में बोधगम्यता की पूर्व-सिद्ध शर्तें भंग होती हों तो, हमें बताया जाता है कि, उन शर्तों को छोड़ देना चाहिए। किन्तु हम अपनी मानसिक रचना में यथार्थवाद के आदेशानुसार परिवर्तन नहीं कर सकते।

1 आरोपित अथवा अप्यस्थ धर्म।
2 न्यायभाष्य, 2 2, 18।

विचार उपलक्षित, किन्तु अव्यक्त अथवा सम्भावित को भी ग्रहण करने के लिए बाध्य होना है और स्वीकार करता है कि कार्य अव्यक्त रूप से अथवा सम्भावित रूप से कारण में पहले से अन्तर्निहित था। एक विशुद्ध यथार्थवादी की दृष्टि से विकास केवल आविर्भाव मात्र है। और यदि यह विकास को, आविर्भाव से कुछ अधिक मानता है तो अपना ही विरोध करता है। अलेक्ज़ेण्डर सरीखे यथार्थवादी जब सघर्ग और उच्चतम गुणों अथवा जीवधारियों के विकास की चर्चा करते हैं तो वे देशकाल के अतिरिक्त, अन्य किसी सिद्धांत की भी कल्पना कर लेते हैं। यदि यथार्थवादी केवल उसीको जो वास्तविक है, यथार्थ मानता है और सम्भावित को निरर्थक अभिव्यक्ति कहकर छोड़ देता है तो कार्यकारण-वाद समझ में नहीं आ सकता। नैय्यायिक अपने मत का स्वयं उल्लंघन करता है जब वह परमाणुओं तथा आत्माओं की यथार्थता को स्वीकार करता है जोकि देखे नहीं जाते। वे यथार्थ जिन्हें हम देखते हैं, उत्पन्न होते तथा नष्ट होते हैं और इसलिए वे अनित्य हैं। नित्य पदार्थ हमें दृष्टिगोचर नहीं होते, इसके बावजूद भी हम उनके अस्तित्व की धारणा करते हैं। यथार्थवादी काल के महत्त्व की अतिशयोक्ति के साथ मानने के लिए बाध्य होता है। गुयाऊ 'काल' पर लिखी अपनी छोटी-सी पुस्तक में कहता है कि "काल को हम आधुनिकों ने एक प्रकार की रहस्यपूर्ण यथार्थसत्ता बना दिया है और उसे दैव-सम्बन्धी पुराने विचार के स्थान में रखकर सर्वशक्तिमान बना दिया है।"[1] काल की परिपूर्णता-विषयक प्रकल्पना के आधार पर हमें कभी भी इस विश्व के, जो न तो निश्चित है न स्थायी है, उद्देश्य का निश्चय नहीं हो सकता। हम ऐसे जगत् में निवास करते हैं जो परिवर्तित होता रहता है और जहां किसी भी पदार्थ से कोई भी पदार्थ प्रकट हो सकता है। इस प्रकार की योजना में परमात्मा का कोई स्थान नहीं बनता, जब तक कि हम यह पवित्र धारणा न कर लें कि पदार्थों का प्रवाह ऊपर की दिशा में है और स्वयं परमात्मा भी निर्माण की प्रक्रिया के अन्दर है। प्रोफेसर अलेक्ज़ेण्डर हमें विश्वास दिलाते हैं कि दैव मन से आगे का उच्चतर गुण है। हमें अवश्य यह प्रश्न करना चाहिए कि फिर परमात्मा के आगे उससे ऊंचा क्या है?

नैय्यायिक आग्रहपूर्वक कहता है कि कार्य तथा कारण के मध्य में बराबर तारतम्य है। यदि हम न्याय के मत को आधुनिक विज्ञान की परिभाषा में सिद्धान्त के रूप में रखना चाहें तो कह सकते हैं कि यह समस्त कार्यकारणभाव को शक्ति के व्यय के रूप में मानता है। यह प्रकृति की कार्यप्रणाली में किसी भी अतीन्द्रिय शक्ति की सत्ता को मानने से निषेध करता है, यदि हम क्षण-भर के लिए इसके अदृष्ट पुण्य-पापविषयक विचार को दृष्टि से ओझल कर दें। कार्यकारणभाव केवल शक्ति का पुनर्विभाजन है। कारण परिस्थितियों का सग्रहमात्र है (कारण-सामग्री) और कार्य वह है जो उनसे उत्पन्न होता है।[2] साधारण बुद्धि के इस विचार की मान्यता को ठीक बताने के लिए कि पदार्थ उत्पन्न होते तथा नष्ट होते हैं, नैय्यायिक प्रकृति के तारतम्य को दृष्टि से ओझल कर, खतरा मोल लेता है। वह इस सर्वमान्य विचार के साथ कि 'असत् से कुछ उत्पन्न नहीं होता, इस

1. फिलासाफिकल रिव्यू, सितम्बर 1923, पृष्ठ 466 में उद्धृत।

2. जैसा कि हम देखेंगे, वैशेषिक स्वीकार करता है कि कारण के गुण कार्य के गुणों के कारण होते हैं। मिट्टी का काला रंग घड़े के काले रंग का कारण है, जब तक कि ताप की विरोधी शक्ति उसका रंग न बदल दे। वैशेषिक में इसका अपवाद अणुओं से द्व्यणुकों और द्व्यणुकों से त्र्यणुकों की उत्पत्ति में पाया जाता है, जहां कि उत्पादक अवयवों की संख्या परिमाण या आयाम निश्चित करती है। मिश्रित पदार्थों के गुणों में परिवर्तन स्वीकार करता है।

भाव को समन्वित करने की चेष्टा करता है कि वस्तुएं बननी प्रारम्भ होती है। पौधे में से फूल निकलता है, वृक्ष में से फल निकलता है, तो भी वह अनुभव करता है कि पौधा, फल, फूल और वृक्ष सब अयथार्थ है। न्याय, कारण के तात्त्विक तादात्म्य को स्वीकार करता है और उसके मत में क्रमों में भेद होता है, जिससे नये गुणों का उदय होता है। अध्यात्मविद्या के समक्ष प्रश्न है कि क्या ये उत्पन्न हुए नये गुण यथार्थ हैं ? यह बिलकुल सत्य है कि हमने उन्हें कार्य-अवस्था में ही देखा है, कारणावस्था में नहीं देखा। किन्तु क्या इसी आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि वे यथार्थ हैं ? नैयायिक जब यह स्वीकार करता है कि संसार की परिवर्तनशील अवस्थाएं नश्वर हैं, तो वह यह भी स्वीकार करता है कि वे नितान्त यथार्थ नहीं हैं। यथार्थ अपरिवर्तित है, जबकि एकत्रीकृत पदार्थों के रूप में परिवर्तन होता है। प्रचलित रूप में हम कहते हैं कि पदार्थ अस्तित्व में आते तथा विनष्ट होते हैं। वस्तुत स्पष्टरूप तत्त्वों का परस्पर सम्मिलन तथा पृथक्करण होता है, जो न तो उत्पन्न हो सकते हैं, न नष्ट हो सकते हैं, न न्यून होते हैं और न बढ़ाए जा सकते हैं। यथार्थ विद्यमान रहता है किन्तु उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। प्रकृति के राज्य में भी निरन्तरता के प्रथम सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। परमाणु विद्यमान रहते हैं जबकि उनके आकस्मिक मिश्रण अस्तित्व में आते हैं तथा नष्ट होते हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, इस कथन का विरोधाभास नष्ट हो जाता है जब हम यह स्मरण करते हैं कि जो अंकुर में है वह वास्तविक रूप धारण कर लेता है। किसी एक स्थिति को भावात्मक रूप देकर उसकी पूर्वस्थिति को अभावात्मक रूप देना भाषा का दुरुपयोग करना है।

11. उपमान अथवा तुलना

उपमान अथवा तुलना वह साधन है जिससे हम किसी पूर्णतया ज्ञात पदार्थ के सादृश्य से किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह सुनकर कि जंगली बैल (गवय) गाय के समान होता है, हम अनुमान करते हैं कि वह पशु जो गाय के सदृश दिखाई देता है, गवय है।[1] उपमान के तर्क में दो अवयव रहते हैं—(1) ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान, (2) सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान। जहां प्राचीन नैयायिक पहले को नये ज्ञान का मूल कारण मानते थे, वहां अर्वाचीन नैयायिक सादृश्य ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं।[2] केवल मात्र सादृश्य ही, चाहे वह पूर्ण हो, चाहे पर्याप्त मात्रा में हो अथवा आंशिक हो, उपमान प्रमाण को युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। सादृश्य अथवा तादात्म्य की पहली अवस्था में कोई नया ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। गाय एक गाय के सदृश है, यह नहीं कहा जाता है। दूसरी, अर्थात् पर्याप्त सादृश्य की अवस्था में अनुमान प्रामाणिक ही हो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भैंस गाय नहीं है, यद्यपि दोनों में बहुत-सी बातें सादृश्य की पाई जाती हैं। और यदि आंशिक सादृश्य है, तब तो मामला और अधिक खराब है। एक तिल मेरु पर्वत नहीं हो सकता, यद्यपि अस्तित्व का गुण दोनों में समान है। उपमान के प्रामाणिक तर्क में हम सादृश्य के अंशों की उतनी गणना नहीं करते जितना कि उनके महत्त्व पर ध्यान देते हैं।[3]

1. प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम्।
   उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ॥ (हरिभद्र: षड्दर्शनसमुच्चय 23)।
   और देखिए न्यायसूत्र 1 1, 6।
2. सादृश्यज्ञानम् (तर्कसंग्रह, 58)।
3. न्यायभाष्य, 2 1, 44।

सादृश्य को महत्त्वपूर्ण या आवश्यक होना चाहिए[1] और कार्यकारण भाव के साथ उसका सम्बन्ध होना चाहिए।[2] उपमान तर्क, पदार्थ और उसके नाम मे जो सम्बन्ध है उसका ज्ञान कराता है।[3] इसका सम्बन्ध अभिज्ञान की समस्या के साथ है। हमे बताया जाता है कि गवय संज्ञा उस जानवर (नील गाय) की है जो गाय के साथ सादृश्य रखता है, और जहा हम ऐसे जानवर को देखते हैं उसे गवय कह देते हैं। परवर्ती तार्किको का मत है कि यह साध्यस्वरूप अभिज्ञान केवल सादृश्य के ही कारण नही होता, अपितु असादृश्य (वैधर्म्य) के भी कारण होता है, जैसे कि हम एक घोडे को पहचानते हैं जो कि गाय से भिन्न जानवर है, क्योकि उसके खुर फटे हुए नही होते जो कि गाय का विशेष धर्म है; अथवा जैसे हम ऊट को पहचानते हैं, ऊची गरदन आदि उसके विशेष लक्षणो द्वारा।[4] इस अर्थ मे उपमान-प्रमाण आधुनिक काल के सादृश्य-तर्क के अनुकूल नही बैठता।

जैसा कि हम देखेंगे, न्यायशास्त्र सत्य के विषय में उपयोगितावादी के मत को स्वीकार करता है, जो हमे सफल प्रेरणा देता है। अनुभूत पदार्थों के सम्बन्ध मे तो यह कसौटी उपयुक्त हो सकती है, किन्तु इन्द्रियातीत सत्य इसके क्षेत्र से परे हैं। नैय्यायिक इस कठिनाई का समाधान उपमान के द्वारा करने की कोशिश करता है। यदि प्राचीन ऋषियो द्वारा प्रतिपादित आयुर्वेद के सिद्धान्त परीक्षा करने पर सत्य सिद्ध हुए तो आध्यात्मिक विज्ञान भी, जो उन्ही ऋषियो द्वारा प्रतिपादित है, अवश्य सत्य होना चाहिए।

क्योकि उपमान मे सादृश्य के प्रत्यक्ष का विशेष भाग है, अतः दिङ्नाग इसे प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि मे ही रखता है। वैशेषिक इसकी गणना अनुमान में करता है, क्योकि तर्क को इस रूप मे रखा जा सकता है "यह पदार्थ गवय है, क्योकि यह एक गाय के समान है, और जो गाय के समान होता है वह गवय होता है।"[5] साख्य तर्क करता है कि उपमान ज्ञानप्राप्ति का स्वतन्त्र साधन नही है, क्योकि अरण्यरक्षक का निर्देश एक आप्त (शाब्दिक) ज्ञान है और सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान का एक दृष्टान्त है।[6] भासर्वज्ञ भी इसे शाब्दिक ज्ञान के ही अदर रखता है। उपमान का तर्क एक प्रकार से जटिल है, क्योकि इसमें अरण्यरक्षक द्वारा प्राप्त शाब्दिक ज्ञान कि गवय गौ के समान है यह अवयव सम्मिलित है, प्रत्यक्ष ज्ञान का भी अवयव है क्योकि हम गवय को जगल मे देखते हैं, एक अवयव स्मृति का है क्योकि जब हम गवय को देखते हैं तो हमे (अरण्यरक्षक का) कथन स्मरण हो आता है, एक अवयव अनुमान का है क्योकि हम धारणा करते हैं इस सामान्य प्रतिज्ञा की कि जो गाय के समान है वह गवय है; और अन्ततोगत्वा वह ज्ञान जो इस प्रकार के तर्क का विशेष लक्षण है अर्थात् इस प्रकार के जानवर की संज्ञा गवय है। अन्तिम ही विशेष रूप से उपमान प्रमाण की देन है और इसे ज्ञान के अन्य भेदो के साथ मिला न देना चाहिए, यद्यपि इसमे कुछ रूप

1 प्रसिद्धसाधर्म्यात्, 2 1, 45।
2 साध्यसाधनभाव (न्यायभाष्य, 2 1, 45)।
3 सज्ञासज्ञिभाव।
4 तार्किक रक्षा, 22।
5 उपस्कार, 9 · 2, 5।
6 तत्त्वकौमुदी, 5।

अन्य के समान हो सकते है।[1]

12 आप्त प्रमाण

ज्ञान के मुख्य स्रोतो मे 'आप्त प्रमाण' आता है। हम ऐसी अनेक वस्तुओ के अस्तित्व को, जिन्हे हमने स्वय नही देखा, न जिनके विषय मे विचार ही किया, अन्य पुरुषो के प्रामाणित कथन के आधार पर स्वीकार कर लेते है। हमे प्रचलित साक्ष्य, ऐतिहासिक परपरा तथा धर्मशास्त्रो की दिव्य वाणी के आधार पर बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार की ज्ञानप्राप्ति की विधि मे तार्किक दृष्टि से जो विवेचनीय विषय सन्निविष्ट है उनके विषय मे शब्द अथवा आप्त प्रमाण के अन्तर्गत हम विचार करेगे।

शब्दो के उद्गम तथा स्वरूप, तथा आशय और वाक्यो के विन्यास के विषय मे न्याय का क्या विचार है, इसका उल्लेख सक्षेप मे कर सकते है। आकाश जो समस्त देश को व्याप्त किए हुए है, किन्तु वायु नही, शब्द का अधिष्ठान है।[2] शब्द को एक निर्वात (शून्य) स्थान मे भी उत्पन्न किया जा सकता है, भले ही हम उसे न सुन सकें क्योकि उसे हमारे कान तक पहुचाने के लिए वायु का वहा अभाव है। शब्द किस कोटि का है यह वायु पर निर्भर नही है, किन्तु उसका ऊचापन आदि वायु पर निर्भर है।[3] शब्द दो कठोर पदार्थो के परस्पर सयोग से उत्पन्न होता है। एक शब्द दूसरे शब्द को, दूसरा एक अन्य शब्द को उत्पन्न करता है, और यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि आगे कोई बाधक पदार्थ प्रकट नही हो जाता जहा पहुचकर यह क्रम रुक जाता है।[4] केवल इसलिए कि इसका अधिष्ठान दुर्बोध (इन्द्रियातीत) है, हम यह तर्क नही कर सकते कि शब्द नित्य है।[5]

1 सिद्धान्तमुक्तावलि 79 और 80। पूर्वमीमासा और वेदान्त उपमान तर्क की स्वाधीनता को स्वीकार करते है, यद्यपि वे इसकी परिभाषा भिन्न प्रकार से करते हैं। जब जगल मे गवय हमे मिलता है तो हमे केवल गाय के साथ इसके सादृश्य का ही बोध नही होता किन्तु गवय के साथ गाय के सादृश्य का भी बोध होता है। दूसरा ज्ञान उपमान से ही होता है क्योकि गाय का तो उस समय प्रत्यक्ष नही होता।

2 शब्दलहरी का ज्ञान ऐसे समय मे भी होता है जब कि रग अथवा अन्य गुणो वाली किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शब्द का अधिष्ठान ऐसा है जिसे हम छू नही सकते तथा जो सर्वत्र छाया हुआ है और जिस आधार मे कम्पन होता है उसमे यह नही रहता। (न्यायभाष्य, 2 2 38)।

3 वैशेषिक सूत्र, 1 1, 6।

4 न्यायभाष्य, 2 2, 35 36।

5 शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए अनेको युक्तिया दी जाती है (न्यायसूत्र, 2 2 13-38)। (1) शब्द का आदि होता है, क्योकि इसकी उत्पत्ति दो कठोर पदार्थों जैसे एक कुल्हाडी और वृक्ष के परस्पर सघर्ष से होती है। यह नही कहा जा सकता कि उक्त सघर्ष केवल शब्द की अभिव्यक्ति मे सहायक होता है किन्तु उसे उत्पन्न नही करता, क्योकि सघर्ष और शब्द दोनो एक साथ नही होते। हम शब्द को, जिस सघर्ष से वह निकला है उसके रुक जाने पर भी, बहुत दूरी पर सुन सकते है। (2) शब्द नित्य नही है क्योकि इसका आदि भी है और अन्त भी है। यदि यह नित्य होता तो बराबर सुनाई देता रहता, क्योकि यह श्रवणेन्द्रिय के समीप है, किन्तु यह स्थिति नही है। हम यह भी जानते है कि शब्द कुछेक जाने हुए कारणो से बन्द हो जाता है। घण्टी के साथ अपने

शब्द अक्षरों से मिलकर बनता है जिससे अभिधा अथवा लक्षणा के द्वारा किसी पदार्थ का संकेत होता है। प्रत्येक शब्द कुछ अर्थ रखता है और इसीको सामान्यतः शब्द तथा उस पदार्थ के मध्य जिसे यह द्योतन करता है, एक प्रकार का सम्बन्ध समझा जाता है।[1]

शब्दार्थ के तथ्य की व्याख्या वैय्याकरणों ने 'स्फोट' के सिद्धान्त पर की है।[2] इसके अनुसार कोई भी अक्षर अकेला जैसे, 'गा' अथवा 'य' या कुल अक्षर 'गाय' शब्द के अनुरूप पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं करा सकते, क्योंकि प्रत्येक अक्षर उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। यदि हम यह भी मानें कि पूर्व के अक्षरों ने जो भाव छोड़ा है वह सबसे अन्तिम अक्षर की सहायता करता है, तो भी कई अक्षर मिलकर भी पदार्थ के ज्ञान की व्याख्या नहीं कर सकते। अक्षरों के अतिरिक्त और उनसे ऊपर कोई वस्तु है जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, और वह स्फोट है, अर्थात् शब्द का सारभूत तत्त्व जिसका आविर्भाव शब्द, अक्षर अथवा वाक्य द्वारा होता है।[3] शब्द का यह सारतत्त्व पदार्थ का बोध कराता है। केवल

हाथ के सम्पर्क से हम घण्टी के शब्द को रोक देते हैं।(2 · 2, 32-36, वैशेषिकसूत्र, 2 : 2, 26-37)। वात्स्यायन का कहना है कि प्रत्येक शब्द के विषय में शब्दों की एक शृंखला रहती है और इस शृंखला में आगे आनेवाला शब्द पिछले को नष्ट कर देता है। उस शृंखला के अन्तिम शब्द को जो नष्ट करता है [illegible]

यिक इस वर्णन [illegible]

कि एक गुण द्र [illegible]

है। वाचस्पति का कहना है कि शब्द को जो नष्ट करता है वह बाधक पदार्थ का शब्द के साथ नहीं बल्कि आकाश के साथ सम्पर्क है, जोकि शब्द का उपादान कारण है। आकाश का एक अधिक घने पदार्थ के साथ सम्पर्क होने से आकाश और आगे शब्दों को उत्पन्न करने के योग्य नहीं रहता और जब आदिम शब्द का अभौतिक कारण, अर्थात् घड़ी का ढोल के साथ सम्पर्क, बन्द हो जाता है तो उस शृंखला को नये सिरे से चालू करने के लिए कुछ नहीं रहता और इस प्रकार अन्तिम शब्द नष्ट हो जाता है। (3) शब्द का बोध उसके शृंखलाबद्ध रूप में आगे बढ़ते हुए हमारी एक इन्द्रिय द्वारा होता है। इसका सम्बन्ध अस्पष्टता के वर्ग से है और इसलिए यह अनित्य है (न्यायसूत्र, 2 2, 16)। (4) शब्द की चर्चा इस प्रकार की जाती है कि जैसे इसमें उत्पन्न पदार्थों के गुण विद्यमान हों। गम्भीर व तीखा आदि इस प्रकार इसका वर्णन किया जाता है। (5) इस तथ्य के आधार पर कि हम शिक्षकों से प्राप्त शब्दों को दोहराते हैं हम यह नहीं कह सकते कि शब्द नित्य हैं। जब वे नहीं सुने जाते थे तो उनका अस्तित्व नहीं था और अब हम उन्हें केवल फिर से उत्पन्न करते हैं। विभिन्न शब्द भी दोहराए गए कहला सकते हैं, जैसे हम दो बार त्याग करनेवाले या नृत्य करनेवाले कहला सकते हैं। (न्यायसूत्र, 2 2, 29)। (6) क्योंकि हम इसे छू नहीं सकते इसलिए यह नित्य है, यह तर्क ठीक नहीं है। गति को हम छू नहीं सकते, फिर भी वह अनित्य है (न्यायसूत्र, 2 2, 22-24)।

1 तुलना कीजिए विज्ञानभिक्षुसांख्यसूत्र, 5 37। वैय्याकरण भट्टोजीदीक्षित (वैय्याकरणभूषण, पृष्ठ 243) और नागेश भट्ट (मंजूषा, पृष्ठ 23-26) इस बोधक शक्ति को केवल मात्र शब्दों में ही रहनेवाली मानते हैं, यद्यपि सांख्य और वेदान्त का मत है कि यह प्रमेयविषयों में भी रहती है। 'पंचदशी', 8 4-15, न्यायबिन्दुटीका, पृष्ठ 10-11।

2. पाणिनि का उल्लेख स्फोटायन के विषय में 6, 1, 123 में संकेत करता है कि उसके समय में यह सिद्धान्त प्रचलित था। देखिए सर्वदर्शनसंग्रह, पाणिनिदर्शन।

3 ड्यूसन स्फोट और भाव को एक ही मानता है। थिबौत इसे व्याकरण की एक कल्पना समझता है और वह यह निश्चयपूर्वक कहता है कि यह 'भाव' नहीं हो सकता क्योंकि इसे स्पष्ट रूप में वाचक अथवा अभिप्रायक कहा गया है। इसे शब्द के भाव के विचार का कारण भी कहा गया

अकेला अक्षर, जब तक कि वह पूरा शब्द न बन जाए, किसी पदार्थ का संकेत नहीं कर सकता। पदस्फोट के समर्थकों का तर्क है कि केवल एक पद अथवा एक शब्द अर्थ का बोध करा सकता है। इसी प्रकार वाक्यस्फोट के समर्थकों का कहना है कि केवल एक वाक्य पूरे अर्थ का संकेत कर सकता है। वाक्यस्फोट के समर्थकों के अनुसार, वाक्य वाणी का केवल प्रारम्भ है, जबकि शब्द वाक्यों के भाग हैं और अक्षर शब्दों के भाग हैं। स्फोट अथवा शब्द के सारतत्त्व को नित्य कहा गया है और वह स्वयभू है जिसका संकेतित पदार्थ के साथ स्थायी सम्बन्ध है। अक्षर, शब्द और वाक्य नित्य-अर्थों का केवल आविर्भाव करते हैं, उन्हें उत्पन्न नहीं करते। नैय्यायिक का मत है कि जो कुछ सार्थक है वह शब्द है,[1] और ज्योंही हम शब्द के अन्तिम अक्षर को सुनते हैं, हमें उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अन्तिम अक्षर 'य' को सुनने के साथ ही हमें पहले अक्षर 'गा' की स्मृति हो जाती है और पूरा शब्द 'गाय' हमारे मस्तिष्क में आ जाता है। इस प्रकार हम शब्द और पदार्थ का जो रूढ़िगत सम्बन्ध है उसके द्वारा पदार्थ का ज्ञान कर लेते हैं।[2]

शब्द और अर्थ के मध्य जो सम्बन्ध है वह प्रकृति के कारण नहीं, अपितु लोकाचार से है, और इस मत का समर्थन हमारे इस अनुभव से भी होता है कि हम किस विधि से शब्दों के अर्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हमें प्रचलित प्रयोग, व्याकरण तथा शब्दकोष के द्वारा शब्दों के अर्थों का ज्ञान प्राप्त होता है। वेदान्त इसके साथ भावभंगी को भी जोड़ देता है।[3] यह रूढ़ि कि अमुक-अमुक शब्द अमुक-अमुक अर्थ का वाचक होगा, ईश्वर-संस्थापित (ईश्वरसंकेत) है।[4] परवर्ती न्याय स्वीकार करता है कि मनुष्य भी रूढ़ि की स्थापना करते हैं (इच्छामात्र शक्ति),[5] यद्यपि मानुषिक रूढ़ि को पारिभाषिक संज्ञा दी गई है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न मनुष्यों के साथ बदलती रहती है।

शब्दों का द्योतित अर्थ क्या है, व्यक्त, अथवा आकृति, अथवा जाति, या उक्त सब कुछ?[6] व्यक्ति वह है जिसकी एक निश्चित आकृति (मूर्ति) हो और जो विशेष गुणों का वासस्थान हो।[7] यह व्यक्त है और उसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।[8] आकृति विशिष्ट गुण है; गलकंबल का व्यवस्थापन गाय की आकृति है। जाति एक नमूना अथवा वर्ग है और जाति के पदार्थ में पाया जानेवाला सामान्य विचार है। यह हमें प्रस्तुत व्यक्ति के सदृश पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करता है।[9] न्याय का मत है कि

है। (थिबौतकृत शांकरभाष्य, पृष्ठ 204, टिप्पणी—इंगलिश अनुवाद) और देखिए शांकरभाष्य, 1 : 3, 28।)

1 शक्त पदम् (तर्कसंग्रह, 59)।

2 न्यायवार्तिक, 2 2, 55।

3 सिद्धांतमुक्तावली, 81, न्यायमंजरी, पृष्ठ 6।

4 न्यायभाष्य 2 1, 55 और देखिए न्यायमंजरी, पृष्ठ 243।

5 तर्कसंग्रह, 59, सिद्धांतमुक्तावली, 81।

6 न्यायसूत्र, 2 2, 65।

7 2 2, 64।

8 2 2, 65।

9 समानप्रसवात्मिका जाति (न्यायभाष्य, 2 2, 66)। क्योंकि हम विशिष्ट गायों के विचार से पृथक् गोत्व की एक निश्चित धारणा रखते हैं इसलिए गोत्व का एक वस्तुपरक आधार अवश्य होना चाहिए (न्यायभाष्य, 2 2, 61 और 66)। उद्योतकर का मत है कि आकृतिगत स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति

शब्द व्यक्ति, उसकी आकृति तथा उसकी जाति, तीनों को बताता है, यद्यपि भिन्न-भिन्न परिमाण में।[1] व्यवहार में हम आकृति का उल्लेख करते हैं। अधिक रुचि रखने से शब्द व्यक्ति का निर्देश करता है, और जब हम सामान्य विचार को सूचित करने की कोशिश करते हैं तो जाति का उल्लेख करते हैं। शब्द आकृति का संकेत करता है, व्यक्ति को बतलाता है तथा जाति का गुण-निर्देश करता है। विशुद्ध अनिर्दिष्ट लक्षण नाम की कोई चीज नहीं है। यह किसी न किसी रूप में निर्दिष्ट (अवच्छिन्न) है। फिर आकृति भी अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है। मिट्टी से बनी गाय की मूर्ति को हम गाय नहीं कह सकते यद्यपि आकृति गाय की ही है, किन्तु उसमें आतिगत अन्य गुणों का अभाव है। व्यावहारिक प्रयोग से इस मत की पुष्टि होती है कि शब्द व्यक्तियों का संकेत करते हैं।[2]

बौद्ध विचारकों के अनुसार, शब्द निश्चित पदार्थों के वाचक नहीं हैं, बल्कि ऐसे अन्य पदार्थों का निराकरण करते हैं जिनका ध्यान भूल से मन में आ जाता है। 'गाय' शब्द से घोड़े आदि अन्य पदार्थों का निराकरण (अपोह) हो जाता है। इस निराकरण के कारण हम अनुमान करते हैं कि 'गाय' शब्द गाय रूपी पदार्थ का निर्देश करता है।[3] उद्योतकर अपोह के सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर करता है[4]—जब तक पहले से विध्यात्मक संकेत का ग्रहण न हुआ हो, निषेधात्मक संकेत का विचार मन में उठ ही नहीं सकता। प्रत्येक निषेध का एक विध्यात्मक आधार होता है। केवलमात्र निषेध का कुछ अर्थ हो नहीं, जबकि प्रत्येक निषेधात्मक कथन के साथ विध्यात्मक कथन अर्थापत्ति द्वारा जुड़ा हुआ है। यद्यपि परस्पर-विरोधी दो शब्दों में एक का संकेत दूसरे का निराकरण कर देता है, परन्तु 'सब' जैसे शब्द में इस प्रकार का निराकरण सम्भव नहीं है।[5] प्रत्येक शब्द किसी विध्यात्मक वस्तु का संकेत करता है, जो अन्य पदार्थों से उसका केवलमात्र भेद ही नहीं होती है।[6]

के अन्दर समवाय-सम्बन्ध से रहता है। यह प्रश्न कि जाति प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अपनी सम्पूर्णता में रहती है या अंशों में, कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि जाति मिश्रण नहीं है और इसलिए पूर्ण इकाई और अंशों का भेद इसपर लागू नहीं होता। जाति अथवा नित्य सारतत्त्व के लिए कहा जाता है कि उसका उन व्यक्तियों के साथ जिनका यह सारतत्त्व है, समवाय सम्बन्ध से रहना आवश्यक है, और अन्य व्यक्तियों के साथ कालिक सम्बन्ध से।

1 2 2, 63 । जातिविशिष्टव्यक्ति।

2 2 2, 57 ।

3 देखिए न्यायमंजरी, पृष्ठ 303, 306-8, और पार्थसारथि मिश्र कृत 'न्यायरत्नाकर'। प्रारम्भिक बौद्ध ग्रंथों में इस विचार के विषय में कोई निश्चित सूचना नहीं है, यद्यपि रत्नकीर्तिकृत अपोहसिद्धि ग्रन्थ में यह एक परिवर्तित रूप में मिलता है। उसके अनुसार शब्द न तो विध्यात्मक और न ही निषेधात्मक पदार्थों को प्रकट करते हैं। निश्चयात्मक अर्थ अन्य पदार्थों के निषेध का परिणाम नहीं है, और न ही निषेधात्मक अर्थ निश्चयात्मक संकेत का परिणाम है। अर्थ का सारतत्त्व निश्चयात्मक एवं निषेधात्मक दोनों पक्षों के एकसाथ बोध में है। सभी विशिष्ट पदार्थ अपना एक विध्यात्मक स्वरूप रखते हैं जिससे अन्य सब का निराकरण हो जाता है। यह मत निश्चय ही अधिक सन्तोषप्रद है, यद्यपि बौद्धों के सामान्य आध्यात्मिक शास्त्र के साथ यह आसानी से मेल नहीं खाता, और न ही हिन्दू तार्किक इसे बौद्धमत के रूप में स्वीकार करते हैं।

4 न्यायवार्तिक, 2 2, 65 ।

5 देखिए उदयनकृत 'आत्मतत्त्वविवेक'।

6 न्यायमंजरी, पृष्ठ 311, और देखिए न्यायकंदली, पृष्ठ 317-21 ।

यह आपत्ति की जाती है कि शब्द पदार्थों का संकेत नहीं कर सकते, क्योंकि वे पदार्थों के साथ नहीं रहते, और पदार्थों के उपस्थित न रहने पर भी विद्यमान रहते हैं, जैसे कि इस निषेधात्मक निर्णय में कि "यहां कोई घड़ा नहीं है।"[1] इस आपत्ति के उत्तर में वाचस्पति का कहना है कि शब्द व्यापक का संकेत करता है जिसमें देश व काल में बंटे हुए सभी व्यक्ति सम्मिलित रहते हैं, और इसलिए वह वर्तमान तथा भूतकाल के भी व्यक्तियों का संकेत करता है।[2] और न यही कहा जा सकता है कि शब्द केवल एक अमूर्त विचार है, क्योंकि यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न रूपों को लक्षित नहीं कर सकता है। शब्द विशिष्ट रूपों का ही उल्लेख करता है और ये पदार्थ के ही अन्दर रहते हैं। हम अपने अनुभव में शब्दों का प्रयोग करते हैं और ये जीवन में सफलता की ओर ले जाते हैं। यदि शब्द केवल मानसिक बिम्बों से ही सम्बन्ध रखता, बाह्य पदार्थों से न रखता तो यह सब असम्भव होता।[3]

कभी-कभी यह कहा जाता है कि शब्द तथा पदार्थ के मध्य क्या सम्बन्ध है, हम इसकी कल्पना नहीं कर सकते। शब्द एक गुण है, और इसके द्वारा प्रकट किया गया पदार्थ द्रव्य है; और इन दो के मध्य संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि शब्द के द्वारा प्रकट किया गया पदार्थ भी गुण होता, तो भी दो गुणों के मध्य यह सम्बन्ध असम्भव है।[4] शब्द निष्क्रिय है और संयोग निर्भर करता है दोनों में से किसी एक की गति पर। शब्द आकाश और पदार्थ आकाश दोनों निष्क्रिय हैं और उनमें कोई संयोग नहीं हो सकता। शब्द तथा उसके अर्थ के बीच समवाय-सम्बन्ध भी नहीं हो सकता है। वात्स्यायन स्वीकार करता है कि शब्द और उसके अर्थ के बीच सम्बन्ध उत्पादक रूप (प्राप्तिलक्षण) नहीं है। 'अग्नि' शब्द अग्नि पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता।[5] यही कारण है कि शाब्दिक बोध इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान से कम स्पष्ट होता है।[6] तो भी बोध के रूप में वह किसी भी तरह न्यून नहीं होता।

वाक्य सार्थक (भावपूर्ण) शब्दों का संग्रह है। हमें वाक्य को बनानेवाले शब्दों का बोध होता है और उसके बाद उनके अर्थों का। शब्दों के बोध अपने पीछे संस्कार छोड़ जाते हैं जिनको वाक्य के अन्त में स्मरण किया जाता है, और तब विभिन्न अर्थ एक प्रकरण में एकसाथ सम्बद्ध हो जाते हैं। जहां प्राचीन नैय्यायिकों का कहना है कि शाब्दिक ज्ञान का मुख्य कारण मौखिक स्मृति से प्राप्त पदार्थों का स्मरण है, वहां आधुनिक नैय्यायिक तर्क करते हैं कि मौखिक स्मृति मुख्य कारण है। वाक्य का अर्थ निर्भर करता है—(1) आकांक्षा, पारस्परिक आवश्यकता अथवा परस्पराश्रय, अथवा अन्य शब्द के अभाव में किसी शब्द की अभिलषित अर्थ को संकेत करने की असमर्थता पर, (2) योग्यता अथवा वाक्य के भाव के अनुरूप होने की क्षमता तथा उसे निरर्थक

1 प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ 124 वैशेषिक सूत्र, 7 2, 17।
2 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका 2 2 63।
3 प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 136, विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री, पृष्ठ 249।
4 वैशेषिक सूत्र, 7 2 14।
5 न्यायभाष्य और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका 2 1, 50 51।
6 प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ 128 30, कुमारिलकृत श्लोकवार्तिक, 5 11, 6-8, और 10।

किंवा असफल न होने देने की क्षमता पर, (3) सन्निधि, निकटता, सामीप्य, अथवा बीच मे लम्बा व्यवधान दिए बिना शब्दो के शीघ्रता के साथ एक के बाद एक उच्चारण पर। ये शब्दो के पदयोजना-सम्बन्धी, तार्किक तथा ध्वन्यात्मक सम्बन्धो पर विशेष बल देते हैं। ऐसे शब्दो के सकलन से जो परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित न हो, यथा मनुष्य, घोडा और बस्ती, कोई भाव नही निकलता। एक ऐसे वाक्य का, जैसे "आग से सींचे," कुछ भी अर्थ नही है, क्योकि यह बुद्धि मे नही आता। इसी प्रकार देर-देर से उच्चारण किए गए शब्द कुछ अर्थ नही रख सकते। वाक्य ऐसे शब्दो से बनता है जो एक-दूसरे पर आश्रित, और जिन्हे एक-दूसरे के अगल-बगल रखकर कोई रचना की जा सके। गङ्गेश इसमे एक चौथी शर्त भी जोडता है, अर्थात् वक्ता के आशय का ज्ञान। एक ऐसे वाक्य, जैसे "सैन्धवम् आनय" का अर्थ यह हो सकता है कि "घोड़ा लाओ" और यह भी हो सकता है "नमक लाओ।" इसका निश्चित अर्थ हमे तभी मालूम हो सकता है जबकि हमे वक्ता के मन मे क्या है, इसका ज्ञान हो। निश्चित अर्थ को प्रकट करने की योग्यता मे इस आवश्यकता को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए।[1] जहा योग्यता के लिए औपचारिक सगति की आवश्यकता है, वहा तात्पर्यज्ञान, अथवा वक्ता के अभिप्राय के ज्ञान से आशय वास्तविक सगति कहा जा सकता है।[2]

प्रतिज्ञाओ को तीन वर्गो मे बाटा गया है : विधि, निषेध और व्याख्या (अर्थवाद)।[3] शब्द का उपयोग जब ज्ञान के उद्गम के रूप मे किया जाता है तो उसका तात्पर्य होता है, 'आप्तोपदेश' अर्थात् एक विश्वस्त व्यक्ति का कथन।[4] आप्त से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो किसी क्षेत्र-विशेष मे विशेषज्ञ हो, "वह जो किसी विषय का प्रत्यक्ष प्रमाण रखता है और उसे दूसरो को पहुचाना चाहता है जिससे कि वे इसे समझ लें।" ऐसे व्यक्ति किसी भी जाति अथवा वर्ण के क्यो न हों, "ऋषि हो, आर्य हो अथवा म्लेच्छ हो।"[5] जब किसी युवक के मन मे यह सन्देह हो कि अमुक नदी पार की जा सकती है या नही, तो बस्ती के किसी पुराने अनुभवी पुरुष से इस प्रकार की सूचना मिलने पर कि यह पार की जा सकती है, उस पर विश्वास करना चाहिए।

ये विश्वसनीय कथन दृश्य जगत् से अथवा अदृश्य जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। यह कथन कि "कुनैन नामक दवा ज्वर का इलाज करती है" पहले प्रकार का है, और "धार्मिक जीवन से स्वर्ग मिलता है" यह दूसरे प्रकार का है। ऋषियो के शब्द दूसरे अर्थात् अदृश्य-जगत् से सम्बन्ध रखते हैं।[6] उनके कथनो पर विश्वास करना चाहिए, क्योकि इस विश्व के सम्बन्ध मे उनके कथन, जिनकी सचाई जाची जा सकती थी, सत्य सिद्ध हुए हैं। वेदो के निर्माता आप्तपुरुष अर्थात् विश्वसनीय पुरुष हैं, क्योकि उन्होंने सत्य का अन्तर्दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया था, उन्हें मनुष्य-मात्र से प्रेम था तथा

1 भाषापरिच्छेद। और देखिए वेदान्तपरिभाषा, 4।

2 जहा मीमांसक तथा वैयाकरणों का मत है कि वाक्य के अन्तर्गत शब्द क्रिया पर ही केंद्रित रहते हैं, जिसके बिना उनका कुछ अर्थ नही बनता, वहा नैयायिक का मत है कि प्रतिज्ञा केवल कुछ सार्थक शब्दो (पदसमूह) से बनती है जिनके सामूहिक अर्थ का बोध होता है, वाक्य के अन्दर क्रिया-पद हो या न हो। (तर्कसंग्रह, पृष्ठ 59, : 'प्रभाकर स्कूल', पृष्ठ 63)।

3 न्यायसूत्र, 2 1, 63, और तर्ककौमुदी, पृष्ठ 17।

4 1 1, 7।

5 न्यायभाष्य, 1 : 1, 7।

6 न्यायभाष्य, 1 : 1, 8।

उनमे अपने ज्ञान को दूसरो को देने की इच्छा थी।[1]

उदयन तथा अन्नभट्ट जैसे परवर्ती नैय्यायिक और वैशेषिक विचारक परमेश्वर को वेदो का नित्य निर्माता मानते हैं। उदयन इस मत का निराकरण करता है कि वेदो की प्रामाणिकता उनके नित्य, दोषहीन तथा महान सन्तो द्वारा स्वीकृत होने से अनुमान की जाती है। सृष्टि के नवीन आरम्भ के समय सन्तो की स्वीकृति नही हो सकती। वेदो की नित्यता के विषय मे मीमासक का जो मत है उसका उदयन विरोध करता है, और युक्ति देता है कि नित्यता की सूचक कोई निरन्तर परम्परा नही है, क्योकि इस तरह की परम्परा वर्तमान सृष्टि से पूर्व, प्रलय के समय, नष्ट हो गई होगी। परन्तु वात्स्यायन परम्परा की निरन्तरता को स्वीकार करता है तथा कहता है कि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे वेदो का पुनर्निर्माण करता है, तभी उक्त परम्परा को स्थिर रखता है।[2] यदि मीमासक अपने इस मत के समर्थन मे वेदमन्त्र प्रस्तुत करते है कि वेद नित्य है और यद्यपि उनके निर्माता नही अपितु केवल मन्त्रद्रष्टा है, तो वेदो के उद्गम के विषय मे न्याय-मत के समर्थन मे अन्य मन्त्र उद्धृत किए जाते है।[3] इसके अतिरिक्त, वेदो मे ऐसे वाक्य है जो निर्माता को उपलक्षित करते है।

वेदों की प्रामाणिकता के विरोध मे असत्य, पूर्वापर विरोध, पुनरुक्ति आदि जो आपत्तिया उठाई जाती है उन सबका यह कहकर निषेध किया गया है कि वे टिकनेवाली नही है।[4] उनकी प्रामाणिकता की रक्षा इस आधार पर की जाती है कि उनके विषय एक सगत और पूर्ण इकाई का निर्माण करते हैं। वेदो को स्वीकार करने का अर्थ मिथ्याविश्वास अथवा ईश्वरीय वाणी का आश्रय लेना नही है।

दिङ्नाग विरोध मे कहता है कि शब्द, ज्ञान का स्वतन्त्र साधन नही है। जब हम विश्वसनीय कथन की बात करते है तो उससे हमारा तात्पर्य या तो यह होता है कि जो व्यक्ति बोल रहा है वह विश्वसनीय है, या यह होता है कि यह तथ्य जिसे वह कह रहा है, विश्वसनीय है। पहली अवस्था मे यह अनुमान है, और दूसरी अवस्था मे प्रत्यक्ष ज्ञान है।[5] यद्यपि शब्द अनुमान के समान है, क्योकि वह पदार्थ के ज्ञान को उसके चिह्न द्वारा दूसरे को पहुँचाता है। किन्तु इसका चिह्न अनुमान के चिह्न से भिन्न है, यहा यह सकेत करता है कि शब्दो का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति विश्वास के योग्य है या नही।[6] अनुमान मे चिह्न

1 2 1, 68।

2 न्यायभाष्य और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका 2 1, 68।

3 इद सवम् आयुजत ऋचो यजू पि सामानि, इत्यादि।

4 यदि हम पुत्रप्राप्ति के लिए यज्ञ करते हैं और पुत्रप्राप्ति नही होती, तो कम मे कही दोष रहा होगा, वैदिक विधान मे दोष नही है। इस प्रकार के आदेशो को कि 'सूर्योदय के पश्चात होम करो' अथवा 'पहले' होम करो, परस्पर विरोधी नही समझना चाहिए, क्योकि ये आचार के वैकल्पिक विधानो का कथन करते हैं। कोई भी पुनरुक्ति निरर्थक नही है (न्यायभाष्य, 2 1, 58 59)।

5 दिङ्नाग, फिर भी बुद्ध के वचनो को प्रामाणिक मानता है। (देखिए कुमारिलकृत तत्त्ववार्तिक, पृष्ठ 169 से आगे)।

6 न्यायभाष्य, 2 1, 52।

(लक्षण) तथा लक्षित पदार्थ का सम्बन्ध प्राकृतिक है, किन्तु शब्द प्रमाण में यह सम्बन्ध रूढ़िगत है।[1] यदि हम यह तर्क उपस्थित करें कि शाब्दिक बोध शब्दों के अर्थों की स्मृति के पीछे आता है और इसलिए यह आनुमानिक ज्ञान है तो सदिग्ध बोध तथा उपमानजनित ज्ञान को भी आनुमानिक मानना होगा। यदि समग्र के तीन भागों से सम्बद्ध होने के कारण शाब्दिक बोध अनुमान की कोटि में आता है तो तर्क की अन्यान्य विधियां भी अनुमान की कोटि में आ जाएंगी। यदि इस बात पर बल दिया जाए कि शाब्दिक बोध निश्चित तथा निषेधात्मक के साहचर्य पर निर्भर करता है और यह कहा जाए कि 'घड़ा' शब्द का तात्पर्य है पदार्थ का बोध, और जहां इसे वाणी से उच्चारण नहीं किया जाता वहां बोध नहीं होता, तो प्रत्यक्ष ज्ञान भी अनुमान की कोटि में आ जाएगा, क्योंकि यह वहां विद्यमान है जहां घड़ा विद्यमान है और जहां घड़ा विद्यमान नहीं वहां प्रत्यक्ष ज्ञान भी नहीं।[2] इस प्रकार शब्दों द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान से भिन्न है।[3]

13 ज्ञान के अन्य रूप

न्याय के अभिमत ज्ञान के चार साधनों में मीमांसक अर्थापत्ति तथा भाट्ट मत के अनुयायी और वेदान्ती *अभाव* को भी जोड़ते हैं। पौराणिक लोग परम्परा तथा सम्भावना को भी ज्ञान के प्रामाणिक साधनों में सम्मिलित करते हैं। नैयायिक का मत है कि ज्ञान के सभी प्रकार चार प्रमाणों के अन्दर समा जाते हैं।[4]

ऐतिह्य अथवा परम्परा शब्द प्रमाण के अन्दर आ जाता है।[5] यदि प्रवाद किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा प्रचारित किया गया हो जो विश्वस्त है तो यह वैसा ही प्रामाणिक है जैसा कि शब्द प्रमाण। अर्थापत्ति अथवा उपलक्षण एक अन्य तथ्य के आधार पर (अर्थात्) एक नये तथ्य को प्राप्त करना, अथवा किसी चीज के विषय में धारणा बनाना (आपत्ति) है। यह एक ऐसे पदार्थ के विषय में धारणा बनाना है जो अपने-आप प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, बल्कि प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा जाने गए अन्य पदार्थ में उपलक्षित हुआ है। मोटे शरीर वाला देवदत्त दिन में नहीं खाता। इससे यह उपलक्षित हुआ कि वह रात में खाता है, क्योंकि बिना खाना खाए कोई मोटा नहीं हो सकता। मीमांसक, जो इसे ज्ञान का स्वतन्त्र साधन मानते हैं, इसे एक विकल्पात्मक काल्पनिक परार्थानुमान मानते हैं।[6] गङ्गेश के अनुसार यह एक निषेधात्मक अनुमान का उदाहरण है जो साध्य पद के अभाव द्वारा हेतु के अभाव की स्थापना करता है। भाषापरिच्छेद के अनुसार, हेतु तथा साध्यपद के मध्य निषेधात्मक सम्बन्ध (व्यतिरेकव्याप्ति) का पहचान लेने से अर्थापत्ति सम्पन्न हो जाती है।[7] सम्भव अथवा अन्तर्गमन वह है जहां कि हमें पूर्ण के

1 न्यायभाष्य, 2 : 1, 55।
2 न्यायवार्तिक, 2 : 1 49-51।
3 न्यायभाष्य, 2 : 1, 52, न्यायवार्तिक, 1 : 1, 7।
4 न्यायभाष्य, 2 : 1, 19।
5 2 : 2 : 2।
6 और देखिए भाषापरिच्छेद, पृष्ठ 143।
7 इसे दो भिन्न-भिन्न स्थितियों में प्रकट कर सकते हैं —
वह जो बिलकुल नहीं खाता मोटा नहीं होता।

एक अंश का, जोकि उसका अवयव है, बोध होता है। यह निगमनात्मक अनुमान की अवस्था है। वस्तुतः यह साध्यिक अभिव्याप्ति है।

अभाव अथवा अनस्तित्व को कभी-कभी एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। यद्यपि न्यायवैशेषिक दर्शन अभाव को एक प्रमेय पदार्थ करके स्वीकार करता है। पर वह यह नहीं मानता कि उसके जानने के लिए किसी विशिष्ट प्रमाण की आवश्यकता है। हम पहले देख आए हैं कि किस प्रकार अस्तित्व एक प्रमेय पदार्थ है जो अपने अधिकरण के साथ विशेषणता (अर्थात् गुण और गुणी) सम्बन्ध से सम्बद्ध है। अभावात्मक प्रमेय पदार्थ उसी श्रेणी का है जिस श्रेणी का उसका अधिकरण है जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अन्यथा उसके अभाव का ज्ञान उसके अधिकरण से संकेतित नहीं हो सकता। नितान्त अभाव कल्पनातीत है। अभाव, जो ज्ञान का विषय है, सापेक्ष है।[1]

अनुमान द्वारा हम पदार्थों के अभाव का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अभाव से तात्पर्य केवल निषेध ही से नहीं है, बल्कि वैषम्य से भी है। एक पदार्थ जो विद्यमान है और दूसरा जो विद्यमान नहीं है, उनमें परस्पर वैषम्य है। जैसे कि वर्षा का अभाव तीव्र वायु के साथ बादलों के सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, क्योंकि यदि तीव्र वायुरूपी बाधा मार्ग में न आ जाती तो गुरुत्वाकर्षण के नियमों के अनुसार बादलों का नीचे पृथ्वी पर बरस जाना आवश्यक था।[2] दो परस्पर-विरोधी पदार्थों में से एक के अभाव से दूसरे के अस्तित्व की स्थापना होती है। न्यायदर्शन का तर्क युग्मशाखीय विभाग के सिद्धान्त को लेकर आगे बढ़ता है। सजातीय तथा विजातीय उदाहरणों का भेद इसी कल्पना के आधार पर टिका हुआ है। दो परस्पर-विरोधी निर्णयों की अवस्था में ऐसा नहीं हो सकता कि दोनों ही सत्य हों अथवा दोनों ही असत्य हों। 'क' या तो 'ख' है और या 'ख' नहीं है। परस्पर विरोधी दो में से एक अवश्य सत्य होगा, क्योंकि कोई और मार्ग सम्भव नहीं है।[3] यदि हम किसी वस्तु के अभाव का अनुमान दूसरी वस्तु के अस्तित्व से करते हैं तो यह केवल अनुमान का विषय है।[4] वात्स्यायन का कहना है कि "जिस समय विद्यमान वस्तु का बोध होता है उस समय अभावात्मक वस्तु का बोध नहीं होता, अर्थात् अभावात्मक वस्तु का अज्ञान उसी समय होता है जबकि विद्यमान वस्तु का बोध होता है। जब दीपक जलता है और जो देखा जाने योग्य पदार्थ है उसे दृश्य बना देता है, तो वह जो उसी प्रकार से दिखाई नहीं देता जिस प्रकार उक्त देखने योग्य पदार्थ दिखाई देता है, वह अभावात्मक माना जाता है। उस समय मानसिक प्रक्रिया निम्न-लिखित प्रकार की होती है 'यदि पदार्थ का अस्तित्व होता तो वह दिखाई देता और

यह मनुष्य मोटा है।

इसलिए यह मनुष्य वह नहीं है जो बिल्कुल नहीं खाता, अर्थात् यह वह है जो खाता है।

यह सोअर है। अलग चरण है —

वह व्यक्ति जो खाता है उसे दिन में या रात में अवश्य खाना चाहिए।

यह दिन में नहीं खाता।

इसलिए यह रात में खाता है।

1 एक भिन्न मत के लिए देखिए शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 234 से आगे, वेदान्तपरिभाषा, 6।

2 न्यायभाष्य, 2 2, 1।

3 परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः (कुसुमाञ्जलि 3 8)।

4 न्यायभाष्य, 2 2, 2।

क्योंकि वह दिखाई नहीं देता इसलिए निष्कर्ष अवश्य यही निकलता है कि वह विद्यमान नहीं है।'"[1] प्रशस्तपाद इस विचार का समर्थन करता है। "जिस प्रकार कार्य का रूप कारण के अस्तित्व का संकेत करने वाला होता है, उसी प्रकार कार्य का अभाव कारण के अभाव का संकेत करता है।"[2] शब्द के द्वारा भी अभाव का बोध हो सकता है।[3]

14. तर्क और वाद

तर्क अथवा परोक्ष प्रमाण में हम एक भ्रमात्मक धारणा को लेकर चलते हैं और प्रदर्शित करते हैं कि किस प्रकार वह हमें असंगतियों की ओर प्रेरित करती है। यदि जीवात्मा नित्य न होती तो यह अपने कर्मों के फलों का उपभोग कर सकती, न पुनर्जन्म में आती और न मोक्ष ही प्राप्त कर सकती। इसलिए जीवात्मा नित्य है। एक असत्य आधार-वाक्य को मान लेने से हम असत्य साध्यपद को मानने के लिए बाध्य होते हैं।[4] तर्क एक प्रकार का ऐसा अनुमान है जो अन्य सबसे भिन्न है, क्योंकि यह किसी प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर नहीं है। यह हमें परोक्षरूप से ठीक ज्ञान की ओर ले जाता है।[5] वात्स्यायन के अनुसार, यह हमें निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकता, यद्यपि यह हमें इतना बतला देता है कि एक प्रस्तुत पक्ष का विपरीत असम्भव है।[6] उद्योतकर का तर्क है कि आत्मा के विषय में तर्क हमें ऐसा कहने के योग्य नहीं बनाता कि आत्मा अनादि है बल्कि केवल इतना कहने के योग्य बनाता है कि इसे ऐसा होना चाहिए।[7] तर्क अपने-आपमें प्रामाणिक ज्ञान का साधन नहीं है, यद्यपि प्रकल्पनाओं के प्रस्तुत करने में यह मूल्यवान सिद्ध होता है।

> प्राचीन न्याय ग्यारह प्रकार के तर्कों को स्वीकार करता है जिसे आधुनिक न्याय ने घटाकर पांच ही रखा है। इनमें मुख्य वह है जिसका हमने वर्णन प्रमाणबाधितार्थप्रसंग नाम से किया है। अन्य चार हैं, आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रिक अथवा चक्ररूपी तर्क, और अनवस्था, अर्थात् अन्तविहीन पश्चाद्‌गति। प्रमाणबाधितार्थप्रसंग को भी हेत्वाभास माना गया है, क्योंकि वह ऐसा निष्कर्ष निकालता है जो असंगत है। किन्तु जब हम भूल को अतिक्रमण कर जाते हैं तब हम एक निश्चित निर्णय पर पहुंच जाते हैं।[8]

वाद परार्थानुमान की विधि का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग करके सत्य के निश्चय करने का लक्ष्य रखता है। किन्तु यह प्राय: बिगड़कर जल्प के रूप में परिणत हो जाता है,

1 न्यायभाष्य, प्रस्तावना।

2 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 225। और देखिए वैशेषिक सूत्र, 9 : 2, 5, न्यायकन्दली, पृष्ठ 225-26, और कुसुमाञ्जलि, 3 20, 22 और 26।

3 जयन्त ग्यारह प्रकार की अनुपलब्धि का उल्लेख करता है। देखिए न्यायमंजरी, पृष्ठ 56-57।

4 सर्वदर्शनसंग्रह, 11।

5 प्रमाणानुग्राहकस्तर्कः (सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, 6 25)। तर्कभाषा।

6 न्यायभाष्य, 1 1, 40।

7. न्यायवार्तिक, 1 1, 40।

8 1 . 1, 41।

जिसका लक्ष्य विजय प्राप्त करना हो जाता है और यह वितण्डा कहलाता है, जो समालोचना के लिए समालोचना करने में ही प्रसन्न होता है।[1] इस प्रकार के निष्फल वाद-विवाद का अन्त प्रतिपक्षी को उसकी भूल मनवाकर तथा उसे अपनी हार मानने के लिए बाध्य करने से ही हो सकता है।[2]

15 स्मृति

समस्त ज्ञान दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है—अनुभव जो पूर्व चेतना की पुनरावृत्ति न होकर वर्तमानकाल का ज्ञान है, और स्मृति, जो पूर्व-अनुभवों के आधार पर स्मरणात्मक चेतना के रूप में प्रकट होती है।[3] यदि हम स्मृतिजन्य ज्ञान को निकाल दें तो समस्त भूतकाल निश्चितता के क्षेत्र से निकल जायेगा। स्मृतिज्ञान संस्कारों के आधार पर स्थित है। स्मृति की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि आत्मा का मन के साथ एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध होने से तथा पूर्व-अनुभव के जो संस्कार शेष रहते हैं उनके कारण हमें स्मृति होती है।[4] कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह केवल संस्कार मात्र से उत्पन्न होती है। और इस प्रकार की यह पहचान (प्रत्यभिज्ञा) से भिन्न है। जहां संस्कार स्मृति का तात्कालिक कारण है, वहां पहचान किसी अन्य पदार्थ के साथ प्रस्तुत पदार्थ के तादात्म्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण होती है। न्याय, स्मृति को ज्ञान का एक पृथक् साधन नहीं मानता, क्योंकि हमें इसमें पदार्थों का कोई बोधात्मक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। बल्कि केवल पिछले अनुभव की पुनरावृत्ति उसी रूप तथा क्रम में होती है जिसमें कि वह भूतकाल में कभी रहा था और अब विलुप्त हो चुका था।[5] स्मृतिविषयक ज्ञान की प्रामाणिकता उस पूर्व-अनुभव की प्रामाणिकता पर निर्भर करती है जिसकी कि यह पुनरावृत्ति है। कुछ तार्किक स्मृतिजन्य ज्ञान को प्रामाणिक बोध के अन्दर सम्मिलित करते हैं, जबकि प्रामाणिक बोध का कभी विरोध नहीं होता।[6] स्मृतियां एक साथ नहीं

1 1 2, 13।

2 पराजय के स्थान (अर्थात् निग्रहस्थान) 22 प्रकार के हैं (1) प्रतिज्ञाहानि, अथवा साध्यपक्ष को त्याग देना, (2) प्रतिज्ञान्तर, अथवा नये विवेचन को बीच में लाकर तर्क के विषय को बदल देना, (3) प्रतिज्ञाविरोध अथवा आत्मविरोध, (4) प्रतिज्ञासन्यास अथवा साध्यपक्ष से हट जाना, (5) हेत्वन्तर, अथवा अपनी दी हुई युक्ति को बदल देना, (6) अर्थान्तर, अर्थात् विषय बदल देना, (7) निरर्थक, अथवा बिना किसी अर्थ की, बात करना, (8) अविज्ञातार्थ, अथवा ऐसी भाषा का प्रयोग जिसका अर्थ समझ में न आ सके, (9) अपार्थक, अर्थात् असंगत भाषण, (10) अप्राप्तकाल, अथवा तर्क के क्रम की उपेक्षा, (11) न्यून, अथवा तर्क के आवश्यक अंशों को छोड़ देना, (12) अधिक, अर्थात् जो स्पष्ट हो उसे आवश्यकता से अधिक तूल देना, (13) पुनरुक्त, अर्थात् कहे हुए को बार-बार दोहराना (14) अननुभाषण अर्थात् चुप रहना, (15) अज्ञान, अर्थात् साध्यपक्ष को न समझना, (16) अप्रतिभा, अर्थात् उत्तरों का न सूझना, (17) विक्षेप अर्थात् रोगादि का बहाना करके वाद-विवाद से बचना (18) मतानुज्ञा, अर्थात् यह कहकर कि विरोधी पक्ष में भी यह पाया जाता है, अपनी हार को स्वीकार कर लेना, (19) पर्यनुयोज्योपेक्षण, अर्थात् जहां दोष देखना चाहिए उसे दृष्टि से ओझल कर देना, (20) निरनुयोज्यानुयोग, अर्थात् जहां दोष न लगाना चाहिए वहां दोष लगाना, (21) अपसिद्धान्त, अर्थात् स्वीकृत सिद्धान्त से भी परे हटना, और (22) हेत्वाभास, अर्थात् जो हेतु नहीं है उसे हेतु की भांति दिखाना।

3 तर्कसंग्रह, 34।

4 वैशेषिकसूत्र, 9 : 2, 6।

5 न्यायसूत्रवृत्ति, 1 : 1, 3।

6 तर्ककौमुदी, पृष्ठ 7।

होती क्योंकि ध्यान (प्रणिधान), चिह्न का प्रत्यक्ष तथा अन्य (लिंगादिज्ञान) एक ही समय में उपस्थित नहीं रहते।[1]

16 संशय

संशय कई अवस्थाओं में उत्पन्न होता है, यथा (1) कई पदार्थों के गुणसाम्य से, जैसे कि हम सायंकाल के झुटपुटे में एक लम्बी आकृति को देखें और निश्चय न कर सकें कि वह मनुष्य है अथवा खंभा है, क्योंकि लम्बाई दोनों में सामान्य है; (2) ऐसे गुणों के ज्ञान से जो कि किसी भी पदार्थ में समान रूप से न पाए जाएं, जैसे कि यह निश्चय करने में हम कठिनाई हो कि शब्द नित्य है या नहीं, क्योंकि यह मनुष्य में अथवा पशु में नहीं पाया जाता जो अनित्य है, और न परमाणु में ही पाया जाता है जो नित्य है, (3) परस्पर विरोधी साक्ष्य से, जैसेकि दो प्रामाणिक पुरुषों में जीवात्मा के स्वरूप के विषय में मतभेद हो जाता है, (4) प्रत्यक्ष ज्ञान की अनियमितता से, जैसेकि जल दिखाई पड़ने पर हम यह निश्चय न कर सकें कि यह वास्तविक जल है जैसाकि तालाब में होता है, अथवा कृत्रिम है जैसाकि मृगमरीचिका में दिखाई देता है, क्योंकि ज्ञान दोनों जगह ही समान है, (5) न दिखाई देने की अनियमितता से, जोकि पूर्वावस्था से विपरीत है।[2] उद्योतकर के अनुसार, पिछली दोनों अवस्थाएं, जब तक कि सामान्य अनिश्चयात्मक लक्षणों का ज्ञान न हो, अपने-आप संशय को जन्म नहीं देतीं। क्योंकि देखा गया अवयव एक से अधिक पदार्थों से सम्बद्ध होता है, अतः वह एक साथ ही दो प्रकार के विचारों की शृंखला की स्मृति को ताजा कर देता है जिनके बीच मन दोलायमान रहता है और इससे संशय उत्पन्न होता है।[3] दोनों में से एक भी विचार दृश्य ज्ञान के साथ सम्बद्ध नहीं रहता, यद्यपि क्रमशः दोनों का संकेत मिलता है।[4] संशयात्मक वृत्ति अबाधित रूप से बढ़कर क्रिया को रोक देती है।[5]

1 न्यायसूत्र, 3 2, 33, न्यायभाष्य, 3 2, 25 30, न्यायवार्तिक, 3 2 25 26। स्मृति के कारणों में निम्नलिखित का उल्लेख किया गया है : (1) प्रणिधान, अथवा ध्यान; (2) निबन्ध, अथवा साहचर्य, (3) अभ्यास, अर्थात् बार-बार दोहराना, (4) लिंग, अथवा चिह्न, (5) लक्षण, अथवा वर्णनात्मक चिह्न, (6) सादृश्य, अर्थात् समानता, (7) परिग्रह, अथवा स्वामित्व, (8) आश्रयाश्रितसम्बन्ध, अथवा आश्रय तथा आश्रित का सम्बन्ध, (9) आनन्तर्य, अर्थात् क्रम में ठीक पीछे आना (10) वियोग, अर्थात् पृथक हो जाना, (11) एककार्य, अर्थात् व्यापार में एकता, (12) विरोध (13) अतिशय, अथवा श्रेष्ठता, (14) प्राप्ति, (15) व्यवधान (16) सुखदुःख, (17) इच्छाद्वेष, (18) भय, (19) अर्थित्व, अथवा आवश्यकता, (20) क्रिया, (21) राग अर्थात् स्नेह या प्रेम, (22) धर्म अथवा पुण्य, (23) अधर्म अथवा पाप। वात्स्यायन के अनुसार, ये ही निदान हैं, यही सब कुछ नहीं है। 'निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूनां न परिसंख्यानम्' इति (न्यायभाष्य, 3 2, 41)। साहचर्य के समस्त कारण और विचारों का पुनःस्मरण उक्त शीर्षकों के अन्तर्गत लाए जा सकते हैं।

2. तर्कसंग्रह, 64 वैशेषिकसूत्र, 2 2, 17।

3 दोलायमाना प्रतीतिः संशयः (गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति)।

4 लौगाक्षि भास्कर संशयावस्था की परिभाषा करता हुआ कहता है कि यह ऐसा ज्ञान है जिसमें नानाविध परस्पर विरोधी गुणों का विकल्प रहता है। तर्ककौमुदी : एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थिक ज्ञानम्। पृष्ठ 7। और तुलना कीजिए तर्कसंग्रह, 64, भाषापरिच्छेद, 129-30।

5 प्रशस्तपाद संशय के दो प्रकार बताता है, आभ्यन्तर और बाह्य (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 174)।

यदि दोनों विकल्पों में से एक को दबा दिया जाए और मन का झुकाव दूसरे की ओर हो जाए तो उसे, 'ऊहा', अर्थात् अटकल के नाम से जाना जाता है, और कुछ समय के लिए हम एक विकल्प को मान लेते हैं ।[1] एक विकल्प को दबाने का कारण दूसरे का सशक्त होना होता है। यदि हम धान के खेत में किसी लम्बे पदार्थ को देखें तो हम अटकल लगाएंगे कि यह कोई मनुष्य है, लम्बा खंभा नहीं है, क्योंकि धान के खेत में खम्भे प्रायः नहीं पाए जाते। जहां संशयावस्था में दोनों विकल्पों की एक समान सम्भावना रहती है, वहां ऊहा में एक की सम्भावना दूसरे की अपेक्षा अधिक होती है।

एक अन्य संशयात्मक अवस्था भी है जिसे अनध्यवसाय कहते हैं। यह स्मृति के अभाव में उत्पन्न होती है। हम वृक्ष को देखते हैं किन्तु उसका नाम भूल जाते हैं और पूछते हैं कि "इसका क्या नाम हो सकता है?"[2] शिवादित्य के अनुसार, यहां भी हमारे सामने दो वैकल्पिक सुझाव रहते हैं, यद्यपि वे चेतना में विद्यमान नहीं रहते। यदि हमें उनका ज्ञान हो तो एक संशयात्मक अवस्था उपस्थित हो जाती है। प्रशस्तपाद, श्रीधर तथा उदयन एक अन्य ही समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे इसे अन्यमनस्कता अथवा अधिक ज्ञान की अभिलाषा के कारण परिचित अथवा अपरिचित पदार्थ का सन्दिग्ध (अनिश्चित) ज्ञान मानते हैं। जब कोई परिचित पदार्थ समीप से गुजरता है, और हम उसे उधर ध्यान न होने, अर्थात् अन्यमनस्क होने के कारण नहीं देखते तो इसे हम अनध्यवसाय के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि हमें यह तो पता है कि कुछ हमारे समीप से गुजर गया किन्तु वह कौन-सा पदार्थ था, सो हम नहीं जानते। किन्तु जब पदार्थ अपरिचित है और हमें उसका नाम नहीं मालूम तो हमारे सम्मुख अपूर्ण ज्ञान की अवस्था उपस्थित होती है, जोकि साधारण संशय की अवस्था से भिन्न है।[3]

संशय से हमें अनुसंधान की प्रेरणा मिलती है, क्योंकि यह हमारे अन्दर इस अभिलाषा को उत्पन्न कर देता है कि जिसका पता नहीं मिल सका है उसे जाने। यह अनुमान के पूर्व आता है, यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा आप्त ज्ञान में इसका कोई स्थान नहीं है। हमारा ज्ञान सुनिश्चित हो जाने पर संशय लुप्त हो जाता है संशय तथा भूल (भ्रांति) में अन्तर है। इन्हें एक साथ न मिलाना चाहिए, क्योंकि ऐसा ज्ञान होना कि हम पदार्थ के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, यथार्थ ज्ञान अथवा प्रत्यय है। संशय अपूर्ण ज्ञान है, जबकि भूल मिथ्या ज्ञान है।

17. हेत्वाभास

न्यायदर्शन का तर्क विस्तार के साथ उन सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है जिनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। यह प्राकृतिक विज्ञान के दृष्टिकोण को स्वीकार करता है, और इसके नियम उपदेशरूप न होकर सामान्य उक्तियां हैं जिनका आधार उन साधनों का सूक्ष्म निरीक्षण है जिनके द्वारा मानव अपनी बौद्धिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है। साधारणतः ज्ञान यथार्थ होता है, भूल संयोगवश होती है और तभी होती है जबकि वे अवस्थाएं नहीं होतीं जिनमें यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। हेत्वाभास तब होते हैं

1 सप्तपदार्थी 68।

2 देखिए सप्तपदार्थी, पृष्ठ 69। तुलना कीजिए मितभाषिणी विजयानगरम संस्कृत ग्रंथमाला, पृष्ठ 26 किं संज्ञकोऽयमित्यत्रापि चूत पनसो वेति विकल्पस्फुरणादनध्यवसायोऽपि संशय एव।

3 प्रशस्तपादकृत पदार्थसंग्रह, पृष्ठ 182-83।

जबकि ज्ञानोत्पादक शक्तियों के मार्ग में हस्तक्षेप होता है। न्याय हेत्वाभासों के विषय का विस्तृत विवेचन करता है और इसमें आश्चर्य भी क्या है, क्योंकि हमें स्मरण रखना चाहिए कि विचार में भूल होने की सम्भावना के कारण ही न्यायशास्त्र के निर्माण की आवश्यकता हुई।

शब्द-जाल की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है, क्योंकि न्यायशास्त्र का उद्देश्य वितण्डावादियों की कला अर्थात् वाक्छल से हमारी रक्षा करना है। शाब्दिक छल के तीन प्रकार बतलाए गए हैं : (1) वाक्छल—एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है जो सन्दिग्धार्थ है और श्रोता उसका वक्ता के आशय से भिन्न अर्थ लगाता है। जब कोई यह कहता है कि "अमुक लड़का नवकम्बल है," अर्थात् जिसके पास नया कम्बल है (अथवा नौ कम्बल हैं), तो वाक्छली उत्तर देता है कि "नहीं, इसके पास नौ नहीं अपितु एक ही कम्बल है।" (2) सामान्यछल—एक व्यक्ति विशेष के विषय में किए गए कथन को जब सारी जाति पर लागू कर दिया जाए, जैसे किसी के यह कहने पर कि "यह ब्राह्मण विद्वान और आचारवान है", वक्रोक्ति-पटु पुरुष आक्षेप करे कि नहीं सभी ब्राह्मण विद्वान और आचारवान नहीं होते। (3) उपचारछल—अर्थात् जहां आलंकारिक भाषा में किए गए कथन को शाब्दिक अर्थ में लिया जाता है। जैसे कि कोई कहे कि "फांसी के तख्ते चिल्ला उठते हैं", तो उस पर वक्रोक्तिपटु पुरुष प्रतिवाद करे कि फांसी के तख्ते जैसे निर्जीव पदार्थ में यह आशा नहीं की जा सकती कि वह चिल्ला सके।

जाति एवं निग्रहस्थान जैसे हेत्वाभास अधिकतर भाषा-सम्बन्धी दोष हैं, तर्क-सम्बन्धी नहीं। तार्किक हेत्वाभास परार्थानुमानात्मक युक्ति के विभिन्न अवयवों के सम्बन्ध से होते हैं। पक्षपद-सम्बन्धी दोष अर्थात् पक्षाभास, और दृष्टान्त सम्बन्धी दोष अर्थात् दृष्टान्ताभास उतने महत्त्व के नहीं हैं, जितने कि हेत्वाभास अर्थात् मध्य पद (हेतु) सम्बन्धी दोष हैं। गौतम[1] इस प्रकार के दोषों के पांच भेद बतलाते हैं (1) सव्यभिचार, अर्थात् जिसके द्वारा एक से अधिक प्रकार के परिणाम निकल सकें। दुर्बोध इन्द्रियातीत होने के कारण शब्द को चाहे तो हम नित्य समझ लें चाहे अनित्य, क्योंकि नित्य परमाणु और अनित्य पदार्थों के ज्ञान भी दुर्बोध अर्थात् इन्द्रियातीत हैं। हेतु में साध्यपद व्याप्त नहीं है। क्योंकि हेतु बराबर किसी एक विकल्प का सहचारी नहीं है, इसलिए परवर्ती तर्कशास्त्र में इसे अनैकान्तिक कहा गया है। इसके तीन उपविभाग माने गए हैं, अर्थात् (क) साधारण, जहां कि हेतु अत्यन्त व्यापक है, (ख) असाधारण, जहां कि हेतु बहुत संकुचित है, और (ग) अनुपसंहारी अर्थात् अनिश्चयात्मक, जहां हेतु की यथार्थता नहीं जांची जा सकती।[2] (2) विरुद्ध अर्थात्

1 1 2, 4, और देखिए वैशेषिकसूत्र, 3 1, 15। प्रशस्तपाद ने असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध, और अनध्यवसित इस प्रकार के हेत्वाभास बताए हैं (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 239-40)। दिङ्नाग ने चौदह प्रकार के और भासर्वज्ञ ने छः प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन किया है। और देखिए तर्कसंग्रह, 52।

2 तर्कसंग्रह, 53। और देखिए विश्वनाथकृत न्यायसूत्रवृत्ति, 1 2, 46।

वह तर्क जिससे स्वयं प्रतिज्ञा का ही खण्डन हो जाए।[1] (3) प्रकरणसम, अर्थात् जो प्रतिज्ञा के ही समान हो, जिससे कोई परिणाम नहीं निकल सकता, क्योंकि यह उसी प्रश्न को उठाता है जिसका कि इसे उत्तर देना होता है। यह दो परस्पर विरोधी विशेषताओं में से एक को रखता है, जबकि दोनों ही अप्रत्यक्ष हैं।[2] परवर्ती न्याय इसे 'सत्प्रतिपक्ष' के अन्तर्गत लाता है। जब यह सव्यभिचार के साथ तादात्म्यरूप धारण करता है तो यह एक ऐसा तर्क हो जाता है जिससे दोनों पक्ष अपना तात्पर्य निकाल सकते हैं।[3] (4) साध्यसम वह तर्क है जो साध्य से भिन्न नहीं है, अर्थात् जिसे सिद्ध करने को स्वयं एक प्रमाण की आवश्यकता है। यह असिद्ध विषय है जिसके विभिन्न प्रकार माने गए हैं, जैसे (क) स्वरूपासिद्धि, जहां हेतु का स्वरूप बिल्कुल ही अज्ञात है, जैसे हम कहें कि शब्द नित्य है क्योंकि यह दिखाई देता है। यहां शब्द का दिखाई दे सकना बिलकुल ही अज्ञात है; (ख) आश्रयासिद्धि : जहां हेतु का कोई आधार ही नहीं, जैसेकि इस उदाहरण में कि 'परमात्मा का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि वह शरीरधारी नहीं हैं', यदि परमात्मा नहीं है तो अशरीरता का कोई अधिष्ठान ही नहीं है, (ग) अन्यथासिद्धि, अर्थात् जो अन्य प्रकार से ज्ञात हो।[4] (5) कालातीत, अर्थात् ऐसा तर्क जिसका समय बीत चुका हो। यह तर्क कि 'शब्द स्थायी है क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति दो पदार्थों के संयोग से होती है जैसेकि रंग की", इस प्रकार के हेत्वाभास का उदाहरण है। घड़े का रंग तब प्रकट होता है जबकि दीपक के साथ घड़े का संयोग होता है, यद्यपि इस संयोग से पहले भी रंग विद्यमान था और संयोग के विच्छेद हो जाने पर भी बराबर रहेगा। किन्तु उक्त उदाहरण के आधार पर यह तर्क करना कि ढोल के साथ डंडे का संयोग होने से पहले भी शब्द विद्यमान था और संयोग के विच्छेद हो जाने पर भी विद्यमान रहेगा, हेत्वाभास है। यह तर्क कालातीत है क्योंकि दीपक और घड़े के संयोग के साथ ही रंग की अभिव्यक्ति होती है, जबकि डंडे और ढोल का संयोग होने के बाद शब्द की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के हेत्वाभास को 'बाधित' भी कहते हैं जहांकि हेतु एक पक्ष की स्थापना करता है, पर उसमें विपरीत की सिद्धि अन्य प्रमाण द्वारा होती है। परवर्ती तर्कशास्त्र में हेत्वाभासों की सूची बहुत अधिक विकसित है।

18. सत्य अथवा प्रमा

ज्ञान के सिद्धान्त का प्रारम्भ जिस समय से होता है वह यह नहीं है कि हमें ज्ञान है,

1 न्यायवार्तिक, 1 2, 6। वात्स्यायन (1 2, 6) योगभाष्य (3 13) से दृष्टान्तरूप में ये दो कथन उद्धृत करते हैं (1) इस संसार का व्यक्त होना इसलिए समाप्त हो जाता है क्योंकि यह नित्य नहीं है और (2) यह विद्यमान इसलिए रहता है क्योंकि इसका नाश नहीं हो सकता। और देखिए तर्कसंग्रह, 54।

2 न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक, 1 2, 7।

3 तर्कसंग्रह, 55।

4 वाचस्पति एकदेशासिद्धि को जोड़ता है और उदयन व्याप्यत्वासिद्धि को जोड़ता है, जहां कि साहचर्य निरन्तर रहनेवाला नहीं है।

बल्कि यह है कि हम उसका दावा करते हैं। यह प्रमाणवादी का कार्य है कि वह अनुसंधान करे कि उस दावे को कहाँ तक निभाया जा सकता है। प्रमा अथवा सत्य के सिद्धान्त में नैय्यायिक जिज्ञासा करना आरम्भ करता है कि कहाँ तक हमारा दावा तर्क की कसौटी पर न्यायोचित ठहर सकता है। वह यह जताने का प्रयत्न करता है कि चार प्रमाणों के द्वारा जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह प्रामाणिक है अथवा उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है।

न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के सिद्धान्त का माध्यमिक मत के संशयवाद के साथ विरोध है। संशयवादी का कहना है कि हमें पदार्थों के तत्त्व का ज्ञान नहीं होता और हमारा विचार परस्पर इतना विरोधी है कि उसे यथार्थ नहीं समझ सकते। इस मत के विरोध में वात्स्यायन का कहना यह है कि यदि माध्यमिक को इतना निश्चय है कि किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है, तो उसे अपने ही मत के अनुसार कम से कम इतनी निश्चितता तो स्वीकार है ही, और इस प्रकार उसके मत का अपने से ही खण्डन हो जाता है। और यदि 'किसी पदार्थ की सत्ता नहीं' इसे सिद्ध करने के लिए उसके पास कोई प्रमाण नहीं है और यह उसकी केवल अयुक्तियुक्त कल्पना है तो इसके विपरीत मत को स्वीकार किया जा सकता है और फिर जो प्रमाणों की मान्यता को स्वीकार करता है, वह या तो किसी प्रमाण के आधार पर ऐसा कर सकता है या बिना किसी आधार के ऐसा कर सकता है। यदि पिछली बात है तो तर्क करना निरर्थक है। और यदि पहली बात है तो वह प्रमाणों की मान्यता को स्वीकार कर ही लेता है। मौलिक संशयवाद क्रियात्मक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को विचार प्रारम्भ करते ही ज्ञान के सिद्धान्तों को स्वीकार करना ही पड़ता है। और जो विचार की निष्ठा को स्वीकार करता है उसे यथार्थ के जगत् को भी स्वीकार करना ही होता है, क्योंकि विचार तथा यथार्थसत्ता एक-दूसरे पर आश्रित हैं। वात्स्यायन का कहना है कि यदि विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण सम्भव है तो यह कहना अयुक्तियुक्त होगा कि पदार्थों की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान नहीं हो सकता। और यदि, दूसरे पक्ष में, पदार्थों की वास्तविक सत्ता का ज्ञान नहीं होता तो विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह कहना कि विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण होता है किन्तु पदार्थों की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान नहीं होता, इन दोनों वक्तव्यों में परस्पर विरोध है।[1] उद्योतकर इसे इस प्रकार रखता है कि "यदि विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण हो सकता है तो पदार्थ असत नहीं हो सकते; और यदि पदार्थों की सत्ता नहीं है तो विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण सम्भव नहीं है।"[2] न्यायशास्त्र का विश्वास है कि ज्ञान यथार्थसत्ता का सूचक है।[3]

1 न्यायभाष्य, 4 2, 27।

2 न्यायवार्तिक, 4 2, 27

3 त्रिविध ज्ञान की असम्भवता, माध्यमिकों के अनुसार, अन्य युक्तियों के साथ-साथ इस आधार पर है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ऐन्द्रिय विषयों के न तो आरम्भ में, न पीछे और न ही साथ-साथ ही हो सकता है। यदि यह पहले होता है तो यह पदार्थ के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का परिणाम नहीं हो सकता, यदि यह पीछे होता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रिय के विषय की स्थापना प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा हुई है। और यदि प्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थ के साथ साथ होता है तो हमारे बोधों में किसी क्रम की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनमें सम्बद्ध पदार्थों में कोई ऐसा क्रम नहीं है। रंग और गन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान एक ही समय में हो सकता है, जिसे न्याय नहीं स्वीकार करता। जो कुछ प्रत्यक्ष के विषय में सत्य है वही अन्य प्रमाणों तथा प्रमेयविषयों के साथ उनके सम्बन्ध के विषय में भी लागू होता है। इस प्रकार ज्ञान के ये साधन अप्रामाणिक भी हैं और असम्भव भी हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के विरुद्ध

वात्स्यायन विज्ञानवाद के इस मत पर आक्षेप करता है कि अनुभूत पदार्थ साक्षात्कार के सूत्रमात्र है। स्वप्न मे देखे गए पदार्थ यथार्थ नही होते क्योकि जागरितावस्था मे हमे उनका अनुभव नही होता। यदि इन्द्रियग्राह्य अनुभूत जगत् का अस्तित्व न होता तो स्वप्न की अवस्थाए सम्भव ही न हो सकती। स्वप्नो की विविधता उनके कारणो की विविधता पर आश्रित है।[1] यदि यथार्थसत्ता का अस्तित्व न होता तो सत्य तथा भ्रान्ति मे भेद न के बराबर होता और इस तथ्य का कोई स्पष्टीकरण सम्भव न होता कि प्रत्यक्ष ज्ञान मे हमे स्वेच्छाचार प्राप्त नही है।[2] और न्याय उस मत से भी सन्तुष्ट नही है जो पदार्थो को स्वयसिद्ध, यद्यपि क्षणिक स्वभाव वाले, मानता है। यदि पदार्थ हमारे ज्ञान के कारण है तो उनका अस्तित्व कार्य अर्थात् ज्ञान से पूर्व होना आवश्यक है। किन्तु, पदार्थो की क्षणिकता के मत से, जिस पदार्थ ने ज्ञान उत्पन्न किया उसका दूसरे ही क्षण मे, जबकि उसका प्रत्यक्ष होता है, अस्तित्व नही रहता। ऐसे मत को किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है, क्योकि प्रत्यक्ष ज्ञान तो केवल उस पदार्थ का होता है जोकि उसी क्षण मे विद्यमान हो। ऐसा तर्क उपस्थित करना कि पदार्थ का तिरोधान प्रत्यक्ष ज्ञान का समकालीन है, नि सार है, क्योकि हम वर्तमानकाल के पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है न कि भूतकाल के पदार्थ का। इस प्रकार अनुमान तक भी असम्भव हो जाएगा।[3] फिर, कार्य और कारण के आधान और आधेय के रूप मे परस्पर सम्बद्ध होने के कारण, दोनो का एक ही काल मे विद्यमान रहना आवश्यक है। जो पदार्थ वास्तविक रूप से है उसका मौलिक स्वरूप उस पदार्थ से जिसकी केवल कल्पना की जाती है, इस बात मे भिन्न है कि उसकी सत्ता अनुभव के हर सम्बन्ध से स्वतन्त्र है। जिस पदार्थ की सत्ता है, वह उस काल मे भी है जबकि हमे उसका अनुभव नही होता। अनुभव एकपक्षीय निर्भरता का सम्बन्ध है। अनुभव की विद्यमानता के लिए पदार्थों का रहना आवश्यक है, किन्तु पदार्थो की सत्ता के लिए किसी अनुभव का होना आवश्यक नही है। इस प्रकार नैय्यायिक इस परिणाम पर पहुचता है कि हमारे विचार, द्रष्टा की इच्छा एव प्रयोजन से स्वतन्त्र, तथ्यो के वस्तुपरक स्तर (मानदण्ड) के अनुसारी होते है।[4] पदार्थों की सत्ता प्रमाणो पर निर्भर नही करती, यद्यपि बोध के विषय के रूप मे उनका अस्तित्व बिलकुल प्रमाणो की क्रिया पर निर्भर करता है।

प्रमाणो की प्रमाण सज्ञा इसलिए है कि वे हमे प्रमा (सत्य) प्राप्त कराते है।[5] उदयन अपने 'तात्पर्यपरिशुद्धि' नामक ग्रन्थ मे कहते हैं कि "पदार्थो के वास्तविक स्वरूप

उक्त आपत्ति का निराकरण इस तर्क के आधार पर किया जाता है कि ज्ञान का साधन अपने प्रमेय पदार्थ से पूर्व भी रह सकता है जैसे कि ढोल शब्द से पहले रहता है पीछे भी आ सकता है जैसे प्रकाश सूर्य के पश्चात आता है, और एकसाथ भी रह सकता है जैसेकि धुए का ज्ञान आग के साथ-साथ होता (न्यायभाष्य, 2 1, 8-19)।

1 न्यायभाष्य, 4 2, 33 34 और 37।

2 न्यायभाष्य, 4 2 26 37।

3 देखिए न्यायवार्तिक, 1, 1 37, 3 2, 14। उद्योतकर कहता है 'परार्थानुमान मे, शब्द अनित्य है क्योकि घडे की भाति यह एक उत्पन्न पदार्थ है। घडा एक दृष्टान्त है जिसके अन्दर अनित्यता और उत्पन्न होने की योग्यता अवश्य निहित होनी चाहिए। इनमे पहला पश्चाद्वर्ती अभाव है जबकि पिछला पूर्ववर्ती अभाव है। यदि घडा केवल क्षणिक है तो ये दोनो ही एकसाथ घडे मे कैसे रह सकते हैं ?"

4 न्यायभाष्य, विश्वनाथ न्यायसूत्रवृत्ति 4 2 26 और आगे।

5 प्र अर्थात् यथार्थ, मा अर्थात् ज्ञान (4 2, 29)।

का ज्ञान 'प्रमा' है, और इस प्रकार के ज्ञान के साधन का प्रमाण कहते हैं।"[1] पदार्थों का वास्तविक स्वरूप अर्थात् तत्त्व क्या है? यह, जो पदार्थ है उसकी विद्यमानता और जो पदार्थ नहीं है उसका अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी पदार्थ का, जो है, एक विद्यमान पदार्थ के रूप में ज्ञान प्राप्त किया जाता है—अर्थात् उसे उसके यथार्थ रूप में जाना जाता है (यथाभूतम्), और उससे विरोधी रूप में नहीं जाना जाता (अविपरीतम्)—तो इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह उस पदार्थ का यथार्थस्वरूप है। इसी प्रकार दूसरी ओर जब एक असत् (अभावरूप) का अभावात्मक अनुभव किया जाता है अर्थात् जो पदार्थ नहीं है और भावात्मक पदार्थ के विरोधीस्वरूप का है, तो वही उसका यथार्थस्वरूप है।[3] अप्रमा, भ्रम अथवा मिथ्याज्ञान पदार्थ का उस रूप में ज्ञान है जैसाकि वह नहीं है। जब हम सीप को चांदी समझ लेते हैं तो यह पदार्थ का वैसा बोध है जैसाकि वह नहीं है।[4] यह केवल ज्ञान का अभाव नहीं है, बल्कि निश्चित भ्रान्ति है।[5]

परिप्रश्न संशय आदि का भी मनुष्य के मानसिक इतिहास में एक स्थान है, यद्यपि उनकी यथार्थता अथवा अयथार्थता का प्रश्न नहीं उठता। व्यक्ति का विचार किए बिना किसी विषय-वस्तु के विषय में स्वतन्त्र रूप में निर्णय देना या किसी प्रकार का कथन करना तार्किक मूल्यांकन का उद्देश्य है। प्रत्येक ज्ञान एक प्रकार का ऐसा निर्णय है जिसमें वह पदार्थ जिसके विषय में निर्णय दिया जाए, विशेष्य है और उसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाए वह विशेषण है। न्यायशास्त्र में निर्णय का विश्लेषण उद्देश्य और विधेय के रूप में उतना नहीं किया जाता जितना कि विशेष्य और विशेषण के रूप में होता है।[6] समस्त ज्ञान पदार्थों के स्वरूप तथा गुणों के विषय में होता है। उद्देश्य हमें यह बताता है कि एक वस्तु का अस्तित्व है और विधेय उसके विशेष गुणों का वर्णन करके उसके स्वरूप का निश्चय कराता है। जहां निर्णय पदार्थ के स्वरूप से मेल खाता है उसे हम यथार्थ ज्ञान कहते हैं।[7] प्रत्येक विषय का अपना वास्तविक स्वरूप होता है और

1 यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्।

2 सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। न्यायभाष्य, 1 1, 1।

3 न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक, 1 1, 1।

4 न्यायभाष्य, 1 1 4।

5 न्यायभाष्य, 4 2, 1, 4 2, 35।

6 तुलना कीजिए, "हम देखते हैं कि प्रत्येक प्रतिज्ञा में हम पदार्थ का स्वरूप क्या है यही निश्चय करते हैं। अतः सर्वाधिक आधारभूत अर्थों में हम निर्धारित तथा निर्धारक की बात कह सकते हैं। 'निर्धारित' की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि यह वह है जिसका विचार या बोध के द्वारा निर्णीत करने के लिए या स्वरूप-ज्ञान के लिए प्रस्तुत किया जाता है। और निर्धारक वह है जो उसे (प्रस्तुत को) निर्णीत करता है या उसके स्वरूप का ज्ञान कराता है" (डब्ल्यू० ई० जानसन : लॉजिक, 1 : पृष्ठ 9)।

7 तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः (तर्कसंग्रह, 35)। 'प्रकार' विषय का नाम है, जबकि पदार्थ का गुण जो विधेय से घोषित होता है, 'विशेषण' कहलाता है। प्रकार बोध का उल्लेख करता है और विशेषण पदार्थ का। अन्नंभट्ट यह कठिनाई उपस्थित करता है कि क्या इस निर्णय से कि 'घटत्व घड़े के अन्दर है', घटत्व को विशेष्य और घट को विशेषण समझा जा सकता है। वह इस कठिनाई का निराकरण यह कहकर करता है कि यह आवश्यक नहीं है कि विधेय सदा गुण ही हो, बल्कि इसे मात्र विषय के साथ सम्बद्ध होना चाहिए। 'तद्वति' का अर्थ है तत्सम्बन्धवति। और देखिए, न्यायवार्तिक, 3 2, 42।

विचार विशेष्य तथा विशेषण में भेद करता है और प्रमाणित करता है कि दोनों वास्तविक जगत् में परस्पर संयुक्त पाए जाते हैं। यह कहा जाता है कि प्रमाण हमें वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराते हैं।[1]

घटरूपी पदार्थ तथा उसके ज्ञान का जो सम्बन्ध है वह समवाय-सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि घटविषयक ज्ञान आत्मा का एक गुण है, घड़े का गुण नहीं है। और न ही यह सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध है, क्योंकि संयोग-सम्बन्ध केवल द्रव्यों में ही सम्भव है, जबकि ज्ञान द्रव्य नहीं बल्कि गुण है। तो भी पदार्थ और पदार्थ के ज्ञान के मध्य एक सम्बन्ध होना अवश्य चाहिए जिससे निश्चित और यथार्थ परिणाम तक पहुंचाया जा सके। इस प्रकार हमारे निर्णय का एकमात्र सम्भव नियामक कारण घट का स्वरूप ही हो सकता है। इस प्रकार के सम्बन्ध को 'स्वरूप-सम्बन्ध' कहते हैं। जिसकी परिभाषा भीमाचार्य के न्यायकोष में इस प्रकार की गई है कि "ऐसी अवस्था में जबकि निश्चित ज्ञान अन्य किसी सम्बन्ध, अर्थात् समवाय अथवा संयोग के द्वारा प्राप्त न हो और इसकी सत्ता स्वीकार करने के लिए हम बाध्य हों।"[2] यह प्रमेय पदार्थ तथा बोध के मध्य अपने ही ढंग का एक निराला सम्बन्ध है।[3] ज्ञानरूप कार्य, जो ज्ञान की क्रिया अथवा प्रक्रिया से स्पष्ट भिन्न है, स्वयं में न तो भौतिक पदार्थ है और न केवल एक मानसिक अवस्था है। वह सारतत्त्व अथवा उस पदार्थ का स्वरूप है जो जाना जाता है।[4] यदि बाह्य ज्ञान में ज्ञान का विषय स्वयं भौतिक सत्तावान है तो उस अवस्था में भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। उसके विषय में हरएक व्यक्ति का विवरण अवश्य सत्य होना चाहिए। यह समझना कि जब हम उत्तरी ध्रुव के विषय में सोचते हैं तो वह वस्तुतः हमारी चेतना में आ जाता है, तथ्य के साथ मेल नहीं खाता। यदि यह केवल एक मानसिक अवस्था है तो हम ज्ञान-सापेक्षतावाद (विषयीविज्ञानवाद) के भंवर में आ फंसते हैं। ज्ञान का विषय न तो भौतिक सत्तावान है और न मनोवैज्ञानिक सत्तावान है, बल्कि पदार्थ का स्वरूप है। समस्त ज्ञान में यह 'क्या' ही सारतत्त्व अथवा स्वरूप है जो यथार्थता का दावा रखता है। स्वप्नों में भी हमारे सामने 'क्या' आता है, किन्तु हमें यह पता चल जाता है कि स्वप्नगत पदार्थों की कोई यथार्थसत्ता नहीं है। उनका अस्तित्व-सम्बन्धी उपलक्षित अनुमोदन उचित नहीं है। समस्त ज्ञान स्वरूपों का ही है। जिसमें सत्ता उपलक्षित रूप से आरोपित होती है। इस उपलक्षित विश्वास में कभी-कभी भ्रान्ति भी होती है। स्वयं ज्ञान की अपनी क्रिया द्वारा वस्तुविषय पदार्थ से सम्बन्ध रखता है या नहीं यह नहीं जाना जाता, क्योंकि

1 प्रमाणस्य सकलपदार्थव्यवस्थापकत्वम् (विश्वनाथकृत न्यायसूत्रवृत्ति 1 1 1)।

2 सम्बन्धान्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वम। स्वयं घड़े को सम्बन्ध बनाने में जो स्पष्ट आपत्ति है, अर्थात् सम्बन्ध तथा सम्बद्ध पदार्थ के मध्य जो भेद है वह लुप्त हो जाता है। उसका समाधान इस प्रकार दिया गया कि घट घट के रूप में सम्बन्ध नहीं है, बल्कि केवल ज्ञान के विषय के रूप में है।

3 अवच्छेदकत्व स्वरूपसम्बन्ध की एक अवस्था है। कुछेक अवस्थाओं में यह ध्वनित का जिसका अस्तित्व नहीं है, अनिवार्य रचनात्मक गुण होता है घटाभाव की अवस्था में घटत्व अवच्छेदक है। जहां सरल तथा मिश्रित दोनों प्रकार के गुण होते हैं वहां सरलतर गुण अवच्छेदक है। जहां गुण दृष्टान्त के साथ सहविस्तारी है उसे हम अनतिरिक्तवृत्तित्व की अवस्था कहते हैं। ज्ञान और पदार्थ के मध्य जो सम्बन्ध है वह विषयता कहलाता है।

4 तुलना कीजिए 'हमारे पास उपलब्ध सामग्री केवल स्वरूप के सम्मिश्रण, सारतत्त्व तार्किक पदार्थ हैं जिन्हें प्रत्यक्ष देखे गए, अथवा अन्य प्रकार से जाने गए विद्यमान पदार्थों का स्वरूप मानना ही होता है' (एसेज इन क्रिटिकल रियलिज्म पृष्ठ 5)।

ज्ञान का स्वत प्रामाण्य नहीं है।[1] न्याय का मत है कि ज्ञान की यथार्थता अपने-आपमें सिद्ध नहीं है, बल्कि वह अन्य साधनों द्वारा (परत प्रमाण) प्रमाणित की जाती है। सांख्य का विचार है कि यथार्थता और अयथार्थता बोध के अन्दर निहित हैं। किन्तु मीमांसकों का विचार है कि यथार्थता तो बोध के अपने ही कारण है,[2] पर अयथार्थता बाह्य कारणों से होती है। इसलिए जब तक अन्यथा सिद्ध न हो, बोध को यथार्थ ही समझना चाहिए। बौद्ध विचारकों का मत है कि अयथार्थता तो सब बोधों के साथ सम्बद्ध है, किन्तु यथार्थता को सिद्ध करने के लिए अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। इन सब मतों के विरोध में नैयायिक का कहना है कि यथार्थता और अयथार्थता की स्थापना बोध से स्वतन्त्र अन्य किसी वस्तु से होती है। यदि प्रत्येक बोध स्वय स्पष्ट होता तो संशय की सम्भावना ही न होती।[3] इसलिए यथार्थता का निश्चय तो सत्य घटनाओं को देखकर ही किया जाता है। कल्पना कीजिए कि हम एक पदार्थ को प्रत्यक्ष देखते हैं। हमें तुरत यह निश्चय नहीं हो सकता कि जिस पदार्थ को हम देख रहे हैं वह ठीक उसी परिमाण और आकृति का है जैसाकि हमें दिखाई देता है। हम देखते हैं कि सूर्य घूम रहा है। किन्तु वस्तुत वह घूमता नहीं है। इसलिए पदार्थ के प्रत्यक्ष अथवा तात्कालिक ज्ञान के साथ उसकी यथार्थता का विश्वास स्वत. संलग्न नहीं है। हमें ज्ञान की यथार्थता केवल पुनर्मनन की मध्यस्थ प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।[4] जो बात प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में सत्य है वही उन सब ज्ञानों के विषय में भी सत्य है जो हमें अन्य साधनों से प्राप्त होते हैं।

उक्त सिद्धान्त पर किए गए कतिपय आक्षेपों पर न्याय विचार करता है। एक प्रमाण जो हमें किसी पदार्थ का बोध कराता है, स्वय किसी अन्य प्रमाण का प्रमेय कैसे बन सकता है? जैसेकि एक तराजू जब उससे कोई चीज तोली जाती है, तो वह साधन है, किन्तु जब स्वय तराजू का वज़न जानना हो तो वह पदार्थ बन जाएगी जिसके वज़न के लिए अन्य तराजू की आवश्यकता होगी। ठीक इसी तरह, ज्ञान का साधन जब किसी प्रमेय पदार्थ की स्थापना करता है तो वह साधन है, परन्तु जब उसकी अपनी स्थापना की जाती है तो वह प्रमेय बन जाता है। वात्स्यायन कहता है कि "बुद्धि, अथवा ज्ञान वस्तुओं के परिज्ञान के कार्य में

1 तुलना कीजिए डब "समस्त बोधात्मक अनुभव द्वारा सत्तावान का ज्ञान है (यदि वह सत्तावान है) उसपर अधिकार नहीं है। उसकी प्रामाणिकता की जांच अन्य साधनों से होनी चाहिए, जो क्षणिक अन्तर्दृष्टि से अतिरिक्त हों" (क्रिटिकल रियलिज्म, पृष्ठ 32)।

2 उनके लिए वेदों का सत्य स्वत प्रकट है और उसके पालन के लिए किसी बाह्य स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है। किन्तु नैयायिकों के अनुसार, वेदों का प्रामाण्य इसलिए है कि उनका निर्माता ईश्वर है।

3 सिद्धान्तमुक्तावलि, 136। "यदि बोध की यथार्थता स्वय प्रतीत हो तो ऐसे बोध के विषय में जो अभ्यास द्वारा उत्पन्न हुआ है, कोई संशय न रहेगा। क्योंकि यदि, इस अवस्था में, बोध तथा उसकी यथार्थता का ज्ञान हुआ तो संशय कैसे हो सकता है? दूसरी ओर, यदि बोध का ज्ञान नहीं होता तो उसी वस्तु के ज्ञान के अभाव में जिसका गुण है, संशय कैसे हो सकता है? इसलिए बोध की यथार्थता अनुमान का विषय (अनुमेयम्) है।"

4 तर्कभाषा में कहा है—बोध की प्रतीति होती है इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किन्तु उसकी यथार्थता का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। जल की खोज करने वाले व्यक्ति को जल का प्रत्यक्ष होता है। इसके लिए वह जो प्रयास करता है वह सफल होता है अथवा असफल होता है। बोध की सफलता से ही उसकी यथार्थता का अनुमान होता है, क्योंकि जो यथार्थ नहीं है वह प्रयास की सफलता का कारण नहीं बन सकता।

स्वय साधन अथवा प्रमाण है। किन्तु जब उसका स्वय का परिज्ञान अपेक्षित हो तो वही प्रमेय पदार्थ है।"[1] यदि यह कहा जाए कि ज्ञान के एक साधन को अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए ज्ञान के अन्य साधन की आवश्यकता न होनी चाहिए, अर्थात् यह स्वत सिद्ध है, तो इस प्रकार प्रमेय को भी स्वय सिद्ध माना जा सकता है और तब प्रमाणो की कोई आवश्यकता ही नही रहती। यह आपत्ति की जाती है कि यदि ज्ञान की यथार्थता का ज्ञान किसी अन्य ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जाता है, और फिर दूसरे ज्ञान की यथार्थता अन्य ज्ञान के द्वारा जानी जाती है, तो एक प्रकार की ऐसी अव्यवस्था हो जाएगी जिसका कही अन्त नही होगा।[2] यदि हम कही बीच मे ठहर जाते है तो प्रमाण की सिद्धि नही होती। नैय्यायिक की दृष्टि से यह कोई गभीर आपत्ति नही, बल्कि केवल एक काल्पनिक आपत्ति है। सब प्रकार के कार्य-सम्पादन के लिए हम प्रमाणो की यथार्थता को स्वय सिद्ध मान लेते है। और एक प्रमाण से दूसरे प्रमाण की यथार्थता को निरतर सिद्ध करते रहने की कोई आवश्यकता नही होती।[3] स्पष्ट ज्ञान की अवस्था मे, जैसेकि जब हम किसी फल को अपने हाथ मे देखते है, हमे बोध की यथार्थता के विषय मे कोई सशय नही होता। हमे पदार्थ का निश्चित ज्ञान एक ही बोध से हो जाता है। किन्तु सशयात्मक ज्ञानो मे हमे उस ज्ञान की यथार्थता निश्चित करने के लिए अन्य ज्ञान की सहायता की आवश्यकता होती है और जब हमे पूर्णरूप मे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो हम आगे खोज करना बन्द कर देते है। कुछ प्रमाण ऐसे है जिन्हे पदार्थो की सिद्धि और व्यावहारिक कार्यवाही के लिए अपने ज्ञान की आवश्यकता होती है। और कुछ प्रमाण ऐसे है जिन्हे पदार्थो की सिद्धि के लिए अपने ज्ञान की आवश्यकता नही होती। स्वयं धुए का ज्ञान, इससे पूर्व कि वह आग का ज्ञान कराए, आवश्यक है। इन्द्रिया हमे

1 न्यायभाष्य, 2 1, 16। वात्स्यायन दीपक के प्रकाश का दृष्टान्त देता है जो अन्य पदार्थो का प्रकाशित करने के साथ-साथ अपने-आपको भी प्रकाशित करता है। दीपक के प्रकाश की अवस्था मे यह पाया जाता है कि जहा वह स्वय दृष्टि का विषय है, वहा ऐसा साधन भी है जिसके द्वारा हम अन्य देखे जाने योग्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते है। इस प्रकार, परिस्थिति के अनुसार, वह बोध का विषय भी है और साधन भी है। (न्यायभाष्य, 2 1, 19) इसपर नागार्जुन आपत्ति करता है कि दीपक अपने को प्रकाशित नही कर सकता, क्योंकि उसके अन्दर अन्धकार नही है। वह अन्य पदार्थो को प्रकाशित करता है उस अन्धकार को दूर करके जो उन्हे आच्छादित किए हुए हैं। (माध्यमिक कारिका, 7)। वात्स्यायन के मत को प्रमाणो के स्वत प्रकाश-सम्बन्धी वेदान्त की स्थिति के साथ न मिलाना चाहिए। एक ही प्रमाण पदार्थ को भी प्रकाशित करे तथा अपनी यथार्थता को भी सिद्ध करे ऐसी बात नही है। उद्योतकर इसका स्पष्टीकरण यो करता है कि प्रमेय पदार्थों के सम्बन्ध मे दीपक का प्रकाश प्रमाण है किन्तु इसकी अपनी सिद्धि एक अन्य प्रत्यक्षज्ञान से होती है जोकि चक्षु इन्द्रिय की नस के साथ इसका सम्पर्क होने से होता है। इस प्रकार एक प्रमाण दूसरे प्रमाण से सिद्ध किया जाता है (न्यायवार्तिक, 2 1, 19)। और देखिए न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 2 1, 19।

2 यह आपत्ति नागार्जुन द्वारा उसके 'विग्रहव्यावर्तनीकारिका' नामक ग्रन्थ मे उठाई गई आपत्ति के सदृश है। देखिए 'हिस्टरी आफ इण्डियन लौजिक', पृष्ठ 257 और देखिए न्यायभाष्य, 2 1, 17-18। श्री हर्ष ने बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति के कथन का इस प्रकार उद्धरण दिया है "जो यह स्वीकार नही करता कि बोध का ज्ञान स्वत और सीधा होता है, उसके मत मे वस्तु का ज्ञान सिद्ध नही हो सकता।" देखिए खण्डन, 1 3।

3 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 2 1, 19।

पदार्थों का ज्ञान देती हैं, किन्तु इन्द्रियों के अपने ज्ञान का प्रश्न नहीं उठता। हम इन्द्रियों का ज्ञान अन्य साधनों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु वह ज्ञान अनावश्यक है।

नैय्यायिक के मत में, हम सीधे यह नहीं जान सकते कि हमारे बोध यथार्थ से मेल खाते हैं या नहीं। हमें इसके लिए अनुमान का आश्रय लेना होता है कि यह कहां तक हमें सफल प्रयत्न की ओर अग्रसर करने में सक्षम है। सब प्रकार का ज्ञान हमें कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करता है। यह हमें बतलाता है कि अमुक पदार्थ वांछनीय है, अथवा अवांछनीय है, अथवा दोनों में से किसी कोटि का भी नहीं है। जीवात्मा केवल निश्चेष्ट दर्शक के रूप में वस्तुओं की मात्र कल्पना ही नहीं करती है। वह ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करने तथा अग्राह्य पदार्थों को त्यागने के लिए सदा ही उत्सुक रहती है। विचार जीवन-यात्रा में केवलमात्र एक प्रक्षिप्त कथा-प्रसंग है। "ज्ञान ऐसा बोध है जो अभिलाषा को उत्तेजना देता है और कर्म की ओर अग्रसर करता है।"[1] नैय्यायिक उपयोगितावादियों के इस विचार के साथ सहमति प्रकट करता है कि ज्ञान का आधार है मानव-प्रकृति की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताए, और वह एक ऐच्छिक प्रतिक्रिया को जन्म देता है। हमारे विचारों का पदार्थों से मेल है या नहीं, इसका निश्चय हमें सफल कर्म के प्रति अग्रसर करने की उनकी योग्यता से ही हो सकता है, जिसे प्रवृत्तिसामर्थ्य कहा गया है।[2] इसलिए यह स्पष्ट है कि पदार्थों के साथ विचारों का सम्बन्ध अनुकूलता का है, सादृश्य का नहीं है। नैय्यायिक के मत से हमारे विचारों की यथार्थता तथ्यों के साथ उनके सम्बन्ध पर निर्भर करती है, और उनके मत में वह सम्बन्ध अनुकूलता का है जिसका अनुमान हम विचारों की कार्यपद्धति से करते हैं।[3]

वस्तुतः उसी विचार को सत्य कहा जाता है कि जो हमें विचार द्वारा अभिलषित ज्ञान को प्राप्त करा सके और हमें परिस्थितियों के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य करने के योग्य बना सके। तत्त्वचिन्तामणि के प्रामाण्यवाद के अनुसार, बोधों की प्रामाणिकता अनुमान द्वारा स्थापित की जाती है। जब हम एक घोड़े को देखते हैं तो हमें सबसे पहले आकृति का बोध होता है, 'यह एक घोड़ा है', जिसके बाद एक अस्पष्ट-सा विचार मन में आता है कि 'मैंने एक घोड़े को देखा है।' और जब कोई घोड़े के समीप जाकर और

1 न्यायभाष्य, 1 1, 2।

2 न्यायसूत्र, 1 1, 17 और देखिए न्यायभाष्य तथा न्यायवार्तिक, 1 . 1, 1। और कुसुमाञ्जलि, 3 . 18।

3 तुलना कीजिए, मैक्टेगर्टकृत 'नेचर आफ एक्जिस्टेन्स', 2 में प्रतिपादित सादृश्य और अनुकूलता के भेद के साथ तथा सत्य की नकल और चित्र-सम्बन्धी प्रकल्पनाओं के साथ। इसपर ध्यान देना रोचक होगा कि समीक्षक यथार्थवादी, जिनका ज्ञानविषयक विश्लेषण न्याय के विश्लेषण के समान है, इस कठिनाई पर विजय पाने के लिए उसी उपाय का आश्रय लेते हैं। इस प्रश्न का कि क्या हमें भौतिक पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास रखने का कोई अधिकार है, उत्तर इस प्रकार दिया जाता है : अपने चारों ओर स्थित भौतिक जगत् के अस्तित्व में हमारा सहज (और लगभग अनिवार्य) विश्वास उपयोगिता की दृष्टि से युक्तियुक्त है। प्रतीति का यह साम्राज्य (अर्थात् जो कुछ प्रतीत होता है, और प्रस्तुत है) रिक्त जगत् में रहनेवाले मन का स्वप्नमात्र है, ऐसा सोचा जा सकता है। किन्तु हम अपने अन्तःकरण में सहज प्रवृत्ति द्वारा यह अनुभव करते हैं कि ये प्रतीतियां यथार्थ पदार्थों के विशिष्ट लक्षण हैं। हमारी प्रतिक्रिया उनके प्रति ऐसी होती है कि मानो उनका अपना अस्तित्व है, भले ही हम सुप्तावस्था में या उन्हें भूले हुए ही क्यों न हों। ये प्रतिक्रियाएं इसी विश्वास पर कार्य करती हैं ('एसेज़ इन क्रिटिकल रियलिज़्म', पृष्ठ 6)।

वस्तुत उसे छूकर देखता है, तभी उसे अनुमान होता है कि उसका बोध यथार्थ था और यदि आशा के अनुरूप प्रत्यक्ष ज्ञान उदय नही होता तो वह अनुमान करता है कि उसके बोध मे भ्रान्ति हुई। हम जल को देखते है और उसके पास जाते है। यदि वह हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है तो हम अपने जल-सम्बन्धी ज्ञान को यथार्थ कहने लगते है, क्योकि जो यथार्थ नही है वह सफल क्रियाशीलता के लिए प्रोत्साहित नही कर सकता।[1] जब हमारी आकाक्षाए पूरी हो जाती है तो हम अपने ज्ञान की यथार्थता को जान जाते है। इस प्रकार हम परिणामो से कारणो का अनुमान करते है। सत्य का यह सिद्धान्त अर्थात् विध्यात्मक दृष्टान्तो से यथार्थ ज्ञान की सफल उपलब्धि तथा अभावात्मक दृष्टान्तो से अयथार्थ ज्ञान की असफल उपलब्धि, आगमन कहलाता है।

यह व्यवहार्यता सत्य की केवल कसौटी मात्र है, विषय-वस्तु नही है। उपयोगितावाद के कुछ पक्षपोषको की यह भी सम्मति है कि क्रियात्मक परिणाम ही सम्पूर्ण सत्य है, और बौद्ध तार्किक इसका समर्थन करते है। बौद्ध तार्किको का मत है कि "यथार्थ ज्ञान वह है जिसका विरोध न हो सके। ऐसे ज्ञान को हम अविरोधी कह सकते हैं जो हमे दृष्ट पदार्थ की प्राप्ति करा सके।"[2] पदार्थ की प्राप्ति से तात्पर्य उसके सम्बन्ध मे सफलतापूर्वक कार्य करना तथा उसके स्वरूप को समझना है।[3] नैय्यायिक के मत मे सत्य व्यवहार्यतामात्र नही है, यद्यपि सत्य इससे जाना जाता है। प्रमाणित होने से पूर्व सत्य विद्यमान रहता है। निर्णय सत्य है, इसलिए नही कि वह प्रमाणित हो जाता है, बल्कि वह सत्य है इसीलिए प्रमाणित हो जाता है। उक्त सिद्धान्त के सम्बन्ध मे की गई अनेको आपत्तियो की समीक्षा नैय्यायिक ने की है। हमारी आकाक्षाए पूर्ण हो गई, इसका हमे निश्चय नही हो सकता। भ्रमात्मक सन्तोष के भी अनेको उदाहरण सुने गए हैं। स्वप्नो मे हमे सामान सन्तोष होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि स्वप्न की अवस्थाए यथार्थ है। इसका उत्तर न्यायशास्त्र यो देता है कि केवल सफल क्रियाशीलता की अनुभूति ही पर्याप्त नही है, बल्कि एक सामान्य स्वस्थ मस्तिक की अनुभूति चाहिए जो सफल क्रियाशीलता के पिछले अनुभवो का समर्थन करे। केवल मानसिक अवस्था की विशदता या सन्तोष की अनुभूति नही, बल्कि सम्पूर्ण अनुभव के साथ अनुकूलता अभीष्ट है। स्वप्नगत पदार्थ अनुभव के देश-काल रूपी साचे मे ठीक नही बैठ सकते, और इसलिए वे काल्पनिक हैं।

> जब तक फल की प्राप्ति नही होती तब तक हम अपने ज्ञान को निश्चित रूप से यथार्थ नही कह सकते। इस प्रकार हमे वह आत्मविश्वास नही मिल सकता जिसके बिना कोई प्रयत्न सभव नही है। पदार्थो का यथार्थ ज्ञान सफल

1 पूर्वोत्पन्न जलज्ञान प्रमा सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैव तन्नैव यथा अप्रमा (अन्नभट्टकृत दीपिका, 63।)

2 धर्मोत्तर न्यायबिन्दुटीका, 1 'अविसवादक ज्ञान सम्यग्ज्ञानम् प्रदर्शितम् अर्थ प्रापयन् सवादक उच्यते।"

3 प्रवर्तकत्वम एव प्रापकत्वम् प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रवर्तकत्वमेव। धर्मोत्तर के विचार से प्राप्त पदार्थ और ज्ञात पदार्थ एक नही हैं यद्यपि वे उसी श्रृखला के हैं। यद्यपि बौद्ध तथ्यो और विचारो के सम्बन्ध के न्याय के मत से सहमत नही हो सकते तो भी वे अर्थसिद्धि अर्थात् प्रमेय पदार्थ की प्राप्ति, अथवा क्रियात्मक क्षमता (अर्थक्रियासामर्थ्य) को सत्य की कसौटी स्वीकार करते है और प्रमेय पदार्थो के साथ विचारो के सादृश्य जैसे सदिग्ध वाक्यो का प्रयोग करते है, जैसे अर्थसारूप्यम् अस्य प्रमाणम् (न्यायबिन्दु, 1 . 1)।

क्रियाशीलता की पूर्व शर्त है और सफल क्रियाशीलता से पूर्व हमें पदार्थों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।[1] उद्योतकर बलपूर्वक कहता है कि क्रियाशीलता और ज्ञान की आपेक्षिक पूर्ववर्तिता के प्रश्न में कोई सार नहीं है, क्योंकि सृष्टि अनादि है। इसके अतिरिक्त, कर्म के लिए ज्ञान की यथार्थता नहीं, बल्कि पदार्थ का ज्ञान ही आवश्यक है। जहां तक परिचित पदार्थों का सम्बन्ध है, कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। ऐसी स्थितियों में जहां हमारे समक्ष अद्भुत रूप-रेखा उपस्थित होती है और केवल पूर्ववर्ती घटनाओं को लागू करना अपर्याप्त है, वहां भी अपर्याप्त ज्ञान के आधार पर हम परीक्षण करते हैं। कभी-कभी हम प्रसिद्ध प्राक्कल्पनाओं का यथार्थ रूप जानने के लिए कर्म में प्रवृत्त होते हैं। जीवन सामान्यतः धारणाओं के आधार पर चलता है और प्रत्येक प्रस्तुत क्रियाप्रणाली को उसके आधार पर कर्म करने से पूर्व तर्क की सूक्ष्म तुला पर तोलना सर्वदा सम्भव नहीं हो सकता। व्यावहारिक आवश्यकताओं का दबाव हमें विचारों के अनुसार कार्य करने को बाध्य कर देता है, भले ही उनका साक्ष्य अपूर्ण हो। धार्मिक विश्वास के विषय हमारे कर्म का निर्णय करते हैं, चाहे वे तर्क के क्षेत्र से परे ही क्यों न हों। नैय्यायिक स्वीकार करता है कि ऐसी अवस्थाएं हैं जहां पूर्ण जांच सम्भव नहीं है। अग्निहोत्र के अनुष्ठान से हमें स्वर्ग-प्राप्ति होती है या नहीं, इसका निश्चय हमारी मृत्यु से पूर्व नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति जो पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए बिना कर्म ही नहीं करेगा, या तो अति बृहद् मस्तिष्क वाला होगा, या अत्यन्त अल्पायु होगा।

वाचस्पति और उदयन जैसे परवर्ती नैय्यायिक प्रामाणिक ज्ञान के कुछ रूपों का स्वतः प्रमाण होना स्वीकार करते हैं। तर्क की भ्रान्ति तथा असंगति से रहित अनुमान और तात्त्विक समानता पर आश्रित उपमान वाचस्पति के अनुसार स्वतः प्रामाण्य रखते हैं, क्योंकि बुद्धिगत आवश्यकता बोध तथा पदार्थों को परस्पर बांधनेवाली है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान और शाब्दिक प्रमाण के विषय में हम समान रूप से निश्चित नहीं हो सकते।[2] उदयन वाचस्पति के मत को स्वीकार करता है और युक्ति देता है कि अनुमान और उपमान के अतिरिक्त आत्मचेतना (अनुव्यवसाय) और केवल-मात्र सत् का आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रत्यक्ष (धर्मीज्ञान) स्वतः प्रामाणिकता रखते हैं।[3]

19. भ्रान्ति

प्रमा अथवा प्रामाणिक ज्ञान संशय तथा भ्रान्त ज्ञान (विपर्यय) से भिन्न है जहां कि विचार सफल क्रिया तक नहीं पहुंचाते। भ्रान्तियां और मतिविभ्रम उद्देश्य की पूर्ति करने में असफल होते हैं, अथवा यों कहना उचित होगा कि उनके द्वारा उकसाई गई आशाएं

1 इस कठिनाई का विचार करते हुए, धर्मोत्तर सत्यज्ञान में, जो प्राप्ति का ठीक पूर्ववर्ती है (अर्थक्रिया निर्भासम्), और उसमें जो कुछेक मध्यवर्ती स्थितियों में से गुजरते हुए प्राप्ति की ओर ले जाता है (अर्थक्रियासमर्थे च प्रवर्तकम्), भेद करता है। पहला सीधा कर्म में प्रवृत्त करता है और जांच का विषय नहीं हो सकता। देखिए, 1 : 1, 1 पर उद्योतकर और वाचस्पति।

2 न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, 1 : 1, 1।

3 न्याय के सत्यविषयक सिद्धान्त की गहरी समीक्षा के लिए देखिए खण्डन, 1 : 13-14।

पूर्ण नहीं होती। हमें भूल अथवा भ्रम का ज्ञान तब होता है जबकि हमारे उद्दिष्ट भूतकाल की आकांक्षाएं वर्तमानकाल से पूर्ण नहीं होती। हम एक श्वेत पदार्थ को देखते हैं और उसे चाँदी समझ लेते हैं। जब उसे उठाते हैं तो ज्ञात होता है कि यह तो केवल सीप का एक टुकड़ा है। सीप-सम्बन्धी नये अनुभव ने चाँदी की आकांक्षा को काट दिया। न्यायशास्त्र के अनुसार, सब प्रकार की भ्रांति व्यक्तिपरक है। वात्स्यायन कहते हैं "यथार्थ ज्ञान के द्वारा जिसका निराकरण किया जाता है, वह भ्रान्त ज्ञान है, पदार्थ नहीं है।"[1] उद्योतकर मृगतृष्णिका के दृष्टान्त को लेकर कहते हैं कि "पदार्थ जैसा असल में है सदा वैसा ही रहता है। सूर्य की चञ्चल किरणों के कारण जब जल का बोध उत्पन्न होता है तो स्वयं पदार्थ में कोई भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती, किरणें भी किरणें ही रहती हैं और उनकी चंचलता भी चंचलता ही है। भ्रान्ति तो बोध में है, क्योंकि यह बोध ही है जो किरणों की चञ्चलता के रूप में प्रकट न होकर जल के रूप में प्रकट होता है। तात्पर्य यह हुआ कि किसी वस्तु का ज्ञान यथार्थ रूप में प्रकट न होकर उस रूप में प्रकट होने का नाम भ्रान्ति है जैसी कि वह वस्तु नहीं है।"[2] आकाशपुष्प की भांति जल का सर्वथा अभाव तो नहीं है, किन्तु यह यहां और इस काल में उपस्थित नहीं है, यद्यपि उसकी उपस्थिति की कल्पना की गई है। सूर्य की किरणें इस भ्रांति का कारण हैं, यद्यपि वे जल के भ्रमात्मक ज्ञान का विषय नहीं हैं। न्यायशास्त्र के यथार्थवाद में यहां थोड़ा-सा परिवर्तन किया गया है, क्योंकि वह भ्रांतियुक्त ज्ञान की इस मत से उचित व्याख्या नहीं कर सकता कि अनुभव करने वाले कर्ता से स्वतन्त्र अनुभूत पदार्थों की उनके विशेष गुणों सहित अपनी सत्ता है। समस्त भ्रान्त ज्ञान का कुछ न कुछ आधार वस्तुस्थिति में है। वात्स्यायन कहते हैं कि "कोई भी भ्रान्त ज्ञान बिलकुल निराधार नहीं है।"[3] पदार्थ-विशेष को उसके वास्तविक रूप से भिन्न रूप में जानने का नाम भ्रान्ति है। इस 'अन्यथाख्याति' मत का केवल न्याय ने ही नहीं, अपितु जैन तार्किकों तथा कुमारिल ने भी समर्थन किया है।

भ्रान्तिविषयक अन्य मतों को नैय्यायिक स्वीकार नहीं करते,[4] जो उनके अनुसार, तार्किक न होकर अधिकतर अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी हैं। सौत्रान्तिकों के अनुसार, बाह्य पदार्थ पर एक अशुद्ध ज्ञानाकार का आरोप करना 'भ्रांति' है। योगाचार के मानने वाले अमानसिक सत्ताओं को अंगीकार न करते हुए भी व्यावहारिक रूप में पदार्थों की सत्ता को मान लेते हैं। अनादि अविद्या की प्रवृत्तियां इसका कारण हैं। इस प्रकार के पदार्थों पर ज्ञानाकार का आरोप ही भ्रांति है।[5] हमें भ्रांति का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि एक अन्य ज्ञान से वह दूर हो जाती है[6] और स्वयं क्रियात्मक क्षमता (अर्थक्रियाकारित्व) से रहित होती है। 'यह चांदी है' इस ज्ञान में जिस अंश का निराकरण होता है वह चांदी नहीं, बल्कि 'इदन्ता' अर्थात् 'यह' है, क्योंकि निष्कर्ष में 'चांदीविषयक ज्ञान' इसके

1 न्यायभाष्य, 4 2, 35।
2 न्यायवार्तिक 1 1 4।
3 न्यायभाष्य, 4 2, 35।
4 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका 1 1, 2।
5 अनाद्यविद्यावासनारोपितमलीकं बाह्यम्, तत्र ज्ञानाकारस्यारोप (भामती, 1 1 1)।
6 भामती। बलवद्बाधकप्रत्ययवशात्।

विषय मे बताया गया है। निराकरणात्मक निष्कर्ष, अर्थात् 'यह चादी नहीं है' इस कथन मे हम 'यह' को रद्द करते हैं, 'चादी' को नहीं, क्योंकि पिछले, अर्थात् 'चादी' को निराकरण करने का तात्पर्य होगा कि हम ज्ञान के एक रूप मे इसके अस्तित्व का ही निराकरण कर रहे हैं। यह 'ज्ञानाकार-ख्याति' का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार एक बाह्य पदार्थ के विषय मे एक ज्ञानाकार का गलती से उल्लेख किया जाता है। जब भ्रम दूर हो गया तो चादी के बाह्य उल्लेख का भी निराकरण हो गया। यह मत योगाचारों की इस सामान्य आध्यात्मिक मान्यता का सहज परिणाम है कि जीवात्मा, प्रमेय पदार्थ और ज्ञान मे वस्तुत कोई भेद नहीं है। इसपर आपत्ति उपस्थित करते हुए नैय्यायिक कहता है कि योगाचार के मत से हमारे ज्ञान का स्वरूप 'यह चादी है' ऐसा न होकर 'मैं चादी हू' ऐसा होना चाहिए, किन्तु बात ऐसी नहीं है। योगाचार सम्प्रदाय वाले सत्य और भ्राति के भेद की व्याख्या नहीं कर सकते। विपर्यविज्ञानवाद सारी स्थिति को दूषित कर देता है। मिठास शहद के अन्दर है और कड़ुआपन माजूफल मे है, और ये गुण केवल काल्पनिक नहीं हैं। न्याय का सूत्र (अर्थात् किसी वस्तु को जैसी वह नहीं है उस रूप मे समझना ही भ्राति है) योगाचार के मत पर भी लागू हो सकता है।[1] माध्यमिक लोग 'असत्ख्याति' के सिद्धान्त को

तथा आभ्यन्तर

चादी सत्तात्मक के रूप मे भासती है, जिसका कारण हमारी ज्ञान-सम्बन्धी क्रिया-विधि है। नैय्यायिक इसपर आपत्ति करता हुआ कहता है कि सीप मे चादी-विषयक भ्रमात्मक ज्ञान अभाव से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि सीप के टुकडे मे विद्यमान किसी चीज से उपजता है। यदि भ्रमात्मक ज्ञान के उत्तेजक की बाह्य सत्ता न मानी जाए और उसका कोई पदार्थ-विषयक आधार न हो तो हम एक प्रकार के भ्रम को दूसरे प्रकार के भ्रम से किस प्रकार भिन्न कर सकते है। अभावात्मक वस्तु किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती। भ्रमात्मक ज्ञानों का उद्भव स्मृतियों के आधार पर भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनके आधार भी तो ठोस पदार्थ ही स्वीकार करने पड़ेंगे।[2] अद्वैतवाद अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार करता है। बोध से जो कुछ व्यक्त होता है वही बोध का विषय है। चादी की भ्राति मे चांदी हमारी चेतना मे प्रकट होती है और उसका बोध होता है, अन्यथा हम यह क्योंकर कह सकते है कि यह चांदी का भ्रम ही है, किसी और चीज का नहीं है। किन्तु चादी, जिसका इस प्रकार बोध होता है, न तो वास्तविक है, न अवास्तविक है और न वास्तविक तथा अवास्तविक दोनों ही है। यदि वह वास्तविक है तो बोध भी यथार्थ होगा। यदि अवास्तविक है तो उसकी ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि वास्तविक और अवास्तविक दोनों है तो दो परस्पर-विरोधी गुण एक ही वस्तु के अन्दर मानने पड़ेंगे। इस प्रकार इसका स्वरूप वस्तुत अनिर्वचनीय है, अर्थात् जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

1. साख्यप्रवचनसूत्र पर अनिरुद्ध, 1 : 42, न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 178।

2. यदि भ्रान्तियों की उत्पत्ति बाह्य पदार्थों से नहीं होती तो सुबुद्धि तथा भ्रान्तियों मे सिवाय इसके कोई अन्तर न रहेगा कि भ्रान्ति मे चेतना विद्यमान रहती है और सुषुप्ति में नहीं। 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', पृष्ठ 13 से आगे, न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 177-78।

यह अव्याख्येय चादी अविद्या के कारण उत्पन्न होती है, और उसकी सहायक है चादी के भूतकालीन प्रत्यक्ष ज्ञान की स्मृतिया, जो चादी जैसे पदार्थ के साथ दोषपूर्ण दर्शनेन्द्रिय का सयोग होने से जाग जाती है। अद्वैतवाद के मत मे भ्राति एक प्रत्यक्षात्मक बोध है जो चेतना मे वस्तुत प्रस्तुत हुए पदार्थ द्वारा उत्पन्न होता है। जहा और जब भ्राति उत्पन्न होती है, उस स्थान पर और उस समय चादी विद्यमान है। अन्यथा भ्राति का साक्षात्कार नही हो सकता। यह प्रस्तुत चादी तब तक रहती है जब तक कि भ्राति रहती है। नैय्यायिक इस पर आपत्ति करते हुए कहता है कि यदि चादी के अभाव मे भी चादीरूप भ्राति-विषयक पदार्थ की उत्पत्ति होती है तो हम किसी भी ऐसे पदार्थ को देख सकते है जिसका विचार हमारे मन मे हो, और फिर प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय तथा विम्ब मे कोई अन्तर नही रह जाता। परन्तु नैय्यायिक इस बात के लिए अपने को बधाई दे सकता है कि उसके अन्यथाख्याति सिद्धान्त के अन्तर्गत यह मत आ सकता है, क्योकि एक ऐसा पदार्थ जिसकी परिभाषा नही हो सकती, हमारी चेतना मे यथार्थ की तरह प्रकट होता है।[1] प्रभाकर के भ्राति-सम्बन्धी मत को 'अख्याति' (अथवा विवेकाख्याति), अथवा अविवेकी की सज्ञा दी जाती है। सीप के टुकडे मे, जिसे हम देख रहे है, और चादी मे, जिसकी हम कल्पना करते है, जो भेद है वह दिखाई नही पडता, और हम कह देते है कि 'यह चादी है'। निराकरण करनेवाला बोध भ्राति का खण्डन नही करता, बल्कि वह भ्रमात्मक ज्ञान मे प्रत्यक्ष देखे गए और स्मरण किए गए अवयवो के मध्य जो भेद है, केवल उसे स्वीकार-मात्र करता है। इसके विरोध मे न्याय बलपूर्वक कहता है कि जब तक भ्राति रहती है, चादी का भी वस्तुत प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसकी केवल प्रतिकृति-मात्र नही होती। हम यह अनुभव करते है कि चादी हमारी चेतना मे यहा और इस काल मे प्रस्तुत है, और कोई ऐसी वस्तु नही है जिसका प्रत्यक्ष भूतकाल मे हुआ था और अब केवल स्मरण हुआ है। भ्राति के समय अविवेक से कर्म की प्रेरणा नही हो सकती। स्मृति के धुधलेपन (स्मृति-प्रमोप) का स्वरूप स्पष्ट नही किया गया है। इसलिए यह मानना ही पडेगा कि हमारी तात्कालिक प्रत्यक्ष की चेतना स्वय भ्राति-दोष से सम्पृक्त है।[2]

न्यायशास्त्र के अन्यथाख्याति सिद्धान्त की सब सम्प्रदायो ने समालोचना की है, जिनमे अद्वैत वेदान्त द्वारा की गई समालोचना विशेष ध्यान देने योग्य

1 अद्वैतमत की आलोचना करते हुए रामानुज प्रश्न करते हैं कि भ्राति के समय मे अव्याख्येय चादी की उत्पत्ति का कारण क्या है ? चादी का बोध पदार्थ को उत्पन्न नही कर सकता क्योकि पदार्थ ही चादी के बोध का कारण है। यह चक्षुरूपी यन्त्र के किसी दोष के कारण नही हो सकता, क्योकि इन्द्रिया बाह्य पदार्थो मे कोई कार्य उत्पन्न नही करती। इन्द्रियो मे ज्ञान की उत्पत्ति होती है, प्रमेय पदार्थो की नही।

2 जयसिंह सूरि अलौकिकार्थख्याति के सिद्धान्त का उल्लेख करता है जिसे जयन्त एक मीमासक की वृत्ति बतलाता है। इसके अनुसार चादी के भ्रातिरूप बोध मे भ्राति का विषय चादी है, जो साधारण (लौकिक) चादी से भिन्न है। हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओ को जो पूर्ण करता है, वह लौकिक है और जो नही करता वह अलौकिक है। अलौकिक चादी भी कुछ प्रेरणा क्रियाशीलता की ओर करती है। नैय्यायिक पूछता है कि क्या हमे अलौकिक चादी का कोई ज्ञान होता है ? और जब हमे अपनी भूल का ज्ञान हो जाता है तो फिर उस ज्ञान का क्या होता है। प्रभाचन्द्र अपने 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड' मे यह उल्लेख करता है कि 'प्रसिद्धार्थख्याति' मत का समर्थन भास्कर और माध्य के अनुयायियो ने किया है। इसके अनुसार, भ्रातिरूप बोध का विषय अभावात्मक वस्तु नही है, बल्कि

है।[1] किसी अन्य काल एवं स्थान में उपस्थित चाँदी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि इस समय वह इन्द्रियों के समक्ष प्रस्तुत नहीं है। यदि यह कहा जाए कि हमारी चेतना को उसकी पुन स्मृति हो जाती है तो धुएं से आग के अनुमान में आग की स्मृति भी चेतना में आ सकती है और इस प्रकार अनुमान की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और फिर, अन्यथाख्याति किसका प्रतिपादन करता है ? यह ज्ञानविषयक क्रियाशीलता का प्रतिपादन नहीं कर सकता, जहाँ कि अधिष्ठानरूप सीप अपनी आकृति को उस ज्ञान के प्रति अर्पित नहीं कर सकता जो चाँदी का बोध ग्रहण करता है, *और न ही ज्ञान विषयक क्रियाशीलता के* परिणाम का प्रतिपादन कर सकता है, क्योंकि साक्षात्कार में वह चाहे प्रामाणिक हो अथवा अप्रामाणिक, कुछ अन्तर नहीं आता। बोध के विषय को भी प्रतिपादित नहीं कर सकता जोकि सीप है, जो चाँदी के साथ तदात्म नहीं हो सकता, या अपने को चाँदी में परिवर्तित नहीं कर सकता। यदि सीप चाँदी से सर्वथा भिन्न है, तो उसके साथ तादात्म्य कैसे हो सकता है। और यदि दोनों हैं, अर्थात् भिन्न भी और अभिन्न भी, तो इस प्रकार के निर्णय भी कि 'गाय एक छोटे सींगोंवाला जानवर है' भ्रान्तिपूर्ण ठहरेंगे। यदि सीप वस्तुत अपने को चाँदी में परिवर्तित करता है, तो चाँदी का बोध अयथार्थ नहीं है और उसका निराकरण नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाए कि जब तक भ्रान्ति रहती है तभी तक के लिए यह क्षणिक परिवर्तन है, तो जिन व्यक्तियों की दृष्टिशक्ति में कोई दोष नहीं है उन्हें भी चाँदी का प्रत्यक्ष होना चाहिए।[2]

20 न्याय के प्रमाणवाद का सामान्य मूल्यांकन

न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपादित ज्ञानविषयक सिद्धान्त, जिसके अनुसार ज्ञान को आत्मा का गुण कहा जाता है जो यथार्थता का अनुकरण करती है, सहज बुद्धि को इतना सरल लगता है कि उसके लिए किसी प्रकार के समर्थन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। तो भी इस निर्दोष लगनेवाले मत में ऐसी धारणाएं हैं जिन्हें समालोचना के बिना ही स्वीकार कर लिया गया है। बौद्धों के 'ज्ञान सापेक्षतावाद' की प्रतिद्वन्द्विता में, न्याय का दावा है कि वस्तुएं तार्किक सत्य का आधार हैं कि हमारे ज्ञान से अलग बाह्य जगत की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, और बाह्य जगत ही उस ज्ञान का निर्णायक है, और हमारे विचार वस्तुओं के अनुकूल होते हैं। न्याय यथार्थ को दो भागों में विभक्त करता है—द्रष्टा और दृश्य, और इस प्रकार वह सहज बुद्धि की सामान्य धारणाओं को एक आध्यात्मिक सिद्धान्त का रूप दे देता है जोकि चेतना के तथ्यों तथा तर्क की मांगों के लिए पर्याप्त नहीं है। मुख्य-मुख्य धारणाएं, जो न्याय के प्रमाणवाद के विरुद्ध जाती हैं, ये हैं (1) आत्मचेतना और अनात्मजड़ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। (2) चेतना आत्मा पर अनात्म की क्रिया का परिणाम

एक भावात्मक वस्तु है जिसकी सिद्धि ज्ञान के द्वारा हुई है। जब जब विषयक भ्रान्ति का निषेध है, और जब इस भ्रान्तिमय बोध का सूर्य की किरणों के बोध द्वारा प्रत्याख्यान हो जाता है तो पिछले बोध का विषय सूर्य की किरणें हो जाती हैं। यह मत सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार सभी बोध यथार्थ ठहरते हैं (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 187 89, प्रमेयकमलमार्तण्ड, 1)।

1 देखिए वेदान्तपरिभाषा, 1।

2 विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ 33।

है। (3) ज्ञान आत्मा का गुण है। उक्त आध्यात्मिक पूर्वग्रहो के रहते हुए भी न्याय के पास सफल सुझाव है जिनसे उसके दोषो पर विजय पाई जा सकती है। जहा तक न्याय इस विषय की व्याख्या करता है कि ज्ञानरूपी कर्म मे तात्कालिक अनुभव किस प्रकार का होता है, यह सुदृढ भित्ति पर है। किन्तु जब वह आध्यात्मिक समाधान ऐसी परिभाषाओ से देने का यत्न करता है जो हमे ज्ञान के अन्तिम तथ्य के पीछे की ओर ले जाती है, तो वह आलोचना का विषय हो जाता है। निम्न विचार अनुभव के द्वारा प्रमाणित है कि हमे इस जगत् की प्रत्यक्ष अभिज्ञता है, जो केवल असूर्तअशव्यापी अवयवो के एकत्र हो जाने मे ही नही बना हे बल्कि एक मिश्रित विश्व के रूप मे है, जो सत्ताओ एव सम्बन्धो, अशव्यापी एव सर्वव्यापी अवयवो से युक्त है, और यह कि हमारे विचारो का क्रियात्मक मूल्य हे। न्याय की मौलिक भूल लौक तथा अन्यान्य प्रयोगवादियो की भूल के ही समान है, जो व्यक्ति तथा जगत् को पृथक्-पृथक् इकाई के रूप मे मानते है। यह यान्त्रिक दृष्टिकोण हमारे दैनिक तथा मनोवैज्ञानिक सीमित आवश्यकताओं के लिए कितना ही क्यो न युक्तियुक्त प्रतीत हो किन्तु अन्ततोगत्वा इसकी रक्षा नही की जा सकती। तर्क के समक्ष ज्ञान के मूल रूप की समस्या उतनी नही है जितनी कि उसके स्वरूप की है। हम ज्ञान के स्वरूप का निर्णय उसके पीछे जाकर और उसकी उत्पत्ति का पता लगाकर करने की आशा नही कर सकते। जब नैय्यायिक चेतना को उत्पन्न अथवा परिणाम मानता है तो वह जानने की प्रक्रिया के पीछे जाने का प्रयत्न करता है।

यदि आत्म एव अनात्म के अन्दर तीक्ष्ण भेद है और यदि चेतना केवल अनात्म की आत्मा पर क्रिया का ही परिणाम है, जैसाकि लौक एव डेकार्ट, ह्यूम और काट समभते थे, तो चेतना के समस्त तत्त्व केवल प्रमाता व्यक्ति की विषयीगत अवस्थाए है। अनात्म जगत् की घटनाए आत्म-सम्बन्धी ज्ञान का भाग नही बन सकती। और यदि ज्ञान वस्तुस्थिति की पुनरावृत्ति करता हे तो उसमे केवल वास्तविक घटनाओ की नकलमात्र हो सकती हे, स्वय घटनाए नही हो सकती। जब हम द्रष्टा को दृश्य पदार्थ से पृथक् करते हैं तो एक-दूसरे के बीच जो अन्तर है उसे पाटने की समस्या कठिन हो जाती है। या तो हम यह स्वीकार करे कि दृश्य पदार्थ का निर्माण द्रष्टा के द्वारा हुआ या दृश्य पदार्थ है ही नही, चाहे तो हम यो कहे कि पदार्थ चेतना मे ले लिया जाता है, अथवा उसके अन्दर प्रतिबिम्बित होता है, अथवा एक रूपरेखा के रूप मे प्रस्तुत होता है। इस प्रकार हम पदार्थ के साथ ज्ञान के सम्बन्ध का जो भी स्वरूप स्वीकार करे, यह निश्चय से कहना कि जगत् वैसा ही है जैसेकि हम इसे देखते हैं, हमारे लिए असम्भव ही है। जब तक कि दोनो एक-दूसरे के लिए बाह्य है, जैसेकि एक पदार्थ दूसरे के लिए बाह्य है, तब तक हम निश्चित नही हो सकते कि हमारे विचार पदार्थों को सही-सही प्रस्तुत करते हैं, अथवा वे पदार्थो को प्रस्तुत करते भी हे या नही। हम अपने बोधो की तुलना वास्तविकता के साथ नही कर सकते, क्योकि वास्तविकता विचार के लिए बाह्य है, सिवाय विचार के अन्य कुछ सीधे नही जाना जाता है। और हम विचार की तुलना वस्तु से नही कर सकते, क्योकि हमे एक ही पद प्राप्त है, जबकि तुलनारूपी कर्म का आधार दोनो पद है। यदि कोई चीज विचार को एक ओर रखकर और पदार्थ को दूसरी ओर रखकर उसकी तुलना कर सकती हे तो वह चेतना ही हो सकती है।[1] किन्तु इस प्रकार की चेतना मे विचार और पदार्थ दोनो ही

1 प्रोफेसर अलेक्जेण्डर का मत है कि चेतना एव वास्तविकता दोनो स्वतत्र वस्तुए है, और उनमे सम्बन्ध सह उपस्थिति का है। यद्यपि दोनो ससार मे भिन्न-भिन्न हैं तो भी वे दोनों साथ रहती

समाविष्ट रहने चाहिए।

यदि सत्य से तात्पर्य विचार का वास्तविकता से मेल है, और यदि वास्तविकता की परिभाषा यह हो कि वह विचार से बाह्य है—अर्थात् जो विचार न हो, विचार के अन्तर्गत न हो और विचार से बनी न हो—तो सत्यान्वेषण निरर्थक दौड़-धूप है ऐसा मानना पड़ेगा। विचार एक ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। यही नहीं, बल्कि कहना होगा कि एक ऐसा लक्ष्य जिसका कोई स्पष्ट भाव ध्यान में नहीं आ सकता। इस प्रकार नैय्यायिक के समक्ष यही परिणाम आता है कि विचार का लक्ष्य, अर्थात् सत्य की प्राप्ति, प्रत्यक्ष रूप से हो नहीं सकती। वह यह मत रखता है कि एक सीमाबद्ध मस्तिष्क के लिए विचार का लक्ष्य प्राप्त करना शक्ति से बाहर की बात है। हमें विचारों के क्रियात्मक मूल्य में विश्वास करके निम्नतम आदर्शों से ही सन्तोष प्राप्त करना होगा। क्रियात्मक क्षमता ही इस विश्वास को उत्पन्न करती है। किन्तु यह कार्यक्षमता न्याय की इस धारणा को मान्यता प्रदान नहीं करती कि विचार इसलिए कार्य करते हैं कि उनका वास्तविकता के साथ मेल होता है।[1] बौद्ध तार्किक, जो सत्य की इसी कसौटी को स्वीकार करते हैं, इससे एक भिन्न परिणाम निकालते हैं, और यह मानना पड़ेगा कि बौद्धमत अधिक तर्कसम्मत है। सत्य का सारतत्त्व पदार्थों के साथ ज्ञान की अनुकूलता नहीं है क्योंकि वे केवल आदर्श हैं, बल्कि अनुभव द्वारा उनका समर्थन ही सारतत्त्व है।[2] विचार हमें कर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं, और जब हम अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर लेते हैं तो उनका सत्य होने का दावा यथार्थ समझा जाता है। हमारे स्वप्न भ्रान्तिमय कहे गए हैं, क्योंकि उनके आधार पर किए गए कर्म उद्देश्यों की सिद्धि में असफल रहते हैं। कल्पना करो, हमें कुछ स्वप्न हुआ, हम अपने खेत को खोदते हैं और एक खजाना पा जाते हैं, तब हमारा स्वप्न सत्य है, चाहे वह वास्तविकता के साथ मेल खाए या न खाए। यह स्पष्ट है कि दृढ भित्ति वाले और सुनिश्चित ज्ञान में भी भ्रान्ति की सम्भावना रहती है। हमारा कोई भी विश्वास इतने दृढ़ आधार पर स्थापित नहीं होता *कि उसके मिथ्या होने की थोड़ी सी भी सम्भावना न हो सके।* इस उपयोगितावादी परख पर निर्भर करके जीवन-यापन सम्भव अवश्य है, किन्तु हमें इससे पूर्ण सन्तोष नहीं होता। जो एक आवश्यकता की पूर्ति करता है, सम्भव है वह अन्य की पूर्ति न कर सके। हमें आवश्यकता है एक सशक्त तार्किक विधि की, जो हमें वास्तविकता का ज्ञान करा सके, और इसकी पूर्ति हो नहीं सकती। न्याय ने, जो हमें बौद्धों के विषयविज्ञानवाद से बचाने के लिए उत्सुक है, वास्तविकता के विषय में कोई अधिक सन्तोषजनक मत नहीं दिया है। जब बाह्य जगत् के ज्ञान की व्याख्या न्याय का सिद्धान्त समीचीनतया न कर सका तो उसे अपनी प्रारम्भिक धारणाओं के प्रति लौटकर ज्ञानरूपी तथ्य के विश्लेषण के प्रकाश में उनकी परीक्षा करनी चाहिए।

यद्यपि यह सत्य है कि मेरे या तुम्हारे अनुभव में आए बिना भी पदार्थ अपना-

हैं। किन्तु इस चेतना का स्वरूप क्या है? चेतना सदा ही किसी वस्तु की होती है, और वह हम एक पदार्थ की सत्ता के विषय में कुछ नहीं बताती या इससे बाहर और इससे स्वतन्त्र हो।)

विषय चाहे स्वयं ऐसी सत्ताएं प्रतीत हों जो हमारी मान्यताओं से भिन्न हों (साइण्टिफिक थॉट, पृष्ठ 39)।

2 न्यायबिन्दु, पृष्ठ 103, और न्यायबिन्दुटीका, पृष्ठ 6।

आपसे वास्तविक अस्तित्व रखते हैं और उनकी सत्ता उस समय आरम्भ नहीं होती जबकि तुम या मैं उनके विषय में अभिज्ञ होते है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तविक सत्ता सब प्रकार के अनुभव से स्वतन्त्र है। ज्ञान और पदार्थ के बीच जो सम्बन्ध है उसे न्याय में स्वरूप-सम्बन्ध कहा जाता है। ज्ञात पदार्थ ज्ञान की प्रणाली का निर्धारण करता है। बोध से तात्पर्य किसी पदार्थ की चेतना है।[1] मधुसूदन सरस्वती ने[2] उदयन का उद्धरण देते हुए लिखा है कि "बोध, जोकि अपने-आपमें आकृतिरहित हैं, अपने प्रमेय पदार्थों के द्वारा विशिष्टता प्राप्त करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रमेय पदार्थ बोध के केवल विशेष विवरण हैं।" प्रत्येक बोध का विशेषत्व या उसका स्वरूप पदार्थ-विशेष के द्वारा ही जाना जाता है, जैसे, 'यह एक दवात है', 'वह एक मेजपोश है'। यदि ज्ञात पदार्थ ज्ञान की प्रक्रिया से पूर्णतया बाहर है तो सत्य के विषय में अनुरूपता का भाव स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु इसका स्वरूप ज्ञान की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही कहा गया है, यद्यपि पदार्थ अपने-आपमें पदार्थ के ज्ञान के साथ तादात्म्यरूप नहीं हैं। इस मत के अनुसार, ज्ञान पदार्थों को उत्पन्न नहीं करता, और न ही यह उनके अनुकूल होता है, बल्कि उनका बोध कराता है। इसलिए ऐसा मत प्रकट करना अनुपयुक्त है कि पदार्थ, ज्ञान की सीमाओं के बाहर अवस्थित है, और जो जाना जा सकता है वह या तो उसका कार्य है या द्रष्टा की चेतना में उसकी नकल है। हम बाह्य पदार्थ अथवा आभ्यन्तर अवस्था को चाहे प्रत्यक्ष देखें चाहे उसकी कल्पना करें अथवा उसका स्मरण करें, हम जिसका ज्ञान, कल्पना या स्मरण करते हैं वह स्वयं पदार्थ है और ज्ञान की प्रक्रिया से स्वतन्त्र है। न्याय का यह सिद्धान्त कि हमें वास्तविकता का तात्कालिक और प्रत्यक्ष बोध होता है, उसकी अन्य धारणा से, अर्थात् इससे कि द्रष्टा तथा दृश्य अथवा प्रमाता और प्रमेय एक-दूसरे से पृथक् हैं, असंगत है। ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं है। दोनों अभिन्न रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। एक का स्थान दूसरा नहीं ले सकता। न्याय 'विषयीविज्ञानवाद' के इस मत का प्रत्याख्यान ठीक ही करता है कि प्रमेय पदार्थ की सृष्टि प्रमाता की कल्पना से होती है। प्रमाता के ज्ञान की प्रक्रिया पदार्थ का निर्माण नहीं करती। यहां तक कि सर्वव्यापी सम्बन्ध भी प्रमाता को दिए गए बताए गए हैं, प्रमाता उनका निर्माण नहीं करता। इन्द्रिय-सामग्री अलग अलग परमाणुओं के रूप में प्रकट नहीं होती, बल्कि कतिपय गुणों तथा विशिष्टताओं से युक्त प्रकट होती है। परवर्ती न्याय के अनुसार, केवल व्याप्ति अथवा तादात्म्य के आधार का बोध ही इन्द्रियातीत (अलौकिक) मानसिक क्रिया द्वारा होता है। हमारे अनुभवों का एक बहुत बड़ा भाग, जो हमारे ज्ञान के अन्तर्गत है, स्वरूप में इन्द्रियातीत है। नैयायिक वास्तविकता की विवश करने की शक्ति को स्वीकार करता है। हमारे अनुभव की आवश्यकता प्रमाता द्वारा आरोपित नहीं की गई है, बल्कि वह जगत् की आवश्यकता के कारण है। वस्तुसत्ता स्वयं दो भागों, अर्थात् आत्म तथा जगत्, में विभक्त नहीं है। प्रत्येक विचार के लिए पूर्व-उपस्थित सामग्री के रूप में एक अविभक्त वास्तविकता आवश्यक है जिसमें से पृथक्करण की प्रक्रिया द्वारा प्रमाता तथा प्रमेय निकाले जाते हैं। यह सत्य है कि हमारे जीवन में पृथक्करण का एक बड़ा भाग है, परन्तु तो भी वास्तविकता स्वयं में, जिसपर हमारे ज्ञान का आधार होना चाहिए अर्थात् प्रधान तात्त्विकीय तथ्य, चेतना ही है। ज्ञान के स्वरूप और अवस्थाओं की

1 न्यायभाष्य, 4 2 29।
2 अद्वैतसिद्धि, 1 20।

आध्यात्मिक खोज हमारे मानस चेतना की व्यापकता को प्रकाशरूप में ला देती है। यह चेतना ही सब वस्तुओं की आधार और स्रष्टा है, और चेतना को अर्थभौतिक रूप देना आपत्तिजनक होगा। यह अनेकावयवघटित संयुक्त पदार्थ नहीं है, यद्यपि हमारा जगत् पर्याप्त मात्रा में ठोस व मूर्त हो सकता है। आत्माओं तथा पदार्थों के रूप में हमारा विश्लेषण हमारी व्यावहारिक आवश्यकताओं का सापेक्ष है, किन्तु यह मिश्रित विश्व एक वास्तविकता पर आधारित है जो अपने में अविभक्त है। वस्तुसत्ता का विचार जब हमारे समक्ष आता है तो वह यही स्वरूप धारण करती है। हमारे लिए बुद्धि के द्वारा भेद करने के अतिरिक्त वास्तविकता का बौद्धिक विवरण देना सम्भव नहीं है। तो भी हमारे विचार *एक ऐसी वास्तविकता का प्रतिपादन करते हैं जिसके लिए हमारे किए गए भेद अनिवार्य* नहीं हैं। अत, चैतन्य की अविभक्त वास्तविकता ही एकमात्र निरपेक्ष है, जिसे दृष्टि से ओझल करके नैयायिक आत्माओं व भौतिक पदार्थों के अनेकत्व को स्वीकार करता है।

जबकि वास्तविकता चैतन्यमय चेतना है, सत्य—जो कि तार्किकों का लक्ष्य है—उससे भिन्न है। क्योंकि तर्कशास्त्र की धारणा में प्रमाता और प्रमेय भिन्न-भिन्न हैं, और उसकी प्रेरणा तभी सफल हो सकती है जबकि आत्माओं तथा पदार्थों का जगत् एक सामञ्जस्ययुक्त पूर्ण इकाई के रूप में सघटित हो। न्यायशास्त्र अपने अनुकूलता के भाव का त्याग किए बिना भी सामञ्जस्य के सिद्धान्त से अधिक समुचित स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। इसके मत में ज्ञान के समस्त प्रकार एक सम्पूर्ण इकाई के अवयव हैं, और प्रत्येक अपने-अपने स्थान में उसी पूर्ण के अन्दर क्रिया करता है, एवं उसका औचित्य उस पूर्ण के भाव के अतिरिक्त नहीं है। किसी भी प्रमाण की मान्यता अन्य प्रमाणों द्वारा स्थापित की जाती है।[1] ज्ञान के भिन्न-भिन्न प्रकार परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक ज्ञान की मध्यवर्ती आवश्यकता है। जब नैयायिक उस सन्तोष की अनुभूति के विरुद्ध हमें चेतावनी देता है जो स्वप्नद्रष्टा तथा विक्षिप्त व्यक्तियों को होती है, और एक सामान्य स्वस्थ मस्तिष्क वाले व्यक्ति की अनुभूति को ध्यान में रखने की बात कहता है, तो वह अपने अनुकूलता के सिद्धान्त का त्याग देता है। सामान्य व्यक्ति वह नहीं है जिसे बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। उन अर्थों में कुछ भ्रान्त-ज्ञान भी सामान्य हो सकता है, किन्तु इसीलिए वह सत्य नहीं है। सामाजिक अंश केवल विशुद्ध वैयक्तिक अनुभवों को उन अनुभवों से पृथक करके प्रकट करता है जो पदार्थों से अधिक सम्बद्ध हैं। अपने अनुभवों की अन्यों के अनुभवों के साथ तुलना करके हमें एक क्रियात्मक निश्चय होता है, जो सभी साधारण प्रयोजनों के लिए पर्याप्त है। जो हमारे समान दूसरों ने भी देखा और जो हमने भिन्न-भिन्न स्थानों व भिन्न-भिन्न कालों में एक समान देखा, उसे हम सत्य अर्थात् यथार्थ मान सकते हैं। विज्ञान की माँग है कि हमें अपने साधारण प्रत्यक्ष ज्ञानों की जाँच-पड़ताल करनी चाहिए। हमें अपनी ऐन्द्रिय दृष्टि से सूर्य आकाश में चलता हुआ प्रतीत

1 हम एक पदार्थ को प्रत्यक्ष देखते हैं और ...
इसके अन्दर निविष्ट अवयवों—इन्द्रिय ...
रूपी विषय—की यथार्थता के अनुमान
बाह्य इन्द्रिय के एक दम विभाग का पहला ...शाली इन्द्रिय है। पदार्थों का निश्चय इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। भेदों व अवयवों में सम्पर्क का अनुमान होता है। और परिणामस्वरूप होनेवाली बाह्यरूपी क्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा या मन के साथ उसके सम्पर्क तथा ज्ञान के साथ उसके निकट सम्बन्ध के द्वारा होता है।

—न्यायभाष्य 2 1, 19

होता है, किन्तु विज्ञान हमें बतलाता है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। अधिक प्रारम्भिक व परस्पर-असम्बद्ध अनुभवों की व्याख्या अधिक संघटित एवं व्यवस्थित अनुभवों को ध्यान में रखकर करनी चाहिए। आदर्श अथवा मानदण्ड दूसरी श्रेणी के अनुभव ही हैं। सत्य प्रमेय पदार्थों पर उतना निर्भर नहीं करता जितना कि इस पर निर्भर करता है कि उसमें सब स्थानों व सब कालों में कहा तक अव्यभिचारी रहने की क्षमता है। वास्तविकता की संरचना को सत्य के अनुकूल होना आवश्यक है। यह समझा जाता है कि देश व काल की निरन्तरता का एक व्यवस्थित स्वरूप है। नैय्यायिक, जो उपयोगितावादी परख का आश्रय लेता है, यह स्वीकार करने के लिए बाध्य है कि वास्तविकता सम्बन्धी हमारे विचार हमारे प्रयोजनों की अपेक्षा रखते हैं। किसी भी पदार्थ के ज्ञान से तात्पर्य हमारी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुसार ही समझा जाता है। क्रियात्मक जीवन में हमें पदार्थों के तत्त्व से कोई प्रयोजन नहीं रहता, बल्कि उनका अर्थ हमारे लिए क्या है इसी से हमें वास्ता रहता है। इस कथन का कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए पत्थर कठोर है और आग गरम है अर्थ यह है कि ये पदार्थ हमारे लिए भी यही अर्थ रखते हैं। क्रियात्मक रूप में उचित अनुकूलता नैय्यायिक के लिए सत्य है, और अनेकों भ्रमात्मक ज्ञान जो सब व्यक्तियों तथा जाति के लिए सामान्य हैं, इस कसौटी के अनुसार सत्य हैं। और इस कसौटी का उपयोग भूतकाल और भविष्य की घटनाओं के सम्बन्ध में भी नहीं हो सकता। यद्यपि हमारे सत्य सापेक्ष हैं, फिर भी वे सब एक समान महत्त्व के नहीं हैं। सर्वोच्च सत्य वह है जो संसार को पूर्ण रूप से समझने की महत्त्वपूर्ण तार्किक आवश्यकता की पूर्ति कर सके। आदर्श अनुभव, जो वास्तविकता के स्वरूप को यथार्थ रूप में—जिसमें परिमित प्रमाता और परिस्थिति भी सम्मिलित है—पहचानता है, सत्य का निश्चित मानदण्ड है। इन अर्थों में नहीं कि कितने ही व्यक्तियों ने इसे प्राप्त किया है, अपितु इन अर्थों में कि जब एक व्यक्ति तार्किक मत का आश्रय लेता है तो वह इसे सत्य के रूप में समझेगा। वास्तविक यथार्थता का आधार बहुमत नहीं हो सकता।[1] यह बात कि मनुष्यों में अधिकतर अनेकतावाद में आस्था रखते हैं, इसके सिवाय और कुछ व्यक्त नहीं करती कि यह एक ऐसा विचार है जिसका क्रियात्मक महत्व है। सत्य तथा असत्य की परीक्षा बहुमत गणना द्वारा नहीं हो सकती। यदि मनुष्यों की अधिक संख्या पीलिया रोग का शिकार हो जाए तो इससे सत्य में कोई अन्तर नहीं आ सकता। सत्य वह है जो अपने को उन व्यक्तियों के आगे व्यक्त करता है जिन्होंने अनुभव की गहराई में जाकर अन्वेषण किया है। नैय्यायिक भी आर्षमान अर्थात् ऋषियों की बुद्धि की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है। वह हमें कहता है कि हम उन व्यक्तियों की उपलब्धि से, जिन्होंने अधिक योग्यता के साथ यथार्थसत्ता का ज्ञान प्राप्त किया है, अपने अनुभवों की परीक्षा करें। सत्य सज्जनता और सुन्दरता के समान एक व्यक्ति की अपनी उपार्जित सिद्धि है, और दूसरे अर्थ में यह मानवीय मस्तिष्क के लिए उस जगत् का दिव्य ज्ञान है जो अभी

1 क्या इस तथ्य की सत्यता कि एक अंधा मनुष्य अपनी दृष्टि-शक्ति के निर्दोष विकास से, जो सामान्यरूप में होना चाहिए था, वंचित रह गया है, अपने प्रमाण के लिए इस तथ्य पर निर्भर करती है कि मनुष्यों में अधिकांश व्यक्ति अंधे नहीं हैं। सबसे पहला प्राणी जिसे हठात् टटोलते टटोलते दृष्टिशक्ति प्राप्त हुई, इस विषय की घोषणा करने का अधिकारी था कि प्रकाश वास्तविकता है। मानवीय जगत् में बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आध्यात्मिक आंखें खुली हुई हैं। किन्तु ऐसे व्यक्तियों के अत्यधिक संख्या में रहते हुए भी कि जो देख नहीं सकते, हम उन्हें प्रकाश के अभाव के प्रमाणरूप में उद्धृत नहीं कर सकते।' रवीन्द्रनाथ ठाकुर। देखिए राधाकृष्णन रचित 'फिलासफी आफ दि उपनिषद्स' का प्राक्कथन।

तक अज्ञात है, किन्तु जिसका पूर्ण ज्ञान अधिक परिपक्व अनुभव के द्वारा हमें प्राप्त करना है। हम सत्य को निर्माण करने की अपेक्षा अधिकतर प्राप्त करते हैं। तो भी नैयायिक बार-बार मनोवैज्ञानिक के मत की ओर फिसल जाता है जो कल्पना करता है कि जीवात्माएं तथा प्रकृति इन दोनों के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है। हमारे उद्देश्यों के प्रति ज्ञान की सापेक्षता न्याय की इस धारणा का समर्थन नहीं करती कि प्रमाता और प्रमेय सर्वथा एक-दूसरे से पृथक् हैं। इससे हमारी प्रकृति की मांगों और उनकी पूर्ति की सम्भावना ध्वनित होती है। यथार्थ का स्वभाव मनुष्य के कर्म की आवश्यकताओं के अनुकूल है, इससे यह प्रकट होता है कि वास्तविकता के दो रूप, अर्थात् मन और उसकी परिस्थिति, परस्पर सम्बद्ध हैं। दृश्यमान अनेकत्व और वस्तुओं की परस्पर असम्बद्धता केवल भासित होती है। वास्तविक पदार्थों की अनेकता का यह विचार कि पदार्थ बाह्य रूप में एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, जगत् की अनिवार्य एकता के विचार के आगे टिक नहीं सकता।

समस्त विचार के साधनात्मक तथा सापेक्ष स्वरूप में जो तात्पर्य छिपा है उसके आधार पर नैयायिक को स्वीकार करना चाहिए कि स्वयं सत्य के आदर्श का स्वरूप सापेक्ष है। तार्किक सत्य, जो इस प्रकार की वास्तविकता है कि जिसका भाव मन में परस्परसम्बद्ध आत्माओं तथा पदार्थों के एक सिलसिले के रूप में उदय हुआ है, तार्किक भावना की अपेक्षा करता है, यद्यपि यह उस मत से कहीं अधिक सन्तोषजनक है जिसकी दृष्टि में यह विश्व अनेक स्वतन्त्र तथा वास्तविक पदार्थों से मिलकर बना है। सत्य एक वह वास्तविकता है जो आदर्श है और जिसे एक बुद्धिगम्य पद्धति के रूप में माना गया है। हमारे निष्कर्ष और अनुमान उस पूर्ण इकाई को समझने का लक्ष्य रखते हैं। तत्त्वरूपी शरीर में उनके स्थान का निर्णय इस प्रयत्न में उनकी सफलता तथा विफलता के दर्जे के अनुसार होता है। सब प्रकार का तार्किक सत्य सापेक्ष है, इस अर्थ में कि व्यक्ति वास्तविकता का केवल अंश-मात्र है, जो अपने विषय से शिथिल हो गए एक अन्य अंश को सहारा देता है, और जब तक एक व्यक्ति तार्किक दृष्टि का सहारा लेता है, वास्तविकता को अपने-आपमें ग्रहण करना असम्भव है। हमारा विचार भेद करने और चुनने के लिए विवश होता है, और हम उपयोगितावादी कसौटी का प्रयोग करने को बाध्य होते हैं। उदार से उदार विचार भी अपनी स्वयं की सत्ता को छोड़ देने के लिए बाध्य होता है जिसे कि उसे वास्तविकता में अवश्य सम्मिलित करना चाहिए। समस्त ज्ञान पदार्थ में पृथक्करण ही है। यह परम निरपेक्ष की आदर्श पुनर्रचना है।[1]

न्यायशास्त्र का ज्ञान-विषयक विश्लेषण और इसका 'स्वरूप-सम्बन्ध'-विषयक मत ज्ञान में वास्तविकता की उपस्थिति के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। निर्विकल्प तथा सविकल्प ज्ञान का भेद भी यह संकेत करता है कि हमारा ज्ञान हमारे प्रयोजन की अपेक्षा करता है। कुछ अवस्थाओं में हमें वास्तविकता का केवल भेदरहित परिचय होता है, और अन्य अवस्थाओं में इसकी जटिलता का निश्चयात्मक ग्रहण होता है। क्रियात्मक उपयोगिता की, कसौटी का स्वीकार करने से इस मत का समर्थन

1 तुलना कीजिए ब्रैडले, "इस जगत् का गौरव अन्त में एक प्रतीति-मात्र है, किन्तु यह बात जगत् को और भी अधिक गौरवशाली बना देती है यदि हम यह अनुभव करें कि यह एक पूर्णतर कान्तिमय वरिता का प्रदर्शन-मात्र है। किन्तु यह इन्द्रिय यवनिका केवल एक प्रवञ्चना है, यदि जिसे यह छिपाती है वह परमाणुओं की केवल वर्णहीन गति है, अतिसूक्ष्म अपकर्षणों का कोई पैशाचिक तानाबाना है, या रक्तविहीन वर्गों का कोई अवास्तविक नाच है" (लॉजिक, खण्ड 2, पृष्ठ 591)।

होता है कि हमारे ज्ञान को हमारे सीमित दृष्टिकोणों की अपेक्षा रहती है। वास्तविकता की यह धारणा कि यह दो विभिन्न क्षेत्रों से मिलकर बनी है, मनोविज्ञान के लिए युक्ति-संगत और उपयोगी हो सकती है। परन्तु, जब हम तार्किक दृष्टिकोण पर आते हैं तो हमें उससे आगे बढ़ना चाहिए। जैसाकि हम पहले दिखा चुके हैं, न्याय को विदित है कि सत्य की सामंजस्य की धारणा ही है जो तर्कशास्त्र में स्वीकार की जा सकती है। सापेक्षतावाद के इस समस्त सिद्धान्त का स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि एक मिश्रित विश्व का, जिसमें अवयव परस्पर सम्बद्ध हैं, यह तार्किक आदर्श भी परम निरपेक्ष नहीं समझा सकता। न्याय ने इस मूल समस्या का मुकाबिला करना पसंद नहीं किया, किन्तु इसका ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त जब संगतिपूर्वक व्यवहार में लाया जाता है तो स्पष्टतः हमें इस स्थिति में पहुंचाता है कि प्रमाता तथा प्रमेय के भेद ज्ञान अथवा अनुभव के तथ्य में ही उदय होते हैं, जो अकेला ही परम निरपेक्ष है अथवा अन्तिम तथ्य है, जिसके परे हम नहीं जा सकते।

21. भौतिक जगत्

न्यायशास्त्र वैशेषिक के तत्त्वविज्ञान से सहमत होकर इस भौतिक जगत् को नित्य, अपरिणामी, कारणविहीन तथा हमारे विचारों से अलग अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले परमाणुओं द्वारा घटित मानता है। भौतिक जगत् के विषय में न्यायशास्त्र की अवधारणाएं लगभग वैशेषिक ही के समान हैं।

यह जानना भी रोचक होगा कि न्याय अपने प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों द्वारा किए गए आक्षेपों का उत्तर किस प्रकार देता है। काल के विषय में विशेष कठिनाइयां हैं। कुछ नैय्यायिकों का मत है कि काल अनुभव का ही एक रूप है और उसका ग्रहण भी इन्द्रियों द्वारा प्रमेय पदार्थों के गुण के रूप में होता है। दृष्टान्त के रूप में 'शिखामणि' के रचयिता रामकृष्णाध्वरी का कहना है कि क्योंकि हमें पदार्थों का बोध 'इस काल में वे उपस्थित हैं,' इस रूप में होता है, इसलिए समय का भी साथ-साथ बोध होता है। घड़े के प्रत्यक्ष ज्ञान में, अर्थात् कि 'घड़ा इस काल में है' वर्तमानकाल भी पदार्थविषयक ज्ञान के साथ-साथ ही सम्मिलित है। प्रत्येक पदार्थ के विषय में वह अमुक काल में है या था इस प्रकार का ज्ञान होता है, यद्यपि काल का स्वतन्त्र बोध कभी नहीं होता है।[1] पदार्थों के विषय में जो कुछ कहा जाए, काल विषयक सम्बन्ध उस पर निर्भर है। शीघ्र या विलम्ब से, पहले अथवा पीछे इस प्रकार का भाव घटनाओं एवं क्रियाओं से भिन्न कुछ नहीं हो सकता। क्योंकि काल का बोध पदार्थों के गुण के रूप में होता है, इसलिए उसका वास्तविक अस्तित्व है।[2]

माध्यमिक के इस सिद्धान्त का कि भूत तथा भविष्य से स्वतन्त्र वर्तमानकाल की पृथक् कोई सत्ता नहीं है, विवेचन वात्स्यायन ने किया है।[3] भूतकाल

1 न्यायमंजरी, पृष्ठ, 136।

2 वही पृष्ठ 137।

3 न्यायभाष्य, 2 1, 39 और आगे 1 43। और देखिए 'भारतीय दर्शन', खण्ड 1, पृष्ठ 596।

की परिभाषा यह है कि वह वर्तमानकाल से पहले आता है, और भविष्य वह है जो वर्तमानकाल के पीछे आता है। किन्तु वर्तमान का भूत तथा भविष्य से स्वतन्त्र कोई अभिप्राय नहीं है। वात्स्यायन का उत्तर है कि यह सब देश तथा काल के सम्मिश्रण के कारण होता है। आक्षेपकर्त्ता का तर्क है कि जब कोई वस्तु गिरती है तो उसे कुछ दूरी पार करने में कुछ समय लगा है और शेष दूरी पार करने में कुछ समय लगेगा। बीच की कोई दूरी ऐसी नहीं है जिसे वह वस्तु वर्तमान में पार करे। पार कर ली गई दूरी हमें भूतकाल का विचार देती है, जो दूरी पार करनी है वह हमें भविष्यकाल का विचार देती है, तथा शेष कोई और दूरी नहीं है जो हमारे सामने वर्तमान का विचार रख सके।[1] किन्तु वात्स्यायन कहते हैं कि समय अथवा काल की अभिव्यक्ति दूरी (देश) से नहीं अपितु क्रिया से होती है। जब वस्तु का गिरना बन्द हो जाता है तो हमें भूतकाल का भाव मिलता है जब वस्तु के गिरने की क्रिया होने वाली होती है तो भविष्यत्काल का भाव मिलता है, और अन्त में, जब वस्तु की क्रिया दिखाई दे रही है तो हमें वर्तमानकाल का भाव मिलता है। इस प्रकार की परिस्थिति में यदि कोई व्यक्ति होती हुई क्रिया को कभी न देखे, तो उसे क्रिया की समाप्ति तथा आगे होने का विचार भी कैसे हो सकता है? "भूत और भविष्य दोनों ही कालों में वस्तु के अन्दर क्रिया नहीं है, जबकि हमारे इस विचार के समय कि 'वस्तु गिर रही है,' वस्तु का सम्बन्ध वस्तुतः क्रिया के साथ होता है। इस प्रकार वर्तमानकाल जिसका ज्ञान कराता है वह वस्तु और क्रिया का वास्तविक विद्यमान सम्बन्ध है। इसलिए इसीके (अर्थात् विद्यमान सम्बन्ध और उसके द्वारा सकेतित काल के) आधार पर ही हम काल के अन्य दोनों बिन्दुओं—अर्थात् भूत एवं भविष्य—का भाव ग्रहण कर सकते हैं। और, इस कारण, यदि वर्तमानकाल न होता तो भूतकाल व भविष्यत्काल की भी भावना सम्भव न होती।[2] इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष केवल उन्हीं पदार्थों का होता है जिनकी सत्ता वर्तमानकाल में हो। इसलिए यदि वर्तमानकाल की सत्ता को स्वीकार न किया जाए तो प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। इस प्रकार वर्तमानकाल केवलमात्र गणित का ही विषय नहीं है, बल्कि काल का एक खण्ड है जिसकी एक निश्चित अवधि है, जिसमें भौतिक ठोसपन है।[3]

भौतिक जगत् के उद्भव व स्वरूप के सम्बन्ध में दिए गए भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के विरोध में वात्स्यायन तर्क करते हैं।[4] क्षणिकवाद की आलोचना करते हुए उनका कहना है कि हम यह निश्चित नहीं कह सकते कि एक क्षण के बाद एक सत्ता का स्थान दूसरी सत्ता ले लेगी, और एक सत्ता की उत्पत्ति एवं उसके अन्त के बीच कोई जोड़ने वाली कड़ी तो होनी ही चाहिए। क्षणिकता के तथ्य को हम वहां स्वीकार कर सकते हैं जहां उसका बोध होता हो, किन्तु जहा उसका बोध नहीं, जैसे पत्थर आदि में, वहां कैसे स्वीकार कर सकते हैं।[5] पदार्थों के लगातार बोध से परिणाम यह निकलता है कि उसका अस्तित्व

1 न्यायभाष्य, 2 · 1, 39।
2 न्यायभाष्य, 2 · 1, 40।
3 व्हाइटहेड . दि प्रिंसिपल आफ रिलेटिविटी, पृष्ठ 7।
4 न्यायभाष्य, 4 : 2, 31-33, और 4 : 2, 26-27।
5 न्यायभाष्य, 3 2, 11; और देखिए 3 . 2 12—13।

निरन्तर रहता है। 'प्रत्येक पदार्थ अभावात्मक है' इस प्रकल्पना का प्रत्याख्यान इस आधार पर हो जाता है कि यदि प्रत्येक पदार्थ अभावात्मक है तो कोई सकलित पदार्थ कैसे हो सकता है।[1] और न ही सब पदार्थों को एक-दूसरे का सापेक्ष कहा जा सकता है। यदि लम्बा और छोटा दोनों अन्योन्याश्रित हैं, तो एक के अभाव में दूसरा भी न रहेगा। और यदि दोनों में से एक भी अपने-आपमें 'सत्' नहीं है तो उनके परस्पर-सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती।[2] अनित्यता के सिद्धान्त का अवलम्ब पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के तथ्यों पर है। नैय्यायिक का तर्क है कि परमाणु, आकाश, देश और काल उनके कुछ गुण ऐसे हैं जो न तो उत्पन्न होते हैं और न विनष्ट होते हैं।[3] इसका विरोधी मत कि सब पदार्थ नित्य हैं, समान रूप से दोषयुक्त है, क्योंकि कुछ पदार्थों को हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वे उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी होते हैं। मिश्रित पदार्थ तो अवश्य ही बनते व बिगड़ते हैं।[4] वात्स्यायन 'सर्वपृथक्त्ववाद' पर भी विचार करते हैं[5]। नैय्यायिक का मत है कि सम्पूर्ण केवल अपने भागों का सकलन नहीं है। उसका अपना अलग अस्तित्व है और वह अपने भागों से समवाय-सम्बन्ध से रहता है। वात्स्यायन इस बौद्ध मत का[6] प्रत्याख्यान करते हैं कि सम्पूर्ण सिवाय अपने भागों के सकलन के अन्य कुछ नहीं है और सम्बन्ध केवल मिथ्या है।[7]

अभाव (असत्) से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अभावपरक प्रकल्पना के समर्थक युक्ति देते हैं कि कोई कार्य तब तक उत्पन्न नहीं होता जब तक कि कारण नष्ट नहीं होता। अंकुर की उत्पत्ति के लिए बीज को अवश्य नष्ट हो जाना होता है। इस विचार के विरोध में वात्स्यायन का तर्क यह है कि कारण, जिसे नष्ट हो गया कहा जाता है, विनाश के पश्चात्, फिर से अस्तित्व में नहीं आ सकता, और नष्ट हो गई वस्तुओं से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि बीज का नाश अंकुर की उत्पत्ति का कारण होता तो जैसे ही बीज के टुकडे-टुकडे हुए, उसी क्षण में अंकुर को उत्पन्न हो जाना चाहिए था। वस्तुत अंकुर केवल तभी प्रकट होता है जबकि बीज के विभाग के बाद उसके कणों से एक नवीन सम्मिश्रण बन जाता है। इस प्रकार अंकुर की उत्पत्ति अभाव से न होकर बीज के कणों की पुनर्व्यवस्था से होती है।[8] इस मत कि जगत् अकस्मात्

1 न्यायभाष्य, 4, 1, 37-40, और देखिए 4 2, 26—27, 31—33।

2 यदि वस्तुओं का कोई विशिष्ट लक्षण (अथवा व्यक्तित्व) जैसी कुछ वस्तु नहीं है, तो हमें एक-से दो अणुओं अथवा एक ही आकार के दो पदार्थों के विषय में लम्बाई और छुटाई के सापेक्ष भाव क्यों नहीं होते? अपेक्षा से तात्पर्य यह है कि जब हम दो वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उनमें से एक का दूसरी पर आधिपत्य लक्ष्य करना हमारे लिए सम्भव हो जाता है। (न्यायभाष्य, 4 1, 40)।

3 न्यायभाष्य, 4 : 1, 25-28।

4 न्यायभाष्य, 4 : 1, 29-33।

5 न्यायभाष्य, 4 · 1 34-36।

6 देखिए बौद्ध अशोककृत 'अवयवनिराकरण'। इसका रचयिता नवीं शताब्दी के अन्त में लगभग हुआ था।

7 वात्स्यायनकृत 'सर्वैकान्तवाद' की व्याख्या स्पष्ट नहीं है। यह सम्भवत पिथागोरस की सख्याविषयक प्रकल्पना जैसे किसी सिद्धान्त का उल्लेख करती है।

8 न्यायभाष्य, 4, 1, 14-18।

उत्पन्न हो जाता है, विवेचना की गई है, और उसे त्याग दिया गया है। समस्त अनुभव को बेकार बताए बिना अथवा झूठा सिद्ध किए बिना, कार्य-कारणभाव के नियम का निषेध नहीं किया जा सकता।[1]

22. जीवात्मा और उसकी नियति

न्याय के अनुसार, विश्व में कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो भौतिक नहीं हैं। ये हैं हमारे बोध, इच्छा, द्वेष, संकल्प और सुख-दुःख की संवेदनाएं।[2] चैतन्य की ये सब अवस्थाएं परिवर्तनशील हैं, और इस प्रकार इन्हें द्रव्य के साथ न मिलाना चाहिए। इन्हें आत्मारूपी द्रव्य के गुण माना गया है।

आत्मा एक यथार्थसत्ता है और इसके गुण हैं इच्छा, द्वेष, संकल्प, सुख दुःख तथा ज्ञान। साधारणतः नैय्यायिक आत्मा के अस्तित्व को अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध करता है, यद्यपि उसके समर्थन में शास्त्रीय प्रमाण भी देता है।[3] उद्योतकर का मत है कि आत्मा की यथार्थसत्ता का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। उसके अनुसार 'मैं' रूपभाव का प्रमेय पदार्थ आत्मा है।[4] भिन्न-भिन्न बोधों की प्रत्यभिज्ञा 'मेरी' के रूप में होना यह सिद्ध करता है कि आत्मा की सत्ता निरन्तर विद्यमान रहती है।[5] जब कोई पुरुष किसी पदार्थ-विशेष को जानना अथवा समझना चाहता है तो वह पहले यह सोचता है कि यह क्या हो सकता है और उसे इस रूप में जानता है कि वह अमुक प्रकार का है। यह जानने की क्रिया उसी एक कर्ता की है जिसने जानने की इच्छा की थी, और पीछे का विचार भी उसी कर्ता का है। इस प्रकार यह ज्ञान उसी एक कर्ता की उपस्थिति का संकेत करता है और यही आत्मा है।[6] हम उन पदार्थों का स्मरण करते हैं जिनका बोध हम पहले कर चुके हों।[7] जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, उससे आकृष्ट होता है तथा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो इन सब भिन्न-भिन्न क्रियाओं का आधार वही एक सामान्य सत्ता है जिसे हम आत्मा के नाम से जानते हैं।[8] यदि हमारा मानसिक जीवन प्रत्येक क्षण में एक अद्भुत गुणात्मक रूप धारण किए रहता है, जो एक प्रमाता के मूल इतिहास में एक क्षण का निर्माण करता है तो इसका कारण यह है कि यह उसी एक सामान्य आत्मा से सम्बन्ध रखता है, किसी अन्य से नहीं। उद्योतकर का कहना है कि ऐसे व्यक्ति के लिए जो जीवात्मा को नहीं मानता, प्रत्येक बोध अपने-आपमें भिन्न होना चाहिए और उसका अपना अलग एक प्रमेय होना चाहिए, तथा कोई भी

1 न्यायभाष्य, 4 1, 22-24।

2. यदि सुख, दुःख, राग और द्वेष को संवेदन की अवस्थाएं माना जाए तो चैतन्य की तीन अवस्थाएं हैं—ज्ञान, संकल्प तथा इच्छा।

3 न्यायसूत्र 1 1, 10।

4 न्यायवार्तिक, 3 1, 1। वैशेषिक के मत में आत्मा योगविद्या के प्रत्यक्ष का प्रमेय है। (वैशेषिक सूत्र, 9 1, 11 न्यायकन्दली, पृष्ठ 196)।

5 न्यायभाष्य, और न्यायवार्तिक, 1 1, 10।

6 न्यायभाष्य, 1 1, 10।

7 न्यायभाष्य, 3 1, 14, और 3, 1, 7-11।

8 एककर्तृकत्व आर्थशब्दप्रवृत्तीनां समानाश्रयत्वम् (न्यायभाष्य, 3 2, 34)।

ज्ञान अथवा स्मृति सम्भव न हो सकेगी।[1] सवेदनात्मक तथा स्नेहात्मक तत्त्वों की केवल समिश्रणमात्र होने से चेतना की कोई भी अवस्था मेरी है या अन्य की, ऐसी पृथक् करके नहीं जानी जा सकती। दूसरे का अनुभव मेरा अनुभव नहीं है, क्योंकि मेरी आत्मा उसकी आत्मा से भिन्न है। हमारी सब मानसिक अवस्थाएं जैसे स्मृति, अभिज्ञान, जीवात्मा की सापेक्ष निरन्तरता की अभिज्ञता, आत्मा का सकल्प या आग्रह, अन्य आत्माओं के साथ सहानुभूति अथवा सम्बन्ध की चेतना, ये सब यह सूचित करती है कि आत्मा का यथार्थ अस्तित्व है।

भौतिकवादी के इस मत का कि चेतना देह का गुण है, सरलता के साथ प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि यह देह का गुण होती तो इसका स्थान देह के भिन्न-भिन्न भागों में और उसके भौतिक अशों में भी होता।[2] यदि देह के भौतिक अशों में भी चेतना है तो हमें मानना होगा कि व्यक्ति की चेतना विविध प्रकार की चेतनाओं का सम्मिश्रण है जो देह के भिन्न भिन्न अशों से उत्पन्न हुई है। यदि देह में चेतना मानी जाए तो प्रकृति-मात्र में भी चेतना माननी पड़ेगी, क्योंकि प्रकृति के तत्त्व ही देह का निर्माण करते हैं। यदि देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं है तो नैतिकता का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता।[3] क्योंकि देह क्षण-क्षण में बदलती रहती है, इसलिए कोई भी पाप आगामी जीवन में हमारा पीछा कैसे करेगा। यदि चेतना देह का अनिवार्य गुण है तो वह अपने इस अनिवार्य गुण को कभी भी छोड़ न सकती, हमारे लिए ऐसी देहों को देखना जो चेतना-शून्य हो, असभव हो जाता—जैसे कि मृत देह चेतना-शून्य देखी जाती है। समाधि अवस्था में चेतना नहीं पाई जाती। देह का यह स्वाभाविक गुण नहीं है, क्योंकि जब तक देह रहती है तब तक यह बराबर उसके साथ नहीं रहती, जैसेकि रग आदि अन्य गुण देह के साथ बराबर रहते है।[4] यदि चेतना देह का आकस्मिक गुण होती तो इसका कारण देह के अतिरिक्त अन्य कुछ होता। इसके अतिरिक्त, चेतना उस पदार्थ का गुण नहीं हो सकती जिसकी कि चेतना होती है, बल्कि उसी का गुण हो सकती है जो स्वयचेतन है। चेतना को देह का गुण मानें तो इसका ज्ञान दूसरों को भी होना चाहिए।[5] देह चेतना की सहायक भी नहीं है, जैसाकि अनुभव सर्वविदित है। अधिक से अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि यह (देह) चेतना की अभिव्यक्ति में साधन व सहायक-मात्र है। देह की परिभाषा यह की गई है कि देह क्रियाओं, इन्द्रियों तथा पदार्थों का माध्यम है।[6] आत्मा देह के द्वारा ही पदार्थों को प्राप्त करने अथवा उनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न करती है, क्योंकि देह ही इन्द्रियों, मन तथा भावनाओं का स्थान है। हम देह की चेतना

1 न्यायवार्तिक, 1 1, 10। वाचस्पति का कहना है कि "यदि आत्मा की अनुपस्थिति में बोधों की स्मृति तथा उनका विलयन इस प्रकल्पना के अन्तर्गत सम्भव हो सकता कि प्रत्येक बोध बाधा की श्रृखला में एक अवयव बन जाता, तो प्रत्येक बोध उस श्रृखला के प्रत्येक अन्य बोध का स्मरण करा सकता तथा उनके साथ विलय हो सकता। वाचस्पति का उक्त कथन वात्स्यायन के इस कथन का भावानुवाद है कि "एक बोध की प्रत्यभिज्ञा दूसरे बोध के द्वारा उसी प्रकार सभव होगी जैसे एक शरीर द्वारा किए गए अनुभवों की प्रत्यभिज्ञा दूसरे शरीर को हो।" (न्यायभाष्य, 1 1, 10)।

2 देखिए सांख्यसूत्र, 3 : 20-21, और इनपर विज्ञानभिक्षु तथा अनिरुद्ध की टीका।

3 न्यायभाष्य, 3 1, 4।

4 न्यायभाष्य, 3 · 2, 47।

5 देखिए, भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 261-62। और देखिए न्यायभाष्य, 3 2, 53-55।

6 न्यायसूत्र, 1 1, 11।

एवं आत्मा के साथ जो उसे धारण करती है, एकात्मा स्वीकार नहीं कर सकते। और न ही हम जीवनी शक्ति की प्रक्रियाओं के साथ चेतना का तादात्म्य स्वीकार कर सकते हैं। आत्मा का देह के साथ जो विशेष सम्बन्ध है उसी का नाम जीवनी शक्ति है।[1]

आत्मा इन्द्रिया नहीं है, बल्कि इन्द्रियों का नियन्त्रण करने वाली है, तथा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का संश्लेषण करने वाली है।[2] यह जीवात्मा ही है जो भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभवों में एकत्व स्थापित करती है। आंख शब्दों को नहीं सुन सकती, न कान ही वस्तुओं को देख सकते हैं, और यह चेतना कि मैं जिस पदार्थ को अब देख रहा हूं उसके विषय में मैंने सुना भी था, सम्भव नहीं हो सकती थी यदि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न तथा उनसे परे न होती। इन्द्रिया साधनमात्र हैं और इसलिए उनका उपयोग करने के लिए किसी कर्ता की आवश्यकता है। इन्द्रिया केवल भौतिक प्रकृति से उत्पन्न हैं, अतः चेतना उनका गुण नहीं हो सकती। देखा हुआ पदार्थ और आंखें यदि दोनों नष्ट भी हो जाए तो भी यह ज्ञान कि मैंने देखा था, रहता ही है, और इसलिए यह ज्ञान इन्द्रियों या बाह्य पदार्थों का गुण नहीं हो सकता।[3] आत्मा और मन को भी एक नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन एक साधन-मात्र है जिसके द्वारा आत्मा मनन अथवा विचार करती है। क्योंकि मन परमाणुओं से बना है अतः यह भी देह की भांति ही, आत्मा नहीं हो सकता। यदि बुद्धि को मन का गुण मानें तो अनेकों वस्तुओं के एक साथ ज्ञान की, जैसाकि योगियों को होता है व्याख्या नहीं हो सकेगी।[4] आत्मा का ऐक्य देह, इन्द्रियों या मन के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि देह के नष्ट होने, इन्द्रियों के अलग हो जाने और मन के निश्चेष्ट हो जाने पर भी आत्मा बनी रहती है।[5] उक्त सब प्रमेय पक्ष के पदार्थ हैं और प्रमाता नहीं बन सकते, जबकि आत्मा ही प्रमाता है।[6]

यह स्थायी आत्मा बुद्धि, उपलब्धि अथवा ज्ञान नहीं है।[7] बुद्धि अस्थायी है, जबकि आत्मा का अवश्य स्थायी होना चाहिए।[8] हम अपनी चेतना की बहती हुई जल की धारा से उपमा दे सकते हैं, जहां मन की एक अवस्था के विलीन होते ही दूसरी प्रकट हो जाती है। पदार्थ का जो भी स्वरूप हो, शब्द की भांति द्रुत गति से खिसकने वाला अथवा घड़े की तरह अपेक्षाकृत स्थायी बोध अपने-आप में क्षणिक (अस्थायी) है।[9] पदार्थ का सापेक्ष स्थायित्व बोध की सापेक्ष विशिष्टता का कारण होता है, किन्तु इसके कारण बोध स्वयं स्थायी नहीं हो जाता।[10] प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की योग्यता बुद्धि का गुण नहीं हो सकती।[11] बुद्धि, नैय्यायिक के अनुसार, न तो द्रव्य है और न ही प्रमाता है, बल्कि जीवात्मा का एक गुण है जिसका बोध हो सकता है। जीवात्मा उन सबकी द्रष्टा है जिनसे दुःख-सुख उत्पन्न होते हैं। वह सुख व दुःख की भोक्ता, अर्थात् अनुभव करने वाली

1. न्यायकन्दली, पृष्ठ 263।
2. न्यायभाष्य, 3 1, 1।
3. न्यायभाष्य, 3 2, 18।
4. न्यायभाष्य, 3 2, 19।
5. प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 69, और देखिए भाषापरिच्छेद, 47-49।
6. न्यायवार्तिक, 3 2, 19।
7. न्यायसूत्र, 1 1-5।
8. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, 1 1, 10।
9. न्यायभाष्य, 3 2, 12, 3 : 2 18 41।
10. न्यायभाष्य, 3 2, 44, और देखिए न्यायवार्तिक, 3, 2, 45।
11. न्यायभाष्य, 3 2, 3।

है, और सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करनेवाली है।

वह द्रव्य जो इन गुणो का निधान है, अवयव-घटित नही हो सकता, क्योकि न्यायशास्त्र की यह धारणा है कि मिश्रित पदार्थ नाशवान् है जबकि सरल (निरवयव) पदार्थ नित्य है। जिसकी उत्पत्ति है वह अवश्य अवयवो से मिलकर बना है, और जब अवयव अलग-अलग हो जाते हैं तो पदार्थ का विनाश हो जाता है। जीवात्मा निरवयव है और नित्य है। इसका न आदि है, न अन्त है। यदि जीवात्मा ने कभी बनना आरम्भ किया होता तो उसका कभी अन्त भी होता। जीवात्मा का आकार भी परिमित नही हो सकता, क्योकि जो परिमित है उसके अवयव है और वह नाशवान है। आत्मा को या तो परमाणु-निर्मित होना चाहिए, अथवा अपरिमित होना चाहिए। वह मिश्रित पदार्थो के समान मध्यम परिमाण वाली नही हो सकती। वह परमाणु-घटित नही हो सकती। क्योकि उस अवस्था मे हमे उसके बुद्धि व इच्छा आदि गुणो का ज्ञान न होता। उसके परमाणु-घटित होने की अवस्था मे बोध सारी देह मे व्याप्त नही हो सकता था।[1] यदि वह मध्यम परिमाण की होती तो या तो देह से बडी, या छोटी होती। दोनो ही अवस्थाओ मे वह देह को व्याप्त न कर सकती, जबकि वह करती है और उसे करना चाहिए। यदि वह देह के ही परिमाण की होती तो देह के लिए बहुत छोटी सिद्ध होती, क्योकि देह तो जन्म के बाद से बराबर बढती रहती है। इसके अतिरिक्त, जन्म-जन्म मे वह अपना परिमाण बदलती रहती, यह कठिनाई उपस्थित होती जिसे दूर किया ही नही जा सकता। इसलिए वह सर्वव्यापक है, यद्यपि वह एक समय मे अनेक पदार्थों का ज्ञान उपलब्ध नही कर सकती, क्योकि उसका साधन मन अणुरूप है। देह द्वारा किए गए समस्त कर्मो के सस्कारो को मन ही सभालकर रखता है, और हरएक आत्मा के पास सामान्यत एक ही मन है, जिसे नित्य कहा गया है।[2]

प्रत्येक व्यक्ति मे आत्मा अपनी विशेषता रखती है।[3] जीवात्माओ की सख्या अपरिमित है। यदि प्रत्येक व्यक्ति की जीवात्मा पृथक्-पृथक् न होती तो सबके अनुभव एक समान हो जाया करते।[4] यदि सब देहो के अन्दर एक ही आत्मा विद्यमान रहती तो जब एक को सुख या दुःख अनुभव होता तो सबको उसी प्रकार के सुख और दुःख का अनुभव होता, किन्तु ऐसा होता नही है।

चेतना आत्मा का अनिवार्य गुण नही है। बोध की श्रृङ्खलाओ का भी एक अन्त है। "अन्तिम बोध के विषय मे स्थिति यह है कि कारण (पुण्य या पाप) के न रहने पर वह भी समाप्त हो जाता है अथवा काल की विशेषताओ से (जो अच्छे व बुरे कर्मों का अन्त कर सकता है), *अथवा स्वय अन्तिम बोध द्वारा उत्पन्न सस्कारो से भी* अन्तिम बोध का अन्त हो जाता है।"[5] परिणाम यह निकला कि आत्मा, जो चेतना का आधार है, सदा ही चेतन रहे, आवश्यक नही है। वस्तुत यह एक जड तत्त्व है जो चेतना की अवस्थाओ से गुणवान होता है।[6] चेतनता आत्मा से पृथक् नही रह सकती। जैसेकि

1 तर्कसग्रहदीपिका, 17।

2 न्यायभाष्य, 1 1, 16, 3 2, 56।

3 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1 1 10 न्यायभाष्य 3 1, 14।

4 एक ही आत्मा द्वारा भिन्न-भिन्न शरीरो के सचालन की सम्भावना को असाधारण घटना माना गया है (न्यायभाष्य, 3 2 32)।

5 न्यायवार्तिक, 3 · 2, 24।

6 उदयन के मत मे यह एक ऐसा द्रव्य है जिसमे ज्ञान आह्लाद तथा अन्य विशुद्ध गुण हैं,

अग्नि की ज्वाला अग्नि से पृथक नहीं रह सकती। किन्तु आत्मा के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह चेतन रहे। जागरित अवस्था में आत्मा का मन के साथ संयोग होने से उत्पन्न एक गुण चेतनता है। यह आत्मा का एक अन्तर्विरामी गुण है।[1]

आत्मा एक ऐसा नित्य तत्त्व है कि समय-समय पर इसका ऐसी एक देह से सम्बन्ध होता रहता है जो इसके अनुकूल होती है। देह मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार मिलती है, और सुख-दुःख का आधार देह ही है।[2] देह की रचना नियति[3] की अदृष्ट शक्ति से होती है और पूर्वकर्मों के फलों का परिणाम है।[4] प्रत्येक मनुष्य को ऐसी देह मिलती है जो कि उन अनुभवों का, जो उसे भोगने हैं, माध्यम बन सके। प्राणी का जन्म केवल भौतिक प्रक्रिया नहीं है। उद्योतकर का कहना है कि माता-पिता का कर्म जिन्हें बच्चे की उत्पत्ति में होनेवाले अनुभवों को भोगना है, और उस व्यक्ति का अपना कर्म जिसे इस जगत् में अनुभवों को भोगना है—ये दोनों परस्पर मिलकर माता के गर्भ में देह की उत्पत्ति के कारण बनते हैं।[5] देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध उसका जन्म कहलाता है एवं उससे अलग हो जाने का नाम मृत्यु है।[6] सृष्टि के प्रारम्भ में परमाणुओं में एक क्रिया चालू हो गई, जिससे वे संयुक्त होकर भौतिक पदार्थों की सृष्टि करते हैं। इसी प्रकार की एक क्रिया आत्माओं के मनों में भी होती है जो आत्माओं के अपने पिछले कर्मों के अनुसार कई अन्य गुणों को उत्पन्न करती है। प्रत्येक आत्मा के मूर्त इतिहास में अनेक जन्म अन्तर्निहित होते हैं। प्रत्येक क्षण में इसकी ऐतिहासिक परम्परा अपनी जड़ें भूतकाल में रखती है और भविष्य की रूपरेखा लिए रहती है। प्रत्येक जन्म, ऐतिहासिक रूप से व्यवस्थित इस प्रकार की शृङ्खला की केवल एक कड़ी है।

पूर्व-अस्तित्व की प्रकल्पना को सिद्ध करने का कोई विशेष प्रयत्न इसलिए नहीं किया गया क्योंकि इसे साधारणतः स्वीकार कर लिया गया है। शिशु एकदम प्रारम्भिक अवस्थाओं में सुख और दुःख के चिह्नों को प्रकट करने लगते हैं, और हम बच्चे की मुस्कान अथवा रोने को कमल के खिलने तथा मुरझाने के समान केवल यान्त्रिक गति बतलाकर टाल नहीं सकते।[7] मनुष्य-प्राणी एक फूल से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण अस्तित्व

एवं वह नित्य, अविनश्वर, परिवर्तनरहित, आकार में अणु से बड़ा नहीं, किन्तु समस्त शरीर में व्यापक होने की क्षमता रखता है।

1 1 : 1 10 पर न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक, प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 99।

2 न्यायभाष्य, 3 : 1, 27। देह मुख्यतया पृथ्वी से बनी है, यद्यपि अन्य तत्त्व भी इसके साथ सहायक के रूप में रहते हैं (3 : 1, 27-29)। मानवीय देह का निर्माण मुख्यरूप से पृथ्वी से हुआ है, किन्तु न्याय, वरुणलोक में निर्मित जलीय देहों को भी स्वीकार करता है। इसी प्रकार वह सूर्यलोक में आग्नेय और वायुलोक में वायव्य देहों का भी स्वीकार करता है। किन्तु आकाशीय अथवा ईथर की देहें नहीं हैं।

3 न्यायभाष्य 3 : 2, 60-72।

4 पूर्वकृतफलानुबन्धात् (न्यायभाष्य, 3 : 2, 60)।

5 न्यायवार्तिक, 3 : 2, 63।

6 4 : 1, 10। प्रश्न पूछा जाता है कि संसार रूपी चक्र का फेरा, अर्थात् जन्म व मृत्यु का सम्बन्ध मन के साथ है या आत्मा के साथ। उद्योतकर उत्तर देते हैं : "यदि संसार से तुम्हारा अभिप्राय कर्म से है (अर्थात् शरीरों में प्रविष्ट होने और उन्हें छोड़ने से है) तो इसका सम्बन्ध मन से है, क्योंकि जो वस्तुतः गति करता है (संसरति) वह मन है। दूसरी ओर यदि संसार से अभिप्राय तुम्हारा (सुख और दुःख के) अनुभव से है तो इसका सम्बन्ध आत्मा से है, क्योंकि वह आत्मा ही है जो सुख और दुःख का अनुभव करता है।" (न्यायवार्तिक, 1 : 1, 19।)

7 3 : 1, 19-21।

रखता है। नवजात शिशु की दूध पीने की इच्छा का समाधान चुम्बक के प्रति लोहे के टुकड़े के स्वाभाविक आकर्षण से उसकी उपमा देकर नहीं किया जा सकता, क्योंकि शिशु केवल धातु का टुकड़ा नहीं है।[1] यह आपत्ति कि इच्छाओं समेत बच्चे उत्पन्न हो सकते है, जैसेकि गुणों समेत द्रव्य पैदा होते है, मान्य नहीं है, क्योंकि इच्छाएं केवल गुण नहीं हैं अपितु उनका प्रादुर्भाव भूतपूर्व अनुभव से होता है।[2] हम इस जगत् में नितान्त भुलावे में नहीं आते और न ही पूर्णनग्नता को लेकर आते है, 'बल्कि कुछ स्मृतियों तथा स्वाभावों को लेकर आते हैं जो हमने अपने पूर्वजन्म में अर्जित किए हैं।'[3] पूर्वजन्मों तथा भावी जीवन संबंधी तर्कों को नैतिक भावनाओं से समर्थन प्राप्त होता है। यदि हम अपनी आत्माओं के लिए भूतकाल तथा भविष्य के अस्तित्व को न मानें तो उस अवस्था में 'कृतहीन' तथा 'अकृताभ्यागम'—अर्थात् जो कुछ किया उसका लोप तथा जो नहीं किया उसका फलभोग—इन दोनों से हमारा नैतिक भाव नष्ट हो जाएगा। भविष्य जन्म को अवश्य होना ही चाहिए, जिससे हम अपने कर्मों का फल भोग सकें, और वर्तमान में व्यक्तियों के भाग्य में जो इतना भेद दिखाई देता है उसका समाधान करने के लिए भूतकाल के जन्म को भी मानना आवश्यक है। जब हमारे दण्ड अथवा पुरस्कार दिलाने वाले गुणावगुणों का कोष निःशेष हो जाता है तो जीवात्मा संसार एवं पुनर्जन्म से मुक्त हो जाती है और मोक्ष प्राप्त कर लेती है।[4] वात्स्यायन के अनुसार, हमारे सब कर्मों का फल मोक्ष से पूर्व के अन्तिम जन्म में प्राप्त होता है।[5]

दुःख से छुटकारा पाने का नाम मोक्ष है।[6] यह अमरता की अवस्था भय से निर्मुक्त, अविनश्वर, परमानन्द की प्राप्ति के भाव से युक्त, ब्रह्म कही जाती है।[7] मोक्ष परम आनन्द का नाम है, जो पूर्ण शान्ति से युक्त एवं अपवित्रता (कलुषता) से रहित है। यह आत्मा का विनाश नहीं है, बल्कि केवल बन्धन का विनाश है। निषेधात्मक परिभाषा में कह सकते हैं कि यह दुःख का अन्त है, और निश्चित सुख की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि सुख के साथ दुःख सदा ही मिश्रित रहता है और इसकी उत्पत्ति का भी कारण दुःख की उत्पत्ति के समान जन्म है। उद्योतकर बलपूर्वक कहता है कि यदि मुक्त आत्मा को स्थायी सुख की प्राप्ति करनी हो तो इसे स्थायी शरीर भी चाहिए, क्योंकि शरीर की यान्त्रिक क्रिया के बिना अनुभव हो नहीं सकता।[8]

जब धार्मिक ग्रन्थ सुख को आत्मा का अनिवार्य सारतत्त्व कहते हैं, तो उनका तात्पर्य उससे दुःख का सर्वथा अभाव होता है। नैय्यायिक सिद्ध करता है

1 3 1, 22-24।

2 3 1, 25-26।

3 यह भी कहा जा सकता है कि इच्छाएं तथा प्रवृत्तियां केवल आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं, इसके पूर्वजन्म को सिद्ध नहीं करतीं। अन्ततोगत्वा, नये प्रारम्भ की न्याय की प्रकल्पना के अनुसार, हमें अपनी आत्माओं के भूतकाल को मानना आवश्यक नहीं है।

4 न्यायभाष्य, 3 2, 67।

5 न्यायभाष्य, 4 1, 64।

6 1 1, 9।

7 तदभयम्, अजरममृत्युपदं, ब्रह्मक्षेमप्राप्ति (न्यायभाष्य, 1 · 1, 22)।

8 न्यायवार्तिक, 1 1, 22। और देखिए न्यायभाष्य 4 1, 58। सुख आत्मा का गुण है, किन्तु अवयवरूप नहीं है, ऐसा वाचस्पति का कहना है। देखिए न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1 1, 22।

कि मुक्ति का प्रत्येक विचार कम से कम दुःख से छुटकारा चाहता है।[1] न्याय के मत में, प्रयत्न एवं क्रियात्मकता और चेतनता का पूरा अभाव तथा शरीर व मन से आत्मा का सर्वथा पृथक्त्व ही मोक्ष है। इस विशुद्ध स्थिति की तुलना, जिसे मुक्त आत्माएं प्राप्त करती हैं प्रगाढ़ स्वप्नविहीन निद्रा के साथ की जाती है।[2] असर्त अस्तित्व की यह अवस्था
गौरव की बताई गई है। क्योंकि
गुणों को धारण करती है, यद्यपि अ
समय विद्यमान नहीं होते। वात्स्यायन इस सिद्धान्त की आलोचना कि आत्मा के सुख की अभिव्यक्ति का नाम ही मोक्ष है, इस आधार पर करता है कि न तो इसके लिए कोई प्रमाण है और न ही औचित्य ही है। यदि सुख की अभिव्यक्ति का कोई कारण है तो वह या तो नित्य हो सकता है या अनित्य हो सकता है। यदि नित्य है, तो मुक्त तथा बद्ध आत्मा में कोई अन्तर न होना चाहिए। यदि कारण अनित्य है, तो वह क्या हो सकता है? आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध वह नहीं हो सकता, क्योंकि केवल इससे कुछ बनता नहीं। अन्य सहायक, पुण्य आदि, स्वीकार करने पड़ेंगे। किन्तु अनित्य पुण्य से उत्पन्न वस्तु नित्य नहीं हो सकती। जब पुण्य क्षीण हो जाता है तो उससे उत्पन्न सुख को भी समाप्त हो जाना चाहिए।[3] यह अवस्था बोधों से भी बिलकुल मुक्त है। क्योंकि, न्याय के अनुसार, बोध भी क्षणभंगुर और धर्म के उत्पादक हैं, इसलिए बन्धन के भी उत्पादक हैं। सांख्य के इस मत को कि मोक्ष विशुद्ध चेतनता की अवस्था है, समीक्षा में कहा गया है कि इस चेतनता की उत्पत्ति का भी तो कोई कारण अवश्य होना चाहिए, और जिसका कोई कारण है वह अवश्य अनित्य है। इसके अतिरिक्त, सांख्य का यह मत कि मुक्तावस्था में पुरुष प्रकृति से पृथक् रहता है जिससे प्रकृति अपना कार्य बन्द कर देती है और पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, प्रकृति के जड़ तत्त्व को अत्यधिक बुद्धिपूर्ण बनाता है।[4]

समीक्षक अनुभव करता है कि नैयायिकों का मोक्ष एक निरर्थक शब्द है, क्योंकि भौतिकवाद और न्याय के दर्शन में कुछ अधिक भेद नहीं प्रतीत होता। न्याय के मत में व्यक्ति न तो आत्मा है और न देह ही है, बल्कि इन दोनों के संयोग का परिणाम है। जब आत्मा का देह से पृथक्त्व होता है तो ऐसा कुछ घटित नहीं होता जो संवेदना को उत्तेजित करे, जैसा कि ल्यूक्रिशस ने कहा है, "न तो पृथिवी समुद्र में समा जाएगी और न समुद्र स्वर्ग में समा जाएगा।" विनष्ट चेतना की शान्ति मृत्यु की शान्ति के समान ही है। स्वप्न-रहित निद्रा संज्ञाशून्य जड़ता की स्थिति है। और हम यह भी कह सकते हैं कि एक पाषाण भी गम्भीर निद्रा में परम आनन्द प्राप्त कर रहा है जिसमें स्वप्न कोई विघ्न नहीं डाल सकते। दुःख तथा कामना से रहित अस्तित्व, जो न्याय का आदर्श है, मनुष्य के स्वप्नों का केवल एक मजाक मालूम देता है। संवेदनाओं, कामनाओं और

1 सर्वदर्शनसंग्रह, 11।
2 सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभाववदपवर्गः (4 : 1, 63)।
3 न्यायभाष्य 1 : 1, 22 और देखिए 'न्यायकन्दली', पृष्ठ 286-87।
4 न्यायसूत्र, 3 : 2, 73-78।

सब प्रकार के हितों का त्याग करना और देश और काल के बन्धन से मुक्त होना परमात्मा में नये सिरे से उत्पन्न होने से निश्चय ही भिन्न है। भावुकहृदय व्यक्ति इस प्रकार के एक अपरूप राक्षस को, जो देवी-देवताओं की मूर्तियों के सग्रहालय में स्थान पाने के योग्य है, कभी मान्य नहीं ठहरा सकते। वेदान्ती, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, तर्क करता है कि मोक्ष से तात्पर्य इस निर्बल, नश्वर, व्यक्तित्व को छोडकर अनन्त में समा जाना है। नैय्यायिक यह प्रतिपादन करने को उत्सुक है कि मुक्ति की दशा परमानन्द की दशा है।[1] किन्तु वे ऐसा तब तक नहीं कर सकते जब तक कि वे आत्मा के साथ चेतना के सम्बन्ध की अपनी धारणा पर पुनर्विचार न करे।

23 आत्मा तथा चेतना के सम्बन्ध के विषय में न्याय के सिद्धान्त पर कुछ समालोचनात्मक विचार

नैय्यायिक के समक्ष इस विषय में स्थिति स्पष्ट नहीं है कि उसके सिद्धान्त में चेतनता की पद मर्यादा क्या है। वह आत्मा को अपने आपमें चेतनाविहीन मानता है और युक्ति देता है कि चेतनता की उत्पत्ति भौतिक प्रकृति के प्रति आत्मा की प्रतिक्रिया से होती है। उसकी धारणा है कि हमारी चेतनता में जो एकत्व है वह आत्मारूपी एक यथार्थ तत्त्व के अस्तित्व के कारण ही है। हमारी चेतनता क्षणिक भी है और कभी-कभी यह कुछ समय के लिए सर्वथा विलुप्त भी हो जाती है। तो भी एक समान सत्ता विद्यमान अवश्य है जो हमें वस्तुओं का स्मरण कराती है और यह ध्यान दिलाती है कि हम बचपन और वृद्धावस्था में वही है। इस तथ्य की व्याख्या के लिए नैय्यायिक आत्मारूपी एक नित्य सत्ता को स्वीकार कर लेता है जो सदा उसी रूप में रहती है, यद्यपि चेतनावस्थाए एक के पश्चात् दूसरी परिवर्तित हो सकती है। किन्तु क्या आत्मा स्वयं चेतनताविहीन होते हुए भी प्रत्यभिज्ञा कर सकती है? यदि निद्रितावस्था और तत्समान अन्य भी कतिपय अवस्थाओं में हमारे चेतन जीवन का पूर्ण विच्छेद होता है और यदि आत्मा स्वयं चेतनतारहित है तो फिर प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या किस प्रकार हो सकती है? यदि नैय्यायिक द्वारा कल्पित आत्मा नित्य तथा स्वयं चैतन्य-स्वरूप नहीं है जो मानसिक स्थितियों की शृङ्खलाओं की साक्षी है तो वह न तो पहचान सकती है न ही स्मरण कर सकती है। जैसाकि शंकराचार्य का कहना है "जो यह मानता है कि चेतनता का उन अवस्थाओं में सर्वथा अन्त हो जाता है, उसके लिए भी चेतनता द्वारा असाक्षीकृत चैतन्य-विहीनता के विषय में कुछ कह सकना सम्भव नहीं हो सकता।"[2] जीवात्मा को बिना व्यवधान के चेतन रहना चाहिए, जिसे कभी अवकाश नहीं मिलता। नैय्यायिक का यह मानना ठीक है कि यदि चेतनता से तात्पर्य स्वयं देखी गई या बाहर से देखी गई, किसी वस्तु की चेतना की अवस्थाओं का सिलसिला है तो वह मौलिक यथार्थ सत्ता नहीं है। यथार्थसत्ता है द्रष्टा, जो नित्य है और आत्मनिर्भर है। किन्तु यह पिछला तत्त्व चेतनता से परे होना आवश्यक नहीं है। अचेतन आत्मा चेतनावस्था के अवशिष्ट प्रभावों को सग्रह करते हुए मस्तिष्क के ही समान है जो चेतनावस्था की घटनाओं के प्रभावों को अपने अन्दर धारण करता है। यदि आत्मा को एक निरन्तर चेतना के रूप में नहीं माना

1 न्यायसार, पृष्ठ 39-41। और तुलना कीजिए न्यायभाष्य, 1 1, 22।
2 शांकरभाष्य, 2 3, 18।

जा सकता तो इसकी कल्पना करने की ही आवश्यकता नहीं है। मानवदेह के मस्तिष्क के कोष्ठक ही स्मृति और प्रत्यभिज्ञा के आधार बन सकते हैं। किन्तु नैयायिक का सन्तोष इस प्रकार के समाधान से नहीं होता इसीलिए उसे एक चेतनामय प्रमाता अथवा आत्मा को मानना होता है। आत्मा को एक अभौतिक पदार्थ स्वीकार करने का जो उसका मत है वह इसीका फलितार्थ प्रतीत होता है। इसे आध्यात्मिक माना गया है और यह भी आवश्यक है कि इसे चैतन्यमय स्वीकार किया जाए, यद्यपि प्रयोगसिद्ध अर्थ में नहीं। नैयायिक को चिन्ता है कि नित्य आत्मा को अस्थायी बोधों के साथ एक समान न मान लिया जाए। आत्मा की आध्यात्मिक यथार्थता को अस्थायी मानसिक अवस्थाओं के साथ मिश्रित करना ठीक न होगा। आत्मा सब समय में इन क्षणिक मानसिक अवस्थाओं से प्रतिबिम्बित नहीं रहती। किन्तु इसे यदि उस उद्देश्य की पूर्ति करनी है जिसके लिए इसकी कल्पना की गई है, तो इसे चैतन्यमय होना ही चाहिए। इस विषय में सांख्य का मत न्याय से एक पग आगे है।

जब तक हम आत्मा की यथार्थता को चैतन्यमय नहीं मानते, चेतनता की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। हम चेतनता को एक तृतीय वस्तु (tertium quid) नहीं बना सकते—अर्थात् एक प्रकार की मायिक चमक, जो दो चेतनताविहीन पदार्थों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न हो जाती हो। यदि आत्मा अपने आपमें चैतन्ययुक्त नहीं है, और यदि यह चैतन्य बाह्य जगत् की क्रिया के द्वारा उसके अन्दर उत्पन्न किया जाता है, तो न्याय के सिद्धान्त तथा भौतिकवाद में भेद ही क्या रह जाता है? अर्थात् यह हो सकता है कि चेतनता केवल-मात्र मस्तिष्क की एक आनुषङ्गिक उपज हो। चेतनता भौतिकता से बहुत आगे सरक जाती है और हम इसके समान कोई यान्त्रिक पदार्थ नहीं ढूंढ सकते। यह विषय कि भौतिक तथा अभौतिक वस्तुएं एक-दूसरे पर किस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया करती हैं, अचिन्तनीय है। जब हम एक भौतिक पदार्थ से मानसिक क्षेत्र में आते हैं तो हम एक जगत् से दूसरे जगत् में पग बढ़ाते हैं, जो अपरिमय है। यह कह देना कि चैतन्य अवस्थाएं चेतना-विरहित दो पदार्थों, अर्थात् आत्मा तथा मन, की क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न उपविकार हैं, कोई समाधान नहीं है। आत्मा असीम तथा निरवयव है, मन परमाणुओं से बना तथा निरवयव है, इसलिए इन दोनों की क्रिया प्रतिक्रिया की कल्पना हम कैसे कर सकते हैं?[1] यदि चेतनता कोई ऐसी वस्तु है जिसकी उत्पत्ति असीम रूप में विस्तृत आत्मा के अन्दर होती है, तो क्या हम चेतनता का आधार आत्मा अपने पूर्ण रूप में है अथवा देहगत विशिष्ट भाग के रूप में? पहली अवस्था स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि उस अवस्था में सब पदार्थ चेतना में एक-साथ आ जाने चाहिए। दूसरी अवस्था इसलिए सम्भव नहीं है, क्योंकि आत्मा के हिस्से नहीं होते। पुण्य तथा पाप को यदि इस विषय का निर्णायक माना जाए, तो वह भी असंगत है, क्योंकि समुद्र, नदियों, आकाश तथा पर्वतों के प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ पुण्य व पाप का क्या सम्बन्ध हो सकता है? शंकराचार्य इसमें बलपूर्वक अनेकों आक्षेप करते हैं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापक है, इसलिए एक आत्मा से सम्बद्ध मन को सब आत्माओं से सम्बद्ध होना चाहिए, और परिणामस्वरूप सब आत्माओं को एक समान अनुभव होने

1 शांकरभाष्य, 2 2, 17। प्रलयावस्था में आत्माओं का परमाणुओं के साथ सम्पर्क होना नहीं माना जाता। तब वे अपने भूतकाल के संस्कारों को कैसे धारण कर सकती हैं? क्या मन उन्हें अपने अन्दर स्थिर रखता है और क्या प्रलयकाल में भी मन आत्मा के साथ रहता है?

चाहिए। क्योंकि सब आत्माएं सर्वव्यापक है, अत उन्हे सब देहो मे भी विद्यमान होना चाहिए। उस अवस्था मे अनेक सर्वव्यापक आत्माएं एक ही देश को भी घेरेंगी।[1] यदि यह कहा जाए कि मन पर, जो स्वरूप मे भौतिक है, आत्मा की क्रिया से चेतनता की उत्पत्ति होती है, तो कहना पडेगा कि आत्मा का चेतनता मे भाग है, क्योकि जब दो भौतिक पदार्थ एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते है तो वे केवल भौतिक घटना के ही कारण बन सकते है। यदि हम भौतिकवाद के दोष से बच निकलना चाहे, जो बुद्धि को परमाणुओ अथवा इलेक्ट्रनो की एक अंधी हलचल का निरुद्देश्य कार्य बताता है, तो हमे चेतनता की स्वतन्त्र सत्ता माननी ही पडेगी। आत्मा को एक निरन्तर क्रियाशील आत्मा के रूप मे मानना होगा, भले ही हम इसके कार्यकलाप से अभिज्ञ न हो। विस्मृति और असत्य की व्याख्या की आवश्यकता हो सकती है, स्मृति और ज्ञान की नही।

यदि हम देह और आत्मा मे भेद करते है तो हमे उनकी पारस्परिक प्रतिक्रिया की व्याख्या के लिए अदृष्ट (भाग्य) के सिद्धात का आश्रय लेना होगा, जिसे डेकार्ट ने 'दैवयोग' कहा है। न्याय के अनुसार, आत्मा जो विभु (व्यापक) है, सर्वदा मन के साथ सम्बन्ध रखती है। और बोध तब उत्पन्न होते है जब मन का सम्बन्ध इन्द्रियो के साथ होता है। मन एक ओर इन्द्रियो के साथ सम्बद्ध होता है और दूसरी ओर आत्मा के साथ। यह ऐसा करने मे किस प्रकार समर्थ होता है, यह एक ऐसा रहस्य है जिसका समाधान नैय्यायिक केवल परमात्मशक्ति की ओर सकेत करके करता है।

न्याय, आत्मा और देह को न केवल एक-दूसरे से भिन्न अपितु सामजस्यपूर्ण यथार्थसत्ताए मानता है। यह देह से भिन्न किन्तु देह मे निवास करनेवाली आत्मा के सिद्धात को स्वीकार करता है। देह अवश्य प्रकृति से बनी है। मनुष्य की शरीर-रचना मे आत्मा और देह दोनो एक ही कोटि के नही माने जा सकते और न ही वे ऐकान्तिक है। देहरूपी यन्त्र मे आत्मा कोई बाहर से जोडा गया पदार्थ नही है। नैय्यायिक मनुष्य-प्रकृति के आध्यात्मिक एवं भौतिक अशो मे अधिक व्यवस्थित सबध मे विश्वास रखता है।[2] न्याय एव वैशेषिक द्वारा समर्थित सिद्धान्त के अनुसार, भौतिक प्रकृति विचारो को मूर्तरूप मे व्यक्त करने के लिए उपकरण है। भौतिक प्रकृति की अपेक्षा आत्मा की सार्थकता एव मूल्य कही अधिक है और इसीलिए उसकी यथार्थता भी अधिक है। आत्मा तथा देह के मध्य भेद अनुभव के उच्चतर व निम्नतर स्तर का है।

नैय्यायिक को विदित है कि चेतनता समस्त अनुभव का आधार है। यह तथ्यो मे से कोई एक तथ्य नही है जैसेकि सूर्य अथवा पृथ्वी है, बल्कि सब तथ्यो के लिए यह एक आवश्यक आधार है। बुद्धि भी बाह्य पदार्थो के कर्म द्वारा आत्मा के अन्दर उत्पन्न हुआ गुणमात्र नही है, बल्कि सब प्रकार के अनुभव का आवश्यक आधार है। अन्नभट्ट इसकी परिभाषा करते हुए इसे सब प्रकार के अनुभव का कारण (सर्वव्यवहार-हेतु) बताता है।[3] शिवादित्य बुद्धि की परिभाषा करते हुए इसे आत्मा के द्योतनात्मक अश

1 शाकरभाष्य, 2 3, 50 53।

2 न्यायभाष्य, 3 2 60।

3 तर्कसग्रह, 43। गोवर्धन अपने 'न्यायबोधिनी' नामक ग्रन्थ मे व्यवहार को शब्द-प्रयोग के समान, अथवा जो कुछ शब्दो द्वारा अभिव्यक्त किया जा सके समझता है यद्यपि यह मत अत्यधिक सकुचित है।

के रूप में वर्णन करना है।[1] जिसे टीकाकार जिनवर्धन और स्पष्ट करते हुए प्रकाश का स्वरूप बताता है, क्योंकि यह अविद्या के अंधकार को दूर करता है और सब पदार्थों को प्रकाश में लाती है।[2] जो कुछ समस्त अनुभव में पूर्व विद्यमान है उसे अनुभव से उत्पन्न नहीं कहा जा सकता। जबकि विशेष प्रकार के विचार एवं मत वातावरण-सम्बन्धी अवस्थाओं पर निर्भर करते हैं, ये अवस्थाएं अपने-आप में, चेतना के आधार से अलग, उसका कारण नहीं बन सकतीं। न्याय की परिभाषा के अनुसार, बुद्धि प्रमाता (विषयी) पक्ष से सम्बन्ध रखनेवाली है।[3] यह क्षणिकरूप नहीं है, बल्कि प्रमाता का अनिवार्य स्वरूप है। इसीलिए बुद्धि कभी स्वयं प्रमेय, सार्वभौम चेतनता, नहीं बन सकती, जिससे पृथक न तो परिमित शक्तिवाले व्यक्ति और न प्रमेय पदार्थ ही संभव हैं।

यदि चेतनता समस्त अनुभव का आधार है, वह आधारभूत यथार्थता है जिसके अन्दर परिमित शक्तिवाली आत्माएं तथा प्रमेय पदार्थ—जिनकी उन्हें चेतना होती है—आ जाते हैं, तो यह परिमित से अधिक है। व्यक्तिरूप प्रमाता तथा प्रमेय पदार्थ अनन्त के आंशिक रूप हैं जो सदा परिवर्तित होते रहते हैं। आत्मा, जिसे नैयायिक जीवन के नानाविध अनुभवों के समन्वय की व्याख्या करने के लिए मानता है, चैतन्य-स्वरूप है जिससे समस्त अनुभव सम्भव है। हम इसे द्रव्य नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहना आनुभविक जगत् के भावों को इस पर लागू करना होगा, जबकि हम यह देखते हैं कि इसी अनन्त चेतनता की विद्यमानता के कारण समस्त अनुभव-संसार सम्भव होता है। यदि हम इस अनुभव में उसे सम्मिलित कर लेते हैं जो इसमें उन्नत है और साथ ही इसे बनाता भी है, तो आत्मा एक विचारशील द्रव्य बन जाता है, जिससे शेष सब बाह्य है।

उस आत्मा में जो विशुद्ध चैतन्य है और सब व्यक्तियों में समान रूप से व्यापक है, तथा उन सान्त आत्माओं में जिनका ऐतिहासिक अस्तित्व है, परस्पर भेद करना होगा। नैयायिक द्वारा प्रतिपादित आत्मा बढ़ती है, लचकदार है और अपना इतिहास रखती है। इस प्रकार का युक्तियां कि जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी है, जिसका निर्माण मिश्रण से हुआ वह विभाज्य भी है और नष्ट भी हो सकता है, और कि अव-यवरहित पदार्थ का न तो विनाश सम्भव है और न विकास ही सम्भव है, सबकी सब विशुद्ध आत्मा के नित्यस्वरूप को सिद्ध करती हैं, न कि ऐतिहासिक आत्माओं के नित्य-स्वरूप को। ऐतिहासिक आत्माओं के अपने उद्देश्य तथा आदर्श हैं जो जीवन की अव-स्थाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं के निर्णायक होते हैं। सान्त व्यक्ति की विशेष भावनाएं तथा उन बाधाओं के अधीन होने की सम्भावना, जो उसकी क्रियाशीलता को रोकती हैं, ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण हैं। बढ़ते हुए व्यक्तियों के अन्दर जिस प्रकार का स्थायित्व है उसे और विशुद्ध आत्मा के स्थायित्व को परस्पर मिलाना न चाहिए। सान्त आत्माओं की प्रकृति का, जो अपेक्षाकृत स्थिरस्वरूप है, उद्भव बाह्य साधनों से होता है। अपने-आपमें बन्दी ऐसी ऐतिहासिक आत्माएं असंख्य हैं। एक निश्चित दार्शनिक अन्तर्बोध नैयायिक को यह स्वीकार करने की प्रेरणा करता है कि व्यक्ति की मर्यादित शक्तियां और भौतिक विशेषता आत्मा की आनुषंगिक विशेषताएं

1 आत्माश्रय प्रकाश । सप्तपदार्थी, 93 । तुलना कीजिए अन्नंभट्टकृत आत्मा की इस परि-भाषा से कि आत्मा वह है जो ज्ञानाधिकरण है (तर्कसंग्रह, 17) ।

2. अज्ञानान्धकार-तिरस्कारकारक-सकलपदार्थप्रकाशकः प्रदीप इव दीप्यमानो य प्रकाश सा बुद्धि ।

3 न्यायवार्तिक, 3 : 2, 19 ।

है, जिनसे वह मरणशीलता के अभिशाप से छुटकारा पाने पर मुक्त हो जाएगा। मुक्ति अथवा बन्धन दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा का विशिष्ट लक्षणीय स्वरूप बना ही रहना चाहिए। क्योंकि आत्मा का स्वरूप हमारे ज्ञान से अतीत है, इसलिए हम अनुभव करने लगते हैं कि बौद्धिक, भावनामय एवं ऐन्छिक अन्तःप्रेरणाओं से रहित होने पर जो शेष बचता है वह केवलमात्र शून्य है। किन्तु तो भी नैय्यायिक को निश्चय है कि आनुषङ्गिक गुणों का आधार वास्तविक कुछ है। प्रमेय पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध है उसीके कारण आत्म-सम्बन्धी यथार्थता छिपी रहती है। हमारे अन्दर जो आत्मा है उसके ऊपर प्रकृति के निष्क्रिय अवयव का आवरण है। नैय्यायिक अपने इस मत में ठीक है कि आत्मा अमर है, यद्यपि वह उसे और जीवात्मा को मिला देने में भूल करता है, क्योंकि जीवात्मा चेतनता की अबाधित विद्यमानता के अतिरिक्त पूर्वजन्म को स्मरण नहीं रखता। जबकि हमारे अन्दर विद्यमान आत्मा सार्वभौम आत्मा है, अभिन्न आत्मा है, फिर भी संस्कारों को ग्रहण करने की क्षमता अपने ग्राहकतागुण के कारण, ऐसी वस्तु है जो पराधीन निश्चेष्ट और नश्वर है और जो स्वभाव में अधिकतर प्रकृति के साथ मिलती है। हमारे अन्दर जो आत्मा है और जिसे अभौतिक माना गया है, वह अपनी कर्मशीलता को स्थगित नहीं होने देती, वह निर्बलता तथा विकार के अधीन नहीं होती। किन्तु मन शरीर के समान, जोकि इसका निवासस्थान है, तथा सम्बद्ध इन्द्रियों के समान भिन्नस्वरूप है। प्रत्येक जीवात्मा द्वारा अनुभूत तथ्य भिन्न-भिन्न है, क्योंकि जीवात्माएं भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध होती हैं। यदि आत्मा मन के साहचर्य से मुक्त हो जाए तो सब पदार्थ एक साथ ही चेतना को प्राप्त हो जाएंगे, और आत्माओं के वस्तुत्व भी, क्योंकि आत्मा सर्वत्र विद्यमान है, समान होंगे। इस सार्वभौम वस्तुतत्त्व को प्रत्येक आत्मा एक विशेष दृष्टिकोण से ग्रहण करती है, जिसका निर्णय देश और काल की उस व्यवस्था के कारण होता है जिसमें कि प्रत्येक आत्मा अवस्थित है। विश्वनाथ के अनुसार, जो वेदान्तियों का यह मत है कि आत्मा ज्ञानमय है एवं सब पदार्थ उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा निर्णीत विशेष आकृतियां है, अपरिहार्य है।[1]

जीवात्मा की ऐकान्तिकता इसका अनिवार्य गुण नहीं है, यह स्वयं ज्ञान के तथ्य से ही प्रकट हो जाता है। यदि प्रत्येक जीवात्मा एक विशिष्ट मन से संयुक्त पृथक् आध्यात्मिक इकाई है, तो हमें यह निश्चय नहीं हो सकता कि वे सब जगत् जिन्हें वे देखती है, एक ही है। यदि प्रत्येक इकाई अपने लिए एक जगत् का निर्माण करती है तो एक नितान्त अनेकत्ववाद का, अर्थात् जितनी इकाइयाँ हैं उतने ही जगत् है ऐसा, परिणाम निकलेगा। न्याय 'विषयीविज्ञानवाद' से बचने के लिए आतुर है और उसका विश्वास है कि हम सब एक सामान्य जगत् को जानते हैं। दूसरे शब्दों में, हम 'यहां' और 'अब' अर्थात् देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठने का सामर्थ्य रखते हैं, आकस्मिक, विशिष्ट तथा आंशिक से ऊपर उठकर आवश्यक, सार्वभौम तथा अनन्त तक पहुंचने का सामर्थ्य रखते हैं। प्रत्येक ज्ञान में एक आवश्यक तत्त्व निहित रहता है,

1 नानावस्तुविज्ञानमेव आत्मा तस्य स्वतः प्रकाशरूपत्वाच्चैतन्यं म। ज्ञानसुखादिकन्तु तस्यैवाकारविशेष। तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्व पूर्व-पूर्वविज्ञानस्योत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् (सिद्धान्तमुक्तावलि, 49,। आत्मा निःसन्देह ज्ञान है। इसका ज्ञानस्वरूप इसकी अपनी अभिव्यक्ति से ही सिद्ध होता है। इस अथवा उस पदार्थ का ज्ञान तथा सुख आदि इसकी विशेष आकृतियां हैं। केवलमात्र पदार्थ होने के कारण ये अस्थायी हैं। पूर्ववर्ती मानसिक स्थितियां परवर्ती स्थितियों को उत्पन्न करती है।

अर्थात् जिसे होना ही चाहिए। जाननेवाला आत्मा सान्त नहीं हो सकता। सान्त विषयी (प्रमाता) का सम्बन्ध जगत् के साथ स्थिर नहीं है। सान्त चेतनता कभी परिपूर्ण नहीं है, और इसीलिए सदा अपने में बेचैन रहती है। सान्त विचार का विशेष लक्षण यह है कि वह निरन्तर अपने में परिवर्तनस्वरूप है। मानवीय विचारधारा की अपनी विधि द्वन्द्वात्मक है, जिसका प्रयत्न बाह्य पदार्थों के अपेक्षाकृत स्थिर स्वभाव के प्रत्याख्यान की ओर रहता है। वह सब विषय जो चेतना को बाह्य प्रकट होता है, वस्तुतः वैसा नहीं है। हम जो कुछ हैं उससे असन्तुष्ट रहते हैं, यह हमें जो कुछ बनना चाहिए उसके लिए हमारा दावा है। पदार्थों तथा घटनाओं की लौकिक व्यवस्था से परे जाने का प्रयत्न अधिकतर मौलिक यथार्थता को प्राप्त करने के लिए होता है, जो सर्वोपरि चेतनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो किसी भी वस्तु को अपने से विषयी नहीं समझती। नैय्यायिक विशुद्ध आत्मा को ऐतिहासिक व्यक्तित्व से, जो आदर्शों तथा विश्वासों पर निर्भर है—दूसरे शब्दों में जो विशुद्ध आत्मा का एक प्रकार से मूर्तरूप है—पृथक् बनाता है। यदि हम किसी समय सान्त आत्मा के स्वरूप को पहचान सकते हैं तो इसके शारीरिक स्वरूप व आदर्शों के द्वारा ही पहचान सकते हैं जोकि इसके भूतकालीन इतिहास तथा वातावरण-सम्बन्धी अवस्थाओं से निर्णीत होते हैं। किन्तु आदर्श, शरीर-रचना और वातावरण जो ये व्यक्तित्व दर्शानेवाली अवस्थाएं, सत्य-स्वरूप आत्मा से भिन्न हैं, यद्यपि ये उसपर आश्रित हैं—इसे नैय्यायिक स्वीकार करता है। तार्किक दृष्टि से नैय्यायिक को स्वीकार करना होता है कि आत्माओं के अनेकत्व के सिद्धान्त का आधार आत्मा के आनुषङ्गिक गुण हैं, और जब आत्मा के तात्त्विक स्वरूप पर बल दिया जाएगा तो इस सिद्धान्त को त्यागना पड़ेगा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण, जो निरपेक्ष नहीं है, जगत् के अनेकत्व की ओर ले जाता है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण, जो निरपेक्ष है, अनेकत्ववाद से ऊपर उठता है। न्याय का यह तर्क कि परम आत्मा एक नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार मानने से सुख और दुःख के भिन्न-भिन्न ज्ञान गड़बड़ हो जाएंगे, प्रबल नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक आत्माओं के पृथक्त्व का निषेध नहीं किया गया है। अनेक मत भिन्न-भिन्न आत्माओं का निर्णय करते हैं, जो फिर अपने कार्यों द्वारा जगत् को रूप देती हैं। क्योंकि व्यक्तिगत आत्माएं जगत् के सब रूपों से सम्बद्ध नहीं रहतीं, इसलिए श्रीधर का मत है कि कम से कम एक आत्मा ऐसी होनी चाहिए जिसके अनुभव का क्षेत्र समस्त जगत् हो। इस आत्मा का सब पदार्थों के साथ कोई सामान्य सम्बन्ध नहीं है, बल्कि सब पदार्थों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और उन पर नियन्त्रण है।[1] तात्त्विक रूप में सब आत्माएं एक हैं। लौकिक भेद जो हम आत्माओं में देखते हैं, उन घनिष्ठ तथा विशेष सम्बन्धों से निश्चित होते हैं जिन्हें आत्माएं, सब वस्तुओं से सामान्य रूप से सम्बद्ध रहते हुए, प्राप्त करती हैं।

सार्वभौम चेतनता अथवा आत्मा की मौलिक यथार्थता को मान लेना विषयी-विज्ञानवाद के सिद्धान्त को समर्थन देना नहीं है। सार्वभौम आत्मा की यथार्थता के आधार पर प्रमाता तथा प्रमेय के अन्दर भेद करने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम इस तथ्य को अस्वीकार करते हैं कि सूर्य के प्रकाश से लाभ उठानेवाले किसी जीवित वनस्पति अथवा गौर वर्णित को प्रकाश में परिणत करनेवाले किसी चेतन चक्षु के प्रादुर्भाव से युगों पहले पृथ्वी तथा अन्यान्य ग्रह अपने-अपने धुरी पर तथा सूर्य के चारों ओर चक्कर काटते थे।

1 न्यायकन्दली, पृष्ठ 83।

जब तक न्याय चेतनता को आत्मा का एक गुणमात्र मानता है तब तक वह अनुभव का कारण नही बतला सकता। यदि अनुभव को बुद्धिगम्य बनाना है तो आत्मा को सार्वभौम चेतनता मानना होगा। न्याय ठीक मार्ग पर है जब वह यह कहता है कि परिस्थिति-सम्बन्धी अवस्थाए कतिपय विचारो तथा आदर्शों के विकास की ओर ले जाती है और यह विकास मानव-स्वभाव की ऐतिहासिकता को बनाता है परन्तु यह मानव-स्वभाव समस्त चेतनता का विषय नही है, बल्कि इसका विकास स्वय चेतनता के अन्दर होता है और वह एक प्रमेयरूपी माध्यम द्वारा निर्णीत होता है। आत्माओ का भेद लौकिक जीवन के कारण है जिसमे वे भाग लेती है। परिमित शक्ति वाले प्राणी, यद्यपि उनका मूल प्रकृति मे है, आत्मा के अन्दर ही फलते-फूलते है। पूर्णताप्राप्त आत्मा आध्यात्मिक अग्नि मे विद्यमान रहते हैं जबकि भौतिक देहरूपी धुआ नष्ट हो जाता है। इस मत को स्वीकार करने से मुक्त आत्मा के एकदम रिक्त होने का भय भी नही रहता। जहा तक आत्माओ की मुक्तावस्था के विचार का सम्बन्ध है, एक और अनेक का भेद कुछ अर्थ नही रखता। यदि हम न्यायदर्शन की मुख्य शिक्षा का अनुसरण करें और उसमे असगतियो को निकाल दे, यद्यपि न्यायशास्त्र के विचारक स्वय उनसे स्पष्ट रूप से अवगत नही हैं, तो हम कुछ इसी प्रकार के परिणाम पर पहुचते है।

24. नीतिशास्त्र

न्याय के विचारक इच्छा और बुद्धि के मध्य कोई कडा भेदक चिह्न नही रखते है। बुद्धि प्रस्तुत पदार्थो को ग्रहण करने अथवा उनपर विचार करने मे कोई निष्क्रिय कर्ता नही है, और इच्छा, जो बुद्धि द्वारा पदार्थों के प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् कार्य प्रारम्भ करती है, कोई रहस्यमयी शक्ति नही है। समस्त ज्ञान प्रयोजन को लिए रहता है और जैसे ही हम पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते है, या तो हम उन्हे पसन्द करते है या नापसद करते है, उन्हे प्राप्त करने की इच्छा करते हैं अथवा उनसे बचते हैं। जब हम किसी पदार्थ का चिन्तन करते है तो उसका मूल्य भी निर्धारित कर लेते है, और उसके प्रति एक निश्चित क्रियात्मक भावना भी बना लेते हैं। नीतिशास्त्र मनुष्य-जीवन के क्रियात्मक पक्ष को, विशेषकर स्वेच्छाकृत कर्मो को अपना विषय बनाता है।

कतिपय न्यायग्रन्थो मे कामना के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण किया गया है। विश्वनाथ,[1] इच्छा की अनेक प्रकार की अवस्थाओ का वर्णन करता है। हम असम्भव पदार्थों की इच्छा नही करते। केवल अबोध बच्चे ही चाद को पकडने के लिए हाथ फैलाते है। साधारणत हम ऐसे ही पदार्थों के लिए अपनी इच्छा प्रकट करते है जो हमारी पहुच के अन्दर होते है।[2] फिर, जिन पदार्थों की प्राप्ति के लिए इच्छा प्रकट की जाती है वे ऐसे ही पदार्थ होते हैं जिन्हे

1 सिद्धान्तमुक्तावली, 146-50।
2 कृतिसाध्यता ज्ञान।

वाञ्छनीय माना गया है, अर्थात् जिनसे ज्ञाता का उपकार होगा ।[1] यहां तक कि जब हम आत्महत्या भी करने का विचार करते हैं, या अपने शरीर में कांटा चुभाते हैं तो वह भी इस विचार से करते हैं कि ये हमारे लिए उपयोगी होंगे। किसी भी पदार्थ का मूल्य कर्ता के लिए उपयोगी होने के नाते ही आंका जाता है, यह बात अलग है कि मनुष्य आत्महत्या इत्यादि ऐसे ही अन्य कार्यों को मस्तिष्क की असाधारण अवस्था (विकृति) के कारण ही क्यों न उपयोगी समझता हो ।[2] पीछे चाहे उसके विषय में कुछ भी सम्मति क्यों न प्रकट की जाए, कामना करते समय तो उस पदार्थ की उपादेयता ही समझी जाती है । किसी भी कार्य-योजना का विधान बनाते समय हम उसके समस्त परिणामों को ध्यान में रखते हैं और निश्चय कर लेते हैं कि उसके अंगीकार करने से अधिक बुराई न होगी ।[3] यदि किसी पदार्थ के अधिक हानिकर सिद्ध होने की सम्भावना होती है तो हम उसका अनुसरण नहीं करते। इस तरह इसमें प्रस्तावित कार्यपद्धति के परिणामों का ध्यानपूर्वक सर्वेक्षण सम्मिलित रहता है।

ऐसे स्वतःप्रवृत्त कर्म, जो आन्तरिक प्रेरणाओं के कारण होते हैं[4] तथा स्वतः-सम्पन्न होते हैं, जिनके सम्पादन में इच्छा की प्रेरणा का कोई स्थान नहीं है, वस्तुतः नीतिशास्त्र के क्षेत्र में नहीं आ सकते। आत्मा स्वयं इच्छा व द्वेष की दोषी नहीं है, ये बाहर से ऊपर आते हैं। यदि आत्मा स्वयं एक अचेतन व्यक्तित्व रखती तो राग-द्वेष इसके भाग्य का निर्माण करते और आत्मा भी उसीके साथ खिसती। न्याय की धारणा है कि आत्मा को उपक्रम तथा चुनाव करने का अधिकार प्राप्त है। जिससे यह स्वतः उपलक्षित होता है कि आत्मा को दैवीय स्वातन्त्र्य प्राप्त है। वात्स्यायन इस मत का घोर विरोधी है कि समस्त कर्म सीधे परमात्मा की प्रेरणा से सम्पन्न होते हैं और पुरुषार्थ का उनमें कोई स्थान नहीं है ।[5] मानवीय इच्छा में पर्याप्त क्षमता है, यद्यपि यह कार्य करती है परमात्मा के नियन्त्रण के अन्तर्गत ही। वात्स्यायन इस मत का भी खण्डन करता है कि इच्छा बिना किसी कारण के कार्य करती है ।[6]

समस्त कर्मों का प्रयोजन[7] सुखप्राप्ति तथा दुःखपरिहार की इच्छा होता है। बेचैनी[8] का कारण दुःख इस विषय का चिह्न है कि आत्मा अपने-आपमें सन्तुष्ट नहीं है। परम श्रेय सुख की प्राप्ति में नहीं, अपितु दुःख से छुटकारा पाने में है, क्योंकि सुख सदा दुःख के साथ मिश्रित रहता है ।[9] संसार है दुःखमय, यद्यपि कभी-कभी यह सुखमय प्रतीत

1 इष्टसाधनता ज्ञान ।

2 [illegible] ।

3 बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान । यह श्लेषात्मक है और इसका अर्थ या तो अनिष्ट के अभाव की चेतना (अनिष्ट अजनकत्वज्ञान) अथवा किसी भी अनिष्ट की चेतना का अभाव (अनिष्टजनकत्व-ज्ञानाभाव) हो सकता है। विश्वनाथ का झुकाव पिछले अर्थों की ओर है।

4 जीवनयोनिपूर्वक, 152 ।

5 न्यायभाष्य, 4 : 1, 19-21 ।

6 न्यायभाष्य, 4 : 1, 22-24 ।

7 न्यायभाष्य और इसपर न्यायवार्तिक, 1 : 1, 24, और न्यायभाष्य, 3 : 2, 32-37 ।

8 1 : 1, 21 ।

9 सर्वदर्शनसंग्रह, 11 । उद्योतकर इस विचार में कुछ परिवर्तन करता है । 'यदि सुख न होता तो पुण्य नितान्त निरर्थक होता और न ही केवल दुःख के अभाव को पुण्य का परिणाम समझना ठीक

होता है। ससार से छुटकारा पाना ही परम श्रेय की प्राप्ति है। दु ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान इस शृ खला की एक-एक परवर्ती कडी के नष्ट होने से उसकी पूर्ववर्ती कडी नष्ट होती जाती है।[1] दु ख जन्म का परिणाम है, और जन्म प्रवृत्ति का परिणाम है। सब प्रकार की प्रवृत्ति, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, हमें ससाररूपी शृ खला मे जकडती है, और उसीके कारण हमे नीच या उच्च जन्म प्राप्त होता है। नैय्यायिक को लज्जा होती है कि उसके शरीर है और नोवलिस के समान वह भी घोषणा करता है कि "जीवन आत्मा का एक रोग है, एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसे काम से उत्तेजना मिली है।" यह प्रवृत्ति राग, द्वेष और मोह आदि दोषो के कारण है। द्वेष के अन्तर्गत क्रोध, ईर्ष्या, दुर्भावना, घृणा और निष्ठुरता सम्मिलित है। राग के अन्तर्गत वासना, लालच, तृष्णा (उत्कट अभिलाषा) और लालसा (स्पृहा) आदि का समावेश है। मोह के अन्तर्गत मिथ्याबोध, सशय, दर्प (अहकार) एव प्रमाद का समावेश है। सबसे बुरा मोह है क्योकि इसीके कारण राग और द्वेष उत्पन्न होते है।[2] उक्त दोषो के कारण हम यह भूल जाते है कि आत्मा के लिए कुछ भी उपादेय अथवा हेय नही है, और हम पदार्थो को पसन्द या नापसन्द करने लगते है। इन दोषो का कारण है आत्मा, सुख व दु ख इत्यादि के स्वरूप का मिथ्याज्ञान। मोक्ष का अनन्त स्थिति की प्राप्ति के लिए, जो हमारा एकमात्र महान् लक्ष्य है, हमे उस शृ खला को समाप्त कर देना चाहिए जो मिथ्याज्ञान से आरम्भ होकर दु ख मे समाप्त होती है। जब मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है तो उक्त दोष भी दूर हो जाते है। इन सबके विलुप्त हो जाने पर फिर प्रवृत्ति का कोई आधार नही रहता, और इसलिए जन्म की भी सभावना नही रहती। जन्म के अभाव का तात्पर्य ही दु ख की समाप्ति है और इसीका नाम परम आनन्द, अर्थात् मोक्ष है।[3]

जब तक हम कर्म करते रहते है तब तक हमारे ऊपर राग और द्वेष दोनो का शासन रहता है और हम परम श्रेय को नही प्राप्त कर सकते। दु ख के प्रति घृणा भी घृणा ही है और सुख के प्रति राग भी राग ही है। इसलिए जब तक ये क्रियाशील रहेगे तब तक परम श्रेय हमारी पहुच से परे ही रहेगा।

नैय्यायिक हमे कहता है कि हमे पृथक्त्व के भाव को दबाए रखना चाहिए, क्योकि उसके मत मे ऐसे व्यक्ति की प्रवृत्ति, जो इन दोषो पर विजय पा लेता है, पुनर्जन्म का कारण नही होती।[4] वे व्यक्ति जिन्होने उक्त दोषो पर विजय पा ली है, शरीर के रहते कर्म करते रह सकते हैं और वे कर्म उनके बन्धन का कारण नही बनते। जब तक हमारा

होगा क्योकि तब पुण्य का परिणाम केवलमात्र एक निषेधात्मक वस्तु रह जाएगा। साधारण जीवन मे हम मनुष्यो मे दो प्रकार की चेष्टा पाते हैं। एक व्यक्ति वाञ्छनीय पदार्थ को प्राप्त करने के लिए काम करता है, जबकि अन्य व्यक्ति अवाछनीय वस्तु से दूर रहने के लिए कम करता है। यदि कुछ भी वाछनीय न होता तो यह दो प्रकार की चेष्टा सम्भव न होती। फिर (यदि सुख न होता तो) इस प्रकार का परामर्श भी न मिलता कि अमुक सुख को दु ख ही समझना चाहिए। और अन्त मे, किसी प्रकार कारण भी न होता, क्योकि दु ख के प्रति कोई भी राग नही रखता। (न्यायवार्तिक 1 1 21)। श्रीधर इस मत मे सहमत नही है कि केवल दु ख के अभाव का नाम ही सुख है, क्योकि परम आनन्द का निश्चित अनुभव होता है और मनुष्यो की चेष्टाए भी दो प्रकार की देखी जाती हैं। (न्यायकन्दली, पृष्ठ 260)।

1 न्यायसूत्र, 1 1, 2, 4 1, 68। तुलना कीजिए इसकी बौद्धदर्शन प्रतिपादित कार्यकारण-शृ खला के साथ। (विसुद्धिमग्ग, 19)।

2 4 1 39।

3 न्यायभाष्य, 3 2, 67, 4 1, 6, 4 2, 1।

4 न्यायसूत्र, 4 1 64।

जबतक एक विलग सत्ता के रूप में बना रहता है और हम इन्द्रपद अथवा ब्रह्मपद की प्राप्ति के लिए पुण्यसंचय करते हैं, तब तक हम इस संसारचक्र के साथ बंधे रहते हैं, क्योंकि इन्द्र अथवा ब्रह्म की अवस्थाएं भी सान्त अर्थात् एक न एक दिन समाप्त होने वाली हैं। परम ध्येय तो विलग सत्ता (पृथक्त्व) के भाव से सर्वथा मुक्ति ही है।

यथार्थ ज्ञान से तात्पर्य संसार से तुरन्त मुक्ति प्राप्त कर लेने से नहीं है। गुणावगुण का, जो देह और आत्मा के सम्बन्ध का कारण है, सर्वथा निःशेष हो जाना आवश्यक है, जिसमें कि उक्त दोनों के सम्बन्ध की पुनरावृत्ति की संभावना ही न हो सके।[1]

क्योंकि इस प्रकार पृथक्त्व से मुक्ति ही एकमात्र ध्येय है, अतः चरित्र-सम्बन्धी वे सब मार्ग जो इस ओर प्रवृत्त कराते हैं, अच्छे कहे गए हैं, और जो विपरीत दिशा में ले जाते हैं वे बुरे कहे गए हैं। कर्म वाणी, मन अथवा देह से सम्बन्ध रखते हैं और वे अच्छे व बुरे दो प्रकार के कहे गए हैं।[2] चरित्र-सम्बन्धी पापकर्म का सार पुण्यकर्म की अपेक्षा पापकर्म का जान-बूझकर चुनाव करने में है। उत्कृष्ट राग के प्रभाव में आकर हम पाप के दुःखदायी परिणामों को भूलकर सुख के आकर्षणों का शिकार बनते हैं।

सुकर्मों के अंगीकार करने से व्यक्ति इस योग्य हो जाता है कि वह शरीर तथा इन्द्रियों से आत्मा के पृथक्त्व को जान सके। सत्य ज्ञान, जिसपर इतना बल दिया गया है, केवल बौद्धिक सम्मति का ही विषय नहीं है, अपितु एक प्रकार की सामान्य मनोवृत्ति है। मिथ्याज्ञान तथा स्वार्थपरक मनोवृत्ति का परस्पर साहचर्य है।[3] इसी प्रकार सत्य (यथार्थ) ज्ञान तथा निःस्वार्थ-भाव परस्पर एक-दूसरे के अंग हैं। यह सत्यज्ञान पुस्तकों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि केवल ध्यान तथा धर्मभावना की वृद्धि से ही प्राप्त हो सकता है।[4] स्वाध्याय और चिन्तन[5] के साथ-साथ यौगिक क्रियाओं का भी आदेश दिया गया है।[6] उद्योतकर धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन, दार्शनिक विवेचन तथा ध्यान का आदेश देता है।[7] हमें कभी-कभी सांसारिक सुखों से बचे रहने, प्रत्येक लालसा को त्याग देने तथा वन में जाकर अपने आत्मरूपी यज्ञ की अग्नि में सब प्रकार के भौतिक कर्मों की आहुति दे डालने का आदेश दिया जाता है। शान्ति तथा सुख की प्राप्ति के लिए भक्तिरूप साधन की हमें अनुज्ञा दी गई है। यद्यपि परमेश्वर हस्तक्षेप नहीं करता, तो भी भक्ति का अपना ही पुरस्कार मनुष्य को प्राप्त होता अवश्य है।[8]

हिन्दू विचारधारा के अन्य दर्शनों के समान, न्यायदर्शन भी कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और ऐसा विश्वास प्रकट करता है कि हमें अपने कर्मों का फल अवश्य

1 न्यायसूत्र 4 : 1, 19 21।

2 1 : 1, 17। दान, रक्षा और सेवा शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले सुकर्म हैं, जबकि हत्या, चोरी और व्यभिचार दुष्कर्म हैं। सत्य बोलना, जो उपयोगी तथा सुखकारक भी हो, और धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन वाणी से सम्बन्ध रखनेवाले सुकर्म हैं जबकि झूठ बोलना, कठोर भाषा का प्रयोग, निन्दा, चुगली तथा निरर्थक वार्तालाप दुष्कर्म हैं। दया, उदारता और भक्ति मन से सम्बन्ध रखनेवाले सत्कर्म हैं, जबकि द्वेष, लालुपता तथा संशयात्मकता ये दुष्कर्म हैं।

3 न्यायवार्तिक, 4 : 2, 2।

4 न्यायभाष्य, 4 : 2, 38 और 41।

5 न्यायभाष्य, 4 : 2, 47।

6 न्यायभाष्य, 4 : 2, 46। नैयायिकों को योग नाम से भी जाना जाता है। "नैयायिकानां मागपराभिधानानाम्" (गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति)। और उससे तर्करहस्यदीपिका भी देखिए। वात्स्यायन ने 1 : 1, 29 में न्याय के मत का योग के प्रकरण में उल्लेख किया है।

7 न्यायवार्तिक 1 : 1, 2।

8 न्यायसार पृष्ठ 38, 40-41, तथा सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, 6 : 10 21। और 40 44।

मिलता है। कुछ कर्म तो हमारे ऐसे होते है कि जिनका फल तत्काल मिलता है, जैसे खाना पकाने का कर्म है, किन्तु अन्य प्रकार के ऐसे कर्म है जिनका फल मिलने मे विलम्ब होता है, जैसेकि खेत मे हल चलाना। पवित्र जीवन बिताना और कर्मकाण्ड-सम्बन्धी कर्म दूसरी कोटि मे आते है, क्योकि स्वर्गप्राप्ति मृत्यु से पूर्व हो ही नही सकती।[1] मध्यवर्ती काल मे कारण नष्ट नही होते, बल्कि धर्म और अधर्म के रूप मे विद्यमान रहते है। 'फल' मिलने से पूर्व भी किसी वस्तु का अस्तित्व (माध्यम के रूप मे) अवश्य रहता है, जैसे कि वृक्षो पर फल आने से पूर्व की अवस्था मे।[2] अदृष्ट अर्थात् न दिखाई देनेवाले गुण तथा अवगुण कर्म से भिन्न नही है, क्योकि यदि ऐसा होता तो "अन्तिम मोक्ष के पश्चात् भी देह की उत्पत्ति की सम्भावना रहती।"[3] जिन देहो को आत्माए धारण करती है उनका निर्धारण उनके पूर्वकर्मो के अनुसार होता है। देह मे आत्मा को नाम मिलता है, यद्यपि आत्मा न तो मनुष्य है और न घोडा है, तो भी उसे जैसी देह प्राप्त हुई है उस नाम से पुकारी जाती है।[4] न्याय और वैशेषिक दर्शन 'सूक्ष्मशरीर' मे विश्वास नही रखते। आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर मे मन की सहायता से प्रविष्ट होती है। मन परमाणु से बना है और इसीलिए अतीन्द्रिय है और इसी कारण मृत्यु के समय देह को छोडता हुआ दिखाई नही देता। क्योकि आत्माए सर्वव्यापक हैं, इसलिए पुनर्जन्मकाल मे फल भोगने के लिए प्राप्त नये घर (देह) मे मन का ही जाना सम्भव हो सकता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार, यथार्थसत्ता आत्माओ तथा प्रकृति का सम्मिश्रण है। प्राकृतिक विधान आत्माओ के द्वारा की गई सृष्टि नही है, बल्कि परमेश्वर द्वारा रची गई व्यवस्था है। परमेश्वर परमाणुओ से इस प्रकार की रचना करता है कि जिससे यह भौतिक सृष्टि जीवात्माओ के अनुभवो का माध्यम बन सके। जीवात्माओ तथा प्रकृति के बीच जो सामजस्य हम देखते है, वह दैवीय योजना के कारण है।

25. ब्रह्मविद्या

'न्यायसूत्र' मे हम देखते है कि परमेश्वर का उल्लेख केवल आनुषगिक रूप मे ही पाया जाता है, जिससे यह सन्देह युक्तियुक्त ही ठहरता है कि न्याय का प्राचीन सिद्धान्त ब्रह्मवादी नही था।[5] दैवीय कारणवाद की प्रकल्पना का उल्लेख न्यायसूत्र मे मिलता है।[6]

1 उद्योतकर लिखता है "उन अवस्थाओ मे जहा कर्म का परिणाम तत्काल प्राप्त नही होता उसका कारण उन विशेष परिस्थितियो से उत्पन्न हुई बाधा होती है जो फलीभूत होने अवशिष्ट कर्मो के कारण उपस्थित हो जाती है, अथवा ऐसी बाधा होती है जो उन अन्य प्राणियो के फलीभूत होने अवशिष्ट कर्मो के कारण उपस्थित हो जाती है जिनके अनुभव प्रस्तुत मनुष्य के समान है, अथवा इन कर्मो मे उन प्राणियो के कर्मो द्वारा उपस्थित की गई बाधा होती है जो प्रस्तुत मनुष्यो के कर्म मे भागीदार है, अथवा यह होता है कि धर्म तथा अधर्म जैसे सहायक कारण उस समय उपस्थित नही होते" (न्यायवार्तिक, 3 2, 60)।

2 न्यायभाष्य, 4 1, 47। देखिए, 4 1, 44-54।

3 न्यायभाष्य, 3 2, 68।

4 न्यायभाष्य, 3 1, 26।

5 "दोनो सम्प्रदायो के मूल ग्रथो, वैशेषिक तथा न्यायसूत्रो मे ईश्वर की सत्ता को प्रारम्भ मे स्वीकार नही किया गया था। पीछे कुछ समय बीतने पर दोनो दर्शन परिवर्तित होकर ईश्वरवादी बन गए, यद्यपि दोनो मे से कोई भी यहा तक नही पहुचा कि वह ईश्वर को प्रकृति का स्रष्टा मानने लगे।" (गार्बे फिलासफी आफ एशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ 23)। म्योर "यह नही कह सकता कि न्याय का प्राचीन सिद्धान्त ईश्वरवादी था या नही" (ओरिजिनल सस्कृत टैक्स्ट्स, खण्ड 3 पृष्ठ 133)।

6 4 1, 19-21।

वात्स्यायन, उद्योतकर तथा विश्वनाथ इसे न्याय का अपना मत स्वीकार करते हैं, किन्तु वाचस्पति, उदयन और वर्धमान की सम्मति में यह वेदान्त के इस मत की आलोचना मात्र है कि ब्रह्म विश्व का उपादान कारण है। इस आक्षेप के उत्तर में कि मनुष्य को प्रायः अपने कर्मों का पूरा फल नहीं मिलता और इसलिए सब कुछ ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है—मानवीय पुरुषार्थ पर नहीं, न्याय का कहना है कि मनुष्य के कर्म ब्रह्म के नियन्त्रण में तथा उसके सहयोग से फल उत्पन्न करते हैं। वात्स्यायन इस प्रकार की घोषणा करते हुए कि आत्मा सबको देखती है, अनुभव करती है तथा जानती है, ब्रह्मविद्या का समर्थन करता है। उक्त विवरण का यदि अपूर्ण जीवात्मा पर लागू किया जाए तो इसका सब आशय नष्ट हो जाता है।[1] परवर्ती नैय्यायिक और वैशेषिक भी स्पष्ट रूप से ब्रह्मवादी हैं और आत्मा-सम्बन्धी प्रकल्पना पर विचार करते समय ईश्वर के स्वरूप के विवेचन में भाग लेते हैं। अन्नभट्ट आत्माओं का वर्गीकरण करता है कि आत्माएं दो प्रकार की हैं, अर्थात् सर्वोपरि तथा मानवीय। सर्वोपरि आत्मा ईश्वर है, एक है तथा सर्वज्ञ है। मानवीय आत्माएं संख्या में अनन्त हैं, प्रत्येक देह में भिन्न हैं।[2] ईश्वर को एक विशिष्ट आत्मा माना गया है, जो सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता के गुण धारण किए हुए है, जिनसे वह समस्त विश्व का संचालन तथा नियमन करता है। क्योंकि मानवीय तथा दैवीय आत्माएं अनेक विषयों में परस्पर भिन्न हैं, इसलिए ऐसा विश्वास करना कठिन है कि न्याय तथा वैशेषिक के आदिप्रवर्तक गौतम और कणाद का अभिप्राय इन दोनों प्रकार की आत्माओं को एक ही वर्ग में रखने का रहा होगा। न्याय की लौकिक प्रवृत्ति तथा तार्किक रुचि के कारण ईश्वर की यथार्थसत्ता के विषय में उसकी क्रियात्मक उदासीनता हो सकती है।[3]

उदयनकृत कुसुमाञ्जलि नामक ग्रन्थ ईश्वर के अस्तित्व-सम्बन्धी न्याय के प्रमाणों का शास्त्रीय विवरण है। उक्त पुस्तक के पहले अध्याय में कुछ विचारणीय विषय दिए गए हैं, जो एक अदृष्ट कारण की यथार्थसत्ता को दर्शाते हैं, जो हमारे सुख और दुःख का निर्णायक है।[4] प्रत्येक कार्य कारण पर निर्भर करता है। इसलिए हमारे सुख-दुःख का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए।[5] प्रत्येक कारण अपने में पूर्ववर्ती कारण का कार्य है और वह भी अपने-आपमें अन्य किसी कारण का कार्य है। जिस प्रकार संसार अनादि

1 न्यायभाष्य, 4 1, 9, 4 1, 21।

2 तर्कसंग्रह, 17।

3 आथल लिखता है "हो सकता है कि कणाद और गौतम ने पहले जान-बूझकर अपने दर्शनों में ईश्वर का ग्रहण किया हो, इसलिए नहीं कि उसका सर्वथा अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि इसलिए कि वह इस लौकिक जगत् से दूर तथा ऊपर है, क्योंकि उक्त दोनों दर्शनों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय यह लौकिक जगत् ही था। सम्भवतः सूत्रकारों ने अपने को ऐहलौकिक (सांसारिक) वस्तुओं के वर्गीकरण तथा विवेचन की सीमा के ही अन्तर्गत रखा और पारलौकिक सत्ता की ओर ध्यान नहीं दिया। किन्तु भाष्यकारों ने इस त्रुटि पर विचार करके ईश्वर का अस्तित्व उनके भाष्यों के अन्तर्गत किया जहां ऐसा करना सम्भव था, और उक्त त्रुटि को पूरा किया" (तर्कसंग्रह, पृष्ठ 137)। 'न्याय तर्क के विषय में इतनी अधिक रुचि रखता है कि आध्यात्मिक विज्ञान में इसका उन्नत हाथ में लिए हुए काम से विचलित होना कहलाएगा। और यह हमें ऐसा मान लेने से वारण करता है कि किसी विषय में मौन साधन का तात्पर्य उस विषय का त्याग देना है" (कीथ : इण्डियन लॉजिक एण्ड ऐटोमिज़्म, पृष्ठ 265)।

4 सापेक्षत्वाद् अनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः॥ (1 4)

5 1 5।

है, उसी प्रकार यह कारण-कार्य की शृंखला भी अनादि है। इस प्रकार हमारे सुख-दुःख के आविष्कारण का पता नहीं लग सकता।[1] कार्यो की विविधता से कारणों की विविधता उपलक्षित होती है। हमारे भिन्नता रखनेवाले भाग्यों का कोई एक ही सामान्य कारण, ईश्वर या प्रकृति, नहीं हो सकता।[2] हमारे कर्म विलुप्त हो जाते हैं किन्तु अपने पीछे संस्कार छोड़ जाते हैं, जो फल उत्पन्न करने की योग्यता रखते हैं। "ऐसी वस्तु जिसे गुजरे हुए एक दीर्घ समय बीत गया हो, कोई परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकती, जब तक कि उसका निरन्तर रहने वाला कोई प्रभाव (कर्मातिशय) न हो।"[3] एक श्रेष्ठ कर्म के संस्कार को पुण्य तथा निकृष्ट कर्म के संस्कार को पाप कहते हैं। ये दोनों मिलकर अदृष्ट या गुणावगुण की सृष्टि करते हैं जो कर्म करने वाले मनुष्य की आत्मा के अन्दर अवस्थित होता है—उस वस्तु के अन्दर अवस्थित नहीं होता जिससे उसे सुख या दुःख मिलता है। यही अदृष्ट जब उपयुक्त समय, स्थान तथा पदार्थ मिल जाते हैं तो सुख और दुःख को जन्म देता है। अदृष्ट की यह अतीन्द्रिय कार्यशक्ति यह प्रदर्शित करती है कि पुण्य और पाप बराबर स्थिर रहते हैं। इन्द्रिययुक्त शरीरों का आत्माओं के साथ सम्पर्क प्राकृतिक कारणों से नहीं है। नैतिक कार्य-कारणभाव प्राकृतिक विधान से ऊपर है। भिन्न-भिन्न आत्माएं जो भिन्न भिन्न परिमाण में सुखानुभव करती हैं, यह सब उनके अपने-अपने अदृष्ट की भिन्नता के कारण होता है।

उदयन यहां तक प्राचीन नैय्यायिकों के मत में भक्ति रखता है। उनके समान, विश्व की रचना की व्याख्या के लिए वह भी अणुओं में एक आदिम क्रिया की तथा आत्माओं में अदृष्ट की कल्पना करता है। किन्तु जब वह यह युक्ति देता है कि अदृष्ट के समान एक बुद्धिहीन कारण किसी बुद्धियुक्त आत्मा के पथप्रदर्शन के बिना कोई कार्य नहीं उत्पन्न कर सकता, तो वह उनसे आगे बढ़ जाता है। ईश्वर को अदृष्ट के कार्य का निरीक्षण करने वाला कहा गया है।[4] परमाणुओं अथवा कर्म की शक्ति से जगत् की व्याख्या नहीं हो सकती। यदि परमाणुओं के अन्दर क्रियाशीलता प्राकृतिक है तो वह कभी रुकनी नहीं चाहिए। यदि काल की शक्ति से उनकी क्रियाओं का संचालन होता है तो कालरूपी इस अचेतन तत्त्व को या तो सर्वदा क्रियाशील या सर्वदा निष्क्रिय होना चाहिए। बछड़े के पोषण के लिए गाय में दूध का जो प्रवाह है उसकी उपमा से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यदि दूध अपने आपमें क्रियाशील होता तो मरी हुई गाय से भी प्रवाहित होना चाहिए था। परिणाम यह निकलता है कि यदि किसी अचेतन वस्तु में क्रिया दिखाई दे तो उसका कर्ता अवश्य कोई चेतन होना चाहिए। जीवात्मा अदृष्ट की नियामक नहीं हो सकती, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह अवाञ्छनीय दुःखों को दूर कर सकती, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस प्रकार बुद्धिविहीन तत्त्व अदृष्ट, जो प्राणियों के भाग्य का निर्णायक है, ईश्वर के निर्देशन में कार्य करता है। ईश्वर न तो अदृष्ट, को बनाता है और न इसका अनिवार्य कार्यपद्धति में कोई परिवर्तन करता है, बल्कि इसके कार्य करने को सम्भव कर देता है। इस प्रकार ईश्वर हमारे कर्मों का फलप्रदाता है।

1 1 6। इस प्रकार अदृष्ट के आदि का प्रश्न टाल दिया गया है। देखिए न्यायवार्तिक 4 1 21।

2 1 7।

3 1 9।

4 1 19।

उदयन ने अन्य युक्तियों का सार निम्नलिखित कारिका में दिया है। "कार्यों से, आयोजन से धारण आदि से, परम्परागत कलाओं से, प्रामाणिकता से, श्रुतियों तथा श्रुतिगत वाक्यों से और विशिष्ट सख्याओं से, एक नित्य-स्थायी तथा सर्वज्ञ सत्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है।"[1] कार्य-कारणभाव-सम्बन्धी विवेचना का सबसे प्रथम स्थान दिया गया है। जगत् को एक उत्पन्न वस्तु माना गया है, क्योंकि यह सघटक भागों से मिलकर बना है इसलिए इसका बनानेवाला अवश्य होना चाहिए। क्योंकि "समवर्ती कारणों की किसी शृखला के बिना जो स्वतन्त्र रूप से अपना यथोचित स्वरूप प्राप्त कर लेता है, वह कार्य नहीं है।" जगत् का रचयिता एक ऐसा बुद्धिमान है जो "सकल्प, कर्म करने की इच्छा एव उचित साधनों के ज्ञान का ऐसा समुच्चय रखता है जो अन्य सब कारणों को गति देता है, किन्तु वह स्वयं किसी के भी द्वारा गति में नही आता।" आयोजन से तात्पर्य उस कर्म से है जो सृष्टिरचना के आरम्भ में दो अणुओं को मिलाकर द्व्यणुक बनाता है। इस कर्म से एक बुद्धि-सम्पन्न कर्ता का अस्तित्व उपलक्षित होता है। धारण से तात्पर्य है कि यह अद्भुत विश्व उसीकी इच्छा से सभला हुआ है। उक्त कारिका में जो आदि शब्द है वह इस विषय का द्योतक है कि इस जगत् का सहार करनेवाला भी वही है। ईश्वर जगत् का निर्माणकर्ता है, सहारकर्ता तथा पुनर्निर्माणकर्ता भी है। परम्परागत कलाए इसका उपलक्षण हैं कि इनका कोई बुद्धिसम्पन्न आविष्कारक अवश्य होगा। वेदों की प्रामाणिकता इसलिए है कि जिसने उन्हें प्रामाणिकता दी है वह स्वय प्रामाणिक है। उदयन का मत है कि वेद, जगत् की अन्य सब वस्तुओं की भाति, जो उत्पत्ति और विनाश के अधीन हैं, अनित्य हैं। इसपर भी यदि वेद सत्यज्ञान के उद्भव-स्थान हैं तो इसीलिए है कि उनका रचयिता ईश्वर है।[2] इसके अतिरिक्त, श्रुतिया (धर्मशास्त्र) ईश्वर को जगत् का कर्ता बतलाती हैं। फिर, वेदों के अन्दर वाक्य हैं और वाक्यों की रचना करनेवाला भी कोई होना चाहिए, जो केवल परमेश्वर ही हो सकता है। सख्यापरक युक्ति का आधार यह विचार है कि द्व्यणुक की महत्ता परमाणुओं की अनन्त सूक्ष्मता (पारिमाण्डल्य) से नहीं, बल्कि परमाणुओं की विशेष सख्या (अर्थात् दो) से उत्पन्न की गई है। जैसाकि हम देखेंगे, यह द्वित्व का विचार बुद्धि की अपेक्षा रखता है, अर्थात् बिना बुद्धिसम्पन्न कर्ता के नही हो सकता। इसलिए इस द्वित्व की व्याख्या के लिए, जो सृष्टि के प्रारम्भ में द्व्यणुकों को उत्पन्न करता है, एक बुद्धिसम्पन्न कर्ता की कल्पना करनी ही होती है। प्रत्यक्ष दिखाई न देने के कारण ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो आपत्ति की जाती है, उसका प्रत्याख्यान उदयन इस प्रकार करता है। किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव तब सिद्ध होता है जबकि वह पदार्थ ऐसा हो जो साधारणत. प्रत्यक्ष होता हो। इन्द्रियों की क्षेत्र-सीमा से परे जो वस्तुए हैं उन्हें असत् नहीं कहा जा जाता। अधिक से अधिक जो कहा जा सकता है वह यह है कि ईश्वर के अस्तित्व को

1 कार्यायोजनधृत्यादे, पदात् प्रत्ययत श्रुते ।
वाक्यात् सख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय ॥ (5 1)

2 2 - 1 ।

सिद्धि प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकती ।[1] अनुमान प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को न तो सिद्ध करता है न असिद्ध ही ठहराता है ।[2] उपमान प्रमाण को पदार्थों के अस्तित्व अथवा अभाव से कुछ प्रयोजन ही नहीं है ।[3] शब्द प्रमाण ईश्वरास्तित्व के पक्ष में है ।[4] अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ज्ञान के स्वतन्त्र साधन नहीं हैं ।[5]

नैय्यायिक का ईश्वर शरीरधारी है, जो सत्, चित् (ज्ञान) और आनन्द से पूर्ण है। उसमें अधर्म, मिथ्याज्ञान तथा प्रमाद का अभाव है, और वह धर्मज्ञान समाधि में युक्त है। अपनी सृष्टि-रचना में वह सर्वशक्तिमान् है, यद्यपि अपनी सृष्टि के प्राणियों के कर्मों के परिणामों से प्रभावित होता है। वह स्वय तो आप्त कर्मफल है, अर्थात् अपने कर्मों के तमाम फल प्राप्त कर चुका है, और अपने रचे हुए प्राणियों के लिए कर्म करना जारी रखता है। जिस प्रकार एक पिता अपने बच्चों के लिए कर्म करता है, उसी प्रकार परमेश्वर भी प्राणियों के लिए कर्म करता है।[6] परमेश्वर सर्वज्ञ है, क्योंकि वह सत्यज्ञान रखता है जो यथार्थसत्ता का स्वतन्त्र बोध है। वह नित्य प्रज्ञावान् है और क्योंकि उसके बोध नित्यस्थायी हैं, इसलिए स्मृति अथवा अनुमान-सम्बन्धी ज्ञान की उसे आवश्यकता ही नहीं है। साधारण मनुष्यों में जो एक प्रकार का अन्तर्विरामी अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान है, योगियों में जो प्राप्त की हुई शक्ति (सिद्धि) है, ईश्वर में वही एक समान रहने वाली बोध की प्रक्रिया है।[7] ईश्वर इच्छाशक्ति से भी युक्त है।[8] ईश्वर विशुद्ध, अबाधित प्रतिभा तथा परमानन्द का भण्डार है।

सृष्टि-रचना की कठिनाइयों की उपेक्षा नहीं की गई है। सम्पूर्ण क्रिया को दु:ख के अन्तर्गत माना गया है और कहा गया है कि वह दोषों के कारण है।[9] प्रश्न उठाया गया है कि क्या ईश्वर अपनी किसी इच्छा की पूर्ति के लिए जगत् की सृष्टि करता है, अथवा दूसरों के लिए करता है। परन्तु ईश्वर की समस्त इच्छाएं पहले से ही पूर्ण हैं, इसलिए सृष्टि-रचना ईश्वर की किसी भी इच्छा की पूर्ति का साधन नहीं हो सकती। जो दूसरों की भलाई के लिए चिन्तित रहता है, केवल बराबर व्यस्त रहता है। और न ही हम ईश्वर की उक्त क्रिया का कारण मनुष्यमात्र के प्रति उसके प्रेम को ही मान सकते हैं। जगत् का दु:खस्वरूप होना ही उक्त कल्पना का प्रत्याख्यान करता है। नैय्यायिक उक्त आलोचना का उत्तर इस प्रकार देता है "ईश्वर का सृष्टि-रचनारूप कर्म वस्तुतः केवल अनुकम्पावश है। परन्तु ऐसी सृष्टि-रचना का विचार जिसमें केवल सुख ही हो, वस्तुओं की प्रकृति से मेल नहीं खाता, क्योंकि जिन प्राणियों की सृष्टि की जाएगी, उनके

1 3 1।
2 3 4-7।
3 3 8-12।
4 3 13-17।
5 3 18-23।
6 न्यायभाष्य, 4 . 1, 21।
7 उद्द्योतकर एक रोचक प्रश्न उठाता है कि क्या ईश्वर की सर्वज्ञता के अन्दर सीमित शक्ति वाले प्राणियों के भ्रमात्मक बोधों तथा उनके विषयों (पदार्थों) का ज्ञान भी समाविष्ट है, और परिणाम-स्वरूप क्या ईश्वर पदार्थों को उस रूप में भी प्रत्यक्ष करता है जैसेकि वे नहीं हैं। इसके उत्तर में वह कहता है कि मानवीय प्राणियों का ईश्वर को जो ज्ञान है वह भ्रमात्मक नहीं है।
8 नव्यन्याय, 4 1, 21।
9 1 1, 18।

अच्छे या बुरे कर्मों के विभिन्न परिणामों से तदनुरूपस्था विभिन्नता होनी आवश्यक है। और तुम्हें इस प्रकार की आपत्ति करने की भी आवश्यकता नहीं कि यह ईश्वर की अपनी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप होगा (क्योंकि इस प्रकार वह दूसरों के कर्मों पर निर्भर प्रतीत होगा)। क्योंकि यह नीति का वचन है कि 'अपना शरीर स्वयं अपने को बाधक नहीं होता, बल्कि अपनी लक्ष्यप्राप्ति में सहायक होता है।'[1] उद्योतकर स्वीकार करता है कि ईश्वर की क्रिया अन्य कारणों से मर्यादित हो जाती है, परन्तु ये कारण केवल स्वतः आरोपित मर्यादाएं हैं।[2] ईश्वर की दृष्टि में जो लक्ष्य है वह प्राणियों का सुख नहीं अपितु उनका आध्यात्मिक विकास है। जगत् दुःखों द्वारा श्रेयस् की तथा त्याग द्वारा पूर्णता की प्राप्ति के लिए, जो हमारे आध्यात्मिक लक्ष्य हैं, एक प्रकार का क्षेत्र है।

नैयायिक शैव हैं, जबकि वैशेषिकों को पाशुपत कहा गया है।[3] जिनदत्त अपने 'विवेकविलास' (तेरहवीं शताब्दी के मध्य में रचित) ग्रन्थ में कहता है कि शिव न्याय-वैशेषिक का देवता है। उद्योतकर एक पाशुपत था। भासर्वज्ञ ने ध्यान-समाधि का फल महेश्वर का साक्षात्कार बतलाया है।[4] उदयन सर्वोपरिसत्ता को शिव मानता है।[5]

न्याय का ईश्वरवाद विषयक सिद्धान्त हिन्दू विचारधारा के इतिहास में बहुत विवाद का विषय रहा है। आलोचक का कहना है कि जब प्राकृतिक समाधान असफल होता है तो नैयायिक 'अदृष्ट' का आश्रय लेता है। सृष्टि के आरम्भ में परमाणुओं में हलचल का होना, आग की गति का ऊपर की ओर होना, यहां तक कि सुई का चुम्बक की ओर आकृष्ट होना भी अदृष्ट के कारण माना गया है। अदृष्ट केवल व्याख्या की सीमामात्र है।[6] एक बुद्धिसम्पन्न नियामक की आवश्यकता की कल्पना की गई है जो ईश्वर है, क्योंकि जिस क्रम से घटनाएं सम्पन्न होती हैं उस अद्भुत नियमितता की व्याख्या सिवाय ईश्वर के अन्य किसी प्रकार से की ही नहीं जा सकती। क्योंकि ईश्वर में ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न हैं। प्रलयकाल में आत्माओं की क्रियाशक्ति नष्ट हो जाती है तथा सृष्टिरचना के समय उन्हें यह फिर प्राप्त हो जाती है, इस सबकी व्याख्या बिना दैवी संचालन के सम्भव नहीं है। उदयन तथा श्रीधर ने कार्य-कारणभाव से अत्यधिक लाभ उठाया है।[7]

1 सर्वदर्शनसंग्रह, 11।

2 न्यायवार्तिक, 4 : 1 : 21।

3 देखिए गुणरत्नकृत 'षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति,' पृष्ठ 49-51। और देखिए हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' —

> अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः।
> विभुर्नित्य एकः सर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः॥ (13)

राजशेखरकृत षड्दर्शनसमुच्चय, जो कुछ समय पूर्व बना, इस मत का समर्थन करता है। देखिए कीथ 'इण्डियन लॉजिक एण्ड एटॉमिज़्म,' पृष्ठ 262-63।

4 न्यायसार, पृष्ठ 39।

5 कुसुमाञ्जलि, 2 : 4।

6 जयन्त अपने न्यायमंजरी नामक ग्रन्थ में चार्वाक सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहता है कि जब हम किसी वस्तु के कारण को नहीं जानते तो उसे स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक कह सकते हैं।

7 न्यायकन्दली, पृष्ठ 54-57।

यह धारणा करके कि यह जगत् एक कार्य है, नैय्यायिक ने जो सिद्ध करना है उसे पहले से स्वतः सिद्ध मान लिया है। पौधे तथा पशु-पक्षी स्वात्मनिर्भर नहीं है। वे उत्पन्न होते हैं, बढते है तथा मृत्यु को प्राप्त होते है। व्यक्तिरूप वस्तुएं उत्पन्न पदार्थ हैं ऐसा कहने का अर्थ यह नही ह कि यह जगत् एक पूर्ण इकाई के रूप मे उत्पन्न पदार्थ है। नैय्यायिक अनेको नित्यसत्ताओ के अस्तित्व को स्वीकार करना है जो उत्पन्न पदार्थ नहीं है।[1] तो क्या यह जगत सम्पूर्ण रूप में भी नित्य नहीं हो सकता ? फिर क्या समस्त कार्यो के निमित्त कारण भी रहने आवश्यक है ? जैसाकि हम पहले देख चुके है, कार्य-कारण का विधान, जिस रूप मे नैय्यायिक इसकी व्याख्या करता हे, सार्वभौम प्रामाणिकता नही रखता। इसकी सार्थकता इसके अतिरिक्त और कुछ नही है कि यह एक समान और साहचर्य-सम्बन्धी परिवर्तन को दर्शाता है। क्योंकि इसकी साक्षी इन्द्रियगोचर जगत् से ली गई है, इसलिए इसके क्षेत्र को उससे परे बढाना भूल है। सृष्टि के कारण का ज्ञान मानवीय मस्तिष्क से बाहर का विषय है। अनन्त कारणों की अनन्त प्रतीप गति असम्भव है, इसीलिए नैय्यायिक को एक ऐसे कारण के अस्तित्व पर बल देना पडा जो कार्य-कारण शृंखला से बाहर है जिसका कोई अन्य कारण नही है। शंकराचार्य कार्य-कारणभाव की युक्ति का विरोध करते हुए हमे परामर्श देते हे कि हम साहसपूर्वक यह स्वीकार करें कि यह विश्व हमें विद्यमान प्रतीत होता है, इसके अतिरिक्त हम और कुछ नही जानते। इसका अस्तित्व अपने-आपसे है, अथवा यह किसी सुदूर कारण का कार्य है इसे हम नही समझ सकते। यदि हम किसी सुदूर कारण को स्वीकार करते है तो हम उसके भी सुदूर कारण की माँग क्यो न करें, और इस प्रकार अनिश्चित काल तक माग करते करते दिमाग ही खराब हो जाएगा। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो उसे किसने बनाया ? मारय के अनुसार, यह मान लेना कि विश्व के कर्ता ने अपने को अपने-आप बनाया। अध्यात्मविद्या की दृष्टि से यह प्रश्न कम नही हो सकता और समाधान समस्या से भी बुरा है। नैय्यायिक के सगुणवाद से तो और भी कठिनाइयां उपस्थित होती है। प्रश्न उठता है कि सृष्टि का कर्ता शरीरी है या नही ? यदि वह शरीरी है तो उसे अदृष्ट के अधीन मानना पड़ेगा, क्योंकि सब शरीरो की रचना अदृष्ट के ही आधार पर होती हे। सब शरीरधारी निमित होते है, और वे सूक्ष्म परमाणुओ तथा पाप-पुण्य पर नियन्त्रण नही कर सकते। हम नहीं जानते कि नित्यशरीर क्या वस्तु है। इस विषय मे नैय्यायिको का मत स्पष्ट नही है। वे कभी कहते है कि परमेश्वर बिना किसी शरीररूपी साधन के सृष्टि की रचना करता है, और साथ-साथ यह भी कहते है कि हमारे अदृष्ट के कारण परमेश्वर को भी शरीर प्राप्त हो जाता है। कभी परमाणुओं को ही परमेश्वर का शरीर मान लिया जाता है, एवं अन्य अवसरों पर आकाश को शरीर की कोटि मे लाया जाता है। यदि ईश्वर किसी अचिन्त्य विधि से, शरीर के बिना, परमाणओं द्वारा सृष्टि की रचना करने मे समर्थ है, तो हम ऐसा भी कह सकते है कि वह बिना किसी पूर्व-अवस्थित सामग्री के सृष्टि की रचना कर सकता है।

ईश्वर की सिद्धि के लिए उपयुक्त की जानेवाली युक्तियो की प्रामाणिकता को हम यदि मान भी ले तो भी न्यायदर्शन का ईश्वर एक ऐसी पूर्ण आध्यात्मिक यथार्थसत्ता नहीं ठहरता कि जिसकी हम अपूर्ण अभिव्यक्तियां हैं। वह हमसे और जगत से भी बाह्य है, भले ही हम उसे सृष्टि का कारण, शासक तथा सहारकर्ता कह लें। यथार्थसत्ता असख्य

1 'नित्य वस्तु की कोई उत्पत्ति नही होती, और न ही नित्य वस्तु का कोई कारण होता है। (न्यायवार्तिक 4 1, 32)।

असह्यापी अवयवों से बनी है जो एक बाह्य बन्धन द्वारा शृंखलाबद्ध है, जैसेकि एक रस्से में अनेकों लकड़ियां बंधी रहती हैं। ईश्वर परमाणुओं का रचयिता नहीं, अपितु केवल उन्हें क्रमबद्ध करनेवाला है। उसकी बुद्धिमत्ता विश्व के तत्त्वों पर बाहर से कार्य करती है, आन्तरिक ओजस्वी शक्ति के रूप में कार्य नहीं करती। ईश्वर के विषय में इस प्रकार का विचार कि वह जगत् से परे, देश के समस्त विस्तार से बाहर, एक शाश्वत आत्म-केन्द्रित एकान्त में, बिलकुल अलग रहता है, सर्वथा शुष्क और थोथा विचार है। हम इस प्रकार के द्वैतवाद को, जिसके अनुसार एक ओर एक अनन्त स्रष्टा तथा दूसरी ओर एक अनन्त विश्व हो, प्रमाणित नहीं कर सकते। ये दोनों ही एक-दूसरे को मर्यादित कर देंगे। जिन वस्तुओं की परिभाषा एक-दूसरे के प्रति की जाए, वे अवश्य सान्त होनी चाहिए। जीवात्माएं कभी न कभी सायुज्य प्राप्त करती ही हैं। सबकी मुक्ति से संसार लुप्त हो जाएगा, ईश्वर का आधिपत्य भी समाप्त हो जाएगा। जिसका अन्त है उसका आदि भी है। दोनों ही शून्य से प्रादुर्भूत हुए होंगे और इसलिए शून्य में ही लुप्त भी हो जाएंगे। यह सत्य है कि सृष्टि-रचना का कारण ईश्वर का प्रेम बतलाया गया है, किन्तु इस कल्पना के आधार पर सृष्टि का तात्पर्य क्या है? यदि परमाणु तथा आत्माएं दोनों ही नित्य हैं, और उक्त दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया का ही परिणाम सृष्टि है, तो फिर सृष्टि-रचना में ईश्वर का स्थान कहां है? इसलिए या तो नैयायिक को ईश्वर को स्रष्टा मानने का विचार त्याग देना चाहिए अथवा यह स्वीकार करना चाहिए कि परमाणु तथा आत्माएं ईश्वररूपी नित्य और शाश्वत कारणता की अभिव्यक्तियां हैं, यद्यपि इस कारणता को शाब्दिक अर्थों में नहीं लिया जाना चाहिए। यह न्याय के इस सुझाव से उपलक्षित होता प्रतीत होता है कि पदार्थों का स्वरूप ही ईश्वर की देह है। यह एक ऐसा दृष्टान्त है जिसका उपयोग रामानुज के भाष्य में बहुत सावधानी के साथ और उच्च प्रयोजन को लेकर किया गया है। ईश्वर के अवस्थवाविन्न का कुछ ऐसा ही विचार उसकी सर्वज्ञता के कारण बलात् हमारे ऊपर आरोपित किया गया है। न्याय के अनुसार, सान्त प्राणी केवल विचार को जानते हैं, और इस प्रकार तथ्य को भी कि यथार्थ वस्तु विचार नहीं है। विचार और यथार्थता में परस्पर-सम्बन्ध क्या है, और कैसे है, इसे केवल एक अनन्त-मस्तिष्क ही, जिसकी कल्पना सान्त मस्तिष्कों से ही अनुरूप की गई हो, जान सकता है। आत्माएं तथा परमाणु ईश्वर के साथ-साथ समानरूप में नित्य हैं, जो केवल समानों में प्रथम हैं। प्रारम्भ में तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि न्याय ईश्वर के प्रति भक्ति पर आग्रह करके मनुष्य-जाति के धार्मिक जीवन में सहायता करता है। किन्तु न्याय निश्चय ही ईश्वर के साथ तादात्म्य के आदर्श को नहीं निभा सकता, क्योंकि उसकी प्रकल्पना के स्वरूप में ही ईश्वर मनुष्य तथा विश्व से बाह्य है। वेदान्त अपने समस्त रूपों में तथा योगदर्शन भी उपासना का समर्थन करते हैं, किन्तु यह इस विचार को लेकर है कि व्यक्ति ईश्वरीय पद प्राप्त कर ले। न्याय यदि मनुष्य-जाति की उच्चतम धार्मिक प्रेरणाओं को सन्तुष्ट करना चाहता है, तो उसे अपने ईश्वर-विषयक भाव पर पुनः विचार करना होगा।

26 उपसंहार

हिन्दू विचारधारा के प्रति न्यायदर्शन की सबसे बड़ी देन इसकी समीक्षात्मक तथा वैज्ञानिक अन्वेषण की तर्कशैली है। इसकी पद्धति को अन्य दर्शनों ने भी ग्रहण किया है,

यद्यपि अपने आध्यात्मिक विचारों के कारण कुछ परिवर्तनों के साथ ग्रहण किया है। इसने ज्ञान-जगत् के मानचित्र को उसके अनिवार्य रूपों में तैयार करके, उसके मुख्य-मुख्य विभागों को जो संज्ञाएं प्रदान कीं, हिन्दू विचारधारा में उनका आज भी उसी रूप में प्रयोग हो रहा है। यह इस बात का विशद प्रमाण है कि न्यायशास्त्र ने विचारधारा के क्षेत्र में कितनी दूर तक उन्नति की थी। न्यायशास्त्र में प्रतिपादित हेत्वाभासों की सूची ने हिन्दू विचारकों को शताब्दियों तक ऐसे साधन दिए हैं जिनके द्वारा सत्य तथा मिथ्या अनुमान के मध्य शीघ्र तथा निश्चित भेद किया जाता रहा है, और भ्रांतिमूलक निष्कर्षों को उचित संज्ञा देकर उनकी दोषपूर्णता की ओर संकेत किया जाता रहा है। संस्कृत के दर्शनग्रन्थों में हमें प्रायः इस प्रकार की चुप करा देनेवाली आलोचना मिलती है कि "यह एक चक्रक है", अर्थात् ऐसी युक्ति है जो चक्र की तरह घूमकर वहीं आ जाती है, "यह साध्यसम है", अर्थात् बिना तर्क के किसी बात को स्वीकार कर लेना है, "यह अन्योन्याश्रय अर्थात् एक-दूसरे पर निर्भर है", "यह अनवस्था की ओर ले जाता है, अर्थात् जिसका कहीं अन्त नहीं हो सकता।" न्याय के हेत्वाभास-सम्बन्धी सिद्धान्त ने भारतीय विचारकों के हाथ में इस प्रकार का एक तत्काल-गणक दे दिया है जो, बोर्नी नामक विद्वान् के भावपूर्ण शब्दों में, हाथ धोने के लिए "बार-बार समुद्र के पास जाने से हमें बचा देता है।"

न्यायदर्शन की शक्तिमत्ता तथा निर्बलता भी उसके इस विश्वास में है कि सहज बुद्धि तथा अनुभव की पद्धति का प्रयोग धर्म और दर्शन की समस्याओं पर भी हो सकता है। एक अनेकत्ववादी विश्व, जो आत्मा तथा भौतिक प्रकृति के मौलिक द्वैतभाव पर आश्रित है, एक प्रक्रिया तथा पद्धति के रूप में काफी युक्तियुक्त है, किन्तु इसे एक सामान्य दर्शन का रूप नहीं दिया जा सकता। एक साधारण व्यक्ति को बाह्य दृश्यमान जगत् की यथार्थता स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती। वह आत्मवादी भी है, यद्यपि उसका यह आत्मवाद जितना अन्तःप्रेरणा के आधार पर है उतना तर्कवत्ता के आधार पर नहीं है, और इसलिए वह अपनी तथा अन्य आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। वह यथार्थसत्ता की भिन्न-भिन्न श्रेणियों को नहीं मानता, क्योंकि इस प्रकार का विचार उसके द्वैतपरक यथार्थवाद के दृढ़ विश्वास के विरोध में जाता है। किन्तु तर्क के हित में वह इन्द्रियों की पहुंच के बाहर प्रमेय पदार्थों की श्रेणियों के विचार का स्वागत करता है। ब्रह्मविद्या में वह विश्व के कारण का प्रश्न उठाता है। विश्व का निर्माण किस प्रकार से होता है? वह कहता है कि यह जैसा अब है, जब से यह बनना प्रारम्भ हुआ, सदा वैसा ही रहा। यद्यपि, द्वैतवादी होने के कारण, वह जड़ और चेतन के मध्य किसी सक्रान्ति को स्वीकार करने से दूर रहने का प्रयत्न करता है, पर उसकी अनुभवात्मक बुद्धि उसे विश्व की स्थिरता के मत को स्वीकार करने की अनुज्ञा नहीं देती। इस कठिनाई में वह अपने अनुभव की ओर झुकता है, जहां वह पाता है कि वह अपने से भिन्न नाना पदार्थों का, यथा टेबल, कुरसी आदि का निर्माण करता है। जिस प्रकार हम अपनी बनाई वस्तुओं से सर्वथा भिन्न प्रकृति के हैं, इसी प्रकार इस सृष्टिरूप वस्तु को बनानेवाला इससे सर्वथा भिन्न प्रकृति वाला हो सकता है। जिस प्रकार हम विद्यमान सामग्री के द्वारा नये सिरे से निर्माणकार्य में संलग्न होते हैं, ईश्वर भी ठीक उसी प्रकार आत्माओं तथा परमाणुओं रूपी उपलब्ध तत्त्वों से, जो दोनों ही साहचर्यभाव से उसके समान नित्य हैं, सृष्टि की रचना करता है। इस प्रकार न्याय सहज बुद्धि के अनुभवों के प्रति ईमानदार रहने का प्रयत्न करता है और अनेकत्ववादी यथार्थवाद के आध्यात्मिक ज्ञान का निर्माण करता है।

उक्त व्याख्या द्वारा हमने इस विषय का निर्देश किया है कि न्याय का मत जहाँ विचारधारा के विकास में निःसन्देह एक स्वाभाविक तथा आवश्यक पड़ाव है, वहाँ इसे अन्तिम लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। यथार्थसत्ता की यान्त्रिक व्याख्या, जो इसे पीछे की ओर इसके तत्त्वों पर ले जाती है, विकास के तथ्य को बीच में से निकाल देती है। इस दर्शन की सत्याभासता इस कारण से है कि यह केवल विषयिविज्ञानवाद का आग्रहपूर्वक विरोध करता है तथा मनुष्य-जाति की आदिम भावनाओं को सन्तुष्ट कर देता है। हिन्दू विचारधारा का कोई भी दर्शन, यहाँ तक कि शंकराचार्य का दर्शन भी सृष्टि के केवल मानसिक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। किन्तु आध्यात्मिक आदर्शवाद तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थतावाद में परस्पर कोई विरोध नहीं है।[1] वस्तुओं की क्रियात्मक यथार्थता को, जो सीमित मनों से स्वतन्त्र है, विषयाश्रित (पदार्थनिष्ठ) आदर्शवाद की समस्त दार्शनिक पद्धतियों ने स्वीकार किया है। विचार के स्वरूप तथा अवस्थाओं का आध्यात्मिक अन्वेषण हमें इस बात के लिए बाध्य करता है कि हम आत्मा को अन्य पदार्थों की कोटि का एक पदार्थ न समझें। यह एक इस प्रकार के आदर्शवाद को जन्म देगा जो सहज बुद्धि के मत को उतना उलटेगा नहीं जितना कि उसके पार जाएगा। आध्यात्मिक आदर्शवाद भी हमें सहज बुद्धि तथा मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से यह स्वीकार करने की अनुमति प्रदान करता है कि विचार तथा वास्तविकता में भेद है। हमारे अनुभव में अविच्छिन्नता तथा सामञ्जस्य का तात्पर्य है कि अननुभूत वस्तुओं की भी यथार्थसत्ता है। सांख्य और वेदान्त ने तर्क की दिशा में अनुभव के गहनतर विश्लेषण का भार अपने ऊपर लिया। रामानुज के भाष्य में हमें न्याय के ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी विचारों का अधिक व्यवस्थित समन्वय मिलता है।

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

आथले : तर्कसंग्रह आफ अन्नंभट्ट—आंग्ल भाषानुवाद
कावेल : उदयनकृत कुसुमांजलि—आंग्ल भाषानुवाद
कावेल एण्ड गफ : सर्वदर्शनसंग्रह 11
गंगानाथ झा : न्यायसूत्राज विद वात्स्यायन्स भाष्य एण्ड उद्योतकर्स वार्तिक—आंग्लभाषानुवाद
कीथ : इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज़्म
सील : दि पॉज़िटिव साइंसेज आफ दि ऐंशियेण्ट हिन्दूज़
विद्याभूषण : हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक

1. तुलना कीजिए, वीर : 'यह सर्वथा एक स्थिर, सुसंगत स्थिति है कि पदार्थ को चेतना की एक अवस्था न मानना और तब भी यह स्वीकार करना कि केवल एक विचारशील चेतना के लिए ही इसका कुछ यथार्थता है' (वही, खण्ड 1, पृष्ठ 423)।

तीसरा अध्याय

वैशेषिक का परमाणु-विषयक अनेकवाद

वैशेषिक दर्शन—निर्माणकाल तथा साहित्य—ज्ञान का सिद्धान्त—पदार्थ—द्रव्य—परमाणुवाद की प्रकल्पना—गुण—कर्म अथवा क्रिया—सामान्य—विशेष—समवाय—अभाव—नीतिशास्त्र—ईश्वर—वैशेषिकदर्शन का सामान्य मूल्यांकन

1. वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन को यह नाम 'विशेष' शब्द के कारण दिया गया है। उक्त दर्शन अपने इस मत पर बल देता है कि इस विश्व में पृथक्-पृथक् पदार्थो, विशेषकर उन पृथक्-पृथक् जीवात्माओं और परमाणुओं में ही, जो प्रत्यक्ष के विषय नहीं है, यथार्थ विशिष्टत्व अथवा पृथक्त्व दिखाई देता है। यद्यपि पृथक्-पृथक् जीवात्माएं सार्वभौम एवं सामाजिक सम्बन्धों से युक्त हैं जिनके द्वारा ही वे अपने-आपको पहचान सकती है तो भी वे इन सब सम्बन्धों के अतिरिक्त अपना विशेषत्व रखती है। यथार्थ रूप में वैशेषिक दर्शन पार्थक्य का प्रतिपादन करनेवाला दर्शन है, क्योंकि यह ऐसे किसी भी प्रयत्न को सहन करने के लिए तैयार नहीं है जो जीवात्माओं तथा पदार्थो के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को मिटाकर किसी काल्पनिक अधिक पूर्ण व्यक्तित्व की स्थापना के लिए किया गया हो। इसका दृष्टिकोण कल्पनापरक होने की अपेक्षा वैज्ञानिक है, संश्लेषणपरक न होकर विश्लेषणात्मक है, यद्यपि यह विश्व के, एक पूर्ण इकाई के रूप में सामान्य स्वरूप से सम्बद्ध प्रश्नों को भी सर्वथा भुला नहीं सका है। विज्ञान का कार्य पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना है, जबकि दर्शन का कार्य समन्वय करना है। वैशेषिक को एक ऐसे सर्वान्तिग्राही समन्वय की रचना में कोई रुचि नहीं है जिसमें कि सब वस्तुओं के लिए स्थान हो, अर्थात् जो समस्त इन्द्रिय-जगत् तथा विचारजगत् की विविधता को एक ही व्यापक सूत्र में बांध सके। विज्ञान की भावना को लेकर यह दृश्य वस्तुओं के अत्यन्त सामान्य लक्षणों को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न करता है। यह अनुभव के विभिन्न पक्षों को उनकी संज्ञा देने तथा समुचित वर्गो में रखने का कार्य करता है। परिणामस्वरूप यह दर्शन पृथक्-पृथक् स्वरूप तो बतलाता है, किन्तु किसी यथोचित तथा व्यापक सिद्धान्त की स्थापना नहीं करता।

वैशेषिक दर्शन की प्रेरणा बौद्धदर्शन के प्रतीतिवाद के विरोध से प्रादुर्भूत हुई। जहां यह एक ओर ज्ञान के साधनों, प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में बौद्धदर्शन के मत से सहमत है, वहां दूसरी ओर इसका यह भी तर्क है कि जीवात्माएं तथा द्रव्य अपने आपमें सारवान् तथा यथार्थ तथ्य है और इनके अस्तित्व का खण्डन इन्हें पर्दे के पीछे खेली जा रही एक परी-कथा के काल्पनिक चित्र मानकर नहीं किया जा सकता। इसको ईश्वरज्ञान-सम्बन्धी समस्याओं से कोई प्रयोजन नहीं। शंकराचार्य तो अपनी समीक्षा में यहां तक कहते है कि वैशेषिक की प्रवृत्ति मुख्यतः अनीश्वरवादिता की ओर है।[1]

1 शंकराचार्य वैशेषिक के अनुयायियों को अर्धवैनाशिक अथवा अर्धशून्यवादी मानते है (शांकरभाष्य, 2 2, 18)।

चाहे जो भी हो, वैशेषिक अपने प्रारम्भिक रूप में एक अत्यधिक मानसिक लोच के युग में प्रस्तुत किया गया, जबकि संशयवाद के अंकुर विचारधारा के अन्दर पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे।

यह दर्शन यद्यपि मुख्य रूप से भौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञान का दर्शन है, तो भी तर्कसम्बन्धी विवादों का इसके परवर्ती ग्रन्थों में कुशल गठबन्धन पाया जाता है। वैशेषिक और न्याय अपने तात्त्विक सिद्धान्तों, यथा आत्मा के स्वरूप और गुणों तथा विश्व की परमाणुपरक प्रकल्पना के विषय में एकमत हैं। परन्तु क्योंकि रूप तथा पदार्थों के विशिष्टत्व के निरूपण में एवं परमाणुवाद की प्रकल्पना के परिष्कार में वैशेषिक दर्शन अपना विशेष महत्त्व रखता है।

2. निर्माणकाल तथा साहित्य

"वैशेषिक दर्शन का निर्माण न्यायदर्शन से बहुत पूर्व हुआ प्रतीत होता है।"[1] गार्बे महोदय की उक्त सम्मति युक्तियुक्त प्रतीत होती है। मानवीय ज्ञान में विशेष, सामान्य से पहले आता है। ज्ञान की प्रकल्पना, जैसी कि हमें न्यायशास्त्र में मिलती है, तब तक सम्भव नहीं हो सकती है जब तक कि ज्ञान स्वतन्त्र रूप से उन्नति नहीं कर लेता। तर्कशास्त्र आलोचक तथा सुधारक के रूप में प्रकट होता है। कणाद के सूत्र तथा प्रशस्तपादकृत 'पदार्थधर्मसंग्रह' पर न्यायशास्त्र का कोई प्रभाव नहीं है, जबकि गौतम के सूत्र तथा वात्स्यायन के भाष्य वैशेषिक मत से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुए हैं।

यह भी बलपूर्वक कहा जाता है कि वैशेषिक दर्शन की रचना बौद्ध तथा जैन दर्शनों से पूर्व हुई। बौद्धों के 'निर्वाण' की प्रकल्पना का आदि उद्भव वैशेषिक की 'असत्कार्यवाद' की प्रकल्पना से हुआ माना जाता है। जैनों के 'आस्तिकाय' तथा उनकी परमाणुवाद की प्रकल्पना का मूल भी वैशेषिक में ही है, जिसका उल्लेख अनेकों जैन-ग्रन्थों तथा ललितविस्तर में भी मिलता है। लंकावतारसूत्र में भी परमाणुवाद का संकेत पाया जाता है। जैनों का एक परवर्ती ग्रन्थ 'आवश्यक'[2] रोहगुप्त (18 ई०) को वैशेषिक दर्शन का रचयिता मानता है, जो जैनधर्म के छठे विभेद का प्रधान गुरु था। यद्यपि उक्त ग्रन्थ का वैशेषिक-विचार-सम्बन्धी आख्यान कणाद की योजना के अनुकूल है,[3] किन्तु इससे इस दावे को कि वैशेषिक दर्शन जैनदर्शन की ही एक शाखा है, प्रमाणित करना कठिन होगा। जैनदर्शन तथा वैशेषिक में जो समानता का विषय है और जिसके कारण उक्त दावे का संकेत मिल सकता है वह परमाणुवाद की प्रकल्पना है, किन्तु इस विषय में भी दोनों के विचारों में मौलिक भिन्नता पाई जाती है। जैन मत के अनुसार, गुणों की दृष्टि से परमाणु एकसमान हैं। प्रत्येक परमाणु में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तथा शब्द के उत्पादन की क्षमता विद्यमान है, यद्यपि वह स्वयं निःशब्द है। वैशेषिक मत में, गुणों की दृष्टि से परमाणुओं में भेद है।

1 गार्बे : दि फिलासफी आफ ऐंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ 20।

2 सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, खण्ड 45, पृष्ठ 38।

3 द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय को स्वीकार किया गया है, तथा सामान्य और विशेष के विषय में थोड़ी-सी भिन्नता पाई जाती है। सामान्य के भेद किए गए हैं

वे वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी—जिसके भी परमाणु हो उसके हिसाब से एक, दो, तीन अथवा चार सामान्य गुण रखते हैं, और शब्द के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। परमाणुवाद की प्रकल्पना, द्रव्यों का वर्गीकरण और ज्ञान के दो साधनो की स्वीकृति बलपूर्वक यह संकेत करते है कि वैशेषिक दर्शन की रचना बुद्ध और महावीर के समय[1] (छठी-पांचवी शताब्दी ई० पू०) के लगभग हुई।

वैशेषिक दर्शन की व्याख्या व्यवस्थित रूप से सबसे पहले कणाद (कण-भुज अथवा कणभक्ष) के वैशेषिक सूत्र में मिलती है। यह नाम, जिसका अर्थ शब्दव्युत्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से अणुभक्षक होता है, इसके रचयिता का इसलिए भी पड गया हो क्योंकि उसके दर्शन का सिद्धान्त परमाणुवाद है।[2] इस दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहा जाता है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त सूत्र के रचयिता का यथार्थ नाम 'काश्यप' था।[4] यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय मे द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य तथा विशेष आदि पांच पदार्थो का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय मे विभिन्न द्रव्यों का, जिनमे आत्मा तथा मन सम्मिलित नही हैं, विवेचन किया गया है। आत्मा और मन, इन्द्रियों के विषयो तथा अनुमान के स्वरूप का विवेचन तृतीय अध्याय मे किया गया है। चतुर्थ अध्याय का मुख्य विषय परमाणुओ द्वारा विश्व की रचना है। पंचम अध्याय मे क्रिया का स्वरूप और उसके प्रकार बताए गए हैं। नैतिक समस्याओं पर षष्ठ अध्याय मे विचार किया गया है। सप्तम अध्याय मे गुण, आत्मा तथा समवाय-सम्बन्धी प्रश्नो का विवेचन है। पिछले तीन अध्याय मुख्य रूप से तर्क-विषयक हैं और इनमे प्रत्यक्षज्ञान, अनुमान तथा कार्य-कारणभाव के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जैसाकि हम ऊपर कह आए, कई कारणो से वैशेषिकसूत्र न्यायसूत्र से पूर्वकाल के बने प्रतीत होते है, और सम्भवत ब्रह्मसूत्र के समकालीन है।[5] क्योंकि कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी-विद्या के अन्दर वैशेषिक का उल्लेख नही किया है इसलिए यह कहा जाता है कि इस दर्शन का

(1) महासामान्य, जो पदार्थ, अथवा अभिधेयत्व, अर्थात् नाम रखे जाने की सम्भाव्यता, अथवा ज्ञेयत्व अर्थात् जानने की सम्भाव्यता के लिए उत्तरदायी है। सब श्रेणियां इसमें आ जाती हैं (देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 16, वैशेषिकसूत्र, 1 1, 8)। महासामान्य विशुद्ध सामान्य है और *किसी उच्चतर वस्तु की उपजाति नहीं है जबकि अन्य सामान्य तथा* विशेष दोनो हैं। (2) सत्ता-सामान्य, जो सत्ता अथवा वैशेषिक के भाव के अनुकूल है। प्रशस्तपाद अस्तित्व को छहों पदार्थों का सामान्य गुण (साधर्म्य) बताता है और (3) सामान्य विशेष, जिसके अन्दर सामान्यता के अन्य दृष्टान्त आ जाते हैं। देखिए यूई : 'वैशेषिक फिलासफी' पृष्ठ 37-38।

1 देखिए यूई वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ 33। अश्वघोष ने अपने 'सूत्रालंकार' नामक ग्रंथ मे वैशेषिक का निर्माण बुद्ध के पूर्व हुआ, ऐसा कहा है (वही, पृष्ठ 40-41)।

2 यद्यपि परमाणु-विषयक प्रकल्पना कुछ बौद्ध तथा जैन विचारों मे भी पाई जाती है, किन्तु वैशेषिक का यह प्रधान लक्षण है। देखिए ब्रह्मसूत्र, 2 2, 11, और धर्मोत्तरकृत 'न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ 86।

3 यूई कृत वैशेषिक फिलासफी।

4 प्रशस्तपाद कृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 200।

5 वात्स्यायन ने वैशेषिकसूत्र से एक उद्धरण दिया है, जिसमे न्याय द्वारा किए गए अनुमान के 'पूर्ववत्' व 'शेषवत्' भेदों से अभिज्ञता उपलब्ध नहीं होती। वैशेषिकसूत्र में काल को परम कारण मानने का उल्लेख है (2 2 99, 5 2, 26) और यही विचार श्वेताश्वतर उपनिषद् मे भी दिखाया गया है (1 1, 2), किन्तु विख्यात दर्शनो में से एक ने भी इसे नहीं अपनाया है। आत्मविषयक

मात्र हैं, कठिन है।[1] प्रशस्तपाद द्वारा चौबीस गुणों का विवरण, सृष्टि की रचना और उसके संहार का सिद्धान्त, हेत्वाभासों का कथन तथा अनुमान का स्वरूप कणाद के ग्रंथ में निश्चितरूप से जोड़े गए हैं। वह न्यायदर्शन द्वारा अत्यधिक प्रभावित था और वात्स्यायन के पीछे हुआ था। उसका काल चौथी शताब्दी के अन्त में रखा जा सकता है।[2]

प्रशस्तपाद के ग्रन्थ के आधार पर निर्मित एक वैशेषिक पुस्तक चन्द्रकृत दशपदार्थशास्त्र है, जो चीनी भाषा में अनूदित होकर सुरक्षित है। (648 ई०)। किन्तु भारत की विचारधारा के विकास पर इसका प्रभाव नहीं हुआ।[3] रावण-भाष्य तथा भारद्वाजवृत्ति,[4] जिन्हें वैशेषिक की टीकाएं बताया जाता है, उपलब्ध नहीं हैं। प्रशस्तपाद के ग्रन्थ पर चार टीकाएं लिखी गई हैं। जो ये हैं—व्योमशेखर कृत 'व्योमवती', श्रीधरकृत 'न्यायकन्दली', उदयनकृत 'किरणावली' (दसवीं शताब्दी) और श्रीवत्सकृत 'लीलावती'[5] (ग्यारहवीं शताब्दी)। अन्य तीनों की अपेक्षा व्योमवती पूर्ववर्ती है।[6] श्रीधर की न्यायकन्दली 991 ई० में लिखी गई और टीकाकार कुमारिल, मण्डन तथा धर्मोत्तर के विचारों से परिचित है। लीलावती तथा किरणावली सम्भवतः न्यायकन्दली के तुरन्त बाद लिखी गई। श्रीधर तथा उदयन दोनों ही ईश्वर के अस्तित्व तथा अभाव नामक पदार्थ

1 देखिए दासगुप्त 'हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी', खण्ड 1, पृष्ठ 351, 'इण्डियन लौजिक एण्ड एटोमिज्म', पृष्ठ 25 और 93, यूई, 'वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ 17, टिप्पणी 3। "लगभग सब विलक्षण सिद्धान्त, जो परवर्ती वैशेषिकों को नैय्यायिकों तथा अन्य शाखाओं से पृथक करते थे, प्रशस्तपाद के ग्रंथ में पाए जाते हैं और वे कणाद के सूत्र में अनुपलब्ध हैं। द्वित्व, पाकजोत्पत्ति, विभागज विभाग और ऐसे ही अन्य अनेकों सिद्धान्तों को, जिन्हें वैशेषिक दर्शन की विलक्षणताएं माना गया है, कणाद के सूत्रों में छुआ भी नहीं गया है, यद्यपि प्रशस्तपाद के भाष्य में उनपर खूब अच्छी तरह विचार-विमर्श किया गया है।" ('बोडास तर्कसंग्रह, पृ० 37)।

2 कीथ ने दिङ्नाग की पूर्ववर्तिता तथा प्रशस्तपाद के उसके प्रति तार्किक सिद्धांत के नाना विषयों में ऋणी होने के सम्बन्ध में एक परिष्कृत निर्णय दिया है (इण्डियन लाजिक एण्ड एटोमिज्म पृष्ठ 93 110)। इससे भिन्न मत के लिए देखिए फैडीगनकृत 'वैशेषिक सिस्टम', पृष्ठ 319 23। शंकर और उद्योतकर प्रशस्तपाद के ग्रंथ से अभिज्ञ हैं। यदि कीथ के मत को स्वीकार भी कर लें, तो भी वह उद्योतकर के पूर्व और दिङ्नाग के पश्चात हुआ, और इसलिए पांचवीं शताब्दी में विद्यमान था। यदि छः पदार्थों के सिद्धान्त को प्रतिपादन करने का श्रेय प्रशस्तपाद को दिया जाए तो वह वात्स्यायन का पूर्ववर्ती अथवा कम से कम उसका समकालीन ठहरता है। धर्मपाल (535-570 ई०) और परमार्थ (499 569 ई०) प्रशस्तपाद के विचारों का विवेचन करते हैं। देखिए यूई वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ 18।

3 यूई के अनुसार, जिसने इसका आंग्लभाषा में अनुवाद किया है, उसका रचयिता छठी शताब्दी में हुआ। जैसाकि इसके नाम से उपलक्षित होता है, इस ग्रन्थ में दश पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है। और जोड़े गए चार पदार्थ ये हैं सम्भाव्यक्षमता (शक्ति), अशक्ति, सामान्य विशेष और अभाव। ईश्वर का उल्लेख नहीं है। जापानी लेखकों ने इस ग्रंथ पर बहुत-सी टीकाएं लिखी हैं।

4 देखिए 'रत्नप्रभा', 2 . 2, 11, बोडास तर्कसंग्रह, पृष्ठ 40। भारद्वाजवृत्तिभाष्य, जिसे गंगाधर ने सम्पादित किया है (कलकत्ता, 1869), सांख्य से पर्याप्तमात्रा में प्रभावित है, और इसमें कितने ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं। देखिए फैडीगनकृत 'दि वैशेषिक सिस्टम', पृष्ठ 35-40।

5 उपनाम वल्लभ।

6 सप्तपदार्थी के घाट के संस्करण की प्रस्तावना देखिए।

को स्वीकार करते हैं। शिवादित्यकृत सप्तपदार्थी ग्रन्थ भी इसी काल का है।[1] यह न्याय तथा वैशेषिक के सिद्धान्तों को एक ही पूर्ण इकाई के भागों के रूप में प्रस्तुत करता है। यह पदार्थों की व्याख्या में प्रारम्भ होता है और न्याय के तर्क को ज्ञान के गुण के रूप में पेश करता है। लौगाक्षि भास्करकृत तर्ककौमुदी एक और समन्वयवादपरक ग्रंथ है जिसका आधार प्रशस्तपाद की पुस्तक है। वैशेषिक-सूत्र पर शंकरमिश्रकृत 'उपस्कार' एक और ग्रन्थ भी कुछ महत्त्व का है।[2] विश्वनाथ (सत्रहवीं शताब्दी) अपने 'भाषापरिच्छेद' तथा उस पर 'सिद्धान्त-मुक्तावली' नामक टीका में कणाद की योजना का विवेचन करता है। वह नव्यन्याय द्वारा पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुआ था। अन्नंभट्ट के ग्रन्थ, जगदीश-कृत तर्कामृत (1635 ई०) तथा जयनारायणकृत 'विवृत्ति' (सत्रहवीं शताब्दी) वैशेषिक सिद्धान्तों के उपयोगी संक्षिप्त संग्रह हैं। विवृत्ति यद्यपि 'उपस्कार' पर आधारित है, तो भी कुछ विषयों में इससे मतभेद रखती है।[3]

3. ज्ञान का सिद्धान्त

वैशेषिक के तर्क तथा न्याय के तर्क में थोड़ा-सा ही भेद है। ज्ञान, जोकि तर्क की विशेष समस्या है, नानाविध आकृतियों को धारण कर लेता है, क्योंकि इसके प्रमेय विषय अनन्त हैं।[4] प्रामाणिक ज्ञान के चार प्रकार स्वीकार किए गए हैं, जो ये हैं प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति, तथा अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान (आर्षज्ञान)। प्रत्यक्ष के द्वारा हम द्रव्यों, गुणों, कर्मों तथा सामान्यताओं का बोध प्राप्त करने के योग्य होते हैं। ठोस द्रव्य, जो हिस्सों से बनते हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान की पहुंच के अन्दर हैं, किन्तु परमाणु तथा द्व्यणुक नहीं हैं। वैशेषिक योगियों के प्रत्यक्ष को स्वीकार करता है जिसके द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[5] वैशेषिक उपमान, ऐतिह्य (परम्परा) तथा शाब्द ज्ञान को अनुमान के अन्तर्गत रखता है।[6] शास्त्रीय कथनों की प्रामाणिकता वक्ताओं की प्रामाणिकता के अनुमान से है।[7] न्याय की भांति, वैशेषिक भी मीमांसा के शब्द की नित्यता तथा वेदों की नितान्त प्रामाणिकता के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करता है।[8] जहां न्याय वेदों की प्रामाणिकता को ऋषियों के साक्षात् ज्ञान के आधार पर रखता है, जिन्होंने नित्य सत्यों तथा विधानों को समझ लिया है, वहां वैशेषिक उनकी प्रामाणिकता का अनुमान ईश्वरी-प्रेरणाप्राप्त ऋषियों के सर्वथा निर्भ्रान्त के आधार पर करता है। धर्मशास्त्र हमें केवल कल्पनामात्र नहीं, अपितु यथार्थ ज्ञान प्रदान करते हैं। यह वस्तुओं का जैसी वे हैं उस रूप में ज्ञान है, और इस अर्थ में इसका आदि नहीं है, यद्यपि इसका ज्ञान सदा

1 शिवादित्य उदयन के पीछे हुआ तथा गंगेश से पहले हुआ, क्योंकि गंगेश उसके मत से परिचित है।

2 यह एक पुरानी वृत्ति का उल्लेख करता है (देखिए, 1 1, 2, 1 2, 4, 6, 3 1, 17, 4 - 1, 7, 6 1, 5, 12, 7 1, 3) जिसका पता नहीं चल सका।

3 देखिए विवृत्ति, 1 , 1, 4, 25, 2 1, 1, 2 2, 5, 9 1, 8।

4 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 172।

5 वैशेषिकसूत्र, 9 1, 11-15।

6 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 212 से आगे।

7 9 1, 3।

8 वैशेषिकसूत्र, 2 2, 21-37, 6 1, 1 से आगे। न्यायसूत्र, 2 2, 13-40।

साक्षात् (विना किसी व्यवधान के) होता है और कुछ व्यक्तियों को पूर्णरूप मे तथा कुछ को आंशिक रूप मे होता है। योग्यतर मनो ने सत्यों का ज्ञान ग्रहण किया और उसे हम तक पहुंचाया। वेदो की वाक्यरचना को देखकर यह समझा जा सकता है कि इनके रचयिता अवश्य मेधावान् व्यक्ति रहे होंगे। और उनको स्वर्ग तथा अदृष्ट (नियति) का पूर्ण और सही-सही ज्ञान भी अवश्य था। शनै-शनै ईश्वर को ही वेदों का रचयिता माना जाने लगा। "वेदो की प्रामाणिकता इसके ईश्वर की वाणी होने के कारण है।"[1] शब्दो तथा वाक्यो के अर्थो का ज्ञान पहले होना आवश्यक है अन्यथा इसके बिना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। क्योंकि अर्थो का ज्ञान निर्भर करता है व्यापक सहवर्तित्व की प्रत्यभिज्ञा पर, इसलिए शाब्दिक ज्ञान अनुमान का विषय है।[2] चेष्टा,[3] अर्थापत्ति,[4] सम्भव[5] तथा अभाव,[6] ये सब अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं। स्मृति को स्वतन्त्र स्थान दिया गया है।[7] आर्षज्ञान ऋषियों की अन्तर्दृष्टि है। यदि स्मृति को छोड दिया जाए, क्योंकि यह केवल उसी अनुभव को दोहराती है जो हमे पहले हो चुका है, और यदि अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मान लें, तो वैशेषिक के अनुसार हमारे पास ज्ञान के केवल दो ही साधन रह जाते हैं, अन्तर्दृष्टि और अनुमान।[8]

मिथ्याज्ञान के चार भेद किए गए हैं और वे ये हैं संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। शिवादित्य इन चारों को एक दूसरे मे सन्निविष्ट करके केवल दो ही भेद रखता है, अर्थात् संशय और भूल। ऊहा, निर्विकल्प ज्ञान तथा पराश्रित तर्क को वह संशय के अन्तर्गत रखता है।[9] श्रीधर स्वप्न का पृथक् रूप से वर्णन करने के औचित्य का समर्थन इस आधार पर करता है कि स्वप्न शरीर की एक अवस्था-विशेष मे ही आते है।[10]

4. पदार्थ

जैसाकि हम पहले देख चुके है, कुछ शताब्दियो तक बौद्धदर्शन के दृष्टिकोण ने, जो वस्तुओं की व्याख्या उनके परिणामो को लेकर तथा प्रत्येक वस्तु की व्याख्या उसके पूर्वापर सम्बन्ध से करता था, एवं सभी स्थानो पर आत्मनिर्भरता का खण्डन करता था, इस देश की विचारधारा पर आधिपत्य जमा रखा था। उसके अनुसार हरएक वस्तु का अपना अस्तित्व केवल पारस्परिक सम्बन्ध के कारण है तथा कोई भी वस्तु निरपेक्ष रूप मे अपना अस्तित्व नही रखती। क्योंकि सम्बन्ध ही जीवन की सामग्री अथवा मूल तत्त्व है, इसलिए आत्मा और प्रकृति भी केवल सम्बन्धो के सकलन हैं। वैशेषिक ने उक्त मत

1 तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति (10 2 9)। और देखिए न्यायकन्दली पृष्ठ 216 और वैशेषिकसूत्र 6 1, 1-4।

2 3 1, 7 15।

3 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह पृष्ठ 220।

4 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 223।

5 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 225, वैशेषिकसूत्र 9 2, 5।

6 वही।

7 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह पृष्ठ 256।

8 सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, 5 33।

9 सप्तपदार्थी 32।

10 न्यायकदली, पृष्ठ 185।

का विरोध किया और एक अधिक सन्तोषजनक योजना हमारे समक्ष प्रस्तुत की, जो यथार्थता की दृष्टि से अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। यह आनुभविक चेतनता पर आश्रित है जो आदि तथा अन्त में यथार्थ तथा पृथक्-पृथक् वस्तुओं में सम्बन्ध रखती है। सबसे अधिक सरल तथा विस्तृत यथार्थता पदार्थ तथा उनके आन्तरिक सम्बन्ध हैं। आँखें खोलते ही हम अपने आगे एक विस्तृत भौतिक जगत् को पाते हैं जिसमें भिन्न-भिन्न वस्तुएं तथा उनकी व्यवस्थाएं भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं, जिन पर विचार अपना कार्य कर सकता है। और जब हम अन्दर की ओर देखते हैं तो हमें एक अभौतिक जगत् का अनुभव होता है जिसकी परिभाषाएं और सम्बन्ध अपने हैं। निर्दोष दर्शनपद्धति की मांग है कि हम अपने ध्यान को अनुभव-सिद्ध पदार्थों पर ही केन्द्रित करें, जो ज्ञान के विषय हैं, और केवल ऐसी ही प्रकल्पनाओं को स्वीकार करें जो हमारी अनुभवगम्य व्यवस्था की व्याख्या के सम्बन्ध में अनिवार्य प्रतीत हों। विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण एक परिशुद्ध दर्शनपद्धति की सबसे प्रथम आवश्यकता है, और वैशेषिक के विश्लेषण के परिणाम पदार्थों के सिद्धान्त में निहित हैं।

पदार्थ का यौगिक अर्थ है—शब्द का अर्थ। पदार्थ एक ऐसा प्रमेय विषय है जिसके विषय में विचार (अर्थ) किया जा सकता है तथा जिसको नाम (पद) दिया जा सकता है। सब वस्तुएं जिनका अस्तित्व है, जिनका बोध हो सकता है तथा जिन्हें नाम[1] दिया जा सकता है, संक्षेप में, केवल भौतिक जगत् की वस्तुएं ही नहीं, बल्कि अनुभव[2] में आनेवाले सब प्रमेय विषय पदार्थ हैं। न्यायशास्त्र में वर्णित सोलह पदार्थ विद्यमान वस्तुओं के विश्लेषण नहीं हैं, बल्कि तार्किक विज्ञान के मुख्य विचार-विषयों की एक तालिका हैं। परन्तु वैशेषिक के पदार्थ प्रमेय पदार्थों के पूर्ण विश्लेषण का प्रयत्न करते हैं।

वैशेषिक के पदार्थों में केवल वही वस्तुएं समाविष्ट नहीं हैं जो अन्य की विधेय हों, बल्कि वे उद्देश्य भी आ जाते हैं जिनके विषय में कुछ विधान किया जा सके। अरस्तू के पदार्थ केवल विधेयों का तार्किक वर्गीकरण हैं, सब विचारणीय विषयों का आध्यात्मिक वर्गीकरण नहीं हैं। वैशेषिक विचारक, अरस्तू के समान ही, नाम और वस्तु के घनिष्ठ सम्बन्ध से अभिज्ञ थे। यद्यपि अरस्तू ने शब्दों का वर्गीकरण किया है, पर वह वस्तुओं का भी वर्गीकरण हो जाता है, क्योंकि जिसको भी पृथक् नाम दिया जा सके वही वस्तु है। "वाक्य-रचना के बिना उच्चारण किए गए शब्दों, अर्थात् अकेले शब्दों, में से प्रत्येक शब्द द्रव्य अथवा परिमाण अथवा गुण अथवा सम्बन्ध अथवा देश अथवा काल अथवा प्रवृत्ति (अर्थात् दशा अथवा आन्तरिक व्यवस्था) अथवा उपकरण अथवा कर्म अथवा कर्म-भोग का वाचक होता है।"[3] इन दस पदार्थों में से पिछले नौ किसी अन्य वस्तु के विधेय हैं, क्योंकि पहला अर्थात् द्रव्य उद्देश्य है। यह किसी वस्तु का विधेय नहीं बन सकता, यहां तक कि अपना भी नहीं, क्योंकि उस अवस्था में यह द्रव्य न रह-कर एक गुण (विशेषण) बन जाएगा। किन्तु अरस्तु को शब्द के उक्त प्रयोग के लिए कोई विशेष आग्रह नहीं है। साधारण बोलचाल की भाषा में ही उसने अपने वर्गीकरण का निर्णय किया है, और शब्दों में वे हैं जो किसी ठोस व्यक्ति-रूप पदार्थ के सार के द्योतक हैं। जब द्रव्य एक ठोस व्यक्ति-रूप पदार्थ होता है तो हम प्रश्न करते हैं कि

1. अस्तित्व, अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 16)।
2. प्रमितिविषयाः पदार्थाः (सप्तपदार्थी, पृष्ठ 2)।
3. अरस्तूकृत 'कैटिगरीज', 2 6, मिण्टोकृत 'लाजिक', पृष्ठ 113।

"यह क्या है ?" और उत्तर मे कहा जाता है कि एक घोडा या गाय है जिसे अरस्तू द्रव्य कहता है, किन्तु वस्तुत यह गुण है।[1] वह पहले और दूसरे द्रव्यों मे भेद करता है, तथा अपनी सम्मति प्रकट करता है कि पहले द्रव्यो का प्रयोग विधेय के रूप मे नही होता। तार्किक उद्देश्य को विधेयों के वर्गीकरण मे सम्मिलित करना यह प्रदर्शित करता है कि अरस्तू का आशय यह था कि उसकी पदार्थों की तालिका मे अस्तित्व के नाना प्रकारो का भी समावेश रह। अरस्तू की तालिका मे वे द्रव्य तथा गुण मिलते है जो या तो स्थायी हैं या अस्थायी है। लगभग सभी टीकाकार इसमे सहमत है कि सम्बन्ध नामक पदार्थ मे उसकी योजना के अन्तिम छ भी सम्मिलित समझे जाने चाहिए। इसलिए हम द्रव्य तथा गुण को, वे अस्थायी हो या स्थायी, और सम्बन्ध को भी पूर्ण सारगर्भित समझ सकते है।

वैशेषिक ने पदार्थों के वर्गीकरण को छ प्रकार का बताया है, जिसके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छ पदार्थ हुए। इनके साथ सातवा पदार्थ अभाव परवर्ती वैशेषिको, यथा श्रीधर, उदयन और शिवादित्य, ने जोड दिया है।[2] पदार्थों की गणना मे अभाव को समाविष्ट करने का तात्पर्य यह हुआ कि तात्त्विकीय योजना का परिवर्तन ज्ञानवाद-सम्बन्धी योजना मे हो गया है। हमारी धारणाए ही विध्यात्मक अथवा निषेधात्मक होती हैं, वस्तुए जो विद्यमान हैं, नही होती। प्रारम्भिक अवस्थाओ मे वैशेषिक ने ऐसे सामान्य लक्षणो को जानने का प्रयत्न किया जो समस्त अस्तित्व पर लागू हो सकते है, किन्तु शीघ्र ही उसने अपना ध्यान धारणाओ के स्वरूप की ओर दिया और जिज्ञासा प्रकट की कि कौन सी धारणाए सत्य है और कौन सी नही। कोई वस्तु है, किसी वस्तु की सत्ता है, यही वैशेषिक दर्शन की प्रथम स्थापना है। किन्तु कोई भी वस्तु केवल सत् ही नही हो सकती। यदि हम केवल सत्ता पर ही आकर ठहर जाए और आगे बढने का विचार छोड दे, तो जैसाकि हेगल ने हमे बताया है, हमारे समक्ष केवल शून्यमात्र रह जाता है, और 'किसी वस्तु का अस्तित्व है' इस प्रथम सिद्धान्त तक को भी छोडना पडेगा। इसलिए हमे उक्त सिद्धान्त को आगे बढाना होगा और यह कहना होगा कि कोई वस्तु इसलिए है क्योकि उसमे केवल सत्ता के अतिरिक्त कुछ विशेष गुण हैं। यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो केवल इसलिए है क्योकि उसमे कुछ गुण है। द्रव्य सत्तावान् है और उसमे गुण हैं। गुण दो प्रकार के है, एक वे जो बहुत पदार्थों मे रहते है और दूसरे वे जो व्यक्तिगत पदार्थों मे रहते हैं। प्रथम श्रेणी के सामान्य गुण है और दूसरी श्रेणी के स्थायी गुण तथा अस्थायी कर्म है। समवाय एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है।[3]

1 तुलना कीजिए जानसन "एक अस्तित्ववाची व्यक्तिवाची सज्ञा विशेषण नही बन सकती, किन्तु स्वय उसका विशेष्य होना आवश्यक है" (लौजिक, भाग 2, पृष्ठ 12)।

2 प्रशस्तपाद केवल छ पदार्थों का प्रतिपादन करता है। सप्तगुणी योजना शिवादित्य के समय तक स्थापित हो चुकी थी, जैसाकि उसके 'सप्तपदार्थी' नामक ग्रथ के शीर्षक से प्रकट होता है। शकर और हरिभद्र (षड्दर्शनसमुच्चय, 60) वैशेषिक के अन्दर छ पदार्थ ही बताते है। देखिए शाकरभाष्य, 2 2 17 और यूई कृत वैशेषिक फिलासफी पृष्ठ 126।

3 वैशेषिक के द्रव्य और गुण अरस्तू के द्रव्य और गुण के अनुकूल हैं। अरस्तू की सख्या को गुण के अन्तर्गत मान लिया गया है। सम्बन्ध दो प्रकार के हैं बाह्य जैसे 'सयोग' अथवा आभ्यन्तर जैसे 'समवाय'। पहले को गुण के रूप मे माना गया है और दूसरे को एक पृथक् पदार्थ समझा गया है। शेष पदार्थ सम्बन्ध के अन्दर आते है जबकि देश और काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप मे माना गया है। क्रियाशीलता कर्म है जबकि निष्क्रियता केवल कर्म का अभाव है। गुण (धर्म) या तो सामान्य हो सकता है या विशिष्ट हो सकता है। प्रवृत्ति एक गुण है, यदि अरस्तू एक निश्चित सिद्धान्त पर

पहले तीन पदार्थों अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म में यथार्थ पदार्थ-विषयक अस्तित्व है।[1] कणाद उन्हें सत्ता की संज्ञा देता है और योग-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि के विषय का प्रतिपादन करते हुए कहता है कि हमें उनका ज्ञान अन्तर्दृष्टि के द्वारा हो सकता है।[2] अन्य तीन, अर्थात् सामान्य, विशेष और समवाय बौद्धिक भेद से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं।[3] ये तार्किक द्रव्य हैं। प्रशस्तपाद का कहना है कि 'वे अपने एकमात्र सत्त्व को अपने अन्दर धारण करते हैं—अर्थात् स्वात्मसत्त्व है। बुद्धि उनकी मार्गदर्शक है (बुद्धिलक्षणत्व)। वे कार्य नहीं हैं, कारण नहीं हैं तथा उनमें सामान्य अथवा विशेषत्व भी नहीं है। वे नित्य हैं और उन्हें सत् शब्द से व्यक्त नहीं किया जा सकता (अर्थशब्दानभिधेयत्व)।"[4] पिछले तीन पदार्थों के याथार्थ्य का प्रमाण तार्किक कहा जाता है।[5] यह इस विषय का उपलक्षण है कि इनका प्रत्यक्ष बोध नहीं हो सकता। यह एक ऐसा विचार है जिसमें उस समय परिवर्तन हुआ जबकि न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्त परस्पर मिश्रित हो गए। प्रारम्भिक वैशेषिक में जहां सब पदार्थों में सामान्य रूप से अस्तित्व का लक्षण मिलता है,[6] वहां दो प्रकार के अस्तित्व में भेद किया जाता है—सत्ता-सम्बन्ध द्रव्यों, गुणों तथा कर्मों में रहता है और स्वात्मसत्त्व सामान्य, विशेष और समवाय में रहता है।[7] उदयन ने अपनी 'किरणावली' में सत्ता-सम्बन्ध को समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला बतलाया है और 'स्वात्मसत्त्व' को आत्मनिर्भर अस्तित्व कहा है जो समस्त अस्तित्व से स्वतन्त्र है। शंकरमिश्र अधिक सहायक है, क्योंकि अपने 'उपस्कार' में वह सत्ता-सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए उसे विनाश के योग्य तथा अपने स्वभाव से कार्यों को उत्पन्न करने की क्षमता रखनेवाला बतलाता है। यह देश और काल से बद्ध अस्तित्व को वर्णन करने की एक पारिभाषिक विधि प्रतीत होती है। स्वात्मसत्त्व अथवा आत्मनिर्भर अस्तित्व देश और काल से स्वतन्त्र है और इसीलिए कालावाधित पदार्थों में इसका समावेश है। यद्यपि ये दूसरे अपकर्षण की उपज हैं, पर इन्हें स्वयं

कल्पना भी वह इस प्रकार की युक्ति देता वस्तुएं, जिनमें स्थायी अथवा अस्थायी गुण विद्यमान हैं, देश और काल के सम्बन्धों में अपना अस्तित्व रखती हैं और वे सम्बद्ध हैं अन्य वस्तुओं के साथ पारस्परिक सम्बन्धों के एक विस्तृत जाल में, और इस अवस्था में द्रव्य गुण, कर्म और सम्बन्ध ही मुख्य शीर्षक रह जाएंगे। अरस्तू के विश्लेषण के दूषित रूप को स्टोइक लोगों ने तथा न्योप्लेटोनिक लोगों ने स्पष्ट किया। काण्ट के विचार में अरस्तू पदार्थों को ज्यों-ज्यों वे उसके आगे आते गए, केवल जोड़ता चला गया। हेगल का कहना है कि अरस्तू ने उन्हें किसी न किसी प्रकार एकत्र कर दिया। मिल तो एक प्रकार से उपहास की दृष्टि से कहता है कि अरस्तू की सूची इस प्रकार की है "जैसे कि जन्तुओं का विभाग मनुष्यों, चौपायों, घोड़ों, गधों और टट्टुओं में कर दिया जाए।" तुलना कीजिए वर्धमान या जैन जो जैनियों के विभाजीकरण के साथ, जिन्होंने सब वस्तुओं को द्रव्यों, गुणों तथा रूप-परिवर्तनों में विभक्त किया है (भारतीय दर्शन प्रथम खण्ड, पृष्ठ 287 से आगे, और 'उत्तराध्ययन', प्रथम भाग, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जिल्द 45)। प्राचीन मीमांसकों ने शक्ति और सादृश्य को पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। उदयन ने इनका तथा संख्या का निषेध किया है। देखिए 'किरणावली', पृष्ठ 6 'सप्तपदार्थी', पृष्ठ 10, 'न्यायकन्दली', पृष्ठ 7, 15 144 से आगे।

1 वैशेषिक सूत्र, 1 2, 7, 8 · 2, 3, प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 17।

2 वैशेषिक सूत्र, 9 1 14।

3 1 2 3।

4 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 19, वैशेषिक सूत्र, 1 2, 3-10, 12, 14, 16, 7 · 2, 26।

5 बुद्धिरेव लक्षणं प्रमाणम्। 'न्यायकन्दली', पृष्ठ 19।

6 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 11।

7 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 19।

की भी अपेक्षा, जिनके कि ये अपकृष्ट भाव हैं, अधिक यथार्थ समझा जाता है। वैशेषिक सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थो के कालाबाधित तथा कार्यकारण-विहीन स्वरूप पर बल देता है, और हमे सावधान करता है कि हम अपकर्ष के निष्कर्षो का देश और काल से संयुक्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से दूर रहे।

5 द्रव्य

वह पदार्थ जिसके द्वारा वैशेषिक अपने को निश्चित रूप से अन्य सब आदर्शवादी दर्शन-पद्धतियो के मुकाबले मे खड़ा करता है, द्रव्य है। विचार न करने वाले साधारण व्यक्ति भी स्वीकार करते है कि द्रव्य हैं। बाह्य जगत् मे पदार्थ हमारे समक्ष यथार्थ रूप मे आते है। वे वर्तमान वास्तविकताएं होती है और अपने लिए अपना निजी अस्तित्व रखती हैं। द्रव्य उन वस्तुओ के अपने अस्तित्व के स्वरूप को, जो यहा विद्यमान है, जतलाता है। जिसे हम अस्पष्ट रूप से सत् कहते है, वह वस्तुओ की एक शृखला के अतिरिक्त और कुछ नही है जो विविध प्रकार के देश और काल की उपाधियो से आबद्ध है तथा भिन्न-भिन्न गुणो द्वारा एक-दूसरे से पृथक् हे। बौद्धो का यह मत कि द्रव्य अपने गुणो के अतिरिक्त और कुछ नही है, अथवा पूर्ण इकाई अपने अशो के अतिरिक्त और कुछ नही है, अनुभव की कसौटी के विपरीत है।[1] यथार्थता हमारे समक्ष ऐसे द्रव्यो को प्रस्तुत करती है जिन्हे गुणो और अशो से लक्ष्य किया जा सकता है। हम उस घडे को जिसे हमने कल देखा था, पहचानने मे समर्थ है। यदि घडा केवल सवेदनाओ की शृखलामात्र होता[2] तो यह असम्भव होता। यह साधारण अनुभव का विषय है कि गुण ऐसे वर्गो मे प्रकट होते है जो स्वरूप मे एक ही सदृश होते है और दूसरो से पर्याप्त मात्रा मे भिन्न रूप मे लक्ष्य किए जा सकते हैं। एक सेब सर्वदा एक ही वर्ग के गुण रखता है और एक ही प्रकार के वृक्ष पर बराबर लगता है। एक पुरातन सुरक्षित शव अथवा पर्वत का अबाधित नैरन्तर्य के साथ सहस्रो वर्षो से रहने वाला अस्तित्व सिवाय इस धारणा के कि द्रव्यो का अस्तित्व है जिनके अन्दर गुण समवाय-सम्बन्ध से रहते है, अन्य किसी प्रकार से समझ मे नही आ सकता। "वह जिसके अन्दर कर्म व गुण रहते हे और जो सहास्तित्व-युक्त कारण है", द्रव्य है।[3] यह गुणो का अधिष्ठान है।[4] दूसरे पदार्थ गुणो से रहित हैं।

वैशेषिक के मत मे द्रव्य गुणो से अतिरिक्त भी एक वस्तु है। जिस क्षण मे द्रव्य उत्पन्न होते है वे गुणो से रहित होते हैं।[5] क्योकि यदि गुण द्रव्यो के साथ-साथ ही उदय होते तो उनके अन्दर कोई भेद न हो सकता। और यदि गुण उदय न हो तो द्रव्यो के गुणो से विहीन होने से द्रव्य की परिभाषा कि जिसमे गुण रहते है, सर्वथा निरर्थक हो जाएगी। इस कठिनाई को हल करने के लिए कहा जाता है कि द्रव्य गुणो का अधिष्ठान हे, या तो समवाय-सबध से अथवा पहले न होने (प्रागभाव) से, अर्थात् भविष्य मे होने वाले अस्तित्व से। दूसरे शब्दो मे, द्रव्य गुणो का, जो वास्तविक अथवा सभाव्य है, वर्तमान अथवा भविष्य मे आनेवाले हैं, आधार है।[6] वैशेषिक एक ऐसी वस्तु के अस्तित्व

1 न्यायवार्तिक, 1 1, 13।
2 न्यायसूत्र 2 1, 30 36।
3 1 1, 15।
4 गुणाश्रयो द्रव्यम्।
5 आद्ये क्षणे निगु ण द्रव्य तिष्ठति।
6 सिद्धातमुक्तावलि, 3।

पर बल देने को उत्सुक है जो स्वयं तो गुण नहीं किन्तु गुणों को धारण करती है। क्योंकि हम द्रव्यों के विषय में तो गुणों का विधान करते हैं किन्तु गुणों के विषय में गुणों का विधान नहीं करते। और न हम यही कह सकते हैं कि हम एक गुण-समुदाय के एक विशेष गुण का विधान करते हैं। लेकिन क्योंकि गुणों से अलग द्रव्य हमारे विचार का विषय नहीं हो सकता, इसलिए द्रव्य की परिभाषा करते समय हम कहते हैं कि द्रव्य वह है जो गुणों का अधिष्ठान है।

नित्य तथा अनित्य द्रव्यों में भी भेद किया जाता है। जो वस्तु अन्य किसी पर निर्भर करती है वह नित्य नहीं हो सकती। मिश्रित (अवयवी) द्रव्य अन्य पर निर्भर है और क्षणिक हैं। सरल (अमिश्रित) द्रव्यों में नित्यत्व, स्वातन्त्र्य, तथा निरपेक्ष व्यक्तित्व के लक्षण पाए जाते हैं।[1] उनकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है। अनित्य द्रव्य अपने से नहीं, बल्कि अपने से भिन्न किसी अन्य कारण से उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट होते हैं।[2]

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, देश, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं, जिनके अन्दर समस्त शरीरधारी तथा अशरीरी वस्तुओं का समावेश हो जाता है।[3] वैशेषिक भौतिकवाद नहीं है, यद्यपि यह एक यथार्थवादी योजना है, क्योंकि यह अभौतिक द्रव्यों, यथा आत्मा, को स्वीकार करता है, और ठोस मूर्तरूप भौतिक द्रव्यों को नहीं, बल्कि उनके अतिसूक्ष्म रूप को यथार्थ मानता है। नौ द्रव्यों में से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा और मन इनके अनेकों व्यक्तित्व हैं।[4] आत्मा को छोड़कर, ये सब विस्तृत होते हैं, दूर एवं समीप के सम्बन्ध रखते हैं, कर्म करने के योग्य हैं और गतिमान् हैं।[5] आकाश, काल और देश सर्वव्यापक हैं और बृहत्तम विस्तार रखते हैं और सब शरीरधारी वस्तुओं के एक समान पात्र हैं।[6] आत्मा और मन, आकाश, काल और देश, वायु और अन्तिम परमाणु साधारणतः प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं।[7] मूर्त तथा भूत द्रव्यों में भी भेद किया गया है। प्रथम प्रकार के द्रव्यों का निश्चित विस्तार होता है,[8] वे कर्म करते हैं और गति करते हैं। भूत द्रव्य, एकाकी रूप में अथवा परस्पर संयुक्त होकर, संसार में उत्पन्न पदार्थों के भौतिक कारण बनते हैं। मन यद्यपि परमाणु से बना है, पर वह अन्य किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं करता। किन्तु आकाश सर्वव्यापक होते हुए भी शब्द को

1 नित्यत्व, अनाश्रितत्व, अन्त्यविशेषत्व (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 20-21)।

2 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 20, न्यायकन्दली, पृष्ठ 20। देखिए। वैशेषिकसूत्र, 1. 1, 9-10, 12, 15-18; 10. 2, 1-3।

3 श्रीधर ने अन्धकार (तमस्) के स्वरूप के विषय में एक रोचक प्रश्न उठाया है (न्यायकन्दली पृष्ठ 9, वैशेषिकसूत्र, 5. 2, 19-20)। कुमारिल इसे एक विशिष्ट द्रव्य मानता है, जिसमें नीला रंग है तथा गति की क्रिया है (श्लोकवार्तिक, पृष्ठ 43)। प्रभाकरों का मत है कि प्रकाश का अभाव अन्धकार है (गंगानाथ झा : पूर्वमीमांसा, पृष्ठ 93)। अन्नंभट्ट का भी यही मत है। (तर्कसंग्रहदीपिका 3)। वैशेषिक ने अन्धकार को द्रव्यों की कोटि में नहीं रखा क्योंकि यह गुणों से रहित है। अन्धकार को भ्रम से कहा जाता है कि इसमें काला रंग है, ठीक जैसे कि रंगविहीन आकाश को नीलवर्ण कहा जाता है। यह अभाव का एक प्रकार है, केवलमात्र प्रकाश का निषेध है। (वैशेषिकसूत्र, 5. 2, 19; सर्वदर्शनसंग्रह 10)।

4 अनेकत्व प्रत्येक व्यक्तिभेद (न्यायकन्दली, पृष्ठ 21)।

5 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 21।

6 पृष्ठ 22।

7 वैशेषिकसूत्र, 8. 1, 2।

8 परिच्छिन्नपरिमाणत्वम्।

उत्पन्न करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु मूर्त है और उत्पादक भी है।[1]

आत्मा के विषय मे वैशेषिक की प्रकल्पना वस्तुत न्याय की प्रकल्पना के ही समान है। भेद केवल यही है कि आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान को, जिसमे आत्मा ज्ञान का कर्त्ता भी है और विषय भी है, वैशेषिक ने स्वीकार नही किया।[2] उपमान इस विषय मे हमारा सहायक नही हो सकता। आगम अथवा ईश्वरीय ज्ञान और अनुमान ही इस विषय मे हमारे ज्ञान के एकमात्र साधन है।[3] आत्मा के अस्तित्व का अनुमान इस तथ्य के द्वारा किया जाता है कि चेतनता शरीर, इन्द्रियो तथा मन का गुण नही हो सकती।[4] सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष सकल्प और ज्ञान, नि श्वास और उच्छ्वास आखो की पलको का खुलना तथा बन्द होना, शारीरिक घावो का भर जाना, मन की गति और इन्द्रियो की प्रवृत्ति आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किए जाते है।[5] अपनी प्राकृतिक अवस्था मे आत्मा ज्ञान से रहित होती है, जैसेकि प्रलय मे। इसे वस्तुओ का बोध तभी होता है जबकि यह शरीर से सम्बद्ध होती है।[6] चेतनता का धारण आत्मा के द्वारा होता है, यद्यपि यह इसका अनिवार्य तथा अविच्छेद्य लक्षण नही है। मन के द्वारा जीवात्मा न केवल बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करती है, बल्कि अपने गुणो का भी ज्ञान प्राप्त करती है। आत्मा यद्यपि सर्वव्यापक है, तो भी इसका ज्ञान, अनुभव तथा कर्म का जीवन केवल शरीर के साथ ही विद्यमान रहता है।

आत्माओ की अनेकता का अनुमान स्थिति के भेदो के कारण तथा अवस्थाओ की नानाविधता के कारण किया जाता है।[7] धर्मशास्त्रो के आदेश इस धारणा को मानकर दिए गए है कि आत्माए भिन्न-भिन्न है।[8] प्रत्येक आत्मा अपने-अपने कर्मो का फलोपभोग करती है।[9] यह सब प्रकार के अनुभवो मे समान रूप से विद्यमान रहती है।[10] श्रीधर आत्मा के एकत्व का खण्डन करता है।[11] कुछेक आत्माओ के मोक्ष प्राप्त कर लेने से जगत् के नितान्त विलय हो जाने का कोई भय नही है, क्योकि आत्माए असख्य है। वैशेषिक की अनेकत्व-सम्बन्धी पूर्व धारणा के कारण इसके अनुयायी अनेकत्व को ही परम सत्य मानते है। मुक्तात्माओ के विषय मे यह समझा जाता है कि वे नित्य विशिष्ट

1 तर्कदीपिका, पृष्ठ 14।
2 वैशेषिकसूत्र, 3 2, 6।
3 वैशेषिकसूत्र, 3 2 8 और 18।
4 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, पृष्ठ 69 वैशेषिकसूत्र 3 1, 19।
5 वैशेषिकसूत्र, 3 2, 4-13।
6 अशरीरिणामात्मना न विषयावबोध (न्यायकदली पृष्ठ 57, पृष्ठ 279 भी देखिए)।
7 व्यवस्थातो नाना (वैशेषिकसूत्र, 3 2, 20)।
8 शास्त्रसामर्थ्यात (वैशेषिकसूत्र 3 2, 21)।
9 वैशेषिकसूत्र 6 1 5।
10 न्यायकदली, पृष्ठ 86।
11 'यदि आत्मा एक होती तो मन का सम्पर्क सब मनुष्यो से एक समान रहता जो आत्माओ की अनेकता को स्वीकार करता है, उसके लिए यद्यपि सब आत्माए सर्वव्यापक होने के कारण सब शरीरो मे उपस्थित रहेगी तो भी उनके अनुभव उन सबके लिए समान न होगे, क्योकि उनमे से प्रत्येक केवल ऐसे ही सुखो आदि का अनुभव करेगी जो उस विशिष्ट शरीर मे प्रकट होगे जोकि उसे अपने पूर्व कर्मो के अनुसार मिला है और कर्म का सम्बन्ध भी उसी आत्मा के साथ है जिसके शरीर मे वह कर्म किया गया है। इस प्रकार शरीर का प्रतिबन्ध कर्म के प्रतिबन्ध के कारण और कर्म का शरीर के कारण है, और इस प्रकार की पारस्परिक निर्भरता अन्तहीन है" (न्यायकदली, पृष्ठ 87-88)।

भेदों सहित ही रहती है।[1] यद्यपि प्रत्येक आत्मा का अपना एक विशेषत्व समझा जाता है, तो भी वह क्या है यह जानना हमारे लिए असम्भव है। आत्माओं में परस्पर भेद उनके भिन्न-भिन्न शरीरों के साथ सम्बन्ध के कारण है। पुनर्जन्म में भी मन आत्मा के साथ जाता है और उसे व्यक्तित्व प्रदान करता है। हर एक प्रयोजन के लिए, आत्मा का वैशिष्ट्य मन के वैशिष्ट्य पर निर्भर करता है जो आत्मा के साथ बराबर जीवन-भर रहता है। मन भी आत्मा के समान असंख्य हैं। क्योंकि वही मन जन्म-जन्मान्तर में भी बराबर आत्मा के साथ रहता है, इसलिए मृत्यु के उपरान्त भी चरित्र का निरन्तर बने रहना सम्भव है।[2] जीवात्मा तथा परमात्मा के अन्दर भेद किया गया है।[3] इन दोनों में सादृश्य तो है किन्तु तादात्म्य नहीं है।

आकाश, देश और काल के निम्नतर उपवर्ग नहीं है और ये व्यक्तिगत सत्ताएं हैं।[4] इन्हें अनुभव की विविधता की व्याख्या के लिए सर्वतोव्यापी इकाइयां मान लिया गया है। इन्हीं के अन्दर समस्त घटनाएं घटित होती हैं। देश और काल सब उत्पन्न पदार्थों के साधनरूप कारण हैं। यथार्थता एक प्रक्रिया अथवा मार्ग है और इसीलिए देशीय तथा कालगत भी है।

भौतिक परिवर्तनों के लिए हमें एक सम्पूर्ण इकाई की आवश्यकता होती है जिसके अन्तर्गत वे घटित होते हैं। सभी परमाणुवादी रिक्तदेश (आकाश) को यथार्थ-सत्ता मानते हैं। यदि देश अनेक इकाइयां होता, तो भिन्न-भिन्न देशों में चक्कर लगाने वाले परमाणुओं का एक-दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध न रह सकता। पूर्व-पश्चिम आदि दिशा सम्बन्धी भावों तथा दूर और समीप से सम्बन्धित भावों का भी आधार देश ही है।[5] देश की प्रतीयमान विविधता उसके कार्यों द्वारा निर्णीत होती है।[6] वस्तुओं की सापेक्षिक स्थितियां भी देश ही के कारण स्थिर रह सकती हैं, जो देश के बिना सम्भव नहीं हो सकती थीं।

प्रकृति में होनेवाले मूर्त परिवर्तनों, यथा वस्तुओं की उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता, के लिए भी काल का होना आवश्यक है। यह वह शक्ति है जो अनित्य पदार्थों में परिवर्तन लाती है। यह वह ब्रह्माण्ड शक्ति नहीं है जो गतियों को उत्पन्न करती है, बल्कि यह समस्त गति की आवश्यक अवस्था है।[8] सब दृश्यमान वस्तुएं गति करती हुई, परिवर्तित होती हुई, उत्पन्न होती हुई तथा नष्ट होती हुई दिखाई देती हैं। खण्डित अर्थात अलग-अलग वस्तुओं के अन्दर आत्म-उत्पादन अथवा आत्म-गति की कोई शक्ति नहीं होती। यदि ऐसी शक्ति होती तो वस्तुओं में वह पारस्परिक सम्बन्ध न होता जो

1 डाक्टर दासगुप्त के इस सुझाव को स्वीकार करना कठिन है कि वैशेषिकों का यह वि- "आत्मा एक है, यद्यपि अनेक प्रतिबन्धों के विचार से और श्रुतियों के दिए गए आदेशों के पालन करने की आवश्यकता के लिए भी उन्हें अनेक मान लिया गया।" (हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ 290, टिप्पणी 1)। वैशेषिक का लौकिक विविधता से प्रयोजन है, परमतत्त्व से नहीं, और अनेकत्व के मत को, क्योंकि यह विशेष के सिद्धान्त पर आश्रित है, वह अन्तिम रूप में ही स्वीकार करता है।

2 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 89, वैशेषिकसूत्र, 7 2, 21; 3 2, 22।

3 किरणावली, पृष्ठ 7 और आगे; देखिए उपस्कार, 3 2, 18।

4 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 58।

5 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 23।

6 तर्कसंग्रह, 16, भाषापरिच्छेद, पृष्ठ 46-47।

7 वैशेषिकसूत्र, 2 2, 13।

8 2 2, 9, 5 2, 26। इस मत को उस प्रकार का 'कालवाद' न समझ लेना चाहिए जो काल को दैवत्व का रूप देता है।

सब प्रकार के परिवर्तन के होते हुए भी स्थिर रहता है। गति सुव्यवस्थित अवस्था में पाई जाती है, जिसका अर्थ है कि एक ऐसी यथार्थसत्ता अवश्य है जिसका सामान्य ज्ञान सम्बन्ध समस्त परिवर्तनों के साथ रहता है। काल को एक स्वतन्त्र यथार्थसत्ता माना गया है जो समस्त विश्व में व्याप्त है और जो वस्तुओं की व्यवस्थित गति को सम्भव बनाती है। यही काल पहले-पीछे होने, एक समय में तथा भिन्न-भिन्न समय में होने के सम्बन्धों और शीघ्र अथवा विलम्ब के भावों का आधार है।[1] काल एक ही है जो विस्तार में सर्वत्र उपस्थित है।[2] यह स्वरूप में व्यक्तिरूप है, और इसमें जोड़ने तथा अलग करने के दोनों प्रकार के गुण हैं। क्षण, मिनट, घण्टा, वर्ष आदि प्रचलित लौकिक भाव उसी ठोस मूर्तरूप समय से निकले हैं। वैशेषिक के मत में, काल एक नित्य द्रव्य है[3] और समस्त अनुभव का आधार है।[4] हम यह तो नहीं जानते कि काल अपने-आप में क्या है, किन्तु हमारा अनुभव काल के रूप में ढाला जाता है। पहले अथवा पीछे के सम्बन्धों का यह औपचारिक कारण है, जबकि उनका भौतिक कारण, घड़ा, कपड़ा आदि पदार्थों का स्वरूप है। काल एक ही है, किन्तु अनेकरूप जो प्रतीत होता है उसका कारण उन परिवर्तनों के साथ सपर्क है जो इसके साथ सम्बद्ध है।[5]

देश और काल का भेद वैशेषिक ग्रन्थों में पाया जाता है। देश सह-अस्तित्व का प्रतिपादन करता है और काल अनुक्रम का, अथवा ऐसा कहना अधिक ठीक होगा कि देश दृश्यमान पदार्थों का वर्णन करता है और काल ऐसे पदार्थों का वर्णन करता है जो उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट होते हैं।[6] शंकरमिश्र का मत है कि काल के सम्बन्ध बराबर रहने वाले अथवा नियत हैं तथा देश के सम्बन्ध अनियत हैं।[7] वस्तुएं गति करती हैं काल के कारण, और परस्पर सम्बद्ध रहती हैं देश के कारण। देश और काल के अन्दर, अधिकतर सर्वग्राही सम्बन्ध, अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान तक अथवा एक अवस्था में दूसरी अवस्था में सक्रमण देश-सम्बन्धी गमनागमन और कालगत परिवर्तन आ जाते हैं। किन्तु ये सब औपचारिक हैं और यथार्थ वस्तुओं के उपलक्षण हैं, जो वस्तुतः गति करती हैं तथा परिवर्तित होती हैं।

आकाश एक सरल (अमिश्रित), निरन्तर स्थायी तथा अनन्त द्रव्य है। यह शब्द का अधिष्ठान है। यह रंग, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणों से रहित है। अपनयन की क्रिया द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि शब्द आकाश का विशिष्ट गुण है।[8] यह निष्क्रिय है। समस्त भौतिक पदार्थ इसके साथ संयुक्त पाए जाते हैं।[9] परमाणु, जो अत्यन्त सूक्ष्म है, एक-दूसरे के पास आकर अथवा एक-दूसरे को स्पर्श करके किसी बड़े पदार्थ का निर्माण नहीं कर सकते। यदि वे एक-दूसरे से पृथक् रहते हैं और फिर भी किसी प्रकार से परस्पर मिलकर एक व्यवस्था को स्थिर रखते हैं, तो यह केवल आकाश

1 वैशेषिकसूत्र, 2 2 6।
2 7 1, 25।
3 2 2 7।
4 अतीतादिव्यवहारहेतु (तर्कसंग्रह, 15, भाषापरिच्छेद, 45)।
5 न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 136।
6 सिद्धान्तचन्द्रोदय में कहा है 'जन्यमात्र क्रियामात्र वा कालोपाधि, मूर्तमात्र दिगुपाधि''।
7 उपस्कार 2 2 10। तुलना कीजिए इसके साथ काण्ट के अनुभव विषयक दूसरे तथा तीसरे उपमान की।
8 वैशेषिकसूत्र, 2 1, 27, 29 31।
9 न्यायसूत्र, 4 2, 21-22।

के ही माध्यम द्वारा सम्भव है। परमाणु परस्पर संयुक्त होते हैं किन्तु निरन्तर नहीं संयुक्त होते रहते। वह वस्तु जो परमाणुओं को परस्पर संयुक्त किए रहती है, यद्यपि स्वयं परमाणुओं द्वारा निर्मित नहीं है, आकाश है। यदि आकाश भी खण्डित होता, अर्थात् परमाणुओं में विभक्त होने योग्य होता, तो फिर हमें किसी अन्य ऐसी जोड़ने वाली वस्तु की कल्पना करनी पड़ती जो परमाणुओं से बनी न हो। आकाश नित्य है, सर्वत्र उपस्थित है, इन्द्रियातीत है और जोड़ने तथा पृथक् करने के व्यतिक्रमित गुण रखता है। आकाश समस्त देश को पूर्ण करता है, यद्यपि यह स्वयं देश नहीं है, क्योंकि यह वस्तुओं के साथ विशेष सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध हुए बिना और उन सम्बन्धों द्वारा उनमें शब्द उत्पन्न किए बिना न तो वस्तुओं पर कोई प्रभाव डाल सकता है और न क्रिया ही कर सकता है। खण्डित पदार्थों के स्थिति-विषयक सम्बन्धों तथा उनकी व्यवस्था को जो धारण किए रहती है वह दिक् (दिशा) है, यद्यपि वह स्वयं देश नहीं है, यदि देश से तात्पर्य स्थान अथवा आकाश है, क्योंकि यह तो आकाश ही है। आकाश तथा देश के भेद को इसलिए स्वीकार किया जाता है कि जहां आकाश को उसके विशेष गुण अर्थात् शब्द का भौतिक कारण समझा जाता है, वहां देश सब कार्यों का सामान्य रूप से कारण है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच द्रव्यों के सम्बन्ध में वैशेषिक की भौतिक प्रकल्पना का परिष्कार किया गया है। प्रकृति, जैसी कि वह हमारे सामने आती है, पांच तत्त्वों का सम्मिश्रण है, जिसमें एक न एक तत्त्व प्रचुर मात्रा में रहता है। पंचभूत प्रकृति की पांच अवस्थाएं हैं, जैसे ठोस (पृथ्वी), तरल (जल), वायवीय (वायु), तेजोमय (अग्नि), अन्तरिक्ष-सम्बन्धी (आकाश)। पृथ्वी के चार गुण हैं: गन्ध, रस, रंग और स्पर्श। जल के तीन गुण हैं रस, रंग तथा स्पर्श। अग्नि के दो गुण हैं रंग और स्पर्श। वायु में केवल स्पर्श गुण है तथा आकाश में केवल शब्द गुण है।[1] यद्यपि पृथ्वी में अनेक गुण हैं तो भी हम कहते हैं कि गन्ध पृथ्वी का गुण है, क्योंकि यह गुण प्रधान मात्रा में है।[2] यदि पृथ्वी के अतिरिक्त जल तथा अन्य द्रव्यों में भी गन्ध मिलती है तो इस कारण से कि उनमें पृथ्वी के अंश मिले हुए हैं। बिना गन्ध के हम पृथ्वी का विचार कर ही नहीं सकते, यद्यपि वायु और जल का कर सकते हैं। पृथ्वी से बनी वस्तुएं तीन प्रकार की हैं शरीर, इन्द्रियां तथा प्रत्यक्ष-विषयक पदार्थ।[3] जल का विशेष गुण रस है। अग्नि का विशेष गुण ज्योतिर्मत्ता है। वायु अदृश्य है, यद्यपि विस्तार में सीमित है और अंशों से मिलकर बनी है। वायु में गतियों के होने से यह अनुमान किया जाता है कि वायु खण्डितस्वरूप की है। यदि वायु अंशों से रहित एक पूर्ण अविच्छिन्नता होती तो उसमें गतियां सम्भव न होतीं।[4] इसके अस्तित्व का अनुमान स्पर्श से होता है।[5] इसे द्रव्य इसलिए कहा गया है क्योंकि इसमें गुण तथा क्रिया है। सामान्य वायु का

1 न्यायसूत्र, 3 1, 60-61।
2 न्यायसूत्र, 3 1, 66।
3 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 27।
4 वैशेषिकसूत्र, 2 1, 14।
5 प्राचीन वैशेषिकों तथा अन्नंभट्ट का मत है कि वायु प्रत्यक्ष नहीं होती किन्तु उसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है। वे युक्ति देते हैं कि वायु का कोई रंग नहीं है और इसलिए वह देखी नहीं जा सकती। आधुनिक नैयायिकों का कहना है कि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह देखा ही जा सके, वायु का प्रत्यक्ष स्पर्श से होता है।

विशेष गुण है। पृथ्वी, वायु, अग्नि तथा जल जैसे ठोस पदार्थों का निर्माण करने वाले अन्त में परमाणु ही हैं।

6 परमाणुवाद की प्रकल्पना

परमाणुवाद मानवीय मस्तिष्क के लिए इतना स्वाभाविक है कि भौतिक जगत् की व्याख्या के लिए आरम्भ में जितने भी प्रयत्न हुए, सबने इसी प्रकल्पना को अपनाया। उपनिषदों में भी इस प्रकल्पना के चिह्न मिलते हैं, जो सब भौतिक पदार्थों को चार तत्त्वों, अर्थात् अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी, से बना हुआ मानते हैं। आकाश को छोड दिया गया है, क्योंकि इसका अपना एक विलक्षण स्वरूप है और यह अन्य तत्त्वों के साथ मिश्रित नही होता। किन्तु अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी अपने-आप में परिवर्तनशील और विभाज्य हैं, जबकि यथार्थ को अपरिवर्तनशील तथा नित्य माना जाता है। स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि अपरिवर्तनशील, अविभाज्य तथा नित्य ये परमाणु हैं क्या? विचारधारा के उस आदोलन मे, जिसने जैन और बौद्धदर्शन जैसी बडी-बडी दर्शनपद्धतियों को जन्म दिया, कुछ ऐसी भी दर्शन पद्धतिया थी—उदाहरण रूप मे आजीवक और जैन—जो परमाणुवाद की प्रकल्पना को मानती थी।[1] कणाद ने इसकी कल्पना विशुद्ध आध्यात्मिक आधार पर की और इसके द्वारा जगद्विषयक विचारधारा को सरस बनाने का प्रयत्न किया। ल्यूसिपस तथा डेमोक्रिटस के साथ भी यही बात थी, क्योंकि अणुवाद की प्रकल्पना ने डाल्टन के समय से पूर्व तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही प्राप्त किया।

सब पदार्थ, जो हिस्सों से मिलकर बने हैं, हिस्सों से ही उत्पन्न होते हैं, जिनके साथ वे समवाय-सम्बन्ध से जुडे होते हैं; सयोग इसमे सहकारी है। जिन वस्तुओं को हम अनुभव करते हैं वे सब उत्पन्न हुई हैं, अर्थात् या तो अलग-अलग हैं या हिस्सों से बनी हैं। इसलिए वे अनित्य हैं। नित्य से अलग अनित्य का कुछ तात्पर्य ही नही है।[2] पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु नित्य और अनित्य दोनो ही हैं। किन्तु आकाश केवल नित्य ही है। मिश्रित पदार्थ जो उत्पन्न होते हैं, अनित्य हैं; किन्तु उनके बनाने वाले अश, जो उत्पन्न नही होते, नित्य हैं।[3] अदृश्य नित्य परमाणु हिस्सों में विभक्त नही हो सकते।[4] परमाणु विभाजन की अन्तिम सीमा है। यदि परमाणु के भी अनन्त रूप से हिस्से हो सकते तो सभी भौतिक पदार्थ उसी प्रकार से अनन्त घटकों की उपज होते, और इस प्रकार पदार्थों के आकारों में जो भेद है उसकी व्याख्या करना असम्भव हो जाता।[5] यदि भौतिक प्रकृति अनन्त रूप से विभाज्य होती जाती तो उसको हमे शून्य तक ले जाना पडता और इस विरोधाभासमय स्थिति को स्वीकार करना

1 भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 291 93)। बौद्धधर्म के प्रामाणिक ग्रथो मे तो नही, किंतु उत्तरी बौद्ध-साहित्य मे परमाणुवाद की प्रकल्पना के अनेको उद्धरण है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक इसे मानते हैं। देखिए यूई-कृत 'वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ 26-28।

2 4 1, 4।

3 4 1, 1, 2 3, 4-5, 7 1, 20-21।

4 पर वा त्रुटे (न्यायभाष्य, 4 2, 17-25)।

5 सर्वेषाम् अनवस्थितावयवत्वे मेरुसर्षपयोस्तुल्यपरिमाणत्वापत्ति। देखिए न्यायकन्दली, पृष्ठ 31।

परन्तु कि लम्बाई व चौड़ाई ऐसी वस्तुओं से बनी है जिनका अपना कुछ परिमाण नहीं है, परन्तु शरीर-रहित से बने हैं।[1] शरीरों के आकार-प्रकार में परिवर्तन उनके बनाने वाले परमाणुओं के सम्मिलन तथा निःसरण के कारण होता है। अन्तविहीन महत्ता तथा अन्तविहीन मर्यादाएं हैं, और जिनका ज्ञान हमें होता है वह दोनों का मध्यवर्ती है। निरन्तर जोड़ते-जोड़ते हम अनन्त रूप में जो महान् है उस तक पहुंचते हैं। और निरन्तर विभाजन करते-करते हम अनन्त लघुता तक पहुंचते हैं। परमाणु कार्यों के मौलिक कारण हैं। वे यद्यपि इन्द्रियातीत हैं तो भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है, यद्यपि परिमाण, आकार, वजन तथा घनता के दृष्टिकोण से नहीं। इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं की विभिन्न आकृतियों में जो गुण वे उत्पन्न करते हैं, वे हमारे लिए परमाणुओं का वर्गीकरण करने में सहायक होते हैं। यदि हम इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं, अभेदनीयता जैसे सामान्य गुणों को, जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा होता है, एक ओर रख दें तो विशेष गुण ये रह जाते हैं : गन्ध, रस, उज्ज्वलता और ताप। इस प्रकार भेद में भिन्न हैं, केवल मात्राभेद से ही नहीं। ऐसा समझा जाता है कि परमाणुओं की भी भौतिक पदार्थों के चार विभागों—अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, तथा वायु—के ही अनुकूल चार श्रेणियां हैं। कहा गया है कि परमाणुओं की ये चार श्रेणियां स्पर्श, रस, दर्शन तथा गन्ध की इन्द्रियों को उत्पन्न करती हैं, और यही कारण है कि प्रत्येक विशेष इन्द्रिय केवल एक गुण का ही प्रकाश करती है, चाहे कितनी ही उत्तेजित वह क्यों न हो। यद्यपि पार्थिव पदार्थों के गुण—यथा रंग, रस, गन्ध और स्पर्शनीयता—स्वयं पदार्थ के नाश हो जाने पर लुप्त हो जाते हैं, वे उनके अपने-अपने परमाणुओं में सदा विद्यमान रहते हैं यद्यपि पृथ्वी तथा पृथ्वी के परमाणुओं में कुछ गुण अग्नि द्वारा उत्पन्न किए (पाकज) होते हैं।[2] जल, प्रकाश तथा वायु इस प्रकार के परिवर्तन को नहीं आने देते हैं।

वैशेषिक पीलुपाक की प्रकल्पना को स्वीकार करता है। जब कच्चे घड़े को आग पर चढ़ाया जाता है तो पुराना घड़ा नष्ट हो जाता है, अर्थात् परमाणुओं के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ताप के लगने से परमाणुओं में लाल रंग उत्पन्न होता है और परमाणु फिर से संयुक्त होकर एक नए घड़े को उत्पन्न करते हैं। इस मत के अनुसार, पहले समस्त इकाई का परमाणुओं के रूप में विघटन होता है और फिर उसके पश्चात् उन परमाणुओं का पुनः संघटन होकर एक इकाई नए सिरे से बनती है। यह सब जटिल प्रक्रिया चक्षु का विषय नहीं है, क्योंकि यह अत्यन्त द्रुत गति से केवल नौ क्षणों के ही व्यवधान में सम्पन्न हो जाती है।[3] नैय्यायिक 'पिठरपाक' के सिद्धान्त को पुष्ट करता है, जिसके अनुसार रंग का परिवर्तन परमाणुओं तथा पदार्थ दोनों में एक साथ होता है। यह मत अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। नैय्यायिक वैशेषिक की प्रकल्पना पर निम्न आधार पर आपत्ति उठाता है। यदि पहला घड़ा नष्ट हो गया और उसके स्थान पर सर्वथा नया घड़ा उत्पन्न हुआ तो हम दूसरे घड़े को पुराना घड़ा

1 इकर्ट के विचार में विविधता तथा अनुभव सम्बन्धी परिवर्तनों को तभी बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है जब वस्तुएं, जो अपने में सरल तथा अपरिवर्तनशील हैं, स्वयं उनके विषय में कोई कारण प्रस्तुत कर सकें। इस अर्थ में प्रयोगात्मकता का विचार कि हो विशेष सम्बन्धों से हो किया जा सकता है, जिनके द्वारा हम उनके प्रकट गुणों तथा परिवर्तनों की विविधता को समझ सकते हैं।

2 [illegible] 1, 16।

3 सर्वदर्शनसंग्रह, 10।

करके कैसे पहचान सकते है। हम उसी घडे को देखते है जिसे पहले देखते थे, भेद केवल रग का है। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि वैशेषिक के मत मे, पृथ्वी के परमाणुओ का गुण, गध भी अनित्य है। यह तथ्य की इन्द्रियग्राम्य पदार्थो पर ताप का असर होता है, यह दर्शाता है कि वे सर्वथा ठोस नही हे बल्कि छिद्र वाले है।[1]

परमाणुओ को गोलाकार (परिमाण्डल्य) बताया गया है, यद्यपि इससे यह परिणाम नही निकाला जा सकता कि उनके हिस्से है। इस विचार पर कि उनके हिस्से हैं, कुछ आपत्तिया की जाती है। जब तीन परमाणु साथ साथ अगल-बगल रखे जाते है तो मध्यवर्ती अन्य परमाणुओ की पार्श्वो मे स्पर्श करता है। जब एक परमाणु सब ओर से घिरा रहता है तो हम परमाणुओ के छ पार्श्व समझते है जिन्हे हम परमाणुओ के भाग कह सकते है, और यदि छ पार्श्व सकुचित होकर एक बिन्दु पर आ जाते है तो इससे यह परिणाम निकलेगा कि कितने भी परमाणु क्यो न हो, वे एक परमाणु से अधिक स्थान न घेरेगे, और समस्त भौतिक पदार्थ भी परमाणुरूप धारण करके अदृश्य हो जाएगे। इस सब कठिनाई को दूर करने के लिए उत्तर मे कहा जाता है कि परमाणुओ का हिस्सो मे विभाजन केवल आनुभविक (अर्थात प्रतीतिमात्र) है, यथार्थ नही है।[2] परमाणुओ का अन्दर और बाहर कुछ नही है।[3] और वे देशरहित है।[4]

परमाणु स्वभाव से निष्क्रिय है और उनकी गति बाह्य आघात के कारण है। इस जगत् के प्रलयकाल मे परमाणु विद्यमान रहते हैं, किन्तु कुछ कार्य नही करते। उस समय वे पृथक्-पृथक तथा गतिविहीन रहते हैं। वैशेषिक के मतानुसार, मूल परमाणुओ मे गति एक विशिष्ट धर्म के अनुसार होती है।[5] प्रशस्तपाद कहता हे महाभूतो मे हम जो क्रियाए प्रकट होती पाते हे और जिनका कोई भी कारण न तो प्रत्यक्ष द्वारा और न ही अनुमान द्वारा जान सकते हैं तथा जो फिर भी उपयोगी अथवा हानिप्रद पाई जाती है, इन्ही अदृष्ट साधनो द्वारा उत्पन्न होती है (अदृष्टकारितम्)[6], ऐसा ही समझा जाएगा।

पदार्थगत गुण उन परमाणुओ के कारण है, जिनसे वे बने हैं। इन परमाणुओ मे सब द्रव्यों के पाच सामान्य गुण रहते है, यथा पूर्ववर्तिता और पश्चाद्वर्तिता के भी गुण रहते हैं। इनके अतिरिक्त, पृथ्वी मे गन्ध का विशेष गुण है तथा अन्य गुण, अर्थात रस, रग, स्पर्श अथवा ताप, गुरुता, वेग एव तरलता हैं। जल मे विशेष गुण सान्द्रता का है तथा सिवाय गन्ध के पृथ्वी के अन्य गुण

1 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृष्ठ 355 न्यायमञ्जरी पृष्ठ 438।

2 न्यायभाष्य 4 2 20।

3 प्रश्न उठाया जाता है कि आकाश जो एक सरल (अमिश्रित) तथा सर्वव्यापक द्रव्य है परमाणुओ के अन्दर प्रवेश करता है या नही ? यदि करता हे तो परमाणुओ के हिस्से मानने पडेग और यदि प्रवेश नही करता तो परमाणुओ के तो हिस्से नही होगे किन्तु आकाश सर्वव्यापी नही रहेगा। उत्तर म यह कहा जाता है कि अन्दर और बाहर का विचार एक नित्यसत्ता के विषय मे रहना ही नही और आकाश की सर्वत्र उपस्थिति से यह उपलक्षित नही होता कि परमाणुओ के हिस्से है।

4 न्यायवार्तिक 4 2 25। परमाणु बृहत्ता के विपरीत सूक्ष्म आकार के कहे जाते हैं। उनमे किसी न किसी प्रकार का परिमाण (लम्बाई चौडाई) अवश्य है। इसमें विभिन्न मत के लिए देखिए चैटर्जीकृत हिन्दू रियलिज्म पृष्ठ 19 34, 149 153 तथा 164।

5 धर्मविशेषात 4 2, 7।

6 पृष्ठ 309।

है। प्रकाश (अग्नि अथवा तेज) में साधारणतः रहने वाले सात गुण और ताप, रंग, तरलता तथा वेग, ये गुण हैं। वायु में केवल स्पर्श और वेग तथा साधारण सात गुण हैं। परमाणुओं में ये गुण नित्य हैं, किन्तु उनसे उत्पन्न पदार्थों में ये क्षणिक रूप से रहते हैं।

ऐसा समय कभी न आ सकेगा जब वस्तुएं सर्वथा शून्य में परिणत हो जाएंगी। यद्यपि निर्माण की गई इमारतें नष्ट हो जाती हैं तथापि जिन पत्थरों से वे बनी हैं वे स्थायी रहते हैं।[1] उपादान कारणरूप अवयव, जिनके परस्पर संयुक्त होने पर एक पूर्ण इकाई बनती है, और इसीलिए जो इस प्रकार के मिश्रित पदार्थों की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान थे, अपने में एक स्वतन्त्र सत्ता की शक्ति रखते हैं और फिर उसी अवस्था में वापिस आ जाते हैं। इस दृश्यमान जगत् का एक के बाद एक ढांचा, यहां तक कि समस्त पार्थिव पदार्थसमूह विलीन हो सकता है तो भी परमाणु सर्वदा नये और ताजे रहेंगे और आगामी युगों में नये ढांचों का निर्माण करने के लिए उद्यत रहेंगे। व्यक्तिरूप परमाणु दूसरों के साथ संयुक्त होते हैं और उसी सहकारी अस्तित्व में कुछ समय तक विद्यमान रहते हैं, और फिर वियुक्त होकर अपने आदिम एकाकी रूप में आ जाते हैं और फिर नये संयुक्त पदार्थों का निर्माण करते हैं। संयुक्त होने तथा विलग होने की यह प्रक्रिया अनन्त काल तक चलती रहती है। वैशेषिक के अनुसार, सृष्टिरचना में परमाणु असंयुक्त अवस्था में नहीं रहते।[2] सृष्टिरचना में उनके अन्दर एक परिस्पन्द रहता है। परमाणु एकाकी रूप में जब रहते हैं तो उनके अन्दर उत्पादन की क्षमता नहीं होती। श्रीधर का तर्क है कि यदि एक नित्य वस्तु अपने एकाकी रूप में उत्पादनक्षम होती तो उत्पत्ति के क्रम का कभी अन्त न हो सकता, और फिर पदार्थों की अविच्छिन्नता स्वीकार करने को हम बाध्य होते। त्र्यणुक भी उत्पादनक्षम नहीं हो सकते, क्योंकि एक मूर्तिमय भौतिक पदार्थ अपने से लघुतर परिमाण के हिस्सों से मिलकर बना है। त्र्यणुक, जो एक ठोस परिमाण रखता है, अवश्य किसी अन्य वस्तु से बना है जो फिर स्वयं भी एक उत्पन्न पदार्थ है। इसलिए केवल 'द्व्यणुक' ही वस्तुओं को बनाते हैं।[3] द्व्यणुक भी, जो दो मौलिक परमाणुओं से मिलकर बने हैं, सूक्ष्म हैं, और इस प्रकार के तीन द्व्यणुक मिलकर एक त्र्यणुक बनता है,[4] जिसका आकार-प्रकार इतना छोटा नहीं होता कि जो प्रत्यक्ष न हो। अकेला एक परमाणु तथा द्व्यणुक दोनों ही अदृश्य हैं, और कम से कम लम्बाई-चौड़ाई की मात्रा जो दृष्टिगोचर हो सके वह 'त्र्यणुक' है, जिसके विषय में कहा जाता है कि वह सूर्यकिरण में दिखाई देनेवाले छोटे-छोटे कणों के आकार का है। देखने में यह इस साधारण नियम का एक अपवाद लगता है कि कारणों के गुण कार्यों में प्रकट होते हैं। जब श्वेत वर्ण के दो परमाणु एक द्व्यणुक को बनाने के लिए परस्पर मिलते हैं तो द्व्यणुक का रंग भी तदनुसार श्वेत होना चाहिए। परन्तु परमाणु गोलाकार हैं और

1 न्यायभाष्य 4 : 2, 16।

2 अन्तरिक्ष मण्डल की वायु इस नियम का अपवाद है क्योंकि कहा जाता है कि यह अनेक परमाणुओं के पुञ्जों से बनी है जो अलग-अलग तथा असंयुक्त अवस्था में हैं। किन्तु नैयायिक इस मत से सन्तुष्ट नहीं हैं।

3 न्यायकन्दली, पृष्ठ 32।

4 कुछेक परवर्ती वैशेषिक विचारकों की यह सम्मति है कि एक त्र्यणुक तीन एकाकी अणुओं से मिलकर बना है। (सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ 31, कुई, 'वैशेषिक सिस्टम', पृष्ठ 130-31)।

द्वयणुक सूक्ष्म है,[1] तो भी वे एक दृश्यमान परिमाण को उत्पन्न करते है। इसीलिए यह कहा जाता है कि उत्पन्न पदार्थ का परिमाण उनके हिस्सों अथवा उनकी सख्या अथवा उनकी अवस्था पर निर्भर करता है।[2] ज्यो ज्यो द्वयणुको की सख्या बढती है, त्यो-त्यो उसके अनुसार उत्पन्न पदार्थ के परिमाण मे भी वृद्धि होती है। परमाणुओ के सयोग से उत्पन्न वस्तुए केवल समूहमात्र नही, अपितु पूर्ण इकाइया है। यदि हम पूर्ण इकाई का प्रत्याख्यान करें तो हमारे सामने केवल हिस्से ही रहेगे, जिनके और छोटे-छोटे विभाजन होते चलेंगे और अन्त मे हम उन्ही अदृश्य परमाणुओ तक पहुँच जाएगे। इसी प्रकार यदि हम पूर्ण इकाई का निषेध करें तो हम अदृश्य परमाणुओ से परे अन्य किसी सत्ता को नही मान सकते। यदि यह कहा जाय कि परमाणु अपने-आपमे अदृश्य है तथा परमाणुओ के सग्रह दिखाई दे सकते हैं, जैसेकि एक अकेला योद्धा अथवा एक अकेला वृक्ष दिखाई न पडे किन्तु एक पूरी सेना अथवा जगल को अवश्य देखा जा सकता है, तो उत्तर मे न्याय का कहना है कि यह उपमा निर्दोष नही है, क्योकि योद्धा और वृक्ष परमाणु रखते है और इसीलिए दिखाई देते हैं, जबकि परमाणु परिमाण नही रखते।[3] पूर्ण इकाई हिस्सो से भिन्न एक वस्तु (अर्थान्तर) है, जिस प्रकार कि सगीत स्वरो के जोड से बढकर कुछ वस्तु है।[4] इसके अतिरिक्त, यदि पूर्ण इकाई न होती तो इस प्रकार के वाक्यो का कुछ अर्थ न होता कि 'वह एक कुरसी है', 'यह एक मनुष्य है' आदि-आदि। पूर्ण इकाई और उसके हिस्से परस्पर समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध है।[5]

हिन्दू विचारधारा का कोई भी सम्प्रदाय ऐसा नही है जिसने कालचक्र-(युगो) रूपी प्रकल्पना पर अथवा सृष्टि-रचना तथा विनाश (प्रलय) के क्रमश आते रहनेवाले विश्व ब्रह्माण्ड के कालो पर, जिस पर पहले ही बहुत गम्भीर विचार होता आया है, फिर से विचार न किया हो। प्रशस्तपाद ने इन प्रक्रियाओ का वर्णन किया है।[6] ब्रह्मा के दिन की गणना के अनुसार जब सौ वर्ष हो जाते हैं तो उसकी मुक्ति का समय आता है। उन सब जीवधारी प्राणियो को, जो अपने जन्म-जन्मान्तर के भ्रमण के कारण बेचैन हो गए हैं, विश्राम देने के लिए सर्वोपरि भगवान् (जो ब्रह्म से भिन्न है) समस्त सृष्टि को फिर से समेटने की इच्छा करता है। इस इच्छा के उदय का आशय होता है कि आत्माओ के उन सब अदृष्ट कारणो को जो प्राणियो के विविध शरीरो, इन्द्रियो तथा महाभूतो के कारण है, रोक देना। उस समय भगवान की इच्छा से आत्माओ तथा भौतिक परमाणुओ के सयोग से शरीर और इन्द्रियो का निर्माण करनेवाले परमाणुओ का पार्थक्य हो जाता है। जब परमाणुओ के समूह नष्ट हो जाते है तो उनसे निर्मित पदार्थ भी नष्ट हो जाते है। तब फिर परमरूप भौतिक द्रव्यो, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु का एक-दूसरे के पश्चात् क्रमश विलय होता है। परमाणु एकाकी रह जाते है तथा आत्माएं भी अपने

1 महादेवभट्ट का मत है कि द्वयणुक अतीन्द्रिय नही है। 'दशपदार्थी' का भी यह मत है। देखिए यूई वैशेषिक फिलासफी और 'न्यायकोश', पृष्ठ 350।

2 वैशेषिकसूत्र, 7 1, 9।

3 न्यायभाष्य, 4 2 14।

4 न्यायसूत्र, 2 1, 35 36।

5 न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक, 4 2 12।

6 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, पृष्ठ 48 से आगे।

पिछले पुण्य व पाप की क्षमताओं से व्याप्त अकेली रहती हैं। उसके पश्चात् फिर प्राणियों को उनके पूर्वकर्मों का फलोपभोग कराने के लिए, सर्वोपरि भगवान् सृष्टि-रचना की इच्छा करता है। ईश्वर की इच्छा से वायु के परमाणुओं में, उन अदृष्ट प्रवृत्तियों के कारण जो सब आत्माओं में कार्य करना प्रारम्भ करती हैं, गति उत्पन्न होती है। वायु के परमाणु द्वयणुक तथा त्र्यणुक और अन्त में महान् वायु को बनाने के लिए परस्पर संयुक्त होते हैं, और शीघ्र ही महान जल प्रकट होता है, उसके बाद महान पृथ्वी और तब महान अग्नि। ईश्वर के विचारमात्र (अभिध्यानमात्र) से अग्नि तथा पृथ्वी के परमाणुओं में ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, और उसके अन्दर भगवान जगत् तथा ब्रह्मा की रचना है। उस ब्रह्मा के सुपुर्द ही भविष्य में सृष्टि रचना का कार्य रहता है। आत्माओं की श्रेणियों में ब्रह्मा सबसे शीर्षकोटि में है, और इस पद को वह तब तक संभाले रहता है जब तक उसके पुण्यकर्मों का सामर्थ्य बना रहता है। यह जगत् समग्ररूप में ब्रह्मा की रचना नहीं है, और न ऐसा ही है कि उसके पुण्यकर्म के निःशेष हो जाने के परिणामस्वरूप यह जगत् स्वतः नष्ट हो जाएगा। यह उत्तरदायित्व सर्वोपरि भगवान् का है। ब्रह्मा, ज्ञान की उच्चतम मात्राओं, प्रशान्तचित्तता तथा शक्ति के कारण, अपने मानस पुत्रों, अर्थात् प्रजापतियों, मनुओं, देवताओं, पितरों, ऋषियों तथा चारों वर्णों एवं अन्य सब जीवित प्राणियों की उनकी अपनी-अपनी प्रभावात्मक क्षमताओं के अनुसार सृष्टि करता है।[1] श्रीधर के अनुसार अनन्तरूप में महान और अपरिवर्तनशील तीन द्रव्य, अर्थात् देश, काल और आकाश, सृष्टि-रचना तथा विनाश की प्रक्रियाओं से अछूते रहते हैं। विश्व की नवीन रचना नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्रत्येक विश्व अनादि शृंखलाओं में से एक है। जगत् की सृष्टि इस प्रयोजन से होती है कि चेतनता-सम्पन्न जीवात्माएं, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार, अनुभव प्राप्त कर सकें। प्राणियों की मूलभूत शक्तियों को वास्तविक रूप देने का नाम ही विश्व है और इसकी रचना उनके कर्मों के कारण तथा उन्हें अनुभव कराने के प्रयोजन से हुई है। किसी भी समय का सबसे उच्चकोटि का प्राणी ब्रह्मा है और कहा जाता है कि समस्त विश्व उसीके अनुभव के लिए बना है। किन्तु सम्पूर्ण योग्यता एक अर्जित वस्तु है और इसीलिए उसका आदि भी है और अन्त भी है। अतएव ब्रह्मा की योग्यता भी अनन्त नहीं है। जब उसका अन्त होगा तो विश्व का भी अन्त हो जाएगा, ऐसा कहा जाता है। परन्तु अन्य व्यक्तियों के बिना भुगते हुए अनुभव शेष रह जाएंगे। यदि एक ब्रह्मा की योग्यता का अन्त हो जाएगा तो दूसरा ब्रह्मा उसके स्थान पर आकर उन्च आत्माओं की सृष्टि में अधिष्ठाता का पद संभाल लेगा। इस प्रकार प्रत्येक विश्व के पूर्व और पश्चात् एक विश्व रहता है, और यह सृष्टि

[1] फैडिगन सृष्टि-रचना तथा प्रलय के क्रमों में एक महत्त्वपूर्ण भेद का लक्ष्य करता है। अग्नि का निर्माण वायु की रचना के तुरन्त पश्चात् होने के स्थान में सबसे अन्त में होता है। 'सृष्टिकर्ता का हेतु क्रम बदलने में यह था कि अग्नि की सृष्टि सृष्टि-संबंधी अण्ड, अर्थात् हिरण्यगर्भ की सृष्टि, से ठीक पहले हो, क्योंकि हिरण्यगर्भ का, जो सोने का है, निर्माण अग्नि और पृथ्वी के मिश्रण से हुआ है। इस प्रकार पद्धति के सामञ्जस्य का यह प्रचलित पौराणिक विचारों को अनुकूलता देने के प्रयोजन से हुआ" (वैशेषिक सिस्टम, पृष्ठ 164)।

का प्रवाह अनन्तकाल तक चलता रहता है।[1]

परमाणु जो द्वयणुको के भौतिक कारण हैं, नित्य है और इसीलिए नष्ट नही हो सकते। द्वयणुक मूल परमाणुओ के नाश से नही, अपितु मूल परमाणुओ के सयोग के नाश से नष्ट होते हैं।[2] प्राचीन नैय्यायिकों का मत है कि कारणो का विनाश होने से कार्यो का भी तुरन्त विनाश हो जाता है। 'द्वयणुक' अपवाद-स्वरूप है, जहा सयोगमात्र का विनाश होता है किन्तु उनके भौतिक कारणो का विनाश नही होता। किन्तु परवर्ती नैय्यायिको का मत है कि हर अवस्था मे सयोग नष्ट होता है। यह मत अधिक सन्तोषजनक है, क्योकि विनाश का अर्थ वस्तुओ का अपने घटको (अवयवो) मे उत्तरोत्तर विघटन ही है। यदि विनाश की प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है किन्तु रचना की प्रक्रिया का विपरीत-भाव नही होता, और यदि हिस्सो के नाश से कार्य का विनाश हो जाता है, तो इन प्रक्रियाओ के मध्य व्यवधान रहेगा, अर्थात् हिस्सो के नाश के पश्चात् भी कार्य अवशिष्ट रह जाएगे और यह सोचना असम्भव होगा कि इस मध्यवर्ती समय मे कार्य कहा रहेगा। हिस्सो मे वह रह नही सकता, क्योकि वे तो विलुप्त हो चुके हैं। परमाणुओ मे भी नही रह सकता क्योकि कार्यो के साथ उनका सीधा सम्बन्ध नही है।[3]

शकराचार्य अनेक युक्तियो के आधार पर परमाणुवाद की आलोचना करते हैं। प्रलयकाल मे गति का आरम्भ विचार मे नही आ सकता। मनुष्य के प्रयत्न से यह गति नही हो सकती, क्योकि मनुष्य का तो उस समय अस्तित्व ही नही था। यदि अदृष्टरूपी तत्त्व को उसका कारण माना जाए तो प्रश्न उठता है—अदृष्ट का निवास कहा है ? यदि कहा जाए कि वह जीवात्माओ मे रहता तो वह परमाणुओ को कैसे प्रभावित करता है ? यदि परमाणुओ मे रहता है तो बुद्धि-सम्पन्न न होने से वह गति नही दे सकता। यदि कल्पना की जाए कि जीवात्मा परमाणुओ के अन्दर समवाय-सम्बन्ध से रहती है और अदृष्ट उसके साथ सयुक्त रहता है, तो नित्य क्रियाशीलता होनी चाहिए, जो विघटन की अवस्था के विपरीत होगा। इसके अतिरिक्त, यह कहा जाता है कि अदृष्ट का कार्य आत्माओ को उनके कर्मो का शुभाशुभ फल भोग कराना है तथा विश्व की उत्पत्ति अथवा विलय से उसे कुछ प्रयोजन नही है। परमाणुओ के परस्पर सयुक्त होने के सम्बन्ध मे शकराचार्य कठिनाइया उपस्थित करते है। यदि परमाणु पूर्णरूप मे एक दूसरे के साथ सयुक्त होते हैं तो एक-दूसरे के अन्दर समा जाने से परिमाण नही बढ सकता। तब वस्तुओ की उत्पत्ति भी सम्भव नही हो सकती। यदि पूर्णरूप से सयुक्त न होकर परमाणु हिस्सो मे सयुक्त होते है, तो परमाणुओ को हिस्से वाला मानना पडेगा। इसके अतिरिक्त यह भी समझना कठिन होगा कि परमाणुओ के मिश्रण देशीय गुणो को कहा

1 उदयन आत्मतत्त्वविवेक।

2 परमाणुद्रव्यसयोगनाश।

3 वैशेषिक के अनुसार दो प्रकार के विनाश विचार मे आ सकते हैं एक अवान्तरप्रलय अर्थात बीच का प्रलय जिसमे केवल स्पर्श मे आनेवाले ठोस उत्पन्न पदार्थ विनष्ट होते हैं और एक महाप्रलय अथवा सार्वभौम विनाश जिसमे सब वस्तुए भौतिक तथा अभौतिक परमाणुरूप मे लौट जाती हैं। सृष्टि तथा प्रलय नित्य की समता तथा विकास (स्पष्टीकरण) के रूप हैं। तुलना कीजिए महानारायण उपनिषद्, 5, कीथ इण्डियन लाजिक एण्ड ऐटोमिज्म, पृष्ठ 216।

से प्राप्त करते हैं, क्योंकि परमाणुओं की इकाई में वे नहीं होते। परमाणुओं के संयोग में वे गुण कहां से आए जो स्वयं परमाणुओं में पहले नहीं थे? और यह समझना भी सरल नहीं है कि सूक्ष्म और अविनश्वर परमाणुओं में रंग तथा उसके समान और गुण कहां से आते हैं। फिर, भूतरूप तत्त्वों, यथा अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल और आकाश में से कुछ में अन्यों से अधिक गुण रहते हैं। जहां अग्नि में रंग, रस और स्पर्श गुण हैं, वहां वायु में केवल स्पर्श गुण ही है। ये गुण स्वयं परमाणुओं में भी किसी न किसी रूप में होने चाहिए। इस प्रकार जल के परमाणुओं में वायु के परमाणुओं से अधिक गुण होने चाहिए। किन्तु गुणों में वृद्धि होने का तात्पर्य है कि उनके आकार में भी वृद्धि होगी, और ऐसी अवस्था यह कथन कि सब परमाणु एक ही आकार के हैं, असंगत हो जाएगा। आत्मा, मन और परमाणुओं के परस्पर संयोग में भी कठिनाई है, क्योंकि ये सभी हिस्से-रहित हैं। फिर, परमाणुओं को या तो सदा क्रियाशील, या सदा निष्क्रिय अथवा दोनों ही प्रकार का, या दोनों में से एक प्रकार का भी नहीं मानना होगा। यदि उन्हें सदा क्रियाशील माना जाए तो उनका विघटन असम्भव होगा, और यदि वे सदा निष्क्रिय हों तो सृष्टि-रचना नहीं हो सकती। एक साथ दोनों प्रकार का होना परस्पर-विरोधी है। और यदि क्रियाशील तथा निष्क्रिय दोनों में से कुछ भी नहीं है, तो क्रियाशीलता तथा निष्क्रियता दोनों ही अवस्थाओं के लिए प्रवर्तक कारणों की कल्पना करनी होगी। और ये कारण, अदृष्ट तत्त्व के समान परमाणुओं के साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध होने के कारण, या तो नित्य क्रियाशीलता या नित्य निष्क्रियता को उत्पन्न करेंगे।[1]

आधुनिक विचारधारा परमाणुवाद की प्रकल्पना में सन्देह प्रकट करती है। वैशेषिक का यह मत कि समस्त अथवा विस्तृत पदार्थ असंख्य, असंसक्त तथा परिमित इकाइयों से मिलकर बने हैं, एक कोरी कल्पनामात्र है; क्योंकि कोई भी यथार्थ वस्तु इन इकाइयों तक सीमित नहीं है। छोटी से छोटी घटना की भी एक अवधि होती है, और उसमें इस प्रकार की गणितशास्त्रीय इकाइयां असंख्य रहती हैं।

ऐसा कहा जाता है कि वैशेषिक की उक्त प्रकल्पना को यूनानी विचारधारा से प्रेरणा मिली और इसका आविर्भाव सम्भवतः उस काल में हुआ जबकि भारत पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आया, जहां यह प्रकल्पना विस्तृतरूप में प्रचलित थी।[2] हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है। किन्तु परमाणुवाद की प्रकल्पना के सम्बन्ध में यूनानी तथा भारतीय विचारों में सिवाय इसके और कोई समानता नहीं पाई जाती कि दोनों परमाणु को अदृश्य इकाई मानते हैं। डेमोक्रेटिस के मत से, परमाणुओं में परस्पर परिमाण-सम्बन्धी भेद तो है किन्तु गुणात्मक भेद नहीं है। वह मानता है कि परमाणु अनन्त, गुणों से सर्वथा रहित और अविभाज्य हैं, किन्तु आकृति, परिमाण, गुरुत्व, स्थिति तथा व्यवस्था के सम्बन्ध में परस्पर भिन्नता रखते हैं। कणाद के मत में परमाणु भिन्न-भिन्न आकार के हैं, प्रत्येक अपने में एक विशिष्टता रखता है। परिणामस्वरूप, पदार्थों में गुणों के कारण जो परस्पर भेद हैं वे यूनानी विद्वानों की दृष्टि में न्यून होकर परिमाण-सम्बन्धी भेदों में परिणत हो जाते हैं,

1. शांकरभाष्य, 2. 2. 14।
2. कीथ : इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज्म, पृष्ठ 17-18।

जबकि वैशेपिक मे इसके विपरीत है। इससे परिणाम यह निकलता है कि भारतीय दार्शनिक इस यूनानी मत को स्वीकार नही करता कि गुण परमाणु मे अन्तर्निहित नही है। डेमोक्रिटिस तथा एपिक्यूरस के मत मे परमाणु स्वभाव से गतिमान् है, किन्तु कणाद के मत मे वे मुख्यत स्वय मे निष्क्रिय है। एक अन्य मौलिक भेद दोनो मे यह है कि जहा डेमोक्रिटस परमाणुओ मे आत्माओ का बनना सम्भव मानता है, वहा वैशेपिक आत्माओ तथा परमाणुओ को नितान्त भिन्न मानता है और उसके मत मे दोनो ही समान रूप मे नित्यसत्ताए हैं। यूनानी परमाणुवादियो ने विश्व के एक यन्त्रवादी विचार को विकसित किया और ईश्वर को इस जगत् से निकाल बाहर किया। परमाणु, जो सख्या मे अनन्त है और आकृतियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के है, अनन्त आकाश में से गिरते है और इस प्रक्रिया मे एक-दूसरे के साथ सघर्ष मे आते है, क्योकि बृहदाकार परमाणु लघुतर परमाणुओ की अपेक्षा अधिक शीघ्रता के साथ गति करते है। इस प्रकार एक प्रकार के भवरो मे पड़कर वे समूहो तथा लोको का निर्माण करते हैं। कहा जाता है कि परमाणुओ की गतियो मे परिवर्तन एव अनिश्चित विधि से होते है।[1] यद्यपि प्रारम्भिक वैशेपिको ने, स्पष्टरूप से ईश्वर की प्रकल्पना को स्वीकार नही किया तो भी उन्होने धर्म (अदृष्ट) को अपने समस्त दर्शन का मुख्य सिद्धान्त करके माना है। इस प्रकार वैशेपिक के परमाणुवाद मे जहा धार्मिक प्रवृत्ति का पुट पाया जाता है, वहा उसके प्रतिरूप यूनानी दर्शन मे इसका सर्वथा अभाव है। इस प्रकार वैशेपिक-प्रतिपादित परमाणुवाद मे कुछ ऐसे स्पष्ट लक्षण देखे जाते हैं जो यूनानी दर्शन के प्रभाव के कारण नही हो सकते। प्रारम्भिक भारतीय विचारधारा मे परमाणुवाद की प्रकल्पना की पूर्ववर्तिता सरलतापूर्वक खोजी जा सकती है।

अभी कुछ समय पूर्व तक भौतिक विज्ञानशास्त्र मे भी परमाणुवाद की प्रकल्पना का प्राधान्य था। किन्तु अभिनव प्रगति उक्त परमाणुवाद के अनुकूल नही है। अब पुज अपरिवर्तनीय परिमाण नहो रह गया है, बल्कि यह द्रुतगति से परिवर्तित होता है। यह वैद्युत शक्ति के अत्यन्त सूक्ष्म केन्द्रो मे परिणत होता है, जिन्हे कोई शारीरिक सहारा प्राप्त नही है, और जो अपेक्षाकृत विस्तृत दूरियो मे बिखरे हुए हैं तथा इधर से उधर अत्यन्त द्रुतगति से उडते रहते है। उष्णता, प्रकाश और गति मे भी, प्रकृति से अलग, गुरुत्व विद्यमान है। अब परमाणुओ को "इलैक्टानो" (विद्युदणुओ) की सहति माना जाने लगा है, और ये विद्युदणु आकाश (ईथर) मे अपना स्वरूप प्राप्त करते हैं। परमाणु सौरमण्डल का एक लघुरूप है, जिसमे एक केन्द्रीय सूर्य है, जो घूमता हुआ पुज है और जिसके चारो ओर छोटे-छोटे विद्युदणु गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुकूल उडते है। और यह गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त ही पृथ्वी को सूर्य के साथ सम्बद्ध रखता है। परमाणुवाद की पुरानी प्रकल्पना नवीन तथ्यो की व्याख्या करने मे असमर्थ है। तो भी विज्ञान के क्षेत्र मे उक्त सिद्धान्त ने जो अभी तक विजय लाभ किया उसे देखते हुए मानना पडेगा कि यह एक सफल प्रकल्पना थी। परमाणुवाद ने 'सर्वचेतनवाद' को अपदस्थ कर दिया, क्योकि जहा तक विज्ञान का सम्बन्ध है, 'सर्वचेतनवाद' नि सार होने के कारण स्वय परास्त हो गया। किन्तु यूनान तथा भारत मे भी इस प्रकल्पना को आध्यात्मिक दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत किया गया था, विज्ञान की कसौटी पर कसकर एक सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत नही

1 वालेस एपिक्यूरियनिज्म, पृष्ठ 100।

किया गया था। इस प्रसंग में प्रत्यक्षमूलक प्रमाणीकरण सम्भव नहीं है।[1] यह एक भावात्मक योजना है जिसे प्राकृतिक तथ्यों की व्याख्या के लिए स्वीकार किया गया है। यह पर्यवेक्षण का विषय न होकर सिद्धान्त का प्रश्न है। इस प्रकल्पना को इस आधार पर स्वीकार करने के लिए कहा जाता है कि विश्व के अन्दर व्यवस्था तथा सामंजस्य का विचार इसको मानने के कारण है। इसलिए जब हम देखते हैं कि इसका व्याख्यात्मक महत्त्व अब नहीं रहा तो कोई कारण नहीं है कि अब क्यों न हम इस प्रकल्पना का प्रत्याख्यान कर दें।

7 गुण

द्रव्य तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थिर रख सकता है, किन्तु गुण बिना आश्रय के नहीं रह सकता।[2] यह द्रव्य के अन्दर रहता है और स्वयं अन्य गुणों को धारण नहीं करता। कणाद गुण की परिभाषा इस प्रकार करता है कि गुण वह है "जिसका अधिष्ठान द्रव्य हो, जिसमें और कोई गुण न हो, और जो किसी भी संयोग अथवा वियोजन का कारण न हो और न जिसका इनसे कोई सम्बन्ध हो।"[3] वैशेषिकसूत्र में सत्रह गुण बताए गए हैं, अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व (व्यक्तित्व), संयोग, विभाग, पूर्ववर्तित्व (परत्व), पश्चाद्वर्तित्व (अपरत्व), बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।[4] प्रशस्तपाद उक्त सूची में और सात गुणों को जोड़ता है और वे ये हैं : गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह (स्निग्धता), धर्म, अधर्म, शब्द और संस्कार।[5] लघुता, मृदुता और कठोरता को भी गुणों में सम्मिलित करने के प्रयत्न किए गए, किन्तु उन प्रयत्नों में सफलता नहीं मिली क्योंकि लघुता केवल गुरुता का अभाव है और मृदुता एवं कठोरता केवल संयोग की भिन्न-भिन्न मात्राओं को दर्शाती हैं।[6] नव्य नैयायिक पूर्ववर्तित्व, पश्चाद्वर्तित्व और व्यक्तित्व को छोड़ देते हैं क्योंकि इनमें से पहले दो देश और काल पर निर्भर करते हैं और व्यक्तित्व अन्योन्याभाव है। गुणों की सूची में मानसिक तथा भौतिक दोनों प्रकार के गुण सम्मिलित हैं।

नित्य द्रव्यों के जो गुण हैं वे नित्य कहे जाते हैं, और अनित्य द्रव्यों के गुण अनित्य कहे जाते हैं। ऐसे गुण जो दो या दो से अधिक द्रव्यों में पाए जाते हैं,

1 "परमाणुवाद की प्रकल्पना को प्राचीन काल में और आधुनिक काल में, कभी भी ठीक-ठीक सिद्ध नहीं किया गया है। सही अर्थों में, सिद्धान्त के रूप में यह न तो कभी थी, न है, और न हो सकती है। यह केवल एक कल्पनामात्र है। यद्यपि यह ठीक है कि इसके समान अन्य किसी कल्पना में वह क्षमता या निकलने की शक्ति नहीं है जिसके कारण भौतिक तथा रासायनिक विज्ञान दोनों को ही आज तक आगे अनुसन्धान का एक विशाल क्षेत्र मिलता गया। फिर भी यह है एक कल्पना ही, और क्योंकि इसमें ऐसे तथ्यों के विषय में धारणाएं बना ली गई हैं जो भारतीय ज्ञान के क्षेत्र से सुदूर हैं, अतः इनकी धारणाएं कभी कसौटी पर कसी नहीं जा सकतीं" (गोम्पर्जकृत ग्रीक थिंकर्स, खण्ड 1, पृष्ठ 353)।

2 सांख्यदर्शन में गुण शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

3 1 1, 16। देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 94।

4 1 1 6।

5 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 10।

6 तर्कसंग्रहदीपिका 4।

सामान्य गुण कहलाते है, तथा जो एक ही द्रव्य मे रहते हैं, विशेष गुण कहलाते है। रूप, रस, गन्ध, स्निग्धता, प्राकृतिक तरलता, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द विशेष गुण है जो अपने गुणी पदार्थो को अन्यो से विशिष्ट करके प्रस्तुत करते हैं। संख्या, परिमाण, व्यक्तित्व, संयोग, विभाग, पूर्ववर्तित्व, पश्चाद्वर्तित्व, गुरुता, कृत्रिम तरलता, द्रुतगति सामान्य गुण है।[1] ये गुण सब द्रव्यो मे समान है और अपने निजी स्वरूप मे मनोगत गुण हैं। वे ऐसे विषयनिष्ठ नही है जैसेकि अन्य गुण है। उदाहरण के रूप मे, संख्या को विषयनिष्ठ गुण समझा गया है। एक ही पदार्थ एक या अनेक रूप मे देखा जा सकता है। संख्या, परिमाण, व्यक्तित्व, संयोग और विभाग सब द्रव्यो मे पाए जाते है। काल और देश मे तो अन्य कोई गुण नही है, किन्तु आकाश मे शब्द गुण भी है। मन मे, जिसे मूर्तरूप माना जाता है, परमाणुओ से बने द्रव्यो के सात गुण है और द्रुत गति भी है। आत्मा मे पाच सामान्य गुण है, और नौ गुण विशेष है, यथा बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म और मानसिक प्रभावोत्पादक क्षमता। ईश्वर मे पाच सामान्य गुण है और इनके अतिरिक्त ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न भी है।[2] गुणो मे एक भेद और किया गया है अर्थात एक वे जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है, दूसरे वे जो प्रत्यक्ष द्वारा नही जाने जा सकते। धर्म और अधर्म, गुरुता तथा क्षमता प्रत्यक्ष के विषय नही है। एक अन्य प्रकार से भी गुणो मे भेद किया जा सकता है, जैसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तथा शब्द ये केवल एक ही इन्द्रिय के द्वारा जाने जा सकते हैं, और दूसरे वे है, जैसे संख्या, परिमाण, व्यक्तित्व, संयोग और विभाग, पूर्ववर्तित्व, पश्चाद्वर्तित्व, तरलता, स्निग्धता, और गति, जिनका ज्ञान दो इन्द्रियो के द्वारा होता है। आत्मा के गुण—यथा ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—मन के द्वारा जाने जा सकते है।[3]

रूप ऐसा गुण है जिसका बोध केवल आख द्वारा होता है और यह गुण पृथ्वी, जल, और अग्नि मे पाया जाता है, यद्यपि पिछले दो मे यह स्थायी रूप से रहता है। पृथ्वी मे ताप देने से इस गुण मे विविधता आती है। रूप (रंग) भिन्न-भिन्न हैं और सात प्रकार के माने गए है, यथा श्वेत, नीला, पीला, लाल, हरा, भूरा और चित्र-विचित्र। रस उन पदार्थो का गुण है जिनका बोध केवल जिह्वा के द्वारा होता है। पृथ्वी और जल मे रस है। इसके पाच प्रकार स्वीकार किए गए हैं मीठा, खट्टा, चरपरा, कसैला और तिक्त (कडुआ)। गन्ध एक विशेष गुण है जिसका बोध केवल नासिका द्वारा ही हो सकता है। यह या तो सुगन्ध होती है अथवा दुर्गन्ध होती है, और यह पृथ्वी का गुण है। स्पर्श ऐसा गुण है जो केवल त्वचा के द्वारा ही जाना जा सकता है। स्पर्श तीन प्रकार का माना गया है, ठण्डा, गरम और न ठण्डा न गरम। इससे हमे यह प्रतीत होता है कि स्पर्श यथार्थ मे तापमान ही है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु मे रहता है। कभी-कभी खुरदरापन,

1 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 95 96।
2 भाषापरिच्छेद, पृष्ठ 25 34।
3 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 96

कठोरता, चिकनाहट, और कोमलता भी स्पर्श के अन्दर सम्मिलित कर लिए जाते हैं।[1] शब्द आकाश का गुण है।

संख्या वस्तुओं का ऐसा गुण है जिसके कारण हम एक, दो, तीन जैसे शब्दों का व्यवहार करते हैं। इन संख्याओं में एकत्व नित्य भी है और अनित्य भी, किन्तु अन्य सब संख्याएं अनित्य ही हैं। जब हम घड़े को देखते हैं तो हमें एकत्व अथवा दृष्ट पदार्थ की एकता का ज्ञान होता है। जब हम दूसरा घड़ा देखते हैं तो उसके एकत्व का ही बोध होता है और उसमें द्वित्व नहीं है। दो पदार्थों के एकत्वों का एक साथ विचार करने से द्वित्व की भावना उत्पन्न होती है। पहली संख्या के अतिरिक्त बाकी सब संख्याओं का भाव विचार की क्रिया के कारण (अपेक्षाबुद्धि) होता है।[2]

आयाम (परिमिति) वस्तुओं का वह गुण है जिसके कारण हम वस्तुओं को मापते हैं और उन्हें बड़ा या छोटा, लम्बा या ठिगना, करके जानते हैं। नित्य द्रव्यों में आयाम भी नित्यरूप से तथा अनित्य द्रव्यों में अस्थायी रूप से रहता है। आकाश में परम महत्त्व है, इसी प्रकार एक परमाणु में परम क्षुद्रता (पारिमाण्डल्य) है। अनित्य द्रव्यों का आयाम संख्या, विस्तार तथा उनके बनानेवाले हिस्सों की व्यवस्था से जाना जाता है।[3] द्व्यणुक सूक्ष्म है, तथा अन्य सब परिमित विस्तार वाले हैं।

पृथक्त्व पदार्थों के परस्पर-भेद का आधार है।[4] यह स्वरूप में यथार्थ है, भावात्मक नहीं है। जैसे द्रव्य में इसका अधिष्ठान होता है उसीके अनुकूल यह नित्य अथवा अस्थायी होता है। जहां व्यक्तित्व अनित्य पदार्थों में भी रहता है, वहां विशेषत्व नित्य द्रव्यों का गुण है। व्यक्तित्व वस्तुओं की संख्या-सम्बन्धी भिन्नताओं का प्रतिपादन करता है, किन्तु विशेषत्व वस्तुओं की गुणात्मक विशेषता का प्रतिपादन करता है।

संयोग और विभाग,[5] क्रमशः जो वस्तुएं पहले पृथक् थीं उनके परस्पर जुड़ने को तथा जो पहले संयुक्त थीं उनके पृथक् होने को बतलाते हैं। संयोग किसी एक पदार्थ की गति से होता है, जैसेकि एक उड़ती हुई चील किसी खम्भे पर आ बैठती है, अथवा दोनों पदार्थों की गति से होता है, जैसे दो लड़ते हुए मेढे एक-दूसरे से सिर टकराते हैं। संयोग एक अन्य संयोग के द्वारा भी होता है। जब हम लिखते हैं तो कलम और कागज के संयोग से हाथ का संयोग भी कागज के साथ हो जाता है। क्योंकि संयुक्त होनेवाले दो पदार्थों का पहले पृथक् रहना आवश्यक है, इसलिए दो सर्वव्यापक पदार्थों का परस्पर संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक-दूसरे से कभी अलग नहीं होते। इसी प्रकार विभाग भी दो पदार्थों में से एक अथवा दोनों की गति से अथवा किसी अन्य विभाग के द्वारा होता है। पदार्थों के अन्दर जो परिवर्तन होते हैं वे संयोग और विभाग के कारण ही होते हैं।

1 अथाल्यकृत तर्कसंग्रह, पृष्ठ 155 56।

2 न्यायकन्दली, पृष्ठ 118-19, उपस्कार, 7 . 2 8। जहां न्याय का यह मत है कि द्वित्व आदि एकत्व के समान ही यथार्थ हैं, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति बोध के द्वारा होती है, वहां वैशेषिक का मत है कि इन संख्याओं की बुद्धि द्वारा केवल अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि निर्माण होता है। इस विषय में वैशेषिक यह भूल जाता है कि जब तक केवल एक ही पदार्थ रहता है तब तक एकत्व का विचार भी उत्पन्न नहीं हो सकता। द्वित्व के विचार की भांति, इसे भी विचार के प्रयोग की आवश्यकता होती है।

3 वैशेषिकसूत्र, 7 1, 8 9।

4 वैशेषिकसूत्र 7 2, 2।

5 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 139 से आगे, 151 से आगे।

पूर्ववर्तित्व और पश्चाद्वर्तित्व[1] काल अथवा देश मे दूर या समीप के भावो के एक समान आधार हैं। इन दोनो को वस्तुत गुण न कहकर मूर्त पदार्थों के परस्पर-सम्बन्ध कहना चाहिए। प्रशस्तपाद स्वीकार करता है कि ये सम्बन्ध निरपेक्ष नही है।[2]

सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न तथा ज्ञान आत्मा के गुण हैं। गुरुता पदार्थ का वह गुण है जिसके कारण पदार्थों का झुकाव गिरते समय भूमि की ओर होता है।[3] पृथ्वी और जल के परमाणुओ की गुरुता नित्य है, जबकि पदार्थो की गुरुता अनित्य है। तरलता, जो प्रवाहरूपी क्रिया का कारण है, या तो सांसिद्धिक है अथवा नैमित्तिक है। जल स्वभावत तरल है, किन्तु पृथ्वी की तरलता विजातीय हेतुओ के कारण आती है।[4] स्निग्धता जल का गुण है और संयुक्त होने तथा चिकनेपन आदि का कारण है।[5] धर्म और अधर्म आत्मा के गुण है, जिनके कारण यह सुख का अनुभव करती है अथवा दुख भोगती है। अदृष्ट वह शक्ति है जो आत्माओ तथा वस्तुओ से उत्पन्न हुई है और जिसके कारण विश्व की व्यवस्था सम्पन्न होती है और आत्माए अपने पूर्व कर्मों के फलो का उपभोग करती हैं। वैशेषिक मे यह समस्त तार्किक कठिनाइयो को दूर करने की अचूक औषधि है। *जिस किसी की भी अन्य किसी प्रकार से व्याख्या न की जा सके उसका कारण* अदृष्ट बतला दिया जाता है। सुई की गति चुम्बक की ओर होने, पौधो मे आर्द्रता के प्रसार, अग्नि के ऊर्ध्वगामी होने, वायु की गति और परमाणुओ की प्रारम्भिक गति इन सबका कारण अदृष्ट ही बताया गया है।[6] किसी भी घटना की व्याख्या-विषयक जिज्ञासा के सम्बन्ध मे यह कह देना कि यह एक शक्ति के कारण हुई पर्याप्त समझा जाता है। वैशेषिक की योजना मे अदृष्ट नाटककारो के दैवी साहाय्य के समान है, जो ऐसी अवस्था मे जबकि उलझन को दूर करने का और कोई साधन उपलब्ध न हो, स्वर्ग मे उतरकर दुःखद गाठ को काटकर समस्या को सुलझा देते हैं। वैशेषिक दर्शन की सीमाओ पर ही अदृष्ट को अपना कार्य करने के लिए क्षेत्र मिलता है। विश्व का आदि, उसकी व्यवस्था तथा सुन्दरता, वस्तुओ का लक्ष्य और उपाय के रूप मे एक-दूसरे से जुड़ना—सभी का कारण अदृष्ट बताया गया है। परवर्ती विचारको ने जब ईश्वर की यथार्थता को स्वीकार कर लिया, तो अदृष्ट को वह माध्यम मान लिया गया जिसके द्वारा ईश्वर की इच्छा अपना कार्य करती है। संस्कार तीन प्रकार का है वेग, जो किसी पदार्थ को गति मे रखता है, भावना, जिसके द्वारा आत्मा पूर्वकाल मे अनुभूत वस्तुओ को स्मरण करने तथा पहचानने योग्य होती है, और स्थिति-स्थापकता, जिसके कारण वस्तु छोड़ी जाने पर भी फिर से अपनी पहली स्थिति मे आ जाती है। पाच भौतिक द्रव्यो मे वेग कर्म अथवा गति के द्वारा उत्पन्न होता है, और इसका प्रतिकार स्पर्श-योग्य ठोस द्रव्यो के संयोग से होता है। स्थिति-स्थापकता ऐसे द्रव्यो मे रहती है जो सिकुड़ते और फैलते हैं।

1 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 164 से आगे।

2 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 99।

3 वैशेषिकसूत्र, 5, 1, 7-18, 5 2, 3, प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृ० 263।

4 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मधर्मसंग्रह, पृष्ठ 264।

5 प्रशस्तपादकृत पदार्थसंग्रह, पृष्ठ 266।

6 5 1 15,5 2, 7, 13, 4 2, 7। केप्लर ने ग्रह उपग्रहो की गतियो की व्याख्या करते हुए उन्हें अन्तरिक्षव्यापी आत्माओ के कारण उत्पन्न होनेवाली बताया है (केवल-कृत हिस्ट्री आफ दि इण्डक्टिव साइंसेज, तृतीय संस्करण, खण्ड 1, पृष्ठ 315)।

8 कर्म अथवा क्रिया

कर्म अथवा गति[1] को विश्व का एक ऐसा तत्त्व माना गया है जिसे और कम नहीं किया जा सकता। यह न तो द्रव्य है और न गुण ही है, बल्कि अपने-आपमें एक स्वतन्त्र पदार्थ है। तमाम गतियों का द्रव्यों मे उसी तरह सबंध है जैसेकि गुणों का है। केवल भेद यह है कि गुण द्रव्य का स्थायी स्वरूप है, जबकि क्रिया क्षणिक स्वरूप है। गुरुता शरीर का एक गुण है किन्तु उसका गिरना एक घटना है। वे गुण जो निरन्तर अपना अस्तित्व रखते हैं, गुण कहलाते हैं, और जिनका अस्तित्व नहीं रहता वे कर्म कहलाते हैं। निरन्तर रहने वाले तथा घटित होने वाले गुणो मे यह एक भेद है।[2] कणाद कर्म की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि कर्म वह है जो एक ही द्रव्य मे रहता है, गुणो से रहित है तथा संयोग और विभाग का सीधा तथा तात्कालिक कारण है।[3] गतियों के पांच प्रकार के भेद बताए गए हैं, अर्थात् ऊर्ध्वगति, अधोगति, सकोच, विस्तार तथा सामान्य गति। कर्म अपने सरलतम रूप मे तात्कालिक होता है, जबकि वेग एक निरन्तर प्रवृत्ति है जो गतियो की शृखला की द्योतक है। कर्म अपने सभी रूपों मे अस्थायी है, और अपने आधारभूत द्रव्य के परवर्ती संयोग अथवा विनाश के साथ ही समाप्त हो जाता है। आकाश, काल, देश तथा आत्मा यद्यपि द्रव्य हैं, तथापि अमूर्त होने के कारण कर्म से रहित हैं।[4]

9 सामान्य

जब हम द्रव्यों की अनेकता को स्वीकार कर चुके तो प्रकट है कि उनमे पारस्परिक सम्बन्ध भी है। द्रव्यों को एक समान होना चाहिए क्योंकि वे सभी द्रव्य हैं, उन्हें एक-दूसरे से भिन्न भी होना चाहिए, क्योंकि पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। जब हम किसी गुण को अनेक पदार्थों मे निहित पाते हैं तो उसे हम 'सामान्य' कहते हैं। किन्तु जब हम उस गुण को इन पदार्थों को अन्य पदार्थों से पृथक् करनेवाला पाते हैं तो हम उसे 'विशेष' कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कणाद 'सामान्य' को एक भावात्मक पदार्थ मानते हैं।[5] जब हम प्रशस्तपाद के पास पहुंचते हैं तो भावात्मक विचार का स्थान अधिक प्रचलित यथार्थवादी सिद्धान्त ले लेता है, जिसके अनुसार सामान्य नित्य है, एक है, और द्रव्य, गुण अथवा कर्म श्रेणी की अनेकों वस्तुओं में रहता है। संयोग तथा द्वैत अनेक वस्तुओं से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, किन्तु वे नित्य नहीं हैं। आकाश नित्य है किन्तु अनेक वस्तुओं से सम्बद्ध नहीं है। अत्यन्ताभाव नित्य है और अनेक वस्तुओं का गुण भी है, किन्तु उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखता, अर्थात् अनेक वस्तुओं का निर्माण करनेवाला अवयव नहीं है। इसी प्रकार 'विशेष', 'सामान्य' नहीं है, क्योंकि उस अवस्था मे वह अपने स्वरूप को खो बैठेगा तथा सामान्य के साथ मिश्रित किया जाने लगेगा। घनिष्ठ सम्बन्ध

1 कर्म से तात्पर्य यहां गति से है, ऐच्छिक कर्म अथवा कार्यकारणभाव के नैतिक विधान से नहीं है।

2 तुलना कीजिए, डब्ल्यू० ई० जानसन : लौजिक, खण्ड 1, पृष्ठ 37।

3 वैशेषिकसूत्र 1 1 7।

4 वैशेषिकसूत्र, 5 2, 21, 2 1, 21। यह सन्देहास्पद है कि कणाद आत्मा को कर्म-विहीन मानते हैं।

5 2 1, 3 से आगे। देखिए 6 2, 16। प्रशस्तपाद के अनुसार, गतियों का क्षेत्र केवल भौतिक शरीरों, परमाणुओं तथा मन तक ही सीमित है।

(समवाय) को सामान्य के साथ मिश्रित न करना चाहिए, क्योंकि उस अवस्था में इसे समवाय के साथ समवाय-सम्बन्ध की आवश्यकता होगी, और इस सिलसिले का कहीं अन्त न होगा। सामान्य, जिसके धारण करने से विभिन्न व्यष्टियों को एक श्रेणी में रखा जाता है, अपने-आपमें एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यह नित्य है, एक है तथा अनेकों के अन्दर रहता है (अनेकानुगतम्)।[1] यह एक समान स्वरूप के साथ (अभिन्नात्मकम्) अपनी श्रेणी के सब पदार्थों में रहता है (स्वविषयसर्वगतम्), तथा अनुवृत्तिप्रत्यय कराने का कारण है।[2] द्रव्य गुण और कर्म में तो सामान्य है, किन्तु सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव में कोई सामान्य नहीं है। एक सामान्य अन्य सामान्य में नहीं रह सकता। वृक्षत्व तथा घटत्व अपने-आपमें सामान्य हैं और इसलिए इन सबमें एक समान रहने वाला अन्य कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में हम एक प्रकार की अन्त-रहित पश्चाद्गति में पड़ जाएंगे।

सामान्य दो प्रकार का है, उच्चतर तथा निम्नतर। उच्चतम सामान्य सत्ता-सम्बन्धी है।[3] इसके अन्तर्गत अधिकतम वस्तुएं आ जाती हैं। यह अपने अन्दर सबको समाविष्ट कर लेता है किन्तु स्वयं किसी के अन्दर समाविष्ट नहीं होता। यह किसी उच्चतर जाति की उपजाति नहीं है। सत् ही अकेला यथार्थ सामान्य है, और विशिष्ट स्वयं ही यथार्थ विशेष है। और इन दोनों के मध्य हमें सामान्य-विशेष मिलते हैं, जैसेकि द्रव्य और शेष पदार्थ जिनमें कुछ परिमित वस्तुएं आती हैं। ये पिछले पदार्थ सर्वग्राही तथा ऐकान्तिक बोधों का आधार हैं, क्योंकि वे उपजाति और जाति दोनों हैं।[4] विस्तार से सामान्य की कोटि का निर्णय होता है।

1. उदयन का कहना है कि जहां केवल एक ही विशिष्ट है, जैसे आकाश (अभेद), जहां व्यक्तित्व का भेद नहीं है, जैसे घट तथा कलश (तुल्यत्वम्), जहां भिन्न-भिन्न वर्गों के पदार्थों का सम्मिश्रण (संकर) है, जहां अन्तविहीन पश्चाद्गति (अनवस्था) है, जहां सार का विरोध (रूपहानि) है, जहां कोई सम्बन्ध नहीं है, वहां कोई जाति अथवा सामान्य नहीं है। देखिए सिद्धान्तमुक्तावलि, पृष्ठ 8।

अद्वैत जाति को स्वीकार नहीं करता। यह स्वीकार करते हुए कि घटत्व स्वयं घड़ा ही है, वह यह मानने को उद्यत नहीं है कि जाति अपने-आपमें कुछ है। देखिए वेदान्तपरिभाषा, 1।

2 तुलना कीजिए ब्लार्क की परिभाषा से . "पदार्थ का सार उस पदार्थ के स्वरूप का नाम है जो उस वर्ग तथा नाम के अन्यान्य पदार्थों में समान रूप से है। यह एक ऐसा स्वरूप है जो सबमें पूर्ण रूप से एक समान है और हमारी धारणा के अनुसार, सबमें केवल एक समान ही नहीं बल्कि एक ही है। यह ऐसा स्वरूप है जो सब वस्तुओं के समान गुणों का उद्भव-स्थान है, जिसके कारण वे एक-दूसरे के समान दिखती हैं तथा हमारे मन पर एक सा प्रभाव डालती हैं यह वह स्वरूप है जो बुद्धि और केवल बुद्धि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यह अभौतिक और अतीन्द्रिय रूप है" (लॉजिक)।

जैन मतानुयायी सामान्य को बहुरूप, अनित्य तथा सीमित अर्थात् असर्वगत मानते हैं। यह वर्ग के सदस्यों का एकसमान लक्षण है। न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा के मत में, सामान्य एक यथार्थ वस्तुरूप में इस जगत में अपना व्यक्ति-निरपेक्ष अस्तित्व रखता है, जो विशिष्टों से भिन्न है, एक है, नित्य तथा सर्वगत है। जैनियों के अनुसार, सामान्य की यथार्थता विशिष्टों के सादृश्य अथवा एक-समान स्वरूप में निहित है, और वह एक नहीं बल्कि अनेक है तथा अनेक विशिष्टों में विद्यमान है, और अनित्य है अर्थात् विशिष्ट के साथ-साथ उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, सर्वगत नहीं बल्कि उसी विशिष्ट तक सीमित है जिसके अन्दर कि वह रहता है।

3 वैशेषिकसूत्र, 1 : 2, 4, 7-10, 17 , प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 311।

4 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 11। देखिए युई 'दि वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ 99-100। तुलना कीजिए 'सप्तपदार्थी', पृष्ठ 5 'सामान्यं परम् अपरं परापरञ्चेति त्रिविधम्।'

अखण्ड तथा सखण्ड में और जाति तथा उपाधि में भी भेद किया गया है। जाति वस्तु के साथ उत्पन्न हुई है, प्राकृतिक तथा नित्य है। उपाधि संयोगवश तथा अस्थायी है। प्रत्येक सामान्य-लक्षण जाति नहीं है। क्योंकि कुछ मनुष्य अन्धे हैं, इसलिए हम अन्धेपन को 'जाति' के नाम से नहीं पुकार सकते। मनुष्यों का वर्गीकरण मानव के रूप में जाति है। किन्तु राष्ट्रीयता अथवा भाषा की दृष्टि से उनका पृथक्-पृथक् वर्गीकरण उपाधि है। मानव-जाति मनुष्यों को जन्तुओं से पृथक् करती है, किन्तु काला वर्ण काले लोगों को काली भेड़ों या काले पत्थरों से अलग नहीं कर सकता।[1] पहला वर्गीकरण स्वाभाविक है, किन्तु दूसरा कृत्रिम है।

प्रशस्तपाद के अनुसार, सामान्य व्यक्तिरूप पदार्थों से स्वतन्त्र एक यथार्थ सत्ता है। परवर्ती वैशेषिक सामान्यों की स्वतन्त्र सत्ता के यथार्थवादी मत को स्वीकार करते हैं, जो कहा जाता है कि प्रलयकाल में भी विद्यमान रहते हैं। इस मत के अनुसार, सामान्य प्लेटो की काव्यमयी कल्पना के पृथक्, अतीन्द्रिय, प्रमुग आदर्शमय रूपों के अनुकूल है।[2] जहां कणाद ने विचार की क्रियाशीलता पर बल दिया और इसीलिए सामान्य तथा विशिष्ट के सम्बन्ध को अविभाज्य बतलाया, वहां प्रशस्तपाद ने सामान्यों के नित्यस्वरूप पर बल दिया। इस प्रकार उसे बाध्य होकर यह मत स्वीकार करना पड़ता है कि सृष्टि की रचना में सामान्य विशिष्टों के अन्दर प्रवेश करते हैं और अपने लिए अस्थायी अभिव्यक्तियों की सृष्टि करते हैं।[3] इस प्रकार की स्थिति की कठिन समस्या है सामान्य तथा विशिष्ट का सम्बन्ध, अर्थात् तत्त्व तथा अस्तित्व का सम्बन्ध। प्रशस्तपाद का मत प्लेटो के यथार्थवाद के ही समान है, जिसके अनुसार

1 न्यायसूत्र, 2 2 71। जैन दार्शनिक सामान्य का वर्गीकरण दो प्रकार का करते हैं, एक स्वस्तिका के समान एक-दूसरे को काटते हुए और दूसरा खड़ा सम्वायमान। स्वस्तिका के आकार वाला अनेकों अवस्थाओं में एकसमान है, जबकि लम्बायमान एक ऐसा सादृश्य है जो पदार्थ की पूर्व तथा पश्चात् अवस्थाओं में स्थिर रहता है। पहला तिर्यग् रूप सामान्य है और पिछला कियाणाल सादृश्य है। देखिए प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, 5 3-5।

2 अरस्तू से लिए गए निम्नलिखित उद्धरण समस्या की कठिनाइयों का समझने में सहायक हैं। अपने 'मैटाफिजिक्स' नामक ग्रन्थ में अरस्तू कहता है "दो वस्तुओं का श्रेय यथार्थ में सुकरात को दिया जा सकता है—आगमनात्मक अनुमान-सम्बन्धी तर्क और सामान्य-विषयक परिभाषा, जो दोनों ही विज्ञान के प्रारम्भ से सम्बद्ध हैं। किन्तु सुकरात ने सामान्यों अथवा परिभाषाओं के अस्तित्व को पृथक् नहीं किया। हां, उसके उत्तराधिकारियों ने उन्हें पृथक् अस्तित्व दिया और इसे उन्होंने विचारों का नाम दिया।" (रोसकृत आंग्लभाषानुवाद, 1078 बी० 28)। सुकरात के साथ सहमत होकर अरस्तू प्लेटो के अनुयायियों की आलोचना करता है, "वे विचारों को एकसाथ सामान्य द्रव्य और पृथक् व विशिष्ट मानते हैं। यह बात सम्भव नहीं है, यह पहले दिखाया जा चुका है। उन व्यक्तियों ने जो कहते हैं कि विचार सामान्य हैं, दो मतों को जो एक में मिला दिया इसका कारण यह है कि उन्होंने आदर्श द्रव्य तथा इन्द्रियगम्य वस्तुओं को एकसमान नहीं माना। उन्होंने सोचा कि इन्द्रियगम्य विशिष्ट पदार्थ एक प्रवाह की अवस्था में हैं और उनमें से कोई शेष नहीं रहता, किन्तु सामान्य इनसे पृथक् और भिन्न है। और सुकरात ने इस कल्पना को प्रेरणा दी…अपनी परिभाषाओं के द्वारा। किन्तु उसने उन्हें विशिष्ट पदार्थों से पृथक् नहीं किया था, और उचित ही सोचकर पृथक् नहीं किया था।" (मैटाफिजिक्स, 1086 ए० 32 रोसकृत आंग्लभाषानुवाद)।

3 तुलना कीजिए इस मत से डन्स स्कोटस के मत की कि सामान्यता के भाव प्रमेय पदार्थों में केवल सम्भाव्य सत्ता के रूप में ही नहीं हैं, बल्कि क्रियाशील हैं, और सामान्य केवल समझने का ही विषय नहीं है, बल्कि मानसिक भाव के पूर्व यथार्थ के रूप में विद्यमान रहता है और सामान्य अपना विशिष्ट अस्तित्व की अपेक्षा नहीं करता।

इन्द्रियगम्य वस्तुओं का जो रूप है वह विचारों के सामान्य रूपों मे भाग लेने के कारण है, और विचार नित्य तथा आत्मनिर्भर है। प्लेटो के मत[1] के विरुद्ध जितनी भी आपत्तिया है वे यहा भी लागू होती हैं—अर्थात् यह कि यह समझ मे आना भी मुश्किल है कि किस प्रकार बिना विभाग अथवा गुणन के विचार विशिष्टो मे भाग ले सकते है और विशिष्ट विचारो मे भाग ले सकते हैं; तथा यह कि एक और भी उच्चतर सामान्य की आवश्यकता है जो विचार को उसके अनुकूल विशिष्टो के साथ सम्बद्ध कर सके; और तथाकथित तीसरे व्यक्ति की मुक्ति।

सामान्यो की पदार्थशास्त्र-विषयक स्थिति के प्रश्न पर भारत के विभिन्न सम्प्रदायो मे भी मध्यकालीन युरोप के सम्प्रदायो की भाति घोर बहस होती रही है। यह स्पष्ट है कि वैशेषिक बौद्धो के इस मत से सर्वथा सहमत नही है, कि सामान्यता का भाव केवल नाममात्र ही है। बौद्धो के मत मे, सामान्यता का नामो के साथ ही सम्बन्ध है।[2] और उसकी विषयनिष्ठ सत्ता कुछ नही है। विशिष्टो मे कोई ऐसे समान लक्षण नही होते कि जिन्हे सामान्य कहा जाता है। यदि गाय के विशिष्ट व्यक्तित्व को किसी सामान्य अवयव की आवश्यकता हो तो उस अवयव को किसी अन्य और फिर उसको भी किसी अन्य अवयव की आवश्यकता होगी और इस प्रकार इस शृंखला का कही अन्त न होगा। 'सामान्य' प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नही है। सामान्यता के भाव का निर्माण हम भूतकाल के अनुभवो के परिणाम के रूप मे करते हैं और उसे भूल से बाह्य पदार्थों तक फैला देते हैं।[3] श्रीधर इस मत का खण्डन करता हुआ कहता है

1 देखिए प्लेटोकृत 'परमेनाइडीज'।

2 तुलना कीजिए ह्यौम 'सामान्य कुछ नही है, केवल नाम है।' ह्यूमन नेचर, 5 6)।

3 देखिए 'सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स' मे सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता। जयन्त सामान्य तथा विशिष्ट के एकात्मता सम्बन्धी बौद्धमत के विरोध मे तर्क उपस्थित करता है। इस आक्षेप का कि सामान्य विशिष्ट से भिन्न नही है क्योंकि यह विशिष्ट से अलग देश के किसी भिन्न भाग को नही घेरता, समाधान इस विचार से हो जाता है कि सामान्य विशिष्ट के अन्दर रहता है। अगला प्रश्न है कि क्या सामान्य पूर्णरूप मे अथवा अशत. विशिष्ट के अन्दर रहता है। यदि सामान्य हिस्सो से मिलकर बना है तो इसका नाश भी हो सकता है, और यह नित्य नही हो सकता। इस प्रकार यह पूर्णरूप मे ही विशिष्ट के अन्दर रहता है, और इसे एक ही विशिष्ट के अन्दर समाप्त हो जाना चाहिए। किन्तु जयन्त विरोध मे कहता है कि अनुभव इस तथ्य का साक्षी है कि सामान्य यद्यपि पूर्ण रूप से प्रत्येक विशिष्ट मे विद्यमान है तो भी इतने सारे विशिष्टो मे सदा विद्यमान रहता है। बौद्धमतानुयायी बलपूर्वक कहता है कि सामान्य का या तो व्यापक (सर्वगत) होना चाहिए अथवा कुछ विशिष्टो मे जो उसी वर्ग के है, सीमित (पिण्डगत) होना चाहिए। किन्तु दोनो मे से कोई भी सभव नही है। यदि सामान्य सब पदार्थो मे पाया जाता है तो गोत्व को घोडो तथा पत्थरो इत्यादि सबमे पाया जाना चाहिए। इस प्रकार जातियो का साकर्य हो जाएगा। यदि सामान्य विशिष्टो के एक चुने हुए समूह मे विद्यमान रहता है (स्वव्यक्ति सर्वगत) तो यह कैसे होता है कि हम गाय के एक नव-जात शिशु मे भी गोत्व का प्रत्यक्ष करते हैं, यदि वह गाय के उत्पन्न होने से पूर्व वहा विद्यमान न था ? हम यह नही कह सकते कि सामान्य विशिष्ट के साथ ही उत्पन्न हुआ क्योंकि सामान्य नित्य है। और न इसे किसी अन्य विशिष्ट मे आया हुआ कहा जा सकता है, क्योंकि सामान्य अमूर्त है और गति नही कर सकता, और हम इसे किसी अन्य विशिष्ट से आते हुए देखते भी नही। जब विशिष्ट का नाश हो जाता है तो क्या सामान्य लुप्त हो जाता है ? जयन्त उत्तर देता है कि यह सर्वत्र अर्थात् सब विशिष्टो मे विद्यमान रहता है, यद्यपि सब विशिष्टो मे यह न व्यक्त होता है और न देखा जा सकता है, और यद्यपि यह भी कहा जाएगा कि इसकी अभिव्यक्ति ही इसकी विद्यमानता का प्रमाण है। इसलिए यह कल्पना करना अनुचित है कि सामान्य 'गाय' इस विशिष्ट अभी-अभी उत्पन्न गाय मे

कि "वस्तुतः हमें एक ऐसी वस्तु का ज्ञान रहता है जो सब गौओं में विद्यमान है और जो उनको अन्य सब पशुओं, अर्थात् घोड़े आदि से भिन्न करती है। यदि सब भिन्न-भिन्न प्रकार की गौओं में कोई ऐसा सामान्य लक्षण उपस्थित न होता तो एक गाय अन्य गौओं से उसी प्रकार भिन्न दिखाई पड़ती जैसेकि एक भैंसा भिन्न दिखाई पड़ता है। अथवा, इसके विपरीत, घोड़ा और गाय दोनों ऐसे ही एकसमान दिखाई देते जैसे दो गौएं दिखाई देती हैं, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में कोई भेद न रह जाता। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि सभी गौएं एकसमान दिखाई देती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कोई ऐसा अंश अवश्य है जो सब गौओं में तो विद्यमान है किन्तु घोड़े आदि अन्य पशुओं में नहीं है।"[1] श्रीधर का तर्क है कि शब्दों का व्यवहार्य सामान्य लक्षणों की यथार्थता का रूप धारण कर लेता है।[2] इस प्रकार 'सामान्य' केवल नाममात्र नहीं है।

कणाद का सुझाव है कि सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा करते हैं,[3] अर्थात् ये बुद्धि द्वारा निर्मित विधान हैं जिनसे हम अनुभूत पदार्थों का वर्गीकरण करते हैं। उसके इस मत में कि सत्ता, द्रव्य, गुण अथवा कर्म से एक विभिन्न पदार्थ (अर्थान्तर) है, इस स्थिति से कोई विरोध नहीं आता। उसका कहना है कि हम गुण को तब सामान्य कहते हैं जब वह अनेकों व्यक्तियों में रहता हुआ पाया जाता है और तब विशेष कहते हैं जब उसके कारण हम पदार्थों में परस्पर भेद कर सकें। घटत्व को हम सामान्य कहेंगे जब उसे अनेकों पदार्थों में रहता हुआ पाएंगे, और उस अवस्था में विशेष कहेंगे क्योंकि उसका उपयोग घट को अन्य वस्तुओं से पृथक् करने के लिए किया

इसकी उत्पत्ति से पहले नहीं थी और इसकी उत्पत्ति के समय ही इसमें आती है, क्योंकि सामान्य गति करने के अयोग्य है। यह स्वीकार कर लिया गया है कि सामान्य केवल अपने उपयुक्त पदार्थों में ही विद्यमान रहता है। जब एक विशिष्ट जन्म लेता है तो वह सामान्य के साथ सम्बद्ध हो जाता है। सामान्य यद्यपि नित्य है, पर इसका सम्बन्ध विशिष्ट के साथ तभी होता है जबकि विशिष्ट जन्म लेता है (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 311 से आगे, 299-300)। जयन्त ने एक विभिन्न मत का वर्णन किया है, अर्थात् 'स्वरूपविलक्षणसम्बन्ध' जो स्वाभिन्न कर कहा जाता है। सामान्य विशिष्ट का रूप है और विशिष्ट सामान्य का रूपी है। 'रूप' शब्द द्व्यर्थक है। इसका अर्थ रंग नहीं हो सकता क्योंकि वर्णविहीन द्रव्य भी जैसे वायु, मन, गुण और कर्म सामान्यता को धारण करते हैं, और न इसका अर्थ आकार है क्योंकि निराकार गुणों में भी सामान्यता है। यदि इसका अर्थ आनिवार्य स्वभाव है तो सामान्य और विशिष्ट में केवल नाम का ही भेद है। रूप रूपी से भिन्न द्रव्य (अर्थान्तर) नहीं है, क्योंकि वह इस प्रकार देखा नहीं जाता, और न ही वह वही है क्योंकि उस अवस्था में उनके बीच सम्बन्ध की कोई बात ही न होती। रूप रूपी का धर्म (गुण) भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में वह रूपी से पृथक् दिखाई देना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 299)।

1 न्यायकन्दली, पृष्ठ 317।

2 प्रभाचन्द्र ने अपने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' (पृष्ठ 136-37) में बौद्ध मत की आलोचना की है। सामान्य विशिष्ट की भांति, प्रत्यक्ष का विषय है और केवल कल्पना की सृष्टि नहीं है। हम सामान्य तथा विशिष्ट के बोध में पारस्परिक भेद का अनुभव करते हैं। केवल इसीलिए कि हम एक ही पदार्थ में और एक ही समय में सामान्य और विशिष्ट दोनों का प्रत्यक्ष करते हैं, हम दोनों को परस्पर मिश्रित नहीं कर सकते। सामान्यों का बोध सम्मिलित करने वाला (अनुवृत्ताकार) है, जबकि विशिष्टों का बोध पृथक् करनेवाला (व्यावृत्ताकार) है। सामान्यों के बोध से सामान्यों का अस्तित्व उपलक्षित होता है। विशिष्ट सहस्रों में कितने भी क्यों न हों, सामान्य के विचार को उत्पन्न नहीं कर सकते।

3 1, 2, 3।

जाएगा।[1] गुणो मे सामान्य तथा विशेष का भेद बौद्धिक विश्लेषण का काम है। सकेत यह हुआ कि सामान्य, विशेष, और सम्बन्ध इनकी सत्ता उस अर्थ मे नही है जिसमे कि द्रव्य, गुण और कर्मों की सत्ता है।[2] किन्तु वे भावात्मक, अभावात्मक नही है। हम कणाद को प्रत्ययवादियो की कोटि मे नही रख सकते, क्योकि वह सामान्य को यथार्थ का ही अश मानता है। परम प्रत्ययवादियो के मत मे सामान्य का अस्तित्व केवल मन मे ही है। सामान्य गुण, जिन्हे हम सामान्य कहते है, उतने ही यथार्थ हे जितनी कि व्यक्तिगत विशेषताए, यद्यपि हमारा विचार सामान्य गुणो को अलग करके उन्हे व्यापक-भाव मे एकत्रित कर देता है। कणाद ने सावधानी के साथ इस विषय को लक्ष्य किया कि सादृश्य के अश हमसे तथा हमारी विचारधारा से उतने ही स्वतत्र है जितने कि स्वय विशिष्ट पदार्थ। हम सब कुत्तो को एकसमान बनाते नही है, बल्कि उन्हे इस रूप मे पाते है। इस अर्थ मे अरस्तू के मत का, अर्थात् वस्तुस्थित सामान्य का, समर्थन होता हे। यह भी सत्य है कि सामान्य नित्य है और एक है, क्योकि नमूना कायम रहता है, जबकि विशेष आते-जाते रहते है। मनुष्य जन्म लेते हैं तथा मरते हैं किन्तु मनुष्यत्व बना रहता हे। विशिष्ट सत्ताओ की अपेक्षा सामान्यो मे अधिक स्थिर रहने वाली यथार्थता है। इस प्रकार प्लेटो का सिद्धान्त वस्तुपूर्व सामान्य भी सत्य है। यह पिछला मत प्रशस्तपाद मे प्रमुख रूप से पाया जाता है। सामान्य तथा विशेष मे जो भेद है वह यथार्थ है, क्योकि उनके सम्बन्ध को घनिष्ठ सम्बन्ध (समवाय) कहा गया हे।[3]

1. तुलना कीजिए इस मत की डस स्काटस के मत के साथ, जो तत्त्व अथवा रूप के अपलेपन मे विश्वास करता है और यह मानता है कि वह किसी व्यक्तिगत अवस्था के अधीन नही है। वह विशिष्ट के एकत्व तथा सामान्य रूप के एकत्व मे भेद करता है। सामान्य विशिष्ट पदार्थों मे प्रकट होता है यद्यपि इसे सामान्य के रूप मे बुद्धि के द्वारा जाना जाता है। अपने-आपमे यह न विशिष्ट है और न सामान्य है, किन्तु जो है सो है, एक ऐसी वस्तु है जो सामान्यता तथा विशिष्टता की पूर्ववर्ती है।

2 1 2, 7।

3 पार्थसारथि सामान्य और विशिष्ट के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे आपत्ति उठाता है। जब हम एक गाय को देखते हैं तो यह ज्ञान इस प्रकार का होता है कि 'यह एक गाय है'' (इय गौ), इस प्रकार का नही होता कि 'इस व्यक्तिरूप गाय मे गाय वर्ग का सारतत्त्व है'' (इह गवि गोत्वम)। इसलिए सामान्य विशिष्ट मे भिन्न नही है। कहा जाता है कि दोनो को पृथक् नही किया जा सकता। पृथक किए जा सकने (युतसिद्धि) मे तात्पर्य या तो पृथक् अर्थात् स्वतन्त्र गतियो की योग्यता (पृथग्गतिमत्त्व) है अथवा विभिन्न अधिष्ठानो मे विद्यमानता (पृथगाश्रयाश्रयित्व) है। दोनो मे से किसी अवस्था मे भी पूर्ण इकाई तथा उसके घटक भागो मे कोई सम्बन्ध न होगा। क्योकि पूर्ण इकाई मे गति के बिना भी भागो मे गति हो सकती है। और पूर्ण इकाई और उसके भाग भिन्न भिन्न अधिष्ठानो मे समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं—पूण इकाई अपने भागो मे और भाग अपने घटक परमाणुओ मे रहते हैं। इसी प्रकार सामान्य तथा विशिष्ट के अधिष्ठान भिन्न भिन्न है, क्योकि सामान्य का अधिष्ठान विशिष्ट है और विशिष्ट का अधिष्ठान उसका निर्माण करनेवाले भाग है। इस प्रकार पार्थसारथि मिश्र समवाय की परिभाषा करते हुए कहता है कि यह आधार और आधेय के बीच एक ऐसा सम्बन्ध है जिससे आधेय आधार के अन्दर अनुरूप बोध उत्पन्न करता है। "येन सम्बन्धेनाधेयम् आधारे स्वानुरूपा बुद्धि जनयति स सम्बन्ध इति'' (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 283 84)। इस प्रकार के कथन का कि सामान्य विशिष्ट मे अन्दर समवाय-सम्बन्ध से रहता है, तात्पर्य यह है कि सामान्य (गोत्व) विशिष्ट (गाय) के अन्दर इसके बोध को उत्पन्न करता है। क्योकि सामान्य का प्रत्यक्ष विशिष्ट के अन्दर होता है इसलिए वे एक दूसरे से भिन्न नही हैं। यदि सामान्य विशिष्ट से सर्वथा भिन्न होता तो हम कभी ऐसा कथन न कर सकते कि 'यह एक गाय है।' कुमारिल और पार्थसारथि मिश्र के अनुसार सामान्य और विशिष्ट का सम्बन्ध तादात्म्यपरक तथा भेदपरक है। वही, पृष्ठ 283 से आगे।

10. विशेष

विशेष के द्वारा हम पदार्थों का पृथक्-ज्ञान उनमें परस्पर भेद करके कर सकते हैं।[1] यह पृथक्करण का आधार है। जो कुछ भी व्यक्तिरूप विशेष है यह अनुपम तथा एकाकी है। कणाद विशेष को भी उतना ही विचार पर निर्भर मानते हैं जितना कि सामान्य को।[2] प्रशस्तपाद इसको एक स्वतन्त्र यथार्थता के रूप में प्रतिपादित करता है, जो नित्य द्रव्यों में रहती हुई उन्हें एक-दूसरे से विशिष्ट करके बताती है। हम लौकिक पदार्थों में परस्पर भेद करते हैं उन हिस्सों के द्वारा जिनसे मिलकर वे बने हैं। और जब विश्लेषण करते-करते हम सरल द्रव्य तक पहुंचते हैं जो ऐसे हिस्सों से मिलकर नहीं बना कि उनके द्वारा उसे अन्य द्रव्यों से भिन्न करके पहचाना जा सके, तो हमें अवश्य मानना पड़ता है कि इसके अन्दर कोई गुण है जिसके कारण यह अन्य द्रव्यों से भिन्न रूप में जाना जा सकता है। परमाणु, काल, देश, आकाश, आत्माएं और मन सब अपनी विशेषताएं धारण किए हैं जो वर्गगत गुण न होकर व्यक्तिगत गुण हैं। ये भेदक विशेषताएं अन्तिम तथ्य हैं, जिनसे परे हम नहीं जा सकते। जिस तरह परम (अन्तिम) अणु असंख्य हैं वैसे ही विशेषताएं भी असंख्य हैं।[3] प्रशस्तपाद का मत है कि योगीजन सरल द्रव्यों की अन्तिम विशेषताओं को प्रत्यक्ष कर सकते हैं।[4]

कुछ आधुनिक नैयायिक विशेषताओं को मानने के लिए कोई यथोचित कारण नहीं देखते। यदि अलग-अलग परमाणुओं के अन्दर परस्पर भेद करने के लिए इनकी आवश्यकता समझी जाए तो फिर विशेषताओं के अपने अन्दर कैसे भेद होगा? हमें कहना होगा कि विशेषताओं के अपने अन्दर एक ऐसा अनुपम तत्त्व अथवा अन्तर्निहित शक्ति है जो उनमें भेद कराने में समर्थ है। तो फिर, विशेषता के भाव को बीच में डालने की अपेक्षा, क्यों न परमाणुओं में ही इस प्रकार की एक शक्ति मान ली जाए। कुमारिल, प्रभाकर तथा वेदान्त के अनुयायी 'विशेष' के सिद्धान्त को मानने को उद्यत नहीं हैं। यदि वस्तुएं मौलिकरूप में परस्पर भिन्न हैं तो उनके अन्दर किसी समान लक्षण को पाना असम्भव है।

1 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 13।

2 । 2, 3 से आगे।

3 विशेषास्तु पुनरन्त्यद्रव्यवृत्तित्वाद् अनन्ता एव (सप्तपदार्थी पृष्ठ 12)। तुलना कीजिए इससे लोत्ज़े के ओकेजनलिज़्म के सिद्धान्त के साथ। सामान्यों और विशेषों के स्वरूप पर अपने व्याख्यान में प्रोफेसर स्टाउट प्रतिपादित करते हैं कि एक वर्ग या प्रकार का एकत्व, जिसमें उसके सदस्य या दृष्टान्त सम्मिलित हैं परम निरपेक्ष है। ये ग्रीन तथा रसल से मतभेद रखते हैं जिनका मत है कि गुण और सम्बन्ध दोनों प्रकार के सामान्य हैं, और विशेष में उनका कहना है कि एक ऐसा लक्षण जो एक ठोस वस्तु अथवा व्यक्ति का वैशिष्ट्य बतलाता है, उतना ही विशिष्ट है जितनी कि उसके द्वारा लक्षित वस्तु या व्यक्ति। विलियर्ड गेंद की दो गेंदों में से प्रत्येक की अपनी विशेष गोलाई है जो दूसरी से पृथक् तथा भिन्न है, जिस तरह कि गेंदें स्वयं पृथक् तथा भिन्न हैं। ऐसा कहने का कि बहुत-सी वस्तुओं में एकसमान लक्षण पाया जाता है, वस्तुतः यह तात्पर्य होता है कि प्रत्येक एक सामान्य प्रकार के विशिष्ट उदाहरण अथवा लक्षणों के वर्ग द्वारा लक्षित की गई है। प्रोफेसर स्टाउट का मत है कि द्रव्य एक शिथिल एकत्व है जिसके अन्दर वे सब लक्षण सम्मिलित हैं जो इसके विषय में वस्तुतः विधान किए जा सकते हैं और इस प्रकार के विधान का एकत्व एक ठोस एकत्व है जबकि इसके लक्षण विशिष्ट होते हुए भी ठोस नहीं हैं।

4 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 321, 322। देखिए तर्कसंग्रह, 7 और 8।

11. समवाय

कणाद का तात्पर्य समवाय से उस सम्बन्ध से है जो कारण तथा कार्य के मध्य है।[1] प्रशस्तपाद की परिभाषा के अनुसार, यह वह सम्बन्ध है जो उन वस्तुओ मे रहता है जिन्हे पृथक् नही किया जा सकता, और जो परस्पर आधार तथा आधेय के रूप मे है, तथा जो इस विचार के आधार है कि "इसके अन्दर वह है,"[2] श्रीधर का कहना है कि दुःख तथा सुख परस्पर समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध नही है, यद्यपि उनका निवासस्थान आत्मा है, क्योकि वे आधार और आधेय के रूप मे सम्बद्ध नही है। एक वस्तु तथा उसके द्योतक शब्द मे समवाय-सम्बन्ध नही है, क्योकि वे आधार-आधेय नही है। फल भूमि पर हो सकता है, किन्तु वे दोनो ऐसे नही हैं जो पृथक् न किए जा सके। इसलिए वे भी समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं हैं। अयुतसिद्धि अथवा पृथक्त्व की असम्भावना तादात्म्य नही है, क्योकि दो वस्तुए यथार्थ मे एक नही है। अग्नि का रूप तथा लोहे का गोला दोनो एक-दूसरे से भिन्न हैं। जहा कणाद समवाय-सम्बन्ध के अन्तर्गत केवल कार्यकारण-सबधो को ही रखते है, वहा प्रशस्तपाद कारण-कार्य-सम्बन्धो से अन्य सम्बन्धो को भी इसके अन्दर ले आता है। सामान्यत. यह सम्बन्ध जो द्रव्यो को उनके गुणो के साथ, एक पूर्ण इकाई को उनके हिस्सो के साथ, गति को गतिमान् पदार्थ के साथ, व्यक्ति को विश्व के साथ, कारण को कार्य के साथ सयुक्त रखता है, समवाय-सम्बन्ध है। इस प्रकार समवेत सदस्य एक इकाई के रूप मे अथवा तादात्म्यरूप यथार्थसत्ता के रूप मे हमारे समक्ष प्रस्तुत होते है।

समवाय अथवा आवश्यक सम्बन्ध सयोग अथवा आकस्मिक सम्पर्क से, जोकि वस्तुओ का एक गुण है, भिन्न है। जहा सयुक्त पदार्थ सयोग से पूर्व अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखते है, वहा समवाय-सम्बन्ध वाले पदार्थ पृथक न हो सकने वाले सम्बन्ध से जुडे होते है। समवाय-सम्बन्ध का कारण समवेत पदार्थो मे से किसी एक की क्रिया नही है। जहा सयुक्त पदार्थों के अलग-अलग हो जाने पर सयोग-सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, वहा यह समवाय-सम्बन्ध अविनश्वर है। इसके अतिरिक्त, सयोग दो स्वतन्त्र द्रव्यो मे सम्पन्न होता है, जबकि समवाय-सम्बन्ध से जुडे दो पदार्थो मे आधार-आधेय का सबध होता है।[3] समवाय-सम्बन्ध से जुडे दो पदार्थो मे से जब तक कम से कम एक नष्ट न कर दिया जाए, वे पदार्थ पृथक नही किए जा सकते। सयोग एक ही स्वरूप की दो वस्तुओ के अन्दर होता है, जो अलग-अलग विद्यमान रहती है और कुछ समय के लिए सयोग मे लाई जाती है। सयोग-सम्बन्ध एक प्रकार का बाह्य सम्बन्ध है जबकि समवाय-सम्बन्ध आन्तरिक है।[4] सयोग-सम्बन्ध मे दो भिन्न पदार्थ जोडे जाते हैं, किन्तु उनके सयोग से किसी ऐसी यथार्थ इकाई का निर्माण नही होता जो उनमे से प्रत्येक मे घुसी हुई हो। समवाय-सम्बन्ध यथार्थ सामजस्य है।

समवाय को नित्य कहा गया है, क्योकि उसके उत्पन्न होने मे अतविहीन पश्चाद्-

1 7 2 26।

2 अयुतसिद्धानाम् आधार्याधारभूताना य सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतु स समवाय। (प्रशस्तपादकृत पदार्थधमसग्रह, पृष्ठ 14)। और देखिए पृष्ठ 324, वैशेषिकसूत्र, 7 2, 26-28, 5 2, 23।

3 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, पृष्ठ 326।

4 तुलना कीजिए इसकी जानसन द्वारा प्रतिपादित स्वरूप निर्देशक बन्धन तथा सयोजक बन्धन के भेद के साथ।

गति हो जाएगी। श्रीधर का कहना है कि यह सम्बन्ध समवेत वस्तु के न तो पहले, न पीछे, और न साथ-साथ ही प्रकट हो सकता है। यदि कपड़े के बनने से पूर्व समवाय-सम्बन्ध का रहना सम्भव हो सकता, तो यह विचार में नहीं आ सकता कि उस अवस्था में यह रहता कहां, क्योंकि समवाय के एक सदस्य का उस समय अस्तित्व ही नहीं था। यदि यह कपड़े के साथ उत्पन्न होता है तो कपड़ा समवाय का अधिष्ठान होने के अपने स्वरूप को खो देगा। यदि यह माना जाए कि कपड़े के बनने के पश्चात् यह प्रकट होता है, तो भी कपड़ा इसका अधिष्ठान न रहेगा। कार्य के लिए भी इसका (समवाय का) अधिष्ठान होना सम्भव नहीं है। समवाय इस अर्थ में नित्य है कि उत्पन्न पदार्थ को उत्पन्न या नष्ट किए बिना इसे उत्पन्न या नष्ट नहीं किया जा सकता। इसकी नित्यता इस प्रकार सापेक्ष है। समवाय-सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। किन्तु वस्तुओं के पृथक् न हो सकने वाले सम्बन्ध से इसका केवल अनुमान किया जा सकता है।[1]

जहां पहले पांच पदार्थों में समवायित्व है, तथा अनेक अथवा ऐसे रूप पाए जाते हैं जो उन्हें परस्पर एक-दूसरे से भिन्न करते हैं वहां समवाय केवल एक ही है और इसमें अनेकत्व नहीं है।[2] यह समवाय-सम्बन्ध में किसी वस्तु में नहीं रहता, क्योंकि ऐसा मानने से एक अन्तविहीन पश्चाद्गति उपस्थित हो जाएगी। समवाय के सम्बन्ध में हमारे जो नानाविध विचार हैं उनमें परस्पर कोई भेद नहीं है, जैसाकि सत्ता के सम्बन्ध में हमारे जो नानाविध विचार हैं उनमें कोई भेद नहीं है। सम्बन्ध का रूप एक ही है, भले ही सम्बद्ध पदार्थ भिन्न हों।[3]

वस्तुत, समवाय का विचार बौद्धिक भेद का परिणाम है, यद्यपि इसे विषय-निष्ठ अस्तित्व की कोटि में रखा गया है। इसका उद्भव अपकर्षण से हुआ है और द्रव्यों से अलग इसका कोई अस्तित्व नहीं है। शंकराचार्य ने समवाय की प्रकल्पना की आलोचना की है। उनका तर्क है कि जिस प्रकार का संयोग परमाणुओं तथा आकाश में है वह उतना ही नित्य है जितना कि समवाय। समवाय क्योंकि एक सम्बन्ध है, इसलिए जिसमें इसका सम्बन्ध है उसके साथ तादात्म्य नहीं रखता। समवाय का संबंध उन पक्षों से बाह्य है जिन्हें सम्बद्ध होना है, और इसे स्वयं उन पक्षों के साथ सम्बद्ध होने के लिए एक संबंध की आवश्यकता होती है, और इस प्रकार इस सिलसिले का कहीं अन्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, हमें सदा ही एक ऐसे संबंध की कल्पना करनी होगी जिससे समवाय समवायी में, अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से जुड़ी वस्तुओं में, रहता है। यदि समवाय समवायी में अन्य समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता, बल्कि उसके साथ तदात्मक है, तो संयोग को भी संयुक्त वस्तुओं के साथ तदात्मक माना जा सकता है।[4] ऐसा मत प्रकट करना निरर्थक है कि समवाय की समवायी वस्तुओं में

1 प्राचीन नैयायिकों के विचार में यह प्रत्यक्ष का विषय है।

2 तर्कसंग्रह, 8।

3 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 326।

4 कुमारिल कहता है "यदि समवाय वर्ग में तथा उस विशिष्ट व्यक्ति में जो वर्ग के अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहता है, कोई भिन्न वस्तु है, तो यह (समवाय) उनमें सम्बन्ध के रूप में नहीं रह सकता। दूसरी ओर, यदि यह उनके साथ तदात्मक है, तो वे दोनों भी तदात्मक हैं—इस विधान के अनुसार कि जो वस्तुएं एक ही वस्तु के साथ तदात्मक हैं वे आपस में भी तदात्मक होंगी।" श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, 150।

रहने के लिए उसे उनसे जोड़ने वाली किसी तीसरी चीज की आवश्यकता नही जबकि सयोग को सयुक्त वस्तुओं से सम्बद्ध होने के लिए समवाय-सम्बंध की आवश्यकता है। एक को पदार्थ तथा दूसरे को गुण कह देने से कठिनाई दूर नही होती। इसमे सन्देह नही कि एक द्वयणुक का अपने घटक तत्त्वो के साथ अथवा एक उपजाति का अपने सदस्य व्यक्तियो के साथ जो सम्बन्ध है, वह वैसा नही है जैसाकि मेजपोश का मेज के साथ है। किन्तु दोनो अवस्थाओ मे कठिनाई वही प्रतीत होती है, अर्थात् कोई भी सम्बन्ध, चाहे वह कितना ही घनिष्ठ क्यो न हो, परस्पर सम्बद्ध पक्षो के साथ तदात्मक नहीं हो सकता। इस युक्ति को कि कार्य-कारण के बीच यह सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए, स्वीकार नही किया जा सकता। यदि कारण और कार्य परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हो कि उन्हे पृथक् नही किया जा सकता, जैसाकि वैशेषिक का मत है, तो ऐसा मानना कही अधिक सरल हो जाता है कि दोनो के बीच तात्त्विकरूप से तादात्म्य है। इसके अतिरिक्त, अविभाज्य-सम्बन्ध का विचार न्यायवैशेषिक की कार्यकारण-सबधी प्रकल्पना के इस आवश्यक स्वरूप के विरोध मे जाता है कि कारण का अस्तित्व कार्य से अवश्य पूर्व रहना चाहिए।[1] कारण अपना पृथक् अस्तित्व रखने मे समर्थ है। यदि समवाय कारण के साथ कार्य का सम्बन्ध है जो (कार्य) अपना पृथक् अस्तित्व रखने मे असमर्थ है, तो क्योकि किसी भी सम्बन्ध के लिए दो पक्षो का होना आवश्यक है, और कार्य जब तक इसका अस्तित्व नही है, कारण के साथ सम्बद्ध नही हो सकता, इसलिए दोनो के मध्य समवाय-सम्बन्ध नही हो सकता। ऐसा कहने से भी कोई लाभ नहीं हो सकता कि कार्य उक्त सम्बन्ध मे अस्तित्व मे आने लगने के पश्चात् प्रविष्ट हो जाता है, क्योकि वैशेषिक यदि यह मानता है कि कारण के साथ सम्बन्ध होने से पूर्व भी कार्य का अस्तित्व रह सकता है, तो यह पृथक् अस्तित्व के अयोग्य नही है। कार्य तथा कारण के मध्य सयोग तथा विभाग नही होते, इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि कारण के साथ सम्बद्ध होने से पूर्व कार्य का अस्तित्व सम्भव है, तो दोनो के मध्य पीछे से होने वाला सम्बन्ध समवाय न होकर केवल सयोग है। जिस प्रकार कि समवाय नही किन्तु सयोग ही ऐसा सम्बन्ध है जिसमे प्रत्येक द्रव्य, जैसे ही उत्पन्न होता है, आकाश इत्यादि सर्वव्यापक द्रव्यो के साथ सम्बद्ध होकर अपनी स्थिति को प्राप्त करता है—यद्यपि उक्त सम्बन्ध के लिए उक्त पदार्थ मे कोई गति नही होती—उसी प्रकार कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध सयोग-सम्बन्ध ही होगा, समवाय-सम्बन्ध नही।

12 अभाव

कणाद ने अभाव को एक स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार नही किया। उनके मतानुसार अत्यन्ताभाव का कुछ अर्थ ही नही है। अन्य सब प्रकार के अभाव, यथा प्रागभाव, अर्थात कार्य को उत्पन्न करने से पूर्व कारण की अवस्था, प्रध्वसाभाव, अर्थात् कार्य की वह अवस्था जब वह अपने तत्त्वो मे विलय हो जाता है, तथा पारस्परिक अन्योन्याभाव, अर्थात् अपनी-अपनी वैयक्तिक पृथक् सत्ता रखनेवाली वस्तुओ के मध्य का सम्बन्ध—ये सब भावात्मक

1 शाकरभाष्य, 2 2, 13 17।

सत्ता से सम्बन्ध रखते हैं।[1] यद्यपि विद्यमान वस्तुओं के लौकिक वर्गीकरण के लिए अभाव-रूप किसी स्वतन्त्र पदार्थ की आवश्यकता नहीं है, तो भी विश्व की तार्किक व्याख्या के लिए निषेध का विचार आवश्यक है। जब वैशेषिक ने अपने क्षेत्र को विस्तृत किया और अनुभव की पूर्णरूप से सामञ्जस्यपूर्ण व्याख्या करने का प्रयत्न किया, तो उसने अभावरूपी एक पदार्थ का विकास किया। सब विचार-पद्धतियों के अन्दर सम्बन्धों का एक बड़ा स्थान है। सम्बन्ध हमें एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर ले जाता है, और यह संक्रमण केवल निषेध नहीं है। अन्यता निषेध का आधार है, और जिसे विरोध कहा जाता है वह निषेध का विपरीत रूप है। प्रत्येक सम्बन्ध निषेध का एक प्रकार है जो विरोध के विधान का उल्लंघन नहीं करता। एक वस्तु अपने सम्बन्धों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। जब हम किसी वस्तु के विषय में कहते हैं, तो इसकी सत्ता अथवा स्वीकृति के तथ्य की पुष्टि होती है। जब हम सम्बन्ध के विषय में कहते हैं, तो इसके अभाव रूपी तथ्य पर बल दिया जाता है। एक वस्तु बिना विरोध के स्थिति है; एक सम्बन्ध बिना विरोध के प्रतिकूल स्थिति है।

यद्यपि अभाव पदार्थविज्ञान-सम्बन्धी पदार्थ न होकर अधिकतर एक तार्किक पदार्थ है, तो भी असत् को सत् के ही समान अस्तित्व रखनेवाला पदार्थ मानने की एक प्रवृत्ति है।[2] इस प्रकार निषेध तथा अभाव को एक ही समान समझा जाने लगा। विश्वनाथ का कहना है कि छः पदार्थों के पारस्परिक निषेध के कारण असत् के भाव की उत्पत्ति होती है।[3] निषेध सब प्रकार के सम्बन्धों पर लागू हो सकता है, न कि केवल एकात्मता तथा अस्तित्व ही के सम्बन्धों पर, जैसा-कि श्रीधर का विचार है। वेदान्त तथा प्रभाकर के अनुयायी इसे पदार्थ मानने से सर्वथा निषेध करते हैं। वे इसे एक सरल अधिष्ठान मानते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं।[4] यदि अभाव एक पृथक् पदार्थ है तो एक अन्तविहीन पश्चाद् गति उत्पन्न होगी, क्योंकि घड़े की अनुपस्थिति (घटाभाव) घड़े से भिन्न है, और घटाभाव का अभाव घटाभाव से भिन्न है। इस कठिनाई से बचने के लिए प्राचीन नैयायिक घटाभाव के अभाव को घड़े की उपस्थिति के समान ही मानते थे। निषेधात्मक का निषेधात्मक निश्चयात्मक होता है। किन्तु इस मत को सबने स्वीकार नहीं किया। आधुनिक नैयायिकों का मत है कि एक निषेधात्मक कभी भी निश्चयात्मक के समान नहीं हो सकता, यद्यपि प्रथम निषेध के निषेध का निषेध प्रथम निषेध के समान है।[5]

वात्स्यायन दो प्रकार के अभाव को स्वीकार करता है। पूर्ववर्ती, अर्थात् पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व का पदार्थ का अभाव, तथा पश्चाद्वर्ती, अर्थात् विनाश के पश्चात् का पदार्थ का अभाव। जब तक पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ उसका अनस्तित्व पहले प्रकार का अभाव है। जब घड़ा टूट जाता है तो यह घड़े का अभाव दूसरे प्रकार का है।[6] वाचस्पति[7] अभाव के निम्न प्रकार से विभाग

1 9 1, 1 से आगे।
2 न्यायभाष्य तथा न्यायवार्तिक, 2 · 2, 12; देखिए न्यायकन्दली, पृष्ठ 225-30।
3 अभावस्य द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम्। (सिद्धान्तमुक्तावली, 12)।
4 अधिकरणवैशिष्ट्यमात्रम्।
5. तर्कसंग्रहदीपिका, 80।
6 न्यायभाष्य, 2, 2, 12।
7. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 2 2, 9।

करता है (1) तादात्म्याभाव, अर्थात् एकात्मता का निषेध, (2) ससर्गाभाव अथवा सहसम्बन्ध का निषेध। और यह दूसरा अभाव पूर्ववर्ती, पश्चाद्वर्ती तथा अत्यन्ताभाव—इनमे विभक्त है। अन्तिम को समवायाभाव के नाम से भी कहा गया है। अपने-आपमे विरोधी विचारो को—जैसे वाझ स्त्री का पुत्र या खरगोश के सीग—अत्यन्ताभाव की कोटि मे रखा गया है। अत्यन्ताभाव मे किसी वास्तविक पदार्थ की स्वीकृति तथा उसके विषय मे किसी सम्बन्ध का निषेध रहता है। अन्योन्याभाव मे जिन पदार्थो के मध्य एकात्मता के सम्बन्ध का अभाव बतलाया गया है, वे वास्तविक नही भी हो सकते। अन्योन्याभाव मे हम दो पदार्थो, कपडे तथा घडे की एकात्मता का निषेध करते है, अत्यन्ताभाव मे जिसका निषेध किया जाता है वह एकात्मता से भिन्न सम्बन्ध है। "घडा कपडा नही है" इस प्रकार के निर्णय मे अन्योन्याभाव का विपरीत होगा कि "घडा कपडा है।" वायु मे रग का अत्यन्ताभाव एक निर्णायक वाक्य मे इस प्रकार कहा जाएगा कि "वायु मे कोई रग नही है।" और इसके विपरीत कथन मे वायु तथा रग दोनो को जोडकर कहा जाएगा कि "वायु मे रग है।" अन्योन्याभाव का विपरीत है एकात्मता, किन्तु अत्यन्ताभाव का विपरीत है सम्बन्ध। शिवादित्य का मत है कि अन्योन्याभाव अनित्य है, क्योकि कपडे के नाश होते ही इसका अस्तित्व भी लुप्त हो जाता है।[1] श्रीधर चार प्रकार के अभाव मानता है पूर्ववर्ती, पश्चाद्वर्ती, पारस्परिक (अन्योन्य) तथा नितान्त।[2] विश्वनाथ भी इसी प्रकार के मत का परिष्कार करता है।[3] जब घडा भूमि पर होता है तो इसके अस्तित्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। विश्वनाथ का कहना है कि अभाव तो वहा बराबर था, यद्यपि जब घडा भूमि पर था तो अभाव छिपा हुआ था। इसी प्रकार हरएक वस्तु का अत्यन्ताभाव सब स्थानो पर सदा रहता है, यद्यपि जिस समय मे और जिस स्थान पर वस्तु आ जाती है, यह छिप जाता है। इस प्रकार सार्वभौम अभाव किसी दिशा मे सीमित है। अथवा सर्वथा सीमित नही है। पीछे का असीमित है और यही अत्यन्ताभाव है। सीमित अभाव का निश्चित प्रारम्भ या निश्चित अन्त हो सकता है। घडे के पूर्ववर्ती अभाव का प्रारम्भ नही है यद्यपि इसका अन्त है। पश्चाद्वर्ती अभाव का प्रारम्भ है किन्तु अन्त नही। आधुनिक न्याय के तार्किक, अभाव के भिन्न-भिन्न प्रकारो का अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ विकास करते है।[4]

हम देखते है कि अभाव-विषयक समस्त विचार वैशेषिक के आध्यात्मिक विचार पर अवलम्बित है। यदि वस्तुए केवल विद्यमान रहे और उनका अभाव न हो तो वे सब नित्य हो जाए। यदि पूर्ववर्ती अभाव का हम निषेध करे तो सब वस्तुओ तथा उनकी गतियो को आदि-रहित मानना चाहिए। यदि पश्चाद्वर्ती अभाव का हम निषेध करें तो वस्तुए और उनकी क्रियाए भी कभी रुकेंगी नही और अन्तविहीन हो जाएगी। यदि

1 सप्तपदार्थी, 189।

2 न्यायकन्दली, पृष्ठ 230। और देखिए सामन्तभद्रकृत आप्तमीमासा तथा तर्कसग्रह पृष्ठ 80।

3 सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ 12-13।

4 देखिए भीमाचार्यकृत न्यायकोश—अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव तथा अभाव शीर्षको के नीचे।

अन्योन्याभाव का निषेध करते हैं तो वस्तुओं में भेद न हो सकता। और यदि अत्यन्ताभाव का निषेध करते हैं तो वस्तुओं को सर्वत्र सब कालों में विद्यमान मानना चाहिए।

13. नीतिशास्त्र

वैशेषिक स्वेच्छाकृत तथा अनैतिक कर्मों में भेद करता है और उसका मत है कि आचार-विषयक भेद का प्रश्न केवल स्वेच्छाकृत कर्मों के सम्बन्ध में ही उठता है।[1] ऐसे कर्म जो ऐन्द्रिय जीवन के कारण हैं, अनैच्छिक अर्थात् सहज हैं, और ऐसे कर्म जो इच्छा अथवा द्वेषपूर्वक किए जाते हैं 'स्वेच्छाकृत' हैं। अनैच्छिक कर्मों के लक्ष्य शारीरिक हैं तथा स्वेच्छाकृत कर्मों का लक्ष्य 'हितप्राप्ति' है।[2] सुख अथवा अनुकूलता की अवस्था सुख देने वाले पदार्थों के प्रति अनुराग उत्पन्न करती है। दुःख, जो बेचैनी है, ऐसे पदार्थ के प्रति जो दुःखदायी है, द्वेष का भाव उत्पन्न करता है। इच्छा और द्वेष, सुखदायी तथा दुःखदायी पदार्थों के प्रति ऐच्छिक प्रतिक्रियाएं हैं[3] जिनके परिणामस्वरूप अभिलषित पदार्थ को प्राप्त करने तथा घृणित पदार्थ से दूर रहने के लिए कर्म होता है। वैशेषिक के अनुसार धर्म सांसारिक वैभव तथा आत्मिक कल्याण (निःश्रेयस) दोनों की प्राप्ति का उपाय बनाता है। सांसारिक वैभव कर्मकाण्ड-सम्बन्धी पवित्रता की देन है तथा निःश्रेयस तत्त्वज्ञान से प्राप्त होता है।[4] सबसे उच्च श्रेणी का सुख, प्रशस्तपाद के मत में, ज्ञानी पुरुषों का सुख है जो पदार्थ की स्मृति, इच्छा, चिन्तन जैसे सर्व प्रकार के साधनों से स्वतन्त्र है तथा जो उनके ज्ञान, मन की शान्ति, सन्तोष और सद्गुणों के विशिष्ट स्वभाव के कारण होता है।[5]

कर्तव्य कर्मों की दिनचर्या धर्मशास्त्रों में अनुमान की जाती है। ऐसे कर्तव्य कर्मों में जो सार्वभौम-रूप में अनिवार्य हैं—अर्थात् जिनमें वर्णभेद और जीवन की अवस्था-विशेष की अपेक्षा नहीं है—तथा ऐसे कर्तव्य कर्मों में जो जीवन की विशेष-विशेष अवस्थाओं में अनिवार्य हैं, परस्पर भेद किया गया है।

ऐसे कर्तव्य जो सब पर और सब कालों तथा सब देशों में लागू हों, ये हैं (1) श्रद्धा, (2) अहिंसा, अर्थात् किसी भी जीव को हानि न पहुंचाने का संकल्प,[6] (3) भूतहित की भावना, अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना, (4) सत्यभाषण, (5) अस्तेय, अर्थात् ईमानदारी, (6) ब्रह्मचर्य, (7) मन की शुद्धता, (8) क्रोध का वर्जन, (9) स्नान द्वारा शरीरशुद्धि (अभिषेचन), (10) शुद्धिकारक द्रव्यों का प्रयोग, (11) विशिष्ट देवता की भक्ति, (12) उपवास, और (13) कर्तव्यपालन में आलस्य न करना (अप्रमाद)। चारों वर्णों और चारों आश्रमों के भी विशेष विशेष कर्तव्य साधारण रूप में प्रतिपादित किए गए हैं।[7] श्रीधर के अनुसार, गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किए बिना भी पुरुष सन्यास

1 5 : 1 : 11।
2 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 263।
3 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 259 व आगे।
4 1 : 1, 1 2 और 4।
5 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 259।
6 भूतानामनभिद्रोहसंकल्प (न्यायकन्दली, पृष्ठ 275)।
7 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 273, वैशेषिकसूत्र, 6 : 2, 3।

धारण कर सकता है।[1] यह माना गया है कि संन्यासी वह नहीं है जो संसार को एकदम भुला देता है, बल्कि वह है जो सार्वभौम उपकार का व्रत लेता है।[2] कर्तव्यों के स्वरूप का ब्यौरेवार वर्णन करने के पश्चात् प्रशस्तपाद अन्त में इस परिणाम पर पहुंचता है कि यदि कर्तव्य किसी दृश्य परिणाम (यथा धन-सम्पत्ति आदि) की प्राप्ति इच्छा को छोड़कर और सर्वथा पवित्र प्रेरणा की भावना से किए जाएं, तो उनका परिणाम धर्म होता है।[3] आत्मिक उन्नति के लिए आत्मसंयम आवश्यक है। यह कहा गया है "जो आत्मसंयमी नहीं है उसे केवल पवित्र भोजन करने से अभ्युदय प्राप्त नहीं हो सकता।"[4] आत्मसंयम के साधन-स्वरूप योग के लिए आदेश दिया गया है।[5] नियमों का पालन केवल यान्त्रिक रूप से करने में सिद्धि न होगी, बल्कि आन्तरिक धार्मिकता के भाव को विकसित करना आवश्यक है।

विस्तृत अर्थों में, अहिंसा ही धर्म है, और हिंसा अर्थात् सृष्टि के प्रति विद्वेष-भाव अधर्म है। धर्मशास्त्र के आदेशों में विशेष आकस्मिक घटनाओं में अपवाद हो सकते हैं, ऐसा वैशेषिक मानता है। इसी तथ्य के आधार पर कई विचारक ऐसा सन्देह करने लगते हैं कि वैशेषिक दर्शन का उद्भव धर्म-विरुद्ध कल्पनाओं से हुआ है।[6]

धर्म से तात्पर्य, वैशेषिक के अनुसार, केवल सदाचार के तत्त्व से नहीं है, बल्कि उस शक्ति (क्षमता) अथवा गुण से भी है जो मनुष्य के अन्दर अवस्थित है, कर्म के अन्दर नहीं। यह स्वरूप में इन्द्रियातीत है और जब मनुष्य इसका फलोपभोग करने लगता है तो नष्ट हो जाता है। सत्यज्ञान इसका अन्त कर देता है। यदि धर्म नितान्त अविनश्वर होता तो परम मोक्ष सम्भव नहीं हो सकता था। धर्म से उन्नति (अभ्युदय) होती है किन्तु मोक्ष होने से पूर्व इसका अन्त हो जाना आवश्यक है। जब तक हम शास्त्र-विहित नियमों का पालन इस प्रेरणा को लेकर करते हैं कि अपनी उन्नति को पूर्णता तक पहुंचाएं अथवा जीवन की उन्नत श्रेणी में उठ जाएं, हम अपना पुरस्कार प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु जो पद हम प्राप्त करेंगे वह बराबर स्थिर नहीं रहेगा। ब्रह्मा तक भी स्थायी सुख को प्राप्त नहीं कर सकते।[7] जो कुछ भी हमारा धर्म हो, वह अपरिमित नहीं हो सकता और इसीलिए हमें वह स्थायी शान्ति नहीं दे सकता। निःस्वार्थ अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त किया गया वस्तुओं का सत्यज्ञान ही केवल हमें अन्तिम मोक्ष दिला सकता है।[8] जब तक इच्छा और द्वेष हमारे ऊपर हावी रहते हैं, तब तक हम धर्म और अधर्म अथवा अदृष्ट का संग्रह करते रहते हैं, और कर्मों के फल हमें बलात् देहधारण कराते हैं।[9] देह

1 न्यायकन्दली, पृष्ठ 277।

2 सर्वभूतेभ्यो नित्यमभय दत्वा (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 273)। और देखिए योगसूत्र, 2 30।

3 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 273। और देखिए वैशेषिकसूत्र, 6 2, 1 2, 4-6, 8।

4 वैशेषिकसूत्र 6 2, 8।

5 वैशेषिकसूत्र, 5 2, 16 18।

6 यूई कृत वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ 31।

7 न्यायकन्दली, पृष्ठ 281।

8 वही, पृष्ठ 6।

9 संसारमूलकारणयोर्धर्माधर्मयो ।

भोग का स्थान (भोगायतनम्) है। अदृष्ट के साथ संयोग और उसका कार्य रूप देह ही संसार है, उससे पृथक् हो जाना ही मोक्ष है।[1]

पृथक् आत्मसत्ता की भावना से प्रेरित कर्म वस्तुओं के यथार्थज्ञान के अभाव पर आश्रित हैं। किन्तु ज्योंही हम अनुभव करते हैं कि पदार्थ, जो इतने अधिक आकर्षक अथवा अपकर्षक प्रतीत होते हैं, केवल परमाणुओं के क्षणिक मिश्रणमात्र हैं, हमारे ऊपर से उनका प्रभुत्व जाता रहता है। इसी प्रकार जब हम यह अनुभव कर लेते हैं कि आत्मा का यथार्थस्वरूप इन सब देहधारी सत्ताओं से सर्वथा पृथक् तथा भिन्न है तो हम यह जान लेते कि सब आत्माएं एकसमान हैं। जब यथार्थज्ञान स्वार्थ-प्रेरणा को दूर भगा देता है, तो स्वार्थपरक कर्मों का अन्त हो जाता है, कोई भौतिक मूल्य उत्पन्न नहीं होता, और इसीलिए फिर पुनर्जन्म भी नहीं होता। जब वैशेषिक दर्शन आस्तिकवादपरक हो गया तो मोक्ष के आनन्द को दैवीय अनुकम्पा का परिणाम समझा जाने लगा, और धार्मिक नियमों को ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति माना जाने लगा।[2]

जब तक आत्मा संसार के अन्दर है, वह सदा किसी न किसी देह को धारण

पिता, जीवन की अवधि—ये सब अदृष्ट के द्वारा ही निश्चित होते हैं।[3] प्रत्येक आत्मा को अपने पूर्वकर्मों के फल भोगने का अवसर दिया जाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वर्तमान जीवन उससे ठीक पूर्ववर्ती जीवन का परिणाम हो, क्योंकि हमारे सब नैतिक गुण सब अवस्थाओं में एक ही जन्म में वास्तविक रूप धारण नहीं कर सकते।[5] यद्यपि संस्कार (मौलिक प्रवृत्तियां) नष्ट नहीं होते, पर उनमें से कुछ को आगामी जन्म के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। यह माना गया है कि उचित संयम द्वारा हम अपने पूर्वजन्मों का स्मरण कर सकते हैं।[6] हिन्दू विचारधारा की अन्य पद्धतियों की भांति, वैशेषिक भी स्वीकार करता है कि हमारे लिए यह सम्भव है कि हम जीवन के उच्चतर स्तर तक उठ सकें अथवा अपने को मनुष्य से निचले स्तर में गिरा लें।[7] सब प्राणी अपने धर्माधर्म के अनुसार अपना स्थान प्राप्त करते हैं।

वैशेषिक में प्रतिपादित मोक्ष के सिद्धान्त तथा न्याय-प्रतिपादित मोक्ष के सिद्धान्त में थोड़ा-सा भेद है। माधव अपने 'शंकरविजय' में कहता है कि कणाद के दर्शन अनुसार, मोक्ष की अवस्था में आत्मा सब प्रकार के गुणों से असम्बद्ध रहती है, तथा आकाश की भांति सब प्रकार की उपाधियों तथा [illegible]

अनुसार, मोक्षावस्था आनन्द तथा ज्ञा

की अवस्था को सुख की अवस्था नहीं

1 5 2, 18। और देखिए न्यायसूत्र, 4 1, 47।
2. ईश्वरचोदनाभिव्यक्तात्। प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 7।
3 न्यायभाष्य, 1 1, 19, न्यायवार्तिक, 4 1, 10, 3 1, 19, 22, 25 27।
4 [illegible], 6 2 15।
5 न्यायकन्दली, पृष्ठ 53 281 और उपस्कार, 6 2, 16।
6 उपस्कार, 5 2, 18, 6 2, 16।
7 प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 280-81।
8 अत्यन्तनाशो गुणसंगतेर्या स्थितिर्नभोवत् कणभक्षपक्षे।
मुक्तिस्तदीये चरणाक्षपक्षे सानन्दसंवित्सहिता विमुक्तिः ॥

आकर्षक नहीं हो सकता परन्तु यह उक्त दर्शन के तार्किक उपलक्षणों के अनुकूल है। नाम और रूप (देह) के सम्पर्क से उत्पन्न गुणों से जब आत्मा मुक्त हो जाती है[1] तो यह पुन अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती है। मण्डनमिश्र का यह तर्क कि दु ख, क्लेश आदि गुणों का विनाश आत्मा के विनाश से भिन्न नहीं है, अपने अन्दर कुछ बल रखता है।[2] श्रीधर का तर्क है कि मोक्ष की अवस्था मे आत्मा अपनी नैसर्गिक दशा का सुख भोगती है।[3] आत्मा का शून्य होना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वह नित्य है, अत. मोक्ष की अवस्था पाषाण सरीखी एक जड अवस्था के अत्यन्त निकट पहुच जाती है।[4] श्रीधर अपने पक्ष के समर्थन मे उपनिषदो के उद्धरण देता है।[5]

14. ईश्वर

कणाद के सूत्र मे प्रकटरूप मे ईश्वर का उल्लेख नही है। उसके अनुसार, परमाणुओ तथा आत्माओ मे आदिम गतिया अदृष्ट के कारण से होती है।[6] कणाद भले ही विश्व की व्याख्या अदृष्ट तत्त्व के द्वारा करके सन्तुष्ट हो गया हो, पर उसके अनुयायियो ने अनुभव किया कि अदृष्टरूपी तत्त्व अत्यन्त अस्पष्ट तथा धर्मविहीन है और इसलिए उन्होने इसे ईश्वर की इच्छा पर निर्भर बताया। ईश्वर ससार का नैमित्तिक कारण है, तथा परमाणु उपादान कारण है। परन्तु, कणाद ने स्वय भी एक दैवीय सत्ता की आवश्यकता को अनुभव किया, ऐसा स्वीकार करना कठिन है। उस प्रसिद्ध वाक्य मे,[7] जो दो बार आया है और जिसे परवर्ती टीकाकारो ने आस्तिकवाद का समर्थक बताया है, ईश्वर का कही उल्लेख नही है। यह प्रकट है कि कणाद वेदो को ईश्वरप्रदत्त न मानकर उन्हे ऋषियो द्वारा रचित ग्रन्थ मानता है। प्रशस्तपाद ने भी अपनी दर्शन-पद्धति मे ईश्वर को प्रधानता नही दी है यद्यपि वह अपने 'पदार्थधर्मसग्रह' के प्रारम्भिक श्लोक मे ही ईश्वर को जगत् का कारण बताता है।[8] वेदान्तसूत्र पर किए गए अपने भाष्य मे शकराचार्य ने जो समीक्षा की है[9] उसमे भी यही धारणा बनाई गई है कि वैशेषिक दर्शन मे ईश्वर के लिए कोई स्थान नही है, और कि यह दर्शन आत्माओ तथा परमाणुओ के

1 आत्मविशेषगुणानामत्यतोच्छेद ।

2 विशेषगुणनिवृत्तिलक्षणा मुक्तिरुच्छेदपक्ष न भिद्यते ।

3 आत्मन स्वरूपेणावस्थानम् ।

4 सवसिद्धान्तसारसग्रह 5 36।

5 न्यायकन्दली पृष्ठ 282 87।

6 कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि वैशेषिकसूत्र 2 1 18 19 मे ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे प्रमाण विद्यमान है यद्यपि इस मत को स्वीकार करना कठिन है। 2 1, 9 14 मे अदृश्य नित्य वायु के अस्तित्व की सिद्धि की गई है। और 2 1, 15 17 मे एक आपत्ति उठाई गई है कि इसका अस्तित्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय नही है बल्कि केवल शब्दप्रमाण का विषय है। और 2 1, 18 19 मे कहा गया है कि हमारे कुछेक विचारो का मूल हमारे पूर्वजो के प्रत्यक्ष मे रहता है तथा उनसे हमे प्राप्त होता है और यही तदनुकूल पदार्थो के अस्तित्व का तार्किक आधार है (देखिए यूई वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ 164 66)। 3 2, 4—9 मे हम आत्मविषयक समस्या का ऐसा ही प्रतिपादन पाते है।

7 तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम (1 1 3, 10 2 9)।

8 देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह के प्रारम्भिक तथा अन्तिम अशो को तथा पृष्ठ 48 49।

9 शाकरभाष्य, 2 3, 14।

नित्य तथा अनिर्मित स्वरूप को मानता है और उनकी नानाविध अवस्थाओं की व्याख्या अदृष्ट के द्वारा करता है।

विरोधी सम्प्रदायों की आलोचना ने अनीश्वरवादी वैशेषिक के असन्तोषजनक स्वरूप को स्पष्ट रूप से खोलकर रख दिया। करोड़ों बुद्धि-रहित परमाणु इस जगत् की नानाविधता में अद्भुत एकत्व नहीं उत्पन्न कर सकते। वे एकत्र होकर विचार करने में असमर्थ हैं, और एक आत्मिक शासन की सामान्य योजना को कार्यान्वित करने में भी असमर्थ हैं। वैशेषिक विचारक, जो तार्किक मस्तिष्क रखते थे, केवल आकस्मिकता की कल्पना को नहीं अपना सकते थे। उन्होंने शीघ्र इस बात को समझ लिया कि परमाणु भले ही निर्विकार और नित्य क्यों न हों, किसी प्रयोजन के नहीं हैं, जब तक कि उनकी क्रियाओं का नियन्त्रण किसी अधिष्ठाता मस्तिष्क द्वारा न हो। ईश्वर परमाणुओं को प्रत्यक्ष करता है और उसकी विवेकशक्ति में पहले द्वित्व का भाव उदय होता है और तब द्व्यणुकों का निर्माण होता है। अनुमान प्रमाण तथा धर्मशास्त्र दोनों की माँग है कि हम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करें।[1] चारों महाभूतों से पूर्व किसी ऐसी शक्ति का होना अनिवार्य है जो उनका ज्ञान रखती हो, क्योंकि वे कार्य हैं।[2] शब्दों तथा उनके अर्थों का परस्पर अनुबन्ध ईश्वर के ही द्वारा निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त, वेद वाक्यों का समूह है जो इस विषय का संकेत करता है कि उनका रचयिता कोई बुद्धि-सम्पन्न होगा।[3] और क्योंकि वेद का विषय निर्भ्रान्त, प्रमादरहित तथा रचयिता की किसी प्रकार की प्रवंचना की इच्छा से भी रहित है, अतः उसका कर्ता अवश्य कोई नित्य, सर्वज्ञ, पूर्ण तथा पवित्र अर्थात् निर्दोष पुरुष होना चाहिए।[4] इसके अतिरिक्त प्रलयावस्था में आत्माएं विवेकबुद्धि से रहित होती हैं, इसलिए वे परमाणुओं की गति को वश में नहीं रख सकतीं, और परमाणु-जगत् में गति का कोई स्रोत दिखाई नहीं देता। यदि हमें अनन्त पश्चाद्गति से बचना है तो हमें एक प्राथमिक गतिसंचालक का आश्रय लेना ही होगा, जिसे आदिकारण तथा गति का आदिस्थान माना जा सके।[5] ऐसा गति-संचालक केवल एक ही हो सकता है। अनेक को मानना अनावश्यक है। यदि देवताओं के अनेकत्व को मानें तो परस्पर-विरोध अथवा कलह उत्पन्न होता है। इसलिए केवल एक ही कर्ता है और वह ईश्वर है।

इस प्रश्न का कि क्या ईश्वर के शरीर है, श्रीधर ने विवेचन किया है। ईश्वर के लिए शरीर धारण करना आवश्यक नहीं है। अशरीरी भी कर्म कर सकता है। अभौतिक आत्मा शरीर को गति देने का कार्य करती ही है। शरीर यद्यपि आत्मा से सम्बद्ध है तो भी वह अपने को कार्य में लगाने की शक्ति प्रदान नहीं करता। पदार्थ जिसे प्रेरणा दी गई, शरीर है, और ईश्वर के लिए इस प्रकार का पदार्थ परमाणु हैं। यदि यह युक्ति दी जाए कि इच्छा तथा प्रयत्न को उत्पन्न करने के लिए शरीर आवश्यक है, तो श्रीधर उसके उत्तर में कहता है कि यह उस अवस्था में

1 कीथ : इण्डियन लॉजिक एण्ड एटॉमिज़्म, पृष्ठ 265-66; न्यायकन्दली, पृष्ठ 541।

2 2 : 1, 18, 19।

3 बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। वैशेषिक उपस्कार, 6 : 1, 1।

4 उपस्कार, 10 : 2, 9। युक्ति वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करने पर निर्भर करती है। यदि हम इसे नहीं मानते, जैसे कि बौद्ध नहीं मानते, तो तर्क में बल नहीं रहता।

5 तुलना कीजिए अरस्तू की ईश्वरविषयक प्रकल्पना के साथ, जिसमें ईश्वर को आदिम गति देनेवाला माना गया है, जो आकाशीय तथा भौतिक सब प्रकार की गतियों को शुरू करता है।

होता है जहा इच्छा और प्रयत्न आगन्तुक है, जहा ये स्वाभाविक है इसकी आवश्यकता का प्रश्न नही उठता। ईश्वर की बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न नित्य है।[1] ईश्वर द्वारा सृष्टि-रचना पर किए गए अनेको आक्षेपो के विषय मे भी श्रीधर ने विचार किया है। यदि कहा जाए कि ईश्वर की कोई भी इच्छा ऐसी नही है जो अपूर्ण रही हो और जिसकी पूर्ति के लिए उसे सृष्टि-रचना की प्रेरणा हो तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर की इच्छाए स्वार्थमयी नही है, बल्कि वह दूसरो के उपकार के लिए कर्म करता है। कर्म-सिद्धान्त के अनुकूल, वह ससार मे दु ख को रहने देता है। दु ख वस्तुत कोई बडा पाप नही है, क्योकि यह हमारे लिए सब जन्मो की विविधता के अनुभव करने मे सहायक होता है। वह जो चरित्र का विचार करता है और तदनुसार ही प्राणियो को जन्म देता है, यह उसकी स्वतन्त्रता मे बाधक नही है।

ईश्वर के सम्बन्ध मे वैशेषिक का मत भी लगभग वही है जैसाकि न्याय का है,[2] और इसलिए इसकी समालोचना भी उसी आधार पर हो सकती है। पहले इस ससार को एक यन्त्र के समान माना जाता था जो पूर्ण तथा स्वात्मनिर्भर है और जिसमे परमाणु तथा आत्माए अदृष्ट के सिद्धान्त से अपने-अपने स्थान मे एकत्र रहते है। वैशेषिक के समालोचको द्वारा जो कठिनाइया बार-बार प्रस्तुत की जाती थी—अर्थात कि एक विवेकरहित तत्त्व ससार के पृथग्भूत घटको को एकत्र नही रख सकता — उनसे निकलने का मार्ग ढूढते हुए परवर्ती वैशेषिको को एक दैवीय तत्त्व को स्वीकार करना पडा। ईश्वर जगत का स्रष्टा नही है, क्योकि परमाणु तथा आत्माए उसके समान सहकारी नित्य है। ईश्वर सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता के कारण मानवीय आत्माओ से भिन्न है और यही गुण उसे विश्व का शासक होने की योग्यता देते है। वह कभी भी जन्म-मरण के चक्र मे नही आता। वह ससार को कतिपय नियमो के अधीन कर देता है और इसे चलने देता है। किन्तु वह फिर इसके मार्ग मे हस्तक्षेप नही करता। ससार एक विशाल घडी के समान है जिसे इसका स्रष्टा एक बार गति दे देता है और फिर इसकी गति मे बाधा नही देता। किंतु एक हस्तक्षेप न करनेवाला ईश्वर ससार के वास्तविक जीवन मे सहायक नही होता। दूसरी ओर, हस्तक्षेप करने वाले ईश्वर के विषय मे यह भय होगा कि वह कही अपने ही बनाए हुए विधान को न उलट दे। ईश्वर तथा ससार दोनो एक-दूसरे से स्वतन्त्र है, किन्तु यदि हम प्रारम्भिक प्रस्थापना मे परिवर्तन न करे तो ईश्वर भी हमारी सहायता नही कर सकता। यदि हम परस्पर असम्बद्ध सत्ताओ के अनेकत्व को ले कर चलते है तो हम एक ईश्वर की यान्त्रिक योजना से भी, जो वस्तुओ को बाहर से व्यवस्थित करता है, उनके पृथक्करण मे कोई सुधार कैसे कर सकते है। एक विजातीय माध्यम के यात्रिक उपाय द्वारा सयुक्त ससार वस्तुओ का एक पुजमात्र हो सकता है, एक पूर्ण आगिक इकाई नही हो सकता। आत्माए एक दूसरे को जान तक नही सकती। प्रत्येक यथार्थ वस्तु अपने लिए एक लघु जगत् हो जाएगी, जो अपने आन्तरिक तत्त्व के चक्र के ही अन्दर बन्द होगी। आत्माए तथा उनके विषय आवश्यक रूप से पृथक है, और उनका सम्बन्ध एक बाहर से आरोपित सामजस्य है। इससे पूर्व कि हम किसी अधिक सन्तोषजनक विचार तक पहुच सकें, प्रारम्भिक स्थापना को छोड देना

1 न्यायकन्दली, पृष्ठ 55 58।

2 वेशेषिके भेदो नास्ति नैयायिकै समम् (हरिभद्रकृत षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ 59)।

आवश्यक है। यदि ईश्वर का अस्तित्व है, तो वह प्रकृति के परमतत्त्वों को भी उत्पन्न कर सकता है, और आत्माओं तथा परमाणुओं के नित्य तथा स्वयंभू स्वरूप को अंगीकार करने की आवश्यकता नहीं है। यदि ईश्वर नाम की कोई सत्ता है तो स्वर्ग तथा पृथ्वी सब उसके आश्रित हैं, और कल्पना में भी न आ सकनेवाले प्रकृति के सूक्ष्मतम कण भी, जो अन्तरिक्ष के अनन्त क्षेत्र में गति कर रहे हैं, उसीकी रचना हैं।

15 वैशेषिकदर्शन का सामान्य मूल्यांकन

वैशेषिक के सामान्य सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन उक्त दर्शन के प्रमुख लक्षणों तथा समस्याओं को समझने में सहायक होगा। एक दार्शनिक प्रकल्पना का कार्य यथार्थता द्वारा अभिव्यक्त नाना-विध स्वरूपों को एक सामञ्जस्यपूर्ण और बोधगम्य परिपूर्ण इकाई के रूप में सुव्यवस्थित तथा संघटित करना है। वैशेषिक दर्शन 'इस समस्त दृश्यमान जगत् के लक्षणों तथा पारस्परिक सम्बन्धों को एक पद्धति में प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता है।"[1] प्रोफेसर व्हाइटहेड के समान, हमारे लिए इन्द्रिय-सामग्री, प्रत्यक्ष जगत् एवं वैज्ञानिक पदार्थों में पृथक्त्व करना उपयोगी होगा। इन्द्रिय-सामग्री में वास्तविक रंग, रस, शब्द तथा ताप हैं, जिनका हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी सामग्री पर हमारे समस्त अनुभव का आधार है और इसी इन्द्रिय-सामग्री तथा आनुभविक जगत् की व्याख्या के लिए हम उनका वैज्ञानिक विषयों की कल्पना कर लेते हैं, जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है यद्यपि वे समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान की व्याख्या करते हैं। वैशेषिक में भी हमें इन्द्रियज्ञान की सामग्री अथवा प्रत्यक्ष का विषय मिलता है जिसमें समस्त अनुभव शुरू होता है। जब हम इन विषयों पर, द्रव्य, गुण, सम्बन्ध इन पदार्थों द्वारा एक साथ विचार करते हैं तो हम आनुभविक जगत् की ओर अग्रसर होते हैं। जैसाकि हम अनेक बार कह चुके हैं, जब हम किसी वस्तु तथा उसके गुणों के विषय में कुछ कथन करते हैं, तो हम तथ्यों का कथन नहीं कर रहे होते हैं बल्कि उनकी व्याख्या कर रहे होते हैं। जब वैशेषिक नित्य द्रव्यों गुणों आदि को अनित्य द्रव्यों, गुणों आदि से पृथक् करता है, तो वह हमारे अनुभव के क्षणिक स्वरूप पर बल देता है और कतिपय वैज्ञानिक विषयों की, यथा परमाणुओं और आत्माओं, देश और काल, आकाश और मन की, कल्पना कर लेता है। इस प्रकल्पना को सन्तोषप्रद माना जा सकता है यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान हमें अनुभव जगत् की ओर ले जाए और आनुभविक जगत् वैज्ञानिक पदार्थों की ओर ले जा सके। किन्तु वैशेषिक दर्शन में, इस प्रकार का कोई तर्कसंगत सम्बन्ध दिखाई नहीं देता।

अभाव के सिद्धान्त पर बल देने के कारण वैशेषिक की अनेकत्ववादितात्मक विशिष्ट प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यथार्थसत्ता न तो द्रव्य है, न गुणों का पुञ्ज ही है, क्योंकि द्रव्य गुणों के विषय हैं, बल्कि यह एक तार्किक सम्बन्ध है जहां हमें विश्लेषण, तुलना, भेद तथा तादात्म्य की आवश्यकता होती है। परिवर्तनशील आनुभविक जगत् में ऐसी सत्ताधारी वस्तुओं की अनेकता है जो एक-दूसरे के साथ सब प्रकार के सम्बन्धों के एक जटिल जाल में बंधी हैं। वैशेषिक का अपना लक्ष्य इस विश्व को एक व्यवस्थित पूर्ण इकाई विविधताओं के एक सामञ्जस्य के रूप में प्रस्तुत करना है। जब तक हम परस्पर टकराते तत्त्वों में सामञ्जस्य लाने के अयोग्य हैं, तब तक हम तात्त्विक आदर्श

[1] व्हाइटहेड : दि कन्सेप्ट ऑफ नेचर, पृष्ठ 185।

तक नही पहुचते। स्वात्मविरोधी विचार मे नही आ सकता, और तो भी इस दर्शन के ऐसे अवयव है जिन पर हम एक पूर्ण इकाई के हिस्सो के रूप मे एक साथ विचार नही कर सकते।

वैशेषिक अभाव के सापेक्ष स्वरूप को स्वीकार करता है। जिस विषय-वस्तु का वह निषेध करता है, वह सर्वथा बहिष्कृत कभी नही होती। इससे पूर्व कि हम निषेध करें, निषिद्ध विचार को मानना होता है। फिर, ऐसा सुझाव जिसका निषेध द्वारा प्रत्याख्यान किया जाता है, एक निश्चित अभिज्ञा (पहचान) पर आश्रित है जो प्रस्तुत वस्तु-विषय से असगत होती है। हम भूमि पर घडे को ढूढते है और वहा उसे न पाकर उसका अभाव उद्घोषित कर देते हैं। यथार्थसत्ता बहिष्कार करती है, क्योकि इसमे असगतिरूप गुण है। निषेध (अभाव) अपने आधार मे एक विभाजन का सकेत करता है जो यथार्थ है। निषेध का उद्देश्य हमारे समक्ष एक ऐसी यथार्थता को रखने का है जिसे एक व्यवस्थित पद्धति के रूप मे समझा गया है। साधारण स्वीकृतिसूचक कथन उसी तरह एक पक्षीय भावात्मक सार है जिस तरह कि साधारण निषेधात्मक कथन। केवल सत् एक रिक्त पदार्थ (विषय) का भावात्मकसार है, जबकि केवल, 'असत्' रिक्तता के भी परे जाता है। केवल 'असत्' एक 'वह', अथवा एक ऐसी वस्तु का विचार है जो प्रत्येक 'ध्या' अथवा उपाधि को बहिष्कृत करती तथा स्वय भी बहिष्कृत होती है। यह एक ऐसे पदार्थ का भावात्मक सार है जो सब प्रकार की उपाधियो का निषेध करता है और अपना भी निषेध करने पर बाध्य होता है। अभाव पर आग्रह होने से वैशेषिक का आदर्श ससार को तत्वो का सामञ्जस्य मानना ठहरता है, यद्यपि वस्तुत इस प्रकार का आदर्श सिद्धान्तरूप मे परम सत्य तथा यथार्थता से न्यून है। विविधता, भेद तथा अनेकता ये सब एक इकाई के अन्दर ही कुछ अर्थ रखते है। जिसे वैशेषिक एक स्वतन्त्र व्यक्ति समझता है, वह यथार्थ के स्वरूप के अन्दर ही एक अवयव के रूप मे देखा जाता है। यह भिन्न और विरोधियो मे पारस्परिक भ्रम उत्पन्न करता है। भिन्न पदार्थ विरोधी भी हो, यह आवश्यक नही है। भिन्न पदार्थ एक-दूसरे को बहिष्कृत नही करते, वे केवल अपने भेद के निषेध को ही बहिष्कृत करते है। परस्पर असगत पदार्थ भी है, किन्तु वे अन्तिम तथा निरपेक्ष नही है। सीमाओ के अन्दर वे पाए जाते है, किन्तु अभिज्ञा के तार्किक विचार की माग है कि यथार्थ विशेष है तथा सामञ्जस्यपूर्ण और आत्मसगत है। समस्त पदार्थो के लिए एक पृथक् अभिज्ञा की कल्पना करने के कारण, वैशेषिक एक यथार्थ आध्यात्मिक पूर्ण इकाई के विचार तक नही उठ सका, जहा पहुचकर हिस्सो के अन्योन्य बहिष्कार का भाव लुप्त हो जाता है। यद्यपि यह इस ससार के लिए एकत्व तथा अनेकत्व दोनो को मौलिक मानता है, परन्तु दोनो को पास-पास रहने दिया गया है और इन्हे एक पूर्ण इकाई मे नही लाया गया है। वैशेषिक ज्ञान को सुसघटित, पूर्ण इकाई मानने के विचार को, जो उसके अभाव-सम्बन्धी मत से उपलक्षित होता है, अन्त तक स्थिर नही रख सका।

किन्तु वैशेषिक यह निर्देश करता है कि अनुभव के अन्दर पदार्थ तथा उनके सम्बन्ध दोनो सम्मिलित हैं। द्रव्य, गुण और कर्म अपने-आपमे अपना अस्तित्व रखते हैं और एक-दूसरे के अन्दर भी अस्तित्व रखते है, और ये अनेक सम्बन्धो से बद्ध है, जो सामान्य अर्थात् जातिगत स्वरूप, विशेष अर्थात् विशिष्ट लक्षण, और समवाय अर्थात् कभी पृथक् न हो सकने वाला सम्बन्ध कहलाते है। प्रत्येक द्रव्य मे एक जातिगत गुण रहता है, एक विशिष्ट भेद रहता है और यह इन दोनो के साथ समवाय-सम्बन्ध से जुडा हुआ है। सम्बन्धो की यथार्थता का समर्थन किसी भी सन्तोषप्रद, अनेकवादी आध्यात्मिक

ज्ञान के लिए एक मौलिक आवश्यकता है। यदि सम्बन्ध अयथार्थ हैं तो संसार में केवल एक ही द्रव्य रह जाता है जो निरपेक्ष होगा; अथवा यह जगत् ऐसे वास्तवणुओं से मिलकर बना है जो स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष हैं; परस्पर असम्बद्ध हैं तथा कभी भी सम्बद्ध नहीं हो सकते।

समवाय की प्रकल्पना वैशेषिक दर्शन में एक निर्बल कड़ी है। यह नहीं हो सकता कि हम समवाय को दो भिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध मानें और इसे संयोग से भिन्न प्रकार का भी मानें। यदि समवाय संयोग से भिन्न है, तो पूर्ण इकाई हिस्सों के अतिरिक्त और उनसे भिन्न कोई वस्तु है। वैशेषिक का समवाय-सम्बन्धी-मत, इसके अभाव-विषयक मत की ही भाँति इस भाव का संकेत करता है कि संसार एक व्यवस्थित इकाई है, जिसमें तत्त्व परस्पर सम्बद्ध हैं। इस प्रकार इनका अनेकत्ववाद अन्तिम सिद्धान्त नहीं है।

सामान्य तथा विशेष के अन्दर जो भेद है, वह द्रव्यों के गुणों का भेद है। विशेष, अथवा विशिष्टता का स्वरूप क्या है? यह बिलकुल सत्य है कि हम विलक्षण विशेषों को जीवन के साधारण बुद्धि में आनेवाले स्तर पर मान लेते हैं। किन्तु यह विशेष है क्या? इसका सन्तोषजनक विवरण हम नहीं दे सकते। वह क्या है जो किसी वस्तु को वस्तु-विशेष बनाता है। किसी भी वस्तु के विषय में जो कुछ हम जानते हैं, वह उसके कुछ गुण हैं और यह कि किस रूप में वह व्यवहार करती है। अनुपमता की परिभाषा नहीं की जा सकती, तो भी यह अक्षय प्रतीत होती है। विशेषता केवलमात्र एक धारणा प्रतीत होती है, जो अभाव के ही बराबर है। जीवात्मा ही को लें। क्या कोई ऐसी वस्तु भी है जिसे यह न बदल सके? यदि इसका विशेषत्व कोई ऐसी वस्तु है जो इसके ऐतिहासिक जीवन के साथ बदलती है, तो यह परिवर्तित होने की क्षमता रखती है। किन्तु यदि यह एक अपरिवर्तनशील तत्त्व है, तो हम नहीं जानते कि यह क्या है। यदि हम तथ्यों की ओर ध्यान दें तो हमें 'नीला' नहीं मिलता, बल्कि सर्वदा 'एक नीला' अर्थात् एक विशेष प्रकार का नीला मिलता है। यह न तो स्वयं में सामान्य है और न यह विशिष्टता ही है जो विशेष पदार्थ को नीला बनाती है। हम नहीं जानते कि किस प्रकार से एक अनुपम विशेष को बनाने के लिए संयुक्त होते हैं। अन्ततोगत्वा, हमारा अनुपमता से क्या तात्पर्य है, इसकी परिभाषा हम नहीं कर सकते। यद्यपि 'विशेष' की प्रकल्पना तार्किक प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं हो सकती, तो भी एक अनुभवजन्य पक्षपात हमें प्रेरणा करता है कि हम व्यक्तियों में अनुपम तथा अविनश्वर तत्त्वों को स्वीकार करें। वास्तव तत्त्वों तथा आत्माओं का विशेषत्व सम्पूर्ण इकाई के विशेषत्व का नाश करने वाला है। इस प्रकार यदि एक सघटित इकाई के भाव को, जो वैशेषिक के अभाव तथा समवाय सम्बन्धी विचार में उपलक्षित होता है, पुष्ट करना हो तो विशेषों के सिद्धान्त में परिवर्तन करना आवश्यक है।[1]

1 तुलना कीजिए ब्रैडले से : "अंशों के स्वरूप, इसलिए, केवल अपने में (प्रत्येक अपने आपमें) आत्म निर्भर नहीं हैं, क्योंकि यदि तुम प्रत्येक में से उसके परे के प्रत्येक उल्लेख को मिटा दो तो अनेकत्व नहीं भी रहेगा। 'और' शब्द का अर्थ सिवाय इसके और कुछ नहीं है कि वह पूर्ण इकाई के आधार का अभिव्यंजन करता है, और एकात्मता से अलग विविधता का अपना कोई अर्थ नहीं है। इसलिए जिन विशेषों की आवश्यकता है, वे स्वात्म विरोधी हैं। और पृथक्-पृथक् पक्षों में से प्रत्येक के अन्दर भेद करने से तुम बच नहीं सकते, क्योंकि इस प्रकार का मार्ग हमें ऐसे विशेषों के विभाग की ओर ले जाएगा जिनके प्रभाव के सम्बन्ध में वही समस्या उत्पन्न होगी। यदि इनकों में से प्रत्येक अपने से परे नहीं है, तो वे अनेक नहीं रहते। और दूसरी ओर, जो आत्मनिर्भर नहीं वह स्पष्टतः विशेष अथवा विलक्षण भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए विशेष, जिनमें से प्रत्येक—

सामान्य का भाव कहा जाता है कि, विचार करनेवाली बुद्धि पर निर्भर न रह कर, द्रव्यों, गुणों और कर्मों में रहता है, और इसे नित्य द्रव्यों में नित्य तथा अनित्यों में अनित्य माना जाता है। यदि विशिष्ट व्यक्ति तथा सामान्य समान रूप से यथार्थ है, और यदि हमारी वैज्ञानिक व्याप्तियां प्राकृतिक व्यवस्था में नित्यरूप से नियत इन सत्ताओं से सम्बद्ध मानी जाती है, तो विचार में आने योग्य अच्छी, बुरी तथा तटस्थ समस्त सत्ताओं के लिए अनुकूल सामान्य होने चाहिए। इसके अतिरिक्त, ऐसे सामान्य नहीं हैं जो नित्य हों। औपचारिक तर्क के प्रभाव के कारण जिसकी प्रवृत्ति विचारधारा को स्थिर करने की ओर होती है, न्याय-वैशेषिक, मारतत्त्वो, उनके गुणों, तथा उनके भेदों पर बल देता है। कोई भी वस्तु एक ही समय में विद्यमान तथा अभावात्मक दोनों नहीं हो सकती। यही विरोध का विधान है, और इसीके प्रभाव से वस्तुएं भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त की गई हैं और यह माना गया है कि ये वर्ग जब से यह संसार बना और जब तक इसका अन्त नहीं होता, इसी प्रकार के हैं और रहेंगे। डार्विन का विकासवाद जातियों की नियतता के मत को हीन मानता है। प्राकृतिक चुनाव के अधीन वैयक्तिक भिन्नताओं के एकत्र हो जाने पर एक जाति विकसित होकर अन्य में परिणत हो जाती है। वर्ग जैसे है, ये लाखों वर्षों की विकास की प्रक्रिया के परिणाम है। वर्ग सबसे अधिक परिवर्तनशील है और वर्तमान काल तक मे एक से दूसरे के अन्दर परिवर्तित होते रहते हैं। मैंडेल के पैतृक परम्परा-सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार घोड़े का स्वरूप यहां तक परिवर्तित हो सकता है कि पहचान में न आ सके। तथाकथित सामान्य अपरिवर्तनशील व स्वात्मनिर्भर प्रकार नहीं हैं, बल्कि परिस्थितियों की परिवर्तित होती अवस्थाओं के अनुकूल वृद्धि तथा विकास की मंजिलों को प्रदर्शित करते है। जब वर्ग मिटने लगते है तो तार्किक की आधारभूमि ही विलुप्त हो जाती है, क्योंकि वह तो प्रकारों तथा सारतत्त्वों पर ही अपने सिद्धान्त का निर्माण करता है। किसी एक विशेष अवस्था में सामान्य के द्वारा वर्ग का स्वरूप जनाया जाता है, यद्यपि यह स्वरूप किसी भी प्रकार से अपरिवर्तनीय नहीं है। जब हम सामान्यों को नित्य कहते हैं तो हमारा तात्पर्य अनन्त समय तक उनकी सत्ता में नहीं होता, बल्कि यह होता है कि काल-विषयक सम्बन्धों से वे स्वतन्त्र हैं। जैन तार्किकों का कहना है कि न्याय-वैशेषिक भी अभाव के सामान्य भाव को, जो पूर्ववर्ती अभाव, पश्चाद्वर्ती अभाव आदि में एकसमान माना जाता है, स्वीकार नहीं करता, और न सामान्यों के सामान्यभाव को ही स्वीकार करता है। यदि विभिन्न सामान्यों अथवा विभिन्न प्रकार के अभावों का सामान्य केवल मात्र उनका समान स्वरूप है, तो हम कह सकते है कि समान स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का सामान्य है ही नहीं। सामान्य की प्रकल्पना को परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील में परस्पर भेद करने की इच्छा से ही प्रेरणा मिलती है। यदि हम सामान्यों की उत्कृष्ट यथार्थता के इन्द्रियातीत जगत् की वस्तु मानें, तो उनका सम्बन्ध विशेष व्यक्तियों के साथ जिनमें कि वे रहते है, स्थापित करना कठिन होगा। एक, नित्य, सर्वगत सामान्य तत्त्व का अनेक, अनित्य, खण्डित तथा एकाकी व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना आसान नहीं होगा। यदि सामान्य विशिष्ट के साथ सह-अस्तित्व नहीं रखता तो हमारी स्थिति भी प्लेटो की विचार-सम्बन्धी प्रकल्पना के ही समान हो जाती है, जिसे वह 'वस्तुपूर्व-

यदि सम्बन्ध हो सके तो—निश्चय ही, केवल अमूर्त भाव ही सिद्ध होते हैं। और क्योंकि ये सिद्धान्त रूप में स्वात्मविरोधी हैं इसलिए अयथार्थ हैं और अन्ततोगत्वा निरर्थक हैं (लॉजिक, खण्ड 2, पृष्ठ 651)। और भी देखिए जैटाइल कृत थियरी आफ माइण्ड ऐज प्योर एक्ट आग्लभाषानुवाद पृष्ठ 113।

सामान्य' का सिद्धान्त कहता है। नितान्त पृथक् दो वस्तुओं को, अर्थात् सामान्य तथा व्यक्ति को, एकाकार नहीं किया जा सकता। हमें व्यक्तिरूप जगत् को, यह कहकर कि उसका यथार्थसत्ता के साथ कोई बुद्धिगम्य सम्बन्ध नहीं है, और वह एक व्यर्थ प्रतीति-मात्र है, अमान्य ठहराना होगा। न्याय-वैशेषिक स्वीकार करता है कि सामान्य तथा व्यक्ति एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते, क्योंकि वे परस्पर समवाय-सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। दूसरे शब्दों में, सामान्य तथा विशेष में भेद केवल विचार-विषयक ही है, यथार्थभेद नहीं है, और तो भी असगत रूप में सामान्यों को स्वतन्त्र अस्तित्व दे दिया गया है। कल्पना की गई है कि संसार के विनाश के पीछे भी ये विद्यमान रहते हैं और प्रलय की अवस्था में उनका अधिष्ठानकाल होता है, जिसे यथार्थ वस्तु समझा गया है।

द्रव्य, गुण और कर्म को विषयनिष्ठ माना गया है, जबकि सम्बन्ध तार्किक विश्लेषण की उपज हैं, जिन्हें विश्व के तथ्यों का रूप देना हमारे अधिकार के बाहर की बात है। पहले तीन पदार्थों के विषय में कहा जाता है कि वे सत्ता के लक्षण को ग्रहण करते हैं, और सत्ता के विषय में समझा जाता है कि वह उसी गुण का, अर्थात् सत् से युक्त एक कल्पना का, तीनों पदार्थों में आधान करती है। विभिन्न सम्बन्ध-कारण-कार्य और अन्योन्य तथा सह-उपस्थिति का केवल एकत्रीकरण—अस्तु हैं, क्योंकि सब सत् पदार्थ व्यक्तिरूप हैं। गुण और कर्म सत्तावाची विशेष्य के भिन्न-भिन्न प्रकार या विशेषण हैं।[1] कोई भी काल-सम्बन्धी परिवर्तन अथवा दैशिक गतियां क्यों न हों, गुण कारणकार्य-सम्बन्ध में सतत घटक माने जा सकते हैं, जबकि परिवर्तनशील अवस्थाएं कर्म हैं जो कारण-कार्य-सम्बन्धी आकस्मिक घटक हैं। द्रव्य के सम्पूर्णभाव में गुण और कर्म, सतत और आकस्मिक घटक, दोनों सम्मिलित हैं, जिनमें से किसी का भी चिन्तन दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।[2] प्रत्येक द्रव्य की अपनी विशेषता, अपने गुण और अपने कर्म होते हैं। साधारण बुद्धि संसार की घटनाओं को कुछ द्रव्यों के गुण समझती है। वस्तु तथा उसके गुणों का भाव हम सबके लिए इतना परिचित है कि हमारे समस्त अनुभव में इसका प्रवेश है। वैशेषिक इसे एक साधारण, असन्दिग्ध सूत्र के रूप में मान लेता है जिसको सिद्ध करने के लिए न तो किसी अधिक विवेचन और न प्रमाण की ही आवश्यकता है। प्रत्येक यथार्थ वस्तु या तो द्रव्य है या उसका गुण है। गुण यथार्थ-सत्ता के आश्रित पक्ष हैं और अपने स्वतन्त्र रूप में रहने के अयोग्य हैं। वे जीवित द्रव्य के एक अधिक मौलिक रूप का संकेत करते हैं जिसके कि वे गुण हैं। द्रव्यों के अनेकत्व के अस्तित्व को, जिनमें से प्रत्येक अपने-आपमें पूर्ण है और अन्य सब से स्वतन्त्र है, साधारण बुद्धि का आदेश मानकर स्वीकृत किया गया है, यद्यपि इससे हम, द्रव्य अपने-आपमें क्या है—इस विषय में कोई सन्तोषजनक विचार नहीं बना सकते।

द्रव्य और गुण की सरल कल्पना के पीछे ऐसी समस्याओं की गहराई छिपी है जिनका समाधान आज तक नहीं हुआ। द्रव्य की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि द्रव्य वह है जो गुणों का अधिष्ठान हो।[3] इस प्रकार गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। हम विचार में द्रव्य तथा गुण के अन्दर भेद करते हैं, किन्तु ऐसी धारणा बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि गुणों तथा कर्मों में सामान्य तथा विशेष आदि की अपेक्षा

1. डब्ल्यू० ई० जानसन विशेषणों को दो भागों में विभक्त करता है, अर्थात् सम्बन्धात्मक तथा असम्बन्धात्मक। सम्बन्धात्मक विशेषण ही सम्बन्ध हैं। देखिए लॉजिक, खण्ड 1, पृष्ठ 37।

2. डब्ल्यू० ई० जानसन : लॉजिक, खण्ड 1, पृष्ठ 37।

3. जहां प्राचीन न्याय ने द्रव्य की परिभाषा करते हुए इसे गुणों तथा कर्मों का अधिष्ठान बताया है, वहां आधुनिक न्याय अपनी परिभाषा में इसे केवल गुणों का ही अधिष्ठान बताता है।

यथार्थता का अधिक ऊचा अश विद्यमान है। किन्तु वैशेषिक की धारणा है कि गुणो के बिना भी द्रव्य रह सकता है। सृष्टि-रचना के आरम्भिक क्षण मे द्रव्यो को गुणरहित ही बताया गया है, जिसका निर्देश यह है कि द्रव्य की तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी पहचान उसके गुणो की स्थिर पहचान के समान नही है। द्रव्य के सारतत्त्व का, जिसके ही कारण वह द्रव्यरूप मे है, उन स्थिर गुणो के साथ, जो उसकी अपनी विशेषता है, कोई विशेष सम्बन्ध नही है। द्रव्य के अपने अस्तित्व के बने रहने के लिए गुणो के स्थायित्व की अनिवार्यता नही है। द्रव्यो के विशिष्ट गुण कार्य माने गए है, अर्थात् ऐसे गुणो का उद्भव द्रव्यो के अन्दर से है। किन्तु द्रव्य कारण कैसे बन सकता है, अर्थात् अपने से भिन्न किसी वस्तु को कैसे उत्पन्न कर सकता है? समस्त निश्चित और मूर्त गुणो से ऊपर जो कुछ है वह हमारे विचार के लिए विषय वस्तु से सर्वथा रिक्त है। यह एक अज्ञात कल्पित वस्तु है, अर्थात् "मैं नही जानता कि क्या है" जो सब गुणो की पृष्ठ-भूमि मे है। विचार के एक चिरस्थायी स्वभाव की प्रवृत्ति के कारण हम गुणो की अपेक्षा द्रव्य को अधिक यथार्थ समझते हैं। वैशेषिक के द्रव्य एक अज्ञात अधिष्ठान है, जिसके द्वारा अनुभव मे आने वाले गुणो की व्याख्या हो सके। ये सम्भाव्य कल्पना के परिणाम है, वैज्ञानिक निरीक्षणो के नही। किन्तु वैशेषिक यह भी मानता है कि यदि कोई वस्तु अपने गुणो को खो दे तो उसका स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। द्रव्यो तथा गुणो का परस्पर सम्बन्ध समवाय-सम्बन्ध कहा जाता है, अर्थात् इन दोनो मे से कोई भी एक-दूसरे के बिना नही रह सकता।[1]

> द्रव्य और गुण के बीच जो उक्त प्रकार का सम्बन्ध बताया गया है, शकराचार्य ने उसकी आलोचना की है। यदि दोनो इस प्रकार सयुक्त है कि उन्हे पृथक् नही किया जा सकता, तो यह अविभाज्यता देश, काल तथा स्वभाव से सम्बद्ध होगी। दोनो देश के अन्दर अविभाज्य नही है, क्योकि धागो से बनने-वाला कपडा केवल धागो की जगह घेरता है, कपडे का स्थान (देश) नही घेरता जबकि कपडे के गुण जैसे इसका रग आदि केवल कपडे का ही स्थान घेरते हैं धागो का नही।[2] यदि काल मे अविभाज्यता को समवाय-सम्बन्ध का सारतत्त्व माने, तो गाय के दाये और बायें सीग भी समवाय-सम्बन्ध से सयुक्त होगे। और यदि यह अविभाज्यता स्वभाव मे है तो द्रव्य और गुण मे आगे कोई भेद असम्भव होगा, क्योकि दोनो एक ही हैं।[3]

यदि द्रव्य अपने गुणो के आश्रित है तो वह वस्तुत स्वतन्त्र नही हैं। द्रव्य केवल अपने गुणो के साथ समवाय-सम्बन्ध से सयुक्त नही है, बल्कि सभी द्रव्य द्रव्यत्व के एक सामान्य भाव से सयुक्त है, और व्यक्तिरूप मे प्रत्येक द्रव्य उसी प्रकार अपने वर्ग के भाव से सयुक्त है।[4] गुणो से अलग द्रव्य का हमे प्रत्यक्ष नही होता, और इस प्रकार

1 देखिए गौडपादकृत कारिका, 3 5 पर शकराचार्य।
2 वैशेषिकसूत्र, 1 1, 10।
3 शाकरभाष्य, 2 2, 17।
4 श्री हर्ष पूछता है कि ऐसे गुण, जो सख्या जैसे अन्य गुणो को धारण करते हैं, द्रव्यो के अन्तर्गत क्यो नही लाए गए। यदि गुणो की परिभाषा करते हुए यह कहा जाता है कि ये सामान्य के अधिष्ठान हैं, तो वह पूछता है कि वे विध्यात्मक सत्ताओ, यथा उपाधियो, के अधिष्ठान हैं या नही (खण्डन, 4 · 3)। अलेक्जेंडर गुण को पदार्थ मानने को उद्यत नही है।

की धारणा कि गुणों के परिवर्तन होने पर भी कोई वस्तु अपरिवर्तित रह जाती है, तर्क के विरुद्ध है।[1] यदि हम उन गुणों को अपना आधार बनाएं जो परिवर्तित हो जाते हैं, तो स्थायी द्रव्य कोई हो ही नहीं सकता। पत्ती जो आज ताजी, हरे रंग की तथा रस से पूर्ण है, अगले दिन म्लान होकर पीली पड़ जाती है, और उससे भी अगले दिन भूरे रंग की और मुरझाई हुई दिखाई देती है। इसलिए हम नहीं जान सकते कि उस पत्ती का स्थायी गुण क्या है। दर्शनशास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास यह सिद्ध करता है कि वस्तु का अन्तस्तल एक ऐसा रहस्य है जिसके अन्दर प्रवेश करना कठिन है।[2] अपने गुणों तथा कर्मों को छोड़कर द्रव्य क्या वस्तु है, यह जानने की आशा हम नहीं कर सकते। आनुभविक जगत् में हमें द्रव्य तथा गुण, इन पदार्थों का उपयोग करने को बाध्य होना होता है, यद्यपि अस्तित्व को हम गुणों के रूप में नहीं ला सकते, और तो भी वैशेषिक स्वीकार करता है कि द्रव्य अपने गुणों से अलग कुछ नहीं है। हम द्रव्य की परिभाषा केवल उसके गुणों के द्वारा ही कर सकते हैं। इसी प्रकार पदार्थों में परस्पर-भेद भी उनके भिन्न-भिन्न गुणों के द्वारा ही कर सकते हैं। हम एक पदार्थ को भिन्न-भिन्न समयों में वही तभी तक कहते हैं जब तक कि उसमें वही गुण रहते हैं। जब हम भिन्न गुणसमूहों को पाते हैं तो हम कहते हैं कि ये वस्तुएं भिन्न हैं। द्रव्य हमारे अनुभव के स्थायी तत्त्वों का निर्देश करता है। आत्माएं और परमाणु, देश, काल, आकाश और मन हमारे अनुभव के निरन्तर रहने वाले अवयवों का निर्देश करते हैं।

वैशेषिक का प्रयत्न अनुभव के सभी पहलुओं को लेकर उन्हें एक सामान्य योजना में ठीक-ठीक स्थान पर बैठाना है। इन्द्रियग्राह्य जगत् का एक यथार्थ आधार है, जो प्रत्यक्षदर्शी से स्वतन्त्र है। सम्बन्ध इन अर्थों में यथार्थ हैं कि इन्हें मनुष्य के मन ने नहीं बनाया है। वैशेषिक की सम्मति में अनुभव हमें केवल बहुविध रूप में प्राप्त नहीं होता है। यह नियमों में स्थापित है, जो इसपर केवल आरोपित नहीं किए गए हैं। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय आश्रित पदार्थ हैं, जबकि द्रव्य एक स्वतन्त्र सत्ता है जिस (आश्रय) पर ये सब आश्रित हैं। द्रव्य नितान्त अनाश्रित है। अनित्य द्रव्य, जो कारण से उत्पन्न हैं, यथार्थ में द्रव्य नहीं हैं। नौ नित्य द्रव्यों का सिद्धान्त वैशेषिक के अनेकवाद का प्रधान प्रतिपाद्य विषय बन जाता है। ये नौ नित्य द्रव्य, प्रोफेसर व्हाइटहेड के अनुसार, वैज्ञानिक पदार्थ हैं, जो प्रत्यक्ष-विषयक पदार्थों तथा इन्द्रिय-सामग्री से भिन्न हैं। इनका महत्त्व इसमें है कि ये प्रत्यक्ष की सामग्री की व्याख्या करने तथा उसे व्यवस्थित करने, इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष में आने वाली प्रकृति को अधिक बुद्धिगम्य बनाने की क्षमता रखते हैं। प्रकृतिवाद-सम्बन्धी पक्षपात के कारण वैशेषिक विचारक अनुभव को एक निरन्तर परिवर्तित होने वाले छायाचित्र की भांति मानने के लिए बाध्य होते हैं, जिसकी व्याख्या के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता है। वे अनुभूत पदार्थों को परदे पर पड़े हुए छायाचित्रों की भांति मानते हैं जिनकी पृष्ठभूमि में द्रव्य हैं। द्रव्यों के द्वारा, जो पृष्ठभूमि में छिपे रहते हैं, हमारे मन के परदे पर छायाचित्र प्रकट होते हैं। यह एक काल्पनिक धारणा है, जिसके लिए कोई प्रमाण हमारे पास नहीं

1 परन्तु देखिए न्यायवार्तिक, 1 : 1, 13, जहां पर 'पृथिव्यादिगुणाः' को द्वन्द्व समास माना गया है, जिसका तात्पर्य पृथ्वी आदि और गुण हैं, और यह सुझाया गया है कि द्रव्यों और गुणों का बोध इन्द्रियों द्वारा होता है।

2 सांख्य द्रव्य और गुण को एक ही यथार्थतासम्पन्न मानता है। अद्वैत वेदान्त द्रव्य के विचार को अतार्किक मानता है तथा समझता है कि यह केवल विचार का एक प्रकार है। तुलना कीजिए लौक : 'ऐसे आन हि ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग'।

है। हमे अनुभव के पीछे जाकर ऐसी वस्तुओ की कल्पना करने की आवश्यकता नही है जो अपने-आपमे रहस्यपूर्ण हैं। वैशेषिक हमे आदेश देता है कि हमे आनुभविक चेतना के निर्णयो को ही सही मानना चाहिए, क्योकि यह कहा जाता है कि वह आदि से अन्त तक यथार्थ तथा पृथक्-पृथक् वस्तुओ का प्रतिपादन करती है। किन्तु वह स्वय ही चेतना की साक्षी से परे जा रहा है, जबकि वह आनुभविक जगत् को एक प्रकार का परदा मानता है, जो हमारे तथा अदृश्य यथार्थसत्ताओ के बीच मे पडा हुआ है। वैशेषिक दृश्य वस्तुओ को सरल करने अथवा सयुक्त करने का कार्य अपने ऊपर लेता है, किन्तु जब वह इस प्रकार की धारणा बनाता है कि जगत् की अनेकता एक तात्त्विक अनेकता का दृश्य मात्र है तो एक मिथ्या तत्वज्ञान का आश्रय लेता है। किन्तु जब वह एक बार अनुभूत एकत्व को अनेको विभिन्न तत्त्वो मे भग कर देता है, तो उन्हे फिर से एक पूर्ण इकाई मे सयुक्त नही कर सकता। एक तितर-बितर और वियुक्त विविधता एकत्व का उत्पन्न नही कर सकती, जब तक कि इसमे दैवीय शक्ति ही का हाथ न हो। ये द्रव्य अपने नित्य आत्म-स्वरूप तथा अनित्य अभिव्यक्तियो, दोनो अवस्थाओ मे ही एक सुसगत इकाई का निर्माण नही कर सकते। ऐसी कोई शृ खला नही है जिससे हम इन्हे एकसाथ बाध सके।

द्रव्यो के अन्त सम्बन्ध के विचार को सुचारु रूप से विकसित नही किया गया। वैशेपिक जहा सम्बद्धता को आनुभविक जगत् का प्रधान लक्षण मानता है, वहा असम्बद्ध परमाणुओ तथा आत्माओ को वैज्ञानिक पदार्थ मानकर वह सब प्रकार के सम्बन्धो को बाह्य तथा स्वच्छन्द बना देता है। यथार्थ सत्रूपी जगत्, अर्थात् नौ नित्य द्रव्य, परिवर्तन से सदा अप्रभावित रहते है, और दृश्यमान परिवर्तन का आधार स्वय यथार्थ के किसी लक्षण मे भी नही खोजा जा सकता। सम्बद्धता इस प्रकार यथार्थसत्ताओ की एक बाह्य घटना बन जाती है। अससक्त परमाणु दृश्यमान जगत् का कारण नही हो सकते। दृश्यमान वस्तुओ को उत्पन्न करने के लिए उन्हे अवश्य परस्पर मिलना तथा टकराना चाहिए। यदि परमाणुओ मे गति-सम्बन्धी गुण है तो वे सही अर्थो मे असम्पृक्त नही है, क्योकि परमाणुओ की गति भी उनके असम्पृक्त होने का निषेक करती है। अदृष्ट को मानने का अर्थ दार्शनिक व्याख्या की हर सभावना को छोड देना है। यदि वैशेषिक सम्बन्धो की यथार्थता के अपने सिद्धान्त के प्रति दृढ रहना चाहता है, जिसे वह पदार्थो अथवा अनुभूत जगत् का विवरण देते हुए अगीकार करता है, तो उसे नित्य अपरिवर्तशील द्रव्यो की, जो वैज्ञानिक पदार्थ है, अपनी कल्पना को त्याग देना होगा, और सम्बद्धता को भी यथार्थ बनाना होगा। यथार्थ सम्बद्धता सम्बद्ध तत्त्वो की नितान्त स्वतन्त्रता के साथ सगति नही खा सकती। इसलिए तथाकथित नित्य द्रव्य अमिश्रित, परिवर्तनरहित स्थायी तत्त्व नही हो सकते, बल्कि एक निरन्तर परिवर्तनशील पद्वति के केवल अपेक्षाकृत स्थिर बिन्दु हो सकते हैं। यदि परिवर्तन और सम्बद्धता का यथार्थता के सारतत्त्व से सम्बन्ध है, तो यथार्थता अमिश्रित यथार्थसत्ताओ का समुच्चय नही है। सही अर्थो मे वैज्ञानिक पदार्थ नित्य द्रव्य नही है, बल्कि स्वय जगत् की सदा परिवर्तनशील अभिन्नता है।

जब वैशेषिक नित्य परमाणुओ को तथ्य रूप मे मान लेता है तो इसका आशय इस प्रकार के सुझाव से है कि देश-काल के विस्तृत क्षेत्रो मे हम अतीन्द्रिय कणो का एक समूह पाते है। ये कण इतने अधिक सूक्ष्म है कि अकेले मनुष्य के दृष्टिक्षेत्र को स्पर्श नही कर सकते, यद्यपि जब ये परस्पर सयुक्त हो जाते है तो दृश्यमान कोटि मे आ जाते हैं। इनके ये सयुक्त रूप न्यूनाधिक परिणाम मे स्थायी होते हैं, यद्यपि किन्ही

भी अर्थों में नित्य स्थायी नहीं होते। कार्यकारण सिद्धांत के प्रयोग के लिए, कि असत् से कुछ उत्पन्न नहीं होता, इन नित्य परमाणुओं की स्थापना आवश्यक है। वैशेषिक का इस प्रकार का तर्क ठीक ही है कि जहां आयाम (विस्तार), लम्बाई, आकृति, काल और गति, देश-काल सम्बन्धी गुण हैं, वहां गन्ध, रस, रंग, उष्णता और शब्द देश-काल को भरने वाले गुण हैं। फिलहाल शब्द को एक ओर रखकर, वैशेषिक गन्ध, रस, रंग तथा उष्णता को, जो हमारे अनुभव की विषयवस्तु हैं, परमाणुओं से आया बताता है। क्योंकि हमारे अनुभव के ये लक्षण स्थायी हैं, इसलिए वह इनकी व्याख्या परमाणुओं को नित्य मानकर करता है; अनुभव के परिवर्तनशील पहलुओं का उद्भव अनित्य द्रव्यों से तथा स्थायी पहलुओं का नित्य द्रव्यों से बताता है। अन्तिम सामग्री, जिसको लेकर वैशेषिक आगे बढ़ता है और जिसकी व्याख्या करने का वह प्रयत्न करता है, हमारे इन्द्रियानुभव हैं। परमाणु अपने-आपमें हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की पहुंच से बाहर हैं, यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है, यद्यपि इस सब दृश्य के प्रादुर्भाव के लिए, जिसे हम देख सकते हैं और देखते हैं, उन्हें अनिवार्य समझा गया है। हम रंगों, शब्दों, रसों तथा उष्णताओं का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इस इन्द्रिय-सामग्री को हम प्रकृति के भाग के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, न कि मन के भाग के रूप में, जैसाकि बौद्ध मानते हैं। किन्तु क्या हमें परमाणुओं को इस इन्द्रिय-सामग्री के अतीन्द्रिय कारण मानने की आवश्यकता है? यदि हम रंगों, शब्दों, स्पर्शों तथा रसों को क्रमशः एक-दूसरे से पृथक् प्रत्यक्ष करें तब तो प्रकृति को परमाणुओं के टुकड़ों से बना हुआ मानने में कुछ औचित्य हो सकता है। किन्तु वैशेषिक इसपर ठीक ही बल देता है कि दृश्यमान प्रकृति एक सम्बद्धता है, एक-दूसरे में विलीन होती इन्द्रिय-सामग्री का एक पुञ्ज है, एक निरन्तर बहती धारा है। इसी इन्द्रिय-सामग्री में से हम अपने अनुभव-सम्बन्धी विचार का निर्माण करते हैं जिसमें वस्तुएं, उनके गुण और सम्बन्ध सम्मिलित हैं। किन्तु कल्पित परमाणु आनुभविक जगत् के अन्तर्निहित घटक नहीं हैं। परमाणुओं की प्रकल्पना केवल नई कठिनाइयां ही उत्पन्न करती है और वैशेषिक दर्शन को विपर्ययविज्ञानवाद के संकटों की ओर ले जाती है। हमें परमाणुओं का बोध नहीं होता, तो भी उन्हें एकमात्र यथार्थसत्ता मान लिया गया है जो अनुभूत पदार्थ को उत्पन्न करती है। कार्यकारण सिद्धान्त का व्यवहार यान्त्रिक है, और जिसका हम प्रत्यक्ष ज्ञान करते हैं वह, जिसका अस्तित्व है उसके साथ, अर्थात् अनुभव के काल्पनिक अप्रमाणित कारणों – परमाणुओं के साथ, कोई सम्बन्ध नहीं रखता। ये अमूर्त आधार इनपर निर्माण किए गए मूर्त अनुभव के लिए अपर्याप्त हैं। हमारा अनुभव घटनाओं की शृंखला से बना है, जो देश और काल से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक घटना की एक दैशिक स्थिति होती है, अर्थात् वह किसी स्थान-विशेष पर होती है; और उसका कुछ इतिहास होता है, अर्थात् वह किसी काल-विशेष में होती है। किन्तु ये देश और काल सम्बन्धी गुण ही घटना का पूर्ण स्वरूप नहीं हैं। हमें भौतिक बिन्दुओं अर्थात् परमाणुओं के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं। जो कुछ हम यह जानते हैं, यह है कि शरीर एक ही समय में अनेकों स्थितियों में रहते हैं, और इसलिए हम यह कहते हैं कि वे देशीय विस्तार तथा रूप वाले हैं। सही-सही अर्थों में, हम न तो व्यापक प्रकृति को जानते हैं और न अदृश्य परमाणुओं को ही जानते हैं, बल्कि केवल पिण्डों को जानते हैं। साधारणतः जो गति करता है उसे ही हम पिण्ड कहते हैं। यह प्रकृति का, जो अपने भागों की प्राकृतिक स्थिति को अपरिवर्तित रूप में स्थिर रखती है, एक हिस्सा है, किन्तु अन्य स्थितियों के साथ उसके सम्बन्ध परिवर्तित हो जाते हैं। एक विस्तृत इकाई की सीमाएं स्थिर होती हैं, और जब तक आभ्यन्तर तथा बाह्य सम्बन्धों को यह स्वत-

त्रता बनी रहती है उसकी पहचान मे कोई परिवर्तन नही आता। जिसे हम वस्तु अथवा पिण्ड के नाम से पुकारते हैं वह देश का एक क्षेत्र-विशेष है, जो किसी विशेष लक्षण द्वारा लाक्षित होता है और काल के अन्दर अपरिवर्तित रहता है। हमे अनुभव मे जो मिश्रण प्राप्त होता है, हम उसमे देश तथा काल को घेरनेवाले पिण्ड को स्वय देश तथा काल से भिन्न करते है। प्रकृति वह है जो देश-काल के साचे को भरती है।[1] वैशेषिक उन बौद्ध कल्पनाओ से सहमत नही है जिनकी तुलना अलेग्जेंडर तथा रसल जैसे कुछ नव्य यथार्थवादियो की कल्पनाओ से की जा सकती है और जो व्यक्ति को सामान्य से, यथार्थ वस्तुओ को उनके सम्बन्धो से, शब्दो को उनके अर्थ-सम्बन्धो से और प्रकृति को देश और काल के सयोग से उत्पन्न मानती हैं। गतिमान पदार्थो के बिना गति नही हो सकती। वैशेषिक परमाणु को यथार्थसत्ता मानती है, सीमा निर्माण करने वाला केवल विचार नही। वैशेषिक के मत मे परमाणु रग आदि गुणो के धारण करने वाला कहे जाते है। शकराचार्य का तर्क है कि जिसमे रग आदि गुण है वह अणु (सूक्ष्म) तथा नित्य नही हो सकता। अनुभव के आधार पर निर्णय करने से भी रग आदि गुणो से सम्पन्न पदार्थ मूर्तरूप तथा अस्थायी है।[2] यदि प्रत्यक्ष न होना स्थायीभाव का सकेत माना जाए तो द्वयणुको को भी, जो इतने सूक्ष्य है कि प्रत्यक्ष का विषय नही है, स्थायी मानना चाहिए।[3] यदि विश्व के आधार का नित्य होना आवश्यक है तो परमाणु निश्चय ही विश्व का आधार नही माने जा सकते।[4] जगत् की स्थिरता (निश्चिन्त) परमाणुओ की विभिन्नता के कारण बताई जाती है। किन्तु नितान्त बाह्य तथा आकस्मिक सम्बन्ध जगत् के निश्चित स्वरूप की व्याख्या नही कर सकते। प्रकृति के अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे रूपान्तरण की प्रकल्पना परमाणुओ के निर्विकार होने की कल्पना के विरुद्ध जाती है। जहा साधारण चिन्तनविहीन अनुभव जगत् को खण्डो मे विभक्त करता है जहा प्रत्येक वस्तु एक-दूसरी से पृथक् नही तो विलक्षण अवश्य है, वहा थोडा-सा भी चिन्तन हमे यह जनाता है कि वस्तुए एक-दूसरी मे परिणत हो जाती है। बनना नाम की एक वस्तु है जिसे विकास भी कहते है। वस्तु-सबन्धी सत्य नमूनों की अनेकता नही बल्कि एक सामान्य स्वरूप है। वैशेषिक को अपनी आनुभविक प्रवृत्ति के कारण होने (सत्) के विचार से ऊपर बनने के विचार को स्थान देना चाहिए था। यदि हम किसी एक वस्तु से दूसरी की अपेक्षा अधिक प्रभावित होते हैं, तो यह प्रकृति के एकत्र और सब श्रेणियो के 'परमाणुओ' के उद्भव-स्थान की मौलिक एकता के ही कारण है। विकास का विचार इस बात का उपलक्षण है कि नाना आकृतियो की अपेक्षा उस तत्त्व का महत्त्व कही अधिक है जो उन सब आकृतियो मे से गुजरता है। यथार्थता, जो हमारे समक्ष आती है, स्वरूप मे परमाणु-निर्मित नही है, बल्कि एक ऐसी सामग्री प्रतीत होती है जिसके भिन्न-भिन्न गुणो वाले पहलू एक दूसरे मे विलीन हो जाते हैं। शकराचार्य का कहना है कि भिन्न-भिन्न तत्त्व एक ही परमतत्त्व की भिन्न-भिन्न अवस्थाए है, जैसे पृथ्वी ठोस है, जल अपेक्षाकृत सूक्ष्म है, प्रकाश उससे भी सूक्ष्म है और वायु सबसे सूक्ष्म

1 वस्तुत. घटनाए ही ठोस सामग्री हैं जिनसे देश और काल का प्रादुर्भाव हुआ। केवल मात्र विस्तार और शुद्ध क्रमिक प्रक्रिया दोनो ही अमूर्त भाव हैं। यदि विश्व की मौलिक इकाइया कोई है तो वे देश-काल-प्रकृति हैं, जिन्हे प्रोफेसर व्हाइटहैड घटनाए कहते हैं। पदार्थों की स्थायी सामग्री, अर्थात् देश और काल सब घटनाओ के आश्रित हैं।

2 वैशेषिकसूत्र, 4 1, 1।

3 4 1, 5।

4 शाकरभाष्य, 2 2, 15।

है।[1] उक्त चारों तत्त्वों के अनुकूल परमाणुओं के विषय में यह कल्पना नहीं की जा सकती कि उनमें गुणों की संख्या अधिक अथवा न्यून होगी, केवल इसलिए कि पृथ्वी में चार गुण हैं, जल में तीन गुण हैं, और इसी प्रकार इन तत्त्वों में गुण कम होते गए हैं। फिर सब परमाणुओं में सब गुण हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि उनमें केवल एक ही गुण माना जाए तो हमें पृथ्वी में रस का प्रत्यक्ष न होना चाहिए, अथवा जल में रूप का प्रत्यक्ष न होना चाहिए, क्योंकि कार्यों के गुण कारणों के पूर्ववर्ती गुणों के कारण होते हैं।[2] परस्पर विलक्षण परमाणुओं की अनन्त राशि एक सामञ्जस्यपूर्ण विश्व को उत्पन्न नहीं कर सकती। इस कठिनाई को दूर करने के लिए समवाय के रहस्यमय सम्बन्ध का आविष्कार किया गया है। कहा जाता है कि द्व्यणुक, जो दो परमाणुओं से मिलकर बनते हैं, उन परमाणुओं से भिन्न हैं, यद्यपि समवाय-सम्बन्ध से उनके साथ सम्बद्ध हैं।

परमाणु घटनाओं के प्रवाह के स्थायी घटक हैं। प्रकृति में कुछ ऐसा भी है जो गति नहीं करता। हमारे अनुभव में कुछ स्थिर तत्त्व होते हैं जिन्हें हम द्रव्यों से सम्बद्ध करते हैं। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, द्रव्य उस विधि-विशेष का नाम है जिसके अनुसार वस्तुओं का व्यवहार चलता है। हमारे अनुभव के कुछ विश्व लक्षण हैं, यद्यपि यह परिवर्तनशील स्वभाव वाला है। इस प्रकार अनुभव द्वारा हम जिस अनिवार्य परिणाम पर पहुंचते हैं वह यह है कि प्रकृति का तत्त्व कुछ ऐसी चीज़ है जो बराबर परिवर्तित होती रहती है यद्यपि वह निरन्तर स्थिर रहती है। परमाणुओं की प्रकल्पना से केवल यही उपयोगी सुझाव दर्शनशास्त्र को मिलता है कि यथार्थ वह है जिसका स्वयं अपने में और अपने लिए अस्तित्व है। ठोस आदर्शवाद में सम्पूर्ण इकाई ही इस प्रकार की यथार्थता रखती है, क्योंकि हिस्सों के विशेषत्व का अर्थ सम्पूर्ण इकाई के विशेषत्व का नाश होगा। किन्तु सम्पूर्ण इकाई का अपने हिस्सों के साथ सम्बन्ध कठिनाइयों से खाली नहीं है, इसलिए यथार्थसत्ता का केवल चेतनता से ही तादात्म्य हो सकता है।

जब वैशेषिक देश और काल के व्यापक (सामान्य) तथा यथार्थरूप का प्रतिपादन करता है तो उसका अभिप्राय यही है कि यह विश्व जिस रूप में हमें प्रतीत होता है, एक अनन्त विस्तार है, एक ऐसी अवधि है जिसका माप नहीं हो सकता, एक ऐसा शून्य है जिसकी कोई सीमाएं नहीं हैं, कोई तल नहीं है और कोई अन्त नहीं है। प्रत्येक घटना के अन्दर देश तथा काल सम्बन्धी गुण रहते हैं। यदि किसी वस्तु की दैशिक स्थिति वही रहती है और कालिक स्थिति में परिवर्तन होता है, तो हम कहते हैं कि शरीर निश्चेष्ट है, किन्तु यदि यह निरन्तर परिवर्तन में आती है जिस प्रकार कि काल बराबर परिवर्तित होता है, तो हम उसे गति कहते हैं। हमारे अनुभव का क्योंकि एक देशकालिक स्वरूप है, इसलिए वैशेषिक अनुमान करता है कि देश और काल हमसे बाह्य है और वे रिक्त पात्रों के समान हैं, जिनका भरना वस्तुओं तथा घटनाओं से होता है। सत्य यह प्रतीत होता है कि देश व काल विषयक सम्बन्ध देश तथा काल सम्बन्धी प्रत्यक्षानुभवों से बने हैं। यदि हमारे अनुभव के देश तथा काल सम्बन्धी स्वरूपों की माग यह है कि हम देश तथा काल को व्यापक द्रव्य स्वीकार करें, तो कोई कारण नहीं कि हम इस विराट अन्तरिक्ष में एक विराट बुद्धि को, एक विराट प्रकाश को, एक विराट अंधकार

1. आधुनिक विज्ञान परमाणुओं को विद्युत् से निकला हुआ बताता है, और प्रकृति लगभग आत्मा ही के समान आकाशीय तत्त्व बनती जा रही है।

2 शांकरभाष्य, 2 . 2, 16।

को और अच्छे-बुरे तथा तटस्थ उन सब गुणो के विराट विश्वीय भण्डारो को भी स्वीकार न करें जो हमारे वास्तविक अनुभवो को स्वरूप प्रदान करते है । देश और काल अनुभवो से उत्पन्न नहीं माने जा सकते, क्योकि अनुभव उनकी पूर्वविद्यमानता को स्वीकार करता है । यह कहने से कि देश और काल व्यापक हैं, सर्वगत द्रव्य है, उनका अभिप्राय यही है कि जो कुछ है, देश के अन्दर है और जो कुछ होता है, काल के अन्दर होता है । जगत् के पदार्थ गतिमान हैं, अर्थात् देश को घेरते हैं और काल के अन्दर अपने व्यवहार मे परिवर्तन लाते है । पिण्डो से विहीन देश और घटनाओ से विहीन काल को द्रव्य कहा जाता है । अपने अनुभवो की व्याख्या के लिए, जो देश-सम्बन्धी तथा काल-सम्बन्धी स्वरूप रखते हैं, वैशेषिक एक अपार तथा असीम देश की तथा एक ऐसी अवधि (काल) की कल्पना करता है जिसकी कही समाप्ति नही है । किन्तु ये अनन्त देश और काल केवल तात्त्विक कल्पनाए-मात्र हैं, तथ्यो का विवरण नही है ।

यद्यपि देश काल-सम्बन्धी परिवर्तनो के बिना निरर्थक प्रतीत नही होता, किन्तु काल बिना परिवर्तनो तथा घटनाओ के कुछ नही है, जैसेकि सम्बद्ध पक्षो के बिना सम्बन्ध कुछ नही है । काल यथार्थ वस्तु से व्याप्त है । काल वस्तुओ के अनेकत्व का सकेत नही करता । एकाकी द्रव्य मे भी काल हो सकता है । एक पुरुष अपने चरित्र मे परिवर्तन कर सकता है, एक फूल अपना रग बदल सकता है । देश को क्योकि स्थिति, दूरी इत्यादि के गुणो से व्यवहार करना होता है, इसलिए इसे नानाविध यथार्थ वस्तुओ की आवश्यकता होती है । समय अकेला अपने-आपमे सह-अस्तित्व की विविधता का उपलक्षण नही है । इसका सह-अस्तित्व के साथ उतना ही सम्बन्ध है जितना कि एक यथार्थ-वस्तु का अन्य यथार्थवस्तु के साथ ।

जिस तर्क के द्वारा परमाणुओ की कल्पना की जाती है, वह देश तथा काल के सम्बन्ध मे लागू नही होता । वैशेषिक यह नही कहता कि काल की निरन्तरता अविभाज्य तथा पृथक् क्षणो से उत्पन्न होती है, अथवा देश की निरन्तरता पृथक बिन्दुओ अथवा देशीय इकाइयो से उत्पन्न होती है । यदि प्रकृति के खण्डित होते-होते शून्य मे परिवर्तित हो जाने की कठिन समस्या का निराकरण केवल अविभाज्य परमाणुओ की कल्पना के द्वारा ही हो सकता है, तो देश और काल की निरन्तरता की व्याख्या भी केवल बिन्दुओ तथा क्षणो की कल्पना से ही हो सकती है । यदि देश और काल की अवस्था मे एक सार्वभौम देश तथा एक सार्वभौम काल की कल्पना सम्भव है, तो भौतिक विश्व की व्याख्या के लिए भी एक सार्वभौम प्रकृति की प्रकल्पना सर्वथा युक्तियुक्त हो सकती है । हमे वस्तुए परस्पर देशीय सम्बन्ध से सम्बद्ध मिलती है, और घटनाए कालिक सम्बन्ध से सम्बद्ध मिलती है । देश और काल हमारे अनुभव के लिए पदार्थो के पारस्परिक सम्बन्धो के प्रतिनिधि हैं । देश तथा काल सम्बन्धी ये सम्बन्ध तात्कालिक अनुभव के लिए तथ्य है, और इस प्रकार की प्रकल्पना कि घटनाए प्रस्तुत देश तथा प्रस्तुत काल मे घटती है, जिनमे प्रस्तुत तथा स्थिर आणविक सामग्री मे सम्पन्न हुए परिवर्तन भी आ जाते है, तात्त्विक विवेचन का परिणाम है । एक सार्वभौम देश, एक सार्वभौम काल तथा निरन्तर स्थायी परमाणु, ये सब काल्पनिक समाधान हैं, प्रस्तुत तथ्य नही हैं ।[1] द्रव्य की

1 तुलना कीजिए व्हाइटहैड से - "घटनाओ के विषय मे हमे ऐसा विचार न करना चाहिए कि वे एक प्रस्तुत समय मे, एक प्रस्तुत देश मे घटती हैं और प्रस्तुत स्थायी सामग्री में हुए परिवर्तनो वाली है । काल, देश और सामग्री घटनाओ के सहायक हैं । सापेक्षता की पुरानी प्रकल्पना के आधार पर, काल और देश सामग्री के मध्यगत सम्बन्ध हैं । हमारी प्रकल्पना के आधार पर वे घटनाओ के मध्यगत सम्बन्ध हैं" (इनक्वायरी, पृष्ठ 26) ।

यह दोषपूर्ण परिभाषा कि द्रव्य गुणों का अधिष्ठान है, वैशेषिक को देश, काल आदि को द्रव्य मानने की ओर प्रवृत्त करती है। प्रकृति वह सामग्री है जो देश तथा काल की पूर्ति करती है, और यदि हम ठीक-ठीक समझना चाहें तो हमें यह कहना होगा कि मूलभूत विचार जिससे इस विश्व की व्याख्या की जा सकती है वह है देश-काल-प्रकृति-रूप सामग्री। यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसका एक धुंधला बोध कतिपय वैशेषिकों को भी था। शिवादित्य का कहना है कि आकाश, देश और काल वस्तुतः एक हैं, यद्यपि नाना-विध कार्यों के कारण इन्हें तीन प्रकार का विचार में लाया गया है।[1] इस मत का समर्थन चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने किया है। उनका तर्क है कि कणाद के मत में देश, काल और आकाश एक ही द्रव्य है, यद्यपि इसे इसके द्वारा उत्पन्न कार्यों तथा उन विभिन्न बाह्य परिस्थितियों के अनुसार, जो इसके साथ सम्बद्ध हों, देश अथवा काल अथवा आकाश के विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।[2] देश और काल प्रकृति से ही निकले हैं। परवर्ती नैय्यायिकों ने देश और काल को ईश्वर की ही अवस्थाएं बताया है।[3]

चेतनता एक कर्म है, एक ऐसी वस्तु का गुण है जिसका मुकाबला अन्य वस्तु अर्थात् जड-जगत् के साथ विस्तार तथा अनुक्रम के सम्बन्ध में होता है। आत्मा का अपने गुणों के साथ समवाय-सम्बन्ध है। शंकराचार्य ज्ञान आदि गुणों के साथ आत्मा के सम्बन्ध का प्रश्न उठाते हैं और आपत्ति करते हैं कि वैशेषिक दोनों को एक समान श्रेणी में नहीं रख सकते, क्योंकि आत्मा स्थायी है और गुण अस्थायी हैं। यदि दोनों को एक ही श्रेणी में रखा जाएगा तो आत्मा की ऐसी दशा कभी न होगी जबकि वह गुणों से मुक्त हो सके। संक्षेप में, आत्मा को भी गुणों के समान ही अवश्य अस्थायी होना चाहिए।[4] मानसिक जीवन की संकीर्णता आणविक मन की धारणा के कारण बताई गई है, किन्तु आत्मा तथा मन के सम्बन्ध को सन्तोषजनक रूप में विचार में लाना कठिन है। जब वैशेषिक आत्मारूप द्रव्य को चेतनतारूप गुण से भिन्न करता है, तो वह एक यान्त्रिक मन को स्वीकार कर रहा होता है। किसी बाह्य पदार्थ की मन के प्रति प्रतिक्रिया का परिणाम ही हमारा अनुभव है, इस प्रकार का विचार, जैसाकि हम पहले देख आए हैं, समस्त अनुभव को अज्ञेय बना देता है। आत्मा का अन्तस्तम सारतत्त्व क्या है, हम नहीं जानते। इसके भिन्न-भिन्न गुण, सुख, दुःख, ज्ञान आदि विवेकशून्य आत्माओं की विवेकशून्य परमाणुओं के साथ पारस्परिक प्रतिक्रिया के द्वारा उत्पन्न होते हैं। जब आत्मा मुक्ति-लाभ कर लेती हैं तो ये गुण विलुप्त हो जाते हैं, और सब गुणों से रहित मुक्त आत्मा एक ऐसी इकाई है जिसके अन्दर कोई विविधता नहीं है और इसलिए वह सर्वथा यथार्थ-सत्ता भी नहीं रह जाती। प्रमेय विषय प्रमाता को अपने अन्दर विलीन कर लेता है। मनुष्य एक उत्पादक केन्द्र है जो संसार की रचना में सहयोग देता है, जिसे वह जानता है। अनुभव, जोकि दर्शनशास्त्र के लिए एक समस्या है, न तो मन के लिए अगम्य प्रकृति है और न प्रकृति से पृथक् मन है। मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक यथार्थता सब स्थानों पर अत्यन्त घनिष्ट रूप में सम्बद्ध रहती है। सब का आधार चेतनता है, बाह्यता नहीं। भौतिक विज्ञानी अपने परमाणुओं तथा शक्तियों को लेकर तथा मनोवैज्ञानिक अपनी

1 आकाशादित्रय तु वस्तुत एकमेव उपाधिभेदान्नानाभूतम्। (सप्तपदार्थी, 17) सांख्य-प्रवचनभाष्य। 61।

2 देखिए 'सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज' ग्रन्थमाला में परिशिष्ट बी०, पृष्ठ 4, वैशेषिकसूत्र, के प्रति। और देखिए सांख्यप्रवचनसूत्र, 2 : 12।

3 आथले तर्कसंग्रह, 15।

4. देखिए गौडपादकृत कारिका, 3 : 5, शांकरभाष्य पर।

आत्माओ तथा क्षमताओ को लेकर बार-बार सारतत्त्वो के निष्कर्षण के लालच मे पडते रहे है। अद्वैतवेदान्त तथा साख्य के द्वारा स्वीकृत इस प्रकल्पना के विषय मे बहुत-कुछ कहा जा सकता है कि अतीन्द्रिय आत्मा के अतिरिक्त हर एक अन्य पदार्थ विश्व-विकास के दौरान उत्पन्न होते हैं।

यदि हम आत्माओ के अनेकत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते है, जिसके लिए न्यायदर्शन का विवेचन करते हुए हमे कोई तात्त्विक औचित्य नही मिल सका, तो अब हमारे समक्ष एक ओर आत्माए है और दूसरी ओर देश-काल-प्रकृति है। देश-काल-प्रकृति का विशिष्ट लक्षण है गति अथवा सक्रमण, और सारय-दर्शन मे इसे प्रकृति नाम से पुकारा गया है। साख्यदर्शन अपने पुरुषो अर्थात् आत्माओ तथा प्रकृति के सिद्धान्त को लेकर न्याय-वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित विचार से आगे प्रगति करता है।

गहनतम विश्लेषण हमारे समक्ष इस विषय को प्रकट करता है कि सम्बन्ध तथा गुण आदि सब सत्ताधारी तत्त्वो के अधीन है, और ये सत्ताधारी तत्त्व दो प्रकार के हैं, अर्थात् प्रकृति तथा अप्रकृति अथवा आत्माए, अर्थात् प्रकृति और पुरुष। हम ऋग्वेद के सुझाव से लाभ उठा सकते है और उक्त सुझाव बाइबिल के प्रथम अध्याय मे भी, जहा सृष्टिरचना का वर्णन है, मिलेगा कि सुव्यवस्थित विचारमग्न आत्मा आदिम अस्तव्यस्तता के अन्दर स जीवित प्राणियो की नाना श्रेणियो का तथा प्राकृतिक जगत् का आविष्कार करती है। केवल उसीको द्रव्य कहा जा सकता है जो पूर्णरूप मे अस्तित्व रखता है। इस ससार मे हमे कही भी कोई पूर्ण इकाई अब और यहा की सीमा के अन्दर बद्ध नही मिलती। हम वस्तुओ की एक-दूसरे से पृथक् करनेवाली मर्यादाओ को चिह्नित नही कर सकते। नि सन्देह एकत्व अथवा व्यक्तित्व के दर्जे होते हैं। व्यक्तित्व का उच्चतम प्रकार जो हमे मिलता है वह परिमित व्यक्ति का है, किन्तु यह भी स्वात्म-निर्भर नही है। यथार्थ द्रव्य वह है जो अपने अन्दर सान्त मनो तथा प्राकृतिक जगत् को सम्मिलित रखता है। इस ससार की आधारभूत मौलिक यथार्थसत्ता वह निरपेक्ष परम आत्मा है जिसकी अभिव्यक्ति विश्व के विघटित होने, गति के साथ-साथ अपने को निर्माण करने तथा परिवर्तित करने के विचार में होती है। अनुभव एक सतत 'सक्रमण' अथवा आन्तरिक सम्बद्धता है। देश का विभाजन बिन्दुओ मे, काल का क्षणो मे, और प्रकृति का परमाणुओ मे हो सकता है। किन्तु हम देख आए हैं कि विश्व को देश और काल तथा प्रकृति नही समझा जा सकता, बल्कि देश-काल-प्रकृति समझा जा सकता है। इस प्रकार प्रकृति, अथवा वह जो परिवर्तित होती है, विश्व की आधारभूत सामग्री को बनाती है तथा इसके अशरूप तत्त्वो को वस्तुए न मानकर घटनाए मानना चाहिए।

वैशेषिक के अभिमत से पदार्थ दोषपूर्ण हैं, हम चाहे किसी भी दृष्टिकोण को अपनाए। यदि हम उन्हे भिन्नताओ के रूप मे देखे, जिनका साधारण जीवन के स्तर पर कुछ अर्थ हो सकता है, तो हम ऐसी भिन्नताओ को लक्ष्य करेंगे जो सामान्य प्रयोग मे आती है किन्तु पदार्थों की सूची मे नही आती, जैसे मूल्य तथा लक्ष्य सम्बन्धी भाव। यदि हम उन्हे अनुभव की दार्शनिक व्याख्या समझे, तो ससार की समस्त विविधता तथा परिवर्तन केवल एक भाव मे रखे जा सकते है। परिमित जीवात्माए और प्राकृतिक जगत् ये निरन्तर प्रगति के पहलू है जो एक-दूसरे के अनुकूल है। वैशेषिक का यह विचार कि आत्मा यथार्थसत्ता का—जिसके तथा भौतिक प्रकृति के बीच बहुत भेद है— दूसरा छोर है, युक्तिसगत है।

यदि प्रमेय जगत् के अनुभव के समस्त स्वरूप को प्राकृतिक कह सकें, क्योकि प्रकृतिघटनाओ की सदा आगे बढनेवाली प्रगति है, तो इस योजना के अन्दर आत्मा का क्या

स्थान होगा ? ज्ञान के सिद्धान्त की यह एक समस्या है और हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार न्याय का सिद्धान्त—जिसे वैशेषिक ने भी स्वीकार किया है, अर्थात् जीवात्मा के पास एक निष्क्रिय मन है, जिसके अन्दर, जैसे किसी भी रिक्त पात्र में, बाह्य जगत् अपने स्वरूप-सम्बन्धी विचारों को भरता है—सर्वथा पर्याप्त है। जड़ पदार्थों के अध्ययन वैशेषिक की समस्त दार्शनिक प्रवृत्ति का निर्णायक है। भौतिकवाद की छाया पृष्ठभूमि को अन्धकारमय बनाती है, और आत्माएं भी उसी स्वरूप की, जैसेकि परमाणु हैं, स्वय में विवेकशून्य द्रव्य मानी गई हैं।

परमाणु और आत्माएं, देश और काल केवल शब्दमात्र हैं और ऐसे प्रतीक हैं जिनका अनुभव से पृथक कोई अर्थ नहीं है। वैशेषिक ने उन्हें कृत्रिम बनाकर रखा है जिससे कि उनके ऊपर वह अपने समग्र सिद्धान्त को खड़ा कर सके। ये हमारे अनुभव के भिन्न-भिन्न पहलुओं के केवल नाममात्र हैं। जिस प्रकार हम अपनी न्यायशास्त्र की समीक्षा मे देख आए हैं, मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं का आधार एक सार्वभौमिक चेतना में है जिसे मनोवैज्ञानिक चेतनता के साथ मिश्रित न कर देना चाहिए। प्रमाता (विषयी) तथा प्रमेय (विषय) के परस्पर भेद की पृष्ठभूमि में यही चेतनता है। जब तक वैशेषिक इस मत को स्वीकार नहीं करता, तब तक वह उत्पत्ति-विषयक व्यवस्था, पदार्थों की यथार्थता और सदा परिवर्तनशील विश्वीय विकास की, जिसके कि अवयव पौधे, पशु तथा मनुष्य हैं, कोई व्याख्या नहीं कर सकता। व्याख्या के लिए अदृष्ट का आश्रय लेना स्वेच्छाचारिता है, और ईश्वर अदृष्ट का स्थान नहीं ले सकता, जब तक कि उसे परम चेतनता का रूप न दिया जाए। यदि द्रव्य की एकता इसकी अवस्थाओं की विविधता के अनुकूल है, तब तो संसार में पाए जानेवाले नानाविध अस्तित्व को एक मौलिक सत्ता के गुणात्मक पहलू मानने में हमारे मार्ग में कोई विशेष कठिनाई नहीं रह जाएगी। वैशेषिक का दोष यह है कि वह अपने परिणामों को एक सामञ्जस्यपूर्ण सुगठित ढांचे में एकत्र नहीं कर सकता। इसे प्लेटो की 'रिपब्लिक' के इस प्रसिद्ध कथन के लाक्षणिक अर्थों में कि वही सच्चा विद्वान् अथवा दार्शनिक है जो चीजों को एकत्रित देख सकता है, दर्शनशास्त्र नहीं कह सकते। विषयों की सूची व्यवस्थित दर्शन नहीं है। मनुष्य-जीवन के अनेक पहलुओं वाले प्रसंग को वैशेषिक ने दृष्टि से ओझल कर दिया, और इसके मौलिक दर्शन और आचार-सम्बन्धी तथा धार्मिक मूल्यों की एक एकरूप व्याख्या नहीं की गई है। विश्व की युक्तियुक्त व्याख्या की बौद्धिक मांग के लिए, एक परमाणुवादी अनेकवाद अन्तिम समाधान नहीं हो सकता। किन्तु हम वैशेषिक के साथ इस प्रकार का चिन्तन करने में सहमत हैं कि केवल तर्क का आश्रय लेनेवाले विद्वान् का विशुद्ध विश्लेषण सम्भावना के विधान से अधिक कुछ प्रदान नहीं करता, और यह अपूर्णभावात्मक उपचार मात्र है, जिसका यथार्थ जगत् से कुछ सम्बन्ध नहीं है। दर्शनशास्त्र साधारण बुद्धि की समालोचना कर सकता है किन्तु उससे अपने को सर्वथा अलग नहीं कर सकता। साधारण बुद्धि ही सब कुछ नहीं है, किन्तु यह निश्चय ही समस्त फलप्रद दर्शन की पहली सीढ़ी है। केवल दर्शन की विधि में साधारण बुद्धि की विधि से भेद है। इन्द्रियों के ज्ञान द्वारा जो तथ्य प्रस्तुत किए जाते हैं, यह यथासंभव उनके अधिक से अधिक पार और ऊपर बढ़ने की चेष्टा करती है। रचनात्मक तर्क, जो दार्शनिक प्रतिभा का एक साधन है, ससार को उच्चतर सिद्धान्त का आधार प्रदान करने की कोशिश करता है। उन्हीं तथ्यों की, जिनको न्याय-वैशेषिक के विचारकों ने लक्ष्य किया, अधिक सन्तोषजनक व्याख्या हो सकती है; और, जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, सांख्य और वेदान्त अधिक सन्तोषजनक दार्शनिक रचनाओं तक पहुंचते हैं जो 'एक ईश्वर, एक

विधान और एक तत्त्व' में विश्वास करने को अधिक युक्तियुक्त बताती है।

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

चैटर्जी : हिन्दू रियलिज्म
कावेल तथा गफ : सर्वदर्शनसंग्रह, 10
गगानाथ झा : प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, श्रीधर की न्यायकन्दली टीका सहित
फैडीगन : दि वैशेषिक सिस्टम
कीथ : इण्डियन लॉजिक एण्ड ऐटोमिज्म
नन्दलाल सिन्हा : दि वैशेषिकसूत्राज आफ कणाद
रोअर : भाषा-परिच्छेद एण्ड सिद्धान्तमुक्तावली आफ विश्वनाथ
युई : दि वैशेषिक फिलासफी

चतुर्थ अध्याय

सांख्य दर्शन

प्रस्तावना—पूर्ववर्ती परिस्थिति—साहित्य—कार्यकारणभाव—प्रकृति—गुण—विकास—देश और काल—पुरुष—लौकिक जीवात्मा—पुरुष और प्रकृति—पुरुष और बुद्धि—ज्ञान के उपकरण—ज्ञान के स्रोत—सांख्य की ज्ञान सम्बन्धी-प्रकल्पना पर कुछ आलोचनात्मक विचार—नीतिशास्त्र—मोक्ष—परलोक-जीवन—क्या सांख्य निरीश्वरवादी है—सामान्य मूल्यांकन।

1. प्रस्तावना

सांख्यदर्शन विचारधारा के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार की पद्धति को प्रस्तुत करता है जो मन के औपचारिक स्वभाव से भिन्न है। नैरन्तर्य के सिद्धान्त पर विशेष बल देने के कारण, यह किसी अंश में, विश्व को साफ-सुथरे खण्डों में बंधा मानने की प्रवृत्ति को त्याग देने का निर्देश करता है। न्याय-वैशेषिक के कड़े पदार्थों को जटिल तथा गतिशील विश्व की व्याख्या के लिए पर्याप्त साधन न मानकर, सांख्य ने आणविक अनेकवाद के सिद्धान्त से वस्तुतः आगे पग बढ़ाया है। सृष्टिरचना स्थान में विकासवाद का प्रतिपादन करके सांख्य ने अलौकिक धर्म की नींव में ही कुठाराघात किया है। इसके अनुसार, यह संसार किसी सृष्टि-कर्ता ईश्वर का कार्य नहीं है, जिसने अपनी इच्छा के चमत्कार से अपने से सर्वथा भिन्न इस संसार को आह्वान करके उत्पन्न किया, बल्कि यह असंख्य आत्माओं तथा सदा कर्मशील प्रकृति की परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम है। इस प्रकृति अथवा प्रकृति की क्षमता को प्लेटो 'समस्त सन्तति का आश्रय तथा उसकी धात्री' कहता है।[1]

प्रमाता (विषयी) तथा प्रमेय (विषय) के मध्य जो भेद है उसके ज्ञान के आधार पर सांख्यदर्शन पुरुषों तथा प्रकृति की यथार्थसत्ता की कल्पना करता है। यदि हम ज्ञाता तथा ज्ञात की यथार्थसत्ता की कल्पना [illegible] कोई व्याख्या सम्भव नहीं हो सकती [illegible] नुभव क्यों करते हैं और किस प्र[illegible], जिसने इस दार्शनिक शाखा [illegible] कहता है: "कपिल के सिद्धान्त में, संसार के इतिहास में सबसे [illegible], मानव-मन की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अपनी शक्तियों में उसका पूर्ण विश्वास दिखाई दिया।[2] भारत में उत्पन्न यह दर्शन सर्वाधिक सारगर्भित पद्धति है।"[3] जो लोग उक्त मूल्यांकन को अतिशयोक्ति मानते हैं, वे भी यह तो स्वीकार ही करेंगे कि यह विशुद्ध दर्शन के क्षेत्र में एक विलक्षण प्रयास है।

इस दर्शन का नाम 'सांख्य' इसलिए हुआ क्योंकि यह सैद्धान्तिक अनुसंधान

1. और देखिए 'एनीड्स' 3 : 6, 13, आंग्लभाषानुवाद मैकेन्ना कृत, खण्ड 2, पृष्ठ 86।

2. फिलासफी आफ ऐंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ 30। और देखिए डेवीज : सांख्यकारिका, पृष्ठ 5।

3. सांख्यप्रवचनभाष्य, पृष्ठ 34।

के द्वारा अपने परिणामो पर पहुचता है। कतिपय विद्वानो के अनुसार, 'साख्य' नाम 'सख्या'[1] के कारण हुआ, जो उचित ही है, क्योकि यह दर्शन हमे विश्व के तत्त्वो का विश्लेषणात्मक परिगणन देता है। किन्तु यह परिगणन की प्रवृत्ति समस्त हिन्दू विचारधारा की पद्धतियो मे सामान्य रूप से पाई जाती है। प्राचीन पाठ्य पुस्तको मे 'साख्य' का प्रयोग दार्शनिक विचार के लिए हुआ है, न कि परिगणन के अर्थो मे।[2] यह विशिष्ट दर्शन, जो सावधानतापूर्वक विचार करके पुरुष अथवा आत्मा तथा अन्य सत्ताओ के स्वरूप की व्याख्या करता है,[3] अपना नाम सार्थक करता है।[4]

2. पूर्ववर्ती परिस्थिति

विचारधारा के इतिहास मे कोई भी विषय सर्वथा नया नही होता। कोई भी विचारपद्धति किसी एक मनुष्य के मस्तिष्क से अपनी पूर्णता मे प्रकट नही होती। सस्थापक के कार्य करने के लिए आधारस्वरूप दार्शनिक विचार और सिद्धान्त पहले से अवश्य विद्यमान रहते है, जिनसे उमे आवश्यक सामग्री प्राप्त होती है। हमने ऋग्वेद मे प्रतिपादित विश्वविज्ञान[5] का विवरण देते हुए साख्य के प्रकृति-पुरुष-सिद्धान्त की कुछ अस्पष्ट पूर्व प्रकल्पनाओ का उल्लेख किया था। जब हम उपनिषदो की ओर आते है तो हम उनकी नानाविध शिक्षाओ मे साख्य-दर्शन के मुख्य-मुख्य विचारो को पाते है।[6] उपनिषदो के रचयिता सब एक समान ही विचार नही करते थे। उनमे से कुछ ने ऐसे सुझाव तो प्रकट कर दिए जिनका परिष्कार साख्यदर्शन मे किया गया, किन्तु वे स्वय वहा तक नही पहुचे। साख्यदर्शन जब यह दावा करता है कि उसका आधार उपनिषदें है तो यह एक सीमा तक उचित है, यद्यपि उपनिषदो की मुख्य प्रवृत्ति साख्य

1 गार्बे फिलासफी आफ एशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ 44। महाभारत साख्य का परिसख्यान, अथवा सम्पूर्ण गणना के साथ साहचर्य बताता है। देखिए 12 11393, 12 11409 11410। विटरनीज कहता है ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्ध है कि पिथागोरस पर भारतीय साख्य का प्रभाव पडा था। कैलकटा रिव्यू 1924 पृष्ठ 21।

2 देखिए भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 430 31। तुलना कीजिए महाभारत 12 11934।

दोषाणाञ्च गुणनाञ्च प्रमाण प्रविभागत ।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा सख्येत्युपधायताम् ॥

किसी एक व्याख्या के उददेश्य से दोषो तथा गुणो को एक एक करके तोलना इसे सख्या समझना चाहिए। साख्य का उल्लेख सदा ही सख्या के सम्बन्ध मे नही होता। विष्णुसहस्रनाम पर अपनी टीका म शकराचार्य एक वाक्य उद्धृत करते हैं, जहा साँख्य से तात्पर्य विशुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान है। "शुद्धात्मतत्त्वविज्ञान साख्यमित्यभिधीयते।'
देखिए हाल साख्यसार, पृष्ठ 5।

3 तुलना कीजिए सम्यग्विवेकेनात्मकथनम।

4 यह भी सुझाव दिया जाता है कि उक्त दर्शन का नाम इसके सर्वप्रथम सस्थापक सख के नाम पर पडा, यद्यपि इस कल्पना के लिए बहुत कम साक्षी मिलती है। देखिए हाल साख्यसार, पृष्ठ 3।

5 भारतीय दर्शन प्रथम खण्ड, पृष्ठ 81 85।

6 देखिए भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 213 14।

के द्वैतवाद के सर्वथा प्रतिकूल है। सांख्य के विश्व-सम्बन्धी विचार में उपनिषदों की यथार्थवादी प्रवृत्ति पर बल दिया गया है। सांख्य के सम्बन्ध मे सबसे प्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है।[1] यद्यपि ऐसे अंश जिनका समन्वय उक्त दर्शन मे किया गया है, उससे पूर्व के उपनिषदों मे भी पाए जाते है। न केवल पुनर्जन्म तथा संसार की असारता के ही भाव, किन्तु ऐसे-ऐसे मुख्य सिद्धान्त भी, जैसेकि ज्ञान मोक्ष का साधन है और पुरुष विशुद्ध प्रमाता है, उपनिषदों से लिए गए हैं।[2] कठोपनिषद्[3] मे प्रकृति के स्तर पर विकास-शृंखला मे सबसे ऊंचा स्थान 'अव्यक्त' को दिया गया है, जिससे महान आत्मा, बुद्धि, मन, पदार्थ (विषय) और इन्द्रियां क्रमशः उत्पन्न होती हैं। अहंकार का उल्लेख नहीं है, और परम आत्मा (सर्वोपरि ब्रह्म) की सत्ता को स्वीकार किया गया है। तो भी विश्व-विकास का यह सबसे प्रथम वर्णन है, जिसका उपयोग सांख्य के विचारकों ने किया प्रतीत होता है। प्रकृति की सबसे प्रथम उपज को महत् का नाम दिया गया और इस विचार का स्वाभाविक उद्भव उपनिषद् के उस भाव से है जिनके अनुसार आद्य असम्कृत प्रकृति को उत्पन्न करने के पश्चात् सर्वोपरि ब्रह्म सृष्टि मे सबसे पूर्व उत्पन्न होकर फिर से अभिव्यक्त होता है।[4] मानसिक व्यापारों का वर्गीकरण प्रश्नोपनिषद् के निद्रा तथा स्वप्न आदि की अवस्थाओं के वर्णन से उदित हुआ, ऐसी सम्भावना की जाती है।[5] श्वेताश्वतर उपनिषद्[6] मे सांख्य के विश्व-सम्बन्धी सिद्धान्तों, तीन गुणों का अधिक परिष्कृत वर्णन किया गया है, यद्यपि सांख्य ने तत्त्वों को अपने मुख्य सिद्धान्त ईश्वरवाद से गौण स्थान दिया है। उक्त उपनिषद् प्रधान तथा माया एवं ब्रह्म और पुरुष को समान मानती है।[7] 'मैत्रायणी' उपनिषद्, जो बौद्धकाल के पीछे की बनी प्रतीत होती है,[8] परिष्कृत सांख्य से सुपरिचित है और तन्मात्राओं[9], तीन गुणों[10] (अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्) और आत्मा तथा प्रकृति के भेद का उल्लेख करती है।[11] उपनिषदों मे इन परिभाषाओं का प्रयोग सामान्य तथा अनिश्चित रूप में हुआ है, जिन्हे परवर्ती दर्शन-पद्धतियों ने विशेष अर्थ दे दिए हैं।

1. 6 . 13।

2 बृहदारण्यक उपनिषद्, 2 ; 4, 14 , 3 : 4, 2 , 4 · 3, 15। और देखिए मुण्डक उपनिषद्, 3 1, 1।

3 3 : 10-11। और देखिए 6 : 7-11। तुलना कीजिए छान्दोग्य उपनिषद्, 6 : 8, 6।

4 ऋग्वेद, 10 : 12, 1। तुलना कीजिए महाभारत, 12 : 311, 3।

5. 4। तुलना कीजिए, सांख्य के सूक्ष्म शरीर की इस उपनिषद् की 16 तत्त्वों की सत्ता के साथ।

6 भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 416-23; देखिए श्वेताश्वतर उपनिषद्, 1 : 4, 4 : 5।

7 1 · 10 , 4 : 10, 3 12, और 4 : 1।

8 देखिए भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 129। पादटिप्पणी ; कीथ : सांख्य, पृष्ठ 14-15। 'नृसिंहतापनीय', 'गर्भ' तथा 'चूलिका' ये सब सांख्य के सिद्धान्तों से अत्यन्त प्रभावित हैं।

9. 3 . 2, और देखिए छान्दोग्य उपनिषद्, 6 : 3।

जैकोबी का यह विचार कि साख्य एक पूर्ववर्ती भौतिकवादी सम्प्रदाय का ही परिष्कृत रूप है, प्रमाणित नही होता। परमार्थ सत्ता तथा आत्मा के स्वातन्त्र्य पर आग्रह रहने के कारण, साख्य ने मानसिक प्रतीति-सम्बन्धी समस्त भौतिकवादी विचारो के विरुद्ध प्रचार को अपना लक्ष्य बनाया। साख्य के विकास मे हमे कोई भी अवस्था ऐसी प्रतीत नही होती कि जहा पर इसका भौतिकवाद के साथ साम्य प्रदर्शित किया जा सके।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के साथ साख्य का सम्बन्ध होने से अधिकतर इस बात की कल्पना की जाती रही है कि दोनो मे परस्पर विचारो का आदान-प्रदान हुआ है।[1] यद्यपि जो साख्यग्रथ आज हमे उपलब्ध है, वे बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव मे बाद के हैं और हो सकता है कि इनपर बौद्ध सिद्धान्तो का प्रभाव पड़ा हो, परन्तु साख्य के विचार बुद्ध से पूर्व विद्यमान थे,[2] और बौद्ध मत को साख्य का उद्भव-स्थान मानना असम्भव है। ससार दु खमय है, वैदिक यज्ञो को गौण स्थान देना तथा कठोर समस्याओ का त्याग, ईश्वरवाद के प्रति उदासीनता तथा ससार के सतत बनने (परिणामिनित्यत्व) मे विश्वास, ये सब साख्य तथा बौद्धमत मे एकसमान है। ये आकस्मिक समानताए परस्पर आदान-प्रदान की कल्पना के औचित्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है, विशेषत जबकि दोनो मे परस्पर भेद भी स्पष्टरूप से लक्षित होता है। बौद्धधर्म साख्य के मुख्य-गुणो की प्रकल्पना मे से एक को भी स्वीकार नही करता। यदि बौद्धो की कार्य-कारण-शृखला, जिन्ही अशो मे, साख्य के विकासवाद के साथ समता रखती है तो इसका कारण यह है कि दोनो का ही उद्भवस्थान उपनिषदे हे। क्या बुद्ध के समय मे साख्य स्वरूप से अनीश्वरवादी था, यह ठीक-ठीक नही कहा जा सकता।

महाभारत मे हमे स्पष्टरूप मे साख्य के समान एक निश्चयात्मक विचार-पद्धति मिलती है।[3] अनुगीता मे पुरुष तथा प्रकृति के भेद की व्याख्या दी गई है।[4] पुरुष ज्ञान का प्रमाता (विषयी) है जो पच्चीसवा तत्त्व है और उसके विपरीत अन्य चौबीस तत्त्व जो प्रकृति के हैं वे ज्ञान के विषय (प्रमेय) है।[5] आत्मा तथा प्रकृति के मौलिक भेद को पहचान लेने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो

1 देखिए भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 386 87।

2 "हिन्दू तथा बौद्ध ग्रन्थो दोनो मे इस विषय के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि साख्य और योगदर्शन नि सन्देह प्राचीन तथा प्रामाणिक ग्रथ हैं और बुद्ध के समय से पूर्व इनका प्रचलन था।' (राजेन्द्रलाल मित्र, योगसूत्र, पृष्ठ 16)। बौद्ध किम्वदन्तियो मे कहा गया है कि कपिल बुद्ध के पूर्ववर्तियो मे से एक थे। देखिए गार्वे कृत 'साख्यप्रवचनसूत्रवृत्ति', पृष्ठ 3। तुलना कीजिए, ब्रह्मजाल-सूत्र से 'एसे भ्राता है जिनमे कुछ तपस्वी और ब्राह्मण हैं, जो नित्यवादी हैं और जो चारो आर से घोषणा करते हैं कि आत्मा और जगत् दोनो विद्यमान हैं। उन्हे तक का व्यसन है, और अपने तक के निष्कर्षो की निम्न प्रकार से घोषणा करते हैं जो उनकी तर्कशैली से तथा शास्त्रीय ज्ञान से अच्छी तरह परिमार्जित होकर निकले हैं। आत्मा नित्य है, और यह जगत्, जो किसी नई वस्तु को जन्म नही देता, पर्वत के शिखर की भाति अचल है एक सुदृढ खम्भे की भाति स्थिर है, और ये जीवित प्राणी, यद्यपि ये एक जन्म से दूसरे जन्म मे जाते हैं, जीवन की एक स्थिति मे गिरकर फिर से दूसरी स्थिति मे पहुच जाते हैं, किन्तु ये सर्वदा रहते हैं।"

3 भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 409-11।

4 14 50, 8 से आगे।

5 महाभारत, 12 306, 39 40।

सकती है।[1] आत्माओं की अनेकता अनुभवगम्य है। जीवात्माएं तभी तक अनेक हैं जब तक कि उनका सम्बन्ध प्रकृति से है; किन्तु जैसे ही वे प्रकृति से अपने पार्थक्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं, वे छब्बीसवें तत्त्व अर्थात् ईश्वर के पास लौट जाती हैं।[2] महाकाव्यों के दर्शन का स्वरूप निश्चित रूप से ईश्वरवादी है और उसमें जो कुछ सांख्य के अंश विद्यमान हैं उन्हें ईश्वरवाद की ही ओर लगाया गया है। कहा गया है कि आत्मा अपने-आपसे गुणों का प्रादुर्भाव करता है, जैसेकि एक मकड़ी आपने-आपसे जाला बुनती है।[3] प्रकृति पुरुष के वश में रहकर कार्य करती है।[4] कहा गया है कि वह पुरुष की ही उपज है, जिसके अन्दर वह (प्रकृति) समय-समय पर समा जाती है।[5] महत्, अहंकार और मन सर्वोपरि आत्मा के विश्व-सम्बन्धी व्यापार हैं। सांख्यदर्शन के संस्थापक कपिल को एक बहुत बड़ा महात्मा तथा पुण्यस्मृतिपुरुष माना गया है। यह स्पष्ट है कि सांख्य ने अपना परवर्ती विशिष्टरूप महाकाव्यों में भी प्राप्त नहीं किया था, क्योंकि उदाहरण के रूप में उनमें तन्मात्राओं का वर्णन नहीं है। तत्त्वों की व्यवस्था तथा विकास के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार मिलते हैं। इस विषय पर शास्त्रीय सांख्य के प्रति निकटतम पहुंच अनुगीता में पाई जाती है।[6] पञ्चशिख[7] तथा असित देवल[8] के विचारों का उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि आसुरि ने पञ्चशिख को सांख्य की शिक्षा दी, और महाकाव्य के उक्त सुझाव की पुनरुक्ति सांख्यकारिका में हुई है। आसुरि तथा पञ्चशिख दोनों ही ईश्वरवादी सांख्य के अनुयायी हैं और ब्रह्म की सर्वश्रेष्ठता में आस्था रखते हैं। जीवात्मा का स्वातन्त्र्य केवल अपेक्षाकृत है। सांख्य के विचारों तथा पञ्चशिख के विचारों में ब्यौरे-सम्बन्धी कितने ही महत्त्वपूर्ण मतभेद पाए जाते हैं।[9]

मनु[10] यद्यपि सांख्य का नाम नहीं लेते, तो भी प्रथम अध्याय में दिया गया

1. 12 : 307, 20।
2. 12 : 350, 25-26 ; 12 : 351, 2-4।
3. 12 : 285, 40।
4. 12 : 314, 12 ; 12 : 315, 8।
5. 12 : 303, 31 से आगे।
6. 14 : 40-42।
7. 12 : 219; 12 : 321, 96-112।
8. 12 : 274।
9. मन के ही समान, जिसे वह छठी ज्ञानेन्द्रिय मानता है, पञ्चशिख शक्ति को छठी कर्मेन्द्रिय मानता है। 12 : 219 में दिए गए विवरण से 12 : 318, 96-112 में दिया गया विवरण भिन्न है, जिसमें कहा जाता है कि पञ्चशिख ने तीस तत्त्वों को माना है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह पिछला विचार पञ्चशिख सम्प्रदाय का एक पूर्वांश है। यह निर्णय करना कठिन है कि यह पञ्चशिख सम्प्रदाय की परम्परा द्वारा पञ्चशिख वही है जिसका उल्लेख महाकाव्य में आया है या उससे भिन्न है, क्योंकि महाभारत में जो उसके विचार दिए गए हैं, उनमें तथा सांख्य और योग के ग्रन्थों में दिए गए पञ्चशिख के विचारों में भेद है। प्रोफेसर दासगुप्त चरक के चिकित्साशास्त्र से इससे लगभग मिलते-जुलते विचारों का एक लम्बा सारांश देते हैं, 'हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी', पृष्ठ 213 से आगे। किन्तु तन्मात्राओं का कोई उल्लेख नहीं है, और पुरुष तथा प्रकृति दोनों को अव्यक्त माना गया है, और न ही पुरुष को निष्क्रिय तथा भावनाशून्य माना गया है। ब्रह्म की दशा को प्राप्त कर लेने को मोक्ष कहा गया है। इस विवरण पर वेदान्त, न्याय-वैशेषिक तथा बौद्धदर्शन और सांख्यदर्शन के विचारों का प्रभाव पड़ा है।
10. भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 421-22।

सृष्टि का वर्णन, ज्ञान के तीन उद्‌भव-स्थान,[1] तथा तीनों गुणों का ब्यौरेवार वर्णन[2] सांख्य के प्रबल प्रभाव को दर्शाते हैं। पुराणो[3] तथा परवर्ती वेदान्त रचनाओं में सांख्य-सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है, यद्यपि वे इसके अनीश्वरवादी तत्त्वज्ञान को कोई प्रश्रय नहीं देते और उक्त दर्शन की प्राचीनता का निर्णय करने में बहुत कम उपयोगी सिद्ध होते है।

सांख्य के विचार, जैसेकि हमें उपनिषदों, महाभारत, भगवद्‌गीता और मनुस्मृति में मिलते है, ईश्वरवाद की ओर भुकते हैं।[4] पुरुष और प्रकृति स्वतन्त्र सत्ताएं नहीं थीं, बल्कि केवल ईश्वर की ही स्थितियां थीं। अश्वघोष के बुद्धचरित मे हमें बुद्ध तथा उसके भूतपूर्व शिक्षक 'अराड' की भेंट का वर्णन मिलता है जो सांख्य-सिद्धान्तों को मानता था, यद्यपि उनमें ईश्वरवादिता का पुट था। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि सांख्य का सबसे पूर्व का रूप एक प्रकार का यथार्थवादी ईश्वरवाद था, जो उपनिषदों के विशिष्टाद्वैत के समीप पहुंचता है। सांख्य के इस प्रकार के रूप को तो उपनिषदों के उपदेशों का युक्तियुक्त परिष्कृत रूप माना जा सकता है। किन्तु द्वैतवादी सांख्य को, जो पुरुषों के अनेकत्व तथा प्रकृति की स्वतन्त्रता पर बल देता है और परमतत्त्व के वर्णन को बिल्कुल छोड़ देता है, उपनिषदों की शिक्षाओं के अनुरूप किसी भी अवस्था में नहीं कहा जा सकता। प्रश्न उठता है कि सांख्य ने जो परमतत्त्व के सिद्धान्त को सर्वथा छोड़ दिया वह कैसे हुआ, क्योंकि इसको साथ लेकर ही तो सांख्यदर्शन को सन्तोषजनक माना जा सकता था। बौद्धदर्शन के उदय के पश्चात् तक सांख्य ने एक सुव्यवस्थित दर्शन का रूप धारण नही किया था। जब बौद्धधर्म ने यथार्थवाद को चुनौती दी तो सांख्य ने उस चुनौती को स्वीकार किया और आत्माओं तथा प्रमेय पदार्थों की यथार्थता के पक्ष में युक्तियुक्त आधार पर तर्क उपस्थित किया। जब इस दर्शन का विकास विशुद्ध युक्तियुक्त आधार पर हुआ तो इसे बाध्य होकर यह स्वीकार करना पड़ा कि ईश्वर की सिद्धि में कोई प्रमाण नही है।

3. साहित्य

परम्परा एक मत होकर कपिल को सांख्यदर्शन का रचयिता स्वीकार करती

1. 12 : 105।
2. 12 : 24-25।
3. देखिए भागवत, 3 : 5, मत्स्य, 3 ; अग्नि, 17; मार्कण्डेय, 45।
4. "महाकाव्य तथा अन्य प्राचीन सामग्री के अध्ययन ने मुझे निश्चय करा दिया है कि ऐसा एक वाक्य भी नहीं है जिसके आधार पर साख्य पर ब्रह्म अथवा ईश्वर के प्रति अविश्वास का दोष लगाया जा सकता हो" (फ्रैंकलिन इजर्टन : अमेरिकन जर्नल आफ फिलालौजी, 45 : 1, पृष्ठ 8)। महाभारत, 12 : 11039 को साधारणत. साख्य और योग के भेद पर बल देनेवाला माना जाता है। सांख्य ईश्वर को नही मानता तथा योग ईश्वर को मानता है। इजर्टन उक्त सम्मति का विरोध करता है, किन्तु महाभारत के उन वाक्यों का समाधान करना कठिन है जो छब्बीस तत्त्वो वाले साख्य को पच्चीस तत्त्वो वाले साख्य से भिन्न करते हैं। पच्चीस तत्त्वो वाला साख्य परमतत्त्व अथवा ईश्वर के प्रति सर्वथा उदासीन है (12 : 300)। किन्तु यह सत्य है कि महाभारत पिछले मत का समर्थन नही करता।

है।[1] कुछ कहते हैं कि वह ब्रह्मा का पुत्र है,[2] दूसरे कहते हैं कि वह विष्णु का अवतार है,[3] और कुछ उसे अग्नि का अवतार मानते हैं।[4] उक्त मत यद्यपि सब कल्पनात्मक हैं, पर इतना अवश्य है कि कपिल नामक एक ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य रहा है जो सांख्य विचारधारा के लिए उत्तरदायी है। यदि हम उसका समय बुद्ध से पूर्व की शताब्दी में रखें तो हम भूल नहीं करेंगे।[5] यह दर्शाने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि 'सांख्यप्रवचनसूत्र' और 'तत्त्वसमास' का निर्माण कपिल ने किया, यद्यपि कपिल को उक्त दोनों ग्रंथों का कर्ता कहा जाता है। ईश्वरकृष्ण अपनी कारिका में अपने को आसुरि और पञ्चशिख में से गुजरने वाली कपिल की शिष्य-परम्परा में मानता है।[6] आसुरि सम्भवतः 600 ई० पू० हुआ, यदि यह वही आसुरि है जो शतपथ ब्राह्मण से सम्बन्ध रखता है। गार्बे के विचार से पञ्चशिख को पहली शताब्दी में रखा जा सकता है। कुछ एक इधर-उधर पाए जाने वाले सन्दर्भों के आधार पर, जो हम तक पहुंच सके हैं, पञ्चशिख तीन गुणों की प्रकल्पना को मानता था। वह पुरुष[7] को आणविक आकार का मानता था,[8] और पुरुषों व प्रकृति के सम्बन्ध का कारण कर्म नहीं, बल्कि भेद का अभाव मानता था।[9]

ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका सांख्य-सम्प्रदाय का सबसे प्राचीन तथा सबसे अधिक प्रचलित पाठ्य-ग्रंथ है। इसके नाम से यह स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन का यह पहला ग्रन्थ नहीं है। चीनी परम्परा के अनुसार, विन्ध्यवास ने वार्षगण के ग्रन्थ को फिर से लिखा। यदि विन्ध्यवास वही है जो कारिका का रचयिता है[10] तो परिणाम यह निकलता है कि कारिका एक अन्य पूर्वलिखित ग्रंथ पर आधारित थी, जिसके विषय में हमें कुछ पता नहीं है।[11] यह तीसरी शताब्दी का ग्रन्थ

1. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 5 : 2। तुलना कीजिए, महाभारत, मोक्षधर्म।

साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः पुरातनः।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥

2 महाभारत, 12 : 340, 67, रामायण, 1 : 40-41।

3 भागवत, 3 : 24, 36 ; 2 : 7, 3। 4. सांख्यप्रवचनभाष्य, 6 : 70।

5 वेबर का मत है कि सांख्य वर्तमान दर्शनों में सबसे पुराना है (हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ 235)। महाभारत सांख्य तथा योग को बहुत प्राचीन दर्शन बताता है। सनातने द्वे, 12 : 13711।

6 सांख्यकारिका, 70। महाभारत के अनुसार (12 : 218, 14-15), कपिल के उत्तराधिकारी हैं—आसुरि, पञ्चशिख, गार्ग्य और उलूक। चीनी परम्परा के अनुसार, एक पञ्चशिखी कणाद का शिष्य था। यह प्रकट है कि वह पञ्चशिख से भिन्न था। देखिए यूई : वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ 7-8। महाभारत में 'जनकपञ्चशिखसंवाद' पर एक परिच्छेद है और उसमें की कुछ सम्मतियों को योगभाष्य में उद्धृत किया गया है।

7. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 127।

8 योगभाष्य, तत्त्ववैशारदी, 1 : 36।

9. सांख्यप्रवचनभाष्य, 6 : 68।

10 तकाकुसु का विचार है कि विन्ध्यवासी ईश्वर कृष्ण की एक उपाधि थी (जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1905)। गुणरत्न उन्हें भिन्न-भिन्न मानता है (तर्करहस्यदीपिका, पृष्ठ 102, 104)।

11 भागवत में हमें बताया गया है कि सांख्यग्रन्थों का केवल एक भाग ही हम तक पहुंच सका है और एक बड़ा भाग काल की गति से लुप्त हो गया है। 1 : 3, 10। विज्ञानभिक्षु का मत है कि अनेक ग्रन्थों को काल खा गया है—कालार्कभक्षितम् (सांख्यप्रवचनभाष्य, भूमिका)। सांख्यकारिका

है।[1] गोडपाद ने कारिका पर एक टीका लिखी। क्या यह टीकाकार वही है जो माण्डूक्योपनिषद् पर लिखी गई 'कारिका' का रचयिता है? इसका निर्णय नही किया जा सकता, क्योकि दोनो ग्रन्थो मे विचारो की भिन्नता है। वह क्योकि वाचस्पति से पूर्व हुआ, इसलिए उसे आठवी शताब्दी मे रखा जा सकता है।[2] वाचस्पतिकृत साख्यतत्त्वकौमुदी (नौवी शताब्दी) एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। नारायणकृत साख्यचन्द्रिका कारिका पर लिखा गया ग्रन्थ है।

साख्यप्रवचनसूत्र के, जो कपिल का बनाया हुआ कहा जाता है,[3] छ अध्याय है। इनमे से पहले तीन अध्याय साख्य के सिद्धान्तो की व्याख्या के लिए उपयोग मे लाए गए है, चौथे मे दृष्टान्तरूप मे कहानिया दी गई है, पाचवे मे

की अन्तिम कारिका मे इस प्रकार का पाठ मिलता है: "सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के विषयो का सत्तर कारिकाओ मे प्रतिपादन किया गया है, किन्तु दृष्टान्त के रूप मे समझानेवाली कहानियो तथा विवादात्मक प्रश्नो को छोड दिया गया है।" यह माना जाता है कि उक्त कारिका प्रक्षिप्त है, क्योकि गौडपाद ने, जो कारिका का सबसे प्रथम टीकाकार है, इसका उल्लेख नही किया है। गुणरत्न ने षष्टितन्त्रोद्धार का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि आसुरि ने इसे प्रचलित किया और पञ्चशिख ने इसे निरीश्वरवादिता का रूप देकर इसे कपिल की रचना बता दिया। तो भी इस सब विषय मे कोई निश्चित मत नही दिया जा सकता। वाचस्पति तथा नारायण की सम्मति मे षष्टितन्त्र से किसी ग्रन्थ का उल्लेख न होकर केवल साठ विषयो की किसी योजना का ही उल्लेख है। सभवत. यही समाधान जैन 'अनुयोग-द्वारसूत्र' मे उल्लिखित षष्टितन्त्र के विषय मे भी सत्य हो। अहिर्बुध्न्य-सहिता (12) के अनुसार, साख्य एक ईश्वरवादी दर्शन है, जिसमे साठ विभाग हैं, जिसके दो भाग हैं अर्थात् बत्तीस प्रकृति के तथा अट्ठाईस विप्रकृति-सम्बन्धी विभाग हैं। वाचस्पति अपनी तत्त्वकौमुदी (72) मे राजवार्तिक से एक सन्दर्भ उद्धृत करता है, जिसका आशय यह है कि इसका नाम षष्टितन्त्र इसलिए पडा क्योकि यह प्रकृति सम्बन्धी साठ विषयो का, इसके एकत्व का, तथा पुरुष से भेद आदि का प्रतिपादन करता है। एक चीनी परम्परा के अनुसार, षष्टितन्त्र का रचयिता पञ्चशिख को बताया गया है, किन्तु कभी-कभी इसका श्रेय वार्षगण्य को दिया गया है। देखिए भामती, 2 1, 3।

1 बौद्धभिक्षु परमार्थ (छठी शताब्दी) ने चीनी भाषा मे इसका अनुवाद किया और इसपर टीका भी लिखी। चीनी परम्परा के अनुसार, विन्ध्यवास का वसुबन्धु से पूर्व हुआ बताया जाता है जो कारिका से दूसरी कारिका को उद्धृत करता है। देखिए युई . वैशेषिक फिलासफी। चाहे विन्ध्यवास कारिका का रचयिता हो, जैसाकि कीथ का सुझाव है, (साख्य, पृष्ठ 79, इण्डियन लौजिक एण्ड एटोमिज्म, पृष्ठ 248, कर्ममीमासा, पृष्ठ 59), अथवा उसपर टीका करनेवाला हो, जैसा बेलवलकर का मत है, (भण्डारकर कोमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ 175 78), ईश्वरकृष्ण वसुबन्धु से पूर्व हुआ, जिसका समय अब चौथी शताब्दी बताया जाता है। स्वप्नेश्वर ईश्वरकृष्ण तथा कालिदास को एक बताता है। 'ईश्वरकृष्णनाम्ना कालिदासेन कृता कारिका । देखिए हाल : साख्यसार, पृष्ठ 29। ईश्वरकृष्ण निश्चित रूप से अनीश्वरवादी प्रतीत होता है। यद्यपि कहा जाता है कि कारिका मे सत्तर कारिकाए थी, तो भी हम तक केवल उनहत्तर ही पहुच सकी हैं। बालगगाधर तिलक ने साख्यकारिका, 61 पर गौडपाद की टीका से विलुप्त कारिका की पुन रचना इस प्रकार की है ·

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते काल परे स्वभाव वा।
प्रजा: कथ निर्गुणतो व्यक्त कालस्वभावश्च ॥

गौडपाद के ध्यान मे इस प्रकार की एक कारिका थी, और आगे चलकर सम्भवत इसे दबा दिया गया क्योकि यह विषमतापूर्वक निरीश्वरवादी थी।

2 'माठरवृत्ति' साख्यदर्शन का एक ग्रन्थ है, जिसका सक्षिप्त रूप ही गौडपादकृत भाष्य कहा जाता है। किन्तु वृत्तिया साधारणत भाष्यो के पीछे आती हैं, और इस तथ्य के आधार पर कि माठरवृत्ति मे साख्यकारिका की अन्तिम तीन कारिकाओ पर टीका की गई है, इसका निर्माण-काल पीछे का प्रतीत होता है। देखिए भण्डारकर कोमेमोरेशन वाल्यूम।

3 स्वप्नेश्वर अपने 'कौमुदीप्रभा' ग्रन्थ मे 'साख्यप्रवचनसूत्र' का पञ्चशिख का बनाया हुआ बताता है और इसके कपिलकृत माने जाने का आधार इस तथ्य मे देखता है कि कपिल ने इस परपरा का प्रारम्भ किया था। देखिए हाल रचित साख्यसार पृष्ठ 8।

प्रतिपक्षियों के विचारों का खण्डन किया गया है, और छठा अध्याय उपसंहार के साथ समाप्त होता है। इस ग्रन्थ का निर्माण चौदहवीं शताब्दी में हुआ माना जाता है, मुख्यतः इस आधार पर कि माधवकृत सर्वदर्शनसंग्रह में इसका उल्लेख नहीं है, और उक्त ग्रन्थ में सांख्य-विषयक विवरण कारिका के आधार पर दिया गया है।[1] जहां कारिका में पूर्णरूप से द्वैतवाद का परिष्कार किया गया है, वहां सूत्र में एकेश्वरवाद के प्रति अधिक समन्वयात्मक प्रवृत्ति दिखाई देती है।[2] अनिरुद्धकृत सांख्यसूत्रवृत्ति का समय पन्द्रहवीं शताब्दी है, जबकि महादेवकृत सांख्यसूत्रवृत्तिसार 1600 ई० के लगभग लिखा गया बताया जाता है। नागेशकृत लघुसांख्यसूत्रवृत्ति कुछ अधिक महत्त्व की नहीं है। सांख्यप्रवचनसूत्र पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यप्रवचनभाष्य (सोलहवीं शताब्दी) है। यह ग्रन्थकार सांख्य तथा ईश्वरवादी वेदान्त के अन्तर को न्यूनतम करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि ऐसे ही वेदान्त को यह यथार्थ वेदान्त मानता है। इसकी सम्मति में अद्वैत वेदान्त उक्त वेदान्त का आधुनिक मिथ्यारूप है। विज्ञानभिक्षु ने और भी ग्रन्थ लिखे, अर्थात् सांख्यसार, योगवार्तिक, योगसारसंग्रह। इनके अतिरिक्त, उसने ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानमृत नामक टीका भी लिखी।

4. कार्यकारणभाव

अब हम उन युक्तियों पर विचार करेंगे जिनके आधार पर सांख्य पुरुष और प्रकृति के द्वैतवाद पर पहुंचता है। कार्यकारणभाव के सिद्धान्त का उपयोग करके सांख्य प्रकृति के अस्तित्व को युक्ति देता है।

यह प्रकल्पना कि कार्य वस्तुतः अपने कारण में पहले से विद्यमान रहता है, सांख्य दर्शन के मुख्य लक्षणों में से है। कारण की परिभाषा करते हुए सांख्य कहता है कि कारण वह सत्ता है जिसके अन्दर कार्य गुप्त रूप में विद्यमान रहता है। इसके समर्थन में वह निम्नलिखित युक्तियां उपस्थित करता है।[3] (1) अभावात्मक किसी

1 गुणरत्न (चौदहवीं शताब्दी) ने इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, इसपर 'भाष्य' सोलहवीं शताब्दी में प्रकाशित हुआ, और यदि सूत्र उससे पहले का था तो यह जानना कठिन है कि भाष्य का निर्माण और पहले क्यों नहीं हुआ। यह अन्य सब दर्शनों का उल्लेख करता है। वाचस्पति इससे अभिज्ञ नहीं है। अलबेरूनी जिसने अपनी पुस्तक ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखी, ईश्वरकृष्ण तथा गौडपाद के ग्रन्थों से तो अभिज्ञ है, किन्तु वह 'सूत्र' से अनभिज्ञ प्रतीत होता है।

2 तुलना कीजिए गार्बे : "विशेषकर सूत्रों का रचयिता इस नितान्त असम्भव स्थापना के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने में बहुत ही परिश्रम करता है कि सांख्यदर्शन की शिक्षाएं एक शरीरधारी ईश्वर के सिद्धान्त, ब्रह्म की एक सर्वतोग्राही एकता के सिद्धान्त, ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप मानने के सिद्धान्त और दिव्यलोक की प्राप्ति को उच्चतम उद्देश्य मानने के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध नहीं है (देखिए 1 : 95, 154 · 5 : 64, 68, 110 , 6 : 51, 58, 59)। इसमें सन्देह नहीं कि सांख्यसूत्र में, अनेक स्थानों पर, सरलता के साथ दिखाई देने वाले वेदान्त के प्रभाव के परिणाम मिलते हैं। सबसे अधिक स्पष्ट रूप में, 4 : 3 में, जो वेदान्तसूत्र 4 : 1, 11 की अक्षरशः पुनरावृत्ति है ; और 5 : 116 में जहां सांख्य के प्रचलित वाक्य के स्थान में वेदान्त की पारिभाषिक संज्ञा 'ब्रह्मरूपता' का प्रयोग किया गया है" (गार्बेकृत एस० बी० पी० की आवृत्ति, पृष्ठ 11)।

3 सांख्यकारिका, 9।

भी क्रिया का विषय नही हो सकता। आकाशकुसुम उत्पन्न नही किया जा सकता। असत् को कभी भी सत् नही बनाया जा सकता। नीले को हज़ारो कलाकार भी पीले मे परिवर्तित नही कर सकते।[1] (2) उत्पन्न पदार्थ उस सामग्री से भिन्न नही है जिससे कि वह बना है। (3) उत्पन्न होने से पूर्व वह सामग्री के रूप मे विद्यमान रहता है। यदि इसे स्वीकार न किया जाए तो हर किसी वस्तु से हरएक वस्तु उत्पन्न हो सकेगी। (4) कार्यकारणभाव-सम्बन्धी योग्यता उसी से सम्बद्ध रहती है जिसके अन्दर आवश्यक क्षमता रहती है। (5) कार्य का स्वरूप वही होता हे जो कारण का होता है। अपने तात्त्विक रूप मे कपडा धागो से भिन्न नही है। ऐसे पदार्थो मे जो एक-दूसरे से तात्त्विक-रूप मे भिन्न हैं, कार्यकारण सम्बन्ध नही हो सकता।[2] जो कुछ छिपा हुआ है उसके प्रकाश मे आने का नाम ही विकास है, अथवा अरस्तू के शब्दो मे, यह सम्भाव्य सत्ता के रूप मे सक्रमण है, अथवा, हेगल के शब्दो मे, यह गुप्तावस्था से प्रकटरूप मे आना है। इस मत को धर्मशास्त्र का भी समर्थन प्राप्त है।[3] सत्कार्यवाद के उक्त सिद्धान्त के अनुसार कारण तथा कार्य उसी एक पदार्थ की अविकसित तथा विकसित अवस्थाए हैं। समस्त उत्पादन उद्भाव अर्थात् विकास और समस्त विनाश अनुद्भाव अर्थात् कारण के अन्दर विलय हो जाना है।[4] अत्यन्त अभाव नामक कोई वस्तु नही है। भूतकाल तथा भविष्यत् की अवस्थाओ का नाश नही होता है, क्योकि उनका प्रत्यक्षज्ञान योगियो को होता है।[5] साख्य विकास (आविर्भाव) तथा अन्तर्लय (तिरोभाव) की प्रकल्पना को स्वीकार करता है।

कारण तथा कार्य भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं और इसीलिए एक-दूसरे से भिन्न है,[6] यद्यपि इस भेद का आधार हमारे क्रियात्मक स्वार्थ है। घडा अपने अन्दर जल को रख सकता है, किन्तु मिट्टी नही रख सकती। जहा उपादान कारण तथा कार्य मौलिक रूप से एक ही है, वहा क्रियात्मक रूप मे वे भिन्न-भिन्न हैं क्योकि उनसे भिन्न-भिन्न प्रयोजन सिद्ध होते हैं। तादात्म्य मौलिक है, भेद केवल क्रियात्मक रूप मे है। साख्य दो प्रकार के कारणो अर्थात् उपादान तथा नैमित्तिक मे भेद करता है। जहा उत्पादन कारण कार्य के अन्दर प्रविष्ट होता है, वहा नैमित्तिक कारण बाहर रहते हुए अपना प्रभाव डालता है। यद्यपि कार्य कारण के अन्तर्गत है तो भी ऐसी एक वस्तु की आवश्यकता होती है जो इसे कारणात्मक स्थिति से स्वतन्त्र कर सके। बीज मे से तेल निकालने के लिए उसे हम पेलते है, अनाज को प्राप्त करने के लिए धान को कूटते है। जब इस सह-कारी शक्ति का अभाव रहता है तो कार्य उत्पन्न नही होता।[7] यद्यपि कार्य शक्तिरूप

1 नहि नील शिल्पिसहस्रेणापि पीत कर्तु शक्यते (तत्त्वकौमुदी, पृष्ठ 9)।

2 देखिए तत्त्वकौमुदी, पृष्ठ 9।

3 छान्दोग्योपनिषद्, 6 2, 2। और देखिए भगवद्गीता, 2 16।

4 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 120-21।

5 साख्यप्रवचनभाष्य, 1 121।

6 कारणकार्यविभागात् (साख्यकारिका, 15)।

7 व्यास इन सहचारी कारणो की क्रिया को दृष्टान्त से इस प्रकार दिखाते है : "जिस प्रकार अनेक खेतो का स्वामी एक ही खेत से—जिसमे जल ऊपर तक भर गया है—अन्य खेतो को, जो उसी ऊचाई पर है या उससे नीचे हैं, जल पहुचा देता है, वह अपने हाथो से वहा जल नही ठेलता, बल्कि केवल बीच की रुकावट रूप बाध को खोल देता है और जल अपने बल से अन्य खेतो मे दौड जाता है, अथवा जिस प्रकार वही व्यक्ति धान के पौधो की जडो मे जल तथा मिट्टी मे घुले हुए रासायनिक द्रव्यो को हाथ से ठेलकर नही पहुचाता है, बल्कि केवल बाधा देनेवाली घास आदि

में कारण के अन्दर विद्यमान रहता है, परन्तु यह शक्तिमत्ता सब एकसाथ वास्तविक रूप धारण नहीं करती। रुकावट का दूर कर देना शक्तिमत्ता के वास्तविक रूप में आने का सहकारी कारण होता है। व्यास के अनुसार, ये सहकारी अवस्थाएं हैं—देश काल, रूप तथा आकार।[1] एक पत्थर के टुकड़े से पौधा नहीं निकल सकता।[2] दो प्रकार के कार्यों में भेद किया गया है। दूध में से मलाई का उत्पन्न होना एक सरल अभिव्यक्ति की अवस्था है। जब सोने से आभूषण बनाया जाता है तो यह पुनरुत्पत्ति का दृष्टान्त है। जब किसी वस्तु के स्वभाव में परिवर्तन होता है तो हमारे समक्ष धर्म-परिणाम की अवस्था आती है। जब गुप्त वास्तविक रूप में आ जाता है और परिवर्तन केवल बाह्य होता है तो यह लक्षण-परिणाम की अवस्था है। केवल समय के व्यतीत होने पर जो अवस्था में परिवर्तन होता है वह अवस्था-परिणाम है।[3] परिवर्तन हर जगह तथा हर एक क्षण में हो रहा है। हम एक ही जलधारा में दो बार पग नहीं डाल सकते, क्योंकि जल दो क्षण के लिए भी वही नहीं रहता। और यह भी सत्य है कि वही व्यक्ति उसी जलधारा में दो बार पग नहीं डालता, क्योंकि इस बीच जैसे जलधारा में परिवर्तन हो गया वैसे ही उस व्यक्ति में भी परिवर्तन हो गया। सब वस्तुएं तथा अवस्थाएं, बाह्य तथा आभ्यन्तर, इस परिवर्तन के विधान के अधीन हैं।[4] इसी परिवर्तनरूप प्रक्रिया में से मनुष्य का मस्तिष्क पूर्ववर्तियों तथा पश्चाद्वर्तियों के सम्बन्ध द्वारा कार्यकारणभाव के नियम की रचना करता है।[5]

5. प्रकृति

सांख्य प्रकृति की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है कि यह तत्त्वों का एक अत्यधिक सम्मिश्रण है जो सदा परिवर्तित होता रहता है। भौतिक द्रव्य अपने-आपमें अंतर्भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न पदार्थ हैं, और उसके रूपों के विभाजन को प्रकृति की निधियों का प्रकटीकरण कहा गया है। यदि समस्त कार्य अपने कारणों के अन्दर छिपे हुए रहते हैं, और यदि हम एक अनन्त पश्चाद्गति से बचना चाहते हैं, तो एक आदिकारण, जिसका अन्य कोई कारण न हो, अवश्य स्वीकार करना होगा। कार्यकारणभाव के सिद्धान्त से अनुमान द्वारा यह परिणाम निकलता है कि इस आनुभविक विश्व का परम (अन्तिम) आधार अव्यक्त प्रकृति है। सांख्यकारिका में प्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियां दी गई हैं।[6] (1) व्यक्तिगत पदार्थों का परिमाण परिमित है। जो कुछ परिमित है वह अपने से बाह्य किसी वस्तु पर निर्भर है। इसलिए सान्त सान्त

को मार्ग में से हटा देता है, जिससे वह जल का स्रोत स्वयं जड़ों में प्रवेश कर जाता है; इसी प्रकार निमित्त कारण की भी क्रिया होती है जो उपादान कारणों के साथ मिलकर सहायक का कार्य करता है।" (योगभाष्य, 4 3)।

1 योगभाष्य, 3 14।

2 किन्तु सांख्यदर्शन के अनुसार, कोई कारण कोई भी कार्य उत्पन्न कर सकता है (क्योंकि सब वस्तुएं प्रकृति के परिवर्तित रूप हैं), यदि केवल बाधा उपस्थित करनेवाली रुकावटों को दूर कर दिया जाए। विज्ञानभिक्षु का मत है कि यदि पत्थर के अन्दर से कणों की वह व्यवस्था जो उसके भीतर गुप्त शक्तिमत्ता को विकसित होकर अंकुर के रूप में फूटने से रोकती है, ईश्वर की इच्छा से दूर हो जाए तो पत्थर में भी एक पौधा उग सकता है।

3 योगभाष्य, 3 13।

4 सांख्यप्रवचनसूत्र, 1 : 121।

5 बुद्धिनिर्माण।

6 15 और 16।

के रूप मे विश्व का उद्भव-स्थान नहीं हो सकता। (2) सब व्यक्तिगत पदार्थ कुछ व्यापक लक्षण रखते हैं, और इससे वे यह उपलक्षित करते है कि उन सबका कोई एक सामान्य उद्भव-स्थान होना चाहिए, जहा से वे सब निकलते है। साख्य यह नही मानता कि भिन्न-भिन्न तत्त्व एक-दूसरे से पूर्णरूप मे भिन्न है। (3) वस्तुओ के विकास मे अपने को व्यक्त करता हुआ एक क्रियात्मक तत्त्व अवश्य हे। विकास एक ऐसे तत्त्व को उपलक्षित करता है जो अपनी किसी भी स्थिति के समान नहीं हो सकता। जो अपने उत्पन्न पदार्थों के अन्दर रहता हुआ भी उनसे बृहत्तर है। (4) कार्य कारण से भिन्न है और इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि सान्त तथा सोपाधिक जगत् अपना कारण अपने-आप है। (5) विश्व का एकत्व प्रकट हे, जिससे एक ही कारण का निर्देश मिलता है। साख्य निम्नतम स्तर से उच्चतम स्तर तक विश्व के नैरन्तर्य को मानता है। पदार्थ एक निश्चित व्यवस्था मे विकसित होते है तथा विलीन होते है। जगत् को प्रकृति का परिणाम कहा गया है, और प्रकृति जगत् का कारण है। प्रत्येक वस्तु किसी उत्पादक कारण का कार्य है, क्योकि असत् से कोई वस्तु उत्पन्न नही होती। यदि कारण मे कार्य से कम पदार्थ हैं तो इस अधिकाश को असत् से उत्पन्न मानना पडेगा। इससे परिणाम यह निकलता है कि कारण के अन्दर कार्य से या तो अधिक या कम से कम उतनी ही यथार्थता अवश्य होनी चाहिए। डेकार्ट के शब्दो मे, तर्क का स्वाभाविक प्रकाश हमे यह दिखाता है कि परम कारण को कार्य की पूर्ण यथार्थता, तात्पर्य तथा मूल्य को अपने अन्दर रखना चाहिए। ऐसी कोई वस्तु विकसित नही हो सकती जो प्रारम्भ मे किसी रूप मे अन्तर्निहित न हो।[1] जबकि प्रत्येक कार्य का कारण है, प्रकृति का कोई कारण नही है।[2] बल्कि वह सब कार्यो का कारण है और उन्हींसे उसका अनुमान किया जाता है।[3] इसे प्रधान नाम दिया गया है, क्योकि यह सब कार्यो का आधार है,[4] ब्रह्म अथवा वह जो बढता है[5], माया अर्थात् वह जो मापती है या सीमा बनाती है। यह सत्ता की प्रारम्भिक आकृति है, जिससे जीवनो की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाए निकलती है। साख्य पुरुष अथवा आत्मा का उद्भव अनात्म अथवा प्रकृति से निकलने की असम्भवता को मानता है।

उत्पन्न पदार्थो के कारण होते हैं, किन्तु प्रकृति का कारण नही है। उत्पन्न पदार्थ पराधीन है; किन्तु प्रकृति स्वाधीन है। उत्पन्न पदार्थ सख्या मे अनेक है, देश और काल मे सीमित है, किन्तु प्रकृति एक है, सर्वव्यापक है और नित्य है।[6] उत्पन्न पदार्थ वे चिह्न हैं जिनसे उनके उद्भव का अनुमान किया जाता है। प्रकृति कभी नष्ट

1. तुलना कीजिए इसके साथ मुख्य तथा औपचारिक कारणो के भेदो की, जो डकार्ट ने किए है।

2 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 67।

3 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 110, 136।

4 प्रधीयते (साख्यप्रवचनभाष्य, 1 125)। लोकाचार्य लिखते है इसे प्रकृति कहा जाता है, क्योकि यह सब परिवर्तनो का उद्भव-स्थान है, अविद्या कहते हैं क्योकि यह समस्त ज्ञान के प्रतिकूल है, माया कहते है क्योकि यह चित्र-विचित्र सृष्टि का कारण है। प्रकृतिरित्युच्यते विकारोत्पादकत्वाद् विद्या ज्ञानविरोधित्वात्, माया विचित्रसृष्टिकरत्वात् (तत्त्वत्रय, पृष्ठ 48)। समस्त भौतिक आकृतियो के एक सार्वभौम, अदृश्य आदिस्रोत के विषय मे प्लेटो का इसी प्रकार का विचार था। देखिए 'टाइमियस', पृष्ठ 24।

5 भगवद्गीता, 14 3।

6 साख्यकारिका, 10, साख्यप्रवचनसूत्र, 1. 124, और भी देखिए योगभाष्य, 1 12। साख्यप्रवचनभाष्य, 1 76।

नहीं हो सकती और इसलिए यह कभी पैदा भी नहीं हो सकती थी। एक बुद्धिसम्पन्न तत्त्व ऐसी सामग्री नहीं हो सकता जिससे जड़ जगत् का निर्माण हो सके, क्योंकि आत्मा प्रकृति के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, कर्तव्य का सम्बन्ध पुरुष अथवा आत्मा के साथ नहीं है, बल्कि अहंकार के साथ है, जो स्वयं उत्पन्न पदार्थ है।[1]

यह आपत्ति कि प्रकृति प्रत्यक्ष में नहीं दिखाई देती, कुछ अधिक महत्त्व की नहीं है। कितने ही ऐसे पदार्थ होते हैं जिन्हें यथार्थ माना जाता है किन्तु जो प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय नहीं होते। ऐसे पदार्थों के सम्बन्ध में जो या तो अत्यन्त निकट हैं या अत्यन्त दूर हैं, प्रत्यक्ष सफल नहीं हो सकता। इन्द्रियों के अथवा मन के दोष, किसी अन्य पदार्थ के बीच में आ जाने से, अथवा किसी अधिक आकर्षक, उत्तेजक पदार्थ की उपस्थिति से प्रत्यक्ष निरर्थक हो जाता है। प्रकृति की सूक्ष्मता इसे प्रत्यक्ष के अयोग्य करती है।[2] व्यास प्रकृति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि "प्रकृति वह है जो कभी नहीं है और न ही अभावात्मक है, जिसका अस्तित्व है और नहीं भी है, जिसके अन्दर कोई अभाव नहीं है, जो अव्यक्त है, विशेष लक्षण से रहित है और सबकी मुख्य पृष्ठभूमि है।"[3] यदि उसे सत् कहा जाए, जो आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करता हो, तो प्रकृति असत् है, यद्यपि यह वर्गाकार वृत्त की भांति असत् नहीं है। फिर, ऐसा कोई पदार्थ जो सत् है, नष्ट नहीं हो सकता, और उत्पन्न पदार्थ प्रकृति के अन्दर अपना अस्तित्व रखते हैं यद्यपि एक अव्यक्त दशा में। इसके अन्दर समस्त व्यवस्थित अस्तित्व उपलक्षित है। भिन्न-भिन्न गुण अपने को मिटाते नहीं हैं बल्कि साम्यावस्था में रहते हैं, जो निष्क्रियता नहीं है, बल्कि एक प्रकार की प्रसारण है। प्रकृति इतनी सत् नहीं है जितनी कि शक्ति है। तीनों गुणों की साम्यावस्था होने के कारण[4] यह समस्त भौतिक तथा मानसिक परिवर्तनों का आधार है। यह विशुद्ध क्षमता है।[5] हम प्रकृति तथा गुणों के यथार्थस्वरूप को नहीं जानते, क्योंकि हमारा ज्ञान दृश्यमान जगत् तक सीमित है।[6] यह शब्द तथा स्पर्श से रहित है,[7] जो क्रियात्मक रूप में एक सीमा है जिससे परे हम नहीं जा सकते। यह आनुभविक रूप में एक अमूर्तभाव है, केवल नाममात्र है।[8] किन्तु इसकी सत्ता को समस्त सृष्टि की पूर्व भूमिका के रूप में स्वीकार करना ही होता है।[9]

सांख्य में दिया गया जगत् का वर्णन, जिसमें इसको एक समांग द्रव्य का रूप दिया गया है और समस्त पदार्थ जिसके केवल भिन्न-भिन्न विन्यास (आकृतियां) हैं जिनका निर्माण इसके परम घटकों के भिन्न-भिन्न मिश्रणों के द्वारा हुआ है, कुछ-कुछ भौतिकवाद के सिद्धान्त के साथ सादृश्य रखता है। सांख्य तथा भौतिकवाद दोनों का ही

1 सांख्यप्रवचनसूत्र, 6 . 54 ।

2 सांख्यकारिका, 8 ।

3 निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिंगं प्रधानम् (योगभाष्य, 2 : 19; सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 61) ।

4 साम्यावस्था (सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 61) ।

5 तुलना कीजिए ऋग्वेद, 10 · 92 ।

6 व्यास 'षष्टितन्त्र' से निम्नाशय का एक श्लोक उद्धृत करते हैं:—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ (योगभाष्य, 4 : 13) ।

इस पर टिप्पणी करते हुए वाचस्पति का कहना है कि प्रकृति माया नहीं, अपितु माया जैसी है—मायेव न तु माया ।

7 सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 128; विष्णुपुराण, 1 : 2. 20-21 ।

8 सत्तामात्रम् (सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 68) ।

9 प्र = पहले, कृति = सृष्टि रचना; अथवा प्र = आगे, कृति = बैठाना ।

प्रयास उस बहुत-कुछ अव्यवस्थित विचार की अपेक्षा जो ऊपरी रूपों से हमारे मस्तिष्क में बनता है, विश्व के एक अधिक युक्तियुक्त भाव को प्राप्त करने की ओर है। ये दोनों ही सिद्धान्त एक आद्य द्रव्य की परम यथार्थता पर बल देते हैं, जिसे ये नित्य अविनश्वर तथा सर्वव्यापी मानते हैं। विविध वस्तुओं की प्रचुरता, जो हमें अपने साधारण अनुभव में दिखाई देती है, इसी अकेले द्रव्य के कारण है। किन्तु सांख्य प्रतिपादित प्रकृति की तुलना हम विशुद्ध एवं सरल भौतिक द्रव्य के साथ नहीं कर सकते। सांख्य के विचारक प्रकृति की पुरुष को उत्पन्न करने तथा पुरुष की प्रकृति को उत्पन्न करने की अक्षमता से भली प्रकार अभिज्ञ हैं। वे स्वीकार करते हैं, जबकि भौतिकवादी स्वीकार नहीं करते, कि प्रकृति का विकास एक प्रयोजन को लेकर होता है, "यह एक ऐसा तोरणद्वार है जिसमें से अछूते जगत् की झलक मिलती है।" सांख्य-प्रतिपादित प्रकृति कोई भौतिक द्रव्य नहीं है, और न ही वह एक चेतनता-सम्पन्न सत्ता है, क्योंकि पुरुष को बहुत सावधानी के साथ इससे पृथक् रखा गया है। यह केवल भौतिक जगत् के पांचों तत्त्वों को ही उत्पन्न नहीं करती, बल्कि मानसिक तत्त्वों की भी जननी है। यह समस्त प्रमेय-विषयक जीवन का आधार है। सांख्य इस विचार पर विज्ञान के द्वारा नहीं, बल्कि अध्यात्म के द्वारा पहुंचता है। यथार्थतत्त्व को उसकी पूर्णता के साथ अपरिवर्तनशील प्रमाता (विषयी) और परिवर्तनशील प्रमेय (विषय) के रूप में पृथक् किया गया है, तथा प्रकृति परिणमनशील जगत् का आधार है। यह अविश्रान्त क्रियाशील जगत् के तनाव की प्रतीक है। यह बिना चेतनता, बिना किसी पूर्व-निर्धारित योजना के बराबर क्रियाशील रहती है, यह ऐसे लक्ष्य के प्रति क्रियाशील है जिसे यह समझती नहीं।

6. गुण

प्रकृति का विकास इसकी अपनी तीन घटक शक्तियों अथवा गुणों से होता है,[1] जिनकी कल्पना प्रकृति के कार्यों के लक्षणों के आधार पर की गई है। प्रकृति एक त्रिगुणात्मक (तीन लड़ों वाली) रस्सी है। बुद्धि में, जो कार्य है, सुख, दुःख तथा सम्मोह—ये गुण पाए जाते हैं, और इसलिए इसकी कारणरूप प्रकृति में भी तदनुकूल गुण अवश्य होने चाहिए। ये गुण प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, किन्तु इनके कार्यों द्वारा इनके अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इनमें से प्रथम गुण को 'सत्त्व' कहते हैं। यह कार्यक्षम चेतना है और इसलिए चेतनामय अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा मनुष्य में सुख उत्पन्न करता है। व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार, सत्त्व शब्द की व्युत्पत्ति 'सत्' से है, अर्थात् सत् वह है जो यथार्थ अथवा विद्यमान है। क्योंकि चैतन्य को इस प्रकार की संज्ञा दी जाती है, इसलिए सत्त्वगुण को कार्यक्षम चैतन्य कहा गया है। गौण अर्थों में, 'सत्' का अर्थ 'पूर्णता' भी है और इस प्रकार 'सत्त्व' वह तत्त्व है जो सौजन्य एवं सुख को उत्पन्न करता है। इसे ऊपर उठने योग्य अर्थात् हलका बतलाया गया है।[2] दूसरा गुण रजस् है जो समस्त क्रिया का स्रोत है और दुःख को उत्पन्न करता है। रजोगुण हमें एक उत्तेजनामय सुख तथा सतत उद्यम के जीवन की ओर ले जाता है।[3] तीसरा तमोगुण है जो क्रिया-

1. सांख्यकारिका, 16।
2. सुखप्रकाशलाघव (तत्त्वकौमुदी, 13)।
3. दुःखोपष्टम्भकत्व, प्रवर्तकत्व, जबकि तमस् का लक्षण बताया है—मोहगुरुत्वावरणैः (तत्त्वकौमुदी, 13)।

शीलता में बाधा पहुंचाता है तथा उदासीनता अथवा निरुत्साह उत्पन्न करता है। यह अज्ञान तथा आलस्य की ओर ले जाता है। सत्त्व, रजस्, और तमस् के कार्य क्रमशः प्रकाश (अभिव्यक्ति), प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) और नियमन (अवरोध)[1] हैं और ये क्रमशः सुख, दुःख और आलस्य (तन्द्रा) को उत्पन्न करते हैं। तीनों गुण कभी पृथक् नहीं रहते। वे एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं तथा एक-दूसरे में मिले-जुले रहते हैं। वे एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, जैसेकि दीपशिखा, तेल तथा दीपक की बत्ती परस्पर सटे हुए रहते हैं।[2] ये तीन गुण ही प्रकृति के सारभूत तत्त्व हैं। सब वस्तुएं इन तीन गुणों से मिलकर बनी हैं,[3] और संसार में जो भेद पाए जाते हैं वे भिन्न-भिन्न गुणों की प्रधानता के कारण हैं। गुणों की इस प्रकार की कल्पना का आदिस्रोत निःसन्देह मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि इनके अन्दर जो भेद किए गए हैं वे भावना के भिन्न-भिन्न प्रकारों के आधार पर हैं। किन्तु इतने प्रारम्भिक काल में भी, जो सांख्यकारिका का समय है, गुण प्रकृति के घटकों अथवा अवयवों को प्रकट करते थे।[4] इन्हें गुणों की संज्ञा दी गई है, क्योंकि प्रकृति अकेली विशेष्य है और ये उसके अन्दर केवल अवयव (घटक) रूप से हैं। इन्हें किसी वस्तु-विशेष के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के रूप में माना जा सकता है। सत्त्व उस सारभूत तत्त्व अथवा स्वरूप का द्योतक है जिसको हमें प्राप्त करना है, और तमस् उन बाधाओं का द्योतक है जो उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में आती हैं। इसी प्रकार रजस् उस शक्ति का द्योतक है जिसके द्वारा बाधाओं पर विजय प्राप्त की जाती है तथा सारभूत रूप अभिव्यक्त होता है। सांख्य द्वारा प्रतिपादित

[illegible]

करते हैं। बाधाओं के हटा दिए जाने पर वस्तु अभिव्यक्त हो जाती है। जो अभिव्यक्त होता है वह सत्त्व अथवा वस्तु का रूप है; अभिव्यक्ति का कारण रजोगुण है; तमस् वह बाधा है जो सत्त्व की अभिव्यक्ति के मार्ग में उपस्थित रहती है और जिस पर विजय प्राप्त करनी है।[5] जहां सत्त्व और तमस् क्रमशः विध्यात्मक सत् तथा निषेधात्मक असत्

1. प्रकाशक्रियास्थितिशीलम् (योगसूत्र, 2 : 18)।

2. सांख्यकारिका, 13।

3. त्रिगुणात्मक।

4. तुलना कीजिए श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4 : 5। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्…" शंकराचार्य इसमें छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित तीन रंगों का आभास पाते हैं, (6 : 4)। शंकराचार्य सांख्य-सम्प्रदाय के एक अनुयायी द्वारा इसकी व्याख्या इस प्रकार से कराते हैं : "इस छन्द में लाल, श्वेत तथा कृष्ण से रजस्, सत्त्व और तमस् का ग्रहण करना चाहिए। लाल रजस् (भावावेश) है, क्योंकि यह स्वभावतः मनुष्य को लाल बना देता है, बेचैनी उत्पन्न करता है, इसलिए। श्वेत सत्त्व है (अनिवार्य रूप से कल्याणकर), क्योंकि यह स्वभावतः मनुष्य को उज्ज्वल बनाता है। कृष्णवर्ण तमस् (अन्धकार) है, क्योंकि यह अज्ञानान्धकार उत्पन्न करता है। क्योंकि तीनों गुण आद्य प्रकृति के हैं, इसलिए उन्हें 'अजा' कहा गया है, अर्थात् जिसका जन्म न हुआ हो" (शांकरभाष्य, 1 · 4, 9)। गुण नाम इनका इसलिए है क्योंकि ये आत्मा को बांधते हैं (गुण अर्थात् रस्सी) (सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 61)।

5. डाक्टर सील लिखते हैं "प्रत्येक घटना में तीन प्रकार के मूलतत्त्व होते हैं : बुद्धिगम्य सार, शक्ति और जड़त्व। विकट संयोग में ये वस्तुओं के अन्दर अनिवार्य रचनात्मक अवयवों के रूप में प्रवेश करते हैं। किसी वस्तु का सार (सत्त्व) वह है जिस रूप में वह अपने को बुद्धि के आगे अभिव्यक्त करती है, और इस प्रकार की अभिव्यक्ति के बिना चेतनामय जगत् में कुछ भी नहीं रह सकता

के अनुरूप है, रजस् उक्त दोनो के मध्य सघर्ष का द्योतक है। प्रत्येक वस्तु का अपना आदर्श सारतत्त्व होता है जिसे प्राप्त करने का वह प्रयत्न करती है, और वास्तविक ढाचा होता है जिससे छुटकारा पाने का वह प्रयत्न करती है। पिछली अवस्था इसकी तमोऽवस्था है तथा पहली सत्त्वावस्था है, और प्रयत्न करने की प्रक्रिया राजसी अवस्था की द्योतक है। परिणाम मे, सत्त्व वह है जिसके द्वारा कोई भी वस्तु अपने को चैतन्य मे अभिव्यक्त करती है। क्योकि ये लक्षण जीवन-मात्र मे पाए जाते है, इसलिए ये मूल प्रकृति के कारण माने गए हैं।[1]

ये गुण वैशेषिक के गुण नही है, क्योकि इनके अन्दर लघुता, क्रियाशीलता आदि गुण विद्यमान हैं।[2] विज्ञानभिक्षु इनको यथार्थसत्ता के प्रकार बताते हैं[3] तथा प्राचीन उपषिदो मे[4] इन्हे मनोवैज्ञानिक अवस्थाओ का रूप दिया गया है जो भौतिक तथा मानसिक बुराई को उत्पन्न करती हैं। रचना की दृष्टि से ये गुण अत्यन्त सूक्ष्म बताए गए हैं। ये सदा परिवर्तनशील हैं, यहा तक कि जिसे साम्यावस्था कहा जाता है उसमे भी ये गुण निरन्तर एक-दूसरे मे परिवर्तित होते रहते है।[5] किन्तु ये परिवर्तन अपने-आपमे तब तक कोई विषयनिष्ठ परिणाम उत्पन्न नही करते जब तक कि साम्यावस्था मे क्षोभ उत्पन्न नही होता। गुणो की साम्यावस्था मे क्षोभ उत्पन्न होने पर ये गुण एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं तथा विकास होता है। गुणो की नानाविध प्रतिक्रिया के कारण ही जगत् मे विविधता पाई जाती है। जिस विशेष घटना मे जो कोई गुण सर्वोपरि रहता है वह उसमे अभिव्यक्त होता है, यद्यपि अन्य गुण भी अनुपस्थित नही रहते। भौतिक जड पदार्थों मे तमोगुण प्रधान है तथा सत्त्व और रजस् गौण है। गतिमान पदार्थो मे रजोगुण प्रधान है और अन्य गुण प्रच्छन्न है। इस प्रकार 'सत्त्व, रजस् और तमस्' इन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग प्रधान पक्ष को लक्ष्य करके किया जाता है, एकान्तिक तथा अनन्यस्वरूप को लक्ष्य करके नही किया जाता। यद्यपि कार्यरूप जगत् की उत्पत्ति मे तीनो गुण एकसाथ भाग लेते है, तो भी ये कभी एकीभूत नही होते। पारस्परिक प्रभाव अथवा सामीप्य के कारण उनके अन्दर परिवर्तन होता है। वे विकसित होते हैं, परस्पर मिलते हैं तथा पृथक् होते है। उनमे से कोई भी अपनी

(समष्टिवुद्धि)। किन्तु यह सारतत्त्व तीन लक्षणो मे से केवल एक है। यह न तो पुज को और न गुरुत्व को धारण करता है। न यह बाधा ही देता है और न कोई कार्य ही करता है। उसके बाद तमस् का अश है जो पुज, निष्क्रियता, भौतिक सामग्री है, जो गति के मार्ग में तथा चेतनामय चिन्तन के भी माग मे बाधा देता है। किन्तु बुद्धि-सामग्री तथा भौतिक सामग्री कोई कार्य नही कर सकती। और अपने-आपमे रचनात्मक क्रियाशीलता से रहित हैं। समस्त कार्य रजोगुण से होता है जो शक्ति का अश है और जो भौतिक द्रव्य की बाधा पर विजय प्राप्त करके बुद्धि को भी शक्ति प्रदान करता है, जिसकी आवश्यकता इसे अपने चेतनामय नियमन तथा अनुकूलन के लिए होती है" (दि पाजिटिव साइसेज आफ दि हिन्दूज, पृष्ठ 4)। कुछ लोगो को डा० सील का उक्त प्रयास साख्य की व्याख्या से अधिक उसका पुनर्लेखन प्रतीत होगा।

1 कभी-कभी यह कहा जाता है कि क्रियाशीलता का, जो सम्पूर्ण विश्व की विशेषता है, बाधा पहुचाने वाले से अलग कोई अर्थ ही नही है। इस प्रकार रजस् अर्थात् क्रियाशील पक्ष तमस् अर्थात् निष्क्रिय पक्ष के अस्तित्त्व का सकेत करता है। उसके बिना सब वस्तुए निरन्तर गतिमान रहेगी। सक्रियता अपने-आपमे युक्तियुक्त उद्देश्य को पूरा करती है और इसलिए सत्त्वपक्ष भी विद्यमान है (तत्त्वकौमुदी, 13)।

2 साख्यप्रवचनभाष्य, 1 61।

3 वाचस्पति तथा साख्यकारिका इस प्रकार की व्याख्या नही देते।

4 श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा मैत्रायणी उपनिषद्।

5. सारूप्यपरिणाम।

शक्ति को नहीं खोता, भले ही दूसरे सक्रिय रूप में क्यों न कार्यरत हों।[1] प्रकृति तथा तज्जन्य पदार्थ इन गुणों को धारण करते हैं और इसलिए वे अचेतन हैं। वे अपने-आपमें तथा पुरुष में भेद करने की शक्ति से वंचित हैं। वे सदा विषय (विषय) कोटि में ही रहते हैं, जबकि केवलमात्र पुरुष ही प्रमाता (विषयी) की कोटि में है।

गुणों के विषय में विज्ञानभिक्षु में एक बिलकुल भिन्न मत पाया जाता है, जो [illegible] अनुसार संख्या में [illegible] होगा कि व्यापक [illegible] करते हैं, क्योंकि इस प्रकार का मत छोटे-छोटे भेदों की व्याख्या नहीं कर सकता।[2] यद्यपि गुणों की अभिव्यक्तियां असंख्य हैं, तो भी कुछ सामान्य लक्षणों, जैसे लघुता, को धारण करने के कारण इनका तीन प्रकार का वर्गीकरण किया गया है।[3] कारण-कार्य-सम्बन्धी इन तीनों सत्त्व आदि द्रव्यों में से प्रत्येक नानाविध निजी अभिव्यक्तियां रखता है।[4] गुणों की न तो सृष्टि होती है और न नाश ही होता है। यद्यपि ठोस मूर्त रूप प्रकारों में धन एवं ऋण, वृद्धि एवं ह्रास, सम्भव है, जो परिवर्तन व्यवस्थापन तथा अन्तर्हित से वास्तविक में रूपान्तर के कारण होते हैं, तो भी अन्तर्हित तथा वास्तविक मिलकर सदा एकसमान ही रहते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसेकि चौसर के खेल में होता है। पासे सदा वही रहते हैं, किन्तु वे क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकार से पड़ते हैं इसलिए उनका अर्थ हमारे लिए भिन्न-भिन्न होता है। समस्त परिवर्तन अनन्त काल से विद्यमान अनिवार्य सत्ताओं की स्थिति, व्यवस्था, उनके वर्गीकरण, मिश्रण तथा पृथक्करण से सम्बन्ध रखता है, जो सदा ही परस्पर संघटित तथा विघटित होती रहती हैं।[5]

7. विकास

प्रकृति वह मौलिक द्रव्य है जिसमें से यह जगत् विकसित होता है। अव्यक्त दशा में प्रकृति केवल प्रतिकूलताओं का संतोलकरण है। जब वे साम्यावस्था में एकत्र रहती हैं तो उनमें कोई क्रिया नहीं होती है। विश्राम की अवस्था को प्रकृति की स्वाभाविक दशा कहा गया है।[6] तो भी बाह्य क्रिया की अनुपस्थिति का तात्पर्य यह नहीं है कि कार्य करने की प्रवृत्ति का भी अभाव है। व्यक्त होने की प्रवृत्तियां (सत्त्व) और क्रियाशीलता (रजस्) अव्यक्त तथा निष्क्रियता (तमस्) की प्रवृत्तियों से प्रतिबद्ध रहती हैं। सांख्य जगत् के सर्वोपरि तत्त्व का विचार एक ऐसे एकत्व के रूप में करता है जिसके साथ तत्त्वों का यथार्थ विरोध है। एक अमूर्त इकाई को या तो निरन्तर क्रियाशील या निरन्तर निष्क्रिय होना चाहिए। प्रकृति स्वरूप से अस्थिर नहीं है और इसलिए इसे अनिवार्य रूप

1 योगभाष्य, 2 18।
2 सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 . 127।
3. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 128।
4 वही।
5 तत्त्वकौमुदी, 13-16 ; तत्त्ववैशारदी, 2 : 20 ; 4 : 13-14 ; और योगवार्तिक, 4 : 13-14।
6 योगभाष्य, 2 : 18।

मे भिन्न-भिन्न होने की आवश्यकता नही है।[1] जब गुणो की साम्यावस्था में क्षोभ होता है तो प्रकृति का नाश होता है,[2] एक पक्ष के अत्यधिक बोझ से तनाव कम होता है और परिणमन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। पुरुष के प्रभाव मे आकर प्रकृति विकसित होती है। पुरुष के उद्देश्यो की पूर्ति प्रकृति के तीन विशिष्ट अवस्थाओ मे व्यक्त होने का कारण है :[3] क्योकि प्रकृति एक है और सर्वव्यापक है, इसलिए सब वस्तुओ का आधार प्रकृति है और, एक अर्थ मे, प्रत्येक वस्तु अपने लक्षणो मे अन्य वस्तुओ के साथ साझा रखती है। किन्तु तथ्य यह है कि वस्तुए सब कार्यो को एकसाथ व्यक्त नही करती। विकास का कारण देश, काल, विधि तथा कार्यकारणभाव मे अनुक्रम के एक निश्चित विधान का अनुसरण करता है।[4] हम नही कह सकते कि यह विकास क्यो होता है। हमे इसे केवल स्वीकार करना होता है। प्रकृति जो अपने अन्दर सब वस्तुओ की सम्भाव्यताओ को धारण करती है, विचार के उपकरणो के रूप मे और विचार के विषयो के रूप मे विकसित होती है।

महत्, जो सकल विश्व का कारण है, प्रकृति के विकास मे सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है। यह व्यक्ति की बुद्धि का आधार है। जहा 'महत्' शब्द विश्वीय पक्ष को दर्शाता है, वहा बुद्धि शब्द से, जो इसका पर्यायवाची होकर प्रयुक्त होता है, तात्पर्य तत्समान मनोवैज्ञानिक पक्ष है, जो प्रत्येक व्यक्ति मे रहता है। साख्य मे 'महत्' के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल दिया गया है। बुद्धि के पर्यायवाची शब्दो[5] तथा गुणो—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य—और इनके विपरीतो से यह स्पष्ट है कि बुद्धि को मनोवैज्ञानिक अर्थ मे लेना चाहिए। किन्तु इसकी उपाधियो, यथा महत्, ब्रह्मा आदि, से यह उपलक्षित होता है कि प्रयोग विश्व-सम्बन्धी अर्थ में भी किया गया है।[6] बुद्धि को अशरीरी पुरुष के साथ मिश्रित न करना चाहिए। इसे समस्त मानसिक प्रक्रियाओ का सूक्ष्म द्रव्य माना गया है। यह वह क्षमता है जिससे हम पदार्थों मे भेद करते हे तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते है कि वे क्या हैं। बुद्धि के व्यापार है निश्चय करना तथा निर्णय पर पहुचना। और सब इन्द्रिया बुद्धि के लिए कार्य करती है, जो सीधे पुरुष के लिए कार्य करती है। इस प्रकार पुरुष समस्त जीवन का अनुभव करने योग्य होता है तथा अपने व प्रकृति के अन्दर भेद कर सकता है।

> प्रकृति के अन्य उत्पन्न पदार्थो के समान बुद्धि मे भी तीन गुण है। अपने सात्त्विक रूप मे यह कर्तव्यपालन, ज्ञान-सम्पादन, इच्छा की अधीनता से स्वातन्त्र्य तथा दैवीय शक्तियो मे पहचानी जाती है; अपने राजस रूप मे यह इच्छाओ को उत्पन्न करती है; और अपने तामस रूप मे यह उपेक्षा तथा अज्ञान आदि को उत्पन्न करती है। विज्ञानभिक्षु का कहना है कि सब आत्माएं दैवीय है,[7] यद्यपि उनके अन्त स्थित ऐश्वर्य को रजस् तथा तमस् गुण द्वारा

1 देखिए स्पेंसर : फर्स्ट प्रिंसिपल्स, पृष्ठ 19।

2 प्रकृतिनाश।

3 त्रयाणा त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारण भवति (योगभाष्य, 2 19) इसपर वाचस्पति को भी देखिए।

4 परिणामक्रमनियम।

5. मति, ख्याति, प्रज्ञा, ज्ञान।

6 परवर्ती वेदान्त मे बुद्धि को समष्टिरूप मे हिरण्यगर्भ की उपाधि करके लिया गया है।

7. सर्व एव पुरुषा ईश्वर इति।

प्रकाशट मिलती है।[1] तत्त्वों द्वारा निर्मित सृष्टि से प्रत्ययसर्ग अथवा बौद्धिक सृष्टि भिन्न है, जो चार प्रकार की है, अर्थात् अज्ञान (विपर्यय), अशक्ति, तुष्टि (सन्तोष), और पूर्णता (सिद्धि)। इनके पचास उपविभाग हैं।[2] अज्ञान के पांच प्रकार माने गए हैं, अर्थात् अविद्या, अस्मिता (अथवा अहंभाव), इनमें से प्रत्येक आठ प्रकार का है; राग (इच्छा), जो दस प्रकार का है; द्वेष अभिनिवेश (अथवा भय) जो अठारह प्रकार के हैं। अशक्ति के अट्ठाइस प्रकार हैं, तुष्टि के नौ प्रकार और सिद्धि के आठ प्रकार हैं।

बुद्धि दोनों ही है, नित्य भी और अनित्य भी। यह प्रकृति की कारणावस्था में बीजशक्ति के रूप में अंकुर बनकर विद्यमान रहती है और तब इसके व्यापार प्रकट नहीं होते। जब यह कार्यावस्था में परिवर्तित हो जाती है तो यह बुद्धि कहाती है। विज्ञानभिक्षु इसे कभी असफल न होने वाली तथा सब संस्कारों को धारण करने वाली मानता है।[3] स्मृतियां बुद्धि में संगृहीत रहती हैं, मन अथवा अहंकार में नहीं रहतीं। "सम्यग्ज्ञान द्वारा अहंकार तथा मन के विलय हो जाने पर भी स्मृति शेष रहती है।"[4]

यह स्पष्ट है कि कारिका ने जो व्यापार बुद्धि के बताए हैं वे इसके द्वारा केवल तभी सम्पन्न हो सकते हैं जबकि यह अहंकार के पीछे हो, तथा मन और इन्द्रियों के भी पीछे हो, और ठोस तत्त्वों के समान कोई शेष पदार्थ विद्यमान हो। किन्तु सांख्य का मत है कि प्रथम अवस्था में जब बुद्धि उपस्थित होती है, ये सब उपस्थित नहीं होते। इसलिए हमें इसको विश्व-सम्बन्धी अर्थों में ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् विषयी तथा विषय, प्रत्यक्ष करनेवाले तथा प्रत्यक्ष के विषय में भेद का आधार समझना चाहिए। किन्तु तब हमें एक विश्वात्मा को मानना होगा, जिसे सांख्य स्वीकार नहीं करता। महत् की स्थिति को एक अनिश्चित दशा में छोड़ दिया गया है। बुद्धि प्रकृति के उत्पन्न पदार्थ तथा अहंकार की उत्पादिका के रूप में उस बुद्धि से भिन्न है जो इन्द्रियों, मन तथा अहंकार की प्रक्रियाओं को वश में रखती है। यदि दोनों को एकसमान माना जाए तो प्रकृति के सम्पूर्ण विकास को विषयनिष्ठ मानना पड़ेगा, क्योंकि अहं तथा अनहं दोनों ही बुद्धि से उत्पन्न हैं। इस प्रकार की संदिग्धता प्रकृति के अन्य पदार्थों में भी पाई जाती है।

अहंकार (अहंभाव) अथवा व्यक्तित्व का तत्त्व बुद्धि के पश्चात् उदय होता है। इसके व्यापार के द्वारा भिन्न-भिन्न आत्माओं में से प्रत्येक एक पृथक् मानसिक पृष्ठभूमि से युक्त हो जाती है। हमें यहां पर विश्व-संबन्धी तथा मनोवैज्ञानिक पक्षों में भी भेद करना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, अहं का भाव एक अनहं अथवा प्रमेय विषय (पदार्थ) के बिना असम्भव है। किन्तु विषयनिष्ठ का विकास सांख्य की विकास-संबन्धी प्रकल्पना से अहंकार के उदय के पीछे ही होता है। हमें एक विश्वात्मक अहंकार की संभावना को स्वीकार करना ही होगा, जिसमें से व्यक्तिरूप विषय तथा विषयी उदय होते हैं। अहंकार को भौतिक सामग्री के रूप में लिया गया है, और जहां बुद्धि अपने व्यापार में अधिक ज्ञान-विषयक है वहां अहंकार अधिक क्रियात्मक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, अहंकार

1. सांख्यप्रवचनभाष्य, 2 : 15। और देखिए योगभाष्य, 1 : 2।
2. सांख्यकारिका, 46।
3. सांख्यप्रवचनभाष्य, 2 : 41-42।
4. सांख्यप्रवचनभाष्य, 2 : 42।

का कार्य अभिमान अथवा आत्मप्रेम है। कर्तृत्व का सबन्ध इसके साथ है, आत्मा अथवा पुरुष के साथ नही है।[1] महत् की अहकार के प्रति वही स्थिति है जो चैतन्य की आत्म-चैतन्य के प्रति है। पहला पिछले की तर्क-सबन्धी पूर्वकल्पना है। हम अहकार के अस्तित्व का अनुमान इसके कार्यो से करते है।[2] इसे द्रव्य माना गया है, क्योकि यह अन्य द्रव्यो का उपादान कारण है। पुरुष अहकार के द्वारा ही प्रकृति की क्रियाओ को अपनी क्रियाए समझने लगता है। मन के द्वारा इसे जो सवेदनाए तथा सुझाव मिलते है यह उन्हे आत्मा के अर्पण कर देता है। इस प्रकार यह भावो तथा निर्णयो के निर्माण मे सहायक होता है। अहकार वह नही है जो सार्वभौम चैतन्य को व्यक्तित्व का रूप देता है, क्योकि साख्य के अनुसार व्यक्तित्व पहले ही विद्यमान है। बाह्य जगत् से जो सस्कार आते हैं उन्हे यह व्यक्तित्व प्रदान करता है। जब अहकार पर सत्त्व की प्रधानता होती है तो हम अच्छे कर्म करते है, जब रजस् की प्रधानता होती है तब बुरे कर्म करते है, और जब तमोगुण की प्रधानता होती है तब ऐसे कर्म करते हैं जिन्हे न अच्छे कह सकते हैं, न बुरे। प्रगाढ निद्रा (सुषुप्ति) मे अहकार का कार्य अनुपस्थित रह सकता है, किन्तु इच्छाए तथा प्रवृत्तिया सब रहती है।[3] यह जानना कठिन है कि आत्मभाव महत् अथवा बुद्धि से किस प्रकार उत्पन्न होता है।

गुण अहकार से विकसित होने मे तीन विभिन्न मार्गो का आश्रय लेते हैं, जिनके कारण इसे सात्त्विक, राजस तथा तामस कहा जाता है। अहकार से इसके सात्त्विक (वैकारिक) रूप मे मन, पाचो ज्ञानेन्द्रिया तथा पाचो कर्मेन्द्रिया विकसित होती है, और इसी से इसके तामस (भूतादि) रूप मे पाच सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न होते हैं। राजस (तैजस) रूप दोनो मे अपनी भूमिका अदा करता है और परिणामो मे उपस्थित रहता है।[4] तन्मात्राओ अथवा पाच सूक्ष्म तत्त्वो से, तमस् के आधिपत्य होने से, मूर्तरूप पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। इन सब विकासो मे यद्यपि कोई एक गुण प्रधान रह सकता है, किन्तु अन्य भी उपस्थित रहते हैं, अपने-अपने कार्य करते है और अप्रत्यक्ष रूप मे पदार्थो के विकास मे सहायक होते है।

मन वह इन्द्रिय है जिसका महत्त्वपूर्ण कार्य इन्द्रियो से प्राप्त सामग्री का सश्लेषण करके उन्हे विचार (प्रत्यय) के रूप मे परिणत करना, कार्यो के वैकल्पिक मार्गो का सुझाव देना, तथा इच्छा द्वारा दिए गए आदेशो का कर्मेन्द्रियो द्वारा पालन कराना है। जिस प्रकार बुद्धि तथा आत्मभाव के विषय मे है, उसी प्रकार मन के विषय मे भी इन्द्रिय तथा उसके कर्म मे कोई भेद नही किया गया है। इन्द्रियो को द्वार माना गया

1 साख्यप्रवचनसूत्र, 6 54। विज्ञानभिक्षु छान्दोग्य उपनिषद् का वाक्य उद्धृत करता है, 'बहु स्या प्रजायेय' (मैं अपने अनेक रूप धारण करु, उत्पन्न होऊ)। और इसपर टिप्पणी करता है "तत्त्वो तथा अन्य सबकी रचना से पूर्व अभिमान का अस्तित्त्व है और इस प्रकार इसे सृष्टि रचना का कारण कहा गया है।" (साख्यप्रवचनभाष्य, 1 63)।

2 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 : 63। 3 साख्यप्रवचनभाष्य, 1 63।

4 साख्यकारिका, 24 25। विज्ञानभिक्षु का मत है कि सात्त्विक अहकार मन को उत्पन्न करता है, राजस दस इन्द्रियो को और तामस पाच तन्मात्राओ को उत्पन्न करता है (साख्यप्रवचनभाष्य, 2 18)। अनिरुद्ध प्रचलित मत को स्वीकार करता है कि राजस एक ऐसी दशा है जो समस्त विकास से पूर्व रहती है, और अन्य गुण घटक अवयवो के स्वरूप का निर्णय करते हैं। जहा वाचस्पति का यह मत है कि महत् से अहकार उत्पन्न होता है और अहकार से तन्मात्राए, वहा विज्ञानभिक्षु का मत है कि अहकार का पृथक्करण तथा तन्मात्राओ का विकास ये महत् के अन्दर सम्पन्न होते हैं।

है और मन को द्वाररक्षक कहा गया है।[1] प्रत्यक्ष ज्ञान तथा क्रिया दोनों में ही मन का सहयोग आवश्यक है।[2] भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के सम्बन्ध में यह नाना आकृतियां धारण करता है।[3] मन सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि यह एक यन्त्र है जिसमें गति तथा क्रिया रहती है।[4] यह हिस्सों से मिलकर बना है। क्योंकि इसका सम्बन्ध इन्द्रियों से है। बुद्धि तथा इन्द्रियां नित्य नहीं हैं इस अर्थ में कि एक नित्य विषयी, अर्थात् ईश्वर विद्यमान है जिसके अधिकार में ये सब हैं।[5]

पांचों ज्ञानेन्द्रियां क्रमशः दर्शन, श्रवण, गन्ध, रस और स्पर्श के व्यापार हैं। आवश्यकता कार्य की जननी है। क्योंकि हम इच्छा रखते हैं, इसलिए हम क्रियाओं तथा पदार्थों की रचना उनकी पूर्ति के लिए करते हैं।[6] इन्द्रियां तत्त्वों से नहीं बनी हैं, क्योंकि इन्द्रियां और तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होते हैं।[7] इन्द्रियां नित्य नहीं हैं, क्योंकि उनका उदय तथा विलोप दिखाई देता है। प्रत्येक इन्द्रिय एक गुण को ग्रहण करती है। इन्द्रियां, मन के व्यापारों के समान, दर्शन आदि की इन्द्रियां नहीं हैं।[8] वे सूक्ष्म तथा मूर्तरूप तत्त्वों (भूतों) के निरीक्षण के साधन हैं।[9] कर्मेन्द्रियां जिह्वा, पाद, हस्त, मलत्याग तथा जनन के व्यापार हैं। मन इन्द्रियों सहित उनकी क्रियाओं द्वारा पांच जीवधारक वायुओं को उत्पन्न करता है,[10] जिन्हें वेदान्तदर्शन में एक स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया गया है। सूत्र के मत में प्राण (जीवन) इन्द्रियों का एक परिवर्तित रूप है और उनके अभाव स्थित नहीं रहता।[11]

प्रत्यक्ष के विषयरूप इस जगत् में पांच इन्द्रियों के अनुरूप पांच तन्मात्राएं हैं।[12] ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के सारतत्त्व हैं, जिन्हें भौतिक तत्त्व माना गया है और जो साधारण प्राणियों की दृष्टि के विषय नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक केवल एक इन्द्रिय से संबद्ध है, जबकि मूर्ततत्त्व एक से अधिक इन्द्रियों से सम्बद्ध रहते हैं। इन अदृश्य सारतत्त्वों का अनुमान दृश्यमान पदार्थों से होता है, यद्यपि कहा जाता है कि ये योगियों के प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं।[13] सूक्ष्म तत्त्वों को विशेष (भेद) से रहित कहा गया है, किन्तु उनसे उत्पन्न होने वाले मूर्ततत्त्व एक निश्चित गुण रखते हैं।[14] तन्मात्राएं तब तक इन्द्रियों के

1 सांख्यकारिका, 35। "बुद्धि, अहंकार और मन इनमें सदा सावधानी के साथ भेद नहीं किया जाता। इन्हें आन्तरिक इन्द्रिय (अन्तःकरण) माना जाता है। केवल अवस्थाओं के विविध भेद के अनुसार अन्तःकरण एक और केवल एक ही है; जैसे कि बीज, पौधा या महान् वृक्ष आदि के विषय में है, यह कार्य और कारण के पारस्परिक सम्बन्ध के अन्तर्गत आ जाता है।" विज्ञानभिक्षु 'वायुपुराण' से एक श्लोक इस आशय का उद्धृत करता है : 'मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः' (सांख्यप्रवचनभाष्य, 2 : 16)। और देखिए सांख्यप्रवचनभाष्य, 2 : 40।

2 सांख्यप्रवचनसूत्र, 2 : 26। 3 सांख्यप्रवचनसूत्र, 2 : 27।

4 सांख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 69-70। 5 सांख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 127।

6 तुलना कीजिए महाभारत रूपरागादभूच्चक्षुः : रूप के प्रति मोह के कारण चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई। देखिए महाभारत, शान्तिपर्व, 213, 16।

7 सांख्यप्रवचनसूत्र, 2 : 20।

8 सांख्यप्रवचनसूत्र, 2 : 23।

9 सांख्यकारिका, 34।

10 सांख्यप्रवचनसूत्र, 2 : 31। 11. 5 : 113।

12 केवल वही। देखिए प्रश्नोपनिषद्, 4 : 8। तुलना कीजिए एम्पिडोक्लीज़ कृत तत्त्वों के तत्त्व की प्रकल्पना के साथ।

13 तत्त्वकौमुदी, 5।

14 तुलना कीजिए इसकी छान्दोग्य उपनिषद् के इस मत से (6 : 4) कि मूर्त तत्त्वों की उत्पत्ति तीन तत्त्वों के परस्पर मिलने से होती है, और मूर्त तत्त्वों को उनके अन्दर जिस तत्त्व की

लिए उत्तेजक नही बन सकती जब तक कि वे परमाणुओ का निर्माण करने के लिए एक-दूसरे मे सयुक्त न हो जाए। तमोगुण से आक्रान्त भूतादि अथवा अहकार सर्वथा समाग व निष्क्रिय होता है तथा पुञ्ज होने के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के लक्षणो से रहित होता है। रजोगुण के सहयोग से यह परिवर्तित होकर सूक्ष्म द्रव्य, कम्पनशील, तेजोमय और शक्ति से परिपूर्ण हो जाता है, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध की तन्मात्राए उदय होती हैं। भूतादि तथा तन्मात्राओ के मध्य आकाश सक्रमण की कडी बनता है। कारणाकाश, जो आणविक नही है और सर्वव्यापक है, तथा कार्याकाश अथवा आणविक आकाश, जो भूतादि अथवा पुञ्ज इकाइयो और शब्द के सारतत्त्वो के मेल से बना है, इनमे भेद किया गया है। शब्द के सारतत्त्व कारणाकाश मे रुके हुए रहते है तथा वायु के अणुओ के विकास के लिए माध्यम बनते हैं।[1] व्यासभाष्य के अनुसार, शब्द की तन्मात्रा उत्पन्न होती है अहकार से और अहकारयुक्त शब्द की तन्मात्रा से स्पर्श की तन्मात्रा उत्पन्न होती है, जिसमे शब्द और स्पर्श के गुण विद्यमान रहते है, और आगे भी इसी प्रकार अन्य तन्मात्राए उत्पन्न होती है तथा प्रत्येक उत्पत्ति मे एक गुण जुडता जाता है।

गौडपाद तथा वाचस्पति के मत मे मूर्त तत्त्वो की उत्पत्ति एकत्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा सूक्ष्म तत्त्वो के गुणन से होती है। नि सन्देह इसमे यह कठिनाई है कि इस मत से ईथर को, जिसमे केवल एक ही गुण श्रवण-योग्यता का है, अनुरूप सूक्ष्म तत्त्व के मूर्ततत्त्व के रूप मे नही रखा जा सकता।[2] वाचस्पति का मत है कि ईथर का अणु अन्य सारतत्त्व से उत्पन्न होता है, वायु का अणु शब्द और स्पर्श दोनो के सारतत्त्वो से, जिनमे स्पर्श का सारतत्त्व मुख्य है, उत्पन्न होता है, प्रकाश का अणु शब्द, स्पर्श तथा रूप की तन्मात्राओ से, जिनमे रूप की तन्मात्रा मुख्य है, उत्पन्न होता है, जल का अणु चार तन्मात्राओ से, तथा पृथ्वी का अणु पाच तन्मात्राओ से उत्पन्न होता है, जिनमे क्रमश रस और गन्ध की तन्मात्राए मुख्य है।[3] विज्ञानभिक्षु का मत इससे कुछ भिन्न है। ईथर का अणु, भूतादि की सहायता से, ईथर की तन्मात्रा से उत्पन्न होता है।[4]

जब मूर्त अणु परस्पर मिलते है तो उनके गुण उनसे उत्पन्न पदार्थों मे पाए जाते हैं, और इस प्रकार वे किसी तत्त्वान्तर को उत्पन्न नही करते।[5] आकाश के अणु मे अन्त प्रवेश की शक्ति रहती हे, वायु के अणु मे यान्त्रिक दवाव, प्रकाश के अणु मे ज्योतिष्मान उष्णता तथा प्रकाश, जल के अणु मे लसदार आकर्षण तथा पृथ्वी के अणु मे स्निग्ध आकर्षण रहता है। मूर्त अणुओ के सयोग से पृथ्वी तत्त्व उत्पन्न होता है।

अपेक्षाकृत बडे अनुपात मे उपस्थिति रहती है उसी के अनुसार विशेष नाम दिया जाता है। वेदान्त के एक मत क अनुसार, प्रत्यक तत्त्व मे एक तत्त्व का आधा तथा अन्य चार तत्त्वो का आठवा हिस्सा सम्मिलित रहता है।

1 देखिए सील पौजिटिव साइन्सेस आफ दि हिन्दूज।

2 देखिए तैत्तिरीय उपनिषद्, 2 1। 3 तत्त्ववैशारदी, 1 44।

4 योगवार्तिक, 1 45। नागेश भूतादि की इस सहकारिता का विस्तार समस्त अणुओ तक करता है। सर्वत्र तन्मात्रेस्तत्तद्भूतोत्पादानेऽहकारस्य सहकारित्व वोध्यम्।

5 अविशेष से विशेष के विकास को तत्त्वान्तरपरिणाम कहा गया है। यह केवल गुणो के परिवर्तन, अर्थात् धर्मपरिणाम से भिन्न है।

तन्मात्राओं की सुख तथा दुःख के अनुभव को उत्पन्न करने की योग्यता तब तक प्रत्यक्ष का विषय नही बनती जब तक कि वे तन्मात्राओं के रूप में रहती हैं। क्योंकि यह मूर्त अणुओं की अवस्था मे पहचानी जा सकती है, इसलिए मूर्त तत्त्वों में ही शान्त, घोर और मूढ का भेद किया जाता है। पृथ्वी आदि के अणु, गुणों के नानाविध परिवर्तनों के द्वारा, विश्वात्मक सत्ता के नानाविध रूप प्रतीत होते हैं। वस्तुओं में कोई आन्तरिक भेद नही है, क्योंकि वे सब एक ही सामग्री से बनी हुई हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की सभाव्यता प्रत्येक वस्तु के अन्दर है,[1] इसलिए परिवर्तन सदा पुरुष के निमित्त होता है। मूर्त अणु[2] निर्जीव (जड) तथा सजीव शरीरो की रचना करते हैं, और एक से दूसरे के विकास मे तारतम्य कभी भग नही होता। जड़, वनस्पति तथा पशुजगत ये तीन स्थितियां विकास मे रहती हैं, जो घटक अवयवो के केवल गुणों के परिवर्तन से लक्षित होती हैं,[3] किन्तु घटक अवयवो के अपने अन्दर परिवर्तन नही होते। भिन्न-भिन्न गुणों की अभिव्यक्ति अणुओं की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं के कारण होती है। साधारणतः चार प्रकार के स्वीकृत शरीरो मे सांख्य दो और जोडता है, एक इच्छा से उत्पन्न (सांकल्पिकम्) और कृत्रिम (सासिद्धिकम्) पृथिवी इन सब शरीरो का उपादान कारण है,[4] यद्यपि अन्य तत्त्व सहायक के रूप मे विद्यमान रहते हैं। मूर्त शरीर पांच तत्त्वो से मिलकर बना है, यद्यपि कुछ के मत मे ईथर आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार कुछ का मत यह भी है कि केवल मात्र पृथिवी ही पर्याप्त है। यह भी कहा जाता है कि जहां मनुष्य के शरीर मे पृथ्वी तत्त्व सबसे प्रधान है, वहां सूर्य में प्रकाश तत्त्व (तेजस्) की प्रधानता रहती है।[5]

तीन गुणो से निर्मित प्रकृति तथा तज्जन्य पदार्थ अविवेक, विषय (प्रमेय), अनेको पुरुषो के लिए सामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मी कहलाते है।[6] प्रत्येक विकसित पदार्थ परवर्ती पदार्थ से सूक्ष्मतर तथा पूर्ववर्ती पदार्थ से स्थूलतर होता है। प्रकृति से लेकर पच भूतो तक की शृङ्खला संख्या मे चौबीस हैं, और पुरुष को सांख्य दर्शन का पच्चीसवां तत्त्व कहा गया है।[7] प्रकृति से उद्भूत तेईस तत्त्व कार्य हैं क्योंकि वे प्रकृति और पुरुष से भिन्न हैं, परिमित परिमाण के हैं और उनमें प्रधान के गुण रहते हैं, जैसेकि वृद्धि तथा आत्मसात् कर लेने की शक्ति, और ये तेईस तत्त्व पुरुष के साधनरूप

1 योगभाष्य, 3 · 14।

2 क्योंकि वे भिन्न-भिन्न प्रकार के तन्मात्रो को घटक अवयवो के रूप मे धारण करते हैं, इसलिए मूर्त अणुओं को वैशेषिक के परमाणुओ के समान नही समझा जा सकता। तन्मात्राए, जिनके हिस्से नही होते, वैशेषिक के परमाणुओ की तुलना में अदृश्य हैं।

3 धर्मपरिणाम।

4. 5 : 112।

5. 3 : 17-19। साख्यप्रवचनभाष्य, 3 : 19।

6. साख्यकारिका, 11।

7.

(1) पुरुष
|
(2) प्रकृति (अव्यक्त) = व्यक्त

(3) बुद्धि	10) मन
(4) अहकार अथवा अहभाव	(11-15) पाच ज्ञानेन्द्रिया
(5-9) शब्द, स्पर्श, गन्ध, रूप (अथवा रंग) और रस की तन्मात्राए	(16-20) पाच कर्मेन्द्रिया
	(21-25) पाच मूर्त तत्त्व, अर्थात् ईथर, वायु, तेज, जल और पृथिवी

बनते है ।[1] ससार की सब वस्तुए प्रकृति की विकृतिया है । प्रकृति की स्थिति विकृतियो के प्रति वैसी हैं जैसीकि मूलभूत द्रव्य की अपने परिवर्तित रूपो के प्रति होती है। महत् अहकार और पच तन्मात्राए कुछ के कार्य तथा कुछ के कारण है। पञ्चभूत तथा ग्यारह इन्द्रिया केवल कार्य हैं, औरो के कारण नही हैं। जहा प्रकृति केवल कारण है, वहा ग्यारह उत्पन्न पदार्थ केवल कार्य हैं। पदार्थो मे से सात कारण भी है और कार्य भी है, जबकि पुरुष न कार्य है, न कारण है ।[2]

> विकास से उत्पन्न ये पदार्थ जो अपने समान अन्य पदार्थो को उत्पन्न करने मे समर्थ है, अविशेष कहलाते हैं; और जो अपने सदृश अन्य पदार्थो को उत्पन्न करने मे समर्थ नही है वे विशेष कहलाते है। जब अहकार तन्मात्राओ को उत्पन्न करता है, तो हम सूक्ष्म तत्त्वो मे अहकार की विद्यमानता का सहूलियत के साथ पता नही लगा सकते। अहकार से जा उत्पन्न होता है वह एक सर्वथा भिन्न सत्ता प्रतीत होता है, और इस प्रकार के परिवर्तन को 'तत्त्वान्तर-परिणाम' कहा जाता है। इन्द्रिया तथा मूर्त तत्त्व किसी सर्वथा भिन्न सत्ता को उत्पन्न नही कर सकते। इस प्रकार जहा अहकार विशेष है, वहा इन्द्रिया आदि अत्यधिक विशेप है ।[3]

विकास केवलमात्र उसका व्यक्त हो जाना है जिसका अस्तित्व पहले से सम्भाव्यता के रूप मे विद्यमान था। प्रारम्भ तथा अन्त का एक समान निर्णय होता है। उन वस्तुओ के बावजूद जिन्हे प्रकृति उत्पन्न करती है, प्रकृति के द्रव्य मे न्यूनता नही आती। पदार्थो की उत्पत्ति से परिणमन का स्रोत नि शेप नही होता। कोई भी भौतिक पदार्थ अपनी अतर्हित शक्ति के कुछ भाग के व्यय किए बिना, कार्य नही कर सकता। इसलिए प्रकृति स्वरूप से विशुद्ध भौतिक मानना कठिन है।

साख्य द्वारा प्रस्तुत विकास के विवरण की ठीक-ठीक सार्थकता को समझना कठिन है। और हमे कोई सन्तोषजनक व्याख्या इस विषय मे नही दिखाई दी कि विकास के जो विभिन्न डग हैं वे ऐसे क्यो है।

साख्यदर्शन के विभिन्न तत्त्व तार्किक अनुमान के द्वारा प्रकृति से नही प्राप्त किए जा सकते, और वे उससे उत्पन्न पदार्थो के रूप मे ऐतिहासिक सयोगो के कारण रखे गए लगते है। इन पदार्थो का एक प्रकृति से तर्कपूर्ण विकास नही हुआ है। विज्ञानभिक्षु इस दोप से आभज्ञ है और इसीलिए यह हमे साख्य के विकास-विपयक विवरण को शास्त्र के प्रमाण के आधार पर स्वीकार करने की सम्मति देता है ।[4] किन्तु यह दार्शनिक व्याख्या की सम्भावना को छोड बैठना है।

1 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 129 134 , साख्यकारिका, 15 ।

2 साख्यकारिका 3। तुलना कीजिए इरिजेना वह जो सृष्टिरचना करता है किन्तु स्वय अजन्मा है, वह जो रचना करता है और स्वय भी उत्पन्न हुआ है, वह जिसकी रचना हुई है और जो रचना करता नही है , और वह जिसकी न तो रचना हुई और न जो रचना करता है" (डी, डिवीजन नैचुरी, लाइब्रेरी 5)। देखिए गर्भोपनिपद 3।

3 देखिए योगभाष्य, 2 19 जहा तन्मात्राओ तथा व्यक्तित्व के भाव को महत् के अविशेप रूप बताया गया है, जबकि पाचो तत्त्व तन्मात्राओ के विशेप रूप हैं और पाच ज्ञानेन्द्रियो तथा पाच कर्मेन्द्रिया और मन को 'अस्मिता' के विशेप रूप कहा गया है।

4 अत प्रकृतेमहान् महतोऽहकार इत्यादि सृष्टिक्रमे शास्त्रमेव प्रमाणम (साख्यसार) और देखिए जयन्तभट्ट न्यायमजरी, पृष्ठ 452 466 ।

बुद्धि, अहंकार, मन तथा औरों को विकास की क्रमशः आगे-पीछे आनेवाली स्थितियों की शृंखला नहीं मानना चाहिए। ये विकसित आत्माओं के तार्किक विश्लेषण के परिणाम हैं। वाचस्पति लिखता है : "प्रत्येक मनुष्य पहले अपनी बाह्य इन्द्रियों का प्रयोग करता है। फिर वह (मन से) विचार करता है, फिर वह नानाविध प्रमेय विषयों को अहंकार के समक्ष प्रस्तुत करता है, और वह अन्त में बुद्धि के द्वारा निश्चय करता है कि क्या करना है।"[1] जहां यह विश्लेषण विषयी (जीवात्मा) के पक्ष में इन भिन्न-भिन्न तत्त्वों की प्रत्यभिज्ञा का स्पष्टीकरण करता है, वहां विश्वस्तर पर इन तत्त्वों के कार्य ठीक-ठीक क्या होंगे, इसे समझने में हमें इससे कुछ सहायता नहीं मिलती। विश्व-सम्बन्धी योजना का निर्माण मानवीय आत्मा के सादृश्य पर किया गया है; क्योंकि मनुष्य विश्व का एक संक्षिप्त रूप है, जिसमें एक छोटे पैमाने पर यथार्थसत्ता के सब घटक अवयवों को दोहराया गया है। क्रम से आनेवाली जागरितावस्था तथा स्वप्नावस्था के अनुरूप हमें संसार की रचना तथा संहार को समझना चाहिए। सुषुप्ति अवस्था में आत्मा विद्यमान है, यद्यपि यह संसार का बोध नहीं प्राप्त करती। इसी प्रकार संसार के प्रलय में आत्माएं नष्ट नहीं होतीं, यद्यपि प्रकृति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जब कोई मनुष्य प्रगाढ़ निद्रा से उठता है और कहता है कि "मैं अच्छी तरह से सोया, मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ," तो यह 'कुछ नहीं' अनात्म अथवा अव्यक्त प्रकृति है जिससे कुछ का भाव उत्पन्न होता है। प्रकृति की उस अवस्था को जब यह निष्क्रिय रहती है, जीवात्मा की सुषुप्ति अवस्था के सदृश समझना चाहिए। जब कोई उक्त अवस्था से उठता है तो पहले चैतन्य का भाव उदय होता है, उसके तुरन्त बाद अहं का भाव आता है तथा इच्छा की बेचैनी आती है। इन्द्रियां तथा शब्द, स्पर्श आदि के पांच तत्त्व इसके बाद क्रिया करने लगते हैं। मूर्त तत्त्वों का ज्ञान मनुष्य को तभी होता है जब वह जागा हुआ होता है। जब आत्मा का मुकाबिला अनात्म के साथ होता है, तो चैतन्य अथवा बुद्धि शून्य आकाश में पहली चमक है, जो उदय होती है। आत्मा को पता लगता है कि कुछ है। इसके पश्चात् इसे अनात्म के भेद से अपने व्यक्तित्व की चेतना होती है। इसको यह अनुभव होता है कि "मैं पदार्थ को प्रत्यक्ष देखता हूं।" तब हमें मालूम होता है कि प्रमेय (पदार्थ) एक मानसिक अवस्थाओं की शृंखला है जो मन के द्वारा संश्लिष्ट हुई है और तत्त्वों से मिलकर बनी है।[2] सांख्य की विकास की पूरी

1 तत्त्वकौमुदी, 23।

2 सर आर० जी० भण्डारकर सांख्य की विकास-सम्बन्धी प्रकल्पना का निम्ने द्वारा किया गया स्पष्टीकरण देते हैं। जो व्यक्ति अपनी चेतना में हो रहे व्यापार को साक्षात् जानता है, वह कुछ ऐसी संवेदनाओं से अभिज्ञ होता है जिनका उत्पन्न करने वाला वह नहीं है। वह इसलिए एक बाह्य प्रकृति की धारणा कर लेता है। इसकी यथार्थता चैतन्य की स्वतन्त्र क्रिया की मर्यादाओं से प्रमाणित होती है। "चैतन्य की अवस्था में जब 'मैं' अपने आपको परिमित अनुभव करता है, तो बुद्धि सबसे पूर्व 'मैं' को पुष्टि करती है और तब 'मैं से भिन्न' के साथ विरोध में आती है। 'मैं' की ससीमता से उसकी पहले की स्वतन्त्रता अथवा असीमता उपलक्षित होती है।" इस प्रकार हमारे समक्ष सीमित अहं, अनहं, परिमितता और परम आत्मा आते हैं। सांख्य का अहंकार सीमित अहं से सम्बद्ध है। सूक्ष्म और मूर्त तत्त्व तथा उनकी प्रतिरूप इन्द्रियां, जिन्हें अहं से उत्पन्न बताया गया है, अनहं के अनुरूप हैं। स्वतन्त्र, अनन्त, परम आत्मा, पुरुष है और इसकी सीमाएं अनहं के बन्धन से हैं। लेकिन क्योंकि सर्वथा स्वतन्त्र पुरुष सीमाओं का उद्भवस्थान नहीं हो सकता, इसलिए सांख्य एक विशिष्ट कारण के अस्तित्व को स्वीकार करता है, जो स्वरूप में अनन्त है, और जिसकी सान्तता का कारण, अनन्त अहं के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण, अहं अज्ञान से अपने को मानता है। देखिए इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू, 2। पृष्ठ 200 से आगे।

योजना व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अनुभव के आधार पर स्थित है। किन्तु मनोवैज्ञनिक से तत्त्व-विज्ञान-सम्बन्ध सक्रमण के मध्य मे यह ऐतिहासिक तथ्य आ गया कि उपनिपदो मे आत्मचैतन्य युक्त ब्रह्मा परमचैतन्य का सबसे प्रथम विकसित रूप बताया गया है। महत् के प्रकृति से प्रथम उत्पन्न होने का विचार कठ उपनिषद् मे दिए गए अव्यक्त से महान आत्मा के विकास के विचार से मिलता है।[1] महत् प्रकृति ह, जो चैतन्य से प्रकाशित होता है। उपनिपदो मे हमे हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मा का विचार मिलता है, जो विश्वात्मा है और जिसका उद्भव अशरीरी ब्रह्म से हुआ बताया गया है। एकमात्र उपाय, जिसकी प्रकृति से महत् के उत्पन्न होने का विचार समझाया जा सकता है, वेदान्त की स्थिति को स्वीकार कर लेना ही है। विषय (प्रमेय) तथा विषयी (प्रमाता) से दूर सर्वोपरि ब्रह्म विद्यमान है। जैसे ही इसका विपय से सम्बन्ध होता है, यह विपयी बन जाता है, जिसके सामने एक विषय होता है।[2] जहा सर्वोपरि ब्रह्म का स्वरूप विशुद्ध चैतन्य है, वहा प्रकृति का चैतन्य-शून्यता है; और जब दोनो परस्पर मिलते हैं तो ये चेतन तथा जड का समागम है, अर्थात विपय-विषयी है और यही महत् है। यहा तक कि असत् भी सम्भाव्य सत् है अथवा सभाव्य चैतन्य है। ज्यो ही विपयी अपने को विषय से विरोध स्वभाव का पाता है, इसमे अहभाव का विचार विकसित होता है। पहले बद्धि है और उसके पश्चात अहभाव। अहभाव का विचार सृष्टिरचना के पूर्व आता है। "मैं अनेक हो जाऊगा, मैं प्रजनन करूगा।"[3] साख्य प्रकल्पना की अस्पष्टता इस तथ्य के कारण है कि एक मनोवैज्ञानिक विवरण को एक तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी कथन के साथ मिश्रित कर दिया गया है। मनोवैज्ञानिक सामग्री को प्रस्तुत करने की व्यवस्था आवश्यक नही है कि यथार्थ विकास की भी व्यवस्था हो जब तक कि विषयी परम निरपेक्ष तथा सर्वोपरि नही है। साख्य अपनी पूर्वकल्पित धारणाओ के साथ उपनिषदो से लिए गए विचारो को मिला देता है, जो तात्त्विक रूप से इसके लिए विजातीय हैं।

8 देश और काल

विश्व के विकास का प्रत्येक व्यापार क्रियाशीलता, परिवर्तन अथवा गति (परिस्पन्द) के लक्षण से युक्त होता है।[4] सब वस्तुए वृद्धि तथा क्षय के अनन्त परिवर्तनो मे से गुजरती है। क्षण-भर मे समस्त विश्व परिवर्तन मे से गुजर जाता है। व्यावहारिक जगत् मे देश और काल परिमित प्रतीत होते है और आकाश से उत्पन्न हुए कहे जाते है, जबकि यह देश मे सहास्तित्व वाली वस्तुओ तथा काल मे गति करते हुए भौतिक पदार्थो से आबद्ध रहता है।

विज्ञानभिक्षु कहता है "नित्य देश और काल, प्रकृति के रूप के हैं, अथवा

1 3 11।

2 तुलना कीजिए, बृहदारण्यक उपनिषद, 1 4, 2 ईक्षाचक्रे (उसने चारो ओर देखा)। छान्दोग्य उपनिषद 6 2 2, तदैक्षत (उसे उसने देखा)। तुलना कीजिए भागवत "जिसे व चित्त अथवा मन के नाम से घोषित करते हैं, जो वासुदेव अर्थात विष्णु कहलाता है वह महत से बना है।" यदाहुर्वासुदेवाख्य चित्त तन्महदात्मकम् (3 26, 21)। देखिए साख्यप्रवचनभाष्य, 6 66।

3 छान्दोग्य उपनिषद 6 2 3।

4 व्यक्त सक्रिय परिस्पन्दवत, 'तत्त्वकौमुदी', 10। और देखिए योगभाष्य, 3 13।

आकाश के आदिकारण हैं, और प्रकृति के केवल विशिष्ट परिवर्तित रूप हैं। इस प्रकार देश और काल की सार्वभौमिकता सिद्ध हो जाती है। किन्तु ये देश और काल, जो परिमित हैं, एक न एक उपाधि से युक्त होकर आकाश से उत्पन्न होते हैं।"[1] सीमाबद्ध देश और काल स्वयं आकाश हैं, जो एक न एक उपाधि से विशिष्ट होते है, यद्यपि वे इसके कार्य कहे जाते है। देश और काल *अपने-आपमें अमूर्तभावात्मक हैं। वे द्रव्य नही हैं,* जैसाकि *न्याय-वैशेषिक* का विचार है, बल्कि प्रकृति के विकास की घटनाओं को बांधकर रखने वाले संबंध हैं। घटनाओ की स्थिति देश और काल से सम्बद्ध है। हमें अनन्त देश तथा अनन्त काल का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता, और इसलिए उनकी रचना हमारे समझने पर है। प्रत्यक्ष के विषय उन पदार्थों से जो परस्पर आगे व पीछे के सम्बन्ध से रहते है, हम विकास के मार्ग के प्रदर्शनार्थ एक अनन्त काल की व्यवस्था की रचना करते हैं। व्याम कहते हैं : "जिस प्रकार परमाणु द्रव्य की न्यूनतम सीमा है, उसी प्रकार क्षण काल की न्यूनतम सीमा है,[2] अथवा एक गतिमान परमाणु को एक बिन्दु को छोडने तथा दूसरे बिन्दु तक पहुंचने में जो समय लगता है वही क्षण है। किन्तु इनका निरन्तर प्रवाह एक क्रम है। क्षण और उनके क्रम एक यथार्थ वस्तु के अन्दर नही संयुक्त हो सकते। इस प्रकार काल, इस विशेष प्रकृति का होने से, किसी यथार्थ वस्तु के साथ तुलना नही खाता, बल्कि यह मन से उत्पन्न है, और प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा शब्दों का परिणाम है।"[3] किन्तु क्षण विषयनिष्ठ है और क्रम उसका आधार है।[4] क्रम का सार-तत्त्व है क्षणों की अबाधित शृंखला, जिसे विशेषज्ञ विद्वान् काल कहते हैं। दो क्षण एक साथ नही हो सकते, क्योंकि यह असम्भव है कि दो ऐसी वस्तुओं का जो एक साथ होती हैं, क्रम बन सके। जब अगला क्षण पहले क्षण के पीछे आता है तब क्रम बनता है। इस प्रकार वर्तमान काल मे एक ही क्षण होता है, आगे आनेवाला या पीछे का क्षण नहीं रहता। और इस प्रकार उनका एकत्रीकरण नहीं हो सकता। किन्तु उन क्षणों को जो भूतकाल मे विद्यमान थे या भविष्य मे होंगे, परिवर्तनों के अन्तर्गत समझना चाहिए। तदनुसार समस्त जगत् प्रत्येक क्षण मे परिवर्तन मे से गुजर जाता है।[5] इस प्रकार जगत् के ये समस्त बाह्य रूप इस वर्तमान क्षण के सापेक्ष हैं।[6]

यह जगत् न यथार्थ है और न अयथार्थ है। यह मनुष्यशृंग की भाति अयथार्थ नही है, और यथार्थ भी नही है क्योंकि इसका विलोप हो जाता है।[7] तो भी इसे ऐसा न मानना चाहिए कि इसका वर्णन नही हो सकता, क्योंकि ऐसी वस्तु की सत्ता नही

1 सांख्यप्रवचनभाष्य, 2 : 12, 2 : 10।

2 योगभाष्य, 3 52।

3 स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माण· शब्दज्ञानानुपाती (योगभाष्य)।

4 क्षणस्तु वस्तुपतित. क्रमावलम्बी।

5 तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोक परिणाममनुभवति।

6 इस प्रकार योगी प्रत्यक्ष रूप में क्षणों और उनके क्रम दोनों को देख सकते हैं (योगभाष्य, 3 52)।

7 सांख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 52-53।

हो सकती ।[1] साख्य उस मत का प्रत्याख्यान करता है जो यह मानता है कि यह जगत् उसका प्रतिबिम्ब है जिसका अस्तित्व नही है ।[2] और न यह जगत् केवल विचार-मात्र ही है ।[3] यह जगत् प्रकृति के, अपने नित्यरूप मे विद्यमान रहता है और अपने अस्थायी परिवर्तित रूपो मे विलुप्त हो जाता है ।[4] परिवर्तनो के अधीन होने के कारण इस जगत की प्रतीयमान यथार्थसत्ता है ।[5] विश्व-सम्बन्धी प्रक्रिया स्वभाव मे दो प्रकार की है, रचनात्मक तथा विनाशात्मक । मूल प्रकृति मे से भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओ के व्यक्त होने का नाम रचना है और उनके विश्लिष्ट होकर मूल प्रकृति मे विलीन हो जाने का नाम विनाश हे । प्रकृति की साम्यावस्था मे विक्षोभ होने के परिणामस्वरूप विश्व अपने *भिन्न-भिन्न तत्त्वो के साथ विकसित होता है, और युग की समाप्ति पर पदार्थ विपरीत* गति द्वारा विकास की अपनी पूर्वस्थिति मे लौट जाते हैं और अन्त मे प्रकृति मे विलीन हो जाते हैं । प्रकृति तब तक इसी दशा मे रहती है जब तक कि नये विश्व के विकसित होने का समय नही आता । विकास तथा पुनर्विलय का यह चक्र अनादि तथा अनन्त है । प्रकृति का यह नाटक कभी किसी जीवात्मा के मोक्ष लेने से समाप्त नही होता,[6] *यद्यपि मुक्तात्माओ पर प्रकृति की क्रिया का कोई असर नही होता । यद्यपि प्रकृति एक* ही है, और सब पुरुषो के लिए समान है, तो भी वह अनेक मार्गो से अपने को व्यक्त करती ह । बन्धन मे पडी हुई आत्माओ के लिए यह अपने को सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम आकृतियो मे विकसित करती है, और मुक्तात्माओ के लिए यह पश्चाद्गति से विलय होते होते अपनी मूल स्थिति मे पहुच जाती है । जिस समय तक दर्शक रहते हैं, प्रकृति *का नाटक भी चलता रहता है । सब आत्माए मोक्ष लाभ कर लेती हैं, तब नाटक* समाप्त हो जाता है और नाटक के पात्र भी विश्राम प्राप्त कर लेते है ।[7] लेकिन क्योकि ऐसी आत्माए बराबर रहेगी जो प्रकृति की उलझन मे से बच निकलने के लिए सघर्ष कर रही हैं, इसलिए प्रकृति की क्रिया की निरन्तर रहने वाली सगीतलहरी बराबर बनी रहेगी । ससार अपने लक्ष्य तक कभी नही पहुचेगा ।[8] क्योकि विलय की दशा एक साधारण दशा है, *इसलिए विकास काल मे भी विलय की ओर जाने की* प्रवृत्ति बराबर पाई जाती है । जब सब पुरुषो की इच्छाओ को ऐसी आवश्यकता होती है कि समस्त अनुभव कुछ समय के लिए रुक जाए, तो प्रकृति अपनी शान्त दशा मे लौट आती है । गण इतनी सूक्ष्मता के साथ विरुद्ध है कि कोई भी सर्वप्रधान नही होने पाता । इस प्रकार वस्तुओ की तथा गुणो की कोई नई पीढी नही बनती । प्रलय की अवस्था तक भी पुरुषो के हित की सिद्धि के लिए है । प्रलय की अवस्था मे प्रकृति निष्क्रिय नही रहती, यद्यपि इसके परिवर्तन समाग होते है ।

1 साख्यप्रवचनसूत्र 5 54 ।
2 साख्यप्रवचनसूत्र, 5 55 ।
3 साख्यप्रवचनसूत्र 1 42 ।
4 सदसत्ख्यातिबाधाबाधात (साख्यप्रवचनसूत्र 5 56) ।
5 साख्यप्रवचनभाष्य 1 26 ।
6 साख्यप्रवचनसूत्र 3 66 ।
7 साख्यकारिका 58 59 साख्यप्रवचनसूत्र, 3 63 ।
8 योगसूत्र 2 22, साख्यप्रवचनभाष्य 2 4, साख्यप्रवचनभाष्य 1 159 1 67 6 68 69 ।

9. पुरुष

समस्त इन्द्रियधारी प्राणियों में आत्मनिर्णय का एक तत्त्व विद्यमान है जिसे सामान्यतः 'आत्मा' नाम दिया गया है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी के अन्दर, जिसमें जीवन है, आत्मा विद्यमान है; और भिन्न-भिन्न आत्माएं मौलिक रूप में स्वरूप से एक समान हैं। भेद जो प्रतीत होते हैं वे भौतिक संस्थानों के कारण हैं, जो आत्मा के जीवन को मलिन और व्यर्थ करते हैं। उक्त मलिनता का नानाविध श्रेणीविभाग उन शरीरों के स्वभाव के कारण है जिनमें आत्माओं का निवास है। जिस तत्त्व से भौतिक संस्थानों का उद्‌भव हुआ, आत्माओं का उस तत्त्व से सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार सांख्य शान्त जीवन की आकस्मिक घटनाओं से उन्मुक्त तथा काल और परिवर्तनों से ऊपर उठे हुए पुरुषों के अस्तित्व का प्रतिपादन करता है। इस विषय में चेतावनी की साक्षी है कि यद्यपि व्यक्ति एक अर्थ में एक विशिष्ट तथा परिमित शक्ति वाला प्राणी है, जो मरणशीलता-सम्बन्धी समस्त आकस्मिक घटनाओं तथा परिवर्तनों के अधीन है, तो भी उसके अन्दर ऐसा कुछ अवश्य है जो उसे इन सबसे ऊपर उठाता है। यह न तो मन है, न जीवन है, न शरीर है, बल्कि मौन, शान्त सूचना देनेवाली (साक्षीरूप) एवं सभाले रखने वाली आत्मा है, जो इन सबको धारण करती है। जब संसार के तथ्यों पर हम ज्ञानवाद-सम्बन्धी दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो हमें एक ओर विषयी (प्रमाता) और दूसरी ओर विषय (प्रमेय) का वर्गीकरण मिलता है। किसी भी प्रमाता तथा किसी भी प्रमेय के मध्य जो सम्बन्ध है वह बोध-विषयक अथवा, विस्तृत रूप में, अनुभव-विषयक है। ज्ञान प्राप्त करने वाले को सांख्य पुरुष मानता है और ज्ञात विषय को प्रकृति।

पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सांख्य अनेक युक्तियां देता है :[1] (1) वस्तुओं का पुञ्ज किसी दूसरे के लिए होता है। गौडपाद कहता है कि जैसे एक शय्या, जो हिस्सों से मिलकर बनी है, उस मनुष्य के लिए है जो उस पर सोता है, इसी प्रकार "यह संसार, जो पांच तत्त्वों का संग्रह है, अन्य के उपयोग के लिए है; एक आत्मा है जिसके सुखोपभोग के लिए यह उपभोग्य शरीर, बुद्धि इत्यादि सहित, उत्पन्न किया गया है" (2) समस्त जानने योग्य पदार्थों में तीन गुण रहते हैं और इससे उनके एक द्रष्टा आत्मा की, जो स्वयं गुणों से रहित है, पूर्वकल्पना होती है, (3) एक ऐसी अधिष्ठातृ शक्ति का, एक विशुद्ध चेतना का होना आवश्यक है, जो समस्त अनुभवों का समन्वय करने वाली हो। (4) क्योंकि प्रकृति बुद्धिशून्य है, इसलिए प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का अनुभव करने वाला कोई अवश्य होना चाहिए। (5) कैवल्य (मोक्ष) के लिए पुरुषार्थ किया जाता है, जो इस विषय का उपलक्षण है कि पुरुष का अस्तित्व है, जो प्रकृति से विरुद्ध गुणों वाला है। जीवन की अवस्थाओं से छुटकारा पाने की उत्कट अभिलाषा का यही तात्पर्य है कि ऐसा कोई यथार्थसत्तावान् अवश्य है, जो छुटकारा दिला सकता है।

आत्मा अथवा विषयी रूप चैतन्य का स्वरूप क्या है? यह शरीर नहीं है। चैतन्य तत्त्वों से उत्पन्न पदार्थ नहीं है, क्योंकि यह उनके अन्दर अलग-अलग विद्यमान

1. सांख्यकारिका, 17, सांख्यप्रवचनसूत्र, 1 : 66; योगसूत्र, 4 : 24।

नही है, इसलिए उन सबमे एक साथ भी नही हो सकता।[1] यह इन्द्रियो से भिन्न है,[2] क्योंकि इन्द्रिया दर्शन के साधन हैं, किन्तु द्रष्टा नही है। इन्द्रिया बुद्धि मे परिवर्तन लाती हैं। पुरुष बुद्धि से भिन्न है, क्योंकि बुद्धि अचेतन है। हमारे अनुभवो का एक इकाई मे सुसघटित होना आत्मा की उपस्थिति के कारण है जो भिन्न भिन्न चेतन अवस्थाओ को एकत्र रखती है। विशुद्ध आत्मा ही आत्मा है, जो शरीर अथवा प्रकृति से भिन्न है।[3] यदि यह परिवर्तन के अधीन होती तो ज्ञान असम्भव हो जाता। क्योंकि इसका स्वरूप चैतन्य है इसलिए यह विकासात्मक शृखला के पदार्थों को आत्मचेतनता मे लाने मे सहायक होती हैं। यह विचार तथा सवेदना के समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करती है। यदि पुरुष परिवर्तित होता तो समय समय पर असमर्थ हो सकता और इस विषय की कोई सुरक्षित गारन्टी न होती कि प्रकृति की सुख या दु ख रूपी अवस्थाओ का अनुभव होगा ही। पुरुष का सदा प्रकाश रूप परिवर्तित नही होता।[4] यह सुषुप्ति अवस्था मे उपस्थित रहता है[5] तथा जागरित और स्वप्न अवस्था मे भी उपस्थित रहता है जो सब बुद्धि के परिवतन हैं।[6] इस प्रकार पुरुष विद्यमान रहता है, यद्यपि यह न कारण है, न काय है।[7] यह वह प्रकाश है जिसके द्वारा हम देखते है कि प्रकृति नाम की एक वस्तु है। प्रमेय पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए इसे अन्य किसी पदार्थ पर निर्भर करने की आवश्यकता नही प्रकृति तथा उसके उत्पन्न पदार्थ स्वत अभिव्यक्त नही होते, वल्कि वे व्यक्त होने के लिए पुरुष के प्रकाश पर निर्भर करते है। चैतन्य का भौतिक माध्यम तो है किन्तु भौतिक रूप मे व्याख्या नही होती। बुद्धि, मन इत्यादि साधन हैं, ये चैतन्य के अन्तिम लक्ष्य की व्याख्या नही कर सकते, क्योंकि ये उसकी दासता मे है। पुरुष केवल चैतन्य है, आनन्द नही, क्योंकि सुख सत्त्वगुण के कारण होता है जिसका सम्बन्ध प्रकृतिपक्ष से हे। विषय-विषयी का द्वैतभाव सुखकारक तथा दु खदायक दोनो प्रकार के अनुभव मे विद्यमान रहता है। सुख और दु ख का सम्बन्ध बुद्धि से है।[8] इसके अतिरिक्त चैतन्य के साथ-साथ आनन्द का योग पुरुष के स्वरूप मे द्वैतभाव प्रविष्ट कर देगा।[9] यदि पुरुष के स्वरूप मे दु ख को भी स्थान है तो मोक्ष सम्भव नही होगा। पुरुष गति के अयोग्य है, और मोक्ष प्राप्त करने पर यह कही नही जाता।[10] यह परिमित आकार का नही है, क्योंकि उस अवस्था मे यह हिस्सो से मिलकर बना हुआ तथा विनश्वर भी हो जाएगा।[11] यह अणु के आकार का नही हे क्योंकि तब इसे सारे शरीर की अवस्थाओ का बोध कैसे होता है—इसका समाधान करना कठिन होगा। यह किसी क्रिया मे भाग नही लेता। साख्य पुरुष को सब गुणो से रहित मानता हे, क्योंकि अन्यथा इसका मोक्ष सम्भव न होता। वस्तु का स्वरूप अविच्छेद्य है, और सुख तथा दु ख आत्मा के नही हो सकते।

आत्माए अनेक है, क्योंकि अनुभव बतलाता है कि मनुष्यो मे सबको शारीरिक,

1 साख्यप्रवचनसूत्र 5 129 3 20 21।
2 साख्यप्रवचनसूत्र 2 29।
3 साख्यप्रवचनसूत्र 6 1 2।
4 *साख्यप्रवचनभाष्य 1 75 योगसूत्र 4 18* साख्यप्रवचनसूत्र 1 146।
5 साख्यप्रवचनसूत्र 1 148।
6 साख्यप्रवचनभाष्य 1 148।
7 साख्यप्रवचनसूत्र 1 61।
8 साख्यप्रवचनसूत्र 6 11।
9 5 66।
10 साख्यप्रवचनसूत्र 1 49। साख्यकारिका 3।
11 1 50।

नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न शक्तियां प्राप्त हैं। संसार में चैतन्ययुक्त प्राणी अनेक हैं और उनमें से प्रत्येक, इसकी विषयीनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ प्रक्रियाओं के अपने स्वतन्त्र अनुभव द्वारा, इसे अपनी ही विधि से समझता है। दृष्टिकोण में भेद प्रकृति के व्यापार के कारण नहीं हो सकते और इसलिए यह युक्ति दी जाती है कि चैतन्यरूप द्रष्टा भिन्न-भिन्न हैं। इनकी भिन्न-भिन्न इन्द्रियां तथा कर्म हैं और ये पृथक् पृथक् जन्म तथा मरण को प्राप्त होते हैं।[1] एक स्वर्ग को जाता है तो दूसरा नरक में जाता है। सांख्य चैतन्य की धाराओं की संख्या की दृष्टि से विशिष्टता पर तथा पृथक्-पृथक् धाराओं के व्यक्तिगत एकत्व पर बल देता है। हम व्यक्ति के अनुभवों के सुव्यवस्थित एकत्व का इसके अतिरिक्त कोई कारण नहीं बता सकते कि एक व्यक्तिरूप विषय के अस्तित्व को मान लेना चाहिए। किन्तु भिन्न-भिन्न एकत्वों की विशिष्टता का कारण अवश्य ही आत्माओं के अनेकत्व को दर्शाता है। यदि आत्मा एक होती तो किसी एक के मुक्तिलाभ करने पर सब मुक्त हो जातीं।[2] यदि आत्मा स्वरूप में प्रकृति के विपरीत है, जबकि प्रकृति एक ही है और सब के लिए एक समान है, अर्थ स्वतः परिणाम निकलता है कि आत्माएं अनेक हैं। धर्मशास्त्रों के उन वाक्यों का तो जो एकेश्वरवाद का समर्थन करते हैं, यह लगाया जाता है कि वे तात्त्विक गुणों का परस्पर अभेद प्रतिपादन करते हैं।[3] वे तात्त्विक अभेद को उपलक्षित करते हैं, किन्तु अखण्डता को नहीं।[4] मोक्ष एक परम निरपेक्ष आत्मा के साथ मिल जाना नहीं है, बल्कि प्रकृति से पृथक् (वियुक्त) हो जाना है। अनेक व्यक्तियों के अन्दर स्थित आत्माओं में एक सामान्य गुण है कि वे प्रकृति के उत्पन्न पदार्थों की क्रियाओं की मूक दर्शक हैं, जिन के साथ वे अस्थायी रूप से सम्बद्ध हैं।

सांख्य का पुरुष सम्बन्धी विचार उपनिषदों की आत्मा-सम्बन्धी धारणा द्वारा निर्धारित है।[5] इसका न आदि है, न अन्त है, यह गुणों से रहित (निर्गुण) है, सूक्ष्म है, सर्वव्यापी है, एक नित्य द्रष्टा है, इन्द्रियातीत है, मन की पहुंच से परे है, बुद्धि के क्षेत्र से परे है, काल, देश तथा कार्यकारण की शृंखला से भी परे है, जो इस आनुभविक जगत् की विचित्रता का ताना-बाना बुनते हैं। यह अजन्मा है और कुछ उत्पन्न भी नहीं करता। इसकी नित्यता न केवल सर्वदा स्थायित्व में है, बल्कि अखण्डता तथा पूर्णता में भी है। यह चिद्रूप है, यद्यपि यह व्यावहारिक अर्थों में सब वस्तुओं को नहीं जानता क्योंकि व्यावहारिक बोध केवल शारीरिक सीमाओं के द्वारा ही सम्भव है। जब आत्मा इन सीमाओं से मुक्त होती है, तो इसे परिवर्तनों का कोई बोध नहीं होता, बल्कि तब यह अपने स्वरूप में रहती है।[6] पुरुष प्रकृति से सम्बद्ध नहीं है।[7] यह केवल दर्शक है, अकेला, उदासीन, निष्क्रिय दर्शक है।[8] पुरुष तथा प्रकृति के लक्षण स्वभाव से परस्पर

1 सांख्यप्रवचनसूत्र, 6 45; 1 : 149 और 150।
2 सांख्यकारिका, 18।
3 सांख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 61 ; सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 154।
4 वैधर्म्यविरह, किन्तु अखण्डता नहीं।
5 बृहदारण्यक उपनिषद्, 4 : 3 16 ; श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6 : 11 और 19 ; अमृतबिन्दु, 5 : 10।
6 सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 6 : 59।
7. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4 : 3, 15।
8 सांख्यकारिका [illegible] णिमद्र से तुलना कीजिए—

प्रतिकूल हैं। प्रकृति अचेतन है, जबकि पुरुष सचेतन है। प्रकृति क्रियाशील और सदा संक्रमणशील है, जबकि पुरुष अकर्ता है। पुरुष बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर रहने-वाला है, जबकि प्रकृति परिवर्तनसहित निरन्तर रहने वाली है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, जबकि पुरुष निर्गुण है। प्रकृति प्रमेय (विषय) है, जबकि पुरुष प्रमाता (विषयी) है।

10. लौकिक जीवात्मा

जीव वह आत्मा है जिसे इन्द्रियों के सयोग तथा शरीर द्वारा सीमित होने से पृथक् रूप मे पहचाना जाता है।[1] विज्ञानभिक्षु का कहना है कि अहंकारसहित पुरुष जीव है, पुरुष अपने-आपमे जीव नही है।[2] जबकि विशुद्ध आत्मा बुद्धि से परे रहती है, बुद्धि के अन्दर पुरुष का प्रतिबिम्ब अहभाव के रूप मे प्रतीत होता हे, जो हमारी सब अवस्थाओ का, जिनमे सुख और दु ख भी सम्मिलित हैं, बोध प्राप्त करने वाला हे। जब हम यह नही जानते कि आत्मा बुद्धि से परे है और लक्षण तथा ज्ञान मे इससे भिन्न है तब बुद्धि को ही आत्मा समझ लेते है।[3] प्रत्येक बुद्धि, इन्द्रियो आदि को साथ लिए हुए, अपने पूर्वकर्मों के अनुकूल निर्मित एक पृथक् संस्थान है।[4] और उसके साथ विशिष्ट-रूप से लगी हुई उसकी अपनी अविद्या रहती है। अहभाव उस सचेतन अनुभव की धारा का मनोवैज्ञानिक एकत्व है जिससे एक लौकिक आत्मा का आभ्यन्तर जीवन बनता है। यह एकत्व शारीरिक है और सदा परिवर्तनशील है। किन्तु पुरुष परिवर्तनशील नहीं है, वह कालाबाधित होकर शारीरिक एकत्व के पूर्वकल्पित रूप मे उपस्थित है। पुरुष वह आत्मा है जो नित्य है और अपने-आपमे एक है, जबकि जीव प्राकृतिक जगत् का एक अश है। अहभाव सत्ताओ के जगत् मे उनके साथ की सत्ताएं हैं तथा भौतिक पदार्थों से अधिक परम रूप मे यथार्थ नही है। अहभावो का हम अन्य सत्ताओ की भांति, यद्यपि उनसे भिन्न रूप मे, अनुभव कर सकते हैं। प्रत्येक अहंभाव मूर्तरूप भौतिक शरीर के अन्दर, जो मृत्यु के समय विलीन होकर भग हो जाता है, एक ऐसा सूक्ष्म शरीर रखता है जो इन्द्रियो समेत मानसिक उपकरण से निर्मित है। यह सूक्ष्म शरीर पुनर्जन्म का आधार है[5] और नानाविध जन्मो मे व्यक्तिगत प्रत्यभिज्ञा का तत्त्व है। यह सूक्ष्म शरीर, जिसके अन्दर हमारे सब अनुभवो के संस्कार कायम रहते हैं, लिगशरीर कहलाता है, अर्थात् यह पुरुष की पहचान करानेवाला चिह्न है। लिंग विशिष्ट लौकिक लक्षण हैं, जिनके बिना भिन्न-भिन्न पुरुषो मे भेद नही किया जा सकता। प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ होने के कारण उनमे तीनो गुण रहते हैं। लिंग का विशिष्ट लक्षण गुणो के मिश्रण पर निर्भर करता है। प्रत्येक जीवन-इतिहास का अपना लिंग है। जब तक लिंगशरीर उपस्थित है, शारीरिक जीवन तथा पुनर्जन्म भी रहेगे। अत्यन्त नीचे की पशुयोनि मे तमोगुण प्रधान रहता है, क्योंकि हम देखते हैं कि पशु के जीवन मे अज्ञान तथा मूर्खता विशिष्ट रूप से लक्षित होती है। उनमे स्मृति तथा कल्पना की क्षमता का विकास अपूर्ण रूप मे होता है, और इसलिए जो सुख या दु.ख पशु अनुभव करते हैं वह न तो चिरस्थायी

1 सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 6 63।
2 सांख्यप्रवचनभाष्य, 6 · 63।
3 योगसूत्र, 2 6।
4 सांख्यप्रवचनभाष्य, 2 : 46।
5 सांख्यप्रवचनसूत्र, 3 16।

होता है और न तीव्र होता है। क्योंकि सत्त्वप्रकृति उनमे अत्यन्त न्यून है, इसलिए पशुओं का ज्ञान केवल वर्तमान कर्म का ही साधन होता है। जब रजोगुण अधिक प्रधान होता है तो पुरुष मानवीय जगत् में प्रवेश करता है। मनुष्य प्राणी बेचैन रहते हैं, और मुक्ति तथा दु:ख से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्नवान रहते हैं। जब सत्त्वगुण प्रधान होता है, तो रक्षापरक ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा प्रकृति अहं को और अधिक जीवन की आपदा से बांधकर नही रखती। मुक्तात्मा इस संसार के नाटक की एक उदासीन दर्शक होती है। मृत्यु होने पर पुरुष और प्रकृति के मध्य का बन्धन टूट जाता है, और मुक्तात्मा सर्वथा स्वतन्त्र हो जाती है। मोक्ष तथा बन्धन रूप परिवर्तनों का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के साथ है, जो पुरुष के साथ संलग्न है। पुरुष सदा विशुद्ध चेतन है, यद्यपि जब तक सूक्ष्म शरीर रजोगुण तथा तमोगुण से आच्छन्न रहता है, यह अपने यथार्थ स्वरूप को भूला रहता है। सब लिंगशरीरो के अन्दर पुरुष एक ही प्रकार के हैं, और लिंगशरीर स्वय, जो उनके अन्दर भेद उत्पन्न करते हैं, प्रकृति के अन्दर हो रहे निरन्तर विकास से सम्बद्ध हैं। विकास की परिकल्पना मनुष्य को अन्य सब जीवधारियो, यथा पशु-जगत् और वनस्पति-जगत् के साथ रक्त-सम्बन्ध में बांधती है।

लौकिक जीवात्मा स्वतन्त्र आत्मा तथा यन्त्रन्यास, पुरुष और प्रकृति, का सम्मिश्रण है। लिंगशरीर, जो प्रकृति का उत्पन्न पदार्थ है और अचेतन है, पुरुष व प्रकृति के परस्पर सयोग से सचेतन हो जाता है • यह सुख तथा दु ख कर्म तथा कर्मफलों के अधीन है, और जन्म-जन्मान्तर के चक्र में भ्रमण करता है। आत्मा अथवा पुरुष सांसारिक कार्यव्यापारो के प्रति बिलकुल उदासीन रहता है। क्रियाशीलता का सम्बन्ध बुद्धि के साथ है, जो प्रकृति की उपज है। तो भी पुरुष के साथ इसके संयोग से, उदासीन पुरुष कर्ता प्रतीत होता है। वास्तविक कर्तृव्य का सम्बन्ध अन्त.करण से है, जिसे पुरुष से प्रकाश प्राप्त होता है।[1] अचेतन अन्तःकरण अपने-आपसे कर्ता नही बन सकता, किन्तु इसमे चेतनता भरी जाती है। अन्तःकरण में चेतनता का भरना, या इसका प्रकाशित होना इसका चेतनता के साथ एक विशिष्ट प्रकार का संयोग है, जो नित्य प्रकाशमान है। चेतनता अन्त.करण में प्रविष्ट नही होती बल्कि इसमें केवल प्रतिबिम्बित होती है। नि सन्देह, पुरुष का प्रकृति के साथ यह संयोग स्थायी नही है। पुरुष प्रकृति के साथ गठबन्धन इसलिए करता है कि इसपर प्रकृति का स्वरूप प्रकट हो जाए और यह प्रकृति के साहचर्य से छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त कर सके। मानसिक तथा भौतिक दोनों ही प्रपञ्चों की पृष्ठभूमि में प्रकृति है। इसके घटक एक अवस्था में स्थाई अथवा द्रष्टा के रूप मे व्यवहार करते हैं तथा दूसरी अवस्था मे पदार्थ अथवा दृष्ट के रूप में व्यवहार करते हैं। दोनो विकास की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं को प्रस्तुत करते हैं।[2] प्रकृति कर्म करती है और पुरुष कर्म के फलों का उपभोग करता है। सुख और दुःख प्रकृति की अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं और यह कहा जाता है कि पुरुष अपनी अज्ञानता के कारण उनको अनुभव करता है।[3] चैतन्य का प्रकाश प्रकृति के कार्यों से उत्पन्न बताया जाता है; और पुरुष, निष्क्रियतापूर्वक प्रकृति के कार्यों का निरीक्षण करते हुए, अपने यथार्थ स्वरूप को

1. सांख्यप्रवचनसूत्र, 1 : 99।

2 तुलना कीजिए वाचस्पति : 'गुणानां द्वैरूप्यं व्यवसेयात्मकत्वं, व्यवसायात्मकत्वं च। तत्र व्यवसेयात्मकता ग्राह्यनामास्थाय पंचतन्मात्राणि भूतभौतिकानि···व्यवसायात्मकत्वं तु ग्रहणस्वरूपमास्थाय साहंकाराणीन्द्रियाणि' (तत्त्ववैशारदी, 3 : 47)।

3 तत्त्वकौमुदी, 5।

भूल जाता है और भ्रम से समझने लगता है कि यही सोचता, अनुभव करता तथा कर्म करता है। यह अपने को जीवन के एक परिमित और विशिष्ट रूप, सजीव शरीर के साथ तादात्म्यरूप, मान लेता है, और इस प्रकार सत्यजीवन से अपने को वचित कर लेता है। नित्यता की शान्ति को खोकर, यह काल की बेचैनी मे प्रविष्ट होता है। पुरुष गति नही करता, यद्यपि वह शरीर जिसके अन्दर यह प्रविष्ट है, एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति करता है। पुरुष जो निष्क्रिय है, और सहमति अथवा निषेधात्मक आज्ञा देनेवाला माना जाता है, केवल मात्र उस गति का नाम है जो होती प्रकृति मे है। पुरुष यद्यपि कर्ता नही है तो भी प्रकृति के कर्तृव्य के साथ भ्रमवश कर्ता प्रतीत होता है, जिस प्रकार पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति सचेतन प्रतीत होती है।[1] दु ख का अनुभव (साक्षात्कार) केवल प्रतिबिम्ब के रूप मे है, जोकि उपाधि की वृत्ति है।[2] वास्तविक बन्धन चित्त का है, जबकि पुरुष पर इसकी केवल छाया पडती है।

जीव का सकीर्ण तथा परिमित जीवन आत्मा अथवा पुरुष के तात्त्विक स्वरूप के कारण नही है। यह इसके अपने आदिम क्षेत्र से च्युत होने का परिणाम है। पुरुष के अनुभव का अर्थ केवलमात्र पदार्थों के प्रतिबिम्बो का ग्रहण है।[3] जब प्रकृति कर्म करती है तो उसके फलो का अनुभव पुरुष करता है, क्योकि प्रकृति की क्रिया पुरुष के अनुभव के लिए है।[4] सही-सही अर्थो मे, यह अनुभव भी अभिमान (आत्मत्व के भाव) के कारण है, जो अविवेक से पैदा होता है।[5] जब सत्य का ज्ञान हो जाता है तो न सुख है और न दु ख है, कर्तृत्व भी नही तथा भोक्तृत्व भी नही।[6]

> पुरुष तथा जीव के विषय मे साख्य द्वारा दिया गया विवरण, अनेक अशो मे, अद्वैत वेदान्त के आत्मा तथा अहभाव के वर्णन के साथ मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, आत्मा कर्म से स्वतन्त्र है, शरीर तथा मन के बन्धनो से भी स्वतन्त्र है, जो हमे कर्म मे लिप्त करते हैं। आत्मा अपनी आकस्मिक घटनाओ के कारण कर्म करता हुआ प्रतीत होता है। निरुपाधिक आत्मा अथवा पुरुष को जीव माना जाता है, जबकि इसे व्यक्तित्व के सकीर्ण बन्धनो के साथ मिश्रित कर दिया जाता है। सही-सही अर्थो मे, अद्वैत मे व्यक्तित्व का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है और साख्य मे लिगशरीर से। विज्ञानभिक्षु पारस्परिक प्रतिबिम्ब के विषय मे कहता है, जो किसी हद तक अद्वैत वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद के वर्ग का है। अद्वैत वेदान्त का मत है कि आत्मा अन्त करण मे प्रतिबिम्बित होती है। यह चिदाभास अथवा चित्त की प्रतीति ही जीवात्मा है।

साख्य की प्रकल्पना, स्पष्ट रूप से, मोक्षप्राप्ति के लिए सघर्ष करती आत्मा के लौकिक विचार तथा अद्वैत वेदान्त के आत्मा-विषयक तात्त्विक विचार के मध्य एक प्रकार का समझौता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, अनन्त तथा वासनाविहीन आत्मा

1 साख्यकारिका 20 और 22, साख्यप्रवचनसूत्र, 1 162—63, योगसूत्र 2 17, भगवद्गीता, 8 21 कठोपनिषद् 3 4।

2 साख्यप्रवचनभाष्य, 1 17।

3 पुरुषस्य विषयभोग प्रतिबिम्बादानमात्रम (साख्यप्रवचनभाष्य 1 104)।

4 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 105।

5 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 106।

6 साख्यप्रवचनसूत्र 1 107।

बन्धन के अधीन नहीं हो सकती। इस प्रकार यह कहा गया है कि यद्यपि पुरुष अपने तात्त्विक रूप में नित्य अपरिवर्तित रहता है, तो भी यह दुःख के प्रतिबिम्ब को, जो बराबर चलता है, अनुभव करता है। जैसेकि स्फटिकमणि में से एक लाल फूल देखा जा सकता है, यद्यपि स्वयं मणि लाल रंग ग्रहण नहीं करती, इसी प्रकार आत्मा अपरिवर्तित रहती है, भले ही इसके दुःख अथवा सुख की भांति चेतनता में उपस्थित रहें। विज्ञानभिक्षु कूर्मपुराण से एक श्लोक इस आशय का उद्धृत करता है : "जिस प्रकार एक विशुद्ध मणि के ऊपर रक्तवर्ण की सामग्री रखने से वह लोगों को लाल रंग की दिखाई देती है, इसी प्रकार की अवस्था महान् पुरुष की है।"[1] शंकराचार्य स्फटिक के बने गुलदस्ते की उपमा का प्रयोग करते हैं जो अपने अन्दर रखे हुए लाल फूलों के कारण लाल रंग का दिखाई देता है, यद्यपि यह अपने-आपमें सब प्रकार के रंग से रहित है।[2] यदि पुरुष प्रभावित अथवा विक्षुब्ध प्रतीत होता है, तो यह उस मन के कारण है जो कुछ समय के लिए इसका सहचारी है। यह साहचर्य आत्मा के ऊपर न तो अस्थायी और न कोई स्थायी प्रभाव ही छोड़ता है। क्योंकि सम्पर्क यथार्थ नहीं है, इसलिए उसका कोई प्रभाव भी शेष नहीं रहता।

11. पुरुष और प्रकृति

सांख्यदर्शन का सबसे अधिक क्लिष्ट अथवा भ्रामक विषय पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की समस्या है। हम पहले देख आए हैं कि प्रकृति के विकास में न केवल एक आकर्षक सौन्दर्य है, बल्कि यह अपने अन्दर एक ऐसी योजना को संजोए हुए है जो धार्मिक उद्देश्यों के अनुकूल है।[3] प्रकृति एक ऐसे जगत् के रूप में विकसित होती है जो विपत्ति तथा क्लेश से परिपूर्ण है और जिसका प्रयोजन आत्मा को उसकी नींद से जगा देना है। इस जगत् का प्रकट दुःखात्मरूप आत्मा के लिए आवश्यक बताया गया है, जो निष्क्रिय है, यद्यपि जो कुछ उसके सम्मुख आता है उस सबको वह देखती है। पुरुष की सेवा के उपयुक्त होना प्रकृति की क्रियाओं का लक्ष्य माना गया है।[4] यद्यपि प्रकृति को स्वयं

1 यथा हि केवलो रक्तः स्फटिको लक्ष्यते जनैः ।
रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः ॥
(सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 19) ।

पुरुष जो निष्क्रिय रूप से उदासीन है, ऐसा प्रतीत होता है कि कर्ता है और ऐसा तीन गुणों के प्रभाव से होता है। तुलना कीजिए।

प्रकृतेः कार्ये निर्लेपः निर्मलः प्रकृतिर्जडा ।
प्रकृतेस्त्रिगुणाविसादुदासीनोऽपि कर्तृवत् ॥

2 आत्मबोध । (सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, 9 : 15)

3 सांख्यप्रवचनसूत्र, 2 : 1, 3 : 58 ।

4 सांख्यकारिका, 56 । प्रकृति के सम्बन्ध में सांख्य का मत उससे भिन्न है जिसका हुकार्ग ने अपने गोथंस सेक्चर में प्रचार किया है अथवा जिसका हार्डी की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिपादन है—

"···कोई विराट जड़ता
बनाने व जोड़ने में शक्तिशाली
किन्तु देखभाल में सर्वथा अशक्त
·· आत्मचालित
हमारे दुःखों से अनभिज्ञ।"

इस लक्ष्य का ज्ञान नही है। साख्य जादू के चमत्कार की मिथ्या कल्पना को तो वर्जित मानता है, किन्तु यह स्वीकार करता है कि जगत् के अन्तर्निहित एक उद्देश्यवाद अवश्य है। विश्व की महानता तथा इस जगत् की अद्‌भुत व्यवस्था का कारण प्रकृति के क्रिया-कलाप के अन्दर देखने का विचार बहुत उत्कृष्ट है। यह क्रियाकलाप यन्त्रवत् होने पर भी ऐसे परिणामो को उत्पन्न करता है जो प्रबलरूप मे सकेत करते हैं कि यह किसी अत्यन्त मेघावी द्वारा की गई विलक्षण गणना का परिणाम है। किन्तु साख्य का मत इस विषय मे स्पष्ट है कि प्रकृति का कार्यकलाप किसी सचेतन चिन्तन का परिणाम नही है।[1] साख्य द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्तो से हमारा कुछ अधिक सन्तोषजनक समाधान नही होता। बुद्धिहीन प्रकृति के विषय मे कहा जाता है कि वह उसी प्रकार कार्य करती है जैसेकि बुद्धिविहीन वृक्ष फलो को उत्पन्न करते है,[2] अथवा जैसे गाय का दूध बछडे के पोषण के लिए थनो से निकलता है। यन्त्र-रचना अपनी व्याख्या अपने आप नही कर सकती, और न ही प्रकृति के उत्पन्न पदार्थों को निम्न श्रेणी की अवस्थाओ का यान्त्रिक परिणाम समझा जा सकता है। यदि प्रकृति स्वेच्छापूर्वक क्रियाशील होती, तो मोक्ष सम्भव ही न होता क्योकि प्रकृति की क्रिया का विराम ही न होता। इसी प्रकार यदि यह स्वेच्छा से निष्क्रिय होती तो ऐहलौकिक जीवन का प्रवाह चलना तुरन्त बन्द हो जाता। साख्य स्वीकार करता है कि प्रकृति की क्रियाशीलता इस विश्व की ओर सकेत करती है कि गति देने वाला कोई है, जो स्वय गतिमान नही है किन्तु गति को उत्पन्न करता है। प्रकृति का विकास इस विषय का उपलक्षण है कि कोई आत्मिक कर्ता है। किन्तु साख्य द्वारा स्वीकृत आत्मिक केन्द्र प्रकृति पर कोई सीधा प्रभाव उत्पन्न करने मे असमर्थ है। साख्य का कहना है कि पुरुषो की केवल उपस्थिति-मात्र से प्रकृति को क्रियाशीलता तथा विकास के लिए प्रेरणा मिलती है। यद्यपि पुरुष मे रचनात्मक शक्ति नही है, तो भी प्रकृति, जो अनेकरूप विश्व को उत्पन्न करती है, पुरुष के सम्पर्क के कारण ऐसा करती है। प्रकृति स्वय तो विचारशून्य है, किन्तु पुरुष से मार्गदर्शन पाकर वह अनेक प्रकार के जगत का निर्माण करती है। प्रकृति और पुरुष के सयोग को समझाने के लिए एक अच्छी दृष्टि रखने वाले किन्तु लगडे मनुष्य से जो अच्छे पैरो वाले किन्तु अधे मनुष्य के कन्धो पर सवार है, तुलना की जाती है।[3] असख्य आत्माओ का, जो प्रकृति की गति का ज्ञान प्राप्त करती हैं, सामूहिक प्रभाव ही प्रकृति के विकास का कारण है। गुणो की साम्यावस्था के अन्दर विक्षोभ, जिसके कारण विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है,

1 साख्यप्रवचनसूत्र, 3 61। 2 साख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 2 1।

3 साख्यकारिका, 21। गौडपाद कहता है "जैसे, एक लगडे और एक अधे ने, जो अपने साथी यात्रियो से बिछुड गए थे, क्योकि जगल मे से गुजरते हुए डाकुओ ने उन्हें तितर-बितर कर दिया था, आपस मे मिलने पर वार्तालाप करके एक-दूसरे का विश्वास प्राप्त कर लिया। उनमे पैदल चलने तथा देखने के कार्यों को आपस मे बाट लेने का समझौता हो गया, जिसके अनुसार लगडा मनुष्य अधे के कधे पर सवार हो गया और इस प्रकार उसने अपनी यात्रा पूरी की, और अधा मनुष्य भी अपने मार्ग पर बराबर चल सका क्योकि उसे अपने साथी से दिशा का ज्ञान मिलता रहा। ठीक इसी प्रकार देखने की क्षमता आत्मा मे है किन्तु गति की नही है, यह लगडे मनुष्य की भाति है, प्रकृति मे गतिविषयक क्षमता है किन्तु देखने की क्षमता नही, और इसलिए वह अधे मनुष्य के साथ समता रखती है। आगे चलकर जैसे लगडा और अधा, जब उनका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है और वे अपने गन्तव्य लक्ष्य पर पहुच जाते हैं, अलग अलग हो जाते हैं, इसी प्रकार पुरुष को मोक्ष प्राप्त कराकर प्रकृति कार्य करना समाप्त कर देती है, और पुरुष भी प्रकृति का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। और इस प्रकार उनके अपने-अपने प्रयोजन पूरे हो जाने पर उनका परस्पर सम्बन्ध टूट जाता है" (कारिका, पृष्ठ 21 पर भाष्य)।

प्रकृति पर पुरुष के प्रभाव से ही होता है।[1] पुरुषों की उपस्थिति शक्तियों के सतुलन में, जो एक-दूसरे को नियन्त्रित रखता है, विक्षोभ उत्पन्न करती है। विकास की आरम्भिक प्रक्रिया में प्रकृति निष्क्रिय दशा मे रहती है, और असंख्य पुरुष भी उसीके समान निश्चेष्ट रहते हैं, किन्तु वे प्रकृति पर एक यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग करते हैं। यह प्रयोग प्रकृति की साम्यावस्था को उलट देता है और एक ऐसी गति को जन्म देता है जो पहले तो विकास का रूप धारण करती है और बाद में ह्रास तथा विनाश में परिणत हो जाती है। प्रकृति फिर अपनी निष्क्रिय अवस्था में आती है और फिर पुरुषों द्वारा उत्तेजना प्राप्त करती है। यह प्रक्रिया तब तक निरन्तर चलती रहेगी जब तक कि सब आत्माएं मोक्ष नहीं प्राप्त कर लेंगी। इस प्रकार विश्व-सम्बन्धी प्रक्रिया का पहला और अन्तिम कारण पुरुष है। किन्तु पुरुष की कारणता केवल यन्त्रवत् है, जो अपनी इच्छा के कारण न होकर केवल सान्निध्य के कारण है। पुरुष संसार का संचालन एक इस प्रकार के कर्म से करता है जो गति नहीं है। जैसे लोहे का आकर्षण चुम्बक के प्रति होता है, उसी प्रकार का यह भी एक विशेष आकर्षण है।[2] सांख्य का पुरुष अरस्तू के ईश्वर से भिन्न नहीं है। यद्यपि अरस्तू ऐसा मानता है कि संसार के प्रारम्भ में गति देनेवाला एक सर्वातिशायी ईश्वर है, तो भी संसार के कार्यकलाप में उस ईश्वर का कोई भाग है, इसको वह नहीं मानता। ईश्वर, अरस्तू के मत में, एक ऐसी विचार-मग्न सत्ता है जो अपने अन्दर ही सीमित है, और इसलिए वह न तो विश्व के प्रति किसी प्रकार का कार्य कर सकती है और न उसकी ओर कुछ ध्यान ही दे सकती है। वह सर्वप्रथम गति देनेवाला ईश्वर, कहा जाता है कि, स्वयं एक ऐसा उद्देश्य बनकर जिसकी प्राप्ति के लिए प्राणी मात्र पुरुषार्थ करते हैं, ससार को गति देता है, किन्तु संसार उसके कार्य से किसी भी रूप में निर्धारित नहीं होता। यदि वह सांसारिक व्यापारों की चिन्ता करने लगे तो उसके ईश्वरीय अस्तित्व की पूर्णता ही नष्ट हो जाएगी। इस प्रकार ईश्वर, जो विशुद्ध ज्ञानमय है और स्वयं अचल है, केवल-मात्र अपने अस्तित्व से विश्व में गति का संचार करता है। आगे चलकर वस्तुओं का विकास उनके अपने-अपने स्वभाव के कारण होता है। किन्तु पुरुष को प्रकृति से बाह्य कहा गया है, और प्रकृति पर उसका प्रभाव यद्यपि वास्तविक है पर बुद्धिगम्य नहीं है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध एक ऐसा रहस्य है जो हमें चारों ओर से घेरे हुए है, किन्तु हम इसके अन्दर घुसकर इसके रहस्य को जान नहीं सकते।[3] हम यह नहीं कह सकते कि प्रकृति पुरुषों के उद्देश्य के

1. किसी भी रचनात्मक विकासवादी दार्शनिक पद्धति को एक संघटनकारक सिद्धान्त, एक सजीव प्रवृत्ति अथवा स्फूर्ति की आवश्यकता होती है। एलेक्जेण्डर, जो पिरामिड के आधार में देश-काल को पाता है, कालको शक्तिदायक अवयव प्रतिपादन करता है। हौबहाउस, 'माइंड इन एवोल्यूशन' की दूसरी आवृत्ति की अपनी भूमिका में, बलपूर्वक कहता है कि मन किसी न किसी रूप में समस्त विकास की प्रेरक शक्ति है। लायड मौरगन ने अपने 'इमेर्जेण्ट इवोल्यूशन' नामक ग्रन्थ में इसका कारण ईश्वर को बताया है।

2 सांख्यकारिका, 57, सांख्यप्रवचनसूत्र, 1 96।

3 तुलना कीजिए शांकरभाष्य, 2 · 2, 6। शंकराचार्य प्रकृति के क्रियाकलाप के प्रयोजन-सम्बन्धी प्रश्न का विवेचन करते हुए कि क्या यह आत्माओं का भोग है अथवा मोक्ष है, कहते हैं : "यदि यह हो सुखोपभोग के लिए, तो उस आत्मा का सुखोपभोग से क्या वास्ता जो सुख अथवा दुःख को आत्मसात् करने में असमर्थ है? इसके अतिरिक्त मोक्ष का भी कोई अवसर प्राप्त न होगा (क्योंकि निष्क्रिय आत्मा मोक्ष को अपना लक्ष्य नहीं बना सकती और प्रधान का लक्ष्य केवल यह है कि आत्मा नानाविध अनुभवों में से गुजरे)। यदि उद्देश्य मोक्ष होता तो प्रधान की क्रिया निरभिप्राय होती, क्योंकि इसकी पूर्ववर्ती आत्मा मोक्ष की अवस्था में है। यदि सुखोपभोग और मोक्ष दोनों उद्देश्य हैं,

अनुसार कार्य करती है, क्योकि पुरुष अनादिकाल से स्वतन्त्र है और प्रकृति की क्रियाओ का सुखोपभोग करने के आयोग्य है। परिणाम यह निकलता है कि प्रकृति की क्रियाए जीवो के उपयोग के निमित्त है, क्योकि जीव ही पूर्ण अन्तर्दृष्टि न रखने के कारण अपने सूक्ष्म (लिंग) शरीरो के साथ तादात्म्य स्थापित करते है, कामनाए रखते है तथा भेद-परक ज्ञान की आवश्यकता रखते हैं। इस प्रकार प्रकृति प्राणियो को जन्म देती है, जो दु.ख भोगने के लिए बाध्य है, जिससे कि उन्हे अवसर मिले कि वे छुटकारा पा सके।[1]

यथार्थ पुरुष के सम्बन्ध एक यथार्थ ससार के साथ हैं, क्योकि दोनो के मध्य एक कल्पित सम्बन्ध है। जब तक यह कल्पित सम्बन्ध विद्यमान रहता है प्रकृति भी उसके प्रति कार्य करती है। जब पुरुष सदा विकास तथा विलय को प्राप्त होनेवाले प्राकृतिक जगत् से अपने भेद को पहचान जाता है, तो प्रकृति उसके प्रति अपना व्यापार बन्द कर देती है।[2] प्रकृति के विकास का नैमित्तिक कारण केवल पुरुषो की उपस्थिति मात्र नही है क्योकि वे तो सदा ही उपस्थित रहते है, बल्कि उनका अपने तथा प्रकृति मे भेद न करना (अभेद) है।

> प्रकृति के महदादि मे परिणत होने से पूर्व केवल अभेद ही रहता है। अदृष्ट, ऐसा धर्माधर्म जिसे हम देख नही सकते, उस समय तक उत्पन्न नही होता, क्योकि इसकी उत्पत्ति भी महत् से ही है। और प्रकृति के प्रारम्भिक कर्म के पश्चात् ही यह प्रकट होता है। पूर्वसृष्टि का सचित अदृष्ट कुछ सहायक नही होता, क्योकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियो का भिन्न-भिन्न अदृष्ट होता है, और सृष्टि के समय भिन्न-भिन्न अदृष्टो का विभाजन भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे हो नही पाता। अतिम विश्लेषण मे, प्रकृति की क्रिया का कारण अभेद ही है,[3] क्योकि कर्म के साथ सम्बन्ध अभेद ही का कार्य है।[4] इस अभेद के कारण पुरुष तथा प्रकृति का अस्थायी सम्बन्ध स्थापित होता है। यह सम्बन्ध निश्चय ही यथार्थ नही होता, क्योकि सत्यज्ञान के उदय होने पर यह टूट जाता है।
>
> प्रकृति ने किसी न किसी प्रकार से पुरुषो को अपने जाल मे फास लिया है। नित्य आत्माओ के प्रारम्भिक बन्धन के कारण की कोई व्याख्या सम्भव नही है, क्योकि आत्माए एक समय स्वतन्त्र थी और प्रकृति उन्हीके समान नित्य है। केवल यह तथ्य लक्षित होता है कि पुरुष प्रकृति के जाल मे बिना अपनी स्वीकृति के पकडे जाते हैं। यह उस अभेद के कारण है जिसका कोई आदि नही है। यदि इसका आदि होता तो इससे पूर्व आत्माए मुक्त अवस्था मे होतीं और

तो प्रधान के अनेक पदार्थ ऐसे होने के कारण जो आत्मा के सुखोपभोग के लिए हैं, अन्तिम मोक्ष का अवसर प्राप्त न होगा। और न ही इच्छा की पूर्ति प्रधान की क्रियाशीलता का प्रयोजन माना जा सकता है, क्योकि न तो बुद्धिविहीन प्रधान और न तात्विक रूप से विशुद्ध आत्मा ही किसी इच्छा का अनुभव कर सकते है। अन्त मे यदि तुम कल्पना करो कि प्रधान क्रियाशील है, क्याकि अन्यथा दृष्टिशक्ति (जो बुद्धिमान् आत्मा के अन्दर है) और सृजनात्मक शक्ति (प्रधान की) प्रयोजनशून्य हो जाएगी, तो परिणाम यह निकलेगा कि क्योकि दोनो का किसी समय भी अन्त न होगा, इसलिए प्रतीयमान जगत् का भी कभी अन्त न होगा, और इस प्रकार अन्तिम मोक्ष असम्भव है।"

1 साख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 2 1।
2 साख्यकारिका, 61, साख्यप्रवचनसूत्र, 3 70।
3 योगसूत्र, 2 24।
4 साख्यप्रवचनसूत्र, 3 67।

इसके पश्चात् बन्धन में। इसका तात्पर्य होता है कि मुक्तात्माएं, फिर बन्धन में पड़ती।

हम नहीं कह सकते कि अविद्या का क्या कारण है। इस प्रकार इसे अनादि समझा जाता है, यद्यपि इसका अन्त है।[1] अविवेक को पुरुष तथा प्रकृति के संयोग का कारण कहा गया है।[2] अविवेक, जो कारण है, प्रलयकाल में भी रहता है, यद्यपि पुरुष तथा प्रकृति का संयोग नहीं रहता। यह संयोग यथार्थ परिणाम नहीं है, क्योंकि पुरुष के अन्दर कोई नये गुण उत्पन्न नहीं होते। पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध को कभी-कभी भोक्ता तथा भोग्य का सम्बन्ध बताया जाता है।[3]

12. पुरुष और बुद्धि

प्रकृति से विकसित समस्त पदार्थों में बुद्धि सबसे अधिक महत्त्व की है। इन्द्रियां अपने ज्ञेय विषयों को बुद्धि के आगे प्रस्तुत करती हैं, जो उन्हें पुरुष के प्रति प्रदर्शित करती है। यह बुद्धि ही है जो प्रकृति तथा पुरुष के भेद को बताती है और पुरुष के लिए समस्त अनुभव-योग्य सामग्री का उपभोग सम्पन्न करती है।[4] बुद्धि उस पुरुष के प्रतिबिम्ब से, जो इसके निकट है, वस्तुतः उसीके रूप की बन जाती है और सब पदार्थों के [illegible]
सिद्ध करती है। बुद्धि यद्यपि प्रकृति से उत्पन्न [illegible]
तो भी ऐसी प्रतीत [illegible]
में नहीं करता। [illegible]
अन्दर प्रतिबिम्बि[illegible] (आत्मभान) को भूल से अपना समझ लेता है। [illegible] आत्मा के अन्दर भी है, किन्तु वह प्रकृति के अन्दर प्रतिबिम्बित होने के कारण ही है। वह वस्तुतः आत्मा का निजी [illegible]
प्रकार न हिलता हुआ भी चन्द्रमा जल के [illegible]
के साथ-साथ [illegible]
संयोग नहीं हो[illegible] अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं। और [illegible] जाता है कि बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब है, जो बुद्धि को चेतनामय बनाता है। अहंभाव बुद्धि तथा पुरुष का प्रतीत होने वाला एकत्व है। जब पुरुष देखता है तो उसके साथ ही बुद्धि में भी परिवर्तन हो जाता है। जब बुद्धि में परिवर्तन होता है तो उसे पुरुष की झलक मिलती है। इस तरह पुरुष तथा प्रकृति का संयोग प्रतिबिम्बित पुरुष तथा बुद्धि के विशिष्ट परिवर्तन के एकत्व के साथ-साथ होता है। पुरुष तथा उससे संलग्न प्रकृति का सम्पर्क इस प्रकार का है कि जो भी मानसिक घटनाएं मन के अन्दर घटित होती हैं वे सब पुरुष के अनुभव समझी जाती हैं; यहां तक

1. देखिए सांख्यप्रवचनसूत्र, 6 : 12-15।
2. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 19; योगसूत्र, 2 : 23-24।
3. [illegible] इस आधार पर [illegible] कि यदि सम्बन्ध नित्य है तो ज्ञान से इसका अन्त नहीं हो सकता, और यदि यह अनित्य है तो इसे भी संयोग कह सकते हैं।
4. सांख्यकारिका, 37। सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 161।
5. चेतनावद् इव (सांख्यकारिका, 20)। और देखिए सांख्यकारिका, 60।
6. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 6 : 59।

कि अभेद का सम्बन्ध भी बुद्धि के साथ है, और बन्धन मे वह पुरुष मे प्रतिबिम्बित होता है।[1]

पुरुष का उस बुद्धि के साथ जो इससे सलग्न हे, तात्कालिक सम्बन्ध बतलाया गया है और अन्यो के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध बतलाया गया है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का कहना है कि जहा एक ओर पुरुष बुद्धि का साक्षी है अर्थात् बिना किसी मध्यस्थ के बुद्धि की अवस्थाओ का साक्ष्य रखता है, वहा यह अन्य सबका बुद्धि की सहायता से द्रष्टा है पुरुष अपने-आपमे स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष होते हुए भी जब बुद्धि के सम्पर्क मे आता है तो साक्षी बन जाता है।[2] यदि आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध को वास्तविक समझा जाए तो शरीर की त्रुटियो को भी आत्मा की त्रुटिया मानना होगा। इससे आत्मा की अनिवार्य निर्विकारता के साख्य के सिद्धान्त के अन्दर त्रुटि आ जाएगी। बुद्धि के विकारो का पुरुप के अन्दर प्रतिबिम्ब ही बन्धन है। इस प्रतिबिम्ब का हट जाना ही मोक्ष है, जो कि बुद्धि के पुन अपनी मौलिक पवित्रता प्राप्त कर लेने पर ही, अर्थात् बुद्धि के प्रकृति मे विलय हो जाने पर ही, सम्भव है। इस प्रकार का कथन कि प्रकृति की क्रिया पुरुष के ही हित के लिए है, केवल इस बात का आलकारिक रूप है कि यह बुद्धि की पवित्रता के लिए है। बुद्धि अपने-आपमे सात्त्विक है, किन्तु व्यक्ति विशेष के अन्दर जाकर, पूर्वजन्म के प्रभावो के सम्पर्क के कारण यही राजस अथवा तामस बन जाती है। दु ख तथा सुख का अनुभव जो हमे प्राप्त होता है, वह बुद्धि तथा विपयरूप जगत् की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा होता है और पुरुष उसमे केवल दर्शक मात्र है। बुद्धि के द्वारा केवल सुख की प्राप्ति होनी चाहिए, किन्तु उपार्जित प्रभावो के कारण इसके दु खमय परिणाम होते है। यही कारण है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियो पर भिन्न-भिन्न प्रकार का असर रखती है। प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ को ध्यान बटाने वाले वैयक्तिक प्रयोजन के माध्यम से देखा जाता है। इस प्रकार जो वस्तु एक के लिए सुखदायी है, वह दूसरे के लिए दु खदायी है, या उसी व्यक्ति के लिए भिन्न समय मे दु खदायी प्रतीत होती है। हम साधारणत अपनी ही दुनिया मे रहते हैं, जहा हम अपनी विशेष आवश्यकताओ तथा प्रयोजनो का आवश्यक से अधिक मूल्याकन करते है, तथा अपनी अभिरुचियो को अस्वाभाविक महत्त्व देते हैं। हमारे साधारण जीवन हमारी स्वार्थमय इच्छाओ से बधे हुए हैं और ऐसे दु ख को उत्पन्न करते है जो अनिश्चित सुख के एक अश के साथ मिश्रित होता है। यदि हम अपनी बुद्धि को शुद्ध कर लें तथा अपनी पिछली प्रवृत्तियो से विमुक्त हो सके, तो हम ऐसी स्थिति मे होगे कि वस्तुओ का निरीक्षण जिस रूप मे वे हमसे सम्बद्ध है उस रूप मे नही, बल्कि जिस रूप मे वे परस्पर सम्बद्ध हैं उस रूप मे, अर्थात् निरपेक्ष रूप मे कर सकें। जब बुद्धि मे सत्त्वगुण का प्राधान्य होता है तब इसके द्वारा सत्यज्ञान की प्राप्ति होती है, रजोगुण की प्रधानता मे इच्छा उत्पन्न होती है और तमो-गुण की प्रधानता से मिथ्याज्ञान इत्यादि की प्राप्ति होती है।[3]

13. ज्ञान के उपकरण

समस्त ज्ञान मे तीन घटक रहते है, अर्थात् ज्ञात विषय, ज्ञाता विपयी और ज्ञान की

1 तुलना कीजिए साख्यप्रवचनभाष्य, 1 19। "जन्म से तात्पर्य है एक व्यक्तिगत बुद्धि के साथ सयोग। उपाधिरूप बुद्धि के सयोग के कारण ही पुरुप मे दु ख का सयोग होता है।"

2 साख्यप्रवचनसूत्र, 6 50।

3 सत्त्व यथार्थज्ञानहेतु, रजो रागहेतुस्तमो विपरीतज्ञानादिहेतु ।

प्रक्रिया। सांख्यदर्शन में "विशुद्ध चेतनता 'प्रमाता' (जाननेवाला) है; रूपान्तर (वृत्ति) 'प्रमाण' है; परिवर्तनों का विषयों के रूप में चेतनता के अन्दर प्रतिबिम्ब प्रमा है। ज्ञेय प्रतिबिम्बित वृत्तियों की विषयवस्तु है।"[1] अनुभव का सम्बन्ध पुरुष से है।[2] बुद्धि, अहंकार, मन और इन्द्रियां ये सब मिलकर उस उपकरण का निर्माण करते हैं जिसके द्वारा एक बाह्य विषय का ज्ञान प्रमाता (विषयी) को होता है। जब कोई पदार्थ इन्द्रियों को उत्तेजित करता है तो मन[3] इन्द्रियानुभवों को एक बोध के रूप में व्यवस्थित करता है, अहंकार इसे आत्मा को प्रेषित करता है, और बुद्धि उसे विचार के रूप में परिणत कर देती है।[4] बुद्धि, सारे शरीर में व्याप्त होने के कारण, पूर्वजन्मों के संस्कारों तथा वासनाओं को अपने अन्दर रखती है, जो अनुकूल अवस्थाएं पाकर जागरित हो जाते हैं। "इन्द्रियों के मार्गों से पदार्थों के साथ सम्पर्क होने के कारण, अथवा आनुमानिक चिह्न इत्यादि के ज्ञान द्वारा बुद्धि का सबसे पूर्व रूपान्तर उस विषय के रूप में होता है जिसका ज्ञान प्राप्त करना है। पदार्थ से रंजित यह रूपान्तर पुरुष के संयोग के क्षेत्र में एक प्रतिबिम्ब के रूप में प्रविष्ट होता है और वहां प्रकाशित होता है, क्योंकि पुरुष, जो अपरिवर्तनीय है, पदार्थ के रूप में रूपान्तरित नहीं हो सकता।" यदि पदार्थ के ज्ञान का तात्पर्य पदार्थ के रूप के साथ तादात्म्य समझा जाए तो इस प्रकार का परिवर्तन पुरुष में सम्भव नहीं है। इसलिए बुद्धि को रूपांतरित कहा जाता है। रूपान्तर को व्यक्त होने के लिए बुद्धि का चेतनता के अन्दर प्रतिबिम्बित होना आवश्यक है।[5] इस प्रतिबिम्ब का निर्णय बुद्धि के रूपान्तर द्वारा होता है। पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्ब केवल तभी तक स्थिर रहता है जब तक कि जो प्रतिबिम्बित होता है वह उपस्थित रहता है। बुद्धि के रूपान्तर का पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्ब रूपान्तर के पीछे नहीं, बल्कि साथ के साथ होता है। जब इन्द्रियों के मार्ग से बुद्धि बाह्य पदार्थ के सम्बन्ध में आती है और उससे प्रभावित होती है तो वह उक्त पदार्थ का रूप धारण कर लेती है। चेतनाशक्ति इस प्रकार रूपान्तरित बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि के रूपान्तर का अनुकरण करती है, और यह अनुकरण (तद्वृत्त्यनुकार) ही ज्ञान(उपलब्धि)कहलाता है। पुरुष का प्रतिबिम्ब वास्तविक समागम नहीं है, बल्कि केवल प्रतीतिरूप है, और यह पुरुष तथा बुद्धि के भेद को न जानने के कारण है। बुद्धि के अन्दर प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध है उसे ही ज्ञान कहते हैं। और इस ज्ञान के साथ पुरुष का जो संबंध है वह परिणामस्वरूप इस प्रकार के निर्धारण में कि 'मैं करता हूं' देखा जाता है,[6] जबकि वस्तुतः यह 'मैं' अर्थात् पुरुष कार्य नहीं कर सकता, और जो कार्य करती है अर्थात् बुद्धि

1. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 87।
2. सांख्यप्रवचनसूत्र, 1 : 143।
3. मन को अनेक कारणों से ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है। यदि नित्य पुरुष का सुख तथा दुःख देनेवाले पदार्थों के साथ अपना खुद का सम्बन्ध होता तो मोक्ष न हो सकता। यदि पदार्थों के साथ सम्बन्ध प्रकृति पर निर्भरता के कारण होता तब भी मोक्ष न होता, क्योंकि प्रकृति नित्य है। यदि अनित्य पदार्थ, घड़े आदि पुरुष की नित्य प्रज्ञा के साथ सम्बद्ध होते तो दृष्ट और अदृष्ट के बीच कोई भेद न होता, क्योंकि सब विद्यमान वस्तुएं आवश्यक रूप से एक ही क्षण में दिखाई दे जातीं। और यदि पदार्थों का सम्बन्ध प्रज्ञा के साथ केवल बाह्य इन्द्रियों पर निर्भर करता तो हम अपने प्रत्यक्ष ज्ञानों के अयुगपत् होने का कोई कारण न बता सकते।
4. तत्त्वकौमुदी, 36। सांख्य की ज्ञानविषयक प्रकल्पना की समीक्षा के लिए देखिए न्यायवार्तिक और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 3 : 2, 1-9।
5. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 99।
6. बुद्ध्यारोपितचैतन्यस्य विषयेण सम्बन्धो ज्ञानम्, ज्ञानेन सम्बन्धश्चेतनोऽहं करोमीत्युपलब्धिः (उदयनकृत कुसुमाञ्जलि, 1 : 14 पर हरिदास भट्टाचार्य)।

वह सोच नही सकती ।[1]

बुद्धि की कोई भी गति चेतनापूर्ण ज्ञान नही हो सकती जब तक कि यह किसी पुरुष का ध्यान आकृष्ट न करे। इस मत के अनुसार, बुद्धि, मन और इन्द्रिया ये सब अचेतन है ।[2]

> भिन्न-भिन्न व्यापारो का कार्य क्रमबद्ध है। यद्यपि कुछेक व्यापारो मे यह क्रम इतनी शीघ्रता के साथ सम्पन्न होता है कि ध्यान मे भी नही आ सकता। जब कोई मनुष्य अधेरी रात मे एक व्याघ्र को देखता है तो उसकी इन्द्रियो मे उत्तेजना पैदा होती है, मन चिन्तन करता है, अहकार पहचान करता है और बुद्धि पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करती है और उसके बाद वह व्यक्ति अपने प्रिय जीवन की रक्षा के लिए वहा से भागता है। इस घटना मे भिन्न-भिन्न व्यापार इतनी शीघ्रता के साथ सम्पन्न हो जाते हैं कि वे सब एक साथ ही होते जान पडते हैं। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य किसी पदार्थ को मन्द प्रकाश मे देखता है, उसे सन्देहपूर्वक चोर समझने लगता है और शनै -शनै अपने मन मे निश्चय करके विपरीत दिशा मे चला जाता है। इस घटना मे भिन्न स्थितिया पृथक् पृथक् ध्यान मे आ जाती है ।[3]

प्रत्यक्ष और विचार, इच्छा और चुनाव के मानसिक व्यापार वस्तुत , प्रकृतिजन्य पदार्थो की यान्त्रिक प्रक्रियाए हैं, जिनसे आभ्यन्तर इन्द्रियो का निर्माण हुआ है ।[4] यदि पुरुष इन्हे प्रकाशित न करे अर्थात् इन्हे चैतन्य प्रदान न करे, तो ये अचेतन रहेगी। पुरुष का यह एकमात्र कार्य है, क्योकि क्रियाशीलता जितनी भी है प्रकृति से सम्बन्ध रखती है। पुरुष एक प्रकार का निष्क्रिय दर्पण है, जिसके अन्दर आभ्यन्तर इन्द्रिय प्रतिबिम्बित होती है। विशुद्ध रूप मे अभौतिक आत्मा आभ्यन्तर इन्द्रिय की प्रक्रियाओ को अपनी चेतना से आप्लावित कर देता है और इस प्रकार वे अचेतन नही रहतीं। साख्य बुद्धि के साथ पुरुष के केवल सान्निध्य ही को नही मानता, बल्कि बुद्धि मे पुरुष

1 जहा वाचस्पति का यह विचार है कि आत्मा पदार्थ का ज्ञान उस मानसिक परिवर्तन के द्वारा करता है जिस पर यह अपना प्रतिबिम्ब डालता है, वहा विज्ञानभिक्षु का मत है कि मानसिक परिवर्तन, जो आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है और उसका रूप प्राप्त करता है आत्मा पर फिर से प्रतिबिम्बित होता है और यह इसी प्रतिबिम्ब के कारण सम्भव होता है कि आत्मा पदार्थ को जानती है। योगवार्तिक 1 4। तत्त्ववैशारदी, पृष्ठ 13।

2 किन्तु साख्य की प्रकल्पना के अनुसार, बुद्धि, अहकार आदि तब तक उत्पन्न नही हो सकते जब तक कि प्रकृति पर पुरुष का व्यापक प्रभाव न हो। इसलिए हमारे लिए ऐसा सोचना अनावश्यक है कि बुद्धि केवल अचेतन है। बुद्धि का विकास स्वय पुरुष के प्रभाव से है। बुद्धि और अहकार आदि को हम पुरुष के प्रयोजन के लिए बने पहले से तैयार ऐसे साधन मानने की आवश्यकता नही है जो तब तक अचेतन और निष्क्रिय रहते हैं जब तक कि पुरुष उनके अन्दर से दूरवीक्षण यन्त्र मे जैसे देखा जाता है उस तरह न देखे क्योकि यह साख्य के इस मुख्य सिद्धान्त की उपेक्षा करना होगा कि प्रकृति बुद्धि इत्यादि को तब तक उत्पन्न नही कर सकती जब तक कि पुरुष प्रकृति की साम्यावस्था म क्षोभ उत्पन्न नही करता।

3 साख्यकारिका, 30, तत्त्वकौमुदी, 30।

4 बुद्धि अहकार और मन इन तीनो आभ्यन्तर इन्द्रियो को प्राय एक ही समझा जाता है, क्योकि इन सबका परस्पर निकट-सम्बन्ध है। तुलना कीजिए गार्बे 'यह सयुक्त भौतिक आभ्यन्तर इन्द्रिय अपने अनात्मस्वरूप म तथा अपने उन समस्त व्यापारा म जिन्ह साख्य इसीका बतलाता है, स्नायुजाल (वात सस्थान) के अनुरूप है' (ई०, आर० ई०, खण्ड 2 पृष्ठ 191)।

के प्रतिबिम्ब की भी कल्पना करता है। दर्पण में प्रतिबिम्बित चेहरे को देखने के साथ-साथ हम चैतन्यरूप घटना का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। केवल इसी प्रकार चेतना अपने को पहचान सकती है।[1]

अभौतिक पुरुष तथा प्रकृति के मध्य जो सम्बन्ध है उसे समझना कठिन है। वाचस्पति के अनुसार, देश और काल के स्तर पर इन दोनों में कोई सम्पर्क नही हो सकता। इसलिए वह सन्निधि का अर्थ 'योग्यता' लगाता है। पुरुष यद्यपि बुद्धि की अवस्थाओ से पृथक् रहता है, परन्तु भ्रांतिवश अपने को बुद्धि के साथ एकात्म समझने लगता है और उसकी अवस्थाओ को अपनी ही अवस्थाए मानने लगता है। इसके विरोध मे विज्ञानभिक्षु का कहना है कि यदि इस प्रकार की विशिष्ट योग्यता को स्वीकार किया जाए तो कोई कारण प्रतीत नही होता कि क्यों पुरुष इस योग्यता को मोक्ष की अवस्था मे खो बैठता है। दूसरे शब्दों मे मोक्ष सम्भव ही न हो सकेगा क्योकि पुरुष सदा ही बुद्धि की अवस्थाओं का अनुभव करता रहेगा। इस प्रकार उसके मत से ज्ञान की प्रत्येक घटना मे बुद्धि के रूपान्तरो के साथ पुरुष का यथार्थ सम्पर्क होता है। और इस प्रकार के सम्पर्क से आवश्यक नही है कि पुरुष के अन्दर भी किसी प्रकार का परिवर्तन हो, क्योकि परिवर्तन का तात्पर्य नये गुणो का उदय होना है। बुद्धि के अन्दर परिवर्तन होते हैं, और जब ये परिवर्तन पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्बित होते हैं तो पुरुष के अन्दर द्रष्टा होने का भाव उत्पन्न होता है। और जब पुरुष बुद्धि के अन्दर प्रतिबिम्बित होता है तो बुद्धि की अवस्था एक चैतन्यमयी घटना प्रतीत होती है। किन्तु विज्ञानभिक्षु भी इतना मान लेता है कि पुरुष तथा बुद्धि के मध्य जो सम्बन्ध है वह ठीक उस प्रकार का है जैसाकि स्फटिकमणि का अपने अन्दर प्रतिबिम्बित गुलाब के फूल से है। उक्त घटना मे वास्तविक सक्रामण (उपराग) नही होता, बल्कि इस प्रकार के सक्रामण की केवल मात्र कल्पना (अभिमान) होती है।[2]

पुरुष यद्यपि असख्य तथा सार्वभौम हैं और चैतन्य के रूप है, फिर भी वे सब वस्तुओ को सब काल में प्रकाशित नही करते, क्योकि वे असंग (सगदोष से मुक्त) हैं और स्वय प्रमेय पदार्थों के रूप मे परिवर्तित नहीं हो सकते। पुरुष अपनी-अपनी बुद्धियो के रूपान्तरों को प्रतिबिम्बित करते हैं, औरो के नही। वह पदार्थ जिसमें बुद्धि प्रभावित हुई है, जाना जाता है; किन्तु वह पदार्थ जिससे यह प्रभावित नही हुई अज्ञात रहता है।[3]

जागरण, स्वप्न, निद्रा और मृत्यु—इन विभिन्न अवस्थाओं में भेद किया गया है जागरित अवस्था मे बुद्धि इन्द्रियों के मार्ग से पदार्थो के रूप में रूपान्तरित होती है। स्वप्न की अवस्था में बुद्धि के रूपान्तर सस्कारों अथवा पूर्वानुभावों के प्रभावों का परिणाम होते हैं। स्वप्नरहित निद्रा दो प्रकार की है और यह लय के पूर्ण अथवा आशिक रूप के अनुसार होती है। आशिक लय की अवस्था में बुद्धि पदार्थों के रूप मे रूपान्तरित नही होती, यद्यपि यह सुख, दुःख तथा आलस्य के रूपों को, जो इसके अन्तर्गत रहते हैं, धारण कर लेती है। यही कारण है कि जब कोई व्यक्ति नीद से उठता है तो

1 'चिच्छायापत्ति' अथवा चेतनता की छाया का पतन (सर्वदर्शनसग्रह, 15)।

2 साख्यप्रवचनभाष्य, 6 : 28 ; योगसूत्र, 1 : 4, 7। और देखिए योगभाष्य, 2 : 20 ; 4 : 22।

3 सर्वदर्शनसग्रह, 15।

उसे जिसे प्रकार की नीद आई हो उसकी स्मृति रहती है। मृत्यु मे पूर्ण लय की अवस्था रहती है।[1]

14 ज्ञान के स्रोत

ज्ञानविषयक चेतनता पाच प्रकार की है प्रमाण अथवा यथार्थज्ञान, विपर्यय अथवा अयथार्थज्ञान, जिसका आधार ऐसा रूप होता है जो प्रमेय पदार्थ का नही है,[2] विकल्प, अर्थात् ऐसी ज्ञानपरक चेतनता जो प्रचलित शब्दो से तो प्रकट की जाए किन्तु जिसका आधार कोई वस्तु न हो,[3] निद्रा अर्थात ऐसा ज्ञान जिसका आधार तमो गुण हो,[4] और स्मृति।

साख्य तीन प्रमाणो को स्वीकार करता है, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शाब्द-प्रमाण को।[5] इन्द्रियो की क्रियाशीलता से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। जब कोई पदार्थ, जैसेकि एक घडा दृष्टिपथ मे आ जाता है तो बुद्धि मे इस प्रकार एक परिवर्तन होता हे कि वह घडे का रूप धारण कर लेती है[6] और आत्मा घडे के अस्तित्व से अभिज्ञ हो जाती है।[7] प्रत्यक्ष के दो प्रकार माने हैं, अर्थात निर्विकल्प और सविकल्प। वाचस्पति के अनुसार, बुद्धि इन्द्रियो के द्वारा बाह्य पदार्थों के स्पर्श मे आती है। उक्त सम्पर्क के प्रथम क्षण मे एक अनिश्चयात्मक चेतनता होती है जिसमे कि प्रमेय विषय के विशेष लक्षण नही दिखाई देते और हमे निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है। दूसरे क्षण मे, मानसिक विश्लेषण (विकल्प) तथा सश्लेषण (सकल्प) को प्रयोग मे लाने से प्रमेय विषय एक निश्चित स्वरूप मे दिखाई देता है[8] और हमे सविकल्प प्रत्यक्ष होता है। जहा वाचस्पति का यह विचार है कि प्रत्यक्षज्ञान मे मन की क्रियाशीलता का होना आवश्यक है वहा विज्ञानभिक्षु इसे अस्वीकार करता है और कहता है कि बुद्धि इन्द्रियो द्वारा सीधे प्रमेय पदार्थों के स्पर्श मे आती है। वाचस्पति के अनुसार, मन का कार्य यह है कि इन्द्रिय-सामग्री की व्यवस्था करे और उसे सविकल्प प्रत्यक्ष का रूप दे। किन्तु विज्ञानभिक्षु का विचार है कि वस्तुओ के सविकल्प स्वरूप का ज्ञान सीधे इन्द्रियो द्वारा होता है और मन केवल इच्छा, सशय तथा कल्पना की क्षमता है। साख्य योगी पुरुषो के प्रत्यक्ष को मानता हे, क्योकि उसके मत मे सब वस्तुए सब कालो मे विकसित अथवा अविकसित (लीन) दशा मे विद्यमान रहती है। योगी पुरुष का मन, समाधि द्वारा प्राप्त की गई सिद्धियो से भूत तथा भविष्य के प्रमेय पदार्थो के सम्बन्ध मे आ सकता है, क्योकि वे पदार्थ वर्तमान मे भी अन्तर्लीन अवस्था मे विद्यमान रहते हैं।[9] मन की सिद्धियो से प्राप्त किया गया योगी का प्रत्यक्ष ज्ञान साधारण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान जैसा नही है। स्मृति मे ज्ञान, मन, अहभाव और बुद्धि ही केवल क्रियाशील रहते है, यद्यपि उनकी क्रियाशीलता पूर्वकाल के प्रत्यक्ष ज्ञानो के परिणामो की कल्पना पहले से कर लेती है, अर्थात जो स्मृति मे बनी हुई प्रतिकृति है। प्रत्यक्ष ज्ञान की बाह्य इन्द्रिया केवल ऐसे ही पदार्थो पर अपना कार्य कर

1 साख्यप्रवचनभाष्य, 1 148।
2 योगसूत्र, 1 8।
3 योगसूत्र 1 9।
4 योगसूत्र 1 10।
5 साख्यकारिका, 4।
6 तदाकारोल्लेखी।
7 सांख्यप्रवचनसूत्र, 1 89।
8 तुलना कीजिए व्यास सामान्यविशेषसमुदायो द्रव्यम् (योगभाष्य, 3 44)।
9 सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 . 91।

सकती है जो उनके समक्ष प्रस्तुत किए गए हों, किन्तु मन भूत और भविष्य को भी समझ सकता है। आभ्यन्तर प्रत्यक्षज्ञान की अवस्था में इन्द्रियों के सहयोग का प्रभाव रहता है। सुप्त एवं तत्समान अवस्थाओं का ज्ञान बुद्धि को होता है।[1]

यदि पुरुष भी जाना जा सकता है तो इसलिए क्योंकि वह बुद्धि के अन्दर प्रतिबिम्बित होता है। आत्म अपने को केवल उसी अवस्था में देख सकती है जबकि दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब पड़ता हो, अन्यथा नहीं। सब बोध आभ्यन्तर इन्द्रिय के रूपान्तर हैं। एक प्राथमिक बोध, जैसेकि 'यह घड़ा है', उस इन्द्रिय का रूपान्तर है। जब इसका प्रतिबिम्ब पुरुष पर पड़ता है तो इसका ग्रहण (ज्ञान) होता है। इस प्रकार का ज्ञान कि 'मैं घड़े को देखता हूं', आभ्यन्तर इन्द्रिय का रूपान्तर है। पुरुष, आभ्यन्तर इन्द्रिय के रूपान्तर के प्रतिबिम्ब, अर्थात् 'यह एक घड़ा है' समेत आभ्यन्तर इन्द्रिय में प्रतिबिम्बित होता है। यह दूसरा प्रतिबिम्ब आभ्यन्तर इन्द्रिय का रूपान्तर है, इस प्रकार का ज्ञान तक कि 'मैं प्रकृति से भिन्न हूं' आभ्यन्तर इन्द्रिय का रूपान्तर है।[2] प्रस्तुत पदार्थों के अनुकूल बुद्धि में भी परिवर्तन आता है।

अहं की भावना, जिसका सम्बन्ध हमारी समस्त मानसिक घटनाओं से है और जो [illegible] आत्मा के प्रतिबिम्ब के कारण है। इस [illegible] उसीका प्रत्यक्ष आत्मा फिर से करता [illegible] बुद्धि को चेतनता प्रदान करता है। पुरुष अपने को बुद्धि में पड़े अपने प्रतिबिम्ब के द्वारा ही जान सकता है, क्योंकि उसी अवस्था में वह प्रमेय पदार्थ का रूप धारण कर सकता है। वाचस्पति के अनुसार, आत्मा अपने को उसी अवस्था में जान सकता है जबकि मानसिक व्यापार से, जिसमें कि आत्मा प्रतिबिम्बित होता है, समूचा ध्यान हटा लिया जाए, तथा बुद्धि के सत्त्व-स्वरूप में प्रतिबिम्बित आत्मा पर पूर्णरूप से ध्यान केन्द्रित कर दिया जाए। इस कार्य में आत्मज्ञान का प्रमाता (विषयी) सात्त्विक-स्वरूप बुद्धि को ही कहा जाएगा, जो अपने अन्दर प्रतिबिम्बित आत्मा के कारण चेतनामय हो गई है; और आत्मा अपने निर्विकार रूप में प्रमेय (विषय)[3] होगी। व्यास का मत है[4] कि आत्मा का ज्ञान उस बुद्धि के द्वारा जिसमें आत्मा प्रतिबिम्बित हो रही है, नहीं हो सकता, बल्कि यह आत्मा ही है जो बुद्धि के विशुद्ध स्वरूप में पड़े अपने प्रतिबिम्ब द्वारा स्वयं अपने को जानती है। विज्ञान-भिक्षु का विचार है कि आत्मा अपने को अपने अन्दर पड़े हुए मानसिक रूपान्तर के प्रतिबिम्ब द्वारा जानती है। यह मानसिक रूपान्तर आत्मा के प्रतिबिम्ब को अपने अन्दर ग्रहण कर लेता है और उसी के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जैसेकि आत्मा एक बाह्य पदार्थ का ज्ञान अपने अन्दर पड़े उस

1 "स्वप्नविहीन निद्रा में, जबकि पदार्थों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता, जो सात्त्विक सुख के रूप में व्यक्त होता है और जिसे हम सात्त्विसुख के नाम से पुकारते हैं, वही बुद्धि का गुण अर्थात् आत्मसुख है" (सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 65)।

2 योगसूत्र, 2 : 20, इस प्रकार है : "द्रष्टा के रूप में आत्मा अपनी निर्मलता में निरपेक्ष है, तो भी अनुभव द्वारा देखे जाने के योग्य है" (प्रत्ययानुपश्य.)।

3 तत्त्ववैशारदी, 3 : 35।

4. योगभाष्य, 3 : 35।

मानसिक रूपान्तर के प्रतिबिम्ब के द्वारा प्राप्त करता है जो उक्त बाह्य पदार्थ (प्रमेय) का रूप धारण कर लेता है।[1] क्योकि आत्मा तात्त्विकरूप मे स्वत प्रकाश है, इसलिए यह अपने अन्दर पडे उस मानसिक दशा के प्रतिबिम्ब द्वारा जो आत्मा का रूप धारण कर लेती है, अपने को जान सकती है। विज्ञानभिक्षु आत्मा के रूप मे रूपान्तरित मनोदशा द्वारा निर्णीत आत्मा को प्रमाता (विषयी) मानता है और आत्मा को उसके विशुद्ध तात्त्विक रूप मे प्रमेय (विषय) मानता है।

प्रत्यभिज्ञा (पहचान) को भी प्रत्यक्ष ज्ञान की ही श्रेणी मे रखा गया है। यह सम्भव इसलिए है क्योकि बुद्धि नित्य है और मनुष्यो के अस्थायी ज्ञानो से सर्वथा भिन्न है। नित्य बुद्धि परिवर्तनो मे से गुजरती है, जिसके कारण यह भिन्न-भिन्न ज्ञानो के साथ सम्बद्ध हो जाती है जो प्रत्यभिज्ञा के अन्तर्गत हैं। यह आत्मा के विषय मे सम्भव नही है, क्योकि आत्मा निर्विकार है।[2]

साख्य के अनुसार, एक बोध का ज्ञान दूसरे बोध मे नही होता है, किन्तु आत्मा द्वारा होता है। क्योकि बोध को बुद्धि का व्यापार माना गया है जो अचेतन है, और इसलिए यह अपना ही ज्ञेय पदार्थ नही हो सकता, बल्कि केवल आत्मा के द्वारा जाना जा सकता है।[3]

अभाव को भी प्रत्यक्ष ज्ञान की ही कोटि मे रखा गया है। साख्य अभाव को निषेधात्मक रूप मे न मानकर उसकी अस्तित्ववाची शब्दो मे व्याख्या करता है। केवल दिखाई न देना अभाव को सिद्ध नही कर सकता क्योकि ऐसा अन्य कारणो से भी सम्भव है, अर्थात दूरी के कारण अत्यधिक निकट होने के कारण, अत्यधिक सूक्ष्म होने से, अथवा इन्द्रिय मे दोष होने से, असावधानी तथा ज्ञेय पदार्थ के छिपे रहने से, अथवा अन्य वस्तुओ के साथ मिश्रित हो जाने से भी न दिखाई देना सम्भव हो सकता है।[4] आभ्यन्तर ज्ञान, आत्मचेतना, पहचान और अभाव का ज्ञान—ये सब प्रत्यक्ष ज्ञान के ही अन्तर्गत आते है।

अनुमान दो प्रकार का बताया गया है . विध्यात्मक (वीत) और निषेधात्मक (अवीत)। वीत अनुमान का आधार विध्यात्मक साहचर्य है तथा अवीत निषेधात्मक साहचर्य है।[5] परार्थानुमान के पञ्चावयवघटित रूप को स्वीकार किया गया है।[6] व्याप्ति, निरीक्षण किए गए साहचर्य का परिणाम है, जिसके साथ साहचर्य के अभाव का न देखा जाना भी रहता है।[7] व्याप्ति, जो निरन्तर साहचर्य है, कोई पृथक् तत्त्व नही है।[8] यह

1 योगवार्तिक, 3 35।

2 उक्त प्रकल्पना की आलोचना के लिए देखिए, न्यायसूत्र, 3 2, 19।

3 योगभाष्य, 4 9।

4 और देखिए तत्त्ववैशारदी, 1 9। साख्यकारिका, 7, साख्यप्रवचनसूत्र, 1 108 9।

5 वाचस्पति पूर्ववत् तथा सामान्यतो दृष्ट प्रकार के अनुमानो को पहली श्रेणी मे तथा शेषवत् को दूसरी श्रेणी मे रखता है। देखिए तत्त्वकौमुदी, 5।

6 साख्यप्रवचनसूत्र, 5 · 27।

7 साँख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 5 28। साध्य और साधन दोनो का, अथवा किसी एक का निरन्तर साहचर्य व्याप्ति' है (साँख्यप्रवचनसूत्र, 5 29)। पहले प्रकार का दृष्टान्त यह है 'उत्पन्न हुए सब पदार्थ अनित्य हैं'' और 'जहाँ जहाँ धुआ होगा वहा वहा अग्नि होगी,'' यह दृष्टान्त दूसरे प्रकार का है।

8 तत्त्वान्तरम्, 5 30। पञ्चशिख की सम्मति मे व्याप्ति ऐसी शक्ति के धारण करने का नाम है जो स्थिर रहती है (आधेयशक्तियोग, 5 · 32)।

वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध है, किन्तु स्वयं वस्तु नहीं है।[1] 'अर्थापत्ति' तथा 'सम्भव' को भी अनुमान के अन्तर्गत माना गया है।

आप्तवचन अथवा विश्वसनीय कथन भी यथार्थज्ञान का एक स्रोत है। शब्द का अपने पदार्थ के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसाकि चिह्नित वस्तु के साथ चिह्न का सम्बन्ध है। यह आप्त पुरुषों की शिक्षा से प्रकट है, प्रयोग तथा प्रथा के विधान, परम्पराओं और इस तथ्य से भी प्रकट है कि शब्द एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं।[2] वेदों के विषय में कहा जाता है कि वे किसी पुरुष द्वारा नहीं रचे गए हैं, क्योंकि ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो वेदों के रचयिता होने का सामर्थ्य रखता हो।[3] मुक्तात्मा को वेदों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, और संसार के बन्धन में पड़े हुए मनुष्यों के अन्दर वह योग्यता नहीं कि इस कार्य को कर सकें।[4] और न ही वेद नित्य हैं, क्योंकि उनका स्वरूप अन्य कार्यों जैसा ही है। उच्चारण किए जाने के पश्चात् अक्षर नष्ट हो जाते हैं। जब हम कहते हैं 'यह वही अक्षर है' तो इसका आशय यह होता है कि यह उसी वर्ग का है।[5] केवल इसलिए कि वेदों का उद्भव किसी शरीरधारी से नहीं हुआ, हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि वे नित्य हैं, क्योंकि अंकुर नित्य नहीं है, यद्यपि इसका विकास भी किसी शरीरधारी से नहीं है।[6] वेदों के विषय इन्द्रियातीत हैं, तो भी "इन्द्रियातीत विषयों में भी व्यापक रूपों के द्वारा, जिनसे पदार्थ, अथवा शब्द द्वारा प्रतिपादित विषय के स्वरूप का निर्णय होता है, अन्तर्दृष्टि हो सकती है।"[7] यद्यपि वेद किसी शरीरधारी की रचनाएं नहीं हैं, तो भी आप्त विद्वानों ने अपने शिष्यों को पदार्थों को व्यक्त करने की उनकी स्वाभाविक शक्ति का पता दे दिया है।[8] अशरीरी द्वारा रचित होने के कारण, वेद संशय और परस्पर असंगति से रहित हैं और उन्हें स्वतःप्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि वेदों की प्रामाणिकता अन्य किसी पर आश्रित होती, तो वे हमारे लिए प्रामाणिक ग्रंथ सिद्ध न हो सकते।[9] कपिल मुनि ने कल्प के प्रारम्भ में उन्हें केवल स्मरण किया। उनके अन्तर्गत जो धार्मिक उपदेश हैं उनको मुक्त पुरुषों ने कसौटी पर कसकर तदनुकूल आचरण किया और उन्हें अन्यान्य मनुष्यों तक पहुंचाया। यदि वे जिनसे हम शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, स्वयं प्रेरणाप्राप्त ऋषि नहीं हैं, बल्कि उन्होंने भी उस ज्ञान को दूसरे से लिया है, तो यह ऐसी अवस्था है जैसेकि एक अंधा दूसरे अंधे का मार्गप्रदर्शक हो।[10] हम आप्त पुरुषों को यथार्थ मानकर स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके वाक्यों की प्रामाणिकता ज्ञान की अन्यान्य शाखाओं, यथा आयुर्वेद आदि, में कसौटी पर कसे जाने पर सिद्ध हो चुकी है।[11]

1 5 33 35।

2 साङ्ख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 5 : 38।

3 साङ्ख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 46।

4 साङ्ख्यप्रवचनसूत्र, 5 . 47।

5 साङ्ख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 5 . 45। स्फोटवाद का खण्डन, 5 : 57 में किया गया है और शब्द कार्यरूप होने से अनित्य कहा गया है (5 : 58)।

6. सांख्यप्रवचनसूत्र, 5 48।

7. अतीन्द्रियेष्वपि पदार्थताऽवच्छेदकेन सामान्यरूपेण प्रतीतेर्वक्ष्यमाणत्वात् (साङ्ख्यप्रवचनभाष्य, 5 : 42)।

8 साङ्ख्यप्रवचनभाष्य, 5 43।

9 साङ्ख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 51।

10 साङ्ख्यप्रवचनसूत्र, 3 : 81।

11. साङ्ख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 98; 4 : 51।

साख्य यह जानता है कि अन्य भी कतिपय ऐसी पद्धतियां है जो ईश्वर की वाणी होने का दावा करती है। इसलिए उसका तर्क है कि इस विषय की खोज के लिए कि कौन-सा ईश्वरीय विधान यथार्थ है और कौन सा नही, तर्क का उपयोग करना चाहिए। वाचस्पति का कहना है कि "इन पद्धतियो की अप्रामाणिकता इस कारण से है कि ये युक्तिविहीन कथन करती हैं, इन्हे पर्याप्त समर्थन का अभाव है, इनके अन्दर कही-कही तर्क-विरोधी कथन पाए जाते हैं, तथा इन्हे म्लेच्छ व इसी प्रकार की अन्यान्य नीच जातियो ने स्वीकार किया है।"[1] अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति मे एक श्लोक निम्न आशय का उद्धृत किया है : "आकाश से महान् दत्य केवल इसलिए नही उतरते कि कोई आप्त अथवा योग्य पुरुष ऐसा कहता है। मै तथा तुम्हारे जैसे अन्य पुरुष केवल ऐसे ही कथनो को स्वीकार करते हैं जिनका समर्थन तर्क द्वारा हो सके।"[2]

साख्य ने वेद को ज्ञान का साधन स्वीकार करके अपने को नवीन कृति के रूप मे प्रतीत होने से बचाया है। किन्तु जैसा हम देखेंगे, इसने कितनी ही पुरानी रूढियो को छाटकर अलग कर दिया है तथा औरो की, मौनभाव धारण करके, उपेक्षा की है। नि:सन्देह इसने कही भी वेदो का स्पष्ट रूप मे विरोध नही किया है, किन्तु उनकी नीव को खोखला कर देने की कही अधिक भयानक प्रक्रिया का आश्रय लिया है।

बुद्धि का रूपान्तर प्रमाण है और इन रूपान्तरो की यथार्थता अथवा अयथार्थता की परीक्षा परवर्ती रूपान्तरो द्वारा की जा सकती है, बाह्य पदार्थो के द्वारा नही। भ्रमात्मक बोध का विषय कोई अभावात्मक पदार्थ नही है, बल्कि भावात्मक पदार्थ है। जल की भ्रांति का विषय (पदार्थ) जल है और जब इस भ्रमात्मक बोध का सूर्य की किरणो के बोध से खण्डन हो जाता है, तो पिछले बोध का विषय सूर्य की किरणे हो जाती है।[3] यथार्थता तथा अयथार्थता स्वय बोध से ही सम्बन्ध रखती है।[4] कभी-कभी यह कहा जाता है कि केवल श्रुति ही स्वत: प्रमाण है, और प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनो मे ही भ्रम का रहना सम्भव है और इसलिए इनकी पुष्टि की आवश्यकता होती है।[5] यथार्थता की परख 'अर्थक्रियाकरित्व' (अर्थात् कार्य सिद्ध करने की क्षमता) है। इसके अतिरिक्त, हमारा बोध-ग्रहण हमारे अहकार अथवा निजी प्रयोजन की अपेक्षा करता है। ससार का अपने से भिन्न निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। जीव अपनी ही एकान्त चेतना के अन्दर बद्ध है, और उससे परे यथार्थता के ज्ञान को प्राप्त नही कर सकता। परिणाम यह निकला कि प्रत्येक लौकिक ज्ञान एक मुख्य त्रुटि से दूषित है। प्रत्येक बोध जिसमे पुरुष का सम्बन्ध है उसे आभ्यन्तर इन्द्रिय के साथ सम्मिश्रित कर देता है। बुद्धि की छाया जैसे ही पुरुष पर पडती है वैसे ही पुरुष ऐसा प्रतीत होता है कि वह ज्ञानसम्पन्न है।[6]

1. तत्वकौमुदी, 5।
2 न ह्याप्तवचनान्नभसो निपतन्ति महासुरा ।
युक्तिमदवचन ग्राह्य मयाऽन्यैच भवद्विधै ॥ (1 : 26।)
3 प्रभाचद्र इसकी आलोचना इस आधार पर करता है कि यह यथार्थ तथा अयथाय बोध के भेद को नष्ट कर देता है।
4 नैय्यायिक इस आधार पर इस मत की आलोचना करता है कि यह यदि बोध आभ्यन्तर रूप से अयथार्थ होते तो हम कार्य न कर सकते। और यदि वे आभ्यन्तर रूप मे यथार्थ हैं तो हम भ्रांत बोधो का, जो सत्य है, कोई कारण नही बता सकते।
5 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 : 147; और देखिए 1 : 36, 77, 83, 154; 2 : 20, 22; 3 : 15, 80; 4 : 22।
6 तत्वकौमुदी, 5।

15. सांख्य की ज्ञान-सम्बन्धी प्रकल्पना पर कुछ आलोचनात्मक विचार

सांख्य के तत्त्वज्ञान के समालोचनात्मक मूल्यांकन को किसी आगामी अध्याय के लिए स्थगित रखते हुए, यहां हम सांख्य की ज्ञानविषयक प्रकल्पना के कुछ आश्चर्यजनक दोषों पर संक्षेप में दृष्टिपात करेंगे।[1] इस तथ्य के आधार पर कि इस आनुभविक जगत् में व्यक्ति प्रस्तुत सामग्री को लेकर ही चलता है, सांख्य का तर्क है कि विषयी तथा विषय दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। जैसाकि हम न्याय की ज्ञानविषयक प्रकल्पना के विवेचन में देख आए हैं, विशुद्ध विषयी और विशुद्ध विषय मिथ्या अमूर्तभाव हैं, जिनका उस मूर्त अनुभव के अतिरिक्त जिसमें वे कार्य करते हैं, और कोई अर्थ नहीं है। जब सांख्य अनुभव के मूर्त एकत्व को विषयी तथा विषय इन दो अंशों में विभक्त कर देता है और उन्हें काल्पनिक रूप में निरपेक्ष बना देता है, तो वह अनुभवरूप तथ्य का कारण नहीं बता सकता। जब पुरुष को विशुद्ध चैतन्य रूप, एक स्थायी प्रकाश माना गया, जो सब ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करता है और प्रकृति को चैतन्य का विरोधी तथा सर्वथा विजातीय माना गया, तो प्रकृति कभी भी पुरुष का विषय नहीं बन सकती। सांख्य उस खाई को जो उसने विषयी और विषय के बीच खोद दी है कभी भी पार नहीं कर सकता। निकट स्थिति, प्रतिबिम्ब, और इसी प्रकार के अलंकार केवल कृत्रिम उपाय हैं, जो केवल काल्पनिक लोगों की ही चिकित्सा कर सकते हैं। यदि पुरुष और प्रकृति ठीक उसी रूप में हैं, जैसाकि सांख्य उन्हें मानता है, तो पुरुष कभी भी प्रकृति का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। पुनः यह कभी नहीं प्रकट कर सकता कि उसके अपने चैतन्य में हुए परिवर्तन, जिनको बुद्धि के रूपान्तरों का प्रतिबिम्ब कहा जाता है, किस प्रकार सम्पन्न होते हैं। सांख्य का कहना है कि जब बुद्धि का रूपान्तर होता है तो इस रूपान्तर का प्रतिबिम्ब पुरुष के चैतन्य में पड़ता है। यदि केवल तर्क के लिए प्रतिबिम्ब की इस प्रकल्पना को यथार्थ भी मान लें, तो क्या इस प्रकार मनोवैज्ञानिक विषयि-विज्ञानवाद के पाश में नहीं जकड़े जाते? प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना तथा एक ऐसी यथार्थता का प्रत्यक्ष ज्ञान जो केवल मानसिक नहीं है, एक बात नहीं है। बाह्य पदार्थ तथा आभ्यन्तर विचार में क्या सम्बन्ध है? यदि दोनों में कार्यकारण-सम्बन्ध है तो दोनों में जो नितान्त विरोध है, उसका क्या बनेगा? क्या प्रत्यक्ष ज्ञान कभी भी केवल चैतन्य का एक परिवर्तन होता है? क्या यह सदा पदार्थ की अभिज्ञता नहीं है? यदि हम अभिज्ञता तथा पदार्थ को दो भिन्न-भिन्न यथार्थसत्ताएं मान लें तो क्या हम प्रमाणीकृत अनुभव से दूर नहीं चले जाते? यदि पुरुष और प्रकृति एक-दूसरे से नितान्त असम्बद्ध हैं, तो हम चैतन्यपूर्ण घटना अथवा भौतिक प्रक्रिया की भी व्याख्या नहीं कर सकते। यह निश्चय ही एक प्रसंग-दोष है। किन्तु सांख्य अपनी इस असन्तोषजनक स्थिति को अनेकों अलंकार तथा असंगतियां प्रस्तुत करके छिपाता है। जब विषयी और विषय एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो कहा जाता है कि परस्पर गुणों का प्रतिबिम्बीकरण होता है; तभी गुणों का

[1] सांख्य तथा कान्ट द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-विषयक प्रकल्पनाओं में कुछ-कुछ सादृश्य है। दोनों के ही इस प्रपञ्चमय जगत् का निर्माण अतीन्द्रिय विषयी (पुरुषों) तथा विषय प्रकृति के सहयोग से हुआ है। दोनों ही परलोक में आत्माओं की स्वाधीनता को मानते हैं और (प्रकृति) के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, क्योंकि विषयी अपनी निष्क्रियता के कारण अपनी संवेदनाओं को उत्पन्न नहीं कर सकते। दोनों ही का मत है कि ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्य पक्षों में दोनों के प्रबल मतभेद भी है।

सक्रमण भी होता है। जब तक विषयी और विषय एक-दूसरे के सजातीय न हो, एक-दूसरे को प्रतिबिम्बित कैसे कर सकते हैं ? बुद्धि, जो जड पदार्थ है पुरुष को कैसे प्रतिबिम्बित कर सकती है ? और निराकार पुरुष, जो सतत द्रष्टा है, बुद्धि के अन्दर किस प्रकार प्रतिबिम्बित हो सकता है, क्योकि बुद्धि तो परिवर्तनशील है ? इसीलिए दोनो स्वभाव मे परस्पर सर्वथा भिन्न नही हो सकते। योगसूत्र के विभूतिपाद मे अन्तिम सूत्र मे कहा है कि जब बुद्धि भी इतनी विशुद्ध हो जाती है जितना कि पुरुष है तो मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] विशुद्ध बुद्धि पुरुष को बन्धन मे डालने का कारण नही बनती ; और बुद्धि के विनष्ट होने से पूर्व पुरुष का प्रतिबिम्ब विशुद्ध बुद्धि के अन्दर पडता है। बुद्धि के द्वारा पुरुष और प्रकृति का सम्पूर्ण ज्ञान तथा उनके परस्पर भेद का भी ज्ञान सम्भव होता है। जब तक बुद्धि स्वार्थपरक उद्देश्यो तथा विशेष-विशेष प्रयोजनो से रजित रहती है, तब तक हम सत्य को नही जान सकते।

सारय सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानरूपी तथ्य की व्यारया नही की जा सकती, क्योकि ज्ञान विषयी और विषय के सम्बन्ध का नाम है। साख्य स्वीकार करता है कि विषय (पदार्थ) ज्ञात होने के लिए विषयी पर निर्भर करता है, और विषयी को जानने के लिए विषय (पदार्थ) की आवश्यकता है। दूसरे शब्दो मे, यदि दोनो का सश्लेषण न हो तो ज्ञान हो नही सकता। विषयी अपने को पूर्ण रूप मे नही जान सकता जब तक कि वह विषय को पूर्ण रूप मे न जान ले। और यह तब तक विषय (पदार्थ) को नही जान सकता जब तक कि विषय विषयी द्वारा व्यक्त न कर दिया जाए। इस प्रकार दोनो का सम्बन्ध क्या आवश्यक नही है ? दोनो एक-दूसरे के लिए बाह्य नही हो सकते। बाह्यता की भावना उसी अवस्था मे उत्पन्न होती है जबकि हम इसकी व्यारया के लिए अनुभवरूपी तथ्य के परे जाते है।

चैतन्य के तत्त्व का प्रत्यक्षज्ञान अपने-आपमे कभी नही होता। इसका ज्ञान द्वारा अनुमान किया जाता है। इसे विशुद्ध अभिज्ञता कहा जाता है। ज्ञान के सार्वभौम तत्त्व को ही अमूर्त रूप मे पुरुष कहा गया है, अथवा यह ऐसा चैतन्य है जिसका कोई आकार नही, कोई गुण नही और जिसमे कोई गति नही है। इसे विशुद्ध प्रमाता (विषयी) बताया गया है। चैतन्य के अन्तस्तत्त्व, जो सदा घटते-बढते रहते हैं, पदार्थ-जगत् से आते है, और यह पदार्थ-जगत् ऐसी एक प्रकार की मौलिक एकता है जिसका स्वभाव ही परिवर्तनशीलता है। समस्त विषय (प्रमेय) भौतिक है, जिनके अन्दर इन्द्रिय-सामग्री और मानसिक अवस्थाए भी सम्मिलित हैं जो अपने स्वरूप मे परिमित हैं। ये आती-जाती रहती हैं और बाह्य वस्तुओ की प्रकृतितिमात्र है, यद्यपि इनका निर्माण सूक्ष्म सामग्री से हुआ हैं। यद्यपि बुद्धिगत परिवर्तन उसी वर्ग मे आते हैं जिसमे ससार की अन्य वस्तुए आती हें, तो भी पुरुष बुद्धि को प्रकाशित करता है क्योकि बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप की है और उसमे सत्त्वगुण प्रचुर मात्रा मे है। प्रकृति के अन्य पदार्थों की अपेक्षा बुद्धि पुरुष के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने के लिए अधिक अनुकूल है।[2] जहा

1 सत्त्वपुरुषयो शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

2 मूर्त द्रव्य मे पुन्ज और शक्ति, जो तमोगुण तथा रजोगुण के प्रतिरूप हैं, प्रधान लक्षण हैं। बुद्धि मे तमोगुण सबसे न्यून है और सत्त्वगुण सबसे अधिक है, और इसीलिए इसके अन्दर पारदर्शकता का गुण है। यदि बुद्धि के अन्दर केवल सत्त्व और रजस् गुण के ही अवयव रहते तो वह एक ही समय मे समस्त पदार्थो को प्रकाशित कर देती। तमस के अश के कारण वह ऐसा नही कर सकती। चेतनता रूपी प्रकाश वहा-वहा प्रतिबिम्बित होता है जहाँ-जहाँ से तमोगुण दूर हो जाता है। एक अर्थ मे बुद्धि अपने अन्दर समस्त ज्ञान को क्षमता के रूप मे निहित किए रहती है। परिणमन का समस्त क्रम वस्तुत अन्धकार के आवरण के उठ जाने पर ही आश्रित है।

तक ज्ञान का सम्बन्ध है, हम अन्य वस्तुओं का ज्ञान बुद्धिगत परिवर्तनों अथवा मनः सामग्री के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। ज्ञान की प्रत्येक क्रिया के दो अंश होते हैं—एक चैतन्यरूपी तत्त्व, जो इसे प्रकाशित करता है और दूसरा बुद्धि का परिवर्तित रूप। बुद्धि अपने-आपमें तो अचेतन है किन्तु ज्यों ही पुरुष द्वारा प्रकाशित होती है, त्यों ही चैतन्य का अन्तस्तत्त्व हो जाती है। बुद्धि की गतियां अपने-आपमें अचेतन हैं किन्तु पुरुष के साथ सम्बन्ध हो जाने से उन्हें व्यक्ति के संगत अनुभव मान लिया जाता है। अनुभव के अपने अन्दर दो तत्त्व है, जिनमें से एक निरन्तर रहनेवाला तथा दूसरा परिवर्तनशील है। हम दोनों को पृथक् नहीं कर सकते और ऐसा तर्क उपस्थित नहीं कर सकते कि दोनों का पृथक् अस्तित्व है और केवल अनुभव में आकर ये एकत्र हो जाते हैं। इस प्रकार की धारणा बनाना कि प्रमाता और प्रमेय अपने-आपमें पूर्ण हैं, सत्यरूपी बिना जोड़ के वस्त्र को फाड़ देना होगा। क्योंकि इस प्रकार हम उसके विभिन्न घटकों को पूर्ण इकाई के विरोध में खड़ा कर देते हैं जबकि वे उस इकाई के अनिवार्य अंग हैं। यदि पुरुष आत्मा है और प्रकृति अनात्म है तो पारिभाषिक दृष्टि से भी परस्पर में विरुद्ध हैं और इनके बीच कोई सम्पर्क नहीं हो सकता, और सांख्य जो इनके पारस्परिक सम्बन्ध को यन्त्रवत् बतलाता है, सो ठीक ही है। एक यन्त्रवत् सम्बन्ध इस विषय का उपलक्षण है कि चैतन्य के विषयी तथा विषय केवल संख्या की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि स्वतः पूर्ण रूप से एक-दूसरे के अनाश्रित तथा परस्पर भिन्न हैं। बुद्धि के यान्त्रिक रूपान्तर मानो जादू के बल से चेतनता के प्रकाश से प्रकाशित हो जाते हैं। इस विषय में हमें चेतनता-युक्त ज्ञान का कोई समाधान नहीं मिलता।[1] यान्त्रिक रूपान्तर के अवसर पर चेतनता का उदय एक विस्मयकारक रहस्य है। किन्तु यह समस्या हमारी अपनी ही निर्माण की हुई है। सबसे पहले तो हम एक विशुद्ध विषयी तथा एक विशुद्ध विषय की सत्ता को धारणा बना लेते हैं, जो अनुभव के क्षेत्र से सर्वथा बाहर है, और फिर उन दोनों को अनुभव के अन्दर एकत्र करने की पूरी चेष्टा करते हैं। एक अधिक सत्य दार्शनिक ज्ञान हमें बताता है कि विषयी और विषय का भेद चैतन्य अथवा ज्ञान के अन्दर किया जाता है, इसके बाहर नहीं। विषयी और विषय एकसाथ नहीं आते, किन्तु वस्तुतः वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। यदि अनुभव अपने को व्यक्त कर सकता तो यह हमें बताता कि विषयी और विषय एकत्व रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। यदि हम इस विषय को समझ लें कि समस्त चैतन्यमय अनुभव में मौलिक सम्बन्ध उन अवयवों (घटकों) का सम्बन्ध है जो एक ऐन्द्रिय एकता में हैं, जो एक-दूसरे के अन्दर ठीक वैसे ही रहते हैं जैसे कि किसी जीवित प्रक्रिया में पद (पद) होते हैं, अथवा जो किसी ऐसे व्यापक के अन्दर रहते हैं जो दोनों के ऊपर है यद्यपि वह दोनों से सर्वथा भिन्न नहीं है, तो ज्ञान को समझा जा सकता है। व्यापक चेतनता का मौलिक तथ्य सम्पूर्ण ज्ञान की पूर्वकल्पना है। सांख्य का पुरुष वस्तुतः यह व्यापक आत्मा होनी चाहिए, यद्यपि मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आत्मा को परस्पर मिला देने से इसे अनेक मान लिया गया है। निःसन्देह प्रत्येक जीव के अन्दर यह विश्वात्मा कार्य कर रही है। एक अर्थ में, हमारा ज्ञान व्यापक तत्त्व की अभिव्यक्ति है। किन्तु, एक दूसरे दृष्टिकोण से, यह एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया पर निर्भर है,

1. तुलना कीजिए : "अचेतन अहङ्कार से आत्म-प्रकाशित आत्मा की अभिव्यक्ति होती है, यह कथन ऐसा ही है जैसे कि कहा जाए कि बुझा हुआ कोयला सूर्य को अभिव्यक्त करता है।"

शान्तांगार इवादित्यमहङ्कारो जडात्मकः ।
स्वयं ज्योतिषमात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत् ॥

यामुनाचार्य: आत्मसिद्धि, ब्रह्मसूत्र के रामानुजभाष्य, 2 : 1, 1 में उद्धृत।

जिसको इसके अनुरूप पदार्थों द्वारा बाहर से उत्तेजना मिलनी चाहिए। जिनके अन्दर बुद्धि का विकास हुआ है उनमे बुद्धि एक ही समान है, और वह सब स्थानो पर अपने को व्यक्तिगत सीमाओ से मुक्त करने के लिए सघर्ष कर रही है। और यह बुद्धि सब वस्तुओ को किसी विशेष सस्थान के दृष्टिकोण से नही, बल्कि विशुद्ध विषय के दृष्टिकोण से देखती है। जहा एक अर्थ मे हमारा ज्ञान हमारा अपना है, वहा दूसरे अर्थ मे यह हमसे, जो इसे धारण किए हुए हैं, स्वतन्त्र है।

16 नीतिशास्त्र

साख्य दु ख की सार्वभौमिकता को स्वीकार करके अपने दर्शनशास्त्र का प्रारम्भ करता है,[1] और यह दु ख तीन प्रकार का है 'आध्यात्मिक', अर्थात् ऐसा दु ख जो मनुष्य के आत्मिक-भौतिक स्वरूप के कारण उत्पन्न होता है, आधिभौतिक, अर्थात् जो दु ख बाह्य-जगत् के कारण उत्पन्न हो, तथा आधिदैविक अर्थात् वह दु ख जो अतिप्राकृतिक कारणो अर्थात् दैवीय शक्तियो से प्राप्त हुआ हो। वह दु ख जो शरीर-सम्बन्धी अव्यवस्थाओ अथवा मानसिक अशान्ति के कारण उत्पन्न हो, प्रथम कोटि का दु ख हे, द्वितीय कोटि का दु ख वह है जो मनुष्यो, पशुओ तथा पक्षियो से प्राप्त होता है, और तृतीय कोटि के दु ख का अस्तित्व ग्रहो तथा पञ्चतत्त्वो के कारण है।[2] प्रत्येक व्यक्ति दु ख को कम करने और यथासम्भव उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करता है। किन्तु चिकित्साशास्त्र मे निर्दिष्ट औषधियो अथवा धर्मशास्त्रो मे विहित उपायो से दु ख को जडमूल से नष्ट नही किया जा सकता है।[3] वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। बौद्ध तथा जैन मत की भाति, साख्य भी इसी विषय पर बल देता है कि वैदिक कर्मकाण्डो मे महान नैतिक सिद्धान्तो के विपरीत आचरण पाया जाता है। जब हम 'अग्निष्टोम' यज्ञ के लिए किसी पशु की हत्या करते हैं तो अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त का व्याघात होता है। जीवहत्या, भले ही यज्ञ मे क्यो न की जाए, पाप की जननी है। इसके अतिरिक्त यज्ञ के अनुष्ठान से जिस प्रकार का स्वर्ग प्राप्त होता है वह भी अस्थायी है। स्वर्ग का जीवन तीनो गुणो से उन्मुक्त नही है। धर्म के अनुष्ठान और यज्ञ से हम कुछ समय के लिए पाप को दूर कर सकते हैं, किन्तु उससे सर्वथा छुटकारा नही पाते। मृत्यु द्वारा भी हम पाप से बचकर नही निकल सकते क्योकि वही भाग्य जन्मजन्मान्तर मे भी हमारा पीछा करता हे। यदि दु ख आत्मा के लिए स्वाभाविक है तो हम नि सहाय हैं, यदि वे केवल आकस्मिक हैं तथा अन्य किसी वस्तु से उत्पन्न होते है तो हम दु ख के उद्भवस्थान से अपने को पृथक् करके दु ख से छुटकारा पा सकते हैं।

बन्धन का सम्बन्ध प्रकृति से है और यह पुरुष के कारण होता है, ऐसा कहा गया है। "यद्यपि दु ख के बोधरूप मे बन्धन तथा क्रियाओ के रूप मे भेद और अभेद चित्त या आभ्यन्तर इन्द्रिय से सम्बन्ध रखते है, तो भी पुरुष का सुख अथवा दु ख केवल उसके अन्दर पडे दु ख के प्रतिबिम्बरूप मे है।"[4] पुरुष का बन्धन एक मिथ्या विचार[5] हे, और यह इसके चित्त के निकट होने के कारण है। इसीलिए इसे 'औपाधिक' कहा जाता हे।

1 साख्यप्रवचनसूत्र, 6 68, योगसूत्र 2 15।
2 तत्त्वकौमुदी, 1। 3 साख्यकारिका, 2,
4 साख्यप्रवचनभाष्य, 1 58।
5 वाङ्मात्रम्। साख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 1 58।

यदि दुःख के साथ पुरुष का सम्बन्ध वास्तविक होता तो उसे दूर नहीं किया जा सकता था। विज्ञानभिक्षु कूर्मपुराण से एक श्लोक उद्धृत करता है[1], जिसका आशय इस प्रकार है "यदि आत्मा स्वभाव से अशुद्ध, अशुचि तथा विकारवान होती तो वस्तुतः इसके लिए सैकड़ों जन्मों में भी मोक्ष सम्भव न हो सकता।"[2] बन्धन का कारण काल अथवा देश, शरीरधारण अथवा कर्म नहीं है।[3] ये सब अनात्म के साथ सम्बन्ध रखते हैं। किसी एक वस्तु का गुण दूसरी वस्तु के अन्दर परिवर्तन नहीं उत्पन्न कर सकता, क्योंकि उस अवस्था में या तो सभी को सुखानुभव होगा या सब दुःख अनुभव करेंगे।[4] प्रकृति का पुरुष के साथ संयोग होने से ही बन्धन की सृष्टि होती है, पुरुष स्वभाव से नित्य तथा शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप तथा बन्धनरहित है।[5] प्रकृति की केवल उपस्थिति ही अनुभव के कारण नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से मुक्तात्माओं को भी अनुभव हो सकेगा; बल्कि इसका कारण है—"अनुभव का विषय, जो मोक्ष की अवस्था में विद्यमान नहीं होता।"[6] अविवेक बन्धन का कारण है। अविवेक का सम्बन्ध बुद्धि से है, यद्यपि इसका विषय है पुरुष। इससे परिणाम यह निकला कि जब हमारा अविवेक दूर होगा, केवल तभी दुःख भी दूर होगा। ज्ञान तथा अज्ञान ही क्रमशः मोक्ष तथा बन्धन के निर्णायक हैं।[7]

पुरुष सदा से स्वतन्त्र है। यह न इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न शासन करता है, न आज्ञापालन करता है, न किसीको प्रवृत्त करता है, न रोकता है। नैतिक जीवन सूक्ष्म शरीर में निहित है, जो प्रत्येक जन्म में पुरुष के साथ जाता है। दुःख शारीरिक जीवन का सार है।[8] जब आत्मा अकेली रहती है तो पवित्र रहती है। सर्वोपरि श्रेय जो जीवात्मा का लक्ष्य है और जिसे प्राप्त करने के लिए वह पुरुषार्थ करती है, पुरुष की पूर्णता प्राप्त करना है। हमारी समस्त नैतिक क्रियाएं अपने अन्तःस्थ पुरुष की पूर्णतर अवस्था को ग्रहण करने के लिए हैं। यह संसारचक्र संघर्ष और परिवर्तन से ओत-प्रोत है और ऐसे अवयवों से मिलकर बना है जो एक-दूसरे के प्रति उदासीन तथा बाह्य हैं। जीवात्मा अपने अनन्त चक्रों में बराबर अपने साथ एकत्व-स्थापन के लिए पुरुषार्थ करती रहती है और असफल होती रहती है, अर्थात् पुरुष के पद को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करती है, जो अनादिकाल से अपने में एक है और परिपूर्ण है और जिसे किसी बाह्य वस्तु के साथ सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है, प्रत्येक जीव के अन्दर उच्चतम पुरुष विद्यमान है और इसके यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने के लिए अपने से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं, बल्कि केवल अपने वास्तविक स्वरूप से अभिज्ञ होना है। नैतिक प्रक्रिया किसी नई वस्तु का विकास नहीं है, बल्कि केवल उसे खोज निकालना है जिसे हम भूल

1 2 : 2, 12।

2 यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात्स्वभावतः।
न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 7।)

यदि दुःख पुरुष के लिए स्वाभाविक होता तो इससे छुटकारे के लिए जो आदेश दिया गया है उसकी कोई आवश्यकता न होती (सांख्यप्रवचनसूत्र, 1 : 8-11)।

3 सांख्यप्रवचनसूत्र, 1 : 2-16।

4 सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 1 : 17।

5 1, 19।

6 सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 6 : 44।

7 सांख्यप्रवचनसूत्र, 2 : 7। अनिरुद्ध अपनी सांख्यप्रवचनसूत्र वृत्ति में एक श्लोक उद्धृत करता है, जिसका आशय यह है : "वस्तुओं के स्वभाव में बन्धन नहीं है और न होने उसके अभाव के कारण मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इन दोनों का निर्माण भूल के कारण हुआ है और इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है" (1 : 7)।

8 सांख्यकारिका, 55।

गए है। अपने यथार्थस्वरूप मे लौट आने का नाम ही मोक्ष है और उस जुए को उतार फेंकना है जिसके अधीन जीवन ने अपने को कर रखा है। यह उस भ्राति को दूर करना है जो हमारे यथार्थस्वरूप को हमारी दृष्टि से छिपाए हुए है। इस प्रकार का ज्ञान कि 'मैं नही हू' (नास्मि), 'मेरा कुछ नही है' (न मे), और 'अहभाव नही है' (नाहम्), मोक्ष को प्राप्त कराता है।[1]

मोक्ष ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है अवश्य, किन्तु यह ज्ञान केवल सैद्धान्तिक नही है। *यह वह ज्ञान है जो धर्माचरण तथा योग आदि से निष्पन्न होता है।*[2] *जहा बन्धन* का मूल मिथ्या ज्ञान (विपर्यय) है, वहा इस मिथ्या ज्ञान के अन्दर केवल अविद्या अथवा अयथार्थ बोध ही नही, बल्कि अस्मिता अथवा अहभाव, राग अथवा इच्छा एव द्वेष और अभिनिवेश अथवा भय भी आ जाते है।[3] ये अशक्ति अथवा अयोग्यता के कारण उत्पन्न होत है, जो अट्ठाईस प्रकार की है, जिनमे ग्यारह का सम्बन्ध इन्द्रियो से और सतरह का सम्बन्ध बुद्धि से है।[4] नि स्वार्थ कर्म अप्रत्यक्ष रूप मे मोक्ष का साधन है।[5] अपने-आप यह हमे मोक्ष की ओर नही ले जाता। इसके द्वारा दिव्य लोको मे जन्म मिलता है जिसे *मोक्ष के साथ मिश्रित नही करना चाहिए।*[6] *सदसद्विवेक के पश्चात् जो वैराग्य होता* है, वह उससे भिन्न है जो उससे पूर्व होता है।[7] वैराग्य अथवा अनासक्ति द्वारा ही प्रकृति के अन्दर विलय होता है।[8] प्रकृति के अन्दर इस प्रकार का विलय परम मुक्ति नही है, क्योकि इस प्रकार प्रकृति मे विलीन हुई आत्माए फिर से ईश्वरो अथवा प्रभुओ के रूप मे प्रकट होती है, क्योकि उनकी भूल ज्ञान द्वारा दग्ध नही होती। "वह जो पूर्वसृष्टि मे कारण (प्रकृति) मे विलीन हो गया था, दूसरी सृष्टि मे आदि पुरुष बनता है, जो स्वरूप मे *ईश्वर अथवा प्रभु होता है सर्वज्ञ और सर्वकर्ता होता है।"*[9] *नैतिक पुण्यकर्म चैतन्य को* गहराई तक पहुचने मे हमारे सहायक बनते है, जबकि दुष्कर्म इस चैन्तय को अन्धकारमय बनाते हैं। दुराचरण मे लिप्त रहने से आत्मा अपने को भौतिक शरीर मे अधिकाधिक फसा लेती है।

साख्यसूत्र मे योग की पद्धति का प्रमुख स्थान है, यद्यपि साख्यकारिका मे ऐसा नही है। हम उसी अवस्था मे विवेकमय ज्ञान प्राप्त कर सकते है जबकि हमारी भावना-प्रधान उत्तेजनाए वश मे रहे तथा हमारा अपनी बौद्धिक क्रियाओ पर नियन्त्रण रहे। जब इन्द्रिया नियमपूर्वक कार्य करती हो और मन शान्ति प्राप्त कर ले तो बुद्धि पारदर्शी हो जाती है और उसमे पुरुष का विशुद्ध प्रकाश प्रतिविम्बित होता हे। बुद्धि का आभ्यन्तर स्वरूप सात्त्विक है, परन्तु अपने प्राप्त किए हुए सवेगो तथा प्रवृत्तियो (वासनाओ) के कारण उसका अपनी अन्त स्थ विशुद्धि से ह्रास हो जाता है। बाह्य पदार्थों से

1 साख्यकारिका 64। 2 साख्यप्रवचनभाष्य 3 77 और 78।
3 साख्यप्रवचनसूत्र और साख्यप्रवचनभाष्य 3 37।
4 साख्यप्रवचनसूत्र, 3 38, साख्यकारिका 49। 5 1 82, 85।
6 साख्यप्रवचनसूत्र) 3 52-53।
7 तत्त्वकौमुदी, 23 म वैराग्य के चार भेद बताए गए है।
8 वैराग्यात् प्रकृतिलय (साख्यकारिका, 4 साख्यप्रवचनसूत्र 3 54)।
9 साख्यप्रवचनभाष्य, 3 56। वाचस्पति ने नाना प्रकार के बन्धनो म भेद किया है, जैसे प्राकृतिक वैकृतिक और दाक्षिणक। प्रथम प्रकार के प्रकृति को निरपेक्ष (परम) आत्मा मानते हैं, दूसरे प्रकार के प्रकृतिजन्य भौतिक पदार्थों को निरपेक्ष आत्मा समझ लेते हैं, तीसरे आत्मा के यथार्थस्वरूप को भूलकर सांसारिक क्रियाओ मे निजी स्वार्थों की सिद्धि के लिए लिप्त रहते ह (तत्त्वकौमुदी, पृष्ठ 44, तत्त्वसमास, पृष्ठ 19)।

चित्त पर पड़े दोषबिन्दु ध्यान द्वारा दूर हो जाते हैं।[1] जब चित्त अपनी आद्यस्थिति को फिर से प्राप्त कर लेता है और अपने को इच्छाओं से मुक्त कर लेता है, तो बाह्य विषय प्रेम अथवा घृणा को उत्तेजना नहीं देते। जब बाह्य पदार्थ हमारे आहंकारिक हितों को उत्तेजित नहीं करते बल्कि अपने यथार्थस्वरूप को प्रकट करते हैं, तब हमें आध्यात्मिक शान्ति तथा शान्तचित्तता प्राप्त करना शेष रह जाता है। क्योंकि यह सर्वथा अनासक्ति साधारण मनुष्यों की पहुंच से बाहर है, इसलिए वे अवैयक्तिक दृष्टिकोण को कला का आश्रय लेकर विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। कलापूर्ण रचनाएं प्राकृतिक जगत् से एक क्षणिक मुक्ति प्रदान करने में समर्थ होती हैं।

गुणों के सिद्धांत[2] में बहुत बड़ा नैतिक महत्त्व छिपा है। संसार के प्राणियों का वर्गीकरण उनके अन्दर भिन्न भिन्न गुणों के अनुसार किया गया है। देवताओं में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तथा रजस् और तमस् न्यून अवस्था में रहते हैं। मनुष्य में तमोगुण का अंश देवों की अपेक्षा कम न्यून होता है। पशुजगत् में सत्त्वगुण बहुत न्यून हो जाता है। वनस्पतिजगत् में औरों की अपेक्षा तमोगुण अधिक प्रधान रहता है। ऊपर की ओर उन्नति करने में सत्त्वगुण के अंश का क्रमिक रूप में बढ़ना और तमोगुण का न्यून होना सम्मिलित है, क्योंकि दुःख रजोगुण का विशेष परिवर्तित रूप है।[3] वस्तुतः, गुण हमारे जीवन के प्रत्येक रेशे में मिलते हैं, संयुक्त होते हैं और चेष्टावान हैं। उनकी सापेक्ष क्षमता ही हमारे मानसिक स्वरूप की निर्णायक होती है। हमें इस जगत् में बहुत उच्च आध्यात्मिक शक्ति रखने वाले, आवेशपूर्ण उग्र शक्ति वाले और उदासीन हीनात्मा पुरुष मिलते हैं। यदि तमोगुण प्रधान हो तो यह निष्क्रियता को उत्पन्न करता है तथा अज्ञान, दुर्बलता, अयोग्यता, विश्वास के अभाव और कर्म करने में, अरुचि उत्पन्न करता है। यह असंस्कृत, आलसी और अज्ञानी मानव-स्वभाव को उत्पन्न करता है। जिन मनुष्यों में रजोगुण प्रधान होता है, वे साहसी, बेचैन तथा कर्मशील होते हैं। सत्त्वगुण के कारण विवेचनात्मक, संतुलित तथा विचारशील स्वभाव का विकास होता है। तीनों गुण भिन्न-भिन्न अनुपात में सब मनुष्यों में पाए जाते हैं। किन्तु ऋषियों, सन्तों तथा महात्माओं में सत्त्वगुण बहुत उच्च कोटि की विकसित अवस्था में रहता है। योद्धा में, राजनीतिज्ञ में और कर्मवीर शक्तिशाली मनुष्य में रजोगुण बहुत उच्च कोटि की विकसित दशा में रहता है। यद्यपि ये गुण हमारे जीवन के प्रत्येक भाग में अपना असर रखते हैं, तो भी अपेक्षाकृत तीनों गुण जीवन के तीन आवश्यक अवयवों पर, अर्थात् मन, जीवन तथा शरीर पर अपना प्रभुत्व अधिक रखते हैं। सांख्य पक्षों में किसी प्रकार का पुण्य नहीं मानता। उसके मत में शूद्रों के लिए उच्च शिक्षा का द्वार अवरुद्ध नहीं है। शिक्षक ब्राह्मण ही हो यह आवश्यक नहीं है, बल्कि जो मुक्तात्मा है वही शिक्षक है। योग्य शिक्षक (गुरु) की प्राप्ति हमारे पूर्वजन्म के सुकृत से होती है।

17. मोक्ष

सांख्यदर्शन में मोक्ष केवल प्रतीतिमात्र है, क्योंकि बन्धन का सम्बन्ध पुरुष के साथ है ही नहीं। बन्धन और मुक्ति पुरुष और प्रकृति के संयोग तथा वियोग को बतलाते हैं, जो

1. सांख्यप्रवचनसूत्र, 3 : 30; सांख्यप्रवचनभाष्य, 3 : 30।
2. जहां सांख्य में गुणों को आत्म-रहित माना गया है, वहीं वेदान्त के अनुसार वे बुद्धि के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करते हैं।
3. दुःखं रजःपरिणामविशेषः।

अभेद तथा भेद ज्ञान का परिणाम है।[1] प्रकृति पुरुष को बन्धन मे नही डालती किन्तु नानाविध रूपो मे स्वय अपने को बन्धन मे डालती है।[2] पुरुष तो पाप और पुण्य दोनो के विरोधो से सर्वथा स्वतन्त्र है।[3] इस प्रकार जहा बन्धन प्रकृति की ऐसे व्यक्ति के प्रति क्रिया है जो प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान नही रखता, वहा मुक्ति प्रकृति की ऐसे व्यक्ति के प्रति निष्क्रियता है जो भेदज्ञान रखता है।[4] जब प्रकृति सचेष्ट रहती है तो यह पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेती है और अपनी छाया पुरुष के ऊपर डालती है। फिर भी पुरुष के अन्दर प्रतीत होता हुआ यह परिवर्तन कृत्रिम तथा अवास्तविक है।[5] सूक्ष्म शरीर के साथ पुरुष का सयोग ही ससार का कारण है, और पुरुष तथा प्रकृति के भेदज्ञान द्वारा इस सयोग का उच्छेद करके मोक्ष प्राप्त हो सकता है। जब प्रकृति अपने को पुरुष से पृथक् कर लेती है तो पुरुष अनुभव करता है कि प्रकृति के प्रयत्नो को अपना मानना मूर्खता थी। पुरुष अपना पृथक्त्व सदा के लिए स्थिर रखता है और प्रकृति फिर से निष्क्रिय हो जाती है। जब तक बाह्य पदार्थ आत्मा के यथार्थस्वरूप को आवृत किए रहते है तब तक मोक्षप्राप्ति नही हो सकती। जब प्रकृति कार्य करना बन्द कर देती है तब बुद्धि के परिवर्तन भी बन्द हो जाते है और पुरुष अपने स्वाभाविक रूप मे आ जाता है।[6] "मुक्तात्मा के लिए प्रधान द्वारा सृष्टिकार्य का रोक दिया जाना इसके अतिरिक्त और कुछ नही है कि उसके अनुभव के कारण का उत्पादन नही होता, अर्थात् उसकी अपनी उपाधि का विशेष रूपान्तर, जिसे जन्म कहते हैं, नही होता।"[7] मुक्त हो जाने पर पुरुष के साथ मे कोई नही रहता, वह अपने अतिरिक्त और किसी को नही देखता तथा किसी प्रकार के विजातीय विचारो को भी प्रश्रय नही देता।[8] यह अब प्रकृति अथवा तज्जन्य पदार्थो पर निर्भर नही करता, बल्कि सर्वथा पृथक् एक नक्षत्र के समान रहता है, जिसे सासारिक चिन्ताए बाधा नही दे सकती। यथार्थ मे बद्ध तथा मुक्त के अन्दर कोई भेद नही है, क्योकि मुक्ति का अर्थ है उन बाधाओ का दूर हो जाना जो पुरुष के पूर्ण वैभव के अभिव्यक्त होने मे अडचन डालती है।[9] समाधि अर्थात् परमानन्ददायक चैतन्य की अवस्था मे, सुषुप्ति और मोक्ष की अवस्था मे बुद्धि के परिवर्तनो के विलय हो जाने से पुरुष अपने स्वाभाविक रूप अर्थात् ब्रह्मरूपता मे रहता है।[10] सुषुप्ति तथा परमाह्लादकर चैतन्य की दशा मे भूतकाल के अनुभवो के अवशेष विद्यमान रहते हैं। किन्तु मोक्ष की अवस्था मे ये अनुपस्थित रहते हैं।[11] मोक्ष प्राप्त हो जाने पर भेदकारक ज्ञान स्वय भी विलुप्त हो जाता है, क्योकि यह एक ऐसी औषधि के समान है जो रोग के साथ-साथ अपने को भी बाहर निकाल देती है। मोक्ष नाम दु ख से छुटकारे का

1 साख्यप्रवचनसूत्र, 3 72।
2 साख्यकारिका, 62।
3 साख्यप्रवचनसूत्र, 3 64, योगसूत्र, 2 22।
4 साख्यकारिका, 61।
5 साख्यप्रवचनसूत्र, 2 8। और तुलना कीजिए साख्यप्रवचनभाष्य, 1 164
6 साख्यप्रवचनसूत्र 2 34, योगसूत्र, 2 3।
7 मुक्त प्रति प्रधानसृष्ट्युपरमो यत् तद्भोगहेतो स्वोपाधिपरिणामविशेषस्य जन्माख्यस्यानुत्पादनम् (साख्यप्रवचनभाष्य, 6 44)।
8 प्रकृतिवियोगो मोक्ष हरिभद्र।
9 साख्यप्रवचनसूत्र, 6 20।
10 योगसूत्र, 1 4।
11 साख्यप्रवचनसूत्र, 5 117।

है, सब प्रकार के जीवन से छुटकारे का नही है। साख्य का दृढ़ विश्वास है कि पुरुष निरन्तर रहता है, और इसीलिए हम सांख्य को निराशावादी नही मान सकते। जब प्रकृति का नाटक समाप्त हो जाता है तो इसके विकास अविकसित रूप मे लौट आते हैं। पुरुष द्रष्टा रहते हैं यद्यपि उनके देखने के लिए कुछ शेष नही रहता। वे ऐसे दर्पण के समान रह जाते हैं जिनके अन्दर कुछ भी प्रतिबिम्बित होने को नही है। वे प्रकृति तथा उसके दूषणो से पृथक् सदास्थायी मुक्त अवस्था तथा कालातीत अवकाश में विशुद्ध प्रज्ञा के रूप मे विद्यमान रहते हैं। मोक्ष की प्राप्ति पर, "पुरुष अविचलित और आत्मसयमी रूप मे एक दर्शक की भांति उस प्रकृति के विषय में चिन्तन करता है जिसने अपना कार्य करना बन्द कर दिया है।"[1] साख्य के मुक्ति-सम्बन्धी आदर्श को बौद्धो के शून्यतापरक आदर्श अथवा आत्मा के लोप[2] से, अथवा अद्वैत सिद्धान्त के ब्रह्म मे विलीन होने[3] के भाव, अथवा योगदर्शन की अलौकिक सिद्धियों[4] के साथ न मिला देना चाहिए। और न ही मुक्ति आनन्द की अभिव्यक्ति है, क्योंकि पुरुष सर्वगुणातीत है।[5] धर्मशास्त्रों के वाक्य जो आनन्द के विषय मे कहते हैं उनका तात्पर्य यही है कि मोक्ष की अवस्था दुःख से छुटकारा पाने का ही नाम है।[6] जब तक पुरुष के अन्दर गुण विद्यमान रहते हैं वह मुक्त नही है।[7]

भेदज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर प्रकृति तुरत ही पुरुष को स्वतन्त्र नही कर देती, क्योंकि पिछले स्वभाव के बल के कारण कुछ और काल तक इसका कार्य चलता रहता है।[8] होता केवल इतना ही है कि शरीर इसमे बाधक नही रह जाता। प्रारब्ध-कर्म के बल से शरीर भी चलता रहता है, यद्यपि नये कर्म सचित नही होते। जीवन्मुक्त को यद्यपि अविवेक नही व्याप सकता तो भी उसके पूर्वसस्कार उसे शरीर धारण करने के लिए बाध्य करते हैं।[9] बन्धन से मुक्ति और शरीर का चलते रहना ये दोनो अवस्थाए एक-दूसरे के अनुरूप है (अर्थात् परस्पर-प्रतिकूल नही हैं), क्योंकि उनके निर्णायक, भिन्न-भिन्न कारण है। मृत्यु के उपरान्त जीवन्मुक्त सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेता है, जिसे 'विदेहकैवल्य' कहते हैं।[10] जीवन्मुक्त हमें मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपायो के विषय मे उपदेश करते हैं।[11]

यदि प्रकृति के नाटक का अन्त हो जाता है तो पुरुष फिर दर्शक नही रह जाता, क्योंकि उसके देखने को फिर कुछ नही रहता। तो भी ऐसा कहा गया है कि मुक्तात्मा को समस्त विश्व का ज्ञान रहता है।[12] इस विषय का ज्ञान हमको नही है कि मुक्तात्माओं मे परस्पर सामाजिक सम्पर्क होता है या नही। ऐसा प्रतीत होता है कि वैयक्तिकता का

1 और देखिए साख्यकारिका, 65।
2. साख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 77-79।
3 साख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 81।
4 साख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 82।
5 5 : 74।
6 5 : 67।
7. साख्य का मोक्ष विषयक मत अरस्तू के परमानन्द के मत से भिन्न नही है जिसका रूप सब प्रकार की क्रियाओ से स्वतन्त्र चिन्तनमात्र है।
8 साख्यकारिका, 67।
9 साख्यप्रवचनसूत्र, 3 : 82 83।
10 छान्दोग्य उपनिषद्, 8 : 12, 1।
11. 3 : 79।
12 साख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, 6 59।

सर्वथा लोप हो जाना ही लक्ष्य है, व्यक्तित्व को ऊचा उठाना लक्ष्य नही है। प्रकृति तथा अन्य आत्माओ से पृथक्त्व की सबसे उच्च अवस्था तो निष्क्रियता ही है, जिसमे भावना का कोई विश्वास अथवा कर्म की कोई चेष्टा क्षोभ उत्पन्न नही कर सकती। बहुत सम्भव है कि इसे मूर्च्छावस्था के समान समझ लिया जाए। प्रशस्तपाद साख्य की मोक्ष-विषयक प्रकल्पना मे आपत्ति उठाता है इस आधार पर कि प्रकृति, जो अपने स्वभाव से ही क्रियाशील है, निष्क्रिय नही रह सकती। यदि प्रकृति ज्ञानरहित है तो वह इस विषय का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकती है कि पुरुष ने सत्य का साक्षात्कार किया या नही ?[1] यदि साख्य के मत मे वस्तुओ का केवल तिरोभाव होता है, नाश नही होता, तो अज्ञान तथा वासना आदि के भी पूर्णरूप मे विनाश की कोई सभावना नही है। दूसरे शब्दो मे, इस-की पूरी सभावना है कि वे मुक्तात्मा के अन्दर फिर से फूट निकलें।[2]

18 परलोक-जीवन

साख्य दोनो दिशाओ मे आत्मा के अनन्त जीवन का निश्चित रूप मे प्रतिपादन करता है। यदि आत्मा का जीवन अनन्त काल से न हो तो कोई कारण नही कि इसका जीवन अनत काल तक रहे। इसलिए आत्मा अजन्मा है। हम आत्माओ की नित्यता को जितना ही अधिक स्वीकार करेंगे, स्रष्टा ईश्वर की आवश्यकता उतनी ही कम होगी।[3] साख्य के मतानुसार, प्रकृति और पुरुष मे भेद न करना ही ससार का कारण है। यह अभेदभाव ही अन्त करण पर एक सस्कार छोडता है, जो आगामी जन्म मे उसी साघा-तिक दोष को उत्पन्न करता है। लिङ्गदेह, अथवा सूक्ष्म शरीर, के अन्दर, जो एक मूर्त शरीर से दूसरे मूर्त शरीर मे निरन्तर सक्रमण करता है, बुद्धि, अहकार और मन, पाचो ज्ञानेन्द्रिया तथा पाचो कर्मेन्द्रिया, पाच तन्मात्राए और भौतिक तत्त्वो के मूलतत्त्व विद्य-मान रहते है, जो बीज का कार्य करते है और उनमे से यह भौतिक शरीर उत्पन्न होता है। भौतिक तत्त्वो के ये सूक्ष्म भाग मानसिक उपकरण के लिए ऐसे ही आवश्यक है जैसेकि किसी चित्र के लिए पर्दा।[4] यह सूक्ष्म शरीर, जो स्वरूप मे अपार्थिव है, अपने नानाविध सक्रमण मे किए गए कर्मों के प्रभावो को ग्रहण करता है। नये शरीर के रूप का निर्धारण यही सूक्ष्म शरीर करता है। सुख और दु ख का वास्तविक अधिष्ठान यही

1 'वस्तुत उदाहरण के रूप मे, हम देखते है कि उस अवस्था मे भी जबकि यह शब्द का प्रत्यक्षज्ञान करवा देती है यह उसी प्रत्यक्षज्ञान की ओर भी काय करती रहती है और इसी प्रकार यह भेदज्ञान करा देने के पश्चात् भी उसी उद्देश्य को लेकर कार्य करती रहेगी, क्योकि इसकी क्रियाशीलता का स्वभाव (उक्त ज्ञान से) दूर नही होगा' (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह पृष्ठ 7)।

2 उदयनकृत परिशुद्धि' 2 2 13, शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 323 से आगे।

3 कुछ विचारक, जैसे मैक्टैगार्ट, सर्वशक्ति रहित एव अनुत्पादक ईश्वर के पक्ष मे तर्क उप-स्थित करते हैं।

4 साख्यकारिका 41। इसलिए हम यह नही कह सकते कि केवल बुद्धि, अहकार तथा मन से ही काम चल जाएगा क्योकि इन्हे भी एक सूक्ष्म शरीर के आधार की आवश्यकता होती है। कुछ विद्वानो के मत मे यह वाक्य एक स्थूल शरीर की माग उपस्थित करता है। किन्तु इस प्रकार की व्याख्या सन्तोषजनक नही है क्योकि यह प्रकट तथ्य है कि एक जीवन से दूसरे जीवन मे सक्रमण-काल मे सूक्ष्म शरीर बिना स्थूल शरीर के भी विद्यमान रहता है। विज्ञानभिक्षु का सुझाव है कि एक तीसरे प्रकार का भी शरीर है जिसे अधिष्ठान शरीर कहते हैं और जिसकी रचना भौतिक तत्त्वो के सूक्ष्म रूपो द्वारा होती है तथा जो सूक्ष्म शरीर को ग्रहण करता है (साख्यप्रवचनभाष्य 3 12)।

है।[1] सूक्ष्म शरीर, पुरुष से भिन्न होने पर भी, मनुष्य के विशिष्ट लक्षण तथा व्यक्तित्व को बनाता है। इसी के अन्दर संस्कार अथवा पूर्वप्रवृत्तियां निहित रहती हैं। सूक्ष्म शरीर की तुलना नाटक के ऐसे पात्र के साथ की जाती है जो नाना प्रकार की भूमिकाओं में कार्य करता है। इसमें यह शक्ति इसलिए है क्योंकि यह प्रकृति के सर्वव्यापकत्व गुण में हिस्सा बटाता है। सूक्ष्म शरीर के साथ पुरुष का संयोग दुःख का कारण भी है और लक्षण भी है, और यह तब तक स्थिर रहता है जब तक यथार्थ अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं हो जाती। जहां सूक्ष्म शरीर बराबर बने रहते हैं, वहां वे शरीर जिनका माता व पिता के द्वारा निर्माण होता है, मृत्यु के समय नष्ट हो जाते हैं।[2] सूक्ष्म शरीर का भौतिक शरीर के साथ सम्बन्ध ही जन्म है, तथा उससे पृथक् होना मृत्यु है। उन पुरुषों की अवस्था को छोड़कर जो मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं, लिंग-शरीर का अस्तित्व एवं पुनर्जन्म सम्पूर्ण मन्वन्तर तक रहता है, जिसके अन्त में विश्राम तथा साम्यावस्था की पुनरावृत्ति होती है। किन्तु जब सृष्टि का फिर से आरम्भ होता तो यह पुनः अपने मार्ग पर चल देता है।

यथाक्रम शरीर रूपी स्थानों में प्रतिष्ठापन का निर्णय भावों (प्रवृत्तियों) द्वारा होता है, जो उन कर्मों के परिणाम हैं जिनका सूक्ष्म तथा भौतिक शरीर के बिना सम्पन्न होना असम्भव है।[3] बीज तथा अंकुर की भांति यह अन्योन्याश्रय-निर्भरता अनादि है और इसे दोष न मानना चाहिए।[4] बुद्धि, अहंकार, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर का विकास एक भौतिक प्रक्रिया है और परिणाम भी भौतिक है, यद्यपि इनमें से कुछ पदार्थ इतनी सूक्ष्म रचना वाले हैं कि साधारण इन्द्रियों द्वारा उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। यह भौतिक संघटन ही एक जीवित प्राणी, देवता, मनुष्य अथवा पशु बन जाता है, जब इसका सम्बन्ध किसी पुरुष के साथ हो जाता है।

धर्म और अधर्म प्रकृति की उपज हैं और अंतःकरण के गुण हैं।[5] ये विशेष शरीरों तथा इन्द्रियों के निर्माण में—जो जीवित प्राणियों के अनुकूल हों, अर्थात् विकास की श्रेणी में उनके अपने-अपने स्थान के अनुसार हों—सहायक होते हैं। कर्म का विधान भावों अर्थात् बुद्धि की प्रवृत्तियों द्वारा कार्य करता है।[6] प्रत्येक आत्मा अपने शारीरिक संघटन की अपेक्षा करती है, और अपने अदृष्ट के अनुसार उच्चतम से निम्नतम प्राणी तक की

1 सांख्यप्रवचनसूत्र, 3 : 9।

2 सांख्यकारिका, 39।

3 सांख्यकारिका, 52। जहां वाचस्पति और नारायण लिंगशरीर तथा भाव के परस्पर-सम्बन्ध को अनुभववर्ती और अनुभूत पदार्थों के सम्बन्ध के रूप में व्याख्या करते हैं, वहां विज्ञानभिक्षु इसे बुद्धि और इसकी उपाधियों का सम्बन्ध बताता है।

4 इस प्रकार सृष्टि तीन प्रकार की है : एक, भौतिक सर्ग जिसमें आत्माएं स्थूल शरीरों के साथ रहती हैं। इसमें आठ उत्कृष्ट प्राणियों के और पांच निम्नतम श्रेणी के प्राणियों के वर्ग हैं, जो मनुष्योंप्रकार के सहित, जिसकी अलग ही एक श्रेणी है, तीनों लोकों में फैले प्राणियों के चौदह वर्ग हो जाते हैं। दूसरी लिंगशरीरों की सृष्टि (तन्मात्रसर्ग), और तीसरी बौद्धिक सृष्टि (प्रत्ययसर्ग अथवा भावसर्ग) जिसके अन्दर बुद्धि की प्रवृत्तियां, भावनाएं और क्षमताएं, जिनके चार विभाग उनके बाधाशक्ति को बाधा देने, अयोग्य बनाने, सन्तुष्ट करने तथा सम्पूर्ण करने के कारण किए गए हैं, अन्तर्निहित रहती हैं (सांख्यकारिका, 53, सांख्यप्रवचनसूत्र, 3 : 46)।

5 सांख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 25, सांख्यकारिका, 43।

6 सांख्यकारिका, 40, 43, 55, भगवद्गीता, 7 : 12 ; 10 : 4, 5।
तीन प्रकार के शरीरों के लिए देखिए सांख्यप्रवचनसूत्र, 5 : 124।

श्रेणियो मे से गुजर सकती है,[1] जो सख्या मे चौदह है। हमे एक ऐसा शारीरिक सघटन प्राप्त हो सकता है जहा हमारा जीवन अस्पष्ट सवेदनाओ, और पशुओ की सहज प्रवृत्तियो अथवा वनस्पतिजगत की मूढ गतियो तक सीमित हो। वनस्पतिजगत् भी अनुभव का एक क्षेत्र है।[2] ये सब प्रकृतिजन्य वस्तुए अन्तर्निविष्ट पुरुष के विकास को रोक सकती हैं किन्तु उसे नष्ट नही कर सकती।

19. क्या सांख्य निरीश्वरवादी है

हम देख आए है कि किस प्रकार साख्य के मूल तत्त्वो को उपनिषदो तथा भगवद्गीता मे आदर्शपरक ईश्वरवाद के आगे गौण स्थान प्रदान किया गया है। महाकाव्य के दर्शन ने जहा साख्यप्रतिपादित विश्व के सृष्टि-विषयक सिद्धान्त तथा पुरुष की नितान्त निष्क्रियता की प्रकल्पना को अपना लिया, वहा उसने पुरुष तथा प्रकृति को आत्मनिर्भर यथार्थ-सत्ताओ के रूप मे स्वीकार नही किया, बल्कि इन्हे एक परम ब्रह्म की अवस्थाओ के रूप मे प्रस्तुत किया। तो भी साख्यदर्शन अपने प्राचीन शास्त्रीय रूप मे ईश्वरवाद का समर्थन नही करता। एक परम आत्मा के सर्वोपरि भाव के प्रति अपनी उपेक्षा, तथा अविद्या के सम्बन्ध और आत्मा के ससार मे उलझे रहने के अपने सिद्धान्त से साख्य हमे बौद्ध मत स्मरण कराता है। यह सम्भव है कि साख्य का प्रयत्न व्यवस्थित रूप मे इस प्रकार की घोषणा करने मे रहा हो कि युक्तियुक्त पद्धति का आश्रय हमे आत्माओ की यथार्थता के प्रत्याख्यान की दिशा मे नही ले जाता।

सृष्टिरचना-सम्बन्धी कठिनाइयो का दिग्दर्शन कराया गया है। समस्त कार्य या तो किसी स्वार्थ को लक्ष्य मे रखकर किए जाते है या उपकार की दृष्टि से किए जाते है। ईश्वर, जिसके सब स्वार्थ पूर्ण हो चुके हैं, अब और कोई स्वार्थ नही रखता। यदि ईश्वर स्वार्थमय उद्देश्यो अथवा इच्छाओ से प्रभावित होता है तो वह स्वतन्त्र नही है। और यदि वह स्वतन्त्र है तो वह सृष्टिरचना-सम्बन्धी कार्य मे अपने को लिप्त नही करेगा।[3] यह कहना कि ईश्वर न तो स्वतन्त्र है, न बद्ध ही है तर्क के समस्त आधार को ही मिटा देना होगा। ससार की रचना को दया कार्य नही माना जा सकता, क्योकि सृष्टि-रचना से पूर्ण आत्माओ को कोई दु ख नही था, जिससे छुटकरा पाने की उन्हे आवश्यकता हो। यदि ईश्वर केवल शुभ कामना से ही प्रेरित हो तो उसके द्वारा उत्पन्न सभी प्राणी सुखी होने चाहिए थे। यदि यह कहा जाता है कि आचरण के भेदो के अनुसार ईश्वर को मनुष्यो के साथ भिन्न भिन्न बर्ताव करना होता है, तो इसका उत्तर यह है कि कर्मविधान ही कार्यकारी सिद्धान्त हुआ और ईश्वर की सहायता अनावश्यक है।[4] फिर भौतिक पदार्थ का उद्भाव एक अभौतिक आत्मा से नही हो सकता। पुरुषो का नित्यजीवन ईश्वर की अनन्तता तथा उसके कर्तृत्व के साथ सगति नही रखता। ईश्वरवाद अमरत्व मे आस्था को दुर्बल करता हुआ प्रतीत होता है, क्योकि यदि आत्माओ का स्रष्टा कोई है, तो आत्माए अनादि न हुई और तब आत्माए अमर भी नही हो सकती। साख्य का, जो ज्ञान की कडी सीमाओ के ही अन्दर रहने के लिए उत्सुक है, यह मत है कि ईश्वर की

1 साख्यकारिका, 44।
2 साख्यप्रवचनसूत्र, 5 12।
3 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 · 93 94।
4 साख्यप्रवचनसूत्र, 5 1। देखिए तत्वकौमुदी, 57।

यथार्थता तार्किक प्रमाणों द्वारा सिद्ध नही की जा सकती।[1] ईश्वर के पक्ष मे कोई युक्ति-युक्त प्रमाण, अथवा आनुमानिक ज्ञान अथवा श्रुतिविहित प्रमाण नही है। सांख्य इन अर्थों मे अनीश्वरवादी नही है कि वह यह सिद्ध करता है कि ईश्वर नही है। यह केवल यही प्रदर्शित करता है कि ईश्वर है—ऐसी कल्पना करने का कोई हेतु नही है।[2] धर्मशास्त्रों मे जो ईश्वरवादपरक वाक्य आते हैं, वे वस्तुत मुक्तात्माओं की स्तुतियां हैं।[3]

वैदिक ऋचाओ के पुरातन देवता हेतुवादी सांख्य की छत्रछाया में रह सकते हैं। किन्तु वे स्वरूप मे नित्य नही हैं। साख्य एक व्यवस्थापक ईश्वर की कल्पना को स्वीकार करता है, जो सृष्टिरचनाकाल मे प्रकृति के क्रमिक विकासों की व्यवस्था करता है। शिव, विष्णु इत्यादि केवल प्रतीतिरूप माने गए हैं।[4] सांख्य एक ऐसे ईश्वर को मानता है जो पहले प्रकृति के अन्दर लीन था और पीछे से प्रकट हुआ।[5] आत्माएं, जो महत् आदि के प्रति अनासक्ति भाव के अभ्यास द्वारा प्रकृति में लीन हो जाती हैं, सर्वज्ञ तथा सर्वकर्ता कही जाती हैं।[6] ये वे लक्षण हैं जिन्हें हम साधारणतया ईश्वर के बताते हैं, किन्तु क्योंकि साख्य के मत मे प्रकृति सदा दूसरे के शासन में रहती है,[7] इसलिए ये देवता स्वतन्त्र नही हैं।

प्रकृति का अचेतन किन्तु अन्तस्थ हेतुविज्ञान जो हमें लीब्नीज़ के पूर्वस्थित सामञ्जस्य के सिद्धान्त का स्मरण कराता है, साख्यदर्शन में एक कठिन समस्या है। यह कैसे होता है कि प्रकृति का विकास आत्माओं की आवश्कताओं के अनुकूल हो जाता है? पुरुष के बिना प्रकृति नि.सहाय है, और न ही पुरुष प्रकृति की सहायता के बिना मोक्ष प्राप्त कर सकता है। दोनों को एक-दूसरे से नितान्त विलक्षण मानना कठिन है। लगडे और अधे का दृष्टान्त असगत है, क्योंकि वे दोनों चेतन हैं और परस्पर परामर्श कर सकते हैं। परन्तु प्रकृति चेतन नही है।[8] फिर, अन्त में केवल पुरुष ही मोक्ष प्राप्त करता है ऐसा कहा गया है, प्रकृति नही। चुम्बक तथा लोहे के टुकडे की उपमा भी यहा ठीक नही बैठ सकती, क्योंकि पुरुष और प्रकृति के सान्निध्य का स्थायित्व होने से विकास का भी कभी अन्त न होगा। प्रधान ज्ञानविहीन है और पुरुष उदासीन है, और उन्हें परस्पर सम्बद्ध करने वाला कोई तीसरा तत्त्व नही है। ऐसी अवस्था मे दोनों का सम्बन्ध नही हो सकता।[9] उस नटी की उपमा जो दर्शकों के आगे प्रदर्शन करके अपना नाच बन्द कर देती है, सम्यक् कल्पना प्रतीत नही होती। पुरुष भूल से प्रकृति के साथ सम्मिश्रित हो जाता है, और उसके प्रतिकार का उपाय इस गडबड को और अधिक गडबडाता प्रतीत होता है। कहा जाता है कि बुराई को उसका पूर्ण उपभोग करके दूर करना है। पुरुष को मोक्ष तब होगा जब इसे प्रकृति के कार्यकलाप से सर्वथा विरक्ति हो जाएगी।

1 साख्यप्रवचनसूत्र, 5 12। तुलना कीजिए डार्विन : "सब वस्तुओ के प्रारम्भ-सम्बन्धी रहस्य का हम उद्घाटन नहीं कर सकते, और कम मे कम मैं तो अवश्य अज्ञानी बने रहने मे ही सन्तोष-लाभ करूंगा" (लाइफ एण्ड लेटर्स आफ चार्ल्स डारविन)।

2 वह यह नही कहता "ईश्वराभावात्" किन्तु केवल यही कहता है—"ईश्वरासिद्धे"।

3 साख्यप्रवचनसूत्र, 1, 95, 3 : 54 56।

4 साख्यप्रवचनसूत्र, 3 · 57।

5 प्रकृतिर्लीनस्य [illegible]

6 सर्ववित् सर्वकर्ता,

7 साख्यप्रवचनसूत्र, [illegible] योगसूत्र, 4 : 3।

8 शाकरभाष्य, 2 : 2, 7।

9 शाकरभाष्य, 2 : 2, 7।

परवर्ती विचारको ने पुरुष की आवश्कताओ तथा प्रकृति के कर्मो के इस सामञ्जस्य की व्याख्या करना असम्भव देखा, और इसलिए बाधाओ को दूर करके प्रकृति के विकास के मार्गप्रदर्शन का कार्य ईश्वर के सुपुर्द किया।[1] इस प्रकार उन्होने उक्त दर्शन की मौलिक योजना को उत्कृष्ट बनाया। साख्य की माग एक ऐसे सर्वग्राही जीवन के लिए है जो भिन्न-भिन्न पुरुषो को उनके अपने अपने सस्थान सुपुर्द करता है। वाचस्पति का मत है कि प्रकृति के विकास का सचालन एक सर्वज्ञ आत्मा द्वारा होता है। विज्ञानभिक्षु का विचार है कि कपिल द्वारा ईश्वर का निषेध एक प्रकार का नियामक सिद्धान्त है जिसपर उसने इसलिए आग्रह किया कि जिससे मनुष्यो को एक नित्य ईश्वर की ओर अत्यधिक ध्यान लगाना छोडने के लिए फुसलाया जा सके, क्योकि ईश्वर की ओर अत्यधिक ध्यान लगाना सत्य तथा भेदविधायक ज्ञान के मार्ग मे बाधक होता है। अनीश्वरवाद को भी वह एक अनावश्यक रूप से अमर्यादित दावा (प्रौढिवाद) मानता है, यह दिखाने के लिए कि साख्यदर्शन को एक ईश्वरवादी प्रकल्पना की आवश्यकता नही है। कभी-कभी वह साख्य के अनीश्वरवाद को प्रचलित मतो के प्रति रियायत बताता है।[2] और बहुत ही भोलेपन से यह भी सुझाव देता है कि निरीश्वरवाद का आविष्कार इस निश्चित उद्देश्य को लेकर किया गया है कि दुर्जन पुरुषो को भरमाया जा सके, जिससे कि वे यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने से दूर रहे।[3] ईश्वर क विषय मे साख्य के भाव की व्याख्या कर डालने का भी वह प्रयत्न करता है। अनेक स्थानो पर[4] विज्ञानभिक्षु साख्य के विचारो तथा वेदान्त के विचारो मे परस्पर समन्वय स्थापति करने का प्रयत्न करता है।[5] वह एक व्यापक पुरुष की यथार्थता को स्वीकार करता है। "वह, सर्वोपरि, अर्थात् व्यापक सार्वभौम, सामूहिक पुरुष है, सब कुछ जानने तथा सब कुछ करने की शक्ति रखता है, और चुम्बक पत्थर के समान केवल सान्निध्य के कारण गति देने वाला है।"[6] तो भी साख्य तत्त्वज्ञान-विषयक मौलिक समस्या को दृष्टि से ओझल कर देता है, क्योकि यह पर्याप्त रूप मे सर्वाङ्गीण नही है। इसके समक्ष इस प्रकार का एक भ्रमपूर्ण विचार रहा कि उक्त जिज्ञासा का इसके अपने प्रयोजन के साथ कोई सम्बन्ध नही है।

20 सामान्य मूल्यांकन

दार्शनिक विचारधारा के इतिहास का विद्यार्थी मौलिक समस्याओ की पुनरावृत्ति को निरन्तर ही पाता है, भले ही उनके कथन विविध प्रकार के क्यो न हो और भले ही उनके रचयिताओ का काल तथा स्थान एक दूसरे से कितना ही भिन्न क्यो न हो। समस्याओ मे परिवर्तन नही होता, समाधानो के अन्दर भी उतना परिवर्तन नही होता,

1 वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु और नागेश। तुलना कीजिए वाचस्पति ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थ प्रतिबन्धापनय एव व्यापार (तत्ववैशारदी 4 3)।

2 अभ्युपगमवाद (साख्यप्रवचनभाष्य प्रस्तावना)।

3 पापिनां ज्ञानप्रतिबन्धायम।

4 साख्यप्रवचनभाष्य, 1 122 5 61 65, 6 52 66।

5 ससार के उपादान कारण प्रकृति को ब्रह्म स अविभक्त बताया गया ह। और यह ब्रह्म आत्माओ से भिन्न ह (साख्यप्रवचनभाष्य 1 69 3 66)।

6 स हि पर.पुरुषसामान्य सवज्ञानशक्तिमत सवकतृताशक्तिमच्च (साख्यप्रवचनभाष्य 3 57)। और देखिए साख्यप्रवचनभाष्य, 5 12।

जितना कि उनके प्रयोग में होता है। जब विकास की वैज्ञानिक प्रकल्पना जीवन के अत्यन्त अपरिपक्व अंकुर से लेकर पूर्ण विकसित पुष्प समान पुरुष तक विकास की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया की खोज करती है, तो यह प्रकल्पना ऐसी नहीं है जिसे नया समझा जा सके, क्योंकि यह इतनी ही पुरातन है जितनी कि भारत में उपनिषदें अथवा यूनान में अनाक्सिमाण्डर, हिरेक्लिटस और एम्पिडोक्लीज हैं। किन्तु इस विषय में, जो नवीन है वह विकास के ब्यौरों का परीक्षणात्मक अध्ययन और आधुनिक विज्ञान द्वारा उक्त प्रकल्पना का प्रमाणीकृत किया जाना है। सांख्य की प्रकल्पना, जो मनुष्य के मानसिक अनुभव की आवश्यकता को कुछ सन्तोष प्रदान करती है, एक ऐसा दार्शनिक विचार है जो अधिकतर तत्त्वविज्ञान-विषयक प्रवृत्तियों के सांचे के प्रभाव से प्राप्त हुआ है, न कि पदार्थों के अस्तित्व-सम्बन्धी अध्यवेक्षण से उत्पन्न वैज्ञानिक प्रेरणा द्वारा मिला है। किन्तु सांख्य का दार्शनिक मत, जो प्रकृति और पुरुष के द्वैतभाव तथा अनन्त पुरुषों के अनेकत्व का प्रतिपादन करता है और जिसके अनुसार प्रत्येक पुरुष असीमित है और तो भी अन्यों की असीमितता का व्याघात नहीं करता और उनसे बाह्य तथा स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, दर्शनशास्त्र की मुख्य समस्या का सन्तोषप्रद समाधान नहीं माना जा सकता। द्वैतवाद-परक यथार्थवाद मिथ्या तत्त्वविज्ञान का परिणाम है। हमारे लिए प्रारम्भ में ही यह समझ लेना ठीक होगा कि पुरुष और प्रकृति अनुभवजन्य तथ्य नहीं हैं, बल्कि अनुभव से परे की इस प्रकार की अमूर्तभावात्मक सत्ताएं हैं जिन्हें इस समस्या की व्याख्या के लिए मान लिया गया है।

सांख्य की पुरुष-विषयक प्रकल्पना का तात्पर्य इस मौलिक तथ्य से है कि चैतन्य गति, ताप तथा विद्युत् की भांति शक्ति का एक रूप नहीं है। अत्यन्त समुन्नत विज्ञान केवल मात्र एक ऐसे सम्बन्ध को ही सिद्ध कर सका है जिसमें कतिपय स्नायविक प्रक्रियाएं कतिपय चैतन्यपूर्ण घटनाओं के साथ समन्वित रहती हैं। जहां भौतिक जीवन से हमें चैतन्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, वहां चैतन्य को अपने ऐहलौकिक रूप में भौतिक जीवन के माध्यम का संसर्ग मिलता है। इस अनिवार्य सम्बन्ध को दृष्टि से ओझल करना भूल है। पुरुष के विषय में कहा गया है कि उसका अस्तित्व मानसिक अवस्थाओं की अविच्छिन्न गति से ऊपर तथा उनसे पृथक् है। इस प्रकार का पुरुष न तो अनुभवगम्य है और न ऐहलौकिक तत्त्वविज्ञान के विचार-क्षेत्र में आता है। यदि हम पुरुष से उस सबको पृथक् कर दें जो भौतिक है, अनुभूत पदार्थों के प्रत्येक गुण को उससे हटा दें, तो ऐसी प्रत्येक सामग्री जिसके द्वारा हम इसको निश्चित रूप से लक्षित कर सकें, हमारे वश के बाहर हो जाएगी। निषेधात्मक पद्धति का अवलम्बन करके पुरुष की परिभाषा करते हुए, उसे नित्य तथा अखण्ड कहा गया है, "जो परिणामी नहीं है अर्थात् विविधता की छाया से भी रहित है" और सदा अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित है। यहां तक कि यह आदर्श क्रियाशीलता से भी वञ्चित है और एक विशुद्ध चेतना की सम्भावना मात्र बनता है। हमारे व्यक्तित्व के अन्दर इसकी कल्पना इस रूप में की गई है कि यह ऐसा एक तत्त्व है जो हमारी मानसिक प्रक्रियाओं को, जिनका उद्गम हमारे भौतिक संघटन द्वारा हुआ है, प्रकाशित करता है। यह उस नाटक के पात्रों में सम्मिलित नहीं है जिसका कि यह साक्षीरूप में द्रष्टा है। वह आत्मा जिसके उपयोग के लिए प्रकृति की कला का अस्तित्व है, कभी रंगमंच पर नहीं आती, यद्यपि यह कहा जाता है कि समस्त अनुभव उसकी ओर संकेत करता है। हमें जो दृष्टिगत होता है वह जीव है, जो विशुद्ध पुरुष नहीं है, बल्कि प्रकृति की उपाधि से युक्त पुरुष है। प्रत्येक आत्मा जो हमारे ज्ञान में आती है, शरीरधारी आत्मा है। हम जीव की एकता का विभाजन कर देते हैं जब हम

उसे उस पुरुष की बगल मे रखते है जो अपने मे परिपूर्ण है और बाह्य जगत् के पदार्थो तथा, प्राणियो के माथ, जो केवल प्रकृतिजन्य पदार्थो के सघटन है केवल आनुषङ्गिक रूप मे सम्बद्ध है। यदि हम अनुभवजन्य तथ्यो मे ठीक-ठीक विश्वास करे तो हमे स्वीकार करना होगा कि एक निर्गुण आत्मा, जिसमे से समस्त वस्तुविषय निकाल दिया गया है, केवल एक कल्पित रचना है।

पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी गई साख्य की युक्तिया आनुभविक व्यक्तियो के अस्तित्व का ही प्रमाण बनती है अतीन्द्रिय प्रमाताओ के अस्तित्व का नही। यह तथ्य साख्य की पुरुषो के अनेकत्व की प्रकल्पना मे स्पष्टरूप मे प्रकट हो जाता है। पुरुषो के अनेकत्व के विषय मे प्रधान हेतु जो दिया गया है वह यह है कि यदि केवल एक पुरुष होता तो जब इसकी बुद्धि भ्राति से वापिस लौटती तो समस्त सृष्टि की प्रक्रिया का अन्त हो जाता। किन्तु ऐसा कुछ नही होता। यह विश्वरूपी नाटक अनन्त बद्ध आत्माओ के लिए तब भी निरन्तर चलता रहता है जबकि कुछ एक आत्माए मोक्ष प्राप्त कर लेती है। यह युक्ति कि यदि पुरुष अनेक न होकर एक ही हो तो शरीरो मे अवस्थित सभी जीवात्माए एक ही समय मे मृत्यु को प्राप्त हो जाए और एक ही समय मे जन्म ग्रहण करे, इस धारणा के आधार पर है कि जन्म तथा मृत्यु शाश्वत पुरुष पर लागू है, जो साख्यदर्शन को अभिमत नही है। हम केवल यही अनुमान कर सकते है कि शरीरधारी आत्माए अनेक हैं और भिन्न-भिन्न है, क्योकि वे सब एक साथ न जन्म लेती हैं, न मरती है। यदि एक मनुष्य किसी विशेष पदार्थ को देखता है तो अन्य मनुष्य उसे उसी समय मे नही देखते, क्योकि प्रत्येक जीवात्मा का अपना अपना शारीरिक सघटन तथा अपनी अपनी रुचि है।[1] अनुभवसिद्ध आत्माओ की अनेकता से, जिसे सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं, नित्य आत्माओ की अनेकता के प्रति, जिसे साख्य मानता है जाने की आवश्यकता प्रतीत नही होती। साख्य-प्रतिपादित पुरुष प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। हम इसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार के विशिष्ट लक्षणो, जैसे व्यक्तित्व अथवा सृजनशक्ति आदि का प्रयोग नही कर सकते। पुरुषो के विषय मे सब प्रकार के विशिष्ट लक्षणो का प्रयोग सम्भ्रम के कारण है। आत्मा सब प्रकार के गुणो से रहित है, अखण्ड है, अविनश्वर है, अचल है, सर्वथा निष्क्रिय तथा धीर है सुख-दु ख तथा अन्य किसी प्रकार की भावना से अप्रभावित रहती है। समस्त परिवर्तन तथा लक्षण प्रकृति से सम्बद्ध है। पुरुषो के अन्दर भेद प्रतिपादन करने का कोई आधार प्रतीत नही होता। यदि प्रत्येक पुरुप के अन्दर एक ही समान चैतन्य तथा सर्वव्यापकता के लक्षण है, एक-दूसरे के अन्दर न्यूनातिन्यून भेद भी नहीं है, क्योकि वे सब प्रकार की विविधता से उन्मुक्त है तो पुरुषो के अनेकत्व की कल्पना करने का कोई भी कारण नही रहता। बिना भेद के बहुत्व असम्भव है। यही कारण है कि गौडपाद सरीखे सारय के टीकाकारो का भी झुकाव एक पुरुप की प्रकल्पना की ओर है।[2] वस्तुओ का सुखोपभोक्ता एक अवश्य होना चाहिए, वह यह दर्शाता है कि एक सुखोपभोक्ता आत्मा है, निष्क्रिय पुरुप नही है। रूप, जन्म, मृत्यु उदभवस्थान तथा भाग्यसम्पद् के पृथक् पृथक् विवरण हमे केवल अनुभूतिसिद्ध ऐहलौकिक जीवो के बहुत्व की ओर ले जाते हैं। तीन वृत्तियो की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ से हम मौलिक अनेकत्व का अनुमान नही कर सकते, क्योकि वे तो केवल प्रकृति के रूपान्तर हैं। यह कहा जाता है कि प्रकृति के विषय मे जो सारय का यह मत है कि प्रकृति पुरुपा

1 सर्वसिद्धान्तसारसग्रह, 12 68 69।
2. देखिए साख्यकारिका, 11 और 44 पर गौडपाद।

के भोग तथा मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है, इस मत की माग है कि पुरुषों को अनेक होना चाहिए। यदि पुरुष केवल एक ही होता तो बुद्धि भी एक होती। किन्तु हमें याद रखना चाहिए कि विशुद्ध पुरुष अमर तथा उदासीन है और उसे किसी विषय की कामना नहीं है। प्रकृति का नाटक सदास्वतन्त्र पुरुषों के लिए नहीं है, बल्कि केवल प्रतिबिम्बित अहंभावरूप जीवात्माओं के लिए है। जीवात्माओं के अनेकत्व के विषय में कोई विवाद नहीं है। अपीधाण तथा मोक्ष के लिए उत्कण्ठा उन आत्माओं के लिए ही ठीक है जो भेद न करने के कारण दुःख पा रही हैं, भिन्न-भिन्न युक्तियां प्रकृति से सम्बद्ध वास्तविक आत्माओं के ही बहुत्व को सिद्ध करती हैं, उस पुरुष को नहीं जिसे हम नेति-नेति के मार्ग से प्राप्त करते हैं। अनेकत्व में सीमितताएं मिश्रित रहती हैं, और एक परम, अविनश्वर, शाश्वत तथा अनुपाधिक पुरुष एक से अधिक नहीं हो सकता। यदि पुरुष की सत्ता प्रकृति के अभिनय के लिए आवश्यक है तो एक पुरुष पर्याप्त है।[1] यह प्रकट है कि सांख्य पुरुष की यथार्थसत्ता को स्वीकार करने के लिए बाध्य है, क्योंकि इसका महत्त्व जगत् की व्याख्या करने के लिए है। प्रत्येक चैतन्यपूर्ण अवस्था का सम्बन्ध एक सचेतन व्यक्ति के साथ होता है। हमें केवल तभी संवेदना होती है जब आत्मा किसी एक रूप में संवेदना प्राप्त करती है, अन्यथा कभी नहीं होती। किन्तु हम पुरुष की आत्मा को उसके अनुभवों से पृथक् करके कैसे जान सकते हैं। जहां हम मानसिक तथ्यों का विवरण बिना किसी मानसिक प्रमाता (विषयी) की कल्पना किए नहीं दे सकते, वहां हम उनका विवरण सही-सही नहीं दे सकते, यदि उस प्रमाता (विषयी) को किसी अभौतिक द्रव्य का रिक्त केन्द्र बना दें या उसे एक ऐसी सार्वभौमिकता अपरिवर्तनीय तत्त्व मान लें जो सम्बंधित विशिष्ट तथ्यों से सर्वथा असम्बद्ध हो। पुरुष की उपस्थिति के द्वारा अपने चैतन्यपूर्ण अनुभवों की उत्पत्ति की व्याख्या करना वस्तुतः तथ्य के विशिष्ट स्वरूप को फिर से दोहराना है और सारांश में इसे अपना कारण आप बताना है। पुरुष कोई ऐसा अति-प्राकृतिक आच्छादन नहीं है जो अपने अन्दर समस्त चैतन्य अनुभवों को समाविष्ट कर ले। समस्त सांख्य में पुरुष और जीव के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं मिलता। यदि पुरुष अनादिकाल में अपरिवर्तनीय, निष्क्रिय तथा सर्वथा पृथक् है तो यह ज्ञाता अथवा उपभोक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में वह अध्यारोपण के आधार पर भूल भी कर सकता है।[2] किन्तु ये गुण प्रकृति के नहीं हो सकते, क्योंकि ये प्रज्ञावान प्राणियों के गुण हैं। अध्यारोपण अथवा अध्यास का तात्पर्य है किसी प्रज्ञासम्पन्न प्राणी द्वारा एक पदार्थ के गुणों का दूसरे पदार्थ में आधान किया जाना। इस प्रकार जीवात्मा के विचार का विकास हुआ। जीवों का अस्तित्व व्यक्तियों के रूप में है। परन्तु इससे हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि पुरुष अपना स्वतन्त्र अस्तित्व किसी अन्य लोक में, जो देश और काल की परिधि से बाहर है, रखते हैं। पुरुष पूर्ण आत्मा का नाम है, जिसे मनुष्यदेहस्थ आत्मा के साथ न मिला देना चाहिए। पुरुष निश्चय ही मुझमें, इस व्यक्तिरूप मुझ में है

1 सर्वव्यापक आत्माओं के अनेकत्व के विषय में, जिनका स्वरूप निर्गुण तथा सर्वातिश्रेष्ठ विशुद्ध प्रज्ञा है, शंकराचार्य कहते हैं, 'यह सिद्धान्त कि सब आत्माएं प्रज्ञारूप हैं और उनमें प्रकृति के सान्निध्य आदि (निष्क्रियता अथवा आत्माओं के औदासीन्य) के विषय में कोई भेद नहीं है, यह उपलक्षित करता है कि यदि एक आत्मा का सम्बन्ध सुख और दुःख से है तो सब आत्माएं सुख-दुःख से सम्बद्ध रहेंगी' (शांकरभाष्य, 2 : 3, 50)। "यह मानना कि अनेकों सर्वव्यापी आत्माएं हैं, असम्भव है, क्योंकि इस प्रकार का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता" (शांकरभाष्य, 2 : 3, 53)। आत्माएं यदि एकसमान सर्वत्र व्यापक हैं तो सब एक ही स्थान को घेरेंगी।

2 सांख्यकारिका, 20-21।

जो मेरा अन्तस्तत्त्व तथा सारतत्त्व है। और जीव अथवा व्यक्ति, अपनी समस्त अविवेक-पूर्ण मनको तथा स्वार्थपरक उद्देश्यो सहित, उस पुरुष की केवल विकृति है। इस प्रकार का कथन कि प्रत्येक जीव अपने पुरुष को समझने के लिए प्रयत्नशील है, यह निर्देश करता है कि प्रत्येक जीव मौलिक रूप मे पुरुष है, प्रत्येक मानव मौलिक रूप मे दिव्य है।

प्रकृति भी अनुभव से एक अपकर्षण है। पदार्थ-जगत् के पक्ष मे यह एक प्रति-बन्धकभाव है। यह उस अज्ञात तथा पदार्थ जगत् के कल्पनात्मक कारण की सज्ञा है। यदि यथार्थ अनुभवसिद्ध है, तो प्रकृति विशुद्ध प्रमेय विषय का ऐसा अपकर्षण है जो बुद्धिगम्य नही है। जब प्रकृति के लिए 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो प्रकृति का उक्त स्वरूप स्वीकार कर लिया जाता है। यह केवल मात्र रिक्तता है, क्याकि यह वस्तुओ का रूपरहित अधिष्ठान है। पदार्थ जगत् के सर्वाधिक सामान्य लक्षण प्रकृतिविषयक विचार के अन्दर सक्षिप्त रूप मे आ जाते है। शारीरिक तथा मानसिक सृष्टि का प्रत्येक भाग उस तनाव का[1] प्रतीक है जो एक गुण और उसके विरोधी के मध्य विद्यमान है और जो क्रियाशीलता को उत्पन्न करता है। यदि परिवर्तन अन्तर्निहित क्षमता का वास्तविकता तक पहुचने का मार्ग है, तो इसे एक प्रकार का ऐसा सघर्ष मानना चाहिए जो किसी भी आकृति को अपने यथार्थ रूप को प्राप्त करने के लिए मार्ग मे आनेवाली बाधाओ पर विजय पाने के लिए करना होता है। तीनो गुण समस्त सत्ता के तीन क्षणो को दर्शाते है, और प्रकृति, जिसे तीनो गुणो की साम्यावस्था कहा गया है, समस्त जीवन का केवल ढाचा मात्र है। जैसाकि महादेव कहता है, यह ऐसी कोई वस्तु नही है जो गुणो की पृष्ठभूमि मे रहती है, किन्तु गुणो की त्रिमूर्ति है।[2] तीनो गुण प्रकृति के रूप है, धर्म नही। यथार्थ मे जो एक भावात्मक अपकर्षण है वह, व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर, एक भेदरहित बहुगुण बन जाता है, जिसके अन्दर सब वस्तुओ को उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है।

साख्य मे प्रतिपादित प्रकृति तथा गुणो की परिभाषा से ऐसा मत बनाने की प्रवृत्ति होती है कि प्रकृति तथा उसका विकास ये अन्ततोगत्वा सही अर्थो मे यथार्थ नही है। तीनो गुण समस्त जीवन की आवश्यक अवस्थाओ के उपलक्षण है। प्रकृति के विकास की प्रत्येक स्थिति मे सन्निहित हैं—एक आदर्श अथवा आशय (सत्त्व), उसे प्राप्त करने का प्रयत्न (रजस्), और एक भौतिकता (तमस्)। ये अपकर्षण नहीं हे, बल्कि कम से कम विज्ञान भिक्षु की सम्मति मे निश्चित विध्यात्मक सत्ताए है। बिना इनके कुछ भी नही रह सकता। साख्य के अनुसार, ये सघर्ष की स्वाभाविक स्थिति मे रहते हैं। प्रकृति के अन्दर विरोधी क्षमताए रहती हैं। इनमे केवल क्रियाशीलता की प्रवृत्ति ही नहीं हे, बल्कि क्रियाशीलता का विरोध करनेवाली विपरीत प्रवृत्ति भी हे। तमस् एक निरोधक शक्ति है। क्रियाशीलता मे बाधा डालने के कारण यह क्रियाशीलता का आधार भी बन जाता है। सत्तावान, अथवा वह जिसक अन्दर तीन गुण ह अधिक न अधिक यथार्थता का नही बल्कि एक स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। सत्त्व, रजस् और तमस् को एक ओर विरोधी स्थिति मे विद्यमान मानना और दूसरी ओर पदार्थ के घटक मानना केवल तभी सम्भव है जबकि हम यह स्वीकार करे कि प्रत्येक पदार्थ,

1 विषमत्व। देखिए मैत्रायणी उपनिषद, 5 2।

2 साख्यप्रवचनभूल वृत्तिसार, 1 61। और देखिए 6 39। तुलना कीजिए गुणा एव प्रकृतिशब्दवाच्या न तु तदतिरिक्ता प्रकृतिरस्ति (योगवार्तिक, 2 18)।

जिसके अन्दर गुण हैं, एक मथर्य है, एक अयथार्थसत्ता है जो अपने-आपको अतिक्रमण करने का प्रयत्न कर रही है। इस प्रकृतिरूप जगत् में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जो परिपूर्ण हो और सामञ्जस्य धारण किए हो, क्योंकि सदा ही एक गुण अन्य गुणों को अपनी अधीनता में रखता है। यहां तक कि जब सत्त्व का प्राबल्य होता है तब भी तमस् विद्यमान रहता है यद्यपि वह सत्त्व की अधीनता में रहता है। विकास इससे अधिक और कुछ नहीं है कि किसी एक गुण का प्राधान्य हो, अथवा किसी एक गुण का दमन हो। किन्तु दमन सर्वथा दमन नहीं है। कोई एक गुण अन्य गुणों का मूलोच्छेदन नहीं कर सकता। हम ऐसी किसी अवस्था को विचार में नहीं ला सकते जबकि सत्त्व, रजस् और तमस् अन्यों पर विजय प्राप्त करके अपने-आपमें अस्तित्व रखते हों, या सामाञ्जस्य भाव से रहते हों। प्रलय काल में वे नितान्त सामञ्जस्यपूर्ण अवस्था में रहते प्रतीत होते हैं। किन्तु यह केवल प्रतीतिमात्र ही है, क्योंकि प्रकृति के विषय में कहा गया है कि वह प्रलय में तनाव की स्थिति में रहती है। इसमें तीन गुण हैं, परन्तु क्योंकि तीनों एक समान शक्तिशाली हैं, इसलिए कोई विकास नहीं होता। विकास तब होता है जबकि इनमें से किसी एक गुण का अधिक प्राधान्य हो जाता है। जब तक सामञ्जस्य नहीं हो जाता, विकास-कार्य का अन्त नहीं होता। सांख्यदर्शन ऐसी एक अवस्था की आशा नहीं रखता जो पूर्णता की अवस्था हो और जिसमें तीनों गुण सामञ्जस्य-भाव भाव में रहें। प्रकृति की मूल अवस्था सामञ्जस्य की अवस्था नहीं कही जा सकती। यथार्थ में, यह असमञ्जस की अवस्था है, अर्थात् ऐसी अवस्था जिसमें प्रकृति को न तो हम क्रियाशील ही कह सकते हैं और न निष्क्रिय ही कह सकते हैं। परस्पर असंगत एक-दूसरे के सर्वथा विरोध में स्थित प्रतीत होते हैं। यह इतनी सम्भावना नहीं बल्कि उसकी सीमा अर्थात् असम्भावना है, जहां सम्भावनाएं इतनी अधिक विभक्त रहती हैं कि वे परस्पर-विरोधी होती हैं। प्रकृति को किसी भी अर्थ में न तो एकत्व और सामञ्जस्य ही माना जा सकता है। यह मूर्तरूप सामान्य नहीं है, जो भिन्न-भिन्न सत्ताओं को बन्धन में एकत्र रखता है, अथवा सत् का नग्न एकत्व भी नहीं है जो उन सबका लक्षण है। यह गुणों की एक क्षुब्ध अवस्था है। प्रकृति के क्षेत्र में व्यवस्था लाने तथा उसे सार्थक करने के लिए पुरुष की आवश्यकता है। पुरुष के प्रभाव से असमञ्जस की अवस्था लुप्त हो जाती है; कोई न कोई गुण औरों को दबा कर सर्वोपरि हो जाता है। पूर्णता की अवस्था कभी नहीं हो सकती। गुणों के लिए सामञ्जस्य असम्भव है। जहां पूर्णता की अवस्था नहीं है, वहां परिवर्तन, विकास अथवा उलझाव का प्रकट हो जाना आवश्यक है। प्रकृति का जगत् अपने आपमें नहीं है। इसके तीनों गुणों को धारण करने से ही इसका आत्मविरोधी स्वरूप प्रकट होता है। क्योंकि पूर्णता अथवा यथार्थता वह है जिसमें तीनों गुणों के विरोध का दमन कर दिया गया हो अथवा अतिक्रमण कर लिया गया हो, और प्रकृति का स्वरूप ऐसा नहीं है; इसलिए यथार्थ नहीं है। प्रकृति की प्रक्रिया की अन्तर्निहीनता ही इसे अयथार्थ तथा सापेक्ष बना देती है। अद्वैत वेदान्त इस परिणाम का सामना करता है और प्रकृतिजगत् को माया मानता है।

यदि प्रकृति के सम्बन्ध में हम सांख्य के मत को तथा पुरुष से इसकी नितान्त स्वतन्त्रता को स्वीकार करें, तो प्रकृति के विकास की व्याख्या करना असम्भव हो जाएगा। हम नहीं जानते कि किसी निर्देशक चैतन्य के बिना अन्तर्निहित क्षमताएं किस प्रकार फलवान हो जाती हैं। जैसाकि शाख्य कहता है, जहां कोई बुद्धिसम्पन्न तत्त्व उपस्थित नहीं है वहां किसी प्रकार की क्रियाशीलता नहीं हो सकती। "जब सांख्य-वादियों के तीनों गुण साम्यावस्था में होते हैं तो वे 'प्रधान' की रचना करते हैं।

प्रधान के परे कोई ऐसा बाह्य तत्त्व-विद्यमान नही है जो प्रधान को क्रियाशीलता के लिए बाध्य करे अथवा उससे रोके। पुरुष उदासीन है, वह न तो कर्म मे प्रवृत्त करता है और न कर्म से रोकता है। क्योकि प्रधान किसी सम्बन्ध मे स्थित नही है, इसलिए यह समझना असम्भव है कि क्यो यह किसी समय तो अपने को महत् के रूप मे परिवर्तित करता है, और कभी नही करता।"[1] "और न हम यही कह सकते है कि प्रधान अपने को महत् आदि मे इस तरह रूपान्तरित करता है जैसेकि घास दूध के रूप मे परिणत हो जाता है, क्योकि घास को अन्य कारणो की आवश्यकता रहती है जो गाय के अन्दर ही उपलब्ध है बैल के अन्दर नही।"[2] यह तर्क कि सीमित कार्यों से असीमित कारण का अनुमान किया जा सकता है, आवश्यक नही है कि तीन गुणो से मिल कर बनी प्रकृति की यथार्थता को सिद्ध कर दे। गुण परस्पर मे एक-दूसरे के प्रतिबन्धक हैं और इसलिए कार्य है। यदि गुण असीमित है, तो कोई असमानता उत्पन्न नही हो सकती और इस प्रकार कोई कार्य उत्पन्न नही हो सकता।[3] यदि तीनो गुण साम्यावस्था मे प्रधान की रचना करते है, और यदि उनमे परस्पर श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता का सम्बन्ध नही है, तो वे पारस्परिक अधीनता के सम्बन्ध मे नही आएगे, क्योकि तब वे अपनी नितान्त अधीनता से वञ्चित हो जाएगे। क्योकि ऐसा कोई बाह्य तत्त्व नही है जो गुणो को उत्तेजित करके उन्हे क्षुब्ध अवस्था मे पहुचा दे, इसलिए क्रियाशीलता असम्भव है।[4] अचेतन प्रकृति अनायास ही कार्यों को उत्पन्न नही कर सकती, जो पुरुषो के प्रयोजनो को सिद्ध करते है। प्रज्ञा प्रकृति का धर्म नही हो सकती, क्योकि इससे साख्य के मुख्य वैशिष्ट्य का प्रत्याख्यान होगा।[5] श्रुतिग्रन्थ हमे ऐसी प्रकृति के विषय मे, जो ससार के विकास का कारण है किन्तु जो किसी प्रज्ञावान द्वारा प्रेरित नही होती, कुछ नही कहते। साख्य की प्रकल्पना विकास के अन्दर एक योजना का होना स्वीकार करती है, क्योकि प्रकृति की क्रियाशीलता का अन्तिम कारण पुरुषो को अपनी मुक्ति प्राप्त करने के योग्य बनाना है। अचेतन प्रकृति की कल्पना के आधार पर, प्रकृति का नैमित्तिक कारण अथवा अन्तिम कारण होना समझ मे नही आ सकता। कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि प्रकृति की क्रियाशीलता स्वयभूत है अथवा स्वाभाविक है। घोडा गाडी को स्वभाव से खीचता है, जब की कोचवान केवल घोडे की चाल का निरीक्षण करता है और कुछ नही। किन्तु स्वभाव से भूतकाल के कर्मो की पूर्वकल्पना होती है। घोडे बुद्धिमान मनुष्यो द्वारा प्रशिक्षित किए जाते है। किन्तु साख्य की प्रकल्पना के आधार पर पुरुष का निर्देशकत्व मानना सम्भव नही है। बछडे की शारीरिक पुष्टि के लिए गाय के थनो मे से दूध के स्वत: निकलने की उपमा यहा लागू नही होती, क्योकि

1 शाकरभाष्य, 2 2 4। और देखिए शाकरभाष्य, प्रश्नोपनिषद्, 6 3।

2 शाकरभाष्य, 2 2, 5।

3 ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, 2 · 2, 1।

4 शाकरभाष्य 2 2, 8। रामानुज कहते हैं "यदि साख्य के अनुयायी मानते हैं कि जगत का उदभव मुख्य और उसकी अधीनस्थ सत्ताओ के एक विशेष सम्बन्ध (अगागिभाव) का परिणाम है जो गुणो की अपेक्षाकृत उत्कृष्टता तथा हीनता पर निर्भर है और यह भेद अनेक गुणो के स्थाना के भेद के कारण है (साख्यकारिका, 16), तो क्योकि प्रलय अवस्था मे तीनो गुण साम्यावस्था में हैं, उनमे न कोई दूसरो से श्रेष्ठ है न हीन है, अत अगागिभाव का वह सम्बन्ध तब नहीं रह सकता और इसलिए जगत का उदभव नही हो सकता। यदि यह माना जाए कि प्रलयावस्था मे भी कुछ असमानता रहती ही है, तो उससे परिणाम यह निकलेगा कि यह सृष्टि शाश्वत है" ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, 2 2, 6)।

5. शाकरभाष्य, 2 2, 9।

निकटतम तथा अन्तिम कारणों में भेद करना चाहिए।[1] एक तथ्य का कथन करना रहस्य का हटाना नहीं है। हमें कुछ ऐसे विधान मिलते हैं जिनसे वस्तुएं मेल खाती हैं, किन्तु जब तक हम इन सब विधानों के अन्तिम स्रोत को स्थापित न करें तब तक समाधान अपूर्ण है। अंधे और लंगड़े मनुष्य की उपमा भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि वे दोनों बुद्धि-सम्पन्न और क्रियाशील कर्ता हैं जो अपने सामान्य प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए योजना बना सकते हैं। पुरुष और प्रकृति का ऐसा कोई एक सामान्य प्रयोजन नहीं है। अचेतन प्रकृति को दुःख नहीं हो सकता; उदासीन पुरुष दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। दोनों संसार के त्राण के लिए किस प्रकार सहयोग कर सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि सांख्य एक उच्चतर एकत्व को स्वीकार करने से निषेध करता है।[2]

विषयी (प्रमाता) और विषय (प्रमेय) एक उच्चतर एकत्व के पक्ष हैं, भिन्न हैं तो भी एक सम्पूर्ण इकाई के ही अन्तर्गत हैं। यदि हम आनुभविक स्तर पर हैं तो भी हमें कहना होगा कि समस्त चैतन्य एक प्रमेय विषय का चैतन्य है और समस्त यथार्थता चैतन्य का प्रमेय विषय है, अपने को पदार्थ-जगत् से भिन्न करने तथा उससे सम्बद्ध करने में हम आत्मा को जान सकते हैं। अन्यथा नहीं। अपने जगद्-विषयक अनुभव को विस्तृत करने में ही हम आत्मा के अपने चैतन्य को गहन बनाते हैं। यदि हम प्रमाता (विषयी) तथा प्रमेय (विषय) की सम्बन्ध-विहीनता की कल्पना करें, तो एक से दूसरे की ओर संक्रमण असम्भव होगा। दो पक्षों की एकता उनके भेद की पूर्वकल्पना है। यह केवल हमारी अविद्या, हमारे अज्ञान अथवा हमारे अनुभव के स्वरूप तथा उसकी अवस्थाओं पर विचार न करने के कारण ही है कि हम प्रमाता तथा प्रमेय में परम एकत्व को पहचानने में असफल रहते हैं। यह बिलकुल सत्य है कि मन तथा पदार्थ का द्वैतपरक विचार हमारे मनों के लिए स्वाभाविक है, किन्तु हमें थोड़ा-सा भी चिन्तन यह बताता है कि यदि दोनों पृथक् हैं तो हमें उन्हें जोड़ने के लिए एक तृतीय वस्तु की आवश्यकता है। ज्यों ही हम इस तृतीय वस्तु की कल्पना को असन्तोषप्रद समझ लेते हैं, त्यों ही हमारे पास एक ही मत स्वीकार करने को शेष रह जाता है कि दोनों एक ही परम चैतन्य के पक्ष हैं जो समस्त ज्ञान तथा जीवन का भी आधार है। इस परम एकत्व के पहचानने में जो असफलता है, वही सांख्य की प्रकल्पना में एक मौलिक भूल है।

समस्त प्रमाण जो हमारे पास है, यह प्रदर्शित करता है कि द्वैतभाव परम नहीं है कि पुरुष और प्रकृति आनुषंगिक रूप से सम्बद्ध नहीं हैं। हम यहां पर सांख्य के कुछ थोड़े-से सूक्ष्म विवरण उक्त मत के समर्थन में दे रहे हैं। प्रकृति पुरुष के अन्दर एक साथ ही अपने विषय में तथा जगत् के विषय में, जिसमें वह निवास करता है, सत्य अस्तित्व के ज्ञान को उत्पन्न करती है। क्या यह दोनों के भेद की पृष्ठभूमि में जो एकत्व है उसकी साक्षी नहीं है? प्रकृति तभी व्यक्त होती है जब इसका सम्बन्ध प्रमाता (विषयी)

1. शांकरभाष्य, 2 : 2, 3। और "गाय, जो एक बुद्धि-सम्पन्न प्राणी है, अपने बछड़े से प्रेम करती है, अपनी इच्छा से दूध को बहने देती है; इसके अतिरिक्त बछड़े के चूसने से भी दूध निकलता है।"

2. विज्ञानभिक्षु, जो एक ईश्वरवादी हैं, पुरुष तथा प्रकृति के संयुक्त कर्म की व्याख्या करने में समर्थ हैं। वह लिखता है : "प्रकृतिस्वातन्त्र्यवादिभ्यां सांख्ययोगिभ्यां पुरुषार्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिः स्वयमेव पुरुषेणायस्कान्तेन प्रयुज्यते···अयस्कान्तेन लोहवत्···अस्माभिस्तु प्रकृतिपुरुषसंयोग ईश्वरेण क्रियते।" (विज्ञानामृत, 1 : 1, 2)।

के साथ होता है। जब यह प्रमाता (विषयी) से असम्बद्ध रहती है तो अव्यक्त रहती है।[1] यदि प्रकृति वह है जो करती है[2] तो इसकी सूचना पुरुष द्वारा मिलती है। दूसरे शब्दो मे, पुरुष से स्वतन्त्र प्रकृति का विचार समझ मे नही आ सकता। इस प्रकार का विचार स्वत विरोधी है। साख्य का कहना है कि प्रकृति भी पुरुष के समान, आद्य (मूलभूत), अनुत्पन्न तथा स्वतन्त्र है। यदि हम ठीक-ठीक कहना चाहे तो हमे कहना होगा कि प्रकृति और पुरुष परस्पर-प्रतिकूल है, यद्यपि वे यथार्थ की एक-दूसरे पर निर्भर दो ग्रन्थिया है। सृजनात्मक विकास के लिए दोनो की पूर्वकल्पना आवश्यक है। यदि नित्य प्रकृति आधाररूपी गर्भ मे पुरुष विद्यमान हो तो कोई अनुभव हो नही सकता। प्रकृति की धूलि को पुरुष के जादू के वश मे होना ही होगा, यदि इसे अपने पदार्थो के रूप मे विकसित होना है। फिर, प्रकृति के विकास के अन्दर जो एक उद्देश्यवाद रहता है उसका कारण भी पुरुष का प्रभाव है। प्रकृति के विकास को आत्मा की मोक्षप्राप्ति का साधन माना गया है। साख्य यह तो नही स्वीकार करता कि प्रकृति ज्ञानपूर्वक कोई योजना बनाती है तथा उसे प्रयोग मे लाती है, तो भी यह तो मानता है कि प्रकृति का विकास आत्मा के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए बनाई गई योजना का क्रियात्मक रूप है। प्रकृति, जो पदार्थो की विशुद्ध सम्भाव्य क्षमता है, क्या बनती है, यह इस पर निर्भर करता है कि पुरुष का कौनसा रूप या लक्ष्य उसे प्रभावित करता है। प्रकृति, जो सम्भाव्य क्षमता के रूप मे सब कुछ है, पुरुषो द्वारा निर्णीत रूप की प्राप्ति से ही इस या उस वस्तु के रूप मे आ जाती है। प्रकृति की शृखला मे पुरुष यद्यपि कही नही आता, तो भी यह उसकी कडियो से एकसमान सम्बद्ध है। इसका प्रभाव न केवल प्रकृति के विकास को प्रारम्भ करता है, बल्कि निरन्तर इसे सहारा दिए रहता है। यदि निर्णय की भूल से पुरुष ससार की इस नाट्यशाला मे हठात न आ जाता, और यदि हमारे भ्रात मन प्रकृति के तमाशे को ध्यानपूर्वक न देखते, तो प्रकृति का कोई भी कार्य कतई न होता।

जहा पुरुष और प्रकृति का द्वैतभाव मानने से मनुष्य के चैतन्य का उनके स्वभाव के अन्य तत्त्वो से विभाग भी मानना होता है, जिससे ज्ञान, जीवन और नैतिकता बुद्धि को चकरा देनेवाले रहस्य बन जाते है वहा साख्य ने उक्त सबको बुद्धिगम्य केवल इसलिए कर दिया है कि यह अपने अभिमत के सर्वथा विपरीत भाव को मान लेता है, अर्थात मनुष्य-स्वभाव के एकत्व को मान लेता है। हम पहले देख चुके है कि यदि बुद्धि अनात्मिक और अचेतन होती, तो यह चैतन्य को भी प्रतिबिम्बित न कर सकती। जीवन के दो भिन्न-भिन्न स्तरो से सम्बद्ध वस्तुए वास्तविक तथा प्रतिबिम्ब के रूप मे कार्य नही कर सकती। पुरुष को बुद्धि की अवस्थाओ का अनुभव करनेवाला नही कहा जा सकता, क्योकि बुद्धि के अन्दर इसका प्रतिबिम्ब यथार्थ नही है। साख्यप्रतिपादित पुरुष का बुद्धि से सम्बन्ध यह सुझाव देता है कि दोनो मे बन्धुता है, सर्वथा प्रतिकूलता नही है। पुरुष और प्रकृति के सम्पर्क का अत्यन्त घनिष्ठ बिन्दु बुद्धि मे है, जो ब्रह्माण्ड की शक्ति के व्यापारो मे भेद करती है तथा समन्वय स्थापित करती है और, अहकार की सहायता से, साक्षीरूप आत्मा का विचार, इन्द्रिय तथा कार्य-सम्बन्धी क्रियाओ के साथ तादात्म्य करती है। यह बुद्धि ही है जो अपने सत्त्वरूप मे भेदपरक ज्ञान के लिए प्रयत्न करती है। जब बुद्धि को यह ज्ञान हो जाता है कि तादात्म्य एक भूल है और

1 साख्यप्रवचनसूत्र, 1 79।
2 प्रकरातीति प्रकृति ।

देखती है कि सब कुछ केवल गुणों की विक्षुब्धता है, तो बुद्धि उस मिथ्या प्रदर्शन से जिसे यह समर्थन देती रही है, विरत हो जाती है। पुरुष विश्वनाट्य से अपना सम्पर्क त्याग देता है, और प्रकृति भी पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्बित होने की अपनी शक्ति खो देती है क्योंकि अहंकार के कार्य नष्ट हो जाते हैं, इसलिए बुद्धि उदासीन हो जाती है, और गुण साम्यावस्था में चले जाते हैं। यदि बुद्धि असमञ्जस में पड़ जाती है तो कहा जाता है कि यह पुरुष के लिए संकट है, और यदि बुद्धि असमञ्जस को काट देती है तो कहा जाता है कि पुरुष बच गया। बुद्धि लगभग पुरुष के समान ही कार्य करती प्रतीत होती है। इसलिए प्रमेय की अपेक्षा इसका बन्धुत्व प्रमाता के साथ अधिक है।[1]

इस मत के नैतिक परिणाम भी इसी प्रकार अर्थपूर्ण हैं। यदि प्रकृति पूर्णरूप से यान्त्रिक है, तो इच्छा-स्वातन्त्र्य एक भ्रांति है, क्योंकि इच्छा प्रकृतिजन्य है। नैतिक भेद निरर्थक बन जाते हैं, क्योंकि पाप और पुण्य गंधकाम्ल अथवा चीनी के समान उत्पन्न पदार्थ हो जाएंगे। किन्तु सांख्य यह स्वीकार न करेगा कि एक मनुष्य को हत्या के लिए विनाशकारक एक पत्थर से अधिक दोष नहीं दिया जाना चाहिए। मनुष्य के अन्दर ऐसा कुछ अवश्य है जो पत्थर अथवा पौधे में नहीं है। प्रकृति के अन्दर भी यान्त्रिकता से अधिक कुछ अवश्यमेव है, अन्यथा यह हमारे लिए मोक्ष का साधन नहीं बन सकती थी। सांख्य बलपूर्वक कहता है कि वह ज्ञान जो हमारा रक्षक है, प्रकृति का दान है।

पुरुष और प्रकृति के मध्य जो काल्पनिक सम्बन्ध है और जो अविवेक अथवा अभेद के कारण बताया जाता है, वह सम्भव न होगा यदि दोनों एक-दूसरे से संबद्ध न हों। यह विचार में आना कठिन है कि ऐसी दो सत्ताओं के परस्पर सम्बन्ध की मिथ्या धारणा जो एक-दूसरे से किसी प्रकार का वास्ता नहीं रखतीं, किस प्रकार पैदा हो सकती है। इस सम्बन्ध को पर्याप्त रूप में यथार्थ होना चाहिए जिससे प्रकृति का विकास आगे बढ़ सके। इसलिए भी इसे पर्याप्त मात्रा में यथार्थ होना चाहिए जिससे कि पुरुष अपनी विशुद्धता तथा प्रकृति रूपी साधन द्वारा अपने पृथक्त्व को पहचान सके। ऐसी वस्तु जिससे पुरुष को सहायता मिलती है, इससे सर्वथा बाह्य नहीं हो सकती। सांख्य पुरुष और प्रकृति को एक-दूसरे के इतना समीप लाने के लिए बाध्य है जितना कि द्वैतवाद पर उसके आग्रह के कारण हम विश्वास भी नहीं कर सकते। प्रकृति और पुरुष की पारस्परिक अनुकूलता वस्तुतः आश्चर्यजनक है। दृष्टान्त के रूप में, ऐसी इच्छा के बल से, जिसे हम अचेतन कह सकते हैं, प्रकृति थोड़े-से यान्त्रिक खिलौनों का विकास करती है, जिनके द्वारा वह पुरुषजगत् के दृश्य को देख सके। चेतनापूर्ण आत्मा और अचेतन प्रकृति एक ही विकास की दो स्थितियां हैं। यह जीव है जो मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता है; क्योंकि सीमित चैतन्य में एक अनन्त चैतन्य की पूर्वकल्पना होती है, जो प्रकृति के स्वभाव से सीमित हो गया है; और सीमित आत्मा, अपने अन्दर विद्यमान अनन्त चैतन्य की खोज करके अपनी सत्य सत्ता को समझ लेती है।

जब सांख्य यथार्थता की प्रक्रिया को प्रकृति की यंत्र-रचना तथा आत्मा के स्वातन्त्र्य को दो ग्रन्थियों में विभक्त करता है, तो यह समझ लेना चाहिए कि ये यथार्थ

1. विद्यारण्य अपने 'विवरणप्रमेयसंग्रह' (पृष्ठ 63) में कहता है : "यदि वस्तुएं ऐसी होतीं जैसा कि सांख्य उन्हें प्रस्तुत करता है, यदि अहंकार (अहंभाव) और वह सब जो उस पर निर्भर है, समस्त कर्म, समस्त सुखभोग इत्यादि, अपने को चैतन्य के समक्ष विशुद्ध वस्तुपरक रूप में प्रस्तुत करते, अर्थात् 'यह एक कर्ता है,' 'यह एक सुखोपभोक्ता है', और ऐसे रूप में प्रस्तुत न करते जैसे कि कुछ आत्मा पर अध्यारोपित किया गया हो, तो चैतन्य के वास्तविक रूप अर्थात् 'मैं कर्ता हूं', 'मैं सुखोपभोक्ता हूं' कभी उत्पन्न न होते ('इण्डियन थॉट' खण्ड 1, पृष्ठ 376)।

भावात्मक हैं, ऐतिहासिक नही। वे हमे बताते हैं कि आनुभविक जगत् मे दो भिन्न भिन्न प्रवृत्तिया हैं जो परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि उन्हें पृथक् नही किया जा सकता। पुरुष और प्रकृति समस्त अनुभव के ये दो पहलू हैं। यदि पुरुष चैतन्यस्वरूप है तो प्रकृति अचेतन है, क्योकि वह पुरुष के विपरीत लक्षणो वाली है। ये दोनो, अर्थात् चैतन्य और जडता, एक परिणमन के दो पहलू हैं। यथार्थसत्ता न तो केवल पुरुष है और न केवल प्रकृति है। ये अस्तित्वविहीन है, क्योकि जो अस्तित्ववान है उसके नाम व रूप होते है। अभौतिक रूप और रूपहीन प्रकृति ये दोनो प्राणियो की क्रमव्यवस्था की उच्चतर और निम्नतर सीमाए है, यद्यपि उनमे से किसी का भी अस्तित्व नही है। सबमे प्रथम अस्तित्ववान महत् है, जिससे शेष सब विकसित हुआ कहा जाता है। यह महत् विशुद्ध प्रकृति नही है किन्तु रूपधारिणी प्रकृति है। महत् निर्विकल्प प्रकृति की सविकल्प अभिव्यक्ति है। यदि पुरुष तथा प्रकृति दोनो परस्पर सहयोग न करें तो हमे महत् की प्राप्ति नही हो सकती। यह सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ, अथवा आनुभविक सत्ता है, जो तब पैदा होती है जब पुरुष प्रकृति को सूचित करता है। ईश्वर, जिसको साख्य स्वीकार करता है, विशुद्ध प्रमाता (विषयी) नही है, बल्कि अपने अन्दर प्रमेय (विषय) की सभाव्य क्षमता रखता है। यदि हम जगत् के उत्पन्न पदार्थो के उद्भव का पीछे तक पता लगाते-लगाते उच्चतम कोटि तक पहुचे, तो हम एक पूर्णचैतन्यस्वरूप आत्मा तक पहुचते है, जिसके अन्दर सब वस्तुओ की सम्भाव्य क्षमता है, अर्थात जो विषयी-विषय (प्रमाता-प्रमेय) हैं। सब वस्तुए जो विश्व की घटक है, प्रमाता-प्रमेय हैं। ईश्वर तथा निम्नतम द्रव्य दोनो मे हमे पुरुष और प्रकृति की दो प्रवृत्तिया मिलती हैं। वे जिनके अन्दर द्रव्य का प्राधान्य है, निम्नतर स्तर मे आते हैं और वे जिनके अन्दर रूप का प्राधान्य हैं, उच्चतर स्तर मे आते है। आत्मा की सफलता के अनुपात मे प्राणी सृष्टि की क्रम-व्यवस्था मे ऊचा स्थान पाता है। प्रकृति की निम्नतम स्थिति मे हम वस्तुओ की वस्तुओ के प्रति विशुद्ध वाह्यता पाते हैं, यद्यपि प्रकृति का यह साम्राज्य भी आत्मा के उद्देश्यो के उपयोग मे आता है। हम पौधो, पशुओ तथा मनुष्यो मे एक श्रेणीवद्ध चढाव पाते है। जबकि ऐद्रिय जीवन की श्रेणी मे पौधा नीचे स्थित है, पशु अपने सवेदनाशील भाग को लिए हुए उससे ऊचे मे आता है, मनुष्य अपनी विवेकयुक्त तथा इच्छापरक प्रकृति के साथ उससे भी ऊपर आता है। सब वस्तुए निरन्तर ऊचा-ऊचा उठने के लिए प्रयत्न करती है। विकास की प्रकल्पना व्यक्ति को एक स्थिर परिणाम के रूप मे नही मानती, बल्कि एक अस्थायी क्रमावस्था के रूप मे मानती है, जो पूर्ण पुरुष की अभिव्यक्ति तक पहुचानेवाली है। ये विपरीत तत्त्व एक मूर्त परिणमन की परस्पर-विरोधी गतियो द्वारा, आपस मे एक दूसरे पर निर्भर है। यदि हम पुरुष को प्रकृति से पृथक् कर दें, तो यह अयथार्थ हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष से पृथक् होकर अयथार्थ हो जाती है। सब वस्तुए पुरुष और प्रकृति को सयुक्त करती है और पुरुष को अधिकाधिक अभिव्यक्त करने के लिए सघर्ष करती है, और यह सघर्ष जगत की प्रक्रिया है।

जब साख्य के विचारक यह मत प्रकट करते है कि अनुभवसिद्ध उच्चतम श्रेणी का पदार्थ भी निरपेक्ष नही है, तो उनका तात्पर्य यह होता है कि इस आनुभविक जगत् को जहा दो प्रवृत्तिया एक-दूसरे पर प्राधान्य प्राप्त करने के लिए सघर्ष करती है, अपने तार्किक आधार के रूप मे किसी अन्य तत्त्व की आवश्यकता है। उनका यह सुझाव कि इस सघर्षमय जगत् की पृष्ठभूमि मे तथा इससे परे एक ओर तो पुरुष है और दूसरी ओर प्रकृति है जो सम्भावित विषयी और विषय है और नित्य एक दूसरे के विपरीत

हैं, न तो अनुभव-विषयक तथ्यों के अनुकूल है और न ही सांख्य के सिद्धान्तों के अनुकूल है। यदि विश्वीय आत्मा (महत्) व्यक्तिरूप प्रमाताओं (अहंकार) के अनेकत्व और व्यक्तिरूप प्रमेयों (तन्मात्राओं) को जन्म देता है, तो महत् की पृष्ठभूमि में प्रमाताओं तथा प्रमेयों के अनेकत्व की कल्पना करना आवश्यक है। यदि सब प्रमेयों को घटाकर एक प्रकृति के रूप में परिणत कर दिया जाता है, तो प्रमाताओं को भी घटाकर एक सार्वभौमिक आत्मा के रूप में परिणत किया जा सकता है, जिसे जगत् के लौकिक व्यक्तियों में अनेकविध प्राकृतिक बाधाओं का विरोध करना होता है। यदि पुरुष के अक्षुब्ध चैतन्य तथा प्रकृति की निरन्तर गति को एक-दूसरे से स्वतन्त्र माना जाता है, तो दर्शनशास्त्र की समस्या का समाधान असम्भव है। किन्तु सांख्यदर्शन प्रत्यक्षतः केवल इसलिए न्यायसंगत प्रतीत होता है कि यह इनके भिन्न-भिन्न पक्ष हैं। वह अद्भुत विधि जिससे ये एक-दूसरे की सहायता करते हैं, यह प्रदर्शित करती है कि ये परस्पर-विरोधी एक ही पूर्ण इकाई के अन्तर्निविष्ट हैं। पारदर्शक द्वैतभाव किसी एकत्व पर अवस्थित है, जो उससे ऊपर है। यदि किसी चीज को समस्त अनुभव की पूर्वकल्पना माना जा सकता है, तो यह एक सार्वभौमिक आत्मा है, जिसपर पुरुष और प्रकृति की दोनों प्रवृत्तियां अवस्थित हैं, क्योंकि ये दोनों, पुरुष और प्रकृति, एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध तथा प्रतिकूल नहीं हैं। जगत् के परिणमन में उक्त विरोध मिट जाता है। यह प्रदर्शित करना है कि दोनों वस्तुएं मौलिक एकरूपता पर अवस्थित हैं। सांख्य का पुरुष पर बल देने का तात्पर्य, जहां इसे जीव के साथ मिश्रित नहीं किया गया है, इससे अधिक और कुछ नहीं है कि वह एक विशुद्ध तथा पूर्णसत्ता की उपस्थिति को मानता है, जो वस्तुओं के विभाग से विभक्त नहीं है और विश्वीय अभिव्यक्ति के तनाव व संघर्ष से प्रभावित नहीं है, जो इन सबके अन्दर है और इन सबसे ऊपर है। निरपेक्ष आत्मा इतनी महान है कि वह काल और देश में होती गति से, जिसे वह धारण करती है, सीमित नहीं हो सकती। किन्तु संसार उसके ऊपर आश्रित है। हेगल के शब्दों में, प्रकृति 'निषेधपरक अनिष्टसूचक शक्ति' है, जो संसार को अस्तित्व में लाती है। यदि हम ऐसी खाई को लेकर चलें जो भरी नहीं जा सकती, तो संसार का एकत्व कभी बुद्धिगम्य न होगा। जैसे ही वह निरपेक्ष आत्मा एक प्रमेय के विषय में अभिज्ञ होती है, वह सर्वोपरि प्रमाता (विषयी) बन जाती है और प्रमेय पर, जिसे महत् की संज्ञा दी गई है, कार्य करने लगती है।[1] विज्ञानभिक्षु महाभारत से एक श्लोक[2] उद्धृत करता है, जिसमें प्रतिपादन किया गया है कि प्रकृति, जो परिवर्तित होती है, अविद्या है और पुरुष, जो सब प्रकार के परिवर्तन में उन्मुक्त है, विद्या है।[3] सांख्य यह सिद्ध करने के लिए उत्सुक है कि प्रकृति ऐसी कुछ वस्तु नहीं है जो विषयीनिष्ठ अर्थात् अयथार्थ हो, क्योंकि एक

1 मत्स्यपुराण कहता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर महत्तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, जैसे-जैसे वह क्रमशः रजस्, सत्त्व, तथा तमस् की प्रधानता से युक्त होता है।

सविकारात् प्रधानात्तु महत्तत्त्वं प्रजायते।
महानित्ययतः ख्यातिर्लोकानां जायते सदा।
गुणेभ्यः क्षोभ्यमानेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे।
एकमूर्तिस्त्रयो भागाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥

देखिए इण्डियन फिलासोफिकल रिव्यू, खण्ड 2, पृष्ठ 200 की पादटिप्पणी; और देखिए भागवत, 1 : 3, 223।

2 12, 11419।

3. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 69।

ऐसी अयथार्थ वस्तु बन्धनरूप यथार्थता का कारण नही बन सकती।[1] जैसे भी हो, प्रकृति पुरुष के प्रति निषेधात्मक है, आत्मा का अनात्मरूप है। आत्मा का अनात्म को देखना[2] इस विषय का प्रमाण है कि आत्मा अनात्म अर्थात प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार करती है। यह स्वीकृति ही प्रकृति को जो कुछ भी इसका अस्तित्व है, वह प्रदान करती है। प्रमेय का उदय प्रमाता ‌के उदय के साथ साहचर्य-सम्बन्ध रखता है। यह स्वत चेतन आत्मा, जिसका महत् के उदय के साथ सह-सम्बन्ध है, कोई जीव नही है, क्योकि यह प्रकृति को क्रियाशीलता के लिए निरन्तर बलात प्रेरणा करती रहती है, भले ही अनेको जीव क्यो न मोक्ष प्राप्त कर ले। सर्वोपरि प्रभु के नियन्त्रण द्वारा प्रकृति के अनेकत्व मे बराबर उन्नति होती रहती है, जैसेकि बर्गसा की प्राणशक्ति का एक ही स्पन्दन विभिक्त होकर प्रकृति मे नानाविध प्रतिध्वनियो से परिणत हो जाता है। विज्ञान-भिक्षु सृष्टि के प्रारम्भ मे उत्पन्न हुए एक सर्वोपरि पुरुष का उल्लेख करता है, महत्त्व उसके साथ उपाधि अथवा बाह्य विनियोग के रूप मे था।[3] यह सर्वोपरि व्यक्तित्व अपने अन्दर एक ओर पुरुष की शान्ति और आनन्द को, स्थिरता तथा मौन को, और दूसरी ओर प्रकृति के कोलाहलपूर्ण बाहुल्य, सघर्ष तथा दु ख को एकत्र सयुक्त किए रहता है। सर्वोपरि प्रभ अपने अन्दर समस्त जीवनो तथा शरीरो[4] को धारण किए हुए है, और प्रत्येक व्यक्तिरूप प्राणी इस अनन्त सागर की केवल एक लहर से अधिक और कुछ नही है—विश्वात्मा का अशमात्र है। ईश्वर-महत प्रारम्भिक एकत्व है, जिसमे दो भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के अन्दर प्रविष्ट होकर एक हो गई है। इस प्रकार वेदान्त और पुराण भी प्रकृति को सर्वोपरि यथार्थसत्ता पर निर्भर मानते हैं।[5] केवल इस प्रकार का मत ही साख्यदर्शन को अधिक सगतिपूर्ण बना सकता है। सारय अद्वैत-विषयक आदर्शवाद के सत्य की ऊचाई तक नही उठता, बल्कि केवल बोध के उस स्तर तक रहने मे ही सन्तुष्ट है जो सत् और असत के भेद पर बल देता है, और दोनो के विरोध को यथार्थ तथा तादात्म्य को अयथार्थ मानता है। इसने जो प्रश्न उठाए है, उनके अन्दर क्या-क्या निहित है इसे यह अनुभव नही कर सका। उन प्रश्नो की कठिनाई तथा महत्त्व को युग-युग के विरोध तथा विवाद प्रकाश मे लाते रहे है, किन्तु बहुत कम सन्तोषप्रद समाधान तक पहुच सके है। तो भी विश्व के सम्बन्ध मे एक सर्वतोग्राही विचार तक पहुचना, जिसमे न तो यथार्थसत्ता के किसी अश का दमन किया गया है और न ही उसे खण्डित किया गया है, मानव-मस्तिष्क का एक महान् प्रयास है। इससे पूर्व कि उनके सत्य सम्बन्ध दृष्टिगत हो सकें, वस्तुओ के भिन्न-भिन्न पहलुओ की स्पष्ट रूप मे परिभाषा होनी चाहिए और उनमे भेद दिखना चाहिए। साख्य द्वारा किए गए अनुभव के विश्लेषण ने इस प्रकार एक अधिक उपयुक्त दर्शन के लिए भूमि तैयार कर दी।

1 तुलना कीजिए न हि स्वाप्नरज्ज्वा बन्धन दृष्टम (साख्यप्रवचनभाष्य, 1 20)।

2 प्रकृति पश्यति पुरुष (साख्यकारिका 65)।

3 साख्यप्रवचनभाष्य 5 12।

4 वायुपुराण के चौथे अध्याय मे साख्य-प्रतिपादित महत को ईश्वर अथवा ब्रह्म बताया गया है। तुलना कीजिए विष्णुपुराण अविज्ञेय ब्रह्माग्र समवर्तत'। सृजनात्मक मुद्रा मे दिव्य मन ही जगत का आदिस्रोत (जगद्योनि) है।

5 विष्णुपुराण (1 2) मे इसे कार्यकारणशक्तियुक्त कहकर वर्णन किया गया है। यह सर्वोपरि प्रभु का रूप है तथा शेष विश्व का कारण है। चूलिका उपनिषद' प्रकृति के विषय मे कहती है 'विकारजननी मायामदृष्टरूपामजां ध्रुवाम'। और देखिए साख्यप्रवचनभाष्य 1 26।

पांचवां अध्याय

पतञ्जलि का योगदर्शन

प्रस्तावना—पूर्ववर्ती परिस्थिति—निर्माणकाल और साहित्य—सांख्य और योग—मनोविज्ञान—प्रमाण—योग की कला—नैतिक साधना—शरीर का नियन्त्रण—प्राणायाम—इन्द्रिय-निग्रह—ध्यान—समाधि अथवा एकाग्रता—मोक्ष—कर्म—अलौकिक सिद्धियां—ईश्वर—उपसंहार।

1 प्रस्तावना

तथाकथित 'आत्मिक' व्यापार के विषय में मनोव्यापार की अनुसन्धान-समिति के अन्वेषणों ने ऐसी प्रकल्पनाओं को जिन्हें आज तक वैज्ञानिक सत्य समझा जाता रहा है, हिलाकर रख दिया, जैसेकि यह प्रकल्पना कि बौद्धिक तथा स्मृति-सम्बन्धी व्यापार मस्तिष्क सम्बन्धी उपकरण की अविकलता पर ही आश्रित है और उसके क्षय के साथ-साथ ही नष्ट हो जाते हैं। अतः अब कुछ विचारक ऐसा विश्वास करने लगे हैं कि चैतन्य-विषयक क्रियाओं के लिए मस्तिष्क का अस्तित्व सर्वथा अनिवार्य नहीं है। मनुष्य का मन उन क्षमताओं के अतिरिक्त जो पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती हैं, प्रत्यक्षज्ञान सम्पादन की अन्यान्य क्षमताएं भी रखता है—यह हमें मनोविज्ञानशास्त्र के वेत्ता बताते हैं। दार्शनिक भी शनैः-शनैः इस विचार को मानने लगे हैं कि हमारे अन्दर मस्तिष्क द्वारा नियन्त्रित तर्क-वितर्क तथा स्मृति के अतिरिक्त भी अन्यान्य मानसिक शक्तियां विद्यमान हैं। भारत के प्राचीन विचारक, जिसे हम 'तत्त्वज्ञान-विषयक मनोविज्ञान' कह सकते हैं, उसके सम्बन्ध में पर्याप्त क्रियात्मक ज्ञान रखते थे और 'अद्भुत दृष्टि' तथा तत्समान अन्यान्य शक्तियों से भी बिलकुल परिचित थे। वे हमें बताते हैं कि हम बाह्य इन्द्रियों की सहायता के बिना भी देखने तथा जानने की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं और उन प्रक्रियाओं को, जिनका उपभोग हम भौतिक इन्द्रियों तथा मस्तिष्करूपी साधनों द्वारा करते हैं, अधीनता से सर्वथा उन्मुक्त हो सकते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि साधारणतया जो जगत् हमें दृष्टिगोचर हो सकता है उससे अधिक विस्तृत जगत् का अस्तित्व है। जब किसी दिन हमारी दृष्टि उक्त जगत् को प्रत्यक्ष करने के लिए खुलेगी तो हमें पता लगेगा कि हमारे प्रत्यक्षज्ञान का क्षेत्र कितना अधिक विलक्षण एवं महान है; किसी अंधे पुरुष को जब पहले-पहले दृष्टि प्राप्त होती है तो जैसा भासता है, ठीक वही दशा हमारी भी होगी। इस महत्तर दृष्टि तथा अन्तर्निहित शक्तियों की अभिव्यक्ति को प्राप्त करने के लिए विशेष विधान हैं। 'योग' के नियमों का पालन करने से—जैसे ध्यान की शक्ति को उच्चता तक पहुंचाने, अपने ध्यान को शक्ति के अगाध स्रोत के ऊपर टिकाकर मन की चपलता का निग्रह करने से—व्यक्ति, जैसे व्यायाम करने वाला अपने शरीर को साध

लेता है उसी प्रकार अपनी आत्मा को पूर्णरूप से साधने मे समर्थ हो सकता है। योग की सहायता से हम चैतन्य के उच्चतर स्तर तक पहुच सकते हैं, जिसका मार्ग मानसिक उपकरण मे परिवर्तन के द्वारा प्रशस्त होता है, और इस प्रकार वह उन सीमाओ का अतिक्रमण कर सकता है जिन्हे मानवीय अनुभव की साधारण सीमाए समझा जाता है। योग मे हम हिन्दू-विचारधारा के उन आधारभूत भावो—यथा भौतिक जगत् की अपेक्षा आत्मिक जगत् की श्रेष्ठता, मौनसाधन तथा एकान्तसेवन, ध्यान, समाधि और बाह्य अवस्थाओ के प्रति उदासीनता आदि—को स्पष्ट रूप मे लक्ष्य कर सकते है, जिनके कारण आधुनिक विचारको को हिन्दू जाति की, जीवन के प्रति, परम्परागत प्रवृत्ति अद्भुत तथा सनकी प्रतीत होती है। किन्तु जो उससे परिचित है वे यह स्वीकार करते है कि हमारी वर्तमान मनोवृत्ति को। जो बाह्य वस्तुओ के बोझ से अत्यधिक आक्रान्त है और जो नीरस, कठोर परिश्रम, भौतिक लिप्सा और इन्द्रियजन्य उत्तेजना के कारण आत्मा के यथार्थ जीवन से सर्वथा विरक्त है, सुधारने के लिए इस साधना की नितान्त आवश्यकता है।

योग शब्द का प्रयोग नाना अर्थो मे होता है।[1] साधारण रूप से इसका तात्पर्य 'क्रियाविधि'[2] हो सकता है। कभी-कभी इसका प्रयोग सयोजित करने के लिए होता है।[3] उपनिषदो तथा भगवद्गीता मे आत्मा के विषय मे कहा गया है कि वह अपनी सासारिक और पापमय अवस्था मे सर्वोपरि आत्मा से पृथक तथा विरक्त रहती है। सब पापो तथा दु ख की जड यह पृथकत्व, भेदभाव तथा विरक्ति ही है। दु ख तथा पाप से छुटकारा पाने के लिए हमे आध्यात्मिक एकत्व, अर्थात् एक के अन्दर दो की भावना, अर्थात् योग को प्राप्त करना चाहिए। पतञ्जलिकृत योगदर्शन मे योग का अर्थ जुडना (एकत्व) नही, बल्कि केवलमात्र प्रयत्न है, अथवा, जैसा कि भोज का कहना है, पुरुष तथा प्रकृति के मध्य वियोग है। यह एक खोज है उसकी जिसे नावलिस ने 'हमारे अतीन्द्रिय अहम्' के नाम से पुकारा है, जो हमारे अस्तित्व का दैवीय तथा नित्य अग है। इसका अर्थ प्रयत्न, कठोर परिश्रम भी होता है और इस प्रकार इसका प्रयोग इन्द्रियो तथा मन के निग्रह के अर्थ मे होने लगा।[4] यद्यपि कभी-कभी इसका समाधि के लक्ष्य के पर्यायवाची अर्थो मे भी व्यवहार किया गया है, पर अधिकतर इसका प्रयोग उस तक पहुचने के मार्ग के अर्थो मे ही किया गया है। ऐसे स्थल कम नही हैं जहा ईश्वर की सर्वोपरि शक्ति के लिए इसका प्रयोग किया गया है।[5] पतञ्जलि के अनुसार, मानवीय प्रकृति (भौतिक तथा आत्मिक) के भिन्न-भिन्न तत्त्वो के नियन्त्रण द्वारा पूर्णता-प्राप्ति के लिए किया गया विधिपूर्वक प्रयत्न ही योग है। भौतिक शरीर, सक्रिय इच्छाशक्ति और समझने की शक्ति रखनेवाले मन को नियन्त्रण के अन्दर लाना आवश्यक है। पतञ्जलि ने कुछ ऐसे अभ्यास पर बल दिया है जिनसे शारीरिक चचलता की चिकित्सा हो सकती है तथा मलिनता दूर की जा सकती है। और जब इन अभ्यासो से हमे अधिक शक्ति, दीर्घ-

1 देखिए भारतीय दर्शन, खण्ड 1, पृष्ठ 434-35।

2 भगवद्गीता, 3 3।

3 देखिए भारतीय दर्शन खण्ड 1 पृष्ठ 435। देखिए ऋग्वेद, 1 34, 9 7 67 68, 3 27, 11, 10 30 11, 10 114 9, 4 24, 4, 1 5 3, 1 30, 7, शतपथ ब्राह्मण 14 7, 1 11। याज्ञवल्क्य के अनुसार, जीवात्मा तथा सर्वोपरि आत्मा के सयोग का नाम ही योग है। —सयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोरिति (सर्वदर्शनसग्रह, 15)।

4 योगसूत्र 1 1।

5 भगवद्गीता, 9 5। बलदेवकृत प्रमेयरत्नावलि पृष्ठ 14 भी देखिए।

कालीन युवावस्था और दीर्घजीवन प्राप्त हो जाए, तो इनका प्रयोग आध्यात्मिक मुक्ति के लिए करना उचित है। चित्त की शुद्धि तथा शान्ति के लिए अन्य विधियों का प्रयोग किया जाता है। पतञ्जलि का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नही, बल्कि क्रियात्मक रूप में यह संकेत करना है कि संयमी जीवन द्वारा किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।[1]

2. पूर्ववर्ती परिस्थिति

प्राचीन समय से भारत में यह विचार चला आया है कि हम साधना द्वारा ऐसी अनेकों भौतिक और मानसिक सिद्धियां प्राप्त कर सकते हैं जो साधारण मनुष्यों मे नही पाई जाती, और शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं के संयम से हमे दुःख से छुटकारा पाने मे सहायता मिलती है। समाधि और सम्मोहक मूर्छा के महत्त्व के सम्बन्ध में अपरिपक्व विचार ऋग्वेद मे पाए जाते हैं, जिसमे 'मुनि' शब्द भी आया है।[2] इसके अनुसार, दिव्य प्रकाश पर ध्यान लगाना भक्ति का एक पवित्र कार्य है।[3] अथर्ववेद में यह विचार कि कठोर साधना द्वारा अलौकिक शक्तियां प्राप्त की जा सकती है, बहुत आया है।[4] उसके पश्चात् शीघ्र ही तपस्या का भाव उत्पन्न हुआ, जिससे निग्रह को एक नैतिक स्वरूप दिया जाने लगा। अपने मन को नित्य मे केन्द्रित करने के लिए मनुष्य को समस्त सामारिक सुखोपभोग का त्याग करना चाहिए। उपनिषदों के अनुसार, योगाभ्यास यथार्थसत्ता के सत्यज्ञान की चेतनापूर्ण आन्तरिक खोज है। ध्यान तथा एकाग्रता पर बल दिया गया है,[5] क्योंकि आत्मा का विषयीरूप मे प्रत्यक्ष ज्ञान अन्यथा सम्भव नहीं है। उपनिषदो ने तप और ब्रह्मचर्य को महान शक्ति के उत्पादक

1 योगतत्त्व उपनिषद् मे योग चार प्रकार का बताया गया है: मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। पतञ्जलि-प्रतिपादित योग अन्तिम प्रकार का है, क्योंकि यह मन को निश्चल करने तथा समाधि अवस्था प्राप्त करने की प्रक्रिया का विस्तार से प्रतिपादन करता है। हठयोग के मत मे शारीरिक क्रियाओं पर आधिपत्य प्राप्त किया जा सकता है। शरीर को वश मे करना पतञ्जलि के योग का एक भाग है। मन्त्रयोग विश्वास-चिकित्सा पर आधारित है। यद्यपि ईसाई विचारक, जो इस विधि का प्रयोग करते हैं, ऐसा कहते हैं कि यह ईसाई मत तथा पादरियो के प्रभाव का परिणाम है, तो भी इस विषय का प्रमाण मिलता है कि विश्वास-चिकित्सा किसी एक धर्म तक सीमित नहीं है। ०म० क्युई हमें प्राचीन चिकित्सक का स्मरण कराता है। विश्वास के द्वारा चिकित्सा प्रकृति की व्यवस्था मे हस्तक्षेप नही है, जिसमें साक्षात् ईश्वर का हाथ अथवा किसी गौण अतिप्राकृतिक तत्त्व का प्रवेश काम करता हो। मन्त्रों द्वारा चिकित्सा केवल ऐसी अवस्थाओं में ही सम्भव है जहां रोग स्नायु-जाल से सम्बन्ध रखता हो और मस्तिष्क इच्छा की असफलता के कारण, किसी एक बात के हठात् हृदय में बैठ जाने से, अथवा मानसिक आघात के कारण विकृत हो गया हो। तुलसी मसखरे का यह कथन कि "मुझ कोई ऐसी टूटी हड्डी दिखाओ जिसे विश्वास के द्वारा फिर से जोड दिया गया हो, तो मैं तुम्हारे दावो को सुन सकता हूं", एकदम निरर्थक नही है।

2 10 · 136, 4-5, देखिए भारतीय दर्शन, खण्ड 1, पृष्ठ 89 90।

3 ऋग्वेद, 3 3, 9, 10 मे गायत्री का उल्लेख आया है। और देखिए शुक्ल यजुर्वेद, 3 : 35, सामवेद, 2 8, 12।

4 भारतीय दर्शन, खण्ड 1, पृष्ठ 98-99।

5 बृहदारण्यक उपनिषद्, 4 . 14, 3 5, 4 : 4; तैत्तिरीय उप०, 1; कठ, 3 · 12, प्रश्न, 5 5।

गुण बताया है।[1] ऐसी उपनिषदें जिनमे सांख्य के सिद्धांत आते है, योग-सम्बन्धी क्रियाओ का भी वर्णन करती है। कठ, श्वेताश्वतर और मैत्रायणी उपनिषदे धार्मिक सिद्धि के क्रियात्मक पक्ष का उल्लेख करती है, जोकि सांख्य के सैद्धान्तिक अन्वेषण से भिन्न है। 'योग' एक पारिभाषिक शब्द के रूप मे कठ, तैत्तिरीय और मैत्रायणी उपनिषदो मे आता है,[2] किन्तु यह नही कहा जा सकता कि उनमे वर्णित योग तथा पतञ्जलि का योग एक समान है। हो सकता है कि समाधि का विचार उपनिषदो के उस सिद्धांत से विकसित हुआ हो जो परम-ब्रह्म की प्राप्ति अथवा आनुभाविक जीवन की वस्तुओ से मुक्ति की तुलना सुषुप्ति के साथ करता है। कठोपनिषद मे योग की उच्चतम अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसमे इन्द्रियो को मन तथा बुद्धि के साथ सर्वथा शान्त भाव मे लाया जाता है।[3] इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने कृत्रिम उपायो द्वारा ऐसी मूर्छितावस्था लाने का प्रयत्न किया। मैत्री उपनिषद् मे छ प्रकार के योग का उल्लेख आता है और पतञ्जलि योगदर्शन के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग पाया जाता है।[4] यह प्रकट है कि पतञ्जलि का योग आरम्भिक उपनिषदो के काल मे पूर्णता तक नही पहुचा था, यद्यपि परवर्ती उपनिषदो मे हमे इसकी क्रमिक उन्नति दिखाई देती है।

बुद्ध ने योग का अभ्यास दोनो अर्थो मे किया। उन्होने कठोर तपस्याए भी की तथा उच्च श्रेणी का चिन्तन भी किया। ललितविस्तर ग्रन्थ के अनुसार, तपस्या की नानाविध विधिया बुद्ध के समय मे प्रचलित थी।[5] बुद्ध के कुछेक गुरु, जैसे 'आलार', योगविद्या मे निपुण थे। बौद्धसूत्र एकाग्रता की योग की विधियो से अभिज्ञ है। बौद्ध मत मे प्रतिपादित ध्यान की चार अवस्थाए साधारण रूप मे शास्त्रीय योग की चेतनापूर्ण एकाग्रता की चार स्थितियो के साथ अनुकूलता रखती है।[6] बौद्धमत के अनुसार, श्रद्धा, शक्ति, विचार, एकाग्रता तथा बुद्धि इन पाच गुणो के धारण कर लेने से योग के लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।[7] और योग भी इस मत को स्वीकार करता है।[8] बौद्ध मत की योगाचार शाखा बौद्ध सिद्धान्त को योग के विवरणो के साथ स्पष्ट रूप मे मिलाती है। परवर्ती बौद्ध ग्रन्थ एक परिष्कृत योग पद्धति का आश्रय लेते है।[9]

महाभारत मे सांख्य और योग का उपयोग एक ही पूर्ण इकाई के दो पूरक अशो के रूप मे किया गया है, और ये क्रमश सिद्धांत तथा व्यवहार अथवा दर्शन तथा धर्म के प्रतीक है। ऐसा कहा जाता है कि योगदर्शन ईश्वर को छब्बीसवे

1 छान्दोग्य उपनिषद 3 17, 4, बृहदारण्यक 1 2, 6, 3 8, 10, तैत्तिरीय, 1 9, 1, 3 2, 1, 3 ३, 1 तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2 2 3, 3 शतपथ ब्राह्मण 11 5, 8, 1।

2 6 10।

3 छान्दोग्य, 6 8, 6 भी देखिए।

4 6 18।

5 भारतीय दर्शन, खण्ड 1, पृष्ठ 288, टिप्पणी 2।

6 योगसूत्र, 1 17। देखिए भारतीय दर्शन, खण्ड 1, पृष्ठ 346 347।

7 मज्झिमनिकाय 1 164।

8 योगसूत्र 1 33।

9 विस्तृत विवरण के लिए देखिए हौपकिन्स कृत 'योग टैक्नीक इन दि ग्रेट एपिक' जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, 22।

तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त, मोक्ष, जिसे प्रारम्भ में परब्रह्म के साथ तादात्म्य माना गया था, अब आत्मा का प्रकृति से पृथक्करण हो जाता है, जबकि परब्रह्म का वह सर्वतोग्राही स्वरूप नहीं रहा जिसमें से व्यक्तिरूप आत्माएं प्रादुर्भूत हुईं, बल्कि वह ईश्वर अर्थात् सहायक हो गया। महाभारत में धारण, प्राणायाम का उल्लेख है।[1] उक्त महाकाव्य के अनेक तपस्वियों ने चमत्कारी शक्तियों को प्राप्त करने के लिए योग-साधन का आश्रय लिया।[2] महाभारत में इनका बार-बार उल्लेख हुआ है।[3]

उपनिषद् महाभारत—जिसमें भगवद्गीता भी शामिल है—जैनमत तथा बौद्धमत योग सम्बन्धी क्रियाओं को स्वीकार करते हैं। योग-सिद्धान्त को इतना पुरातन बताया जाता है जितना कि ब्रह्मा है। पतञ्जलि के योग में, तपस्या तथा गहन चिन्तन-विषयक जो विचार उस समय अस्पष्ट तथा अनिश्चित रूप में विद्यमान थे उन सब का निचोड़ पाया जाता है। उन्होंने उस अस्पष्ट परम्परा को जो जीवन तथा अनुभव के दबाव से विकसित हुई, एक विधान का रूप दे दिया। पतञ्जलि का दर्शन जिस युग में प्रादुर्भूत हुआ, वह उसके चिह्नों को धारण किए हुए है। जहां एक ओर इसमें हमें अत्यन्त परिष्कृत रहस्यवाद मिलता है, वहां उससे मिश्रित ऐसे अनेकों मत भी मिलते हैं जोकि उस काल में प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों में से निकले हैं।

वात्स्यायन इसके भी पूर्ववर्ती एक योग का उल्लेख करता है, जिसके अनुसार आत्मा के कर्म के अनुरूप सृष्टिरचना सम्पन्न होती है, और वही राग तथा द्वेष आदि बुराइयों तथा क्रिया की प्रेरणा के लिए जिम्मेवार है और उसीके कारण असत् का सद्भाव में प्रकट होना और विद्यमान वस्तुओं का लोप हो जाना सब कुछ सम्भव होता है।[4] यह योग मानवीय क्रिया पर बल देता है, और सांख्य की अपेक्षा कर्ममीमांसा के अधिक निकट है, जो सत्कार्यवाद को मानता है, आत्मा के परम रूप में विश्वास रखता है तथा शरीर, इन्द्रियों, मन और भौतिक गुणों के साथ संयोग को चेतना व्यापारों का कारण मानता है। इस प्रकार वात्स्यायन के अनुसार, सांख्य तथा योग में परस्पर अत्यधिक मतभेद है; यहां तक कि आत्मा के स्वरूप, क्रियाशीलता और कार्य-कारण-सम्बन्ध जैसे मूल प्रश्नों पर भी मतभेद है। यदि सांख्य दर्शन के साथ क्रियाशीलता के सिद्धान्त पर बल देने का भाव संयुक्त कर दिया जाए तो हम प्राचीन शास्त्रीय योग का नमूना प्राप्त कर सकते हैं।

3. निर्माणकाल और साहित्य

पतञ्जलि का योगसूत्र योग-सम्प्रदाय का प्राचीनतम पाठ्यग्रन्थ है। इसके चार भाग हैं जिनमें पहले भाग में समाधि के स्वरूप तथा लक्ष्य का प्रतिपादन किया

1 12 11683-84।
2 12 . 326, 8।
3 12 ; 340-55, 12 ; 303, 163 ; 13 14, 420।
4 पुण्यकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च स्वगुणविशिष्टाश्चेतना असदुत्पद्यत उत्पन्न निरुध्यत इति योगानाम् (न्यायभाष्य, 1 : 1, 29)। उद्योतकर का कहना है कि इस योग के अनुसार इन्द्रियों के अग पचभूतों से निर्मित हुए हैं।

गया है। इसे 'समाधिपाद' कहते है। द्वितीय भाग 'साधनापाद' मे लक्ष्य-प्राप्ति के साधनो की व्याख्या है। तीसरे मे उन अलौकिक सिद्धियो का वर्णन है जो योग की क्रियाओ द्वारा प्राप्त की जा सकती है। यह 'विभूतिपाद' कहलाता है। और चौथे मे मोक्ष का स्वरूप बताया गया है। यह 'कैवल्यपाद' है।[1] याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार, योगदर्शन का आदि सस्थापक हिरण्यगर्भ था, और माधव निर्देश करता है कि 'इसके साथ पतञ्जलि के योगदर्शन का रचयिता होने मे कोई विरोध यो नही होता क्योकि स्वय पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ को 'अनुशासन' कहा है, जिसमे 'अनु' उपसर्ग का अर्थ ही बताता है कि पतञ्जलि का कथन एक प्रारम्भिक रहस्योद्घाटन के पीछे आता है और यह उक्त दर्शन-पद्धति का अपने आपमे प्रथम सूत्रीकरण नही है।[2] वैय्याकरण (अर्थात् महाभाष्यकर्ता) पतञ्जलि का काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० बताया गया है,[3] यद्यपि उक्त वैय्याकरण पतञ्जलि और योगसूत्र के रचयिता पतञ्जलि दोनो एक ही व्यक्ति थे—यह अभी सिद्ध नही हो सका है।[4] योगसूत्र पर व्यास का भाष्य (चौथी शताब्दी ई०) योग के सिद्धान्तो की सर्वमान्य व्याख्या है। वाचस्पति ने व्यास के भाष्य पर एक वृत्ति 'तत्ववैशारदी' (नवी शताब्दी) लिखी है। भोजकृत

1 क्योकि अन्य सम्प्रदायो की समीक्षाए योगसूत्र के चौथे भाग मे आती हैं और 'इति' शब्द जो ग्रन्थ की समाप्ति का द्योतक है, तीसरे भाग के अन्त मे आया है, इससे यह प्रतीत होता है कि चौथा भाग पीछे से मिलाया गया है। देखिए दास गुप्ता हिस्टरी आफ इडियन फिलासफी, पृष्ठ 230।

2 सर्वदर्शनसग्रह, 15।

3 पतञ्जलि का योगसूत्र दूसरी शताब्दी ई० पू० मे रचा गया माना जाता है, यद्यपि कुछ की सम्मति यह है कि यह बहुत पीछे का अर्थात् चौथी शताब्दी ई० का है। परमाणुवाद (1 40), सौत्रान्तिको की समय सम्बन्धी प्रकल्पना कि काल क्षणो की शृखला है (3 : 52), स्फोटवाद (देखिए योगभाष्य, 3 17) तथा बौद्ध आदर्शवाद (4 · 15 17) का उल्लेख योगसूत्र मे आया है।

यह मानकर कि वैशेषिकसूत्र मे वसुबन्धु के आदर्शवाद की समीक्षा की गई है, प्रोफेसर वुड्स योगसूत्र के निर्माणकालकी पूर्वतर सीमा चौथी शताब्दी ई० रखते हैं। उनकी सम्मति इस तथ्य से पुष्ट होती प्रतीत होती है कि नागार्जुन ने अपनी 'कारिका' मे 'योगदर्शन का उल्लेख नही किया है। यह तर्क हमे दूर तक नही ले जाता, क्योकि यह स्वीकृत तथ्य है कि नागार्जुन के 'उपायकौशल्यहृदयशास्त्र के चीनी अनुवाद मे योग का उल्लेख दर्शनशास्त्र की आठ शाखाओ मे से एक शाखा के रूप में मिलता है, और बौद्ध आदर्शवाद का समय वसुबन्धु तथा असग से पूर्ववर्ती माना जा सकता है। जैकोबी के विचार मे, योगदर्शन 300 ई० पू० मे विद्यमान था। उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थसूत्र,' 2 52, म योग-सूत्र, 3 . 22 का उल्लेख है। उमास्वाति, जो अपने टीकाकार सिद्धसेन (पाचवी शताब्दी) से पूर्व का होना चाहिए, साधारणत तीसरी शताब्दी ई० का माना जाता है। इस प्रकार पतजलि का समय 300 ई० के पश्चात् का नहीं हो सकता।

4 भोज योगसूत्र पर अपनी टीका, 'राजमार्तण्ड' (प्रस्तावना, पृष्ठ 5) मे कहता है कि उसने व्याकरण, योग और वैद्यक विषयो पर ग्रन्थ लिखे, और इस प्रकार "पतजलि के समान हमारी वाणी, चित्त तथा शरीरो के मलो को दूर किया।' इस तरह वह व्यक्त करता है कि पतजलि ने व्याकरण (वाणी), योग (चित्त) और वैद्यक (शरीर) के विषयो पर ग्रन्थ लिखे। यह सबसे पूर्ववर्ती उल्लेख है। तो भी इस विषय मे सन्देह है कि प्रस्तावना भोज की लिखी हुई है। वुड्स ने अपने 'इण्ट्रोडक्शन टू दि योग सिस्टम' (हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज) नामक ग्रन्थ म महाभाष्य के रचयिता वैय्याकरण पतजलि तथा योगसूत्र के रचयिता पतजलि को एक मानने का विरोध किया है। उक्त दोनो ग्रन्थो मे न तो भाषा सम्बन्धी और न सिद्धान्त-सम्बन्धी ही समानताए पाई जाती हैं। महान वैय्याकरणो, जैसे भर्तृहरि, कैय्यट, वामन और नगेश ने योगसूत्र के रचयिता की वैय्याकरण के साथ एकात्मता का कही उल्लेख नहीं किया।

'राजमार्तण्ड' एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्तिक', जो योगभाष्य पर एक प्रचलित टीका है, और 'योगसारसग्रह' ये दोनों पुस्तकें उपयोगी हैं। उक्त ग्रन्थकर्ता कुछ विषयों पर वाचस्पति के विचारों की आलोचना करता है और योगदर्शन को उपनिषदों के दर्शन के समीप लाने का प्रयत्न करता है।[1] प्रत्येक विचार-पद्धति योग की विधियों का उपयोग अपने हित के लिए करती है। कुछ परवर्ती उपनिषदें—यथा मैत्री, शाण्डिल्य, योगतत्त्व, ध्यानविन्दु, हस, वराह और नादविन्दु—योग के सिद्धान्तो को बहुत महत्त्व देती हैं।

4 सांख्य और योग

पतञ्जलि ने योग के विचारो को व्यवस्थित रूप दिया और उन्हें साख्य की तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी पृष्ठभूमि पर स्थित किया, जिसे उन्होने परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया। प्रारम्भिक ग्रन्थों मे योग के सिद्धान्त साख्य के विचारो के साथ ही मिलते है।[2] योग ने पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार कर लिया और उनके सम्बन्ध में विवाद की कोई आवश्यकता अनुभव नही की। विश्व की रचना नही हुई और यह नित्य है। इसमे परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं। अपनी तात्त्विक अवस्था मे इसे प्रकृति के नाम से पुकारा जाता है, जिसका साहचर्य गुणो के साथ है और उस रूप मे यह सदा वैसा ही है। जीवात्माएं असख्य हैं, जो जीवित प्राणियो मे जीवन फूकती हैं और स्वभाव से निर्मल, नित्य और निर्विकार है। किन्तु विश्व के साथ सम्बन्ध होने से वे परोक्ष रूप मे सुखो तथा दुःखों के अनुभव करनेवाली बनती हैं और अपने सासारिक जीवन मे नाना प्रकार की शरीराकृतियों को धारण करती है। प्रकृति के विकास के विषय मे योग का मत है कि विकास की दो समानान्तर पद्धतिया हैं जो महत् से आरम्भ करती हैं और एक पक्ष मे अहंकार, मन, पाच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाच कर्मेन्द्रियों के रूप मे विकसित होती हैं, तथा दूसरे पक्ष मे, पाच सूक्ष्म तन्मात्राओं द्वारा पाच महाभूतों में विकसित होती है। व्यास के अनुसार, महाभूत पाच सारतत्त्वो से निकले हैं, और ग्यारह इन्द्रिया अहकार अथवा अस्मिता में निकली हैं। तन्मात्राएं अहकार से नही निकली, बल्कि वे अस्मिता के साथ छः अविशेष कहाती हैं और उनकी उत्पत्ति महत् से हुई। विज्ञान भिक्षु का विचार है कि व्यास ने केवल बुद्धि के परिवर्तनो को दो विभागो में वर्णित किया है, किन्तु उनका तात्पर्य इस प्रकार का सुझाव देने से नही है कि महत् से तन्मात्राओ की उत्पत्ति अहकार पर आश्रित नहीं है।[3] साख्य मे, अहकार सात्त्विक रूप मे इन्द्रियो को जन्म देता है, और तमोरूप में तन्मात्राओ को जन्म देता है, और ये दोनों ही महत् में अवरुद्ध रहते हैं। इस प्रकार सांख्य और योग का विकास-विषयक यह भेद कुछ अधिक गम्भीर नहीं है। हम देखते हैं कि योग साख्य-प्रतिपादित तीन आभ्यन्तर इन्द्रियो को 'चित्' का नाम देता है। यह अहकार और मन को बुद्धि से पृथक् नही समझता। इन्द्रियो को भी यह स्वरूप मे

1 योगदर्शन पर लिखे गए अन्य ग्रन्थो मे, जैसाकि नागोजी भट्ट (नागेश भट्ट), नारायण भिक्षु और महादेव के ग्रन्थों मे, अपनी पूर्वधारणाओ के अनुरूप, पतजलि के विचारो को परिवर्तित किया गया है।

2 देखें कठोपनिषद्। योगसूत्र पर व्यासकृत वृत्ति का नाम साख्यप्रवचनभाष्य है, जो साख्य तथा योग मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित करता है।

3 योगवार्तिक, 1 45।

भौतिक ही मानता है और इसलिए सूक्ष्म शरीर मानने की कोई आवश्यकता नही रह जाती।

वस्तुओ के यथार्थ स्वरूप के विषय मे अज्ञान ही इच्छाओ आदि को जन्म देता है, और ये इच्छाए ही ससार मे समस्त दु ख का आधार हैं। अज्ञान का आदि-उद्भव क्या है इस प्रकार का प्रश्न उठाना निरर्थक है, क्योकि स्वय ससार ही अनादि है। प्रलयकाल मे भी जीवात्माओ के चित्त प्रकृति की अवस्था मे लौट जाते हे और उसके अन्दर अपनी-अपनी अविद्याओ के साथ समाविष्ट रहते हे। प्रत्येक नई सृष्टि अथवा विश्व के विकास के समय इनकी रचना नये सिरे से होती है, जिनमे व्यक्तिगत अविद्याओ के कारण उचित परिवर्तन हो जाते हैं। ये अविद्याए अपने को चित्तो के अन्दर क्लेश के रूप मे अभिव्यक्त करती है, जिनसे आगे चलकर कर्माशय, जाति, आयु और भोग प्राप्त होते हैं। योगदर्शन के अनुसार, ईश्वर तथा अविद्या इन दो प्रेरक शक्तियो के द्वारा सृष्टि की रचना होती है। अविद्या के बल से प्रकृति की सदा चक्र मे रहनेवाली शक्ति अपने-आपको मानसिक तथा भौतिक जगत् के परिवर्तनो मे परिवर्तित कर लेती है, तथा ईश्वर प्रकृति के आधिपत्य के बाहर रहते हुए भी प्रकृति द्वारा उपस्थित की गई बाधाओ को दूर कर सकता है। अविद्या बुद्धिशून्य होने के कारण असख्य पुरुषो की इच्छाओ से अनभिज्ञ है। ईश्वर प्रज्ञासम्पन्न होने से प्रकृति के परिवर्तनो को पुरुषो के लक्ष्यो के अनुकूल बनाता रहता हे। जीवात्मा प्रकृति मे लिप्त रहने के कारण अपनी निर्मलता तथा निर्दोषता से च्युत हो जाती है। योगदर्शन के अनुसार, मनुष्य प्रकृति के इतना अधीन नही है जितना कि साख्य के अनुसार है। उसे अधिक स्वातन्त्र्य प्राप्त है और, ईश्वर की सहायता से, वह अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। साख्य और योग दोनो मे ही एक समान जन्म का चक्र, अपने नाना दु खो के साथ, एक ऐसा विषय है जिससे छुटकारा पाना है। प्रधान आत्मा का सयोग इस ससार का कारण है। इस सयोग के विनाश का नाम ही मोक्ष है और उसका साधन है पूर्ण अन्तर्दृष्टि।[1] आत्मा द्रष्टा हे और प्रधान ज्ञान का विषय (प्रमेय)[2] है। इन दोनो का सयोग ही ससार का कारण है।

मोक्ष का लक्ष्य पुरुष का प्रकृति से पृथक् हो जाना है, और इस लक्ष्य की पूर्ति दोनो मे भेद करने से होती है। जहा साख्य के मत मे ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, वहा योगदर्शन चित्त की एकाग्रता तथा क्रियात्मक प्रयत्न पर बल देता है।[3] जैसाकि हम देख

1 दु खबहुल ससारो हेय , प्रधानपुरुषयो सयोगो हेयहेतु । सयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्, हानोपाय सम्यग्दशनम (योगभाष्य 2 15)।

2 2 18।

3 मधुसूदन सरस्वती ज्ञान और योग को मोक्षप्राप्ति के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के दो साधन बताता है और भगवदगीता, 6 29 पर अपनी टीका मे योगवासिष्ठ मे से इस प्रकार का एक उद्धरण देता है 'मन को अहभाव आदि के साथ दमन करने के योग और ज्ञान दो साधन हैं। मानसिक क्रिया के दमन का नाम योग है और यथार्थग्रहण का नाम ज्ञान है। कुछ मनुष्य एसे होते है जिनके लिए योग सम्भव नही है और अन्य कुछ ऐसे हैं जिनके लिए ज्ञान सम्भव नही है।'

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञान च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञान सम्यगवेक्षणम।
असाध्य कस्यचिद् योग कस्यचित् तत्त्वनिश्चय।

तुलना कीजिए भागवत निर्विण्णाना ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु (भगवद्गीता, 5 5, योगसारसग्रह, 1 7)। यह सब हमारी मनोवैज्ञानिक वृत्ति पर निर्भर करता है। सम्भवत अन्तर्मुख व्यक्ति योग का आश्रय लेगा, जबकि बहिर्मुख व्यक्ति साख्य की ओर प्रवृत्त होगा।

चुके हैं, भगवद्गीता तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'सांख्य' ज्ञान के मार्ग से मोक्ष प्राप्त करने का नाम है, और 'योग' क्रियात्मक प्रयत्न अथवा अनासक्तिभाव से कर्म करने के मार्ग से मोक्ष प्राप्त करने का नाम है।[1] इस प्रकार जहां सांख्य तात्त्विक अन्वेषणों में व्यग्र है, वहां योग भक्तिपरक साधनाओं के स्वरूप तथा मानसिक निग्रह का विवेचन करता है। इसीलिए योगदर्शन को ईश्वरपरक विचार प्रकट करने के लिए बाध्य होना पड़ा, इसीलिए इसे कपिल के निरीश्वर सांख्य से भिन्न करके सेश्वर सांख्य की संज्ञा दी गई। योग का उद्देश्य मानव को प्रकृति के बन्धन से मुक्त कराना है। प्रकृति का उच्चतम रूप चित्त है, और योग उस मार्ग का निर्देश करता है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को चित्त के बन्धनों से उन्मुक्त कर सकता है। हम चित्त को उसके स्वाभाविक व्यापारों से हटाकर सांसारिक दुःख पर विजय प्राप्त कर सकते हैं तथा संसार से छुटकारा पा सकते हैं।

5. मनोविज्ञान

सांख्य जिसे 'महत्' कहता है, योग उसे ही 'चित्त' कहता है।[2] इसकी उत्पत्ति प्रकृति से सबसे पहले हुई, यद्यपि इसे सर्वतोग्राही अर्थों में लिया जाता है जिससे इसके अन्तर्गत बुद्धि, आत्मचैतन्य तथा मन भी सम्मिलित हैं।[3] यह तीनों गुणों के अधीन है और तत्तद् गुण के प्राधान्य के कारण नानाविध परिवर्तनों में से गुजरता है। तात्त्विकरूप में यह अचेतन है, यद्यपि यह निकट-स्थित आत्मा के प्रतिबिम्ब से सचेतन हो जाता है। जब यह इन्द्रियों द्वारा प्रमेय पदार्थों से प्रभावित होता है तो परिवर्तनों में आ जाता है। इसके अन्दर प्रतिबिम्बित पुरुषों के चैतन्य से ऐसा आभास होने लगता है कि यही अनुभव का कर्ता है। यथार्थ में, चित्त दृश्य है जिसका प्रतिबिम्ब के कारण आत्मा द्रष्टा है। कारण-रूप चित्त आकाश के समान सर्वव्यापक है, और जितने पुरुष हैं उतने ही चित्त भी हैं क्योंकि प्रत्येक पुरुष के साथ एक-एक चित्त सम्बद्ध है। चित्त पूर्वापर जीवनों में नानाविध आश्रयस्थानों के अनुकूल सिकुड़ता तथा फैलता रहता है। जब पुरुष एक पशुशरीर धारण करता है तो यह संकुचित प्रतीत होता है और पुरुष के मनुष्यदेह धारण करने पर यह अपेक्षाकृत प्रसारित प्रतीत होता है। इस प्रकार का संकुचित अथवा प्रसारित चित्त कार्यचित्त है, जो चैतन्य की दशाओं में अपने को व्यक्त करता है। मृत्यु के समय कारण-चित्त, जो सदा पुरुष के साथ सम्बद्ध रहता है, अपने को कार्यचित्त के रूप में नये शरीर में अभिव्यक्त करता है, जिसका निर्माण पूर्वजन्म के पुण्य व पाप कर्मों के अनुसार प्रकृति द्वारा हुआ है। योग इस प्रकार के एक पृथक् सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता जिसमें चित्तबन्द रहे।[4] जहां कारणचित्त सदा विभु अर्थात् सर्वव्यापी रहता है, यह कार्यचित्त अपने आश्रयरूप शरीर के अनुकूल सिकुड़ा अथवा फैला हुआ प्रतीत होता है।[5]

1 भगवद्गीता, 13 : 24; महाभारत भी देखिए 12 11679-11707।
और देखिए सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, 10 : 4 6, जहां योगदर्शन के अनुसार केवल ज्ञान को अपर्याप्त बताया गया है।

2 वेदान्त में चित्त का प्रयोग बुद्धि के पर्यायवाची रूप में या इसके परिवर्तनों के लिए हुआ है। देखिए वेदान्तसार।

3 चित्तशब्देनान्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति (वाचस्पति), योगसूत्र, 1 . 1 पर।

4 तत्त्ववैशारदी, 4 10।

5. परन्तु सांख्य चित्त को अनिवार्य रूप से सर्वव्यापक नहीं मानता। योगसूत्र, 4 : 10, पर व्यास तथा वाचस्पति को देखिए। तुलना करें, नागेश सांख्य, प्रतिपुरुषं सर्वशरीरसाधारणमेकैकमेव

योगसाधन का यह उद्देश्य हे कि रजोगुण तथा तमोगुण का दमन करके चित्त को उसके मूल स्वरूप, अर्थात् सर्वव्यापी कारणचित्त, मे लौटा दे। जब चित्त को अपना सर्वव्यापी रूप पुन प्राप्त हो जाता है तो योगी सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है। जब यह पुरुष के समान निर्मल हो जाता हे तो पुरुष को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। चित्त के द्वारा ही पुरुष पदार्थो से अभिज्ञ होता है तथा इस जगत् के सम्बन्ध मे प्रविष्ट होता है।[1] चित्त का अस्तित्व पुरुष के लिए है, जो विचार सवेदना तथा इच्छा से भी अधिक अगाध है।[2] ज्ञान मे पुरुष अर्थात् आत्मा का स्वरूप परिवर्तित नही होता, यद्यपि इसे ज्ञान का अधिष्ठान कहा जाता है।[3] जब चैतन्य विचार करनेवाले द्रव्य अर्थात् चित्त रूपी दर्पण मे प्रतिबिम्बित होता है तथा तदाकार हो जाता है, जैसेकि चित्त पदार्थ के आकार को धारण कर लेता है, तब परिणामस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। चित्त परिवर्तित हो जाता है और जो पदार्थ उसके समक्ष प्रस्तुत होते हे उनका रूप धारण कर ले सकता हे, किन्तु यह जो देखता हे उसका प्रत्यक्षज्ञान नही प्राप्त कर सकता, क्योकि यह अपने स्वरूप मे अचेतन है।[4] इसपर पडता हुआ आत्मा का प्रतिबिम्ब ही इसे प्रस्तुत पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान कराता ह। समस्त विषयनिष्ठ ज्ञान मे, चित्तविषय तथा विषयी दोनो से प्रभावित होता है। चित्त के सदा परिवर्तनशील होने पर भी हमारा ज्ञान स्थिर होता है, क्योकि आत्मा, जो वास्तविक ज्ञाता है, स्थिर है। फिर क्योकि चित्त मे एक समय मे एक ही परिवर्तन हो सकता है, इसलिए आत्मा एक समय मे एक ही ज्ञान प्राप्न करती है। इस प्रकार हम चित्त तथा पदार्थ दोनो का ज्ञान एक ही साथ प्राप्न नही कर सकते।[5] प्रत्यक्ष देखे गए पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व रखते है। जो वस्तु के ज्ञान को उत्पन्न करता है वह स्वय वस्तु को उत्पन्न नही करता।[6] दो भिन्न-भिन्न विचार एक काल मे उत्पन्न नही हो सकते।[7] चित्त मे उत्पन्न हुए प्रभाव अपने अवशिष्टाश छोड जाते है, जो प्रयोजनो, इच्छाओ, नये जन्मो और आगामी अनुभवो के कारण होते है। चित्त के व्यापार (क्रियाए) सम्भाव्य क्षमताए उत्पन्न करते है, और वे अपनी ओर से अन्य सम्भाव्यताओ को उत्पन्न करती है, और इस प्रकार यह ससारचक्र बराबर चलता रहता है।[8] इन सम्बन्धो से वासनाए तथा इच्छाए उदय होती हैं और व्यक्तित्व का भाव उत्पन्न होता है। यह सासारिक जीवन वासनाओ तथा इच्छाओ से बना है। विषयी अहभाव से भिन्न है, जोकि सासारिक अनुभव पर निर्भर है। अहभाव का जीवन बेचैन तथा असन्तुष्ट है, क्योकि यह इन पाच प्रकार के क्लेशो के अधीन है अविद्या, अर्थात् अनित्य को समझना, अपवित्र

चित्तम्। किन्तु घटप्रसादरूप, स्वल्पमहदाश्रयभेदेन प्रदीपवत स्वल्पमहच्छरी रभेदेन, सकोचविकासचालितया स्वल्पमहतपरिमाणञ्च न तु विभु 4 10।

1 1 2 2 6 17 और 20।

2 चित्त आत्मा के ससग मे नही किन्तु केवल इसके समीप है। यह सामीप्य इसके साथ आत्मा के किसी दैशिक अथवा कालिक सह सम्ब ध का परिणाम नही है। विशिष्ट लक्षण यह है कि आत्मा चित्त के साथ नैसर्गिक सामजस्य (योग्यता) धारण किए हुए रहती है। आत्मा अनुभव कर सकती है और चित्त अनुभव का विषय है। चित्त को जबकि यह परिवर्तित होकर नानाविध पदार्थो का रूप धारण करता है अनुभव का विषय बताया गया है (वाचस्पति 1 4)।

3 2 20।

4 4 17 19।

5 4 20।

6 4 16।

7 4 19।

8 एव वृत्तिसस्कारच क्रमनिशमावतते। (योग्यभाप्य 1 5)।

को पवित्र मानना, दु:खदायी को सुखदायी समझ लेना, तथा अनात्म को आत्मा जानना।[1] अस्मिता, अर्थात् शरीर तथा मन के उपकरणो मे आत्मभाव भ्रमवश मान लेना।[2] राग, अर्थात् सुखकारी पदार्थों मे लिप्त हो जाना। द्वेष, अर्थात् दु:खदायी पदार्थों से घृणा। अभिनिवेश, अर्थात् जीवन के प्रति सहज आसक्ति तथा मृत्यु का भय।[3] आत्मा तथा चित्त के सम्बन्ध का पृथक हो जाना ही मोक्ष है। जब आत्मा चित्त से स्वतन्त्र हो जाती है तो यह अपने स्थान पर लौट आती है—वासना से रहित, निष्प्रयोजन तथा अशरीरी हो जाती है। पुरुष अपने सत्त्वस्वरूप मे केवल मात्र मन की क्रियाओ का दर्शक है। और जब मन (चित्त) क्रियाशील होता है तो आत्मा नानाविध अवस्थाओं का अनुभव करती प्रतीत होती है और जब मन (चित्त) समाधि के अन्दर शान्त तथा निश्चल रहता है तो आत्मा अपने यथार्थरूप मे निवास करती है।

जहा योग एक ओर सांख्य की भेदज्ञान द्वारा मोक्ष की प्रकल्पना को मान लेता है, वहा इसका मुख्य बल मोक्षप्राप्ति के अन्य साधनो अर्थात् मानसिक क्रियाओं के दमन पर है। मानसिक क्रियाओ के दमन को सुषुप्ति अवस्था के समान न मान लेना चाहिए। योग अथवा एकाग्रता द्वारा हम कृत्रिम स्तरो को हटाते हुए आन्तरिक आत्मा तक पहुचते हैं। एकाग्रता चित्त का इसकी पांचो स्थितियो मे एक गुण है।[4] जब रजोगुण का आधिक्य होता है तो चित्त क्षिप्त अथवा बेचैन होता है तथा पदार्थों द्वारा इतस्तत: चलायमान रहता है। हम अपनी वासनाओ तथा प्रयोजनो से प्रेरित होकर पदार्थों पर ध्यान गड़ा सकते है, किन्तु इस प्रकार की एकाग्रता हमे यथार्थ मुक्ति मे सहायक नही हो सकती। जब तमोगुण का आधिक्य होता है तो चित्त मूढ हो जाता है और निद्रारूप परिवर्तन के अधीन हो जाता है। यह विक्षिप्त होता है, क्योकि प्राय: प्राकृतिक दोषों अथवा आकस्मिक आपत्तियो के कारण यह अस्थिर रहता है। साधारण मन इस अवस्था मे सुखदायक विषयो का पीछा करता है तथा दु:खदायी विषयो से दूर हटता है। इन तीनों को अपूर्ण कहा गया है क्योकि ये तीन गुणो से सम्बद्ध हैं। जब मन ध्यान के योग्य किसी एक ही विषय मे मग्न रहता है और सत्त्वगुण से व्याप्त होता है तो उसे 'एकाग्र' कहा जाता है। यह अवस्था मन को महत्तम पुरुषार्थो के योग्य बना देती है। जब इसके विकारों पर रोक लग जाती है तो यह निरुद्धावस्था मे रहता है। यद्यपि अंतर्निहित संस्कार बने रहते हैं,[5] पर मानसिक परिवर्तनो का प्रभाव रुक जाता है। योग के मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि एकाग्रता मन की सब अवस्थाओं का एक सामान्य लक्षण है, यद्यपि समाधि की अवस्था मे यह अपने सबसे गहनरूप मे पाई जाती है। प्रत्येक मानसिक परिवर्तन (वृत्ति) अपने पीछे एक संस्कार अथवा अंतर्निहित प्रवृत्ति छोड़ जाती है जो उचित अवसर आने पर अपने को सचेतन अवस्था में अभिव्यक्त कर सकती है। समान वृत्तियां समान प्रवृत्तियों को शक्ति प्रदान करती हैं। योगी को उचित है कि वह न केवल वृत्तियो की रोकथाम करे, बल्कि प्रवृत्तियों का भी नाश करे, अन्यथा वे पुन: फूट पड

1 2 5। पुरुष तथा बुद्धि के मध्य जो भेद है उसकी केवल अख्याति (न देखना) ही अविद्या [illegible] अविद्या है, जिसके कारण हम बुद्धि [illegible] व-स्थान समझने लगते हैं। अविद्या [illegible] (योगभाष्य, 2 : 5)।

2 2 : 6।

3 2 : 7-9।

4 स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः (योगभाष्य 1 : 1)।

5 ये दोनों सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि के अनुरूप हैं। पहली तीन भी योग के अन्तर्गत आती हैं, क्योंकि एकाग्रता जाग्रदवस्था में भी किसी न किसी अंश मे पाई जाती है। यत्किचिच्चित्त-वृत्तिनिरोधम् (योगसारसंग्रह, 5)।

सकती है। जब मन अपनी वृत्तियो से रहित होता है तो इसे समापत्ति अवस्था मे कहा जाता है, और यह किसी भी पदार्थ के रूप को, जो इसके समक्ष प्रस्तुत किया गया हो, धारण कर लेता है।[1] यह पदार्थ के स्वरूप को, जैसा वह अपने-आपमे है, धारण कर लेता है।

इस समापत्ति अवस्था के निम्नतम रूप भी है। सवितर्क समापत्ति मे शब्द, पदार्थ तथा उनके अर्थ (शब्दार्थज्ञान) सब मिले रहते है।[2] जब शब्द और अर्थ हट जाते है, अर्थात् जब स्मृति उनसे शून्य हो जाती है, तो पदार्थ मन के अन्दर अपने विशिष्ट रूप मे प्रकट होता है और वह मन की निर्वितर्क समापत्ति अवस्था है।[3] व्यास कहते है "जब स्मृति शब्दो के परम्परागत प्रयोग के स्मरणो से रहित होकर निर्मल हो जाती है, और जब सकेन्द्रित अन्तर्दृष्टि (समाधि-प्रज्ञा) अनुमान-सम्बन्धी विचारो के सम्बन्धो (विकल्पो) अथवा जो कुछ सुना गया उस सबसे उन्मुक्त हो जाती है, तो अभिप्रेत पदार्थ अपने वास्तविक स्वरूप मे रहता है, उससे अधिक कुछ नही और इस स्थिति के विषय मे विशेष रूप से कहा जाता है कि पदार्थ अपने वास्तविक रूप मे है, इसके अतिरिक्त कुछ नही।"[4] यह उच्चश्रेणी का (परम) प्रत्यक्ष है और समस्त आनुमानिक तथा शाब्दिक (आप्त) ज्ञान का आधार है। इसीसे इनका अस्तित्व है।[5] इस ज्ञान के साथ न तो आनुमानिक और न आप्त ज्ञान का ही विचार रहता है।[6] सविचार अथा निर्विचार समापत्ति अवस्थाए भी है। पहली अर्थात् सविचार समापत्ति का सम्बन्ध उन सूक्ष्म तत्त्वो से है जिनकी आकृतिया व्यक्त हो गई है और देश, काल तथा कारण सम्बन्धी अनुभव से लक्षित है। इसमे एक सूक्ष्म तत्त्व, जो एक विचार से जानने योग्य होता है और अभिव्यक्त आकृतियो से विशेषत्व प्राप्त करता है, अन्तर्दृष्टि का विषय होता है। निर्विचार समापत्ति का सम्बन्ध सब प्रकार से और हर हालत मे ऐसे सूक्ष्म तत्त्वो से है जो किसी भी प्रकार की आकृतियो मे—अर्थात् अभिव्यक्ति अथवा अन्तर्निहित अथवा अव्य-पदेश्य से—लक्षित नही होते और फिर भी सब आकृतियो के अनुकूल है और सबका सारतत्त्व है। निर्विकार समापत्ति मे अन्तर्दृष्टि अभिप्रेत पदार्थ बन जाती है, इससे अधिक कुछ नही।[7] सविचार समापत्ति तथा निर्विचार समापत्ति के प्रतिपाद्य विषय सूक्ष्म पदार्थ है, जबकि सवितर्क समापति तथा निर्वितर्क समापत्ति स्थूल पदार्थो का प्रतिपादन करती हैं। और ये सब सबीज समाधि के रूप कही जाती हैं, क्योकि ये एकाग्रता के लिए विषय प्रस्तुत करती है। पुरुष, यद्यपि सूक्ष्म है, किन्तु उक्त प्रकार की समाधियो का विषय नही है।

हमारा मन विरोधी शक्तियो का एक रणक्षेत्र है, जिन्हे अधीन करने की आवश्य-कता ह ताकि एकत्व स्थापित हो सके। कुछ इच्छाए ऐसी है जो तृप्ति चाहती है, कुछ

1 1 41।
2 1 42।
3 1 43।
4 योगभाष्य 1 43।
5 तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम्। तत श्रुतानुमाने प्रभवत (योगभाष्य, 1 43)।
6 न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूत तद्दर्शनम् (योगभाष्य, 1 43)।
7 योगभाष्य, 1 44।

जीवन की प्रबल प्रेरणाएं हैं, जैसेकि आत्मरक्षा तथा पुनर्जनन की प्रेरणाएं, जो सरलता से वश में नहीं आ सकतीं। समाधि के मार्ग में बाधाएं भिन्न-भिन्न प्रकार के मिथ्या विश्वास हैं,[1] अर्थात् अज्ञान (अविद्या), अहंभाव (अस्मिता), राग, द्वेष और जीवन में चिपटे रहना (अभिनिवेश)। इसके अतिरिक्त और भी बाधाएं हैं, यथा रुग्णता, आलस्य, संशय, प्रमाद, दीर्घसूत्रिता, सांसारिकता, भ्रांतिमय प्रत्यक्ष, एकाग्रभाव में असफलता और उसमें सफलता प्राप्त करने पर भी अस्थिरता।[2] जहां मिथ्या विश्वासों के के भिन्न-भिन्न रूप समाधि के अयोग्य जीवन की सामान्य प्रवृत्ति को बताते हैं, वहां दूसरी सूची ब्यौरेवार ऐसी दशाओं का वर्णन करती है जो समाधि की प्रक्रिया में बाधक होती हैं।

6. प्रमाण

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त प्रमाण—ये ज्ञान के तीन साधन स्वीकार किए गए हैं।[3] जब चित्त इन्द्रियमार्ग द्वारा किसी बाह्य पदार्थ से प्रभावित होता है, तो यह प्रत्यक्षज्ञान की अवस्था है। मानसिक वृत्ति का सीधा सम्बन्ध पदार्थ के साथ होता है। यद्यपि पदार्थ में जातिगत तथा विशिष्ट दोनों प्रकार के लक्षण विद्यमान हैं, तो भी प्रत्यक्ष में हमें विशिष्ट से अधिक वास्ता रहता है। योग बाह्य पदार्थों की यथार्थता को स्वीकार करता है। विश्व के समान, समस्त इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों के अपने-अपने नित्य मूलादर्श हैं, जो इन्द्रियगोचर परिवर्तनों में से गुजरते हैं, किन्तु कभी सर्वथा नष्ट नहीं होते। जब एक पदार्थ दूसरे में परिवर्तित होता है तो केवल इसके रूप में ही परिवर्तन होता है, और जब सब रूप नष्ट हो जाते हैं तो पदार्थ अपने प्रारम्भिक अर्थात् मूल आदर्श रूप में लौट आता है। रूप निःसन्देह मिथ्याभास नहीं है। जब कभी इन्द्रियों को उत्तेजना देनेवाले पदार्थ उपस्थित रहते हैं तो संवेदनाएं उत्पन्न होती हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि यद्यपि प्रस्तुत पदार्थ वही है पर उससे उत्पन्न होनेवाली संवेदनाएं भिन्न हो सकती हैं, क्योंकि चित्त तीनों गुणों में से कभी किसी, और कभी किसी गुण से प्रभावान्वित होकर प्रस्तुत पदार्थ के प्रभाव को ग्रहण करता है।[4]

अनुमान वह मानसिक वृत्ति है जिसके द्वारा हम पदार्थों के जातिगत स्वरूप का बोध प्राप्त करते हैं। अनिवार्य साहचर्य का बोध अनुमान का आधार है। ऐसी दो वस्तुओं में से जो एक-दूसरे से अनिवार्यरूप में सम्बद्ध रहती हैं, एक का प्रत्यक्ष दूसरे के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

एक विश्वस्त पुरुष द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से प्राप्त किया गया एक पदार्थ का ज्ञान शब्दों द्वारा अन्यों तक पहुंचाया जा सकता है। यह ज्ञान का तीसरा साधन है।

प्रामाणिक बोध को चार अन्य प्रकार की मानसिक वृत्तियों से भिन्न किया गया है। विपर्यय एक भ्रांत विचार है, जो पदार्थ के स्वरूप के प्रति सत्य नहीं है।[5] विकल्प (कल्पना) शब्दों का एक ऐसा रूप है जिसकी अनुकूलता किसी निश्चित तथ्य से नहीं

1. 1 : 3।
2. योगभाष्य, 2 : 3। और देखिए योगभाष्य, 1 : 8।
3. योगसूत्र 1 : 7।
4. 4 : 15-17।
5. 1 : 8।

है।[1] निद्रा वह मानसिक वृत्ति है जिसका समर्थन जागरित तथा स्वप्नमय वत्तियो के अभाव से होता है।[2] इसे एक मानसिक वृत्ति इसलिए कहा गया है क्योकि जागने पर हमे इस विषय की स्मृति रहती है कि हमे किस प्रकार की नीद आई। व्यास कहते हैं "जागने के ठीक पश्चात् मनुष्य को निश्चय ही यह सयोजी स्मृति उत्पन्न न हो सकती, यदि नीद के अन्दर एक कारण का अनुभव न होता, और न ही जागरित अवस्था मे उसे इस-पर आधारित अथवा इसके अनुकूल स्मृतिया हो सकती।"[3] इस प्रकार निद्रा एक विशेष प्रकार का प्रस्तुत विचार (प्रत्यय) है और समाधि मे इस मानसिक वृत्ति का भी विरोध करना होगा। किसी पदार्थ का उसके पूर्व अनुभव द्वारा छोडे गए सस्कार द्वारा फिर से सग्रह (स्मरण) करना स्मृति है।

योग का मत है कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान सर्वथा प्रामाणिक नही है, क्योकि, साख्य के समान, यह मान लेता है कि आनुभविक ज्ञान पुरुष और बुद्धि के भ्रान्तिमय मिश्रण से उत्पन्न होता है। वस्तुए जैसी है उनके विषय मे सत्य ज्ञान केवल योगाभ्यास से ही प्राप्त हो सकता है। व्यास एक श्लोक इस आशय का उदधृत करते है "धर्मशास्त्रो द्वारा, अनुमान द्वारा तथा गहन चिन्तन के अभ्यास की उत्कट इच्छा द्वारा—इन तीन उपायो से वह अपनी अन्तर्दृष्टि को आगे बढाता है तथा उच्चतम योग को प्राप्त करता है।"[4]

7 योग की कला

आत्मविषयक यथार्थता की प्राप्ति मन के विषयनिष्ठ प्रयोग द्वारा नही होती बल्कि इसकी क्रियाओ के दमन द्वारा तथा उस मानसिक अधिष्ठान के नीचे अन्तप्रवेश करने से होती है जिससे हमारा साधारण जीवन तथा क्रियाकलाप हमारी अपेक्षाकृत दैवीय प्रकृति को छिपाए रखते हैं। यद्यपि हममे से प्रत्येक के अन्दर आत्मा का बीज उपस्थित है, पर हमारा चैतन्य इसे ग्रहण नही कर सकता, क्योकि यह अन्य वस्तुओ मे अत्यन्त व्यग्रता के साथ रमा रहता है। इससे पूर्व कि हम अपने चैतन्य को फिर से अन्य दिशा मे मोडने मे समर्थ हो सकें, हमे कठोर अनुशासन मे से गुजरना होगा। योगदर्शन प्रेरणा करता है कि मानसिक अवस्थाओ का आवश्यक दमन अभ्यास तथा इच्छाओ पर विजय प्राप्त करके किया जाता है।[5] इच्छाओ पर विजय की प्राप्ति तो सदाचारमय जीवन का परिणाम है, किन्तु अभ्यास का सम्बन्ध विचार[6]-शक्ति की स्थिरता की ओर प्रयत्न करने से है, जिनकी प्राप्ति पवित्रताकारक कर्म से, जितेन्द्रियता, ज्ञान तथा विश्वास से होती है।[7] वैराग्य अथवा वासनाऽभाव उस परमपद का अवबोध है जो व्यक्ति को दृष्टि या प्रकाशित

1 1 9।
अभावप्रत्ययावलम्बना वत्तिर्निद्रा (1 10)।
3 योगभाष्य, 1 10।
4 आगमनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन प्रज्ञा लभते योगमुत्तमम ।। (योगभाष्य 1 48।)
वाचस्पति उक्त तीन तथा श्रवण मनन और निदिध्यासन के मध्य जो अनुकूलता है उसका उल्लेख करता है।
5 1 12।
6 1 13 14।
7 योगभाष्य 1 14।

जीवन की प्रबल प्रेरणाएं हैं, जैसेकि आत्मरक्षा तथा पुनर्जनन की प्रेरणाएं, जो सरलता से वश में नहीं आ सकतीं। समाधि के मार्ग में बाधाएं भिन्न-भिन्न प्रकार के मिथ्या विश्वास हैं,[1] अर्थात् अज्ञान (अविद्या), अहंभाव (अस्मिता), राग, द्वेष और जीवन से चिपटे रहना (अभिनिवेश)। इसके अतिरिक्त और भी बाधाएं हैं, यथा रुग्णता, आलस्य, संशय, प्रमाद, दीर्घसूत्रिता, सांसारिकता, भ्रान्तिमय प्रत्यक्ष, एकाग्रभाव में असफलता और उसमें सफलता प्राप्त करने पर भी अस्थिरता।[2] जहां मिथ्या विश्वासों के के भिन्न-भिन्न रूप समाधि के अयोग्य जीवन की सामान्य प्रवृत्ति को बताते हैं, वहां दूसरी सूची ब्योरेवार ऐसी दशाओं का वर्णन करती है जो समाधि की प्रक्रिया में बाधक होती है।

6. प्रमाण

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त प्रमाण—ये ज्ञान के तीन साधन स्वीकार किए गए हैं।[3] जब चित्त इन्द्रियमार्ग द्वारा किसी बाह्य पदार्थ से प्रभावित होता है, तो यह प्रत्यक्षज्ञान की अवस्था है। मानसिक वृत्ति का सीधा सम्बन्ध पदार्थ के साथ होता है। यद्यपि पदार्थ में जातिगत तथा विशिष्ट दोनों प्रकार के लक्षण विद्यमान हैं, तो भी प्रत्यक्ष में हमें विशिष्ट से अधिक वास्ता रहता है। योग बाह्य पदार्थों की यथार्थता को स्वीकार करता है। विश्व के समान, समस्त इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों के अपने-अपने नित्य मूलादर्श हैं, जो इन्द्रियगोचर परिवर्तनों में से गुजरते हैं, किन्तु कभी सर्वथा नष्ट नहीं होते। जब एक पदार्थ दूसरे में परिवर्तित होता है तो केवल इसके रूप में ही परिवर्तन होता है, और जब सब रूप नष्ट हो जाते हैं तो पदार्थ अपने प्रारम्भिक अर्थात् मूल आदर्श रूप में लौट आता है। रूप निःसन्देह मिथ्याभास नहीं है। जब कभी इन्द्रियों को उत्तेजना देनेवाले पदार्थ उपस्थित रहते हैं तो संवेदनाएं उत्पन्न होती हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि यद्यपि प्रस्तुत पदार्थ वही है पर उससे उत्पन्न होनेवाली संवेदनाएं भिन्न हो सकती हैं, क्योंकि चित्त तीनों गुणों में से कभी किसी, और कभी किसी गुण से प्रभावान्वित होकर प्रस्तुत पदार्थ के प्रभाव को ग्रहण करता है।[4]

अनुमान वह मानसिक वृत्ति है जिसके द्वारा हम पदार्थों के जातिगत स्वरूप का बोध प्राप्त करते हैं। अनिवार्य साहचर्य का बोध अनुमान का आधार है। ऐसी दो वस्तुओं में से जो एक-दूसरे से अनिवार्यरूप से सम्बद्ध रहती हैं, एक का प्रत्यक्ष दूसरे के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

एक विश्वस्त पुरुष द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से प्राप्त किया गया एक पदार्थ का ज्ञान शब्दों द्वारा अन्यों तक पहुंचाया जा सकता है। यह ज्ञान का तीसरा साधन है।

प्रामाणिक बोध को चार अन्य प्रकार की मानसिक वृत्तियों से भिन्न किया गया है। विपर्यय एक भ्रान्त विचार है, जो पदार्थ के स्वरूप के प्रति सत्य नहीं है।[5] विकल्प (कल्पना) शब्दों का एक ऐसा रूप है जिसकी अनुकूलता किसी निश्चित तथ्य से नहीं

1. 1 : 30।
2. योगभाष्य, 2 : 3। और देखिए योगभाष्य, 1 : 8।
3. योगसूत्र 1 : 7।
4. 4 : 15-17।
5. 1 : 8।

है।[1] निद्रा वह मानसिक वृत्ति है जिसका समर्थन जागरित तथा स्वप्नमय वत्तियो के अभाव से होता है।[2] इसे एक मानसिक वृत्ति इसलिए कहा गया है क्योकि जागने पर हमे इस विषय की स्मृति रहती है कि हमे किस प्रकार की नीद आई। व्यास कहते हैं "जागने के ठीक पश्चात् मनुष्य को निश्चय ही यह सयोजी स्मृति उत्पन्न न हो सकती, यदि नीद के अन्दर एक कारण का अनुभव न होता, और न ही जागरित अवस्था मे उसे इस-पर आधारित अथवा इसके अनुकूल स्मृतिया हो सकती।"[3] इस प्रकार निद्रा एक विशेष प्रकार का प्रस्तुत विचार (प्रत्यय) है और समाधि मे इस मानसिक वृत्ति का भी विरोध करना होगा। किसी पदार्थ का उसके पूर्व-अनुभव द्वारा छोडे गए सस्कार द्वारा फिर से सग्रह (स्मरण) करना स्मृति है।

योग का मत है कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान सर्वथा प्रामाणिक नही है, क्योकि, साख्य के समान, यह मान लेता है कि आनुभविक ज्ञान पुरुष और बुद्धि के भ्रान्तिमय मिश्रण से उत्पन्न होता है। वस्तुए जैसी है उनके विषय मे सत्य ज्ञान केवल योगाभ्यास से ही प्राप्त हो सकता है। व्यास एक श्लोक इस आशय का उद्धृत करते हैं "धर्मशास्त्रो द्वारा, अनुमान द्वारा तथा गहन चिन्तन के अभ्यास की उत्कट इच्छा द्वारा—इन तीन उपायो से वह अपनी अन्तर्दृष्टि को आगे बढाता है तथा उच्चतम योग को प्राप्त करता है।"[4]

7 योग की कला

आत्मविषयक यथार्थता की प्राप्ति मन के विषयनिष्ठ प्रयोग द्वारा नही होती बल्कि इसकी क्रियाओ के दमन द्वारा तथा उस मानसिक अधिष्ठान के नीचे अन्तःप्रवेश करने से होती है जिससे हमारा साधारण जीवन तथा क्रियाकलाप हमारी अपेक्षाकृत दैवीय प्रकृति को छिपाए रखते हैं। यद्यपि हममे से प्रत्येक के अन्दर आत्मा का बीज उपस्थित है, पर हमारा चैतन्य इसे ग्रहण नही कर सकता, क्योकि यह अन्य वस्तुओ मे अत्यन्त व्यग्रता के साथ रमा रहता है। इससे पूर्व कि हम अपने चैतन्य को फिर से अन्य दिशा मे मोडने मे समर्थ हो सके, हमे कठोर अनुशासन मे से गुजरना होगा। योगदर्शन प्रेरणा करता है कि मानसिक अवस्थाओ का आवश्यक दमन अभ्यास तथा इच्छाओ पर विजय प्राप्त करके किया जाता है।[5] इच्छाओ पर विजय की प्राप्ति तो सदाचारमय जीवन का परिणाम है, किन्तु अभ्यास का सम्बन्ध विचार[6] शक्ति की स्थिरता की ओर प्रयत्न करने से है, जिसकी प्राप्ति पवित्रताकारक कर्म से, जितेन्द्रियता, ज्ञान तथा विश्वास से होती है।[7] वैराग्य अथवा वासनाऽभाव उस परमपद का अवबोध है जो व्यक्ति को दृष्टि या प्रकाशित

1 1 9।

अभावप्रत्ययावलम्बना वत्तिर्निद्रा (1 10)।

3 योगभाष्य, 1 10।

4 आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन प्रज्ञा लभते योगमुत्तमम ॥ (योगभाष्य 1 48।)
वाचस्पति उक्त तीन तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन के मध्य जो अनुकलता है उसका उल्लेख करता है।

5 1 12।

6 1 13 14।

7 योगभाष्य, 1 14।

पदार्थों की लालसा से मुक्त होकर प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार का व्यक्ति स्वर्ग तथा मर्त्यलोक के सुखों को नितान्त उपेक्षाभाव से देखता है। वैराग्य के उच्चतम रूप में, जबकि आत्मदर्शन उदय होता है, पदार्थों अथवा उनके गुणों की इच्छा के अधीन होने का कोई भय नहीं रहता।[2] यह परम मोक्ष की ओर ले जाता है, जबकि निम्न श्रेणी का वैराग्य, जिसमें रजोगुण (और इस प्रकार प्रवृत्ति) का अंश शेष रहता है, प्रकृति में लय होने की दशा में परिणत हो जाता है।

मानवीय संस्थान के अन्दर हम पुरुष के अतिरिक्त भौतिक शरीर, जीवनप्रद प्रतिवाद तथा मानसिक तत्त्वों को पाते हैं।[3] पुरुष दूषणीय शरीर और अशान्त मन के पर्दों के पीछे छिपा हुआ है, और ये सब योग की विधि की बाधाएं उपस्थित करते हैं। शरीर तथा मन के घनिष्ठ सम्बन्ध पर बल दिया गया है, क्योंकि "दु:ख, निराशा, शरीर की अस्थिरता, उच्छ्वास और नि:श्वास ये सब ध्यानापकर्षणों के सहायक हैं।"[4] यद्यपि शारीरिक स्वास्थ्य मानवीय जीवन का लक्ष्य नहीं है, तो भी यह इसकी एक अनिवार्य दशा है। हम मनुष्य को एक ऐसा भौतिक यन्त्र नहीं बना सकते जिसमें आत्मिक जीवन बाहर से जोड़ दिया गया हो। शरीर आत्मिक जीवन की अभिव्यक्ति का साधन है। इस प्रकार भौतिक आधार को त्याग देने की अपेक्षा, योग इसे आत्मिक जीवन की समस्या का एक भाग मानता है। बाधाओं पर विजय पाने के लिए योग हमें आठ प्रकार के उपाय बताता है, जो ये हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि।[5] अन्त के तीन उपाय अन्तरंग (सीधे) सहायक हैं और पहले पांच अप्रत्यक्ष अथवा बहिरंग सहायक हैं।[6]

1 1 15।

2 1 16।

3 योग ने शरीरविज्ञान की एक ऐसी पद्धति का परिष्कार किया है जो नाड़ियों अथवा अनन्त छोटी-छोटी नसों से, जो सारे शरीर में व्याप्त हैं और संख्या में 70 करोड़ से भी अधिक हैं, सम्बन्ध [illegible]

[illegible] भाग में आते हैं। शरीर का केन्द्र, विशेष करके मनुष्यों में, मस्तिष्क मेरुदण्ड स्कन्ध के, जो शरीर के दोनों भागों को धारण तथा नियन्त्रण करता है, आधार में स्थित है। नसों और स्नायुजाल की ग्रन्थि-विषयक सामग्री की व्यवस्था दो बृहत् पद्धतियों में है, अर्थात् संवेदनासूचक तथा मस्तिष्क-सौषुम्निक। मस्तिष्क और सुषुम्ना, जो क्रमशः कपाल तथा मेरुदण्ड के अस्थिमय गह्वर में स्थित हैं, मस्तिष्क-सौषुम्निक संस्थान के बृहत् केन्द्र हैं। हिन्दू शरीरविज्ञान का ब्रह्मदण्ड मेरुदण्ड है। यह सुषुम्ना नाड़ी का आसन-स्थान है, जो मूलाधार से, अर्थात् मेरुदण्ड की जड़ से लेकर ऊपर मस्तिष्क-कक्ष के अन्तर्भाग में अवस्थित सहस्रार तक फैली हुई है। अन्य चार चक्र ये हैं : स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत और विशुद्ध। मेरुदण्ड के अन्दर तीन योगनाड़ियां विशिष्ट महत्त्व की हैं, अर्थात्—इडा, पिंगला और सुषुम्ना। इनमें भी सुषुम्ना प्रधान है। इसके दक्षिणपार्श्व में पिंगला, तथा वाम-पार्श्व में इडा है। इस नाड़ी के छ: सूक्ष्म केन्द्र हैं, जिन्हें पद्म अथवा चक्र की संज्ञा दी गई है। इन पद्मों का प्रत्यक्षज्ञान हमारी इन्द्रियों को नहीं हो सकता, किन्तु योग के नेत्रों से इनका अनुभव हो सकता है।

4 1 31।

5 2 29।

6 पतंजलि के योग में इन सबको एक ही योजना के अन्तर्गत ले लिया गया था, पर परवर्ती ग्रन्थों में भेद किए गए। कर्मयोग कर्म के द्वारा मोक्ष की पद्धति है। भक्तियोग ईश्वर के प्रति भक्ति के द्वारा पूर्णता की प्राप्ति पर बल देता है। ज्ञानयोग ज्ञान के द्वारा मोक्ष बताता है, जबकि राजयोग

8. नैतिक साधना

पहले दो, अर्थात् यम और नियम, नैतिक साधना पर बल देते हैं, जो योगाभ्यास के लिए आवश्यक है। हमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, जितेन्द्रियता तथा अपरिग्रह का पालन करना चाहिए, अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, इन्द्रियलोलुपता तथा लालच मे बचना चाहिए।[1] इन सबमे मुख्य है अहिंसा। शेष सब सद्गुण अहिंसा मे ही बद्धमूल है। विस्तृत अर्थो मे अहिंसा का तात्पर्य लिया जाता है—हर प्रकार से और हर समय मे समस्त जीवित प्राणियो के प्रति द्वेषभाव से परहेज करना।[2] यह केवल क्षति पहुचाने का अभाव ही नही किन्तु वैर का त्याग भी है।[3] मैत्री का भाव, सहानुभूति, प्रसन्नचित्तता तथा सुखदायक एव दु खदायक, अच्छी और बुरी सब वस्तुओ के प्रति मानसिक विकारशून्यता—इन सब गुणो को बढाने व धारण करने मे चित्तप्रसाद की प्राप्ति होती है। हमारे लिए ईर्ष्या के भाव से उन्मुक्त होना आवश्यक है, तथा हमें दूसरो के दु खो के प्रति उपेक्षाभाव भी न रखना चाहिए। पाप से घृणा करते हुए भी हमे पापी के प्रति भद्र व्यवहार ही का आचरण करना चाहिए। उक्त सिद्धान्तो का जोकि स्वभावत निरपेक्ष हैं, कोई अपवाद नही हो सकता। 'किसी को मत मारो' यह एक सुनिश्चित तथा निरपेक्ष आदेश है, और हम इस प्रकार का मत प्रकट करके कि हम अपने देश के शत्रुओ को मार सकते है, अथवा सेना से भागे हुओ, धर्मपरिवर्तन करनेवालो अथवा ब्राह्मणो की निन्दा करनेवालो को मार सकते है, इसकी नितान्तता मे हस्तक्षेप नही कर सकते। आत्मरक्षा के लिए भी हत्या करना धर्मसम्मत नही कहा जा सकता। यमो का पालन सार्वभौम धर्म है। इसमे जातिभेद, देशभेद, आयुभेद और अवस्थाभेद के कारण कोई अपवाद नही हो सकता।[4] इनको प्राप्त करने का विधान मनुष्यमात्र के लिए किया गया है, चाहे ध्यानमय व चिन्तनमय उच्च जीवन के लिए सबको न चुना जा सके। नियमो के अन्तर्गत शौच (आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनो प्रकार की शुद्धि), सन्तोष, तपस्या तथा ईश्वरभक्ति—ये सब आते है।[5] ये ऐच्छिक विषय हैं, यद्यपि उन सबके लिए जो योगसाधना के मार्ग का अवलम्बन करते है, नियमित रूप से इनका अभ्यास आवश्यक है। इन दोनो, अर्थात यम और नियम, के अभ्यास से वैराग्य, अर्थात वासना का अभाव, सुलभ हो जाता है, अर्थात इच्छा से चाहे वह सासारिक पदार्थों के लिए हो चाहे स्वर्ग के सुखो के लिए, मुक्ति मिल जाती है।[6]

जब कभी हमे नैतिक आदेशो को भग करने का प्रलोभन हो तो उस समय, योगदर्शन के आदेश के अनुसार, हमे अनेक प्रतिपक्ष की भावना अपने अन्दर

मन तथा मानसिक शक्तियो के प्रशिक्षण का प्रतिपादन करता है। हठयोग शारीरिक नियन्त्रण प्राणायाम और मन्त्रो की विधि का विवेचन करता है। शारीरिक प्रक्रियाए आध्यात्मिक परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं—इस प्रकार के विचार का पराकाष्ठा तक पहुचा हुआ एक परिष्कार रसेश्वरदर्शन मे मिलता है (सर्वदर्शनसग्रह, 9)।

1 2 30।
2 सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह (योगभाष्य, 2 30)।
3 2 35।
4 2 31।
5 2 32।
6 1 15।

उत्पन्न करनी चाहिए।[1] मनोविज्ञान के विश्लेषक हमें बताते हैं कि सहज प्रवृत्तियों को वश में करने के तीन उपाय हैं – अर्थात् प्रतिरक्षार्थ प्रत्याक्रमण, प्रति-

जहां मन सचेतन होकर उसके सर्वथा विपरीत क्रियावान आवेग का अवलम्बन करता है। योग का अन्तिम उद्देश्य हमारी प्रकृति के सारतत्त्व की सर्वथा काया-पलट कर देना है।

मन की धारा का प्रवाह उभयपक्षी है, अर्थात् यह बुराई की दिशा में भी बहती है तथा अच्छाई की दिशा में भी। जब इसकी गति मोक्ष तथा ज्ञान की दिशा में होती है तो कहा जाता है कि इसका प्रवाह अच्छाई की ओर है; और जब यह जीवन के भंवर में फंसकर नीचे को, भेदज्ञान के अभाव की ओर होती है तो हम कहते हैं कि प्रवाह बुराई की ओर है।[2]

कर्म की क्रियाएं या तो बाह्य होती हैं या मानसिक अर्थात् आन्तरिक। उनके चार प्रकार के भाग किए गए हैं। कृष्ण कर्म दुष्ट कर्म हैं, जो बाह्य, जैसे दूसरों की निन्दा करना, अथवा आन्तरिक, जैसे विश्वास (श्रद्धा) का अभाव, दो प्रकार के हैं। शुक्ल कर्म धार्मिक क्रियाएं हैं और वे आतंरिक हैं, जैसे श्रद्धा, ज्ञान आदि। शुक्ल-कृष्ण वे बाह्य कर्म हैं जो चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हों, बुराई के अंशों से सर्वथा रहित नहीं हैं। वैदिक कर्मों तक में भी अन्य प्राणियों को कुछ न कुछ क्षति पहुंचाना सम्मिलित है। अशुक्ल-अकृष्ण, अर्थात् न अच्छे न बुरे, कर्म उनके हैं जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है।[3] उच्चतम श्रेणी की क्रियाशीलता का संबंध अन्तिम प्रकार के कर्मों से है।

9. शरीर का नियंत्रण

योगदर्शन अनुभव करता है कि हमारे शरीर का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि मन का है। आसनों से मन को एकाग्रता में सहायता मिलती है।[4] दौड़ते समय अथवा निद्रितावस्था में हम किसी वस्तु पर ध्यान स्थिर नहीं कर सकते। ध्यान में बैठने से पूर्व हमें अपने को एक सुविधाजनक स्थिति (आसन) में स्थित करना चाहिए। पतञ्जलि केवल यही कहते हैं कि आसन दृढ़, सुखावह और सरल होना चाहिए। टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के आसनों के विवरण पीछे से बहुत विस्तार से दिए हैं। जब भारतीय संस्कृति के एक आधुनिक समालोचक ने अपने पाठकों को विश्वास दिलाया कि भारतीय दार्शनिकों का विचार है कि आलथी-पालथी मार के बैठना और नाभि में ध्यान लगाना विश्व की गहराई को समझने का सबसे उत्तम मार्ग है, तो उसके ध्यान में योग के आसनों में से ही कोई एक रहा होगा।

शरीर को या तो पशुओं के समान असंयत छोड़ा जा सकता है या दैवीय शक्ति-

1 2 : 33।
2 योगभाष्य, 1 : 12।
3 4 : 7।
4 देखिए भगवद्गीता, 6 : 10 से आगे, 2 : 464।

सम्पन्न बनाया जा सकता है। हमे बताया गया है कि अपने जीवन के विषय मे हमे बहुत ध्यान देना चाहिए। ऐसे पदार्थों को हमे अपने खान पान का भाग न बनाना चाहिए जिनसे हमारे स्नायुजाल को उत्तेजना मिले अथवा मूर्छा आ जाए। जीवन के निम्नश्रेणी के तृप्तिदायक साधन, साधारणत , आत्मा के सच्चे सुख को दबाकर नष्ट कर दते हैं। यदि बौद्धिक जीवन और नैतिक व्यापार सच्चे अर्थो मे मनुष्य के लक्ष्य है, तो शारीरिक आवश्यकताओ को उनके अधीन रखना चाहिए। योग की अन्तिम अवस्थाओ के लिए शारीरिक सहनशीलता की महान शक्तिया आवश्यक हैं। और ऐसे दृष्टान्तो की कमी नही है जहाकि कठोर *आत्मिक जीवन का अत्यधिक बोझ इस शरीररूपी मिट्टी के पात्र* को टूटने की सीमा तक पहुचा देना है। इसलिए सबसे पूर्व शरीर को वश मे रखना होगा। हठयोग का लक्ष्य शरीररूपी यन्त्र को पूर्णता तक पहुचाना है, जिससे कि यह थकावट से विरत हो सके तथा इसके क्षय को जरा और रोका जा सके।

योग हमे शरीर को वश मे करने के लिए कहता है, मारने के लिए नही। इन्द्रियभोग से दूर रहना तथा शरीर को कष्ट देना एकसमान नही है। परन्तु कभी-कभी हिन्दू भारत मे तथा ईसाई यूरोप मे इन दोनो को मिला दिया जाता है।[1] योग का कहना है कि शरीर की पूर्णता सौन्दर्य, शोभा, शारीरिक बल तथा दुर्भेद्य कठोरता मे है।[2]

10 प्राणायाम

प्राणायाम पर पर्याप्त बल दिया गया है, यद्यपि पतञ्जलि ने इसे एक ऐच्छिक साधन के रूप मे ही रखा है।[3] मन की अविक्षुब्धता या तो धार्मिक कार्यो के सम्पादन से या प्राणायाम से प्राप्त की जा सकती है।[4] इस प्रकार जिन व्यक्तियो को इसमे श्रद्धा है,

1 तुलना कीजिए सूसो के आत्मचरित्र के उस अंश के साथ जिसमे उसने अपना अनुभव अन्य पुरुष के रूप मे प्रकट किया है "वह अपनी युवावस्था मे जीवन के जोशभरे स्वभाव मे था और यह जोश जब अधिक उमडने लगा तो उसे बहुत दु ख हुआ। उसने अनेक यत्न किए कि किसी प्रकार स शरीर को वश मे किया जा सके। उसने दीघकाल तक एक बालो वाली कमीज और लोहे की जजीर धारण की यहा तक कि उसके शरीर से खन बहने लगा और उसे उन दोनो को उतार फेंकने क लिए बाध्य होना पडा। उसने गुप्तरूप से अपने लिए नीचे पहनने की पोशाक तैयार कराई जिसमे चमडे की पट्टिया थी और उनमे 150 पीतल की कीलें ठुकवा दी, जिनकी नोकें खूब पैनी थी और सदा शरीर के मास की ओर रहती थी। यह पोशाक उसने बहुत ही तग बनवाई जिससे बदन मे चारो ओर कसी जाकर नोकीली कीलें सदा उसके मास के अन्दर गड सकें। यह पोशाक उसने काफी ऊची नाभि तक पहुचनेवाली बनवाई। इसी को पहनकर वह रात को सोता था।" (लाइफ आफ दि ब्लैसेड हेनरी सूसो, बाई हिमसेल्फ, टी० एफ० नौक्स द्वारा अनूदित)। इस पुस्तक मे इससे भी अधिक हृदय विदारक विवरण हैं। बलिदानी ईसा के जीवन के प्रिय साथी रहे हैं—दारिद्रय, कष्ट और अपमान, अत ईसाई सतो म उनका अनुकरण करने के लिए कष्ट और यातनाओ को झेलने की प्रतिस्पर्धा सी रही है। सट बर्नार्ड अपने शरीर पर इतने कोडे लगाते थे कि मृतप्राय हो जाते थे। सेंट टेरेसा अपने भीषण दु खोन्माद मे चिल्लाते थे "मुझे कष्ट झलने दो या मर जाने दो।" सेंट जान आफ दि क्रास ने अपने शरीर को जो यातनाए दी, वे अवर्णनीय हैं।

2 रूपलावण्यबलवज्रसहननत्वानि कायसम्पत् (3 46)।

3 1 34।

4 1 33 39।

उनके लिए छूट दी गई है। प्राणायाम का प्रयोग मन पर प्रभाव स्थिर रखने के लिए होता है ऐसा माना गया है, और हठयोग में इसका महत्त्वपूर्ण भाग है। वहां इसकी अत्यन्त प्रतिष्ठा इसलिए है कि इसमें अलौकिक शक्तियों को उत्पन्न करने की अपूर्व क्षमता है। श्वास-प्रश्वास-सम्बन्धी व्यायाम को आधुनिक समय में भी स्वास्थ्य के लिए बहुत उपकारी समझा जाता है।[1] श्वास में एकसमानता कभी-कभी सम्मोहन की प्राप्ति का साधन बन जाती है। शरीर से दुर्बल पुरुष जब इस प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास करने लगते हैं तो अत्यन्त भय रहता है। यही कारण है कि योगविद्या को इतना अधिक गुप्त रखा गया है।[2]

11. इन्द्रिय-निग्रह

चीनी दार्शनिक लाओ-त्से ने पूछा, "ऐसा कौन है जो कीचड़-सने जल को निर्मल कर सकता है ?" और उत्तर दिया, "यदि तुम उसे वैसे ही छोड़ दो तो वह स्वयं निर्मल हो जाएगा।"[3] प्रत्याहार अथवा इन्द्रियों को बाहर की उनकी प्राकृतिक क्रियाओं से हटा लेना, आधुनिक मनोविज्ञान की अन्तर्मुखता की प्रक्रिया के अनुरूप है।[4] दृढ़ संकल्पपूर्वक मन को समस्त बाह्य प्रभावों के लिए बन्द कर लेना चाहिए। स्तोत्रकार ने कहा है "निश्चल हो और जानो।" नियन्त्रण हमसे चाहता है कि हम स्वेच्छाचारी मानसिक आवेगों तथा आग्रहपूर्ण विचारों को दूर हटा दें। हमें उस दशा को प्राप्त करना है जिसे सेंट जान आफ दि क्रास ने 'नाइट आफ सेंस' कहा है। प्रत्येक सत्यान्वेषी को अपने हृदय के अन्दर एक आश्रमकुटी निर्मित कर लेनी चाहिए और प्रतिदिन उसमें अवकाश ग्रहण करना चाहिए।

नैतिक साधना (यम और नियम), आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के सहायक साधन हैं, इसके अन्तर्निहित अंश नहीं हैं।[5]

1 'दीर्घ जीवन के साधन' इस विषय पर दिए गए डाक्टर वेबर के व्याख्यान में से लिया गया निम्नलिखित उद्धरण इस विषय पर कुछ रुचिकर विचार प्रकट करता है : "मैं सोचता हूं कि हृदय की पुष्टि तथा कार्य में अद्भुत उन्नति का कारण बहुत अंशों में दीर्घ श्वास है, जो ऊपर चढ़ने में नितान्त आवश्यक है, विशेषकर जब चढ़ाई नियमपूर्वक तथा चिरकाल तक जारी रहे। उक्त विचार ने ही मुझे श्वास सम्बन्धी व्यायाम (प्राणायाम) पर विशेष ध्यान देने की प्रेरणा दी। यह व्यायाम मुझे तो लाभप्रद हुआ ही, किन्तु अनेक ऐसे व्यक्तियों के लिए भी लाभप्रद सिद्ध हुआ जिनके हृदयों की मांसपेशियां बहुत दुर्बल थीं।…मैंने प्रारम्भ में दिन में एक या दो बार गहरा श्वास तथा उच्छ्वास 3 से 5 मिनट तक जारी रखा और शनैः-शनैः इसे बढ़ाकर 10 या 15 मिनट तक कर दिया…" (ब्रिटिश मेडिकल जर्नल, दिसम्बर 5, 1903)।

2 देखिए चिन्तामणिकृत हठप्रदीपिका।

3 ताओ-तेह्-किंग।

4 और विचार सबसे उत्तम तब होता है जबकि मन अपने-आपमें संयत होता है, और कुछ भी उसे तंग नहीं करता—न शब्द, न दृश्य, न दुःख और न कोई सुख, जब शरीर के साथ उसका यथासम्भव कम से कम वास्ता रहता है तथा कोई शारीरिक बोध या अनुभूति नहीं रहती, और वह केवल सत् को प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रखता है (प्लेटोकृत फीडो, जावेट का आंग्लभाषानुवाद)।

5 ये आत्मशुद्धि की अवस्था को प्रस्तुत करते हैं, ध्यान और धारण प्रकाश की अवस्था को प्रस्तुत करते हैं, तथा समाधि योग को प्रस्तुत करती है।

12 ध्यान

मनुष्य के चचल और विक्षुब्ध मन को, जो पृथ्वी और स्वर्ग के गूढतम रहस्यो को जानना चाहता है, योग का कहना है कि चैतन्य को निरन्तर बाह्य क्रियाओ तथा आभ्यन्तर परिवर्तनो से हटाकर ही सत्य को जाना जा सकता है। मन (चित्त) को एक विशेष स्थान पर स्थिर करने का नाम 'धारण' है। यह मन की स्थिरता है। साधारण दैनिक जीवन मे विचार आते तथा जाते है परन्तु दीर्घकाल तक नही ठहरते। साधारणत एकाग्रता केवल थोडे समय के लिए ही अपनी पूर्णता मे रहती है। ध्यान की अवस्था, बिना किसी विघ्न के, समरूप से वह रही विचारधारा का परिणाम है। यह ध्यान, मनन अथवा चिन्तन कहाता है। ध्यान पराकाष्ठा तक पहुचकर समाधि मे परिणत होता है, जहा अभिज्ञा का भाव लुप्त हो जाता है। शरीर और मन समस्त बाह्य प्रभावो के लिए निश्चेष्ट हो जाते है और केवल ध्यान का विषय, वह कुछ भी क्यो न हो, प्रकाशित रहता है। जब ये तीनो एक ही विषय की ओर प्रेरित होते है तो उसे सयम कहते है।[1] जब यह सयम विषयो की ओर प्रेरित होता है—चाहे वे विषय बाह्य हो अथवा आभ्यन्तर हो—तो असाधारण शक्तिया (सिद्धिया), जैसे बन्द किवाडो के अन्दर से देखना, अदृश्य हो जाना, अन्य पुरुषो के विचार को जान जाना आदि, प्राप्त हो जाती है। मोक्ष का अभिलाषी यदि इन सिद्धियो के प्रलोभनो मे पड जाता है तो अपने उद्देश्य को भूल जाता है। ऊर्ध्वदिशा मे गति करने के लिए उक्त प्रलोभनो को रोकना चाहिए।[2]

13 समाधि अथवा एकाग्रता

समाधि उस दिशा का नाम है जिसमे से मोक्षप्राप्ति से पूर्व गुज़रना आवश्यक है। क्योकि योग समाधि द्वारा मोक्षप्राप्ति पर आग्रह करता है, इसलिए इसे पारिभाषिक रूप मे 'समाधि' कहा गया है (योग समाधि)।[3] यह समाधिस्थ की दिशा है जिसमे बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध टूट जाता है। योग की साधना का यह लक्ष्य है, क्योकि यह आत्मा को उसके काल-सम्बन्धी, सोपाधिक तथा परिवर्तनशील जीवन से ऊपर उठाकर एक सरल, नित्य तथा पूर्ण जीवन प्राप्त कराता है।[4] इसके द्वारा पुरुष नित्यपद को पुन प्राप्त कर लेता है। एकाग्रता अथवा समाधि की श्रेणिया है सम्प्रज्ञात अर्थात सचेतन और असम्प्रज्ञात अर्थात् चैतन्यातीत। पहली मे मन विषय से अभिज्ञ रहता है। वह अवस्था जिसमे चित्त अपने उद्देश्य मे एकाकी होता है और एक स्पष्ट तथा यथार्थ पदार्थ को पूर्णरूप से प्रकाशित करता है, दु खो को दूर करता है तथा कर्म के बन्धनो को ढीला कर देता है और

1 3 4।

2 3 5 1।

3 योगभाष्य, 1 1।

4 बिलकुल बाल्यावस्था से मैं जब कभी सर्वथा अकेला रहा हू तो प्राय एक प्रकार की जागरित अन्तर्लीनता (समाधि) का अनुभव करता हू। साधारणत यह अवस्था मुख चुपचाप दो तीन बार अपना नाम दोहराने से आती है, अचानक अस्मिता के चैतन्य के आधिक्य मे स्वय व्यष्टि अनन्त सत्ता के अन्दर लुप्त होता हुआ प्रतीत होने लगता है और यह एक अस्पष्ट व सम्भ्रम की दशा न होकर स्पष्टो म भी सबसे स्पष्ट निश्चितो म भी सबसे निश्चित अलौकिको म भी सबमे अलौकिक सर्वथा शब्दातीत दशा होती है जहा मृत्यु एक उपहासास्पद असम्भावना हो तथा व्यक्तित्व का लोप (यदि यह ऐसा था) सर्वथा लोप नही बल्कि एकमात्र सत्यजीवन लगता है (लाइफ आफ टैनीसन खण्ड 1 पृष्ठ 320)। देखिए उसकी दि एन्शियण्ट सेज।

सब प्रकार की मानसिक वृत्तियों का दमन अपना लक्ष्य रखता है, सम्प्रज्ञात समाधि है।[1] इसके अन्दर ज्ञाता और ज्ञात का संयोग होता है, जिसमें ज्ञाता विषय को जाननेवाला केवल इसलिए कहलाता है कि यह स्वयं वही है। विचार और विचार का विषय एक ही है। इस अवस्था में वितर्क, विचार, आनंद व अस्मिता के भाव संलग्न रहते हैं।[2] ये समाधि के ऐसे रूप हैं जिनके निश्चित विषय हैं, जिनपर इनका आधार है। सम्प्रज्ञात समाधि के सूक्ष्म भेदों को भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं, जैसे सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मिता। जब तक हम क्या अच्छा है क्या बुरा, क्या उपस्थित है क्या अनुपस्थित, इस प्रकार का तर्क-वितर्क करते हैं जब तक हम आनन्द और अस्मिता के भावों को अनुभव करते हैं, तब तक हम सम्प्रज्ञात समाधि में रहते हैं। जब आनन्द का अनुभव दूर हो जाता है और उच्चश्रेणी की समवृत्ति में लुप्त हो जाता है तो वह अवस्था उत्पन्न होती है जिसे धर्ममेघ कहते हैं, जिसमें आत्मा का पृथक्त्व तथा इसका प्रकृति से पूर्णरूप में भेद प्रत्यक्ष हो जाता है और कर्म और आगे अपना कार्य नहीं करता। वेदान्त के अनुसार, यह वह अवस्था है जिसमें विचारों का प्रवाह अत्यन्त विशदरूप में रहता है।

ऐसे व्यक्ति को जिसने आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर ली है, वस्तुओं के सत्यज्ञान की अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है। जैसाकि व्यास ने कहा है : "बुद्धि का सत्त्व, जिसका सारतत्त्व प्रकाश है, जब अशुद्धि के मल से उन्मुक्त हो जाता है तो एक स्फटिक के सदृश निर्मल तथा स्थिर प्रवाह का रूप धारण कर लेता है, जिसपर रजोगुण तथा तमोगुण अपना आधिपत्य नहीं कर सकते। जब निर्विचार समाधि में इस प्रकार की स्पष्टता (वैशद्य) उदित होती है तो योगी को आन्तरिक शांति (अध्यात्मप्रसाद) की प्राप्ति हो जाती है, और अन्तर्दृष्टि के प्रकाश से प्राप्त होती है ऐसी दर्शनशक्ति जिसको साधारण, भ्रांतिपूर्ण अनुभवज्ञान की क्रमिक अवस्थाओं में से गुजरना नहीं होता, और उसका अभिलषित विषय उसके सम्मुख अपने यथार्थरूप में होता है।"[3] यह अन्तर्दृष्टि सत्य से आपूरित है तथा सत्य को धारण किए हुए है।[4] मिथ्या ज्ञान का इसमें लेशमात्र भी नहीं है। इस अन्तर्दृष्टि को पतञ्जलि ने उस ज्ञान से पृथक् कहा है जो हमें अनुमान और आगम (शास्त्र) प्रमाण से प्राप्त होता है, क्योंकि पतञ्जलि के मत में इसका विषय एक मूर्त यथार्थसत्ता है, केवल एक सामान्य धारणामात्र नहीं।[5] जहां तक इसका अपने विषय के लिए एक विशेषार्थ है, प्रत्यक्ष से इसका सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ है। अन्तर केवल यही है कि अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञात पदार्थ भौतिक प्रत्यक्ष के लिए अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं।[6] यह परम प्रत्यक्ष है।[7] इस प्रकार प्रमेय, चाहे उसका सम्बन्ध सूक्ष्म तत्त्वों से हो अथवा आत्मा से हो, केवल इसी एकाग्र अन्तर्दृष्टि द्वारा जाना जाता है। जब हमारे भौतिक चक्षु बन्द हों तो इस प्रकार का दर्शन आत्मा से सम्पन्न होता है। यह अन्तर्दृष्टि जब एक बार उत्पन्न हो जाती है तो इसके प्रभाव के आगे अन्य सब प्रभाव फीके पड़ जाते हैं, जिससे कि उनके

1 योगभाष्य, 1 : 1।

2 क्योंकि नींद में हम किसी यथार्थ विशद विषय पर एकाग्र नहीं होते इसलिए निद्रा एकाग्रता की अवस्था नहीं है। देखिए वाचस्पति, 1 : 1।

3 योगभाष्य, 1 : 47। और देखिए 2 : 45; 3 : 51।

4 ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा (1 : 48)।

5 1 : 49।

6 योगभाष्य, 1 : 49।

7 योगभाष्य, 1 : 43।

विचार फिर सामने नही आते।[1] जब हम उच्चतम कोटि के अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, जो एकसाथ ही भूत, वर्तमान और भविष्य को उनकी समस्त अवस्थाओ समेत एक पूर्ण इकाई मे ग्रहण कर लेता है, तो यह हमे अतिम पूर्णता तक पहुचा देता है।[2]

समाधि एक सरल अनुभव नही है, जो जब तक रहे एकसमान हो। इसके विपरीत, यह ऐसी मानसिक अवस्थाओ की श्रृ खला है जो अधिकाधिक सरल होती हुई अत मे अचेतन अवस्था मे परिणत हो जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि ऐसी एकाग्रता है जिसमे कोई चित्तवृत्ति उपस्थित नही रहती, यद्यपि प्रसुप्त सस्कार रह सकते है।[3] सम्प्रज्ञात समाधि मे जिस विषय का चिन्तन किया जाता है उसकी चेतना स्पष्ट रहती है और प्रमाता (विषयी) से भिन्न रूप मे रहती है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि मे यह भेद विलुप्त हो जाता है।[4]

> ऐसी समाधि की अवस्था जिसमे भावी जीवन का बीज विद्यमान रहता है, अर्थात् 'सबीज समाधि', तथा जिसमे यह विद्यमान नही रहता, अर्थात् 'निर्बीज समाधि'—दोनो मे भेद किया गया है। वाचस्पति के अनुसार, बीज "कर्म का प्रसुप्त आशय है, जो जन्म, जीवन की अवधि तथा सुखो के नाना रूपो की बाधाओ के अनुरूप है।"[5] जिसका यह आधार है वह सबीज है और जो इससे विरहित है वह निर्बीज है। प्रकृतिजन्य अन्य सब पदार्थों की भाति, चित्त के भी तीन पार्श्व है, अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्। व्यास के अनुसार, "इसका सात्त्विक पार्श्व, जो प्रकाशमय है, जब रजस् और तमस् के साथ सयुक्त रहता है तो शक्ति तथा ऐन्द्रिय विषयो की कामना करता है। किन्तु वही जब तम से

1 1 50।

2 3 54।

3 1 18।

4 "आत्मा अब शरीर अथवा मन से अभिन्न नही रहती, बल्कि जानती है कि जिसकी उसे इच्छा थी वह उसके पास है, और कि वह ऐसी स्थिति मे है जहा कोई छल नही आ सकता, और कि वह अपने परमानन्द को स्वर्ग के भी स्वर्ग के साथ बदलने को तैयार न होगी" (प्लाटिनस एनीडस, 6 7, 24)। शेलिंग अपनी 'फिलौसाफिकल लैटर्स अपौन डौग्मैटिज्म एण्ड क्रिटिसिज्म' नामक पुस्तक में कहना है "हम सबके अन्दर एक गुप्त तथा अदभुत शक्ति निवास करती है, जिसके द्वारा हम अपने को कालजनित परिवर्तनो से स्वतन्त्र कर सकते हैं अपने को बाह्य वस्तुओ से हटाकर अपनी गुह्य आत्मा मे समेट सकते हैं और हमारे अन्दर अपरिवर्तनशीलता के रूप मे जो नित्य है उस खोज सकते हैं। अपने को अपने-आपके समक्ष इस तरह प्रस्तुत करना यथार्थ मे सर्वथा निजी अनुभव है, जिसपर वह सब कुछ निर्भर करता है जो हम अतीन्द्रिय लोक के सम्बन्ध मे जानते हैं। यह प्रस्तुतीकरण हमे पहली बार यह दिखाता है कि यथार्थ क्या है, जबकि अन्य सब कुछ केवल प्रतीतिमात्र है। यह प्रस्तुतीकरण अन्य सब इन्द्रियजनित प्रस्तुतीकरणो से भिन्न है, क्योकि यह सम्पूर्णरूप म स्वतन्त्र है, जबकि अन्य सब प्रस्तुतीकरण बद्ध हैं, पदार्थों के भार से बुरी तरह दबे हुए हैं। यह बौद्धिक प्रस्तुतीकरण तब सम्पन्न होता है जब हम अपने ही प्रमेय बनने बद हो जाते हैं जब अपने अन्दर सिमटकर *प्रत्यक्षद्रष्टा मूर्ति प्रत्यक्षीकृत आत्मा मे आत्मसात हो जाती है। उस समय हम काल तथा कालावधि* को सवथा मिटा देते हैं। हम तब काल के अन्दर नही होते, बल्कि काल अथवा स्वय अनन्तता हमारे अन्दर होती है। बाह्यजगत् हमारे लिए प्रमेय नही रहता बल्कि हमारे अन्दर लुप्त हा जाता है।" इस प्रकार यह प्रकट है कि ऐसा मोचना कि केवल पूर्व के लोगो का ही मस्तिष्क इस प्रकार के भावुकतामय विचारो के लिए उपयुक्त है, जो अतीन्द्रिय सौन्दर्यपरक चिन्तन मे परिणत हो जाते है, ठीक नही है।

5 तत्त्ववैशारदी 1 2।

अभिभूत रहता है तो बुराई, अज्ञान और आसक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा अपने प्रभुत्व को अनुभव करने में असफल रहता है। जब भ्रम का आवरण दूर हो जाता है तो यही चारों ओर से प्रकाशित होता है, और क्योंकि इसमें थोड़ा-सा रजस् का अंश सम्मिलित रहता है इसलिए धर्म, ज्ञान, अनासक्ति तथा प्रभुत्व के प्रति प्रवृत्त होता है। यही सत्त्व, जब रजस् का लेशमात्र भी शेष नहीं रहता तो, अपने-आपमें अवस्थित हो जाता है (स्वरूपप्रतिष्ठम्), और सत्त्व तथा आत्मा के भेद को पहचानने के अतिरिक्त अन्य कुछ न होने से (सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रम्) धर्ममेघ के चिन्तन के प्रति प्रवृत्त हो जाता है (धर्ममेघध्यानोपगं भवति)। इसको धर्ममेघ इसलिए कहा गया है क्योंकि यह धर्म अर्थात् सत्य से परिपूर्ण है तथा नीचे के स्तरों पर वरदानों की वर्षा करता है, जबकि मनुष्य स्वयं नित्य सत्यरूपी सूर्य की धूप का आनन्द लेता है और सब प्रकार के कष्टों तथा कर्मों से ऊपर उठ गया होता है। ध्यानी पुरुष इसे उच्चतम श्रेणी की बोध-प्रक्रिया (प्रसंख्यान) मानते हैं। किन्तु चितिशक्ति निर्विकार है और पदार्थों के साथ संयुक्त नहीं होती। पदार्थ इसके सम्मुख आते हैं, किन्तु यह निर्दोष रहती है और इसका अन्त नहीं है, जबकि विवेकख्याति, जिसका सारतत्त्व सत्त्व है, इसकी प्रतिपक्षी है।" यद्यपि यह उच्चतम ज्ञान है जो सम्भव हो सकता है, किन्तु इसका भी दमन करना आवश्यक है।[1] "इस प्रकार इससे भी निराश होकर चित्त इस अन्तर्दृष्टि को नियन्त्रित करता है। इस अवस्था में इसके अन्दर संस्कार रहते हैं। "सबीज समाधि का उपयोग, जिसके द्वारा वस्तुओं का ज्ञान ग्रहण करने की महान शक्ति प्राप्त होती है, निर्बीज समाधि तक पहुंचने के लिए एक आवश्यक सोपान के रूप में करना होगा। क्योंकि इस अवस्था में किसी भी प्रमेय की चेतना नहीं रहती इसलिए इसे असम्प्रज्ञात भी कहा गया है।" यद्यपि कुछ संस्कार रहते हैं, किन्तु उनका मूल नष्ट हो जाता है। परन्तु भोज की सम्मति है कि पूर्ण असम्प्रज्ञात समाधि में समस्त संस्कार नष्ट हो जाते हैं।[2] व्यास और वाचस्पति का मत है कि उस अवस्था में संस्कार विद्यमान रहते हैं।[3] किन्तु अन्तिम मोक्ष के लिए उन्हें दूर करना आवश्यक है, क्योंकि योगसूत्र का कहना है कि जब अन्तर्दृष्टि के अवचेतनावस्थागम संस्कार का भी दमन हो गया, अर्थात् जब सब कुछ दमन हो गया, तो योगी निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेता है।[4]

1 व्यास (1 : 4) पञ्चशिख से इस प्रकार का एक उद्धरण देते हैं "ज्ञान केवल एक है, भेदज्ञान ही ज्ञान है।" "एकमेवदर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।"

2 भोजवृत्ति, 1 : 18।

3 राजेन्द्रलाल मित्र लिखते हैं : "इस विरोध का समाधान यों किया जा सकता है कि मानो पातञ्जलभाष्य की दृष्टि में एक वह समाधि है जिससे जागना होता है, जबकि भोज ऐसी अन्तिम समाधि की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कुछ विशिष्ट संस्कार शेष रह जाते हैं। योगीजन स्वीकार करते हैं कि असम्प्रज्ञात समाधि से पुरुष जागते हैं, और कि उस समाधि का प्रायः अभ्यास किया जाता है, और इस प्रकार की अवस्थाओं में [illegible] रह जाते हैं, क्योंकि समाधि से उठने पर [illegible] सन्तोषजनक रूप से कहकर कि पतञ्जलि [illegible] है, जिस प्रकार उन्होंने 'शेष' शब्द का प्रयोग किया है उससे इस प्रकार का सुझाव मिलता है कि पातञ्जलभाष्य ने उसका ठीक ही अर्थ लगाया है" (योगसूत्र, पृष्ठ 23)।

4 1 : 51। तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

जब तक हम समाधि की अवस्था को नही पहुचते, हमारा प्रयत्न निषेधपरक, अर्थात् पुरुष को प्रकृति से भिन्न जानना, रहता है। किन्तु जब इस पारस्परिक भेद का पूरा ज्ञान हो गया, तो आत्मा का विध्यात्मक स्वरूप अपने को अभिव्यक्त करता है। आत्मा के स्वरूप की उसके अपने स्तर पर यह अभिव्यक्ति, जो प्रकृति के साथ सब प्रकार के मिश्रण से ऊपर है, समाधि की सबसे उन्नत अवस्था है। इस अत्युत्कृष्ट चेतनामय समाधि मे द्रष्टा अपने स्वरूप मे अवस्थित रहता है।[1] उस अवस्था मे आत्मा तथा चित्त की क्रिया के मिश्रण की समस्त सम्भावना मिट जाती है।[2] योग का यह मत है कि मनुष्य का चित्त एक चक्की के पाट के समान है। यदि हम उसके नीचे गेहू रखेगे तो वह उसे पीसकर आटे के रूप मे परिणत कर देगा, और यदि हम उसमे पीसने को कुछ न रखेगे तो वह चलते-चलते अन्त मे अपने-आपको ही पीस डालेगा। जब हम चित्त को उसके उतराव-चढाव से विहीन कर देते है तो उसकी चेष्टा विराम को प्राप्त हो जाती है, और वह नितान्त अकर्मण्यता की अवस्था मे आ जाता है। उस समय हम एक ऐसे मौन मे प्रवेश करते है जिसपर बाह्य जगत का सतत कोलाहल कोई प्रभाव नही डालता। चित्त तो निराश्रय हो गया, किन्तु आत्मा बिलकुल स्वस्थ हे। यह एक ऐसी अवस्था है जो रहस्यमय है और प्रगाढ एकाग्रता के परिणामस्वरूप होती है। इसका हम ठीक-ठीक विवरण नही दे सकते। क्योकि, जैसाकि व्यास ने उद्धरण दिया है, "योग के द्वारा ही योग जाना जाता हे, और योग की अभिव्यक्ति भी योग के ही द्वारा होती है, और जो योग के प्रति तत्पर है वह सदा इसी मे रमा रहता है।"[3] समाधि एक ऐसी अवस्था है जो बहुत कम व्यक्तियो को प्राप्त होती है और प्राय कोई भी इसे देर तक धारण किए नही रह सकता, क्योकि जीवन की मागो के कारण यह भग हो जाती है। इसलिए यह कहा गया है कि अन्तिम मोक्ष तब तक सम्भव नही है, जब तक कि इस शरीर का त्याग नही होता।

उन्माद की अवस्थाए आती हैं, इस विषय मे कोई भी सदेह नही कर सकता। प्लेटो के अनुसार, "यह दैवीय उन्माद मनुष्य को दिए गए वरदानो का मुख्यतम स्रोत हे।" सर्वोच्च अन्त प्रेरणाओ का आविर्भाव जीवन के ऐसे ही क्षणो मे हुआ है। होरेब पर्वत पर मोजेज ने अनादि, अनन्त विश्वात्मा के शब्द को 'मैं हू' इस ध्वनि मे सुना। ईसाइयाह ने यथार्थसत्ता के रहस्य को 'पवित्र, पवित्र, पवित्र' इन शब्दो द्वारा प्रत्यक्ष किया। सन्त पीटर्स ने सडक के दर्शन से ही यह ज्ञान प्राप्त किया कि ईश्वर सब मनुष्यो तथा सब राष्ट्रो के लिए एकसमान है। कहा जाता है कि सन्त पॉल अपनी दीक्षा लेते समय समाधि की मूर्च्छा मे आ गए थे। मध्ययुग के रहस्यवादी प्राय ही अद्भुत दर्शन तथा अद्भुत वाणियो के विषय मे कहते सुने गए हैं। आधुनिक काल के कवियो मे वर्ड्सवर्थ और टैनीसन उन्माद की दशाओ का प्राय उल्लेख करते है। इन अद्भुत दर्शनो तथा अद्भुत वाणियो को साधारणत ईश्वर से साक्षात्कार माना गया है, जोकि बाधाओ के साथ जूझते हुए सन्तो को साहाय्य प्रदान करने तथा आवश्यकता के समय बल प्रदान करने के अभिप्राय से प्रकट होते हैं, जिससे कि ईश्वर मे श्रद्धा रखनेवालो के लिए उन्माद

1 1 3।
2 1 34।
3 योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥ (योगभाष्य, 3 6।)

की अवस्था देवत्वप्राप्ति ही का दूसरा नाम है।[1] किन्तु योग का मत ऐसा नहीं है। प्रत्येक आत्मा मूलरूप में दैवीय है, और उसके दैवत्व की अभिव्यक्ति तब होती है जबकि बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के स्वभाव पर मनुष्य नियन्त्रण कर लेता है।[2] अद्भुत दर्शनों तथा अद्भुत वाणियों को योग में मनुष्य के अपने अन्दर के सृजनात्मक भाव का प्रकाशनमात्र माना गया है। उक्त दर्शन अथवा अद्भुत वाणियां प्रामाणिक हैं या नहीं, इसका निर्णय तर्क के प्रकाश से करना चाहिए।

14 मोक्ष

मोक्ष का नाम योगदर्शन में 'कैवल्य' अर्थात् परम स्वातन्त्र्य है। यह अवस्था केवल निषेधात्मक नहीं है, बल्कि पुरुष का वह निरपेक्ष जीवन है जो प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होकर प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि यह गुणों का पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि उस समय आत्मा का कोई प्रयोजन नहीं रहता, अथवा बुद्धि की शक्ति अपने-आपमें स्थित होती है।[3] पुरुष अपने यथार्थस्वरूप में रहता है। हिन्दू विचारधारा की अन्यान्य दर्शन-पद्धतियों की भांति, योगदर्शन में भी समस्त दुःखों का कारण वस्तुओं के यथार्थस्वरूप का अज्ञान है। शरीर इसी अज्ञान के कारण है। इसका समर्थक चित्त है और इसका विषय सांसारिक सुखोपभोग है। जब तक अविद्या का अस्तित्व है, मनुष्य अपने बोझ को उतारकर नहीं फेंक सकता है। अविद्या का परिहार विवेकज्ञान (विवेकख्याति) के द्वारा हो सकता है।[4] जब मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो सब प्रकार के मिथ्या विचार विलुप्त हो जाते हैं। आत्मा पवित्र हो जाती है और चित्त की अवस्थाओं से अलिप्त रहती है। गुण भी अवकाश प्राप्त कर लेते हैं और आत्मा अपने सारतत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाती है।[5]

जीव का लक्ष्य अनासक्ति तथा स्वाधीनता प्राप्त करना है। यह पारिवारिक जीवन, समाज आदि मानवीय सम्बन्धों के अनुकूल नहीं है, और इसीलिए योग एक ऐसा दर्शन कहा गया है जिसको नीतिशास्त्र से कोई सरोकार नहीं है। एवं ऐसे दर्शन में,

1 "कतिपय महान ईसाई रहस्यवादियों ने ईसामसीह अथवा ईश्वर को स्वत:सम्भूत चारित्रशक्ति को ही दैवत्व का नाम दिया है" (जे० एच० ल्यूबा : जर्नल आफ फिलासफी, 21, पृष्ठ 702)।

2. बर्नार्ड शा कृत 'सेंट जोन' को प्रकाश डालनेवाली प्रस्तावना देखिए।

3. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति (योगसूत्र, 4 34)।

4 कहा जाता है कि इसकी सात स्थितियां हैं, जो इस प्रकार हैं :(1)वस्तु, जिससे छुटकारा पाना है, जान ली गई है और इस प्रकार उसे फिर से जानने की आवश्यकता नहीं है। (2)जिस वस्तु से छुटकारा पाना है उसके कारण क्षीण हो चुके हैं और इसलिए उन्हें और क्षीण होने की आवश्यकता नहीं है। (3) छुटकारे का सीधा प्रत्यक्ष निरोध समाधि द्वारा होता है। (4) विवेकज्ञान के रूप में छुटकारे के साधन को सिद्ध किया गया है। जहां ये चारों चार प्रकार की बाह्य प्रपञ्च से मुक्ति(कार्यविमुक्ति)से सम्बन्ध रखती हैं, वहां अन्य तीन का सम्बन्ध अन्तिम मोक्ष (चित्तविमुक्ति) से है और वे हैं—(1) बुद्धि का अधिकार समाप्त हो गया, (2)गुणों को विश्राम मिल गया; (3) आत्मा, जिसने गुणों से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है, स्वतः प्रकाशित होती है, इससे अधिक कुछ नहीं, और वह निर्मल तथा पृथक् हो गई। (गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति)(योगभाष्य, 2 27)।

5. 3 : 24-33।

जिसका लक्ष्य ही मनुष्य के ससार-सम्बन्धी समस्त बन्धनो को तोडने का हो, नैतिक, विपयो पर विवेचन के लिए कोई स्थान नही हो सकता।[1] इस प्रकार की समालोचना का हमे प्राय ही सामना करना पडा है। नैतिक मार्ग ही एकमात्र हमे पूर्णता तक पहुचाने मे सहायक होता है, यद्यपि पूर्णता की प्राप्ति के पश्चात् हम ऐसे क्षेत्र मे पहुच जाते हैं जो अच्छाई और बुराई दोनो से परे है। आत्मा के यथार्थस्वरूप को, जो अनेक प्रकार के आवरणो से मलिन बना रहता है, जान लेने का ही नाम मोक्ष है। हम केवल पुरुषार्थ तथा आत्मसयम के द्वारा ही उनसे मुक्ति पा सकते है। अन्यान्य अनेको दर्शन-पद्धतियो की अपेक्षा योगदर्शन इस मत को स्वीकार करने मे कही अधिक बल देता है कि दार्शनिक ज्ञान हमे त्राण नही पहुचा सकता। जिस वस्तु की हमे आवश्यकता है वह अनुसन्धान अथवा विवेचन की सूक्ष्मताए नही हैं, बल्कि इच्छाशक्ति को वश मे करना है। हमे अपनी आन्तरिक भावनाओ तथा वासनाओ पर विजय पानी है। सच्चा दार्शनिक वह हैं जो आत्मा का चिकित्सक हो, जो हमे इच्छाओ के वन्धन से मुक्ति दिलाने मे सहायक हो।

योगदर्शन इस बात को मानता है कि सब मनुष्य उस आत्मसयम को पालन करने के योग्य नही होते जिसपर कि वह बल देता है। कुछ व्यक्ति ऐसे है जिन्हे आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा मे 'बहिर्मुख' कहा जाता है। उनके लिए क्रियायोग का विधान है, *जिसमे तपस्या, स्वाध्याय तथा भक्ति (ईश्वर-प्रणिधान) शामिल है।*[2] *तपस्या* वह है जो क्लेश तथा कर्म के परिणामस्वरूप अन्तस्तल मे बैठे हुए अज्ञात सस्कारो समेत समस्त मलो को भस्मसात् कर देती है। योगान्तर्गत मनोविज्ञान की धारणा है कि चेतन मन के अतिरिक्त भी एक अचेतन किन्तु सक्रिय आत्मिक क्षेत्र है, और तपस्या का लक्ष्य इस अचेतन क्षेत्र के विषयो को भी वश मे करना है।[3]

> एक योगी, जिसे समाधि की शक्ति प्राप्त हो गई है, कर्म को नष्ट करने के लिए उद्यत हो जाता है। और वे कर्म तीन प्रकार के हैं (1) भूतकाल मे किए हुए कर्म, जिन्होने वर्तमान जीवन मे अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया है (ये प्रारब्ध कर्म है), (2) वे कर्म जो भूतकाल मे किए गए है किन्तु जिनके फल किसी भावी जीवन मे मिलने के लिए सचित हैं (ये सचित कर्म हैं); और (3) वे कर्म जो इस जन्म मे किए गए और जिनका फल इस जीवन मे अथवा किसी भावी जीवन मे मिलने को है (ये आगामी कर्म हैं)। अन्तिम प्रकार के कर्म *ईश्वरभक्ति तथा समाजसेवा द्वारा रोके जा सकते है।* पके हुए कर्म फल दे चुकने पर इसी जीवन मे शेष हो जाते है, और अपरिपक्व कर्मो के विषय मे,

1 तार्किक दृष्टि से एक नैतिक प्रयोजन तथा आचरण योग के लक्ष्य की माग है, क्योकि सत्य व्यवहार तथा मैत्रीभाव इत्यादि ऐसे व्यक्ति के लिए किसी प्रयोजन के नही हैं जो नितान्त अनासक्ति तथा एकाकीपन चाहता है। नैतिक महत्ताओ की चिंता का व्यक्तित्व के दमन की कामना के साथ सयोजन उन विपमताओ मे से है जो विचार की अव्यवस्था को प्रकट करती हैं, और यह इस दर्शन मे एक त्रुटि है।' (जर्नल आफ फिलासफी, अध्याय 16, सख्या 8, पृष्ठ 200)।

2 2 1।

3 चैतन्य की सीमारेखा के ऊपर जो कुछ आता है वह नीचे की ओर हो रहे शक्तियो के नाटक का प्रतीक है। योगविद्या म निपुण पुरुष मानसिक रोग (स्नायुरोग) तथा 'भूतबाधा की अवस्थाओ मे, जो कुछ साधारणत. अचेतन के अन्दर छिपा है उसे सम्मोहक मूर्च्छा अथवा अन्य साधना से ऊपर की ओर आने देते है और खोज निकालते हैं। इस प्रकार की चिकित्साए, जो हमे आधुनिक मनोविश्लेपण का स्मरण कराती हैं, भारत म बहुत प्रचलित हैं।

जिनके लिए आगामी जीवन की आवश्यकता है, यह कहा जाता है कि योगी पुरुष ऐसे सब शरीरों की सृष्टि कर सकता है जिनसे पुराने सब ऋणों का शोध हो जाए। इनमें से प्रत्येक शरीर का एक अपना चित्त अथवा मन रहता है, जिसे निर्माणचित्त अथवा कृत्रिम मन कहते हैं। कृत्रिम शरीरों की, उनके चित्तों सहित, पहचान साधारण शरीरों से स्पष्ट रूप में की जा सकती है, क्योंकि वे अपने कर्मों में पूर्णतया व्यवस्थित होते हैं। योगी की चेतना इन सब विभिन्न इच्छा-रहित कार्यशरीरों का सचालन करती है। ज्योंही यह यन्त्रवत् प्राणी, जिसका विशेष लक्ष्य संचित कर्म के एक विशेष भाग की समाप्ति होता है, अपना उद्देश्य पूरा कर चुकता है, योगी उसपर से अपना नियन्त्रण उठा लेता है और 'मनुष्य' हठात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। प्राकृतिक मन के विपरीत, कृत्रिम मन के अनुभव अपने पीछे कोई चिह्न नहीं छोड़ते।[1]

15 कर्म

जब तक अविद्या पर विजय नहीं प्राप्त की जाती, तब तक ससार में जन्म होता रहेगा। कर्म का विधान प्रामाणिक माना गया है, और हमारे जीवन, इसके स्वरूप तथा इसकी अवधि—सबका निर्णय इस कर्मविधान से ही होता है।[2] यद्यपि हम अपने पूर्वजन्मों को स्मरण नहीं करते तो भी हम उनकी विशेषताओं का अनुमान वर्तमान जीवन की प्रवृत्तियों द्वारा कर सकते हैं।[3] और ये प्रवृत्तियां अपने कारण (हेतु), प्रेरक भाव (फल), आश्रय और विषय (आलम्बन) के लुप्त हो जाने पर नष्ट हो जाएंगी। मूल कारण है अविद्या, यद्यपि अन्य भी उसके साथ ससक्त कारण हो सकते हैं। प्रेरक भाव से तात्पर्य उस प्रयोजन से है जिसके सम्बन्ध में कोई भी मानसिक प्रक्रिया वर्तमान में कार्यकारी बनती है। चित्त अवशिष्ट क्षमताओं का अधिष्ठान है और विषय (प्रमेय पदार्थ) वह है जो क्षमताओं को उत्तेजित करता है।[4]

16. अलौकिक सिद्धियां

प्रचलित इन्द्रजाल (जादू) के सम्प्रदाय को मुक्ति की योग-विहित धार्मिक योजना के साथ मिला दिया जाता है। योगसाधना के मार्ग में कुछ जादू की शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं, ऐसा प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में माना गया है, यद्यपि स्वय बुद्ध ने उन शक्तियों की खोज को पूर्ण मोक्ष के लिए अनुपयोगी बताया था। हिन्दूधर्मशास्त्र हमें ऐसे व्यक्तियों के विषय में बताते हैं जिन्होंने केवल कठोर तपस्या से अद्भुत शक्तियां प्राप्त कीं। योगदर्शन में इन शक्तियों की प्राप्ति को समाधि के मुख्य लक्ष्य से निम्नस्तर का बताया गया है। यद्यपि उच्चतम लक्ष्य न भी प्राप्त हो, तो भी नीचे की स्थितियों का अपना महत्त्व है ही। प्रत्येक स्थिति अपना पुरस्कार प्रस्तुत करती है। आसनों द्वारा शरीर के नियन्त्रण से अत्यधिक शीत तथा अत्यधिक उष्णता साधक को नहीं सताते।[5] जिस किसी चीज़ पर भी

1 4 4-5।
2 2 12-14।
3 4 : 9।
4 योगभाष्य, 4 : 11।
5 2 48।

हम अपने ध्यान को एकाग्र करेंगे उसका पूरा अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान हम प्राप्त कर लेंगे। सयम अथवा एकाग्रता ऐसे साधन है जिनके द्वारा हम अतीन्द्रिय विषयो का ज्ञान प्राप्त करते है। इनके द्वारा हम वस्तुओ के अन्तस्तम मर्म का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते है तथा महान प्रज्ञालोक तक पहुच जाते है। मित्रता, अनुकम्पा एव सुख पर नियन्त्रण का प्रयोग करने म इन गुणो मे वृद्धि होती है।[1] यदि हम मासपेशियो की शक्ति पर ध्यान को केन्द्रित करेंगे तो हमे दैत्य के समान शक्ति प्राप्त होगी।[2] इन्द्रियो की बढी हुई शक्तिया, जिनसे योगी दूर से देख तथा सुन सकता है, एकाग्रता का ही परिणाम है।[3] हम अचेतन सस्कारो का भी सीधा ज्ञान प्राप्त कर सकते ह तथा, उनके द्वारा, अपन पूर्वजन्मो के विषय मे भी जान सकते है।[4] किसी भी प्रस्तुत विचार पर एकाग्रता के साथ सयम करने से परिणामस्वरूप दूसरे के मन का भाव जाना जा सकता है। (परचित्तज्ञानम्)।[5] एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक विचार का सक्रमण, बिना किसी साधारण सचारसाधन के सर्वथा सम्भव है। तीन प्रकार के परिवर्तनो पर ध्यान लगान से, जिनम होकर सब पदार्थ बराबर गुज़रते रहते है, हम भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकाल के विषय मे जानने की शक्ति प्राप्त करते है।[6] योगी अपने शरीर को अदृश्य बना सकता है।[7] दो प्रकार के कर्मो पर सयम करने से, अर्थात् उन क्षमताओ पर जो शीघ्र ही समाप्त हो जाएगी तथा उनपर जिन्हे समाप्त होने से अधिक समय लगेगा, वह जान जाता है कि वह कब मरेगा। वह सूक्ष्म को, छिपे हुए को, अस्पष्ट को, अन्तरिक्ष को, नक्षत्रमण्डल को, ध्रुव तारे को, शारीरिक सघटन को तत्सम्बन्धी सयमो को करने से जान लेता ह। पतजलि के अनुसार, ऐसा मनुष्य जो आत्मा तथा पदार्थ-जगत् के पृथक्त्व को ठीक ठीक जान लेता है, जीवन की तमाम अवस्थाओ और सर्वज्ञता पर अधिकार प्राप्त कर लेता है।[8] पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व हम कभी-कभी सत्य के विषय मे एक प्रकार की पूर्व अन्तर्दृष्टि मिल जाती है। इसे प्रतिभा कहते है।[9]

अलौकिक सिद्धिया वस्तुत समाधि के मार्ग मे बाधक हैं, यद्यपि जब मनुष्य इन्हें प्राप्त करता है तो इन्ह पूर्णता का ही रूप समझने लगता है।[10] ये उच्च जीवन की आनुषगिक उपज है। ये वे फूल है जो हमे मार्ग मे मिल जाते है और जिन्हे हम चुन लेते है, यद्यपि सत्य का अन्वेषक इन्हे चुनने के लिए नही निकला था। इन पूर्णताओ की उपेक्षा करने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।[11] बनियान के रूपकालकार मे दिव्यनगर के तीर्थ-

1 3 23।
2 3 24।
3 3 35।
4 3 18।
5 3 19।
6 3 16।
7 योगसूत्र 3 21। गोरेस का जो पाच खण्डा म बडा ग्रन्थ है उस दैवीय प्राकृतिक और नारकीय (पैशाचिक) रहस्यवाद म विभक्त किया गया है। पहले म दृष्टि श्रवण गन्ध आदि की शक्तियो के चमत्कारिक रूप म बढ जाने के सम्बन्ध म जो अत्यधिक पवित्रता का परिणाम है कहानिया दी गई हैं और उनम बतलाया गया है कि किस प्रकार एक महात्मा को अदृश्य हो जाने की शक्ति प्राप्त थी एव दूसरे सन्त को बन्द दरवाजो के अन्दर से गुजर जाने की और तीसरे को वायु मे उड़ने की शक्ति प्राप्त थी (डीन इगे क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म पृष्ठ 264 65)।
8 3 49।
9 योगभाष्य 3 33। 3 37।
10 3 37।
11 3 50 51।

यात्रियों को स्वयं स्वर्ग के मुख्य द्वार पर ही एक छोटी-सी खिड़की मिलती है, जिसमें से होकर एक मार्ग नीचे नरक तक चला गया है। जो पुरुष इन चमत्कारपूर्ण शक्तियों का शिकार हो जाता है उसका अधःपतन शीघ्र होता है।

योगदर्शन में इन अलौकिक सिद्धियों को प्रकृति के नियमों में चामत्कारिक रूप से विघ्न डालनेवाली नहीं माना गया है। जो जगत् हमारे लिए इन्द्रियगोचर है वही सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् नहीं है। जो भौतिक जगत् के सिद्धान्तों का व्याघात प्रतीत होता है, वह विश्व-व्यवस्था के दूसरे भाग के सिद्धान्तों द्वारा उसकी केवल पूर्तिमात्र है। भौतिक जगत् से परे जो जगत् है उसका अपना ही विधान तथा विधान है। असीम भौतिक एवं बौद्धिक शक्ति के आकर्षणों का उपयोग सम्भवतः सांसारिक जीव को उच्चतम जीवन तक ले जाने के लिए किया गया हो, क्योंकि मूर्ख लोग सदा चिह्नों की ही खोज करते हैं।

"सिद्धियां, जन्म से, ओषधियों से, मन्त्रों द्वारा, तपस्या से अथवा समाधि द्वारा प्राप्त होती हैं।"[1] कुछ व्यक्ति शक्तियों के साथ ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उन्होंने पूर्वजन्म में योग का अभ्यास किया होता है। ये जन्मजात आत्मिक व्यक्ति थोड़े-से ही प्रशिक्षण से उत्कृष्ट योगी बन जाते हैं। कभी-कभी आत्मिक शक्तियों की प्राप्ति ओषधियों और चेतनाशून्य करनेवाली ओषधियों के प्रयोग से भी होती है। प्रचलित विचार में नशीली दवाइयों से प्राप्त मूर्च्छा और उन्माद की अवस्था में कोई भेद नहीं किया जाता। पतञ्जलि ने ओषधियों के प्रयोग का विधान नहीं किया है, यद्यपि सिद्धियों के प्राप्त करने के उपायों में इसका उल्लेख अवश्य है।[2] इस प्रकार ओषधि द्वारा नशा लाने की आदत, जो आदिम जातियों में प्रचलित थी, योग के उच्चतर रहस्यवाद के साथ मिश्रित कर दी गई। मन्त्र[3] तथा तपस्या भी हमें इन शक्तियों को प्राप्त करने में सहायता देते हैं। किन्तु बल केवल चित्त की एकाग्रता पर ही दिया गया है, औरों पर नहीं। ओषधियों अथवा अव्यवस्थित स्नायुजाल द्वारा प्राप्त अद्भुत दर्शन को दूषित ठहराया गया है। योगदर्शन अपनी परिस्थितियों से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करने को उद्यत नहीं था, इसलिए ऐसे अंशों को भी उसने अपने अन्दर सम्मिलित कर लिया जो उसके अन्तस्तम अस्तित्व के साथ सम्बन्ध नहीं रखते थे। इसी समझौते के भाव के कारण योगदर्शन का यह मिश्रितापूर्ण स्वरूप है, जो निम्नस्तर के प्रकृतिवाद तथा उच्चस्तर के आदर्शवाद के एक मिश्रित रूप को प्रस्तुत करता है। वातावरण से भी अनजाने सुझाव मिल जाना स्वाभाविक है, और इसलिए योगदर्शन कुछ ऐसी विशेषताओं को प्रस्तुत करता है जो उस युग की जिसमें इसका प्रादुर्भाव हुआ, अवस्थाओं के कारण उत्पन्न हुई थीं। किन्तु हमारे लिए यह आसान है कि हम इन गौण तथा आकस्मिक लक्षणों को मुख्य तथा आन्तरिक लक्षणों से पृथक् कर सकें। योगसूत्र इन ओषधियों तथा मन्त्रों पर आगे तनिक भी ध्यान नहीं देता, जिससे सुझाव यह मिलता है कि उसका निश्चित मत यह है कि चिह्न और विलक्षणता—जिनको असंस्कृतजन खोजते हैं—चाहे सम्यक् रूप से प्रामाणित ही हों, तो भी उनका आध्यात्मिक महत्त्व कुछ नहीं है।

1. 4 : 1।

2. नाइट्रस ऑक्साइड उन्मादपरक चेतना को उत्तेजित करता है। विलियम जेम्स के अनुसार, "मद्य अपने उपासक को वस्तुओं की भावशून्य (जड़) परिधि से दीप्तिमान अन्तस्तत्त्व तक पहुंचा देता है। यह उसे क्षणमात्र के लिए सत्य के साथ तादात्म्य प्राप्त करा देता है" (वैराइटीज आफ रिलिजियस एक्सपीरियंस, पृष्ठ 387)।

3. 'अमेरिकन न्यू थॉट' सावधानी से चुने हुए शब्द अथवा छन्दोबद्ध सूत्र पर ध्यान एकाग्र करने का सुझाव देता है, और यह विधि मन्त्रोच्चारण के अनुरूप है।

17 ईश्वर

पतञ्जलि ने ईश्वर भक्ति को योग के सहायको मे अन्यतम माना है।[1] ईश्वर केवल ध्यान का ही विषय नही, वल्कि वाधाओ को दूर करके लक्ष्य प्राप्ति मे सहायता करनेवाला भी माना गया है। किन्तु ईश्वरवाद पतञ्जलि के सम्प्रदाय का अन्तरग भाग नही है। पतञ्जलि के क्रियात्मक प्रयोजन एक शरीरधारी ईश्वर से पूरे हो जाते है, और वह ईश्वरवाद की कल्पनात्मक रुचियो से अधिक वास्ता नही रखता। व्यास ने एक ऐसा हेतु प्रस्तुत किया है जो हमे शास्त्रीय तात्त्विक हेतु का स्मरण कराता है।[2] ईश्वर पूर्ण स्वभाव वाला (प्रकृष्टसत्त्व) है। "उसकी प्रकृष्टता उसके तुल्य अथवा उससे उत्कृष्ट दूसरे किसी के न होने मे है। प्रथम तो, कोई अन्य प्रकृष्टता इससे बढ नही सकती, क्योंकि जो कोई इससे अधिक प्रकृष्टता का दावा करेगा उसे उतनी प्रकृष्टता अपनी सिद्ध करनी होगी। इसलिए जिसमे कोई प्रकृष्टता की इस प्रकार की पराकाष्ठा पाई जायेगी वही ईश्वर है।" फिर, उसके समान प्रकृष्टता भी किसी अन्य मे नही है। 'क्योंकि जब एक ही वस्तु की इच्छा समान श्रेणी के दो व्यक्ति करते हैं, जिनमे से एक तो कहे कि 'यह नई होनी चाहिए' और दूसरा कहे कि 'यह पुरानी होनी चाहिए', तो यदि एक की विजय होती है तो दूसरे को अपनी इच्छा मे असफलता मिलती है और वह हीनतर हो जाता है। और दो समान श्रेणी के व्यक्ति उसी इच्छित वस्तु को एक साथ प्राप्त भी नही कर सकते, क्योकि इस प्रकार की प्राप्ति परस्पर-विरोधी होगी। इसलिए हमारा मत है कि जिस किसी मे ऐसी प्रकृष्टता है जिसके न तो कोई बराबर है और न कोई उससे अधिक है, वही ईश्वर है।"[3] पतञ्जलि ईश्वर की सर्वज्ञता को निरन्तरता के विधान द्वारा सिद्ध करते है, क्योकि निरन्तरता की ऊपर कही-न-कही सीमा आवश्यक है। जहा महत् है और महत्तर है, वहा महत्तम भी अवश्य है। जिस किसी मे भी उत्कृष्ठता की श्रेणिया है, वह उच्चतम सीमा तक अवश्य पहुचा सकता है। सर्वज्ञता मे उत्कृष्टता की श्रेणिया हैं। यह शनै -शनै अनुपात मे बढते बढते उस सोपान तक पहुचाती हैं जहा भौतिक सामग्री (तमोगुण), जिसने सारतत्त्व (सत्त्व) को ढका हुआ है, दूर हो जाती है। और जब सर्वज्ञता का अकुर अपनी पूर्णता की ऊचाई पर पहुच जाता है तो हम सर्वज्ञ ईश्वर को पाते है। 'उसमे सर्वज्ञता का अकुर पूर्णता तक पहुचा हुआ है।"[4] जड प्रकृति की उद्देश्यहीन प्रवृत्ति इस विश्व मे, जहा मनुष्य अपने कर्मो के अनुसार कष्ट भोगते है, व्यवस्था तथा सामञ्जस्य नही ला सकती। ईश्वर प्रकृति के विकास का मार्गदर्शक है। वह सदा इसके लिए तत्पर रहता है कि प्रकृति का विकास पुरुषो के प्रयोजनो को सिद्ध करनेवाला हो। किन्तु ईश्वर जगत् का स्रष्टा नही है, क्योकि ऐसे जगत् की सृष्टि जो दु खो से भरपूर है, किसी ऐसी सत्ता के द्वारा नही हो सकती थी जो अनन्त करुणा का आगार हो' श्रुति ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का यत्न करती है। किन्तु इसके द्वारा दिया गया प्रमाण चक्रक दोष से पूर्ण है, क्योकि वेदो का प्रामाण्य स्वय इस आधार पर है कि उन्हे ईश्वर ने बनाया है। ये प्रामाणिक कहे जाते है, क्योकि उनकी शिक्षाए तथ्यो के अनुकूल है।[5]

1 1 23।
2 योगभाष्य 1 24।
3 योगभाष्य 1 24।
4 तत्र निरतिशय सर्वज्ञत्वबीजम (1 25)। और देखिए योगभाष्य, और इस प॰ योगवार्तिक।
5 तत्ववैशारदी 1 24।

साख्य वेदों की प्रामाणिकता को मानता तो है, किन्तु उसके औचित्य का समर्थन नही करता। योग ईश्वर को वेदों के प्रादुर्भाव का आदिस्रोत मानने में कुछ न कुछ प्रमाण उपस्थित करता है।

पतञ्जलि के ईश्वर का वर्णन करना सरल कार्य नही है। उसे एक विशेष प्रकार की आत्मा कहा गया है, जिसमें अपूर्णता का लेशमात्र भी नही है और जो कर्म के विधान के ऊपर है।[1] सासारिक जीवन की तमाम उलझनों से स्वतन्त्र, ईश्वर नित्य परमानन्द मे रहता है। उसका धर्म और अधर्म (पुण्य व पाप) से कोई सम्पर्क नही। वह दुख के [illegible] अछूता है। वह सर्वज्ञ है, प्राचीन ऋषियो [illegible] आत्माओ की ऊपर की तरफ मोक्ष [illegible] तो उसे किसी न किसी रूप मे अपने को सासारिक अनुभव के अधीन करना चाहिए। इसलिए पतञ्जलि का झुकाव उसे सत्य का उपदेष्टा, गुरु मानने की ओर है। ईश्वर ने गुरु के रूप मे प्लेटो से लेकर प्रत्येक महान विचारक के हृदय मे प्रतिध्वनि पाई है। वह कालाबाधित है,[2] पूर्ण करुणामय है, और यद्यपि उसकी अपनी ऐसी कोई इच्छा नही है जिसे पूर्ण करना हो, तो भी ससारी पुरुषो के लिए वह प्रत्येक ससार के युगारम्भ मे श्रुतियों का प्रतिपादन करता है। उसका निर्दोष कोटि का सत्त्वस्वभाव, जो रजस् अथवा तमस् से होनेवाली प्रत्येक त्रुटि से सर्वथा रहित है, उसकी आत्म-अभिव्यक्ति का साधन है और वह पूर्णरूप मे उसके वश मे है।[3] ईश्वर सर्वदा स्वतन्त्र है, और इसलिए उसे मुक्त आत्माओं के साथ नही मिलाया जा सकता, जो किसी समय बद्ध थी, या जो प्रकृति मे लीन हैं और भविष्य मे किसी समय भी बन्धन प्राप्त कर सकती हैं। मुक्तात्माओ के विपरीत, जिनका संसार से कोई और सम्बन्ध नही रहता, ईश्वर नित्य ससार के साथ सम्बन्ध रखता है। यह मान लिया गया है कि ईश्वर का प्रकृति के विशुद्धतम पक्ष अर्थात् सत्त्व के साथ नित्य तथा अटूट सम्बन्ध है, और इस प्रकार के ईश्वर के अन्दर सदा सर्वोपरि शक्ति, ज्ञान तथा श्रेष्ठता रहती है। वह अपनी करुणा से सत्त्वगुण धारण करके परिवर्तन के प्रदर्शन मे अन्तःप्रवेश करता है। क्योकि वह सघर्ष मे लगे पुरुषो के हित मे स्वेच्छा से ऐसा करता है, इसलिए वह कर्म के विधान मे नही आता। महान प्रलयकाल मे, जबकि प्रकृति अपनी अव्यक्त अवस्था में लौट जाती है, तो यह स्वीकृत रूप त्याग दिया जाता है, यद्यपि आगामी विकास के समय यह रूप फिर धारण कर लिया जाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी रात अगले दिन प्रातः एक निश्चित समय पर जाग उठने का संकल्प करता है और उसी समय उठ भी जाता है और यह उसके दृढ संकल्प द्वारा छोडे गए संस्कार के बल पर होता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर भी जब प्रकृति फिर से विकास प्रारम्भ करती है तथा पुरुष प्रकट होते हैं, फिर से महान् शिक्षक का रूप धारण करने का संकल्प करता है। रहस्यपूर्ण अक्षर 'ओम्' ईश्वर का द्योतक है और इस पर ध्यान लगाने से मन ईश्वर की यथार्थ भाकी मे विश्राम करता है।[4]

योगदर्शन का शरीरधारी ईश्वर उक्त दर्शन के शेष भाग के साथ बहुत शिथिलतापूर्वक सम्बद्ध है। मानवीय महत्त्वाकाक्षा का लक्ष्य ईश्वर के साथ सम्मिलन

1 1 . 24।
2 1 : 25-26।
3 योगभाष्य, 1 : 25।
4 1 27-28।

नही, बल्कि पुरुष का प्रकृति से सर्वथा पृथक्त्व है। ईश्वर भक्ति परम मोक्ष तक पहुचने के अन्य अनेक उपायो मे से एक है। ईश्वर केवल एक विशेष आत्मा (पुरुषविशेष) है, विश्व का स्रष्टा अथवा सरक्षक नही है। वह मनुष्यो को उनके कर्मों के लिए पुरस्कार अथवा दण्ड नही देता। किन्तु जब वह एक बार प्रकट हो गया तो उसके लिए कोई न कोई कार्य निकालना ही चाहिए। कहा जाता है कि वह अपने भक्तो की उन्नति मे जो बाधाए आती हैं, उन्हे दूर करने मे सहायता करता है। प्रणिधान अर्थात् नि स्वार्थ भक्ति से हम ईश्वर की दया के पात्र बनने के योग्य हो जाते है। ईश्वर मोक्षप्राप्ति मे सहूलियत देता है, किन्तु सीधा मोक्ष का दाता नही। नि सन्देह इस प्रकार का ईश्वर-विषयक विचार असन्तोषजनक है,[1] और हम यह कहे विना नही रह सकते कि योगदर्शन ने ईश्वर के विचार को लोकाचार के विचार से और जनसाधारण के मन को आकृष्ट करने के लिए ही अपनाया है।[2] उन व्यक्तियो ने जो साख्य की विश्व-सम्बन्धी प्रकल्पना तथा योग की साधना-सम्बन्धी विधियो के प्रचार के लिए उत्सुक थे, सम्भवत मनुष्य की सहज आस्तिक वृत्तियो को सन्तुष्ट किए विना अपने विचारो को फैलाने मे कठिनाई अनुभव की। परवर्ती योग मे मानवीय हृदय की सार्वभौम आवश्यकताए अधिक बलवान सिद्ध होती है, और ईश्वर एक अधिक केन्द्रीय स्थान लेना प्रारम्भ करता है। मनुष्य के पवित्र हुए जीवन मे ईश्वर की यथार्थता देखी जाती है। मनुष्य का धार्मिक अनुभव ईश्वर का साक्षी है। अध्यात्म आत्मा को सम्बोधन करता है, और वे जो सत्य का अन्वेषण करते है, अपने हृदयो मे उसका उत्तर पाते है। योग की कठिन साधना, जिसके साथ कठोर शारीरिक यातनाए तथा गम्भीर नैतिक आशकाए जुडी हुई है, एक मार्ग दर्शक तथा सहायक चाहती है, जो अन्धकार और दु ख मे छुडाए और जो सत्य का शिक्षक तथा शक्ति का प्रेरक हो। शीघ्र ही मानवीय प्रयास का लक्ष्य ईश्वर के साथ सयोग बन जाता है। उदाहरण के लिए, भगवद्गीता मे ईश्वरवादी भक्ति दैववादी योग का स्थान ग्रहण कर लेती है। समाधि के अन्दर आत्मा ईश्वर का साक्षात्कार करती है तथा उसे अपने अन्दर धारण कर लेती है। आत्मा को इन्द्रिय के प्रत्येक विषय तथा विचार से पृथक् करके, सब प्रकार की इच्छा तथा वासना का दमन करके तथा सब प्रकार के वैयक्तिक-भाव दूर करके हम फिर से ईश्वर के साथ सयुक्त हो जाते है। ईश्वर के गम्भीर चिन्तन से लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। विज्ञान भिक्षु का कहना है "सब प्रकार के चैतन्य युक्त ध्यान मे परमेश्वर का ध्यान सबसे ऊचा है।"[3]

18 उपसंहार

पूर्व तथा पश्चिम के आधुनिक विचारको को योग की सिद्धि प्राप्त करने की पूरी योजना

1 देखिए शाकरभाष्य, 2 2, 38 और 41।

2 तुलना कीजिए गार्वे 'शरीरी ईश्वर का अन्त.प्रवेश, जो बाद मे निश्चित रूप से योग दर्शन के स्वरूप का निर्णायक हुआ, पहले बहुत शिथिल रूप मे तथा केवल ऊपरी तौर पर ग्रहण किया गया था, और उससे इस दर्शन के वस्तु विषय तथा प्रयोजन पर कोई असर नही पडा, ऐसा पतजलि के योगदर्शन के आधार पर परिणाम निकलता है। हम यहा तक कह सकते हैं कि योगसूत्र, 1 23 27, 2 1 45, जो शरीरी ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, ग्रन्थ के अन्य भागो से सम्बद्ध नही है। यही नहीं, बल्कि वे इस दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तो का भी विरोध करते हैं" (दि फिलासफी आफ दि एशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ 15)।

3 योगसारसग्रह, 1।

केवल आत्मसम्मोहन की एक सुपरिष्कृत प्रक्रिया प्रतीत होती है। गम्भीरता के साथ एकान्त में ध्यानावस्थित होना और उसके साथ शारीरिक व्यायाम तथा आसनों का प्रयोग, ये सब हमारे मन को एक प्रकार के साचे मे ढालने में सहायक होते हैं। इस प्रकार के मत को इस चीज से कुछ समर्थन मिलता है कि योगदर्शन के साथ तान्त्रिक सम्प्रदाय की कुछ वीभत्स क्रियाओ को मिला दिया जाता है, तथा कुछ हठधर्मी भिक्षुओ ने पातञ्जल योग को ग्रहण कर लिया। किन्तु यह तथ्य ध्यान मे रखना चाहिए कि पतञ्जलि का योग अपने मूलरूप में इस प्रकार के भ्रमजाल से मुक्त था। पतञ्जलि के योगदर्शन की धारणा है कि हम जीवन की समस्त निधियों से सम्पन्न है, जिनसे बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है, और ये ऐसी निधियां हैं जिनकी कल्पना भी नही है। यह दर्शन हमे अपने गम्भीरतम क्रियाशील स्तरो तक पहुचने की विधिया बताता है। योग-साधन शरीर, मन और आत्मा के पवित्रीकरण के अतिरिक्त और कुछ नही है, और इन्हें उस आनन्दमय दर्शन के लिए तैयार करना ही इसका कार्य है।[1] क्योकि मनुष्य का जीवन चित्त के स्वभाव पर निर्भर करता है, इसलिए यह हमारे अपने वश के अन्दर है कि हम चित्त को नियंत्रित करके अपने स्वभाव मे परिवर्तन कर लें। विश्वास और एकाग्रता से हम अपनी बुराइयों से भी मुक्त हो सकते हैं।[2] मानवीय दृष्टि की साधारण सीमाएं विश्व की सीमाएं नहीं हैं। हमारी इन्द्रियां जिस संसार को हमारे लिए प्रकाश मे लाती हैं उसके अतिरिक्त भी अन्य संसार हैं। निम्न श्रेणी के पशुओं की इन्द्रियो के समान जो इद्रियां हमारे पास हैं उनके अतिरिक्त भी अन्य इन्द्रियां हैं। भौतिक प्रकृति की शक्तियो के अतिरिक्त भी अन्य शक्तियां हैं। यदि हमे आत्मा में विश्वास है तो अति-प्राकृतिक भी प्राकृतिक का ही एक भाग है। हममें से अधिकांश व्यक्ति अपनी आंखें आधी बन्द करके आलसी मन तथा बोझ से दबे हृदय के साथ जीवन-यापन करते हैं। और वे कतिपय व्यक्ति भी जिनके सम्मुख दर्शन तथा जागरण के वे दुर्लभ क्षण आते हैं, तुरन्त ही फिर निद्रालु अवस्था मे डूब जाते हैं। यह जानना हमारे लिए हितकर है कि प्राचीन विचारक हमे यह आदेश करते रहे हैं कि आत्मा की सम्भाव्य शक्तियों को पहचानने के लिए एकान्तसेवन तथा मौन अत्यावश्यक है, जिससे कि चमक के रूप मे आने तथा विलीन हो जानेवाले दर्शन के दुर्लभ क्षणो को हम स्थायी प्रकाश के रूप में परिवर्तित कर सकें, जिससे शेष जीवन आलोकित रहे।

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

दास गुप्ता योग एज़ फिलासफी एण्ड रिलिजन
पतञ्जलीज़ योगसूत्र विद दि कमेंटरी आफ व्यास एण्ड दि ग्लोस आफ वाचस्पति (सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज़)
राजेन्द्रलाल मित्र : योग एफोरिज़्म्स विद दि कमेंटरी आफ भोज (एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल)
वुड्स : दि योग सिस्टम आफ पतजलि (हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज़, 17)

1 मारकोस दि नौस्टिक (इरेनियस, 1 : 13, 3) कहता है : "अपने को इस प्रकार तैयार करो जैसेकि एक वधू अपने को वर का स्वागत करने के लिए करती है।"

2 जैसेकि 'सेल्फ-मास्ट्री' पर अपनी लघु पुस्तिका मे एम० कुई कहते हैं : "निश्चय रखो कि तुम जो कुछ चाहते हो तुम्हें प्राप्त हो जाएगा, और तब तक प्राप्त होता रहेगा जब तक यह तर्कसम्मत है।" केवल उसी अवस्था में जबकि सभव है, कोई परिणाम न होगा।

छठा अध्याय

पूर्वमीमासा

प्रस्तावना—रचनाकाल और साहित्य—प्रमाण——प्रत्यक्ष ज्ञान—अनुमान—वैदिक प्रामाण्य—उपमान प्रमाण—अर्थापत्ति—अनुपलब्धि—प्रभाकर की ज्ञानविषयक प्रकल्पना—कुमारिल की ज्ञानविषयक प्रकल्पना—आत्मा—यथार्थता का स्वरूप—नीतिशास्त्र—अपूर्व—मोक्ष—ईश्वर ।

1 प्रस्तावना

इस दर्शन का नाम पूर्वमीमासा इसलिए हुआ क्योकि यह उत्तरमीमासा का अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती है ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से उतना नही जितना कि तार्किक अर्थो मे। इसका मुख्य विषय कर्मकाण्ड है, जैसेकि उत्तरमीमासा का मुख्य विषय वस्तुओ का सत्यज्ञान प्राप्त करना है। उपनिषदो को छोडकर, शेष समग्र वेद के विषय मे यह कहा गया है कि वह धर्म अथवा कर्तव्य कर्मो का प्रतिपादन करता है, जिनमे मुख्य हैं यज्ञ। पवित्र क्रियाकलाप का अनुष्ठान ज्ञानोपार्जन की भूमिका है। शकराचार्य भी, जो कर्म और ज्ञान के मौलिक विरोध पर बल देते हैं, इस विषय मे सहमत है कि सुकर्म, चाहे वह इस जन्म मे किया हुआ हो अथवा पूर्वजन्म मे, सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए इच्छा उत्पन्न करता है।

मीमासा का प्रारम्भिककाल स्वय वेद तक पहुच सकता है, जहाकि इसका प्रयोग, कर्मकाण्ड तथा सिद्धान्त-सम्बन्धी नियमो के विषय मे सशय तथा वादविवाद प्रकट करने के लिए किया गया है। यज्ञो का उपयुक्त अनुष्ठान वैदिक मन्त्रो की यथार्थ व्याख्या पर निर्भर करता था। सन्देहास्पद विषयो को लेकर नियमो का अधिक परिष्कार हुआ, और उसमे यज्ञ किस विधि से किया जाना चाहिए इस विषय मे सहायता मिली। व्याख्या-विषयक अनेक समस्याओ पर वादविवाद हुआ और ज्यो-ज्यो समस्याए उठती रही, निर्णय होते रहे। उक्त निर्णय ब्राह्मणग्रन्थो मे जहा-तहा बिखरे हुए है। ब्राह्मणो मे दिए गए वृतान्त एक-दूसरे से इतने अधिक पृथक्, अस्पष्ट तथा अपूर्ण है कि उन्हे बिना अन्य सहायता के नही समझा जा सकता। इस प्रकार की सहायता उस काल मे मौखिक अनुश्रुति द्वारा प्राप्त होती थी। धार्मिक कर्तव्य के अनुष्ठान के विषय मे बहुत समय तक वैदिक मन्त्र तथा मौखिक अनुश्रुति दोनो ही प्रमाण माने जाते रहे। जबकि नानाविध वैदिक शाखाए (सम्प्रदाय) बनने लगी तो अक्षुण्ण परम्परा द्वारा प्राप्त पवित्र पुस्तको की प्रामाणिकता को बहुत महत्त्व दिया गया। बौद्धमत के उदय के पश्चात् वैदिक धर्म के अनुयायियो के लिए उस समस्त ज्ञान का जो उनके पास था, पुनर्निरीक्षण तथा पुनर्निर्माण आवश्यक हो गया, और आवश्यक हो गया उनकी निर्दोषता सिद्ध करना तथा उन्हे सूत्रो

के रूप में रखना। जैमिनि अपने ग्रन्थ मे मीमासा के नियमों को व्यवस्थित रूप देने तथा उनकी यथार्थता सिद्ध करने का प्रयत्न करते है।

पूर्वमीमांसा का स्वीकृत लक्ष्य धर्म के स्वरूप की परीक्षा करना है। इसकी रुचि कल्पनापरक होने की अपेक्षा क्रियात्मक अधिक है। इसके अन्दर जो दार्शनिक कल्पनाए पाई जाती हैं वे कर्मकाण्ड-विषयक प्रयोजन के आगे गौण हैं। धर्म के प्रति सत्यनिष्ठा के विचार से, इसे आत्मा की यथार्थता को स्वीकार करना पड़ा और इसे एक शरीरधारी स्थिर सत्ता मानना पडा, जो कर्मो के फलो का उपभोक्ता है। वेद कर्तव्य कर्मो का आदेश देता है, और साथ ही वह उन कर्मों के करने से जो लाभदायक परिणाम प्राप्त होते हैं उनका भी विशिष्ट रूप मे प्रतिपादन करता है। इन कर्मो को धर्म का रूप देने में, तथा ये लाभदायक फल देने की योग्यता रखते है इस विषय मे प्रमाण नित्यवेद है, जिसे अपनी स्थिति के लिए अन्य किसी आधार की आवश्यकता नही। किन्तु इस प्रकार की रूढ़िपरक मान्यता उस समय पर्याप्त नही रहती जबकि अन्य विचारक वैदिक मन्त्रों के महत्त्व को स्वीकार न करते हो और उनका कोई क्रियात्मक मूल्य भी दिखाई न देता हो। इसलिए ईश्वरीय ज्ञान तथा दार्शनिक ज्ञान-विषयक विवाद बहुल परिष्कृत रूप मे उठते है। मीमासा सब दार्शनिक विचारो का तब तक स्वागत करती है जब तक कि वे इसके मुख्य विषय, अर्थात् धर्म के अतीन्द्रिय महत्त्व को, जिसे कर्मकाण्डपरक भाव दिया गया है, हानि नही पहुचाते। मीमासा के दार्शनिक कलेवर मे इस प्रकार की शिथिलता ने ही भिन्न-भिन्न विचारकों को मीमासा के दार्शनिक विचारों की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करने का अवसर प्रदान किया, यद्यपि वे सब धर्म के सर्वोपरि महत्त्व के विषय मे एकमत है। वेद को प्रामाणिक स्वीकार किया गया है, और इसकी प्रामाणिकता को बौद्ध मतानुयायियो के विरुद्ध, जो इसका विरोध करते हैं, तथा ऐसे जिज्ञासुओ के विरुद्ध जो कर्म को ज्ञान के आगे गौण स्थान देते हैं, सिद्ध किया गया है। मीमासा स्पष्ट रूप मे अनेकेश्वरवादी है, यद्यपि उपलक्षण रूप मे यह निरीश्वरवादी है। बौद्धो के विपरीत, यह जगत् के सम्बन्ध मे एक यथार्थवादी दृष्टिकोण रखता है।

हिन्दू धर्म के लिए इसका महत्त्व बहुत अधिक है। धर्मशास्त्रों की, जो हिन्दुओं के दैनिक जीवन पर शासन रखते है, मीमासा के नियमो के अनुकूल व्याख्या करने की आवश्यकता है। आधुनिक हिन्दू विधान पर मीमांसा-पद्धति का पर्याप्त प्रभाव है।

2 रचनाकाल और साहित्य

जैमिनि का मीमासासूत्र वैदिक व्याख्या के एक सुदीर्घ इतिहास की पूर्वकल्पना करता है। क्योंकि यह उन सामान्य नियमों (न्यायो) का जो प्रचलित थे, साराश देता है। यह भिन्न-भिन्न यज्ञो तथा उनके अभिप्रायो का वर्णन करता है एव अपूर्व की प्रकल्पना और कुछ दार्शनिक प्रस्थापनाओ का भी वर्णन करता है। इसमें बारह अध्याय है, जिनमे पहले अध्याय का दार्शनिक महत्त्व है, क्योकि यह ज्ञान के स्रोतो तथा वेदों की प्रामाणिकता का विवेचन करता है। जैमिनि वेदो के प्रत्येक भाग की न्याय्यता को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उनका 'सकर्षणकाण्ड', जिसे देवताकाण्ड भी कहा जाता है, पूर्व मीमांसा से सम्बद्ध है, क्योकि इसका आधार उपासना है, जिसका भी विधान वेदो मे है।

चौथी शताब्दी ई० पू० सर्वाधिक प्राचीन समय है जो हम जैमिनि के ग्रन्थ के

लिए स्थिर कर सकते हैं, क्योकि यह न्याय तथा योगसूत्रो से अभिज्ञ है।[1] जैमिनि के ग्रन्थ का प्रधान भाष्यकार शवर है। वह लगभग पहली शताब्दी ई० पू० मे हुआ था।[2] यह प्रकट है कि शवर से पूर्व भी जैमिनि के ग्रन्थ के भाष्यकार हुए है, यथा भर्तृमित्र[3], भवदास[4], हरि[5] और उपवर्ष[6], परन्तु उनके ग्रन्थ उपलब्ध नही हैं। मीमासा-सम्बन्धी समस्त परवर्ती लेखो का आधार शवर का भाष्य ही है।

कुमारिल[7] ने, जो उस सनातन ब्राह्मणधर्म का प्रवल व्याख्याकार है जोकि वेदो की प्रामाणिकता तथा पुरोहित की सर्वश्रेष्ठता को मानता है, 'सूत्र' और 'भाष्य' पर टीका की है, और उसके ग्रन्थ के तीन भाग हैं। पहला 'श्लोकवार्तिक' पहले अध्याय के पहले भाग के विषय मे है; दूसरा 'तन्त्रवार्तिक' हमे

1 यदि हम कुमारिल के इस मत को स्वीकार करे कि मीमासासूत्र मे अनेक बौद्ध विचारो की आलोचना है (देखिए श्लोकवार्तिक, 1 1 3, 5 और 6) तो मीमासासूत्र का काल बौद्धमत के उदय के ठीक उपरान्त माना जा सकता है। महाभारत मे जैमिनि के ग्रन्थ के उल्लेख का सर्वथा अभाव होने से कुछ भी निश्चित सामग्री उपलब्ध नही होती। जैमिनि का ग्रन्थ, जिसने पाच स्थलो पर वादरायण के नाम का उल्लेख किया है (1 1, 5, 5 2, 19, 6 1, 8, 10 8, 44, 11 1, 64), उसी काल मे वना जिसमे ब्रह्मसूत्र वना। ब्रह्मसूत्र दस भिन्न-भिन्न सूत्रो मे जैमिनि का उल्लेख वेदान्त के अधिकारी विद्वान के रूप मे करता है (1 2, 28, 1 2, 31, 1 3, 31, 1 4, 18, 3 2, 40, 3 · 4, 2, 3 4, 18 3 4, 40, 4 3, 12, 4 4, 5) क्योकि उनमे से नौ मीमासासूत्र मे नही पाए जाते, इसलिए कभी कभी यह तर्क दिया जाता है कि ब्रह्मसूत्र मे जिस जैमिनि का उल्लेख है वह मीमासासूत्र के रचियता से भिन्न है। औरो का मत है कि जैमिनि के कुछ ग्रन्थ लुप्त हो गए। जैमिनि कई स्थलो पर ब्रह्मसूत्र के ज्ञान का सकेत करता है। आत्मा के सम्बन्ध मे जो वादरायण का यह मत है कि वह अभौतिक है उसे वह मानता है यद्यपि इसकी प्रतिरक्षा मे उसने कोई हेतु नही दिए। टीकाकारो का सुझाव है कि वह वादरायण के ही हेतुओ को स्वीकार करता है (11 1, 64 और ब्रह्मसूत्र 3 3 53, और देखिए मीमासासूत्र, 9 1 और ब्रह्मसूत्र, 3 2, 40) और इसलिए उनकी पुनरावृत्ति नही करता।

2 झा प्रभाकर स्कूल, पृष्ठ 6-7। शवर द्वारा किया गया विज्ञानवाद तथा शून्यवाद का खण्डन हमे इससे अधिक परवर्ती समय मानने की अनुमति नही देता। जैकोवी का विचार है कि शवर ने जिस वृत्ति का उद्धरण दिया है वह 200 500 ई० मे वनी और शवर भी इस काल मे रहा होगा। कीथ का मत है कि 400 ई० उसके लिए अधिक से अधिक पूर्व का समय है।

3 न्यायरत्नाकर, 10। और देखिए काशिका, पृष्ठ 10।

4 श्लोकवार्तिक, 1 63।

5 शास्त्रदीपिका, 10 2 59 60।

6 शवर 1 1 5 पर अपने भाष्य मे एक वृत्ति से एक लम्बा वाक्य उद्धृत करता है (2 3, 16 और 3 1, 6 पर शवर को देखिए)। कुमारिल रचियता का उल्लेख वृत्तिकार के रूप मे करता है। डा० झा उसे भवदास वताते हैं। पार्थसारथि इस सम्बन्ध मे उसके नाम का उल्लेख नहीं करता। तो भी पृष्ठ 48 देखिए। जैकोवी का विचार है कि बौद्धायन ने दोनो मीमासाओ पर वृत्तियाँ लिखी, जिस प्रकार कि उसके पूर्ववर्ती उपवर्ष ने लिखी थी (जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, 1911)।

7 कुमारिल के लिए, जो हिन्दूधर्म का एक महान विजेता माना जाता है, कहा जाता है कि वह विहार का रहनेवाला एक ब्राह्मण था। जो बौद्धमत मे हिन्दूधर्म मे दीक्षित हुआ था। देखिए इलियट हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, खण्ड 2 पृष्ठ 110, 207। तारानाथ उसे दक्षिण भारत का निवासी वताते हैं। किवदन्ती के अनुसार, कुमारिल अपने का दो पापो के कारण अग्नि मे भस्म कर देना चाहते थे—एक अपने बौद्ध गुरु का नाश, दूसरे, वेदो के नित्यस्वरूप को सिद्ध करने तथा मोक्षप्राप्ति के लिए वैदिक कर्मकाण्ड की ही एकमात्र क्षमता को सिद्ध करने की चिन्ता मे ईश्वर के अस्तित्व का नियात्मक निषेध। देखिए माधवकृत शकरदिग्विजय'।

तीसरे अध्याय के अन्त तक ले जाता है; और 'टुपटीका' शेष भाग को पूरा करता है। कुमारिल शंकर का पूर्ववर्ती है, और उसे हम सातवीं शताब्दी ई० में रख सकते हैं।[1] मण्डनमिश्र, जो 'विधिविवेक' तथा 'मीमांसानुक्रमणी' का रचयिता है, कुमारिल का अनुयायी था। यह वाचस्पति (850 ई०) से पूर्व हुआ, जो अपने 'न्यायकणिका' नामक ग्रन्थ में 'विधिविवेक' के विचारों को विस्तृत रूप में प्रस्तुत करता है। कुमारिल के ग्रन्थ के कई टीकाकार हुए हैं, जैसे सुचरितमिश्र, जो 'श्लोकवार्तिक' पर की गई 'काशिका' नामक टीका का रचयिता है; सोमेश्वर भट्ट, जो 'तन्त्रवार्तिक' पर की गई टीका 'न्यायसुधा' का रचयिता है, जो 'राणक' भी कहलाती है; और पार्थसारथिमिश्र (1300 ई०), जो 'श्लोकवार्तिक' पर की गई टीका 'न्यायरत्नाकर' का रचयिता है तथा 'शास्त्रदीपिका' का रचयिता है, जो मीमांसादर्शन का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और कुमारिल की पद्धति पर लिखा गया है, तथा 'तन्त्ररत्न' का भी रचयिता है। वेंकटदीक्षित कृत 'वार्तिकाभरण' 'टुपटीका' पर एक टीका है।[2]

प्रभाकर[3] ने शबर के भाष्य पर अपनी 'बृहती' नामक टीका लिखी, जिसका यह निकट रूप से अनुसरण करती है। कुमारिल कभी-कभी शबर के विचारों का प्रत्याख्यान करता है। इस तथ्य के आधार पर कि प्रभाकर कुमारिल के विचारों की ओर बिलकुल भी ध्यान नहीं देता, जबकि कुमारिल ऐसे विचारों का उल्लेख करता है जिनके समान विचार 'बृहती' में दिए गए हैं,[4] कभी-कभी अधिकारपूर्वक यह कहा जाता है कि प्रभाकर कुमारिल से पहले हुआ। कहा जाता है कि 'बृहती' की शैली इसके पूर्वसमय का संकेत करती है।[5] शालिकनाथकृत 'ऋजुविमला' 'बृहती' पर एक टीका है। उसकी 'प्रकरणपंचिका' प्रभाकर-पद्धति की एक प्रसिद्ध पुस्तक है। उसका 'परिशिष्ट' 'शबर' के भाष्य पर एक संक्षिप्त टिप्पणि का है। भवनाथकृत 'नयविवेक' में प्रभाकर के विचारों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। शालिकनाथ ने, जो प्रभाकर का शिष्य था,

1. श्रीयुत पण्डित के अनुसार, कुमारिल भवभूति (620-680 ई०) का गुरु था और इसलिए उसका समय 590-650 ई० रखा गया है, यह बात इस स्वीकृत तथ्य के साथ मेल खाता है कि कुमारिल की ख्याति राजा हर्ष के अन्तिम समय में भली प्रकार स्थिर हो चुकी थी।

2 रामकृष्णभट्ट ('युक्तिस्नेहप्रपूरणी' का रचयिता), सोमनाथ ('मयूखमालिका' का रचयिता), भट्टशंकर, गङ्गाधिनकर और कमलाकर इस शाखा के अनुयायी हैं।

3 किंवदन्ती के अनुसार, प्रभाकर और मण्डन कुमारिल के शिष्य थे, जिसने प्रभाकर को उसकी उज्ज्वल योग्यताओं के आधार पर 'गुरु' की उपाधि दी थी।

4 1 : 2, 31; 1 · 3, 2; 1 ; 4, 1।

5 झा : 'प्रभाकर स्कूल'; कीथ : 'कर्ममीमांसा'। प्रोफेसर कुप्पु स्वामी शास्त्री परम्परागत मत का समर्थन करते हैं और झा तथा कीथ के मत के विरुद्ध विस्तार से तर्क उपस्थित करते हैं। कलकत्ता की दूसरी ओरियंटल कांफ्रेंस में पढ़े गए 'पूर्वमीमांसा की प्रभाकरशाखा' शीर्षक निबन्ध को देखिए। दक्षिणभारत की एक पुरानी किंवदन्ती में कहा गया कि उम्बेक कुमारिल का शिष्य था :

उम्बेकः कारिकां वेत्ति, तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः ।
मण्डनस्तूभयं वेत्ति नोभयं वेत्ति, रेवणः ॥

श्रीयुत पण्डित 'गौडवहो' (बॉम्बे संस्कृत ग्रन्थमाला) की अपनी प्रस्तावना में उक्त श्लोक को 'तन्त्र' और 'मण्डन' के स्थान में 'तन्त्र' और 'वामन' शब्दों का व्यवहार करते हुए उद्धृत करते हैं। और देखिए गुणरत्नकृत 'षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति' (1409)। उम्बेक और भवभूति एक ही थे, और वह कुमारिल के शिष्यों में से एक था, ऐसा माना जाता है। और देखिए चित्सुखकृत अद्वैतप्रदीपिका, पृष्ठ 265।

धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है।[1] वाचस्पति ने अपनी 'न्यायकणिका' मे प्रभाकर के अनुयायियो की दो शाखाओ मे भेद किया है।[2] मीमासा की तीसरी शाखा का, जिसका सम्बन्ध मुरारि[3] के नाम के साथ है, उल्लेख हिन्दू दार्शनिक साहित्य मे मिलता है, यद्यपि इससे सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थ हमे उपलब्ध नही है। माधवकृत 'जैमिनीय न्यायमालाविस्तार' मीमासादर्शन का पद्य मे भाष्य है, जिसके साथ गद्य मे टीका भी है। अप्पय दीक्षित (1552-1624) अपने 'विधिरसायन' ग्रंथ मे कुमारिल पर आक्षेप करता है। आपदेव (17वी शताब्दी) ने 'मीमासान्यायप्रकाश' नामक एक प्राथमिक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम 'आपदेवी' भी है और यह एक बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। लौगाक्षिभास्करकृत 'अर्थसग्रह' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो आपदेव की पुस्तक के आधार पर लिखा गया है। खण्डदेव (17वी शताब्दी) ने 'भाट्टदीपिका' नामक ग्रन्थ लिखा, जो अपने तर्क के लिए प्रसिद्ध है। उसका 'मीमासाकौस्तुभ' सूत्र के विषय मे प्रतिपादन करता है।[4]

3. प्रमाण

जैमिनि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शाब्द इन तीन प्रमाणो को स्वीकार करता है। प्रभाकर उपमान और अर्थापत्ति को स्वीकार करता है। कुमारिल इनमे अनुपलब्धि को जोडता है। ऐतिह्य (किंवदन्ती) को अस्वीकार किया गया है, क्योकि यदि किंवदन्ती के आदिम उद्भव के सम्बन्ध मे निश्चित सूचना का अभाव है कि वह विश्वस्त है या नही, तो उससे उत्पन्न होनेवाले बोध की प्रामाणिकता के विषय मे कुछ निश्चय नही हो सकता। स्मृति को प्रमाणो के क्षेत्र से बाह्य माना गया है, क्योकि यह हमे केवल ऐसी ही वस्तुओ के विषय मे कुछ बताती है जो पहले प्रत्यक्ष हो चुकी है।

प्रभाकर वर्णन करता है कि किस प्रकार हम मन तथा इन्द्रियो के अस्तित्व का अनुमान करते है। हमारे बोध स्वरूप के अल्पकालिक होते है और उनके कारण भौतिक (समवायी कारण) तथा अभौतिक (असमवायी कारण) दोनो प्रकार के होते है।[5] बोधो का समवायी कारण आत्मा है, और इसका असमवायी कारण आत्मा के कारण मे नही रह सकता, क्योकि आत्मा अजन्मा है, उसका कोई कारण नही है, इसलिए इसे स्वय आत्मा ही मे होना चाहिए। द्रव्य के अन्दर जो समवाय-सम्बन्ध से रहता है वह गुण है, और इस प्रकार बोधो का

1 देखिए प्रकरणपचिका, 1।

2 जरत्प्राभाकरा तथा नव्यप्राभाकरा।

3 मुरारेस्तृतीय पन्था।

4 राघवानन्दकृत 'मीमासासूत्रदीधिति', रामेश्वरकृत 'सुबोधिनी' जो मीमासासूत्र पर टीका हैं, और विश्वेश्वर (अथवा गागाभट्ट) कृत 'भाट्टचिन्तामणि—ये ग्रन्थ कुछ महत्व के है। वेदान्तदेशिक ने 'सेश्वरमीमासा' नामक ग्रन्थ मे वेदान्त और मीमासा के विचारो मे समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। इसका रचयिता रामानुज का अनुयायी है, जिसका मत है कि दोनो मीमासाए एक ही सपूर्ण इकाई के भाग हैं।

5 तुलना कीजिए प्रकरणपञ्चिका "पदार्थों का बोध क्षणिक है। आत्मा समवायी कारण है और आत्मा का मन के साथ सम्पर्क सहकारी कारण है" (पृष्ठ 52 से आगे)।

असमवायी कारण एक गुण है। यदि एक नित्य द्रव्य मे अस्थायी गुण उदय होते हैं, तो यह अवश्य अन्य द्रव्यों के साथ सम्पर्क के कारण ही हो सकता है। क्योंकि इस विषय मे कोई प्रमाण नही है कि अन्य द्रव्य भी और अन्य द्रव्यो के अन्दर रहते हैं, इन्हें नित्य मानना चाहिए। प्रत्यक्ष, जो एक निश्चित प्रकार का ज्ञान है, आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। इस प्रकार के गुण को नित्यद्रव्यों के साथ सम्बद्ध होने के लिए असमवायी कारण को कतिपय अन्य द्रव्यों के साथ संपर्क के रूप मे होना चाहिए। ऐसे द्रव्य या तो सर्वव्यापक हैं, यथा देश और काल, या आणविक हैं। सर्वव्यापक द्रव्यों के साथ सम्पर्क हमारे बोधों के नानाविध स्वरूप की व्याख्या नही कर सकता। इसलिए बोध का असमवायी कारण आणविक द्रव्यो के साथ सम्पर्क है, जो स्वयं अणुओ की अपनी गति से सम्पन्न होता है। वह आणविक द्रव्य जो प्रमाता आत्मा द्वारा वासित शरीर के अन्दर रहता है, मन है, और अन्य कोई भी बोध के असमवायी कारण के अधिष्ठान को धारण नही कर सकता, जिस बोध का समवायी करण आत्मा है। शरीर के अंदर होने-वाली आणविक द्रव्य की क्रिया, जो सम्पर्क कराने मे सहायक होती है, आत्मा के साथ उसके सम्पर्क के कारण है, जो प्रत्येक बोध के कर्म मे उसकी प्राप्ति के लिए अपना योगदान देता है। किन्तु जहा मन सुख-दु.ख जैसे कार्यों को उत्पन्न कर सकता है, वहा यह रंग, गन्ध आदि गुणों को उत्पन्न नही कर सकता। इनके ज्ञान के लिए इसे अन्य इन्द्रियो की सहायता की आवश्यकता होती है।[1] इन्द्रियों के साथ बाह्य पदार्थो के सम्पर्क के द्वारा, जिसमे मन माध्यम का कार्य करता है, आत्मा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करती है। आत्मा तथा मन का सम्बन्ध धर्मा-धर्म के द्वारा सम्पन्न होता है। किन्तु मन के प्रति जो आत्मा की प्रवृत्ति है, उसमें आत्मा को निष्क्रिय नही माना गया है। मन को इन्द्रियों मे सम्मिलित किया गया है, क्योंकि यह मानसिक अवस्थाओं, यथा सुख, दु.ख, इच्छा और द्वेष, का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।[2] इस प्रकार का तर्क उपस्थित किया जाता है कि यदि हम मन तथा इन्द्रियो पर निर्भर न करते तो हमें सब वस्तुओ का ज्ञान एकसाथ और तुरन्त हो जाता।

आत्मा जब मन के सम्पर्क मे आती है तो बोधो को उत्पन्न करती है। यह संपर्क मन की क्रिया से होता है, जिस क्रिया का निर्णय या तो आत्मा के प्रयत्न द्वारा या आत्मा के पूर्वकर्म द्वारा चालित अदृष्ट प्रारब्ध द्वारा होता है। आत्मा अनुभवकर्ता अथवा फलो-पभोक्ता है, शरीर अनुभवो का स्थान है, इन्द्रिया अनुभव के साधन हैं। अनुभव के पदार्थ दो प्रकार के हैं आभ्यन्तर, जैसे सुख और दु.ख; और बाह्य, जैसे घडा आदि। प्रभाकर का कहना है कि हमारी संवित्, अर्थात् चेतनता, एक समय मे एक ही पदार्थ के साथ अपने को सपृक्त करती है, दो के साथ नही।

4. प्रत्यक्ष ज्ञान

प्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात् प्रतीति है।[3] यह सीधा इन्द्रिय-सम्पर्क से प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान

1. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 100।
2. वही, पृष्ठ 98।
3. प्रकरणपञ्चिका : प्रत्यक्ष।

मे पदार्थ तथा इन्द्रिय का, पदार्थ के विशिष्ट गुणो तथा इन्द्रिय का, मन और इन्द्रिय का, और आत्मा तथा मन का सम्पर्क होता है। कुमारिल की व्याख्या के अनुसार, पदार्थ का इन्द्रिय के साथ सम्पर्क केवल अनुकूलता अथवा पदार्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता हे, जिसका अनुमान हम इसके कार्य से करते है।[1] प्रत्यक्ष का सम्बन्ध ऐसे ही पदार्थो से है जिनका अस्तित्व है, अर्थात् जो इन्द्रियो से जानने योग्य हैं। यह इन्द्रियातीत पदार्थो का बोध नही करा सकता। प्रभाकर के अनुसार, जिन पदार्थो का बोध होता है वे द्रव्य, वर्ग अथवा गुण हो सकते है।

मीमासक[2] सामान्यत इन्द्रियो के विषय मे न्यायदर्शन की जो प्रकल्पना ह उसे स्वीकार करता है, केवल श्रवणेन्द्रिय के सम्बन्ध मे मतभेद है। देश-सबधी सामीप्य तथा दूरी का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है—केवल दर्शन तथा स्पर्श से ही नहीं बल्कि श्रवणेन्द्रिय द्वारा भी। देश के दो भेद हैं, स्थिति और दिशा, और इन दोनो का प्रत्यक्ष शब्दो के विशेषणो के रूप मे होता है। श्रवणेन्द्रिय प्राप्यकारी है, अर्थात् प्रमेय शब्द के सम्पर्क मे आती है। श्रवणेन्द्रिय बाहर निकलकर प्रमेय अर्थात् दूरस्थ शब्द तक नही जाती हे, बल्कि शब्द कर्णपटह तक वायु की लहरो द्वारा प्राप्त होकर प्रसारित होता है। यह विचार इस तथ्य का कारण स्पष्ट कर देता है कि क्यो समीपस्थ मनुष्यो को तो शब्द का बोध हो जाता है किन्तु दूरस्थ पुरुषो को नही होता। शब्दो की तीव्रता की श्रेणियो मे जो भेद है उसके कारण की भी व्याख्या इससे हो जाती है।[3] यदि श्रवणेन्द्रिय शब्दो के साक्षात् सम्पर्क मे आये बिना भी शब्दो का बोध प्राप्त कर सकती, जैसाकि बौद्धमत कल्पना करता है, तो सभी शब्द—क्या दूर के, क्या पास के—श्रवणेन्द्रिय से एकसाथ प्रत्यक्ष रूप मे जाने जाते, किन्तु अवस्था यह नही हे। श्रवणेन्द्रिय के अन्दर वायु की एक परत है जिसपर वक्ता की वाणी से निकलनेवाली वायु की लहर आकर टकराती है, और ऐसी अवस्था उत्पन्न करती है जिससे कि शब्द सुना जाता हे। श्रवणेन्द्रिय शब्द के स्थान के सम्पर्क मे नही आती, बल्कि केवल शब्द के सम्पर्क मे आती है जिसका स्थान कर्णपटह मे होता हे। किन्तु शब्दो का बोध सदा इस रूप मे होता है कि लगता है कि वे देश के भिन्न-भिन्न बिन्दुओ मे स्थित है, कर्णपटह मे स्थित नही हैं। वे श्रवण-इन्द्रिय तक केवल शब्दरूप मे नही पहुचते, बल्कि जहा से वे उत्पन्न होते हे, उन दिशाओ का रग लिए हुए पहुचते हैं। इस प्रकार शब्दो तथा उनकी दिशाओ का भी सीधा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यहा तक कि श्रवणेन्द्रिय द्वारा दूरी का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है क्योकि समीप से आते हुए शब्द अधिक तीव्र होते है, अपेक्षा उनके कि जो दूर से आते हैं। इस प्रकार शब्दो के मन्द या तीव्र रूप के प्रत्यक्ष से हमे यह भी ज्ञान हो जाता हे कि वे कितनी दूरी से आते है।

प्रभाकर और कुमारिल दोनो ही निर्विकल्प तथा सविकल्प प्रत्यक्ष के भेद को मानते है और उन्हे प्रामाणिक मानते है। कुमारिल के अनुसार, निर्विकल्प प्रत्यक्ष व्यक्ति

1 श्लोकवार्तिक प्रत्यक्षसूत्र 42 43।
2 शास्त्रदीपिका पृष्ठ 400 से आगे श्लोकवार्तिक, 760 से आगे।
3 तीव्रमन्दादिव्यवस्था।

का बोध कराता है, जो सामान्य तथा विशिष्ट लक्षणों का अधिष्ठान है, यद्यपि यह पदार्थ के सामान्य तथा विशिष्ट लक्षणों से युक्तरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है।[1] निर्विकल्प प्रत्यक्ष स्वयं पदार्थ के कारण ही होता कहा गया है।[2] सविकल्प प्रत्यक्ष में सामान्य तथा विशिष्ट गुण स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं।[3] इस मत के समर्थन में, पार्थसारथि, आगे और युक्ति देता है। पदार्थ का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होने पर हमें सब प्रकार के सम्बन्धों से विहीन पदार्थ का बोध होता है। तब तक हम गुणों तथा गुणों में तथा सामान्य और विशिष्ट लक्षणों में भेद नहीं करते। यदि निर्विकल्प ज्ञान न होता तो सविकल्प प्रत्यक्ष भी न होता,[4] क्योंकि सविकल्प प्रत्यक्ष गुणयुक्त पदार्थ तथा उसके गुणों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध है। इस प्रकार के सम्बन्ध का बोध निर्भर करता है सम्बन्ध के पक्षों के पूर्वबोध पर। जब तक ये पक्ष निर्विकल्प प्रत्यक्ष में उपलक्षित रूप में न जाने जाएं, तब तक ये सविकल्प प्रत्यक्ष में स्पष्ट रूप से नहीं जाने जा सकते। पदार्थ के सविकल्प प्रत्यक्ष में हम स्मरण करते हैं उस वर्ग को जिससे यह सम्बद्ध है, और उस नाम को जिसे यह धारण करता है, और तब उन्हें प्रत्यक्ष में आने गए पदार्थ के साथ जोड़ते हैं। यदि वर्ग तथा नाम सर्वथा अज्ञात हों तो वे स्मरण नहीं किए जा सकते। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अस्तित्व को जिसमें जाति, नाम तथा वैशिष्ट्य बताने वाले गुणों का उपलक्षित रूप में बोध रहता है स्वीकार करना आवश्यक है।

कुमारिल का मत है कि पदार्थों का बोध मौखिक अभिव्यक्तियों से स्वतन्त्र है।[5] गाय के वर्ग का बोध सदा 'गाय' शब्द के रूप में नहीं होता, यद्यपि हम ज्ञात पदार्थ का वर्णन करने के लिए उक्त शब्द का प्रयोग करते हैं।[6] कुमारिल का यह विचार है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष अनिर्णीत प्रत्यक्ष है, केवल देख लेना (आलोचन) मात्र है, जिसकी तुलना एक नवजात शिशु के बोध के साथ की जा सकती है, जहां केवल व्यक्ति ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, उसके सामान्य (जातिगत) अथवा विशिष्ट लक्षण प्रस्तुत नहीं रहते। किन्तु प्रभाकर का मत है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष वर्गगत लक्षणों तथा विशिष्ट लक्षणों, दोनों का बोध कराता है लेकिन क्योंकि अन्य पदार्थ उस समय तक बोध के क्षेत्र के अन्दर प्रविष्ट नहीं होते, इसलिए पदार्थ का बोध किसी वर्गविशेष से वस्तुतः सम्बद्ध के रूप में नहीं होता। कोई पदार्थ, अन्य पदार्थों की तुलना में ही, जिनसे कि वह अलग लक्ष्य किया गया है, व्यक्तिरूप में प्रत्यक्ष होता है। किन्तु जब यह किसी वर्ग-विशेष के अन्य सदस्यों के समान कुछ विशिष्ट लक्षणों को लिए हुए देखा जाता है, तो इसके विषय में यह ज्ञात होता है कि यह किसी विशेष वर्ग का सदस्य है। यद्यपि जिसका बोध हुआ है वह वस्तुतः किसी वर्ग का एक व्यक्ति है परन्तु इसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इसकी तुलना उक्त वर्ग के अन्य सदस्यों के साथ नहीं कर ली जाती।[7] जबकि वर्गगत लक्षण तथा विशिष्ट लक्षण निर्विकल्प प्रत्यक्ष में विद्यमान हैं, उनकी पहचान उक्त प्रत्यक्ष में उस रूप में नहीं होती। सविकल्प प्रत्यक्ष में

1 श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, 5 : 113।

2 शुद्धवस्तुज अथवा भेदरहित पदार्थ, 112।

3 श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, 5 : 120।

4 शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 109-10। इस मत की समीक्षा के लिए देखिए जयन्तकृत न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 98।

5 श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, 176। 6 वही, 180, 182।

7 वस्त्वन्तरानुसन्धानशून्यतया सामान्यविशेषरूपता न प्रतीयते। देखिए प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ 54-55।

आत्मा उसी वर्ग के अन्य पदार्थों का स्मरण करती है और उनकी समानताओं तथा असमानताओं को लक्ष्य करती है। प्रभाकर का मत है कि सविकल्प प्रत्यक्ष का रूप मिश्रित है, और उसके अन्दर स्मृति का अंश अन्तर्निहित है क्योंकि उस वर्ग के अन्य सदस्य आत्मा के प्रति अपने को उस संस्कार के कारण प्रस्तुत करते हैं जो इससे उनके सम्बन्ध में प्राप्त किया हुआ है। किन्तु स्मृति का अंश उस पदार्थ से सम्बन्ध नहीं रखता जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, बल्कि अन्य पदार्थों से रखता है जिनके साथ इनकी तुलना की गई है, और इसलिए पदार्थ के अपने बोध की प्रामाणिकता को प्रभावित नहीं कर सकता।

प्रभाकर और कुमारिल दोनों ही सामान्य की यथार्थता को स्वीकार करते हैं और उन्हें प्रत्यक्ष के विषय मानते हैं। इसके विपरीत, बौद्धों का मत है कि विशिष्ट व्यक्तित्व ही केवल यथार्थ है और सामान्यता कल्पना की उपज है।[1] कुमारिल और पार्थसारथि ने बौद्ध मत की समीक्षा की है। सामान्य प्रत्यक्ष का विषय है, क्योंकि जब भी हम किसी पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करते हैं, हम इसे वर्गविशेष से सम्बद्ध के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की क्रिया के अंदर आत्मसात्करण तथा विभेदीकरण दोनों रहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान अनुवृत्त भी है तथा व्यावृत्त भी है। अनुवृत्ति सामान्य की यथार्थता पर निर्भर करती है। अनुमान की क्रिया भी इसी पर आधारित है। और न बौद्ध विरोध में ऐसा कह सकते हैं कि सामान्य यथार्थ नहीं है, क्योंकि इसका प्रत्यक्ष ज्ञान व्यक्ति से भिन्न रूप में नहीं होता। क्योंकि यह तर्क कि जो है वह या तो भिन्न है या अभिन्न[2], सामान्य वस्तुत्व को मान लेता है। और न ऐसा प्रश्न करना उपयुक्त है कि सामान्यता प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अपने पूर्णरूप में विद्यमान है या सबके अन्दर समष्टिभाव से विद्यमान है। इस प्रकार का भेदभाव व्यक्तियों के लिए प्रासंगिक है, किन्तु सामान्यता के लिए नहीं, क्योंकि सामान्यता अखण्डित है। सामान्य के विषय में जो जैन मत है उसका भी प्रत्याख्यान किया गया है।[3] यदि सामान्यता और सादृश्य एक ही माने जाएं तो हमारे लिए यह कथन आवश्यक होगा कि "यह एक गाय के समान है", यह नहीं कि "यह एक गाय है"। इसके अतिरिक्त, सामान्यता से अलग सादृश्य सम्भव नहीं है। वस्तुएं, यदि उनके अन्दर सामान्य गुण हैं तभी एक-दूसरे के सदृश हैं। कुमारिल के अनुसार, सामान्य व्यक्ति से भिन्न नहीं है।[4] दोनों का परस्पर सम्बन्ध भिन्नता में तादात्म्य का सम्बन्ध है। हम सामान्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं अथवा व्यक्ति का, यह हमारी रुचि पर निर्भर है। सामान्य से तात्पर्य, जिसे आकृति (रूप) भी कहा जाता है, बाह्याकार से नहीं है, बल्कि लक्षण के तादात्म्य से है, क्योंकि आकृति का सम्बन्ध आत्मा

1. विकल्पाकारमात्र सामान्यम्। शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 381।
2. यद् वस्तु तद्भिन्नमभिन्नं वा भवति, पृष्ठ 382।
3. न च सादृश्यमेव सामान्यम्, पृष्ठ 394।
4. श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, 141। इसपर टीका करते हुए 'न्यायरत्नाकर' कहता है : "वर्ग आदि व्यक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। यह एक साधारण अनुभव का तथ्य है कि व्यक्तिरूप गाय इस रूप में केवल तभी पहचानी जाती है जब यह 'गाय' के वर्ग के साथ एकात्म पाई जाती है। यह नहीं हो सकता था, यदि व्यक्ति वर्ग से सर्वथा भिन्न होता। व्यक्ति की वर्ग के साथ तादात्म्य की इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा ही वर्ग को जानने का एकमात्र साधन है। इसलिए व्यक्ति तथा वर्ग में अवश्य तादात्म्य होना चाहिए।" और देखिए आकृतिवाद, 8, 10, 18, 25।

जैसे अभौतिक पदार्थों के साथ कहा गया है। पदार्थों का बाह्याकार नाशवान है, किन्तु दर्शनगत स्वरूप नाशवान नहीं है।[1] वर्ग स्वयं आकृति के नाम से पुकारा जाता है। इससे स्पष्ट संकेत उसकी ओर है जो व्यक्ति को लक्षित करता है। यह वह है जो सब व्यक्तिरूप पदार्थों में समान है, और इस समष्टिरूप विचार का साधन है कि इन पदार्थों से एक पूर्ण इकाई का निर्माण होता है।[2] पार्थसारथि का तर्क है कि सामान्य व्यक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं है। यदि ऐसा होता तो हम व्यक्ति में सामान्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त न कर सकते। "यह एक गाय है", इस प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें 'यह' का बोध (इदं बुद्धिः) तथा 'गाय' का बोध (गोबुद्धिः) भी होता है। पहले बोध का विषय व्यक्ति है और दूसरे बोध का विषय सामान्य है। 'यह' और 'गाय' के बोधों में भेद है, और तो भी वे एक ही पदार्थ के अन्तर्गत हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान का यह दो प्रकार का स्वरूप पदार्थ के स्वरूप को सामान्य तथा विशिष्ट दोनों रूप में निर्देश करता है। ये दोनों स्वभावत. परस्पर असंगत नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के एक ही कर्म में तादात्म्य तथा भेद दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। तादात्म्य तथा भेद एक-दूसरे का विरोध नहीं करते, जैसेकि 'यह वादी है' और 'यह वादी नहीं है' ये बोध करते हैं। तादात्म्य तथा भेद का सम्बन्ध पदार्थ के भिन्न-भिन्न पहलुओं से है।[3]

प्रभाकर के अनुयायी इस विचार से सहमत नहीं हैं। बोधरूपी वही एक कर्म सामान्य तथा व्यक्ति में तादात्म्य तथा भेद का ज्ञान नहीं करा सकता। जब हमें सामान्य और व्यक्ति में भेद का प्रत्यक्ष होता है तो हमें उन दोनों का पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष होगा। और जब हमें उनके अन्दर तादात्म्य प्रत्यक्ष होता है तो हमें उनमें से एक ही का प्रत्यक्ष होगा, अर्थात् या तो सामान्य का या व्यक्ति का। इस अवस्था में एक ही पदार्थ से, अर्थात् सामान्य या व्यक्ति से दो प्रकार का बोध होगा, अर्थात् सामान्य तथा व्यक्ति का और उनके तादात्म्य का। किन्तु सामान्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह व्यक्ति के साथ अपने तादात्म्य का बोध उत्पन्न करे, और न व्यक्ति के ही लिए यह सम्भव है कि वह सामान्य के साथ अपने तादात्म्य का बोध उत्पन्न करे। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि भेद तथा तादात्म्य दो का ज्ञान बोध के उसी एक कर्म से हो सकता है। पार्थसारथि विरोध में कहता है कि यह तर्क अप्रामाणिक है। दो पदार्थों के बोध में आवश्यक नहीं है कि उनके भेद का ज्ञान भी सम्मिलित रहे। जब पहले-पहल किसी वर्ग के सदस्य एक व्यक्ति का प्रत्यक्ष किया जाता है तो सामान्य तथा व्यक्ति दोनों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, किन्तु दोनों की भिन्नता का प्रत्यक्ष नहीं होता। जब उसी वर्ग के किसी अन्य व्यक्ति को देखते हैं तो उसी वर्ग का होने के कारण प्रथम व्यक्ति के साथ उसका आत्मसात्करण हो जाता है, और भिन्न व्यक्ति होने से प्रथम व्यक्ति से उनका भेद भी प्रत्यक्ष हो जाता है। दो पदार्थों के बोध में, इसलिए, उनके भेद का बोध अन्तर्गत नहीं रहता। एक ही पदार्थ के बोध में आवश्यक नहीं कि इसके तादात्म्य का बोध भी अन्तर्गत हो, जैसेकि जब कोई

1. तन्त्रवार्तिक, 1 . 3, 30।
2. जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥
(श्लोकवार्तिक, आकृतिवाद, 5 : 3)।
3. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 284।

किसी दूरस्थ पदार्थ को देखता है और सन्देह अनुभव करता है कि यह खभा है या मनुष्य है।[1]

प्रभाकर के अनुयायियो का तर्क है कि सामान्य तथा व्यक्ति मे एकात्मता नही हो सकती, क्योकि सामान्य नित्य है और अनेक व्यक्तियो मे एकसमान है, जबकि व्यक्ति अनित्य है और विशिष्ट है। यदि इन दोनो मे एकात्मता होती, तो सामान्य अनित्य होता तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न होता और व्यक्ति नित्य होते तथा अनेक एकसमान होते। उत्तर मे पार्थसारथि युक्ति देता है कि एक मिश्रित अथवा बहुरूप पदार्थ कुछ बातो मे नित्य तथा अन्य बातो मे अनित्य हो सकता है, कुछ लक्षणो मे औरो के साथ एकात्मरूप और अन्य लक्षणो मे उनसे भिन्न हो सकता है।[2]

पूर्ण इकाई (अवयवी) तथा उसके भाग (अवयव) के प्रश्न के विषय मे प्रभाकर का मत है कि अवयवी प्रत्यक्ष का विषय है। पूर्ण इकाई के रूप मे पदार्थों का अस्तित्व है। यह आवश्यक नही है कि हम पूर्ण इकाई का प्रत्यक्ष करने से पूर्व उसके सभी हिस्सो का प्रत्यक्ष करें। यदि हम किसी भौतिक पदार्थ को ले तो परमाणु इसके उपादान कारण हैं, और उनका सयोग अभौतिक कारण है जो पूर्ण इकाई को उसकी विशिष्टता प्रदान करता है। कुमारिल का मत है कि अवयवी तथा उसके अवयव एकात्मरूप है, और यह हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता है कि हम किसी पदार्थ को पूर्ण इकाई समझते है या अनेक भाग।[3]

प्रत्यभिज्ञा को अनुभूतिकपरक ज्ञान मानने मे कुमारिल नैय्यायिक के साथ सहमत है, क्योकि इसकी उपस्थिति वही सम्भव है जहा इन्द्रियो की क्रियाशीलता है, और जहा वह नही है वहा प्रत्यभिज्ञा का भी अभाव है। केवल इसलिए कि प्रत्यभिज्ञा से पूर्व स्मृति की क्रिया आती है, हम इसे अप्रत्यक्षपरक नही कह सकते। जहा कही ज्ञानेन्द्रिय का सम्पर्क किसी उपस्थित पदार्थ के साथ है, हम उसे प्रत्यक्ष ज्ञान की अवस्था मानेंगे।[4]

मीमासक यौगिक अन्तर्दृष्टि की प्रकल्पना का समर्थन नही करते, जिसके द्वारा कहा जाता है कि योगी भूत, भविष्यत, अदृश्य और दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेते है। यह अन्तर्दृष्टि या तो इन्द्रियजनित है या अनिन्द्रियजनित है। यदि इन्द्रियजनित है तो क्योकि इन्द्रिया भूत, भविष्यत तथा दूरस्थ पदार्थों के सम्पर्क मे नही आ सकती अत उनका कुछ ज्ञान नही हो सकता। यहा तक कि अन्त करणरूप इन्द्रिय, अर्थात मन भी केवल मानसिक अवस्थाओ, यथा सुख-दु ख आदि, का ही ज्ञान प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार का तर्क उपस्थित करना कोई अर्थ नही रखता कि इन्द्रिया जब उच्च विकास को प्राप्त हो जाती है तो पदार्थों के सम्पर्क म आए बिना भी, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकती है, क्योकि कितना भी विकास क्यो न हो, वह इन्द्रियो की प्रकृति मे परिवर्तन नही ला सकता। यदि यौगिक अन्तर्दृष्टि भूतकाल म प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओ का बोध प्राप्त करती है तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान न होकर स्मृति की अवस्था है। यदि यह ऐसे पदार्थों

1 न वस्तुद्वयप्रतीतिरभेदप्रतीति नाप्येकवस्तुप्रतीतिरेवाभेदप्रतीति (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 287)।

2 शास्त्रदीपिका पृष्ठ 288।

3 श्लोकवार्तिक वनवाद।

4 श्लोकवार्तिक प्रत्यक्षसूत्र 234 37।

का बोध कराती है जिनका बोध पहले कभी नहीं हुआ तो इसकी प्रामाणिकता में सन्देह है। भूतकाल के, दूरस्थित तथा भविष्य के पदार्थों का ज्ञान केवल वेदों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[1]

मानसिक प्रत्यक्ष को, जिसके द्वारा हम सुख-दुःख इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करते हैं, मीमांसादर्शन ने स्वीकार किया है। तो भी बोध अन्तर्मुखता का विषय नहीं हो सकता। मानसिक प्रत्यक्ष ऐसी क्रियाओं तक ही सीमित है जो बोध-सम्बन्ध नहीं हैं। स्वप्नों में भी बोध जिसे ज्ञानप्राप्ति के योग्य बनाता है वह बाह्य जगत का ही कोई पदार्थ होता है।[2] यद्यपि स्वप्नकाल में पदार्थ वास्तव में उपस्थित नहीं होता, तो भी वह ऐसी वस्तु होता है जिसका पहले प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया गया है और जो अब संस्कारों द्वारा पुनर्जीवित हो गई है। वह बोध जो हमें स्वप्नों में होता है, स्मृति के स्वरूप का है और कुछ संस्कारों के पुनर्जागरित होने से होता है। स्वप्नों में भूतकाल के अनुभव का केवल वही भाग पुनर्जीवित होता है जो कर्ता के सुख अथवा दुःख का कारण बन सके और जिसके लिए वह उस क्षण में परिपक्व है। स्वप्न केवल ऐसी-निद्रा में ही सम्भव होते हैं जिसमें आत्मा का सम्पर्क मन के साथ होता है, यद्यपि मन इन्द्रियों के साथ में सम्पर्क में नहीं होता। स्वप्न-विहीन प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा का मन के साथ सम्पर्क टूट जाता है। प्रभाकर का तो यही विचार है, किन्तु कुमारिल की सम्मति में, प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यरूप में लौट जाती है, जहांकि किसी प्रकार के स्वप्नों की सम्भावना नहीं है।[3]

5. अनुमान

शबर के अनुसार, जब दो वस्तुओं में किसी स्थिर-सम्बन्ध की विद्यमानता जानी हुई होती है, जिससे उनमें से किसी एक के देखने पर दूसरी का भी एक भाव आ जाता है, तो यह दूसरा बोध आनुमानिक कहलाता है।[4] शबर अनुमान को दो भागों में विभक्त करता है प्रत्यक्षतोदृष्ट, जहां अनिवार्य सम्बन्ध ऐसे पदार्थों के मध्य है जो दृष्टिगोचर हैं, जैसे धुआं और आग; और सामान्यतोदृष्ट जहां सम्बन्ध इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जाता, बल्कि केवल अमूर्त रूप में ही जाना जाता है, जैसेकि सूर्य की गति तथा आकाश में उसकी परिवर्तित होती हुई स्थिति की अवस्था में होता है।[5] प्रभाकर के अनुसार, सम्बन्ध अवश्य अचूक, सत्य तथा स्थायी होना चाहिए, जैसाकि कारण और उसके कार्य के मध्य, अवयवी [illegible]
होता है। सामान्य [illegible]
कार्यक्षेत्र केवल दे [illegible]
है। इसका उद्भव अनुमान अथवा अर्थापत्ति से भी नहीं है, क्योंकि ये दोनों इसे मान लेते हैं। सामान्य सिद्धान्त की सिद्धि अनुभव के आधार पर होती है। ऐसी अवस्थाएं

1 शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 52। देखिए यामुनाचार्यकृत सिद्धित्रय, पृष्ठ 71।

2. श्लोकवार्तिक, निरालम्बनवाद, 107-8 ; शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 162-63 और 165।

3 भा . प्रभाकर स्कूल, 2।

4 ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः। और देखिए प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ 64।

5 शबर का सामान्यतोदृष्ट वात्स्यायन द्वारा की गई इसकी प्रथम व्याख्या के सर्वथा समान है, जबकि वात्स्यायन के पूर्ववत् शबर के प्रत्यक्षतोदृष्ट के अनुकूल है।

हमारे देखने मे आती है जहा धुआ और आग एकसाथ उपस्थित रहते है, और ऐसी अवस्थाए भी देखने मे आती है जहा ये एकसाथ इस प्रकार उपस्थित नही है, और तव हम एक सामान्य सिद्धान्त का अनुमान करते है जो सब अवस्थाओ पर लागू होता है। जब सह-अस्तित्व, तादात्म्य अथवा कार्यकारणभाव का एक स्थायी सम्बन्ध मन मे बैठ जाता है, तो इसका एक पक्ष दूसरे पक्ष का स्मरण कराता है।

प्रभाकर तथा कुमारिल के अनुसार, अनुमान-सम्बन्धी तर्क के केवल तीन अवयव हैं प्रतिज्ञा अथवा प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध मे कथन, मुख्य पद जो सामान्य नियम को समर्थन करनेवाले दृष्टान्त समेत उपस्थित करता है, और गौण पद। इन तीन अवयवो को किसी भी क्रम मे रखा जा सकता है। मीमासक स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के मध्य जो भेद है उसे स्वीकार करते है। आनुमानिक ज्ञान का दो प्रकार का लक्ष्य होता है दृष्ट स्वलक्षण, अर्थात् जिसका अपना विशिष्ट लक्षण प्रत्यक्ष हो चुका है, जैसेकि धुए से आग का अनुमान, और अदृष्ट स्वलक्षण, अर्थात् जिसका विशिष्ट लक्षण प्रत्यक्ष का विषय नही है, जैसेकि आग की जला देनेवाली क्षमता का अनुमान। प्रभाकर का मत है कि अनुमान मे सामान्य सम्बन्ध का पूर्वज्ञान सन्निहित है। और इसका सम्बन्ध ऐसे पदार्थो से है जो पहले से ज्ञात है। कुमारिल विलक्षणता को अनुमान का एक अनिवार्य लक्षण मानता है। यद्यपि यह सत्य है कि धुआ दिखाई दिया है और धुए का प्रत्यक्ष अपने साथ आग के सम्बन्ध मे एक सामान्य विचार लिए हुए है, जो बताता है कि उसका धुए से सम्बन्ध है, तो भी आनुमानिक बोध का विषय एक ऐसी चीज है जो पहले से ज्ञात नही है, अर्थात् विधेय से विशेषित उद्देश्य है—प्रचलित दृष्टान्त मे अग्नियुक्त पहाड।[1]

6. वैदिक प्रामाण्य

मीमासा का लक्ष्य धर्म के स्वरूप का निश्चय करना है। धर्म का अस्तित्व भौतिक नही है और इसलिए इन्द्रियो द्वारा इसका ज्ञान नही हो सकता। अन्य प्रमाण किसी प्रयोजन के नही है, क्योकि वे सब प्रत्यक्ष ज्ञान की पूर्वकल्पना करते है। प्रत्यक्ष, अनुमान और इसी प्रकार के ज्ञान के अन्य साधन इस विषय मे कुछ भी नही कह सकते कि अग्निष्टोम यज्ञ का करनेवाला स्वर्ग को जाएगा। इसका ज्ञान केवल वेदो से ही प्राप्त होता है। यद्यपि वेद का प्रमाण हमारे लिए धर्मज्ञान का एकमात्र स्रोत है, तो भी अन्य साधनो पर विचार किया गया है, क्योकि यह प्रदर्शित करना आवश्यक है कि वे धर्म के सम्बन्ध मे ज्ञान नही दे सकते। भ्रात विचारो के उच्छेदन के लिए भी उन्हे उपयोगी पाया गया है।

वेद का सारतत्त्व आदेशात्मक रूप मे दी गई वे घोषणाए है जो मनुष्यो को कर्म-सम्बन्धी निश्चित विधियो की ओर प्रेरित करती है और यह बताती हैं कि इस प्रकार का कर्म उपकारी परिणामो को प्राप्त कराएगा। यह मानते हुए कि वेदो मे कर्मकाण्ड का क्रियाकलाप ही सब कुछ है, जैमिनि का यह मत है कि वे भाग जो प्रकटरूप मे इससे असम्बद्ध हैं, निरर्थक है,[2] और इस प्रकार उनकी व्याख्या कर्मकाण्ड-सम्बन्धी आदेशो के

1 श्लोकवार्तिक, अनुमानपरिच्छेद, 50। प्रभाकर चार हेत्वाभासो को स्वीकार करता है, अर्थात् असाधारण, बाधित, साधारण और असिद्ध, जबकि कुमारिल का विश्लेषण, जो अनैकान्तिक तथा असिद्ध को स्वीकार करता है, न्याय की योजना से घनिष्ठ समानता रखता है।

2 यह विचार वेद के उन भागो के विषय मे कठिनता के साथ उचित हो सकेगा जो विश्व-सम्बन्धी चरम समस्याओ के विषय मे प्रतिपादन करते हैं।

आधार पर होनी चाहिए। अन्य भाग भी केवल उसी अवस्था मे प्रामाणिक हैं जबकि वे व्यक्ति के लिए कर्म करने मे सहायक सिद्ध होते हैं।[1] मीमांसक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि पवित्र वाङ्मय का प्रत्येक भाग कर्तव्य कर्मों से ही सम्बन्ध रखता है। वेद का मोटा विभाग मन्त्रो और ब्राह्मणों में है। वेद के विषयवस्तु का वर्गीकरण इस प्रकार भी किया गया है : (1) विधि, (2) मन्त्र, (3) नामधेय, (4) निषेध और (5) अर्थवाद।[2]

शाब्दिक ज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि यह ऐसी वस्तु का बोध है जो इन्द्रियो के समक्ष प्रस्तुत नही है, और शब्दों के ज्ञान से उत्पन्न हुआ है। ये शब्द मनुष्यो द्वारा उच्चरित हो सकते है या वेदों के हो सकते हैं।[3] प्रथम प्रकार के शब्द प्रामाणिक उसी अवस्था मे हैं जबकि उनके रचयिताओ के विषय में हमें निश्चय हो कि वे अविश्वसनीय नहीं हैं। वेदो के शब्द स्वतः प्रामाणिक हैं। वह ज्ञान जिसका विरोध आगे आनेवाले ज्ञान से हो जाए, अप्रामाणिक है। किन्तु वैदिक आदेशों द्वारा प्राप्त बोध किसी भी काल मे, किसी भी स्थान मे, अथवा किसी भी अवस्था मे खण्डित नही हो सकते।[4] ऐसा कहना आत्म-विरोधी होगा कि वैदिक आदेश किसी ऐसी वस्तु को व्यक्त करता है जो सत्य नही है। वेद अपनी निजी प्रामाणिकता को अभिव्यक्त करते हैं। हमारे द्वारा प्रयुक्त शब्द ऐसी चीज़ों को व्यक्त करते हैं जिनका ज्ञान ज्ञान के अन्य साधनों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है; और यदि हम उन्हे अन्य साधनों से नही जान सकें तो उनके उच्चारण करनेवाले ऐसे होने चाहिएं जिनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध हो। इस प्रकार अवैदिक वाक्यो मे कोई अन्तर्निहित प्रामाणिकता नही रहती।[5] प्रभाकर का मत है कि अवैदिक शाब्दिक बोध अनुमान-स्वरूप है। केवल वही शाब्दिक ज्ञान जो वेदो से मिलता है, सही अर्थो मे शाब्दिक है।[6] किन्तु इसकी सगति अन्य प्रकल्पना के साथ नहीं है, जो सब बोधों की स्वतः प्रामाणिकता को मानती है। क्योंकि वेदमन्त्रों का कोई रचयिता नही है, इसलिए त्रुटियो की सम्भावना नही है, और इस प्रकार वेदो की अप्रामाणिकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती।[7] जिस प्रकार मनुष्यों के शब्द भी, यदि उनके रचयिता विश्वस्त

1 1 : 2, 1। वेदान्त विधिपरक मन्त्रो के अतिरिक्त वैदिक मन्त्रो की प्रामाणिकता को भी स्वीकार करता है।

2 विधिपरक आदेश, जो पुरुष को विशेष फलो की आशा से कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं, यथा : 'जो स्वर्ग का इच्छुक है वह यज्ञ करे'(स्वर्गकामो यजेत), सबसे अधिक महत्त्व के हैं। इनके सहकारी आदेश भी हैं जो यज्ञ-सम्बन्धी ब्यौरो का वर्णन करते हैं, और यह बताते हैं कि किस क्रम मे उनके अनेक भागो को सम्पन्न करना है, और कौन-कौन पुरुष उनको करने के अधिकारी हैं, आदि आदि। मन्त्र यज्ञकर्ता को यज्ञ से सम्बन्धित विभिन्न विषयो का स्मरण कराने मे उपयोगी सिद्ध होते हैं, जैसेकि वे देवता जिन्हें लक्ष्य करके आहुतिया देनी हैं। कहा जाता है कि कुछ मन्त्रों मे रहस्यमय अथवा अतीन्द्रिय कार्य-शक्ति है और वे सीधे अतीन्द्रिय परिणाम अर्थात् अपूर्व को उत्पन्न करते हैं। नामधेय मे उन परिणामों का सकेत रहता है जो यज्ञों के द्वारा प्राप्त किए जाते हैं। निषेध केवल प्रच्छन्न विधिया हैं। अर्थवाद वे वाक्य हैं जो आदिष्ट वस्तुओ की प्रशसा करते हैं या निषिद्ध वस्तुओं की निन्दा करते हैं, अथवा औरो के कर्मों का विवरण देते हैं, अथवा पुराकल्प अर्थात् इतिहास के दृष्टान्त हैं (अर्थसंग्रह)।

3. अपौरुषेय वाक्य वेद (अर्थसंग्रह, पृष्ठ 3)।

4 1 : 1, 2 पर शबर।

5 शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 53।

6 प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ 88 से आगे। तुलना कीजिए कुसुमाजलि, 3 : 16।

7. श्लोकवार्तिक, 2; और देखिए 2 : 62-69।

व्यक्ति है तो प्रामाणिक होते हैं, कुमारिल उन्हे भी शब्दप्रमाण मानता है ।

वेद नित्य है, क्योकि वे शब्द जिनसे वे बने है, नित्य है। शब्द और अर्थ के मध्य जो सम्बन्ध है वह नैसर्गिक है, और परम्परा द्वारा निर्मित नही है। शब्द और उनके अर्थ के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध है, यह प्रत्यक्ष जाना जा सकता है। यदि कोई इसे, जबकि वह पहली बार शब्द को सुनता है, नही जान सकता, तो इसका तात्पर्य केवल यही है कि सहायको का अभाव है किन्तु इससे शब्दार्थ-सम्बन्ध का अभाव नही हो जाता। यदि आख प्रकाश के अभाव मे नही देख सकती तो इसका यह अर्थ नही है कि आख देखने के सर्वथा अयोग्य है। सहायक यह ज्ञान है कि इस-इस प्रकार का शब्द इस-इस प्रकार के पदार्थ (विषय) का द्योतक है, और यह ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। शब्द के अन्दर अभिव्यक्ति का गुण उसके अपने स्वभाव से निहित है। घडा इत्यादि साधारण सज्ञाओ के विषय मे यह सर्वथा सत्य है, जहाकि शब्दो का अपने अर्थों के साथ सम्बन्ध किसी परम्परा से सर्वथा स्वतन्त्र है।[1] शब्द तथा उनसे निर्दिष्ट पदार्थ दोनो नित्य है और अज्ञात काल से मनुष्य उन्ही पदार्थों के लिए उन्ही शब्दो का प्रयोग करते आए हैं।

प्रभाकर के अनुसार, केवल ध्वनि अथवा अस्पष्ट शब्द नाम की कोई वस्तु नही है। समस्त शब्द किसी न किसी अक्षर के रूप मे सुने जाते हैं। शब्द उन अक्षरो से भिन्न नही है जिनसे यह बना है। अक्षरो का प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रिय द्वारा होता है, और वह क्रम जिसमे यह प्रत्यक्ष होता है यह निर्णय करता है कि किन शब्दो का बोध हुआ है। एक शब्द मे जितने अक्षर है उतने ही प्रत्यक्ष ज्ञान भी होते है, और इन प्रत्यक्ष ज्ञानो की अत्यधिक समीपता के कारण हम कल्पना करते हैं कि शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान एक ही है। प्रत्येक अक्षर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होते ही विलुप्त हो जाता है और अपने पीछे एक सस्कार छोड जाता है। भिन्न-भिन्न अक्षरो द्वारा छोडे हुए सस्कार अतिम अक्षर के सस्कार के साथ सयुक्त होकर पूर्ण शब्द के विचार को उत्पन्न करते हैं, जिसके अन्दर अर्थ को प्रकट करने की शक्ति होती है।[2] क्योकि शब्द की क्षमता अक्षरो की भिन्न-भिन्न क्षमताओ से उत्पन्न होती है, इसलिए अक्षरो की क्षमताओ को शाब्दिक बोध का सीधा कारण बताया गया है। शब्दार्थ का बोध इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त नही होता। इन्द्रिया अक्षरो को प्रस्तुत करती है, जिनमे अक्षरो से बने हुए शब्द द्वारा प्रकट की गई वस्तु का बोध कराने की शक्ति रहती है। इस प्रकार प्रभाकर का मत है कि अक्षर शाब्दिक बोध के साधन है। शब्दो मे नैसर्गिक रूप से द्योतन की शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वे पदार्थों को प्रकट करते है, भले ही हम उनके अर्थों को समझ सके, या न समझ सकें।[3]

1 व्यक्तिवाचक सवादो के विषय मे, जहा वस्तुओ अथवा मनुष्यो के नाम उनके उत्पन्न होने के पश्चात रखे जाते हैं प्रभाकर यह स्वीकार करता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध परम्परा के कारण होता है।

2. तुलना कीजिए, शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 266 से आगे।

3 प्रभाकर के अनुसार, जो अन्विताभिधानवाद की प्रकल्पना को स्वीकार करते हैं शब्दो के अर्थ केवल उसी अवस्था मे जाने जा सकते हैं जबकि वे ऐसे वाक्य मे आते हैं जो किसी कर्तव्य का आदेश करता हो। इस प्रकार शब्द पदार्थों का केवल इस प्रकार के वाक्य के अन्य अवयवो से सम्बद्ध रूप मे ही द्योतित करते हैं। यदि वे एक आदेश से सम्बद्ध नही हैं, बल्कि केवल अर्थों का ही स्मरण कराते हैं, तो यह स्मृति का विषय है, जो प्रामाणिक बोध नहीं है। कुमारिल के अनुयायियो द्वारा

प्रभाकर की भांति कुमारिल भी तर्क करता है कि सार्थकता स्वयं अक्षरों के अपने अन्दर रहती है, न कि किसी विशेष स्फोट में। इसलिए वह उस प्रकल्पना का प्रत्याख्यान करता है जिसके अनुसार शब्द का निर्माण करनेवाले अक्षरों की क्षणिक ध्वनियों के अतिरिक्त, एक परिपूर्ण शब्द कृति क्षणिक ध्वनियों से अभिव्यक्त होती है, किन्तु उत्पन्न नहीं होती।

सामान्यतः शब्दों और विशेषतः वेदों के नित्यस्वरूप के विरुद्ध अनेकों आपत्तियों पर विचार किया गया है। (1) सर्वसाधारण का यह अनुभव है कि समग्र मौखिक शब्दोच्चारण मनुष्यों के प्रयत्न द्वारा होता है और इसलिए इसका प्रारम्भ है। अतः इसे नित्य नहीं माना जा सकता। जैमिनि का उत्तर है कि उच्चारण पहले से विद्यमान शब्द को केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य बनाने में सहायक होता है, किन्तु यह इसे पहली बार निर्मित नहीं करता है। (2) यह कहा जाता है कि शब्द कुछ ही समय के लिए अपना अस्तित्व रखता है, क्योंकि उच्चारण होते ही यह नष्ट हो जाता है। जैमिनि का कहना है कि शब्द नष्ट नहीं होता, बल्कि केवल अपनी मूल अव्यक्त दशा में लौट जाता है। इस जगत् में ऐसी अनेक वस्तुएं हैं जो प्रत्यक्ष का विषय न होती हुईं भी अपना अस्तित्व रखती हैं। जब लोग शब्दों के 'निर्माण' के विषय में कहते हैं तो, जैमिनि के अनुसार, निर्माण से तात्पर्य उन ध्वनियों से होता है जो शब्द को अभिव्यक्त करती हैं। (3) एक ही शब्द का उच्चारण एक ही समय में भिन्न-भिन्न पुरुषों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों में किया जाता है। यदि शब्द एक नित्य तथा सर्वव्यापक सत्ता होती, तो यह सम्भव न हो सकता। जैमिनि का उत्तर है कि जिस प्रकार अनेकों पुरुष भिन्न-भिन्न स्थानों में और एक ही समय में एक ही सूर्य का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं इसी प्रकार वे एक ही शब्द का उच्चारण करते हैं। (4) शब्दों में परिवर्तन होते हैं, जो नहीं होने चाहिए थे यदि वे नित्य होते। प्रत्युत्तर में जैमिनि का कहना है कि शब्दों में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु अन्य शब्द उनका स्थान लेते हैं। (5) शब्द का परिमाण जब इसका उच्चारण एक अथवा अनेक मनुष्य करते हैं तदनुसार घटता तथा बढ़ता है। जो बढ़ता भी है वह नित्य नहीं हो सकता। जैमिनि बलपूर्वक कहते हैं कि शब्द का परिमाण कभी बढ़ता या घटता नहीं है, यद्यपि मनुष्यों से प्रकट हुई ध्वनि बढ़ती या घटती है।[1]

जैमिनि अपने मत के समर्थन में निश्चयात्मक धारणाएं उपस्थित करते हैं। शब्द सर्वदा विद्यमान रहता है, क्योंकि इसका उच्चारण केवल इसे औरों के प्रति व्यक्त करने के प्रयोजन से ही होता है। अविद्यमान वस्तु के व्यक्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं होता। फिर, जब 'गाय' शब्द उच्चारण किया जाता है तो सदा ही इसे पहचान लिया जाता है कि यह वही शब्द है। लोग 'गाय' शब्द को तीन या चार बार उच्चारण करने की बात कहते हैं, वे ऐसे तीन या चार शब्दों को उच्चारण करने की बात नहीं कहते। यह शब्द एकत्व अथवा नित्यस्वरूप का प्रतिपादन करता है। अनित्य वस्तुओं के नाश के कारण पाए जाते हैं, किन्तु हमें शब्दों के विनाश के ऐसे कारण नहीं मिलते। वायु से उत्पन्न ध्वनि उस शब्द से

अभिमत अभिहितान्वयवाद के अनुसार, अर्थ का ज्ञान शब्दों के कारण होता है। किन्तु यह ज्ञान स्मरण अथवा बोधग्रहण के कारण नहीं है, बल्कि द्योतन के कारण है। शब्द अर्थों को प्रकट करते हैं, जो संयुक्त होने पर एक वाक्य का ज्ञान देते हैं।

1. 1 : 1, 6-17।

भिन्न है जिसे व्यक्त करने के लिए इसका उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त, हमे अनेको वैदिक मन्त्र ऐसे मिलते है जो शब्द के नित्यस्वरूप पर बल देते है।[1]

शब्द वर्गो (जातियो) को प्रकट करते है, विशिष्ट व्यक्तियो को नही। जब हम कहते है कि 'एक गाय लाओ' तो हमारा अभिप्राय किसी विशिष्ट गाय से नही होता, बल्कि ऐसे किसी भी पशु से होता है जिसमे गाय के समान लक्षण विद्यमान हो। शब्द वर्ग अथवा रूप को प्रकट करता है, क्योकि इसका उद्देश्य क्रिया है।[2] यदि शब्दो द्वारा व्यक्ति-विशेषो का द्योतन होता, तो 'गाय' के समान एक जातिगत भाव असम्भव हो जाता। फिर, एक शब्द सब व्यक्तियो का द्योतन नही कर सकता, क्योकि उस अवस्था मे इसमे इतनी ही क्षमताए अन्तर्निहित रहनी चाहिए जितने कि व्यक्ति-विशेष है। यह व्यक्तियो के समूह का भी द्योतक नही हो सकता, क्योकि उस अवस्था मे यह परिवर्तित होने लगेगा, क्योकि समूह मे से कुछ व्यक्ति नष्ट हो जाएगे और कुछ उसमे नये आ जाएगे। फिर, यदि शब्द का तात्पर्य एक व्यक्ति से ही हो तो शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध नही हो सकता और क्रिया असम्भव होगी, क्योकि यह निश्चय करना कठिन होगा कि किस व्यक्ति-विशेष से तात्पर्य है। यदि द्योतित पदार्थ व्यक्ति-विशेष हो, तो क्योकि वे सर्वत्र उपस्थित नही है, इसलिए शब्द और उसके अर्थ मे कोई सम्बन्ध नही हो सकता। आकृति नित्य है और इसलिए यह नित्य जगत् के साथ सम्बन्ध रखने योग्य है। शब्द और उनके अर्थ तो नित्य हैं, किन्तु इस बात की सम्भावना है कि हमे उनके विषय मे भ्रात धारणाए हो, और मानवीय उच्चारण त्रुटिपूर्ण हो सकते है। किन्तु वैदिक शब्दो के विषय मे ऐसी सम्भावना नही है।

मीमासक उस मत का विरोध करते है जो वेदो को ईश्वर की कृति मानता है। उनका मत है कि वेदो का स्वाधिकार से नित्य अस्तित्व है। ईश्वर, जो अशरीरी है, वाग् इन्द्रिय के अभाव मे वेद के शब्दो का उच्चारण नही कर सकता। यदि यह कहा जाए कि वह दिव्य वाणी को प्रकट करने के लिए मानवीय रूप धारण कर लेता है, तो वह भौतिक जीवन के सब प्रतिबन्धो के अधीन हो जाएगा और उसकी वाणी मे कोई प्रामाणिकता न रहेगी। इसके अतिरिक्त, दैवीय अथवा मानवीय रचयिता (वेदो के) होने की कोई परम्परा भी नही है। यहा तक कि जगत् की सृष्टि-सम्बन्धी प्रकल्पना के आधार पर भी वेदो को इन अर्थो मे नित्य माना जा सकता है कि जगत् का स्रष्टा हरएक मन्वन्तर के प्रारम्भ मे स्मृति से विगत सृष्टि के वेदो को फिर से दोहराता है, और उनकी शिक्षा देता है।[3] विरोधरूप मे कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि वेद मनुष्यो के बनाए हुए है, क्योकि

1 1 18 23।

2 आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् (1 3, 33)।

3 एव स्रष्टुर्वेदपूर्वत्व साधयता न किञ्चिदुत्तर भवति, तेन सत्यपि सर्गे, सुप्तप्रबुद्धन्यायेन अनादिरेव वेदव्यवहार (न्यायरत्नाकर)। नैयायिक मीमासा के मत का विरोध करते हैं। (1) वेद का कोई शरीरधारी रचयिता होने की परम्परा मे सम्भव है विश्व के पिछले प्रलयकाल मे व्याघात आ गया हो। (2) यह सिद्ध करना असम्भव होगा कि किसी को भी कभी भी ऐसे रचयिता का स्मरण नही रहा। (3) वेदो मे वाक्यो का रूप वैसा ही है जैसाकि अन्य वाक्यो का होता है। (4) गुरु से शिष्य को पहुचने की वेद की जो वर्तमान परिपाटी है उसके आधार पर किया गया यह अनुमान कि यह परिपाटी अवश्य ही अनादिकाल से चली आई है, टिक नही सकता, क्योकि यह चीज इसी तरह

उनके रचयिता ऋषियों के नाम मंत्रों के प्रारंभ में दिए गए हैं, इसके उत्तर में कहा जाता है कि ऋषियों ने मन्त्रों का विशेष अध्ययन किया और औरों को उनकी शिक्षा दी। वेदों की रचना नहीं हुई है, इन अर्थों मे कि उनपर न तो ईश्वर का और न ऋषियों का ही नियन्त्रण है। ऋषि अधिक से अधिक सत्यों का बोध ग्रहण करते हैं तथा उनका प्रसारण करते हैं।[1]वेदों की प्रामाणिकता की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि उनमें ऐतिहासिक नामों का उल्लेख मिलता है। उत्तर में यह कहा जाता है कि ऋचाएं प्राकृतिक नित्य घटनाओं का प्रतिपादन करती हैं। उनमे आए हुए नाम सार्वभौमिक उपयोग के लिए हैं और उनका कोई ऐतिहासिक सन्दर्भ नहीं है। विश्वामित्र का अर्थ है विश्वमात्र का मित्र, और इसका किसी ऐतिहासिक पात्र से तात्पर्य नहीं है।

7. उपमान प्रमाण

सादृश्य सम्बन्धी निर्णय उपमान प्रमाण के द्वारा होते हैं। जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं और उसे देखकर अन्य पदार्थ का स्मरण करते हैं, तो इस देखे गए पदार्थ के साथ स्मृत पदार्थ के सादृश्य का जो ज्ञान हमे होता है वह उपमान प्रमाण के साधन से हुआ कहलाता है। वह गाय जिसे मैंने शहर मे देखा था इस गाय के समान है जिसे मैं अब देखता हू।[2] उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान उस ज्ञान से भिन्न है जो प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होता है, क्योंकि हम स्मृति द्वारा किसी ऐसी वस्तु का बोध ग्रहण करते है जो इन्द्रियों के सम्पर्क मे नहीं है, क्योंकि जिस समय गवय दिखाई दिया उस समय गाय नहीं देखी गई। यह अनुमान से भिन्न है, क्योंकि अनुमान के लिए आवश्यक अवयवों में से एक अवयव भी यहां उपस्थित नहीं है।

8. अर्थापत्ति

जहा किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष की व्याख्या करने के लिए एक अन्य वस्तु की कल्पना आवश्यक हो तो वह 'अर्थापत्ति' का विषय है। यह अनुमान से भिन्न है, क्योंकि इस विषय मे दृष्टिगत तथ्यों के अन्दर संशय का एक अंश प्रविष्ट होता है, जिसका निराकरण अन्य वस्तु की कल्पना के बिना नहीं हो सकता। जब तक कल्पना नहीं की जाती, देखे गए तथ्य असंगत अथवा संदिग्ध बने रहते हैं। अनुमान मे लेशमात्र संशय के लिए भी स्थान नहीं है। जहा प्रभाकर का यह मत है, वहा कुमारिल का कहना है कि जो दो तथ्य प्रकट रूप मे असंगत प्रतीत होते हैं उनके समन्वय मे अर्थापत्ति से सहायता मिलती है। अनुमान मे, सुनिश्चित तथ्यों के बीच इस प्रकार की कोई असंगति नहीं होती।

अन्य किसी पुस्तक के सम्बन्ध मे भी लागू हो सकती है। (5) वस्तुत. वेद एक शरीरधारी रचयिता का बना हुआ समझा जाता है। (6) शब्द नित्य नहीं है, और जब हम अक्षरों को पहचानते हैं कि ये वही हैं जो पहले सुने थे तो यह न तो तादात्म्य को और न नित्यत्व को ही सिद्ध करता है, बल्कि केवल यही सिद्ध करता है कि ये उसी वर्ग के हैं जिस वर्ग के शब्द हमने पहले सुने थे। देखिए सर्वसंग्रह, 12।

1. देखिए मीमांसासूत्र, 1 : 1, 24-21। वेदों के अपौरुषेयत्व के विषय में पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त के विचार लगभग एकसमान हैं। तुलना कीजिए भामती : 'पुरुषास्वातन्त्र्यमात्रमपौरुषेयत्वं रोचयन्ते जैमिनीया अपि तच्चास्माकमपि समानम्…' (1 : 1, 3)।

2. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 208।

कुमारिल का विचार अधिक निर्दोष है, क्योंकि देखे गए तथ्य के विषय मे यदि कोई संशय है तो वह अर्थापत्तिपरक तर्क की प्रामाणिकता को संदिग्ध बना देगा। जब तक हमे यह निश्चय न हो कि अमुक पुरुष जीवित है और घर पर नही है, तब तक हम यह कल्पना नही कर सकते कि वह कहीं और है।

9 अनुपलब्धि

वृत्तिकार का अनुसरण करते हुए, कुमारिल अनुपलब्धि को ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन स्वीकार करता है।[1] सादृश्य का अभाव ही असादृश्य है और अनुपलब्धि का सिद्धान्त इसका समाधान कर देता है। हम जब कहते है, "इस स्थान पर घडा नही है", तो हम घडे के अभाव का बोध ग्रहण करते है। अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नही हो सकता, क्योंकि उसमे एक उपस्थित पदार्थ के साथ इन्द्रिय-सम्पर्क होना आवश्यक है, जो इस विषय में सम्भव नही है।[2] अन्य प्रमाणो द्वारा भी अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। अनुपलब्धि ऐसे पदार्थ के सम्बन्ध मे जिसका निषेध बताया गया है, ज्ञान का एक साधन (मानम्) है। हम खाली जगह का प्रत्यक्ष करते है और घडे के अभाव के विषय मे विचार करते हैं। हम कह सकते है कि घडे के अभाव का भी प्रत्यक्ष उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार कि खाली जगह का हुआ, तो भी, क्योंकि प्रत्यक्ष मे किसी वास्तविक पदार्थ का इन्द्रियो के साथ सम्पर्क निहित है, हम अनुपलब्धि की क्रिया को और प्रत्यक्ष ज्ञान को एक समान नही मान सकते। हम खाली जगह को प्रत्यक्ष देखते है, उस घडे का स्मरण करते है जो अनुपस्थित है, और तब हमे घडे के अभाव का ज्ञान होता है जिसका प्रत्यक्ष की क्रिया से कोई सम्बन्ध नही है। अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा होता है।[3] अभाव को ज्ञान का एक विध्यात्मक विषय कहा गया है।[4] जिसे हम खालीपन कहते है, वह ऐसा स्थान है जिसे किसी पदार्थ ने घेर नही रखा है।[5]

प्रभाकर अनुपलब्धि को ज्ञान का स्वतन्त्र साधन स्वीकार नही करता। किसी ऐसी वस्तु के अभाव का बोध जो यदि उपस्थित होती तो प्रत्यक्ष का विषय होती। उसके अप्रत्यक्ष से (न दिखाई देने से) अनुमान किया जाता है। जब हम केवल जगह को देखते हैं और वहा पर घडे को नही देखते, तो हम कहते हे कि घडा नही है। अधिष्ठान का बोध अपने-आपमे (तन्मात्रधि) अनुपलब्धि का समाधान करता है।[6] कुमारिल इस विचार से असहमत है। हम केवल रिक्त स्थान को ही नही, बल्कि उस स्थान को पुस्तको तथा कागज से भरपूर भी देख सकते है, और वह भी हमे घडे के अभाव का ज्ञान देगा। यदि हम कहे कि हम घटरूप उपाधि से रहित स्थान का ज्ञान प्राप्त करते है, तो हम निषेधात्मक ज्ञान को स्वीकार कर लेते हैं। केवल भूमि के प्रत्यक्ष ज्ञान मे घडे के अभाव का ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता, क्योंकि जहा घडा हे वहा भी भूमि का प्रत्यक्ष तो होता ही है। इसलिए भूमि का प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य ही निषेधात्मक उपाधि से युक्त होना चाहिए, और इसका तात्पर्य यह हे कि हमारे समक्ष पहले से निषेध का भाव उपस्थित है।

1 1 : 1, 5 पर शबर को देखिए। 2 श्लोकवार्तिक, अभाव परिच्छेद।
3 शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 234 से आगे।
4 श्लोकवार्तिक, निरालम्बनवाद, 40।
5. वस्त्वन्तरैकसंसृष्ट पदार्थ शून्यताधिय (112)।
6 प्रभाकर के इस मत की आलोचना दण्डनखण्डखाद्य, 4 : 21, मे की गई है।

10. प्रभाकर की ज्ञान-विषयक कल्पना

प्रभाकर त्रिपुटीसंवित् का पक्षपोषक है, जिसके अनुसार ज्ञान के प्रत्येक कर्म में ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान तीनों एक ही समय में प्रस्तुत रहते हैं। ज्ञान अपने को तथा ज्ञाता और ज्ञेय को भी प्रकट करता है। 'मैं इसे जानता हूं' (अहम् इदं जानामि) इस चैतन्य में हमारे पास तीन प्रस्तुत पदार्थ हैं, 'मैं' अथवा विषयी (अहंवित्ति), इसे अथवा विषय (विषयवित्ति), और चेतन अभिज्ञता (स्वसंवित्ति)।[1] समस्त चैतन्य एक ही समय में आत्मचैतन्य भी है और विषयचैतन्य भी।[2] सब बोधों में, चाहे वे आनुमानिक हों या शाब्दिक, आत्मा मन के कर्तृत्व तथा सम्पर्क से साक्षात् जानी जाती है। बोध-सम्बन्धी प्रत्येक क्रिया में आत्मा का तो सदा सीधा और तात्कालिक बोध होता है, किन्तु अनात्म अर्थात् विषय (पदार्थ) का सदा सीधा और तात्कालिक बोध नहीं होता। स्मृति और अनुमान में विषय (पदार्थ) सीधा चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाता। यद्यपि परोक्ष ज्ञान में पदार्थ सीधा चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाता, तो भी परोक्ष ज्ञान स्वयं सीधा चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।[3] बोध भी सीधा ज्ञान के द्वारा आत्मज्ञात है। बोध को जो प्रकाश-स्वरूप है, अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता व्यक्त होने के लिए नहीं होती। इसलिए बोध को स्वतोज्ञात कहा जाता है। बोध प्राप्त करने वाली आत्मा तथा ज्ञात पदार्थ प्रकाशस्वरूप नहीं हैं, और इसलिए उन्हें अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपने से अतिरिक्त किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता रहती है जो प्रकाश-स्वरूप हो। बोध स्वतः प्रकाशित हैं और उनका प्रत्यक्ष पदार्थों की भांति नहीं होता।[4] उनका बोध अन्य बोधों से नहीं होता। वे कभी भी विषय (प्रमेय) नहीं हैं, और इसलिए सुख-दुःख की भांति उनका बोध नहीं होता। उनका बोध बोधों के रूप में होता है, विषयों के रूप में नहीं।[5] यदि बोधों का बोध प्रमेय पदार्थों के रूप में हो, तो हर एक बोध को अपने बोध के लिए अन्य बोध की आवश्यकता होगी, और इस सिलसिले का कहीं अन्त न होगा। प्रभाकर अनुभव करता है कि उसकी प्रकल्पना प्रकटरूप में शबर के इस कथन से संगत नहीं है कि ज्ञान ग्रहण करने में हम पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं, बोधों का नहीं, और इसलिए वह तर्क उपस्थित करता है कि यद्यपि बोध स्वतः प्रकाशित है, तो भी उनकी उपस्थिति अनुमान से जानी जाती है। अनुमान इस तथ्य से कि हमें पदार्थ का बोध हुआ, हमें बतलाता है कि बोध का अस्तित्व है। यह बोध एक

1. कुछ पाश्चात्य विचारकों का सुझाव भी इसी मत की ओर है। हैमिल्टन के अनुसार, ज्ञान की क्रिया का इस प्रकार के सूत्र में अभिव्यक्त किया जा सकता है, "मैं जानता हूं।" चैतन्य की क्रिया का इस प्रकार के सूत्र में अभिव्यक्त किया जा सकता है, "मैं जानता हूं कि मैं जानता हूं"। परन्तु जिस प्रकार हमारे लिए जानना असम्भव है बिना साथ-साथ यह जाने कि हम जानते हैं, उसी प्रकार बिना हमारे 'वस्तुतः' जाने हुए यह जानना भी असम्भव है कि हम जानते हैं। फेरियर से भी तुलना कीजिए 'मैं जान सकूं, इसके लिए यह आवश्यक है कि मैं अपने चैतन्य से अभिज्ञ होऊं कि मैं यह जान सकूं कि मैं जानता हूं।" "परिणाम यह निकलता है कि चेतना की क्रिया अपनी और विचार करनेवाले विषयी की यथार्थता को सिद्ध करती है" (नो दाइसैल्फ, पृष्ठ 5)

2. क्योंकि प्रगाढ़ निद्रा में हमें पदार्थों का कुछ ज्ञान नहीं होता, इसलिए हमें आत्मा का ज्ञान नहीं होता, यद्यपि वह विद्यमान रहती है। यदि प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा विद्यमान न रहती, तो हम निद्रा से जागने पर अपने-आपको भी न पहचान सकते (प्रकरणपंचिका, पृष्ठ 59)।

3. वही पृष्ठ 56।

4. तुलना कीजिए इसके साथ एलेक्जेण्डर द्वारा किए गए भोग तथा विचार के भेद की (स्पेस, टाइम एण्ड डेइटी, खण्ड 1, पृष्ठ 12-13)।

5. संवित्तयैव हि संविद् संवेद्या न संवेद्यतया।

प्रमेय है अर्थात् सत्यज्ञान का विषय है, किन्तु यह सवेद्य अर्थात् अपनी पूर्णता मे जाना गया पदार्थ नही है। प्रभाकर के अनुसार, सवेद्य की अवस्था हमारे सामने केवल तभी होती है जबकि पदार्थ का रूप अभिव्यक्त हो, और यह इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष जाने गए पदार्थों के विषय मे ही सम्भव है। क्योकि बोधो का कोई रूप नही है, इसलिए उनका प्रत्यक्ष नही हो सकता। उनकी उपस्थिति केवल अनुमान द्वारा जानी जाती है। अनुमान पदार्थ के रूप का अथवा वस्तुतत्त्व का ज्ञान नही कराता, बल्कि केवल इसके अस्तित्व का ज्ञान कराता है।[1] प्रभाकर और कुमारिल दोनो स्वीकार करते हैं कि बोध, जो आत्मा के परिणाम है, अनुमान के विषय है।

ज्ञान की प्रामाणिकता का निर्णय किसी बाह्य वस्तु द्वारा नही होता। बाह्य पदार्थों की पुनरावृत्ति का प्रश्न नही है। बोध की प्रामाणिकता उस बल से लक्षित होती है जिससे समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान हमे बाह्य जगत् मे क्रिया करने की प्रेरणा करता है। समस्त ज्ञान हमारे अन्दर इस विशिष्ट प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है और किसी परवर्ती अनुभव की मध्यस्थता की प्रतीक्षा नही करता। एक बोध जो एक पदार्थ का ज्ञान ग्रहण करता है अप्रामाणिक नही हो सकता। यदि बोध अपने मे प्रामाणिक न होते तो हम अपने बोधो मे विश्वास न कर सकते। प्रामाणिकता का भाव मौलिक है और प्राप्त किया हुआ नही है। जबकि ज्ञान स्वत प्रकाशित है, यह प्रामाणिकता ज्ञान के साधनो से प्राप्त की हुई है। ज्ञान की अवस्थाए भी उसकी प्रामाणिकता-सम्बन्धी चेतना को उत्पन्न करती है।[2]

प्रभाकर ज्ञान को प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक रूप मे विभक्त करता है। अनुभूति अथवा साक्षात् ज्ञान प्रामाणिक है, और स्मृति अप्रामाणिक है। "प्रामाणिक बोध अथवा ज्ञान स्मरण से भिन्न है, क्योकि स्मरण को पूर्वज्ञान की आवश्यकता होती है।"[3] पूर्वज्ञान पर निर्भरता ही स्मृति की अप्रामाणिकता का कारण है। ऐसे बोध जो विषय से परोक्षरूप से सम्बन्ध रखते हैं, अप्रामाणिक है। प्रभाकर और कुमारिल दोनो ने ही विषय के पूर्वज्ञान के अभाव को प्रामाणिक ज्ञान की कसौटी माना है, यद्यपि कुमारिल असगतियो के अभाव पर भी बल देता है। समस्त ज्ञान प्रामाणिक है और हमे कर्म करने की प्रेरणा करता है।

जिसे विपर्यय कहा जाता है वह मिथ्याज्ञान नही है। यदि समस्त बोध स्वप्रकाश है और इसलिए यथार्थ है, तो 'यह चादी है' इस निर्णय मे जो चेतना अभिव्यक्त होती है वह भी भ्रात नही हो सकती। जब हम सीप को भूल से चादी समझ लेते है तो यह भूल उसके अन्तर्गत दो भिन्न-भिन्न तत्त्वो मे—अर्थात् चादी के विचार और 'यह' के सस्कार मे—भेद न करने के कारण है। हम प्रत्यक्ष देखे गए तथा स्मरण किए गए तत्त्वो को एक मनोविकृति मे मिश्रित कर देते हैं। बोध का विषय वह वस्तु है जो चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। 'वह चादी है' इसमे चैतन्य को जो प्रस्तुत किया गया है, वह 'चादी' है, 'सीप' नही है। हम सीप का बोध चादी के रूप मे नही करते क्योकि सीप

1 नाप्यनुमाना रूपग्रहण सन्मात्रग्राह्यनुमान भवति।

2 गगेश अपने तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ म इस मत की आलोचना इस आधार पर करता है कि यदि ज्ञान की प्रामाणिन ज्ञान की सामान्य अवस्थाओ से उत्पन्न होती, तो अप्रामाणिक ज्ञान मे भी प्रामाणिकता ज्ञान रहता, क्योकि दोनो की वही अवस्थाए है। फिर यदि ज्ञान स्वय प्रकट होता तो सदिग्ध बोध की व्याख्या करना कठिन होता।

3 प्रमाणम् अनुभूति सा स्मृतेरन्या न प्रमाण स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात् (प्रकरणपचिका, पृष्ठ 42, झा प्रभाकरमीमासा, 2)।

कभी भी चैतन्य के अन्दर प्रविष्ट नहीं हुआ। जिस विचार का स्मरण किया जाता है वह तथ्य के अनुकूल नहीं होता, क्योंकि 'यह चांदी है' इस प्रकार के निर्णय का, जब ज्ञाता सीप के टुकड़े को उठाता है तो 'यह तो केवल एक सीप का टुकड़ा है,' इस निर्णय द्वारा निराकरण हो जाता है। यह भूल प्रस्तुत तथा स्मृत तत्त्व में भेद न रख सकने, अर्थात् अख्याति, के कारण है। प्रत्यक्ष देखा गया तत्त्व 'यह' और स्मरण किया गया तत्त्व 'चांदी' तत्त्व हैं, केवल मात्र दोनों में जो भेद है उसकी 'अख्याति' है। यह अख्याति ज्ञानेन्द्रियों के कुछ दोषों के कारण है और सीप तथा चांदी के सादृश्य के संकेत के कारण है, जो पूर्वज्ञात चांदी के मानसिक संस्कार को जगा देता है। प्रस्तुत तथा स्मृत तत्त्वों के भेद की यह अनभिज्ञता हमें क्रिया के प्रति अग्रसर करती है। वास्तविक अनुभव में चांदी के प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक बोध में कोई भेद नहीं है, क्योंकि कर्ता में दोनों ही उसी एक प्रकार की कार्यशीलता को जन्म देते हैं।[1]

> अन्य सम्प्रदायों ने इस प्रकल्पना की आलोचना की है। "प्रत्यक्षीकृत तथा स्मृत बोध दोनों चैतन्य में प्रकट होते हैं या नहीं? यदि नहीं प्रकट होते तो वे विद्यमान नहीं हैं और यदि प्रकट होते हैं तो दोनों के भेद का प्रत्यक्ष न होना असम्भव है।"[2] यह प्रकल्पना इस तथ्य की व्याख्या करने में असमर्थ है कि जब तक भूल विद्यमान रहती है, तब तक चैतन्य के समक्ष वास्तविक प्रस्तुति होती है, केवल स्मृतिरूप आकृति नहीं होती। स्मृतिप्रमोष का कारण बतलाना कठिन है, जो साक्षात् प्रस्तुति की भ्रांति को जन्म देता है।[3] गंगेश का तर्क है कि भेद की अचेतनता उस क्रियाशीलता का कारण नहीं हो सकती जिसकी ओर मनुष्य प्रेरित होता है। प्रस्तुत तत्त्व, अर्थात् सीप का ज्ञान, जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य की इच्छा नहीं है, विरुद्ध प्रतिक्रिया की ओर ले जाएगा और स्मृत चांदी का ज्ञान क्रियाशीलता की ओर ले जाएगा, तथा दोनों के मध्य भेदविषयक अचेतनता का परिणाम निश्चेष्टता होगा। यह समझना कठिन है कि किस प्रकार अचेतनता किसी को क्रियाशीलता के लिए प्रेरित कर सकती है।[4]

प्रभाकर का यह मत कि प्रत्येक ज्ञान की क्रिया में विषय, विषयी और विषय का ज्ञान व्यक्त होते हैं, मनोविज्ञान के साक्ष्य के अनुकूल नहीं है। जब हम किसी विषय (पदार्थ) को जानते हैं तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं है कि साथ-साथ ज्ञान की विषय-वस्तु में मेरा भी उल्लेख रहे। यदि व्यक्ति दूषित मनोवृत्ति का नहीं है तो सम्भावना यही है कि इसमें अहं का कोई उल्लेख सम्मिलित न होगा। प्रभाकर भूल से परवर्ती विचार के साक्ष्य को ही प्रत्यक्ष का साक्ष्य मान लेता है। जब कोई व्यक्ति अपने पदार्थ-विषयक ज्ञान के विषय में विचार करता है तो उसके विचार में विषय और विषयी दोनों उपस्थित हैं। हम किसी वस्तु के विषय में ज्ञात वस्तु के रूप में तब तक विचार नहीं कर

1 जब हम निर्णय में कहते हैं कि "सीप पीतवर्ण है" तो इसमें स्मृति का कोई अंश समाविष्ट नहीं है। यदि हम सीप के अन्दर पीलेपन को देखते हैं, भले ही यह आंख के दोष से ही क्यों न हो, तो यह निर्णय प्रामाणिक है, जब तक कि आगे के बोध से इसका प्रत्याख्यान नहीं होता।

2 देखिए पण्डित न्यायमृत, खण्ड 12, पृष्ठ 109।

3 विवरणप्रमेयसंग्रह, 1 : 1।

4 तत्त्वचिन्तामणि।

सकते जब तक कि उसके साथ ज्ञाता का भी सम्बन्ध न रहे। परन्तु कोई कारण नही है कि क्यो कोई व्यक्ति वस्तु के विषय मे उसके ज्ञात वस्तु के रूप मे विचार किए बिना विचार न करे। चिन्तन की क्रिया जो विचार मे पदार्थों के केवल निरीक्षण से एक उच्चतर स्थिति को प्रस्तुत करती है, हमे ज्ञान के उपलक्षणो के विषय मे बताती है। प्रभाकर का विश्वास है कि हम बिना यह जाने कि हम जानते हे, नही जान सकते।[1] प्रतीत होता है कि वह "मैं जानता हू" और "मैं जानता हू कि मैं जानता हू" इनमे जो भेद है उसे स्वीकार नही करता। फिर यदि बोध स्वत प्रकाश हो तो पदार्थ बोध की अभिव्यक्तियो के रूप मे प्रकट होगे, यथार्थ पदार्थों के रूप मे नही, और इस प्रकार हम विषयी विज्ञानवाद मे आ पडते है।[2] विषयीविज्ञानवाद मे बचने के लिए प्रभाकर यह मत प्रकट करता है कि स्वत प्रकाशित बोध भी अनुमान से जाने जाते है। शबर के इस कथन पर कि बोधो का नही अपितु पदार्थो का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाता है, टिप्पणी करते हुए वह कहता हे कि इससे परिणाम यह निकलता है कि बोधो का ज्ञान केवल अनुमान से होता है।[3] किन्तु यह बोधो के स्वत प्रकाशत्व का विरोध करता है। शालिकनाथ का सुझाव है कि अनुमान से जो बोध होता है वह मन का आत्मा के साथ सम्पर्क हे, जो चैतन्य को उत्पन्न करता है।[4] यदि यही सब कुछ है, जिसका अनुमान किया जाता है, तो यह कहना अनुचित हे कि बोधो का अनुमान किया जाता हे। जब तक यह कहा जाएगा कि बोध स्वत प्रकाशित हैं, विषयीविज्ञानवाद का तब तक भय बना ही रहेगा। प्रभाकर हमे यह नही बताता कि ज्ञान का स्वरूप क्या हे, केवल यही कहता है कि स्वत प्रकाश इसका लक्षण है। वह ज्ञान की परमसत्ता पर बल देता हे, और आनुषगिक रूप मे यह प्रतिपादन करता हे कि स्वय ज्ञान के अन्दर विषयी तथा विषय का अर्थ किस प्रकार आ जाता है। यदि उसने इस प्रकल्पना के उपलक्षणो का परिष्कार किया होता तो वह अपनी द्वैतपरक पूर्वकल्पनाओ को त्याग देने की ओर बढ सकता था।

11 कुमारिल की ज्ञानविषयक प्रकल्पना

ज्ञान एक गति है जो आत्मा की क्रियाशीलता से उत्पन्न होती है और जो वैपयिक वस्तुओ के चैतन्य की उत्पत्ति मे परिणत होती है। किसी पदार्थ का बोध आगे उक्त बोध के बोध मे परिणत न होकर पदार्थ की प्रकटता मे परिणत होता है।[5] किसी भी ज्ञान की क्रिया मे चार अवयव होते है (1) ज्ञाता, (2) ज्ञेय, (3) ज्ञान का साधन (ज्ञानकरण), और (4) ज्ञान का परिणाम (ज्ञातता)। कुमारिल के अनुसार, बोध का सीधा प्रत्यक्ष नही होता, बल्कि वह बोध से उत्पन्न प्रकटता (ज्ञातता) से अनुमान किया जाता है।[6] बोध की

1 इटली के विचारक बोनाटेली की भी सम्मति यह है कि किसी तथ्य के ज्ञान के अन्दर तथ्य का ज्ञान और ज्ञान का तथ्य एकसाथ रहते हैं।

2 श्लोकवार्तिक, शून्यवाद, 233।

3 अत सिद्धमानुमानिकत्व बुद्धे ।

4 प्रकरणपचिका, पृष्ठ 63।

5 तुलना कीजिए इटालियन विचारक रॉसमिनि के साथ, जो कहता है कि यद्यपि बोध की प्रत्यक्ष क्रिया हमे पदार्थ का ज्ञान कराती है, जिसके अन्दर इसका अन्त हो जाता है पर कोई भी क्रिया हमे अपना ज्ञान नही कराती। देखिए फिलासोफिकल रिव्यू, जुलाई 1922, पृष्ठ 400।

6 ज्ञाततानुमेय ज्ञानम्। और देखिए, 1 1, 1 पर शबर।

प्रत्येक क्रिया में द्रष्टा तथा दृश्य वस्तु के मध्य एक सम्बन्ध हमें कर्ता की क्रिया का अनुमान करने योग्य बनाता है, जो ज्ञान के विषय में बोध है। ज्ञाता तथा ज्ञेय के सम्बन्ध से [illegible] होता है जिसका ज्ञान मानस-प्रत्यक्ष में होता है। यदि यह दूसरा ज्ञान-

के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। चैतन्य को यहां एक प्रकार की तृतीय वस्तु माना गया है, जो आत्मा और अनात्म का सम्बन्ध जोड़ती है। जिनके मत में समस्त बोध स्वप्रकाश हैं वे भी यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान के अन्तर्गत जो आत्मा और अनात्म का सम्बन्ध है, यह मानस-प्रत्यक्ष का विषय है। "घड़ा मेरे द्वारा जाना गया", हम ऐसा नहीं कह सकते, जब तक कि हम ज्ञान प्राप्त करनेवाले आत्मा तथा ज्ञात पदार्थ के सम्बन्ध को और बोध तथा बोध के विषय के पारस्परिक सम्बन्ध को न जानें।[1] यदि बोध अथवा चैतन्य स्वत.प्रकाश हैं, और यदि पदार्थ (विषय) चैतन्य से व्यक्त होता है, तो चैतन्य और पदार्थ (विषय) के मध्य जो सम्बन्ध है वह किसके द्वारा व्यक्त होता है? दोनों के बीच का सम्बन्ध उसी बोध द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह बोध के उत्पन्न होने के साथ ही साथ अस्तित्व में नहीं आया। जब बोध उत्पन्न होता है तो यह अपने पदार्थ (विषय) को अभिव्यक्त करता है, और इसलिए दोनों का सम्बन्ध उस बोध का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि बोध क्षणिक होता है, इसलिए हम नहीं कह सकते कि यह पहले पदार्थ को व्यक्त करता है और तब पदार्थ के साथ अपने सम्बन्ध को। न यही कहा जा सकता है कि बोध और पदार्थ का सम्बन्ध स्वत.प्रकाश है, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार कुमारिल के अनुयायी विरोध में कहते हैं कि आत्मा और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध आभ्यन्तर (मानसिक) प्रत्यक्ष का विषय है, जो बोध के अस्तित्व को सिद्ध करता है।[2]

बोध का अस्तित्व बोध के द्वारा अपने विषय के अन्दर उत्पन्न किए गए 'अतिशय' द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।[3] इस अतिशय को उन्हें भी स्वीकार करना होता है जो ऐसा मत रखते हैं कि ज्ञाता, ज्ञात पदार्थ और बोध इन तीनों की अभिव्यक्ति चैतन्य द्वारा होती है (त्रितयप्रतिभासवादिभिः)। कुमारिल, इसलिए कि वह बाह्य पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा कर सके, बोध की स्वतःप्रकाशता का निषेध करता है। न्यायवैशेषिक के अनुयायी उस मत का विरोध करते हैं जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि हम बोध के द्वारा अपने विषय के अन्दर उत्पन्न किए गए अतिशय से बोध का अनुमान करते हैं। बोध को ऐसा न मानना चाहिए कि वह जिसका बोध कराता है उसे परिवर्तित कर देता है। ज्ञात होना पदार्थ का कोई गुण नहीं है, बल्कि एक प्रकार का स्वरूप-सम्बन्ध है जो विषय और बोध के मध्य रहता है।[4]

1. अन्यथा ज्ञातो मया घट इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धो ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धो वा न व्यवहर्तुं शक्यते। शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 158।

2 शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 158 59।

3 *अर्थगतो वा ज्ञानजन्योऽतिशयः कल्पयति ज्ञानम्* (*शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 159*)।

4 बोध का विषय होने के लक्षण के अतिरिक्त ज्ञातता और कुछ नहीं है। विषयज्ञानवाद की परिभाषा करना कठिन है। यदि इसका अर्थ यह है कि विषय से बोध उत्पन्न होता है, तो ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्य अवस्थाओं को भी, जो बोध को उत्पन्न करती हैं, विषय मानना होगा।। फिर, यह सम्भव नहीं है कि किसी विषय में उस समय कोई धर्म (गुण) उत्पन्न हो सके जबकि विषय विद्यमान नहीं है। ज्ञातता विषयों का एक धर्म है, यद्यपि इसे भूत और भविष्यत् के विषयों में उत्पन्न नहीं किया जा

कुमारिल के अनुयायी तर्क करते हैं कि यदि बोध को प्रत्यक्ष-योग्य माना जाए तो इसे भी एक विषय (पदाथ) मानना होगा, जिसे जानने के लिए एक अन्य बोध की आवश्यकता होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कही अन्त न होगा। इसलिए वे बोधो को प्रत्यक्ष के अयोग्य मानते हैं, यद्यपि वे बोध के विषयो को व्यक्त करने मे समर्थ हैं।[1] बोध स्वय अनुमान किया जाता है, जबकि विषय बोध के द्वारा जाने जाते है।

सकता, जिनका कि बोध होता है। इस प्रकार का तर्क कि विषय ज्ञाततारूपी नये धर्म को बोध उत्पन्न होने के बाद ग्रहण कर लेता है, जैसेकि पाकक्रिया चावल के अन्दर पक्वता का गुण उत्पन्न कर देती है, टिक नही सकता, क्योकि हम पक्वता को चावल के अन्दर, जो तण्डुल (कच्चे चावल) से ओदन (पके हुए चावल) के रूप मे परिवर्तित हुआ है, स्पष्ट देखते हैं, किन्तु विषय के अन्दर हम ज्ञाततारूपी धर्म को प्रत्यक्ष नही देखते। इसके अतिरिक्त जब किसी विषय का बोध होता है तो कहा जाता है कि उसके अन्दर एक विशिष्ट धर्म, जिसे ज्ञातता कहते हैं, उत्पन्न होता है, और इस प्रकार जब इस ज्ञातता का बोध हो गया तो उसके अन्दर एक और ज्ञातता उत्पन्न होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कही अन्त न होगा। यदि अनन्त पश्चाद्गति से बचने के लिए ज्ञातता को स्वत प्रकाश मान लें, तो क्यो न हम बोध ही को स्वत:प्रकाश मान लें। यह युक्ति दी जा सकती है कि विषय का अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्यत् तक रहता है किन्तु इसके अस्तित्व का वर्तमान से सम्बन्धरूप मे बोध होता है। ज्ञातता विषय की वह अवस्था है जो वर्तमान से निर्णीत होती है, और इस चिह्न को धारण करने से ही हम बोध का अनुमान करते हैं। किन्तु ऐसा नही है, क्योकि वर्तमान से निर्णीत होने का सम्बन्ध विषय से है और वह बोध से उत्पन्न नही हुआ है, बल्कि केवल जाना गया है। यदि यह तर्क दिया जाए कि बोध का अनुमान विषयो के बोध से होता है (विषयसवेदनानुमेय ज्ञानम्), तो हम पूछ सकते हैं कि बोध समवाय-सम्बन्ध से आत्मा मे रहता है अथवा विषय मे। विषय मे यह नहीं रह सकता, क्योकि वह अचेतन हैं। यदि यह आत्मा में है तो वह कौन-सा बोध है जिसका अनुमान विषयो के बोध से होता है? यदि यह कहा जाए कि विषयो के बोध से जिसका अनुमान होता है वह ज्ञाता की क्रिया (ज्ञातृव्यापार) के रूप मे इसका कारण है, तो हम पूछ सकते हैं कि यह कारण नित्य है अथवा अनित्य। यदि अनित्य है तो उसका कारण क्या है? यदि यह मन के आत्मा के साथ सम्पर्क के कारण है, जो ज्ञानेन्द्रिय के विषय के साथ सम्पर्क मे सहायक होता है, तो क्यो न इन सबको बोध का कारण मान लिया जाए। आत्मा की क्रियाशीलता के रूप मे एक मध्यस्थ कारण की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नही है। यदि यह माना जाए कि यह क्रिया नित्य है, और बोधो का कभी-कभी प्रकट होना सहायक कारणो की वजह से है, तो क्योकि ये बोध को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हैं इसलिए आत्मा की क्रिया की कल्पना करना अनावश्यक है (श्रीधर, न्यायकन्दली, पृष्ठ 96 98)। प्रभाचन्द्र पूछता है कि ज्ञातता पदार्थ का धम है अथवा ज्ञान (बोध) का धर्म है। यह पदार्थधर्म नही हो सकती, क्योकि यह केवल बोध के समय को छोड अन्य किसी समय मे पदार्थ के अन्दर नही रहती, और यह ज्ञाता आत्मा की निजी निधि के रूप मे प्रतीत भी होती है। यह बोधो से भी सम्बद्ध नहीं हो सकती, क्योकि वह बोध जिसका इसे धर्म माना जाए, कुमारिल के मत से, प्रत्यक्ष-योग्य नही है, और जो प्रत्यक्ष योग्य नही है वह बोधो का अधिष्ठान नही हो सकता। दूसरी ओर, यदि ज्ञातता, जो ज्ञान-स्वभाव की है, प्रत्यक्ष-योग्य है तो बोध को भी प्रत्यक्ष योग्य मानना होगा। यदि ज्ञातता अर्थस्वभाव है तो इसका तात्पर्य केवल पदार्थ की अभिव्यक्ति (अर्थप्राकट्य) है। पदार्थ अभिव्यक्त नही हो सकता, यदि बोध, जिनसे पदार्थ व्यक्त होता है, अपने-आपमे अनभिव्यक्त है (प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 31-32)। कुमारिल के अनुसार, घडे का बोध घडे के अन्दर ज्ञातता के गुण को उत्पन्न करता है, जो इस रूप मे प्रत्यक्ष का विषय हो जाता है, "मैंने इस घडे का ज्ञान प्राप्त किया है।" इससे बोध का तथा उसकी प्रामाणिकता का भी अनुमान होता है। न्याय का मत है कि ज्ञान-विषयक चैतन्य (अनुव्यवसाय) तथा प्रामाणिकता का ज्ञान ये क्रमश: होते हैं। किन्तु कुमारिल के विचार में पिछले दोनो युगपत् होते हैं।

1. प्रभाचन्द्र अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ (पृष्ठ 31) में इस मत की आलोचना करता है। प्रमाता, बोध-विषयक क्रिया (प्रमाण), और परिणामरूप बोध (प्रमिति), प्रमेय (विषय) के साथ ही प्रत्यक्ष के योग्य हैं। हम अपने अनुभव में ज्ञान के भिन्न-भिन्न अशो को स्पष्ट रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। न ही यह आवश्यक है कि जिसे प्रत्यक्ष किया है वह सर्वदा प्रत्यक्ष के विषय के रूप मे ही प्रत्यक्ष

प्रत्येक क्रिया में द्रष्टा तथा दृश्य वस्तु के मध्य एक सम्बन्ध हमें कर्ता की क्रिया का अनुमान करने योग्य बनाता है, जो ज्ञान के विषय में बोध है। ज्ञाता तथा ज्ञेय के सम्बन्ध से बोध का अनुमान होता है, जिसका ज्ञान मानस-प्रत्यक्ष से होता है। यदि यह दूसरा अवयव, जो ज्ञाता और ज्ञेय की मध्यस्थता करता है, न होता तो पदार्थ के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हो सकता। ज्ञान के अन्तर्निहित विषयी तथा विषय के विशिष्ट सम्बन्ध से बोध के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। चैतन्य को यहां एक प्रकार की तृतीय वस्तु माना गया है, जो आत्मा और अनात्म का सम्बन्ध जोड़ती है। जिनके मत में समस्त बोध स्वप्रकाश हैं वे भी यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान के अन्तर्गत जो आत्मा और अनात्म का सम्बन्ध है, वह मानस-प्रत्यक्ष का विषय है। "घड़ा मेरे द्वारा जाना गया", हम ऐसा नहीं कह सकते, जब तक कि हम ज्ञान प्राप्त करनेवाले आत्मा तथा ज्ञात पदार्थ के सम्बन्ध को और बोध तथा बोध के विषय के पारस्परिक सम्बन्ध को न जानें।[1] यदि बोध अथवा चैतन्य स्वतःप्रकाश हैं, और यदि पदार्थ (विषय) चैतन्य से व्यक्त होता है, तो चैतन्य और पदार्थ (विषय) के मध्य जो सम्बन्ध है वह किसके द्वारा व्यक्त होता है? दोनों के बीच का सम्बन्ध उसी बोध द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह बोध के उत्पन्न होने के साथ ही साथ अस्तित्व में नहीं आया। जब बोध उत्पन्न होता है तो यह अपने पदार्थ (विषय) को अभिव्यक्त करता है, और इसलिए दोनों का सम्बन्ध उस बोध का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि बोध क्षणिक होता है, इसलिए हम नहीं कह सकते कि यह पहले पदार्थ को व्यक्त करता है और तब पदार्थ के साथ अपने सम्बन्ध को। न यही कहा जा सकता है कि बोध और पदार्थ का सम्बन्ध स्वतःप्रकाश है, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार कुमारिल के अनुयायी विरोध में कहते हैं कि आत्मा और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध आभ्यन्तर (मानसिक) प्रत्यक्ष का विषय है, जो बोध के अस्तित्व को सिद्ध करता है।[2]

बोध का अस्तित्व बोध के द्वारा अपने विषय के अन्दर उत्पन्न किए गए 'अतिशय' द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।[3] इस अतिशय को उन्हें भी स्वीकार करना होता है जो ऐसा मत रखते हैं कि ज्ञाता, ज्ञात पदार्थ और बोध इन तीनों की अभिव्यक्ति चैतन्य द्वारा होती है (त्रितयप्रतिभासवादिभि.)। कुमारिल, इसलिए कि वह बाह्य पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा कर सके, बोध की स्वतःप्रकाशता का निषेध करता है। न्यायवैशेषिक के अनुयायी उस मत का विरोध करते हैं जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि हम बोध के द्वारा अपने विषय के अन्दर उत्पन्न किए गए अतिशय से बोध का अनुमान करते हैं। बोध को ऐसा न मानना चाहिए कि वह जिसका बोध कराता है उसे परिवर्तित कर देता है। ज्ञात होना पदार्थ का कोई गुण नहीं है, बल्कि एक प्रकार का स्वरूप-सम्बन्ध है जो विषय और बोध के मध्य रहता है।[4]

1. अन्यथा ज्ञातो मया घट इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धो ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धो वा न व्यवहर्तुं शक्यते। शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 158।

2 शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 158 59।

3. अर्थगतो वा ज्ञानजन्योऽतिशयः कल्पयति ज्ञानम् (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 159)।

4 बोध का विषय होने के लक्षण के अतिरिक्त ज्ञातता और कुछ नहीं है। विषयज्ञानवाद की परिभाषा करना कठिन है। यदि इसका अर्थ यह है कि विषय से बोध उत्पन्न होता है, तो ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्य अवस्थाओं को भी, जो बोध को उत्पन्न करती है [illegible]
नहीं है कि किसी विषय में उस समय कोई धर्म (गुण) [illegible]
है। ज्ञातता विषयों का एक धर्म है, यद्यपि इसे भूत और [illegible]

कुमारिल के अनुयायी तर्क करते है कि यदि बोध को प्रत्यक्ष-योग्य माना जाए तो इसे भी एक विषय (पदार्थ) मानना होगा, जिसे जानने के लिए एक अन्य बोध की आवश्यकता होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कही अन्त न होगा। इसलिए वे बोधो को प्रत्यक्ष के अयोग्य मानते हैं, यद्यपि वे बोध के विषयो को व्यक्त करने मे समर्थ हैं।[1] बोध स्वय अनुमान किया जाता है, जबकि विषय बोध के द्वारा जाने जाते हैं।

सकता, जिनका कि बोध होता है। इस प्रकार का तर्क कि विषय ज्ञाततारूपी नये धर्म को बोध उत्पन्न होने के बाद ग्रहण कर लेता है, जैसेकि पाकक्रिया चावल के अन्दर पक्वता का गुण उत्पन्न कर देती है, टिक नही सकता, क्योकि हम पक्वता को चावल के अन्दर, जो तण्डुल (कच्चे चावल) से ओदन (पके हुए चावल) के रूप मे परिवर्तित हुआ है, स्पष्ट देखते हैं, किन्तु विषय के अन्दर हम ज्ञाततारूपी धर्म को प्रत्यक्ष नही देखते। इसके अतिरिक्त जब किसी विषय का बोध होता है तो कहा जाता है कि उसके अन्दर एक विशिष्ट धर्म, जिसे ज्ञातता कहते हैं, उत्पन्न होता है, और इस प्रकार जब इस ज्ञातता का बोध हो गया तो उसके अन्दर एक और ज्ञातता उत्पन्न होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कही अन्त न होगा। यदि अनन्त पश्चाद्गति से बचने के लिए ज्ञातता को स्वत प्रकाश मान लें, तो क्यो न हम बोध ही को स्वत-प्रकाश मान लें। यह युक्ति दी जा सकती है कि विषय का अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्यत् तक रहता है किन्तु इसके अस्तित्व का वर्तमान से सम्बन्धरूप मे बोध होता है। ज्ञातता विषय की वह अवस्था है जो वर्तमान से निर्णीत होती है, और इस चिह्न को धारण करने से ही हम बोध का अनुमान करते हैं। किन्तु ऐसा नही है, क्योकि वर्तमान से निर्णीत होने का सम्बन्ध विषय से है और वह बोध से उत्पन्न नही हुआ है, बल्कि केवल जाना गया है। यदि यह तर्क दिया जाए कि बोध का अनुमान विषयो के बोध से होता है (विषयसवेदनानुमेय ज्ञानम्), तो हम पूछ सकते हैं कि बोध समवाय-सम्बन्ध से आत्मा मे रहता है अथवा विषय मे। विषय मे यह नही रह सकता, क्योकि वह अचेतन हैं। यदि यह आत्मा मे है तो वह कौन सा बोध है जिसका अनुमान विषयो के बोध से होता है ? यदि यह कहा जाए कि विषयो के बोध से जिसका अनुमान होता है वह ज्ञाता की क्रिया (ज्ञातृव्यापार) के रूप मे इसका कारण है तो हम पूछ सकते हैं कि यह कारण नित्य है अथवा अनित्य। यदि अनित्य है तो उसका कारण क्या है ? यदि यह मन के आत्मा के साथ सम्पर्क के कारण है, जो ज्ञानेन्द्रिय के विषय के साथ सम्पर्क मे सहायक होता है, तो क्यो न इन सबको बोध का कारण मान लिया जाए। आत्मा की क्रिया-शीलता के रूप मे एक मध्यस्थ कारण की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नही है। यदि यह माना जाए कि यह क्रिया नित्य है, और बोधो का कभी-कभी प्रकट होना सहायक कारणो की वजह से है, तो क्योकि ये बोध को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हैं इसलिए आत्मा की क्रिया की कल्पना करना अनावश्यक है (श्रीधर, न्यायकन्दली, पृष्ठ 96-98)। प्रभाचन्द्र पूछता है कि ज्ञातता पदार्थ का धर्म है अथवा ज्ञान (बोध) का धर्म है। यह पदार्थधर्म नही हो सकती, क्योकि यह केवल बोध के समय को छोड अन्य किसी समय मे पदार्थ के अन्दर नही रहती, और यह ज्ञाता आत्मा की निजी निधि के रूप मे प्रतीत भी होती है। यह बोधो से भी सम्बद्ध नही हो सकती, क्योकि वह बोध जिसका इसे धर्म माना जाए, कुमारिल के मत से, प्रत्यक्ष-योग्य नही है, और जो प्रत्यक्ष योग्य नही है वह बोधो का अधिष्ठान नही हो सकता। दूसरी ओर, यदि ज्ञातता, जो ज्ञान-स्वभाव की है, प्रत्यक्ष-योग्य है तो बोध को भी प्रत्यक्ष-योग्य मानना होगा। यदि ज्ञातता अर्थस्वभाव है तो इसका तात्पर्य केवल पदार्थ की अभि-व्यक्ति (अर्थप्राकट्य) है। पदार्थ अभिव्यक्त नही हो सकता, यदि बोध, जिनसे पदार्थ व्यक्त होता है, अपने-आपमे अनभिव्यक्त है (प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 31-32)। कुमारिल के अनुसार, घडे का बोध घडे के अन्दर ज्ञातता के गुण को उत्पन्न करता है, जो इस रूप मे प्रत्यक्ष का विषय हो जाता है, "मैंने इस घडे का ज्ञान प्राप्त किया है।" इससे बोध का तथा उसकी प्रामाणिकता का भी अनुमान होता है। न्याय का मत है कि ज्ञान-विषयक चैतन्य (अनुव्यवसाय) तथा प्रामाणिकता का ज्ञान ये क्रमश होते हैं। किन्तु कुमारिल के विचार मे पिछले दोनो युगपत् होते हैं।

1. प्रभाचन्द्र अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ (पृष्ठ 31) मे इस मत की आलोचना करता है। प्रमाता, बोध विषयक क्रिया (प्रमाण), और परिणामरूप बोध (प्रमिति), प्रमेय (विषय) के समान ही प्रत्यक्ष के योग्य हैं। हम अपने अनुभव मे ज्ञान के भिन्न-भिन्न अशो को स्पष्ट रूप मे प्रत्यक्ष करते हैं। न ही यह आवश्यक है कि जिसे प्रत्यक्ष किया है वह सर्वदा प्रत्यक्ष के विषय के रूप मे ही प्रत्यक्ष

मीमांसक ज्ञान की आत्म-प्रामाणिकता के मत को स्वीकार करते हैं।[1] कुमारिल कहता है कि 'सत्यज्ञान के समस्त स्रोतों में अन्तर्निहित प्रामाणिकता है, क्योंकि एक ऐसी शक्ति जो अपने-आपमें अविद्यमान है, दूसरे के द्वारा उत्पन्न नहीं कराई जा सकती।"[2] ज्ञान में इन्द्रियां, आनुमानिक चिह्न और इसी प्रकार के अन्य मध्यस्थ हो सकते हैं, किन्तु यह विषयों को स्वयं प्रकट करता है[3] और अपनी प्रामाणिकता के भाव को उत्पन्न करता है। यदि हमें तब तक प्रतीक्षा करनी पड़े जब तक कि हम कारणों की विशुद्धता का निश्चय न कर लें, तो हमें तब तक प्रतीक्षा करनी होगी जब तक कि अन्य कारणों से एक और बोध की उत्पत्ति न हो, और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त नहीं है।[4] स्वतः प्रामाण्य के सिद्धान्त का मत है कि बोध अपने-आपमें प्रामाणिक हैं और उनकी प्रामाणिकता का परिहार केवल उनके विषयों के विरोधी स्वरूप से हो सकता है, अथवा उनके

लिया जाए। आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान बोध के रूप में होता है, बोध के विषय के रूप में नहीं। इसलिए बोध का प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष के साधन के रूप में भी हो सकता है। जब कुमारिल के अनुयायी आत्मा की प्रत्यक्षयोग्यता को मान लेते हैं, जो मात्र ज्ञान का कर्ता है, तो वे बोध की प्रत्यक्षयोग्यता को भी स्वीकार कर सकते हैं, जो प्रमेय (विषय) की अभिव्यक्ति का साधन है। यदि आत्मा प्रत्यक्ष-योग्य है तो यह बाह्य पदार्थ को, प्रत्यक्ष के अयोग्य बोध की सहायता के बिना भी, जान सकती है। यदि यह कहा जाए कि कर्ता साधन के बिना कर्म नहीं कर सकता, तो आभ्यन्तर और बाह्य इन्द्रियां बोध के साधन बन सकती हैं। इसके अतिरिक्त, यदि साधन के बिना कोई क्रिया सम्भव नहीं है, तो आत्मा के स्वतः-बोध में कौनसा साधन है ? यदि आत्मा के बोध में आत्मा साधन है, तो यह पदार्थों के बोध में भी साधन का कार्य कर सकती है। यदि यह स्वीकार कर लिया गया कि आत्मा और परिणामरूप बोध (फलज्ञान) का प्रत्यक्ष होता है, यद्यपि वे चैतन्य में बोध के विषय के रूप में प्रकट नहीं होते, तो यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि बोध के साधन का भी बोध के विषय के रूप में नहीं बल्कि साधन के रूप में, प्रत्यक्ष होता है। फिर साधनरूप बोध (करणज्ञान) कर्ता तथा परिणामरूप ज्ञान (फलज्ञान) से सर्वथा भिन्न नहीं है, और इसलिए यदि अन्य दो प्रत्यक्ष-योग्य हैं तो यह प्रत्यक्ष के अयोग्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, आत्मा और बोध, जिसके द्वारा आत्मा पदार्थ को जानती है हमारे अनुभव में साक्षात् प्रकट होते हैं, और इसलिए ये चैतन्य के विषय माने जाने चाहिए (प्रतीयमानत्व हि ग्राह्यत्व तदेव कर्मत्वम्)। जो कुछ भी चैतन्य में प्रकट होता है वह उसका विषय है। "मैं घड़े को जानता हूं" इस बोध में विषयी अपने विषय में अभिज्ञ है कि वह घड़े के बोध से युक्त है। विषयी का घट-सम्बन्धी बोध उतना ही प्रत्यक्ष का विषय है, जितना कि आत्मा और घट। फिर, यदि ज्ञानोत्पादक क्रिया प्रत्यक्ष के अयोग्य है, तो यह किसी प्रमाण द्वारा भी यथार्थ सिद्ध नहीं की जा सकती।

1 तत्र गुरूणां मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वात् तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्यते। भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्, ज्ञानजन्यज्ञातता प्रत्यक्षा, तया च ज्ञानमनुमीयते। मुरारिमिश्राणां मते अनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। सर्वेषामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते (सिद्धान्तमुक्तावलि, 135)।

2 और देखिए न्यायरत्नाकर, 2 47।

3 "केवल अपने उद्भव के लिए ही विद्यात्मक सत्ताओं को एक कारण की आवश्यकता होती है। जब वे एक बार उत्पन्न हो गई तो वे अपने नानाविध कार्यों के लिए अपने-आप ही क्रियाशील हो जाती हैं" (2, 48)। घड़े को अपनी उत्पत्ति के लिए मिट्टी आदि की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु जल को धारण करने की क्रिया वह स्वयं करता है। बोध को अपनी उत्पत्ति के लिए एक कारण की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु वस्तुओं के सत्यस्वरूप के निश्चय रूपी कार्य के लिए इसे कारणों की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार मीमांसक तर्क करता है कि स्वतःप्रामाण्य तथा इन्द्रिय-सम्पर्क आदि कारणों पर निर्भरता के मध्य परस्पर कोई विरोध नहीं है। साधारणतः ज्ञान के उदय होने के बाद इन्द्रिय सम्पर्क आदि का अनुमान किया जाता है। केवल स्मृति की अवस्था में ही पूर्वानुभव पर निर्भरता प्रकट है।

4 श्लोकवार्तिक, 2 : 49-51।

कारणों की असंगति का पता लग जाने से हो सकता है।[1] जब हम भूलकर एक रस्सी को साप समझ लेते हैं और पीछे ऐसा पाते हैं कि यह रस्सी है साप नहीं है, तो हमारा पहला बोध अप्रामाणिक होकर कट जाता है। जब हम बोध के साधनों के दोषों को पहचान लेते हैं तो हम बोध की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह करते हैं। पीलिया रोग से पीडित व्यक्ति के विचार में सीप पीले रंग की है। किन्तु जब वह आख के दोष को पहचान लेता है, तो वह पीलेपन को आख के दोष के कारण समझता है और यह स्वीकार कर लेता है कि सीप श्वेतवर्ण है। जब तक हमें असगतियों का ज्ञान न हो, तब तक हमारे पास सन्देह करने का कोई युक्तियुक्त आधार नहीं है। बोध बाह्य रूप में या तो अन्य साधनों द्वारा पदार्थ के यथार्थस्वरूप का ज्ञान हो जाने से, या बोध के साधनों के दोषों का पता लग जाने से अप्रामाणिक ठहराए जाते हैं। ज्ञान की मानी हुई अवस्थाओं के कारण प्राप्त हर बोध को प्रामाणिक मानना चाहिए, जब तक कि सन्देह के लिए कोई विशेष कारण न हो। किसी विचार की अप्रामाणिकता कभी भी अन्तर्निहित नहीं होती, वह सदा बाह्य साधनों से जानी जाती है।[2] और सन्देह की अवस्था में भी, जैसे दूरस्थ अथवा धुधले प्रकाश में देखी गई वस्तु की सत्य-प्रकृति के बारे में, हम सन्देह का निवारण सुधरी अवस्थाओं में दूसरा ज्ञान प्राप्त करके कर सकते हैं। यह हो सकता है कि किन्हीं अवस्थाओं में, दूसरे ज्ञान को एक तीसरे ज्ञान से ठीक करना पड़े और कभी-कभी तीसरे को भी चौथे ज्ञान से ठीक करना पड़े। किन्तु अधिकतर अवस्थाओं में एक छोटी सख्या से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है।[3] कुमारिल के अनुसार, तीन या चार बार दुहराया हुआ ज्ञान सर्वथा सत्य सिद्ध होगा।[4]

कुमारिल का विश्वास है कि सीप को चादी मानने का बोध भी बोध के रूप में प्रामाणिक है। ज्ञाता को उस समय बोध हुआ था। बाद के अनुभव से उसका प्रत्याख्यान हो गया, यह दूसरी बात है। यहा तक कि सीप को पीला समझने के बोध में भी आख के पित्तदोष से सम्बन्धित एक यथार्थ पीलेपन का प्रत्यक्ष होता है। सदिग्ध बोध, जैसेकि दूरी पर स्थित एक लम्बे पदार्थ के बारे में हमारी अनिश्चितता कि वह मनुष्य है या खभा, भी प्रामाणिक है, क्योंकि हम लबेपन को प्रत्यक्ष देखते हैं और दो पदार्थों का स्मरण करते

1 श्लोकवार्तिक, 2 53।

2 श्लोकवार्तिक, 2 : 85 और 87। यत्र कारणदोषज्ञान बाधज्ञान वा तत्र मिथ्यात्वम् (शास्त्र-दीपिका, पृष्ठ 142)। ज्ञानस्य प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परत।

3 श्लोकवार्तिक, 2 61।

4 पार्थसारथि का कहना है : बोध के मिथ्या होने के सुविज्ञात कारण ये हैं : कुछ ऐसे दोष जिनका सम्बन्ध स्थान, काल, परिस्थिति, ज्ञानेन्द्रियों, बोध के विषय आदि से होता है। जहा इस प्रकार के दोषों के अस्तित्व को मिटा दिया गया हो, जैसे, उदाहरण के रूप में, जब एक मनुष्य पूर्णरूप से जागरित तथा अपनी क्षमताओं को पूर्णरूप से धारण किए हुए, दिन के उज्ज्वल प्रकाश में अपने समीप रखे हुए घडे को देखता है, तो दोषों के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं उत्पन्न हो सकता है, और इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान के अप्रामाणिक होने का भी कोई विचार नहीं हो सकता। अन्य अवस्थाओं में दोष की सम्भावना हो सकती है, उदाहरणस्वरूप में, विषय (पदार्थ) दूर हो सकता है और इसलिए प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता के विषय में सन्देह उठ सकता है। किन्तु साधारणत एक पग आगे बढने से, पदार्थ तक चलकर जाने से, दो विकल्पों में से—जिनकी एक ही समय में उपस्थिति से सन्देह उत्पन्न हुआ है—कोई एक सत्य के रूप में निर्णीत हो सकता है। और इस साधारण विधि से प्रश्न हल हो सकता है। ज्योंही यह पता चलता है कि सन्दिग्ध दोष का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, वह बोध, जिसकी प्रामाणिकता को इस दोष के कारण सन्देहा गया था, अपने स्वत.प्रामाण्य को बलपूर्वक प्रकट कर सकता है (श्लोकवार्तिक, 2 . 58 और 60-61 पर न्यायरत्नाकर)।

है जो दोनों लेते हैं। भ्रांत ज्ञान या तो अपूर्ण ज्ञान के कारण होता है या अज्ञान के कारण होता है। यह विध्यात्मक मिथ्या ज्ञान के कारण नहीं, बल्कि निषेधात्मक अज्ञान के कारण होता है।[1] पार्थसारथि प्रामाणिक बोध की परिभाषा इस प्रकार करता है कि यह वह ज्ञान है जो असंगतियों से स्वतन्त्र होते हुए पहले से अज्ञात वस्तुओं का बोध कराता है।[2] ज्ञान का जो स्वतःप्रकाश लक्षण है, इस मत से उसका कोई विरोध नहीं होता।[3] यह केवल बोध के स्वरूप का फिर से वर्णन करता है जो अपने स्वभाव से प्रामाणिक है। प्रामाणिकता ज्ञान का धर्म है, यद्यपि हम अपने ज्ञान की सचाई की परीक्षा यह जानकर करते और कर सकते हैं कि यह अन्य ज्ञान के संगत है या उसका विरोधी है। तो भी यह सब सत्य की बाह्य कसौटी है; यह हमें इसके आन्तरिक स्वभाव को प्रकट नहीं करता।

यदि संगति सत्य की प्रकृति है और केवल इसकी कसौटी नहीं है, तो सत्य को प्राप्त करना कठिन होगा, क्योंकि हम दुष्ट चक्र से नहीं बच सकते। कुमारिल और पार्थसारथि हमें कह सकते हैं कि तीन या चार बोधों से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम एक बार यह मान लें कि प्रामाणिकता मध्यस्थ है, तो हम किसी भी बोध की नितान्त प्रामाणिकता के विषय में निश्चित नहीं हो सकते।[4]

मीमांसा की प्रकल्पना के आलोचक बलपूर्वक कहते हैं कि यदि उनके रूप नहीं हैं, तो बोधों के अन्दर भेद करना सम्भव न होगा। क्योंकि एकमात्र वस्तु जो एक बोध को दूसरे बोध से भिन्न करती है वह विषय है, इसलिए बोध के विषय में यह कहा जाता है कि वह विषय का रूप धारण कर लेता है। यह बलपूर्वक कहा गया है कि बोध तथा ज्ञात वस्तु में तादात्म्य है। मीमांसक कहता है कि यदि ज्ञाता आत्मा और ज्ञात वस्तु में तादात्म्य होता, तो ज्ञात वस्तु आत्मा के द्वारा जानी गई है, ऐसा न कहा जाता। और न केवल रूप ही बोधों के अन्दर भेद करने का एकमात्र आधार है। संवेदना, अथवा व्यक्तिविशेष का ज्ञान एक वस्तु है, जो विशेष प्रकार के धर्म की अभिव्यक्ति है, जो उसके एक विशेष पदार्थ के प्रति व्यापार से अनुकूलता रखती है। वह पदार्थ जिसके प्रति यह ज्ञाता की

1 बोधों की अप्रामाणिकता तीन प्रकार की होती है : मिथ्याज्ञान, अज्ञान और सन्देह। सन्दिग्ध और मिथ्याज्ञान विध्यात्मक सत्ताएं हैं और दोषपूर्ण कारणों से हैं, जबकि अज्ञान में केवल कारणों का अभाव है (श्लोकवार्तिक, 2 : 54-55)।

2 कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ, 123)।

3 किन्तु देखिए झा : प्रभाकरमीमांसा, 2 : इस कठिनाई में यह सुझाव दिया गया है कि 'प्रामाणिकता' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। प्रत्यक्ष बोध, बोध के रूप में प्रामाणिक है, और इस अर्थ में भूल, स्मृति आदि भी प्रामाणिक हैं। किन्तु क्रियात्मकरूप में प्रामाणिक बोधों में, जो कर्म की कसौटी पर ठीक उतरते हैं, तथा अप्रामाणिक बोधों में, जो ठीक नहीं उतरते, भेद किया जाता है। देखिए पी० शास्त्री, पूर्वमीमांसा, अध्याय 2।

4 सम्भवत प्रोफेसर स्टाउट के मन में यही है जब वे कहते हैं : "अन्त में, सत्य केवल अन्य सत्य के साथ संगत होने से ही नहीं पहचाना जा सकता। तात्कालिक ज्ञान के अभाव में संगति का सिद्धान्त बिना टेक के लीवर के समान होगा।......यह कहना कि समस्त बोध व्यवहित अथवा मध्यस्थ है, इस अर्थ में अवश्य ही दुष्ट चक्र की ओर ले जाता है। यदि व्यवहित बोध में केवल बोधों का ही व्यवधान है जो अपने-आपमें केवल व्यवहित ही हैं, तो ज्ञान का संचालन कभी नहीं हो सकता। यह ऐसा ही है जैसेकि कोई कहे कि दीवार के बनाने में हरएक ईंट को दूसरी ईंट के ऊपर रखना चाहिए, और कोई भी ईंट सीधी भूमि पर न रखी जाए।" (माइंड, 1908, पृष्ठ 33)

क्रियाशीलता से अनुकूलता रखती है, जाना जाता है। क्योकि प्रत्येक बोध किसी विशिष्ट पदार्थ की ओर क्रियात्मक व्यापार को प्रवृत्त करता है, इसलिए वहा भेद का एक आधार है।

नैय्यायिक ज्ञान की स्वतःप्रामाणिकता के सिद्धान्त को स्वीकार नही करता। ज्ञान अपनी सचाई को प्रमाणित नही करता। हमारे बोध सर्वदा यथार्थ के अनुकूल ही होगे इसका कुछ निश्चय नही है। जब हम अपने विचारो पर कर्म करते है तो हम कभी सफल होते हैं और कभी नही होते। यदि सफल होते है तो हम प्रामाणिकता का अनुमान कर लेते हैं और यदि सफल नही होते तो अप्रामाणिकता का अनुमान होता है।[1]

मीमासा की आत्मप्रामाणिकता की प्रकल्पना निर्देश करती है कि प्रामाणिकता समस्त ज्ञानात्मक विषय का गुण है जो उससे पृथक् नही किया जा सकता। अनुकूलता और सगति प्रामाणिकता की कसौटी हैं, किन्तु उसे उत्पन्न नही करती। वे हमारे लिए प्रामाणिक बोध के स्वभाव को स्पष्ट नही करती। ज्ञान का कार्य पदार्थो का बोधात्मक ज्ञान प्राप्त करना है। मन का यथार्थता के साथ सम्बन्ध सदा ही इसमे अन्तर्निहित रहता है। इसके अतिरिक्त, मन विचारधारा के विधान के अनुकूल कार्य करता है, जो एक अर्थ मे अनुल्लघनीय है। जब हम कहते हैं कि "यह एक रोटी है", तो जिसे हम रोटी कहते हैं वह वास्तव मे रोटी नही भी हो सकती, किन्तु निर्णय करने के समय हम इसे रोटी ही मानते है और उस विचार की प्रबलता को रोक नही सकते। कोई सन्देह हमारे चैतन्य मे विघ्न उपस्थित नही करता और इसलिए विचार की विषयवस्तु निर्णय के समय हमारे लिए बिलकुल सत्य होती है। सब निर्णयो म चाहे वे सत्य हो या मिथ्या, यह आवश्यकता का अश रहता है। तो भी इसका अर्थ यह नही है कि निर्णय विचार का केवल खेल-मात्र है। हमारे चैतन्य मे कुछ वस्तु ऐसी प्रस्तुत रहती है जिसे हमे अवश्य स्वीकार करना होता है। हमारी मानसिक प्रक्रिया पर यथार्थता का एक नियन्त्रण रहता है। प्रत्येक निर्णय मे इस प्रकार का एक कथन रहता है कि आधारभूत सामग्री मे अपने से अधिक कुछ है, कि ऐसी कुछ वस्तु है जो अभी प्रस्तुत नही है किन्तु जिसकी प्रतिनिधि यह आधारभूत सामग्री है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक निर्णय मे मानसिक क्रिया का एक अश विद्यमान रहता है, जो आधारभूत सामग्री को बढा देता है। यह प्रस्तुत विषय (सामग्री) की व्याख्या करता है, इसे सार्थकता प्रदान करता है और दावा करता है कि यह पूर्ण इकाई का एक भाग है और अपने ही अन्दर पूर्ण नहीं है। यद्यपि मीमासक यथार्थवादी है, तो भी कुमारिल का यह कथन कि यदि निर्णय का समर्थन अन्य निर्णयो द्वारा हो जाए तो उसकी प्रामाणिकता का निश्चय हो जाता हे, अनुकूलता की अपेक्षा सगति की प्रकल्पना का सुझाव देता है। विभिन्न निर्णयो को अवश्य सगत होना चाहिए। किन्तु यह आभ्यन्तर सगति ही सब कुछ नही है। यह ठीक केवल इसलिए है क्योकि यथार्थता, जिसका अनुभव प्राप्त किया जाता है, स्वय सगत है।

मन का उस यथार्थता के साथ जिसका यह अनुभव करता है, क्या सम्बन्ध है, एतद्विषयक जो परम समस्या है उसे मीमासा ने नहीं उठाया है। यह इस सहज बुद्धि के मत को मान लेता है कि यथार्थता एक सत्तावान जगत के रूप म हमारे चिन्तन से बाह्य है। इस स्थिति के परिणाम सत्य के अनुकूलतापरक भाव की कठिनाइयो से मीमासा सब

1 न्यायमंजरी, पृष्ठ 160-173।

बोधों की स्वतःप्रामाणिकता की प्रकल्पना द्वारा बचकर निकल जाती है।

12. आत्मा

विध्यात्मक वैदिक आदेश दूसरे लोक में पुरस्कारों के उपभोग का विश्वास दिलाते हैं। यदि शरीर के विनाश के पश्चात् कोई यथार्थ आत्मा जीवित न रहे तो वे सब निरर्थक हो जाएंगे। यज्ञ का कर्ता, कहा जाता है कि स्वर्ग जाएगा, और जो स्वर्ग को जाता है वह मांस और रक्त वाला शरीर नहीं, बल्कि अशरीरी आत्मा है।[1] जैमिनि आत्मा की यथार्थसत्ता का कोई ब्यौरेवार प्रमाण नहीं देता और इस प्रश्न पर जो युक्तियां वेदान्त ने दी हैं उन्हें ही स्वीकार करता प्रतीत होता है।[2] वह आत्मा (पुरुष) को बुद्धि तथा इन्द्रियों से भिन्न करता है।[3] शबर एक स्थायी ज्ञाता की यथार्थता को स्वीकार करता है, जो "अपने-आपसे ज्ञात है और देखा या औरों द्वारा दिखाया नहीं जा सकता।"[4] शबर का मत उपलक्षित करता है कि आत्मा और चैतन्य एक ही हैं। विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए यह कहता है कि बोधों का एक प्रमाता (विषयी) है[5] और वह प्रमाता अपने-आपसे जाना जाता है।

मीमांसा के विचारक आत्मा को शरीर, इन्द्रियों तथा बुद्धि से भिन्न मानते हैं। जब बुद्धि अनुपस्थित रहती है तब भी आत्मा उपस्थित रहती है, जैसेकि निद्रा में। यदि बुद्धि आत्मा की सहचारिणी हो, तो भी हम यह नहीं कह सकते कि वे एक-दूसरे के समान हैं। आत्मा इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों के क्षत हो जाने अथवा नष्ट हो जाने पर भी आत्मा विद्यमान रहती है। एक सत्ता ऐसी है जो इन्द्रियों से प्राप्त विभिन्न सामग्री का सश्लेषण करती है। शरीर भौतिक है, और हरएक बोध में हमें ज्ञाता की शरीर से भिन्नता की अभिज्ञता रहती है। शरीर के अवयव बुद्धि-सम्पन्न नहीं हैं और उनका संघात चैतन्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। शरीर अपने से परे एक लक्ष्य का एक साधन-मात्र है, और इसलिए इसे आत्मा के प्रयोजन के लिए कहा जाता है जो इसका सचालन करती है। स्मृति के तथ्य आत्मा की यथार्थता को सिद्ध करते हैं। यह स्वीकार किया गया है कि आत्मा परिवर्तन की अनुमति देती है किन्तु वह सब परिवर्तनों में स्थिर रहती है। बोध, जो एक क्रिया है, आत्मारूपी द्रव्य से सम्बन्ध रखता है।[6] आत्मा के नित्यस्वरूप के विरुद्ध यह कोई युक्ति नहीं है कि यह परिवर्तनों के अधीन रहती है।[7] और न यह कोई बड़ी

1 1 : 1, 5।

2 उपवर्ष, जो दोनों मीमांसाओं का वृत्तिकार है, कहता है (1 : 1, 5) कि आत्मा के प्रश्न पर उत्तरमीमांसा में विचार किया जाएगा। शबर भी इसी मत का प्रतीत होता है, क्योंकि कुमारिल अपने आत्मवाद (श्लोकवार्तिक) के अन्तिम श्लोक में कहता है :

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद् विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

"इस प्रकार टीकाकार (शबर) ने, निरीश्वरवाद का खण्डन करने के विचार से, तर्क द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की है, और वेदान्त के अध्ययन से यह विचार पुष्ट हो जाता है।" देखिए शाबर-भाष्य, 3 : 3, 53।

3 1 : 1, 4।

4 स्वसंवेद्यः स भवति नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं दर्शयितुं वा।

5 ज्ञानातिरिक्तः स्थायी ज्ञाता वर्तते।

6 श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, 100।

7 श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, 22 और 23।

भारी आपत्ति है कि जब हम फल भोगते है तो उन कर्मो को भूल जाते है जिनके कारण वे फल मिले है। आत्मा के विषय मे जो बौद्धो का विचार है कि यह विचारो की एक शृखला है जिनमे से प्रत्येक विचार अपने पूर्ववर्तियो से अपने भूतकाल के सस्कार सगृहीत करता है, उसका खण्डन करते हुए कुमारिल कहता है कि यदि कर्मविधान का कुछ अर्थ है तो एक सामान्य अधिष्ठान अवश्य होना चाहिए। बौद्ध प्रतिफल के विधान अथवा पुनर्जन्म की सम्भावना की व्याख्या करने मे असमर्थ है। सूक्ष्म शरीर की कल्पना अधिक सहायक नही हो सकती, क्योकि विचार का इसके साथ सम्बन्ध एक रहस्य है। विचारो की शृखला सम्बन्धी बौद्धमत के आधार पर आत्मचैतन्य, इच्छा, स्मृति तथा सुख-दु ख का प्रपञ्च बुद्धिगम्य नही हो सकता। इसलिए एक ऐसी सत्ता का होना आवश्यक है जो विचारो की सम्भाव्य क्षमता को धारण करती हो, नित्य हो तथा पुनर्जन्म के योग्य हो। आत्मा आणविक नही हो सकती, क्योकि यह शरीर के भिन्न-भिन्न भागो मे होते परिवर्तनो का ज्ञान ग्रहण करती है। इसे विभु अथवा सर्वव्यापक माना गया है, और यह एक के बाद दूसरे शरीर से सबध करने योग्य भी है। जिस शरीर के साथ इसका सम्बन्ध है उसका यह, जब तक मोक्ष नही होता, सचालन करती है। एक सर्वत्र उपस्थित आत्मा कर्म कर सकती है, क्योकि कर्म केवल आणविक गति नही है। आत्मा की शक्ति शरीर की गति का कारण है।

मीमासक आत्माओ के अनेकत्व की प्रकल्पना को मानते है,[1] इसलिए कि अनुभवो की विविधता की व्याख्या की जा सके। शरीरो की क्रियाओ से हम आत्मा के अस्तित्व का अनुमान करते है, क्योकि विना आत्मा की कल्पना के उनकी व्याख्या नही हो सकती। जिस प्रकार मेरी क्रियाए मेरी आत्मा के कारण हैं, उसी प्रकार अन्य क्रियाए अन्य आत्माओ के कारण है। धर्म और अधर्म के भेद जो आत्माओ के गुण हैं, भिन्न-भिन्न आत्माओ के अस्तित्व के कारण ही है। यह दृष्टान्त कि जिस प्रकार एक सूर्य भिन्न-भिन्न द्रव्यो मे प्रतिबिम्बित होकर विविध धर्मो वाला हो जाता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरो मे प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न गुण धारण कर लेती है, टिकेगा नही, क्योकि गुण जो भिन्न भिन्न प्रतीत होते है, प्रतिबिम्ब के माध्यम से सम्बद्ध हैं, सूर्य से नही। यदि उक्त दृष्टान्त को सत्य माना जाए, तो आत्माओ के सम्बन्ध मे प्रकट होते नानाविध गुण शरीरो से सम्बद्ध होगे, आत्मा से नही। किन्तु सुख-दु ख आदि आत्मा के गुण है, शरीर के नही।[2]

प्रभाकर का आत्मा से तात्पर्य एक ऐसी वस्तु से है जो बुद्धिविहीन है और ज्ञान, क्रियाशीलता, अनुभव अथवा सुखोपभोग तथा दु ख आदि जैसे गुणो का अधिष्ठान है।[3] एक स्थायी अनन्य आत्मा का कोई सीधा ज्ञान नही है। उसकी सिद्धि परोक्षरूप मे विचार के स्थायी विषयो के प्रत्यभिज्ञारूपी तथ्य के द्वारा होती है।[4] प्रत्यभिज्ञा की घटना मे दो अवयव होते है, एक स्मृति तथा दूसरा पदार्थ का पूर्वानुभव। इस तथ्य का कि हम भूत-

1 बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्नात्मा विभुध्रुव ।
नानाभूत प्रतिक्षेत्रमर्थज्ञानेषु भासते। (सर्वसिद्धान्तसारसग्रह 6 206) और देखिए श्लोकवार्तिक, आत्मवाद पृष्ठ 57।

2 झा प्रभाकरमीमासा।

3 कर्ता भोक्ता जडो विभुरिति प्राभाकरा । मधुसूदन सरस्वतीकृत 'सिद्धान्तबिन्दु न्यायरत्नावलि' मे जड की व्याख्या इस प्रकार की गई है स च ज्ञानस्वरूपभिन्नत्वाज्जड ,जानामीति ज्ञानाश्रयत्वेन स भाति न ज्ञानरूपत्वेन ।

4 विवरणप्रमेयसग्रह, थिबौत का आग्लभाषानुवाद, पृष्ठ 405 (इण्डियन थौट, खण्ड 1) ।

काल के बोध को स्मरण कर सकते हैं, अर्थ है कि एक स्थायी आत्मा का अस्तित्व है जो भूतकाल के प्रत्यक्ष ज्ञान तथा वर्तमानकाल के स्मरण का आश्रय है। इस प्रकार, प्रभाकर के अनुसार, स्थायी आत्मा या निजी व्यक्तित्व प्रत्यभिज्ञा का विषय नहीं बल्कि उसका आश्रय है।[1] यह सर्वव्यापक तथा अपरिवर्तनशील है। यह स्वतः प्रकाश नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमें प्रगाढ़ निद्रा में भी ज्ञान होता। किन्तु ऐसा होता नहीं है, यद्यपि प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा विद्यमान रहती है। स्वतःप्रकाश बोध, "मैं घड़े को जानता हूं", घड़े को बोध के विषय के रूप में अभिव्यक्त करता है और आत्मा को बोध के आश्रय के रूप में। आत्मा बोध के आश्रयरूप में तुरंत जानी जाती है, जैसेकि घड़ा बोध के विषय-रूप में जाना जाता है। जो 'मैं' इस रूप में प्रतीत होती है वह आत्मा है, और वह विषय (प्रमेय) सम्बन्धी सब अवयवों से स्वतन्त्र है। क्योंकि सब बोधों में, यहां तक कि उन बोधों में भी जहां शरीर का कोई बोध नहीं है, आत्मा हमें अभिव्यक्त होती है, इसलिए आत्मा को शरीर से भिन्न माना गया है। आत्मा अपने-आपमें प्रत्यक्ष-योग्य नहीं है, किंतु उसे सर्वदा बोध के कर्ता के रूप में जाना जाता है, कर्म के रूप में नहीं। बोध का कर्म आत्मा के अन्दर स्वफल को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए आत्मा बाह्य या आभ्यन्तर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। विषय चैतन्य से अलग आत्मचैतन्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। आत्मा चैतन्य का विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकती।[2] यह कर्ता है, सुखोपभोक्ता है, और यद्यपि अचेतन है तो भी सर्वत्र उपस्थित है। इस प्रकार यह शरीर, इन्द्रियों और बुद्धि से पूर्णरूप से भिन्न है। इसकी सब बोधों में अभिव्यक्ति होती है और यह नित्य है। प्रभाकर नहीं मानता कि आत्मा अणु के आकार की है या उस शरीर के आकार की है जिसे यह सूचना देती है। यद्यपि यह सर्वत्र उपस्थित है तो भी दूसरे शरीर में जो कुछ हो रहा है उसे अनुभव नहीं कर सकती, क्योंकि यह उसीका अनुभव कर सकती है जो कुछ उस शरीररूपी यन्त्र में हो रहा है, जो आत्मा को भूतकाल के कर्म से प्राप्त हुआ है। आत्माएं अनेक हैं, प्रत्येक शरीर में एक आत्मा है। अपनी मुक्तावस्था में आत्मा केवल सद् रूप में अवस्थित रहती है और एकसाथ सब वस्तुओं के सामूहिक बोध का आश्रय होती है, किन्तु संवेदना का आश्रय नहीं होती, क्योंकि सुख और दुःख के धर्म अपने को सिवाय शरीर के अन्यत्र अभिव्यक्त नहीं कर सकते। यह अनश्वर है, क्योंकि इसकी सत्ता किसी कारण के द्वारा नहीं उत्पन्न हुई।[3]

पार्थसारथि तर्क करता है कि ऐसा मानने में कि आत्मा प्रत्यक्ष की विषयी और विषय दोनों ही है, किसी प्रकार का परस्पर-विरोध नहीं है। जब प्रभाकर कहता है कि आत्मा बोधरूपी कर्म से व्यक्त होती है, तो उसका तात्पर्य यह है कि आत्मा भी चैतन्य का विषय है। प्रत्यभिज्ञा तथा स्मरण में चैतन्य में विषय प्रकट होता है, विषयी प्रकट नहीं होता। यह प्रत्यक्ष के विषयरूप में जानी गई आत्मा ही है जिसे चैतन्य में वर्तमान प्रत्यभिज्ञा तथा स्मरण के विषयरूप में प्रस्तुत किया गया है। यदि आत्मा की प्रत्यभिज्ञा में

1 अद्वैत इस मत से असहमत है। स्मरण के कर्म में वर्तमान आत्मा है ; भूतपूर्व प्रत्यक्ष में भूतकाल की आत्मा थी, और दोनों के बीच की खाई भरी नहीं जा सकती जब तक कि प्रत्यभिज्ञा का कर्म न हो, जिसे फिर अन्य की आवश्यकता होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त नहीं है। तर्क में यह नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान स्मरण और भूतपूर्व प्रत्यक्ष एकसाथ आत्मा के निरन्तर अस्तित्व का ज्ञान ग्रहण करते हैं, क्योंकि दोनों, एक भूत तथा दूसरा वर्तमान, साथ-साथ नहीं रह सकते।

2 शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 348-49।

3 आहृत प्राभाकरमीमांसा।

आत्मा विषय नही होती, तो कर्म विषयहीन हो जाएगा। किन्तु विना विषय के कोई चैतन्य नही हो सकता। इसलिए आत्मा को अवश्य आत्मा-चैतन्य का विषय मानना चाहिए।[1] आत्मा का ज्ञान प्रामाणिक बोध की उसी प्रक्रिया से होता है जिससे कि स्वय विषयो को होता है, परन्तु तो भी आत्मा बोध का विषयी है, विषय नही, जैसेकि एक व्यक्ति जो पैदल चलता है, यद्यपि चलने की क्रिया उसकी अपनी ही है, चलने की क्रिया का कर्ता माना जाता है, विषय नही।

कुमारिल के अनुयायियो के अनुसार, प्रत्येक बोधात्मक कार्य मे आत्मा अभिव्यक्त नही होती। विषय-चैतन्य सर्वदा आत्मा द्वारा आत्मसात् नही किया जाता। व्यक्ति कभी विषय को जानता है कि "यह घडा है", किन्तु वह यह नही जानता कि वह घडे को जानता है। आत्मा विषय-चैतन्य (विषयवित्ति) के विषयी या विषय के रूप मे अभिव्यक्त नही होती, किन्तु कभी-कभी विषयवित्ति के साथ एक अन्य भिन्न चैतन्य होता है, अर्थात् आत्मप्रत्यय जिसका आत्मा विषय है। प्रभाकर का ऐसा मानना उचित है कि अनात्म के चैतन्य मे विषयी सदा उपलक्षित रहता है, किन्तु यह सदा स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त नही होता। आत्मा की उपस्थिति तथा उपस्थिति की चेतना मे भेद है, हमारे लिए यह आवश्यक नही है कि जब भी हम किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करे तो आत्मा के विषय मे भी अभिज्ञ हो। आत्मा केवल आत्मचैतन्य मे ही अभिव्यक्त होती है, जिसे और विषय-चैतन्य को एक नही माना जा सकता। आत्म-चैतन्य केवल विषय-चैतन्य से उच्चतर कोटि का चैतन्य है।[2] विषय-बोध के साक्षात् अथवा मुख्य अनुभव तथा चिन्तनात्मक एव गौण अनुभव मे, जिसमे मन अपने ऊपर वापस लौट आता है, भेद है।

प्रभाकर यह स्वीकार नही करता कि आत्मा और सवित् अथवा चैतन्य एक समान हैं। और इसीलिए वह ऐसा कहने के लिए बाध्य है कि आत्मा स्वत-प्रकाश नही है। किन्तु इस मत का पक्षपोषण कठिन ह। आत्मा प्रमातृ अर्थात् जाननेवाली है और प्रभाकर सवित् अथवा चैतन्य का कभी ज्ञाता और कभी बोध रूप मे वर्णन करता है।[3] कुमारिल की इस प्रकल्पना का कि आत्मा मानसिक प्रत्यक्ष का विषय है, खण्डन करते हुए, शालिकनाथ स्वीकार करता ह कि आत्मा स्वत प्रकाश ह और बाह्य पदार्थो के बोध मे भी सलग्न रहती है,[4] इस प्रकार यह चैतन्य का अचेतन आश्रय नही है। सवित् स्वत प्रकाश है, यद्यपि इसका बोध चैतन्य के विषय के रूप मे नही होता। फिर, बोधो को आत्मा के परिणाम (परिवर्तित रूप) कहा जाता हे, और इसलिए आत्मा की प्रकृति को चैतन्यमय होना चाहिए, अन्यथा यह बोधो के रूप मे परिणत नही हो सकती। आत्मा (अथवा चैतन्य) चैतन्य का विषय नही हो सकती, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि यह चैतन्यरहित है। यह समस्त ज्ञान का आधार है। स्वय ज्ञान के अन्दर ही यह विषयी अथवा अह के रूप मे प्रकट होती हे। अह आत्मा से न तो

1 पृष्ठ 344 से आगे।
2 शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 344 52।
3 सवित् का प्रयोग चैतन्यक अर्थो मे किया गया है। सविद उत्पत्तिकारणम आत्ममनस्सन्निकर्षाख्यम् (प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ 63)।
4 स्वयप्रकाशत्वेन, विषयप्रतीतिगोचरत्वेन (प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ 151)।

अधिक है, न कम है, जिसे हम तुरन्त अभिन्न होकर बोध का विषयी अथवा आश्रयरूप जानते हैं। आत्मा न तो द्रव्य है, न गुण है, न कर्म ही है। यह केवल चैतन्य है। जैसाकि अद्वैतवेदान्तवादी कहेंगे, जब यह मायावश अहंकारत्व के इन्द्रिय-सम्पर्क में आती है तो अहं बन जाती है। प्रगाढ़ निद्रा में 'अहंरूप' अनुपस्थित रहता है, जबकि आत्मा अहंकारत्व के सब प्रतिबन्धों से मुक्त रहती है। पदार्थों के बोध में सर्वव्यापी आत्मा अथवा चैतन्य पदार्थ के साथ अपने सम्बन्ध से युक्त प्रकट होती है। प्रभाकर इस विषय से अभिन्न प्रतीत होता है कि उसकी प्रकल्पना उसे अद्वैत वेदान्त की स्थिति की ओर ले जाती है, परन्तु उसे चिन्ता है कि इसपर बल नहीं देना चाहिए, क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य मनुष्यों तथा उनके उत्तरदायित्व के भेदों पर बल देना है। प्रभाकर कहता है : "यह कथन कि 'मैं' और 'मेरा' ये उक्तियां आत्मा के सम्बन्ध में एक मिथ्या विचार की ओर संकेत करती हैं, उन व्यक्तियों के प्रति होना चाहिए जिन्होंने सांसारिक पदार्थों की ओर अपनी आसक्ति का दमन कर लिया है, उनके प्रति नहीं जो कर्म में जुटे हुए हैं।"[1]

कुमारिल के अनुसार आत्मा शरीर से भिन्न है, नित्य है और सर्वत्र व्याप्त है। आत्मा अपने में चैतन्य है, यद्यपि आत्माएं अनेक हैं।[2] क्योंकि सब आत्माएं चैतन्य स्वभाव की हैं, इसलिए उपनिषद् उन्हें एक ही कहती हैं।[3] आत्मा चैतन्य है और बोध का, जो आत्मा से उत्पन्न है, आश्रय भी है।[4] 'अहं' भाव के द्वारा आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। आत्मा अपने-आपसे अभिव्यक्त होती है, यद्यपि दूसरे इसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते।[5] आत्मा बोध का विषय है, क्योंकि इसका साक्षात् ज्ञान होता है, जैसे घड़ा है। यह मानस-प्रत्यक्ष का विषय है। आत्मा ज्ञान का विषय और विषयी दोनों ही है।[6] और यह परस्पर-विरोध नहीं है, क्योंकि हम आत्मा के अन्दर एक तो द्रव्यात्मक अंश पाते हैं जो बोध का विषय है, और एक चैतन्य का अंश पाते हैं जो बोध का विषयी (प्रमाता) है।[7] प्रभाकर के अनुयायी इस मत पर आपत्ति करते हैं। यदि आत्मा का द्रव्यात्मक अंश बुद्धिशून्य है, तो यह सर्वथा आत्मा ही नहीं है। जो कुछ रहता है यह केवल चैतन्यांश ही है, और वह विषयी तथा विषय दोनों रूप में कार्य नहीं कर सकता। इसके हिस्से नहीं हैं, और इसीलिए अपरिवर्तनीय है, जिससे एक ही समय में यह विषय और विषयी दोनों का रूप धारण नहीं कर सकता। यदि द्रव्यत्व चैतन्य का विषय है, तो आत्मा विषयी अथवा ज्ञाता नहीं हो सकती, क्योंकि यह घड़े के समान ही द्रव्य है।

1 बृहती, पृष्ठ 32, 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' में मीमांसासूत्र।

2 श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, 74-75।

3 तन्त्रवार्तिक, 2 : 1, 5।

4 रामानुज जो इसी प्रकार के मत को स्वीकार करते हैं, बोध को आत्मा का नित्यगुण मानते हैं, जो विस्तृत तथा संकुचित हो सकता है, जबकि कुमारिल का विचार है कि बोध आत्मा का विकास (परिणाम) है और इसका उदय प्रमाणों द्वारा होता है।

5 श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, 142-43।

6 श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, 107।

7 तुलना कीजिए : न्यायरत्नावली। आत्मनोऽस्ति अंशद्वयं चिदंशोऽचिदंशश्च ; चिदंशेन द्रष्टृत्वमचिदंशेन ज्ञानसुखादिपरिणामित्वं 'माम् अहं जानामि' इति ज्ञेयत्वं च (पी० शास्त्री : पूर्वमीमांसा, पृष्ठ 95)। और देखिए विवरणप्रमेयसंग्रह, थिबौत का इंग्लिश ट्रांसलेशन, इण्डियन थॉट, खण्ड 1, पृष्ठ 357।

यदि कुमारिल यह कहता है कि चैतन्य का विशुद्ध रूप विषयी है और वही चैतन्य लौकिक दृष्टि से परिवर्तित होकर विषयी हो जाता है,[1] तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पास तीन प्रकार हैं अर्थात् शुद्ध विषयग्रहण, शुद्ध ज्ञातृता, और घड़े आदि पदार्थ से परिवर्तित विषयी (घटावच्छिन्नज्ञातृता)। इसके अतिरिक्त, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के बोध से आत्मा की ज्ञाता के रूप में साक्षात् अभिव्यक्ति होती है, इसलिए मानस-प्रत्यक्ष के समान एक अन्य बोध की, जो आत्मा की साक्षात् एक विषय के रूप में अभिव्यक्ति करता है, कल्पना करना अनावश्यक है।

यदि ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से है, तो आत्मा चैतन्यविहीन नहीं हो सकती। यदि आत्मा चैतन्य है, तब यह स्वतः सिद्ध है, क्योंकि समस्त प्रमाण इसकी यथार्थता की पूर्व-कल्पना कर लेता है।[2] कुमारिल के मत में विषय चैतन्य के साथ वृत्ति द्वारा सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। आत्मा का अचिदंश (चैतन्यविहीन अंश) सम्भवतः अन्तःकरण है, जिसके द्वारा आत्मा वित्ति के रूप में विकसित हुई है। केवल इसलिए कि आत्मचैतन्य में आत्मा विषयी तथा विषय दोनों है, यह परिणाम न निकालना चाहिए कि इसमें चैतन्य तथा चैतन्यविहीनता दोनों के अंश हैं। वस्तुतः, हम देखते हैं कि कुमारिल और प्रभाकर दोनों आत्मा के विषय में एक अधिक उपयुक्त विचार को प्राप्त करने के लिए संघर्ष तो करते हैं, किन्तु अपनी-अपनी क्रियात्मक रुचियों के कारण उसे प्राप्त नहीं कर सकते।

13 यथार्थता का स्वरूप

मीमांसा की प्रत्यक्ष-विषयक प्रकल्पना पदार्थों की यथार्थता को मान लेती है क्योंकि यथार्थ पदार्थों के साथ सम्पर्क होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।[3] जब हम प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं तो पदार्थों का प्रत्यक्ष करते हैं, अपने बोधों का नहीं।[4] बोध का हम अनुमान करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं करते। ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता का सिद्धान्त जाने गए पदार्थों की यथार्थता को उपलक्षित करता है। कुमारिल उस प्रकल्पना (निरालम्बन-वाद) का प्रत्याख्यान करता है जिसके अनुसार विचारों का कोई आधार नहीं है, और शून्यवाद की प्रकल्पना का भी खण्डन करता है जिसके अनुसार पदार्थों की बाह्य यथार्थता केवल शून्यमात्र है। बाह्य जगत की यथार्थता ही केवल अनुभव और जीवन की आधार-भित्ति है। यदि विचारों के अतिरिक्त और कुछ न हो तो हमारे समस्त निष्कर्ष जो बाह्य यथार्थता में विश्वास पर आधारित हैं मिथ्या हो जाएँगे। बोधों का यथार्थ आश्रय बाह्य जगत् में है, यह आगे और ज्ञान से भी विरोध नहीं खाता। यदि यह कहा जाए कि जागरितावस्था के बोधों की अयथार्थता योगियों की अन्तर्दृष्टि से मालूम होती है तो कुमारिल इसका उत्तर देते हुए योगियों की अन्तर्दृष्टि की प्रामाणिकता का निषेध करता है, और अन्य यौगिक अन्तःप्रेरणाओं का उद्धरण देता है जो जगत की यथार्थता को पुष्ट करती हैं। मीमांसा के विचारक जगत् को प्रतीयमान प्रपंच बतानेवाली कल्पना का समर्थन नहीं करते। "जो ब्रह्म को जानते हैं वे यदि इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वह सब कुछ, जो ज्ञात है, मिथ्या है, और जो अज्ञात है, वह सत्य है तो मैं झुककर उनने

1 घटावच्छिन्ना हि ज्ञातृता ग्राह्या, शुद्धैव ज्ञातता ग्राहिका (न्यायमञ्जरी 430)।
2 देखिए सुरेश्वरकृत सम्बन्धवार्तिक, 1066।
3 सत्सम्प्रयोग, मीमांसासूत्र 1 1, 4।
4 अर्थविषया प्रत्यक्षबुद्धिर्न बुद्धिविषया। 1 1, 4 पर शबर।

विदा लेता हूं।"[1] यह विश्व यथार्थ है और मन से, जो इसका प्रत्यक्ष करता है, स्वतन्त्र है।

प्रभाकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या —इन आठ पदार्थों को स्वीकार करता है। द्रव्य, गुण और कर्म की व्याख्या लगभग उसी प्रकार की है जैसीकि न्याय की प्रकल्पना में है। प्रभाकर के अनुसार, सामान्य यथार्थ है। यह प्रत्येक व्यक्ति मे पूर्णरूप मे विद्यमान रहता है और इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय है। व्यक्ति से पृथक् इसका अस्तित्व नही है। प्रभाकर उच्चतम प्रजाति के अस्तित्व को स्वीकार नही करता, इस आधार पर कि हमें उसकी अभिज्ञता नही है। हम पदार्थों को केवल विद्यमान नही देखते। जब हम किसी व्यक्तिरूप पदार्थ को विद्यमान (सत्) कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह अपनी विशिष्ट सत्ता (स्वरूपसत्ता) रखता है। हम किसी वस्तु को उसके गुणों से पृथक् नही देखते। सामान्य और विशेष समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। जब एक नया व्यक्ति उत्पन्न होता है, तो समवाय का नया सम्बन्ध उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा वह व्यक्ति उस वर्गगत लक्षण के सम्बन्ध में आता है जो अन्य व्यक्तियों के अन्दर विद्यमान है। जब एक व्यक्ति का नाश हो जाता है तो सामान्य और व्यक्ति के मध्य जो समवाय सम्बन्ध है उसका भी नाश हो जाता है। समवाय नित्य नही है, क्योंकि वह विनश्वर वस्तुओं मे भी विद्यमान रहता है। यह एक नही है, बल्कि जितनी वस्तुएं हैं उतना ही है। यह दोनों प्रकार का है—उत्पन्न भी है, अनुत्पन्न भी है; दृश्य भी है, अदृश्य भी है। जिन वस्तुओं में यह रहता है उनके स्वरूप के अनुसार होता है। शक्ति उस क्षमता को दिया गया साधारण नाम है जिसके द्वारा द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य वस्तुओं के कारण बनते हैं।[2] क्षमता, जिसका अनुमान कार्यों से होता है, नित्य वस्तुओ मे नित्य है और अन्यों मे अनित्य है। प्रभाकर के अनुसार सादृश्य को द्रव्य, गुण अथवा कर्म के साथ न मिला देना चाहिए, क्योंकि यह गुणों में आन्तरिक सम्बन्ध से रहता है। द्रव्य गुणों में नही रह सकता, और न ही एक गुण अथवा कर्म दूसरे गुण अथवा कर्म मे रह सकता है। सादृश्य और जातिगत सामान्य रूप एकसमान नही है, क्योंकि सादृश्य अपने सह-सम्बन्धी पर निर्भर करता है। यह जाति से भी सम्बद्ध है, जैसे हम कहते हैं कि गाय की जाति घोड़े की जाति के समान है। अभाव को और इसे एकसमान नही माना जा सकता, क्योंकि इसका बोध इसकी प्रतिकूल सत्ता के द्वारा नही जाना जाता। अनुमान, अथवा साक्ष्य और उपमान हमें इसका ज्ञान कराते हैं।[3] शक्ति, सादृश्य और संख्या, ये स्वतन्त्र पदार्थ माने गए हैं, क्योंकि इन्हें ह्रास द्वारा अन्यों मे लाया नही जा सकता। नैय्यायिक द्वारा प्रतिपादित विशेष को नही माना गया, क्योंकि यह एक विशिष्ट प्रकार के गुण का निर्देश करता है। अभाव देश के अन्दर अपने उस आधार को छोड़कर, जहां इसे विद्यमान माना जाता है, अन्य कोई वस्तु नही है।

कुमारिल सब पदार्थों को भावात्मक तथा अभावात्मक रूप मे बांटता है। अभावात्मक पदार्थ चार प्रकार के हैं: पूर्ववर्ती परवर्ती, परम और पारस्परिक। भावात्मक पदार्थ भी चार प्रकार के हैं: द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य। शक्ति और सादृश्य को द्रव्य के अन्तर्गत माना गया है। क्षमता पदार्थों का ऐसा धर्म है जिसका अनुमान होता है, प्रत्यक्ष नही। यह वस्तुओं के साथ ही उत्पन्न होती है। संख्या एक गुण

1. बृहती, पृष्ठ 30। और देखिए शास्त्रदीपिका : अद्वैतमतनिरास।

2. इस मत की कि कारण अन्दर एक अदृश्य शक्ति रहती है जो कार्य को उत्पन्न करती है, आलोचना नैय्यायिक ने इस आधार पर की है कि यह शक्ति न तो दिखाई देती है और न अनुमान की जा सकती है। देखिए कुसुमाञ्जलि, 1।

3. प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ 110 से आगे।

है। शक्ति प्राकृतिक (सहज) या उत्पन्न (आधेय) होती है। सादृश्य केवल एक गुण है, जो इस तथ्य मे पाया जाता है कि एक से अधिक पदार्थों में एक समान लक्षण होते हैं। यह एक भिन्न पदार्थ नही हो सकता, क्योंकि हम अपने साधारण अनुभव मे सादृश्य की भिन्न-भिन्न श्रेणियो से अभिज्ञ रहते हैं। कुमारिल की दृष्टि में समवाय स्वय उन वस्तुओ से, जिनमें यह रहता है, भिन्न नहीं है।[1] प्रभाकर के समान, कुमारिल का मत है कि जातिगत सामान्यरूप प्रत्यक्ष का विषय है।[2] जो वस्तुए भिन्न है उनमे सम्बन्ध विद्यमान रहता है, किन्तु समवाय इस प्रकार का सम्बन्ध कहा जाता है जो पृथक् न हो सकने योग्य वस्तुओं में ही रहता है, जैसेकि वर्ग तथा व्यक्ति मे, और इस प्रकार यह एक असम्भव विचार है।

द्रव्य वह है जिसके अन्दर गुण रहते हैं। द्रव्य सख्या में नौ हैं पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश आत्मा, मन, काल और देश। कुमारिल इस सूची में अन्धकार और शब्द को जोडता है।[3] पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि में रूप तथा स्पृश्यता है, और इसलिए जब ये अपनी आणविक अवस्था मे नही होते, तो दृष्टि तथा स्पर्श की इन्द्रियो के विषय होते है। अन्य द्रव्य प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, उनका केवल अनुमान होता है। आकाश की प्रकट धवलता इसमे अग्नि के कणो के कारण है। आकाश का शब्द के आश्रय रूप मे अनुमान होता है। वायु प्रभाकर के मत मे, न ठण्डी है, न गरम। उष्णता अथवा शीतता इसमे अग्नि अथवा जल के कणों के व्याप्त होने के कारण है। कुमारिल के अनुसार, वायु का स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है।

गुणो के कथन तथा उनका द्रव्यो के साथ सम्बन्ध बतलाने मे प्रभाकर और कुमारिल वैशेषिक के ऋणी हैं। कुमारिल, प्रशस्तपाद का अनुसरण करते हुए चौबीस गुणो को गिनाता है, केवल शब्द के स्थान पर ध्वनि और धर्म व अधर्म के स्थान पर अभिव्यक्ति तथा क्षमता को रखता है। जहा प्रभाकर बलपूर्वक यह कहता है कि व्यक्तित्व केवल नित्य वस्तुओ ही पर लागू होता है, वहा कुमारिल का मत है कि यह उत्पन्न पदार्थों तथा नित्य वस्तुओ पर भी लागू होता है।

कर्म को वैशेषिक मे पाच प्रकार का बताया गया है। जहा प्रभाकर का मत है कि यह केवल अनुमान का विषय है, वहा कुमारिल इसे प्रत्यक्ष का विषय मानता है। प्रभाकर के अनुसार, हम जब देश के बिन्दुओ से सयोग और वियोग देखते हैं तो हम कहते हैं कि हम गति देखते है। ये सम्पर्क देश के अन्दर हैं, जबकि गति पदार्थ मे है। कुमारिल का मत है कि यदि गति का अनुमान होता है, तो इसका अनुमान देश के बिन्दुओ से किसी पदार्थ के सयोग और वियोग के अभौतिक कारण के रूप मे ही हो सकता है, और इससे यह उपलक्षित होगा कि यह पदार्थ और देश दोनो मे रहता है, जबकि यह केवल पदार्थ मे ही रहता है। इसलिए वह तर्क करता है कि हम गति को देखते हैं, जो पदार्थ मे है और जो देश के अन्दर सयोग और वियोग को उत्पन्न करती है। जबकि कुमारिल द्रव्य,

1 श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, पृष्ठ 146 50।

2 इन्द्रियगोचर श्लोकवार्तिक, वनवाद, 24।

3 प्रभाकर के अनुसार, अधकार केवल प्रकाश के अभाव का नाम है। यदि यह द्रव्य अथवा गुण होता तो इसका प्रत्यक्ष दिन मे भी होना चाहिए था। कुमारिल का तर्क है कि अन्धकार एक द्रव्य है क्योंकि इसमें नीलेपन का गुण है और इसमें गति हो सकती है।

गुण और कर्म की सामान्यताओं को स्वीकार करता है, प्रभाकर अन्तिम दो को स्वीकार नही करता। पूर्वमीमांसादर्शन आदिम सृष्टि और नितान्त प्रलय के सिद्धान्त को स्वीकार नही करता।[1]

14. नीति शास्त्र

उचित जीवन की योजना धर्म है। जैमिनि धर्म की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि धर्म एक अध्यादेश अथवा आदेश है।[2] 'चोदना' अर्थात् निषेधाज्ञा धर्म का लक्षण है। यह विधानकार द्वारा की गई विधान की परिभाषा है। शवर के अनुसार, चोदना ऐसे वचनों की द्योतक है जो मनुष्य को कर्म मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा करते हैं।[3] 'चाहिए' का उद्भव बाह्य है क्योंकि कर्तव्य हमारे लिए एक शक्ति द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं, हम स्वयं उन्हें प्रकाशित नही करते। 'चोदना' शब्द का एक और अर्थ भी है, अर्थात् दैवीय प्रेरणा अथवा अन्दर से होने वाली प्रेरणा। जो अन्त.स्थ हृदय को अच्छा लगता है वह बाहर की आज्ञा के अनुकूल होता है। एक व्यक्ति की इच्छा और जाति की दी गई व्यवस्था परस्पर समान होती हैं। टीकाकारों का कहना है कि जिसका आदेश दिया जाता है उसके अन्दर दु.ख की अपेक्षा सुख उत्पन्न करने की क्षमता अधिक रहती है। इस प्रकार आचरण की पद्धतियां जिनका विधान किया जाता है, अभिलषित उद्देश्यों की ओर हमें ले जाती हैं। सुख ही लक्ष्य है, जो मीमांसादर्शन को अभिमत है, यद्यपि इससे तात्पर्य इस जगत् के सुख से नही है। पारलौकिक सुख के लिए हमें इस लोक में आत्मत्याग का अभ्यास करना चाहिए। जिन कार्यों का परिणाम नुकसान अथवा दु.ख (अनर्थ) हो वे धर्म नही हैं। जिसे करने के लिए आज्ञा दी गई है वह धर्म है, और वह हमे सुख की ओर ले जाता है।[4] यदि हम आज्ञाओं का पालन नही करते तो केवल यही नही कि हम अपने सुख से वञ्चित होते हैं, बल्कि दुःख भोगते हैं।

पूर्वमीमांसा द्वारा प्रतिपादित नीतिशास्त्र ईश्वरीय ज्ञान पर आधारित है।[5] वैदिक आज्ञाएं धर्म के व्योरों का प्रतिपादन करती हैं। सत्कर्म, मीमांसक के अनुसार, वह है जो वेद विहित है। [illegible]

[illegible]

[illegible]

का निर्माण स्वार्थ की प्रेरणा से हुआ है, तो ऐसी स्मृतियों को अवश्य त्याग देना चाहिए।[7] स्मृतियो से उतरकर सज्जन पुरुषों का आचरण अथवा प्रथा हमारे मार्गदर्शक हैं।[8] ऐसे कर्तव्य जिनके लिए धर्मशास्त्र में अनुमति नही पाई जाती, उनकी व्याख्या उपयोगिता के सिद्धान्त पर की जाती है। यदि हम सहज प्रेरणाओं के वश होकर कोई

1. श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, 113।
2. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (1 : 1, 2)।
3. चोदनेति क्रियाया. प्रवर्तकं वचनमाहुः (1 : 1, 2 के ऊपर शबर)।
4. आदेश विधि के अनुकूल है, कर्तव्य धर्म के अनुकूल है और अनुमति फल के अनुकूल है।
5. तुलना कीजिए पाले द्वारा की गई धर्म की परिभाषा से : "ईश्वरेच्छा के अनुसार तथा स्थायी सुख की कामना से मनुष्य-जाति का कल्याण करना।"
6. 1 : 3, 3।
7. 1 . 3, 4।
8. 1 : 3, 89।

कार्य करते हैं तो हम धर्मात्मा नहीं हैं।[1] एक हिन्दू का जीवन वैदिक नियमों से शासित है, और इसलिए हिन्दू विधान की व्याख्या के लिए मीमांसा के नियम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमें सन्ध्या इत्यादि नित्यकर्मों का पालन करना चाहिए और उचित अवसर आने पर नैमित्तिक कर्मों का पालन करना चाहिए। ये बिना किसी प्रतिबन्ध के कर्तव्य कर्म हैं। यदि इन्हें हम पूर्ण नहीं करते तो हमें पाप (प्रत्यवाय) लगता है। विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हम काम्य कर्म करते हैं। यदि हमें उद्देश्यों की कामना न हो तो उन्हें करने की आवश्यकता नहीं है। निषिद्ध आचरणों से बचकर हम नरक से बचते हैं, और यदि हम काम्य कर्मों से दूर रहें तो हम अपने को स्वार्थपरक उद्देश्यों से स्वतन्त्र रख सकेंगे, और यदि हम प्रतिबन्धरहित कर्तव्य कर्मों का पालन करते रहें तो हमें मोक्षलाभ होगा।

जैमिनि के अनुसार, यज्ञों के करने का अधिकार केवल ऊपर के तीन वर्णों, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही है। उसे आत्रेय का समर्थन प्राप्त होता है। परन्तु बादरी के समान ऐसे विचारक भी थे जिनका मत था कि यज्ञों का अधिकार सब वर्णों को एक समान प्राप्त है। जैमिनि का आधार यह है कि, क्योंकि शूद्र वेदों का अध्ययन नहीं कर सकते, इसलिए वे यज्ञों को करने के अधिकार से वञ्चित हैं।[2]

प्रभाकर के अनुयायी संकल्पशक्ति का विस्तृत विश्लेषण करते हैं। 'सिद्धान्त मुक्तावलि' में ऐच्छिक कर्म का, प्रभाकर के मत से, निम्नलिखित क्रम दिखाया गया है: कार्यताज्ञान अर्थात् कोई कार्य करना है इसका अभिज्ञान, अथवा कर्तव्य का भाव चिकीर्षा, अर्थात् उसको करने की इच्छा जिसमें यह ज्ञान उपलक्षित है कि यह कार्य किया जा सकता है, अर्थात् कृतिसाध्यताज्ञान, चेष्टा, और क्रिया। प्रभाकर कल्याण की भावना की अपेक्षा कर्तव्य-भावना पर अधिक बल देता है, परन्तु काम्य कर्मों में कल्याण की भावना विद्यमान रहती है वैदिक यज्ञों में, आदेश अपनी शाब्दिक शक्ति द्वारा, कर्ता के अन्दर, उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है जिसका संकेत आदेश में किया गया है। मीमांसा दर्शन मानवीय स्वतन्त्रता को मानता है, अन्यथा मनुष्य अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराए जा सकते।

कर्म-विधान का तात्पर्य यदि ठीक ठीक समझ लिया जाय तो मानवीय स्वतन्त्रता के साथ इसकी असंगति नहीं है। हम प्रथम पग उठाने से बच सकते हैं, किन्तु जब एक बार पग उठा लिया तो, स्वभाव के विधान के अनुसार दूसरा पग सरलता से उठ जाएगा।[3]

वेद मनुष्य जाति की विज्ञता का प्रतिनिधित्व करते हैं, और यदि उनमें शिक्षित समाज की सम्मति से विरोध पाया जाता है तो उनकी प्रामाणिकता के विषय में स्वभावतः सन्देह उत्पन्न होता है। कुमारिल तर्क करता है कि वैदिक आदेशों में अन्तर्निहित प्रामाणिकता है, क्योंकि अधिकतर जनसाधारण उन्हें मानते हैं। उसकी सम्मति में

1 4 1 3।

2 6 1 25 38। जैमिनि का विरोध कुछ तत्त्वों से होता है जिनका समाधान करने के लिए वह बहुत प्रयत्न करता है। 6 1 44 50 में रथकार के लिए जो चारों वर्णों से बाहर है, अग्न्याधान यज्ञ करने का अधिकार स्वीकार किया गया है। निषाद रौद्रयज्ञ के अधिकारी हैं। (6 1, 51 52)।

3 हरिदास का भूत परिणाम उन्नति से यह नैतिक शिक्षा लेता है जब हम अपनी स्वतन्त्र इच्छा से पाप की ओर वेग से दौड़ते हैं, तो स्वयं परमात्मा हमारा सहायक होता है।

सामाजिक चैतन्य वैदिक नियमों की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है। तो भी वह कर्तव्य के विषय में हमें वेद की पथप्रदर्शकता को स्वीकार करने का आदेश देता है, और समाज-कल्याण अथवा दूसरों का सुख सरीखे अनिश्चित पथप्रदर्शकों पर विश्वास न करने का आदेश करता है।[1] महान पुरुषों का आचरण भी हमें धर्म के स्वरूप का संकेत करता है। किन्तु कुमारिल बौद्धमत के सिद्धान्तों का समर्थन करने में संकोच अनुभव करता है, क्योंकि बौद्ध वेदों की प्रामाणिकता का विरोध करते हैं। वह नेकनीयती के साथ स्वीकार करता है कि बौद्धों का आचार-विधान, जो अहिंसा पर बल देता है, श्रेष्ठ है, यद्यपि वे जो वेदों का खण्डन करते हैं, वह निन्दनीय है। बौद्धमत में जो सत्य का अंश है वह उससे मिश्रित है जो अधिकतर मिथ्या है, और इसलिए वह इसकी तुलना उस दूध के साथ करता है जो कुत्ते की खाल मे रखा हुआ है।[2]

वेदान्त यान्त्रिक क्रियाकलाप (कर्मकाण्ड) का विरोध उसी भावना को लेकर करता है जिस भावना से ईसामसीह ने फारसियों का विरोध किया और लूथर ने कर्मों द्वारा औचित्य-निर्णय के सिद्धान्त का विरोध किया। प्रत्येक कार्य चाहे वह कितना ही पवित्र क्यो न प्रतीत हो, बिना किसी मनोभावना के यान्त्रिक रूप में किया जा सकता है, और इसीलिए अपने-आपमे मोक्ष के लिए अधिक उपयोगी नही हो सकता। कर्मकाण्डवाद अधिकतर हानिकारक है, क्योंकि उसमे मिथ्याविश्वास रहता है। हम चाहे कितने ही यज्ञ क्यों न करें, फिर भी हो सकता है कि वे आन्तरिक भावना मे कोई भी परिवर्तन न ला सकें। यदि पुण्य अथवा धर्म से तात्पर्य नैतिक सुधार अथवा हृदयपरिवर्तन से है, तो कर्मकाण्ड-सम्बन्धी यज्ञ नही बल्कि स्वार्थत्याग आवश्यक है। वेद श्रद्धा, भक्ति और तपस्या का विधान करते हैं,[3] जिनका यज्ञों के साथ बहुत दूर का सम्बन्ध है। ईश्वरवादी मत, जो घोषणा करते हैं कि समस्त कार्य ईश्वर को समर्पित करके करना चाहिए, वेद की भावना के अनुकूल हैं। कुछ परवर्ती मीमांसकों का यही मत है। लौगाक्षि भास्कर हमें बतलाता है कि जब ईश्वरार्पण के भाव से कर्तव्य का पालन किया जाता है तो वह मोक्ष का कारण बन जाता है।[4] इस लोक में या परलोक में पुरस्कार का भाव अनासक्ति तथा आत्मत्याग की भावना को दबा देता है। इसके अतिरिक्त, मीमांसक मुख्य करके यज्ञों के विषय में ही कहते हैं,[5] और इस प्रकार मानवीय जीवन के मुख्य भाग को अछूता छोड़ देते हैं।

15. अपूर्व

कर्मों को करने का आदेश उनके फलों को दृष्टि में रखकर किया जाता है। कर्म और उसके परिणाम मे एक प्रकार का सम्बन्ध रहना आवश्यक है। कर्म, जो आज किया गया है, किसी भविष्यत्काल में अपना परिणाम उत्पन्न नही कर सकता जब तक कि वह समाप्त होने से पूर्व किसी अदृष्ट परिणाम को जन्म न दे दे। जैमिनि इस प्रकार की एक अदृष्ट शक्ति की कल्पना करते हैं और उसे 'अपूर्व' की संज्ञा देते हैं।[6] इसे या तो फल का

1. श्लोकवार्तिक, 2 : 242-47।
2 श्वचर्मनिक्षिप्तक्षीरवत् (तन्त्रवार्तिक, 1 · 3, 6, पृष्ठ 127)।
3 श्रद्धां देवा यजमाना…उपासते (ऋग्वेद, 10 : 151-54) और देखिए ऋग्वेद, 10 : 167।
4 ईश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणस्तु नि श्रेयसहेतु (अर्थसंग्रह)।
5. यागादिरेव धर्मः, तल्लक्षण वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवद् अर्थो धर्मः (अर्थसंग्रह, पृष्ठ 1)
6. कोई नई वस्तु, जो पहले नहीं जानी गई।

पूर्ववर्ती अदृष्ट माना जा सकता है या कर्म की पश्चाद्वर्ती अवस्था। क्योंकि यज्ञ इत्यादि की व्यवस्था ऐसे निश्चित फलों के लिए की गई है जो दीर्घकाल के बाद मिलते हैं, इसलिए कालान्तर में फल की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं हो सकती जब तक कि इसके लिए अपूर्व को माध्यम न माना जाए।[1] कार्य तथा उसके परिणाम के बीच 'अपूर्व' एक अतिलौकिक कड़ी है।[2] मीमांसक कर्मों के फलों को ईश्वर की इच्छा पर निर्भर मानने के इच्छुक नहीं हैं, क्योंकि नानाविध कार्यों का कारण कोई एक नहीं हो सकता।[3]

कुमारिल के अनुसार, अपूर्व प्रधान कर्म में अथवा कर्ता में एक योग्यता है, जो कर्म के करने से पूर्व नहीं थी और जिसका अस्तित्व धर्मशास्त्र के आधार पर सिद्ध होता है। कर्म के द्वारा उत्पन्न निश्चित शक्ति, जो परिणाम तक पहुचाती है, अपूर्व है। अपूर्व का अस्तित्व अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। यदि हम इसके अस्तित्व को नहीं मानें तो कितने ही वेदवाक्यों की व्याख्या न हो सकेगी। कर्ता द्वारा किया गया यज्ञ कर्ता में साक्षात् एक ऐसी शक्ति उत्पन्न करता है जो उसके अन्दर अन्यान्य शक्तियों की भांति जन्म-भर विद्यमान रहती है और जीवन के अन्त में उसके लिए प्रतिज्ञात पुरस्कार प्राप्त कराती है। प्रभाकर के अनुसार, अपूर्व आत्मा के अन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि अपनी सर्वत्र व्यापकता ही के कारण आत्मा निष्क्रिय है। वह इस मत को स्वीकार नहीं करता कि कर्मकर्ता के अन्दर एक निश्चित क्षमता उत्पन्न करता है, जो अन्तिम परिणाम का निकटतम कारण है। यज्ञ इस प्रकार की क्षमता उत्पन्न करता है, यह न तो प्रत्यक्ष से, न अनुमान से और न धर्मशास्त्र से ही सिद्ध होता है। *कर्ता के प्रयत्न से कर्म उत्पन्न होता है और कारणरूप क्षमता इसी* प्रयत्न में रहनी चाहिए। इस प्रकार हमें क्षमता की कल्पना कर्म में करनी चाहिए न कि कर्ता में। इसके अतिरिक्त, 3 1, 3 में यह सिद्ध किया गया है कि नियोज्य पुरुष द्वारा अभिलषित परिणाम का साक्षात् कारण, कार्य है। यह कार्य कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म अन्तिम परिणाम का साक्षात् कारण नहीं है। कार्य की उत्पत्ति कर्ता की कृति अर्थात् प्रयत्न द्वारा होती है, जिसका कारण नियोग (प्रेरणा) है।[4] प्रयत्न कर्ता के अन्दर एक परिणाम (कार्य) उत्पन्न करता है। प्रभाकर इसे भी नियोग का नाम देता है, क्योंकि यह कर्ता के लिए एक प्रेरक का कार्य करता है, जिसके कारण वह कर्म करने का प्रयत्न करता है, *परन्तु यह नियोग, जब तक भाग्य इसमें सहायक न हो, परिणाम को* उत्पन्न नहीं कर सकता, जैसाकि शालिकनाथ ने कहा है। प्रभाकर के मत[5] को समझना आसान नहीं है और वह कुमारिल के मत से कुछ उन्नत भी प्रतीत नहीं होता।

उद्योतकर ने अपूर्व के सिद्धान्त की आलोचना की है।[6] यह नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि इसे नित्य मानने से मृत्यु सम्भव न हो सकेगी, क्योंकि पुण्य व

1 पूर्वमीमांसासूत्र, 2 1 5।

2 तुलना कीजिए भीमाचार्य की इस परिभाषा से यागादिजन्य स्वर्गादिजनक कश्चन गुण-विशेष (न्यायकोश)।

3 शाबरभाष्य 3 2 40।

4 3 1 3।

5 प्रकरणपञ्चिका पृष्ठ 185 से आगे।

6 न्यायवार्तिक 1 1, 7।

पाप भी नित्य हो जाएंगे। यदि अपूर्व एक है तो सब मनुष्यों के सुख और दुःख एकसमान होंगे। हम यह नही कह सकते कि यद्यपि अपूर्व एक है, किन्तु अभिव्यक्त करनेवाले साधन अनेक हैं, क्योंकि हम नही जानते कि अभिव्यक्त करनेवाला साधन क्या है, अर्थात् क्या यह परिणाम उत्पन्न करने की योग्यता है, अथवा अपूर्व से सम्बद्ध एक धर्म है। हम नही कह सकते कि अपूर्व और योग्यता एक ही हैं, या भिन्न हैं। यदि हम कहें कि गुप्त अपूर्व अभिव्यक्त किया गया है, तो हमारे लिए इसका समाधान करना आवश्यक होगा कि पहले यह गुप्त कैसे रहता है। यदि नित्य अपूर्व भिन्न-भिन्न पुरुषों के लिए भिन्न-भिन्न भी हो, तो भी अभिव्यक्ति की कठिनाइयों से बच नही सकते। शङ्कराचार्य अपूर्व की प्रकल्पना की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि यह अभौतिक नही है और तब तक यह कार्य नहीं कर सकता जब तक कि इसे चालित करनेवाला कोई आध्यात्मिक न हो। कर्मों के फलों की व्याख्या एकमात्र अपूर्व के सिद्धान्त से नहीं हो सकती। यदि कहा जाए कि ईश्वर अपूर्व के सिद्धान्त के अनुसार कर्म करता है, तो वेदान्त का ठीक यही मत है कि ईश्वर कर्म-विधान के अनुसार कार्य करता है।[1]

16. मोक्ष

जैमिनि और शबर ने मोक्ष की समस्या का सामना नही किया। उन्होने स्वर्ग के जीवन का तो मार्ग निर्दिष्ट किया, किन्तु संसार से मुक्ति का मार्ग-निर्देश नही किया। परन्तु परवर्ती लेखक उक्त समस्या से बच नही सके, क्योंकि अन्य सम्प्रदायों के विचारकों का ध्यान इधर आकृष्ट था। प्रभाकर के अनुसार, धर्म और अधर्म के सर्वथा विलोप होने का नाम ही मोक्ष है, क्योंकि इनका व्यापार ही पुनर्जन्म का कारण है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "समस्त धर्म और अधर्म के विलोप हो जाने के कारण जो शरीर की समाप्ति है वही मोक्ष है।"[2] एक व्यक्ति यह पता लगाकर कि इस संसार में सुख दुःख के साथ मिश्रित है, मोक्ष की ओर अपने ध्यान को मोड़ता है। वह निषिद्ध कर्मों से बचने का प्रयत्न करता है और विहित कर्मों से भी बचता है, जो इस लोक मे या परलोक में सुख दे सकते हैं। वह पूर्व-एकत्रित कर्म को पूर्णतया समाप्त कर देने के लिए जो आवश्यक परिशुद्धियां हैं उनमे से गुज़रता है, और शनैः-शनैः आत्मा के सत्यज्ञान से, जिसमे सन्तोष तथा आत्मनियन्त्रण सहायक होते हैं, अपने शारीरिक जीवन से मुक्ति पा जाता है।[3] केवल ज्ञान हमें बन्धन से मुक्ति नही दिला सकता, जिसकी प्राप्ति कर्म की सर्वथा समाप्ति से ही हो सकती है। ज्ञान आगे के लिए पुण्य व पाप के संचय को रोकता है।[4] यह प्रकट है कि प्रभाकर के अनुयायी केवल कर्म को ही अपने-आपमें मोक्ष प्राप्ति के लिए पर्याप्त नही मानते। कर्म, पुरस्कार की आशा मे, आगामी जन्म की ओर ले जाता है। हमारी रुचियां तथा अरुचियां हमारे भावी जीवनों की निर्णायक हैं। यदि हम मोक्ष

1 कर्मापेक्षाद् अपूर्वापेक्षाद् वा यथास्तु तथास्तु ईश्वरात् फलम् (शांकरभाष्य, 3 : 2, 41)।

2 आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्ष इति सिद्धम्। धर्माधर्मवशीकृतो जीवस्तासु तासु योनिषु संसरति (प्रकरणपञ्चिका, तत्त्वालोक, पृष्ठ 156)।

3 शमदमब्रह्मचर्यादिकाङ्गोपबृंहितेनात्मज्ञानेन। पृष्ठ 157।

4 एक भिन्न मत के लिए देखिए भाट्टचिन्तामणि, बनारस एडीशन, पृष्ठ 57।

प्राप्त करना चाहते हैं तो हमे इस चक्र को अवश्य तोडना होगा। सुख और दु ख दोनो की समाप्ति का नाम मोक्ष है। यह परम आनन्द की अवस्था नही है, क्योकि गुणविहीन आत्मा आनन्द को भी प्राप्त नही कर सकती। मोक्ष केवल आत्मा का प्राकृतिक स्वरूप है।[1]

कुमारिल के अनुसार, मोक्ष समस्त दु ख से रहित आत्मा की अपने स्वरूप मे स्थिति है।[2] कुछ विचारक आत्मा के आनन्दानुभव को मोक्ष मानते है।[3] किन्तु यह कुमारिल के मत के विरुद्ध है, जो बलपूर्वक कहता है कि मोक्ष नित्य नही हो सकता जब तक कि यह निषेधात्मकस्वरूप न हो।[4] पार्थसारथि का भी मत है कि मोक्ष की अवस्था दु ख से मुक्ति है, सुखोपभोग नही है। आत्मा ज्ञान की शक्ति है। पदार्थो (विषयो) के बोध मानस तथा इन्द्रियो की क्रियाओ के कारण है। क्योकि मोक्ष मे इनका कोई अस्तित्व नही रहता, इसलिए आत्मा सब प्रकार की अभिव्यक्ति से रहित, अपने विशुद्ध सारतत्त्व मे रहती है। यह सुख, दु ख और वैसे ही अन्य विशिष्ट गुणो से रहित एक अवस्था है। इसे चैतन्य की ऐसी अवस्था माना जा सकता है जिसमे कोई विषयपरक बोध अथवा किसी भी प्रकार की संवेदना नही होती। किन्तु कुमारिल मोक्ष को एक विध्यात्मक अवस्था—आत्मा का साक्षात्कार—मानता हे, और यह अद्वैत वेदान्त के बिलकुल समीप है। उसके विचार मे मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञान पर्याप्त नही है। उसका विश्वास है कि ज्ञानयुक्त कर्म से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

17 ईश्वर

पूर्वमीमासा अनेको देवताओ के अस्तित्व को स्वीकार कर लेती है, जिससे कि वेदविहित आहुतिया उन्हे अर्पित की जा सके। यह इन देवताओ के परे नही जाती, क्योकि वैदिक धर्म के पालन मे किसी सर्वोपरि शक्ति की कल्पना की आवश्यकता नही हे। जैमिनि ईश्वर का निषेध उतना नही करते जितना कि उसकी ओर उपेक्षा का भाव रखते है। वैदिक धर्म के किसी भी ब्यौरे मे ईश्वर की सहायता आवश्यक नही है। धर्म की स्थापना एक नित्य स्वयभू वेद के द्वारा हुई है, और हम पहले ही देख आए है कि किस प्रकार वेद को ईश्वर की कृति मानने के प्रयासो का प्रत्याख्यान किया गया हे। यज्ञो के पुरस्कार किसी परोपकारी ईश्वर के कारण नही है। यहा तक कि जहा परिणाम तुरन्त प्रकट नही होते, वहा अपूर्व का अतीन्द्रिय सिद्धान्त उपस्थित कर दिया जाता है, और यह समय पर यज्ञ के कर्ता को उसके पुरस्कार की प्राप्ति मे सहायता देता है। एक सर्वज्ञ सत्ता के अस्तित्व का कोई विश्वसनीय प्रमाण नही मिलता। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्दप्रमाण सब अनुपयोगी है। श्रुति के वे वाक्य जो घोषणा करते हैं 'वह सब जानता है', 'वह ससार को जानता है', यज्ञकर्ता के पुण्यो की बढा-चढाकर स्तुति करते है। कार्यो का सिलसिला और उससे निकलनेवाले परिणाम, बीजाकुर की भाति, अनादिकाल से अनन्तकाल तक चलते रहते हैं। मीमासा उस सिद्धान्त को स्वीकार नही करती जिसके अनुसार सृष्टि और प्रलय बार-बार होते है। परिणमन तथा विनाश की प्रक्रिया निरन्तर चलती है। यह कल्पना करना व्यर्थ है कि सर्वोपरि प्रभु किसी एक समय मे सब आत्माओ

1 स्वात्मस्फुरणरूप (प्रकरणपंचिका पृष्ठ 157)।
2 परमात्मप्राप्त्यवस्थामानम्।
3 चित्तेन स्वात्ममोच्यान्भूति ।
4 श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहार, पृष्ठ 107।

की शक्तियों को निष्क्रिय बना देता है और जब एक नई सृष्टि का संचालन होता है तो उन्हें फिर से जागरित करता है। प्रभाकर यह तो स्वीकार करता है कि विश्व संघटक भाग हैं, जिसका आदि भी है और अन्त भी है, किन्तु वह यह मानता है कि पूर्ण इकाई के रूप में विश्व का न आदि है, न अन्त है। मनुष्यों तथा पशुओं के शरीरों की उत्पत्ति में हम किसी दैवीय सत्ता के हस्तक्षेप को नहीं देखते, क्योंकि वे अपने माता-पिता से उत्पन्न होते हैं। हम नहीं कह सकते कि परमाणु ईश्वर की इच्छा के अनुकूल कर्म करते हैं, क्योंकि हमारे अनुभव में प्रत्येक आत्मा उस शरीर पर कार्य करती है जो इसे मिला हुआ है। किन्तु परमाणु ईश्वर का शरीर नहीं हैं। यदि हम ईश्वर को शरीररूपी यन्त्र प्रदान करें भी, तो उस शरीर में क्रिया ईश्वर के ही प्रयत्न के कारण होगी। यदि वह प्रयत्न नित्य है तो परमाणु निरन्तर क्रियाशील रहेंगे। और न ही हम यह कह सकते हैं कि धर्म व अधर्म का कोई दैवीय निरीक्षक है, क्योंकि वे बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों से सम्बद्ध हैं। एक सत्ता, चाहे वह कितनी ही महान क्यों न हो, दूसरे के धर्म और अधर्म को नहीं जान सकती। ईश्वर अपनी इन्द्रियों अथवा मन के द्वारा दूसरों के धर्म को, जो अदृश्य है, प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, क्योंकि वह उसके शरीर के बाह्य है। धर्म और अधर्म पर ईश्वर के नियन्त्रण का क्या स्वरूप है, इसे समझना कठिन है। यह नियन्त्रण संयोग की अवस्था नहीं है, क्योंकि धर्म और अधर्म गुण हैं और संयोग द्रव्यों में ही सम्भव हो सकता है। यह समवाय की अवस्था भी नहीं है क्योंकि धर्म और अधर्म अन्य आत्माओं में समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं, और ईश्वर में नहीं रह सकते।[1]

कुमारिल न्याय के उस मत की आलोचना करता है जो तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है, और घोषणा करता है कि वेदों का निर्माण ईश्वर द्वारा हुआ है। यदि वेद, जिन्हें ईश्वर की कृति समझा जाता है, कहते हैं कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा है, तो इस प्रकार के कथन का कोई मूल्य नहीं है।[2] यदि स्रष्टा ने जगत् को बनाया है तो इसे कौन प्रमाणित करेगा? फिर, वह जगत् का निर्माण कैसे करता है? यदि उसका कोई भौतिक शरीर नहीं है, तो उसे सृष्टिरचना की कोई इच्छा भी नहीं हो सकती। यदि उसका कोई भौतिक शरीर है तो वह स्वयं उसके कारण नहीं हो सकता, और इस प्रकार हमें उसके लिए एक अन्य स्रष्टा मानना होगा। यदि उसका शरीर नित्य माना जाए तो वह किन घटकों से बना है, क्योंकि पृथ्वी आदि तत्त्व तो तब तक उत्पन्न नहीं हुए थे? यदि उसकी रचनात्मक क्रिया से पूर्व प्रकृति का अस्तित्व है, तो अन्य पदार्थों के अस्तित्व का निषेध करने का कोई कारण नहीं है। दु:खों से भरे इस संसार को उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? भूतकाल के कर्म की व्याख्या लागू नहीं होती, क्योंकि इससे पूर्व सृष्टि न थी। दया के कारण वह सृष्टि की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे प्राणी नहीं थे जिनपर दया दिखाई जा सके। इसके अतिरिक्त, इस मत के अनुसार केवल सुखी प्राणियों की ही रचना की जानी चाहिए थी। हम यह नहीं कह सकते कि ऐसी सृष्टि की रचना सम्भव नहीं है जिसमें दु:ख का अंश विद्यमान न हो, क्योंकि ईश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। किन्तु यदि किन्हीं कारणों से उसपर प्रतिबन्ध लगा हुआ है, तो वह सर्वशक्तिमान नहीं है। यदि सृष्टि की रचना ईश्वर के मनोरंजन के लिए है, तो उस प्रकल्पना से विरोध होता है जो कहती है कि ईश्वर सर्वथा सुखी है। इससे ईश्वर बहुत

1 झा : प्राभाकरमीमांसा, पृष्ठ 80-87।
2 श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, 114; चोदनासूत्र, 142।

अधिक कष्टदायक परिश्रम मे पड जाएगा, और न ही ससार के विनाश की उसकी इच्छा समझ मे आएगी। हम उसकी वाणी पर क्यो विश्वास करें? क्योंकि यदि उसने जगत् का निर्माण न भी किया हो तो भी अपनी शक्ति की महत्ता दिखाने को वह ऐसा कह सकता है।[1] यदि स्रष्टा अपने धर्म की मात्रा के कारण अन्यो से भिन्न है, तो धर्म केवल वेदो के द्वारा ही सम्भव है, और इस प्रकार वे सृष्टि से पूर्ववर्ती हैं।[2] यदि यह कहा जाए कि परमाणु ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं, तो ईश्वरेच्छा कैसे उदय होती है? यदि अदृष्ट सरीखे किसी कारण से इसे प्रेरणा मिलती है, तो वही ससार का भी कारण हो सकता है।[3] यदि ईश्वर अन्य वस्तुओ पर निर्भर करता है तो उसकी स्वतन्त्रता मे अन्तर पडता है। यदि हम ईश्वर की इच्छा का आश्रय लेते है, तो ससार की व्याख्या के लिए वह पर्याप्त है, और कर्म की कोई आवश्यकता नही रह जाती।

देवताओ के देहधारी स्वरूप के विषय मे शबर का विचार है कि वेद उक्त स्वरूप के विषय मे केवल स्तुति के विचार से कहते हैं। यह कहने का कि "हमने तुम्हारा हाथ पकड लिया है" अर्थ होता है कि हम तुम्हारी शरण में आ गए है।[4] प्रभाकर और कुमारिल दोनो का मत है कि देवता देहधारी नही हैं। हम देवताओ की कृपा से अपने कर्मों का फल प्राप्त नही करते, और इसलिए उन्हे किसी प्रकार के भौतिक रूप की आवश्यकता नही है। यद्यपि मीमासा के सस्थापको ने देवताओ को किसी प्रकार की यथार्थता से सम्पन्न माना, परन्तु परवर्ती मीमासक, मन्त्रो के महत्व पर बल देने की उत्सुकता मे, तर्क करते हुए कहते हैं कि यज्ञकर्ता को देवताओ के व्यक्तित्व से कोई सरोकार नही है, उसे मन्त्रो तक ही अपने ध्यान को सीमित रखना चाहिए। उनका झुकाव देवताओ को काल्पनिक मानने की ओर है और तो भी वे इसपर बल देते रहते है कि उन्हे आहुतिया देने से पुरस्कार-प्राप्ति निश्चित है, चाहे उन्हे उद्दिष्ट करके बने मन्त्रो से अलग उनका अस्तित्व ही न हो।[5]

पूर्वमीमासा पर लिखे गए एक आधुनिक ग्रन्थ मे इस प्रश्न पर मीमासा के मत को वेदान्त के मत के साथ समन्वय करने का सुकल्पित प्रयत्न किया गया है।[6] ऐसा तर्क दिया गया है कि यह ठीक है कि जैमिनि ईश्वर के पुरस्कारो का वितरण करनेवाले रूप का खण्डन करते है, परन्तु वह ईश्वर के सृष्टि का स्रष्टा होने का निषेध नही करते। जहा अन्य दर्शन-पद्धतियो के मत मे ईश्वर जगत् का सृष्टा भी है व फलों का प्रदाता भी है, वहा जैमिनि का विरोध यही है कि ईश्वर फलो का प्रदाता नहीं है। कोई भी पदार्थ जब मनुष्य को सुख या दु ख प्रदान करता है तो 'फल' कहलाता है। जब तक इसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति के साथ सुख अथवा दु ख के रूप मे नही है तब तक इसे 'फल' नही माना जा सकता।[7] जब कर्म को 'फल' का कारण कहा जाता है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि यह पदार्थ के सुखोपभोग का कारण है, केवल उसकी रचना से तात्पर्य नही होता। क्योंकि बादरायण अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय मे जैमिनि के मत पर

1 अस्पृष्टवापि ह्यसौ अयादात्मैश्वर्यप्रकाशनात 60।
2 न्यायवार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहार 44 72 114 16।
3 वही 72 73।
4 10 1 9 पर शबर को देखिए।
5 देखिए आपदेव देवतास्वरूपविचार।
6 पी० शास्त्री पूर्वमीमासा पृष्ठ 3।
7 शारीरभाष्य 3 2, 33।

विचार करता है, इसलिए वह जैमिनि के इस मत पर आक्षेप करता है कि ईश्वर नहीं बल्कि अपूर्व पुरस्कारों के वितरण का कारण है। यदि जैमिनि ने ईश्वर को स्रष्टा मानने से निषेध किया होता, तो बादरायण ने निश्चित रूप से इसका खण्डन दूसरे अध्याय में किया होता, जो प्रतिपक्षियों की आलोचना के लिए ही रखा गया था। जैमिनि ने अनुभव किया कि यदि संसार की असमानताओं का एकमात्र उत्तरदायित्व अकेले ईश्वर पर होता, तो वह पक्षपात तथा क्रूरता के दोषों से मुक्त न हो सकता, और इस कारण मनुष्यों के नानाविध भाग्यों का कारण उसने उनके पूर्व आचरण को ही ठहराया। यह समाधान निश्चय दिलानेवाला नहीं है, क्योंकि इससे पूर्व कि हम वस्तुओं से सुख अथवा दुःख की प्राप्ति कर सकें, उनका पहले अस्तित्व आवश्यक है। यदि अपूर्व हमारे सुखों और दुःखों का वितरण करनेवाला है, तो इसे जगत् का स्रष्टा भी होना चाहिए। यदि सृष्टिरचना के लिए ईश्वर आवश्यक है, तो अपूर्व केवल कर्म का सिद्धान्त होना चाहिए, जिसका ध्यान ईश्वर ने सृष्टि-रचना में रखा है। साक्षात् अथवा परोक्ष रूप में जैसे भी हो, ईश्वर जगत् का स्रष्टा तथा फलों का प्रदाता भी बन जाता है।

पूर्वमीमांसा के अन्दर का शून्य स्थान इतना असन्तोषजनक था कि परवर्ती लेखक गुप्त मार्ग से ईश्वर को ले आए। अपूर्व का अचेतन तत्त्व उन सामंजस्यपूर्ण परिणामों को जो इसके कारण उत्पन्न हुए कहे जाते हैं, प्राप्त नहीं कर सकता, इस आलोचना में जो बल था उसे अनुभव किया गया।[1] शनैः-शनैः दैवीय सिद्धान्त का प्रवेश हुआ। किन्तु इस सर्वोपरि प्रभु का कर्मविधान के अधीन होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि कोई भी अपने ही स्वरूप के अधीन नहीं होता। कर्मविधान ईश्वर की निरन्तरता को व्यक्त करता है। जब कुमारिल यह स्वीकार कर लेता है कि कर्म और उपासना दोनों मोक्षप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं, तो वह ईश्वर के अस्तित्व को निश्चित रूप से मानता है, यद्यपि निःसन्देह यह तर्क दिया जाता है कि उपासना भी एक प्रकार का कर्म है जो स्वयं अपने उचित फल को उत्पन्न करता है। यह प्रकट है कि बहुत पहले ही यह अनुभव कर लिया गया था कि मीमांसादर्शन यदि ईश्वरवाद से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ता तो विचारवान पुरुषों को सन्तोष प्रदान न कर सकेगा। इसलिए आपदेव और लौगाक्षिभास्कर घोषणा करते हैं कि यदि यज्ञ का सम्पादन सर्वोपरि प्रभु के सम्मान में किया जाता है तो यह उच्चतम कल्याण को प्राप्त कराएगा। इस प्रवृत्ति को अपनी पूर्ण सीमा तक वेदान्तदेशिक के सेश्वर मीमांसाग्रन्थ में पहुंचाया गया है।

पूर्वमीमांसा में नैतिक पक्ष पर बल दिया गया है। कर्म के स्थिर सिद्धान्त को संसार की परम यथार्थता समझा गया है। ईश्वर न्यायपरायणता अथवा धर्म है। धर्म की विषयवस्तु वेदों में रखी गई है, और वेद, केवल ईश्वर के मन को प्रकाश में लाते हैं। कुमारिल कहता है : "यह शास्त्र जिसे वेद कहा जाता है, जो शब्दों के रूप में ब्रह्म है, एक सर्वोपरि आत्मा का स्थापित किया हुआ है।"[2] कुमारिल अपनी पुस्तक का प्रारम्भ शिव के प्रति प्रार्थना से करता है : "मैं उसे प्रणाम करता हूं जिसका शरीर विशुद्ध ज्ञान

1. भामती, 3 . 2, 41 ।
2. शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते ।
तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना ।। (तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ 719 ।)

से बना है; तीनों वेद जिसके दिव्य चक्षु हैं; जो परमानन्द की प्राप्ति का कारण है और जो अर्धचन्द्र को धारण करता है।[1] वेद ईश्वर के मन का दिव्य ज्ञान है। यज्ञ सम्बन्धी कार्य आनन्द के विशेष कारण हो सकते हैं, किन्तु ईश्वर सामान्य कारण है। वह मत कुमारिल के इस घोषित आशय के साथ भी संगति रखता है कि मीमांसा के सिद्धान्त की इस प्रकार पुनर्व्याख्या करनी चाहिए जिसमें कि उसे उस काल की अप्रकृतिवादी प्रवृत्तियों की अनुकूलता में लाया जा सके।[2]

मीमांसा का दार्शनिक रूप में असन्तोषजनक बताने के लिए कुछ अधिक कहना आवश्यक है। विश्व के सम्बन्ध में मीमांसा का जो दार्शनिक मत है वह अपूर्ण है जो स्पष्ट प्रतीत होता है। परम यथार्थता की ओर आत्माओं तथा प्राकृतिक जगत के साथ उसके सम्बन्ध की समस्याओं से इसने अपना कोई वास्ता नहीं रखा। इसका नीतिशास्त्र सर्वथा यान्त्रिक है और इसका धर्म अटिपूर्ण रहा। यज्ञ करना ही सबसे आवश्यक माना गया और देवता यज्ञकर्ताओं की दृष्टि से विलुप्त हो गए। परवर्ती मीमांसक हमें स्पष्ट रूप में बताते हैं कि देवता वह है जिसके नाम के लिए सम्प्रदानकारक (चतुर्थी विभक्ति) का प्रयोग होता है : इन्द्राय स्वाहा इस मन्त्र में इन्द्र देवता है। इस प्रकार के धर्म में हृदय को स्पर्श करनेवाली तथा उसे प्रकाशित करनेवाली सामग्री कम है। इसलिए यदि एकेश्वरवाद, वैष्णव, शैव अथवा तान्त्रिक मतों के पक्ष में प्रतिक्रिया हुई तो कुछ आश्चर्य नहीं है। इन मतों ने मनुष्य को एक सर्वोपरि ईश्वर प्रदान किया जिसपर वह निर्भर कर सकता था और शोक तथा दुःख में जिसकी शरण में जा सकता था।

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

गंगानाथ झा : श्लोकवार्तिक
गंगानाथ झा : प्रभाकर स्कूल आफ पूर्वमीमांसा
कीथ : कर्ममीमांसा
पी० शास्त्री : इण्ट्रोडक्शन टु पूर्वमीमांसा;
सरकार : दि मीमांसा रूल्स आफ इण्टरप्रिटेशन

---

1 विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे॥ (श्लोकवार्तिक 1 : 1 ।)
पार्थसारथि अपने न्यायरत्नाकर में इस श्लोक की व्याख्या एक भिन्न अर्थ में करता है जिससे कि कुमारिल को निरीश्वरवादी न समझ लिया जाए। वह उक्त श्लोक का यज्ञ सम्बन्धी सोमलता में लगाता है : विशुद्ध मीमांसया संशोधितं ज्ञानम् एव देहो यस्य (मीमांसा द्वारा पवित्र हुआ ज्ञान ही जिसका शरीर है); त्रिवेद दिव्य चक्षुः प्रकाशक यस्य (जो तीनों वेदों से व्यक्त हुआ है); सोमस्य अर्ध स्थानं ग्रहचमसादि तद्धारिणे (जो सोम के पात्र आदि से युक्त है) इति यज्ञपक्षेऽपि स्पष्ट है। किन्तु वह यह भी मानता है कि कुमारिल ने सशरीरी ईश्वर शिव का उल्लेख किया है : शिवस्तवं महादेव स्तुतिपूर्वं नमस्यति। सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह (8 : 37) से हम पाते हैं कि कुमारिल के मत में आत्मा एक है और अनेक भी है—भिन्नाभिन्नात्मकः आत्मा। यह ग्रन्थ वेदान्त पर लिखे गए कतिपय अन्य ग्रन्थों की भांति यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि कुमारिल वेदान्ती था।

2 प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता
तामास्तिकपथे कर्तुम् अयं यत्नः कृतो मया। (श्लोकवार्तिक 1 : 10 ।)

सातवां अध्याय

वेदान्तसूत्र

प्रस्तावना—सूत्रकार तथा सूत्र की रचना का काल—अन्य सम्प्रदायों के साथ संबंध—अध्यात्म-विद्या संबंधी विचार—उपसंहार।

1. प्रस्तावना

वेदान्तदर्शन पर विशेष ध्यान देना केवल इसलिए आवश्यक नहीं कि इसका दार्शनिक महत्त्व है अपितु इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि भारत देश के धर्म में यह ओतप्रोत है और इस देश में यह अन्य सभी विचारपद्धतियों की अपेक्षा अधिक जीवित रूप में विद्यमान है। आधुनिक समय के हिन्दू विचारकों का जगत् के विषय में जो दृष्टिकोण है उसका निर्णय करने में वेदान्त का ही किसी न किसी रूप में प्रमुख भाग है।

'वेदान्त' शब्द का यौगिक अर्थ है—वेद का अन्त, अथवा वे सिद्धान्त जो वेदों के अन्तिम अध्यायों में प्रतिपादित किए गए हैं, और ये ही उपनिषदें हैं। उपनिषदों के विचार भी वही हैं जो वेद का अन्तिम लक्ष्य अथवा वेदों का सार[1] हैं। वेदान्तसूत्र का दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र भी है, क्योंकि यह ब्रह्म-सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या है और शारीरकसूत्र[2] भी इसी का एक अन्य नाम है इसीलिए कि यह निरुपाधिक आत्मा की अभिव्यक्ति के विषय में प्रतिपादन करता है। जहां एक ओर जैमिनि का कर्ममीमांसा ग्रन्थ वेदविहित धर्म तथा उसके फलाफल का अनुसंधान करता है वहां बादरायण का उत्तरमीमांसा-दर्शन उपनिषदों के दार्शनिक व ईश्वरज्ञान-सम्बन्धी विचारों का वर्णन करता है। दोनों एकत्र मिलकर सम्पूर्ण वेद के प्रतिपाद्य विषयों का क्रमबद्ध अनुसंधान करते हैं।[3] उपनिषदें केवलमात्र सत्य के प्रति विविध दृष्टिकोणों से किए गए दृष्टिपातों की एक शृंखला हैं, किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अन्तिम रूप से विचार करने के प्रति प्रयास नहीं हैं। तो भी ऐसे व्यक्तियों के ऊपर जो उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा प्राप्त सत्य करके मानते हैं, यह दर्शन का उत्तरदायित्व है कि उपनिषदों की शिक्षाएं एक संगतरूप में परिपूर्ण इकाई हैं और बादरायण का प्रयास इसी प्रकार के क्रमबद्ध कार्य की दिशा में है। उसका ग्रन्थ क्रमबद्ध दर्शन न होकर ईश्वरज्ञान-विषयक एक व्याख्या है। "बादरायण के ग्रन्थ का उपनिषदों के साथ वही सम्बन्ध है जैसाकि क्रिश्चियन रूढिवादियों का 'न्यू टेस्टामेण्ट' के साथ है, यह उपनिषदों की शिक्षाओं का अनुसंधान करता है, जो ईश्वर, जगत् तथा आत्मा के संसारचक्र में भ्रमण के विषय में तथा मोक्ष की अवस्थाओं के विषय में हैं। यह प्रत्यक्ष में दिखाई पड़ने वाली सिद्धान्त-सम्बन्धी असंगतियों का निराकरण

1 "तेषिषु तैलवद् वेदे वेदान्ता सुप्रतिष्ठिताः" (मुक्तिकोपनिषद्)। गौतम ने उपनिषदों तथा वेदान्त (22 9) में भेद किया है, किन्तु परम्परा के अनुसार बराबर यही माना जाता रहा है कि उपनिषदों के अनुयायी वेदान्त के अनुयायी हैं।

2 शरीर, देह।

3 तुलना कीजिए, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम् (शांकरभाष्य, 1 : 1, 1)।

करता है, उन्हे परस्पर क्रमबद्ध रूप मे जोडता है, और विशेष करके इसका उद्देश्य विरोधियो के आक्षेपो से बचाना है।[1]" पाच सौ पचपन सूत्रो के अन्दर, जिनमे से प्रत्येक दो या तीन शब्दो से बने है, समग्र दर्शन का परिष्कार किया गया है। सूत्र अपने-आपमे विशद अर्थ नही देते, किन्तु सब कुछ उनके भाष्यकार के ऊपर निर्भर करता है। उन्ह प्रोटियस के समान किसी नियमित रूप मे नही पकडा जा सकता। उनकी शिक्षाओ की व्याख्या कभी तो साकार ईश्वरवाद के उज्ज्वल प्रकाश मे की जाती है और कभी-कभी अस्पष्ट भाववाचक निरपेक्षवाद के रूप मे की जाती है। आस्तिकवाद के विभिन्न सम्प्रदायो मे बहुत प्रारम्भ से ही भिन्न-भिन्न विचार-परम्पराए स्थापित हो गई थी, जिन्हे शकर तथा रामानुज प्रभृति विचारको ने लेखबद्ध किया। टीकाकारो ने जिनमे प्रमुख है शकर, भास्कर, यादवप्रकाश, रामानुज, केशव, नीलकठ, मध्व, बलदेव, वल्लभ तथा विज्ञानभिक्षु,[2] एक समान विचारधारा का परिष्कार नही किया और इसलिए इस विषय का निर्णय करना कि इनमे से किसको सूत्र के ठीक-ठीक समझने के लिए पथ-प्रदर्शक माना जाए, सरल कार्य नही है, क्योकि इनकी टीकाए ऐसे समय मे लिखी गई जबकि ये सिद्धान्त अत्यन्त गम्भीर सगय तथा वादविवाद के विषय बन चुके थे। ये अपनी-अपनी व्याख्याओ का विकास पूर्व-निर्धारित मतो के आधार पर ही करते हैं, यहा तक कि कभी कभी शब्दो के धात्वर्थ तथा स्पष्ट अर्थो को भी दृष्टि से ओझल कर देते है, जिससे कि वे सन्दर्भ को खीच-खाचकर अपने दार्शनिक सिद्धान्तो की सचाई को सिद्ध करने मे प्रयोग कर सकें। सूत्र ऐसे दुर्लभ ग्रन्थो मे से एक ग्रन्थ है, जिसमे से प्रत्येक व्यक्ति को अपना अभिलषित सिद्धान्त अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्राप्त हो सकता है।

बादरायण के ग्रन्थ मे वेदान्त के अन्य शिक्षको के उल्लेखो से यह स्पष्ट विदित है कि उस समय उपनिषदो की कितनी ही स्वतन्त्र व्याख्याए, जो बादरायण की व्याख्याओ से भिन्न थी, प्रचलित थी।[3] जिस समय बादरायण ने अपने सूत्र का निर्माण किया उस समय भी परस्पर मे मुक्तात्मा[4] के लक्षण-सम्बन्धी तथा जीवात्मा के ब्रह्म के साथ सम्बन्धपरक मुख्य मुख्य विषयो मे भी परस्पर मतभेद विद्यमान थे।[5] आश्मरथ्य की सम्मति है कि जीवात्मा का ब्रह्म के साथ भेदाभेद-सम्बन्ध है, अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म से न तो नितान्त भिन्न है

1 डयूसन 5 पृष्ठ 21।

2 भारतीय परम्परा के अनुसार उक को भी सर्वप्रथम टीकाकारो मे माना गया है, शबर न अपने पूर्वमीमासाभाष्य मे वृत्तिकार उपवष का नाम लिया है। शबर का भी यह मत है (3 3 53)। रामानुज और उसके अनुयायी उसे बौधायन कहते हैं। वेदान्तदीपका की घोषणा ह कि उस एक ही व्यक्ति को दोनो नामो से पुकारा गया है। द्रामिड टक भर्तृप्रपच भारुचि कार्पदि ब्रह्मानन्द और गुहदेव की टीकाए उपलब्ध नहीं हैं ऐसा प्रतीत होता है। हम शाकरभाष्य 1 1 4 1 2 23 1 3 19, 1 4, 12 4 3 14।

3 बादरी (1 2 30 3 1, 11 4 3 7 4 4 10) औडुलोमि (1 4 21 3 4 45 4 4, 6) आश्मरथ्य (1 2 29 1 4 20) काशकृत्स्न (1 4 22) कार्ष्णाजिनि (3 1 9), आत्रेय (3 4 44) और जैमिनि। महाभारत म भी इनके मतो का वर्णन नही है।

4 4 3 7 14 4 4 5 7।

5 1 4 20 22।

और न ही नितान्त अभिन्न है।[1] औडुलोमि का मत है कि मोक्ष से पूर्व जीवात्मा ब्रह्म से सर्वथा पृथक् तथा भिन्न रहता है—मोक्ष अवस्था में ब्रह्म के अन्दर सर्वथा लीन हो जाता है[2] और काशकृत्स्न का विचार है कि जीवात्मा तथा ब्रह्म परस्पर सर्वथा तादात्म्य-सम्बन्ध से हैं और ब्रह्म ही किसी न किसी रूप में अपने को जीवात्मा के रूप में प्रकट करता है।[3] परवर्ती टीकाकार भी उक्त मतों में से ही एक मत को स्वीकार करते हैं। यह प्रकट है कि उपनिषदें स्वयं पर्याप्त विवाद का विषय रही हैं और बादरायण का वेदान्तविषयक विचार एक प्रमुख विचार-सम्प्रदाय का निष्कर्ष है, यद्यपि अन्यान्य सम्प्रदाय भी, जो पर्याप्त मात्रा में प्रसिद्ध थे विद्यमान थे।

2. सूत्रकार तथा सूत्र की रचना का काल

शंकराचार्य से आरम्भ करके बराबर परम्परा यही रही है कि वेदान्तसूत्र के कर्ता बादरायण हैं। चूंकि बादरायण का नाम अनेक स्थलों पर अन्य पुरुष[4] में आया है इसलिए स्वभावत मन में यह शंका उत्पन्न होती है कि बादरायण इसका रचयिता नहीं है।[5] किन्तु प्राचीन भारत में इस प्रकार अन्य पुरुष के प्रयोग का कोई असाधारण रिवाज नहीं था और इससे रचयिता कोई अन्य व्यक्ति है इस प्रकार की अर्थापत्ति न निकाली जानी चाहिए। भारतीय परम्परा के अनुसार, वेदान्तसूत्र का रचयिता बादरायण तथा व्यास एक ही व्यक्ति हैं। शंकर के अनुयायी, गोविन्दानन्द, वाचस्पति और आनन्द गिरि व्यास तथा बादरायण को एक ही बताते हैं। रामानुज, मध्व, वल्लभ और बलदेव वेदान्त-सूत्र का रचयिता व्यास को बताते हैं। कहीं-कहीं इस मत का खण्डन इस आधार पर किया जाता है कि जैमिनि, जिसका उद्धरण बादरायण ने स्थान-स्थान पर दिया है, व्यास का शिष्य था, यदि हम महाभारत, विष्णुपुराण तथा भागवत पर भरोसा करें, और इस प्रकार जैमिनि तथा बादरायण के ग्रन्थों में पारस्परिक उल्लेख गुरु व शिष्य के सम्बन्ध में परस्पर संगत नहीं बैठते। शबर, गोविन्दानन्द तथा आनन्दगिरि का मत है कि इसमें असंगति कुछ नहीं है।[6] किन्तु स्वयं शंकराचार्य का इस विषय में क्या मत था यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता।[7]

1 1 · 4, 20।
2 1 4, 22।
3 1 3, 26, 1 : 3, 33; 3 : 2, 41, 3 : 4, 1, 3 : 4, 8; 3 : 4, 19; 4 : 3, 15; 4 · 4, 7, 4 · 4, 12।

4 उदाहरण के लिए ह्यूसन का तर्क है कि जैमिनि और बादरायण के ग्रंथ, जिनमें से प्रत्येक में अपना तथा दूसरे का उद्धरण है, किसी परवर्ती सम्पादक ने एक ग्रंथ में संगृहीत कर दिए, जिसके ऊपर उपवर्ष ने टीका लिखी और अन्तिम पूर्वमीमांसा के ऊपर शबरभाष्य तथा ब्रह्मसूत्रों पर शांकर-भाष्य का आधार हुआ ('ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 24, पादटिप्पणी 17)।

5 देखें, बेलवाल्कर : 'मल्टिपल ऑथरशिप आफ दि वेदान्त सूत्राज',—'इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू', अक्तूबर 1918, में और अभयकुमार गुहाकृत 'जीवात्मा इन ब्रह्मसूत्राज', पृष्ठ 8।

6 शंकर ब्रह्मसूत्र पर की गई अपनी टीका के एक वाक्य में लिखता है कि द्वापर में कलियुग के प्रति सन्धिकाल में एक प्राचीन ऋषि तथा वैदिक शिक्षक अपान्तरतमस् विष्णु की प्रेरणा से कृष्ण-द्वैपायन नाम से उत्पन्न हुआ। चूंकि शंकर ने यह नहीं कहा कि यह कृष्णद्वैपायन ब्रह्मसूत्रों का

ब्रह्मसूत्र मे साख्य, वैशेषिक तथा जैन और बौद्ध सम्प्रदायो के मतो की ओर भी परोक्ष सकेत पाया जाता है। शकर, रामानुज, मध्व, और वल्लभ 2 3 45 और 4 1 10, मे क्रमश गीता के उल्लेखो (15 7 8, 24), और उक्त आचार्यो मे से प्रथम तीन, अर्थात् शकर, रामानुज और मध्व, 4 1 10 मे गीता (7 11) के उल्लेख के बारे मे एकमत हैं। सूत्रो मे वर्णित अनेको नाम श्रौत सूत्रो मे भी पाए जाते है, यथा आश्वलायन मे आश्मरथ्य, कात्यायन मे बादरि, कार्ष्णाजिनि और काशकृत्स्न, तैत्तिरीय प्रातिसारयसूत्र मे आत्रेय। बौद्धायन के गृह्यसूत्र मे आत्रेय, काशकृत्स्न तथा बादरी के नामो का उल्लेख है, इसी प्रकार भारद्वाज गृह्यसूत्र मे भी आत्रेय का उल्लेख है। काशकृत्स्न एक अत्यन्त प्राचीन टीकाकार है। पाणिनि अष्टाध्यायी पर रचित महाभाष्य मे औडुलोमी का उल्लेख आया है।[1] गरुडपुराण पद्मपुराण और मनुस्मृति मे वेदान्तसूत्र का उल्लेख है और हरिवश मे, जिसे हॉपकिंस ने 200 वर्ष ईसा के पश्चात् का बना हुआ माना है, इस विषय के स्पष्ट उल्लेख पाए जाते हैं। कीथ का मत है कि बादरायण का समय 200 वर्ष (ईसा के बाद) से आगे का नहीं माना जा सकता।[2] भारतीय विद्वानो का मत है कि उक्त सूत्र का निर्माण ५00 से 200 वर्ष ईसापूर्व के बीच के काल मे हुआ। फ्रेजर इसे 400 वर्ष ईसापूर्व का बताता है।[3] मैक्समूलर का कहना है, "भगवद्गीता का जो कोई भी काल हो (और यह महाभारत का एक भाग है), वेदान्तसूत्र और बादरायण का काल अवश्य इससे पूर्व होना चाहिए।"[4]

3. अन्य सम्प्रदायों के साथ सम्बन्ध

बादरायण के वेदान्त का जैमिनि के मीमासादर्शन के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध क्या है इसे भिन्न-भिन्न टीकाकारो ने भिन्न-भिन्न रूप मे बतलाया है।[5] रामानुज वृत्तिकार से सहमत होकर मानता है कि दोनो मीमासादर्शन एक ही ग्रथ

रचयिता है इसलिए विंडिकमैन और उसके पश्चात् तैलग इस परिणाम पर पहुचे कि शकर की दृष्टि म दोनो व्यक्ति भिन्न थे (ए नाट ऑन बादरायण जनल आफ एशियाटिक सोसाइटी बम्बई खड 16 1883 पृष्ठ 190)। जहा भी शकर ने व्यास का उद्धरण दिया है वहा कहीं भी ऐसा सकेत नहीं मिलता कि व्यास ब्रह्मसूत्रो का रचयिता है (2 1 12, 2 3, 47)। भगवद्गीता तथा महाभारत के शान्तिपर्व के अनेको उल्लेख ब्रह्मसूत्रो मे हैं इसलिए यदि हम टीकाकारो की साक्षी को स्वीकार करें, अर्थात् सूत्रो का रचयिता तथा महाभारत का लेखक एक ही है, तो उक्त साक्षी का तात्पर्य सरलता से समझ मे नही आ सकता।

1 4 1, 14।

2 कर्ममीमासा पृष्ठ ˚-6। किंतु जैकोबी का विश्वास है कि सूत्र का निर्माण 200 और 450 वर्ष ईसा के पश्चात के बीच हुआ (जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी, 1911)।

3 'लिटरेरी हिस्टरी आफ इण्डिया', पृष्ठ 196।

4 'सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी', पृष्ठ 113। गुहा, 'जीवात्मन इन दि ब्रह्मसूत्र।'

5 बादरायण ने जैमिनि का अनेक स्थलो पर उल्लेख किया है यथा 1 2, 28, 1 2, 31, 1 3, 31, 1 4, 18, 3 2, 40, 3 4, 2, 3 4, 18, 3 4, 40, 4 3 12, 4 4 5, 4 : 1, 11।

से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु शंकर का मत इससे भिन्न है। यह सम्भव है कि दोनों प्रारम्भ में एक ही सामान्य ग्रंथ के दो भाग रहे हों।[1] दोनों मीमांसादर्शन मुख्यतः वैदिक दर्शन हैं और प्रारम्भ में तथा मुख्यरूप में श्रुति अथवा वेद अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान के भाष्यरूप में थे। बादरायण ने न्याय का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। योग को सांख्य के साथ जोड़ा जाता है और सांख्य की जो समालोचनाएं हैं वे सब योग के ऊपर भी घटती कही जाती हैं।[2] सांख्य का खण्डन बहुत विस्तार के साथ मिलता है।[3] और अनेक स्थलों पर उसका उल्लेख पाया जाता है।[4] यही एक ऐसा दर्शन है जिसके प्रति अत्यन्त आदर-भाव दिखाया गया है, कुछ तो इसलिए कि इसके प्रतिपादित सिद्धान्त बादरायण को भी अभिमत हैं और कुछ इसलिए भी कि इसका समर्थन मनु तथा व्यास सरीखे ऋषियों ने किया है।[5] वैशेषिक के सिद्धान्तों की समालोचना की गई है[6] और हमें ज्ञात होता है कि बादरायण के समय में वैशेषिक दर्शन की ख्याति अधिक नहीं थी। बौद्धमत के अनेक सम्प्रदायों, लोकायत और भागवत के सिद्धान्तों पर भी विवाद मिलता है।[7] सूत्र के रचयिता के ऊपर भगवद्गीता तथा भागवतों के आस्तिकवाद का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव हुआ है।

4. अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विचार

वेदान्तसूत्र चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में ब्रह्म का आधारभूत यथार्थता के रूप में प्रतिपादन किया गया है। उक्त विषय के ऊपर जो भिन्न भिन्न वैदिक मत हैं उनका समन्वय करना इसका प्रयोजन है। धर्म के सम्बन्ध में कोई भी व्याख्या हो तथा ईश्वर, आत्मा और जगत् के सम्बन्ध में कोई भी समाधान हो, इन सबके लिए ऐसे व्यक्तियों के धार्मिक अनुभवों का विचार करना आवश्यक होता है, जो घोषणापूर्वक कहते हैं कि उन्होंने नित्यसत्ता के दर्शन किए हैं, और प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त को सन्तोषप्रद बनने के लिए भूतकाल के ऋषियों के लेखबद्ध अनुभवों के अन्दर समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। पहले अध्याय में हमें ब्रह्म के स्वरूप एवं इस दृश्यमान जगत् तथा जीवात्मा के साथ उसके सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। दूसरे (अविरोध) अध्याय में उक्त विचार के ऊपर जो आपत्तियां उठाई गई हैं उनका समाधान किया गया है और विरोधी सिद्धान्तों की समालोचना की गई है। इसके अन्दर ईश्वर के ऊपर जगत् किस रूप में निर्भर है इसका भी दिग्दर्शन कराया गया है तथा उस ईश्वर के भीतर से

1 देखें, ब्रह्मसूत्रों पर रामानुजभाष्य, 1 : 3, 1। जैकोबी : 'जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी', 1910। ड्यूसन ने पुराने 'टैस्टमेंट' के अनन्तर नये 'टैस्टामेंट' की रचना होने की उपमा दी है, जहां विधान से बद्ध जीवन आध्यात्मिक जीवन में बदलता है ('ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 20)।

2 2 : 1, 3।

3 1 : 1, 5-11, 1 : 4, 1-13, 2 : 1, 1-12, 2 : 2, 1-10।

4 1 : 1, 18, 1 : 2, 19; 1 : 2, 22; 1 : 3, 3; 1 : 3, 11, 1 : 4, 28; 2 : 1, 29; 2 : 3, 51, 4 : 2, 21।

5 देखें, ब्रह्मसूत्रों पर शांकरभाष्य, 1 : 4, 28।

6 2 : 2, 11-17।

7 देखें, 2 : 2, 1-45; 1 : 4, 28; 3 : 3, 53-54।

क्रमिक विकास तथा उसीके अन्दर पुनर्विलय का भी वर्णन दिया गया है और अन्तिम भाग मे[1] आत्मा के स्वरूप, उसके गुण, ईश्वर, शरीर तथा अपने कर्मों के साथ सम्बन्ध के विषय मे रोचक मनोवैज्ञानिक विवेचन भी दिया गया है। तीसरे अध्याय म ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के साधनो तथा उपायो पर विचार किया गया है। इसमे हमे पुनर्जन्म और साधारण मनोवैज्ञानिक[2] तथा ईश्वरज्ञान-सम्बन्धी[3] विषयो पर भी विवेचन मिलता है जिसके साथ श्रुतिभाष्य सम्बन्धी अनेक टिप्पणिया भी हैं। चौथे अध्याय मे ब्रह्मविद्या के पुरस्कारो का प्रतिपादन है। इस अध्याय मे कुछ ब्यौरे के साथ मृत्यु के पश्चात आत्मा का निष्क्रमण तथा दोनो मार्गों, अर्थात् देवयान तथा पितृयान, द्वारा सचार तथा उस मुक्ति के स्वरूप का भी वर्णन है जहा से लौटकर फिर ससारचक्र मे आगमन नही होता है। प्रत्येक अध्याय मे चार हिस्से (पाद) हैं और प्रत्येक हिस्से मे जो सूत्र हैं वे किसी न किसी वर्ग के अन्तर्गत आ जाते है, जिन्हे अधिकरण की सज्ञा दी गई है। भिन्न-भिन्न टीकाकारो मे पाठभेद भी कही-कही पाया जाता है, किन्तु ये सब भेद कुछ महत्त्व के नही है।[4]

बादरायण वेद को नित्य मानता है[5] और शास्त्रप्रमाण ही उसकी दृष्टि मे बहुत महत्त्वपूर्ण है।[6] वह स्पष्टरूप मे घोषणा करता है कि तर्क अथवा विचार के द्वारा अध्यात्मज्ञान सम्बन्धी सत्य की प्राप्ति सम्भव नही है।[7] वह यह भी स्वीकार करता है कि ज्ञान के दो ही स्रोत (साधन) हैं, अर्थात श्रुति और स्मृति, और वह इन्हें प्रत्यक्ष, तथा अनुमान के[8] नाम से पुकारता है, सम्भवत इसलिए कि स्मृति, जैसाकि शकर का सुभाव है कि स्मृति को ज्ञान के आधार (प्रामाण्य) की आवश्यकता होती है जबकि श्रुति को नही, क्योकि वह स्वत प्रमाण है। ईश्वरीय ज्ञानरूप श्रुति को, जो स्वत प्रकाशित है, प्रत्यक्ष माना गया है। श्रुति से बादरायण का तात्पर्य उपनिषदो से है और स्मृति से उसका तात्पर्य भगवद्गीता, महाभारत तथा मनुस्मृति से है। जिस प्रकार सासारिक ज्ञान मे अनुमान का आधार प्रत्यक्षज्ञान है, इसी प्रकार स्मृति का आधार श्रुति है। बादरायण अन्य किसी प्रमाण को नही मानता। वह इस जीवन को दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे विभक्त करता है, एक जो विचार का विषय है और यह प्रकृति का क्षेत्र है जिसके अवयव हैं मन, बुद्धि तथा अहभाव, और दूसरा क्षेत्र है अचिन्त्य, और वह ब्रह्म है। दूसरे क्षेत्र मे केवल शास्त्र ही हमारे पथप्रदर्शक हैं।[9] ऐसा एक भी तर्क जो वेद के अनुकूल नही है, बादरायण की दृष्टि मे निरर्थक है। तर्क का प्रारम्भ विशिष्ट लक्षणो से होता है। किन्तु ब्रह्म के विषय मे हम यह नही कह सकते कि यह अन्य गुणो से शून्य तथा अमुक-अमुक लक्षणो से युक्त है। इसलिए तर्क अन्तर्दृष्टि-सम्बन्धी ज्ञान के अधीन है[10] और वह

1 2 3 15 और आगे भी।
2 3 2 1, 10।
3 3 2, 11-41।
4 देखें बलवालकर 'दी मल्टिपल आथरशिप आफ दि वेदान्त सूत्राज', पृष्ठ 144-45, 'इण्डियन फिलॉसाफिकल रिव्यू'।
5 1 3, 29।
6 1 1, 4।
7 2 1, 11।
8 1 3, 28, 3 2, 24, 4 .4, 20।
9 1 1, 3, 2 . 1, 27।
10 2 1 6, 2 · 3, 11।

अन्तर्दृष्टि भक्ति तथा समाधि के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।[1]

वेदान्तसूत्र के अनुसार, सांख्य में वर्णित पुरुष और प्रकृति स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, किन्तु एक ही यथार्थसत्ता के परिवर्तित रूप हैं। यथार्थ अनन्तों का अनेकत्व सम्भव ही नहीं। एकमात्र अनन्त सत्ता, अर्थात् ब्रह्म, को ही उपनिषदों में वर्णित सर्वोच्च यथार्थसत्ता का रूप बताया गया है। प्रथम अध्याय में उपनिषदों में दिए गए ब्रह्म संबंधी अनेक वर्णनों के ऊपर हमें विचार-विमर्श मिलता है।[2] वही जगत् का उद्भव स्थान, आधार तथा अन्त है,[3] जो विश्व का निमित्त तथा उपादान भी है। वह बिना साधनों के सृष्टि की रचना करता है।[4] ब्रह्म की यथार्थता का एक मनोवैज्ञानिक प्रमाण प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था की साक्षी में मिलता है।[5] ब्रह्म को जड़द्रव्य-प्रधान अथवा जीवात्मा के साथ न मिला देना चाहिए। उसके अन्दर सब धर्म ओत-प्रोत हैं।[6] और वही आन्तरिक विधान तथा पथप्रदर्शक है।[7] उसमें निर्मलता, सत्यार्थ, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण विद्यमान हैं।[8] उसके ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी रूपों का भी प्रतिपादन किया है। वह विश्वात्मा ज्योति है, सूर्य में जो स्वर्णमय पुरुष है वह वही है, आकाश भी वही है, तथा विश्वव्यापी वायु अथवा प्राण भी वही है।[9] जीवात्मा में प्रकाश (ज्योति) भी वही है।[10] मनुष्य के हृदय में उसका निवास है[11], इसी रूप में उसका चिन्तन करना चाहिए, और हमें स्वतन्त्रता दी गई है कि हम सर्वव्यापक ईश्वर को एक परिमित देश के अन्दर विद्यमान भी मान ले सकते हैं। समस्त पदार्थों का परम अधिष्ठान एकमात्र सर्वोपरि आत्मा है और वही प्रत्येक पदार्थ का स्रोत तथा एकमात्र यथार्थ पूजा और श्रद्धा के योग्य है।[12]

जड़ पदार्थ तथा चेतन जीवात्माएं सर्वोपरि सत्ता के साथ किस प्रकार सम्बद्ध हैं? क्या हम इन्हें उसी प्रकार समझें जैसाकि गीता में बतलाया गया है, अर्थात् एकमात्र यथार्थसत्ता के ही यह उच्चतम तथा निम्नतम श्रेणी के अभिव्यक्त रूप हैं? सूत्र इस विषय में हमें कोई स्पष्ट मार्ग नहीं दिखाता। उपनिषदों के सृष्टि-सम्बन्धी विचार की अस्पष्टता इसमें भी पाई जाती है। ब्रह्म जो स्वयं अजन्मा है तथा नित्य है[13] सम्पूर्ण विश्व का कारण है।[14] प्रत्येक भौतिक तत्त्व ब्रह्म के द्वारा रचा गया है।[15] यदि प्रारम्भिक तत्त्वों के अन्दर गति होने से जगत् का विकास हुआ तो भी वह शक्ति जिसके द्वारा उक्त विकास सम्भव हुआ, ब्रह्म के द्वारा ही दी गई। जैसाकि कहा जाता है ब्रह्म तत्त्वों की रचना करके स्वयं उनके अन्दर प्रविष्ट हो गया और उक्त तत्त्वों में स्थित यह ब्रह्म ही है

1 3 2, 24।
2 1 . 2 और 3।
3 1 1, 2।
4 2 : 1, 23-27।
5 1 1, 9।
6 2 1, 37।
7 1 1, 20।
8 1 : 2, 1-2, 2 : 1, 30।
9 1 - 1, 20-23।
10 1 : 1, 24।
11 1 : 2, 7।
12 1 : 1, 7।
13 2 : 3, 9।
14 1 : 1, 5, 1 : 2, 1, 2 : 1, 22, 1 : 1, 22।
15 2 : 3, 7।

जो अन्यान्य पदार्थो की सृष्टि को कार्यरूप मे परिणत करता है।[1]

यह पहले बतलाया जा चुका है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण और ब्रह्म ही निमित्त कारण है।[2] ब्रह्म सब पदार्थो का स्रष्टा है और अपने को सब पदार्थो के रूप मे परिणत कर देता है, जैसेकि मिट्टी अथवा सोना ही मिट्टी तथा सोने के पदार्थो के रूप मे परिणत हो जाते है। सूत्र मे[3] कारण तथा कार्य के परस्पर सम्बन्ध के स्वरूप के विषय मे अर्थात ब्रह्म तथा जगत् पर विचार किया गया है। कारण और कार्य के तादात्म्य-सम्बन्ध को दो दृष्टान्तो के द्वारा समझाया गया है। ठीक जिस प्रकार कपडे का एक थान जब लिपटा हुआ रहता है, तो अपने स्वरूप को ठीक-ठीक प्रकट नही करता, किन्तु जब उसे फैलाया जाता है तभी अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से प्रगट करता है, यद्यपि दोनो अवस्थाओ मे कपडा वही एकसमान है। इसी प्रकार कारण और कार्य एक ही है, भले ही उसके गुण परस्पर-भिन्न प्रतीत होते हो।[4] फिर जैसे जब श्वास को रोक लिया जाता है तो मनुष्य कोई कर्म नही कर सकता, यद्यपि वह बराबर जीवित रहता है और जब वह श्वास को छोड देता है तो वह अपने अगो को हिला सकता है, यद्यपि इस सारी अवस्था मे श्वास एक ही है, इसी प्रकार कारण और कार्य भिन्न-भिन्न कर्मो को उत्पन्न करते हैं, यद्यपि वे है एक ही।[5] ब्रह्म और जगत् परस्पर भिन्न नही हैं[6] वैसे ही जैसेकि मिट्टी का पात्र मिट्टी से भिन्न नही है।[7] यद्यपि टीकाकार इस विषय मे सहमत हैं कि कारण कार्य से भिन्न नही है तो भी ब्रह्म तथा जगत् के तादात्म्य की उन्होने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। बादरायण की दृष्टि मे अनन्य शब्द के प्रयोग से तात्पर्य भिन्नता का अभाव अथवा परिवर्तन नही है। इस परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए ही शकर ने अविद्या की कल्पना की है। जगत् का अस्तित्व ऐसे ही व्यक्तियो के लिए है जो अविद्या के प्रभाव मे हैं, जैसेकि कल्पनात्मक साप ऐसे ही मनुष्य के लिए है जिसे रस्सी के विषय मे भ्रम हुआ है। अन्य टीकाकारो ने 'परिणाम' अर्थात् परिवर्तन की कल्पना का आश्रय लिया है। छान्दोग्य उपनिषद् मे कारण और कार्य के दृष्टान्त के लिए मिट्टी, सोना और लोहा तथा इनसे बने पदार्थों को चुना गया है, रस्सी और साप अथवा सीप और चादी को नही। सान्त पदार्थो की यथार्थता ब्रह्म के परिणामस्वरूप होने ही से है। "ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है" इस प्रकार के कथन से यही ध्वनित होता है कि यह जगत् ब्रह्म के सारतत्त्व का ही परिणमित रूप है।[8] जगत् कोई भ्रान्ति अथवा स्वप्न के समान ढाचा नही है किन्तु एक यथार्थ एव विध्यात्मक ठोस पदार्थ है, जिसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय भी ब्रह्म के अन्दर होता है।[9] बादरायण का मत है कि सृष्टि-रचना की शक्ति निर्मल एव निर्दोष ब्रह्म की अपनी शक्ति है, जिस प्रकार से

1 2 : 3, 13।
2 1 : 4, 23-27।
3 2 : 1, 14-20।
4 2 1, 19, शाकरभाष्य।
5 2 : 1, 20, शाकरभाष्य। रामानुज के अनुसार, कार्य कारण की ही परिवर्तित अवस्था का नाम है। शकर भी स्वीकार करता है कि यह जगत् ब्रह्म का अवस्यान्तर ही है, जैसे कि कपडा धागो का।
6 2 : 1, 14।
7. 1 : 1, 4, 1 : 4, 22।
8. 1 : 1, 26, और भी देखें, 2 : 3, 7।
9. 3 : 2, 3।

कि ताप अग्नि की अन्तर्निहित शक्ति है ।[1] ब्रह्म अपनी लीला के लिए[2] अपने को जगत् के रूप मे विकसित[3] करता है किन्तु इससे उसके अन्दर न तो किंचिन्मात्र परिवर्तन होता है[4] और न उसका ह्रास ही होता है । बादरायण को इस विषय की चिन्ता नही है कि वह यह सब कैसे सम्भव है इसकी व्याख्या करे । रामानुज तथा अन्यान्य आचार्यों की भांति वह यह भी नहीं कहता कि ब्रह्म की शक्ति अद्भुत है जिसके द्वारा अचिन्त्य वस्तु की भी प्राप्ति हो सकती है । वह हमारा ध्यान श्रुति के प्रत्यक्ष में परस्पर-विरोधी वाक्यों की ओर आकृष्ट करते हुए हमें सावधान करता है कि श्रुति के प्रामाण्य के विषय में शंका करने का हमे कोई अधिकार नही है । दार्शनिक दृष्टि से यह उत्तर असन्तोषजनक है । इस स्थिति का समाधान शंकर करता है और परस्पर विरोध की श्रुति की अपेक्षा वैयक्तिक विचारो के ऊपर डाल देता है और तर्क करता है कि ब्रह्म ही जगत् के रूप में परिणत नही होता है । हम, जिनके अन्दर भ्रान्तिदोष है, यह समझते है कि एक दूसरे के रूप मे परिवर्तित हो जाता है । उसका मत है कि परम यथार्थसत्ता ब्रह्म है, जो निर्विकल्प आत्मा है, और उसका तर्क है कि ज्ञाता, ज्ञात तथा ज्ञान सब कुछ किसी न किसी प्रकार से ब्रह्म ही के अन्दर निहित है । रामानुज का मत इससे भिन्न है । वह जब एक निर्मल, अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त अनादि जगत्प्रवाह की समस्या में आकर घिर जाता है तो श्रुति का आश्रय ढूंढता है । असम्भव भी ईश्वर के लिए सम्भव है,[5] जिसकी अद्भुत शक्तियां हैं ।[6]

बादरायण[7] कहता है कि आत्मा ज्ञाता है जिसे शंकर ने बुद्धि का रूप दिया, किन्तु रामानुज इसे बुद्धिसम्पन्न ज्ञाता मानता है । वल्लभ शंकर के साथ सहमत है किन्तु केशव के विचार में आत्मा ज्ञान तथा ज्ञाता दोनों ही है । जीवात्मा कर्ता है ।[8] जन्म तथा मृत्यु का सम्बन्ध शरीर से है, आत्मा से नहीं[9] क्योंकि वह अनादि है । यह अनादि नित्य है ।[10] जीवात्मा को सूक्ष्म कहा गया है अर्थात् अणु के आकार का । रामानुज, मध्व, केशव, निम्बार्क, वल्लभ और श्रीकण्ठ इसी मत को मानते हैं । शंकर का मत है कि आत्मा सर्वव्यापक अर्थात् विभु है यद्यपि सांसारिक अवस्था मे इसे आणविक समझा जाता है ।[11] बादरायण

1 1 3, 1 ।
2 2 1, 33 ।
3 1 · 4, 26 ।
4 2 1, 27 ।
5 देखें रामानुजभाष्य, ब्रह्मसूत्रो पर, 2 : 1, 27 ।
6 ब्रह्मसूत्र के अनुसार (3 2, 3) यह जगत् स्वप्नो की भांति माया नही है । 'माया' शब्द जैसेकि अर्वाचीन वेदान्त से स्पष्ट है अत्यन्त भ्रामक है । हम इसका अर्थ भास्कर से सहमत होकर अर्थ-प्रत्ययशून्यत्व, अथवा शंकर से सहमत होकर दृष्टनष्टस्वरूपत्व, अथवा रामानुज के साथ मिलकर आश्चर्यात्मकत्व, अथवा वल्लभ के अनुसार सर्वभावनासामर्थ्य भी ले सकते हैं ।
7 2 3, 18 ।
8 2 : 3, 33-39 ।
9 2 . 3, 16 ।
10 2 3, 18 ।
11 देखें, 2 : 2, 19-28 । ब्रह्मसूत्र के अनुसार, जीव चार वर्ग के हैं : जरायुज, अण्डज, स्वेदज, तथा उद्भिज । ये सब चेतनायुक्त माने गए हैं, यद्यपि चेतनता की श्रेणियां भिन्न-भिन्न है । वनस्पति तथा पौधे अपनी चेतना को वाणी से प्रकट नही कर सकते, क्योंकि उनमें तमोगुण की प्रधानता है ।

का मत है कि ब्रह्म जीवात्मा के अन्दर है, यद्यपि ब्रह्म के स्वरूप पर आत्मा के स्वरूप का कोई असर नहीं होता।[1] चूकि जीव और ब्रह्म भिन्न भिन्न हैं जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश और सूर्य भिन्न हैं और जिस प्रकार प्रकाश को बादल ढक लेते हैं किन्तु सूर्य पर उसका असर नहीं होता, इसी प्रकार जब जीव दुःख भोगता है तो ब्रह्म दुःख का भागी नहीं होता।[2] शरीरधारी आत्मा कर्म करती है और सुख भोगती है तथा पुण्य और पाप का सञ्चय करती है और सुख व दुःख में लिप्त होती है, किन्तु सर्वोपरि आत्मा का स्वभाव इसके विपरीत है और वह सब प्रकार की बुराई (पाप) से परे है।[3] 'तत् त्वमसि' और 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्य यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि दोनों अर्थात् ब्रह्म और आत्मा, ईश्वर और मनुष्य यथार्थ में एक हैं। यदि ब्रह्म सबका कारण है तो यह जीवात्मा का भी कारण है। परम दैवीय तत्त्व इसकी सभी अभिव्यक्तियों में विद्यमान है। प्रत्येक जीवात्मा ईश्वरीय आत्मा की भागीदार है। बादरायण के कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि ठीक किस रूप में जीवात्मा ब्रह्म के साथ सम्बद्ध है अर्थात् विश्वात्मा के अंश के रूप में अथवा आभास (प्रतिबिम्ब) के रूप में।[4] बादरायण निर्देश करता है कि आश्मरथ्य, औडुलोमि और काशकृत्स्न जीवात्मा के ब्रह्म के साथ सबंध के विषय में भिन्न-भिन्न स्थिति रखते हैं। आश्मरथ्य का विचार है कि देश-सम्बन्धी अर्थ में भी आत्मा ब्रह्म का अंश है। औडुलोमि का मत है कि प्रगाढ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था में आत्मा का कुछ समय के लिए ब्रह्म के साथ संयोग हो जाता है। काशकृत्स्न, जिसकी सम्मति का समर्थन शंकर भी करता है, मानता है कि ब्रह्म पूर्ण तथा अविभक्त रूप में जीवात्मा के आधार में विद्यमान रहता है और बादरायण केवल इन भिन्न-भिन्न मतों का वर्णन तो अवश्य करता है, किन्तु इनमें से वह किस मत का समर्थक है यह नहीं कहता।[5] शंकर ने इस वाक्य का कि जीव सर्वोपरि यथार्थसत्ता का अंश है अर्थ यह लगाया है कि मानो यह अंश के समान है[6] (अंश इव) चूकि ब्रह्म हिस्सों से मिलकर नहीं बना है इसलिए यौगिक अर्थ में भी उसके हिस्से नहीं हो सकते। भास्कर तथा वल्लभ बलपूर्वक कहते हैं कि जीव प्रभु (ब्रह्म) का एक अंश है क्योंकि उनमें परस्पर भेद भी है और तादात्म्य भी है। रामानुज, निम्बार्क, बलदेव और श्रीकण्ठ का विचार है कि जीव ब्रह्म का एक वास्तविक अंश है इसी प्रकार जैसाकि किसी प्रकाशमय पुञ्ज, यथा अग्नि अथवा सूर्य, से निकलने वाला प्रकाश उक्त पुञ्ज का अंश होता है। इस मत का कि जीव सर्वोपरि ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है जैसेकि एक साप अपनी कुण्डलियों से भिन्न है भी और भिन्न नहीं भी है,[7] खण्डन किया गया है। किन्तु रामानुज मानता है कि सूत्र में ब्रह्म का प्रकृति के साथ जो सम्बन्ध है उसका प्रतिपादन किया गया है और वह इस मत का खण्डन करता है कि प्रकृति केवल ब्रह्म की

1 1 2 8।
2 2 3 46। इसपर केशव की टीका भी देखें।
3 1 1 17 और भी देखें 2 1 22।
4 2 2 43 और 50।
5 1 4 19 22।
6 2 3 43 शांकरभाष्य।
7 3 2 27।

एक भिन्न मुद्रामात्र है किन्तु ब्रह्म से भिन्न नही है, जैसेकि सांप की कुण्डलिया केवल भिन्न मुद्रा ही हैं किन्तु साप से भिन्न नही हैं। रामानुज का तर्क है कि जीव और प्रकृति दोनों ब्रह्म के अंश है। केशव का तर्क है कि प्रकृति दोनों है अर्थात् ब्रह्म से भिन्न भी है और ब्रह्म के साथ उसका तादात्म्यभाव भी है, जैसेकि सांप और उसका फल भिन्न-भिन्न हैं किन्तु जब सांप को एक सम्पूर्ण इकाई के रूप मे लिया जाता है तो भिन्न नही भी हैं। प्रकृति ब्रह्म के साथ एकरूप है क्योकि इसका अस्तित्व ही ब्रह्म के ऊपर निर्भर है और यह ब्रह्म से भिन्न है क्योकि इसका नाम और रूप अलग है। जीव भी, ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है और यह भेद निश्चित रूप से यथार्थ है।[1] बादरायण ब्रह्म तथा जीवात्मा के भेद को यथार्थ मानता है इस विषय को प्रबल समर्थन प्राप्त है और यह भेद आत्मा के मोक्ष प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। जीव आकार मे सूक्ष्म होने पर भी समस्त शरीर में व्याप्त रहता है जैसेकि चन्दन का थोड़ा-सा लेप भी सारे शरीर को शीतलता पहुँचा देता है।[2]

यह जगत् ईश्वर के सकल्प का परिणाम है। यह उसीकी लीला अथवा खेल है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि उसने पाप और दु.ख की सृष्टि भी अपनी प्रसन्नता के लिए की, जैसाकि किसी-किसी धार्मिक योजना मे लिखा मिलता है कि निम्न श्रेणी के प्राणी रहें जो उसकी अनन्त महत्ता की प्रशंसा करेंगे तथा उसका यश गाएंगे। एक ऐसा ईश्वर जो आनन्दमय है और जो प्राणियों के दु.ख में प्रसन्नतालाभ करता हो वह ईश्वर ही नही है। मनुष्य-जाति मे जो विभिन्नता पाई जाती है उसका निर्णय मनुष्यो के अपने कर्म के आधार पर होता है।[3] ईश्वर की शक्ति भी मनुष्यों के पूर्वजन्मों के ऊपर विचार करने के कारण से परिमित हो जाती है। सुख का विषम रूप में विभाग जो देखा जाता है वह प्रकट करता है कि इस जगत् में एक ऐसी नैतिक व्यवस्था है जिसे ईश्वरेच्छा कहा जाता है। इस प्रकार से ब्रह्म न तो पक्षपाती ही है और न ही निर्दय है और उसे स्वेच्छा-पूर्वक इस प्रकार की स्वतन्त्रता अथवा उत्तरदायित्वहीनता भी प्राप्त नहीं है, जिन दोषो का आरोप किसी-किसी ईश्वरज्ञानवेत्ता ने ईश्वर के नाम पर कर दिया है। यदि ईश्वर की कठोर निष्पक्षता के दोष का इस सिद्धान्त से निराकरण हो जाता है कि वह प्रत्येक मनुष्य को उसके अपने कर्म के अनुसार सुख अथवा दु ख प्रदान करता है तो इस दूसरे मत का कि ईश्वर स्वयं उचित एव अनुचित आचरण[4] का कारणरूप कर्ता है, कोई समाधान नही होता। यदि प्रत्येक प्रकार के कर्म का प्रेरक ईश्वर ही है, तब तो वही कर्ता और दु ख का भोक्ता दोनों हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अनन्त परम्परा मे

1. 3 : 2, 27-28 पर केशव की टीका।

2 2 3, 21। सूत्र के अनुसार जीव का निवास स्थान हृदय अथवा हृत्पद्म है जोकि स्नायु-जाल के मेरुदण्ड का जटिल केन्द्र है जहा कि 101 भिन्न-भिन्न नाडिया मिलती हैं। उन सबमे से सुषुम्ना एक नाडी है जो बराबर उनमे से गुजरती हुई शीर्षस्थान तक पहुचती है। मृत्युकाल समीप आने पर ज्ञाता आत्मा प्रभु की कृपा से हृदय की ग्रंथि को छिन्न-भिन्न करके सुषुम्ना के मार्ग में प्रविष्ट हो जाती है और कपाल में छिद्र करके शरीर से निकल जाती है। (4 : 2, 17)। जब जीव शरीर से बाहर निकलता है तो यह सूक्ष्म इन्द्रियो से, मन तथा मुख्य प्राण से, आवृत रहता है (3 : 1, 1-7; 4 : 2, 3-21)। यह उन्हीं के साथ फिर से जन्म लेता है।

3 2 1, 34।

4 3 : 2, 41, कौपीतकि उपनिषद्, 3 : 8।

इस प्रकार से जकडा हुआ है कि वह स्वय ही अपने को अच्छाई और बुराई का फल देने-वाला भी है। यहा पर फिर सूत्र श्रुति का ही आश्रय लेता है किन्तु परस्पर विरोध के निराकरण का कोई प्रयत्न नही करता।

सूत्र के तीसरे अध्याय मे इस विषय का प्रतिपादन किया गया है कि किस प्रकार नैतिक साधना के द्वारा एक मनुष्य को ऐसा शरीर प्राप्त हो सकता है जो परब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति करा सके। उपनिषदो मे वर्णित जो साधारण नियम हमारे अपने साधनो की पवित्रता के लिए दिए गए हैं उन्हे सूत्र मे स्वीकार किया गया है।[1] साधारण-तया ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन उच्चवर्णों को यज्ञ आदि करने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त शूद्र और स्त्रिया भी प्रभु की कृपा से मुक्ति को प्राप्त कर सकते है।[2] सूत्र के रचयिता का कहना है कि क्रियात्मक सेवा के भाव तथा ससार के त्याग को भी धर्मग्रन्थो का समर्थन प्राप्त है।[3] उक्त ग्रन्थकार का अपना झुकाव भी त्याग-भाव के साथ कर्मवीरता के जीवन[4] को परस्पर सयुक्त करने की ओर है। अज्ञानता से किया गया कर्म किन्तु समस्त कर्म नही, आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति मे बाधक होता है।[5] मोक्षप्राप्ति के पश्चात् जो भी स्वतन्त्रता इस लोक मे हमे प्राप्त होती है, अर्थात् जीव-न्मुक्त की अवस्था, उसमे भी कर्म करने का विधान है।[6] उपनिषदो का अनुसरण करते हुए सूत्र भी देवताओ की पूजा के विधान की अनुमति देता है जोकि अपने उपासको को वरदान देते हैं, यद्यपि ये भी सर्वोपरि ब्रह्म से ही शासित होते हैं।[7] यथार्थता प्रतीकों अथवा लिंगो से परे है और इनके अन्दर सन्निविष्ट नही है किन्तु तो भी मनुष्य की दुर्बलता का विचार करके उक्त प्रतीको की उपासना की अनुमति दी गई है।[8] परब्रह्म अव्यक्त है अर्थात् उसकी कोई अभिव्यक्ति नही है, यद्यपि 'सराधना'[9] मे उसका साक्षात्कार होता है। ईश्वर का साक्षात्कार ही सर्वोच्च कोटि का धर्म है। ऐसे व्यक्ति जो इस प्रकार की आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को विकसित नही कर सकते, शास्त्रो पर भरोसा रखते है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य आत्मा की प्राप्ति करना है।[10] हम यह नही कह सकते कि आत्मा के साथ इस प्रकार का मिलन तादात्म्यस्वरूप का है अथवा सयोग तथा साहचर्य का है। बादरायण जीवन्मुक्ति मे विश्वास करता है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उन कर्मो का, जिन्होने फल देना अभी प्रारम्भ नही किया है, विनाश हो जाता है[11] यद्यपि शरीर तब तक विद्यमान रहता है जब तक कि, वह कर्म जो फल देना आरम्भ कर चुके है,[12] पूर्णतया क्षेष नही हो जाते।

चौथे अध्याय मे हमे वर्णन मिलता है कि किस प्रकार जीवात्मा देवयानमार्ग से

1 2 3, 40-42।
2. 1 3, 34-38 3 4 38।
3 3 4, 9।
4 3 4, 32-35।
5 3 4, 26।
6 3 4, 32।
7 3 2, 38 41।
8 4 1, 4।
9 3 2, 23 24।
10 1 1 9।
11 4 1, 13 15।
12 4 1, 19।

ब्रह्म को प्राप्त करती है, जहा मे फिर ससारचक्र मे लौटना नही होता। चौथे अध्याय के 4,5-7 सूत्र में मुक्तात्मा के लक्षणो पर विचार-विमर्श किया गया है। औडुलोमि के अनुसार इसका मुख्य स्वरूप 'विचार' है। जैमिनि का मत है कि मुक्तात्मा मे उच्च-कोटि के अनेक गुण विद्यमान होते हैं और सूत्रकार अपना मत प्रकट करते हुए भी कहता है कि उक्त दोनो ही विचारों का समन्वय युक्तियुक्त है। मोक्ष प्राप्त करने पर मुक्तात्मा अनन्त शक्ति तथा ज्ञान प्राप्त कर लेती है। इसका वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार यह भी स्पष्ट कर देता है कि कोई भी मुक्तात्मा सृष्टिरचना, शासन तथा विश्व के संहार की शक्ति प्राप्त नही करती[1] क्योंकि ये कार्य केवल एकमात्र ईश्वर के ही हैं। मध्व और रामानुज उक्त वाक्य की व्याख्या सरलता के साथ कर लेते हैं, क्योंकि यह उनके अपने सिद्धान्त अर्थात् जीवात्मा तथा ईश्वर के मध्य स्थायी भेद मानने के सर्वथा अनुकूल पड़ता है।[2] किन्तु बादरायण का मत इस विषय में बिलकुल स्पष्ट नही है। जहां कुछेक वाक्य उक्त भेद को स्थिर[3] बताते हैं, अन्य वाक्य केवलमात्र उसका समाधान कर देते हैं।[4]

5 उपसंहार

बादरायण ससार के अद्वैतवाद-विषयक विचार का समर्थन करता है। उसे बहुदेवतावाद अथवा अनेक स्वतन्त्र और एकसमान परम यथार्थसत्ताओं अथवा अजन्मा जीवात्माओं या ईश्वर तथा शैतान के मध्य द्वैतभाव आदि से कोई सरोकार नही। ब्रह्म के विषय में जो दो मत हैं अर्थात् निर्विशेष चिन्मात्र का स्वरूप, जैसाकि बादरी, काशकृत्स्न और औडुलोमि मानते हैं, और सविशेष शरीरधारी प्रभु, जैसाकि आश्मरथ्य तथा जैमिनि मानते हैं, ये दोनों मत सूत्रकार को अभीष्ट हैं। सूत्र की पद्धति से यह ठीक-ठीक निर्णय करना सम्भव नही है कि ग्रन्थकार के मन मे उक्त दोनों मतों के समन्वय का क्या प्रकार रहा होगा। उपनिषदो का मत स्पष्ट है कि ब्रह्म अविकारी अथवा परिवर्तनरहित तथा नित्य है। यह जगत् परिवर्तनशील तथा अस्थायी है। इस प्रकार का कार्य विपरीत गुण रखनेवाले कारण में कैसे प्रकट हो सकता है? सूत्र श्रुति के आधार पर केवल इतना ही कहता है कि ब्रह्म विश्व के रूप मे परिष्कृत हो जाता है और इन्द्रियातीत रहता है।[5]

'ब्रह्मकारणता' की अत्यधिक यथार्थ परिभाषा करने का प्रयत्न करने पर हमें भिन्न-भिन्न मत मिलेंगे। शंकर का तर्क है कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति करता है किन्तु उसमे ब्रह्म के अन्दर कोई भी विशिष्ट परिवर्तन नही होता, रामानुज तथा वल्लभ का मत है कि यह जगत् वस्तुत: ब्रह्म के द्वारा बना है, अर्थात् ब्रह्म वस्तुत. जगत् के रूप मे परिणत हो गया है। फिर, बादरायण का कहना है कि यद्यपि ब्रह्म जीवात्मा के अन्दर है तो भी जीव के दोषों के कारण ब्रह्म के अन्दर कोई विकार नही हुआ, क्योंकि दोनों के स्वभाव में परस्पर भेद

1 4 : 4, 17।
2 1 : 1, 17।
3. 4 · 4, 17 और 21।
4 4 . 2, 13 और 16।
5 1 . 4, 27।

जो है ।[1] वह ब्रह्म और जीवात्मा के अन्दर दोनों भावों को अर्थात् तादात्म्य तथा भेदभाव को मानता है । उक्त स्थिति के सम्बन्ध में कोई तर्कसम्मत कथन उसने नहीं किया । शंकर को यह असम्भव जंचता है कि किस प्रकार सूत्रकार के ब्रह्म-विषयक विचारों को उपनिषदों के अन्दर प्रतिपादित निर्गुण तथा निर्विशेष ब्रह्म के ऊपर लागू किया जा सकता है । किन्तु अन्य भाष्यकार सूत्रकार की परिभाषाओं को सर्वोपरि ब्रह्म के सम्बन्ध में सर्वथा उपयुक्त मानने को उद्यत हैं । इन भाष्यकारों का तर्क है कि सूत्रकार दो प्रकार के ब्रह्म की कल्पना से अनभिज्ञ है एवं जगत् के मिथ्यात्व से भी अनभिज्ञ है । सूत्रकार सांख्य का खण्डन तथा सृष्टिरचना सम्बन्धी कल्पनाओं पर इतनी गम्भीरता के साथ विवाद न करता यदि उसके मत में यह केवल आभासमात्र होता, क्योंकि उस अवस्था में इस जगत् के स्रष्टा का कोई प्रश्न ही न उठता । यह भी हो सकता है कि बादरायण दैवीय स्वभाव के वस्तुत परिवर्तनशील पक्ष में विश्वास करता हो, अर्थात् उसके स्वगत भेद में, जिसके कारण ब्रह्म में विविध पदार्थों के रूप में तथा व्यक्तिगत मनुष्य-जीवन में भी अपने को अभिव्यक्त करने की योग्यता है । तो भी इस विषय में कोई स्पष्ट कथन नहीं मिलता है ।

मुक्तात्मा की दशा ब्रह्म से अविभाग की दशा है । इस साधारण से अविभागरूपी नियम की नानाविध व्याख्याएं हो सकती हैं, जोकि इसे परवर्ती भाष्यकारों से प्राप्त होती हैं । शंकर इसका तात्पर्य यह समझता है कि विश्वात्मा के साथ इसका सम्पूर्ण भाव से तादात्म्य है, किन्तु रामानुज के अनुसार ईश्वर के साथ आंशिक ऐक्य होता है । शंकर की विचार पद्धति में दोनों के लिए गुंजाइश है । नीतिशास्त्र के प्रश्न पर बादरायण ने, त्याग का कर्म के साथ क्या सम्बन्ध है, इसपर सर्वथा विचार-विमर्श नहीं किया है और उद्देश्य-प्राप्ति के लिए इनके अन्दर कहां तक क्षमता है, इस विचार पर भी प्रकाश नहीं डाला है । धर्म के क्षेत्र में वह ब्रह्म को अव्यक्त मानता है, किन्तु तो भी स्वीकार करता है कि उसका आध्यात्मिक रूप में साक्षात्कार हो सकता है । दोनों के समन्वय की आवश्यकता है ।

बादरायण के सूत्र में भी उपनिषदों की विशेषता के समान अनिश्चितता तथा सन्दिग्धता पाई जाती है । सूत्र में उपनिषदों की ही शिक्षा का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है और इसीलिए इसके अन्दर अनेक प्रकार के सन्देह तथा वाद-विवाद के अंकुरों का समावेश है । यदि सूत्र के अन्तर्गत विचारों की विशिष्टता को और सूक्ष्मता के साथ समझने का कोई प्रयत्न किया जाएगा तो अनेक विरोधी चट्टानों तथा आध्यात्मिक विघ्नों का सामना करने की सम्भावना हो सकती है । अन्त में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार एक ही समान सूत्रों में आध्यात्मिक मनोवृत्तियों में भिन्नता रहने के कारण नानाविध व्याख्याओं की उत्पत्ति होती है ।

आठवाँ अध्याय

शंकर का अद्वैत वेदान्त

प्रस्तावना—शंकर का जन्मकाल तथा जीवन—साहित्य—गौडपाद—अनुभूत ज्ञान का विश्लेषण—सृष्टिरचना—नीतिशास्त्र और धर्म—गौडपाद और बौद्धधर्म—भर्तृहरि—भर्तृप्रपंच—उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र के साथ शंकर का सम्बन्ध—शंकर तथा अन्य सम्प्रदाय—आत्मा—ज्ञान का तन्त्र या रचना—प्रत्यक्ष—अनुमान—शास्त्र-प्रमाण—विषयिविज्ञानवाद का निराकरण—सत्य की कसौटी—तार्किक ज्ञान की अपूर्णता—अनुभव—अनुभव, तर्क तथा श्रुति—परा तथा अपरा विद्या—शंकर के सिद्धान्त और कुछ पाश्चात्य विचारों की तुलना—विषयनिष्ठ मार्ग : देश, काल और कारण—ब्रह्म—ईश्वर अथवा शरीरधारी परमात्मा—ईश्वर का मायिक रूप—जगत् का मिथ्यात्व—मायावाद—अविद्या—क्या जगत् एक भ्रांति है—माया और अविद्या—प्राकृतिक जगत्—जीवात्मा—साक्षी और जीव—आत्मा और जीव—ईश्वर और जीव—एक जीववाद तथा अनेकजीववाद—नीतिशास्त्र—शंकर के नीतिशास्त्र पर किए गए कुछ आरोपों पर विचार—कर्म—मोक्ष—परलोक—धर्म—उपसंहार।

1. प्रस्तावना

शंकर का अद्वैतवाद, एक महान कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है। इसका उग्र बुद्धिवाद, इसका कठोर तर्क जोकि मनुष्य की आशाओं तथा विश्वासों के प्रति उपरामता का भाव लिए अपने मार्ग पर आगे ही आगे चलता जाता है, इसका धार्मिक तत्त्व-सम्बन्धी उद्वेगों से अपेक्षाकृत स्वातन्त्र्य, यह सब एकसाथ मिलकर इसे विशुद्ध दार्शनिक योजना के एक महान उदाहरण के रूप में उपस्थित करता है। थिबौत, जिसपर कोई शंकर के प्रति पक्षपात रखने का लांछन नहीं लगा सकता, शंकर के दर्शन के विषय में इस प्रकार कहता है : "शंकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जो विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से, सब प्रकार के धर्मतत्त्व-सम्बन्धी विचारों के अतिरिक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा रोचक है, भारत की भूमि में उपजा है। वेदान्त के उन रूपों में से जो शंकर के मत से भिन्न दिशा में जाते हैं, अथवा वेदान्त-विपरीत दर्शनों में से कोई भी, जहां तक साहस, गाम्भीर्य तथा कल्पना की सूक्ष्मता का सम्बन्ध है, शास्त्रीय वेदान्त की तुलना में नहीं ठहर सकते।"[1] शंकर के ग्रन्थों को पढ़ते समय यह असम्भव है कि पाठक के मन में इस प्रकार का भाव उत्पन्न न हो कि वह एक ऐसे मस्तिष्क के सम्पर्क में आ गया है जो अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ गहराई में जानेवाला तथा अगाध आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है। अपरिमेय विश्व के विषय में अपनी अत्यधिक उच्च भावना के कारण, आत्मसम्बन्धी गूढ़ तत्त्वों के स्फूर्तिदायक प्रेक्षण के कारण, जिसे सिद्ध किया जा सके, उसके सम्बन्ध में न अधिक और न कम कथन करने का अविचल संकल्प रखने के कारण,

1 'इन्ट्रोडक्शन टु ब्रह्मसूत्र', पृष्ठ 14। सर चार्ल्स इलियट के मत में शंकर का दर्शन संगति, पूर्णता तथा गाम्भीर्य में भारतीय दर्शन में सबसे प्रथम स्थान रखता है। ('हिन्दूइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म', खण्ड 2 पृष्ठ 208)।

शकर मध्यकालीन भारत के धार्मिक उपदेशको के नानाविध समूहो के मध्य एक तेजस्वी व्यक्तित्व रखते है। उनका दर्शन स्वय मे परिपूर्ण है जिसको न तो अपने आगे और न पीछे ही किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता है। यह एक ऐसी स्वत सिद्ध पूर्ण इकाई है जो कलापूर्ण ग्रन्थो मे ही पाई जा सकती है। यह अपनी पूर्वनिर्धारित कल्पनाओ को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करता है, अपने ही लक्ष्य द्वारा शासित होता है, और अपने सब घटक अवयवो को एक स्थायी तथा युक्तियुक्त साम्यावस्था म धारण किए हुए है। दर्शनशास्त्र के किसी विद्यार्थी के अन्दर जो गुण होने चाहिए ऐसे गुणो की जो सूची[1] शकर ने निर्धारित की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी दृष्टि मे दशन केवल-मात्र बौद्धिक धधा न होकर समर्पित जीवन भी है। सबसे प्रथम गुण, 'नित्य तथा अनित्य वस्तुओ मे भेद करने की क्षमता की माग है कि दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के अन्दर ऐसी विचारशक्ति होनी चाहिए जो उसे अपरिवर्तनशील यथार्थसत्ता तथा परिवर्तनशील ससार के अन्दर भेद करने मे सहायता प्रदान कर सके। ऐसे व्यक्तियो के लिए जिनके अन्दर यह शक्ति हो, अध्यात्मविद्या सम्बन्धी साहसिक कार्य से दूर रहना असम्भव हो जाता है। दूसरा आवश्यक गुण है 'पुरस्कार के सुख की आकाक्षा का इस लोक तथा परलोक दोनो मे त्याग'। आनुभविक जगत् मे तथा मनुष्य के ऐहलौकिक जीवन मे भी आत्मा की महत्त्वाकाक्षाओ को पूर्ण कर सकने योग्य सामग्री नही है। दर्शनशास्त्र को उचित अवसर तथा औचित्य दोनो ही जीवन मे उपलब्ध भ्रान्ति-निवारण द्वारा प्राप्त होते हैं। सत्य का अन्वेषण करनेवाले को चाहिए कि वह वस्तुओ के प्रतीयमान रूप के समक्ष अपने को नीचे गिराने के स्थान पर अपने अन्दर एक कठोर अनासक्ति के भाव का विकास करे, क्योकि यही सर्वश्रेष्ठ आत्मा की विशिष्टता है। तीसरा गुण जिसके ऊपर बल दिया गया है, वह है 'नैतिक व्यवस्था'[2] और सबसे अन्त मे 'मुमुक्षुत्व की प्रबल अभिलाषा' का स्थान है। जसाकि सन्त ल्यूक ने कहा है, हमारे मन का झुकाव एक नित्य जीवन की ओर होना आवश्यक है।[3] शकर हमारे समक्ष दर्शन का जो यथार्थ आदर्श प्रस्तुत करते हैं वह अधिकतर ज्ञानपरक न होकर विवेक-बुद्धिपरक एव तार्किक विद्यापरक न होकर आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य मे युक्त है। शकर की दृष्टि म ससार के कतिपय अन्य महान विचारको यथा प्लेटो, प्लाटिनस, स्पिनोजा और हीगल के समान ही दर्शनशास्त्र शाश्वत सत्य का गूढ निरीक्षण है जोकि मनुष्य के तुच्छ जीवन की क्षुद्र चिन्ताओ से उन्मुक्त होने के कारण दिव्य है। शकर की महाकाव्य किन्तु सूक्ष्म आन्वीक्षिकी विद्या के अन्दर मे एक विशद तथा भावक प्रवृत्ति की झलक मिलती है जिसके बिना दर्शनशास्त्र का झुकाव केवलमात्र तर्करूपी खेल की ओर हो जाना सम्भव है। अत्यन्त कठोर तर्क के ऊपर जहा शकर को पूर्ण अधिकार प्राप्त है वहा दूसरी ओर उन्हे एक उत्कृष्ट तथा सजीव काव्य पर भी उतना ही अधिकार प्राप्त है, यद्यपि यह दर्शन मे भिन्न प्रकार का विषय है। उनकी प्रतिभा की किरणो ने विचारधारा के अन्धकारमय कोनो म भी पहुचकर उन्हे प्रकाशित किया तथा अत्यन्त निराश हृदयो के दु खो को भी दूर कर उन्हे सान्त्वना प्रदान की। जहा एक ओर शकर का दर्शनशास्त्र अनेको को बल प्रदान करता है तथा सान्त्वना देता है दूसरी ओर नि सन्देह ऐसे भी व्यक्ति है जिन्हे शकर विरोध तथा अन्धकार की एक अथाह खाई प्रतीत होते

हैं। किन्तु हम सहमत हों या न हों, यह मानना ही पड़ेगा कि उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमें कभी भी जहां का तहां ही नहीं छोड़ जाता।

2. शंकर का जन्मकाल तथा जीवन

तेलंग के अनुसार, शंकर, ईसा के पश्चात् छठी शताब्दी के मध्य अथवा अन्त में हुए।[1] सर आर० जी भण्डारकर का कहना है कि शंकर का जन्म सन् 680 ईस्वी में हुआ। वे इससे कुछ वर्ष पूर्व भी मानने को उद्यत हैं।[2] मैक्समूलर तथा प्रोफेसर मैक्डोनल का मत है कि शंकर का जन्म 788 ईस्वी का है और 820-ईस्वी में उनका देहान्त हुआ। प्रोफेसर कीथ की सम्मति में भी नवीं शताब्दी के प्रथम चरण में शंकर का होना माना गया है।[3]

हम शंकर के रूप में निःसंग तपस्वी विचारक की कल्पना कर सकते हैं, जो गम्भीर ध्यान में मग्न होने की क्षमता रखता था और साथ ही क्रियात्मक जीवन में भी गम्भीर था। शंकर के कुछ शिष्यों ने उनके जीवन वृत्त-सम्बन्धी घटनाओं का संग्रह किया है, जिनमें से मुख्य हैं : माधवकृत 'शंकरदिग्विजय' तथा आनन्दगिरि कृत 'शंकरविजय'[4]। शंकर का जन्म मालाबार की सरलस्वभाव किन्तु विद्वान तथा परिश्रमी नम्बूद्री ब्राह्मण जाति में हुआ और सामान्यतः यह अनुमान किया जाता है कि उनका जन्मस्थान प्रायद्वीप के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित कालदी था।[5] यद्यपि परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि उनके कुलदेवता शिव थे, किन्तु एक मत यह भी है कि वे जन्म से शाक्त थे। अपनी युवावस्था के प्रारम्भ में वे गौडपाद के शिष्य गोविन्द द्वारा सचालित वैदिक पाठशाला में प्रविष्ट हुए। अपने सब ग्रन्थों में शंकर स्वयं को गोविन्द के शिष्य-रूप में ही बताते हैं। इससे स्पष्ट है कि गोविन्द ने ही उन्हें वेदान्त के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की शिक्षा दी। कहा जाता है कि अपनी बाल्यावस्था में ही जब वे केवल आठ वर्ष के थे, उन्होंने उत्कट अभिलाषा तथा प्रसन्नता के साथ सब वेदों को कण्ठस्थ कर लिया। वे प्रकटरूप में वैदिक विद्या तथा स्वतन्त्र प्रज्ञा से युक्त एक सामान्य प्रतिभा के तेजस्वी व्यक्ति थे। जीवन के गूढ़ रहस्य तथा महत्त्व ने उन्हें प्रभावित किया और उन्होंने भगवान की झलक अपने जीवन के बहुत प्रारम्भिक काल में ही प्राप्त कर ली। इसके पूर्व ही कि वे संसार के व्यवहार में अभिज्ञता प्राप्त करते, उन्होंने संसार का त्याग कर दिया और वे

1 उनका तर्क यह है कि पूर्णवर्मन, जिसका उल्लेख ब्रह्मसूत्र पर किए गए शंकर के भाष्य में आता है, मगध का एक बौद्ध धर्मावलम्बी राजा था, जो उसी समय में हुआ।

2 देखें 'रिपोर्ट आन दि सर्च फार संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' 1882, पृष्ठ 15।

3 'इण्डियन लौजिक एण्ड एटमीज्म', पृष्ठ 10। कृष्ण मिश्र (लगभग ग्यारहवीं शताब्दी ईसा के पश्चात्) के प्रबोध चन्द्रोदय के नान्दीश्लोक में माया तथा मृगतृष्णिका एवं सर्प-रज्जु के अत्यन्त प्रचलित दृष्टान्त दिए गए हैं।

4. चिद्विलास तथा सदानन्द ने कुछ वृत्तान्त दिए हैं। स्कन्दपुराण में कुछ तथ्य दिए गए हैं (देखें, 9)। एक माध्व ग्रन्थकार नारायणाचार्य ने अपने 'मध्वविजय' और 'मणिमंजरी' में कुछ विवरण दोहराए हैं। किन्तु इनमें दिए गए कई तथ्य किंवदन्तिरूप हैं और उनके ऐतिहासिक होने में सन्देह है। देखें 'लाइफ एण्ड टाइम्स आफ शंकर', सी० एन० कृष्णस्वामी अय्यर, मद्रास, द्वारा विरचित।

5 *आनन्दगिरि का मत है कि शंकर का जन्म चिदम्बरम् में 44 वर्ष ईसा से पूर्व हुआ तथा 12 वर्ष ईसा से पूर्व उनका देहान्त हुआ।* किन्तु उनके इस मत को अधिक समर्थन प्राप्त नहीं है।

सन्यासी हो गए। किन्तु वे एक वीतराग परिव्राजक नही थे। सत्य की विशुद्ध ज्वाला उनके अन्तस्तल मे प्रज्वलित हो रही थी। एक आचार्य के रूप मे उन्होने स्थान-स्थान पर भ्रमण किया, और वे विभिन्न मतो के नेताओ के साथ सवाद और शास्त्रार्थ मे प्रवृत्त हुए। परम्परागत वर्णनो के अनुसार, वे इन अपनी विजययात्राओ मे कुमारिल[1] और मण्डनमिश्र के सम्पर्क मे आए, जिनमे से आगे चलकर मण्डनमिश्र उनका शिष्य बन गया और सुरेश्वराचार्य[2] के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अमरुक के मृत शरीर म शकर के प्रवेश करने की कहानी यह प्रकट करती है कि शकर योग-सम्बन्धी क्रियाओ मे निपुण थे। उन्होने चार मठो की स्थापना की, जिनमे मुख्य वह है जो मैसूर प्रान्त म श्रृगेरी मे है। अन्य तीन मठ क्रमश पूर्व मे पुरी मे, पश्चिम मे द्वारका मे और हिमालय प्रदेश मे बदरीनाथ मे हैं। एक करुणाजनक घटना, जिसके विषय मे परम्परा मे सब एकमत है, यह दर्शाती है कि शकर का हृदय किस प्रकार मानवीय करुणा तथा माता-पिता की भक्ति से भरा हुआ था। सन्यासाश्रम की व्यवस्था के नियमो को प्रकट रूप मे भग करके शकर ने अपनी माता की अन्त्येष्टि-क्रिया मे पूर्ण भाग लिया और इस प्रकार अपने समुदाय के विकट विरोध का सामना किया। परम्परा से पता लगता है कि 32 वर्ष की अवस्था मे हिमालय के अचल मे केदारनाथ मे उनका देहान्त हुआ। हम जैसे साधारण मनुष्यो को, जिनका जीवन भावुकतामय का है, शकर के जीवन मे एक प्रकार का सूनापन प्रतीत होता है जो प्रसन्नतादायक साहचर्य के रगीले सुख से वचित था और सामाजिक मनोरजन का भी जिसमे अभाव था, किन्तु सामान्यरूप मे यही अवस्था उन सब महापुरुषो की होती है जो उच्चतर कोटि के जीवन का अवलम्बन करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि उनकी पुकार ईश्वर की न्याय-परायणता का प्रचार करने तथा आत्मा के दावो को पूरा करने के लिए हुई है। वे एक ऐसे देवदूत की तरह थे जो मनुष्य समाज को धर्म के मार्ग का पथ-प्रदर्शन करने के लिए अवतरित हुआ था और भारत मे ऐसा कोई भी व्यक्ति इस कार्य को नही सभाल सकता जिसके सन्देश की पृष्ठभूमि मे ससार की चिन्ताओ के प्रति अनासक्ति न हो।

थोडे ही वर्षों मे शकर ने जीवन-यात्रा के नाना उपायो का अवलम्बन किया जिनमे से प्रत्येक एक साधारण पुरुष के लिए सन्तोषप्रद हो सकता था। कल्पना के क्षेत्र मे उनकी सबसे महान सिद्धि अद्वैतदर्शन है, जिसे उन्होने प्राचीन सूत्रो के ऊपर भाष्यो के द्वारा विकसित किया। उन्होने इसे ज्ञान के समकालीन मानदण्डो तथा विश्वास का प्राचीन सूत्रो तथा परम्पराओ के साथ समन्वय करने का सबसे उत्तम मार्ग समझा। छठी तथा सातवी शताब्दियो ने प्रच-लित हिन्दूधर्म के उदय को देखा था। दक्षिण भारत मे बौद्धधर्म पतन के मार्ग

1 दक्षिण भारत की एक परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है कि शकर कुमारिल के शिष्य थे

2 मैसूर के प्रोफेसर हिरियान ने सुरेश्वर तथा मण्डनमिश्र के एक ही होने के विरोध में आग्रह-पूर्वक निश्चित प्रमाण उपस्थित किए हैं। देखें 'जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, अप्रैल 1923 और जनवरी, 1924।

की ओर आ रहा था।[1] और जैनमत अपने उच्च शिखर पर आसीन था। वैदिक क्रियाकलाप अप्रतिष्ठा को प्राप्त होने लगा था। शैवमतावलम्बी भक्त (अदियार) तथा वैष्णवमतावलम्बी भक्त (आलवार) ईश्वर-भक्ति के मार्ग का प्रचार कर रहे थे। मन्दिरों में पूजा तथा त्योहार, जिनका सम्बन्ध पौराणिक हिन्दूधर्म से था, सर्वत्र प्रसार पा रहे थे। दक्षिण भारत में पल्लव साम्राज्य सर्वश्रेष्ठ था और स्वातन्त्र्य तथा उस शान्ति के समय में, जो एक केन्द्रीय शासन के कारण प्राप्त थी, ब्राह्मणधर्म शनैः-शनैः हिन्दूधर्म में परिणत हो रहा था। पल्लव राजाओं की धार्मिक प्रेरणाएं उस समय हो रहे पुनः सघटन का स्पष्ट संकेत करती हैं। जहां पल्लव वंश के काल के शासक बौद्धमतावलम्बी थे वहां क्रमानुसार उनके पीछे आनेवाले वैष्णवमतावलम्बी थे और सबसे अर्वाचीन शैवमत को माननेवाले थे। बौद्धधर्म की त्यागपरक प्रवृत्ति की प्रतिक्रियास्वरूप तथा ईश्वरवाद की भक्तिपरक प्रवृत्ति के विरुद्ध मीमांसक लोग वैदिक क्रियाकलापों के महत्त्व को अत्यन्त बढ़ाकर जनता के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे। कुमारिल तथा मण्डनमिश्र ने ज्ञान और सन्यास के महत्त्व को दूषित ठहराया तथा कर्म के महत्त्व एवं गृहस्थाश्रम की उपयोगिता पर बल दिया। शंकर एक साथ और एक ही समय में कट्टर सनातनधर्म के उत्साही रक्षक एवं धार्मिक सुधारक के रूप में भी प्रकट हुए। उन्होंने पुराणों के उज्ज्वल विलासमय युग के स्थान में उपनिषदों के रहस्यमय सत्य के युग को फिर से लौटा लाने का प्रयत्न किया। आत्मा को उच्चतर जीवन की ओर मोड़ने की जो शक्ति धर्म में है उसे उसके बल को परखने की कसौटी माना। उन्होंने अपने युग को धार्मिक दिशा में मोड़ने के लिए प्रयत्न करने में अपने को विवश पाया और इसकी सिद्धि उन्होंने एक ऐसे दर्शन व धर्म की व्यवस्था के द्वारा सम्पन्न की जो बौद्धधर्म, मीमांसा तथा भक्तिधर्म की अपेक्षा जनता की आवश्यकताओं को कहीं अधिक सन्तोषप्रद सिद्ध हो सकती थी। आस्तिकवादी सत्य को भावावेश के कुहरे से आवृत किए हुए थे। रहस्यवादी अनुभव प्राप्त करनेवाली अपनी प्रतिभा से सम्पन्न थे लोग जीवन की क्रियात्मक समस्याओं के प्रति उदासीन थे। मीमांसकों द्वारा कर्म के ऊपर दिए गए बल से एक आत्मविहीन क्रियाकलाप का विकास हुआ। धर्म जीवन के अन्धकारमय संकटों का सामना करके केवल उसी अवस्था में जीवित रह सकता है, जबकि यह विचार का उत्तम परिणाम हो। शंकर की सम्मति में, अद्वैतदर्शन ही एकमात्र परस्परविरोधी सम्प्रदायों के अन्दर निहित सत्य है तथा उसकी न्यायोचितता का प्रतिपादन कर सकता है और इस प्रकार उन्होंने अपने सब ग्रन्थों का निर्माण एक ही उद्देश्य को लेकर किया, अर्थात् जीवात्मा को ब्रह्म के साथ अपने एकत्व को पहचानने में सहायक सिद्ध होना और यही संसार से मोक्षप्राप्ति का उपाय है।[2] मालबार-स्थित अपने जन्म-स्थान से उत्तर दिशा में स्थित हिमालय तक की अपनी यात्राओं में उन्हें पूजा के अनेक रूप देखने को मिले और उन्होंने उन

1. जहां फाहियान ने बौद्धधर्म को पांचवीं शताब्दी में फलते-फूलते देखा, युआन च्वांग ने, जो उसके पीछे अर्थात् छठी और सातवीं शताब्दी में आया, उसके पतन के चिह्नों को स्पष्ट रूप में देखा। बाण का हर्षचरित उक्त प्रभाव की पुष्टि करता है।

2. अनर्थहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये। देखें, शांकरभाष्य, 1 : 1, 1।

सबको स्वीकार किया जिनके अन्दर मनुष्य को ऊंचा उठाकर जीवन को निर्मल बना देने की शक्ति थी । उन्होंने मुक्ति के केवलमात्र एक ही *उपाय का प्रचार* नही किया अपितु प्रचलित हिन्दूधर्म के भिन्न-भिन्न देवताओं, यथा विष्णु, शिव, शक्ति तथा सूर्य आदि को लक्ष्य करके असदिग्ध रूप से महत्त्वपूर्ण छन्दो की रचना की । यह सब उनकी सार्वजनिक सहानुभूतियों तथा प्राकृतिक देन की सम्पत्ति का अद्भुत प्रमाण उपस्थित करता है। प्रचलित धर्म में फिर से जीवन डालने के अतिरिक्त उन्होंने धर्म का सुधार भी किया। उन्होंने दक्षिण भारत मे शक्तिपूजा की मूर्तरूप अभिव्यक्ति को हटा दिया और यह दु ख की बात है कि उसका असर कलकत्ता के बडे काली मन्दिर मे देखने को नही मिलता । कहा जाता है कि दक्षिण भारत मे उन्होंने कुत्ते के रूप में प्रचलित शिव की भ्रष्ट पूजा का दमन किया जो मल्लारि के नाम से होती थी, और कापालिको की घातक प्रक्रियाओं का दमन किया, जिनका देवता भैरव नरबलि की अभिलाषा रखता है। उन्होंने शरीर को विविध चिह्नों से दागने की प्रथा को दूषित ठहराया। उन्होंने बौद्धसघ से यह सीखा कि अनुशासन, मिथ्या-विश्वास से मुक्ति और धार्मिक सघठन धार्मिक विश्वास को स्वच्छ तथा बलशाली बनाए रखने मे सहायता करते है, और उन्होंने स्वय दस धार्मिक सघो की स्थापना की, जिनमे से चार ने आज तक अपनी प्रतिष्ठा को स्थिर बनाए रखा है।

शकर के जीवन मे विरोधी भावो का एकत्र सग्रह मिलता है। वे दार्शनिक भी है और कवि भी, ज्ञानी पडित भी है और सन्त भी, वैरागी भी है और धार्मिक सुधारक भी। उनमे इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के दिव्य गुण निहित थे कि यदि हम उनके व्यक्तित्व का स्मरण करें तो भिन्न भिन्न मूर्तरूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। युवावस्था मे वे बौद्धिक महत्त्वाकाक्षा के आवेश से पूर्ण, एक अदम्य और निर्भय शास्त्रार्थ-महारथी प्रतीत होते हैं। कुछ व्यक्ति उन्हे तीक्ष्ण राजनैतिक प्रतिभा से सम्पन्न मानते है जिन्होंने जनता को एकता की भावना का महत्त्व समझाया। तीसरे वर्ग के वे लोग भी हैं जिनकी दृष्टि मे वे एक शान्त दार्शनिक हैं जिनका एकमात्र प्रयत्न जीवन तथा विचार के विरोधो का अपनी असामान्य तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा भेद खोल देने के प्रति था। और चौथे वर्ग के लोगो की दृष्टि मे वे एक रहस्यवादी है जो घोषणा-पूर्वक कहते है कि हम सब उनसे कही अधिक महान हैं जितना कि हम जानते हैं। उनके समान सार्वजनिक मेधावी पुरुष बहुत कम देखने मे आते हैं।

3 साहित्य

इस दार्शनिक मत के मुख्य-मुख्य ग्रन्थ हैं प्रमुख उपनिषदों[1] पर तथा भगवद्गीता और वेदान्तसूत्र पर किए गए शाकरभाष्य। उपदेशसहस्त्री और विवेकचूडा-मणि ग्रथो से उनकी सामान्य स्थिति हमारे समक्ष आ जाती है। ईश्वर के

1 छान्दोग्य बृहदारण्यक तैत्तिरीय ऐतरेय, श्वेताश्वतर, केन कठ, ईश प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य। कहा जाता है कि उन्होंने अथर्वशिखा अथर्वशिरस और नृसिंहतापनीय उपनिषदो के भी भाष्य किए थे।

भिन्न-भिन्न स्वरूपों को लक्ष्य करके निर्माण किए गए स्तोत्र, इस जीवन मे उनकी आस्था कहां तक थी, इसे भलीभांति प्रकट करते हैं। इन स्तोत्रों के नाम हैं : दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, हरिमीडेस्तोत्र, आनन्दलहरी और सौन्दर्यलहरी। जीवन के प्रति उनकी आस्था थी उसका औचित्य भी इन स्तोत्रों से प्रकट होता है। अन्य ग्रन्थ, जो शंकर के रचित बताए जाते हैं, ये हैं : आप्तवज्र सूची, आत्मबोध महामुद्गर, दशश्लोकी और अपरोक्षानुभूति तथा विष्णुसहस्रनाम और सनत् सुजातीय के ऊपर भाष्य। ऐसे अनेक सूत्रों की अभिव्यक्ति उनके ग्रन्थों मे प्रकट है जिन्होंने उसके व्यक्तित्व के जटिल विन्यास का निर्माण किया था। उनकी शैली के विषय मे विशेष बात जो लक्ष्य करने की है, वह यह है कि किस प्रकार से वह शंकर के मानसिक गुणों को, अपनी शक्ति को, अपने तर्क को अपने मनोभावों तथा विनोदप्रियता के भाव को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित कर देती है। शंकर के द्वारा प्रतिपादित दर्शनशास्त्र का इतिहास बहुत लम्बा है और आज तक भी वह प्रगतिशील है। अन्य मतावलम्बी सामान्यतः अपनी स्थिति का समर्थन शंकर के विचारों का खण्डन करके करते हैं। इसके कारण शंकर की स्थिति का पक्षपोषण प्रत्येक काल में आवश्यक हो गया है। किन्तु हमारे लिए शंकर के दर्शन मे उनके अपने समय की समृद्धि के अतिरिक्त बाद मे हुई समृद्धि का ठीक-ठीक पता लगाना सम्भव नही है।[1]

1 सुरेश्वराचार्य के वार्तिक और नैष्कर्म्य सिद्धि, वाचस्पति की भामती, पद्मपाद की पंचपादिका और आनन्दगिरि का न्याय-निर्णय, ये अद्वैत के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं जिनकी रचना शंकर के समय के ठीक पश्चात् हुई। अमलानन्द का कल्पतरु (तेरहवी शताब्दी का मध्य भाग) भामती के ऊपर किया गया एक भाष्य है। अप्पय दीक्षित (सोलहवी शताब्दी) ने अपने कल्पतरुपरिमल नामक ग्रंथ का निर्माण, जो एक महाकाय ग्रंथ है, कल्पतरु के आधार पर किया। उसका 'सिद्धांत लेश' वेदान्त के भिन्न-भिन्न विकसित रूपो का एक महत्त्वपूर्ण सारसग्रह है। प्रकाशात्मा ने (1200 ईस्वी) के अपने 'पञ्चपादिकाविवरण' मे पद्मपाद की 'पञ्चपादिका' के ऊपर टीका की है, जो प्रथम चार सूत्रों के ऊपर एक परिष्कृत वृत्ति है। विद्यारण्य ने, जो चौदहवी शताब्दी में हुआ और जिसे सामान्यतः माधव माना जाता है अपने 'विवरणप्रमेयसंग्रह' की रचना की, जो प्रकाशात्मा के ग्रंथ का भाष्य है। 'पञ्चदशी' जहां सर्वाङ्गीण अद्वैत का एक शास्त्रीय ग्रंथ है, वहा उसका 'जीवन्मुक्तिविवेक' भी अत्यन्त महत्त्व का ग्रंथ है। पञ्चदशी के रचयिता के सम्बन्ध मे परम्परागत मतभेद है। ऐसा कहा जाता है कि पहले छः अध्याय विद्यारण्य के द्वारा रचित हुए तथा अन्य नौ अध्याय भारतीतीर्थ ने रचे (देखें, पीताम्बरस्वामी का सस्करण, पृष्ठ 6)। निश्चलदास ने अपने 'वृत्तिप्रभाकर' (पृष्ठ 424) मे प्रथम दस अध्यायों का कर्ता विद्यारण्य को माना है तथा अन्य पांच का कर्ता भारतीतीर्थ को माना है। सर्वज्ञात्ममुनि ने (900 ईस्वी) अपने 'संक्षेपशारीरक' मे शंकर की स्थिति का सर्वेक्षण किया है और रामतीर्थ ने इसके ऊपर टीका लिखी है। श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य (1190 ईस्वी) अद्वैत दर्शन का सबसे महान ग्रन्थ है। यह दर्शनशास्त्र की निःसारता के ऊपर लिखा गया एक अत्यन्त विस्तृत विचार प्रबन्ध है, जो मानवीय मस्तिष्क की उन उच्च श्रेणी के विषयों को मापने की अयोग्यता का प्रतिपादन करता है जिन्हे वह अपनी कल्पनात्मक विलक्षणता द्वारा खोज लेने योग्य समझता है। नागार्जुन के ही प्रेरकभाव का अनुसरण करते हुए वह सामान्य वर्गीकरण का विश्लेषण सूक्ष्मता तथा परिशुद्धता के साथ करता हुआ एक सुदीर्घ तथा परिश्रमसाध्य प्रक्रिया द्वारा पाठक के समक्ष इस सरल सत्य को सिद्ध करता है कि किसी विषय को भी अन्तिम एवं निश्चित रूप में सत्य अथवा असत्य नही कहा जा सकता। सार्वभौम चैतन्य के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुएं सन्दिग्ध हैं। निरपेक्ष परमात्मा की यथार्थता के अन्दर जो उसका विश्वास है वह उसे बौद्धधर्म के शून्यवाद (1 · 5) से पृथक् लक्षित करता है। अन्त मे जाकर वह न्याय के प्रमाणों तथा उसके कारणकार्यवाद की प्रकल्पना के ऊपर वादविवाद उठाता है तथा तर्क करता है कि न्याय केवल प्रतीयमान वस्तुओं तक ही सीमित है, यथार्थसत्ता तक नहीं पहुंचता। वस्तुओं के अन्दर की विविधता परम यथार्थ नहीं है, किन्तु निरपेक्ष ब्रह्म परम यथार्थ है (1:9), यद्यपि यह कभी जाना नही

ज्ञान अथवा विद्या का मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन होना, तथा निरपेक्ष शून्य का अचिन्त्य होना। यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम के अन्दर, जिसे आगम कहा जाता है, माण्डूक्योपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय की व्याख्या की गई है। गौडपाद ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि यथार्थसत्ता के विषय में जो उसका मत है उसे श्रुति की मान्यता प्राप्त है और तर्क उसका समर्थन करता है।[1] दूसरे अध्याय में, जिसका नाम वैतथ्य है, युक्तियों द्वारा संसार के प्रतीयमान स्वरूप की व्याख्या की गई है, क्योंकि इसकी विशिष्टता द्वैतभाव और परस्पर-विरोध से लक्षित होती है। तीसरे भाग में अद्वैत सिद्धान्त को सिद्ध किया गया है। अन्तिम भाग में, जिसका नाम अलातशान्ति है और जिसका अर्थ होता है ज्वाला को बुझाना, आत्मा के एकमात्र यथार्थ अस्तित्व के तथा उससे सम्बद्ध हमारे साधारण अनुभव के स्वरूप के विषय में अद्वैत सिद्धान्त की जो स्थिति है उसका और अधिक परिष्कार किया गया है। जिस प्रकार एक सिरे पर जलती हुई लकड़ी जब चारों ओर घुमाई जाती है तो बड़ी शीघ्रता से एक प्रकार का भ्रम उत्पन्न करती है कि यह अग्निचक्र (अलातचक्र) है यही हाल संसार के अनेकत्व का है।[2] यह योगाचार मत का भी उल्लेख करती है और बुद्ध का नाम भी इसमें कम से कम आधी दर्जन बार आया है।

गौडपाद ऐसे समय में हुआ जबकि बौद्धधर्म विस्तृत रूप में प्रचलित था। स्वभावतः यह बौद्धधर्म के सिद्धान्तों से अभिज्ञ था और जहां पर वे उसके अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्तों के साथ विरोध में नहीं जाते थे, वहां पर उन्हें गौडपाद ने स्वीकार भी किया था। बौद्धधर्मियों से उसने यह कहा कि उसके मत का आधार कोई धर्मशास्त्रीय मूलग्रन्थ या दैवीय वाणी नहीं है। सनातनी हिन्दू को उसने यह कहा कि इसको श्रुति प्रमाण की भी मान्यता प्राप्त है। अपने उदार विचारों के कारण उसे बौद्ध धर्म से सम्बद्ध सिद्धान्तों को स्वीकार करके उन्हें अद्वैत की शैली पर अपने अनुकूल बना लेने की सुविधा प्राप्त हो गई।

5 अनुभूत ज्ञान का विश्लेषण

एक अन्य स्थान पर हमने चेतना की श्रेणियों तथा प्रकारों के विषय में जो सिद्धान्त है, और जिसका वर्णन माण्डूक्योपनिषद् में किया गया है, उसका उल्लेख किया है।[3] गौडपाद इसी विश्लेषण को अपना आधार मानकर बलपूर्वक कहता है कि स्वप्नावस्था के अनुभव तथा जागरित अवस्था के अनुभव एकसमान हैं। यदि स्वप्नावस्थाएं हमारे अन्य साथी मनुष्यों के सामान्य अनुभवों तथा हमारे अपने भी साधारण अनुभव की अवस्थाओं के अनुकूल नहीं हैं[4] तो अवश्य यह समझना चाहिए कि इसका कारण यह नहीं है कि

1 3 : 23।

2. मैत्रायणी उपनिषद् भी देखें, 6 : 24। इसी उपमा का प्रयोग बौद्ध ग्रंथों में भी किया गया है। निःसन्देह भाषा तथा विचार की दृष्टि से गौडपाद की कारिका तथा माध्यमिक ग्रंथों में अद्भुत समानता पाई जाती है, और उनमें प्रयुक्त दृष्टान्त भी इसमें मिलते हैं। विशेष रूप में तुलना कीजिए, 2 : 32, 4 : 59। देखें, 'जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', 1910, पृष्ठ 136 से आगे।

3 देखें खण्ड 1, पृष्ठ 32-33, 159 से आगे। तुलना कीजिए, ब्रैडले : 'एपियरेंस एण्ड रियलिटी', पृष्ठ 462-64।

4. 2 : 203।

वे निरपेक्ष यथार्थसत्ता मे न्यून हैं, अपितु इसका कारण यह है कि वे हमारे अपने परम्परागत मानदण्डो के अनुकूल नही हैं। अनुभवो की उनकी अपनी एक पृथक ही श्रेणी है और अपने सब के अन्दर वे सश्लिष्ट हैं। स्वप्न मे का पानी स्वप्नगत प्यास को बुझा सकता है और यह कहना कि यह वास्तविक प्यास को नही बुझाता है, असगत है। ऐसा कहने का तात्पर्य होगा कि हम मान लेते हैं कि जागरित अवस्था का अनुभव अपने-आपमे यथार्थ है और वही एकमात्र यथार्थ है। जागरित तथा स्वप्न अवस्थाए दोनो ही अपने-अपने स्थानो पर यथार्थ हैं, अथवा निरपेक्ष भाव से दोनों ही एक समान अयथार्थ हैं।[1] गौडपाद का मत है कि जागरितावस्था के अनुभूत यथार्थ हम सबके लिए एकसमान है जबकि स्वप्नावस्था मे जाने गए पदार्थ केवल स्वप्नद्रष्टा की निजी सम्पत्ति है।[2] फिर भी उसका कहना है कि "क्या स्वप्न मे और क्या जागरित अवस्था मे जो भी पदार्थ ज्ञान मे आते हैं वे सब अयथार्थ हैं।"[3] उसका तर्क यह है कि पदार्थ के रूप मे जो कुछ भी प्रस्तुत होता है वह सब अयथार्थ है। यह तर्क कि सब पदार्थ अयथार्थ हैं और केवल मात्र प्रमाता (ज्ञाता) जो निरन्तर साक्षीरूप आत्मा के रूप मे है वही यथार्थ है, कुछ उपनिषदो मे उपस्थित किया गया है और इसे बौद्ध विचारधारा मे निषेधात्मक परिणामो के साथ विकसित किया गया है। इसी तर्क का प्रयोग आगे चलकर गौडपाद ने यह सिद्ध करने के लिए किया है कि यह जीवन जागरित अवस्था का स्वप्न है।[4] हम जागरित अवस्था के ससार को बाह्य मान लेते है; इसलिए नही कि हमें अन्य लोगो की मानसिक अवस्थाओ का ज्ञान होता है, किन्तु इसलिए कि हम उनकी साक्षी को मान लेते है। देश, काल और कारण के सम्बन्ध, जो जागरित ससार के पदार्थों का नियमन करते हैं, आवश्यक नही कि यथार्थ ही मान लिए जाए। गौडपाद के अनुसार, "एक वस्तु के स्वरूप से जो कुछ समझा जाता है, वह वह है जोकि अपने मे पूर्ण होता है, वह जोकि इसकी वास्तविक अवस्था है, वह जोकि अन्तर्निहित है, वह जोकि आकस्मिक नही है अथवा वह जो अपने-आपसे नष्ट नही हो जाता।"[5] इस कसौटी को उपयोग मे लाने पर हमे प्रतीत होता है कि आत्माए तथा ससार अपने-आपमे दोनो ही कुछ नही हैं, और केवल आत्मा ही सत् है।[6]

अनुभूत ज्ञान की वे घटनाए हमारे मस्तिष्क के अन्दर प्रविष्ट होती हैं, किन्ही निश्चित नियमो का पालन करती है तथा किन्ही निश्चित सम्बन्धो से आवद्ध है, जिनमे प्रधान सम्बन्ध है कारण। वह कौन-सा क्रम है जिसके अनुसार कारण और कार्य एक-

1 "जब मैं इस विषय पर ध्यान देकर विचार करता हू तो मुझे एक भी ऐसा लक्षण नहीं मिलता जिसके द्वारा मैं निश्चित रूप से निर्णय कर सकू कि क्या मैं जागता हू या स्वप्न देख रहा हू। स्वप्नावस्था के अनुभव तथा जागरिता के अनुभव इतने अधिक समान हैं कि मैं पूर्णरूप से हैरान हो जाता हू और वस्तुत मैं नहीं जानता कि मैं इस क्षण में स्वप्न नही देख रहा हू" 'डेस्कार्ट मेडिटेशन्स', पृष्ठ 1 का पास्कल का कथन ठीक है कि यदि हर रात एक ही स्वप्न दिखाई दे तो हम उसमे भी ठीक इसी प्रकार लिप्त हो जाएगे जैसेकि उन वस्तुओ मे हो जाते हैं जिन्हे हम प्रतिदिन देखते हैं। उसके शब्द हैं, "यदि कोई कारीगर निश्चित रूप से पूरे बारह घण्टे तक यह स्वप्न देखे कि वह राजा है तो मेरा विश्वास है कि वह भी उसी राजा के समान सुखी होगा जो हर रात मे बराबर बारह घण्टे तक यह स्वप्न देखता है कि वह कारीगर है।"

2 2 14।

3 2 4।

4 2 31।

5 4 · 9।

6 4 10, 28, 61।

दूसरे के पीछे आते हैं ? यदि वे युगपत् आते हैं, जैसेकि एक पशु के दो सींग साथ-साथ आते हैं, तो वे कारण और कार्य के रूप में एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं हो सकते। बीज और वृक्ष का दृष्टान्त अधिक उपयुक्त नहीं हो सकता। हम किसी भी वस्तु को कार्य नहीं कह सकते यदि हम उसके कारण को नहीं जानते।[1] बाह्य आवरण के स्वरूप में कारण-कार्य-सम्बन्धी व्याख्या पूर्ण नहीं हो सकती। वस्तुओं की किसी भी प्रस्तुत अवस्था को हम सोपाधिक मानते हैं और उनकी उपाधियों का पता लगाते हैं और जब उपाधियों का पता लग जाता है तो हमें उसकी पृष्ठभूमि में जाना होता है। इस प्रकार की प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है।[2] किन्तु यदि हम विश्वास करें कि ऐसे अनादि नित्य कारण भी वर्तमान हैं जो स्वयं में कारणरहित हैं और तो भी कार्यों को उत्पन्न करते हैं, तब फिर गौडपाद कैसे पूछ सकता है कि क्या वह पदार्थ जो कार्य को उत्पन्न करता है, स्वयं अज (अर्थात् न उत्पन्न होने वाला) हो सकता है ? और एक परिवर्तनशील पदार्थ कैसे नित्य हो सकता है ? स्वयं अनुत्पन्न वस्तुओं को अन्य वस्तुओं को उत्पन्न करते हुए हम कहाँ पाएंगे ? कारण और कार्य, स्पष्ट है कि परस्पर सापेक्ष हैं, जिनमें से एक दूसरे को सहारा देता है और जो गिरते भी साथ-साथ हैं।[3] कारण-कार्य-सम्बन्ध का स्वरूप यथार्थसत्ता के स्वरूप-सा नहीं है किन्तु केवल ज्ञान की एक दशा है। गौडपाद कहता है : "न तो अयथार्थ का और न यथार्थ का ही कारण कभी अयथार्थ हो सकता है और न ही यथार्थ का कारण यथार्थ हो सकता है"''और यथार्थ कैसे अयथार्थ का कारण हो सकता है ?"[4] कारणकार्यभाव की समस्याओं के कारण गौडपाद यह कहने के लिए विवश हुआ कि "कोई भी वस्तु न तो अपने से और न अन्य के द्वारा उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः कोई वस्तु उत्पन्न होती ही नहीं, चाहे वह सत् हो या चाहे असत् हो अथवा दोनों में से एक हो।"[5] कारणकार्यभाव असम्भव है। हम न तो यही कह सकते हैं कि ईश्वर संसार का कारण है अथवा और न यह कि जागरित अवस्था का अनुभूत ज्ञान स्वप्नावस्थाओं का कारण है।[6] नानाविध पदार्थ—विषयनिष्ठ और पदार्थनिष्ठ, जीवात्मामात्र तथा संसार —सभी अयथार्थ हैं।[7] वे तभी तक यथार्थ प्रतीत होते हैं जब तक कि हम कारणकार्य के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।[8] "प्रत्येक पदार्थ संवृति (अर्थात् सापेक्ष सत्य) की शक्ति से उत्पन्न होता है और इसलिए कुछ भी नित्य नहीं है; फिर प्रत्येक पदार्थ उत्पत्तिरहित होता है क्योंकि वह सत् से पृथक् नहीं हो सकता और इसलिए विनाश नाम की कोई वस्तु नहीं है।"[9] उत्पत्ति और विनाश केवल प्रतीति-मात्र हैं और यथार्थ में न तो कुछ

1. 4 : 16, 21।
2. 4 : 11-13, 21, 23, 25।
3. 4 : 14-15।
4. 4 : 40।
5. 4 : 22। शंकर इसपर इस प्रकार टीका करते हैं, "वस्तुतः किसी भी वस्तु से सत् का उत्पन्न होना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। अपने-आपसे, अर्थात् अपनी निजी आकृति से कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता। कोई भी पदार्थ फिर से अपने को उत्पन्न नहीं कर सकता जैसे घड़े से फिर घड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता, और न ही किसी अन्य वस्तु से कोई वस्तु उत्पन्न हो सकती है जैसे घड़े से कपड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता, और पहले कपड़े से दूसरा कपड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता, और अपने तथा अपने से अन्य दोनों से कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता; क्योंकि एक घड़ा और एक कपड़ा दोनों एक साथ मिलकर किसी एक को या दूसरे को उत्पन्न नहीं कर सकते।"
6. 4 : 39।
7. 4 : 51-52, 67।
8. 4 : 55-56, 4 : 42।
9. 4 : 57।

उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है।[1] यथाथसत्ता तक पहुचने के लिए हम कारण कायभाव तथा अन्य सम्बन्धो को अस्वीकार करना होगा क्योकि यथाथसत्ता प्रतीतिरूप जगत से अतीद्रिय है [2]

यह ध्यान देने योग्य विषय है कि आत्मनिष्ठ तथा पदार्थनिष्ठ का भेद वेदान्त म वैसा नही है जसाकि साधारणत होता है। मानसिक जगत् वैसा ही पदार्थनिष्ठ अथवा अयथाथ है जैसाकि भौतिक जगत है क्योकि एकमात्र ज्ञाता अथवा यथार्थसत्ता कवल आत्मा ही है। यद्यपि गौडपाद और शकर दोनो ही इस विचार के माननेवाल है तो भी शकर स्वप्नलोक तथा जागरित लोक मे परस्पर भेद करने का विशेष ध्यान रखते हैं जहा एक ओर शकर इस बात पर बल देता है कि दोनो जगत मानसिक और भौतिक एक ही प्रकार तथा एक ही व्यवस्था के नहीं है यद्यपि तात्त्विक रूप से वे दोनो ही ब्रह्म हैं। गौडपाद के ऊपर यह दोष आ सकता है कि वह परम्परागत अर्थो मे आत्मनिष्ठता को मानता है क्योकि उसने बाह्य वस्तुओ की अयथार्थता को सिद्ध करने तथा उन्हें मानसिक विचार के रूप मे प्रस्तुत करने के लिए उन्ही युक्तियो का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग बौद्धधम का विज्ञानवाद करता है।[3] यह चैतन्य की गति (विज्ञान-स्पन्दितम) है जो प्रत्यक्ष ज्ञान के कर्ता तथा ज्ञात पदार्थ की प्रतीति को उत्पन्न करती है और जहा यह नहीं होती वहा हम नानाविधि वस्तुओ की कल्पना कर लेते हैं।[4] ससार का अस्तित्व केवल मात्र मनुष्य के मन मे है।[5] गौडपाद की दृष्टि मे कुल यथाथसत्ता मानसिक प्रभावमात्र के अतिरिक्त और कुछ नही और वह यह भी घोषणा करता है कि मानसिक प्रभाव के कोई पदार्थनिष्ठ कारण नहीं हैं। वस्तुओ के स्वभाव के आधार पर निर्धारित युक्तिया सकेत करती है कि कारण का कारण नही होता। [6] चित्त (अथवा विचार) अपने को पदार्थो के साथ सम्बद्ध नही करता और न यह पदार्थो को ही अपने अन्दर प्रतिबिम्बित होने देता है क्योकि पदाथ अयथाथ हैं और उनका प्रतिबिम्ब उससे (चित्त से) पृथक नही है। [7]

यथाथवादी तक करता है कि विचार तथा मनोभावनाए उदय ही नही होगा यदि बाह्य पदाथ उन्हें उत्पन्न न कर। गौडपाद विचारो से स्वतन्त्र प्रमेय पदार्थो के अस्तित्व की कल्पना को अयुक्तियुक्त बतलाता है और शकर यह स्वीकार करने क लिए विवश ह कि यह प्रतिवाद बौद्धो के विज्ञानवादी सम्प्रदाय का तक है जो यथाथवादियो (बाह्याथवादियो) की सम्मति को अमान्य ठहराते हैं और आचाय उनसे यहा तक

1 2 32।

2 प्रपचोपशमम 2 35।

3 जकोबी गौडपाद के तक को इस तर्कक्रम मे प्रस्तुत करता है जागरित अवस्था म देखे गए पदाथ यथाथ नहा ह यह प्रतिज्ञा (प्रोपोजीशन) है हेतु यह है कि वे देखे गए ह जैसकि किसी स्वप्न म देखे गए पदाथ यह दृष्टात है जिस प्रकार स्वप्न में देखे गए पदाथ यथाथ नहीं हात इसी प्रकार दृश्यमानता का गुण जागरितावस्था के पदाथो से भी सम्बन्ध रखता है यह हेतु का उपयोग (हेतूपनय) है इसलिए जागरित अवस्था मे देखे गए पदाथ भी अयथाथ हैं यह निष्कष (निगमन अनुमान) है। जनल आफ दि अमेरिकन ओरिएटल सोसाइटी खण्ड 33 भाग 1 अप्रल 1913। और भी देख 2 29 31 4 61 66 72 73

4 2 15 और 17 और 4 47।

5 4 45-48 72 4 77 1 17

6 4 25 इसके ऊपर भाष्य करते हुए शकर लिखता है घट आदि का जिन्ह तुम विषयनिष्ठ प्रभावो का पदार्थनिष्ठ कारण मानते हो अपना कोई कारण नहीं ह न कोई आधार ही ह इसलिए वे विषयीनिष्ठ प्रभावो के कारण नही हैं

7 4 26।

सम्मत है ।"[1]

किन्तु विचारों के यथार्थप्रवाह की कल्पना भी गौडपाद के लिए अरुचिकर है। वह विज्ञानवाद की मुख्य स्थिति अर्थात् चित्त की यथार्थता का भी प्रतिवाद करता है। "इसलिए मन (चित्त) का उद्भव नहीं होता और न मन के द्वारा जाने गए पदार्थ ही उत्पन्न होते हैं। ऐसे व्यक्ति जो उनके उद्भव को जानने का अभिनय करते हैं, केवल हवाई किले बनाते हैं।[2] यदि सम्पूर्ण ज्ञान केवल प्रतीतिमात्र है, तो फिर यथार्थ और मिथ्या ज्ञान में अन्तर ही क्या रहा? निरपेक्ष परमसत्ता की दृष्टि में कुछ भी अन्तर नहीं है। रस्सी का रस्सी के रूप में ज्ञान भी फिर उतना ही निराधार है जितना कि रस्सी को साँप के रूप में जानने का ज्ञान है। जागरित तथा स्वप्न अवस्थाओं में प्रस्तुत पदार्थों की चेतना निरन्तर रहनेवाला घटक साधन नहीं है। सुषुप्ति अवस्था में न तो बाह्य और न आभ्यन्तर पदार्थों का बोध हो सकता है। केवल एक ऐसा एकत्व है जिसके अन्दर सब पदार्थ आकर एक चेतना के पुञ्जरूप में एकत्र होते हुए प्रतीत होते हैं जहाँ वे अलग-अलग पहचाने नहीं जा सकते।[3] इस अवस्था का अस्तित्व इस विषय का स्पष्ट प्रमाण है कि ज्ञान, जिसमें ज्ञाता और ज्ञात पदार्थ का भेद है, निरपेक्ष परम नहीं है। स्वप्न तभी तक यथार्थ है, जब तक कि हम स्वप्न देखते हैं। इसी प्रकार जागरित अवस्था का ज्ञान भी तभी तक वर्तमान है जब तक कि हम निद्राभिभूत नहीं होते एवं स्वप्न नहीं देखते। सुषुप्ति (अर्थात् स्वप्नरहित निद्रा), जिसमें से गुजरकर हम जागरित अथवा स्वप्नावस्था में आते हैं उतनी ही अयथार्थ है जितनी कि अन्य अवस्थाएं, और तीनों अवस्थाएं उस समय अपने सापेक्ष रूप को प्रकट करती हैं, जब मनुष्य "भ्रांतिरूप निद्रा से जाग जाता है, जिसका कोई आदि नहीं है और वह उस अजन्मा, सदा जागरित, स्वप्नविहीन को पहचान जाता है जिसके समान दूसरा कोई नहीं है।"[4]

संसार के मिथ्यात्व को दर्शाने का दूसरा तर्क यह है कि "प्रत्येक वस्तु जो प्रारंभ में असत् थी, और अन्त में भी असत् रूप से परिणत हो जाएगी, मानना चाहिए कि मध्यकाल में भी असत् है।"[5] दूसरे शब्दों में वह सब जिसका आदि व अन्त है, अयथार्थ या मिथ्या है।[6] यथार्थता का प्रमाण पदार्थनिष्ठता अथवा क्रियात्मक क्षमता नहीं है किन्तु सब काल में निरन्तर अस्तित्व अथवा निरपेक्ष आत्मसत्ता है। जागरितावस्था के अनुभूत पदार्थ स्वप्नावस्था में असत् हो जाते हैं और स्वप्नावस्था के पदार्थ जागरितावस्था में असत् रूप हो जाते हैं। इस प्रकार गौडपाद अनुभूत जगत् के अयथार्थस्वरूप को सिद्ध करता है अर्थात् (1) इसकी स्वप्नावस्था के साथ समानता के कारण; (2) इसके प्रस्तुत होनेवाले अर्थात् पदार्थनिष्ठ स्वरूप के कारण, (3) इसके उन सम्बन्धों के दुर्बोध होने के कारण जो इसका संगठन करते हैं, और (4) इसके सब कालों में स्थिर न रहने के कारण।

यह स्वीकार करते हुए कि सापेक्षता एक सर्वग्राही शक्ति है जो अनुभूत ज्ञान के क्षेत्र में नियामक है, वह एक ऐसी वस्तु की यथार्थता की स्थापना करता है जो अनुभव, ज्ञान तथा सापेक्षता से भी ऊपर हो। सापेक्ष की सम्भावना ही निरपेक्ष यथार्थसत्ता को

1 4, 21, 25-27।

2 4 28

3 "यथा रात्रौ नैशेन तमसा विभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत् प्रज्ञानघन एव।" शांकरभाष्य, माण्डूक्योपनिषद्, 5।

4 1 : 16।

5 2 : 6।

6 2 : 7।

उपलक्षित करती है। यदि हम यथार्थसत्ता को अस्वीकार करते हैं तो हम सापेक्ष को भी अस्वीकार करते हैं।[1] उपनिषदों में प्रतिपादित किया गया है कि जागरित, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं से परे उन सबका एक सामान्य आधार आत्मा है।[2] केवलमात्र यही सत है। यह अखण्ड है क्योंकि यदि इसके खण्ड होते तो बहुत्व का दोष आ जाता। सत् के अन्दर कोई भेद नहीं रह सकता क्योंकि जो सत् से भिन्न है वह असत है, और असत् अभावात्मक है। "वह वस्तु जो सत है वन नहीं सकती जिस प्रकार जो नहीं है वह हा नहीं सकती।[3] सत का विचार के साथ तादात्म्य है क्योंकि यदि यह तादात्म्य न होता तो यह अन्य प्रकार से नितान्त रूप मे एक न होता। विचार वही है जो सत् है किन्तु यह विचार वह मानवीय विचार नहीं है जिसे एक प्रमेय पदार्थ की आवश्यकता होती है। इस प्रकार का विचार सम्बन्धो से और इसीलिए बहुत्व से सपृक्त होगा। विचार से यहा तात्पर्य है सरल आत्मप्रकाश की ज्योति से जो सब प्रकार के सापेक्ष ज्ञान को सम्भव बनाती है। 'सदा अजन्मा, जागरित, स्वप्नरहित, अपने को स्वय से प्रकाशित करता है। यह अपने स्वरूप ही के कारण सदा प्रकाशमान रहता है।'[4] निरपेक्ष परमसत्ता को निषेधात्मक शून्यता के साथ न मिला देना चाहिए जो सुषुप्ति की अवस्था है। सुषुप्ति मे हमे अबोध रहता है किन्तु ब्रह्म के अन्दर हमे विशुद्ध बोध होता है।[5] जागृति, सुषुप्ति तथा निद्रा, ये तीन प्रकार की अवस्थाए है जिनमे एकमात्र निरुपाधिक आत्मा अपने को अभिव्यक्त करती है जबकि यह भिन्न भिन्न उपाधियों (सीमाओं) से मर्यादित रहती है।[6]

6 सृष्टिरचना

गौडपाद सर्वश्रेष्ठ तत्त्व अर्थात् आत्मा तथा आनुभविक जगत् के मध्य क्या सम्बन्ध है इस विषय के प्रश्न को उठाता है। यदि हम सत्य के नैष्ठिक विद्यार्थी (परमार्थचिन्तका) और सृष्टि के सम्बन्ध म केवल कल्पना ही कल्पना करनेवाले (सृष्टिचिन्तका) नहीं है तो हम देखेंगे कि सृष्टिरचना नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। यथार्थसत्ता मे कोई परिवर्तन मम्भव नहीं है। यदि यह सम्भव होता तो "अमर मरणधर्मा हो जाता।"[7] "किसी प्रकार से भी यह सम्भव नहीं है कि कोई वस्तु अपने से सर्वथा विपरीत गुणवाली वस्तु के रूप में परिणत हो जाए।'[8] प्रत्येक परिणमन अवास्तविक है एव केवल आनुभविक

1 3 28।

2 1 1। एक एव त्रिधा स्मत। तुलना कीजिए

सत्त्वाज्जागरण विद्याद्रजस स्वप्नमादिशेत्।
प्रस्वापन तु तमसा तुरीय त्रिपु सन्ततम॥

देख साख्यप्रवचनभाष्य 1 91।

3 4 4।

4 4 81। और भी देखें 3 33, 35 36।

5 3 34। और भी देखें, 1 26 29 3 26 4 9

6 स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरो से सम्बद्ध आत्मा का क्रमश विश्व तैजस और प्राज्ञ सज्ञा होता है। इसके साथ तुलना कीजिए हीगल के विचार की अथात एक ऐसी क्रमबद्ध श्रणी जिसके द्वारा मनुष्य का मानस शनै शनै न्यूनतर यथाथ स अयथाथता के अधिकतर सही विचारो पर पहुचता ह, उस प्रक्रिया की अवस्थाओ क अनुकूल है जिनके द्वारा यथाथता स्वय सदा घटती रहनेवाली यथेष्टता के साथ घटनाओ के ऊपर उठनेवाले क्रम में स्वय अभिव्यक्त होती है।

7 3 19।

8 3 21।

जगत् में ही वह सत्य अथवा सप्रमाण है। यथार्थ में भेद नामक कोई वस्तु नहीं है। (नास्ति भेदः कथंचन)।[1] आत्मा ही जो, एकमात्र निरुपाधिक यथार्थसत्ता है, अपने अतिरिक्त और किसी के विषय में अभिज्ञ नहीं है। जैसाकि शंकर कहता है : "प्रमेय पदार्थों का बोध एक क्रियाशील प्रमाता को होता है, साधारण सत्ता मात्र को नहीं होता।" यह बताना संभव नहीं है कि यह अध्यास अथवा आत्मा का अनात्म के साथ असामंजस्य कैसे उत्पन्न होता है, किस प्रकार से एक अनेकरूप में प्रकट होता है, क्योंकि अखण्ड आत्मा के यथार्थ में विभाग नहीं हो सकते और कभी-कभी यह तर्क किया जाता है कि जगत् की व्याख्या का पता लगाना, यदि यह यथार्थ नहीं है तो भी, आवश्यक है।[2] सृष्टि-रचना के विषय में प्रस्तुत किए गए भिन्न-भिन्न विकल्पों पर गौडपाद ने इस प्रकार विचार किया है, "कुछ इसे ईश्वर की अभिव्यक्ति (विभूति) रूप में मानते हैं किन्तु अन्य कई इसे स्वप्नरूप अथवा भ्रांति (स्वप्नमाया) के रूप में मानते हैं : अन्य कई का मत है कि यह ईश्वर की इच्छा रूपी एक संकल्प है, किन्तु ऐसे व्यक्ति जो काल में विश्वास रखते हैं, बलपूर्वक कहते हैं कि सब कुछ काल से ही प्रादुर्भूत हुआ है। कुछ का कहना है कि सृष्टि भोग के लिए है, दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनका कहना है यह क्रीड़ा के लिए है।" गौडपाद उक्त सब मतों का निराकरण करते हुए बलपूर्वक कहता है कि "यह उस तेजोमय का अन्तःस्थित स्वभाव (देवस्यैष स्वभावोऽयम्) है जिसे सब कुछ प्राप्त है क्योंकि उसकी इच्छा और क्या हो सकती है ?[3] इसलिए इस मत का निराकरण करते हुए कि जगत् की तुलना एक स्वप्न अथवा भ्रांति के साथ की जा सकती है, गौडपाद तर्क करता है कि यह ईश्वर के अपने स्वभाव का व्यक्तरूप है, अर्थात् उसकी शक्ति का अभिव्यक्त स्वरूप है। अन्य वाक्यों में भी जगत् का यथार्थवादी विचार प्रकट होता है तथा "आत्मा अपनी माया की शक्ति द्वारा (स्वमाया से) अर्थात् अपने-आपसे अपनी कल्पना करता है। वही एकमात्र बाह्य विषयों (प्रमेय पदार्थों) का बोध ग्रहण करता है। इस विषय पर वेदान्त का यह अन्तिम मत है।"[4] यहां पर गौडपाद ने माया शब्द का प्रयोग अद्भुत शक्ति के अर्थों में किया है; यह आत्मा का स्वभाव बन जाता है "जो उस सर्वदा ज्योतिष्मान् से पृथक् नहीं हो सकता और जो इसके द्वारा आवृत है।"[5] माया के विषय में यह भी कहा गया है कि यह अनादि सृष्टितत्त्व है जो मनुष्य की दृष्टि से यथार्थसत्ता को छिपाए रहती है।[6] वह परमतत्त्व इस माया रूपी तत्त्व अथवा स्वभाव से संयुक्त होकर जो अव्याकृत है, ईश्वर कहाता है "जो समस्त चैतन्य के केन्द्रों का वितरण करता है।'"[7]

पृथ्वी, लोहा और आग के स्फुलिंगों के दृष्टान्त जिनका उपयोग उपनिषदों में किया गया है वह हमें केवल परमार्थसत्ता के प्रत्यक्षीकरण में सहायता प्रदान करनेके लिए है।[8] अर्वाचीन वेदान्त में इस स्थिति को परिष्कार करके अध्यारोपापवाद अथवा एक अध्यास के रूप में, जिसके आगे अपसरण आता है, प्रतिपादन किया गया है।[9] उक्त सब कथनों में जो आध्यात्मिक सत्य निहित है वह यह है कि इस आनुभविक जगत् का

1. 3 . 15, 9 और 24।
2. 1 . 17-18।
3. 1 : 7-9।
4. 2 . 12 और भी देखें, 3 . 10।
5. 2 : 19।
6. 1 : 16।
7. 1 . 6।
8. 3 : 15।
9. वेदान्तसार, 2।

अधिष्ठान आत्मा है जो यथार्थ में किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करता (द्वैतस्याग्रहणम्)।[1] द्वैतपरक जगत् केवल माया है यथार्थसत्ता अद्वैत है।[2] शंकर कहते हैं, "ज्ञान की विविधता आत्मा के अन्दर ठीक उसी भांति रहती है जैसेकि सांप रस्सी में।"[3] हमें यह न कहना चाहिए कि आत्मा अपने को जगत् के रूप में परिणत करती है। यह वस्तुओं को उत्पन्न करती है केवल उसी भांति जिस भांति कि एक रस्सी सांप का रूप धारण करती है, किन्तु यथार्थरूप में वह सांप नहीं।[4] यह केवल माया के द्वारा ही अनेक रूप में परिणत होती केवल प्रतीत होती है किन्तु अपने आपमें नहीं (न-तत्त्वत)।[5] "अनुभूत ज्ञान की विविधता को आत्मा के अनुरूप नहीं कहा जा सकता और न अपने आपमें स्वतन्त्र रूप में अवस्थित ही कह सकते हैं, और कुछ भी भिन्न अथवा तादात्म्य सूचक नहीं है।"[6] यह जगत् न तो आत्मा के साथ तादात्म्यरूप है और न उससे पृथक् तथा भिन्न ही है। जिस समय गौडपाद का ध्यान सर्वोपरि यथार्थसत्ता के ऊपर होता है तो वह बलपूर्वक कहता है कि जगत केवल स्वप्नमात्र अथवा भ्रांति है और भेद सब केवल प्रतीतिस्वरूप है।[7]

गौडपाद ने माया शब्द का प्रयोग ठीक एक ही अर्थ में नहीं किया है। इसका प्रयोग (1) जगत् तथा आत्मा के मध्यगत सम्बन्ध की अव्याख्येयता के अर्थों में किया है, (2) ईश्वर के स्वभाव अथवा शक्ति के अर्थों में तथा (3) जगत् की स्वप्नसदृश प्रतीति के अर्थों में किया है। शंकर ने माया के पहले अर्थों को ही अधिकतर प्रधानता दी है और तीसरे प्रकार के अर्थों के प्रति वह उदासीन है। वह तीसरे प्रकार के अर्थों की गौडपाद की स्थिति को माध्यमिकों के संवृति सत्य अथवा असत्य के सदृश बना देती है, किन्तु व्यावहारिक सत्य अथवा क्रियात्मक सत्य के सदृश नहीं।[8]

यदि यह जगत चित्तनिष्ठ पदार्थों से ही बना है (चित्तदृश्यम्) और निरपेक्ष परमार्थस्वरूप आत्मा के ऊपर आरोपित किया गया है तो यही जीव की दशा है। आत्मा का अनेक जीवों में विभक्त होना केवल प्रतीतिमात्र है। आत्मा की तुलना सर्वव्यापी देश के साथ की गई है और जीव की तुलना भी उसीके समान घड़े में सीमित आकाश (देश) के साथ की गई है। और जब ढकनेवाला बाह्य आवरण नष्ट हो जाता है तो सीमाबद्ध देश (घटाकाश) व्यापक देश (महाकाश) में मिल जाता है। भेद केवल ऐसे आनुषंगिक पदार्थों में रहते हैं, यथा आकृति, क्षमता और नाम, किन्तु स्वयं व्यापक देश (आकाश) में यह भेद नहीं है। जैसेकि हम यह नहीं कह सकते कि सीमाबद्ध आकाश (देश) व्यापक आकाश का अवयव है अथवा एक विचार है इसी प्रकार हम यह भी नहीं कह सकते कि जीव आत्मा का अवयव है या विकार है। ये दोनों एक ही हैं और भेद केवल प्रतीतिपरक है। यद्यपि व्यावहारिक रूप में हमें इन दोनों को भिन्न

1 1 13, 17।
2 माया मात्रमिदं द्वैतं द्वैत परमार्थत (2, 17)।
3 ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य 2 12 19।
4 3 27, 2 17।
5 3 27।
6 2 34।
7 3 19 24, 4 45। और भी देखें, 2 18।
8 गौडपाद की दृष्टि में आनुभविक जगत के पदार्थ (धर्म) केवल भ्रांतिमात्र हैं जैसाकि आकाश (गगनोपम)। ज्ञान को भी वह आकाश के समान कल्पनात्मक और ज्ञेय पदार्थों से अभिन्न मानता है।[1]

मानना होता है।[1]

7. नीतिशास्त्र और धर्म

मनुष्य का सबसे श्रेष्ठ हित इसीमें है कि वह उन बन्धनों को तोड़ फेंके जो उसे उस यथार्थसत्ता से दूर रखे हुए हैं, जो उसका अपना स्वरूप है। जीवात्मा के अन्दर आत्मा का साक्षात्कार कर लेने का नाम ही मोक्ष है।[2] "मुक्त आत्मा कभी जन्म नहीं लेती क्योंकि वह कारणकार्य की परिधि से दूर हो जाती है।"[3] जब मनुष्य सत्य का साक्षात् कर लेता है तो वह ससार में उच्चकोटि के अनासक्तिभाव से युक्त रहता है जिसकी तुलना जड़ प्रकृति की पूर्ण उदासीनता के साथ (जड़वत्) हो सकती है।[4] वह परम्परागत नियमो तथा विधानो के बन्धन में नही रहता।[5]

नैतिक प्रयत्न उच्चकोटि के कल्याण के प्रगतिशील सान्निध्य में है। पुण्य और पाप के भेद आनुभविक जगत् से ही सम्बन्ध रखते हे जहां कि जीव व्यक्तित्व का भाव रखते हैं। चूकि अविद्या एक ऐसी वस्तु है जिसका प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व के ऊपर सम्पूर्णरूप मे होता है। इसमे मुक्त होने के लिए न केवल सत्य ज्ञान अपितु सदाचरण और ईश्वर मे भक्ति आवश्यक हैं। धर्म सर्वोपरि निःश्रेयस् की प्राप्ति में हमारा सहायक होना है। परिमित शक्तिवाले जीवात्मा को पूजा तथा उपासना के विषय में पूरी स्वतन्त्रता दी गई है, जो उस अनन्त सत्ता की जिस किसी भी रूप में कल्पना कर सकता है क्योकि जितनी भी आकृतिया हैं उसी एक परम सत्ता में न्यस्त हैं।[6] मानवीय आत्मा तथा ईश्वर मे परस्पर भेद के ऊपर निर्भर धर्म का स्वरूप सापेक्ष है और इसको साधन के रूप में महत्त्वपूर्ण होने के कारण स्वीकार किया गया है।[7] गौडपाद योगशास्त्रविहित पद्धति को साधन के रूप में स्वीकार करता है। "जब चित्त कल्पना करते-करते आत्मविषयक सत्यज्ञान के कारण विरत हो जाता है तो यह शून्य हो जाता है और तब चूकि इसे किसी वस्तु का बोध ग्रहण करना शेष नही रहता इसलिए विश्रान्तिलाभ करता है।"[8] इस अवस्था को सुषुप्ति-अवस्था के साथ नही मिला देना चाहिए क्योंकि यह एक ज्ञान की अवस्था है जिसका ज्ञेय विषय है ब्रह्म।[9] यह भावात्मक वर्णन से परे है, सब प्रकार के द्वैतभाव से परे है, यह एक ऐसे क्षेत्र में है जहां कि ज्ञान आत्मा के अन्दर केन्द्रित हैं।[10] योग की प्रक्रिया कठिन है क्योंकि इसके लिए मन का निग्रह अत्यन्त आवश्यक है जो इतना कठिन है कि गौडपाद इस कष्टसाध्य प्रयत्न की तुलना एक ऐसे व्यक्ति के प्रयत्न से करता है जो घास के एक तिनके से बूद-बूद लेकर समुद्र को सुखाने का प्रयत्न करता है।[11] तो भी जब तक परम आनन्द की प्राप्ति न हो जाए, चित्त को

1 3 : 3-14।
2 2 18, 38।
3 4 : 75, 3 · 38।
4 2 36।
5 2 37।
6 2 : 29-30।
7 3 : 1।
8 3 : 32।
9. 3 : 33-34।
10 3 : 35-38।
11. 3 : 40-41।

बीच मे प्रयत्न न छोडना चाहिए ।

8 गौडपाद और बौद्धधर्म

गौडपाद के ग्रन्थ मे जो सामान्य विचार हमे आदि से अन्त तक मिलता है –अर्थात् बन्धन और मोक्ष, जीवात्मा तथा जगत, यह सब अयथार्थ है—एक मर्मभेदी समालोचक को इस परिणाम पर पहुचाता है कि वह प्रकल्पना जो इससे अधिक कुछ नही कह सकती कि एक अयथार्थ आत्मा इस अयथार्थ जगत मे सर्वश्रेष्ठ कल्याण की प्राप्ति के लिए अयथार्थ बन्धनो से मुक्त होने का प्रयत्न कर रही है, स्वय अपने मे भी अयथार्थ है। एक ओर यह कहना कि अस्तित्व का रहस्य कि किस प्रकार निर्विकार यथार्थसत्ता इस परिवर्तनशील विश्व मे बिना अपने स्वरूप को नष्ट किए अपने को अभिव्यक्त करती है, स्वय रहस्य है और साथ साथ समस्त परिवर्तनशील विश्व को केवल मृगतृष्णिकामात्र बताकर निराकरण करना दूसरी बात है। यदि हमे जीवन के क्रीडाक्षेत्र मे खेलना है तो हम अपने अन्दर इस प्रकार की धारणा रखकर कि यह सब केवल दिखावामात्र है और इसके अन्दर जितने भी पुरस्कार हैं वे सब शून्य है, कभी खेल मे भाग नही ले सकते। कोई भी दर्शन इस प्रकार के मत को युक्तिसगत मानते हुए शान्ति नही प्राप्त करा सकता। इस प्रकार की प्रकल्पना मे सबसे बडा दोष यह है कि हम ऐसे प्रमेय पदार्थो मे लगे रहने के लिए बाध्य होते है कि जिनके अस्तित्व तथा महत्त्व का हम अपनी इस प्रकल्पना में बराबर निषेध कर रहे होते हैं। यह ससाररूपी तथ्य रहस्यमय तथा अनिर्वचनीय हो सकता है । यह केवल यही दर्शाता है कि एक अन्य सत्ता ऐसी अवश्य है जो इस ससार के अन्दर निहित है और इससे भी ऊपर है किन्तु तो भी इस प्रकार का सकेत नही करता कि ससार एक स्वप्न है, अर्वाचीन बौद्धधर्म से ही गौडपाद की इस प्रकल्पना मे ऐसी अतिशयोक्ति का समावेश हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि उस बौद्धदर्शन के कुछ रूपो के साथ अपने दर्शन की समानता होने का ज्ञान था। इसलिए वह कुछ अधिक आगे बढकर विरोध के रूप मे कहता है कि उसका मत बौद्धमत नही है। अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग मे वह कहता है "यह बुद्ध ने नही कहा था।"[1] इसके ऊपर टिप्पणी करते हुए शकर लिखता है, "बौद्धधर्म का सिद्धान्त अद्वैत के साथ सादृश्य रखता है किन्तु बौद्धधर्म वैसा निरपेक्षवाद नही जो अद्वैतदर्शन का प्रधान आधार है।"

गौडपाद के ग्रन्थ (कारिका) मे बौद्धदर्शन के चिह्न मिलते हैं,[2] विशेषकर विज्ञानवाद तथा माध्यमिक सम्प्रदाय के। गौडपाद ठीक उन्ही युक्तियो का प्रयोग करता है जिनका प्रयोग विज्ञानवाद ने बाह्य पदार्थो की अयथार्थता को सिद्ध करने के लिए किया है। बादरायण और शकर दोनो ही बलपूर्वक कहते हैं कि स्वप्नावस्था के तथा जागरित अवस्था के प्रभावो मे मौलिक भेद है।[3] और यह कि जागरित अवस्था के प्रभावो का आधार बाह्य पदार्थो का अस्तित्व है। किन्तु गौडपाद जागरित तथा स्वप्न अवस्था दोनो के प्रभावो को एकसाथ जोड देता है।[4] शकर जहा एक ओर अपने दर्शन को

1 नैतद् बुद्धेन भाषितम् (4 99)।

2 ऐसे भी व्यक्ति है जिनका विश्वास है कि गौडपाद अपने आपमें बौद्धधर्मावलम्बी था और उसने माध्यमिककारिका पर टीका की है तथा उसकी सम्मति में बौद्धधर्म उपनिषदो की पद्धति के समान है। देखें, दासगुप्ता 'हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी,' पृष्ठ 423 428।

3 2 2 28 32।

4 2 4।

विषयीविज्ञानवाद से अछूता रखने के लिए उत्सुक है, जोकि विज्ञानवाद का सहचारी है, वहां गौड़पाद उसका स्वागत करता है।[1] विज्ञानवाद को अन्तिम रूप में स्वीकार करने के लिए उद्यत न होने के कारण वह ऐसी घोषणा करता है कि विषयी (प्रमाता) भी प्रमेय विषय के समान ही अयथार्थ और इस प्रकार संकट में पड़कर शून्यवादियों की स्थिति के ही समीप पहुंच जाता है। नागार्जुन के समान वह कारणकार्यभाव तथा परिवर्तन की सम्भावना का भी निराकरण करता है।[2] "विनाश नाम की कोई वस्तु नहीं है सृष्टिरचना भी नहीं है, बन्धनों में जकड़ा हुआ कोई नहीं है, मोक्ष के लिए प्रयत्न करनेवाला भी नहीं है, न कोई मोक्ष की ही अभिलाषा करनेवाला है, न कोई मुक्त है, यही परमसत्य है।"[3] यह आनुभविक जगत् अविद्या के कारण है अथवा नागार्जुन की भाषा में संवृति के कारण है। "एक जादू के बीज से जादू का अंकुर निकला है; यह अंकुर न तो स्थायी है और न नाशवान् है। वस्तुएं भी ऐसी ही हैं और इसी कारण है।"[4] भेदों के परे सबसे ऊंची ज्ञान की अवस्था को हम अस्तित्व अथवा अभाव दोनों अथवा इनमें से किसी एक के भी विधेयों द्वारा लक्षित नहीं कर सकते। गौड़पाद और नागार्जुन के मत में यह एक ऐसी वस्तु है जो प्रतीतिस्वरूप जगत् से ऊपर है।[5] इन सिद्धान्तविषयक अंशों के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों में भी समानताएं हैं जो निश्चयपूर्वक बौद्धधर्म के प्रभाव का निर्देश करती हैं। किसी वस्तु अथवा सत्ता के लिए धर्म शब्द का प्रयोग, सापेक्ष ज्ञान के लिए संवृति शब्द का प्रयोग और संघात शब्द का प्रयोग पदार्थों के अस्तित्व के लिए विशिष्ट रूप से बौद्धधर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं।[6] आलातचक्र की उपमा का बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में प्रायः ही अयथार्थता के प्रतीक रूप में प्रयोग हुआ है।[7]

गौड़पाद की कारिका माध्यमिकों के निषेधात्मक तर्क को उपनिषदों के भावात्मक आदर्शवाद के साथ एक पूर्ण इकाई के अन्दर संयुक्त करने का प्रयास है। गौड़पाद में निषेधात्मक प्रवृत्ति भावात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाई जाती है। शंकर का दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित है।

1 4 : 24-28।

2 2 32, 4 : 4, 7, 22, 59।

3 2 32, माध्यमिककारिका, 1 : 1। योगवासिष्ठ भी देखें, 4 : 38 22।

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति नाबन्धोऽस्ति न बन्धनम्।
अप्रबोधादिदं दुःखं प्रबोधात् प्रविलीयते॥

4 4 59। यह बौद्धधर्म के इस सिद्धान्त का कि "शून्य से पदार्थों की उत्पत्ति होती है" भावानुवाद है।

5 प्रपञ्चोपशमम्, 2 : 35। तुलना कीजिए, माध्यमिककारिका, 1 : 1, और 20 25।

सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः।
न क्वचित् कस्यचित् कश्चित् धर्मो बुद्धेन देशितः॥

6 3 : 10, 4 72।

7 लंकावतार। बी० टी० एस० संस्करण, पृष्ठ 95। इस मत का कि गौड़पाद हमें बौद्धधर्म के शून्यवाद का वेदान्त रूप देता है कई विद्वानों ने समर्थन किया है, यथा वैलेसी, पूसी, सुखठणकर तथा विधुशेखर भट्टाचार्य। दुर्भाग्यवश शंकर बौद्धधर्म के समस्त स्पष्ट उल्लेखों का समाधान कर डालता है। देखें ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, 4 : 1, 2, 19, 42, 90, जहां पर बुद्ध तथा उसके सिद्धान्त के अद्भुत उल्लेखों का समाधान कर दिया गया है।

9. भर्तृहरि

शकर का एक अन्य पूर्ववर्ती विद्वान् जिसके विचार उनके विचारो के समान है भर्तृहरि था जो प्रसिद्ध तार्किक तथा वैयाकरण था।[1] मैक्समूलर[2] की गणना के अनुसार उसकी मृत्यु 650 वर्ष ईसा के पश्चात के लगभग हुई। उसका महान् दार्शनिक ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है जिसका झुकाव कुछ-कुछ बौद्धधर्म की ओर है। ई-त्सिग लिखता है कि भर्तृहरि कई बार बौद्ध भिक्षु बना और कई बार बदल भी गया। उसकी शिक्षाए उक्त कथन का समर्थन करती हैं। ससार के प्रतीति-स्वरूप के प्रति उसका आग्रह तथा वस्तुओ से अनासक्ति के विचारो मे बौद्ध-दर्शन की भावना प्रबल रूप मे पाई जाती है। "मनुष्यो के लिए सब वस्तुए भयप्रद हैं, अनासक्ति ही केवल सुरक्षित उपाय है।"[3] यह जगत् अपने समस्त भेदो के साथ काल्पनिक है। सासारिक पदार्थ अनात्म हैं यद्यपि शब्दो के द्वारा उन्हे व्यक्तित्व दिया गया है। किन्तु भर्तृहरि जब ब्रह्म की यथार्थता की स्थापना करता है तो वह बौद्धो से भिन्न है। वह समस्त जगत को एक विवर्त के रूप मे मानता है अर्थात् एक प्रतीति है जिसका आधार ब्रह्म है। वह ब्रह्म तथा शब्द को एक मानता है। "ब्रह्म जो अनादि और अनन्त है और जो शब्द (वाणी) का नित्य सारतत्त्व है, वस्तुओ के आकार मे परिवर्तित हो जाता है जोकि ससार के विकास के समान है।"[4] नित्य शब्द जिसे 'स्फोट' की सज्ञा दी गई और जो अखण्ड है, नि सन्देह ब्रह्म है।[5] ग्रीक भाषा ने पारिभाषिक शब्द 'लोगोस' की सन्दिग्धता जो तर्क तथा शब्द दोनो के लिए प्रयुक्त होता है, निर्देश करती है कि दैवीय तर्क तथा दैवीय शब्द परस्पर सम्पृक्त हैं।

10 भर्तृप्रपञ्च

बृहदारण्यक उपनिषद्[6] के अपने द्वारा किए गए भाष्य मे शकर भर्तृप्रपञ्च के द्वैताद्वैत (अथवा भेदाभेद) का उल्लेख करते है जिसके अनुसार ब्रह्म एक ही समय मे एक भी है और द्वैत भी है। कारणरूप ब्रह्म कार्यरूप ब्रह्म से भिन्न है यद्यपि जब जगत् मूल कारण ब्रह्म में वापस लौट आता है तब दोनो एकसमान हो जाते हैं। शकर का कहना है कि द्वैत और अद्वैत ये दो विरोधी गुण उसी एक प्रमाता (विषयी) के विषय मे सत्य नही हो सकते। भिन्नता मे अभेद दृश्यमान पदार्थों के विषय मे तो सम्भव हो सकता है किन्तु प्रकृतितत्त्व के विषय मे यह सम्भव नहीं है। द्वैतभाव उपाधियो से घिरे हुए जीवात्मा के विषय मे तो सत्य

1 डाक्टर विण्टरनीज कवि भर्तृहरि और तार्किक व वैयाकरण भर्तृहरि के एक ही होने मे स देह प्रकट करता है। सम्भवत इस विषय में यह विद्वान् डाक्टर आवश्यकता से कुछ अधिक सावधान है।

2 'सिक्स सिस्टम्स आव इण्डियन फिलासफी' पृष्ठ 90।

3 सर्व वस्तु भयान्वित भुवि नृणाम वैराग्यमेवाभयम।

4 अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥ वाक्यपदीय 1 1।

5 स्फोटाख्यो निरवयवो नित्यशब्दो ब्रह्मैवेति। (सर्वदर्शनसग्रह पृष्ठ 140)।

6 शाकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद, 5 1। इसके साथ, बृहदारण्यक उपनिषद पर सुरेश्वर का वार्तिक भी देखें, तथा इनपर आनन्दज्ञान की टीका भी।

हो सकता है किन्तु उपाधियों से उन्मुक्त होने पर यह विनष्ट हो जाता है।

11. उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र के साथ शंकर का सम्बन्ध

दर्शनशास्त्र मनुष्य जाति की विकासमान भावना का व्यक्त रूप है और दार्शनिक विद्वान इसकी वाणी हैं। महान विचारक सब महत्त्वपूर्ण युगों में प्रकट होते हैं और जहां वे अपने युगों की उपज हैं वहां वे उक्त युगों के निर्माणकर्ता भी हैं। उनकी प्रतिभा अपने युग के अवसर को पकड लेने की शक्ति तथा ऐसी मूक आकाक्षाओं को जो एक दीर्घकाल से मानव-जाति के हृदयों में वाह्यरूप मे प्रकट होने के लिए संघर्ष कर रही होती है, वाणी प्रदान करने मे निहित रहती है। एक प्रथम श्रेणी के रचनात्मक विचारक के रूप में शकर ने अपने समय के दार्शनिक उत्तराधिकार मे प्रवेश किया और अपने समय की विशेष आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर उसकी नये सिरे से व्याख्या की। यद्यपि हिन्दू विचार-धारा ने बौद्धमत के ऊपर क्रियात्मक रूप में विजय प्राप्त कर ली थी, तो भी बौद्धमत ने जनसाधारण के अन्दर अपनी शक्ति का गुप्त रूप से प्रवेश करा दिया था। बौद्धमत मे पुराने मान्यताप्राप्त विश्वासो के ऊपर जो अविश्वास की छाया डाल दी गई थी वह सर्वथा लुप्त नही हुई थी। मीमासक लोग सब मनुष्यो की तर्कशक्ति को वैदिक कर्मकाण्ड के आध्यात्मिक महत्त्व के विषय में सन्तोष प्रदान करने मे असमर्थ थे। भिन्न-भिन्न आस्तिक सम्प्रदाय वाले ऐसे क्रियाकलाप कर रहे थे जिनके समर्थन में वे किसी न किसी श्रुतिवाक्य का उद्धरण दे देते थे। हिन्दू जाति के इतिहास मे यह एक सकट का काल था जबकि परस्पर वाक्कलह में पडे हुए सम्प्रदायों के कारण जनता में सामान्य अर्थों में थकावट जैसा भाव आ गया था। उस समय को एक ऐसे धार्मिक प्रतिभासम्पन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो भूतकाल के साथ सम्बन्ध तोडे बिना नवीन मतों के उत्तम प्रभावों को भी ग्रहण कर सके और जो पुराने ढांचों को भग किए बिना उनका विस्तार कर सके और परस्पर युद्ध मे तत्पर सम्प्रदायों का सत्य के ऐसे उदार आधार पर समन्वय कर सके जिसमे सब बुद्धिमान् तथा सस्कृत वर्गों के मनुष्यो को समान स्थान प्राप्त हो। शंकर ने उस ध्वनि के अन्दर, जो लाखो मनुष्यो के कानो में गूज रही थी, मधुर संगीत का सचार कर दिया। उन्होंने अपने अद्वैत वेदान्त की धार्मिक एकता को सम्पन्न करानेवाले एक समान आधार के रूप मे घोषणा की।

अपनी नम्रता के कारण शकर ने कहा कि जिस सिद्धान्त का वह प्रचार कर रहा है वह उससे अधिक कुछ नही है जो वेद के अन्दर निहित है। वह समझता है कि वह एक पुरातन तथा महत्त्वपूर्ण परम्परा का ही प्रचार कर रहा है जोकि हमे आचार्यों की एक अविच्छिन्न शृ खला के द्वारा प्राप्त हुई है।[1] वह इससे अभिज्ञ है कि 'वेदान्तसूत्र' के ऊपर अन्य विचारको ने एक भिन्न प्रकार से भाष्य किया है। वह एक अन्य भाष्यकार का प्राय. उल्लेख करता है जिससे उसका मतभेद है।[2] नि सन्देह यह निश्चय करना कठिन

1 शकर वृत्तिकार के विरोध मे अद्वैत के पूर्ववर्ती शिक्षको का उल्लेख करते हैं। देखें, दह-राधिकरण, जहा पर 'अस्मदीयाश्च' वाक्य आया है। 'सम्प्रदायविद्भिराचार्यै' का बार-बार उल्लेख आया है। तैत्तिरीयोपनिषद् पर शाकरभाष्य का प्रारम्भिक छन्द देखें।

2 शाकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र पर, 4 : 3, 7; 1 : 3, 19। लिंगेश महाभागवत का विचार है कि जिस वृत्तिकार का शकर ने खण्डन किया है वह बोधायन नही है और जिस द्रविड का 'सम्प्रदायविद्' के नाम से शकर ने उल्लेख किया है बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में वह विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के द्रामिड से भिन्न है। देखें, 'इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू', खण्ड 4, पृष्ठ 112। भगवान उपवर्ष का नाम शाकरभाष्य में दो बार आया है, 1 : 3, 28; 3 : 3, 53।

है कि शकर का दर्शन प्राचीन शिक्षा का अनुबन्ध है, अथवा पुनर्व्याख्या है अथवा एक नवीन जोड है। हम पुराने को नये से अलग नही कर सकते क्योकि जीवन मे पुराना भी नया है और नया भी पुराना है।

जहा तक प्राचीन शास्त्रीय उपनिषदो का सम्बन्ध है, यह कहना पडेगा कि शकर का मत उनकी प्रमुख प्रवृत्ति को प्रस्तुत करता है। जैसाकि हम देख आए हैं उपनिषदो मे विश्व के सम्बन्ध मे कोई सुसगत विचार नही दिया गया है। उनके रचयिता अनेक थे और सब एक ही काल मे भी नही हुए और यह भी सन्दिग्ध है कि उन सबका आशय विश्व सम्बन्धी मत मे एक ही प्रकार का था। किन्तु शकर आग्रहपूर्वक उपनिषदो की व्याख्या एक ही सुसगत विधि से करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म का ज्ञान, जो हमे उपनिषदो से मिलता है, बराबर एक समान तथा निर्विरोध होना चाहिए।[1] शकर उपनिषदो के ऐसे वाक्यो मे जो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत प्रतीत होते है समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं।

उपनिषदो मे परम यथार्थसत्ता के विषय मे निर्गुण और सगुण रूप मे विवरण पाए जाते है और शकर उनमे परस्पर पराविद्या (उच्चकोटि के ज्ञान) तथा अपराविद्या (निम्न कोटि के ज्ञान) मे भेद द्वारा समन्वय करत हैं। परा तथा अपराविद्याओ का यह परस्पर भेद उपनिषदो मे पाया जाता है।[2] यद्यपि इन दोनो के भेद, जो उपनिषदो मे वर्णन किए गए हैं, शकर द्वारा किए गए भेदो के सर्वथा समान नही हैं तो भी ये शकर की व्याख्या मे सहायक है। केवल उच्चकोटि की अध्यात्मविद्या तथा निम्नकोटि की साधारण बुद्धि मे भेद को स्वीकार करने से ही हम याज्ञवल्क्य के विशुद्ध आदर्शवाद को अपेक्षाकृत न्यूनतम उन्नत विचारो के साथ, जो ससार की यथार्थता तथा इसकी एक शरीरधारी ईश्वर क द्वारा रचना का प्रतिपादन करते है, समन्वय कर सकते हैं। यह भेद शकर की अनेक कठिनाइयो को दूर करने मे सहायक है। उदाहरण के रूप मे ईशोपनिषद मे[3] परस्पर विरोधी विधेयो का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ बतलाया गया है जैसेकि "यह गतिविहीन है और फिर भी मन से अधिक वेगवान् है।" शकर का कहना , कि "इसमे विरोध कुछ भी नहीं है।" यदि हम उसका विचार निरुपाधिक अथवा सोपाधिक रूप मे करें तो यह सम्भव है।[4] ब्रह्म के निर्विशेष तथा सविशेष विवरणो के विषय मे शकर का कहना है कि 'दो विभिन्न दृष्टिकोणो से ब्रह्म एक ही काल मे निरुपाधिक तथा सोपाधिक दोनो ही हो सकता है। मुक्तात्मा के दृष्टिकोण से वह निरुपाधिक है, बन्धन मे पडे व्यक्ति के दृष्टिकोण से ब्रह्म विश्व के कारणरूप मे प्रकट होता है जिसमे चैतन्य तथा अन्य गुण हैं।" शकर ने दो प्रकार के वाक्यो की जो मोक्ष को ब्रह्म के साथ समानता अथवा तादात्म्य का वर्णन करते है सरलता के साथ व्याख्या कर दी। यद्यपि माया का सिद्धान्त प्राचीन उपनिषदो मे नही मिलता तो भी यह उपनिषदो के मत का एक बुद्धि-

1 'ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ वेदात पृष्ठ 95।
2 देखें, इण्डियन फिलासफी', पृष्ठ 149, मुण्डक 1 1, 4 5 मैत्रायणी, 6 22।
3 नैष दोष निरुपाध्युपाधिमत्त्वोपपत्त।
4 छान्दोग्योपनिषद, 8 1 5 बृहदारण्यक, 4 5 13 भी देखें।

पूर्वक विकास है।[1] अविद्या (अज्ञान) शब्द कठ उपनिषद् में आता है।[2] यद्यपि इसका प्रयोग मनुष्य के यथार्थ लक्ष्य के अज्ञानरूप सामान्य अर्थों में हुआ है। शंकर की योजना में अविद्या के भाव का प्रमुख भाग है। उपनिषदों के अन्य भाष्यकारों को यह अत्यन्त कठिन प्रतीत हुआ कि किस प्रकार उन सब वाक्यों की व्याख्या की जाए जो ब्रह्म के निर्विकल्प और मोक्ष के ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव होने का प्रतिपादन करते हैं। निःसन्देह ऐसे भी वाक्य हैं जिन्हें शंकर अनावश्यक समझकर छोड़ देते हैं।[3] तो भी उपनिषदों पर उनका भाष्य अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषप्रद है।[4]

जब हम वेदान्तसूत्र के प्रश्न को हाथ में लेते हैं तो वहां विषय इतना अधिक सरल नहीं है। यदि हम भाष्यों को एक ओर रख दें तो हमें सूत्र के रचयिता का आशय जानना कठिन है। हिन्दू धर्म की व्याख्याविषयक प्रकल्पना के अनुसार छः विख्यात कसौटियां हैं जिनके द्वारा हम किसी ग्रन्थ की शिक्षा के विषय में निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और वे ये हैं : (1) उपक्रम (प्रारम्भ) और उपसंहार (अन्तिम निर्णय), (2) अभ्यास, (3) अपूर्वता, (4) फल, (5) अर्थवाद (व्याख्यापरक वाक्य) और (6) उपपत्ति (दृष्टान्त)। उक्त कसौटियों की दृष्टि से शंकर का विश्वास है कि बादरायण की दृष्टि में उसी प्रकार का वेदान्त था जिस प्रकार के वेदान्त का प्रतिपादन उन्होंने स्वयं किया है।[5] यह इस मान्य स्थिति के अनुकूल है कि वेदान्त उपनिषदों की शिक्षाओं का सारसंग्रह प्रस्तुत करता है। वेदान्त के अनेक अध्ययनकर्ता विद्वान जिनमें थिबौत मुख्य है, इस मत के समर्थक पाए जाते हैं कि रामानुज ब्रह्मसूत्र के रचयिता के आशयों को अधिक समझते थे।[6] प्रत्येक भारतीय भाष्यकार का विश्वास है कि शंकर

1 कठ उपनिषद्, 2 : 4, 2, छान्दोग्य, 8 : 3, 1-3; 1 1, 10; प्रश्न, 1 : 16। बृहदारण्यक उपनिषद् की प्रार्थना "असत् से हमें सत् की ओर ले जाओ, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ," से माया के सिद्धान्त का सुझाव मिलता है।

2 2 4, और 5. मुण्डकोपनिषद्, 2 . 1, 10।

3 देखें 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 95।

4 थिबौत, गफ और जैकब का भी यही मत है। "सम्पूर्ण उपनिषदों की शिक्षाओं को एक समान तथा विरोधरहित दर्शन में रख देने का कार्य अपने-आपमें एक कठिन कार्य है। किन्तु यह कार्य जब एक बार हमारे सामने आ गया तो हम यह स्वीकार करने के लिए सर्वथा उद्यत हैं कि शंकर का ही दर्शन सम्भवतः ऐसा सर्वोत्तम दर्शन है जिसका निर्माण इस कार्य के लिए हो सकता था।" ('थिबौत : शांकरभाष्य'—प्रस्तावना)। "शंकर की शिक्षा उपनिषदों के सिद्धान्तों की स्वाभाविक तथा युक्तियुक्त व्याख्या है." (गफ 'फिलासफी आफ दि उपनिषद्स' पृष्ठ 8)। कर्नल जैकब कहते हैं : "यह स्वीकार किया जा सकता है कि यदि उपनिषदों के विरोधी मतों का समन्वय करने तथा उन्हें एकसमान और सगत ऐक्य में रखने का असम्भव कार्य किया जा सकता है तो शंकर का दर्शन ही लगभग एकमात्र प्रयास है जो इस कार्य को कर सकता था।" (वेदान्तसार—प्रस्तावना)

5 शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र पर, 1 : 1, 4।

6 "वे ब्रह्म के उच्चतम तथा निम्नतम ज्ञान के परस्पर भेद का प्रतिपादन नहीं करते; वे ब्रह्म और ईश्वर के भेद को शंकर के अर्थों में नहीं मानते, वे शंकर के समान जीवात्मा तथा उच्चतम आत्मा के परम ऐक्य-भाव की घोषणा नहीं करते" (शांकरभाष्य—भूमिका अंश)। उनके मुख्य-मुख्य तर्क संक्षेप में इस प्रकार रखे जा सकते हैं : (1) चौथे अध्याय के अन्तिम तीन भाग उस क्रमिक गति का प्रतिपादन करते हैं जिसके द्वारा उस पुरुष की आत्मा जिसने प्रभु को जान लिया ब्रह्मलोक में पहुंच जाती है और पुनर्जन्म के चक्र में वापस लौटे बिना वहीं पर निवास करती है। इसके अतिरिक्त समस्त ग्रन्थ का अन्तिम सूत्र अर्थात् "शास्त्र के अनुसार, उनके लिए लौटने का कोई प्रश्न नहीं रहता" यह उपसंहार है और इसका आशय अवश्य यही लिया जाना चाहिए कि यह पुनर्जन्म से नितान्त मुक्ति

का अपना मत वही है जो ब्रह्मसूत्र के रचयिता का मत था और यह कि अन्य कोई भी मत इसके विपरीत है।[1]

12 शकर तथा अन्य सम्प्रदाय

यह कहा जाता है और यह सत्य भी है कि ब्राह्मणधर्म ने एक भ्रातृभावपूर्ण स्नेहालिंगन के द्वारा बौद्धधर्म का नाश किया। हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार ब्राह्मण धर्म ने चुपचाप बौद्धधर्म की अनेक प्रक्रियाओं को अपने अन्दर ले लिया, पशुबलि को दूषित ठहराया बुद्ध को विष्णु के अवतार रूप मे मान लिया और इस प्रकार बौद्धमत के सर्वोत्तम अश को अपने अन्दर समाविष्ट कर लिया। यद्यपि बौद्धमत की प्रारम्भिक तथा तात्कालिक रूप की अप्रत्याशित घटनाए विलुप्त हो गई तो भी बौद्ध मत अशत शकर के प्रभाव से देश के जीवन मे एक जीवनप्रद शक्ति बन गया। बौद्ध मत ने विचार के क्षेत्र में एक ऐसा निश्चित वातावरण उत्पन्न कर दिया जिससे कोई भी मस्तिष्क न

अपितु उस मार्ग पर एक पडाव के रूप में नही है जसाकि शकर का मत है। शकर के अनुसार 4 2 12 14 और 4 1 7 ऐसे पुरुष की अवस्था का वणन करते है जिसने सर्वोच्च अथवा निरुपाधित ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस आक्षेप के उत्तर मे यह कहा जाता है कि उपक्रम अथवा प्रस्तावना इस प्रश्न के विषय मे उपसहार की अपेक्षा अधिक निश्चायक है। अप्पयदीक्षित उस नाम के एक ग्रन्थ मे उपक्रम के श्रेष्ठ मूल्य का (उपक्रम पराक्रम) उल्लेख करते है। 4 3 7 14 के सम्बन्ध मे थिबौत का जो मत है उसके विरोध मे भी वही उत्तर ठीक बैठता है जहा पर बादरी जैमिनी तथा बादरायण की सम्मतिया दी गई हैं जहा पर वे प्रतिपादन करते हैं कि जो पहले आता है वह पूर्वपक्ष होता है और जो अन्त में आता है वह सिद्धात होता है। (2) 1 1 2 मे दी गई ब्रह्म विषयक परिभाषा को ईश्वर की परिभाषा नही माना जा सकता। यह निश्चित ही इतना असभव है कि सूत्रों का प्रारम्भ एक निम्नकोटि के तत्त्व के साथ हो जिसके ज्ञान से कोई स्थायी लाभ प्राप्त न हो सके जितना कि यह असम्भव है कि उनका अन्त ऐसे व्यक्तियो के वणन के साथ हो जो केवल निम्न कोटि के ब्रह्म को ही जानते हैं और इसीलिए यथार्थ मोक्ष से वचित रहते हैं। अद्वैतवादियो का तर्क है कि ब्रह्म यद्यपि अपने यथार्थस्वरूप मे अनिर्वचनीय (अनिर्देश्य) है तथा अज्ञेय (अग्राह्य) है तो भी हमें औपचारिक परिभाषाओं का तो अवलम्बन करना ही होता है। वे ब्रह्म को ऐसे पदार्थों से विलक्षण बतलाने के लिए जिनके अन्दर विभिन्न गुण वर्तमान हैं कुछ विशेषणो तथा लक्षणो का ब्रह्म के सम्बन्ध मे प्रयोग करते है और इस प्रकार हमें प्रस्तुत पदार्थों को समझने मे सहायक होते है। यह विशिष्ट लक्षण या तो तात्त्विक (स्वरूप लक्षण) है यथा सत चित् और आनन्द अथवा आनुषगिक (तटस्थ लक्षण) हैं यथा विश्व का निर्माणकर्तृत्व आदि आदि। दूसरे सूत्र की परिभाषा हम ब्रह्म के ज्ञान मे सहायक होती है। (3) इस प्रकार का हेतु कि सूत्र में शकर की अभिमत माया का सिद्धात नही पाया जाता एक ऐसा जटिल प्रश्न है कि इसका विवेचन पादटिप्पणी मे नहीं किया जा सकता। चाहे कुछ भी क्यों न हो यह सत्य है कि जगत के विषय मे जो शकर का मत है वह सूत्र की शिक्षा का एक युक्तियुक्त परिष्कार है। जीवात्मा तथा ब्रह्म के तादात्म्य का प्रश्न माया के सामान्य सिद्धान्त का एक विशिष्ट विनियोग है। शकर बादरायण के ग्रन्थ के एक नैष्ठिक व्याख्याकार हैं या नहीं इस विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। देखे थिबौत शाकरभाष्य—प्रस्तावना जकब वेदान्तसार—प्रस्तावना सुन्दररमण वेदान्तसार—प्रस्तावना आप्टे दि डाक्टिन आफ माया तथा लिंगेश महाभागवत का लेख इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू खण्ड 4 डयूसन स्वीकार करता है कि शकर तथा बादरायण मे परस्पर महान मतभेद है। देखे डयूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त पृष्ठ 319।

1 तुलना कीजिए भास्करभाष्य 2 सूत्रों के आशयो को एक ओर रखते हुए एव अपने अपने मतों का परिष्कार करते हुए अनेक भाष्यो की रचना हुई है और नये नये भाष्य भी लिखे जा सकते हैं।

सूत्राभिप्रायसवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात।
व्याख्यात यैरिद शास्त्र व्याख्येय तन्निवृत्तये॥

बच सका और शंकर के मस्तिष्क पर तो निःसन्देह इसने एक चिरस्थायी प्रभाव उत्पन्न किया। एक शंकरविरोधी भारतीय परम्परा ऐसी भी है जिसके अनुसार शंकर के मत को प्रच्छन्न रूप में बौद्धमत का ही रूप बताया जाता है और उनके मायावाद को प्रच्छन्न बौद्धमत कहा जाता है। पद्मपुराण में कहा है कि ईश्वर ने पार्वती पर प्रकट किया कि "माया की प्रकल्पना एक मिथ्या सिद्धान्त है और बौद्धमत का ही प्रच्छन्न रूप है; हे देवि ! मैंने ही कलियुग में एक ब्राह्मण का रूप धारण करके इस प्रकल्पना का प्रचार किया है।"[1] यामुनाचार्य की भी, जो रामानुज के आध्यात्मिक प्रपितामह थे, यही सम्मति है और इसी सम्मति को रामानुज ने भी दोहराया है।[2] सांख्यदर्शन पर टीका करते हुए विज्ञानभिक्षु कहता है, "एक भी ब्रह्मसूत्र ऐसा नहीं है जिसमें कहा गया हो कि हमारा बन्धन केवल अज्ञान के कारण है। जहां तक माया की विलक्षण प्रकल्पना का संबंध है, जिसका प्रचार अपने को वेदान्ती कहनेवालों ने किया है, यह केवल बौद्धों के विषयी विज्ञानवाद का ही रूप है। यह प्रकल्पना वेदान्त का मन्तव्य नहीं है।"[3] यह स्पष्ट है कि शंकर के मायावाद की कट्टरता को सिद्ध करने के कुछ काल पश्चात् ही इस मत के विरोधियों ने यह कहना प्रारम्भ किया कि यह बौद्धमत के प्रच्छन्न रूप से अधिक कुछ नहीं है और इसलिए वेदों के अनुकूल नहीं है। पद्मपुराण में आगे चलकर उसी अध्याय में शिव के ये शब्द आते हैं: "उस महान् दर्शन अर्थात् माया के सिद्धान्त को वेदों का समर्थन प्राप्त नहीं है यद्यपि इसके अन्दर वेदों के सत्य अवश्य निहित हैं।"[4] उक्त सब अनुमान इस विषय का संकेत करते हैं कि शंकर ने अपने वेदान्तदर्शन में कतिपय बौद्ध-धर्म के अंशों का समावेश किया जैसेकि माया का सिद्धान्त तथा वैराग्यवाद। यह भी कहा जाता है कि विचारधारा के अविच्छिन्न रूप को सुरक्षित रखने के प्रति अपने प्रयास में उन्होंने तार्किक दृष्टि से परस्पर असंगत कुछ विचारों को भी संयुक्त करने का प्रयत्न किया। शंकर के मस्तिष्क की नमनशीलता तथा उनकी सच्ची सहिष्णुता के भाव के पक्ष में यह विषय कितना ही विश्वसनीय क्यों न हो यह उनकी विचारधारा की तार्किक उग्रता के ऊपर असर किए बिना न रह सका और माया के सिद्धान्त ने उनके दर्शन के अन्तर्गत छिद्रों को ढकने के लिए चोले का काम किया। इस सबके होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं कि शंकर ने अपने सम्पूर्ण दर्शन का परिष्कार उपनिषदों तथा वेदान्त-सूत्र के आधार पर किया जिसमें बौद्धदर्शन का कोई उल्लेख नहीं है।[5] भारत के धार्मिक

1. मायावादमसच्छास्त्रम् प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि ! कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥ (उत्तर खण्ड, 236)। सर्वदर्शनसंग्रह भी देखें।

2. अपने सिद्धित्रय में यामुनाचार्य कहते हैं, कि बौद्धों तथा वेदान्तियों, दोनों के लिए ज्ञाताज्ञात और ज्ञान के मध्य जो भेद हैं वे अवास्तविक हैं। अद्वैत इन भेदों का कारण माया को बताता है एवं बौद्ध विषयीविज्ञानवाद इन्हें बुद्धि के कारण बताता है। ('जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', 1910 पृष्ठ 132)।

3. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 . 22।

4. वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।

5. अद्वैत सिद्धान्त को माननेवाले अनेक विचारक विरोधी मतों के सम्बन्ध में माध्यमिकों के आध्यात्मिक खण्डन-मण्डन से सम्बन्धित पद्धति को अपनाते हैं। श्रीहर्ष का मत है कि अन्य दर्शनों की समीक्षा करते समय हमें किसी भी मत को स्वतःसिद्ध मानकर न चलना चाहिए, अपितु केवल माध्यमिकों के तर्क का अवलम्बन करना चाहिए। "वितण्डाकथामालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात्।" मधुसूदन सरस्वती वाद, जल्प और वितण्डा इन सबका अन्य सिद्धान्तों की समीक्षा में आश्रय लेते हैं।

इतिहास के निरन्तर मिथ्या अध्ययन किए जाने का ही परिणाम यह हुआ कि यह विश्वास सर्वसाधारण के अन्दर प्रचलित हो गया कि बौद्धमत वेदो के विरुद्ध तथा विद्वेषी है। बौद्धदर्शन के विषय मे विचार-विमर्श करते हुए हमने बार-बार इस विषय पर बल दिया है कि बुद्ध ने उपनिषदो के ही कुछ विचारो का परिष्कार किया है। बुद्ध को विष्णु के अवतारो में सम्मिलित करने का यही आशय है कि उसका प्रादुर्भाव वैदिकधर्म की स्थापना के लिए हुआ था न कि उसके ऊपर कुठाराघात करने के लिए। इसमे संदेह नही कि बौद्धदर्शन तथा अद्वैत वेदान्त के विचारो में समानताए हैं। इसमे कोई आश्चर्य भी नही है जबकि हम इस तथ्य को देखते हैं कि उक्त दोनो ही दर्शन-पद्धतियो की पृष्ठभूमि मे उपनिषदें हैं।

शकर तो इस तथ्य से स्पष्ट रूप मे अभिज्ञ थे यद्यपि बुद्ध इस तथ्य से अभिज्ञ प्रतीत नही होते। शकर बुद्ध की भाति स्वतन्त्र विचार के प्रति आदरभाव रखते हुए भी परम्परा के लिए महती श्रद्धा रखते थे। दार्शनिक दृष्टि से उन्हें इस विषय का निश्चय हो गया कि कोई भी आन्दोलन निषेधपरक भाव के आधार पर फल-फूल नही सकता और इस प्रकार उन्होंने श्रुति के आधार पर ब्रह्म की यथार्थता का बलपूर्वक प्रतिपादन किया। बौद्धो का प्रतीतिवाद माया के सिद्धान्त की ही कोटि का है। शकर घोषणा करते हैं कि यह आनुभाविक जगत् है भी और नही भी है। इसका अन्तर्वर्ती अस्तित्व है जो दोनों ही है अर्थात् है भी और नही भी है। बुद्ध चरमसीमा के दोनो ही विचारो का खण्डन करते हैं जिनके अनुसार हरएक वस्तु है और हरएक वस्तु नही भी है और अपना मत प्रकट करते हैं कि केवल 'परिणमन' का ही अस्तित्व है।[1] शकर परमार्थ सत्य तथा व्यवहारिक सत्य के अन्दर जो भेद हैं उसे स्वीकार करते हैं और यह मत बौद्ध-धर्म के अभिमत परमार्थ तथा सवृति के अन्दर के भेद के ही अनुकूल है।[2] प्राचीन बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण भावात्मक था और उसने जो कुछ हम प्रत्यक्ष देखते हैं, उस तक ही अपने को सीमित रखा। कुछ प्राचीन बौद्ध तो यहा तक बढ गए कि उनके अनुसार इस प्रतीयमान जगत् की पृष्ठभूमि मे कुछ भी नहीं है। केवल हमारे ही लिए कुछ नही, किन्तु सर्वथा कुछ नही है। हिन्दू होने के नाते शकर का दावा है कि अपने प्रतीयमान रूप की असन्तोष-प्रदता के परे एव अपने गम्भीरतम गह्वर मे यथार्थ आत्मा है जिसमे सर्वप्रकार की विशेषताए निहित हैं। किन्तु तो भी शकर का मोक्ष-सम्बन्धी विचार बौद्धधर्म के निर्वाण से अधिक भिन्न नही है।[3] यदि हम प्राचीन बौद्धधर्म मे एक निरपेक्ष ब्रह्म के यथार्थ अस्तित्व को प्रविष्ट कर दें तो फिर भी हम अद्वैत वेदान्त पर ही आ जाते हैं। शकर को बौद्ध-विचार के वास्तविक औचित्य तथा प्रतिबन्धो पर पूरा अधिकार प्राप्त था और यदि कही-कही हमे बौद्धधर्म के सम्प्रदायो पर की गई उनकी समीक्षा से विरोध प्रकट करने की प्रवृत्ति होती है तो हमे यह भी न भूलना चाहिए कि उन्होने जो कुछ भी लिखा, बुद्ध की शिक्षाओं पर नही, अपितु उस समय के प्रचलित बौद्धमत-सम्बन्धी विचारों के ऊपर लिखा।

1 देखें 'भारतीय दर्शन', खड 2, पृष्ठ 321। सयुत्तनिकाय, 22 90, 16।

2 द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना।
सोके सवृतिसत्य च सत्य परमार्थत ॥

देखें, श्लोकवार्तिक पर 'न्यायरत्नाकर' निरालम्बनवाद।

3 वासनात्यन्तविराम। जीवात्मा क ब्रह्म के साथ तादात्म्य का साक्षात्कार (सोऽहम् अथवा अह ब्रह्मास्मि) "मैं शून्य हू" (शून्यत्वंवाहम्) माध्यमिको के इस मत के अनुकूल है यद्यपि बल है एक ही तथ्य के भिन्न-भिन्न पक्षा पर।

प्रत्येक विचार-पद्धति के विषय में जो निर्णय दिया जाता है वह केवल इस आधार पर ही नहीं होता कि वह किस विध्यात्मक विषयवस्तु को प्रस्तुत करने का प्रयास करती है, किन्तु उन विचारों के आधार पर भी दिया जाता है जिनका वह प्रतिवाद करती है। मण्डनमिश्र के साथ जो शास्त्रार्थ शंकर का हुआ उससे यह प्रकट होता है कि शंकर केवल वैदिक कर्मकाण्ड की एकमात्र श्रेष्ठता के विचार के विरोधी थे। शंकर ने इस सिद्धान्त पर विशेष बल दिया कि सर्वोपरि आत्मा का ज्ञान मनुष्य के पुरुषार्थ का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। उन्हें भय था कि क्रियाकलापपरक मत मनुष्य को केवलमात्र दम्भ की ओर ले जाता है। जिस प्रकार जीसस् क्राइस्ट ने फारसी सम्प्रदाय को दूषित ठहराया और पॉल ने विधान का प्रतिवाद किया, शंकर ने भी इस प्रकार की घोषणा की कि कर्मकाण्ड-सम्बन्धी पवित्रता अपने-आपमें धर्म का लक्ष्य नहीं है, अपितु प्रायः इसकी घातक शत्रु है। तो भी उन्होंने वैदिक विधान को निरर्थक बताकर उसका निराकरण नहीं किया। जीवन के वैदिक नियमों पर तो केवल सच्चे दार्शनिक विद्वान् ही पहुंच सकते हैं। अन्यों के लिए शंकर ने यही विधान किया कि उन्हें वैदिक नियमों के अनुकूल ही आचरण करना चाहिए, इस आशा से नहीं कि उन्हें इस लोक में अथवा परलोक में उत्तम फल प्राप्त होगा, अपितु कर्तव्य की भावनाओं से और इसलिए भी कि यह वेदान्त के अध्ययन की नैतिक क्षमता में सहायक होगा। वैदिक पवित्रता हमें अपने चित्त को अन्तःस्थित आत्मा की ओर प्रेरणा देने में सहायक होती है और इस प्रकार मनुष्य जाति का जो अन्तिम और नित्य लक्ष्य है उसकी प्राप्ति की ओर ले जाती है।

शंकर के अनुसार, पूर्व तथा उत्तर मीमांसाओं के अन्तर्गत विषयवस्तु तथा उद्देश्य सर्वथा एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। पूर्वमीमांसा में मनुष्य के कर्तव्य-सम्बन्धी प्रश्न पर अनुसन्धान किया गया है और यह हमारे सम्मुख एक ऐसे परलोक के दृश्य को प्रस्तुत करती है जो हमारे इस मर्त्यलोक के आचरण के ऊपर आश्रित है। उच्चतम सुख जो यह प्रस्तुत करती है केवल क्षणिक है। किन्तु दूसरी ओर वेदान्त हमें सत्य की उपलब्धि में सहायक होता है। इसका लक्ष्य इस लोक या परलोक में सुख-प्राप्ति (अभ्युदय) न होकर पुनर्जन्म के बन्धन से मोक्ष (निःश्रेयस्) है। और इसकी प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तब कि हम भविष्य जीवन में अपना विश्वास जमाए हुए हैं। ब्रह्मविषयक अनुसन्धान का सम्बन्ध एक ऐसी यथार्थसत्ता से है जो सर्वदा विद्यमान रही और जो हमारे कर्मों के ऊपर निर्भर नहीं है।[1]

साधारणतः शंकर प्रतिपक्षी सम्प्रदायों के दार्शनिक विचारों पर ही आक्रमण करते हैं, किन्तु उनके धार्मिक मन्तव्यों पर नहीं करते। भागवतदर्शन के विषय में शंकर स्वीकार करते हैं कि इसके धार्मिक विचार श्रुति तथा स्मृति के प्रामाण्य पर आश्रित हैं, किन्तु इस विषय में कि जीवात्माएं ईश्वर से उत्पन्न होती हैं, आपत्ति प्रकट करते हैं।[2] वे एक साकार ईश्वर के सर्वश्रेष्ठत्व को भी स्वीकार करते हैं जो जीवात्मा के मोक्ष

1 साधारणतः धर्मविषयक जिज्ञासा चित्त को ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा के लिए तैयार करती है। ऐसे व्यक्ति जो सीधे ही ब्रह्मजिज्ञासा में तत्पर हो जाते हैं वे हैं जिन्होंने पूर्वजन्म में अवश्य अपने आवश्यक कर्तव्यों का पालन किया होगा।

2 भागवतों का कहना है कि भगवान वासुदेव अपने को आत्मा, मन तथा इन्द्रियज्ञान के अन्दर विभक्त करता है। शंकर का तर्क है कि यदि जीवात्मा की उत्पत्ति भगवान से है तो इसका विनाश भी हो सकता है और फिर इसके लिए अन्तिम मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं हो सकती। भागवत यह भी मानते हैं कि जैसे जीवात्मा की उत्पत्ति भगवान से है, उसी प्रकार चित्त की भी उत्पत्ति आत्मा से है और आत्मज्ञान की उत्पत्ति चित्त से। शंकर कहते हैं कि यह असम्भव है क्योंकि

तथा बन्धन का कारण है। मनुष्य के चित्त मे ब्रह्म का ज्ञान किस प्रकार प्रकट होता है, तार्किक अन्वेषण के द्वारा तो इसका होना सम्भव नही हो सकता, इसलिए उसके क्षेत्र का सम्बन्ध अविद्या से होने के कारण उक्त समस्या को हल करने की इच्छा से शकर ईश्वरेच्छा को प्रस्तुत करते हैं।[1]

जैसाकि हम देख आए है, शकर साख्यविचारको की क्रमविहीन, शिथिल तथा विवेकरहित कल्पनाओ की समीक्षा करते हैं और न्यायवैशेषिक की प्रतीतिपरक अनुभव-प्रवृत्तियो की भी समीक्षा करते हैं। उन्होने नैयायिको की साधारण बुद्धिसम्मत पद्धति का परित्याग करना उचित समझा और उसके स्थान पर एक ऐसी तर्कसम्मत समीक्षा की स्थापना की जो बौद्ध विचारको के समान ही सूक्ष्म गहराई तक पहुचने वाली थी।

13 आत्मा

अनुभवरूपी तथ्य से जिसका सकेत मिलता है उसी के विमर्श का नाम अध्यात्मविद्या है। इसकी समस्या केवलमात्र चेतनता के तथ्यो का निरीक्षण करना तथा उन्हे क्रमबद्धता का रूप देना ही नही है, किन्तु इसका विशेष कार्य यथार्थसत्ता के स्वरूप के विषय मे जो उपस्थित तथ्य सकेत करते हैं, उन पर ध्यान देना भी है। शकर भौतिक विज्ञान के तथ्यो की भाति मनोवैज्ञानिक तथ्यो मे भी कोई शका उपस्थित नही करते किन्तु उक्त तथ्यो की पूर्वकल्पना के ऊपर आगे आपत्ति उपस्थित करते है और उक्त समस्या का अध्ययन विषयीनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ पक्षो की दृष्टि से करते है, और उनका मत है कि ये दोनो पक्ष परमार्थ रूप मे एक-दूसरे से भिन्न नही है। वेदान्तसूत्र पर अपने भाष्य की प्रस्तावना मे वे प्रश्न करते हैं कि क्या अनुभव मे ऐसी कोई वस्तु है जिसे मौलिक अर्थात् आधारभूत माना जा सके और वे अनुभव के ऐसे समस्त दावो पर विचार करते हैं। हमारी

यह अनुभव का विषय नही है। आत्मा अपने अन्दर से अपने साधनो को उत्पन्न नही कर सकती ठीक जैसेकि खेत मे कार्य करनेवाला किसान उस फावडे को उत्पन्न नही कर सकता जिससे वह काय करता है। यदि कहा जाए कि इन चारो मे वही शक्ति है और ये एक ही स्तर के हैं तथा एकसमान यथाथ हैं तब ये सब एक हैं। यदि इनमें से प्रत्येक क्रमानुसार उत्तरोत्तर एक-दूसरे से उत्पन्न होता है अर्थात भगवान से आत्मा आत्मा से चित्त, चित्त से आत्मज्ञान तब कायरूप इन सबम अनित्यता दोप आता है। यदि चारो नित्य हैं तब इसका कोई उत्तर नही हो सकता कि भगवान आत्मा को जन्म द और आत्मा क्यो न भगवान को जन्म दे। यदि चारो ऐसी आकृतिया हैं जिनके द्वारा एक ही यथार्थसत्ता अपने को अभिव्यक्त करती है तो वेदान्ती का कहना यह है कि ब्रह्म असख्य आकृतियों में विद्यमान है केवल इन चारो म ही नही। शाकरभाष्य, 2 2 42-44।

1 'चूकि जीवात्मा जो अज्ञान की दशा मे आत्मा को कर्मेन्द्रियो (जो शरीर के रूप मे प्रकट होती हैं) से पृथक् करने मे असमथ है और अविद्यारूपी अधकार के द्वारा उस सर्वोच्च आत्मा को नही देख पाती, जो काय का अधीक्षक है, प्राणिमात्र मे निवास करता है तथा सबक ऊपर दृष्टि रखता है। प्रभु है, जो आत्मा का भी कारण है जिससे और जिसकी आज्ञा स ससार की सष्टि होती है, अर्थात् सब कर्मो का सम्पादन तथा फलोपभोग और उसकी ही कृपा से ज्ञान उत्पन्न हाता है और इस ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।' आगे कहा गया है कि यद्यपि ईश्वर तथा आत्मा का तादात्म्य छिपा हुआ है तो भी जब एक प्राणी निरन्तर चिन्तन करता है तथा सर्वोच्च ईश्वर तक पहुचने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार जिस प्रकार एक ऐसे व्यक्ति का जिसकी दृष्टिशक्ति नष्ट हो गई है, ओषधियो के प्रयोग से अधकार दूर हो जाता है उसके अदर जिसे ईश्वरकृपा पूर्णता प्राप्त करा दती है, यह अभिव्यक्ति हाती है किन्तु स्वभावत हर किसी प्राणी मे नही। ऐसा क्या ? क्योकि उसके द्वारा, ईश्वर के द्वारा, जो कारणरूप है आत्मा का बन्धन और मोक्ष सम्पन्न होता है, बन्धन उस अवस्था मे जबकि यह ईश्वर तत्त्व को नही समझ पाता और मोक्ष तब जबकि यह उसे समझ लता है।" ड्यूसस 'सिस्टम आफ वेदान्त', पृष्ठ 86 87।

इन्द्रियां हमें धोखा दे सकती हैं और हमारी स्मृति भी भ्रान्तिपूर्ण हो सकती है। भूत और भविष्यत् केवल भावात्मक अमूर्त विषय हैं। ससार की आकृतियां केवल भावनामात्र हो सकती हैं और हमारा समस्त जीवन भी एक दुःखान्त भ्रान्तिमात्र सिद्ध हो सकता है। हम जागरित अवस्था के अनुभव-क्षेत्रों को स्वप्नावस्था के उन लोकों के समान मान सकते हैं जिनमें कि हम स्थान-स्थान का भ्रमण करते हैं, छायामात्र पदार्थों को व्यवहार मे लाते हैं और भूत-प्रेतों से युद्ध करते हैं और परियों के देश में किए गए साहसिक भ्रमणों को भी स्मरण कर सकते हैं। यदि स्वप्न तथ्य हों तो तथ्य भी उसी प्रकार स्वप्न हो सकते हैं। यद्यपि समस्त प्रमेय पदार्थ विश्वास के ही विषय हैं और इसीलिए उनमें सन्देह भी हो सकता है, तो भी अनुभव के अन्दर ऐसा कुछ अवश्य हो सकता है जो उससे परे इन्द्रियातीत हो। यदि मनुष्य को अपने अन्दर ऐसा कुछ उपलब्ध होता है जो परिस्थितियों की देन नहीं है किन्तु तो भी इसका निर्माता तथा परिवर्तनकर्ता कोई है तो मनुष्य के ज्ञान की सम्भाव्य परिधि में तथा इन्द्रियजगत् के अनुमान के अनुसार तर्क की मांग है कि मनुष्य को उस अतीन्द्रिय यथार्थसत्ता को उपस्थिति को अपने अन्दर ही ढूंढना चाहिए। संशयवाद की विज्ञप्ति आत्मा तक ही सीमित है जिसकी हमें सीधे रूप में अभिज्ञता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में अभिज्ञता रखता है और यह कोई नहीं सोचता कि मैं नहीं हूं।[1] डेस्कार्ट की भान्ति शंकर भी आत्मा की साक्षात् निश्चितता के अन्दर सत्य का आधार पाते हैं जिसे अन्य पदार्थों के विषय मे उत्पन्न हो सकने वाले सशय स्पर्श नहीं करते।[2] यदि आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान न होता तब प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता कि 'मैं नहीं हूं'। किन्तु यह सत्य नहीं है। आत्मा की सत्ता चेतनता के प्रवाह मे पूर्ववर्ती है, सत्य तथा असत्य से भी पूर्ववर्ती है, यथार्थता व भ्रांति से तथा पुण्य व पाप से भी पूर्ववर्ती है। 'ज्ञान के समस्त साधन अर्थात् प्रमाण आत्मा के अस्तित्व पर ही निर्भर करते हैं और चूंकि इस प्रकार का अनुभव अपना प्रमाण स्वयं है इसलिए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।" "बोधशक्ति तथा उसके कार्यों के अस्तित्व से ही ज्ञानसम्पन्न सत्ता की पूर्वकल्पना होती है जो आत्मा के नाम से जानी जाती है जो उनसे भिन्न है और स्वयंसिद्ध है तथा जिसके अधीन वे सब हैं।"[3] प्रत्येक व्यापार और क्षमता, स्थूल शरीर तथा जीवनशक्ति-युक्त प्राण, इन्द्रिया और अन्तःकरण, आनुभविक 'अहं' केवल आत्मा के ही आधार पर तथा उसी के सम्बन्ध मे प्रकट होते हैं। वे अपने से परे एक लक्ष्य की पूर्ति करते हैं और अस्तित्व के किसी गम्भीरतर आधार पर निर्भर करते हैं। आत्मा के अस्तित्व के विषय में संशय नहीं हो सकता, "क्योंकि यह उसका अनिवार्य स्वरूप है जो इसका निषेध करता है।[4]

शकर का तर्क है कि हमारे लिए विचार के द्वारा आत्मा को जानना असम्भव है क्योंकि विचार स्वय अनात्म के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले प्रवाह का एक भाग है। यदि हम इसका ग्रहण अपनी समस्त समालोचनात्मक तथा समाधानात्मक शक्तियों पर एक प्रकार का उपेक्षाभाव प्रदर्शित करते हुए करते हैं तो हम जिस प्रकार के ज्ञान को

1 सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। शांकरभाष्य, 1 : 1, 1।

2. तुलना कीजिए, डेस्कार्ट : 'डिस्कोर्स ऑन मैथड'।

3 सुरेश्वरकृत वार्तिक, पृष्ठ 189 और 542, 791 95। और भी देखें, शांकरभाष्य, 2 : 3, 7; 1 : 3, 22।

4 य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् (शांकरभाष्य, 2 : 3, 7)।

इच्छा करते हैं उसे प्राप्त करने मे असफल रहेगे। तो भी हम आत्मा को विचार के क्षेत्र से बाहर भी नही कर सकते क्योकि इसके बिना कोई भी चेतनता अथवा अनुभव सम्भव नही है। यद्यपि यह हमारे ज्ञान से बचता है तो भी सर्वथा हमसे बच नही सकता। यह आत्मसम्बन्धी भाव का विषय है।[1] और इसका अस्तित्व साक्षात् दर्शन के कारण बताया जाता है।[2] इसकी सिद्धि नही हो सकती क्योकि समस्त प्रमाणों का यही आधार है। तथा समस्त प्रमाणो से पूर्व इसकी स्थापना आवश्यक है।[3] तार्किक दृष्टिकोण से यह एक स्वत सिद्ध आधार तत्त्व है। हमे इसको स्वत सिद्ध मान लेना होता है।[4]

शकर यथार्थ आत्मा को विषय (प्रमेय पदार्थ) से भिन्न करने का प्रयत्न करते हैं और बलपूर्वक कहते हैं कि विषय तथा विषयी प्रकाश तथा अन्धकार की भाति दोनो एक-दूसरे के विपरीत हैं अर्थात् जो सच्चे अर्थों मे ज्ञाता (विषयी) है वह कभी भी विषय (प्रमेय पदार्थ) नहीं बन सकता। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म अस्तित्व के भाव के अन्दर नित्यता, निर्विकारिता और पूर्णता के भाव समाविष्ट है। जो सचमुच मे यथार्थ है वह अपने मे सत् है और अपने लिए सत है[5] यहा तक कि आत्मा की यथार्थ सत्ता को स्वीकार करना एक नित्य ब्रह्म की यथार्थसत्ता को स्वीकार करना है। आत्मा च ब्रह्म।[6] ब्रह्म की यथार्थता का प्रमाण यह है कि यह प्रत्येक की आत्मा की आधार भूमि है।[7]

हम यह तो जानते है कि आत्मा है, किन्तु यह नही जानते कि यह है क्या, सान्त है या अनन्त है, ज्ञान है अथवा परमानन्द है, एकाकी है अथवा अपने समान अनेक मे से एक है केवल साक्षीमात्र है अथवा उपभोक्ता भी है अथवा इन दोनो मे से कुछ भी नही है। चूकि आत्मा के स्वरूप के विषय मे परस्पर-विरोधी मत हैं इसलिए शकर का कहना है कि यह दोनो ही है, अथात ज्ञात भी और अज्ञात भी। 'मैं' और 'मैं नही' मे अवश्य भेद करना चाहिए क्योकि 'मैं नही' मे केवल बाह्य जगत् ही नही शरीर, उसकी इन्द्रिया तथा बोधशक्ति की समस्त सामग्री और इन्द्रिया भी आती हैं। साधारण प्रयोग मे हम मानसिक अवस्थाओ को विषयीनिष्ठ तथा भौतिक अवस्थाओ को विषयनिष्ठ मानते हैं। किन्तु अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से प्रतीतिरूप जगत् की दोनो अवस्थाए अर्थात् भौतिक तथा मानसिक एकसमान विषयनिष्ठ हैं।[8] भौतिकवादी आत्मा तथा शरीर

1 अस्मत्प्रत्ययविषय। तुलना कीजिए केन 2। प्रतिबोधविदितम्।

2 अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मा प्रसिद्धे (शाकरभाष्य 1 1 1)।

3 आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात सिद्धयति। (शाकरभाष्य 2 3 7 भगवद्गीता पर शाकरभाष्य 18 50)।

4 शकर लिखते हैं 'नित्य आत्मा, जो कर्ता म भिन्न है क्योकि कर्ता 'अह प्रत्यय का विषय' है, सब प्राणियों म साक्षी रूप से अवस्थित है एकसमान एकाकी सर्वोच्च सत्ता जिसका बोधग्रहण कोई वेद (विधिकाड) स नही कर सकता अथवा अन्य भी ऐसी किसी पुस्तक से नहीं कर सकता जो चिन्तन (तर्क) पर आश्रित हो। वह समस्त जगत की आत्मा है (सर्वस्यात्मा) और इसलिए कोई भी उसका निराकरण नहीं कर सकता क्योंकि जो निषध करता है उसकी भी आत्मा है। (1 1, 4)।

5 देखें, हेगल 'एस्थेटिक्स', अग्रेजी अनुवाद अध्याय 1।

6 शाकरभाष्य, 1 1 1।

7 सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धि शाकरभाष्य 1 1 1।

8 'जिस प्रकार अपने पुत्र या पत्नी या ऐसे ही किसी प्रियजन के दुखी या सुखी होने पर अभ्यास के कारण कोई व्यक्ति यह कहता है कि मैं दुखी या सुखी हू और इस प्रकार वह बाह्य पदार्थों के गुणो का आत्मा के सम्बन्ध म प्रयोग करता है इसी प्रकार वह शरीर के गुणो का भी आत्मा के साथ जोड देता है जब वह यह कहता है कि मैं मोटा हू मैं पतला हू मैं श्वेतवर्ण हू मैं खडा होता

अथवा इन्द्रियों को एकरूप मानते हैं। किन्तु चेतनता और प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार का यथार्थता को प्रस्तुत करते हैं और एक को दूसरे के अन्दर परिणत नहीं किया जा सकता। और न ही हम आत्मा तथा इन्द्रियों को एक मान सकते हैं, क्योंकि उस अवस्था में जितनी इन्द्रियां हैं उतनी ही आत्माएं हो जाएंगी और इससे व्यक्तिगत पहचान एक समस्या बन जाएगी। इसके अतिरिक्त यदि भिन्न-भिन्न इन्द्रियां मिलकर आत्मा बनती हैं तो दृष्टि तथा श्रवण और रस आदि का एक साथ उपभोग सम्भव होगा। योगाचार के सिद्धान्त के अनुसार अस्थाई मानसिक अवस्थाओं की शृंखला के अतिरिक्त आत्मा कोई वस्तु नहीं है।[1] किन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर हम स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा-सम्बन्धी तथ्यों की व्याख्या नहीं कर सकते। शून्यवाद का, जो घोषणा करता है कि नित्य आत्मा सर्वथा है ही नहीं, शंकर के इस मौलिक सिद्धान्त के साथ विरोध होता है कि आत्मा के अस्तित्व में सन्देह नहीं किया जा सकता। यदि हम समस्त जगत् को शून्य-रूप भी घोषित करें, तो भी यह शून्यता अपने बोध को ग्रहण करनेवाले की पूर्वकल्पना कर लेती है।[2] सुषुप्ति अवस्था में भी आत्मा उपस्थित रहती है क्योंकि जब मनुष्य उस अवस्था से जाग जाता है तो इस विषय का ज्ञान रहता है कि वह प्रगाढ़ निद्रा में था जिसमें स्वप्नों ने विघ्न नहीं किया। और यह वह स्मृति के ही द्वारा जानता है। चूंकि स्मृति प्रस्तुत विषयों की ही होती है, निद्रा का परम आनन्द और शून्य सम्बन्धी चेतना निद्रा की अवस्था में ही प्रस्तुत रहे होंगे। यदि यह कहा जाए कि निद्रा में क्षोभ तथा ज्ञान का अभाव निद्रा से पूर्व अवस्था की स्मृति के द्वारा केवल अनुमान द्वारा जाना जाता है तब उसका उत्तर यह होगा कि हम ऐसी किसी वस्तु का अनुमान नहीं कर सकते जिसके समान वस्तु हमारे आगे प्रस्तुत न हुई हो। यदि यह कहा जाए कि एक निषेधात्मक विचार अपने अनुकूल प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं रख सकता और इसलिए ज्ञान तथा

हूं, मैं जाता हूं, मैं छलांग मारता हूं', और उसी प्रकार इन्द्रियों के गुणों को भी वह आत्मा के साथ जोड़ देता है जब वह कहता है, 'मैं गूंगा हूं, अशक्त हूं, बहरा हूं, काना हूं, अन्धा हूं', और अन्तःकरण के गुणों को भी, अर्थात् इच्छा, संकल्प, संशय, निश्चय इत्यादि को भी वह आत्मा के साथ जोड़ देता है। इस प्रकार वह अहं प्रत्ययी 'अहं' को अन्तःस्थ आत्मा में परिणत कर देता है, जो केवल शरीर सम्बन्धी प्रवृत्तियों का साक्षीमात्र है और, इसके विपरीत सबका साक्षी है, अन्तःस्थ आत्मा को अन्तःकरण में तथा शेष को भी परिणत कर देता है।" (शांकरभाष्य, 1 : 1, 1)। देखें, 'ह्यूमन्स सिस्टम आफ दि वेदांत', पृष्ठ 54, टिप्पणी; 'आत्मबोध', पृष्ठ 18; सर्वसिद्धांतसारसंग्रह, 12 : 49-62, 72-77। तुलना कीजिए, डेस्कार्ट : "मैं उन अवयवों का पुञ्ज जिसे मानवीय शरीर कहते हैं नहीं हूं, मैं एक पतली अन्तःप्रवेश करनेवाली वायु नहीं हूं जो उक्त सब अवयवों द्वारा अन्दर डाल दी गई है, अथवा वायु, या ज्वाला, या वाष्प, या प्राण, या अन्य ऐसी कोई भी वस्तु जिसकी मैं कल्पना कर सकता हूं, क्योंकि मैंने कल्पना की कि ये सब नहीं थे और कल्पना में परिवर्तन किए बिना भी 'मैं समझता हूं कि मुझे अभी भी अपने अस्तित्व का निश्चय है" (मेडिटेशन्स, पृष्ठ 2)। और भी देखें, छान्दोग्य उपनिषद्, 8 · 7—12, तैत्तिरीय उपनिषद्, 2 · 1, 7; माण्डूक्य उपनिषद्। अनुभूत पुञ्ज तथा कथावस्तु की जटिलताएं समाधान नहीं करतीं अपितु व्याख्या की मांग करती हैं। 'कान्ट' ने नास्तिक सिद्धांत को एक प्रभावशाली देन दी जबकि उसने हमें अपना ध्यान चेतना के वस्तु विषयों से हटाकर उस चेतना की ओर मोड़ने के लिए आदेश दिया जो वस्तु विषय से अभिज्ञ है तथा अन्तर्दृष्टि रखती है। किन्तु उसको अपने इस सिद्धांत-सम्बन्धी संकेतों का पूरा ज्ञान नहीं था कि सर्वव्यापी चेतना केवलमात्र एक ही हो सकती है। वह जानता था कि निर्जीव तथा सजीव पदार्थों तथा चेतन-अचेतन का भेद वस्तुरूप जगत् के भेद हैं। किन्तु वस्तुजगत् के अनेकत्व से उसने वस्तुओं के अपने अन्दर अनेकत्व है यह अनुचित अनुमान किया।

1. क्षणिक विज्ञानधारा।
2. शून्यस्यापि स्वसाक्षित्वात्।

क्षोभ के अभाव का केवल अनुमान ही होता है तो उत्तर मे कहा जाएगा कि ज्ञान आदि का अभाव जिसका अनुमान करता है वह विचारगम्य होना चाहिए अर्थात् उसका प्रत्यक्ष ज्ञान उसके अभाव मे साक्षात् होना चाहिए। इस प्रकार सुषुप्ति (प्रगाढ निद्रा) की अवस्था मे हमे ज्ञान तथा क्षोभ के अभाव की प्रत्यक्ष चेतना होती है। उस अवस्था मे आनुभविक मन निष्क्रिय होता है और केवल विशुद्ध चेतना ही उपस्थित रहती है।[1] आत्मा को *अन्त स्थ भावना के साथ न मिलाना चाहिए जो हमारी मानसिक प्रवृत्तियो* अथवा आनुभविक 'अह' के निरन्तर हो रहे परिवर्तनो के साथ-साथ रहती है, जिसमे समय समय पर अनेक मानसिक विषय परिष्कृत होते हैं।[2] यह सत्य है कि क्रिया से पूर्व आत्मचेतना (अर्थात् अहकार) आती है किन्तु यह आत्मा नही है क्योकि यह ज्ञान की पूर्ववर्ती नही है चूकि यह स्वय ज्ञान का एक विषय है।[3] आत्मा को अवस्थाओ के प्रवाह के समान मानने के लिए एक अविच्छिन्न समर्पण अथवा अवस्थाओ का प्रवाह मानना चेतनता के तत्त्व को इसके मूलतत्त्वो के अशो के साथ मिला देना होगा। अनुभूतिपुञ्ज और चेतनता की धाराए उठती और गिरती हैं, प्रकट होती और विलुप्त होती हैं। यदि इन सब विविध मूलतत्त्वो को परस्पर सम्बद्ध किया जाए तो हमे एक सर्वव्यापी चेतनता की आवश्यकता प्रतीत होती है जो सदा उनके साथ साहचर्यभाव से रहती है। "जब यह कहा जाता है कि यह मैं हू जो जानता हू कि वर्तमान मे किसका अस्तित्व है, यह मैं हू *जो भूतकाल को जानता था तथा उसे भी जो भूतकाल से पूर्व था,* यह मैं हू जो भविष्यत् को तथा भविष्यत् के आगे भी क्या होगा उसे जानूगा, इन शब्दो से उपलक्षित होता है कि ज्ञान के विषय मे जब परिवर्तन हो जाता है तब भी ज्ञाता परिवर्तित नही होता

1 अन्त स्थ इन्द्रिय (अन्त करण) निष्क्रिय है और विशुद्ध चेतना का सम्बन्ध अविद्या से है। 'विवरण' के ग्रथकार के अनुसार सुषुप्ति अवस्था में यदि कोई भी क्रिया होती है तो वह अविद्या के कारण है जबकि सुरेश्वर का तर्क है कि सुषुप्ति अवस्था मे कोई क्रिया ही नही होती।

2 एम० बर्गसा हमें एक ऐसा विचार देता है जिसके अनुसार आत्मा एक ऐसी वृद्धिशील सत्ता है जो अपने पूर्व अनुभवो को स्मृति द्वारा साथ लेते हुए भविष्य के लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है ('क्रियेटिव इवाल्यूशन' पृष्ठ 210)। यदि व्यक्तित्व का आधार केवल भूतकाल की चेतना ही होती जैसाकि कुछ बौद्ध मतावलम्बियो का विश्वास है तब काल के विभिन्न क्षणो मे वही एक आत्मा नही रह सकती थी। जहा एक ओर स्मृति रूप जोडनेवाली कडी से आत्मत्व के भाव को प्रबलता तथा महत्त्व प्राप्त होते हैं वहा आत्मचैतन्य के अन्दर निहित काल की अनन्तता के भाव की व्याख्या न हो सकेगी। बर्गसा को आत्मा के अन्तर्हित वृद्धिशील होने की असन्तोषजनकता का ज्ञान है और इसलिए वह हमें बतलाता है कि यथार्थ आत्मा की परिभाषा एक ऐसे विशुद्ध कार्यकाल से सम्बद्ध होनी चाहिए जिसे न तो अप्राप्ति और न भूतकाल के ही इतिहास का ज्ञान हो। यह एक अविभक्त वर्तमानकाल है जिसमे समस्त लौकिक वर्गीकरण का अभाव है। इस प्रकार बर्गसा अनन्तता के प्रति जो सहज प्रवृत्ति होती है उसका सन्तोषजनक समाधान करने का प्रयत्न करता है एव काल का कार्य परिमित करता तथा कालावधि अथवा लौकिक से विपरीत अप्राप्ति की प्रकल्पना उपस्थित करता है। किन्तु आत्मा जो अपना अस्तित्व स्थिर रखती है वह बाह्य घटको के ऊपर निर्भर करके ही कर सकती है। यह आत्मनिर्भर नही है। इस प्रकार बर्गसा स्मृति की सर्वाग सम्पूर्ण यथार्थता को प्रगाढ निद्रा (स्वप्नरहित) मे भी वर्तमान स्वीकार करने एव चेतनता के सातत्य तथा एकता को सिद्ध करने के लिए उसका उपयोग करने के कारण शकर के अत्यन्त निकट आ जाता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि स्मृति में आत्मिक भाव उस समय भी स्थिर रहता है जबकि वस्तुओ के सार्वभौम प्रवाह मे अन्य सब रूप नष्ट हो जाते हैं। यह आगे आनेवाले अनुभवो के लिए सयोजक कडी का तो काम करता ही है, किन्तु समस्त अनुभवो के भी नष्ट हो जाने पर यह स्थिर रहता है।

3 अहकारपूर्वकमपि कर्तृत्व नोपलब्धुर्भवितुमर्हति अहकारस्याप्युपलभ्यमानत्वात् (शाकर भाष्य 2 3, 40)।

क्योंकि उसका अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्य में भी है एवं उसका सारतत्त्व सदा से उपस्थित है।"[1] हम घटनाओं की सांसारिक शृंखला को केवल शृंखला के रूप में ही जान सकते हैं, यदि तथ्यों को उनसे भिन्न किसी वस्तु के द्वारा एक साथ रखा जा सके और स्वयं वह इसलिए काल के वश से परे हो।[2] आत्मा प्राकृतिक जगत् का प्राणी नहीं है और इसका कारण बिलकुल सरल है कि यदि आत्मारूपी तत्त्व की पूर्व से कल्पना न की जाती तो यह जगत् ही नहीं होता। शंकर का मत है कि यदि हम समस्त चतुर्दिक् वर्तमान पदार्थों से इसे विच्छिन्न कर दें, तथा शरीररूपी ढांचे से इसे पृथक् करके चिंतन करें, जिसके अन्दर यह घिरा हुआ है, एवं अनुभव के भी समस्त मूलतत्त्वों से इसे पृथक् करके देखें तो हमें आत्मा के भाव का ज्ञान होगा अन्यथा नहीं।[3] हमारे तार्किक मनों को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हमने इसे केवल विचार की क्षमता मात्र ही बना डाला है, हालांकि केवल शून्यता का रूप नहीं भी दिया है तो भी इसे इस प्रकार का मानना कहीं अधिक उत्तम है बजाय इसके कि इसे अंशों से मिलकर बनी एक पूर्ण इकाई, अथवा गुणों से युक्त एक वस्तु, अथवा गुणों से युक्त एक द्रव्य करके माना जाए। यह निर्विशेष चिन्मात्र है जिसके ऊपर शरीर के भस्मीभूत हो जाने तथा चित्त के नष्ट हो जाने पर भी कोई असर नहीं होता।[4]

समस्त दर्शन की कठिन समस्या यह है कि इन्द्रियां, शरीर की स्नायुमण्डल-सम्बन्धी प्रक्रियाएं तथा जो कुछ देश और काल में है यह सब चेतना को उत्पन्न करता है। निश्चय ही अचेतन वस्तु चेतन वस्तु का कारण नहीं हो सकती। यदि कुछ सम्भव है तो यह है कि चेतन को अचेतन का कारण अवश्य होना चाहिए। इन्द्रियां, मन और बोधग्रहण की शक्ति आत्मनिर्भर नहीं हैं। "इन इन्द्रियों की क्रिया को साथ-साथ उपलब्धि की आवश्यकता है और यह आत्मा की ही वस्तु है।"'आत्मा का यथार्थस्वरूप नित्य

1. सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात् (शांकरभाष्य, 2 : 3, 7, और भगवद्गीता पर शांकरभाष्य 2 · 18)। देखें, अद्वैतमकरन्द, पृष्ठ 11 और 13।

2 शंकर लोट्ज़े के तर्क से सहमत हैं कि दो विचारों की सरलतम तुलना और उनकी समानता अथवा असमानता की स्वीकृति इस प्रकार की पूर्वकल्पना कर लेती है कि 'जो सत्ता उनकी तुलना करती है वह *अविभाज्य रूप से एक है*' और वह *आत्मा है* जो उस मूलतत्त्व से बाह्य है *जिसका* यह प्रतिपादन करती है ('मेटाफिज़िक्स', पृष्ठ 241)।

3 *बोधग्रहण, इन्द्रियां आदि अचेतन हैं और एक विषयी के लिए विषय हैं।* तुलना कीजिए, भामती · "चित्स्वभावात्मा विषयी, जडस्वभावा बुद्धीन्द्रियदेहविषया विषया:।"

4 सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, 12 8, 41। तुलना कीजिए, आगस्टाइन : "शरीरों से ऊपर क्रमशः चढ़ते हुए मैं आत्मा तक पहुंच सका जो शरीरगत इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, और उसके आगे मैं आत्मा की उस क्षमता तक पहुंचा जिस तक शरीरगत इन्द्रियां बाह्य पदार्थों की सूचना को पहुंचाती हैं और यह प्राणियों की बुद्धि की चरम सीमा है। और उसके आगे तर्कशक्ति तक पहुंचा जिस तक शरीरगत इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अन्तिम निष्कर्ष के लिए पहुंचाया जाता है। और जब यह शक्ति भी मुझे अपने अन्दर परिवर्तनशील प्रतीत हुई तो इसने अपने को और ऊंचा उठाया और अपनी प्रज्ञा तक पहुंची तथा अनुभवजन्य विचारों से इसने अपने को मुक्त किया तथा इन्द्रियाकृतियों के परस्पर विरोधी जमघट से हटाकर अपने को *अमूर्त बनाया इसलिए कि उस प्रकाश को खोज निकाल सके,* जिसके अन्दर यह आवृत था और तब सब संशयों का उच्छेद करके इसने घोषणा की कि समस्त परिवर्तनशील जगत् की अपेक्षा निर्विकार का ही आश्रय वांछनीय है और वहीं से इसने उस निर्विकार का ज्ञान प्राप्त किया और इस प्रकार एक दृष्टि की झपक के प्रकाश में यह उस तक पहुंचा जो सत् है। ('कन्फेशन्स', 7 : 23)।

ज्ञान है।"[1] किन्तु यह चेतनसत्ता जो अचेतन जगत् का कारण है, परिमित शक्तिवाली चेतना नहीं है अपितु निरपेक्ष है, क्योंकि अनेक पदार्थ तथा घटनाएं जो इसमें अथवा उक्त परिमित शक्तिवाली चेतनता में अवस्थित नहीं है तो भी उस यथार्थसत्ता में विद्यमान रहती हैं। इस प्रकार हमें अवश्य एक निरपेक्ष परम चेतनता की कल्पना करनी ही होती है जिसका यह परिमित शक्तिवाली चेतनता केवल अंशमात्र है। मूलभूत चेतनता को, जो समस्त यथार्थसत्ता का आधार है, मानवीय चेतनता के साथ नहीं मिलाना चाहिए जोकि विश्व के विकास में सबसे अन्त में प्रकट होती है। प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत पदार्थ उत्पत्ति तथा क्षय के अधीन हैं और स्वप्रकाशित नहीं हैं। और उनका ज्ञान केवल आत्मा के प्रकाश के द्वारा होता है,[2] जिसका अनिवार्य स्वरूप है आत्म-प्रकाशत्व।[3] यह विशुद्ध चैतन्य अथवा केवल अभिज्ञता ही है जो 'सर्वोपरि तत्त्व है, जिसके अन्दर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात विषय का कोई भेद नहीं है, जो अनन्त है, अतीन्द्रिय है तथा निरपेक्ष ज्ञान का सारतत्त्व है।"[4] इसका स्वरूप निर्विषय चैतन्य का है।[5] "आत्मा सर्वांगरूप में प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है; प्रज्ञा ही उसका अनन्यस्वरूप है जैसे नमक की राशि का स्वरूप उसके नमकीन स्वाद में है।"[6] आत्मा का स्वरूप अनात्म कभी नहीं हो सकता। अपनी सत्ता के विधान के अनुसार यह सदा ज्योतिर्मय है। जिस प्रकार प्रकाशित करने के लिए कोई वस्तु उपस्थित न रहने पर भी सूर्य स्वतन्त्र रूप से चमकेगा ही, इसी प्रकार आत्मा के अन्दर चैतन्य सदा विद्यमान रहता है, ऐसी

1 नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात् (शांकरभाष्य, 2 . 3, 40)। तुलना कीजिए, 'चित्सुखी', 1 : 7।

चिद्रूपत्वादकर्मत्वात स्वयं ज्योतिरिति श्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः॥

2 शांकरभाष्य, 2 : 2 28। तुलना कीजिए इसके साथ अरस्तू के 'नोअस' की जो बोधग्रहण की शक्ति आदि का, जो अन्तर्निहित क्षमता द्वारा बुद्धिसम्पन्न हैं, उनकी अपनी क्षमता का ज्ञान प्राप्त कराने में सहायक होता है।

3 स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वात् (शांकरभाष्य, 1 : 3, 22)। प्रश्नोपनिषद् पर शांकरभाष्य को भी देखें, 6 3।

4 विवेकचूडामणि, पृष्ठ 239। नैयायिक (न्यायमंजरी, पृष्ठ 432) निम्नलिखित हेतुओं के आधार पर इस प्रकल्पना पर आपत्ति उठाता है विशुद्ध चैतन्य का ज्ञान कोई भी प्राप्त नहीं कर सका है क्योंकि हमारा आनुभविक चैतन्य सदा ही मन और इन्द्रियों की उपाधि से आवृत रहता है। यह कहना कि इसका ज्ञान अन्तःकरण के चैतन्य (अपरोक्ष ज्ञान) से होता है स्वतःविरोधी है। यदि इस प्रकार का तर्क किया जाए कि आत्मा का ज्ञान आत्मप्रकाश के रूप में तात्कालिक होता है तो कहा जाएगा कि एक प्रकाशमान दीपक एक अन्धे मनुष्य के लिए भी व्यक्त होता है यद्यपि अन्धा मनुष्य उसे देखता नहीं है। यदि दीपक ऐसे ही मनुष्य के लिए व्यक्त हो जो उसका बोध ग्रहण करता है तब फिर आत्मा का भी ज्ञान केवल तभी हो जब उसका ज्ञान प्राप्त किया जाए अर्थात् तब यह चैतन्य का विषय बने और तब यह विशुद्ध तथा निर्मल नहीं रह सकता। कुमारिल प्रश्न करता है कि यदि आत्मा चैतन्यस्वरूप होने के कारण आत्मप्रकाश है तो क्या सुख तथा दुःख को भी आत्मप्रकाश मानना चाहिए? इस मत के अनुसार स्वप्नावस्था में सुख-दुःख के विरत हो जाने का हम कोई समाधान न कर सकेंगे। यदि यह कहा जाए कि सुषुप्ति अवस्था में केवल आत्मा की ही अभिव्यक्ति होती है किन्तु शरीर, अथवा इन्द्रियों अथवा पदार्थों की नहीं होती जिन सबकी अभिव्यक्ति जागरित अवस्था में होती है तो कुमारिल इसका निराकरण इस आधार पर करता है कि जागने पर हमें इस विषय की चेतना रहती है कि हमने प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं किया। उनका तर्क है कि आत्मा-मानस प्रत्यक्ष का विषय है। देखें, शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 347 से 350 तक।

5 निर्विषयज्ञानमयम्। तुलना कीजिए, शंकर के 'हिम्न् टु हरि', पृष्ठ 4।

6 शांकरभाष्य, 3 . 2, 16। और भी देखें, शांकरभाष्य, 1 : 3, 19, 22।

अवस्था में भी जबकि कोई ज्ञातव्य विषय उपस्थित न भी हो।[1] यह विशुद्ध प्रकाश है, चिदात्मा ज्योतिष्मान् है एवं न केवल हमारे समस्त ज्ञान का आधार है, अपितु हमारी बुद्धि का प्रकाश भी है।

> शंकर न्याय तथा विशिष्टाद्वैत के मत का सर्वथा निराकरण करते हैं जिसके अनुसार आत्मा एक बुद्धिसम्पन्न द्रव्य है और यह कि आत्मा का चैतन्य के साथ धर्मी और धर्म का सम्बन्ध है।[2] बुद्धि तथा आत्मा के मध्य का सम्बन्ध या तो तादात्म्य का हो या भिन्नता का हो अथवा तादात्म्य और भिन्नता दोनों का हो। यदि बुद्धि स्वरूप से आत्मा से भिन्न हो तब उनके मध्य में द्रव्य और गुण का सम्बन्ध नहीं हो सकता।[3] इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रमेय पदार्थों की अवस्था में सम्बन्ध या तो बाह्य संयोग के रूप का हो अथवा आन्तरिक सम्बन्ध अर्थात् समवाय के समान हो। संयोग दो भौतिक वस्तुओं में सम्भव होता है किन्तु आत्मा और बुद्धि भौतिक नहीं हैं। यदि आत्मा तथा बुद्धि के बीच में आन्तरिक समवायसम्बन्ध हो तो यह सम्बन्ध आत्मा से भी सम्बद्ध होना चाहिए और दूसरे सम्बन्ध को भी आत्मा से सम्बद्ध होना चाहिए और इस प्रकार इसका कहीं अन्त नहीं होगा। इस प्रकार यदि आत्मा तथा बुद्धि एक-दूसरे से भिन्न हैं तो उनके अन्दर द्रव्य और गुण जैसा सम्बन्ध विचार में भी नहीं आ सकता। और यदि दोनों एकसमान हैं तब इस प्रकार के कथन का कोई अर्थ ही नहीं होता कि एक-दूसरे का गुण है। यह मानना सम्भव नहीं है कि कोई वस्तु अन्य वस्तु के समान भी है और भिन्न है। इस प्रकार आत्मा को बुद्धि के समान ही मानना चाहिए।[4]

चैतन्य अथवा आत्मा को तार्किक बोधग्रहण के साथ नहीं मिला देना चाहिए क्योंकि तार्किक बोधग्रहण निरपेक्ष तथा परम यथार्थसत्ता नहीं है, जिसकी व्याख्या अपनी परिभाषा से ही सके; किन्तु यह प्रमाता (विषयी) तथा प्रमेय पदार्थ (विषय की) पारस्परिक प्रतिक्रिया का कार्य होता है। यदि ज्ञान के विषय में इसे एक ऐसे स्तर पर रखकर विचार किया जाए कि जिस स्तर पर यह अपने विषय (प्रमेय पदार्थ) का निर्माण करनेवाला है तो भी उसके अन्दर ज्ञाता और ज्ञेय का भेद रहेगा ही। और यह प्रतिबन्ध केवल प्रतिबन्ध ही नहीं है केवल इसलिए कि स्वयं ज्ञान ने इसे उत्पन्न किया है। यथार्थ अस्तित्व और बुद्धि का साहचर्य है। बिना बुद्धि के आत्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता अथवा बुद्धि बिना अस्तित्व के नहीं हो सकती।[5] यह भी आनन्द की प्रकृति का ही है।[6] सब प्रकार के दुःखों से मुक्ति का नाम आनन्द है।[7] आत्मा को कुछ स्थापना

1. शांकरभाष्य, 2 : 3 18।
2 चिद्धर्मं आत्मा न तु चित्स्वभाव। तुलना कीजिए, ज्ञानभिन्नो नित्यात्मेति सिद्धम्। (विश्वनाथ मुक्तावली पृष्ठ 49)।
3 आत्मशब्दादिवद्धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः।
4 देखें, 'हस्तामलक'। देखें, ह्यूम : 'रेन आफ रिलीजियन' पृष्ठ 196।
5 सत्ता एव बोधः एव च सत्ता।
6 तैत्तिरीय उपनिषद्, 2। आत्मा है (अस्ति), चमकती है (भाति) और प्रसन्नता देती है (प्रीणाति)।
7 तुलना कीजिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, 3 : 5।

नही है और न कुछ प्राप्त ही करना है, न कुछ अन्धकार है, न अव्यवस्थित है। शकर आत्मा के अन्दर क्रियाशीलता का अभाव मानते है, क्योंकि क्रियाशीलता स्वभाव से अनित्य है।[1] "आत्मा किसी क्रिया का स्थान नही हो सकती क्योकि क्रिया जिस वस्तु के अन्दर रहती है उसमे कुछ परिवर्तन अवश्य उत्पन्न करती है।'[2] सब प्रकार की क्रिया आत्मभाव की पूर्वकल्पना करती है और जहा तक हमे ज्ञान है यह दु ख के आकार की है,[3] और इसकी प्रेरक है इच्छा।[4] क्रिया तथा सुखोपभोग द्वैतात्मक दृष्टिकोण के ऊपर ही निर्भर हैं और द्वैतात्मक दृष्टिकोण सर्वोच्च सत्य नही है।[5] आत्मा मे शरीर आदि प्रतिबन्ध के बिना क्रिया नही हो सकती और प्रत्येक प्रतिबन्ध अयथार्थ है।[6] आत्मा मे स्वय कोई कर्तृत्व नही है।[7] शकर के मत मे आत्मा के गुण हैं—सत्य, अपनी ही महत्ता पर आश्रित रहना, सर्वव्यापकता और समस्त अस्तित्व का स्वत्व होने का लक्षण।[8] वे आत्मा को एकाकी, सार्वभौम और अनन्त मानते हैं उन्ही कारणो के आधार पर जिनसे हीगल अपने विचार को अनन्त मानता है। यह किसी स्थान पर भी अपने से विपरीत वस्तुओ के द्वारा मर्यादित नही होती और न ऐसी किसी अन्य वस्तु से ही मर्यादित होती है जा एतद्रूप तो है ही नही, किन्तु तो भी इसके लिए मर्यादा उत्पन्न करती है। यह सदा अपने ही क्षेत्र मे वर्तमान रहती है। चैतन्य की कोई मर्यादा नही है क्योकि मर्यादाओ की चेतनता यह दर्शाती है कि चैतन्य मर्यादा से बडा है। यदि इसकी मर्यादा होती तो अन्य वस्तुओ से मर्यादित चैतन्य मर्यादाओ के चैतन्य से युक्त न हो सकता। चैतन्य और मर्यादा स्वरूप मे एक दूसरे के विपरीत है। मर्यादा वस्तु का स्वभाव है और चैतन्य कोई वस्तु नही है।

डेस्कार्ट के विरुद्ध यह बलपूर्वक कहा जाता है कि उसने आत्मा को अनात्म से सर्वथा पृथक किया तथा आत्मा की यथार्थता को अपने निजी अधिकार से स्वतन्त्र रूप मे सिद्ध किया। हमे यह बिलकुल स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि शकर द्वारा प्रतिपादित आत्मा वह जीवात्मा नही है जो ज्ञाता तथा कर्ता है। यदि शकर ज्ञान प्राप्त करनेवाली व्यक्तिगत जीवात्मा की यथार्थता को सिद्ध करने का प्रयास करते एव अनात्म से पृथक तथा उसके विपरीत रूप मे मानते तो उनके आगे मर्यादित और निर्विषय आत्माओ का अनेकत्व उपस्थित होता अथवा एक अमूर्तरूप सार्वभौम आत्मा ही रह जाती। शकर द्वारा प्रतिपादित आत्मा न तो शरीरधारी जीवात्मा है और न ही ऐसी आत्माओ का सगृहीत पुञ्ज है। ये आत्माए सार्वभौम आत्मा के ऊपर आश्रित है। शकर का कहना है कि "आनुभविक अर्थ मे यह एक ऐसी वस्तु नही है जिसका निर्देश हम शब्दो के द्वारा कर सकें। और न यह गाय के समान ही कोई ऐसा प्रमेय पदार्थ है जिसका ज्ञान

1 अध्रुव।

2 शाकरभाष्य, 1 1 4।

3 कर्तृत्वस्य दु खरूपत्वात (शाकरभाष्य, 2 3 40)।

4 कर्महेतु काम स्यात प्रवर्तकत्वात्। (तैत्तिरीय उपनिषद पर शकर की प्रस्तावना)।

5 अविद्या प्रत्युपस्थापितत्वात कर्तृभोक्तृत्वयो। (शाकरभाष्य, 2 3 40।) तुलना कीजिए बृहदारण्यक उपनिषद 4 5 15।

6 तुलना कीजिए सुरेश्वर "विद्वान लोगों ने आत्मा की अपने स्वाभाविक रूप म स्थिति को नि श्रयस नाम दिया है और आत्मा का अन्य किसी अवस्था से सम्पृक्त होना अज्ञान का परिणाम है (वार्तिक पृष्ठ 109)।

7 स्वत अनधिकारिण। देखें सुरेश्वरकृत वार्तिक पृष्ठ 110 113।

8 सत्यत्वम, स्वमहिमाप्रतिष्ठितत्वम सर्वगतत्वम, सर्वात्मत्वम् (शाकरभाष्य 1 3 9)।

ज्ञान के साधारण साधनों के द्वारा हो सके। इसका वर्णन भी जातिगत गुणों अथवा विशेष लक्षणों के द्वारा नहीं हो सकता। हम यह नहीं कह सकते कि यह अमुक प्रकार से कर्म करती है। क्योंकि इसे सदा ही निष्क्रिय कहा गया है। इसलिए इसका ठीक ठीक वर्णन नहीं हो सकता।" शंकर की प्रतिपादित आत्मा काण्ट के अतीन्द्रिय 'अहं' से भी भिन्न है जो केवल एक विशुद्ध आकृति है जिसका सम्बन्ध अनुभव के सब विषयों के साथ रहता है। यद्यपि कहा यह जाता है कि यह आनुभविक चैतन्य की पहुंच से परे है तो भी इसका एक निजी रूप है क्योंकि यह क्रियात्मक इच्छा का रूप धारण करती है। काण्ट का आनुभविक अहंभाव से भिन्नरूप का वर्णन जो अवस्थाओं की उपज है, शंकर द्वारा प्रतिपादित आत्मा में लागू होता है। शंकर केवल यही कहता है कि सदा रहनेवाला चैतन्य का प्रकाश लगभग एक पूर्ण वस्तु है किन्तु प्रगति की प्रक्रिया में नहीं है।[1] काण्ट का क्रियात्मक संकल्प आनुभविक आत्मा है, जिसके लिए सदा ही अतीत का अनिर्वचनीय भाव बना रहता है। फिश्ते का निरपेक्ष 'अहंभाव' तात्त्विक रूप में आनुभविक आत्मा से भिन्न नहीं है। क्योंकि उस क्रिया का निर्णय, जिसके द्वारा यह उस अवस्था को प्राप्त हुआ है जो इसका मौलिक रूप है, अनात्म की ही क्रिया है। चूंकि शंकर के मत में व्यक्तित्व का सारतत्त्व उसका अन्य सत्ताओं से भेद होने के कारण ही है इसलिए उनका तर्क है कि आत्मा का पृथक् व्यक्तित्व इसलिए नहीं है चूंकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता ही नहीं है। यह सत्य अवश्य है कि तार्किक दृष्टिकोण से आनुभविक आत्मा ही एकमात्र यथार्थसत्ता है और विशुद्ध आत्मा केवल छायामात्र है। किन्तु जब हम ऊंचे उठकर अन्तर्ज्ञान तक पहुंचते हैं जहां कि प्रमाता तथा प्रमेय मिलकर एक हो जाते हैं, हम परमार्थरूप चैतन्य का साक्षात् कर सकते हैं।[2] यह परमरूप का दर्शन ही है जो अपना दर्शन स्वयं कराता है। यही सारतत्त्व प्रत्येक का है जो यह सोचकर कि "मैं हूं जो मैं हूं" इस प्रकार अपने को जानता है। यह नितान्त रूप से यथार्थ है जिसे कोई भी अनुभव कभी भी परिवर्तित नहीं करेगा। इसका कोई परिमाण नहीं है। हम इसके विषय में यह नहीं सोच सकते कि यह विस्तृत हो सकता या विभक्त हो सकता है। यह सदा और सब कालों में एकसमान है। इसमें अनेकत्व नहीं है। यह जितना एक में है उतना ही अन्य में है। इसको विशिष्टरूप नहीं दिया जा सकता। हम जीवन धारण किए हुए हैं क्योंकि हम सार्वभौम जीवन के भागीदार हैं; और हम सोचते हैं क्योंकि हम सार्वभौम विचार में अपना भाग रखते हैं। हमारे अन्दर सार्वभौम आत्मा की उपस्थिति के कारण से ही अनुभव सम्भव होता है।[3]

1 तुलना कीजिए, जैण्टाइल की विशुद्ध प्रमाताविषयक कल्पना से जिसे विषय (प्रमेय पदार्थ) का रूप नहीं दिया जा सकता ('थियरी ऑफ माइण्ड ऐज़ प्योर एक्ट', पृष्ठ 6-7)।

2 तुलना कीजिए, कैयर्ड "यदि प्रमेय पदार्थ का चेतन प्रमाता (विषयी) के साथ सम्बन्ध होना ज्ञान है तो यह जितना ही पूर्ण होगा उतना ही सन्निकट सम्बन्ध होगा और यह पूर्ण हो जाती है, जब द्वैतभाव प्रत्यक्ष पारदर्शी हो जाता है अर्थात् जब प्रमाता और प्रमेय में एकत्व हो जाता है और जब द्वैतभाव केवल मात्र एकत्व को शब्दों में प्रकट करने के लिए ही आवश्यक रह जाता है—संक्षेप में जब चैतन्य आत्मचैतन्य के रूप में परिणत हो जाता है।" ('क्रिटिकल फिलॉसफी ऑफ कांट', पृष्ठ 46)।

3 माण्डूक्य उपनिषद् पर शांकरभाष्य, 2 : 7। तुलना कीजिए, एकहार्ट : "आत्मा के अंदर एक ऐसी वस्तु है जो आत्मा से ऊपर है, दैवीय है, सरल है, परम शून्य है, नाम रूप न होकर अनाम है, ज्ञात न होकर अज्ञात है, यह ज्ञान से ऊपर है, प्रेम से भी ऊंची है, कृपा से भी ऊंची है, क्योंकि इन सबमें भी भेद विद्यमान है। इस प्रकाश को सन्तोष होता है केवल सर्वोच्च अनिवार्य तत्त्व

14 ज्ञान का तन्त्र या रचना

साधारण बुद्धि की पूर्वमान्यताओ तथा विचार के प्राथमिक सिद्धान्तो के विषय मे सशय करना शकर को अपने पूर्ववर्ती बौद्ध विचारको से दाय के रूप मे प्राप्त हुआ। यह उन्हे स्पष्ट प्रतीत हो गया कि दार्शनिक विचार के निर्माण का कोई भी प्रयास प्राथमिक सिद्धान्तो के दर्शन को स्वत मान्य मानकर आगे नही बढ सकता। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान के समालोचनात्मक विश्लेषण को तथा मनुष्य के बोधग्रहण तन्त्र को भी हाथ मे लिया। हमारे अन्तस्तल के गह्वर मे हमारी आत्मा का एक ऐसा अस्तित्व है जिसके विषय मे यह कुछ कथन नही करता। परम यथार्थसत्ता अद्वैतरूप आत्मा है। किन्तु समस्त निश्चयात्मक ज्ञान परम चैतन्य के परिवर्तन की इन विभागो मे पूर्व कल्पना कर लेता है (1) एक ज्ञाता (प्रमातृचैतन्य) बोधग्रहण करनेवाली चेतनता जिसका निर्णय अन्त करण के द्वारा होता है (2) ज्ञान की प्रक्रिया (प्रमाणचैतन्य) बोधग्रहण करनेवाली चेतनता जिसका निर्णय वृत्ति अथवा अन्त करण के परिवर्तन के द्वारा होता है और (3) ज्ञात पदार्थ प्रमेय विषय या विषयचैतन्य) यह वह चेतनता है जिसका निर्णय ज्ञात विषय के द्वारा होता है। परमचैतन्य एक ही है (एकमेव), जो सर्वव्यापी है जो सबको प्रकाशित करता है यह अन्त करण है इसका परिवर्तित रूप तथा विषय है।[1] इन्द्रियो के अतिरिक्त आभ्यन्तर इन्द्रिय अर्थात अन्त करण[2] के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो युक्तिया उपस्थित की जाती है वे पहले से ही हमे भली भाति ज्ञात हैं।[3] इसे अन्त करण का नाम इसलिए दिया गया है कि यह इन्द्रिय के व्यापारो का स्थान है और उनके बाह्य गोलको से भिन्न है। बाह्य इन्द्रियो के द्वारा जो कुछ सामग्री इसे प्राप्त होती है उसे यह ग्रहण करता है तथा उसकी क्रमबद्ध व्यवस्था करता है। इसे अपने आपमे इन्द्रिय नही माना गया क्योकि यदि यह इन्द्रिय होता तो इसे अपना तथा अपने परिवर्तनो का साक्षात प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकता। इसे भिन्न भिन्न अवयवो से मिलकर बना बताया जाता है और यह मध्यम आकार का है न तो आण विक है और न महदाकार मे अनन्त है। इसमे पारदर्शिता का गुण है जिसके द्वारा इसमे प्रमेय पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं जिस प्रकार एक दर्पण मे उसकी चमक के कारण हमारे चेहरे उसमे प्रतिबिम्बित हो जाते है। पदार्थो के प्रतिबिम्बित करने की क्षमता

से। इसका झुकाव सरल भूमि मे मौन निर्जन स्थान मे प्रवेश करने की ओर है जहा पर न पिता का न पुत्र का और न पवित्र आत्मा का ही कोई भेद रहता है। यह उस एकत्व मे प्रविष्ट होना चाहती है जहा किसी मनुष्य का निवास नही है। तब यह उस प्रकाश मे सन्तुष्ट होती है तब यह एकाकी है तब यह अपने मे एक है चकि यह भूमि एक सरल स्थिरता है अपने आपमे अचल है किन्तु तो भी इस क्षमता से ही सब वस्तुए गति प्राप्त करती हैं (हण्ट कृत एस्से आन पानथीइज्म मे उदधृत पृष्ठ 180)

1 तुलना कीजिए पञ्चदशी 7 91।

2 वाचस्पति मन को भी एक इन्द्रिय के रूप मे मानते है।

3 आत्म तथा इन्द्रियो के मध्य एक जोडने वाली शृखला का होना आवश्यक है यदि हम अन्त करण को स्वीकार नहा करते तो या तो परिणाम मे निरन्तर प्रत्यक्ष होगा अथवा निरन्तर अप्रत्यक्ष होगा पहला अवस्था जबकि आत्मा इन्द्रियों और विषय का सयोग होगा क्योकि ये तीनो प्रत्यक्ष के साधन हैं। और यदि इन तीनो कारणो के सयोग से कार्य सम्पन्न नही होता है तब निरन्तर अप्रत्यक्ष रहेगा। किन्तु यह तथ्य के विपरीत है। इसलिए हम अन्त करण के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। जिसके अवधान तथा अनवधान से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उत्पन्न होते है (शाकरभाष्य 2 3 32)

अर्थात् उनके विषय में अभिन्न होना अन्त.करण का स्वाभाविक अन्तर्निहित गुण नही है, किन्तु आत्मा के साथ सम्बद्ध होने के कारण उसमें यह आ गया है। यद्यपि कहा यह जाता है कि अन्त.करण प्रमेय पदार्थों पर अपना प्रकाश डालता है तथा उन्हें प्रतिबिम्बित करता है तो भी यह आत्मा है जो उसके अन्दर प्रतिबिम्बित होती है।[1] आत्मा ही प्रकाश देनेवाली है और अन्तःकरण इसी के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।[2] अन्तःकरण की आकृति मे परिवर्तन होता रहता है। उस परिवर्तन को जो विषय का प्रकाश करता है वृत्ति की संज्ञा दी गई है।[3] अन्तःकरण की प्रवृत्तियां अथवा आकृतियां चार प्रकार की है · अनिश्चय (संशय), निश्चय, गर्व (आत्मचेतना) और स्मरण। एक अन्तःकरण को तब मन कहते हैं जब यह संशय की स्थिति में होता है; उसे बुद्धि अथवा बोध ग्रहण की क्षमता कहा जाता है, जब वह निश्चयात्मक स्थिति में होता है, और अहंकार के नाम से पुकारा जाता है, जब वह आत्मचैतन्य की स्थिति मे होता है, तथा चित्त नाम से पुकारा जाता है जब वह एकाग्रता और स्मरण की स्थिति में होता है।[4] बोध का कारण अन्तिम चैतन्य ही अकेला नही है किन्तु अन्त करण की उपाधि से युक्त चैतन्य है। यह अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न है और इस प्रकार एक मनुष्य का बोध सब मनुष्यो का बोध नही होता। चूंकि अन्तःकरण एक मर्यादित वस्तुतत्त्व है यह संसार के सब पदार्थों पर लागू नही हो सकता। यह विविध प्रकार की परिधियों के अन्दर ही कार्य करता है जिसकी व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति के भूतकाल के आचरण के आधार पर हो सकती है जिस व्यक्ति के साथ उस अन्तःकरण का सम्बन्ध है।[5]

1 देखें मनीषा पचकम्। यहा पर शकर भाष्य के इस मत का अनुसरण करते हैं कि बुद्धि, मनस् आदि अपने-आपमे प्रकाशरहित हैं यद्यपि ये पुरुष के सान्निध्य से प्रकाशशक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। अद्वैत मे आत्मा, जो केवल आत्मज्योति है पुरुष का स्थान ग्रहण करती है।

2 उपदेशसाहस्री, 18 · 33-54। देखें, शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद् पर, 2 : 1। वार्तिक, तैत्तिरीय उपनिषद पर, 2 1।

3 भावनाओं आदि का अनुभव करने में इसके अन्य परिवर्तितरूप होते हैं जिन्हें वृत्ति के नाम से नही पुकारा जाता।

4 बुद्धिरूपी पदार्थ को केवल तीन अवस्थाएं हैं जिनमें यह उत्पन्न होती है, स्थिर रहती तथा नष्ट हो जाती है, जबकि चित्त स्थिर रहता है। पूजा के दृष्टिकोण से चित्त का कार्य महत्त्वपूर्ण है जिसमे चिन्तन तथा एकाग्रता अनिवार्य है। शकर मन तथा बुद्धि में भेद करते हैं; मन का कार्य संशय तथा बुद्धि का क्षेत्र निर्णय करने मे है (2 : 3 : 32)। मन के अन्दर सकल्प, विकल्प, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, स्मृति, इच्छाएं तथा मनोभाव आते हैं। बुद्धि उच्चश्रेणी की शक्ति है जिसके द्वारा विचार, निर्णय, तर्क तथा आत्मचैतन्य सम्भव हो सकते हैं। जैसाकि हम देख आए हैं, साख्य ने बुद्धि के अतिरिक्त अहकार को भी स्वीकार किया, यद्यपि उसने चित्त को बुद्धि के अन्तर्गत मान लिया। 'परिभाषा' चारों को हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। वेदान्त-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ यथा 'वेदान्तसार' और 'वेदान्त सिद्धान्तसारसग्रह' उक्त विभागों में मन तथा चित्त को एव बुद्धि को अहकार के साथ एक समान मानकर समन्वय स्थापित करते हैं। परवर्ती अद्वैत मानसिक अवस्थाओं को, सवेदन, ज्ञान और सकल्प के रूप मे न मानकर मानसिक क्रिया के विचार तथा प्रत्यक्ष से सम्बन्धित स्तर पर इसकी चैतन्य की समस्त विधियों, प्रेम-सम्बन्धी, ज्ञान सम्बन्धी तथा सकल्प-सम्बन्धी विधियो समेत मानता है।

5 जीव अपनी तात्विक बुद्धि से ज्ञेय विषयों को प्रकाशित नही कर सकता बिना अन्त - करण की वृत्तियों की सहायता के जैसाकि ईश्वर करता है क्योंकि जीव के साथ अविद्या का प्रतिबंध लगा हुआ है, किन्तु निरपेक्ष चैतन्य सब वस्तुओं के उपादान कारणरूप में उनके साथ एकात्मभाव रखता है और इसलिए उनका प्रकाश अपने सम्बन्ध मे कर सकता है। जीव अपने निजी रचनात्मक सगठन के कारण बाह्य पदार्थों के साथ सम्बद्ध नहीं है किंतु केवल अत करण के साथ सम्बद्ध है। देखें, सिद्धान्तलेश।

15 प्रत्यक्ष

शकर ज्ञान के तीन स्रोतो का उल्लेख करते हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्रप्रमाण (आप्तोपदेश)।[1] उनके परवर्ती लेखको ने इनमे तीन और जोडे हैं उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।[2] स्मृति को यथार्थ ज्ञान मे सम्मिलित नही किया गया क्योकि विचित्रता को समस्त ज्ञान का एक लक्षण बताया गया है।[3]

चूकि शकर ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषयक मनोविज्ञान के विषय मे विचारविमर्श नही किया है, हम उसके मत के विषय मे कुछ नही कह सकते। *'वेदान्त परिभाषा' मे दिए गए वर्णन से ही हमे सन्तोष करना पडेगा और वह* स्पष्ट ही असन्तोषप्रद है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो चैतन्य पदार्थो के विषय मे बिना किसी माध्यम के और साधारणत इन्द्रियो की क्रिया के द्वारा चैतन्य प्राप्त होता है। इद्रिय प्रत्यक्ष मे ज्ञाता तथा प्रत्यक्ष विषयक पदार्थ मे वास्तविक सम्पर्क होता है।[4] जब आख एक घडे पर जमती है तो अन्त करण उसकी ओर अग्रसर होता है, उसे अपने प्रकाश मे प्रकाशित करता है, उसकी आकृति धारण करता और इस प्रकार उसका बोध ग्रहण करता है। यह आन्तरिक व्यापार ऐसा समझा जाता है कि भौतिक कम्पनो को मानसिक अवस्थाओ मे परिणत कर देता है। यदि हम केवल नीले आकाश की ओर ताकते रहे तो हमे *कुछ नही दिखाई देता। अन्त करण प्रकाश के समान कार्य करता है एक विस्तृत* प्रकाश-किरण के रूप मे, इसकी वृत्ति बाहर की ओर गति करती है। यह वृत्ति सूर्य की किरण के समान निश्चित दूरी तक ही जाती है। यही कारण है कि दूरस्थ पदार्थो का प्रत्यक्ष नही होता। वृत्ति प्रमेय पदार्थ का रूप धारण करके पदार्थ के साथ एकाकार हो जाती है और इसका तादात्म्य समस्त समीपवर्ती क्षेत्र तक फैल जा सकता है। हम जो कुछ प्रत्यक्ष करते है वह वृत्ति के ऊपर निर्भर करता है। यदि वृत्ति पदार्थ के वजन की आकृति धारण करती है तो हम वजन का प्रत्यक्ष करते हैं, और यदि रग की वृत्ति है तो हमे रग का प्रत्यक्ष होता है। धुए से आग का अनुमान करने मे वृत्ति गति करके आग के पास *तक नही जाती और उसका कारण स्पष्ट है कि आग चक्षु इन्द्रिय के सम्पर्क मे* नही है, चक्षु इन्द्रिय का सम्पर्क धुए से है। घडे के प्रत्यक्ष ज्ञान की अवस्था मे घडे के द्वारा निर्धारित चेतनता उस घडे पर पडती हुई अन्त.करण की वृत्ति

1 सुरेश्वर अपने नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रंथ मे आगम प्रमाणों तथा लौकिक प्रमाणो मे भेद प्रतिपादन करता है। और भी देखें सक्षेप शारीरिक, 2 · 21।

2 देखें वेदान्त परिभाषा।

3 अनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानत्व प्रमात्वम् (वही, 1)। यह परिभाषा उसी एक पदार्थ के 'धारावाहिक बुद्धि' के विषय मे भी लागू होती है, क्योकि इसके अन्दर प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है।

4 सम्पर्क छ *प्रकार का माना गया है सयोग, अथवा* घडे रूप पदार्थ (विषय) तथा चक्षु इन्द्रिय मे। सयुक्त तादात्म्य अथवा घड़े के घटत्व का सम्पर्क, सयुक्ता भिन्न तादात्म्य अथवा घडे के रग या रजित्व के साथ सम्पर्क तादात्म्य अथवा शब्द के साथ सम्पर्क जो कि आकाश का गुण है और उससे भिन्न नही है, तादात्म्यावदभिन्न, अथवा शब्द के शब्दत्व के साथ सम्पर्क और विशष्य-विशेषण-भाव अथवा सोपाधिक का उपाधि के साथ सम्पर्क। देखें, वेदान्तपरिभाषा और शिखामणि।

द्वारा निर्धारित चेतनता के समान हो जाता है ठीक जैसेकि एक कमरे के अन्दर रखे हुए पात्र का अन्तर्गत आकाश स्वयं कमरे के अन्तर्गत आकाश के साथ एक समान हो जाता है। परमार्थ चैतन्य की परिमितता लाने वाली अवस्थाएं अर्थात् परिवर्तन तथा पदार्थभेद उत्पन्न नहीं करते क्योंकि वे दोनों एक ही स्थान में हैं। यह एकीकरण घड़े के बोध को स्वरूप से निरन्तर स्थायी बना देता है।[1] और प्रत्यक्ष को अनुमान से स्पष्टरूप में भिन्न लक्षित कर देता है। फलितार्थ यह है कि प्रत्यक्ष में प्रस्तुत तत्त्व तथा उसकी व्याख्या मिलकर एक संयुक्त इकाई हो जाती है। किन्तु अनुमान के व्यापार में प्रस्तुत तथा अनुमित तत्त्व एक दूसरे से भिन्न रखे जाते हैं। अनुमान में मन केवल पदार्थ का चिन्तन करता है किन्तु बाहर उससे सम्पर्क करने नहीं जाता। प्रत्यक्ष स्मृति से सर्वथा भिन्न है क्योंकि स्मृति केवल भूतकाल की घटनाओं की ही होती है। इससे बढ़कर भी एक और प्रतिबन्ध का वर्णन किया गया है वह यह कि पदार्थ (विषय) और मानसिक वृत्ति अवश्य वर्तमान काल के साथ सम्बद्ध होने चाहिए।[2]

अनुमान भिन्न-भिन्न प्रकार का माना गया है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान से वह प्रत्यक्ष ज्ञान भिन्न है जो इन्द्रियजन्य नहीं है। इच्छा इत्यादि का जो आंतरिक प्रत्यक्ष है वह दूसरे प्रकार के प्रत्यक्ष की कोटि में आता है। प्रत्यक्ष की व्याख्या के लक्षण की विशेषता ज्ञानेन्द्रिय की मध्यस्थता में नहीं है अपितु पदार्थ-सम्बन्धी विशिष्ट चेतनता तथा प्रमाण-सम्बन्धी चेतनता के तादात्म्य में है।[3] जब हम सुख का और इसीके समान अन्य आंतरिक अवस्थाओं का प्रत्यक्ष करते हैं तो दो मर्यादा बांधने वाली अवस्थाओं का, अर्थात् सुख तथा सुख की मानसिक वृत्ति का, एक ही स्थान में उपस्थित होना आवश्यक है। तो भी यह मान लिया गया है कि धर्म और अधर्म (पुण्य और पाप), यद्यपि ये अन्तःकरण के गुण हैं, प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। इसके समाधान में इससे अधिक उत्तम और कुछ नहीं कहा जाता कि ये प्रत्यक्ष के लिए उपयुक्त विषय नहीं हैं। उपयुक्तता एक अनिवार्य आवश्यकता है।[4] यह निर्देश करने के लिए कि कौन-से पदार्थ उपयुक्त हैं और कौन-से नहीं, अनुभव ही हमारा एकमात्र मार्ग-प्रदर्शक है। जबकि दृश्यमान पदार्थ मानसिक वृत्ति के साथ संयुक्त हैं जैसेकि इस कथन में कि "तू दसवां है"[5] तो प्रत्यक्ष-सम्बन्धी बोध मौखिक कथन द्वारा होता है। "मैं मधुर चन्दन

1 जहां एक ओर गन्धग्रहण करने तथा रस लेनेवाली तथा स्पर्श गुणवाली इन्द्रियां अपने-अपने विषयों का ज्ञान अपने स्थानों को बिना छोड़े भी कराती हैं वहां दूसरी ओर दृष्टि तथा श्रवणविषयक इन्द्रियां अपने विषयों तक चलकर पहुंचती हैं। शब्द के सम्बन्ध में लहर की प्रकल्पना को समर्थन प्राप्त नहीं है।

2 वर्तमानत्वम्।

3 प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति।

4 योग्यत्व। जब अन्तःकरण तथा उसके गुणों को साक्षी के द्वारा प्रत्यक्ष का विषय कहा जाता है तब भी ज्ञात विषयों का साहचर्य वृत्ति के साथ रहता है और यह वृत्ति अन्तःकरण तथा इसके गुणों के रूप में होती है। साक्षीरूप आत्मा के द्वारा बोधग्रहण का तात्पर्य बिना वृत्ति की बोधक्षमता नहीं है किंतु इसका तात्पर्य केवल इन्द्रियों की मध्यस्थता का अभाव अथवा अनुमान अथवा ऐसे ही अन्य प्रमाणों का अभाव होता है। जब अन्तःकरण की वृत्ति का बोध होता है तो बोधकर्ता का दूसरी वृत्ति के साथ साहचर्य होना आवश्यक नहीं है और इसी प्रकार अनन्त समय तक, क्योंकि पहली वृत्ति अपना विषय अपने-आप बन जाती है। वृत्तेः स्वविषयत्वाभ्युपगमेन।

5 देखो, पञ्चदशी, 7 : 23 और आगे।

की लकडी को देखता हू" इस प्रकार के कथन द्वारा प्रकट किया गया ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। जहा तक चन्दन की लकडी का सम्बन्ध है तथा जहा तक मधुरगन्ध का सम्बन्ध है वह दृष्टि का विषय नही है, इसलिए ज्ञान का उतना अश अप्रत्यक्ष है। इसलिए प्रत्यक्ष की परिभाषा, इस प्रकार की जाती है, "यह वह अन्तिम चेतना है जो ऐसे पदार्थ से विशेष रूप से सम्बद्ध है जो वर्तमान काल मे अवस्थित है और इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे ज्ञात होने की क्षमता भी रखती है तथा उस वृत्ति की अन्तिम चेतना मे जिसने पदार्थ की आकृति धारण की है तादात्म्य रूप धारण कर लेती है।"[1]

सविकल्प तथा निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे भेद है, इसे स्वीकार किया गया है। सविकल्प प्रत्यक्ष मे हमे निर्णीत वस्तु अर्थात् घडे तथा निर्णय करने वाली प्रवृत्ति घटत्व मे भेद प्रतीत होता।[2] निर्विकल्प ज्ञान मे निर्णायक सब गुण-दृष्टि से ओझल रहते हैं। 'स' और 'प' मे ऐसा कोई भेद वर्तमान नही है जैसाकि इन कथनो मे भेद है जैसे 'वह तू है', 'यह वह देवदत्त है।' 'वह तू है' इस कथन मे चूकि बोधकर्ता पदार्थ है बोधकर्ता की चेतना तथा उस वृत्ति की चेतना मे जो बोधकर्ता की आकृति मे है, कोई भेद नही है।[3] हम इस कथन के आशय का ग्रहण इसके विभिन्न अशो के सम्बन्ध का ग्रहण किए बिना भी कर लेते है।

एक अन्य भेद बोधकर्ता के आधार पर भी किया जाता है। चाहे वह जीवशक्ति हो, चाहे ईश्वरशक्ति हो। जबकि जीव अन्त करणविशिष्ट अन्तिम चैतन्य है, जीवशक्ति भी वही चेतना है, जिसमे अन्त करण की उपाधि लगी हुई है। अन्त करण जीव के सगठन मे अन्त प्रवेश करता है किन्तु जीवशक्ति का निरीक्षण करते समय यह बाहर अवस्थित होता है। पहली अवस्था मे यह विशेषण है एव पिछली अवस्था में एक उपाधि (मर्यादा) है।[4] ईश्वर तथा ईश्वरशक्ति के सम्बन्ध से अन्त करण का यह स्थान माया ले लेती है। जबकि माया से विशिष्ट परम चैतन्य ईश्वर है, वही चैतन्य माया की उपाधि से ईश्वरशक्ति है। ईश्वर का साकार केन्द्र के रूप मे जगत् के साथ वही सम्बन्ध है जो जीव का इस शरीर के साथ है।

भ्रांतिमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान का, जैसे सीप को चादी समझ लेने के प्रत्यक्ष ज्ञान का, भी अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। जब किसी प्रकार के दोष से ग्रस्त आख का सम्पर्क किसी प्रस्तुत प्रमेय पदार्थ के साथ होता है, जैसेकि मोतियाबिन्द और तत्समान रोगो मे, तो अन्त करण का एक परिवर्तितरूप, इस

1 तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वम्, तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तदशे प्रत्यक्षत्वम्। और भी देख, विवरणप्रमेयसग्रह, 1, 1।

2 घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यम्।

3 यह कहा जाता है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे केवल सब प्रकार के विशेषों से रहित होने का ही बोध होता है। "महासामान्यमन्ये तु सत्ताम्" (न्यायमजरी, पृष्ठ 98)। जयन्त उक्त मत की समीक्षा इस आधार पर करता है कि यदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष हमे केवल सत् की ही प्रतीति कराता है तब सविकल्प प्रत्यक्ष में विशेष लक्षणो का प्रत्यक्ष नही हो सकता। इसके अतिरिक्त किसी पदार्थ के अस्तित्व का प्रत्यक्ष उसके गुणों से पृथक् नही किया जा सकता। न च भेद विना सत्ता ग्रहीतुमपि शक्यते (न्यायमजरी, पृष्ठ 98)।

4 किसी पदार्थ का गुण उसकी पहचान करने वाला अनिवार्य लक्षण है जैसे कि कमल मे उसकी नीलिमा। उपाधि पहचान कराने वाला लक्षण है किन्तु यह लक्षण पृथक् हो सकता है जैसकि किसी स्फटिकमणि के समीप का लाल फूल जो उसकी उपस्थिति के कारण लाल प्रतीत होता है।

पदार्थ तथा इसकी चमक की आकृति में, उदय होता है। अविद्या[1] के बल से जिसके साथ चांदी के भूतकाल के बोध के अवशेष भी सयुक्त हो जाते हैं भ्रांतिरूप चांदी देखनेवाले के आगे प्रस्तुत होती है और चांदी के समान सीप की चमक से वे अवशेष पुनरुज्जीवित हो उठते हैं। अविद्या के परिवर्तित रूप में चांदी पदार्थ विशेष (इदम्) की चेतना के अन्दर निवास करती है। भ्रांतिरूप चांदी का अधिष्ठान अन्तिम चैतन्य अपने-आपमें नहीं है अपितु उसी पदार्थ विशेष में है। भ्रांतिमय प्रत्यक्ष ज्ञान में हमारे आगे दो वृत्तियां होती हैं, एक इदम् की और दूसरी प्रतीतिरूप चांदी की। पहला तो यथार्थ प्रत्यक्ष है और दूसरे के कारणों में से एक स्मृति है। वहां पर कुछ समय के लिए 'शुक्त्यविद्या परिणाम' के रूप में चांदी के होने की कल्पना की जाती है। वही चेतनता दोनों वृत्तियों को एकसाथ मिला देती है जिनमें से एक यथार्थ और दूसरी मिथ्या है और इस प्रकार मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है। यहां तक कि भ्रांतिरूप पदार्थ भी केवल कुछ भी न हो ऐसा नहीं है अन्यथा भ्रांति ही न होती। जब हम किसी पदार्थ को भ्रान्तिरूप कहते हैं तब हम स्वीकार कर लेते हैं कि यह कुछ है किंतु इसे हम भ्रांतियुक्त इसलिए कहते हैं कि ससार में इसका वह रूप नहीं है जिस रूप का यह दावा रखता है।[2] यद्यपि शंकर के अध्यात्म ज्ञान की दृष्टि में यथार्थ चांदी भी नितान्त रूप से यथार्थ नहीं है अर्थात् आनुभविकरूप, यथार्थ चांदी तथा प्रतीतिरूप चांदी में अन्तर है। प्रतीतिरूप चांदी का प्रत्यक्ष केवल वैयक्तिक है। इस प्रतीतिरूप चांदी का बोध केवल साक्षीरूप आत्मा को ही होता है[3] और सुख व दुःख के समान अन्य आत्माओं के लिए इसका बोध अगोचर है।[4]

अद्वैत के अनुसार प्रत्यभिज्ञा (पहचान) एक प्रत्यक्ष सम्बन्धी प्रक्रिया है जिसमें भूतकाल के अनुभवों के अवशेषों के कारण परिवर्तन होता है। अद्वैत प्रत्यभिज्ञा के लिए न केवल पदार्थ के तादात्म्य पर ही बल देता है अपितु बोध

1 न्यायामृत का रचयिता प्रश्न करता है कि क्या यह अविद्या भी अनादि है जोकि जब हम रस्सी को साप समझ लेते हैं उस समय अपना कार्य करती है। हमारे विशेष मिथ्या ज्ञान प्रारम्भिक अविद्या के मूर्तरूप अभिव्यक्तरूप हैं। तुलना कीजिए, मूल अथवा प्रारम्भिक अविद्या तथा 'तूल' अथवा गौण अविद्या के रूपों में।

2 इस मत के आधार पर सीप के स्थान पर चांदी की उत्पत्ति उसी प्रकार से यथार्थ है जिस प्रकार अन्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति इस ससार में है, क्योंकि प्रत्येक कार्य उस अविद्या के अधिष्ठान में रहता है कि जिसमें से यह उत्पन्न होता है। नैयायिकों का मत है कि प्रतीतिरूप चांदी की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं है। अन्य स्थान पर देखी गई चांदी भ्रांतिरूप बोध का विषय है और भ्रांति एक अशुद्ध निर्णय की अवस्था है। अद्वैतवादी उत्तर में कहता है कि बोध का विषय यद्यपि भ्रांतिमय है फिर भी तत्काल उपस्थित है और इसलिए अन्यत्र और एक भिन्न काल में देखा गया एक चांदी का टुकड़ा वर्तमान प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इस कठिनाई से उद्धार के लिए नैयायिक कहता है कि विषय के साथ सीधा इन्द्रियों का सम्पर्क नहीं है किन्तु केवल मध्यस्थयुक्त इन्द्रियपरहित सम्पर्क (प्रत्यासत्ति) है। किन्तु यदि हम इसे स्वीकार करें तो अनुमान भी कोई स्वतन्त्रप्रमाण नहीं रहेगा। यह आपत्ति कि यदि भ्रांतिरूप चांदी सुख दुःख की भांति हो आत्मा के ऊपर एक प्रकार के अध्यास का रूप है तब हमें अवश्य ऐसा कहना चाहिए 'मैं चांदी हूं' ठीक जैसे हम कहते हैं, 'मैं सुखी हूं, अथवा दुःखी हूं'। इसका निराकरण इस आधार पर किया जाता है कि 'मैं' और 'चांदी' दोनों का एक साथ अनुभव नहीं होता।

3 केवलसाक्षिवेद्य।

4. सुखादिवद् अनन्यवेद्य।

ग्रहण करनेवाली आत्मा के तादात्म्य पर भी बल देता है।

शकर आनुभविक जगत् को, जिसकी स्थापना तर्क के द्वारा होती है, स्वप्न तथा भ्रातिमय जगत् से पृथक् करते है।[1] तार्किक यथार्थता की पहचान के लिए स्थान, काल, कारण और विरोधाभाव इन शर्तों की पूर्ति आवश्यक है।[2] स्वप्न के पदार्थ उक्त पहचान मे सही नही उतरते।

यदि स्वप्न-जगत् कुछ भी यथार्थता का दावा रखता है, तो उसे चाहे वह शून्य पर ही क्यो न हो बराबर स्थिर रहना चाहिए किन्तु स्वप्न के अनुभवो का विरोध न केवल जागरित अवस्था के अनुभवो से ही होता है स्वय उसी स्वप्नावस्था मे भी विरोध हो जाता है। शकर इतना मानने की अनुमति देते है कि ऐसी स्वप्नावस्थाए जिनका महत्त्व भविष्यवाणीपूर्ण है, अपना अस्तित्व रखती हैं, यद्यपि स्वप्नगत पदार्थ अयथार्थ है। इस प्रकार जिन अर्थों मे जागरित जगत् यथार्थ है उन अर्थो मे तो स्वप्न-जगत् यथार्थ नही है।[3] स्वप्न मे देखे गए भ्रातिरूप कल्पनाजन्य पदार्थ बराबर रहते हैं जब तक कि इसकी पृष्ठभूमि मे वर्तमान यथार्थता का अन्तर्ज्ञान उदय नही होता। आपत्ति की जाती है कि स्वप्न के पदार्थों को जागरित अवस्था मे अवश्य रहना चाहिए क्योकि परमचैतन्य विषयक अन्तर्ज्ञान जो एकमात्र यथार्थसत्ता है जागरित अवस्था के अनुभव मे उत्पन्न नही होता। अद्वैतवादी बाधा और निवृत्ति मे भेद करता है। 'बाधा' मे कार्य अपने उपादान कारण के सहित नष्ट हो जाता है, किन्तु निवृत्ति मे कारण वर्तमान रहता है यद्यपि कार्य का अस्तित्व लोप हो जाता है। केवल यथार्थता का अन्तर्ज्ञान ही अविद्या का नाश कर सकता है क्योकि अविद्या ही प्रतीतिरूप जगत् का उपादान कारण है। जब कभी एक नई मानसिक वत्ति का उदय होता है अथवा कोई मौलिक दोष विलुप्त होता है तो निवृत्ति होती है। स्वप्न के पदार्थों का जागने पर तिरोभाव हो जाता है इसलिए नही कि यथार्थता का अन्तर्ज्ञान नही हुआ किन्तु इसलिए कि अन्य वृत्तिया उदय होती है तथा स्वप्नावस्था के दोष विलुप्त हो जाते हैं। सीप का ज्ञान होने पर चादीविषयक भ्राति अपने-आप दूर हो जाती है। स्वप्नावस्था की चेतनता स्मति का एक रूप है और इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान की अवस्थाओ से तात्त्विक रूप मे भिन्न है।[4]

1 शाकरभाष्य 3 2 1, 3।

2 देशकालनिमित्त सम्पत्तिरबाधश्च।

3 परमार्थिकस्तु नाय सध्याश्रय सर्गो वियदादिसर्गवत (शाकरभाष्य, 3 24)।

4 शाकरभाष्य 2 2 29। परवर्ती टीकाकारो का मत है कि यहा शकर अन्य सम्प्रदाय क मत का उल्लेख करते हैं (शाकरभाष्य 1 1 9)। और भी देखें 3 2 1 10। शकर का विश्वास है कि स्वप्न भी व्यक्ति के भूतपूर्व पुण्य व पाप के कारण प्रसन्नता तथा भय की उत्तेजना देते हैं (शाकरभाष्य, 2 3 18)। स्वप्नावस्था के अनुभव के आधार के विषय म कभी कभी यह कहा जाता है कि विशुद्ध सार्वभौम चैतन्य (अनवच्छिन्न चैतन्य) स्वप्ना का आधार है किन्तु इस मत के अनुसार अहकार से युक्त चैतन्य के बाहर भी स्वप्ना का आना आवश्यक है किन्तु यह स्वीकार नही किया जा सकता। साक्षीरूप आत्मा केवल ऐसी ही घटनाओ का प्रकाश कर सकती है जिनके साथ यह सहअस्तित्व रखती हो। दूसरी ओर यदि स्वप्ना का आधार अहकार द्वारा प्रतिबन्धित चैतन्य है (अहकाराद्यवच्छिन्न चैतन्य) तब स्वप्नद्रष्टा को अपने साथ एकात्म्यभाव से अथवा उनके अदर निवास करते हुए स्वप्न दीखने चाहिए। प्रस्तावित अधिष्ठान तथा स्वप्न का प्रत्यक्ष एकसमान सम्बन्ध में रहने चाहिए (तादात्म्य-सम्बन्ध) अथवा स्थान विशेष तथा उसमें स्थित वस्तु का सम्बन्ध (आधाराधेय सम्बन्ध) हो। तब स्वप्न के प्रत्यक्ष का रूप ऐसा होना चाहिए 'मै एक हाथी हू' अथवा

अद्वैत वेदान्त की प्रत्यक्ष ज्ञान-सम्बन्धी प्रकल्पना वैज्ञानिक पक्ष में एक प्रकार से अपरिष्कृत है यद्यपि इसका आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान का पक्ष अत्यन्त महत्त्व का है। अन्तःकरण तथा इसके उन परिवर्तनों-सम्बन्धी समस्त समस्या, जो पदार्थों की आकृति धारण करते हैं, का प्रतिपादन एक कट्टरता के रूप में किया जाता है। इसमें स्थान तथा आकृतियों के महत्त्व का कोई उल्लेख नहीं है जो इन्द्रियजन्य सामग्री समेत उक्त विचार को बनाते हैं। मौलिक चैतन्य एक द्वैतभाव नहीं किन्तु चैतन्य का एक पुञ्ज है और समस्त ज्ञान इसीके अन्दर पृथक् भाव से उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष-सम्बन्धी इस प्रकल्पना का काण्ट की प्रकल्पना के समान गुण यह है कि यह चैतन्य को केवल भौतिक परिवर्तन मानने की असम्भाव्यता को स्पष्टरूप में अंगीकार कर लेती है। चैतन्य को अवश्य ही आदिम तथ्य मानना चाहिए, जिसकी व्याख्या अचेतन घटकों की परिभाषा में नहीं हो सकती। जब अद्वैत यह कहता है कि तत्काल प्रत्यक्ष का विषयरूपी पदार्थ ज्ञाता से पृथक् अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता तो इसका तात्पर्य केवल यही होता है कि वह अधिष्ठान जो पदार्थ को धारण करके रखता है ज्ञाता के अधिष्ठान से भिन्न नहीं है।[1] चूंकि समस्त दृष्ट पदार्थों का अविरतत्व होना आवश्यक है इसलिए नित्य चैतन्य और केवल अभाव प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं।

16 अनुमान

अनुमान की उत्पत्ति व्याप्ति-ज्ञान के द्वारा होती है जोकि इसका निमित्त कारण है। "जब इस प्रकार का ज्ञान होता है कि व्याप्य पद के अन्दर गुण उपस्थित है जैसे 'पर्वत धुएं वाला है।' इस वाक्य से है और पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान की मानसिक प्रभाव की जागृति भी है इस रूप में कि 'धुआं बराबर अनिवार्य रूप से आग के साथ रहता है' तब परिणामस्वरूप इस अनुमान की उत्पत्ति होती है कि 'पर्वत पर आग है'।" व्याप्ति की परिभाषा यह है कि यह हेतु तथा साध्य के मध्य निरन्तर साहचर्यरूप से रहनेवाला सम्पर्क है जो हेतु के समस्त आधारों अर्थात् पक्षपद (लघुपद) में विद्यमान रहता है। इसकी प्राप्ति साध्य पद और हेतु के साहचर्य के पाए जाने तथा इनके पार्थक्य के कभी न पाए जाने से होती है।[2] निश्चित दृष्टान्त हमें व्याप्ति की ओर ले जाते हैं और इस व्याप्ति का समर्थन अभावात्मक साक्षी के द्वारा होता है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार यथार्थ अर्थों में अनुमान का आधार एक ऐसा साहचर्य है जिसका प्रकाश इस प्रकार के निश्चयात्मक कथन के द्वारा होता है, जैसे इस कथन में कि 'जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग भी होती है।' साहचर्य के ज्ञान का एक कथन अभावात्मक व्याप्ति में, जैसे 'जहां कहीं आग नहीं होती वहां धुआं भी नहीं रहता', हमें अर्थापत्ति अथवा संकेतात्मक तर्क की ओर ले जाता है। वस्तुतः केवल अभाव नाम की कोई वस्तु नहीं है और सब निश्चयात्मक वस्तुओं में कुछ-न-कुछ अभावात्मक

मेरे पास हाथी है' किन्तु स्वप्नद्रष्टा देखता है कि वह पहाड़ के ऊपर एक हाथी को देख रहा है और यह कि उक्त हाथी उससे अथवा अन्य किसीसे भी भिन्न है। तो भी जब तक पीछे के मत को स्वीकार नहीं किया जाता तब तक स्वप्नों की विविधता की व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि सार्वभौम चैतन्य समस्त जीवात्माओं के लिए सामान्य है और यदि यह स्वप्नों का आधार होता तब सब जीवात्माओं के स्वप्न एक समान होते।

1. प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः।
2. वेदान्तपरिभाषा, 2। सा च व्यभिचारज्ञाने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते।

अश विद्यमान रहता है। नितान्त निश्चयात्मक सम्बन्धो को (केवलान्वयी) जहा पर कि हेतु (मध्यमपद) तथा साध्यपक्षपद अनिवार्य रूप से प्रत्येक पक्ष-पद मे एक साथ पाए जाते हैं और कभी भी अनुपस्थित नही पाए जाते, जैसे इस कथन मे कि चूकि यह जाना जा सकता है इसलिए इसे नाम भी दिया जा सकता हे कभी साध्यपक्ष नही स्वीकार किया जाता क्योकि उनके विषय मे विपक्षी दृष्टातो का अभाव है। इसके अतिरिक्त चूकि प्रत्यक गुण अपने अभाव के विप-रीत पदार्थ है और सब गुण अभाव ब्रह्म की परम यथार्थसत्ता के अन्दर निहित हैं, जो ब्रह्म क गुणो से सर्वथा रहित है, इसलिए ऐसा कोई केवल निश्चयात्मक गुण ब्रह्म के विषय मे हो ही नही सकता। और चूकि ब्रह्म समस्त भेदो का निर-तर रहनेवाला आधार है इसलिए सब वस्तुओ के अभाव का भी अस्तित्व है। वारवरा तर्क रूप से यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है। अद्वैत स्वीकार करता है कि स्वार्थ के लिए जो अनुमान किया जाता है उसमे और परार्थ के लिए किए गए अनुमान मे परस्पर भेद है। पराथ अनुमान मे तीन अवयव होते हैं अर्थात साध्यपक्ष, हतु और दृष्टान्त, अथवा दृष्टान्त उसका विनियोग और निर्णय।

17 शास्त्रप्रमाण

अद्वैतवादी आगम अथवा शास्त्रप्रमाण को स्वतन्त्र रूप मे ज्ञान का साधन मानते हैं। कोई भी कथन उसके द्वारा उपलक्षित अर्थो मे निर्दोष प्रमाण है, यदि किसी अन्य प्रमाण के द्वारा वह असत्य सिद्ध न कर दिया जाए।[1]

> शकर शब्दो के स्फोट-सम्बन्धी सिद्धान्त की समीक्षा करते हैं और उपवर्ष के साथ सहमत होकर कहते हैं कि अक्षर ही शब्द हैं। ये अक्षर नष्ट नही होते क्योकि प्रत्येक बार जब जब उन्हें नये सिरे से प्रकट किया जाता है तो ये वही अक्षर हैं इस प्रकार उनका पहचान लिया जाता है।'[2] शब्द जाति अथवा आकृति का बोध कराते हैं व्यक्तियो का नही क्योकि ये सख्या म अनेक है। चूकि व्यक्तियो की ही उत्पत्ति तथा विनाश होते ह वर्गो (जातियो) की नही, शब्दो तथा उनसे जिन वर्गों का बोध होता है उन वर्गों के मध्य जो सम्बन्ध है उसे अपेक्षाकृत नित्य कहा गया है। एक शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता ह— साक्षात (शक्य) और उपलक्षित (लक्ष्य)। जातिगत व्याप्तियो को शकर न स्वीकार किया है और उन्हे अजन्मा बताया है किन्तु व्यक्ति उत्पन्न होत है।[3]

1 यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत ससर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद वाक्य प्रमाणम।

2 व अक्षर जिनसे मिलकर एक शब्द बनता है और जिनम एक व्यवस्था तथा सख्या महायक रूप म रहता ह, परम्परागत व्यवहार क द्वारा एक निश्चित सम्बध के साथ विशेष अर्थ म प्रविष्ट कर जात ह। जिस समय म उनका प्रयाग होता है व अपने को बोधग्रहण क लिए उक्त रूप म प्रस्तुत करत हैं तथा वह बोधग्रहण क्रमपूर्वक अनक अक्षरो का बोध करके अन्त मे समस्त पुञ्ज का ज्ञान प्राप्त करता ह और व इस प्रकार विना किसी भूल क उनके निश्चित अवबोध की सूचना देत हैं (शाकर भाष्य 1 3 28)।

3 अर्वाचीन अद्वैतवादी सार्वभौम व्याप्तियो के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करत क्योकि उनका ज्ञान न तो प्रत्यक्ष के द्वारा और न ही अनुमान के द्वारा होता है। भिन्न भिन्न व्यक्तियो म एक सी समान आकृति का दिखाई देना व्याप्तियो क अस्तित्व का प्रमाण नहीं ह। (न तावद गो गौरितिअभिन्नाकारग्राहिप्रत्यक्ष जातौ प्रमाणम्)। भिन्न भिन्न दृष्टान्तो म गौ का ज्ञान गोजाति की सत्ता का सकेत नहा करता क्योकि भिन्न भिन्न पात्रो म चन्द्रमा का ज्ञान जिनम इसका प्रतिबिम्ब पडता ह यह सिद्ध नही

जो कुछ हमें दिखाई देता है और अनुभव होता है उस सबकी तह में तथा पृष्ठ-भूमि में सार्वभौम (व्याप्ति के) सिद्धान्त रहते हैं। वे इस लोक के पदार्थों के परलोकगत आदिम रूप हैं। वे ऐसे आदर्शरूप नमूने हैं जिनके अनुरूप ईश्वर इस विश्व की रचना के लिए ढांचे गढ़ता है।

वेद नित्य ज्ञान है और सृष्टि के समस्त जीवों के लिए *त्रिकालाबाधित नियमों* का भण्डार है। वेद अपौरुषेय (अर्थात् मनुष्य की शक्ति से परे) है और वे ईश्वर के विचारों को प्रकट करते हैं।[1] वेदार्थ तो अवश्य नित्य है किन्तु स्वयं उसके मन्त्र नहीं हैं क्योंकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में फिर से उनका उच्चारण करता है। अद्वैतवादी यह स्वीकार करता है कि वेद अक्षरों, शब्दों तथा वाक्यों के संग्रह हैं और उनके अस्तित्व का प्रारम्भ सृष्टि से प्रारम्भ होता है और उनका विलोप प्रलय के साथ ही हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि आकाश तथा अन्य तत्त्व उदय होते और नष्ट होते हैं। "संसार के क्रम में बार-बार निरन्तर विघ्न पड़ते पर भी अनादि संसार के अन्दर एक सारभूत नित्यत्व है।"[2] कहा जाता है कि वेदों में विश्व के आदर्शरूप का विधान है और चूंकि संसार प्रवाहरूप से नित्य है वेद भी नित्य है। इसके अतिरिक्त क्रमागत संसारों की एक नित्य आकृति होने के कारण वेदों की प्रामाणिकता में किसी भी सृष्टियुग में कोई अन्तर नहीं आता।[3] जिन अर्थों में परम यथार्थसत्ता नित्य है, मूल आदर्शरूप आकृतियां उन अर्थों में नित्य नहीं हैं चूंकि वे सब अविद्या से उत्पन्न हैं। *शब्द से संसार की उत्पत्ति का तात्पर्य यह नहीं है कि शब्द संसार का ब्रह्म के समान उपादान* कारण है। शंकर कहते हैं, "यद्यपि सदा रहने वाले शब्दों का अस्तित्व है जिनका सार-तत्त्व उनके अपने नित्य स्थायी महत्त्वों (अर्थात् वे आकृतियां जिनका बोध उनसे होता है) से सम्बद्ध बोध कराने की क्षमता है, ऐसे व्यक्तिरूप पदार्थों को जिनके ऊपर वे शब्द लागू हो सकते हैं उक्त शब्दों से निर्मित कहा जाता है।"[4] ईश्वर, जिसे नित्य रूप से बुद्धि-स्वातन्त्र्य प्राप्त है और संकल्प शक्ति भी स्वतन्त्ररूप से उसमें है, इन शब्दों को स्मरण रखता तथा प्रत्येक सृष्टियुग में इन्हें व्यक्त करता है। उन शब्दों को वास्तविक रूप में प्रकट करना ही सृष्टिरचना है अथवा विषयनिष्ठ कारण है, जो त्रिकालाबाधित है। शंकर ने वेदों की प्रामाणिकता को *न्याय* और मीमांसा के विचारकों द्वारा दी गई

करता कि चन्द्रमा की कोई सार्वभौम जाति है। यह कथन करना भी कि हम प्रत्येक गौ के अंदर उसी एक गौ के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं सत्य नहीं है। और यदि यह सत्य भी हो तो भी इसका तात्पर्य यही है कि कुछ सामान्य गुण हैं किन्तु यथार्थवादी के अर्थों में वे सार्वभौम जातिगत गुण नहीं हैं। किसी एक गौ के ज्ञान में जातिगत व्याप्ति के सारतत्त्व नहीं मिलते। हम उन्हीं अवयवों की एक समान संख्या अथवा व्यवस्था को देखते हैं जो जातिगत तत्त्व में नहीं है। देखें, तत्त्वदीपिका, पृष्ठ 303। जातिगत व्याप्तियों की यथार्थता के विरुद्ध कि बौद्ध मतावलम्बियों द्वारा दिए गए हेतुओं की 'चित्सुखी' में पुनरुक्ति की गई।

1. शांकरभाष्य, 1 : 1, 3। तुलना कीजिए, प्लेटो : "ईश्वर का चित् ही विश्व की विवेकपूर्ण व्यवस्था है" (713, ई० जावेट का पाठ)।

2. 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदांत', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 70।

3. "वह महान् सत्ता जिसने, श्रुति के अनुसार (बृहदारण्यक उपनिषद्, 2 : 4, 10) एक लीला के रूप में बिना किसी परिश्रम के, मनुष्य के निःश्वास की भांति, ऋग्वेद तथा अन्य वेदों का आविर्भाव किया, जो समस्त ज्ञान की निधि हैं; और वही सत्ता देवता, पशुजगत्, मनुष्य, वर्ण तथा जीवन-सम्बन्धी आश्रमों इत्यादि के विभाग का कारण है ऐसी सत्ता को अवश्य ही सर्वज्ञ तथा सर्व-शक्तिमान होना चाहिए" (शांकरभाष्य, 1 : 1, 3)।

4. शांकरभाष्य, 1 : 3, 28।

युक्तियो से भिन्न युक्तियो के आधार पर सिद्ध किया है। वेद नित्य हैं और स्वत प्रकाश हैं क्योंकि वे ईश्वर के स्वरूप का प्रकाश करते हैं जिसके विचार उनके अन्दर दिए गए हैं। उनकी प्रामाणिकता स्वत सिद्ध तथा साक्षात् है वैसे ही जैसेकि सूर्य का प्रकाश हमारे आकृति-सम्बन्धी ज्ञान का साक्षात् साधन है।[1]

स्मृति अथवा परम्परा का प्रामाण्य निरपेक्ष नही है। इसे तभी स्वीकार किया जाता है जबकि यह श्रुति के अनुकूल हो,[2] क्योंकि श्रुति ही हमे ऐसा ज्ञान प्रदान करती है जो इन्द्रियो अथवा विचारशक्ति के द्वारा प्राप्त नही हो सकता।[3] प्रकृति तथा उसके गुणों से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञान का श्रुति भी उल्लघन नही कर सकती।[4] किन्तु धर्म और अधर्म-सम्बन्धी विषयो पर श्रुति एकमात्र प्रमाण है। यथार्थसत्ता को जानने के लिए अनुमान तथा अन्तर्दृष्टि का भी प्रयोग किया जा सकता है।[5]

18. विषयिविज्ञानवाद का निराकरण

शकर द्वारा किए गए यथार्थसत्ता के चित्रण मे से इस बाह्यजगत् के अपेक्षाकृत टिकाऊ ढाचे को निकाल नही दिया गया है। वे यह नही मानते कि एक कुर्सी या टेबल का प्रत्यक्ष ज्ञान एक मानसिक अवस्था का प्रत्यक्ष ज्ञान है क्योंकि इसका तात्पर्य होगा कि हम सब प्रकार की साक्षी से दूर भागते हैं और इस भौतिक विश्व को एक अमूर्त स्वप्न के रूप मे परिणत कर डालते हैं। 'हम अपने ज्ञान से बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को मानने (उपलब्धि) के लिए विवश हैं, क्योंकि कोई भी मनुष्य एक खम्भे अथवा दीवार को केवल ज्ञान का एक रूप नही मानता। किन्तु उसी खम्भे अथवा दीवार को जानने योग्य पदार्थ अवश्य मानता है। और प्रत्येक व्यक्ति ऐसा जानता है कि यह इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि वे व्यक्ति जो बाह्य पदार्थो का निषेध करते हैं वे ही ऐसा भी कहते हैं कि अन्दर मे जिस आकृति का ज्ञान हुआ, ऐसा प्रतीत होता है कि, वही बाहर है। 'ज्ञान तथा ज्ञान का विषय एक-दूसरे से भिन्न है।' ज्ञान की विविधता का निर्णय पदार्थो की विविधता से होता है। हम पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं, किन्तु केवल आभास-मात्र का चिन्तन नही करते। प्रत्यक्ष सम्बन्धी मानसिक क्रिया दृश्य पदार्थ की व्याख्या नही है किन्तु पदार्थ का स्वरूप मानसिक क्रिया का कारण है। किसी वस्तु की वैयक्तिक चेतना की उपस्थितिमात्र वस्तु का सब कुछ नही है यहा तक कि जब हम पीडा का अनुभव करते है तो यह केवल मात्र मानसिक प्रवृत्ति नही है। इसकी भी वैसी ही पदार्थनिष्ठ सत्ता है जैसी कि चेतनता के अन्य किसी विषय की है। हम वस्तुओ को प्रत्यक्ष देखते है जिस रूप मे वे हैं और वे जैसी हैं वैसी प्रतीत होती है। अध्यात्म-विज्ञान की दृष्टि से भी, जैसाकि हम देखेंगे, शकर पदार्थ की स्थापना करने के लिए विवश हैं क्योंकि चैतन्य केवलमात्र जानना और अभिज्ञता है। इसके अन्दर विषयवस्तु अथवा सम्बन्धाएं नही हैं। यह विशुद्ध लक्षणरहित पारदर्शक है। रग, प्रचुरता, गति तथा हलचल सब कुछ पदार्थ ही की अवस्था मे सम्भव है। चूंकि चैतन्य मे पदार्थों से परस्पर भेद है इसीलिए हम इन्द्रियो द्वारा अनुभव करने, प्रत्यक्ष करने, स्मरण करने, कल्पना करने चिन्तन करने, निर्णय करने, तर्क करने एव विश्वास करने मे भेद करते हैं। विशुद्ध

1 वेदस्य हि निरपेक्ष स्वार्थे प्रामाण्यम् रवरिव रूपविषये।
2 शाकरभाष्य, 2 1, 1।
3 भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, 3 66।
4 शाकरभाष्य, 1 1, 4, 1 3 7।
5 शाकरभाष्य, 1 1 2।

चैतन्य न देता है न लेता है। भ्रांतियुक्त प्रत्यक्ष का भी कुछ न कुछ विषय (ज्ञातव्य पदार्थ) रहता है। इसीलिए शंकर की दृष्टि में ब्रैडले के समान नितान्त सत्य नाम की कोई वस्तु नहीं है और न नितान्त भ्रांतियां ही हैं।[1] भेद केवल इतना है कि जहां यथार्थ विचार हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल होते हैं और हमारे यथार्थता सम्बन्धी क्रमबद्ध पूर्ण इकाई के विचार में ठीक बैठ जाते हैं मिथ्या विचार अनुकूल नहीं बैठते। जिस जगत् को हम देखते, स्पर्श करके अनुभव करते, स्वाद लेते, और सूंघते हैं वह ऐसा ही तात्त्विक है जैसा तात्त्विक कि मनुष्य का अस्तित्व है जो देखता, अनुभव करता, स्वाद लेता, और स्पर्शानुभव करता है।[2] एक पक्ष में अपने वर्ग विभागों समेत चित्त और दूसरे पक्ष में यह जगत् जिसका यह उक्त वर्गों द्वारा निर्माण करता है, एक समान ही तात्त्विक हैं। विषयी तथा विषय के अन्दर जो सहसम्बन्ध (सापेक्षता) है और जो समस्त आदर्शवाद का केन्द्रीय सत्य है उसे शंकर ने स्वीकार किया है, जिसने मनोवाद तथा यथार्थवाद दोनों ही का निराकरण किया है क्योंकि दोनों ही आनुभविक तथ्यों की व्याख्या करने के लिए अपर्याप्त हैं। शंकर विषयिनिष्ठ आदर्शवाद से ही अपनी स्थिति को भिन्न नहीं बतलाते बल्कि वे जागरित तथा स्वप्न की अवस्थाओं में भी भेद करते हैं। स्वप्न के अनुभवों का जागरित अवस्था के अनुभवों के साथ जहां विरोध होता है वहां जागरित अवस्था के अनुभव अन्य किसी अवस्था में मिथ्या सिद्ध नहीं होते (अर्थात् आनुभविक अवस्था में)।[3]

शंकर इस मत का तो खण्डन करते हैं कि संसार की वस्तुएं हमारी ही कल्पना से उत्पन्न छायामात्र हैं किन्तु एक आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद का समर्थन करते हैं, इस अर्थ में कि प्रमेय पदार्थ भी आत्मा के रूप हैं (विषयचैतन्य)। ज्ञान के वस्तु विषयों की अन्ततोगत्वा केवलमात्र प्रकृति अथवा गति या शक्ति का ही रूप तो नहीं माना जा सकता क्योंकि यह सब अपने-आपमें विचार के सामान्य प्रत्यय हैं। प्रमेय पदार्थ अपने लिए कोई अस्तित्व नहीं रखते और यदि वे मेरे अथवा तुम्हारे चैतन्य के वस्तुविषय नहीं हैं तो वे दैवीय चैतन्य के वस्तुविषय हैं।[4] दैवीय चैतन्य की दृष्टि में संसार की पद्धतियां विद्यमान हैं जो वस्तुविषयों तथा आत्माओं से भरपूर हैं और वे अपने वस्तुविषयों से अभिन्न हैं। एक शाश्वत दैवीय प्रत्यक्षद्रष्टा के कारण संसार की व्यवस्था बनी रहती है। परिमित शक्तिवाली आत्माओं तथा प्रमेय पदार्थों से वह श्रेष्ठ है क्योंकि उसका वस्तुविषय अनन्त है और वह अपने-आपमें परिपूर्ण है। वह सार्वभौम आत्मा है जो सृष्टि की रचयिता और विश्वमात्र के वस्तुविषयों से अभिन्न है। जिस प्रकार हम अपने निजी विषयवस्तु की व्यवस्था करते हैं उसी प्रकार ईश्वर

1 "अधिकतम व्याख्या की अवस्था के अतिरिक्त समस्त सत्य तथा मिथ्या ज्ञान मेरे मत में सापेक्ष कहे जा सकते हैं और अन्त में उनके अन्दर भेद केवल वर्ग-सम्बन्धी है" ('ट्रुथ एण्ड रियलिटी,' पृष्ठ 252)। बौद्धमत के विषयिविज्ञानवाद की शंकर के द्वारा की गई समीक्षा के लिए देखें, 'भारतीय दर्शन', प्रथम खण्ड, पृष्ठ 564-567।

2 प्रश्नोपनिषद् पर भाष्य करते हुए शंकर कहते हैं, "कोई पदार्थ है ऐसा नहीं कह सकते किन्तु वह जाना नहीं जा सकता। यह इसी प्रकार का कहना होगा कि एक दृश्य पदार्थ देखा गया है *किन्तु ज्ञात नहीं है। यदि ज्ञान नहीं तो ज्ञातव्य पदार्थ भी नहीं" (6 : 2)।*

3 नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदपि अवस्थायां बाध्यते (शांकरभाष्य, 2 : 2, 29)।

4 यहां तक कि बर्कले भी, जिसे विषयिविज्ञानवादी होने का दोषी कहा जाता है, एक ऐसे ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना करता है जो विश्व की समस्त क्रियाप्रणाली का प्रत्यक्ष ज्ञान करता है और इस प्रकार उन सब विचारों के लिए एक निश्चित स्थान बना देता है जिन्हें अन्यान्य विचारकों के मस्तिष्क में स्थान नहीं मिला।

ससार की पद्धतियो की व्यवस्था करता है। यह विस्तृत जगत् और दैवीय चैतन्य जिसके लिए यह अवस्थित है दोनो अधीन केन्द्रो मे सकुचित हो जाते है जो केवल आशिक रूप मे ही स्वतन्त्र है। समस्त विषय वस्तुओ का आधार दैवीय चैतन्य है और यदि इसे प्रगाढ रूप मे जाना जा सकता तो यह वास्तविक चैतन्य का अपार समुद्र होता। जब जीवात्मा प्रबुद्ध होता है तो वह उन सब सकुचित उपाधियो को तोड डालता है जो उसकी दृष्टि को सीमाबद्ध करती है, तब वह अनुभव करता है कि समस्त ससार बाहर और भीतर आत्मा से परिपूर्ण है उसी प्रकार जिस प्रकार कि समुद्र का जल नमक से भरा हुआ है। वस्तुत विश्व की कुल विषयवस्तुए अपने स्वरूप मे आध्यात्मिक हैं।[1] इस प्रकार आत्मा परमतथ्य है जो ज्ञान प्राप्त करने वाले विषयी तथा ज्ञातविषय दोनो से अतीत ह। और वही परम यथार्थ सत्ता है जिसके अतिरिक्त और किसीका अस्तित्व नही है। किन्तु जब एक वार हमारे सम्मुख विषयी-विषय की प्रतिद्वन्द्विता आ जाती है तो आत्मा सर्वोपरि विषय के रूप मे प्रकट होती है, जिसकी दृष्टि मे अन्य सब कुछ जिसका अस्तित्व विषय है और हम सब उसके अधीनस्थ विषयी है जिनके लिए ज्ञेय पदार्थो से युक्त ससार के कुछ अश ही दिए गए हैं। शकर के सिद्धान्त पर प्रहार करने का यह अफल उपाय है कि आत्मा ही सब कुछ है और यह कि भौतिक तथ्य तथा मानसिक आकृतिया हमारे लिए किसी अर्थ की नही हैं। वे इनका निराकरण नही करते। एक पारमार्थिक अध्यात्मज्ञान-सम्बन्धी समस्या का समाधान आनुभविक तथ्यो के द्वारा नही हो सकता।

शकर का सत्यविषयक सिद्धान्त वस्तुत आमूलपरिवर्तित आदर्शवाद है। तर्क-सिद्ध सत्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ के ऊपर आश्रित नही है। मीमासको के विरोध मे शकर का तर्क है कि जहा सत्य के आदर्श का अन्वेषण अथवा मनोवैज्ञानिक मूल्याकन की प्रक्रिया व्यक्ति[2] के अपने स्वतन्त्र चुनाव के ऊपर निर्भर कर सकती है मूल्याकन का विषय इन सबसे स्वतन्त्र है।[3] हम सत्य के अन्वेषण की क्रिया मे सलग्न हो सकते है या नही भी हो सकते है। यह हमारी इच्छा है, किन्तु यदि हम सत्यान्वेषण के कार्य को लेते हैं तो सत्य के स्वरूप को हमे मानना ही होगा।[4] ज्ञान की कभी रचना अथवा उत्पत्ति नही होती किन्तु सदा उसकी अभिव्यक्ति अथवा प्रकाश होता है। यह अभिव्यक्ति तो एक ऐहलौकिक प्रक्रिया हो सकती है किन्तु जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह कालातीत है। ज्ञान का कोई इतिहास नही है, किन्तु हमारे मानसिक जीवन का इतिहास है। प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के प्रकाश के, आनुभविक जीवन की परिधियो के अन्दर रहकर वाहकरूप साधन हैं।

19 सत्य की कसौटी

अद्वैतमत मे मानसिकवृत्ति का कोई विषय अवश्य होना चाहिए। वह विषय चाहे स्वय वृत्ति हो या अन्य कुछ। बाह्य विषय का बोधग्रहण कर सकती है, जबकि यह विषय के रूप मे परिवर्तित हो जाए, अथवा यह अपना ही बोधग्रहण कर सकती है।[5] बोध का बोध नाम की कोई वस्तु नही है क्योकि समस्त प्रकार के बोध स्वत प्रकाशित

1 शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद पर 2,1।
2 पुरुषचित्तव्यापाराधीना। शाकरभाष्य 1 2 4।
3 न वस्तुयाथात्म्यज्ञान पुरुषबुद्धयपेक्षम।
4 शाकरभाष्य 1 1, 4।
5 स्वविषयवृत्ति।

होते हैं। बोध ग्रहण की प्रक्रिया तथा उसके बोध की मध्यवर्ती कोई अन्य मानसिकवृत्ति नहीं होती। बोधग्रहण की चेतनता बिना किसी व्यवधान के साक्षात् तथा तात्कालिक होती है। एक मानसिक वृत्ति के बोधग्रहण में अव्यवहित बौद्धिक अन्तर्ज्ञान होता है।[1] बोधों को स्वप्रकाश कहा जाता है, जिसका तात्पर्य यह है कि ये अपने बोध के विषय स्वयं हैं।[2] ज्ञान अव्यवहित प्रत्यक्ष के रूप में यथार्थ है और वह उसी साधन के द्वारा प्राप्त होता है जिससे इसका ज्ञान होता है। समस्त ज्ञान सत्य ज्ञान है।

जो मिथ्या है उसके विषय में हम विचार नहीं कर सकते। यदि हम विचार कर सकें तो सत्य की प्राप्ति ही असम्भव हो जाएगी, क्योंकि सत्य के जिस किसी भी मानदण्ड को हम अंगीकार करें वह स्वयं विचार के अपने अन्दर की त्रुटि को पूरा करने में असमर्थ रहेगा, क्योंकि उक्त मानदण्ड का बोध स्वयं भी विचार की ही एक क्रिया होगी और इस प्रकार उसमें भी विचार की स्वाभाविक अनिश्चितता रूप दोष रहेगा। इसलिए हमें यहां स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि ऐसा कोई विचार नहीं है जो सत्य न हो और भ्रांति केवल ऐसा अभाव है जिसके कारण मनुष्यों की वासनाएं तथा निहित स्वार्थ हैं जो बुद्धि को आच्छन्न कर लेते हैं। यहां तक कि श्रुति की स्वीकृति भी सत्य के व्यक्तिगत तथा आन्तरिक रूप को नहीं बदल सकती क्योंकि श्रुति एक विशेष प्रकार के अनुभव का ही उल्लेख करती है जिसे कार्य-निर्वाहक रूप में सत्य करके माना जा सकता है।

जहां एक ओर समस्त ज्ञान अपनी यथार्थता का स्वतन्त्र साक्षी है, वहां इसका यह स्वप्रकाश स्वभाव हमारे अपने मनोवैज्ञानिक पक्षपातों के कारण छिपा रहता है और यह जानने के लिए कि आनुभविक ज्ञान निर्दोष है या नहीं आनुभविक कसौटियों यथा अनुरूपता, कार्यक्षमता तथा समवाय सम्बन्ध आदि का प्रयोग किया जाता। "किसी वस्तु की यथार्थता का प्रश्न मानवीय भावना के ऊपर निर्भर नहीं करता। यह स्वयं वस्तु के अपने ऊपर निर्भर करता है। एक खम्भे के विषय में ऐसा कथन करना कि यह या तो खम्भा है या एक मनुष्य है अथवा कुछ और है, इसकी सचाई को प्रकट करना नहीं है। यह खम्भा है मात्र यही सत्य है, क्योंकि यह वस्तु के स्वरूप के अनुकूल है।" सत्य की कसौटी वस्तुओं के विषय में उनकी वस्तुओं के साथ अनुकूलता में ही है।[3] शंकर इस विषय में सहमत हैं कि सत्य और असत्य दोनों का पदार्थरूप विषयों से सम्बन्ध रहता है। किन्तु परमार्थरूप में मात्र एक ही वस्तु यथार्थ है अर्थात् ब्रह्म और कोई भी विचार इसके साथ अनुकूलता नहीं रखता, और इस प्रकार हमारे समस्त निर्णय अपूर्ण हैं।

शंकर के अनुसार अविरोध (अबाध) का भाव ही सत्य की कसौटी है। ऐसा ज्ञान जिसके विरोध में कुछ भी न हो वही सत्य है।[4] सीपी छड़ी जल में पड़कर झुकी

1. केवल साक्षिवेद्यत्व।

2 भट्ट के इस सिद्धान्त को त्रुटियुक्त माना गया है कि ऐसा बोध जिसका अपना प्रत्यक्ष नहीं हुआ है किसी विषय को ग्रहण कर सकता है। और न ही कोई बोध किसी अन्य बोध का विषय हो सकता है क्योंकि बोध अचेतन पदार्थों (विषयों) के स्वरूप के नहीं होते। यही मत प्रभाकर का भी है। कुछ बौद्धों का मत है कि एक बोध अपना बोध कराता है तथा अपने को व्यक्त करता है। अद्वैतवादी का तर्क है कि एक बोध का ग्रहण अथवा प्रकाश अन्य बोध के द्वारा नहीं होता। यदि एक बोध अपने को बोध का विषय बना सकता तो वह अन्य बोध का विषय भी हो सकता है।

3 एवंभूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम् (शांकरभाष्य, 1 : 1, 2)।

4 तुलना कीजिए, भामती . अबाधितानधिगतासन्दिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम् (1 : 1, 4)। वेदान्तपरिभाषा भी देखें। अबाधितार्थविषयज्ञानत्वम्। "एक बोध केवल इसीलिए यथार्थ

हुई प्रतीत होती है जल के अन्तर्गत इसका टेढ़ापन आंख के लिए उतना ही यथार्थ है जितना कि स्पर्शेन्द्रिय के लिए इसका सीधापन है। स्पर्श आंख के मिथ्या निर्णय को सुधार देता है और इस प्रकार एक अधिक संगत सम्बन्ध को प्रकट कर देता है। यह परिभाषा सत्य के क्रमबद्ध अथवा सामंजस्यपूर्ण रूप के ऊपर बल देती है। किन्तु क्या हम सब वस्तुओं के एकत्व को समझने में सफल हो सकते हैं? क्या कोई व्यक्ति जीवन तथा विश्व के विषय में ज्ञान की पूर्णता का दावा कर सकता है? हम भूतकाल के विषय में तो स्वल्प ज्ञान रखते ही हैं, भविष्यत् का सर्वथा नहीं रखते और वर्तमान तो इतना विस्तृत है कि यह अनुभव के क्षेत्र की परिधि से भी अतीत है। जिस किसी के अन्दर किसी अन्य के अनुभव द्वारा आमूल परिवर्तन हो जाता है वह अपने-आपमें अथवा अपने विषय में सत्य नहीं है। स्वप्नावस्थाओं का विरोध जागरित अवस्था के अनुभवों द्वारा हो जाता है और जागरितावस्था के अनुभवों का प्रतिकार ब्रह्मानुभवरूप यथार्थता के अन्तर्ज्ञान से हो जाता है। यह उच्चतम सिद्धान्त है क्योंकि और कोई ज्ञान ऐसा नहीं है जो इसके विपरीत जा सके।[1] हम यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि ये सब कसौटियां फिर भी आनुभविक (संसारी) हैं। सर्वोच्च ज्ञान शंकर के अनुसार यथार्थता की अपने प्रति साक्षी है और यह इस तथ्य के द्वारा सम्भव हो सका है कि ज्ञाता और ज्ञात दोनों ही परमार्थरूप से एक हैं और यथार्थ हैं। तार्किक प्रमाण की उत्पत्ति केवल आनुभविक संसार में ही है जहां पर कि यह द्रष्टा तथा दृश्य का परस्पर अन्यभाव मनोवैज्ञानिक बाधाओं की रुकावटों के कारण अस्पष्ट रहता है जिन्हें एक शब्द में अविद्या की संज्ञा दी गई है। तार्किक प्रमाण बाधक पर्दों को छिन्न-भिन्न करने में सहायक होता है और सत्य के स्वप्रकाशस्वरूप को प्रकाश में लाता है। तर्कशास्त्र के नियम कार्यसाधक औजार हैं जो निषेधात्मक प्रतिबन्ध का काम करते हैं और इनके द्वारा हम अपने मानसिक पक्षपातों को दूर हटा सकते हैं।

20 तार्किक ज्ञान की अपूर्णता

तार्किक ज्ञान ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञातविषय के परस्पर भेद को प्रकट करता है[2] किन्तु यथार्थसत्ता इन सब भेदों से मुक्त है।[3] यदि यथार्थसत्ता में सम्बन्धों का प्रवेश नहीं है तो ऐसा विचार जिसके सम्बन्ध ही आधार हों अपूर्ण है। तार्किक ज्ञान अविद्या है क्योंकि यह वस्तुओं के सत्यस्वरूप का ज्ञान नहीं कराता। यथार्थस्वरूप आत्मा जो विशुद्ध चैतन्य है ज्ञान का विषय नहीं है। वह आत्मा कभी भी विषयी अर्थात् ज्ञान की प्रक्रिया का विषय नहीं हो सकती। सत्य चैतन्य में विषयी का विषय से सर्वथा अतिरिक्त होना चाहिए और इस प्रकार विषयी ज्ञाता में और कुछ शेष नहीं रह जाता। मन की किसी अवस्था में

न [illegible] है कि यह किसी पदार्थ को उसी रूप में प्रस्तुत करता है जिस रूप में कि वह वस्तुतः है और न यह इसीलिए ही असत्य है कि यह उस वस्तु को अन्य रूप में प्रस्तुत करता है किन्तु यह इसलिए यथार्थ है कि इसका विषय अन्त में जाकर असत्य सिद्ध नहीं हुआ और असत्य उस हालत में है जबकि अन्त में उसके विषय का निराकरण हो गया। और वस्तुतः यह यथार्थता ब्रह्म के ज्ञान में इसीलिए लागू होती है कि इस ज्ञान की उपलब्धि श्रुति द्वारा हुई है अन्य भिन्न साधनों से नहीं। (अद्वैतसिद्धि 1 12)

1 बाधकज्ञानान्तराभावात् (शांकरभाष्य 2 1 14)

2 अविद्याकल्पित वेद्यवेदितवेदनाभेदम् (शांकरभाष्य 1 1 4)।

3 सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह 12 47 और भी देखें अद्वैत मकरन्द पृष्ठ 19। देखें शांकर भाष्य गौडपाद की कारिका पर 4 67।

भी विषयी अपने सम्मुख एक विषय के रूप में उपस्थित नहीं होता।[1] कोई भी वस्तु विषय का रूप तभी धारण करती है जब कि हम उसके विषय में देश और काल से सम्बद्ध रूप में विचार करते हैं किन्तु देश और काल दोनों ही तथा वे पदार्थ भी जिनका सम्बन्ध इन दोनों से है उस आत्मा के सम्बन्ध के कारण ही अपना अस्तित्व रखते हैं जो उन्हें एक साथ संयुक्त रखती है। इस प्रकार ज्ञान का सार्वभौम साक्षी अव्यक्त तथा अदृश्य है।[2] समस्त ज्ञान में यथार्थतत्त्व को ज्ञान का विषय बनाने की असम्भाव्यता ही अतीतता का कारण है। चूंकि ज्ञान की प्रक्रिया केवल परम यथार्थसत्ता की अभिव्यक्ति ही है और कुछ नहीं, यथार्थसत्ता को आत्मचैतन्य की प्रक्रिया के अन्दर ग्रहण करना असम्भव है। चूंकि आत्मा काल तथा देश एवं समस्त विषय समूह की पृष्ठभूमि है, इसे इसके द्वारा आविर्भूत जगत् की सीमाओं में आबद्ध करना चक्रक दोष है। "मैं तुम्हें किस प्रकार जानूंगा ?" यह एक निरर्थक प्रश्न है, जैसा कि सुकरात के प्रति किया गया क्रीटो का वह प्रश्न था कि "मैं तुम्हें कैसे दूर कर सकूंगा ?"[3] आत्मा के सम्बन्ध में आत्मचेतना केवल अन्तःकरण की उपाधि के द्वारा ही सम्भव है।[4]

शंकर सम्पूर्ण तार्किक ज्ञान की अपूर्णता का समर्थन इसे पशुओं के ज्ञान के समान निर्देश करके करते हैं।[5] "क्योंकि जिस प्रकार पशु, दृष्टान्त के रूप में, जब एक शब्द उनके कानों में पड़ता है और यदि वह शब्द उनके अनुकूल नहीं होता है तो उससे दूर हट जाते हैं, और यदि उनके अनुकूल होता है तो उसके समीप आ जाते हैं, तथा जैसे कि जब वे किसी मनुष्य को अपने सम्मुख डण्डा पकड़े देखते हैं तो यह सोचकर कि 'यह

1 देखें, शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद् पर, 2 : 1।

2 अव्यक्तमतीन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात् (3 : 3. 23)।

3 सुकरात क्रीटो के द्वारा उन तर्कों को वैधता स्वीकार कर लेने पर, जिनका झुकाव यह दिखाने की ओर था कि सुकरात न तो भौतिक है और न ही दैशिक है और इस प्रकार उसे भूमिसात् नहीं किया जा सकता, तुरन्त ऐसा प्रश्न पूछने के लिए उसे फटकारता है।

4 इस आत्मा को पहचाना भी जा सकता है। जहां पहचान करने वाला अन्तःकरण की उपाधियुक्त आत्मा है, वहां पहचान का विषय पूर्व तथा पश्चात् के भौतिक अनुभवों की उपाधियुक्त लौकिक आत्मा है। प्रतिबन्धरूपी सहायकों के कारण यह सम्भव हो सकता है कि आत्मा एक ही समय में कार्य का कर्ता तथा विषय भी बन सकती है। साक्षात् चैतन्य पहचान के कार्यों को इस रूप में आने का निर्णय कर देता है, जैसे "मैं अब वही व्यक्ति हूं जो पहले था।" इसके साथ कांट की प्रकल्पना की तुलना कीजिए, "इस 'मैं' अथवा 'वह' अथवा 'इस' (वस्तु) के द्वारा जो विचार करता है हमारी चेतनता के सम्मुख एक अतीन्द्रिय अनाम विषयी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं आता जिसका ज्ञान केवल उन विचारों के द्वारा होता है जो इसके विधेय हैं (अथवा ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जिसे यह अन्य वस्तुओं के साथ विधेय के रूप में संयुक्त करता है) और जिसके विषय में, यदि इसे अन्य वस्तुओं से पृथक् कर दिया जाए तो, हमें अणुमात्र भी विचार नहीं हो सकता। इसका ज्ञान ग्रहण करने में, वस्तुतः हम इसके चारों ओर निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं क्योंकि इसके सम्बन्ध में कोई भी निर्णय करने के लिए हमें सदा ही इसका उपयोग करना आवश्यक होता है। इसलिए यहां पहुंचकर हम एक विकट मार्ग में पड़ जाते हैं जिससे बचने का कोई उपाय नहीं है क्योंकि जिस चैतन्य का वर्णन है ऐसा विचार नहीं है जो हमारे लिए कोई विषय विशेष छांटकर रख दे, किन्तु यह एक ऐसी आकृति है जो उन समस्त विचारों से सम्पृक्त रहती है। जहां तक उनका पदार्थों से सम्बन्ध है, अर्थात् जहां तक किसी भी वस्तु का विचार उनके द्वारा होता है।" (केयर्ड : 'क्रिटिकल फिलॉसाफी आफ कान्ट', खंड 2, पृष्ठ 25)। डेसकार्ट का विचार है कि चूंकि किसी विषय के अमूर्त रूप को विचार में लाना सम्भव है एवं समस्त निर्णयों से मुक्त करना भी सम्भव है इसका अस्तित्व प्रमेय पदार्थों के अन्दर प्रमेय पदार्थ के रूप में है। एक तार्किक सम्भावना को वास्तविक अस्तित्वयुक्त द्रव्य के रूप में रूपान्तरित कर दिया गया है।

5 पश्वादिभिश्चाविशेषात् (शांकरभाष्य, प्रस्तावना)। देखें, 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 57, पादटिप्पणी।

मुझे इससे मारेगा' बचने का प्रयत्न करते हैं किन्तु जब वे किसी को अपने हाथ मे मुट्ठी-भर ताजी घास लिए हुए देखते है तो उसके पास खिचे चले आते हैं—इसी प्रकार ऐसे मनुष्य जिनका ज्ञान अधिक परिष्कृत (व्युत्पन्न चित्त) है जब वे भयानक आकृति वाले बलिष्ठ आदमियो को देखते हैं जिनके हाथो मे नगी तलवारे हैं तो उनके आगे से भाग जाते हैं और दूसरी ओर मुड जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान के साधन तथा विषयो के सबध मे मनुष्य तथा पशुओ मे प्रक्रिया एक ही समान है। नि सन्देह पशुओ के विषय मे प्रत्यक्ष तथा उसके समान प्रक्रियाए पूर्व विवेक से रहित होती है, किन्तु जैसा कि सादृश्य से देखा जाता हे व्युत्पत्तिमान् पुरुषो मे भी कुछ समय के लिए उक्त प्रक्रियाए एक ही समान है।"[1] इस सबके अन्दर शकर की दृष्टि मे मानसिक क्रिया का चुनावपरक स्वभाव हे। विचार की हमारी समस्त प्रक्रिया के निर्णायक हमारे क्रियात्मक निजी स्वार्थ है। अन्त -करण हमे अपनी चेतनता को एक सकुचित परिधि के अन्दर ही एकाग्र करने मे सहायता प्रदान करता है जैसाकि एक गोल लालटेन अपना प्रकाश एक स्थान विशेष पर ही डालती है। वस्तुओ के 'क्या' सम्बन्धी ऐसे ही लक्षणो की ओर हम ध्यान देते है जिनका हमारे लिए कुछ महत्त्व होता है। यहा तक कि हमारे सामान्य नियम भी अपनी योजनाओ तथा हितो को ही लक्ष्य करके निर्मित होते हैं।

शकर इस विषय पर बल देते है कि तर्कपूर्ण विचार चाहे कितना ही विस्तृत क्यो न हो हमे यथार्थसत्ता के बोधग्रहण की ओर नही ले जा सकता। वाल्टेयर की दार्शनिक कल्पना ने ऐसे प्राणियो के विषय पर विचार किया है जिनके लगभग सहस्रो इन्द्रिया हैं और तो भी वे 'यथार्थसत्ता वास्तव मे क्या है' इसके पास तक नही पहुचते और उनसे कही न्यूनतम भाग्यशाली प्राणियो का तो कहना ही क्या जिनके कुल पाच ही ज्ञानेन्द्रिया है। यह ठीक-ठीक जानना कठिन है कि बाह्यजगत् विषयक हमारा ज्ञान, जिसका अन्वेषण विज्ञान करता है, कहा तक पदार्थनिष्ठ है। प्रकृति के विषय मे हम जितना ही अधिक चिन्तन करते हैं उतना ही अधिक इस प्रकार की धारणा रखना असम्भव प्रतीत होता है कि तार्किक ज्ञान की अवस्थाओ के अन्तर्गत जिस जगत् का हमे ज्ञान है वह अपने-आप मे कहा तक यथार्थ है। पाच ज्ञानेन्द्रिय रखने वाला मनुष्य अवश्य अन्धे मनुष्य की अपेक्षा अधिक जानता है। क्या यथार्थ अपने तार्किक अनुभव से अतीत नही है, ठीक जिस प्रकार देखा हुआ जगत् स्पर्श द्वारा ज्ञात जगत् से अधिक है? क्या ब्रह्मानुभव के समान अवस्था अथवा जिसे टैनीसन ने 'अन्तिम तथा महत्तम इन्द्रिय' मे कहा है हमारे यथार्थसत्ता-सम्बन्धी ज्ञान मे वृद्धि नही करती। जिस प्रकार से कि दृष्टि-शक्ति का उपहार अन्धे-मनुष्यो की जातिमात्र के ज्ञान मे वृद्धि कर देगा, इस प्रकार के मत मे जहा तक विज्ञान तथा साधारण बुद्धि का सम्बन्ध है सशयवाद को कोई स्थान नही है। जब तक हम उन्नत धरातल तक नही पहुचते, जहा केवल उच्चकोटि की बुद्धि से सम्पन्न मनुष्य ही पहुच सकते है, हम जिन निर्णयो पर पहुचते हैं वे सर्वथा प्रामाणिक हैं यद्यपि वे उसी धरातल तक रहेगे जिसपर उनके साध्यपक्ष हैं।

> जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, शकर अपने इस निर्णय पर बल देते हैं कि समस्त विचार एक मुख्य दोष से दूषित है, अर्थात् एक सूक्ष्म वितण्डावाद से, जिसका लक्ष्य यह दिखाना है कि मानवीय मस्तिष्क के द्वारा जिस भाव का भी उपयोग किया जाता है वह बुद्धिगम्य नही है। यद्यपि अनुभव के विषय मे

1 तुलना कीजिए डार्विन 'मनुष्य तथा उच्च श्रेणी के पशुओ म भेद महान ता है कि तु यह निश्चय ही केवलमात्र परिमाण का भेद है प्रकार सम्बन्धी भेद नही है' (डिसेंट आफ मैन)।

हम स्वतन्त्रतापूर्वक वार्तालाप करते हैं, हमारे लिए दृक् (चेतनता) तथा दृश्य (अर्थात् चेतनता के विषय) में परस्पर क्या सम्बन्ध है यह समझ सकना असम्भव है। चेतनता का सम्बन्ध उस विषय के साथ जिसे यह प्रकाशित करती है किसी न किसी प्रकार अवश्य होना चाहिए। यदि ऐसा न होता तो किसी भी समय में किसी प्रकार का भी ज्ञान हो जाता जिसका सम्बन्ध विषयों के स्वरूप से कुछ न होता। चेतनता तथा अपने विषय रूप पदार्थों के अन्दर न तो संयोग-सम्बन्ध है और न समवाय-सम्बन्ध है, अर्थात् न तो बाह्य सम्बन्ध है और न आभ्यतर सम्बन्ध। विषयनिष्ठता इस तथ्य मे नहीं है कि ज्ञातता विषय में उत्पन्न की जाती है, जैसा कि कुमारिल का मत है, क्योंकि यह कार्य स्वीकार करने योग्य नहीं है। यह कहना कि विषय वे हैं जिनका कुछ क्रियात्मक उपयोग है, ठीक नहीं है, क्योंकि कितने ही ऐसे निरर्थक पदार्थ है, जैसे कि आकाश, जो चेतनता के विषय हैं। विषयनिष्ठता का यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि एक वस्तु विचार के व्यापार का विषय है (ज्ञानकरण), क्योंकि यह केवल प्रत्यक्ष-विषयक पदार्थों पर ही लागू होता है, और स्मृतिविषयक अथवा अनुमानगम्य पदार्थों पर लागू नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष में तो चित्तवृत्ति पदार्थ-रूप विषय के रूप के अनुकूल परिवर्तित हो जाती है किन्तु अनुमान द्वारा जाने गए पदार्थों में ऐसा नहीं होता। चेतनता तथा विषय रूप पदार्थों मे जिनका हमें ज्ञान होता है उसका ठीक-ठीक रूप क्या है यह हमें समझ में नहीं आता। वस्तुत समस्त जीवन तथा गति का सम्बन्ध विषय के पक्ष के ही साथ है जिसके साथ, हम केवल यही कह सकते हैं कि अलैक्जाडर के शब्दो में कि चेतनता सह-अस्तित्व रखती है और यह सह-अस्तित्व बुद्धिगम्य माना गया है क्योंकि विषयी और विषय एक-दूसरे के विपरीत नहीं हैं वरन् दोनो ही सार्वभौम चेतनता के अन्दर आ जाते हैं।

समस्त विचार यथार्थसत्ता को जानने तथा सत्य के अन्वेषण के लिए भी सघर्ष अवश्य करता है किन्तु दुर्भाग्यवश यह यथार्थसत्ता को जानने का प्रयास उसे अपने से अन्य के साथ सम्बद्ध करके ही करता है अन्यथा नहीं। यथार्थसत्ता न सत्य है न मिथ्या है। यह केवलमात्र सत् है। किन्तु हम अपने ज्ञान मे इसका उल्लेख किसी न किसी लक्षण के साथ ही करते हैं। समस्त ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा भावात्मक हो यथार्थ-सत्ता अथवा परम आत्मा को व्यक्त करने का प्रयास करता है।[1] यद्यपि प्रत्यक्ष एक वर्तमान काल-गत घटना है, अपने होने से पूर्व तथा पश्चात् इसका अस्तित्व नहीं है, और तो भी यह एक यथार्थता की अभिव्यक्ति है जो समय से बद्ध नहीं है यद्यपि उस यथार्थ-सत्ता से न्यून है जिसे व्यक्त करने का यह प्रयास करती है। जहा तक यथार्थता के ग्रहण की अपूर्णता का सम्बन्ध है ज्ञान के समस्त साधन एक ही स्तर पर हैं। समस्त निर्णय मिथ्या हैं इस अर्थ मे कि कोई भी विधेय जिसका हम विषय के गुणरूप में उपयोग कर सकते हैं उसके लिए पर्याप्त नहीं है। या तो हमें ऐसा कहना पड़ेगा कि यथार्थसत्ता यथार्थसत्ता है अथवा हम यों कहें कि यथार्थता क, ख अथवा ग है। पहले प्रकार का कथन विचार के लिए अनुपयोगी है किन्तु दूसरे का कथन ऐसा है जो वस्तुतः विचार करता है। यह यथार्थता को किसी अन्य वस्तु के समान कर देता है अर्थात् अयथार्थ के समान। यथार्थ के अन्दर ऐसे गुणों का आधान करना जो इससे

1. प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव (वेदान्तपरिभाषा, 1)।

भिन्न हैं वही है जिसे शकर अध्यास के नाम से कहते है, अर्थात किसी वस्तु को ऐसा मान लेना जिससे वह भिन्न है।[1] अध्यास की परिभाषा यह है कि ऐसी वस्तु का कहीं भास होना जहा वह न हो।[2] जब प्रकाश द्विगुण दिखाई देता है अथवा जब रस्सी साप की भांति प्रकट होती है हमे अध्यास का उदाहरण उपलब्ध होता है। सान्त वस्तुओ का समस्त ज्ञान एक अर्थ मे विशुद्ध सत् का अभाव है क्योकि एकमात्र नित्य चेतनता के ऊपर पदार्थरूप विषयो का अध्यास किया जाता है। इस अध्यास का सबसे अधिक आकर्षक दृष्टान्त विषयी तथा विषय को एक साथ मिला देना है[3] जहा पर हम क्रियाशीलता, कर्तृत्व तथा सुखोपभोग उसी आत्मा के गुण समझ लेते हैं। यथार्थ मे विषयी ज्ञाता से भिन्न कुछ भी नही है क्योकि यथार्थसत्ता के विषयी (ज्ञाता) मे वह सब कुछ समाविष्ट है जो कुछ सम्भवत हम उसके विषय मे कह सकते है। विषयी ज्ञाता के विषय मे जो कुछ हम कहते हैं, उस यथार्थसत्ता से बहुत न्यून है तथा उसका केवल आभासमात्र है। "विषय और विषयी, जिनका क्षेत्र 'युष्मत' (तुम) और 'अस्मत (मैं) दोनो का प्रस्तुतिकरण है, एक-दूसरे के विपरीत हैं जैसे अधकार व प्रकाश। विषय जिसका क्षेत्र 'तुम अथवा अनात्म है तथा उसके गुणो का विशुद्ध आध्यात्मिक विषयी मे, जिसका क्षेत्र आत्मा अथवा 'मैं' है, सक्रामण करना तथा इसके विपरीत विषयी तथा इसके गुणों का विषय के प्रति सक्रामण करना तार्किक दृष्टि से असत्य है। तो भी मनुष्य जाति के अन्दर उक्त व्यवहार, मिथ्या ज्ञान के कारण (मिथ्या ज्ञान निमित्त) सत्य तथा असत्य का परस्पर जोडा बनाने के सबध मे (अर्थात विषयी तथा विषय) नैसर्गिक (स्वाभाविक) है इसलिए वे एक के सत तथा गुणो का दूसरे मे सक्रमण कर देते हैं।'[4] "अविद्या की ओर ले जाने वाले अध्यास मे उन सब क्रियात्मक भेदो की पूर्व कल्पना की जाती है जो साधारण जीवन तथा वेदो मे, साधनो तथा ज्ञान मे, ज्ञान के विषयो (तथा ज्ञाताओ) और सब अध्यात्म शास्त्रो मे किए जाते हैं, चाहे उनका सम्बन्ध कर्म से हो अथवा ज्ञान से।"[5] ज्ञान के समस्त साधन केवल तभी तक प्रामाणिक हैं जब तक कि परम सत्य की प्राप्ति नही हो जाती[6] और इस प्रकार परिमित ज्ञान का सापेक्ष महत्त्व सम्मुख नही आता। वस्तुत हमारा समस्त ज्ञान अज्ञान (अविद्या) है और उस सबका निराकरण कर देने पर जिसे उसके ऊपर बलात् आरोपित किया गया है परमचैतन्य को

1 अध्यासो नाम अतस्मिंस्तदबुद्धि (शाकरभाष्य, प्रस्तावना)।

2 स्मृतिरूप परत्र पराबभासे।

3 आत्मनि क्रियाकारकफलाधारोपलक्षणम। काण्ट की अतीन्द्रिय भ्राति अध्यास का दृष्टान्त है जिसके द्वारा हम विचार करनेवाली आत्मा के सम्बन्ध मे ऐसे विचारो का प्रयोग करते हैं जिनका यह निर्माण करती तथा देश काल-सम्बन्धी अवस्थाओ के अन्दर प्रस्तुत घटनाओ पर लागू करती है तथा विचारक आत्मा को एक ऐसा द्रव्य मानती है जिसमे पदार्थ बाह्य हैं।

4 शाकरभाष्य प्रस्तावना देहादिष्वनात्मसु अहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या (शाकरभाष्य 15 3 3)।

5 मैं और मेरा का सम्बन्ध शरीर तथा इन्द्रियो आदि से हैं इस प्रकार के भ्रातियुक्त विचार के बिना किसी ज्ञाता का अस्तित्व नही रह सकता और परिणामस्वरूप ज्ञान के साधन प्रमाणो का उपयोग भी नही हो सकता। क्योकि बिना इन्द्रियो की सहायता प्राप्त किए प्रत्यक्ष भी नही हो सकता किन्तु बिना आधार (शरीर) के इन्द्रियो का कार्य भी सम्भव नहीं है और आत्मा के अस्तित्व को शरीर के साथ बिना मिलाए भी कोई कार्य सर्वथा असम्भव है और इन सबके कार्यों के सम्पन्न हुए बिना आत्मा को ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है क्योकि आत्मा शारीरिक अस्तित्व से स्वतन्त्र है। किंतु मान के कार्य के बिना ज्ञान भी सम्भव नही है। परिणामस्वरूप ज्ञान के साधन प्रत्यक्ष तथा अन्य का सबध अविद्या के क्षेत्र से है। शाकरभाष्यप्रस्तावना देखें ड्यूसन 'सिस्टम आव दि वेदांत', पृष्ठ 56 पादटिप्पणी, सर्वसिद्धातसारसग्रह 12 85 86।

6 शाकरभाष्य 1 1, 4।

निश्चयपूर्वक जान लेने का नाम विद्या अथवा ज्ञान है।[1]

विषयी तथा विषय, अर्थात् आत्मा तथा अनात्म से शंकर का आशय सर्वातीत यथार्थसत्ता और सांसारिक अस्तित्व से है। 'विषय' के अन्दर व्यक्तिगत कर्तृत्व, शारीरिक इन्द्रियां तथा भौतिक जगत् आदि सब समाविष्ट हैं। परमचैतन्य ही[2] विषयी है जिसके ऊपर समस्त विषय-जगत् आश्रित है। चेतनता के विषयों का यह एक विशेष लक्षण है कि वे अपने को चेतनता के विषय रूप में मानसिकवृत्ति के द्वारा व्यक्त होने के अतिरिक्त अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। यहां तक कि जब हम परम आत्मा के स्वरूप का ज्ञान श्रुति के मन्त्रों द्वारा प्राप्त करते हैं तो भी हम इसके सत्य स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। आत्मा का सत्य ज्ञान किसी भी आकृति तथा वृत्ति से विहीन है।[3]

उस अध्यास का विशिष्ट उपयोग, जो हमें एकमात्र निरपेक्ष यथार्थसत्ता को विषय-विषयी सम्बन्ध के रूप में विभक्त करने के लिए प्रेरणा करता है, मानवीय मस्तिष्क की ही अपनी रचना का परिणाम है। इस अभ्यास को जिसके कारण विषयी तथा विषय जगत् की उत्पत्ति होती है अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्या प्रयत्नरूप तथा जीवात्माओं के[4] कर्तृत्व, सुखोपभोग, और क्रियाशीलता का कारण बताया गया है और यह सबके ऊपर अधिकार जमाए हुए है।[5]

भ्रांतिमय प्रत्यक्ष का शंकर ने जो विश्लेषण किया है उससे हमें उसके ज्ञान विषयक मत का आभास मिलता है। जब हम भूल से रस्सी को सांप समझ लेते हैं और यह निर्णय करते हैं कि "यह एक सांप है" तो हमारे सम्मुख दो अवयव होते हैं; 'यह' अथवा जो इन्द्रियों के आगे आया हुआ है, और 'सांप' जिसे हम 'यह' कहते हैं। पिछला अवयव उस वृत्ति अथवा आकृति का वर्णन करता है जिस रूप में हम प्रस्तुत सामग्री का बोध करते हैं। निर्णय पर पहुंचने में भूल व्याख्या के अवयव के कारण है अथवा उसके कारण है जिसे हमारा विचार भूमि के ऊपर से आरोपित कर देता है। 'यह' का अवयव अथवा जो कुछ वस्तुतः हमारे सम्मुख उपस्थित है, भ्रांति दूर होने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। शंकर का तर्क है कि साधारण-प्रत्यक्ष में भी हमारे सम्मुख एक सामग्री के दो अवयव हैं और एक व्याख्या है और आगे शंकर प्रश्न करते हैं कि वह क्या है जो हमारी चेतना के समस्त विषयों का सामान्य अधिष्ठान है? क्या ऐसी कोई वस्तु है जो उन सब वस्तुओं के लिए सामान्य है जिन्हें हम देखते हैं, साधारण और असाधारण सत्य और असत्य? शंकर उत्तर देते हैं कि यह सत् है। प्रत्येक वस्तु जिसका हम प्रत्यक्ष करते हैं उसे सत् के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। हमारी व्याख्याओं का स्वरूप चाहे कुछ भी क्यों न हो वह अधिष्ठान नित्यस्थायी है और यथार्थ है। उपनिषदों की भाषा में यह मिट्टी से बनी वस्तुओं में मिट्टी के समान है अथवा सोने के आभूषणों में सोने के समान है। इसके ऊपर की आश्रित आकृतियों में भले ही कितने ही परिवर्तन क्यों न हों

1 शांकरभाष्य, 1 1, 1।

2 शांकरभाष्य, 1 : 1, 1।

3 इस आक्षेप के उत्तर में कि आत्मा विषय नहीं है और इस प्रकार अन्य विषयों के गुणों का आधान इसके ऊपर नहीं हो सकता, शंकर कहते हैं कि यह आत्मा के भाव का विषय है; साथ में यह आवश्यक भी नहीं है कि विषय का सम्पर्क हमारी इन्द्रियों के साथ अवश्य हो क्योंकि अज्ञानी पुरुष आकाश का रंग गहरा नीला बतलाते हैं जो कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

4 कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः।

5 सर्वलोकप्रत्यक्षः।

यह स्थायी है। अविद्या का कारण मौलिक आधार के विषय मे अज्ञान है।[1]

अविद्या अथवा अध्यास के प्रति स्वाभाविक प्रकृति हमारे अस्तित्व के मूल मे ही समाई हुई है और हमारी सान्तता का पर्यायवाची है। यथार्थसत्ता अपनी व्याख्या अपने-आप है। यह सदा अपने स्वरूप मे स्थित रहती है। यह अयथार्थ ही है जो अपने स्वरूप मे अवस्थित नही रहता और इसीलिए उसे किसी व्याख्या की आवश्यकता होती है। जब अविद्या का पता लग जाता है तो बन्धन टूट जाते हैं। अविद्या नैसर्गिक भले ही हो किन्तु फिर भी अनिवार्य नही है। यदि यह अनिवार्य होती तब इससे मुक्त होने के लिए हमे क्यो कहा जाता। अनिवार्य के विरुद्ध हम प्रयास नही कर सकते। जो नही जाना जा सकता उसे हम नही जान सकते। अविद्या की गति को रोकना सम्भव है और यह दर्शाता है कि हम वस्तुत अपनी आदतो से अधिक महान हैं।

सान्त चेतना, जो प्रमाणों के साथ आबद्ध है अनुभव के एक विशेष प्रकार तथा अवस्था तक ही परिमित है जिनमे शारीरिक अवस्थाओ का एक बहुत बडा भाग है। हमारी बुद्धि की रचना इस प्रकार की है कि यह वस्तुओ के अन्दर एक व्यवस्था तथा नियमितता चाहती है। यह आनुषगिक घटना तथा अव्यवस्था को सर्वथा नापसन्द करता है। विषय जगत आदि से अन्त तक युक्तिपूर्ण है और सब वस्तुओ म विधान तथा व्यवस्था मे युक्ति-युक्तता की माग को पूरा करता है। यही साधारण बुद्धि तथा विज्ञान का भी विश्वास है। शकर विचार को वस्तुओं से अलग नही रखता। हमारे मस्तिष्क के सिद्धात जो अपने-आपको देश, काल तथा कारण के विभागो द्वारा प्रकट करते ह उस सहति के रूप है जो विचारशील विषयी तथा विषयनिष्ठ तथ्य के क्षेत्र म हमारे सम्मुख प्रकट होते है। बुद्धि के वर्ग उन वस्तुओ पर लागू होते हैं जो इसके आगे आते ह। ज्ञाता विषयी के दृष्टिकोण से देश-काल तथा कारण से युक्त इस जगत का अपने समस्त विषय वस्तु समेत आस्तत्त्व है। ससारी जीवात्मा तथा यह जगत् दोनो एक दूसरे के आश्रित हैं। *प्रकृति द्वारा विवेक के इस प्रकार के अनुकूलन से सिद्ध होता है कि एक सार्वभौम मस्तिष्क* भी है जो एक ओर प्रकृति मे आत्मभाव का प्रवेश कराता तथा दूसरी ओर हमारे अन्दर अवस्थित विवेक का कारण है और सार्वभौम मस्तिष्क का भागीदार है तथा उसके साथ सहयोग रखता है। एक सुव्यवस्थित ससार की यथार्थता केवल मस्तिष्क के लिए ही है और मस्तिष्क की परिभाषा मे ही उसका अस्तित्व है। पशुजगत के साथ साथ पशु के मस्तिष्क की भी पूर्वकल्पना होती है। मानवीय जगत् के साथ मनुष्य के मस्तिष्क की पूर्वकल्पना होती है। सार्वभौम यथार्थसत्ता अपनी पूर्णता तथा जटिलता के कारण एक सार्वभौम तथा निर्दोष मस्तिष्क को स्वत सिद्ध मान लती है और वह ईश्वर ह जो विश्व के उन भागों को भी धारण करता है जो हमारी दृष्टि से बाहर और अप्रत्यक्ष है। हमारा सासारिक अनुभव यह सकेत करता है कि एक ऐसा प्रकृति-तत्त्व है जिसकी विचार के लिए आवश्यकता है किन्तु वह ऐसी वस्तु नही जिसे आनुभविक प्रमाणो के द्वारा जाना जा सके। मनुष्य होने के नाते हम मानवीय विधि से ही विचार करते हैं। सार्वभौम यथार्थसत्ता को एक केन्द्रीय व्यक्तित्व अथवा विषयी के रूप म माना गया है तथा समस्त जगत विषय रूप है। यह ऐसा सश्लेषण है जो तर्क के द्वारा प्राप्त होता है किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नही है। यह विचार का तात्कालिक विषय नही है। इसे हमारे अनुभव का सबसे उच्च श्रेणी का सश्लेषण मान लिया गया है और जब तक इसी

1 अधिष्ठान विषय।

2 2 1 1 1

प्रकार की रचना का अन्य अनुभव भी है यह मान्यता रहेगी।[2] विषयी-विषय (सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट) सम्बन्ध पशु जगत्, मानवीय तथा दैवीय जगत् सबके ऊपर एक समान लागू होता है। किन्तु अनुभव का निर्माण करने वाले ये दोनों अवयव एक-दूसरे से सापेक्षरूप में सम्बद्ध हैं तथा परिवर्तन और विकास के उसी विधान के अधीन हैं। यथार्थसत्ता का वह पूर्ण रूप से निर्मित विचार, जिसके अन्दर प्रत्येक तत्त्व, विषयी और विषय, मस्तिष्क तथा शरीर, वर्तमान, भूत और भविष्यत् इसके उचित स्थान पर आकर समाविष्ट हो गए होंगे, मानवीय अनुभव का विषय नहीं है यद्यपि समस्त विचार मात्र का आदर्श लक्ष्य है। किन्तु समस्त ज्ञान चाहे ईश्वर का हो चाहे मनुष्य का हो, अपने अन्दर विषयी-विषय सम्बन्ध रखता है और इसीलिए उसे सर्वोच्च नहीं माना जा सकता। समस्त सविकल्पक ज्ञान आत्मोत्सर्ग रूप है क्योंकि इसमें परम यथार्थसत्ता का एक विषयी के रूप में तथा वृत्ति और विषय के रूप में आदर्श नमूना बन जाता है। केवल समाधिगत अन्तर्ज्ञान की अवस्था को छोड़कर एक तत्त्व (अवयव) प्रस्तुत रहता है जो बोध ग्रहण करने वाले विषयी से सर्वथा भिन्न है और एक वृत्ति के द्वारा इस तक पहुंचता है। सोच-विचार तथा तर्कशास्त्र का सम्बन्ध सान्त जीवन के स्तर तक ही है जबकि परम यथार्थसत्ता विचार से भी अतीत है। यथार्थसत्ता अपने लिए सदा ही विद्यमान है और उसे इसलिए अपने विषय में विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं।

21. अनुभव

किसी भी पदार्थ (विषय) की यथार्थरूप में सिद्धि हो जाती है, इसी प्रकार किसी ऐसे विचार को भी सत्य मान लिया जाता है यदि उसका प्रतिषेध ऐसे परिणामों को उपस्थित करता है जिन्हें परस्पर विरोधी और इसीलिए अमान्य माना जाता है। भूल से बच न सकने वाली बुद्धि की यह अन्तिम कसौटी प्रतीत होती है। तार्किक दृष्टि से आत्मा के अस्तित्व का इससे उच्च प्रमाण सम्भव नहीं है। यह प्रश्न उठाना कि आत्मा यथार्थ है या नहीं ? निरर्थक है क्योंकि समस्त जीवन, समस्त विचार, समस्त अनुभव, यद्यपि अव्यवस्थित रूप में हैं तो भी, उक्त प्रश्न का स्थायी उत्तर हैं। किन्तु मानसिक साधनों के द्वारा यथार्थसत्ता को समझने का कोई भी प्रयास हमें परस्पर विरोधों के एक निराशाजनक भंवरजाल में ला फेंकेगा। यदि मस्तिष्क को इस प्रकार के दुःखान्त परिणाम से बचना अपेक्षित है तो इसे अवश्य अपना दमन करना होगा और तभी रहस्य का पर्दा उठेगा। हमें अपने तार्किक वर्गीकरण से जो असन्तोष अनुभव होता है वह इस बात का संकेत है कि हम उसका, जिसे हम जानते हैं कि महान् है, और अपनी मानसिक मर्यादाओं का भी उल्लंघन करके सत्य के क्षेत्र में पहुंच सकते हैं यद्यपि यह केवल हमारी बुद्धि की पहुंच से परे है, जो अतीत तक पहुंचने का प्रयत्न कर सकती है किन्तु बस प्रयत्न ही कर सकती है अतीत तक कभी पहुंचेगी नहीं। ऐसी सीमाएं जो अनिवार्य प्रतीत होती हैं तथा जिनका उल्लंघन भी बुद्धि के लिए अनिवार्य प्रतीत होता है यह निर्देश करती हैं कि हमारे अन्दर एक सीमारहित भूमि भी है जो तार्किक मस्तिष्क से ऊंची है। यदि विचार यथार्थसत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके और विषयी मनुष्य अपने व्यक्तित्त्व को दूर रखकर सार्वभौम तत्त्व में ऊपर उठ जाए तो विचार का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है किन्तु उस समय फिर यह विचार नहीं रहेगा। अनुभव में विचार का लोप हो जाता है। साधारण ज्ञान ऊपर उठकर विद्या में परिणत हो जाता है जबकि यह अपने को ज्ञात के साथ तादात्म्य रूप में जान जाता है जहां पर केवल आत्मा नित्य ज्ञान के रूप में ज्योतिष्मान्

है।[1] यह निरपेक्ष ज्ञान ही परम निरपेक्ष का ज्ञान भी है। 'ज्ञान शब्द अपने सासारिक सम्बन्धो के कारण दुर्भाग्यवश असमर्थ है।[2] अनुभव इससे अधिक उपयुक्त शब्द है।

शकर एक आन्तरिक दृष्टि रूप चेतनता की यथार्थता को मानते हैं जिसे अनुभव कहते हैं[3] और जहा विषयी और विषय के भेद नीचे रह जाते हैं तथा सर्वोपरि आत्मा के सत्य का साक्षात्कार होता है।[4] यह एक वर्णनातीत अनुभव है जो विचार तथा वाणी से परे है और जो हमारे समस्त जीवन मे परिवर्तन ला देता है एव दैवीय उपस्थिति का निश्चय कराता है। यह ऐसे चैतन्य की अवस्था है जो तब आती है जबकि मनुष्य अपने को सब प्रकार की सीमित अवस्थाओ से मुक्त कर लेता है जिसमे बुद्धि भी सम्मिलित है। जैसाकि श्री रसल ने कहा है कि इसके साथ "आह्लाद का सत्य भाव, अथात अत्युन्नता का भाव मनुष्य से उन्नत होने का भाव सयुक्त रहता है।[5] इस प्रकार के परमानन्द का पूर्वस्वाद हमे स्वार्थरहित चिन्तन के क्षणो मे तथा सौन्दर्य के सुखोपभोग मे मिलता है।[6] यह साक्षात्कार अथवा व्यवधानरहित साक्षात प्रत्यक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति उस अवस्था मे होती है जबकि अविद्या नष्ट हो जाती है और मनुष्य यह जान लेता है कि आत्मा तथा जीव एक हैं। इसे सम्यग्ज्ञान (निर्दोष ज्ञान)[7] अथवा सम्यग्दर्शन (निर्दोष अन्त दृष्टि) भी कहा जाता है।[8] *सम्यग्ज्ञान तो अपने लिए आवश्यक चिन्तन सामग्री के ऊपर* भी बल देता है किन्तु सम्यग्दर्शन अन्त साक्षात्कार की अव्यवहितता की ओर निर्देश करता है जिसमे परम यथाथसत्ता साक्षात ईक्षण तथा ध्यान का विषय है।[9] शकर इसका समाधान यो करते हैं कि हम अयथार्थ विषयो का भी ध्यान तो कर सकते है किन्तु उनका अनुभव नही कर सकते इस प्रकार शकर का अनुभव आदर्शीकृत कल्पना से भिन्न है। कहा जाता है कि योगी सराधना की अवस्था मे ईश्वर को देखता है जिसकी व्याख्या करते हुए शकर कहते है कि वह अपने को पवित्र ध्यान मे निमग्न कर देता है।[10] शकर आर्षज्ञान को स्वीकार करते हैं जिसके द्वारा इन्द्र तथा वामदेव ने ब्रह्म के साथ तादात्म्य

1 आध्यात्मिक यथाथसत्ता को समझना और इससे भी अधिक इसे जानना इमे अपने अन्दर जो इसे जानते हैं समाविष्ट कर लेते हैं (जेण्टाइल थियोरी आफ माइण्ड एज प्योर ऐक्ट पृष्ठ 10)।

2 मध्व बलपूवक कहता है कि यह ज्ञान नही है चूकि जानने को कोई विषय नही है। न या भावे ज्ञानस्याप्यभावात। बृहदारण्यक उपनिषद सैक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज पृष्ठ 460।

3 देखें शाकरभाष्य 1 1 2 2 1 4 3 3 32 3 4 15।

4 देखें आत्मबोध पृष्ठ 41।

5 फिलासाफिकल ऐसेज पृष्ठ 73।

6 प्लाटिनस कहता है यह वह सम्मिलन है जिसकी नकल मर्त्यलोक के प्रमियो का मिलन है जो अपने जीवन को एक दूसरे से बद्ध करना चाहते हैं एनीडस 6 7 34। तुलना कीजिए बृहदारण्यक उपनिषद 6 3 21।

7 शाकरभाष्य 1 2 8।

8 शाकरभाष्य 1 3 13।

9 शाकरभाष्य 1 3 13।

10 शाकरभाष्य 3 2 24। और भी देखें कठोपनिषद 4 1। इस आपत्ति के उत्तर मे कि इस प्रकार के ध्यान की क्रिया म ध्यान के विषयी तथा विषय के मध्य भेद है या नहीं शकर कहते हैं जिस प्रकार प्रकाश आकाश सूय इत्यादि ऐसे प्रतीत होते हैं मानो भिन्न भिन्न हैं अपने विषयो के कारण यथा अगलिया पात्र जल इत्यादि जो इनके उपाधिरूप सयुक्त पदाथ हैं जबकि यथाथ म व अपनी तात्त्विक अभिन्नता को सुरक्षित रखते हैं इसी प्रकार भिन्न भिन्न आत्माओ का परस्पर भेद केवल रूप सयुक्त पदार्थों के कारण है किन्तु समस्त आत्माओ का एकत्व प्राकृतिक है और मौलिक है। (शाकरभाष्य 3 2 25)।

का साक्षात्कार किया।[1] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह ज्ञान प्रत्यक्ष के ही स्वरूप का है,[2] क्योंकि यह *यथार्थता का साक्षात् ज्ञान है।* भेद केवल इतना है कि उक्त ज्ञान देश और काल में विद्यमान ज्ञान के रूप का नहीं है। अनुभव हर किसी वस्तु की चेतनता नहीं है वरन् अपने भीतर *प्राणिमात्र के जीवन,* आधार तथा आगाध गर्त को जानना और देखना है। चूंकि न्यायशास्त्र के शब्दार्थ में प्रत्यक्ष अनुभव ही बाह्य जगत् के ज्ञान का एकमात्र साधन है, अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम अनुभव है जिसके ऊपर हम जो कुछ भी अतीन्द्रिय जगत् के विषय में जानते तथा विश्वास रखते है वह निर्भर करता है। अन्तर्ज्ञान का विषय कोई व्यक्तिगत कल्पना नहीं है और न ज्ञाता के मन में विषयनिष्ठ अमूर्तभाव ही है। यह एक यथार्थ विषय है[3] जिस पर हमारे इसके ज्ञान अथवा अज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता यद्यपि इसकी यथार्थता देश काल में बद्ध विशिष्ट विषयों की यथार्थता में कहीं उच्चकोटि की है, जो एक सदा रहने वाले प्रवाह से सम्बद्ध है और इसीलिए जिसे सही अर्थों में यथार्थ नहीं माना जा सकता।[4] भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की चतुराइयों का भेद एक ऐसी आत्मा के आगे आकर खुल जाता है जो विरोध में कहती है कि मैंने यथार्थसत्ता के दर्शन किए हैं। "किस प्रकार से कोई अन्य व्यक्ति के ब्रह्म ज्ञान की प्राप्तिरूप तथ्य का विरोध कर सकता है यद्यपि अभी वह शरीरधारी ही क्यों न हो जबकि उसका हृदय अपने निश्चयात्मक ज्ञान को विश्वास के साथ प्रकट करता है?"[5] समस्त विश्वास तथा भक्ति, समस्त स्वाध्याय और ध्यान हमें इस प्रकार के अनुभव को प्राप्त करने की दिशा में प्रशिक्षण देते हैं।[6] यह भी सत्य है कि आत्मविषयक साक्षात्कार केवल ऐसे ही चित्त को होता है जो इसके लिए तैयार हो। यह कहीं आकाश से नहीं आता। यह मनुष्य के तर्क का अत्यन्त उदार तथा उत्तम फल है। यह केवल कल्पनामात्र नहीं है कि जो मनुष्य की बुद्धि को अनुकूल न जंच सके। जो सत्य है वह उस प्रत्येक बुद्धि के लिए सत्य है जो उसे जान सके। व्यक्तिगत सत्य नाम की कोई वस्तु नहीं है जिस प्रकार कोई व्यक्तिगत सूर्य अथवा व्यक्तिगत विज्ञान नहीं होता। *सत्य* का एक अन्तर्निहित तथा सार्वभौम स्वरूप है जो किसी व्यक्ति के और यहां तक कि ईश्वर के भी ऊपर आश्रित नहीं है। यथार्थसत्ता को जानने की प्रक्रिया *व्यक्ति की अपनी हो सकती है* अथवा विशिष्ट हो सकती है किन्तु *ज्ञातविषय व्यक्तिगत नहीं है। यथार्थसत्ता सब और*

1 'रत्नप्रभा' में इसकी व्याख्या इस प्रकार है, "सत्य का हठात् अन्तर्ज्ञान, जो श्रवण आदि के द्वारा सम्भव होता है और जो पूर्व के जन्मों में प्राप्त किया गया है।" जन्मान्तरकृत श्रवणादिना अस्मिन जन्मनि, स्वत सिद्धम् दर्शनम् आर्षम् (1 1, 30)। देखें, शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद् पर, 1 : 10।

2 शांकरभाष्य, 1 · 4, 14।

3 अनुभवावमानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च (शांकरभाष्य, 1 : 1, 2)।

4 इसके साथ तुलना कीजिए प्लेटो के यथार्थवाद की जहां तर्क यथार्थ जगत् को सर्वथा देश और काल से ऊपर उठाकर प्रतिपादन करना है। "एक ऐसी यथार्थता जो वर्णविहीन है, आकृतिरहित है तथा स्पर्श के अयोग्य है।...जो केवल मन के लिए दृश्य है जो आत्मा का स्वामी है" (फीड्रस)। जहां प्लेटो तत्त्वों के अनेकत्व को मानता है, शंकर की दृष्टि में केवल एक ही सारतत्त्व है।

5 कथ ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्यय ब्रह्मवेदन देहधारणम् चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्यते? (4 : 1, 15, शांकरभाष्य)।

6 शांकरभाष्य, 2 1, 6। अनुभवावसान ब्रह्मविज्ञानम् ('ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 89 टिप्पणी)। अनुभवावरुद्धमेव च विद्याफलम् (3 . 4, 15)। ज्ञान का फल *अन्तर्दृष्टि के लिए व्यक्त है* (भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, 2 : 21, बृहदारण्यक उपनिषद्, 4 : 4, 19)।

तब हो या यहा और वहा हो ऐसा नही है अपितु यह सब कालो मे और सर्वत्र एक समान रहने वाली है।

काण्ट ने एक विवेकपूर्ण अन्तर्ज्ञान की बात कही है जिसमे चेतनता की उच्च वृत्ति का सकेत किया है जिसके द्वारा वस्तुओ का अपना अन्तर्निहित ज्ञान तर्करहित विधि से भी प्राप्त किया जा सकता है। फीश्ते के अनुसार विवेकपूर्ण अन्तर्ज्ञान हमे आत्म-चेतना तक पहुचने मे सहायक होता है और यही उनके दर्शन मे समस्त ज्ञान का आधार है। शेलिंग ने भी उसी परिभाषा का प्रयोग परमसत्ता की चेतना का प्रतिपादन करने के लिए किया है जो विषयी और विषय के मध्य तादात्म्य भाव प्रकट करती है। शकर के अनुसार अन्तर्ज्ञान का विषय काण्ट की अपने मे पूर्ण अनेक वस्तुए नही हैं और न फीश्ते की आत्मा शेलिंग का क्लीबाणु भी नही है किन्तु आत्मा अथवा सार्वभौम चैतन्य है। प्लाटिनस के ही समान शकर की दृष्टि मे भी परम निरपेक्ष सत्ता विषय के रूप मे उपस्थित नही होती है किन्तु साक्षात् सम्पर्क मे उपस्थित होती है जो ज्ञान से ऊपर है।[1] चूंकि अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त ज्ञान किसी अन्य वस्तु के विपरीत सिद्ध नही होता इसलिए यह सर्वोच्च सत्य है।[2]

अनुभव अव्याख्यात मनोभावना का साक्षात् नही है जिसमे कि ज्ञात वस्तु का अस्तित्व तथा वस्तुविषय पृथक्-पृथक् नहीं हैं। यह पशु के समान प्रत्यक्ष न होकर कलापूर्ण अन्तर्दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। यह वह साक्षात्कार है जो उच्च श्रेणी का है निम्न-श्रेणी का नही है, अपेक्षा ऐसे ज्ञान के जो अन्य के व्यवधान से तथा चिन्तन से प्राप्त होता है। इसमे सन्देह नही कि ऐसे ज्ञान की दृष्टि से जिसे प्रदर्शित किया जा सके यथार्थसत्ता एक समस्या है और ईश्वर के विषय मे तथा मोक्ष और अमरत्व के सम्बन्ध मे उस गम्भीरतम मानवीय गरिमा के हमारे विचार केवल नाम तथा प्रतीक मात्र हैं, जिसको प्राप्त करने का हम प्रयत्न तो कर सकते है किन्तु जिसे हम तब तक कभी प्राप्त नही करेंगे जब तक कि मन के अपने असत्याभासो के साथ कभी अन्त न होने वाले सघर्ष से हम ऊपर न उठ जाए। अन्तर्दृष्टि तथा बुद्धि, अनन्त यथार्थसत्ता तथा सान्त मन के बीच जो दरार पडी हुई है उसकी ओर अनुभव और अध्याय सकेत करते हैं।

शकर मानते हैं कि यह अनुभव सबके लिए खुला तो है किन्तु बहुत कम व्यक्ति इसे प्राप्त करते हैं।[3] किन्तु आवश्यक विचारणीय विषय यह है कि यह सबके लिए खुला है। यथार्थसत्ता उपस्थित है, पदार्थनिष्ठ है और सदा विद्यमान रहने वाली है, वह इस बात की प्रतीक्षा करती है कि कोई उसका साक्षात्कार करे ऐसे मन से जो उसको ग्रहण

1 एनीडस', 6 9, 4।

2 बाधकज्ञानांतराभावाच्च (शाकरभाष्य, 2 1 14)। शतश्लोकी मे ऐसा कहा है कि 'धर्मशास्त्र ब्रह्मज्ञान को दो प्रकार का बताते हैं, अर्थात् अपने विषय मे अनुभव (स्वानुभूति) और निर्णयात्मक निश्चितता (उपपत्ति) स्वानुभूति देह के सम्बन्ध म (देहानुबन्धात्) उदय होती है तथा उपपत्ति का उदय विश्व के सम्बन्ध मे (सर्वात्मकत्वात्) होता है। प्रथमकोटि के अनुभव का रूप है कि 'मैं ब्रह्म हू' (ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव) और फिर इस प्रकार का अनुभव कि यह सब ब्रह्म है (सर्व खल्विद ब्रह्म)।"

3 तुलना कीजिए डीन इगे "ज्ञाता तथा ज्ञात का पूर्ण एकत्व ही पूर्णज्ञान है क्योंकि अन्तिम आश्रय के रूप म हम यहीं पहुचते हैं 'अपने को जाना'। इसलिए दैवीय ज्ञान की प्रक्रिया एक ऐसी क्षमता को क्रिया मे परिणत कर देना है जोकि प्लाटिनस के अनुसार विद्यमान तो सबमे रहती है किंतु जिसका उपयोग बहुत कम व्यक्ति करते हैं, यह वह दिव्य उपहार है जिसे कैम्ब्रिज के प्लेटोवादी विद्वानो ने मानवीय आत्मा के अन्दर दैवीय भावयुक्त प्रकृति का बीज बताया है" ('आउट्स्पोकन ऐसेज,' दूसरी सिरीज, पृष्ठ 14)।

कर सके। प्रकट रूप में शंकर, यथार्थसत्ता केवल कुछ इने-गिने व्यक्तियों के सम्मुख ही अपना आविर्भाव करती है और वह भी सन्दिग्ध स्वप्नों के रूप में तथा रहस्यमयी वाणी के द्वारा, इस प्रकार के मत से सहमत नहीं हैं। एक ऐसा ईश्वर जो अपने को केवल कुछ व्यक्तियों के सम्मुख ही अभिव्यक्त करता है और अन्यों के सम्मुख नहीं करता केवल एक कल्पनात्मक मिथ्या वस्तु है। वस्तुतः अन्तर्दृष्टि अथवा आध्यात्मिक अनुभव कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित है यद्यपि है यह सार्वभौम सम्पत्ति, जब कि तर्क विचारशील मानव जाति के अधिकांश भाग में सामान्य है। कुछ शक्तियां ऐसी हैं जो सब मनुष्यों में अच्छी प्रकार से विकसित पाई जाती हैं यद्यपि अन्य शक्तियां उनके समान विकसित नहीं होतीं। विकास की वर्तमान अवस्था में अनुभव विषयनिष्ठ हो सकता है और इसकी साक्षी पर तभी विश्वास होता है जबकि यह तर्क के आदेशों के अनुकूल होती है।

22. अनुभव, तर्क तथा श्रुति

यद्यपि अन्तर्दृष्टि से प्राप्त अनुभव सबसे अधिक निश्चित रूप का होता है, तो भी इसमें धारणा-सम्बन्धी विशदता का अंश केवल अल्पमात्रा में ही रहता है। इसीलिए इसे व्याख्या की आवश्यकता होती है और इन व्याख्याओं में भूल होने की सम्भावना भी रहती है एवं इस प्रकार इनकी अन्तरहित पुनरावृत्ति की आवश्यकता होती है। श्रुति ऐसे विषयों का व्याख्यान करती है जिन्हें पूर्णता के साथ कथन नहीं करना चाहिए। प्रज्ञावान् विद्वान् मनुष्य उस भाषा तथा तर्क का आविष्कार करते हैं जो श्रुति वाक्यों के आख्यान के लिए उपयुक्त हैं। ऐसे व्यक्ति जिन्हें साक्षात् अन्तर्दृष्टि से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ऐसे वैदिक विचारों पर विश्वास करके उन्हें स्वीकार करने के लिए विवश हैं जिनमें कुछेक ऐसे उच्चतम कोटि के मस्तिष्कों के अनुभव अभिलेख के रूप में सुरक्षित रखे गए हैं जिन्हें यथार्थसत्ता के बोध ग्रहणरूप समस्या के साथ एक दीर्घकाल तक संघर्ष करना पड़ा। साधारण कोटि के मनुष्य के लिए परमचैतन्य के विषय में प्रधान सत्य निश्चय ही व्यक्त किया जाता है क्योंकि वह उसका निश्चय मनुष्य की शक्ति के अन्तर्गत किसी साक्षी, जैसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान, के द्वारा नहीं कर सकता। उक्त मानवीय साक्षी के साधन हमें एक अतीतसत्ता का प्रबल संकेत तो देते हैं किन्तु निश्चयात्मक प्रमाण नहीं देते। शंकर स्वीकार करते हैं कि सत्य का अन्वेषण हो किया जाता है[1] और वे स्वयं भी विपक्षी दर्शन पद्धतियों की समालोचना करने में अविरोध के सिद्धांत का सत्य के अनुसन्धान के लिए उपयोग करते हैं। अन्य दार्शनिक विचारों के सम्बन्ध में उनकी आपत्ति यह नहीं है, विशेषतः बौद्ध विचारों के विषय में, कि उनमें समालोचना की गुंजाइश है किन्तु यह है कि उक्त विचार प्रस्तुत करने वालों ने तार्किक उपाय की अपूर्णता को नहीं समझा। उनका मत है कि वैदिक प्रामाण्य इन्द्रियों की साक्षी अथवा तर्कसम्मत निर्णयों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उन क्षेत्रों में जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान के विषय हैं वे अनुपयुक्त हैं। सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठंडा नहीं बना सकते।[2] श्रुति का उद्देश्य यह है कि ऐसे ज्ञान को जो साधारण साधनों के

1 सत्यं विजिज्ञासितव्यम् (शांकरभाष्य, 1 : 3, 8)।

2. ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च। न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते, न च प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते (शांकरभाष्य, 3 : 2, 21; भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, 18 : 66)।

द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता हमे प्रदान करे ।[1]

वेदो का आशय आत्मा के एकत्व की शिक्षा देना है ।[2] शकर कहते है कि वेदान्त की यह खोज हमे अविद्या से मुक्ति दिलाने का कारण नही है क्योकि सारी खोज तथा ज्ञान जिनके साथ विषयी तथा विषय सम्बन्धी द्वैत का भाव लगा हुआ है ब्रह्म के साक्षात्कार मे बाधास्वरूप है। यह हमारी मूर्खता को प्रकट करने मे तो सहायक होता है किन्तु विद्या की प्राप्ति नही करा सकता ।[3] अविद्या को दूर करना ही सत्य को ग्रहण करना है, ठीक जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने का तात्पर्य है सर्परूपी भ्रान्त ज्ञान का दूर हो जाना ।[4] सत्य के ज्ञान ग्रहण के लिए साथ मे किसी अन्य साधन अथवा ज्ञान की नई क्रिया की आवश्यकता नही है ।[5] "द्वैतभाव के नष्ट हो जाने पर फिर ज्ञान को एक क्षण की भी प्रतीक्षा नही करनी पडती क्योकि द्वैतभाव के नष्ट होने के पश्चात भी यदि समय की अपेक्षा हो तो एक अन्तरहित पश्चाद्गति आ जाएगी और द्वैतभाव का कभी नाश ही न होगा। इसलिए ये इन दोनो, अर्थात् ज्ञान तथा द्वैतभाव का विनाश, एक ही समय मे सम्पन्न होते है।"[6] जब भ्रात विचार प्रकाश मे आ जाते है तो हम यथार्थसत्ता तक पहुच जाते है।[7] यदि यह प्रश्न किया जाए कि हम अविद्या से विद्या की ओर कैसे पहुचते है—जो एक अनुचित प्रश्न है, क्योकि जब भ्राति नष्ट हो जाती है तो सत्य जोकि स्वत पूर्ण है प्रकाश मे आ जाता है –तो इससे अधिक उत्तम उत्तर और नही हो सकता कि ईशकृपा ही साधन है ।[8] विशुद्ध आत्मा एक ऐसे अन्धे मनुष्य की भाति है जिसकी विनष्ट हुई दृष्टिशक्ति ईश्वर की कृपा से फिर लौट आए।

श्रुति को मानने का तात्पर्य है सन्तो तथा ऋषियो की साक्षी को स्वीकार करना। श्रुति की उपेक्षा करना मनुष्य जाति के अनुभव के अत्यन्त सजीव भाग की उपेक्षा करना है। भौतिक विज्ञान मे हम उन परिणामो को स्वीकार करते हैं जिन्हे सबमे महान अन्वेषको ने सत्यरूप मे घोषित किया है। सगीत मे हम उन गीतो पर ध्यान देते है जो विख्यात सगीतज्ञो ने बनाए हैं और उसके द्वारा सगीतज्ञ-सम्बन्धी सौंदर्य के महत्त्व को पहचानने की योग्यता मे उन्नति करते हैं। धार्मिक सत्यो के विषयो मे हमे आदर भाव रखते हुए ऐसे धार्मिक मेधावी पुरुषो के लेखो पर ध्यान देना चाहिए

1 प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धे हि विषय श्रुते प्रामाण्य न प्रत्यक्षादिविषये (भगवदगीता पर शाकरभाष्य 18 66)। अनातनापन्न हि शास्त्रम्।

2 आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तय सर्वे वेदाता आरभ्य ते (शाकरभाष्य प्रस्तावना)।

3 अविद्याकल्पितभेदनिवृत्ति (शाकरभाष्य 1 1 4)। देखें भगवदगीता पर शाकरभाष्य 2 18। तुलना कीजिए प्लाटिनस ईश्वर का निवचन न तो वाणी के द्वारा और न नेराबद्ध विचार परामश के द्वारा किया जा सकता है किन्तु तो भी हम वाणी तथा लेख का प्रयोग करते हैं इसलिए कि आत्मा को उसकी ओर प्रेरित करें तथा विचार मे साक्षात दशन की ओर जाने को प्रोत्सा हन दे एसे मनुष्य के समान जो उन व्यक्तियो के लिए जिन्हे ऊपर की ओर के माग पर चलना है उनके माग का निर्देश करता है। हमारे आदश की पहुच वही तक है जहा तक कि गतव्य माग का सम्बध है किंतु साक्षात्कार तक पहुचना उनका अपना काय है' एनीडस 6 9 4 केयर्ड ग्रीक थियालाजी खण्ड 2 पृष्ठ 237)।

4 शाकरभाष्य माण्डूक्य उपनिषद पर 2 7।

5 वही।

6 वही।

7 आत्मैव अनात्महानि।

8 शाकरभाष्य 2 3 41। देखें कठोपनिषद 2 22। डयूसन के मन मे यही विषय है जबकि वह शाकर के ऊपर ईश्वर ज्ञानविषयक पक्षपात रखने का आरोप लगाता है। देखें डयूसन्स सिस्टम आफ दि वेदात पृष्ठ 86 87।

जिन्होंने विश्वास तथा भक्तिभावपूर्वक अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया है। अन्तिम सम्मति की प्रतिद्वन्द्विता में प्रथम सम्मति को खड़ा करने से कोई लाभ नहीं। "एक ऐसे विषय के लिए जिसका ज्ञान पवित्र परम्परा से होना चाहिए, केवल चिन्तनमात्र का उद्धरण न दिया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसे विचार जिनका आधार परम्परा में न पाया जाता हो और जो केवलमात्र मनुष्यों की उत्प्रेक्षा (कल्पना) ही के ऊपर आश्रित हैं स्थायी नहीं होते क्योंकि इस प्रकार की कल्पना के पीछे किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता।[1]" यदि हम केवल विचार के ऊपर निर्भर करें तो हमें जगत् के विषय में, अपने अस्तित्व के विषय में तथा भविष्य के विषय में भी संशय उत्पन्न होगा और समस्त जीवन ही संशय में परिणत हो जाएगा। किन्तु चूंकि हमें अवश्य ही अपनी परिस्थिति के ऊपर आश्रित होना चाहिए नहीं तो वह हमारा विनाश कर देगी। इसलिए हमारे अन्दर की शक्ति हमें बलात् विश्वास करने की ओर प्रेरित करती है। ऐसी आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणाएं हैं जिनकी तर्क के आधार पर उपेक्षा नहीं की जा सकती। निषेधात्मक आधार पर कोई जीवित नहीं रह सकता। शंकर का क्रमबद्ध दर्शन ज्ञान के द्वारा हमारा भ्रम निवारण करता है और यह प्रतिपादित करता है कि तर्कशास्त्र अपने-आपमें हमें संशयवाद की ओर ले जाता है। हम मान लेते हैं कि इस संसार में विवेक भी है और धार्मिकता भी है। हम बिना इसके अर्थपूर्ण ब्यौरे के भी संसार को एक पूर्ण इकाई मान लेते हैं। हम इसे धारणा ही कहेंगे क्योंकि हमें यह आशा नहीं है कि हम कभी दृश्यमान अव्यवस्था की पृष्ठभूमि में नित्य व्यवस्था की खोज करने में सफल हो सकेंगे। ईश्वररूपी दैवीय मस्तिष्क की यथार्थसत्ता को स्वीकार कर लेने से हमारे जीवन में समृद्धि तथा सुरक्षा का भाव आता है।[2] इसके अतिरिक्त सत्य[3] को एक समान[4], विरोध-रहित[5] तथा सार्वभौम रूप में मान्य होना ही चाहिए। यद्यपि विचार के निर्णयों को इस प्रकार से मान्य नहीं ठहराया जाता। किन्तु "वेद ज्ञान के स्रोतरूप नित्य हैं, इनका प्रतिपाद्य विषय परिपक्व है और इनके द्वारा प्राप्त पूर्ण ज्ञान भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् की समस्त कल्पनाओं द्वारा भी विपरीत नहीं ठहराया जा सकता।" केवल तर्क एक औपचारिक प्रक्रिया है। तर्क जिन निर्णयों पर पहुंचता है वे उस साध्यपक्ष के ऊपर निर्भर करते हैं जिनको लेकर यह आगे बढ़ता है और शंकर इस पर बल देते हैं कि धर्मशास्त्रों में अभिलिखित धार्मिक अनुभव को धर्मसम्बन्धी दर्शन के अन्तर्गत तर्क का आधार बनना चाहिए। तर्क से शंकर का तात्पर्य उस तर्क से है जिस पर इतिहास की शिक्षाओं ने कोई नियन्त्रण नहीं लगाया हो। इस प्रकार का व्यक्तिगत तर्क सत्य की स्थापना की ओर हमें नहीं ले जा सकता क्योंकि ज्ञान-ग्रहण की शक्ति में असंख्य

1 शांकरभाष्य, 2 1, 11। यही कारण है कि कपिल व कणाद जैसे माने हुए विचारकों की सम्मति में भी प्रायः परस्पर विरोध पाया जाता है। तुलना कीजिए, कुमारिल : "कितने ही कुशल तार्किक क्यों न हों उनके द्वारा अत्यन्त सावधानी के साथ अनुमान किए गए विषय की व्याख्या अन्य अधिकतर कुशल तार्किकों द्वारा अन्य प्रकार से की जाती है।"

2 "मनुष्यों को अपने साथ अन्य जन्म के सम्बन्ध का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष और न अनुमान के द्वारा ही हो सकता है और न ही मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व के विषय में ज्ञान हो सकता है इसलिए श्रुति के रूप में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है" (शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद् पर, प्रस्तावना)।

3 सम्यग्ज्ञान।

4 एकरूपम्।

5 पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना।

प्रकार की विविधता रहती है।[1] श्रुति मे आत्म-सम्बन्धी सत्यो का प्रतिपादन किया गया है जिन्होंने मनुष्य जाति के अधिकाश भाग के सहजबोधो का सन्तोष प्रदान किया गया है। इसके अन्दर मनुष्यजाति के परम्परागत परिपक्व विचारो का समावेश है जिनमे विचार की अपेक्षा आत्मा के जीवन का वर्णन अधिक है और हममे से उन व्यक्तियो के लिए जो उस जीवन मे भाग नही लेते ये अभिलिखित अनुभव बहुत महत्त्व के है।'[2]

शकर धर्मशास्त्र के विचारो की तर्क द्वारा परीक्षा की आवश्यकता को स्वीकार करते है। जहा कही भी उन्हे अवसर मिला उन्होने धर्मशास्त्र के कथनो को विवेकबुद्धि की युक्तियो द्वारा समर्थन करने का प्रयत्न किया है।[3] ऐसा तर्क जो अनुभव का सहायक होकर कार्य करता है शकर को अभिमत है।[4] उनके लिए तर्क एक समाक्षात्मक शास्त्र है जिसका प्रयोग अपरीक्षित धारणाओ के विरुद्ध किया जाता है और तर्क एक रचनात्मक तत्त्व भी है जो सत्य सम्बन्धी तथ्यो का चुनाव करता तथा उनमे ऊपर बल देता है।[5] 'ऐसे व्यक्ति भी जिनमे निर्णय करने की शक्ति नही है बिना किसी तर्क के किसी विशेष परम्परा का आश्रय नही लेते।[6]

अनुभव एक ऐसी महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक अनुभूति है जिसका उपदेश केवल कल्पना की भाषा द्वारा हो सकता है और एकमात्र श्रुति ही इसका लिखित सहिताग्रथ है। अनुभव की पृष्ठभूमि के बिना श्रुति का कथन अर्थविहीन केवल शब्दमात्र है।[7] ऐसे मन्त्र जिनके अन्दर निन्दा अथवा स्तुति (अर्थवाद) है और जिनका कोई स्वतन्त्र तात्पर्य नही है विधिवाक्यो के समर्थन मे सहायक होते हैं और वे प्रत्यक्षज्ञान से श्रेष्ठ नही है। ऐसे मन्त्र जो यथार्थसत्ता के स्वरूप का वर्णन करते हैं प्रामाणिक हैं।[8] नि सन्देह श्रुति को अनुभव के अनुकूल होना चाहिए और वह अनुभव को अतिक्रमण नही कर सकती। वाचस्पति का कहना है 'सहस्र श्रुतिवाक्य भी घडे को कपडा नही बना

1 कस्यचित क्वचित् पक्षपाते सति पुरुषमतिवैरूप्येणतत्त्वाव्यवस्था न प्रसगात (शाकरभाष्य 2 1 1)।

2 शाकरभाष्य 2 1 11 2 3 1 1 2 2।

3 देख शाकरभाष्य गौडपाद की कारिका पर 3 27। गौडपाद की कारिका क 3 1 के ऊपर भाष्य करते हुए शकर कहते हैं यह प्रश्न किया गया है कि क्या केवल श्रुति की ही साक्षी के आधार पर अद्वैत सिद्धात को सिद्ध मान लिया गया है और यह कि तर्क सम्भवत इसको प्रत्यक्ष के आधार पर सिद्ध करके नही दिखा सकता और इस अध्याय मे दिखाया गया है कि किस प्रकार अद्वैत की सिद्धि तर्क के द्वारा भी हो सकती है। तर्क का ईश्वरीय ज्ञान के साथ क्या सबध है इस *विषय पर अधिक पूर्ण विचार विमर्श के लिए श्री वी० सुब्रह्मण्य अय्यर के दो लेख सस्कृत रिसर्च* जुलाई 1915 और इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू अप्रैल 1918 मे तथा एल० सूर्यनारायणन का लेख समीक्षात्मक आदर्शवाद तथा अद्वैत वेदात मैसूर यूनिवर्सिटी मैगजीन नवम्बर 1919 मे देखें।

4 शाकरभाष्य 2 1 6 2 1 11।

5 शाकरभाष्य 2 1 4 37 2 2 41 2 4 12।

6 शाकरभाष्य 2 1 1।

7 केवल श्रुतिमात्र प्रत्यक्ष की साक्षी की अपेक्षा श्रेष्ठतर नही है किन्तु वहा श्रुति जिनका निश्चित तात्पर्य है श्रेष्ठ है। तात्पर्यवती श्रुति प्रत्यक्षात् बलवती न श्रुतिमात्रम (भामती सिद्धात सग्रह)।

8 विवरण का ग्रथकार भामती के इस मत का विरोध करता है इस आधार पर कि स्वतन्त्र तात्पर्य का अस्तित्व निर्दोष कसौटी नही है और श्रुति अपने रूप मे ज्ञान के अन्य साधनो की साक्षी की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योकि यह निर्दोष है और इसका स्वरूप भी ऐसा है कि इसके ऊपर सत्य के निश्चय के लिए और कोई न्यायालय भी नही है।

सकते।[1] इसी प्रकार धार्मिक विचार-विमर्श के लिए धर्मशास्त्र के कथनों का अन्तर्दृष्टि द्वारा जाने गए तथ्यों के अनुकूल होना आवश्यक है। सबसे उच्चकोटि का प्रमाण प्रत्यक्ष है, चाहे ये आध्यात्मिक हों अथवा ऐन्द्रिक, और उसे इस योग्य भी होना चाहिए कि निश्चित अवस्थाओं के अनुसार इसका हम भी अनुभव कर सकें। श्रुति का प्रामाण्य भी इसी तथ्य के आधार पर माना गया है कि यह केवल अनुभव का ही आख्यान है और चूंकि अनुभव आत्मपरिचयरूप होता है इसलिए वेदों को स्वतःप्रमाण कहा गया है, जिन्हें बाहर से किसी के समर्थन की आवश्यकता नहीं है।[2] इसलिए वेदों में वे सत्य हैं जिनकी खोज मनुष्य अपनी शक्तियों का उपयोग करके भी कर सकता है, यद्यपि यह हमारे लिए एक लाभप्रद विषय है कि वे ईश्वर प्रदत्त हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि सब मनुष्यों को इतना साहस, समय तथा साधन प्राप्त नहीं हैं कि वे इस प्रकार के उद्योग की कठिनाइयों का सामना कर सकें।

23. परा तथा अपरा विद्या

परमसत्य का नाम परा विद्या है। इसकी विषयवस्तु है आत्मा का एकत्व तथा उसीकी एकमात्र यथार्थसत्ता। यदि तार्किक साधनों के द्वारा हम परमयथार्थता का वर्णन करने का प्रयत्न करें तो हमें अगत्या कल्पना तथा प्रतीक का प्रयोग करना होगा। वेदों में हमें सत्य की सबसे उच्चश्रेणी की सन्निकटता मिलती है। व्यावहारिक सत्य अथवा अपरा विद्या सर्वथा असत्य नहीं है। यह वह सत्य है जो सांसारिक-चैतन्य के दृष्टिकोण से देखा जाता है।[3] देश, काल तथा कारणकार्यभाव से आवद्ध यह संसार अन्तिम नहीं है किन्तु हमारे अपने ज्ञान की श्रेणी से सम्बन्ध रखता है। इसका अस्तित्व हमारे आंशिक ज्ञान के कारण है और उस सीमा तक जहां तक हमारा ज्ञान आंशिक है इसका विषय अमूर्त भावात्मक है। उच्च स्तर के एकेश्वरवाद-सम्बन्धी विचार तथा निम्नस्तर के बहुत्व सम्बन्धी विचार एक समान अर्थ में सत्य नहीं हो सकते। शंकर इस कठिन समस्या का हल निम्नस्तर के बहुत्व-सम्बन्धी विचार को उच्च स्तर के विचार से गिरावट का रूप देकर करते हैं।

निम्नस्तर का ज्ञान (अपरा विद्या) मायारूप या भ्रमात्मक नहीं है अपितु केवल सापेक्ष है। अन्यथा, शंकर का परिष्कृत और उत्साह से भरा विचार-विमर्श अपरा विद्या के विषय में असंगति के कारण हास्यास्पद सीमा तक पहुंच जाएगा। वे स्वीकार करते हैं कि अपरा विद्या अन्त में जाकर हमें परा विद्या तक पहुंचा देती है। "इस श्रुति में सृष्टिरचनाविषयक विवरण का अन्तिम उद्देश्य, जिसे अविद्या स्वीकार करती है, शिक्षाएं हैं जो ब्रह्म को यथार्थ आत्मा बतलाती हैं। इसे भूलना न चाहिए।"[4] अतीन्द्रिय निरपेक्षतावाद जब मनुष्य के मस्तिष्क रूपी कारखाने में से गुजरता है तब एक व्यावहारिक अस्तित्ववाद बन जाता है जो तब तक ही सत्य है जब तक कि सत्यज्ञान का उदय नहीं होता, जैसे स्वप्नावस्था की वस्तुएं तब तक सत्य हैं जब तक कि जाग्रत् अवस्था नहीं

1 नह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे (भामती, प्रस्तावना)।

2 प्रामाण्य निरपेक्षम्।

3 तुलना कीजिए, ड्यूसन : "यदि ठीक-ठीक विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि यह अपरा विद्या व्यावहारिक रूप में अध्यात्म विद्या ही है, अर्थात् विद्या जिस रूप में अविद्या के दृष्टिकोण से विचार करने पर हमें प्रतीत होती है" ('ड्यूसन सिस्टम आफ दि वेदांत', पृष्ठ 100)।

4 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 106।

आ जाती।[1]

अविद्या अथवा सीमित विचार यथार्थसत्ता को अपना साक्ष्य प्रदान करते हैं जो विचार के क्षेत्र से परे है। यह हमे इस परिणाम पर पहुचाता है कि इसका सत्य सापक्ष है और प्रत्यक्ष रूप में यह यथार्थसत्ता के स्वरूप को ग्रहण नही कर सकता।[2] जहा एक साधारण रहस्यवादी योगी भेदो से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है और अपने-आपको तथा अपनी खोज के विषय को भी अज्ञानरूपी मेघ मे खो देता है, शकर हमारे सम्मुख कुछ दार्शनिक कठिनाइया उपस्थित करते हैं और हमे बतलाते है कि ये एक श्रेष्ठ अन्तर्दृष्टि की सम्भावना की ओर सकेत करती हैं जिसके लिए वह सब प्रकाशस्वरूप है जो दैवीय और बुद्धि के लिए अधकारमय है। वेदो मे, जिन्हे प्रामाणिक माना जाता है, शकर के अनुसार अपरा तथा परा विद्या दोनो ही हैं। वेद एक अद्वितीय ब्रह्म का वर्णन करते हैं तथा बहुत्वपूर्ण विश्व की अयथार्थता को भी बताते है।

शकर के दर्शन मे हमे तीन प्रकार के अस्तित्व मिलते है: (1) पारमार्थिक या परमयथार्थसत्ता, (2) व्यावहारिक सत्ता और (3) प्रातिभासिक या भ्रमात्मक सत्ता। ब्रह्म प्रथमश्रेणी की सत्ता है, देश, काल तथा कारणकार्य से बद्ध ससार दूसरी श्रेणी का है, और कल्पनात्मक पदार्थ जैसे सीप मे चादी तीसरी श्रेणी के हैं।[3] भ्रमात्मक सत्ता मे सार्वभौमिकता नही रहती। यह किसी-किसी

1. शाकरभाष्य 2 1, 14।

2 तुलना कीजिए, डाक्टर मैकटेगट "ऐसी अध्यात्म विद्या जो बोधग्रहण की उपेक्षा करती है नि सन्देह दूषित समझी जाएगी। किसीने कभी भी तर्क का प्रतिषेध नहीं किया किन्तु अन्त म तर्क ने उसे खण्डित कर दिया। किन्तु अध्यात्म विद्या वह वस्तु है जिसका प्रारम्भ बोधग्रहण के दृष्टिकोण से होता है और वह उससे केवल उसी अवस्था मे पृथक होती है जब कि उक्त दृष्टिकोण निरपेक्ष नहा प्रतीत होता अपितु अपने से परे किसी वस्तु की कल्पना करता है। निम्नतम को पार करता उसकी उपक्षा करना नहीं है" ('हीगलियन कास्मोलाजी' पृष्ठ 292)। स्पिनोजा ने अनुपात तथा 'साइंटिया इन्ट्यूइटिवा' के मध्य भेद किया है। वह ज्ञान के तीन प्रकार मानता है (1) एक वह जो कल्पनाजन्य है जो केवल सम्मति प्रकट करता है। इसमें समस्त अपर्याप्त तथा सदिग्ध विचार आते है। यह भ्रमात्मक ज्ञान का भी आदि स्रोत है। (2) तर्क जो हमें सामान्य विचार तथा विज्ञान के ज्ञान को प्रदान करता है और जो 'वस्तुओं की अनुकूलताओं भेदो तथा विरोधों को ग्रहण करने' का प्रयत्न करता है ('एथिक्स', खण्ड 2 पृष्ठ 29 स्कालियम)। जहा एक ओर एक औसत दर्जे के अशिक्षित मनुष्य के विचार का कारण कल्पना होती है वहा दूसरी ओर एक वैज्ञानिक के क्रमबद्ध ज्ञान का कारण तर्क होता है। (3) अन्तर्दर्शन मे दार्शनिक मेधा का प्रयोग कलापूर्ण अन्तर्ज्ञान और रचनाशक्ति समाविष्ट है। इसका विषय है व्यक्ति। तो भी शकर हम योरुप के विचारको मे सबसे अधिक प्लेटो की याद दिलाते हैं। *दोनो ही महान् आध्यात्मिक यथार्थवादी थे जिन्होंने अपने विचारो में भूतकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों* का सश्लेषण किया। दोनों ने ज्ञान के दो विभाग किए अर्थात् उच्चतम तथा निम्नतम (परा तथा अपरा), जिनम से पराविद्या के ज्ञान का क्षेत्र है निरपेक्ष सत्य अथवा आदर्श तथा नि श्रेयस एव अपरा विद्या के ज्ञान का क्षेत्र है आभासमात्र जगत्। यह स्वीकार करते हुए कि यथार्थता ऊपर के प्रतीति रूप धरातल से कहीं दूर है दोनो ही हमें यह बतलाते हैं कि इसका ग्रहण आत्मा के निजी स्वरूप म पहुच जाने पर हो सकता है। दोनो ही अन्तर्दर्शन मे विश्वास रखते हैं जिसके द्वारा हम यथार्थसत्ता के प्रतीति रूप का साक्षात् होता है।

3 वेदान्त परिभाषा। अद्वैत की कुछ अर्वाचीन पुस्तको में इस भेद का प्रयोग जीव के लिए भी किया जाता है। दृग्दृश्यविवेक मे यह कहा गया है कि व्यक्तित्वहीन चैतन्य अपने उप-सहायकों *से परिमित हो यथार्थ आत्मा है, जब वह अपने अन्दर कर्तृत्व तथा क्रियाशीलता* धारण कर लेता है और इन्द्रियो तथा अन्त करण से अपने को परिमित कर लेता है तो यही व्यावहारिक आत्मा है, प्रतीति रूप जीव समझता है कि इसका स्वप्न शरीर तथा चैतन्य ये सब इसीके हैं। (सिद्धान्तलेश सग्रह, 1)।

अवसर पर उदय होती है। इसमें क्रियात्मक क्षमता नही है। प्रतीतिरूप सत्ता का भ्रमात्मक भाव इसके अधिष्ठान के प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने पर नष्ट हो जाता है। व्यावहारिक अस्तित्व-सम्बन्धी भूल जब इसके आधारस्वरूप ब्रह्म का साक्षात् हो जाता है तो स्वयं नष्ट हो जाती है। मिथ्या तथा स्वप्नजगत् की अपेक्षा व्यावहारिक-जगत् में उच्चतम कोटि का सत्य विद्यमान है। यह आत्माओ का जगत् है, उनकी परिस्थिति तथा प्रभु है, किन्तु यथार्थ मे इसका मूल एकमात्र ब्रह्म मे है।[1] यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आनुभविक आत्मा तथा व्यावहारिक जगत् दोनो ही यथार्थता की एक ही कोटि मे है। व्यावहारिक जगत् भ्रातिरूप नहीं है क्योकि इसका निर्माण आनुभविक अहंभाव के विचारों से ही हुआ है। देश में अवस्थित बाह्य जगत् का अस्तित्व आनुभविक आत्मा तथा इसके विचारों से स्वतन्त्र है। ये दो व्यावहारिक क्षेत्र आत्माओं तथा पदार्थों के एक-दूसरे के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध में रहते हैं। व्यावहारिक अहं के रूप मे जो हम इस ससार मे पाते हैं वह यह है कि उसे हमने अतीन्द्रिय विषयी के रूप मे वहां रखा है।

24. शंकर के सिद्धान्त और कुछ पाश्चात्य विचारों की तुलना

शकर के ज्ञानविषयक सिद्धान्त की तुलना प्राय काण्ट के सिद्धान्त के साथ की जाती है।[2] किन्तु इन दोनों में जहा अद्भुत समानताए हैं वहां बहुत दूर तक भेद भी है। काण्ट के समान शकर भी ज्ञान की सम्भावनात्मक समस्या को व्यवस्थित बनाते हैं यहा तक कि आत्मविषयक ज्ञान के लिए भी व्यवस्था का निर्माण करते हैं और दार्शनिक जिज्ञासा मे इसे प्रमुख स्थान देते हैं। ये दोनों विचारक आनुभविक जगत् को प्रतीतिरूप मानते हैं और मानवीय मस्तिष्क की रचना को इस सीमितता का कारण बताते हैं। मनुष्य के बोधात्मक यन्त्र की परीक्षा करने के बाद कान्ट इस परिणाम पर पहुंचता है कि मनुष्य के लिए अतीद्रिय विषयों का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है क्योकि जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है वह देश, काल की आकृतियों तथा बोधग्रहण की श्रेणियों के अन्दर आबद्ध है जिनमे प्रधान है कारणकार्यभाव। यथार्थसत्ता के सत्त्व को हम नही जानते, हमे जिसका ज्ञान प्राप्त होता है वह उसका केवल आभासमात्र है। शंकर के अनुसार यह हमारी दृष्टि का एक बहुत बडा दोप है जिसके कारण जो वस्तुत: एक है उसको हम अनेक के रूप मे देखते हैं। पर्याप्तमात्रा मे असद्भासता के कारण हमारी तार्किक क्रियाशीलता हमे प्रतीतिरूप जगत् की ओर बलात् ठेलती है जो सदा के लिए हमारे तथा यथार्थसत्ता के मध्य मे अपना स्थान बनाए हुए है। शंकर और काण्ट दोनों ही ज्ञान की उपाधियों के प्रश्न को आनुभविक विधि की अपेक्षा समीक्षात्मक विधि से हल करते हैं। शकर ने काण्ट की भूल से अपने को बचा लिया जिसने अनुभव के तार्किक सकेतों को अनुभव की पूर्वरूप उपाधिया न मानकर यह घोषणा की कि व्यवहारातीत जगत् के पदार्थ अपने-आपमे

1 तुलना कीजिए, माण्डूक्योपनिषद् पर शांकरभाष्य के सम्बन्ध में आनन्दगिरि की टीका—ब्रह्मण्येव जीवो जगत् ईश्वरश्चेति सर्वं काल्पनिक सम्भवति।

2 प्लाटिनस के रहस्यवादी आदर्शवाद का बहुत-सा सार भारतीय विचार से लिया गया है। हम जानते हैं कि प्लाटिनस सम्राट् गार्डियन (सिकन्दर) के साथ अपने प्रचार के सिलसिले में पूर्वीय देशों मे आया था और उस समय वह भारतीय आदर्शवादियों के सम्पर्क मे आया होगा।

यथार्थ हैं। शकर का लक्ष्य यह था कि वे अनुभव के क्षेत्र मे अन्तर्निहित सिद्धान्त को खोज निकालें न कि उससे परे के जगत को। किन्तु इस विषय मे दोनो एकमत हैं कि यदि तार्किक बुद्धि अपने को यथार्थता का निर्माण करने वाली समझती है तो यह सत्य की प्राप्ति के अधिकार से वचित हो जाती है, और जैसा कि काण्ट का कहना है, यह भ्रांति की एक अन्तर्निहित शक्ति के रूप मे परिणत हो जाती है। शकर और काण्ट मनोवाद का खण्डन करते हैं। डेस्कार्ट के विपरीत, जो हमारे अपने अस्तित्व सम्बन्धी ज्ञान, जो साक्षात् (अव्यवहित) तथा सशयरहित है, तथा बाह्यविषयो के ज्ञान के मध्य भेद करता है, जो अनुमानजन्य तथा समस्यापूर्ण है, काण्ट का तर्क है कि बाह्य जगत् का ज्ञान भी हमारे लिए उतना ही प्रत्यक्ष (अव्यवहित) तथा निश्चित है जितना कि हमारा आत्म-विषयक ज्ञान है। काण्ट बर्कले के विषयिविज्ञानवाद का अपने 'क्रिटिक आफ प्योर रीजन' नामक ग्रन्थ के दूसरे सस्करण के 'आदर्शवाद का खण्डन' नामक प्रसिद्ध अध्याय मे खण्डन करता है। 'सरल किन्तु आनुभविक रूप से निर्णीत मेरे अपने अस्तित्व की चेतनता यह सिद्ध करती है कि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व देश के अन्दर है।" किन्तु यदि यथार्थसत्ता से हमारा तात्पर्य ऐसी सत्ता से है कि जिसका विचार चेतनता से स्वतन्त्र रूप मे विद्यमान समझकर किया जा सके और जिसका सम्बन्ध किसी ज्ञान से न हो तब शकर के अनुसार न तो यह व्यावहारिक आत्मा, जिससे हम परिचित हैं, न ही यह बाह्यजगत, जिसका हमे ज्ञान है, यथार्थ है। और काण्ट कहता है कि अनुभवगम्य सब पदार्थ प्रतीतिमात्र है, तात्त्विक नहीं हैं।[1] दूसरी ओर यदि यथार्थसत्ता से हमारा तात्पर्य अनुभव की ऐसी सामग्री से हो जिसपर निर्भर किया जा सके तब व्यावहारिक आत्मा तथा बाह्य जगत् दोनो ही यथार्थ हैं और दोनो एक ही श्रेणी के हैं। परिमित शक्तिवाली आत्मा तथा यह जगत यथार्थ अथवा अयथार्थ है और यह इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि हम यथार्थ का क्या तात्पर्य समझते हैं। जहा काण्ट वस्तुओ के अपने आपमे अनेकत्व मे विश्वास करता है, शकर बलपूर्वक कहते हैं कि आधारभूत यथार्थता एक ही है। इस विषय मे शकर का विचार काण्ट की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है जो अनुचितरूप मे जगत् के भेदो को वस्तुओं की निजी सत्ता के क्षेत्र मे ले आता है।

शकर काण्ट की भाति भाव (आशय) तथा बोधग्रहण के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीचते और न वे यह विश्वास ही करते हैं कि हमारी बुद्धि के तत्त्वो मे ठोस तथ्यो को प्रस्तुत करने की शक्ति नहीं है। काण्ट के अनुसार प्रत्यक्ष का असम्बद्ध वाक्यविन्यास ही, जिसे ज्ञान नही कहा जा सकता, हमारे सामने प्रस्तुत होता है इसमे से जिस वस्तु का हम अपने वर्गविभाग के द्वारा निर्माण करते हैं और जिसमे आवश्यकता तथा व्याप्ति बाहर से आकर जुड जाती है वही ज्ञान है। शकर के दर्शन मे मानसिक रचना तथा प्रस्तुत तथ्य मे कोई विरोध नही है। ये दोनो ही एक दूसरे के अनुकूल हैं। यही भेद शकर तथा ब्रैडले में भी है। शकर यह नहीं कहते कि वास्तविक शारीरिक सवेदना मे हमे 'वह' का अनुभव होता है और यह कि विचार का आधार 'क्या' को 'वह' से पृथक् करने की दोषपूर्ण कल्पना है। इसका परिणाम यह होता है कि हम फिर से 'वह' को केवल विचार रूप उपस्थिति के द्वारा अपने ध्यान मे नहीं ला सकते। और न प्लेटो के विरुद्ध अरस्तू द्वारा किए गए इस आक्षेप के साथ ही शंकर अपनी सहमति प्रकट कर सकते हैं कि यदि इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य ज्ञान बुद्धिगम्य नही है तब विचार हमें इन्द्रियग्राह्य जगत् को समझने मे सहायक नही हो सकते। शकर की दृष्टि मे इन्द्रियग्राह्य बुद्धिग्राह्य मे न्यूनतम

1 देखें, काण्ट 'प्रोलेगोमना' देखें 13 रिमार्क 2।

है और बुद्धिगम्य इन्द्रियगक् का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने में हमें सहायता प्रदान करता है, यद्यपि उनके मन में बुद्धिगम्य भी यथार्थ से न्यूनतम कोटि का है। वे यथार्थ को इन्द्रिय-ग्राह्य से और बुद्धिग्राह्य से भी पृथक् करते हैं और उनका मत है कि इन्द्रियगम्य की अपेक्षा बुद्धिगम्य यथार्थसत्ता के अधिक सन्निकट है।

कहीं-कहीं शंकर के सिद्धान्त की तुलना एम० बर्गसा के सिद्धान्त के साथ की जाती है जिसका तर्क है कि मनुष्य में चैतन्य का विकास हुआ है। अमीबा (आद्यजीव) से ऊपर की ओर उठने मे एक लम्बा समय लगा है। मनुष्य के विकास की प्रक्रिया में उन प्राणियों की अनेक प्रकार की अन्तर्निहित चेतनता का दमन हुआ है। हम जो आज हैं, हमे इस स्थिति तक पहुचने के लिए बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ा है। यद्यपि हमारे तार्किक मस्तिष्कों की उपयोगिता क्रियात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए है, तो भी यह कल्पना करना अयुक्तियुक्त है कि अब जो कुछ हम हैं उसमे हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व विलीन हो गया। इस जगत् मे भी हमें मेधावी तथा अन्तर्दृष्टि सम्पन्न ऐसे मनुष्य मिलते हैं जिनके अन्दर प्रसुप्त शक्तियां उत्तेजना पाकर जीवन मे प्रकट होती हैं। शंकर बर्गसा के इस मत से सहमत नही होगे कि बुद्धि जीवन के प्रवाह को छिन्न-भिन्न कर देती है और यह कि अन्तविहीन गत्यात्मक प्रक्रिया को बुद्धि एक स्थिर विषय अथवा ज्यामितीय गुणोत्तर श्रेणी के रूप में परिणत कर देती है। बुद्धि केवल यथार्थता का अवयव विच्छेद ही नहीं करती अपितु उसका फिर से निर्माण कर देने का भी प्रयास करती है। अपने व्यापारों मे इसके विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक दोनों ही रूप हैं। विचार सम्भाव्य घटना को विधान में परिणत कर देता है। यह केवल यथार्थता को भिन्न-भिन्न भागों मे विभक्त ही नहीं करता अपितु देश, काल तथा कारणकार्यभाव के द्वारा एकत्व के बन्धनों मे सभालकर ग्रहण किए रहता है। ठोस आनुभविक जीवन के लिए हमारी बुद्धि सर्वथा पर्याप्त है। इतना ही नहीं अपितु एक-दूसरे के लिए उनका निर्माण हुआ है और ये एक ही प्रक्रिया की समानान्तर अभिव्यक्तिया हैं। यदि शकर बुद्धि को मनुष्य के चैतन्य की सर्वोच्चवृत्ति नही मानते तो इसलिए कि अपने-आपमे पूर्ण होने पर भी बुद्धि-जगत् हमारे आगे एक समस्या उपस्थित कर देता है। तार्किक दृष्टि से जो पूर्ण जगत् है जीवन तथा अनुभव जगत् के लिए पूर्ण नही है। यही कारण है कि शंकर इसे अन्तिम या सुनिश्चित नहीं मानते। उनकी दृष्टि मे केवल गणितविद्या ही भावात्मक अमूर्त नहीं है किन्तु समस्त ज्ञान अर्थात्—इतिहास, कला, नीतिशास्त्र और धर्म भी उसी कोटि मे हैं क्योकि ये सब द्वैतपरक दृष्टिकोण की धारणा को पूर्व से ही मान लेते हैं। शकर इस विचार से कि बुद्धि विश्लेषण तथा पृथक्भाव का उपयोग करती है इसे दोषपूर्ण नही ठहराते। वे इसकी मूर्तता को स्वीकार करते हैं और फिर भी इसे असन्तोषप्रद मानते हैं। जब हम सरल तत्त्वों से संयुक्त पदार्थों के वर्गों की ओर आते हैं और तर्क के द्वारा एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व (ईश्वर) तक पहुचते हैं, जिसका अस्तित्व इस विश्व में व्यक्त हो रहा है, तो शकर अनुभव करते हैं कि हमारे तर्कशास्त्र ने मूर्तता का रूप धारण कर लिया। विचार की विजय, ठोस पदार्थ की विजय है किन्तु अत्यन्त ठोस विचार भी इन अर्थों मे भावात्मक ही है कि यह यथार्थसत्ता को उसके वास्तविक रूप मे समझने में असमर्थ है। हम जितना ही ऊपर की दिशा मे विचार करेंगे हमारा ज्ञान उतना ही उत्कृष्ट होगा तो भी सर्वोच्च श्रेणी का विचार पूर्ण सत्य नहीं है। यथार्थसत्ता की खोज मे बुद्धि की सहायता से आगे-आगे और ऊपर की ओर बल देने पर हम ऐसी यथार्थसत्ता तक पहुंचते हैं जो पूर्ण, समृद्ध तथा अगाध प्रतीत होती है। यह ईश्वर है और यही एकमात्र साधन है जिसके द्वारा निश्चित विचार के स्तर पर ब्रह्म का चिन्तन व मनन किया जा सकता है। किन्तु ईश्वर सर्वोच्च ब्रह्म नहीं

है क्योंकि ईश्वर का एकत्व बुद्धिगम्य नही है।

पाश्चात्य विचारकों मे से ब्रैडले सबसे अधिक शकर के निकट है यद्यपि दोनो के बीच सिद्धान्त विषयक मौलिक भेद है। ब्रैडले अपने 'अपीयरेंस एण्ड रियेलिटी' नामक ग्रन्थ के पहले भाग मे मानवीय ज्ञान की अवधियो के सिद्धान्त का, मुख्य और गौण गुणो, द्रव्य तथा गुण, गुणो तथा सम्बन्धो मे परस्पर भिन्नता की तीक्ष्ण तथा सूक्ष्म समालोचना के द्वारा, परिष्कार करता है। यह उसका निश्चित विश्वास है कि विचार के द्वारा कभी भी यथार्थसत्ता का ग्रहण नही हो सकता। 'क्या' और 'वह' को पृथक्-पृथक् करके यह अपने लक्ष्य तक नही पहुच सकता अर्थात यथार्थसत्ता के रहस्य को पुन प्राप्त नही कर सकता। ब्रैडले के अनुसार उदाहरण के रूप मे, जब हमे, नीले रग की सवेदना होती है तब 'वह' का भी ज्ञान होता है, जो वस्तुत उपस्थित है और एक 'क्या' का भी अनुभव होता है जो यह विशेष गुण है जिससे इसकी पहचान होती है। साक्षात् (अव्यवहित) बोध ग्रहण मे हम दोनो पक्षो मे परस्पर भेद से अभिज्ञ नही होते। यह एक 'वह—क्या' है जो प्रक्रिया का वस्तुविषय है जहा पर 'वह' का भेद 'क्या से चैतन्य के अन्दर प्रविष्ट नही होता। किसी विषय के निर्णय मे हम दोनो मे भेद करते हैं अर्थात् विधेय का विषयी से भेद और विधेय को विषयी (ज्ञाता) का गुण बनाते है। यह समस्त निर्णयो के विषय मे सत्य है। जीवन अथवा यथार्थसत्ता एक ऐसी सवेदना है जिसमे 'वह' और क्या' पृथक् नही किए जा सकते किन्तु तार्किक चिन्तन सदा भावात्मक होता है इन अर्थो मे कि इसका वास्तविक तत्त्वसारवस्तु विषय की प्रक्रिया से मानसिक पार्थक्य मे है। शकर के मत मे 'वह' का 'क्या' से पार्थक्य तर्कशास्त्र का अनिवार्य दूषण नही है उन अर्थो मे जिनमे ब्रैडले इसे लेता है। और न वह यही कहता है कि यथार्थसत्ता जो परामर्श का विषय है स्वय सवेदनारूप तथ्य मे हमारे सम्मुख प्रस्तुत की जाती है। यह मान भी लिया जाए कि ज्ञान मे विचार मनोवैज्ञानिक प्रतिकृति नही है किन्तु आदर्श वस्तुविषयक है, और यह भी मान लिया जाए कि विचार सम्बन्धी वस्तुविषयक परामर्श यथार्थ-जगत् से सम्बन्ध रखता है तो भी शकर का कहना यह है कि यथार्थ, जिसको विचार-सम्बन्धी वस्तुविषय विशेषरूप से निर्देश करने मे प्रवृत्त होता है व्यक्तिविशेष का सवेदनापरक अनुभव नही वरन् स्वतन्त्र यथार्थसत्ता है। ज्ञान विषयनिष्ठ गुणो के द्वारा किसी सवेदना अथवा उसके विस्तार की विशिष्टता का वर्णन नही करता है किन्तु उसकी विशिष्टता का वर्णन करता है जो यथार्थसत्ता वहा प्रकट है, मेरा अथवा मेरी मनोभावनाओ का चाहे जो कुछ भी हो। जब तक हम किसी व्यक्ति अनुभव के स्वरूप के अनुसधान मे रत हैं, हम एक मनोवैज्ञानिक खोज मे निरत हैं, किन्तु यह तार्किक प्रयास नही है। 'सवेदना' शब्द के उपयोग के कारण ब्रैडले के यहा जो सन्दिग्धता है शकर के यहा उसका अभाव है। तो भी उसे यह स्वीकार करना ही होगा कि समस्त परामर्श का यथार्थरूप मे ज्ञाता (विषयी) अपने यथार्थरूप मे यथार्थसत्ता ही है और विधेय एक ऐसा गुण है जिसे हम इसके साथ सम्बद्ध करते हैं यद्यपि यह इससे कही निम्नकोटि का है। इस प्रकार उद्देश्य और विधेय यथार्थसत्ता तथा प्रतीति के अनुकूल हैं। "प्रत्येक परामर्श मे असली उद्देश्य यथार्थसत्ता है जो विधेय से भी अतीत है और विधेय जिसका एक विशेषण है। जब तक 'क्या' 'वह' के साथ मिलकर दोनो एक नही हो जाते तब तक हम सत्य तक नही पहुचते और जब ये दोनो मिलकर एक हो जाते हैं तो हमे विचार नहीं मिलता। जैसाकि ब्रैडले ने कहा है, "यदि तुम ऐसे पदार्थ का विधेय बनाते हो जो भिन्न है तो तुम उद्देश्य को ऐसा वर्णन करते हो जैसा कि वह नही है, और यदि तुम्हारा विधेय ऐसा है जो भिन्न नही है तो तुमने मानो कुछ कहा ही नही।" जब

तक हम सोचते हैं कि विधेय उद्देश्य से न्यूनतम है तो प्रतीति भी यथार्थता से न्यून है। शकर के अनुसार समस्त परामर्श दोषपूर्ण है इसलिए नहीं कि यह 'वह' को 'क्या' से पृथक् करता है किन्तु इसलिए कि विधेय उद्देश्य से भिन्न है और उद्देश्य यथार्थसत्ता है। भेद के बिना विचार सम्भव नही है, और भेद के साथ यथार्थसत्ता सम्भव नही। ब्रैडले का मत है कि यथार्थसत्ता सामञ्जस्यपूर्ण (सगत) है और इसलिए सत्य को भी सामञ्जस्यपूर्ण होना चाहिए। स्वात्मपूर्णता और संगीत यथार्थसत्ता के लक्षण हैं। शंकर इन्हे सम्भाव्य विधेयो के मूल्यांकन में स्वीकार करते हैं। देश, काल और कारण आदि न तो स्वत पूर्ण हैं और न सगत ही हैं। वे स्वात्मविरोधी हैं और अपने से दूर तक भी विस्तृत होते हैं। शकर के निश्चित दृष्टिकोण मे सामञ्जस्यपूर्ण सत्य भी यथार्थसत्ता नही है। हम यथार्थसत्ता को भी सामञ्जस्यपूर्ण नही मान सकते क्योंकि सामञ्जस्य का अर्थ है कि अनेक भाग एक पूर्ण इकाई में परस्पर सम्बद्ध हैं। हिस्सों तथा पूर्ण इकाई का यह भेद व्यावहारिक है जिसका हम इन्द्रियातीत यथार्थसत्ता में आधान कर रहे हैं। सामञ्जस्य के रूप में सत्य की माग है कि हम ईश्वर के निरपेक्ष अनुभव की पूर्वकल्पना करें जिसके अन्दर समस्त सीमित विषयी तथा विषय एक क्रमबद्ध एकत्व में समाविष्ट हो। शकर का मत है कि चूकि जिस एकत्व की हम कल्पना करते हैं वह बुद्धिगम्य नही है, इसमे भी प्रतीति अथवा अयथार्थता का लक्षण पाया जाता है। इस विषय मे ब्रैडले का मत स्पष्ट है। हमारे समस्त विचार में 'वह' और 'क्या' परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं तथा एक-दूसरे के विरोध मे काम करते हैं। एकत्व का फिर से स्थापन करना असम्भव है। तर्कशास्त्र नेकनीयती के साथ इस प्रकार की पूर्वधारणा बना लेता है कि इस जगत् के समस्त पार्श्व एक पूर्ण इकाई से सम्बद्ध हैं, और यह कि परस्पर के भेद केवल प्रतीतिरूप है तथा विधेय और साध्यपक्ष एक ही हैं एव प्रतीतिरूप पदार्थ यथार्थसत्ता के साथ एकता रखते है। ब्रैडले यह धारणा बनाकर चलता है कि तार्किक जगत् में ऐसा कोई भी पदार्थ अपूर्व नही है जिसे पर्याप्त परिवर्तनों के साथ यथार्थसत्ता का रूप न माना जा सके। किन्तु वह हमे यह स्पष्ट रूप से नही बतलाता कि उस परिवर्तन की अवधि क्या है। जब वह इस प्रकार का कथन करता है कि कोई भी परामर्श सम्भवत सत्य नहीं हो सकता जब तक कि परामर्श करनेवाले की यथार्थसत्ता नही है तो उसका यह कथन पूर्णरूप मे तर्कसम्मत है और शकर भी उसके इस मत से सहमत होगे। ब्रैडले कहता है : "मैं जिस परिणाम पर पहुचा हू वह यह है कि सम्बन्धो के आधार पर विचार करने की विधि अर्थात् ऐसी कोई भी विधि जो परिभाषाओं तथा सम्बन्धों को लेकर चलती है—प्रतीति की तो प्राप्ति करा सकती है किन्तु सत्य की नही। यह कामचलाऊ है, एक योजना है, केवल एक क्रियात्मक समझौता है जो अत्यावश्यक तो है किन्तु अन्त मे जाकर अत्यन्त निर्बल सिद्ध होता है।" इससे यह *परिणाम* निकलता है कि *यथार्थ का सामञ्जस्यपूर्ण* रूप मे निरूपण करना भी एक "योजना है जो अत्यावश्यक क्रियात्मक समझौता है किन्तु अन्त में अत्यन्त दुर्बल सिद्ध होती है।" ब्रैडले की ही भांति शकर की दृष्टि मे भी तर्कशास्त्र की अशक्तता इसमे है कि वह ज्ञाता तथा ज्ञान के मध्य भेद की कल्पना कर लेता है। समस्त द्वैतभाव केवल मानसिक है।[1]

शंकर के तर्कशास्त्र मे अज्ञेयवाद तथा ब्रह्मसाक्षात्कारवाद दोनो ही के अंश पाए जाते हैं। निरपेक्षसत्ता एक अप्राप्य लक्ष्य है जिसके प्रति परिमित शक्तिवाली बुद्धि यत्न करती है और जब यह सिद्धि तक पहुंच जाती है तो विचार का वह रूप नही रहता जो

1. द्वैत सर्वं मानसम्।

व्यावहारिक जीवन मे है, और यह ज्ञान के एक उच्चश्रेणी के तथा अधिक प्रत्यक्षरूप मे परिणत हो जाता है जिसमे यह तथा इसका विषय फिर परस्पर भिन्न रूप म नही पहचाने जा सकते। तर्क-सम्बन्धी आन्वीक्षिकीविद्या हमे ऐसी भूलो पर विजय पाने मे सहायता करती है जिन्हे विचार विवशतावश कर बैठता है। वे असगतिया तथा अपूर्णताए, जिनमे शकर का ज्ञानसम्बन्धी-सिद्धान्त रहने के लिए सन्तुष्ट है, उनके तर्क के किन्ही दोषो के कारण नही है वरन् वे एक ऐसे दर्शनशास्त्र की अनिवार्य अपूर्णताए है जो वस्तुओ की गहराई तक पहुचने का प्रयत्न करता है, उनकी दृष्टि म ज्ञान इतना आवश्यक है और भ्राति इतनी विनाशकारी है, कि वे किसी विषय को तब तक सत्य नही मानते जब तक कि वह तर्कशास्त्र के अन्वेषण द्वारा प्रमाणित न हो।

25 विषयनिष्ठ मार्ग देश, काल और कारण

वस्तुओ के सम्बन्ध मे सबसे प्रथम जो भाव उदय होता है उससे असन्तोष का होना ही अध्यात्म विद्या को जन्म देना है। जहा साधारण बुद्धि बाह्यरूप मे प्रतीत होनेवाले ज्ञान को ही अन्तिम मान लेती है, वहा चिन्तन जिज्ञासा को प्रोत्साहन देता है कि क्या प्राथमिकभाव को ही अन्तिम मान लेना चाहिए। दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य है अयथार्थ तथा यथार्थ मे भेद करना और नित्य तथा क्षणिक मे भेद करना। एक ऐसे समय मे जब कि धर्म की समस्या को यह रूप दिया जाता हो कि ईश्वर है या नही, शकर ने कहा कि मुख्य समस्या का सम्बन्ध अस्तित्ववाली सत्ता के विरुद्ध यथार्थसत्ता से है। वह वस्तु जो अस्तिरूप नही है यथार्थ हो सकती है किन्तु वह जो विद्यमान है यथार्थ नही भी हो सकती, यथार्थ सत्ता के लिए अस्तित्व का भाव असम्भव है। इस प्रकार का भेद ही भौतिक विज्ञान से भिन्न आध्यात्मिक ज्ञान का औचित्य है। और इस प्रकार का भेद ही समस्त दार्शनिक विचारधाराओ मे मिलेगा, चाहे वे पूर्वीय हो अथवा पाश्चात्य। माइलेशियन्स् की 'प्रकृति', एम्पिडोक्लीज़ तथा अनाक्सागोरस के 'तत्त्व', पाइथागोरस की 'सरयाए', ल्यूसिप्पस तथा डेमोक्रिटस के 'परमाणु', प्लेटो के 'विचार' और अरस्तू की 'आत्मानुभूति-क्रियाए' आदि सब इस प्रतीतिरूप जगत् की पृष्ठभूमि मे जो यथार्थसत्ता है उसकी खोज के अन्तिम परिणाम हैं। मध्यकालीन विद्वान् 'सारतत्त्व' तथा 'अस्तिरूपसत्ता' की समस्या को हल करने मे तत्पर थे। डेस्कार्टे तथा स्पिनोज़ा एकमात्र इसी समस्या मे व्यग्र थे। वोल्फ और काण्ट ने परिभाषाओ मे परिवर्तन किया और प्रतीतिरूप जगत् के विरोध मे सदबुद्धि द्वारा प्राप्त प्रकृतितत्त्व का प्रतिपादन किया। हीगल ने सत् तथा अस्तित्व मे भेद किया। आधुनिककाल के वैज्ञानिक समझते है कि हम जिन वस्तुओ को देखते हैं वे उस यथार्थसत्ता के प्रतीतिरूप है जो विद्युत् शक्ति है। यद्यपि उक्त विचारको मे परस्पर बहुत दूर तक के भेद हैं तो भी निरन्तर स्थायी एक सामान्यतत्त्व यथार्थसत्ता को सत्य तथा स्वत सम्भूत मानता है एव उसके अन्दर से उत्पन्न होनेवाला प्रतीतिरूप जगत् उससे भिन्न है।

शकर के दृष्टिकोण से यथार्थसत्ता के नित्यस्वरूप की व्याख्या करना ही दर्शनशास्त्र का कार्य है और वही विश्व का अन्तस्तम सारतत्त्व है। इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है। उसकी दृष्टि मे अस्तिरूप यथार्थसत्ता नही हैं। किसी घटना का घटित होना एक वस्तु है और उसका उचित मूल्याकन करना दूसरी वस्तु है। यह तथ्य कि हम किसी वस्तु को देखते हैं यह सिद्ध नही करता कि वह इसीलिए सत्य भी है। यदि वह सब जो होता है अथवा जिसे हम देखते है सत्य होता तो मिथ्या अनुभव कभी होता ही नही। यहा तक

कि धोखे मे डालने वाले स्वप्न भी एक अन्त.स्थ जीवन की घटनाएं हैं। केवल होने मात्र के नाते सभी अनुभव एक ही कोटि के हैं; वे न सत्य ही हैं और न असत्य ही।[1] तर्कशास्त्र ऐसी वस्तुओं को जो प्रत्येक बुद्धिगम्य हैं सत्य मानता है और ऐसी वस्तुओं को जो केवल व्यक्तिगत है असत्य मानता है। शंकर अनुभव के मुख्य सिद्धान्तों के बारे मे घोषणा करते हैं कि जो कुछ भी देश, काल और कारण से आबद्ध है वह यथार्थ नही हो सकता हमारे अनुभव का सामान्य रूप देश मे सम्बद्ध है किन्तु यथार्थसत्ता देश की अपेक्षा नहीं करती तथा वह अखण्ड है। क्योंकि जो भी देश मे परिमित है वह विभाज्य भी है और विभाज्य वस्तु सदा उत्पत्तिशील होती है यथार्थ नही। चूंकि यथार्थसत्ता जन्म-रहित तथा अविभाज्य है और इसीलिए उसमे देश का प्रतिबंध नही है।[2] देश का विभुत्व (व्यापकत्व) केवल सापेक्ष है। जो कुछ देश के अन्दर सीमित है वह काल से भी सीमित है।[3] काल के अपने अन्दर एक प्रकार की प्रवृत्ति अपने से दूर जाने की होती है यद्यपि यह कभी जा नही सकता। यह आनुभविक जगत् मे यथार्थसत्ता है।[4] अनुभव-रूप जगत् मे समय का क्षेत्र सार्वभौम (व्याप्त) है। किन्तु जगत् की अन्तविहीन समयावधि अपने-आपमे पर्याप्त नहीं है। ऐहलौकिक जगत् यथार्थ नहीं है।

चूंकि कारणकार्यभाव अनुभव का प्रधान वर्ग है इसलिए शंकर इसकी सूक्ष्म समीक्षा करते हैं, जिसका उद्देश्य उक्तभाव के सर्वथा असन्तोषजनक रूप को प्रकट करना है। किसी भी पद्धति मे घटनाएं एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं यह साधारण बुद्धि की तथा विज्ञान की भी धारणा है।

> शंकर न्याय-वैशेषिक के इस मत की समीक्षा करते हैं कि कार्य एक ऐसी वस्तु है जो कारण मे नही रहती। उनका तर्क है कि कार्य को अपने व्यक्त होने से पूर्व कारणरूप में अवश्य रहना चाहिए; क्योंकि जहां कोई वस्तु पहले से उपस्थित नही रहती वहां यह उत्पन्न नहीं हो सकती। बालू को दबाकर उसमें से तेल नही निकाला जा सकता। यदि कार्य कारण के अन्दर विद्यमान न होता तो चाहे कितनी भी चेष्टा की जाती इसे कारण के अन्दर से उत्पन्न करना असम्भव होता। कार्यसाधक जो करता है वह केवल इतना ही है कि वह कारण को कार्यरूप मे परिणत कर देता है। यदि कार्य अपने व्यक्त होने से पूर्व विद्यमान न होता तो इसके सम्बन्ध मे कार्यकर्ता की क्रिया का कोई प्रयोजन ही न होता। यदि हम कार्य को कारण का अपने से परे विस्तृतरूप मानें, जो कि इसके अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहता है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि कार्य

1 तुलना कीजिए, ब्रैडले "जो कुछ मुझे अस्तित्व मे, जगत् मे अथवा अपने अन्दर मिलता है यह दर्शाता है कि यह कुछ है और यह इससे अधिक प्रदर्शित नहीं कर सकता।...जो उपस्थित है वह निःसंदेह उपस्थित है उसे मानना ही होगा और उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। किन्तु एक स्वीकृत तत्त्व को मानने और बिना किसी सन्देह के उसकी विषयवस्तु को यथार्थ मान लेने मे बहुत बड़ा अन्तर है" ('अपीयरेंस एण्ड रियलिटी', पृष्ठ 206-207)।

2 देखें, शांकरभाष्य, 2 . 3, 7।

3 यद्धि लोक इयत्तापरिच्छिन्न वस्तु घटादि तद् अन्तवद् दृष्टम् (शांकरभाष्य, 2 : 2, 41)।

4 कुछ पुराणों ने काल को नित्य माना है, "प्रकृति. पुरुषश्चैव नित्यौ कालश्च सत्तम" (विष्णु पुराण)। किन्तु जैसाकि विद्यारण्य ने कहा है पुराणों का दृष्टिकोण वही है जो व्यावहारिक जगत का है। पुराणस्थाविद्यादृष्टि:।

वहां पहले से है और नये सिरे से उत्पन्न नहीं किया गया। इस आपत्ति के उत्तर में कि यदि कार्य कारण में विद्यमान रहता है तो कारणरूप कर्त्ता की क्रिया उद्देश्यविहीन है, शंकर का कहना है कि "कर्त्ता की क्रिया का उद्देश्य यह *समझना चाहिए कि वह कारणरूप द्रव्य को कार्य के रूप में लाने की व्यवस्था* करती है।" कारण और कार्य में नैरन्तर्य भाव है अर्थात् ऐसा समय कभी नहीं आता कि कारण अपरिवर्तित रूप में बना रहे। क्योंकि यदि कारण कुछ समय तक इसी प्रकार अपरिवर्तित रूप में बना रहे और तब हठात परिवर्तित हो तो इस आकस्मिक परिवर्तन का कोई कारण होना चाहिए जिसे हम नहीं जानते। इसलिए यह कहा गया है कि कारण निरन्तर कार्यरूप में परिवर्तित होता रहता है। यदि कारण कार्य भाव निरन्तर रहनेवाली वस्तु है तब कारण और कार्य दो *भिन्न-भिन्न वस्तुएं नहीं हुईं और हम यह भी नहीं कह सकते कि एक दूसरे के* रूप में परिणत हो जाता है। यह कहा गया है कि कार्य के अपने अन्दर एक प्रकार का 'अतिशय' रहता है[1] अर्थात् कार्य की ओर बढ़ने की शक्ति जिसके द्वारा यह कार्य को व्यक्तरूप में ला सकता है। शंकर का कहना है "यदि अतिशय से तुम्हारा तात्पर्य कार्य की उस पूर्ववर्ती अवस्था से है तो तुम अपने *उस सिद्धान्त को छोड़ते हो कि कार्य कारण के अन्दर विद्यमान नहीं रहता।* यदि इससे तुम्हारा तात्पर्य कारण की किसी ऐसी शक्ति से है जिसकी कल्पना *इस तथ्य की व्याख्या के लिए की गई है कि एक ही निर्णीत कार्य कारण से* उत्पन्न होता है तब तुम्हें अवश्य मानना पड़ेगा कि यह शक्ति एक विशेष कार्य का ही निर्णय कर सकती है यदि यह न तो अन्य (अर्थात् कारण तथा कार्य के अतिरिक्त) है और न असत्स्वरूप ही है। क्योंकि यदि यह इन दोनों में से एक होती तो यह अन्य किसी वस्तु से भिन्न न होती जो या तो असत है अथवा कारण तथा कार्य से भिन्न है (और तब यह किसी कार्य विशेष को उत्पन्न न कर पाती)। परिणाम यह निकला कि वह शक्ति उस शक्ति के अपने ही समान है।" इसके *अतिरिक्त कारण केवलमात्र कार्य का पूर्ववर्ती ही नहीं है किन्तु* उसका निर्माणकर्ता भी है। यदि कारण कार्य के अन्दर विद्यमान न हो तो कार्य दिखाई नहीं दे सकता। मिट्टी के पात्र में मिट्टी बराबर वर्तमान रहती है तथा कपड़े के अन्दर धागे भी बराबर विद्यमान रहते हैं। कारण और कार्य ऐसी दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं नहीं हैं जिन्हें घोड़े तथा गाय की भांति पृथक्-पृथक् देखा जा सके। व्यक्त होने से पूर्व जो कार्य की अवस्था है और व्यक्त होने के पश्चात् जो अवस्था है इनका परस्पर भेद सापेक्ष है। कारण तथा कार्य एक ही वस्तु के दो *भिन्न-भिन्न रूपों को प्रकट करते हैं और वस्तुतः एक ही प्रकृति के हैं।*[2] यह कहा जाता है कि दो वस्तुएं जब उनकी आकृतियों में परिवर्तन होता है तो व्यक्त होने तथा विलय होने से एक ही स्वरूप की नहीं हो सकतीं। शंकर का कहना है कि यह तर्क निरर्थक है। "व्यक्त होना बीजों से पौधों के उत्पन्न होने के समान उस पदार्थ का जो पहले से विद्यमान था केवल परिणमनमात्र है, एवं तत्समान अवयवों के एकत्र हो जाने से सोपाधिक है, और इसी प्रकार विलय भी केवल दृश्य अवस्था में परिणमन का नाम है जो उन्हीं अवयवों के तिरोभाव

1 शांकरभाष्य 2 1 18।
2 शांकरभाष्य 2 1 17।

के कारण होता है। यदि हमारा काम उनके अन्दर सत् से असत् और असत् से सत् की ओर संक्रमण को पहचानने का है, तब भ्रूण पीछे से उत्पन्न मनुष्य से भिन्न होता, एक युवा पुरुष बाल सफेद हो जाने पर बदल जाया करता और एक व्यक्ति का पिता अन्य किसी व्यक्ति का पिता नहीं हो सकता था।"[1] बाह्य प्रतीति के कारण कोई वस्तु परिवर्तित नहीं होती। देवदत्त चाहे अपनी भुजाएं फैलाए चाहे सिकोड़ ले, रहेगा वही देवदत्त। "द्रव्य अपने में बने रहते हैं, उदाहरण के रूप में दूध खट्टा हो जाने पर भी दूध तो बना ही रहता है, इत्यादि। उनका नाम कार्य हो जाता है, और हम कार्य का कारण से भिन्न रूप में चिन्तन नहीं कर सकते चाहे हम सौ वर्ष भी प्रयत्न करें। स्थिति यह है कि आदि कारण, जो अन्तिम कार्य तक किसी न किसी कार्य के रूप में प्रकट होता है, अपने व्यक्त होने से पूर्व विद्यमान रहता है और कारणरूप ही होता है।"[2] शंकर अपने मत को वस्त्र के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं और तर्क करते हैं कि जब तक वस्त्र एक थान के रूप में लिपटा हुआ रहता है हम यह नहीं जान सकते कि यह कपड़ा ही है या कोई और वस्तु है और यदि यह जान भी जाएं तो भी उसकी लम्बाई व चौड़ाई का तो ज्ञान होता ही नहीं, किन्तु उस थान के खुलने पर ही पता लगता है कि यह कपड़ा है और इसकी लम्बाई-चौड़ाई क्या है। जिस प्रकार लिपटा हुआ वस्त्र तथा खुला हुआ वस्त्र एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं इसी प्रकार कारण तथा कार्य परस्पर भिन्न नहीं हैं।[3] कोई भी द्रव्य एक भिन्न रूप में प्रकट होने से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ देता। प्रत्येक परिवर्तन किसी वस्तु का तथा उस वस्तु के अन्दर का परिवर्तन है। परस्पर असम्बद्ध वस्तु-विषयों के केवल एक-दूसरे के पश्चात् क्रम में आने से ही, जिनमें किसी सामान्य रूप में कोई बन्धन नहीं है, वह परिवर्तन नहीं कहलाता। जो कुछ भी होता है वह केवल आकृति का परिवर्तन है। दही व मट्ठे के रूप में दूध की निरन्तर उपस्थिति तथा वृक्ष में बीज की स्थिति रूपनिरन्तरता माननी ही पड़ती है चाहे यह प्रत्यक्ष रूप में दिखाई दे, जैसा कि दूध व दही की अवस्था में, अथवा न दिखाई दे, जैसे कि बीज व वृक्ष के दृष्टान्त में। यहां तक भी कहा जा सकता है कि कारण ही एकमात्र यथार्थता है और कार्य सब प्रतीतिमात्र है।[4] शंकर का अभिमत सिद्धान्त है कि कारण और कार्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं।[5] वे संक्रमण की क्रियाओं को कारणों से कार्यों में, जो यथार्थसत्ता के सम्पूर्ण विकास के अंतर्गत रहते हैं, अनुपूर्व क्रम के एक निश्चल सम्बन्ध में परिणत करते हैं जो कुछ प्रकार के तार्किक तथा विचारात्मक सम्बन्ध में विशेष रूप से पाया जाता है।[6]

1 शांकरभाष्य, 2 1, 18। 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 258-259।

2 शांकरभाष्य, 2 1, 18।

3 शांकरभाष्य, 2 · 1, 19।

4 वही।

5. कार्यकारणभेद अथवा तादात्म्य अथवा अनन्यत्व। देखें, शांकरभाष्य, 2 . 1, 14, 1 : 4, 14; और गौडपादकृत कारिका, 3 : 15। सुरेश्वरकृत वार्तिक, पृष्ठ 258।

6 आधुनिक समय के कुछ वैज्ञानिक क्रियात्मक भावरूप विचारों को नहीं मानते, यथा गति और शक्ति, और किसी भी ऐसे वर्णनात्मक नियम को पर्याप्त मानते हैं जिसमें अन्तिम कारणकार्य-सम्बन्धी व्याख्या का कोई संकेत न हो।

कारण-सम्वन्धी व्याख्या पूर्ण नही हो सकती। असख्य परिभाषाए श्रृंखला के किसी भी प्रस्तुत अवयव के आगे और पीछे भी रहती है। प्रत्येक घटना उन अवस्थाओं का पीछे की ओर निर्देश करती है जिनके अन्दर से वह उत्पन्न हुई है। यह कहना कि 'क' 'ख' का कारण है 'ख' की व्याख्या नही है।[1] आदि कारण की कल्पना करना स्वच्छन्द कार्य है क्योकि इसका तात्पर्य हुआ कि हम कारण-श्रृखला के आदि की कल्पना कर लेते है जो आदि कुछ समय के लिए है। या तो आदि कारण का भी पूर्ववर्ती कारण है अन्यथा कारणकार्य-सम्वन्धी समस्त योजना तर्कसम्मत नही है। किन्तु यदि कोई आदि कारण नही है तो कारणकार्य-सम्वन्ध की व्याख्या अपूर्ण है। प्रकृति के तारतम्य को भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् मे बाट देने के लिए हम विवश है। जो कुछ हमे मिलता है वह एक अविच्छिन्न प्रवाह है जो विरल श्रृखला के आकार मे परिणत हो गया है। हम 'क' नामक एक घटना से प्रारम्भ करते हैं जिसके पश्चात् 'ख' घटना आती है और इनके मध्य हम एक सम्वन्ध स्थापन करने का प्रयत्न करते हैं। कारण-कार्य-सम्वन्ध का विभाग प्रतीतिरूप घटनाओ की व्याख्या अधिक से अधिक तभी तक कर सकता है जब तक हम उन्हे यह समझते है कि ये परस्पर के सम्वन्ध द्वारा निर्णीत है और इनमे उस परमतत्त्व का समावेश नही करते जो कि निर्णीत घटनाओं से अन्यतम नही है। इसके साथ इतना और जोडना होगा कि कारणकार्यभाव एक प्रकार का सम्वन्ध है और जितने भी सम्वन्ध हैं वे अन्त मे जाकर बुद्धिगम्य नही रहते। यदि कारणकार्य का नियम निरपेक्ष होता तो कारणकार्य की श्रृंखला किसी भी अवस्था मे तुरन्त पहचान मे नही आ सकती थी। किन्तु श्रुति हमे निश्चय दिलाती है कि हम इससे बाहर निकल सकते है।[2]

1. तुलना कीजिए, कैम्पवेल : "किसी भी विधान मे कारणकार्य-सम्वन्ध का उपयोग इस विषय की स्वीकृति का सूचक है कि ज्ञान अपूर्ण है" ('फिजिक्स, दि एलिमेंट्स्', पृष्ठ 67)।

2 शकर प्रश्न उठाते हैं कि किस प्रकार एक कार्य जो अशो से मिलकर बना हुआ द्रव्य है कारण मे रहता बताया जाता है, अर्थात् उन भौतिक अशो के अन्दर जिनसे मिलकर यह बना है। क्या यह सब अशो को एक साथ मिलाकर उनमे विद्यमान रहता है या प्रत्येक विशेष अश मे? "यदि आप कहे कि यह सब अशो मे एक साथ रहता है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि सपूर्ण पदार्थ का उसके असली रूप मे प्रत्यक्ष नही हो सकता क्योकि यह असम्भव है कि सब अश प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने-वाली इन्द्रियो के सम्पर्क मे आ सकें, और यह भी नही कहा जा सकता कि सम्पूर्ण पदार्थ का बोध केवल कुछ अशो के ही द्वारा हो जाता है, क्योकि अनेकत्व का बोध, जो कि इन समस्त आधारो मे एक साथ मिलने पर रहता है, तब तक नही होता जब तक केवल कतिपय अशो का ही बोध होता है। यदि यह कल्पना की जाए कि सम्पूर्ण इकाई सब अशो मे मध्यवर्ती अशो के पुंजो की मध्यस्थता के द्वारा रहती है तब हमे प्रारम्भिक मुख्य अशो की अपेक्षा अन्य अशो की भी कल्पना करनी होगी, क्योकि जिससे कि उन अन्य अशो के द्वारा पूर्ण इकाई उन प्रारम्भिक मुख्य अशो मे उपस्थित रह सके। दृष्टान्त रूप मे एक तलवार म्यान के अशो के अतिरिक्त तथा भिन्न अशो के द्वारा सारी म्यान मे बराबर व्याप्त रहती है। इस प्रकार हम एक प्रकार की पश्चाद्गति मे पहुच जाते हैं क्योकि किस प्रकार पूर्ण इकाई कतिपय प्रस्तुत अशो के अन्दर रहती है इसके लिए हमे सदा ही अधिकतर अशो की कल्पना करनी होगी। यदि हम दूसरे विकल्प को मानते हैं, अर्थात् पूर्ण इकाई प्रत्येक विशिष्ट अशो मे रहती है, तब अनेक इकाइया उत्पन्न हो जाएगी। यदि प्रतिपक्षी फिर कहता है कि पूर्ण इकाई प्रत्येक अश मे पूर्ण रूप मे उपस्थित रहती है, जिस प्रकार कि गाय का जातिगत रूप प्रत्येक गाय मे पूर्ण रूप मे उपस्थित रहता है तो हम कहते हैं कि गाय के जातिगत गुण प्रत्येक गाय मे स्पष्ट रूप से देखे जाते हैं, किन्तु प्रत्येक विशिष्ट अश मे इस प्रकार से पूर्ण इकाई का प्रत्यक्ष नही होता। यदि पूर्ण इकाई प्रत्येक अश मे पूर्ण रूप से उपस्थित रहती तो परिणाम यह होता कि पूर्ण इकाई किसी भी एक अश विशेष के द्वारा कार्य को उत्पन्न कर सकती थी। दृष्टात के लिए ऐसी अवस्था मे एक गाय अपने सींग अथवा

गौडपाद की युक्तियों[1] को शंकर स्वीकार करते हैं। चूंकि कारण और कार्य एक ही हैं इसलिए परिवर्तन तथा कारणकार्य भाव केवल प्रतीति मात्र हैं। चूंकि कारण हमारी बुद्धि के स्वयं संगठन के मूल में है इसलिए हम उनको पूर्ववर्ती घटनाओं के द्वारा कारण कार्य-सम्बन्धी विभाग की घटनाओं का निर्णय करने में विवश हैं। "कारण और कार्य के मध्य अभेद की कल्पना करने का हेतु यह तथ्य है कि बोधग्रहण के ऊपर कारण और कार्य संयुक्त रूप से प्रभाव डालते हैं।"[2] इसके ऊपर टीका करते हुए आनन्दगिरि कहता है: "हम कारण और कार्य के आधार की कल्पना करते हैं केवलमात्र इसी आधार पर नहीं कि एक विशेष वस्तु का वास्तविक अस्तित्व दूसरी वस्तु के अस्तित्व के ऊपर निर्भर करता है, किन्तु उसका एक अतिरिक्त आधार मानसिक अस्तित्व है क्योंकि एक का चैतन्य दूसरे के चैतन्य के बिना सम्भव नहीं है।" यदि हम कारणकार्यभाव के सिद्धान्त को इस प्रकार से कहें कि जिसमें परस्पर विरोध न हो तो हमें ज्ञात होगा कि इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है जब तक कि इसमें तादात्म्य के सिद्धांत के साथ समानता न आ जाए और तब यह अधिकतर विज्ञान और साधारण बुद्धि के लिए किसी प्रयोजन का नहीं रहता। और जब इसकी यथार्थरूप में कल्पना की जाए तो यह सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध होगा; और यदि यह उपयोगी है तो यह सत्य नहीं है।

प्रत्येक सीमित पदार्थ इस प्रकार के विरोध को प्रस्तुत करता है कि वह केवल सीमित ही नहीं है अर्थात् अपने तक ही सीमित नहीं है, किन्तु सापेक्ष भी है, इन अर्थों में कि वह अन्य के ऊपर आश्रित है। अनुभूत पदार्थों में से कोई भी स्वनिर्णीत अथवा आत्मनिर्भर नहीं है प्रत्येक विषय (पदार्थ) अपने से गुजरकर अन्य पदार्थ में परिणत होने की प्रवृत्ति रखता है। जो सीमित है वह अस्थायी तत्त्व है और सदा अपने से अतीत होने का प्रयत्न करता है। जगत् का यह स्वरूप इस विषय का संकेत करने के लिए पर्याप्त है कि यह जगत् प्रतीतिस्वरूप अथवा माया है। परिवर्तन अयथार्थ है क्योंकि यह अस्थिरता, न्यूनता और अपूर्णता का उपलक्षण है। परिवर्तन अन्य हो जाना तथा अदल-बदल है, अर्थात् विरोध तथा संघर्ष है। जो कुछ भी परिवर्तित होता है, उसके हिस्से हैं जो अपनी सत्ता को बतलाते हैं और अस्तित्व को विभाग और भेद का स्थान बना देते हैं। प्लेटो परिवर्तन को केवल ह्रास के रूप में मानता है और अरस्तू उसे साक्षात्कार की ओर प्रवृत्ति के रूप में मानता है किन्तु दोनों ही यथार्थसत्ता को अपरिवर्तनशील मानते हैं। यह सत्य है कि अरस्तू ईश्वर को क्रियात्मक शक्ति के रूप में मानता है किन्तु यह क्रियात्मक शक्ति अपरिवर्तनशील है और शक्ति कोई कार्य नहीं करती। शंकर की दृष्टि में यथार्थसत्ता निर्विकार है जिसमें किसी प्रकार का अदल-बदल नहीं हो सकता, वह सत् में इतनी पूर्ण है कि सर्वदा ही सत्स्वरूप है और सदा के लिए अपने को विश्राम की अवस्था में स्थिर रखती है। इसमें कोई न्यूनता नहीं है, किसी वस्तु की इसे आवश्यकता नहीं है, और इस प्रकार किसी प्रकार के परिवर्तन अथवा द्वंद्व का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रैडले की दृष्टि में "जो सम्पूर्ण अर्थों में यथार्थ है वह गति नहीं करता अर्थात् अचल है।"

हमारा अनुभव परस्पर विरोधी है और यथार्थ नहीं है, क्योंकि यथार्थसत्ता के लिए कम-से-कम स्वसंगत होना आवश्यक है। शंकर की परिभाषा में यथार्थसत्ता एक ही

पूछ से भी दूध दे सकती थी। किन्तु ऐसी बात होती देखी नहीं गई।" समवाय सम्बन्ध की समीक्षा के लिए, जो कारण व कार्य को परस्पर बांधता है, देखें, शांकरभाष्य, 2 : 1, 18।

1 देखें, शांकरभाष्य, कारिका पर, 4 : 11-20; 4 : 40।

2 शांकरभाष्य, 2 : 1, 15, तथा इसके ऊपर आनन्दगिरि की टीका।

हो सकती है, जो अद्वैत है, किन्तु हमारा अनुभव विविध प्रकार का तथा परस्पर विरोधी है। यथार्थसत्ता हमारी इन्द्रियो का विषय नही है। यह सत्य ज्ञान की भी विषय वस्तु नही ह क्योकि ज्ञान को यथार्थसत्ता के विचार के अतिरिक्त प्रामाणिक नही समझा जा सकता। यह अपरिवर्तनीय तथा निरपेक्ष है, जोकि अनुभव के अन्दर अपने समस्त व्यक्त रूपो मे तादात्म्य रूप से रहता हे। और समस्त प्रतीति रूप ज्ञान का आधार तथा अधिष्ठान है। अनुभूति रूप जगत् नाम रूप से युक्त है[1] तथा देश, काल के सम्बन्धो से आबद्ध है, तथा ये सम्बन्ध अन्तरहित प्रकार से अपने अन्दर क्षीण शक्ति होते जाते है। किसी भी घटना को लें उसका भूतकाल तथा भविष्य दोनो ही अन्तरहित है—उसका कभी अन्त नही और कही अन्त नही हे। यह झूठी आशा बधाने वाली अन्तविहीनता, जो इसे अयथार्थ बनाती है, आत्मा को प्रेरणा देती है कि वह निरपेक्ष परमसत्ता को जानने का ही आग्रह करे।

26. ब्रह्म

"काल का चक्र तीव्र गति से घूम रहा है, जीवन क्षणभगुर है, और सब कुछ परिवर्तन के अधीन है।" कोई भी वस्तु सत् नही है, सब कुछ प्रवाह रूप है। ऊपर की ओर उठने का सघर्ष, यथार्थसत्ता की खोज, सत्य को जानने की चेष्टा इन सबका आशय यह है कि यह प्रवाह रूप जीवनधारा ही सब कुछ नही है। तर्कशास्त्र-सम्बन्धी, विश्व-विज्ञानसम्बन्धी और नीतिशास्त्र-सम्बन्धी सभी हेतु इस विषय की ओर निर्देश करते हैं कि इस सान्त जगत् से कही अधिक महान् कोई न कोई सत्ता अवश्य हे। सान्त जगत् की सीमाओ से बचकर निकल भागने का प्रयत्न उस चेतनता की ओर संकेत करता है कि यह सान्त जगत् अपने आप मे यथार्थ नही है। विचार करने पर जिस विषय की आवश्यकता अनुभव होती है वह यह है कि हम एक निरपेक्ष यथार्थसत्ता के अस्तित्व को मानने के लिए विवश हैं। जैसा कि डेस्कार्टे ने कहा है कि अनन्त रूप से पूर्ण सत्ता के भाव की धारणा तभी बन जाती है कि हमे अपनी परिमित शक्ति की स्वीकृति विवश होकर अगीकार करनी पडती है।[2] कोई भी यथार्थ मे अभावात्मक निर्णय केवल अभावात्मक होता है। "जहा कही हम किसी वस्तु का उसे अयथार्थ समझकर निराकरण करते है तो हम ऐसा किसी अन्य यथार्थसत्ता के सम्बन्ध से ही करते है।"[3] भावात्मक के कारण से ही हम अभावात्मक का बहिष्कार करते हैं। कोई वस्तु 'नही है', इसका तात्पर्य ही यह है कि किसी भावात्मक वस्तु का अस्तित्व भी अवश्य है। यदि हम यथार्थ तथा अयथार्थ दोनो को ही न मानें तो हम शून्यता पर जा पहुचते है। जहा शंकर बौद्धमत के इस विचार के साथ इस अश मे सहमत है कि सब वस्तुए बराबर परिवर्तित होती रहती हैं वहा वे एक इन्द्रियातीत यथार्थसत्ता की माग करते है जो परिवर्तनशील जगत् के अन्तर्गत नही है। हमे एक ऐसी किसी वस्तु की यथार्थता की माग है जिसे अन्य किसी वस्तु के समर्थन अथवा सहायता की आवश्यकता न हो। यहा तक कि यदि हम समस्त विश्व को केवल काल्पनिक ही मान लें तो भी उस कल्पना का कुछ न कुछ आधार होना आवश्यक है।[4] क्योकि कल्पनात्मक वस्तुएं भी बिना किसी आधार के मध्य आकाश मे नही तैर सकतीं।

1 शाकरभाष्य, 1 3, 41।
2 'मेडिटशन्स' पृष्ठ 4।
3. शाकरभाष्य, 3 2, 22।
4 सर्वकल्पनामूलत्वात् (3 2, 22)।

यदि इस प्रकार की कोई यथार्थसत्ता नहीं है अर्थात् जिसे हम यथार्थसत्ता समझते हैं वह भी यदि उत्पन्न कार्य है तो इस जगत् के अन्दर या बाहर बिलकुल ही यथार्थसत्ता नहीं हो सकती।[1] वेदों में जो धार्मिक अनुभव अंकित हैं वे हमें कम से कम इतना तो निश्चय के साथ बताते हैं कि ऐसी एक यथार्थसत्ता है जो अनादि और अनन्त है। ड्यूसन का कथन कि "भारतीय कभी भी तात्त्विकीय प्रमाण[2] के बन्धन में नहीं फंसे" सर्वथा अनुचित है। शंकर के लेखों में जहां तक ब्रह्म के विषय में तार्किक प्रमाण उपलब्ध है यह निःसन्देह तात्त्विकीय प्रमाण है। हम एक निरपेक्ष यथार्थसत्ता की स्थापना करने के लिए विवश हैं, अन्यथा हमारे ज्ञान तथा अनुभव का पूरा ढांचा ही खण्डित हो जाएगा। प्रक्रिया की विधि में शंकर अत्यन्त मौलिकता तथा प्रत्यग्रता प्रदर्शित करते हैं। वे ईश्वरीय ज्ञान के अन्य दार्शनिकों के समान ईश्वर के गुणों के विषय में विचार-विमर्श के साथ अपनी बात आरम्भ नहीं करते। वे उन हेतुओं की भी न केवल उपेक्षा ही करते हैं अपितु समीक्षा भी करते हैं जो एक महान् प्रथम कारण और संसार के स्रष्टा के पक्ष में उपस्थित किए जाते हैं। उनकी दृष्टि में अविकल अनुभव (साक्षात्कार) ही आधार रूप तथ्य है। यही सर्वोच्च धार्मिक अन्तर्दृष्टि है। यह मनुष्य की आध्यात्मिक यथार्थसत्ता की अभिज्ञता का प्रमाण (यदि इसे प्रमाण की संज्ञा दी जाए) उपस्थित करता है। ब्रह्म प्रत्येक मनुष्य के लिए सदा विद्यमान है और जीवन का सार्वभौम व्यापक तथ्य है। यदि इसके लिए किसी तर्कसम्मत प्रमाण की आवश्यकता हो तो शंकर निर्देश करते हैं कि मन सापेक्ष सत्ता में विश्राम नहीं पा सकता, अर्थात् अनुभव की व्याख्या ब्रह्म की धारणा के आधार के अतिरिक्त होना असम्भव है।

कारणकार्य के सिद्धान्त का वर्णन करते हुए शंकर कारण-सम्बन्धी स्वरूप को स्वभाव अथवा सामान्य या व्याप्ति प्रतिपादन करते हैं जबकि कार्य को एक उपाधि, अवस्था अथवा विशेष मानते हैं।[3] "इस जगत् में अनेक सामान्य अपने विशेषों सहित हैं, चैतन्यसहित तथा चैतन्यविहीन। ये समस्त सामान्य अपनी श्रेणीबद्ध शृंखलाओं में एक ही सामान्य में अर्थात् ब्रह्म की बुद्धि के पुञ्जस्वरूप के अन्तर्गत हैं, और इसी रूप में उनका बोध ग्रहण होता है।"[4] इस सर्वव्यापक यथार्थसत्ता के स्वरूप को समझ लेने का तात्पर्य यह है कि उसके अन्तर्गत जितने विशेषण हैं उन्हें भी समझ लिया।[5]

ब्रह्म को यथार्थसत्ता का नाम देने का तात्पर्य यह है कि वह प्रतीति रूप, दैशिक, भौतिक और चेतन जगत् सबसे भिन्न है।[6] ब्रह्म वह है जिसके बारे में मान लिया जाता है कि वह मूलभूत है यद्यपि यह किसी भी अर्थ में द्रव्य नहीं है।[7] इसके अस्तित्व के लिए किसी देश के भाग विशेष की आवश्यकता नहीं, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यह सर्वत्र विद्यमान है क्योंकि सब वस्तुएं उसकी ओर संकेत करती हैं

1 शांकरभाष्य, 2 3 7।

2 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 123।

3 शांकरभाष्य, 2 3, 9।

4 अनेका हि विलक्षणाः चेतनाचेतनरूपाः सामान्यविशेषाः ; तेषां पारम्पर्यगत्या एकस्मिन् महासामान्ये अन्तर्भावः प्रज्ञानघने" (शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद् 2 : 4, 9)। तुलना कीजिए, प्लेटो के श्रेय-सम्बन्धी विचार से जो अन्य सब विचारों का आधार है।

5. सामान्यस्य ग्रहणेनैव तद्गता विशेषा गृहीता भवन्ति (शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, 2 : 4, 7)।

6 शांकरभाष्य, 4 : 3, 14।

7 वेदान्त परिभाषा 1।

तथा उसके ऊपर निर्भर करती हैं। चूंकि यह स्वयं कोई वस्तु नहीं है अन्य किसी वस्तु के साथ इसके दैशिक सम्बन्ध नहीं हो सकते और इसीलिए यह कहीं भी नहीं है। यह कारण नहीं है क्योंकि उसका अर्थ होगा कालिक सम्बन्धों का समावेश।[1] इसका स्वरूप अव्याख्येय है क्योंकि जब कभी हम इसके विषय में कुछ कहेंगे तो उसका तात्पर्य होगा कि हम इसे एक वस्तु का रूप दे देते हैं। हम इसके विषय में कथन कर सकते हैं यद्यपि हम इसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकते और न इसका तार्किक ज्ञान ही प्राप्त कर सकते है।[2] यदि सीमित शक्ति वाला मनुष्य ब्रह्म को पूर्ण रूप में समझ सकता है तो या तो हमारा बोध तात्त्विक रूप में अनन्त हो या फिर ब्रह्म अनन्त नहीं हो सकता। "प्रत्येक शब्द जिसका प्रयोग किसी वस्तु का द्योतन करने के वास्ते किया जाता है उस वस्तु का द्योतन किसी न किसी जाति (वर्ग) अथवा कर्म अथवा गुण अथवा सम्बन्ध की किसी वृत्ति विशेष के साथ साहचर्ययुक्त रूप में करता है।"[3] ब्रह्म की कोई जाति नहीं उसमें कुछ गुण नहीं, वह कर्म नहीं करता और किसी अन्य वस्तु के साथ वह सम्बद्ध नहीं है। यह अपने समान किसी अन्य प्रकार से अथवा अन्य किसी प्रकार से भी सर्वथा भिन्न है और न उसके अन्दर आन्तरिक विविधता है।[4] उदाहरण के रूप में एक वृक्ष के पत्तों, फूलों तथा फलों में आन्तरिक विविधता पाई जाती है वह अन्य वृक्षों के साथ समानता रखता है तथा भिन्न प्रकार के पदार्थों तथा पत्थरों से असमानता रखता है।[5] ब्रह्म के समान अन्य कुछ नहीं है, उससे भिन्न भी कुछ नहीं है और अन्तःस्थित भेदभाव भी कुछ नहीं है, क्योंकि ये सब व्यावहारिक भेद हैं। चूंकि यह समस्त व्यावहारिक सत्ताओं से विपरीत गुण है इसलिए यह हमारे सम्मुख वस्तुओं के प्रति नेति-नेति, अर्थात् निषेधात्मक, रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। शंकर इसे अद्वितीयभाव के अतिरिक्त अर्थों में 'एक' कहकर लक्षित करने को भी उद्यत नहीं हैं किन्तु इसे अद्वैत नाम से पुकारते हैं। यह "सम्पूर्णरूप में अन्य" है किन्तु असत् नहीं।[6] यद्यपि जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे निषेधात्मक हैं तो भी उनका

1 तुलना कीजिए, कार्यकारणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः अशनायादिसंसारधर्मातीतत्वविशेष (शांकरभाष्य, 3 3, 36)।

2 शांकरभाष्य, 3 2 23।

3 भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, 13 12।

4 सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितम्।

5 देखें शांकरभाष्य, 1 3, 1, 2 1,14। पञ्चदशी, 2 20। रुडोल्फ ऑटो दि आइडिया आफ दि होली, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 25। प्लेटो सत् तथा परिणमन में भी आगे बढ़कर श्रेयस् तक पहुंचता है। प्लाटिनस निरपेक्ष सत्ता को अभी तक उद्देश्य तथा विधेय के मध्य में अविभक्त और इसीलिए समस्त भेदभाव से ऊपर के रूप में जानने की चेष्टा करता है। "यह निरपेक्ष परमसत्ता उन वस्तुओं में से एक भी नहीं है जिनका कि यह आदि स्रोत है। इसका स्वरूप ऐसा है कि इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता—अर्थात् अस्तित्वरहित, तत्त्व के विपरीत जीवन या अभाव—क्योंकि यह वह है जो इन सबसे अतीत है।" "एक बार जब तुमने इसके लिए श्रेय शब्द का प्रयोग कर दिया तो फिर इसके अतिरिक्त और किसी विचार को इसके आगे जोड़ने की आवश्यकता नहीं क्योंकि और कुछ भी जोड़ने से तुम उक्त अंश में उसकी न्यूनता का बखान करते हो। यहां तक भी मत कहो कि इसके अन्दर बोध की प्रक्रिया है। क्योंकि उसमें भी तुम इसके अन्दर विभाग के भाव का समावेश कर दोगे" ('एन्नीड्स' 3 8 10 अंग्रेजी अनुवाद, मैक्केन्ना, खंड 2 पृष्ठ 134, 135)। अरेओपेजिया का डायोनीसियस एक ऐसे लक्ष्यबिन्दु पर पहुंच जाता है जहां पहुंचकर सर्वोपरि सत्ता को इस रूप में नहीं कि यह क्या है अपितु इस रूप में समझा जाता है कि यह क्या नहीं है।

6 वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते (शांकरभाष्य, 3 2, 22)।

जो आशय होता है वह यह है कि वह महान् भावात्मक है। निषेध केवल अभाव (अनुपस्थिति) का समर्थन-मात्र है। *यह असत् (अप्राणी) है क्योंकि यह ऐसी सत्ता* (प्राणी) नहीं है जो हमें आनुभविक जगत् में मिलती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह विशुद्ध शून्यरूप है क्योंकि निषेधात्मक का तभी कुछ अर्थ होता है जबकि भावात्मक के संबंध में उसका प्रयोग किया जाए। उपनिषदें तथा शंकर[1] भी ब्रह्म के रूप का वर्णन करते हुए जब कहते हैं कि वह न तो सत् है और न असत् है तो उसका तात्पर्य होता है कि यह प्रयोग उन अर्थों के दृष्टिकोण से है जिस दृष्टिकोण से हम आनुभविक जगत् की भावात्मक तथा अभावात्मक वस्तुओं को जानते हैं। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि *अमुक वस्तु ब्रह्म नहीं है किन्तु यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म है क्या।* यह, स्थिरता, परिवर्तन, सम्पूर्ण इकाई अथवा एक भाग, सापेक्ष और निरपेक्ष, सीमित और असीम इत्यादि *समस्त परस्पर-विरोधी भावों के ऊपर आश्रित पदार्थों से अतीत है।* सीमित वस्तु सदा ही अपने से ऊपर की ओर बढ़ती है किन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिस तक अनन्त पहुंच सके। और यदि यह ऐसा करता है तो फिर यह अनन्त न रहेगा। यदि हम इसे अनन्त कहते हैं तो इसे सीमित के केवल निषेधात्मक रूप के समान न मानना चाहिए। जब तक हम औपचारिक और सीमित के भाव का विचार सर्वथा ही नहीं त्याग देते तब तक ब्रह्म के स्वरूप को नहीं समझ सकते। चूंकि व्यक्तित्व का साक्षात्कार बिना अनात्म-पदार्थों की सीमाबद्ध अवस्थाओं के नहीं हो सकता इसीलिए निरपेक्ष परमार्थसत्ता कोई व्यक्तित्व नहीं है। और यदि हम व्यक्तित्व की परिभाषा का प्रयोग किसी अन्य अर्थ में करते हैं जिसके अनुसार इसका अन्य किसीके ऊपर आश्रित होना आवश्यक नहीं, तब यह उसका *अनुचित प्रयोग है। जब हम उस निरपेक्ष सत्ता के लिए निर्गुण शब्द का प्रयोग करते हैं* तब उसका अर्थ केवल यही होता है कि यह आनुभविक जगत् से अतीत है, क्योंकि गुणों की उत्पत्ति प्रकृति से है और निरपेक्ष ब्रह्म उससे श्रेष्ठ या उच्च कोटि का है। गुण विषय का विशेषण बताते हैं और ईश्वर विषय नहीं है; विषय (ज्ञेय पदार्थ) उत्पन्न होते तथा विनष्ट होते हैं किन्तु यथार्थसत्ता सब परिवर्तनों के अन्दर स्थिररूप से बराबर विद्यमान रहती है। इस प्रकार यह गुणों अथवा प्रतीतिरूप मत से अतीत है। इस निरपेक्ष सत्ता को इसी कारण से केवल शून्यस्वरूप नहीं समझ लेना चाहिए। इस प्रकार उपनिषद् कहती है, "निर्गुण गुणी" ब्रह्म का स्वरूप परम चैतन्य का है और तो भी वह कुछ नहीं जानता, क्योंकि व्यावहारिक बोधग्रहण अन्तःकरण का परिवर्तित रूप है।[2] इसके अतिरिक्त ज्ञान इसका सारतत्त्व है, गुण नहीं है।[3] यह इस अर्थ में नित्य नहीं है कि जो काल के अन्दर अपरिवर्तनशील रूप में निरन्तर विद्यमान रहता है, जैसे परमेनिडीज की 'निश्चल सत्ता'—एक चिह्नविहीन निश्चल स्थावर द्रव्य, जिसका प्लेटो ने अपने 'सोफिस्ट' नामक ग्रंथ में उपहास किया है।[4] किन्तु यह नित्यस्वरूप नितान्त काला-

1 प्रश्न उपनिषद् पर शांकरभाष्य, 4 . 1 ।

2 स्पीनोज़ा ने कहा : "ऐसी प्रज्ञा जिसके अन्दर ईश्वर का सारतत्त्व निहित है उसे हमारी इच्छा तथा बुद्धि से भिन्न होना चाहिए और इन दोनों में नाम की समानता के अतिरिक्त अन्य किसी अंश में समानता नहीं हो सकती है वैसे ही जैसे कि आकाशीय नक्षत्रपुञ्ज कुत्ते (लुब्धक) तथा भौंकने वाले कुत्ते में और कोई समानता नहीं है" ('एथिक्स', 1 : 17, स्कोलियम)।

3 रामानुज तथा नैयायिक लोग ज्ञान की व्याख्या, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" में, ज्ञान के आधार रूप से करते हैं। तुलना कीजिए, नित्य विज्ञान आनन्द ब्रह्म इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्तः (विश्वनाथकृत सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ 49)।

4 पृष्ठ 249।

वाधितना और निष्कलकता के अर्थों मे है। यह नित्य है क्योकि इसकी पूर्णता और निर्दोपता का काल से कोई सम्बन्ध नही है।[1] वह अनुक्रम जो वस्तुओ तथा घटनाओ को काल-सम्बन्धी व्यवस्था मे परस्पर सम्बद्ध रखता है उसका उक्त सत्ता के लिए कोई महत्त्व नही है। यह नित्य स्थिरता है जिसके लिए कालपरक सब सम्बन्ध असगत है। इसका वर्णन केवलमात्र अपनी अन्यता से भी भिन्नरूप मे निषेधात्मक रूप मे किया जा सकता है। यह सत् है जिसका तात्पर्य यह है कि यह असत् नही है। यह चित् (चैतन्य) है जिसका तात्पर्य है कि यह अचित्त नही है।[2] यह आनन्द है जिसका तात्पर्य है कि यह दु.खस्वरूप नही है। यह यथार्थ है जिसका तात्पर्य है कि यह प्रामाणिक सत् है। यह अपने सत्स्वरूप मे कभी विनष्ट नही होता, क्योकि इसे अपने इस रूप मे सुरक्षित रखने के लिए अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नही। यह बाहर से अपने अन्दर किसी पदार्थ का समावेश नही करता क्योकि उस अवस्था मे सत् के अन्तर्गत असत् भी आ जाएगा। इसके अन्दर प्रथम और अन्तिम कुछ नही है। यह कभी उन्मीलित नही होता, कभी प्रकट नही करता, कभी परिष्कृत नही होता, व्यक्त नही होता, बढता नही और न परिवर्तित होता है, क्योकि यह बराबर आत्मप्रत्ययरूप है। इसे हिस्सो से बनी एक पूर्ण इकाई के रूप मे नही माना जा सकता क्योकि यह स्वरूप से एकरस है।[3] यह यथार्थ है तो भी ससार के स्वरूप से विहीन है।[4] इस प्रकार की सत्ता नि सन्देह भौतिक, परिमित तथा खण्डात्मक नही हो सकती। एक नित्य स्थायी सत्ता जिसमे कोई भी न्यूनता न हो, चित्स्वरूप ही होगी। इस प्रकार की एक प्रामाणिक सत् तथा आदर्शता की पूर्णता स्वय ही उन्मुक्त प्रसाद अर्थात् आनन्द रूप होगी।[5] समस्त मानवीय आनन्द ब्रह्मानन्द का ही रूप है।[6] यह सर्वोत्कृष्ट सत्य है, निर्दोष सत् है, और पूर्णतम रूप से मुक्त है।

आत्मा तथा ब्रह्म दोनो मे सत् के सब लक्षण यथा चैतन्य, सर्वव्यापकता और आनन्द एक समान पाए जाते है। आत्मा ब्रह्म है। जो विशुद्ध विषयी रूप है वही विशुद्ध विषयरूप है। ब्रह्म केवल अमूर्त रूप सत् प्रतीत होता है वैसे ही जैसे बुद्धि की आख को आत्मा केवल आत्मनिष्ठतामात्र प्रतीत होती है। जब हम उस परम निरपेक्षता को सब प्रकार के आवरणो से पृथक् करके देखते हैं तो हमे अनुभव होता है कि यह सर्वथा परिमार्जित हो गई है और इस प्रकार यह लगभग शून्यमात्र रह गई है क्या इस अवशेष को, जो असत् हो गया है, ससार की सर्वश्रेष्ठ यथार्थसत्ता करके मान सकते हैं ? "तो क्या फिर ब्रह्म असत् है ? नही, क्योकि यहा तक कि कल्पनात्मक वस्तुए भी अपनी कल्पना

1. तुलना कीजिए, स्पिनोजा "नित्यत्व की व्याख्या काल की परिभाषा मे नही की जा सकती और न काल के साथ ही इसका कोई सम्बन्ध हो सकता है" ('एथिक्स', 5 1 स्कोलियम)। कूसा का निकोलस ईश्वर की अनन्तता तथा ससार की अपारता मे भेद करता है। जिस प्रकार अनन्तता का सम्बन्ध सीमाविहीनता के साथ है उसी प्रकार नित्यता का सम्बन्ध निरन्तरता के साथ है।

2 जडत्वराहित्यम्। ड्यूसन ने चैतन्य की परिभाषा इस प्रकार की है 'एक ऐसी क्षमता जो प्रकृति के अन्तर्गत समस्त गति तथा परिवर्तन के मूल मे विद्यमान है और उदाहरण के लिए जिसे वनस्पतियो मे भी बताया गया है और इस प्रकार इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह बाह्य प्रभावो की प्रतिक्रिया है यही वह क्षमता है जो अपने श्रेष्ठतम विकास मे अपने को मानवीय बुद्धि, अर्थात् आत्मा के रूप मे अभिव्यक्त करती है' ('ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 59)।

3 शाकरभाष्य, 1 3, 1।

4 निष्प्रपञ्चसदात्मकत्वम् (शाकरभाष्य, 2 1, 6)।

5 शाकरभाष्य, 1 1, 12, 3 : 3, 11 13, तैत्तिरीयोपनिषद्, 2 7।

6 बृहदारण्यक उपनिषद, 4 3, 32।

के लिए कुछ न कुछ आधार रखती हैं।"[1] यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो ब्रह्म को यथार्थसत्ता मानना ही होगा। ब्रह्म के सम्बन्ध में यह हमारा अपना मानवीय भाव है जो रिक्त प्रतीत होता है किन्तु ब्रह्म अपने-आपमें रिक्त नहीं है। वह तो अत्यन्त पूर्ण यथार्थसत्ता है। भेदों से सर्वथा शून्य ब्रह्म, जिस तक हम बराबर प्रतिषेधात्मक धारणा के द्वारा ही पहुंचते हैं अर्थात् "न मोटा, न पतला, न छोटा, न लम्बा,"[2] "जिसे न श्रवणेन्द्रिय द्वारा सुना जा सके, न स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया जा सके,"[3] भ्रमवश जिसकी दोनों दशाओं का मध्यवर्ती शून्य समझे जाने की सम्भावना रहती है, यह एक अन्धकार रूप मानसिक बेचैनी की अवस्था है। हीगल ने बलपूर्वक कहा है कि विशुद्ध सत् जो समस्त विशेषों (विशेषणों) से विहीन है, असत् से कुछ भिन्न नहीं है। रामानुज तथा नैयायिक हीगल से सहमत होकर यही कहते हैं कि इस प्रकार का भेदशून्य ब्रह्म ऐसी एक सत्ता है जिसका ज्ञान हमें नहीं हो सकता।[4] जो कुछ उसके समीक्षक कहते हैं उसे शंकर भली प्रकार जानते हैं क्योंकि वे कहते हैं : "देश से, गुणों से, गति से, फलोपभोग और भेद से शून्य अत्यन्त महान् अर्थों में और जिसके समान दूसरा नहीं, ऐसा सत् मन्द मति पुरुषों को 'असत्' के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता।"[5] हमें ब्रह्म ऐसे रूप में प्रतीत होता है कि जिसके अन्दर कुछ भी न रह गया हो किंतु ब्रह्म साक्षात्कारवादी योगी ही यह स्पष्ट कर सकेगा कि उसके अन्दर सब कुछ उपलब्ध है। विचार के ऊपर की दौड़, जो ईश्वर को एक व्यवस्थित रूप देने में संकोच करती है, हम सांसारिक अनुभवों तक परिमित रहनेवाले मानवों की दृष्टि में ईश्वर को शून्यरूप बना देती हुई प्रतीत होती है। इतने पर भी समस्त धार्मिक मनोवृत्ति वाले ऋषि लोग उस निरपेक्ष परमार्थ सत्ता को कोई भावात्मक उपाधि देने का निषेध करते हैं।[6] मानव समाज के साधारण जनों के लिए धर्मशास्त्र ब्रह्म की परिभाषा विध्यात्मक शब्दों के द्वारा करता है,[7] क्योंकि "धर्मशास्त्र का विचार है कि पहले जनसाधारण सत्तात्मक वस्तुओं के मार्ग पर तो चल पड़ें और तब उन्हें हम शनैः-शनैः सर्वोत्कृष्ट अर्थों में जिसका अस्तित्व है उसका बोध ग्रहण

1 शून्यमेव तर्हि तत्, न मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः (गौडपाद की कारिका पर शांकरभाष्य)।

2 बृहदारण्यक उपनिषद् 3 8, 8। तुलना कीजिए, ऑगस्टाइन : "हम ऐसी किसी वस्तु को जान सकते हैं जो ईश्वर नहीं है, किन्तु ईश्वर क्या है यह नहीं जान सकते" ('ट्रिनिटी', 8 : 2)।

3 कठोपनिषद्, 3 15।

4 निर्विषयस्य ज्ञानस्य मानाभावात् (विश्वनाथकृत सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ 49)।

5 दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसत् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनामसदिव प्रतिभाति (शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, 8 1, 1)।

6 तुलना कीजिए, रुडोल्फ ऑटो : "इस निषेधात्मक प्रकल्पना का तात्पर्य यह नहीं है कि विश्वास तथा मनोभाव छिन्न-भिन्न होकर शून्य रूप में परिणत हो गए हैं; इसके विपरीत उक्त प्रकल्पना के अन्दर भक्ति का उच्चतम भाव रहता है और इसी प्रकार के निषेधात्मक गुणों के अन्दर से क्राइसोस्टम ने अत्यन्त गम्भीर दोष-स्वीकृतियों तथा प्रार्थनाओं की रचना की।···एक ऐसा भाव जो स्वरूप से निषेधात्मक भले ही हो किन्तु प्रायः एक ऐसी विषय-वस्तु का प्रतीक सिद्ध हो सकता है जिसे यदि वाणी के द्वारा सर्वथा न भी प्रकट किया जा सके किन्तु जो उच्चश्रेणी के विध्यात्मक भाव से न्यून नहीं है। निषेधात्मक आस्तिकवाद की उत्पत्ति अवश्य ही विशुद्ध तथा तात्त्विक रूप में धार्मिक मूल तत्त्वों से होती है और यही उस ज्योतिर्मय का साक्षात्कार है" ('दि आइडिया आफ दि होली', पृष्ठ 189)।

7 छान्दोग्य उपनिषद्, 1 : 6, 6 , 3 · 14, 2।

करने योग्य बना सकेंगे।"[1] उपनिषदो के भाष्यकार होने के नाते शकर का यह कत्तव्य था कि वे ब्रह्म के विषय म किए गए निषेधात्मक तथा विध्यात्मक दोनों प्रकार के विवरणो मे हमारे सम्मुख समन्वय स्थापित करे।[2] ब्रह्म के देश सम्बन्धी विचार पर टिप्पणी करते हुए शकर कहत हं कि इसका आशय है कि हम अपने विचार अन्यो तक पहुचा सकें।[3] अथवा जिससे पूजा का उद्देश्य पूरा हो सके।[4] हम उस ब्रह्म तव जो अपने-आपम सर्वोच्च है जो विश्व का स्रष्टा तथा अधिष्ठाता है। यद्यपि ब्रह्म गुणो से विहीन है तो भी सत के गुण अर्थात चैतन्य और आनन्द इसके स्वलक्षण कहे जा सकते है और सृष्टिकतृत्व आदि लक्षण इसमे आनुषगिक लक्षण (तटस्थ लक्षण) है।[5] शकर जानते हैं कि ब्रह्म की परिभाषा सच्चिदानन्द[6] नाम से भी सवथा निर्दोष नही है, यद्यपि वह यथाथ सत्ता को जहा तक सभव है, सबसे उत्तम रीति म प्रकट करती है। मानव मस्तिष्क की शक्ति इतनी महान अवश्य है कि वह अपनी सीमाओ को समझ सके। ब्रह्मानुभाव के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान के लिए श्रेष्ठतम अन्तर्दृष्टि उपलब्ध होती है और यह अन्तर्दृष्टि जिसे प्राप्त हो जाती है ऐसा व्यक्ति ही ब्रह्म क स्वरूप सम्बन्धी सब प्रकार के प्रश्नो का उत्तर मौन अथवा निषेधात्मक चिह्नो द्वारा दे सकता है। विद्या (परा) ब्रह्म क विषय मे सर्वोच्च विध्यात्मक विचारपरक विवरण सत चित और आनन्द के गुणो क साथ इसकी समानता के द्वारा देती है और यह अपने आपमे पूर्ण है। अविद्या अथवा अपरा विद्या ऐसे गुणो (लक्षणो) का आधान करती है जो सृष्टि कार्य तथा विश्व क शासकत्व के लक्षणो का उपलक्षण है।[7] इस प्रकार निरपेक्ष परमसत्ता के सम्बन्ध मे दो प्रकार क मत हैं—पर तथा अपर। जिसमे नामरूप आदि भेदो का, जो अविद्या के कारण हे, निराकरण करके ब्रह्म का सकेत निषेधात्मक उक्तियो के द्वारा किया जाता है यथा न ठोस

1 सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु तत शनै परमार्थसदपि ग्राहयिष्यामीति मन्यते श्रुति (शाकरभाष्य छान्दोग्य उपनिषद 8 1 1) सदानन्द अपने वेदान्तसार (2) मे अध्यारोपापवाद की विधि का वर्णन करता है जिसके द्वारा हम पहले ब्रह्म में कुछ गुणो का आधान करते हैं और उसके पश्चात उन गुणो का निराकरण कर देते हैं। देखे भगवद्गीता पर शाकरभाष्य 13 13।

2 देखें शाकरभाष्य 1 1 1 31 1 2 सवत्र 1 3 1 18 22 25 39 43 1 4 14 22 3 3 35 36। देखें डयूसन्स सिस्टम आफ दि वदान्त पष्ठ 102 206 210।

3 उपलब्ध्यर्थम्।

4 उपासनार्थम्। शाकरभाष्य छान्दोग्य उप० 8 1 1 शाकरभाष्य 1 1 20 24 31 1 2 11 14 3 2 12 33।

5 जब हम देवदत्त के मकान के विषय म परिचय कराते हुए ऐसा कहते हैं कि उसके ऊपर एक गाय बैठी है तो हम उस मकान के वास्तविक स्वरूप का वणन न करके उसके सम्बन्ध मे एक ऐसे विशिष्ट लक्षण का वणन करते हैं जिसका सम्बन्ध मकान के साथ आनुषगिक है। यह देवदत्त क मकान की एक परोक्ष परिभाषा हुई। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म की परिभाषा करते हुए उसे स्रष्टा तथा विश्व का कारण बताना आनुषगिक है।

6 नृसिंहतापिनी उपनिषद।

7 तुलना कीजिए "रत्नप्रभा विद्याविषयो नय निर्गुण सत्यम् अविद्याविषय उपास्य सगुण कल्पितम (1 1 11)। तुलना कीजिए इसके साथ स्लेयरमैकर के दृष्टान्त सम्बन्धी ज्ञान का ऐसा ज्ञान जो अपनी त्रुटि का ज्ञान रखता है और इसीलिए उसे सुधार लेता है। तुलना कीजिए प्लॉटिनस यदि हम इस श्रेयस के नाम से पुकारें तो उससे हमारा तात्पर्य किसी ऐसे औपचारिक गुण से नही होता जो उसके अन्दर है हमारा तात्पर्य उससे केवल यही होता है कि यह वह लक्ष्य अथवा परिभाषा है जिसे प्राप्त करने की सब आकांक्षा रखते हैं और जब हम इसके अस्तित्व का विधान करते हैं तो हमारा तात्पर्य इससे अधिक और कुछ नहीं होता कि इसकी गणना अस्तित्वहीन पदार्थो के अन्दर नहीं हो सकती यह सत् के गुणो से भी अतीत है (मैकेन्नाकृत अंग्रेजी अनुवाद खण्ड 1 पष्ठ 118)।

है आदि-आदि, वह पर है।[1] किन्तु जिसमें इसके विपरीत ठीक उसी यथार्थसत्ता का, पूजा आदि के उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर किसी न किसी भेद के द्वारा वर्णन किया जाता है वह अपर है।[2] तर्कशास्त्र (आन्वीक्षिकी विद्या) के द्वारा एक विशेष ढांचे में रख कर जिस ब्रह्म का वर्णन किया जाता है वह ईश्वर है। यह सर्वोच्च यथार्थसत्ता नही है क्योकि सर्वोच्च अनुभव की दृष्टि से इसका कुछ अर्थ नही है जिसमे अस्तित्व तथा वस्तुविषय पृथक्-पृथक् नही हैं। तो भी हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्थाओं में यह सत्य की सर्वोत्तम प्रतिकृति है। सगुण ब्रह्म उत्सुक आत्मा का केवल निर्गतभागमात्र नहीं है और न ही बहता हुआ वायु का बुलबुला है। हमारे मानवीय मस्तिष्क के लिए यह स्थायी यथार्थसत्ता एक प्रभासमान आदर्श के रूप में ही प्रकट होती है।[3] एक विचारात्मक सगति की मांग हमसे आशा करती है कि हम परम यथार्थसत्ता का एक अभावात्मक विशेषण समुच्चय के द्वारा वर्णन करें जैसे "न व्यक्तिरूप, न नैतिक आदर्शरूप, न सुन्दर और न सत्य," जैसा कि ब्रैडले करता है। इस अभावात्मक वर्णन का अनिवार्य प्रभाव यह है कि हम यह धारणा बना लें कि निरपेक्ष परमसत्ता का अनुभव के उच्चतम दृष्टिकोणों से कोई सम्बन्ध नही और वह उनके प्रति उपेक्षा भाव रखती है। जब एक निश्चित अध्यात्म विद्या के ये सूत्र उनके उद्देश्य की सिद्धि नही कर सकते तो हमारी प्रवृत्ति अपनी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति की ओर होती है।[4]

किन्तु ब्रह्म सगुण भी हो और निर्गुण भी, उसके ये दोनों रूप एक साथ नही हो

1 बृहदारण्यक उप०, 3 : 8, 8।

2 शांकरभाष्य, 1 31; 4 : 3, 14।

3 'डयूसन्स सिस्टम आफ दि वेदांत', पृष्ठ 103। तुलना कीजिए, एकहार्ट से जो एक ऐसे ईश्वर में, जो दुर्बोध है तथा ऐसे ईश्वर मे जो कार्य करनेवाला तथा सृष्टि की रचना करता है, भेद करता है। "वह अपने-आपमें ईश्वर नही है, प्राणिरूप मे ही वह ईश्वर बनता है। मैं ईश्वर से रहित होने की आकांक्षा प्रकट करता हू, अर्थात् वह ईश्वर अपनी दया से मुझे अपने यथार्थ स्वरूप मे ले आए, ऐसा यथार्थरूप जो ईश्वर से ऊपर तथा सब प्रकार के भेद से भी अतीत है। मैं उस शाश्वत एकत्व मे प्रवेश करना चाहता हू, जो पहले से ही मेरा अपना स्वरूप सब कालो मे था और जब मैं वह था जो मुझे होना चाहिए और जो कुछ था मैं वही बनूगा, उस अवस्था मे जो समस्त जोड व घटाने से ऊपर है तथा उस अचल मे जिसके द्वारा शेष समस्त जगत् का सचालन होता है" (हण्ट-कृत 'एस्से आन पानथिइज्म', पृष्ठ 179, पर उद्धृत)। प्लाटिनस कहता है : "हम इसके विचार का निर्माण बौद्धिक तत्त्व के ऊपर लीला करती हुई इसकी प्रतिक्रिया के द्वारा करते है। यह अपनी प्रतिकृति इसने बुद्धि को प्रदान की है और वही बुद्धि इसका चिन्तन करती है; इस प्रकार समस्त पुरुषार्थ बुद्धि ही के पक्ष मे है जो शाश्वत पुरुषार्थकर्ता तथा प्राप्तिकर्ता भी है। वह सर्वातीत सत्ता न तो चेष्टा करती है, क्योंकि उसे कुछ अभाव नहीं प्रतीत होता, और न कुछ प्राप्त हो करती है क्योंकि उसे पुरुषार्थ नहीं करना है" ('एन्नीड्स', मैकूकेन्नाकृत अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड 2 पृष्ठ 135)। तुलना कीजिए, ब्रैडले : "सीमित शक्तिवाले प्राणियो के लिए निरपेक्ष सत्ता का पूर्ण रूप से साक्षात्कार करना असभव है।" किन्तु इसके प्रधान विशिष्ट लक्षणो के सम्बन्ध मे विचार बनाना, अर्थात् एक ऐसा विचार जो किसी अश में सत्य है भले ही वह अमूर्त तथा अपूर्ण हो एक भिन्न रूप पुरुषार्थ है, और निश्चय ही निरपेक्ष सत्ता के ज्ञान के लिए इससे अधिक आवश्यक भी नहीं है। यह एक ऐसा ज्ञान है जो निःसंदेह तथ्य से अधिकाश मे भिन्न है। किन्तु यह उस सबके लिए सत्य है और अपनी सीमाओ का सम्मान करता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि यह सीमित बुद्धि के द्वारा पूर्णरूप में प्राप्तव्य है" ('एपीयरेंस एण्ड रियलिटी', पृष्ठ 159)।

4. तुलना कीजिए, ब्रैडले : 'ट्रूथ एण्ड रियलिटी', पृष्ठ 431।

सकते।[1] एक ऐसी यथार्थसत्ता जिसके दो पार्श्व हों अथवा जिसका अनुभव दो भिन्न भिन्न प्रकार से हो सकता हो उच्चतम यथार्थसत्ता नहीं है। किन्तु ज्योंही हम सत के स्रोत तक पहुंचते हैं दोनों भिन्न पार्श्व विलीन हो जाते हैं। हम निरपेक्ष यथार्थसत्ता के रूपों को तब ग्रहण कर सकते हैं जब हम उसे बाहर से देखते हैं। अपने आप में निरपेक्ष परमसत्ता बिना किसी पार्श्व के है आकृतिविहीन है और द्वैतभाव व किसी भी अश से रहित तथा गुणों से भी विहीन है। रूप और व्यक्तित्व के य लक्षण विद्या अथवा अनुभव के जगत में ही कुछ अर्थ रखते हैं। सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म म सब प्रकार की अपेक्षाओं का विलय हो जाता है। यह कोई ऐसी व्यवस्था अथवा पूर्ण इकाई नहीं है जिस तक विरोधीभावों को समवेत करने की अन्तरहित प्रक्रिया के द्वारा ही पहुंचा जा सकता हो।[2] अनन्त एसा पदार्थ नहीं है जो दर्शनशास्त्र की रचना हो यह निरन्तर विद्यमान तथ्य है। शकर परम निरपेक्षसत्ता को विचार के द्वारा जानने के समस्त प्रयत्नों के विरोधी हैं। ज्यों ही हम इसका विचार करते हैं यह आनुभविक जगत का एक भाग बन जाता है।[3]

27 ईश्वर अथवा शरीरधारी परमात्मा

शकर के मत मे ईश्वर सगुण ब्रह्म का नाम है जिसे सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व माना गया है। शकर का विश्वास है कि ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न सर्वथा निरर्थक है यदि ईश्वर का अस्तित्व है तब उसका अस्तित्व भी अन्य प्रमेय विषयों की भांति ही होना चाहिए। यह ईश्वर को सीमित पदार्थों के स्तर पर पहुंचा देना होगा और इस प्रकार वह भी पदार्थों के अनन्त बाहुल्य मे एक इकाई मात्र हो जाएगा जो उन सबसे भिन्न होगा उसी प्रकार

1 वही एक वस्तु अपने आपमें रूप आदि भेदों से प्रभावित हो और उनके प्रभाव से स्वय प्रभावित न भी हो यह नहीं हो सकता क्योंकि ये परस्पर विरोधी बात हैं और एक वस्तु एक प्रकार की सीमाओं से सम्बद्ध होने के कारण अन्य रूप धारण नहीं कर सकती। क्योंकि जो स्फटिकशिला पारदर्शक है वह सीमाओं से जैसे लाल रग आदि से सम्बद्ध होने के कारण धुंधली नहीं हो सकती इसके विपरीत यह समझ लेना कि धुंधलापन उसमें व्याप्त है एक भ्रम होगा। ब्रह्म को चाहे वह कोई भी स्वरूप ग्रहण करे अपरिवर्तनीय रूप से समस्त भेदों से स्वतन्त्र ही समझना चाहिए इसके विपरीत नहीं (ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त पृष्ठ 02 ३)

2 विशुद्ध तर्क के आधार पर केवल विवश होकर इसी प्रकार की स्थिति का स्वीकार तो करते हैं किन्तु फिर भी उसकी मति अभी अस्थिर ही है और अन्त में जाकर उसे कुछ निश्चय रूप ही जाता है। वास्तव में परम निरपेक्ष मे कोई भी भावात्मक अथवा अभावात्मक लक्षण नहीं घटते क्योंकि हम सापेक्ष के द्वारा सापेक्ष से बाहर नहीं निकल सकते। हमारे तार्किक बोध जो एक सीमा से दूसरी सीमा की ओर जाते हैं हम अनन्त तक नहीं पहुंचा सकते जब हम अपनी सीमितता का अतिक्रमण करते हैं तो हमारे सम्मुख निरपेक्ष परम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रहता जिसके अन्दर वह सब जो औपचारिक और सीमित है विलीन हो जाता है।

3 रामानुज का मत है कि दैवीय केवल मानवीय विचार का ही विस्तृत रूप है। मानवीय बोध तथा दैवीय बोध मे भेद केवल परिधि (R nge) का है लक्षण सम्बन्धी भेद नहीं है जहां मानवीय विचार अपने अन्दर कुछ सम्बन्धों को रखता है दैवीय उन सबको ले लेता है किन्तु शकर का मत इससे भिन्न है। यदि हम सापेक्ष पदार्थों के जगत में खो जाएंगे तो सापेक्षों का अन्त सम्भव नहीं। जब कि परिभाषाएं अनन्त उपविभाग में बट सकती हैं और जब उनके सम्बन्धों में भी अनन्त परिवर्तन हो सकता है तब परिभाषाओं तथा सम्बन्धों का पूर्ण ज्ञान होना सम्भव नहीं है। प्रतीतियों को एकत्र रखने से हम सत्य तक नहीं पहुंच सकते यद्यपि अनन्त प्रतीतियों से परे तथा सत्य विचार का पहुंच से परे है।

जिस प्रकार कि वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, अथवा वह भी कुल अस्तित्व सम्पन्न वस्तुओं में एक वस्तु के रूप में मिल जाएगा और बहुदेवतावाद में सम्मिलित होकर एक ऐसी व्यवस्था को जन्म देगा जिसे नास्तिकवाद से भिन्न रूप में समझना कठिन होगा। ईश्वर के प्रश्न को अस्तित्ववाचक परिभाषाओं में प्रस्तुत करना प्रारम्भ में ही इस समस्या के समाधान की कुल सम्भावना को दूर कर देगा। यदि तर्क का कड़ा विधान हमें सत्य की प्राप्ति के लिए कोई सुरक्षा प्रदान कर सकता तो हम बहुत पहले ही इस तक पहुंच गए होते। सचाई तो यह है कि हमें तर्क के क्षेत्र में अनेक प्रकार के सम्प्रदाय मिलते हैं जिनमें से प्रत्येक तर्कसम्मत होने का दावा करता है और दूसरों के साथ उसका विरोध होता है। ईश्वर की सत्ता के विषय में प्रस्तुत किए जाने वाले सभी प्रमाणों पर, तथा ज्ञानवाद सम्बन्धी, विश्वविज्ञान-सम्बन्धी और भौतिक ईश्वरीय-ज्ञान सम्बन्धी, प्रमाणों पर शंकर विचार करते हैं और उनकी निष्फलता को दर्शाते हैं, जैसा कि काण्ट ने भी बहुत पीछे आकर किया।

तर्कशास्त्र का आदर्श हमें एक निर्दोष विषयी की यथार्थसत्ता की कल्पना करने को विवश करता है जिसके साथ समस्त सत्ता का सम्बन्ध प्रमेयपदार्थ (विषय) का सम्बन्ध है। क्रमबद्ध सामञ्जस्य के रूप में सत्य का अर्थ है एक दैवीय अनुभव की यथार्थता। एक व्यवस्था के अन्दर घटनाएं एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं यह साधारण बुद्धि तथा विज्ञान की धारणा है जिसका बढ़ते-बढ़ते अनुभव से समर्थन हो जाता है यद्यपि उसकी पूर्णरूप में कभी सिद्धि नहीं हुई। क्योंकि संसार में ऐसा बहुत कुछ है जो प्रत्यक्ष-रूप में हमारे अनुभवों में नहीं प्रविष्ट होता। ऐसा प्रतीत होता है कि हम बहुत कुछ जानते हैं यद्यपि इस सीमित क्षेत्र में भी हमारा ज्ञान अपूर्ण है। केवल यथार्थसत्ता का एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में पूर्णरूप में बोधग्रहण करने से ही हमारी इस धारणा का औचित्य माना जा सकता है कि ईश्वर है और वह सबका स्रष्टा है। हमारा मानवीय अनुभव संसार का ज्ञान उसके पूर्णरूप में प्राप्त करने तथा विशुद्ध सत् के अविराम अनन्तता के साथ सामञ्जस्य को समझने में असमर्थ है।[1] हम अपने अनुभव को चाहे कितना ही सरल तथा व्यवस्थित क्यों न बना लें और इसकी जटिलता को कम करके केवल एकमात्र प्रकृति तक भी ले आवें तो भी पुरुष अथवा विषयी को एक बाह्य निरीक्षक के रूप में स्वीकार करना ही होगा जो देश तथा काल में से प्रकृति की एकाकी उड़ान का निरीक्षण करता है। यदि विश्व इतना छोटा है कि हमारा परिमित शक्ति वाला मस्तिष्क उसकी खोज ले सकता है, यदि हम यह बता सकते कि यह सृष्टि कहां से आई और किधर जाएगी, इसके आदि निकास तथा स्वरूप और लक्ष्य को समझ सकते, तब हम सीमित न होकर अनन्त को माग भी उपस्थित न कर सकते। इस प्रकार की तार्किक धारणा एक विचारमात्र है कि समस्त तथ्य किसी व्यवस्था से सम्बद्ध हैं तथा ईश्वर की सनातनशक्ति को अभिव्यक्त करते हैं।

विश्वविज्ञान-सम्बन्धी तर्क कारणवाद का प्रयोग करता है जो आनुभविक जगत् में भी पर्याप्त सन्तोषजनक नहीं है और तब सर्वथा अनुपयोगी सिद्ध होता है जब हम आनुभविक जगत् का सम्बन्ध परमयथार्थसत्ता के साथ स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं जिसके विषय में कहा जाता है कि वह इस जगत् के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। प्रतीतिरूप जगत् की शृंखलाओं में भिन्न-भिन्न पद्धतियां एक-

1 तुलना कीजिए : "क्योंकि अकेला ईश्वर ही पर्याप्त ऊंचाई पर स्थित रहकर इतने विस्तृत विश्व की कल्पना करता है।"

दूसरे का समाधान नही कर सकती। प्रतीतिरूप जगत् मे हम किसी ऐसे कारण को जिसका कोई अन्य कारण न हो स्वीकार नही कर सकते। इस प्रतीतिरूप शृ खला अर्थात् ससार के नितान्त प्रारम्भ का प्रश्न स्वत विरोधी है। इसकी खोज का तात्पर्य है काल के अन्तर्गत उस सत्ता की खोज जो स्वय काल की सत्ता की भी प्रतिष्ठा है। ससार का सारतत्त्व ही यह है कि उसका आदि नही है। एक ऐसी अनन्तसत्ता जिस तक हम समस्त सीमित पदार्थो का निषेध करते हुए पहुचते हैं, एक ऐसा विचार है जिसके समाधान (व्याख्या) की आवश्यकता है। जब हम कारणकार्यभाव के तर्क का उपयोग यथार्थसत्ता की सिद्धि के लिए करते है, जिसकी प्रामाणिकता की सीमा परिवर्तनशील आनुभविक जगत् तक ही परिमित है, तो यथार्थसत्ता का भ्रमात्मक विचार होता है क्योकि उस अवस्था मे इसे ज्ञान का विषय बना लिया जाता है और वह जिसे हम ससार के कारणरूप मे अनुमान के द्वारा जानना चाहते है वह भी आनुभविक जगत् से सम्बद्ध हो जाता है। यदि हम इस सिद्धान्त की व्यापकता को भी स्वत सिद्ध मान ले कि प्रत्येक कार्य का कारण होता है तब भी एक सीमित जगत् से हम एक सीमित स्रष्टा का ही अनुमान कर सकते हैं।[1] अवश्य ही आदि कारण को सत के उस एक ही सघ की समान इकाई होना चाहिए जिसके अन्य प्रमेय पदार्थ भी हैं क्योकि उक्त प्रमेय पदार्थ भी उसीसे सबद्ध होकर उत्पन्न हुए है। यदि ईश्वर जगत् का कारण है तो उसे भी देश-काल के ढाचे के अन्तर्गत होना चाहिए, अर्थात् एक विस्तृत रूप से बृहदाकार मानव जिसके आत्मचैतन्य की परिभाषा हमारे अपने ही समान शरीर तथा मनरूपी साधन-सामग्री के द्वारा की जा सकती है। यदि इस प्रकार के सत् स्वरूप प्राणी का अस्तित्व है तो हमारे ज्ञान का विस्तृत रूप कितना ही दूरदर्शी क्यो न हो 'वह' हमे उसके स्वरूप तथा सत्ता का निर्णय नही करा सकता। इस प्रकार का ईश्वर विशेषत जो मानवीय साधनो के समान ही साधनो से कार्य करता हो, न तो अनन्त ही और न सर्वशक्तिमान् ही हो सकता है।

इस प्रकार का नैतिक तर्क कि वस्तुओ का पूर्वापर सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा के अनुकूल है और यह एक उपकारी ईश्वर की कारीगरी को प्रदर्शित करता है, सर्वथा असन्तोषप्रद है। हम प्रकृति की ओर चाहे कितना भी क्यो न झुके एक यथार्थ जगत् मे पुण्य व पाप का उत्तरदायित्व ईश्वर ही के ऊपर आता है।[2] यदि उसको पाप के जनक होने के उत्तरदायित्व से मुक्त करने के लिए फारस के पुराणशास्त्र की भाति शैतान को उत्तरदायी ठहराए तो ईश्वर की एकता विलुप्त हो जाती है और हम ईश्वर एव शैतान के बीच एक द्वैतभाव की पुन स्थापना करते हैं। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा ईश्वर का ही एक अश है तो ईश्वर को आत्मा की पीडा का भी अनुभव होना चाहिए वैसे ही जैसे कि जब शरीर के किसी एक अवयव को दु ख होता है तो इसके साथ सारा शरीर दु ख का अनुभव करता है। परिणाम यह निकला कि ईश्वर की पीडाए जीवात्मा की पीडाओ से कही अधिक हैं और इसलिए हमारे लिए

1 यत्कार्यं तत् सकर्तृकम्।

2 यहूदियो के पैगम्बर द्वारा प्रस्तुत इस समाधान की—अर्थात् "मै प्रकाश तथा अन्धकार की भी रचना करता हू, मै शाति का निर्माता हू और पाप की भी रचना करता हू, मै प्रभु रूप मे इन सब वस्तुओ को बनाता हू"—प्रतिध्वनि उपनिषदो के कुछ वाक्यो मे भी पाई जाती है। "क्योकि वही उन मनुष्यो से शुभ कर्म करवाता है जिनका वह इस जगत् से मुक्त होने के लिए मार्ग-प्रदर्शन करता है और उन मनुष्यो से पापकर्म करवाता है जिन्हे वह रसातल मे भेजता है। वह जगत् का सरक्षक है, वही शासक है तथा प्रभु भी है' (कौषीतकी उपनिषद्, 3 . 8)।

यह कहीं अधिक अच्छा होगा कि हम अपनी सीमित पीड़ाओं के साथ अपने अन्दर ही सीमित रहें, अपेक्षा इसके कि हम ईश्वर के स्तर तक उठें और समस्त जगत् का भार उठाने का प्रयत्न करें।

एक पूर्ण निर्दोष ईश्वर को अपने सन्तोष की प्राप्ति के लिए किसी जगत् की आवश्यकता नहीं है। यदि यह कहा जाए कि जगत् उसके सुखोपभोग के लिए है तो फिर वह भी एक संसारी जीव हो गया और ईश्वर न रहा। यदि हम कहें कि ईश्वर में सत्त्व हैं, तथा हमारे जैसा व्यक्तित्व है, और पूर्णता आदि गुण हैं तो यह विचार में नहीं आ सकता कि ये सब उसकी निरपेक्षता के साथ-साथ कैसे रह सकते हैं। व्यक्तित्व के लक्षण (गुण) तथा निरपेक्षता (ब्रह्म) को एक साथ सुरक्षित रखना तर्कशास्त्र की दृष्टि में लगभग असम्भव-सा ही है।

ईश्वर के अस्तित्वविषयक उक्त अपर्याप्त प्रमाणों से जो परिणाम निकलता है वह शंकर के अनुसार यह है कि यथार्थसत्ता के विषय में इस प्रश्न का कुछ अर्थ ही नहीं है और यह प्रश्न केवल आनुभविक जगत् में ही उठ सकता है। जब हम जगत् के सापेक्षस्वरूप को समझ लेते हैं तो हम देखते हैं कि सृष्टिरचना की समस्या और उसका समाधान इन दोनों का सम्बन्ध हमारे तर्कमय जगत् से ही है, किन्तु यथार्थसत्ता का जो स्वरूप है उसके साथ नहीं है। तार्किक प्रमाणों के निराकरण का तात्पर्य ईश्वर के अस्तित्व का निषेध नहीं है। शंकर के दृष्टिकोण से कोई भी विवेकपूर्ण तर्क शरीरधारी सर्वोपरि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में अन्त में पहुंचकर स्वीकार किए जाने के योग्य नहीं है। अधिक से अधिक उक्त प्रमाण हमें यह बतला सकते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना है। ईश्वर की यथार्थता हमारी कल्पना की तथा बोधग्रहण की विवेकपूर्ण शक्ति से अतीत है।[1] केवल उसी अवस्था में जब कि हम ऋषियों की उस आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का आश्रय ग्रहण करें जो धर्मशास्त्रों में संगृहीत है, हमें ईश्वर की सत्ता का निश्चित ज्ञान प्राप्त हो सकता है। शंकर के दर्शन में ईश्वर एक स्वतःसिद्ध प्रमाण नहीं है, तार्किक सत्य भी नहीं है, किन्तु एक अनुभवजन्य उपधारणा है जिसकी क्रियात्मक उपयोगिता है। श्रुति इसका आधार है।[2] ईश्वर सर्वोपरि आत्मा है, सर्वज्ञ है तथा सर्वशक्तिमान् है। वह प्रकृति का आत्मतत्त्व है, विश्व का तत्त्व है, इसका जीवनदायी प्राण तथा प्रेरक स्रोत है और समस्त सत्ता रूप आकृतियों का आदि और अन्त है। जो सिद्धान्त शास्त्रप्रमाण के ऊपर आधारित है वह आवश्यक

1 तुलना कीजिए, स्वीट्ज़र : "यदि हम इस जगत् को ठीक ऐसा ही समझ लें जैसा यह दिखाई देता है तो मनुष्यों तथा साधारणतः समस्त मनुष्य जाति के उद्देश्यों के प्रयोजन की व्याख्या करना असम्भव होगा। हमारे लिए इस जगत् में किसी प्रकार के ऐसे प्रयोजन-सम्बन्धी विकास की खोज निकालना कठिन है जिससे हमारे अपने कर्मों की सार्थकता प्रकट हो सके" (भूमिका, 12, 'सिविलिज़ेशन एण्ड एथिक्स', भाग 2)।

2 यद्यपि यूरोप में कान्ट को ऐसा सर्वप्रथम दार्शनिक विचारक माना जाता है जिसने तार्किक प्रमाणों की निरर्थकता को सिद्ध किया, किन्तु प्लेटो के विषय में यह कहना सर्वथा उचित होगा कि उसने इसके तत्त्व को समझा। "इसलिए क्या यह एक असम्भव कार्य नहीं है कि इस समस्त विश्व के सृजन हार की खोज करके उक्त खोज को ऐसे शब्दों में प्रकट किया जाए जिससे सब समझ सकें" ('टाइमियस', 28, सी०)। तुलना कीजिए, बिशप गोर : "मैं स्वीकार करता हूं कि मानवीय तर्क बिना किसी पुरुषार्थ की सहायता के ईश्वर तथा सृष्टिकर्ता-सम्बन्धी इस विचार तक पहुंच सकता था" ('बिलीफ इन् गॉड', पृष्ठ 152)। और इस प्रकार वे हमें ईश्वरीय वाणी का आश्रय लेने की प्रेरणा देते हैं। इसी प्रकार सन्त टामस एक्विनास भी। तुलना कीजिए, केनोपनिषद् पर शांकरभाष्य, 1 : 4।

नही कि वह तर्क के विरुद्ध हो। श्रुति की स्वीकृति ऐसी एक धारणा को स्वीकार करना है जिसके विरोधी प्रमाण न हो भले ही उसके पक्ष मे प्रमाण पर्याप्त मात्रा मे न मिलें। तार्किक विवरण मे हम अपने को एक ऐसे ससार को सौप देते है और ऐसे विवादास्पद विषय पर पहुच जाते है जहा हमे अन्य साधनो की आवश्यकता होती है। अन्तर्दृष्टि-परक अनुभव की प्राप्ति से पूर्व हमे श्रुति का आश्रय लेना पडता है। ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व के विषय मे धर्मशास्त्र ही हमारा एकमात्र ज्ञान का साधन है।[1] यह बलपूर्वक कहता है कि "वह कारण जिससे ससार की उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय सम्पन्न होते है, जिसका विस्तार ही नाम व रूप है, जिसके अन्तर्गत अनेको कर्ता तथा फलोपभोक्ता समाविष्ट हैं, जिसके अन्तर्गत कर्मो के फल भी समाविष्ट है, और जिनका निर्णय विशेषकर देश, काल और कारण के द्वारा होता है, यह जगत् जिसका निर्माण एक ऐसी व्यवस्था के अनुसार हुआ है जो मन की कल्पना से भी दूर है—यह सर्वज्ञ, और सर्वशक्तिमान कारण ब्रह्म ही है।"[2] समस्त आध्यात्मिक और नैतिक पूर्णताए उसीके अन्तर्गत बताई गई हैं। यह कहा गया है कि वह समस्त पाप से ऊपर है।[3] वही अन्तर्यामी परमात्मा विषय तथा विषयी जगत् मे सर्वत्र व्याप्त है, वह सूर्य (प्रमेय विषय) का अन्तर्वर्ती है तथा आख (विषयी) मे भी अन्तर्वर्ती रूप मे देखा जाता है।[4] वह विश्व का स्रष्टा, शासक तथा सहारक है।[5]

शकर यह सिद्ध करने के लिए घोर परिश्रम करते है कि ईश्वर की यथार्थता का जब एक बार धर्मशास्त्र से निश्चय हो गया तो तर्क की मागो के साथ उसका समन्वय भी किया जा सकता है। हम केवल कार्य को देखते है, इस प्रकार इससे यह निर्णय नही हो सकता कि ससार का सम्बन्ध ईश्वर रूपी कारण के साथ है या किसी अन्य कारण के साथ क्योकि एक ही कार्य के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं। इसलिए हमे धर्मशास्त्रो (श्रुति) के इस कथन को "कि ईश्वर जगत् का कारण है" स्वीकार करना चाहिए। ईश्वर आदिकारण है क्योकि उसकी उत्पत्ति नही है। विशुद्ध सत् स्वरूप होने के कारण उसे सत् से उत्पन्न हुआ नही माना जा सकता क्योकि कारण और कार्य का सम्बन्ध बिना कारण मे कुछ गुण विशेष के रहने से नही बन सकता।[6] ईश्वर की उत्पत्ति किसी भेदिन सत् से नही मानी जा सकती क्योकि अनुभव हमे बताता है कि भेद ऐसे पदार्थ से उत्पन्न होते है जिसके अपने अन्दर भेद न हो। अनात्म से भी इसकी उत्पत्ति नही हो सकती क्योकि यह निरात्मक है। श्रुति भी इस मत का निराकरण करती है क्योकि यह प्रश्न करती है कि सत् की उत्पत्ति असत से कैसे हो सकती है? और ईश्वर परिवर्तित-रूपसत्ता भी नही हो सकता क्योकि इससे हम एक ऐसी पश्चाद्गति मे पहुच जाएगे जिसका कही अन्त नही।[7] ईश्वर अजन्मा है, न उसका कोई कारण है न वह स्वय किसीका कार्य है। यदि ईश्वर कार्यरूप होता तो आकाश से लेकर नीचे तक समस्त पदार्थ नि सार हो जाते और हम शून्यवाद को मानने के लिए बाध्य होते।[8] वह शक्ति

1 ब्रह्मसूत्र 1 1 3।
2 शाकरभाष्य 1 1 2।
3 छान्दोग्य उपनिषद 1 6 शाकरभाष्य 1 1, 20।
4 शाकरभाष्य 1 1 20 बृहदारण्यक उपनिषद 3 7 9।
5 देखें शाकरभाष्य 1 1 18 20 22 1 3 39 41 1 2 9 10।
6 चूकि ईश्वर से उत्कृष्ट किसी सत्ता की कल्पना नही की जा सकती इसलिए ईश्वर का अस्तित्व बिना कारण के है। इसके साथ डस्काट के सत्ता शास्त्रीय तर्क की तुलना कीजिए।
7 शाकरभाष्य 2 3 9।
8 शाकरभाष्य 2 3, 7।

जो समस्त रूपान्तरों को यथार्थता प्रदान करती है ईश्वर है ।

इस सिद्धान्त को मानते हुए कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है, क्या परमाणु, या प्रकृति, या असत्, या कोई व्यक्तिरूप कार्यकर्ता, अथवा स्वयं स्फूर्ति ही कारण नहीं हो सकती ?[1] शंकर इन सब सम्भाव्यताओं का खण्डन करते हैं। प्रकृति जड़ नहीं, चेतन है और अपने अन्दर से उसे जीवन मिलता है। प्रकृति रूपी रंगमंच आत्मा के जीवनरूपी नाटक के लिए सर्वथा अनुकूल है। "इस जगत् में कोई भी अचेतन पदार्थ बिना किसी बुद्धिसम्पन्न की प्रेरणा के अपने अन्दर से ऐसे पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता जो मनुष्य के प्रस्तुत उद्देश्यों की सिद्धि में उपयोगी हों। उदाहरण के लिए मकान, ऊंचे-ऊंचे प्रासाद, शय्याएं, गद्दियां, प्रमोद-उद्यान आदि का निर्माण मेधावी कलाकारों के द्वारा ही इस जीवन में सम्पन्न होता है जिनका उद्देश्य सुख प्राप्त कराना तथा दुःख को दूर करना है। इस समस्त संसार के सम्बन्ध में भी ठीक वही बात है। क्योंकि, उदाहरण के लिए, जब मनुष्य यह देखता है कि किस प्रकार यह पृथ्वी अनेक प्रकार के कार्यों के फलों के लिए उपयुक्त सिद्ध होती है, और फिर किस प्रकार यह शरीर कार्य करता है, जिसमें अन्दर और बाहर भिन्न-भिन्न भागों की एक उचित व्यवस्था प्रस्तुत की गई है और जिसका निर्माण भिन्न-भिन्न जातियों के अनुकूल किया गया है तथा जिसमें एक-एक ब्योरे का ठीक-ठीक निर्णय किया गया है जिससे कि यह अनेक कार्यों के फलोपभोग का उचित स्थान बन सके ''तो यह सब व्यवस्था कैसे एक चेतना-विहीन प्रधान (प्रकृति) से उत्पन्न हो सकता है ? उदाहरण के लिए, अनुभव हमें बताता है कि मिट्टी भी भिन्न-भिन्न आकृतियां केवल तब तक ही धारण करती है जब तक कि कुम्हार उसका संचालक है, इसलिए ठीक इसी प्रकार इस प्रकृति का प्रेरक भी किसी बुद्धि-सम्पन्न शक्ति को ही होना चाहिए।"[2] सृष्टिरचना का प्रयोजन पूर्वजन्मों के फलोपभोग के लिए समुचित भूमि तैयार करना है जिसका विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के लिए पीछे की ओर अनेक जन्मों तक जाता है। चेतनारहित प्रकृति न तो प्रकृति की अपनी व्याख्या है और न जगत् का विषयिनिष्ठ पक्ष है और न कर्म के विधान की क्रिया है। चेतना तथा क्रियाशीलता का सम्बन्ध अवश्य जगत् के कारण के साथ होना चाहिए।[3] संसार में विद्यमान व्यवस्था तथा रचना संकेत करती हैं कि इसकी संचालक एक चैतन्यपूर्ण सत्ता है। इसी प्रकार का संकेत एक ही उद्देश्य की ओर ले जाने वाले विभिन्न साधनों से भी होता है।[4] शंकर पूर्वमीमांसा के इस सिद्धान्त पर भी विचार करते हैं कि ईश्वर के स्थान पर वह अपूर्व है जिसके कारण मनुष्य अपने कर्मों का फल एक व्यवस्था के

1 शांकरभाष्य, 1 1, 2।

2 शांकरभाष्य, 2: 2, 1।

3 यदि ब्रह्म की उपस्थितिमात्र को ही जगत् में गति देने के लिए पर्याप्त समझा जाए, जैसे कि चुम्बक की उपस्थिति लोहे में गति उत्पन्न करती है, तो क्या उसी प्रकार पुरुष की समीपतामात्र प्रकृति के अन्दर गति देने के लिए पर्याप्त नहीं है ? इसके अतिरिक्त अविद्या स्वभावतः सृष्टि की रचना की ओर प्रवृत्ति कराती है और इसके लिए किसी प्रयोजन की आवश्यकता नहीं। "अविद्या च स्वभावत एव कार्योन्मुखी न प्रयोजनमपेक्षते।" (भामती, 2 : 1, 33)।

4 शांकरभाष्य, 1 : 3, 39।

अनुसार पाते हैं। वे उक्त सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि अपूर्व अधार्मिक है और जब तक इसके अन्दर कोई धार्मिक शक्ति गति न दे यह स्वतः कार्य नही कर सकता। न्यायवैशेषिक का विश्वातीत ईश्वर अपर्याप्त है क्योंकि वह विश्व का उपादान कारण नही है। यदि कोई व्यक्ति विशेष सृष्टि का रचयिता होता तो वह ऐसी वस्तु को उत्पन्न करता जो उसके लिए उपयोगी होती तथा उन वस्तुओ को, जो विरुद्ध प्रकृति की हैं, जैसे जन्म, मरण, वृद्धावस्था, रोग इत्यादि, कभी उत्पन्न न करता। क्योकि "हम जानते है कि कोई भी स्वतन्त्र मनुष्य अपने लिए कारागार बनाकर उसमे अपने-आप नही बैठ जाएगा।"[1] आकस्मिक घटना, परमाणु, प्रकृति, न्याय का ईश्वर आदि उन सबसे कही अधिक बढकर मार्ग हैं जो माग श्रुति करती है। इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, नित्य, सर्वव्यापक ईश्वर जगत् का कारण ह।[2]

ईश्वर को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण बताया गया है। इस आपत्ति के उत्तर मे कि अनुभव के अनुसार उपादान कारण ज्ञानसम्पन्न नही होते, शकर कहते हैं "यह आवश्यक नही है कि यहा भी ठीक वैसा ही हो जैसा कि अनुभव मे होना है; क्योकि इस विषयो का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा हुआ है, अनुमान के द्वारा नही।" जब हम श्रुतिवाक्यो पर विश्वास करते हैं तो हमारे लिए यह आवश्यक नही है कि हम अनुभव की भी अनुकूलता ढूंढें।[3] न्यायदर्शन के अनुसार निमित्तकारण वह है जिसका ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न किसी भी पदार्थ को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। वेदान्ती केवल ज्ञान को ही अपने मे पूर्ण मानता है किन्तु इच्छा तथा प्रयत्न को नही, जिनके लिए एक पूर्ववर्ती इच्छा तथा पूर्ववर्ती प्रयत्न की कल्पना करनी पडती है, और इस प्रकार इसका कही अन्त नही। ऐसा तर्क उपस्थित किया जाता है कि ईश्वर जगत् का कारण नही हो सकता क्योकि दोनो के स्वभाव मे अन्तर है अर्थात् कारण और कार्य एक-दूसरे से विलक्षण हैं। सोने का एक टुकडा मिट्टी के किसी बर्तन का कारण नही हो सकता, इसी प्रकार विशुद्ध तथा धार्मिक ईश्वर जगत् का कारण नही हो सकता क्योकि जगत् अशुद्ध तथा अधार्मिक है।[4] शकर उत्तर मे कहते हैं कि अचेतन पदार्थ प्राय. चेतन प्राणियो से जन्म लेते हैं जैसे बाल और नाखून चेतन मनुष्य से उत्पन्न होते हैं। अचेतन गोबर से चेतन गुबरैला उत्पन्न हो जाता है। यदि यह कहा जाए कि इन अवस्थाओ मे दिखाई देने वाली विभिन्नता के होते हुए भी एक मौलिक तादात्म्य है, क्योकि ये दोनो ही भूमि से उत्पन्न होते है, तो शकर इसका उत्तर यो देते है, कि ईश्वर और जगत् मे सत्ता का एक सामान्य लक्षण है। दोनो ही सर्वथा भिन्न नही हैं और यदि ईश्वर के अन्दर कुछ अतिशय है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात

1 नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारम् आत्मन कृत्वाऽनुप्रविशति। (2 . 1, 21) तुलना कीजिए, डेन्कार्ट, "यदि मैं स्वय अपने जीवन का रचयिता होता तो मैं अपने लिए ऐसी प्रत्येक पूर्णता को प्राप्त कर लेता जिसे मैं भी विचार मे ला सकता हू और इस प्रकार मैं ईश्वर हो जाता" ('मैडिटेशन्स', पृष्ठ 3)।

2 देखें, शाकरभाष्य 2 · 1, 22 , 4 1, 23 और 24।

3 न अवश्य तस्य यथादृष्टमेव सर्वम् अभ्युपगन्तव्यम्। और भी देखें, 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 92 93।

4 शाकरभाष्य, 2 1, 4।

नहीं क्योंकि कारण में सर्वत्र यह विशेषता पाई जाती है।[1]

एक अन्य आपत्ति में कहा गया है कि यदि जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है और उसी में समा जाता है तो समाने के समय जगत् के ऐसे गुण जैसे भौतिकता, सयुक्तता, जड़ता, सीमितता, अशुद्धता इत्यादि अवश्य ईश्वर को मलिन कर देते होंगे।[2] इसके उत्तर में शंकर का कहना है कि जब कार्य अपने कारणों में वापिस लौटते हैं तो वे अपने विशिष्ट गुणों को त्याग देते हैं और अपने कारणों में अन्तर्लीन हो जाते हैं, जिस प्रकार सोने के आभूषण फिर से सोने में परिवर्तित होते समय अपने साथ खोट आदि नहीं लाते। यदि कार्य कारण में परिवर्तित होने पर भी अपने गुणों को बनाए रखे तो यह तात्त्विक पुनरावर्तन नहीं है।[3] यदि यह कहा जाए कि चूंकि जगत् अपने विशेष गुणों को त्यागकर ईश्वर में विलीन होता है तो फिर ईश्वर को सृष्टि बनाने का कोई कारण नहीं होना चाहिए कि वह फिर से अपने को भोग्य और भोक्ता आदि भेदों के रूप में विभक्त करे जैसा कि प्रत्येक नई सृष्टि में होता है। शंकर इसका उत्तर एक दृष्टान्त के द्वारा देते हैं "जैसे कि जीवात्मा प्रगाढ निद्रा तथा समाधि में अपनी मौलिक एकता के रूप में (कुछ समय के लिए) वापस पहुंच जाता है किन्तु उक्त अवस्थाओं से जागने पर फिर तब तक के लिए अपने वैयक्तिक जीवन में आ जाता है जब तक कि वह अविद्या से मुक्त नहीं होता। ठीक इसी प्रकार की क्रिया ईश्वर के अन्दर समाने पर भी होती है।"[4] भिन्नता प्राप्त करने की शक्ति ईश्वर के अन्दर बराबर रहती है यद्यपि यह उस समय व्यक्त नहीं होती जबकि जगत् उसमें समाता है। बार-बार होने वाले अस्तित्व के रूप में जगत् के पुनरावर्तन का आधार वे कर्म हैं जो पूर्वजन्मों में किए गए हैं और जिनका फल अवश्य मिलना चाहिए। मुक्तात्मा फिर से जगत् में वापस नहीं आते क्योंकि पुनर्जन्म की शर्त अर्थात् मिथ्या ज्ञान उनकी अवस्था में विद्यमान नहीं है।[5] वस्तुतः सृष्टिरचना नाम की कोई वस्तु नहीं है क्योंकि संसार अनादि और अनन्त है। सृष्टि की उत्पत्ति तथा विनाश संसार की प्रक्रिया में एक प्रकार के पड़ाव हैं क्योंकि संसार अनादिता से अनन्तता की ओर गति करता है। प्रत्येक कल्प (सृष्टि की कालावधि) के प्रारम्भ में उस मूलभूत सम्मिश्रण का अनावरण होता है जो अपने अन्दर विविधता की सम्पूर्ण शृंखला को धारण करता है। भूत तथा वर्तमानकाल के अन्दर तारतम्य बना रहता है और इसी प्रकार प्रलयावस्था तथा सृष्टिरचना के अन्दर भी क्योंकि प्रलय के पश्चात् सृष्टिरचना आती है। यदि सर्वोपरि ईश्वर तथा व्यक्तिगत जीवात्मा परस्पर पूर्ण इकाई तथा उसके भाग के रूप में सम्बद्ध हों तो जब कभी जीवात्मा को पीड़ा होगी, ईश्वर भी उस पीड़ा को अनुभव करेगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए इकाई तथा उसके भाग के सम्बन्ध की व्याख्या के सम्बन्ध में कहा गया है कि एक मौलिक है, दूसरा उसका प्रतिबिम्बमात्र है। प्रतिबिम्ब पर लगी चोट मौलिक

1. शांकरभाष्य, 2 : 1, 6।
2. स्थौल्य, सावयवत्व, अचेतनत्व, परिच्छिन्नत्वा शुद्ध्यादि।
3. शांकरभाष्य, 2 . 1, 9।
4. शांकरभाष्य, 2 . 1, 9।
5. शांकरभाष्य, 2 : 1, 9।

पर कोई असर नही पैदा करती।

यह कहा जाता है कि ईश्वर ऐसे जगत् का कारण नही हो सकता जिसमे कुछ के साथ तो अच्छा व्यवहार होता है और कुछ के साथ बुरा और ऐसा प्रभु जो अपने प्राणियो के साथ एक-दूसरे से भिन्नता का व्यवहार करता है वह अन्यायी तथा क्रूर है।[1] कर्म के विधान को मान लेने से यह कठिनाई दूर हो जाती है। ईश्वर स्वेच्छाचारिता से कर्म नही करता अपितु प्रत्येक प्राणी के उसके पूर्वजन्मो मे किए गए पुण्य व पाप कर्मो के अनुसार ही कार्य करता (समुचित फल देता) है। ईश्वर एक ऐसी सृष्टि की रचना करता है जो मनुष्यो के कर्मो के अनुकूल हो। क्योकि यह जगत् केवल पूर्वजन्मो के कर्मो के प्रायश्चित के लिए ही एक प्रकार का नाट्यशाला है, ईश्वर का सृष्टिकर्ता के रूप मे कर्तृत्व केवल गौण है। जो कुछ पौधो को प्राणधारक शक्ति से प्राप्त होना है उसका श्रेय हम माली को नही देते। शकर ईश्वर की तुलना वर्षा के साथ करता है. जिस वर्षा से पौधो को बटने मे सहायता प्राप्त होती है किन्तु ये वढकर क्या बनेगे, यह वर्षा के ऊपर नही अपितु बीज की प्रकृति के ऊपर निर्भर करता है। प्रत्येक मनुष्य के नये जन्म का निर्णय उसके कर्मो के नैतिक गुणो के द्वारा होता है।[2] किन्तु यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्यो नही ईश्वर ने एकदम प्रारम्भ मे जब कि मनुष्यो मे पुण्य व पाप उस ईश्वर के कर्म के निर्णायक के रूप मे नही थे तब एक ऐसे जगत् की रचना की जो दु ख तथा कष्ट से मुक्त होता ? यह हमे अन्योन्याश्रय रूप तर्क की ओर ले जाता है। शकर का कहना है : "बिना पाप व पुण्य के कोई भी इस जन्म मे नही आ सकता, इसके अतिरिक्त बिना व्यक्ति के पुण्य व पाप भी नही हो सकते, इस प्रकार जगत् का आरम्भ विषयक-सिद्धान्त मानने से हम एक तर्क सम्बन्धी अन्योन्याश्रय दोष मे फस जाते हैं।"[3] जगत् अनादि है।[4] प्रत्येक जन्म अपने अन्दर किसी न किसी पूर्वजन्म के स्वरूप को धारण करता है। यहाँ तक कि समय-समय पर होने वाली सृष्टि-रचनाओ तथा विलय की अवस्थाओ मे भी कर्म का विधान देखा जा सकता है और ईश्वर के स्वरूप मे ससार सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप मे विद्यमान रहता है। प्रकृति अथवा जगत् का तत्व जो स्वय मे कार्य नही है और इसीलिए अन्य सब कार्यो से श्रेष्ठ है, उस ईश्वर मे विद्यमान रहता है।[5] मूल का उत्पत्ति-स्थान ईश्वर के बाहर नही है और इसलिए माया अथवा प्रकृति को ईश्वर के स्वरूप का एक अग माना गया है। ईश्वर अर्थात् प्रकृति के साहचर्य से युक्त ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। यह जगत् जो ईश्वर का कार्य है अपनी रचना से पूर्व भी कारणात्मक रूप से विद्यमान रहता है, जिस प्रकार यह सृष्टिरचना मे उसकी शक्ति से विद्यमान रहता है।[6] सृष्टि-रचना के पूर्व भी नाम और रूप ईश्वर के ज्ञान के विषय है।[7]

1 शाकरभाष्य, 2 1, 34।
2 शाकरभाष्य, 1 3, 39।
3 शाकरभाष्य, 2 1, 36।
4 शाकरभाष्य, 2 3, 42।
5 सर्वस्माद विकारात परायोऽविकार (शाकरभाष्य, 1 2, 22)।
6 शाकरभाष्य, 2 1, 6। देखें, कठोपनिषद् पर शाकरभाष्य, 3 11, छान्दोग्य उपनिषद, 8 14 1।
7 शाकरभाष्य, 1 1, 5।

उपनिषदों में ईश्वर को अन्तर्यामी माना गया है। उनका कहना है कि ईश्वर जीवात्मा में पृथक् नहीं है परन्तु इसके द्वारा ही उसने प्रकृति के अन्दर प्रवेश किया है। "चूंकि नितान्त विशुद्ध होने के कारण वह अपवित्र शरीर में अपनी निजी आत्मा सहित प्रवेश नहीं करेगा और यदि वह ऐसा करता भी है तो भी इस बात को स्मरण करना छोड़ देगा कि उसने स्वयं ही इसे बनाया है। आत्मा जिसके रूप में ईश्वर जगत् में प्रविष्ट हुआ बिना किसी कष्ट के जगत् का संहार कर देती जिस प्रकार कि एक जादूगर अपने द्वारा उत्पन्न किए गए चाकचक्य को नष्ट कर देता है। चूंकि यह नहीं होता इसलिए परिणाम यह निकला कि जगत् का निर्माण किसी ऐसे धार्मिक सत् के द्वारा नहीं हुआ जो यह जानता हो कि उसके लिए श्रेयस्कर क्या है।[1] इस आपत्ति का उत्तर शंकर यों देते हैं कि देखो एक ही कारण से भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पत्ति होती है। यह एक ही पृथ्वी अनेक प्रकार के पत्थरों को उत्पन्न करती है जिनमें बहुमूल्य जवाहरात भी हैं और साधारण पत्थर भी हैं। ठीक इसी प्रकार एक ही ईश्वर से नानाविध आत्माओं तथा कार्यों की सृष्टि होती है।[2]

ईश्वर बिना साधनों के सृष्टिरचना करता है। अपनी महान् शक्तियों के द्वारा वह अपने को अनेक कार्यरूपों में परिणत कर लेने में समर्थ है।[3] ईश्वर को किसी बाह्य सहयोग की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके अपने अन्दर सब प्रकार की आवश्यक शक्तियां पूर्णरूप में विद्यमान हैं। यह कहा जाता है कि ईश्वर और ऋषिगण केवल समाधि के बल से अनेक वस्तुओं का सृजन कर सकते हैं और इस कार्य में उन्हें किसी बाह्यवस्तु की आवश्यकता नहीं होती।[4] सृष्टि की उत्पत्ति का उसका कार्य मानवीय कर्मों के समान नहीं है।[5] अपनी प्रकृति के विशेष गुण के कारण ईश्वर अपने को जगत् के रूप में परिणत कर लेता है ठीक उसी प्रकार जैसे कि दूध दही में परिणत हो जाता है।[6] चूंकि अनेकत्वपूर्ण जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है इसलिए ईश्वर अनेक शक्तियों का भण्डार है।[7] यदि ईश्वर तात्त्विक रूप में स्वतन्त्र है तो उसे सृष्टिरचना के लिए कोई विवश नहीं कर सकता। ईश्वर में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है और न कोई उसकी अतृप्त इच्छा ही है। ईश्वर के पक्ष में किसी प्रयोजन का निर्देश करने से उसकी पूर्णता के साथ विरोध होता है।[8] यदि इस जगत् की उत्पत्ति किसी प्रयोजन से हुई अथवा किसी इच्छा को व्यक्त करती है अथवा किसी अभाव की पूर्ति करती है तब इसका अर्थ होगा कि उसके अन्दर

1. शांकरभाष्य, 2 : 1, 21।
2. शांकरभाष्य, 2 : 1, 23।
3. परिपूर्णशक्तिकम् (शांकरभाष्य, 2 : 1, 24)।
4. 2 : 1, 25, 31।
5. शांकरभाष्य, 1 : 4, 27।
6. क्षीरवद् द्रव्यस्वभावविशेषात् (शांकरभाष्य, 2 : 1, 24)। दूध का दृष्टान्त दोषपूर्ण है, क्योंकि दूध को दही के रूप में परिणत होने के लिए गर्मी के साहचर्य की आवश्यकता होती है।
7. शांकरभाष्य, 2 : 1, 30।
8. नित्यपरितृप्तत्वम् (शांकरभाष्य, 2 : 1, 32-33)। ब्रह्म प्राप्तकाम है अर्थात् उसका प्रयोजन पहले से ही सिद्ध है और इस प्रकार सीमित चैतन्य के उद्देश्यवाद का सिद्धान्त उसके पक्ष में लागू नहीं होता।

किसी वस्तु की आवश्यकता का भाव एव उस सर्वोपरि सत्ता की अपूर्णता प्रकट होती है। यदि उसने बिना किसी निश्चित उद्देश्य के सृष्टिरचना की तो फिर उसके और एक बच्चे के कर्मों मे कोई भी भेद न हुआ। यदि ईश्वर ही एकमात्र कारण होता तो समस्त कार्य एक साथ उपस्थित हो जाता, किन्तु वस्तुत हमे एक शनै शनै विकसित होती हुई उन्नति मिलती है जो इस बात का सकेत करती हुई प्रतीत होती है कि भिन्न-भिन्न स्थितियो के लिए कारण भी भिन्न भिन्न है। उत्तर मे यह कहा गया है कि अनिवार्य रूप मे बाह्य क्रिया के निर्णय की आवश्यकता नही है। इसका निर्णय स्वय क्रिया के अन्तर्हित प्रेरणापरक प्रयोजन द्वारा होता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि "उस प्रभु की क्रियाशीलता केवल लीलामात्र है ऐसा समझना चाहिए, जो उसके अपने स्वभाववश है और उसमे कोई प्रयोजन नही रहता।"[1] ईश्वर की रचनात्मक कर्मण्यता उसकी पूर्णता का अनिच्छित अतिरेक है जो अनुत्पादक के रूप मे उसके अपने अन्दर नही समा सकता। लीला का भाव अनेक सुझाव उपस्थित करता है। सृष्टिरचना का कर्म किसी स्वार्थपरक प्रयोजन की प्रेरणा से नही है। यह ईश्वर के स्वभाव का स्वाभाविक अतिरेक है, जिस प्रकार श्वास-निश्वास मनुष्य की स्वाभाविक क्रिया है।[2] ईश्वर बिना सृष्टिरचना के रह नही सकता। सृष्टिरचना का कार्य आकस्मिक घटना अथवा अविवेक का परिणाम नही है किन्तु केवल ईश्वर के स्वभाव का परिणाम है। अपने आह्लाद की पूर्णता के कारण ईश्वर बाहर की ओर जीवन तथा शक्ति का वितरण करता है।[3] शकर अनन्त को ऐसा नही मानते कि वह पहले अपने मे अवस्थित हो और फिर आवश्यकतावश यह अनुभव करे कि उसे सीमित अवस्था मे बाहर जाना चाहिए। वह अपने आह्लाद की अपरिमितता के कारण तथा नैतिकता की माग के कारण भी सृष्टि की रचना करता है। इस सृष्टि को एक ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी मनोरजक खेल समझकर, जिसका आनन्द सर्वोपरि ब्रह्म अनुभव करता है, शकर उस प्रयोजनात्मकता, विवेकपूर्णता, सुखसान्त्वना तथा निष्क्रियता का प्रतिपादन करते हैं जिसके द्वारा सृष्टि का धारण होता है। मुक्तात्मा भी ईश्वर के आह्लाद मे भाग ले सकते है। सीमित केन्द्रो का भेद पूर्ण इकाई से नही अपितु उसीके अन्दर से होना चाहिए और वह पूर्ण इकाई आत्माओ के लिए भी प्राप्तव्य आदर्श है। यहा तक कि वे वस्तुए भी जो अधार्मिक तथा विवेकहीन प्रतीत होती है उसी पूर्ण इकाई से सम्बद्ध हैं। ईश्वर का जीवन समस्त भागो मे सबको एक सूत्र मे बाधते हुए तथा अपने अन्दर समाविष्ट करते हुए स्पन्दन करता है। "ब्रह्म से लेकर पेड पौधो तक समस्त प्राणी मेरा शरीर माने गए हैं।"[4] ईश्वर तथा जगत्, अर्थात् कारण और कार्य तादात्म्ययुक्त है। वे आकृतियो अथवा परिवर्तित रूपो मे तादात्म्ययुक्त नही हैं किन्तु ब्रह्म की मौलिक प्रकृति के रूप मे तादात्म्ययुक्त है। सृष्टिरचना के समय जगत् नाम व रूप मे विकसित होता है और प्रलयावस्था मे यह अविकसित रूप मे रहता है। सृष्टि देश, काल के स्तर पर उसीकी अभिव्यक्ति है जो

1 शाकरभाष्य, 2 1 33।

2 शाकरभाष्य, 2 1 33।

3 इसके साथ आत्मा के विषय मे प्लाटिनस के विचार की तुलना कीजिए। वहा भी इसे अतिरेकमय पूर्णता बताया गया है।

4 उपदेशसाहस्री 9 4, दक्षिणमूर्तिस्तोत्र, पृष्ठ 9।

पहले से ईश्वर के अन्दर विद्यमान है।[1] प्रत्येक कल्प के अन्त में ईश्वर समस्त जगत् का प्रतिसंहार करता है, अर्थात् भौतिक जगत् अव्यक्त प्रकृति के अन्दर विलय हो जाता है और जीवात्माएं कुछ समय के लिए उपाधियों के सम्बन्ध से स्वतन्त्र हो जाते के कारण मानो प्रगाढ़ निद्रा में मग्न हुई पड़ी रहती हैं। किन्तु चूंकि उनसे कर्मों के परिमाण अभी निःशेष नहीं हुए होते, उन्हें शीघ्र ही फिर दैहिक जीवन में प्रविष्ट होना पड़ता है जैसे कि ईश्वर एक नये भौतिक जगत् को उत्पन्न करता है। तब फिर जन्म, कर्म और मृत्यु आदि का पुराना चक्र फिर से प्रारम्भ होता है।[2]

जीवात्माएं जो एक-दूसरे से पृथक् हैं ईश्वर के ही भाग समझी गई हैं किन्तु तो भी उनके अन्दर भूल से परस्पर किसी प्रकार का मिश्रण नहीं होता। भिन्न-भिन्न आत्माओं के कर्म तथा कर्मफल जो मृत्यु के समय अपने निकास की ओर वापस लौट जाते हैं फिर से नए जन्म में[3] वापस लौट आते हैं, किन्तु एक-दूसरे के साथ मिलकर गड़बड़ी में नहीं पड़ते।[4] जीवात्मा जिसकी पहचान भौतिक देह के द्वारा होती है, जीव है, जिसे देही अथवा शरीरधारी भी कहते हैं। इन सब जीवों का एकत्व जो जाग्रतावस्था में सामूहिक अथवा विश्वात्मक आत्मा है उसे विराट् अथवा वैश्वानर कहते हैं। स्वप्नावस्था के सदृश सूक्ष्म शरीर से युक्त जो जीवात्मा है वह लिंगी अथवा तैजस् है। समस्त तैजस् अथवा सूक्ष्म आत्माओं का एकत्व हिरण्यगर्भ अथवा सूत्रात्मा कहलाता है।[5] अन्त में कारण शरीर से संयुक्त आत्मा प्राज्ञ कहलाती है और समस्त प्राज्ञों का एकत्व ईश्वर है। प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में अवस्थित जीवात्मा में फिर भी द्वैत का अंश विद्यमान रहता है। उसमें बुद्धि है जो विचार तथा संकल्प का स्रोत है। प्रलय की अवस्था में ईश्वर सुषुप्ति अवस्था में स्थित जीव के समान रहता है और उसका सम्बन्ध द्वैत के के साथ रहता है यद्यपि वह व्यक्त नहीं होता। विशुद्ध बुद्धि से सम्पन्न ईश्वर ही ब्रह्म है। उसमें तीन गुण रहते हैं किन्तु उसे फिर भी त्रिगुणातीत कहा गया है। उसे एक पारदर्शक शरीर प्राप्त है, जो विशुद्ध सत्त्व है, ऐसा कहा जाता है। ईश्वर से विराट्, सुषुप्ति से जाग्रतावस्था, प्राज्ञ से देही यह सृष्टि अथवा प्रगतिशील भौतिकावस्था का क्रम है, इससे विपरीत दिशा का क्रम है प्रलय अथवा प्रगतिशील आदर्शीकरण। शंकर आनुभविक जगत् में वास्तविक परिणाम को स्वीकार करते हैं यद्यपि वे जगत् के ब्रह्म के साथ सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए विवर्त के विचार का प्रयोग करते हैं।

1 तुलना कीजिए, एमिली ब्रॉण्टे :

> "यद्यपि पृथ्वी और मनुष्य नष्ट हो गए,
> और सूर्यों तथा विश्वों का भी अस्तित्व नष्ट हो गया।
> और तू अकेला (एकाकी) रह गया,
> तो भी प्रत्येक सत्ता तेरे अन्दर विद्यमान है।"

2 सृष्टिरचना, सृष्टि की स्थिति तथा समस्त विश्व के संहार की क्षमता के अनुसार एक ही सर्वोपरि प्रभु ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामों से पुकारा जाता है। सृष्टिरचना सत्त्वगुणयुक्त ईश्वर अथवा ब्रह्मा का कार्य है, तमोगुणयुक्त ईश्वर अथवा शिव का कार्य सृष्टि प्रलय करना है तथा ऊर्ध्व और अधोदिशा में प्रवृत्ति समेत सृष्टि को धारण करना रजोगुणयुक्त ईश्वर अथवा विष्णु का कार्य है।

3 छान्दोग्य उपनिषद्, 6 . 10।

4 शांकरभाष्य, 2 . 3, 49।

5 शांकरभाष्य, 2 . 3, 15।

उपादान कारण वह है जो कारण के ही समान पदार्थ को उत्पन्न करता है।[1] जगत् ब्रह्म से भिन्न नही है जो सद्रूप मे परिवर्तनशील है, यह अविद्या से भी भिन्न है जो जडरूप मे परिवर्तन के अधीन है। इस प्रकार जगत् ब्रह्म तथा माया का मिश्रण है। शाकर का मत तो इस विषय मे बिलकुल स्पष्ट है कि ईश्वर विश्व का निमित्त तथा उत्पादन दोनो प्रकार का कारण है,[2] किन्तु अर्वाचीन वेदान्त मे मतभेद उत्पन्न हो गया। वेदान्त परिभाषा के अनुसार जगत् के विकास का कारण माया है ब्रह्म नही।[3] वाचस्पति का मत है कि कारण तो ब्रह्म ही है माया उसकी सहायक है। माया के वश मे पडे हुए व्यक्ति ब्रह्म को जड जगत के रूप मे एक विषय समझते है और माया उसका कारण बताई जाती है।[4] किन्तु इस मत मे माया को स्वत सिद्ध मान लिया गया है जो जीवो को प्रभावित करती है। जगत् की जडता का कारण विशुद्ध तथा सरल ब्रह्म के अतिरिक्त कोई होना चाहिए और सम्भवत ऐसा कथन करना कही उत्तम होगा कि जगत् अपने सात-अनन्तस्वरूप के कारण ब्रह्म-माया से उत्पन्न हुआ माना जाना चाहिए। और चूकि हम जगत् तथा ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध का ठीक-ठीक विवरण नही दे सकते, हम ऐसा कथन कर सकते है कि ब्रह्म उस जगत् का अधिष्ठान है जिसकी उत्पत्ति माया से है। यह मत 'पदार्थतत्त्वनिर्णय' ने स्वीकार किया है।[5] सिद्धात-मुक्तावली का रचयिता ब्रह्म का सबध अन्य किसी वस्तु के साथ मिलने का प्रबल विरोधी है और इसलिए उसका मत है कि एकमात्र माया ही जगत् का कारण है। 'सक्षेपशारीरक' का ग्रथकार निरपेक्ष परमब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानता है क्योकि इस समस्त सत्तात्मक जगत् का सम्बन्ध एक यथार्थसत्ता के साथ होना चाहिए। अन्य लोग जो ब्रह्म के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध जोडने का निराकरण करते है ईश्वर को, अर्थात् माया से सम्बद्ध ईश्वर को, उपादान कारण मानते है।[6] यदि निरपेक्ष परब्रह्म मे उपादान कारण का आधान किया जाता है तो यह केवल आनुषङ्गिक है। विद्यारण्य का मत है कि जो कारण जगत के रूप मे परिणत होता है वह माया है[7] और वह जो जगत् का आधार है विशुद्ध चैतन्य है और मायारूप उपाधि से सीमित है।[8] ऐसे भी विचारक हैं जिनका यह मत है कि मूर्तरूप विषय स्थानीय जगत् ईश्वरीय माया का कार्य है किन्तु चित्त तथा इन्द्रिय आदि का सूक्ष्म जगत् व्यक्तिरूप जीव का कार्य है जिसे ईश्वर की माया से सहायता मिलती है।[9] दूसरी ओर ऐसे भी विचारक हैं जो अविद्या की शक्ति

1 स्वाभिन्नकार्यजनकत्वम उपादानत्वम।

2 एक मत जिसकी पुष्टि 'विवरण' ने की है।

3 प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादान माया न ब्रह्मेति सिद्धान्त ।

4 वाचस्पतिमिश्रास्तु जीवाश्रितमायाविषयिकृत ब्रह्म स्वत एव जाड्याश्रयप्रपञ्चाकारेण विवर्तमानतयोपादानम् इति मायासहकारिमात्रम (सिद्धान्तलेशसग्रह 1)।

5 प्रपञ्चे उभयोरपि मायाब्रह्मणोरुपादानत्वम तत्र च परिणमितया मायाया उपादानत्वम अधिष्ठान तथा च ब्रह्मण उपादानत्वम। ब्रह्म विवर्तमानतया, अविद्या परिणमनतया उपादानम। (सिद्धान्तलेशसग्रह 1 पर भाष्य)।

6 विवरण जो अपना आधार शाकरभाष्य क 1 1, 10 , 2 1 को मानता है।

7 परिणाम्युपादानता।

8 विवर्तोपादानता को मायोपहित चैतन्य का कारण माना है।

9 वियदादिप्रपञ्च ईश्वरसृष्टमायापरिणाम इति तत्र ईश्वर उपादानम , अन्त करणादिक तु ईश्वराश्रितमायापरिणाम महाभूतोपसृष्टजीवाविद्याकृतभूतसूक्ष्मा कार्यम् इति तत्रोभयारुपादानत्वम् (सिद्धान्तलेशसग्रह 1)।

का कारण विषयीरूप जगत् को बताते हैं और ईश्वर की माया के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं समझते एवं ईश्वर की माया को केवल तत्त्वयुक्त विश्व का ही कारण मानते हैं। जब हम उक्त प्रश्न पर दो भिन्न-भिन्न [illegible] से, अर्थात् विषयनिष्ठता तथा विषयिनिष्ठ [illegible] हैं तो हम वह [illegible] अध्यास किया गय [illegible] विषयिनिष्ठ जगत् का अध्यास किया गया [illegible] है कि परम-यथार्थसत्ता इन्द्रिय तथा कर्मव्यता के समस्त क्रियात्मक ऐन्द्रिक जगत् का उपादान कारण है और जीव प्रतीतिरूप वस्तुओं के तथा स्वप्नात्मक जगत् का उपादान कारण है। जहां एक ओर उक्त समस्त मत इस जगत् को व्यक्तिरूप विषयी अथवा जीव को जगत् का कारण मानने से निषेध करते हैं वहां ऐसे भी कुछ विचारक हैं जिनकी सम्मति में जीव ही सबका उपादान कारण है जो अपने अन्दर ईश्वर से लेकर नीचे तक समस्त वस्तुओं की व्यवस्था को आगे बढ़ाए हुए है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि यह स्वप्न जगत् को आगे बढ़ाता है।[1]

28. ईश्वर का मायिक रूप

चाहे हम यह कहें कि तर्क के द्वारा में व्यवस्थित ब्रह्म आनुभविक जगत् है अथवा यह कहें कि यह ईश्वर है —दोनों कथनों में कुछ अन्तर नहीं है। ईश्वर सर्वग्राही है और अपने अन्दर इस समस्त सत्तात्मक जगत् को समाविष्ट किए है जो प्रलय में उत्पादन क्षमता के रूप में और सृष्टिरचना में वास्तविक रूप में विद्यमान है। ड्यूसन के इस कथन में कुछ विशेषता नहीं है कि शंकर ने सावधान होकर भेदशून्य ब्रह्म तथा आनुभविक जगत् में एक ओर तथा दूसरी ओर ईश्वर में भेद नहीं किया। वह कहता है : "इस भेद शून्य ब्रह्म के दो विरोधी हैं: प्रथम आनुभविक जगत् की आकृतियां, जिस रूप में उपाधियों से नियन्त्रित ब्रह्म प्रकट होता है; उसके पश्चात् वे अपूर्ण आलंकारिक विचार जो हम सर्वोपरि ईश्वर के विषय में बनाते हैं जिससे कि यह हमारे बोधग्रहण तथा पूजा के लिए निकटतम आ सके। यह अद्भुत विषय है कि भेदशून्य ब्रह्म के इन दो विरोधियों के मध्य, चाहे वे आकृतिक रूप में एक-दूसरे से कितने भी पृथक् क्यों न हों, शंकर कोई भी स्पष्ट भेद नहीं मानते और यहां तक कि एक वाक्य के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने औपचारिक आकृतियों में प्रस्तुत आकृतियों को आधार (आलम्ब) के रूप में देखा।···परिणाम यह निकला कि हमारे ग्रन्थकार को उनके मध्य जो भेद है उसके विषय में स्पष्ट ज्ञान कभी नहीं हुआ।"[2] ड्यूसन स्वीकार करता है कि शंकर ने एक वाक्य में इस भेदभाव का उल्लेख किया है[3] और इसे व्यर्थ बताकर छोड़ दिया है। समस्त प्रतीतिस्वरूप जगत् ब्रह्म का ही आभास है। ब्रह्म जिसके ऊपर सब स्थित है तब ईश्वर बन जाता है जब औपचारिक रूपों का आकार धारण करता है और अपने अन्दर सबको समाविष्ट कर लेता है। एक ओर अनन्त ईश्वर तथा दूसरी ओर जीवात्माएं, इनके मध्य जो भेद है वह ऐसा है जैसा

1 अप्पय दीक्षित उनकी स्थिति का इस प्रकार वर्णन करता है : "जीव एव स्वप्न द्रष्टृवत् स्वस्मिन् ईश्वरादिसर्वकल्पकत्वेन सर्वकारणमिति केचित् ।"

2 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 205-206।

3 शांकरभाष्य, 3 . 2, 21।

कि एक ही सम्पूर्ण इकाई के अवयवो मे होता है, दृष्टान्त के रूप मे जैसा भेद मगध तथा विदेह के राज्यो मे था जो दोनो एक ही जगत् से सम्बद्ध हैं।[1] जब हम यथार्थ ब्रह्म का विचार ब्रह्म के सासारिक रूप मे करते हैं तो ईश्वर, मनुष्य और जगत् (ईश्वर, जीव, प्रपञ्च) प्रधान अवयव बन जाते हैं।

विचारात्मक दर्शनशास्त्र, सत्तात्मक जगत् की उत्पत्ति का अनुमान एक निरपेक्ष परम आत्मा के प्रथम तत्त्व से करते समय, जिसमे आनुषगिक कुछ नही है, चाहे पूर्व मे हो चाहे पश्चिम मे, विषयनिष्ठता (प्रकृति) के आत्माभिव्यक्ति (माया) सम्बन्धी किसी न किसी तत्त्व को स्वीकार करने के लिए विवश है। यूरोपियन विचारधारा मे काण्ट ने तर्क किया कि आत्मबोध के अतीन्द्रिय एकत्व के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभव नही है और तो भी उसने इसे *विशुद्ध औपचारिक बना दिया और इस प्रकार* इससे सम्पूर्ण अनुभव को उत्पन्न करने मे असफल रहा। अनुभव को आत्मबोध की अतीन्द्रिय एकता और वस्तुओ के अपने अन्दर अनुभव को एक पारस्परिक प्रतिक्रिया मानते हुए उसने अपने दर्शन मे तर्कविरुद्ध आकस्मिक घटना के एक अश को स्थान दिया। फीश्ट काण्ट मे इस प्रमुख सत्य को ग्रहण कर लेता है कि समस्त अनुभव एक विषयी के लिए ही अपना अस्तित्व रखता है और इसीसे समस्त अनुभव को विकसित करने का प्रयत्न करता है। उसका मत है कि विषयी के विकास मे किसी विजातीय अवयव का प्रवेश नही है किन्तु प्रत्येक क्रम का निर्णय अन्दर से ही होता है। निरपेक्ष विषयी अपनी स्थापना ही के कर्म मे अपने को एक 'अन्य' का रूप देता है। आत्मा विना अपने से भिन्न एक विरोधी तत्त्व का, जो अनात्म हो, के निर्माण के लिए अपने विषय मे स्वीका-रोक्ति अथवा स्थापना नही कर सकती। अन्यता का अश आत्मा के अपने निजी सत्त्व में ही उत्पन्न किया जाता है। शनै-शनै निरपेक्ष आत्मा के अन्दर सीमित अहभाव के अनेकत्व के रूप मे सर्वथा अपने से भिन्न तथा अपनी भिन्न-भिन्न आकृतियो मे भेद *उत्पन्न होता जाता है। फीश्ट द्वारा मान्य आत्मा को इस प्रकार अपने ही अन्दर से* एक नियन्त्रक अथवा बाधक अनात्म को उत्पन्न करना होता है, जो इसकी क्रिया के विषय मे अभिज्ञता रखने के लिए एक आवश्यक उपाधि है। आदिम चैतन्य की स्वनिर्मित सीमा अथवा एक ऐसी बाधा की उत्पत्ति की कल्पना करनी ही पड़ती है जिसके विरुद्ध आत्मा को अपने-आपको विभक्त करना होता है, भले ही वह बुद्धि-गम्यता से कितनी ही अतीत क्यो न हो। इसी प्रकार ईश्वर-सम्बन्धी विचार मे निर-पेक्ष परब्रह्म के अतिरिक्त विषयनिष्ठता अथवा प्रकृति, आत्माभिव्यक्ति अथवा माया, का अश भी रहता है।

जब हम मानवीय उद्देश्य को लेकर चलते हैं तो हमे परिणमित जगत का कुछ न कुछ समाधान करना ही होगा। यह ब्रह्म के कारण होना सम्भव नही क्योकि वह अखण्ड है। यह ब्रह्म स्वय परिणमित हो जाता है तो वह ब्रह्म नही रहता। यदि यह कभी अपनापन नही खोता अर्थात् कभी परिवर्तित नही होता तो जो परिवर्तन हमे दिखाई देता है उसका कुछ समाधान नही होता। परिवर्तनशील विश्व का कारण प्रकृति नही *हो सकती, क्योकि वह जड है। ब्रह्म जहा एक ओर सत् है वहा परिणमन का नाम* प्रकृति है। किन्तु ब्रह्म के साथ-साथ एक परम निरपेक्ष वर्ग के रूप मे प्रकृति की स्थापना करने का अर्थ होगा उस ब्रह्म के स्वरूप को सीमित कर देना, जिसके समान दूसरा नही है न उससे बाह्य कोई है। यदि हम किसी द्वितीय की स्थापना नही करते है तो जगत्

1. शाकरभाष्य 3 , 2, 31।

की व्याख्या में कठिनाई उत्पन्न होती है। एकमात्र उपाय यही है कि एक सगुण ब्रह्म अर्थात् परिवर्तनशील ब्रह्म को मान लिया जाए जो ईश्वर है और अपने अन्दर सत् तथा परिणमन दोनों प्रकार के विशिष्ट लक्षणों को, अर्थात् अनासक्त ब्रह्म और अचेतन प्रकृति को, समाविष्ट रखता है। जो विचार के लिए अनिर्दिष्ट है वह स्वतः निर्णीत बन जाता है। आदिम एकत्व अपने से बाहर निकल जाता है और एक ऐसा व्यक्त रूप उत्पन्न करता है जो इससे अपेक्षतया स्वतन्त्र है। निर्मल, सरल तथा आत्मभू, निरपेक्ष ब्रह्म शरीरधारी प्रभु का रूप धारण कर लेता है, जो विश्व के अन्दर सत् का तत्त्व है एवं समस्त वस्तुओं को अपने साथ सम्बद्ध करने में उन्हें परस्पर भी संयुत रखता है। ब्रह्म वह सत्ता है जो विषयी तथा विषय दोनों से परे है। जब यह विषयी के रूप में होता है तो एक विषय से व्यवहार करते हुए हम इसे ईश्वर कहते हैं, यह शब्द ब्रह्म है, एक और अनेक है। विषयनिष्ठ शून्यप्रकृति विषयीरूप ईश्वर की शक्ति के द्वारा समस्त जगत् का विकास करती है। प्रकृति अथवा विषय की अपने-आप में कोई सत्ता नहीं और न कुछ अर्थ है। यह विवेकशून्य है और इस प्रकार बिना किसी एक विवेक-सम्पन्न आत्मा के कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकती। यह केवल विषयी से विपरीत भिन्न सत्ता है और जगत् ईश्वर के असमान अथवा अनन्य रूप है जो आत्मचेतन ब्रह्म है। ईश्वर के अन्दर ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों तत्त्व संयुक्त हैं। वह केवल नितान्त चैतन्य नहीं है किन्तु एक आत्मचेतन व्यक्तित्व है। "उसने योजना बनाई (ऐक्षत) कि मैं अनेक हो जाऊं और मैं उत्पत्ति करूं।"[1] ज्ञान, आत्मचैतन्य तथा व्यक्तित्व—ये सभी सम्भव हो सकते हैं जबकि प्रमेय विषय विद्यमान हो। सर्वज्ञत्व ईश्वर का लक्षण है यद्यपि इसकी सम्भावना की व्याख्या भिन्न प्रकार से की जाती है।[2] ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान है। यह ज्ञान एक विषय का रूप धारण कर लेता है जब यह किसी ज्ञातव्य विषय के द्वारा सीमित हो जाता है। तब उस विषय के सम्बन्ध में ब्रह्म को विज्ञाता अथवा ज्ञान का प्रमाता विषयी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म, जिसका स्वरूप ज्ञान है, तब एक ज्ञाता बन जाता है जब वह एक ज्ञेय विषय के सम्बन्ध में प्रकट होता है।[3] इस प्रकार का विचार रखने में कि एक अनात्म व्यक्तित्व का आन्तरिक अंश बनकर रहता है शंकर रामानुज तथा हीगल के साथ सहमत हैं। केवल शंकर के व्यक्तित्व के भाव को उच्चतम मानते हैं वहां शंकर बलपूर्वक कहते हैं कि जब तक हमें अनात्म का चैतन्य ज्ञान है हम प्रतीतिरूप जगत् के अन्दर हैं। यथार्थसत्ता तक पहुंचने के लिए हमें इस भेदभाव से अवश्य ऊपर उठना होगा। जब विशुद्ध सत् एक सम्बद्ध विशिष्ट सत् बन जाता है तो इसका पहला सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु के साथ होना चाहिए जो सत् से भिन्न हो। और

1 छान्दोग्य उप०, 6 : 2 3। और भी देखें, ऐतरेय, 1 1, 1 ; प्रश्नोपनिषद्, 6 : 3, 4 ; मुण्डक, 1, 1, 9।

2 भारतीतीर्थ प्रतिपादन करता है कि ईश्वर में माया की उपाधि है जिसके अन्दर समस्त प्राणियों के मनों के सूक्ष्म प्रभाव विद्यमान रहते हैं। 'प्रकटार्थ' का रचयिता इससे सहमत है और अपना मत प्रकट करते हुए कहता है कि चूंकि माया भूत, वर्तमान और भविष्यत् आनुभविक जगत् के समान ही विस्तृत है इसलिए यह अपने धारण करने वाले को इस योग्य बना देती है कि वह सर्वग्राही ज्ञान का संचय कर सके। 'तत्त्वशुद्धि' नामक ग्रन्थ का रचयिता कहता है कि ईश्वर के ज्ञान का सर्वदा प्रत्यक्ष रूप में होना आवश्यक नहीं है। वर्तमानकाल में जगत् का ज्ञान तो ईश्वर साक्षात् रूप में प्राप्त कर सकता है किन्तु भूतकाल को वह स्मरण कर सकता और भविष्य की पूर्व से कल्पना कर सकता है। कौमुदी के ग्रन्थकार का मत है कि ब्रह्म के लक्षणों से युक्त ईश्वर सब पदार्थों का प्रकाशक है। देखें, शांकरभाष्य, 1 4, 9, तथा सिद्धान्तलेश, 1।

3 यही मत वाचस्पति का भी है।

जो सत् से भिन्न है वह असत् है ।[1] ईश्वर जो ब्रह्म अर्थात् प्रकाश की अविच्छिन्न शक्ति से भिन्न है एक ऐसा प्रकाश है जो अपनी सत्ता को अन्धकार के अन्दर से तथा उसके द्वारा स्वीकारात्मक रूप मे दावे के साथ प्रकट करता है। वह सत्य का तत्त्वरूप है, जो अस्तव्यस्तता को व्यवस्था का रूप देता है, और ईश्वर की आत्मा है जो जल ऊपर के स्तर पर विचारमग्न है ।[2] अन्धकार प्रकाश के ऊपर आधिपत्य जमाकर उसे आवृत करने का प्रयत्न करता है, और सबको ढक लेने की चेष्टा करता है और प्रकाश बराबर अन्धकार को दवाने मे तत्पर रहता है । जहा एक ओर ब्रह्म और अन्धकार मे ईश्वर तथा अन्धकार मे एक अनिवार्य विरोध है अर्थात् एक प्रकार का सघर्ष बराबर बना है वहा अन्त मे अन्धकार पर प्रकाश की विजय होती है। इस प्रकार ईश्वर ब्रह्म तथा जगत् के मध्य एक मध्यस्थ तत्त्व है और दोनो के ही स्वरूप मे हिस्सा बंटाता है । उसका ब्रह्म के साथ तादात्म्य है और फिर भी वह प्रमेय जगत् से सम्बद्ध है। शकर का मत है कि सृष्टिरचना से पूर्व भी शरीरधारी ईश्वर का "उन नामो तथा रूपो मे एक प्रयोजन रहता है जिनके लिए हम सत् की पारिभाषिक सज्ञा का प्रयोग नही कर सकते और न वे उसके विपरीत गुण ही है जिनका अभी विकास नही हुआ है हालाकि वे विकास के प्रति प्रयत्नशील हैं।"[3] यहा हम परमतत्त्वरूप आत्मा को अह के रूप मे निर्दिष्ट पाते हैं जो अह से विपरीत को अपना विषय मानकर चिन्तन करता है। ईश्वर की दृष्टि मे अपरिवर्तनशीलता तथा निष्क्रियता असम्भव है। व्यावहारिक अर्थो मे यथार्थसत्ता के रूप मे उसे सदा कर्मठ रहना चाहिए, अपने को पहचानने के लिए अपने को खोते हुए, विश्व मे प्रकट होते हुए और फिर विश्व के ही द्वारा अपने स्वरूप मे पुन. वापस लौटते हुए। वह जो करता कुछ नही और जगत् से तटस्थ होकर खडा रहता है ईश्वर नही है, कम से कम किसी प्रकार भी एक प्रेममय ईश्वर नही है। प्रेम इसके विषयो के जीवन मे दु ख को, किन्तु अनिष्ट कर्म के अपराध और पाप को नही, तथा धार्मिक जीवन की प्रसन्नता को प्रदर्शित करते हुए उपस्थित रहता है। शकर की दृष्टि मे अन्य अनेक दार्शनिको की ही भाति ऐसा आत्मचेतन सत् असम्भव है जिसका कोई उद्देश्य न हो और जिसका कोई विपरीत गुण न हो तथा जो अपनी परिभाषा मे अपने एकत्व का समर्थन न करे। यह अभिव्यक्तियो अथवा प्रमेय पदार्थो के द्वारा ही सम्भव है कि एक आत्मचेतन व्यक्तित्व रूप मे जीवित रहता है, गति करता है तथा अपने अस्तित्व को स्थिर रखता है। तो भी यह मानना भी आवश्यक है कि यह अपने विषयगत परिवर्तनो से किसी भी प्रकार प्रभावित नही होता। यह एक ऐसा साध्यपक्ष है जिसे सिद्ध करना कठिन है। प्रकृति की घटनाएं तथा आत्माओ का परिवर्तन ईश्वर के स्वरूप मे भी परिवर्तन उत्पन्न करता है। वेदान्तपरिभाषा नामक ग्रथ स्पष्ट रूप मे स्वीकार करता है कि जीवित प्राणियो की क्रियाए माया अथवा प्रकृति के नानाविध परिवर्तनो को जन्म देती हैं जो उपाधि अथवा ईश्वर की देह है।[4] जगत् का प्रादुर्भाव तथा तिरोभाव यह

1 तुलना कीजिए, "और प्रकाश अन्धकार के अन्दर से चमकता है" (सेंट जॉन, 1 . 5)। विशप वेस्टकाट इस पर टीका करते हुए लिखता है "प्रकाश के साथ साथ हठात् अन्धकार विना किसी तैयारी के प्रकट हो जाता है" ('दि गोस्पल अकार्डिंग टू सेंट जॉन', पृष्ठ 5)।

2 देखें, प्रस्तावना—भगवद्गीता पर शाकरभाष्य ।

3 शाकरभाष्य, 1 1 5। "अनिर्वचनीये, नामरूपे, अव्याकृते, व्याचिकीर्पिते ।"

4 सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायाया वृत्तिविशेपा इदमिदानी सृष्टव्यम्, इदमिदानी पालयितव्यम, इदमिदानी सहर्तव्यम्, इत्याद्याकारा जायते , तासा च वृत्तीना सादित्वात् तत्प्रतिबिम्बितचैतन्यमापि सादीत्युच्यते (1)।

दर्शाता है कि दैवीयस्वरूप में भी परिवर्तन होते हैं, और संकुचन तथा विचार भी होता है। जब तक ईश्वर के जीवन में सृष्टिरचना तथा प्रलय यथार्थ घटनाएं रहती हैं तब तक ईश्वर कालातीत नहीं रह सकता किन्तु कालाधीन है। यहां तक कि जिस प्रकार सृष्टिरचना और प्रलय व्यावहारिक जगत् से सम्बन्ध रखते हैं ईश्वर भी व्यावहारिक जगत् से सम्बद्ध है। हम परिवर्तन रूप प्रवर्ग का प्रयोग करते हैं जो स्थिरता चाहता है और हमारा तर्क है कि ईश्वर एक स्थायी पृष्ठभूमि है जिसकी देह के साथ ये परिवर्तन सम्बद्ध हैं।[1] ईश्वर एक ऐसी अविकसित सूक्ष्म देह धारण करता है, जो नामों और रूपों का बीजस्थान रूप है तथा उस प्रभु के लिए पृष्ठभूमि का कार्य करती है और फिर भी *उसके लिए केवल उपाधि (सीमा) मात्र है।*[2] *एक ऐसी रूपविहीन प्रकृति* को स्वीकार करना जो ईश्वर के साथ-साथ नित्य भी हो स्पष्ट रूप में ईश्वर की अनन्तता को परिमित करना है। यह कहना कि प्रतिबन्ध बाह्यपदार्थों के नहीं हैं एवं अधिकतर एक प्रकार की अज्ञात सामग्री है हमारे लिए कुछ अधिक उपयोगी नहीं है।

जहां एक ओर सगुण ब्रह्म में परिवर्तन होता है वहां ऐसा भी माना जाता है कि यह इसके रचनात्मक विचार की परिधि के अन्दर ही रहता है जिसके कारण समस्त परिवर्तन आनुषंगिक अंशों में होते हैं किन्तु निश्चित ही आवश्यक अंशों में नहीं। ईश्वर की एकता में अनेक रूप में अभिव्यक्त होने के कारण कोई क्षति नहीं आती।[3] "जिस प्रकार उस माया से जिसे जादूगर स्वयं बनाता है उसके ऊपर किसी प्रकार का असर नहीं होता क्योंकि वह माया अयथार्थ होती है, इसी प्रकार सर्वोपरि ब्रह्म भी संसाररूपी माया से प्रभावित नहीं होता।"[4] इस प्रकार शंकर सीमित के निराकरण के विचार तथा ईश्वर-सम्बन्धी विचार में अनन्त की पूर्वकल्पना के विचार को एक साथ संयुक्त कर देते हैं। स्पिनोज़ा के विरुद्ध जो यह कहा जाता है कि वह निरपेक्ष परमब्रह्म का केवलमात्र एक अनिर्दिष्ट सत् के शून्य रूप में निरूपण करता है और जिसे वह असंगत रूप में आत्मनिर्णायक ईश्वर के रूप में परिणत कर देता है इसमें कुछ बल नहीं है क्योंकि शंकर इस प्रकार की किसी महती असंगति के लिए वचनबद्ध नहीं हैं। वे स्पष्ट रूप में इस विषय से अभिज्ञ हैं कि अनन्त विषयक सब प्रकार के निर्धारणों का निराकरण हमारे सम्मुख केवल एक अमूर्तरूप को प्रस्तुत कर सकता है जिसके विषय में इसके अतिरिक्त कि 'यह है' और कुछ कथन नहीं किया जा सकता। जब तक हम तर्कशास्त्र के उपायों का प्रयोग करते हैं तब तक जिस यथार्थसत्ता तक पहुंचते हैं वह अनिर्दिष्ट ब्रह्म नहीं किन्तु सीमित ईश्वर है जो विश्व के नाना प्रकार के परिवर्तनों का निकास स्थान है। किन्तु

1 शांकरभाष्य, 2 . 1, 4। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में कहा गया है : "इस विश्व में जो भी स्थावर तथा जंगम जगत् है—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और आत्मा—यह सब उसका आठ प्रकार का रूप है और ऐसा कुछ भी नहीं है जो विचार करने पर सर्वोपरि प्रभु से भिन्न हो।"

2 अव्याकृत नामरूपबीजशक्तिरूप, भूतसूक्ष्मम् ईश्वराश्रय तस्यैवोपाधिभूतम् (शांकरभाष्य, 1 : 2, 22)।

3 छान्दोग्य उपनिषद्, 8 : 14, 1 , 6 · 3, 2 ; तैत्तिरीय आरण्यक, 3 : 12, 7 ; श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6 : 12।

4 शांकरभाष्य, 2 · 1, 9। यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते अवस्तुत्वात्, एवम् परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति।

शकर के दर्शन मे आदि से अन्त तक तर्कशास्त्र की पर्याप्तता और इसके आदर्श की अन्तिमता के विषय मे अरुचि ही पाई जाती है। और इस प्रकार हम देखते है कि सगुण ब्रह्म अथवा एक मूर्तरूप आत्मा का यह विचार उनके अनुसार असगतियो तथा परस्पर विरोधो के कारण इतना जटिल बन गया है कि इसे सर्वोच्च यथार्थसत्ता नही माना जा सकता।

ईश्वर समस्त सीमित जगत् का आवास स्थान हे, तथा जगत् का उपादान और निमित कारण भी है, एक धारणा है। यह कहना बिलकुल आसान हे कि मूर्तरूप सर्वव्यापी प्रभु सामान्य धारणा तथा विवरण की यथार्थता को सयुक्त बनाए रखता है, किन्तु किस प्रकार से बनाए रखता है यह एक रहस्य है। यदि समानता तथा भेद का एव स्थायित्व तथा परिवर्तन का सम्बन्ध आनुभविक जगत मे बुद्धिगम्य नही है तो जब इसका प्रयोग ईश्वर के सम्बन्ध मे होता है तो कैसे बुद्धिगम्य हो सकता है। शकर जानते है कि उनके मत के ऊपर अमूर्त भावात्मकता का दोष आ सकता है किन्तु उनका मत है कि समानता तथा भेद तार्किक से परस्पर सम्बद्ध नही हो सकते। ये दोनो किस प्रकार एक साथ रह सकते हैं यह वे नही जानते और इसे वे भी अनुभव करते हैं।[1] ईश्वर को एक मूर्तरूप पूर्ण इकाई मानने का विचार एक प्रकार से अनुभव का समाधान नही है किन्तु समस्या की पुनरुक्तिमात्र है। हमारे अनुभव के अन्दर समानता और भेद अथवा स्थायित्व तथा परिवर्तन के दो स्वरूप ह। हमारा प्रश्न है कि अनुभव का विवरण क्या है क्योकि यह जीवात्माओ तथा वस्तुओ का मिश्रण है जिसके विशिष्ट लक्षण हैं स्थायित्व तथा परिवर्तन और उत्तर मे हम यह कहते हैं कि ईश्वर अनुभव की व्याख्या है चूकि वह दोनो लक्षणो को सयुक्त करता है तथा जीवात्माओ और वस्तुओ का जगत् यान्त्रिक रूप मे उससे सम्बद्ध है। यह कहना कि वे उसके शरीर के विधायक है अनुभव की व्याख्या करना नही है। हम अनुभव के एक सामान्यरूपक विचार को बनाते हैं और इसे ईश्वर कहते हैं। अनुभूत जगत् की व्याख्या वह जगत् स्वय है जो अपनी साधारण परिभाषाओ मे ईश्वर कहलाता है। रामानुज और हीगल दोनो का मत है कि परम यथार्थसत्ता एक है जिसके अन्दर अनेक समाविष्ट हैं। उनकी दृष्टि मे जो विवेकी है वही यथार्थ है ईश्वर तथा जगत् दोनो ही यथार्थ है। अन्तर्दृष्टि की सन्दिग्धता तथा यथार्थसत्ता का रहस्य उनको ठीक नही जचता। उन्हे ऐसे यथार्थ मे कोई रुचि नही जो अपने मे यथार्थ हो किन्तु यथार्थ विचार के लिए हो जिसमे अभावत्व का भी एक अश रहता है। विचार की प्रक्रिया मे मन के द्वारा अपने निजी प्रतिकूल तथा अदम्य भागो को निरन्तर आत्मसात् करना तथा ऊपर उठना जारी रहता है। इस प्रकार समस्त आध्यात्मिक जीवन आग्रही तत्त्वो के साथ एक प्रकार का निरन्तर सघर्ष है। दिव्य जीवन निरन्तर कर्मण्यता का जीवन समझा जाता है। जगत् के विषय

1 शकर को सामान्य व्यापको की विशेषो के साथ यथार्थता के सम्बन्ध मे यथार्थवादियो के सिद्धान्त से कुछ अधिक सहायता नही मिल सकी क्योकि वे यथार्थवादियो के व्यापक अनन्तता का दावा नही करते। वे सीमित यथार्थ हैं यद्यपि व्यवस्था म विदेश से भिन्न हैं और यदि ईश्वर इसी स्वरूप का व्यापक है वह अपनी सत्ता को नाना प्रकार से क्रियान्वित कर सकता है क्योकि वह सीमित है। यदि वह अनन्त होता तो वह केवल एक ही प्रकार से कर्म कर सकता अथवा शकर इसे इस प्रकार कहें कि वह सर्वथा कर्म ही न करता। वह केवल सत् होता किन्तु परिणमन न होता और उस अवस्था मे उसकी कर्मण्यता अथवा अभिव्यक्ति का कोई प्रश्न ही न उठता।

में यह मानना कि यह एक तात्विक एकता है अथवा एकमात्र व्यवस्था है इसे एक पूर्ण निश्चित तत्व को अनन्त ब्योरों से युक्त एकमात्र सत्ता की अभिव्यक्ति मानना है। किन्तु सर्वोच्चसत्ता को मूर्तरूप व्यापक या सान्त तथा अनन्त का मिश्रण मानने में जो कठिनाइयां सम्मुख आएंगी उन्हें दृष्टि से ओझल न करना चाहिए।

शंकर का मत है कि धर्मशास्त्र में दिए गए सृष्टिविषयक विवरण का उद्देश्य ब्रह्म तथा जगत् का परस्पर तादात्म्य सिद्ध करना है।[1] यदि जगत् तथा ईश्वर में तादात्म्य सम्बन्ध न होता और यदि उसने इसे अपने से पृथक् एक द्रव्य के रूप में निर्मित किया होता तब उसपर यह दोष आता कि वह किसी प्रेरक प्रयोजन के प्रभाव में आकर कार्य करता है। दूसरे शब्दों में वह सर्वथा ईश्वर ही नहीं है।[2] यदि वह कर्म-विधान के आदेश के अनुसार कार्य करता है तब उसके ऊपर इसके द्वारा एक प्रतिबन्ध लग गया। हम फीश्टे के आत्म-सम्बन्धी विचार का उल्लेख कर चुके हैं जिसे किसी बाधक के विरुद्ध विभक्त हो जाने पर आत्मचैतन्य होता है तथा उलटकर अपने विषय में चिन्तन करने से आत्मबोध होता है। इस प्रकार की आत्मा यथार्थ में अपने से अन्य के ऊपर निर्भर है जिसकी यह उत्पत्ति-स्थान तथा आश्रय है। आत्मा-जगत् से पूर्व नहीं आ सकती और न ही वह इसके पीछे विद्यमान रह सकती है। यदि हम अनात्म का विलोप करने में सफल हो सकें तो साथ ही साथ आत्मा का भी विलोप करने में कृतकार्य हो सकते हैं। जब फीश्टे संदिग्ध रूप में इन परिणामों से अवगत होता है तब वह एक ऐसी यथार्थसत्ता के विचार पर पहुंचता है जो "न तो विषयी है न विषय है किन्तु दोनों का आधार है।" जिस विचार को फीश्टे अन्धकार में टटोल रहा था उसे शंकर अत्यन्त स्पष्ट रूप में खोज लेते हैं, अर्थात् विषयी और विषयपरक भेद तर्कशास्त्र का किया हुआ है किन्तु जब हम समस्त तर्कशास्त्र के आदिस्रोत की बात सोचते हैं तो विषयी-विषय का भेद कोई अर्थ नहीं रखता। निरपेक्ष परमसत्ता न तो ज्ञान को धारण करने वाली है और न ही ज्ञान का विषय है, किन्तु स्वयं ज्ञानरूप है। यदि सम्पूर्ण जगत को ईश्वर के विचार का विषय मान लें जिसका अस्तित्व इसलिए है कि वह निरन्तर अपने को जगत् के विषय में आत्मचेतन रहते हुए अपनी स्थिति को बनाए रखे तो इस प्रकार का ईश्वर केवल सापेक्ष है निरपेक्ष नहीं है।[3] "क्योंकि निरपेक्ष ब्रह्म को अपने को दर्पण में देखने के लिए आंखों का निर्माण करने की आवश्यकता नहीं अथवा एक गिलहरी के समान जो एक पिंजरे में बन्द है अपनी पूर्णताओं के चक्र को घुमाने की आवश्यकता है।"[4] संक्षेप में, व्यक्तित्व इस विश्व की परमसत्ता नहीं हो सकती। प्लाटिनस कहता है : "वह सब जिसमें आत्मचैतन्य तथा आत्मबोध प्रक्रिया है, व्युत्पन्न है।"[5] इस प्रकार शरीरधारी ईश्वर के ऊपर निरपेक्ष ब्रह्म है, सब प्रकार के आत्म-विभागों से ऊपर उठा हुआ जो निरपेक्ष विषयनिष्ठता तथा विषयिनिष्ठता दोनों को एक साथ धारण किए हुए है तथा निरपेक्ष चैतन्य के अटूट बन्धन में जकड़े हुए है।

1 एवम् उत्पत्त्यादिश्रुतीनाम् ऐकात्म्यावगमपरत्वात् (शांकरभाष्य, 4 : 3, 14)। और भी देखें, शांकरभाष्य, 2 : 1, 33।

2 शांकरभाष्य, 2 : 2, 37।

3 मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षण (वाक्यवृत्ति, पृष्ठ 45)।

4 'अपीयरेंस एण्ड रियलिटी,' पृष्ठ 172।

5 'एन्नीड्स', 3 : 9, 3। मैक्केन्ना का अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड 2, पृष्ठ 141।

अन्तर्दृष्टि के द्वारा जिस ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और जो तार्किक निर्णयो से रहित है उस ब्रह्म मे तथा विचारात्मक ब्रह्म मे जो उत्पादक तत्त्व है उसमे अन्तर है। द्वितीय प्रकार का ब्रह्म भेद की व्याख्या भी करता है और साथ-साथ उस पर विजय भी प्राप्त करता है। सन्दिग्ध ब्रह्म अपने-आपमे तार्किक बुद्धि को एक ऐसे अन्धकार के समान प्रतीत होगा जिसके अन्दर प्रत्येक प्रकार का रग भूरा हो जाता है। यदि यह सीमित की व्याख्या करने मे कुछ भी समर्थ हो सके तो यह सीमित के अपने रूप को निरपेक्ष मे समाविष्ट करने से ही सम्भव हो सकता है। यदि हम विशुद्ध सत् के विषय मे चिन्तन करने का प्रयत्न करे तो हम साथ-साथ असत् का भी चिन्तन करते है और दोनो की प्रतिक्रिया से विश्व का परिणमन सम्पन्न होता है। वस्तुत यहा तक कि ईश्वर का भी परिणमन होता है। सत् और असत् का विरोध उसके अपने आन्तरिक रूप मे प्रकट होता है। सम्भवत ईश्वर स्वय ही अस्तित्व मे न आता किन्तु तो भी वह अपने अभिप्राय को एक अन्त न होनेवाली परिणमन प्रक्रिया मे स्पष्ट कर देता है। सत और असत् एक ही यथार्थसत्ता के निश्चयात्मक द्रव्य तथा उसी यथार्थसत्ता के अभावात्मक आभासमात्र दो पहलू हैं। इस प्रकार की समालोचना दृष्टिकोणो के परस्पर सभ्रम के कारण उठती है कि शकर हमे वस्तुओ के शिखर पर पहुचाकर एक ऐसे शून्य स्थान पर छोड देते है जिसको पूरा नही भरा जा सकता और यह शून्य स्थान निर्गुण ब्रह्म, जिसके विषय मे कुछ नही कहा जा सकता, तथा उस सगुण ब्रह्म के मध्यगत है जो समस्त अनुभव को अपनाता तथा परस्पर जोडता है। विचार कभी भी विषयी तथा विषय के भेद का उल्लघन नही कर सकता, और इस प्रकार विचार के दृष्टिकोण से सर्वोच्च वह निरपेक्ष परम विषयी है जो अपने अन्दर विषय को समाविष्ट किए हुए है, किन्तु विषयी और विषय की भी पृष्ठभूमि मे है ब्रह्म।

29 जगत् का मिथ्यात्व

ब्रह्म और जगत् एव एकत्व तथा अनेकत्व दोनो ही एक समान यथार्थ नही हो सकते। "यदि एकत्व तथा अनेकत्व दोनो ही यथार्थ होते तो हम एक ऐसे व्यक्ति के विषय मे जिसका दृष्टिकोण सासारिक कर्मपरक है यह नही कह सकते कि 'वह असत्य मे ग्रस्त है' और यह भी नही कहा जा सकता कि 'ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है', इसके अतिरिक्त उस अवस्था मे अनेकत्व के ज्ञान से एकत्व का ज्ञान ऊचा न हो सकता।"[1] यथार्थता की कसौटी के आधार पर निर्णय करने से आनुभविक जगत् का मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है। समस्त विशिष्ट तथ्य तथा घटनाए ज्ञान प्राप्त करने वाले विषयी के प्रतिपक्ष मे विषय के रूप म स्थगित रहती हैं। जो कुछ भी ज्ञान का विषय है नाशवान् है।[2] शकर का मत है कि यथार्थता तथा प्रतीति एव तत्त्वपदार्थ तथा आभासमात्र मे जो भेद है ठीक वैसा ही भेद विषयी तथा विषय के अन्दर है। पदार्थरूप विषय तो जिनका प्रत्यक्ष किया जाता है अयथार्थ हैं किन्तु आत्मा, जो इनका प्रत्यक्ष करती है और स्वय प्रत्यक्ष का विषय नही बनती, यथार्थ है।[3] जाग्रत् अवस्था के विषयो तथा स्वप्नावस्था

1 शाकरभाष्य 2 1 14।

2 यद्दृश्य तन्नश्यम।

3 तुलना कर व वस्तुए जो दृष्टिगत होती हैं लौकिक हैं, किन्तु व वस्तुए जो दृष्टि का विषय नही हैं नित्य हैं।

के विषयों के अन्दर भेद करते हुए भी शंकर बलपूर्वक कहते हैं कि ये दोनों ही, चूंकि चैतन्य के विषय हैं इसलिए, अयथार्थ हैं।[1] यथार्थ वह है जो परस्पर विरोध से मुक्त हो, किन्तु यह जगत् विरोधों से पूर्ण है। देश, काल और कारणकार्य के विधान में आबद्ध जगत् अपनी व्याख्या अपने-आप नहीं कर सकता। सान्त जगत् में समन्वय का ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जिसके द्वारा इसकी कठिनाइयों का अन्त हो सके। देश, काल तथा कारणकार्य का विधान, जो समस्त अनुभव के रूप हैं, परमतत्त्व नहीं हैं। उनके द्वारा यथार्थ के ऊपर आवरण पड़ा रहता है। यदि हम स्थानों, क्षणों तथा घटनाओं से ऊपर उठ जाएं तो यह कहा जाता है कि विविधताओं से पूर्ण यह जगत् छिन्न-भिन्न होकर एकत्व के रूप में आ जाएगा।[2] इसलिए देश, काल तथा कारणकार्य भावरूपी ढांचों में प्रविष्ट अनुभव केवल प्रतीतिमात्र है। यथार्थ वह है जो सब कालों में विद्यमान है।[3] यह वह है जो सदा था, और रहेगा।[4] यथार्थ ऐसा नहीं हो सकता कि आज विद्यमान हो और कल विलुप्त हो जाए। आनुभविक जगत् सब कालों में विद्यमान नहीं रहता, और इसलिए यथार्थ नहीं है। जैसे ही यथार्थ का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त हो जाता है, यह आनुभविक जगत् नीचे रह जाता है। इस जगत् को अयथार्थ इसलिए कहा जाता है क्योंकि सत्य ज्ञान के द्वारा इसका प्रत्याख्यान हो जाता है।[5] एक उच्चतर सत्ता के ज्ञान से निम्नतर दूषित होकर अयथार्थता के स्तर पर पहुंच जाता है। सांसारिक पदार्थ परिवर्तनशील हैं। वे कभी हैं नहीं किन्तु सदा ही परिणमन के रूप हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ जो परिवर्तित होता है यथार्थ नहीं है और जो नित्य है वह सत्य से अतीत है। शंकर कहते हैं : "जो नित्य है उसका आदि नहीं हो सकता और जिसका आदि है वह नित्य नहीं है।"[6] हमारी बोधग्रहण शक्ति ऐसे पदार्थों से जो परिवर्तित होते हैं सन्तोष प्राप्त नहीं करती, केवल वे ही यथार्थ हैं जो परिवर्तन के अधीन नहीं हैं।[7] जो यथार्थ है वह जगत् नहीं हो सकता। यदि संसार में कोई वस्तु यथार्थ है तो वह मोक्ष में अयथार्थ नहीं हो सकती। इन अर्थों में परिवर्तनशील जगत्

1 दृश्यत्वमसत्यत्वञ्च अविशिष्टमुभयत्र (गौड़पाद की कारिका पर शांकरभाष्य, 2 : 4)।

2 तुलना करें

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

देखें, अप्पयदीक्षितकृत सिद्धान्तलेश, 2।

3. त्रैकालिकाबाध्यत्वम्।

4 कालत्रयसत्तावत्। तुलना करें, विष्णुपुराण

"यत् कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै।
परिणामादिसम्भूतं तद् वस्तु······ ·······॥" (2 · 13, 95)

यथार्थ वह है जो काल की गति में आकर भी रूप आदि के परिवर्तन से किसी अन्य संज्ञा को ग्रहण नहीं करता। तुलना करें, क्रिश्चियन भक्ति मार्ग के शब्दों से "जैसा यह आरम्भ में था और जैसा अब है, और सदा रहेगा, यह जगत् जिसका अन्त नहीं है।"

5 ज्ञानैकनिवर्त्यत्वम्। "जैसे ही हमारे अन्दर अद्वैतभाव का ज्ञान उत्पन्न होता है, जीवात्मा की पुनर्जन्मावस्था तथा ईश्वर का उत्पत्तिपरक गुण तुरन्त विलुप्त हो जाता है। अनेकत्व का प्रतीतिपरक विचार, जो मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होता है, निर्दोष ज्ञान के द्वारा रद्द हो जाता है।" (शांकरभाष्य, 3 · 2, 4, आत्मबोध, 6 और 7)।

6 नहि नित्यं केनचिद् आरभ्यते, लोके यद् आरब्धं तद् अनित्यम् (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रस्तावना)।

7 यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् सत्; यद्विषया बुद्धिर्व्यभिचरति तदसत्। और भी देखें, शांकरभाष्य, 1 1, 4; तैत्तिरीय उपनिषद्, 2 : 1।

यथार्थ नही हैं। यह जगत न तो विशुद्ध सत् है और न विशुद्ध असत् ही है। विशुद्ध सत् का अस्तित्व नही है और न वह जगत् की प्रक्रिया का कोई अवयव है। विशुद्ध असत् एक निर्दोप विचार नही है, क्योकि यदि ऐसा होता तो नितान्तशून्यता भी एक वस्तु होती और वह जो कल्पना के द्वारा समस्त अस्तित्व का अभाव है उसे भी अस्तित्व का रूप देना होगा। शून्य कोई वस्तु नही हे। जिसका अस्तित्व है वह परिणमन हे, जो न तो सत् है और न असत् है, क्योकि यह कार्यो को उत्पन्न करता है।[1] किसी भी अवस्था मे जगत् सत् तक नही पहुच सकता जिससे कि परिणमन को रोक सके। यह जगत् अनन्त बन जाने के लिए सघर्ष की क्रमबद्ध प्रक्रिया मे बधा हुआ है यद्यपि यह कभी अनन्तता प्राप्त नही करता। इस विश्वरूप रचना से परे सदा ही कोई सत्ता विद्यमान रहती है।[2] समस्त सासारिक क्रियाओ का अन्तिम लक्ष्य (अवसात) आत्मा का साक्षात् करना है।[3] और जब तक जगत् जगत् के रूप मे विद्यमान रहता है, उस लक्ष्य तक पहुचना नही होता। ईश्वर का सम्बन्ध माया रूप जगत् के साथ अनादि हे। सत् तथा असत् का सम्बन्ध ऐसा है जो विरोध से रहित है, और सत् असत् के ऊपर विजय पाने का प्रयत्न करता है तथा सत् रूप मे परिणत होकर उसका निराकरण करता है। परिणमन की प्रक्रिया का यही उद्देश्य है जिसका अधिपति ईश्वर है, जो सदा ही असत् का बलपूर्वक विनाश करने के लिए क्रियाशील रहता है तथा इसके अन्दर से जीवन की एक स्थायी श्रृखला को उत्पन्न करता है। किन्तु तर्कशास्त्र के स्तर पर असत् को बलपूर्वक सत् की समानता मे लाने का कार्य असम्भव कार्य है। जगत् की प्रक्रिया इस कार्य मे सलग्न है जिसका अन्त होनेवाला नही हे। वस्तुओ के आरम्भ काल से अन्त तक सदा ही यह एक प्रश्न, अर्थात् प्रकाश का अन्धकार के क्षेत्र पर आक्रमण, बना ही हुआ है। हम इसे आगे ही आगे धकेल सकते है। यह केवल पीछे हटता है किन्तु सर्वथा विलुप्त नही होता। इस सीमित जगत् मे सत् का असत् के साथ सम्बन्ध केवल एक-दूसरे से बाह्य होने का ही नही है अपितु दोनो ध्रुवो के समान एक-दूसरे से सर्वथा विपरीत दिशा का है। विचार या तो सर्वथा एक-दूसरे के प्रतिकूल होते हैं या सह-सम्बन्धी होते है। उनमे से कोई भी वास्तविकता प्राप्त नही करता, सिवाय इसके कि एक-दूसरे से विरोध के द्वारा। एक पदार्थ दूसरे के अन्दर कितना ही प्रविष्ट क्यो न हो भेद और विरोध सदा विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार जगत् की प्रत्येक वस्तु अस्थायी तथा नाशवान् है। यहा तक कि जगत् की प्रक्रिया मे सर्वोच्च तत्त्व, अर्थात् शरीरधारी ईश्वर भी अपने अदर असत् का आभासमात्र रखता हे। केवल मात्र ब्रह्म ही विशुद्ध सत् है जो वस्तुओ के अन्दर जो कुछ भी यथार्थता का अश हे उसे धारण किए है किन्तु उनके प्रतिबन्धो अथवा असत् के अशो से उसका कुछ सम्बन्ध नही। इससे जो कुछ भी भिन्न है वह सब अयथार्थ है।[4] ससार का स्वभाव जो वह नही है वैसा बनने का है अर्थात् अपने से ऊपर उठकर अपना परिणमन करने का है। "यह जगत् न तो है

1 अर्थ क्रियाकारी। तुलना करें, सुरेश्वर "केवल अभावात्मकता का कोई प्रमाण नहीं हो सकता चाहे तो वह किसी वस्तु से पृथक् हो अथवा उसके समान हो। इसलिए केवल अस्तित्वरूप वस्तु ही क्रिया की प्रेरक हो सकती।" (वार्त्तिक, पृष्ठ 927)

2 शाकरभाष्य, 4 3, 14।

3 भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, 18 50।

4 ब्रह्मभिन्न सर्व मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात् (वेदान्त परिभाषा)।

और न नहीं है। और इस प्रकार इसके स्वभाव का वर्णन नहीं हो सकता।"[1] यह सत् तथा असत् दोनों से भिन्न तो है,[2] किन्तु इसमें दोनों के लक्षण विद्यमान हैं।[3] सब सान्त वस्तुएं, जैसा कि प्लेटो ने कहा है, सत् तथा असत् से मिलकर बनी हैं।[4] अचम्भे में डालने वाली प्रतीयमान विविधता का सम्बन्ध यथार्थसत्ता के साथ होना ही चाहिए, क्योंकि और ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिसके अन्दर यह हो सके, किन्तु तो भी यह यथार्थता नहीं है। इस प्रकार इसे यथार्थता का मायापरकरूप अथवा आभास के नाम से पुकारा जाता है।[5] समस्त सीमित अस्तित्व, बोसन्क्वे के शब्दों में, "सीमित तथा असीमित प्रकृति का एक महान् परम विरोध" है। दिव्यलोक और यह मर्त्यलोक भी नष्ट हो जाएंगे, हमारा शरीर भी नाश को प्राप्त हो जाएगा। हमारी इन्द्रियां परिवर्तित हो जाती हैं और हमारे व्यावहारिक अहम्भाव हमारी आंखों के सामने ही निर्मित होते हैं। इनमें से कोई भी यथार्थ नहीं है। जगत् के मिथ्यात्व की भावात्मक अभिव्यक्ति माया है।

30. मायावाद

अब हम उस मायावाद[6] के तात्पर्य को समझने का प्रयत्न करें जो कि अद्वैतदर्शन का विशिष्ट लक्षण है। जगत् को मायारूप माना गया है, क्योंकि पूर्ववर्ती अधिकरण में

1. सत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीया।—तुलना करें, प्लाटिनस, एन्नीड्स, 3 : 6, 7। मैक्केन्ना का अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड 2, पृष्ठ 78।

2 सदसद्विलक्षण।

3 सदसदात्मक।

4 सत्यानृते मिथुनीकृत्य (शांकरभाष्य, प्रस्तावना)।

5 विकल्पो न हि वस्तु (भगवद्गीता पर शंकरानन्द, 4 : 18)।

6 ऋग्वेद में 'माया' शब्द बार-बार आया है और साधारणतः इसका प्रयोग देवताओं, विशेषकर वरुण, मित्र और इन्द्र की अलौकिक शक्ति को संकेतित करने के लिए किया गया है। अनेक प्राचीन ऋचाओं में माया की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि यह जगत् को धारण करने वाली शक्ति है (ऋग्वेद, 3 : 38, 7 ; 9 : 83, 3 ; 1 : 159, 4 ; 5 : 85, 5)। माया, प्रवञ्चना तथा चालाकी के अर्थ में, उन असुरों का विशेषाधिकार है, जिनके विरुद्ध देवता लोग निरन्तर युद्ध में रत रहते हैं। ऋग्वेद की प्रसिद्ध ऋचा, 6 : 47, 18 में जहां इन्द्र के विषय में कहा गया है कि वह अपनी अलौकिक शक्ति से नानारूप धारण करता है, हमें इसका एक अन्य ही अर्थ मिलता है :

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश॥

"प्रत्येक रूप में इसकी कल्पना की गई है और ये सब उसके रूप समझे जाने चाहिएं। इन्द्र अपनी माया अथवा अद्भुत शक्ति के द्वारा अनेक रूपों में विचरण करता है। और उसके हजार घोड़े तैयार रहते हैं।" यहां पर माया शब्द का अर्थ है वह शक्ति जिससे रूपपरिवर्तन किया जा सके अथवा अद्भुत रूप धारण किए जा सकें। ऋग्वेद की एक ऋचा (10 : 54, 2) इस प्रकार है : "हे इन्द्र, शरीर रूप से पूर्णता को प्राप्त करके तू अपनी शक्ति की घोषणा करता हुआ मनुष्य जाति के अन्दर विचरा था। और उस समय तेरे वे सब युद्ध जिनके विषय में मनुष्य लोग चर्चा करते हैं केवलमात्र तेरी माया के द्वारा सम्पन्न हुए थे। क्योंकि न तो आज तक और न प्राचीनकाल में ही तुझे कोई शत्रु मिला।" इन्द्र के कार्य एक लीलारूप प्रेरणा के कारण होते हैं। प्रश्न उपनिषद् (1 : 16) में माया शब्द का प्रयोग लगभग भ्रांति के अर्थ में हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (4 : 10) और भगवद्गीता (4 : 5-7, 18 : 61) में हमें एक शरीरधारी ईश्वर का विचार मिलता है, जिसमें माया की शक्ति है।

दिए गए हेतुओ मे इसे यथार्थ माना जा सकता। यथार्थ ब्रह्म तथा अयथार्थ जगत् मे परस्पर कैसा सम्बन्ध है ? शकर की दृष्टि मे यह प्रश्न ही अनुचित है, और इस प्रकार इसका उत्तर देना भी सम्भव नही। जब हम निरपेक्ष परब्रह्म का अपनी अन्तर्दृष्टि से साक्षात्कार करते है तो जगत् के स्वरूप तथा इसका ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है यह प्रश्न ही नही उठता, क्योकि उस सत्य का, जो सब प्रकार के वाद-विवाद को नि शेष कर देता है, एक तथ्य के रूप मे प्रत्यक्ष दर्शन मिल जाता है। यदि हम तर्कशास्त्र को अपना आधार मान लें तब ऐसा विशुद्ध ब्रह्म है ही नही जिसका सम्बन्ध जगत् के साथ हो। यह समस्या उठती ही इसलिए है कि तर्क करते समय हम अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन कर देते हैं। एक काल्पनिक समस्या का कोई यथार्थ हल नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त किसी भी सम्बन्ध के लिए दो भिन्न पदार्थो की पूर्वकल्पना आवश्यक है और यदि ब्रह्म तथा जगत् का परस्पर सम्बन्ध है तो उन्हे परस्पर भिन्न मानना भी आवश्यक हो जाता है, किन्तु अद्वैत का मत है कि जगत् ब्रह्म से पथक् नही है। शकर 'कार्यकारणत्व' के वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा 'अनन्यत्व' के दार्शनिक सिद्धान्त मे भेद करते है। ब्रह्म और जगत अनन्य है।[1] और इस प्रकार दोनो के बीच सम्बन्ध का प्रश्न नही उठ सकता। जगत् का आधार ब्रह्म के अदर है।[2] किन्तु ब्रह्म जगत् के साथ तदात्मक है भी और नही भी है। यह इसलिए कि जगत् ब्रह्म से पृथक् नही है। और तादात्म्य इसलिए नही भी है क्योकि ब्रह्म जगत् के परिवर्तनो के अधीन नही है। ब्रह्म जगत् की वस्तुओ का पुञ्जमात्र नही है। यदि हम ब्रह्म तथा जगत् को पृथक करे तो उसका बन्धन शिथिल ही रहेगा और वह कृत्रिम तथा बाह्यरूप मे ही होगा। ब्रह्म और जगत् एक हैं तथा यथार्थता और आभास के रूप मे अपना अस्तित्व रखते हैं। सान्त भी अनन्त है, यद्यपि कुछेक अवरोधो के कारण छिपा हुआ है। जगत् ब्रह्म है, क्योकि यदि ब्रह्म का ज्ञान हो जाए तो जगत् के सम्बन्ध मे सब प्रकार के प्रश्न स्वत विलुप्त हो जाते हैं। ये समस्त प्रश्न उठते ही इसलिए हैं कि सान्त मन आनुभविक जगत् को अपने-आप मे यथार्थ के रूप मे चिन्तन करता है। यदि हम निरपेक्ष परब्रह्म के स्वरूप को जान लें तो समस्त सीमित आकृतिया तथा सीमाए अपने आप विलुप्त हो जाती हैं। जगत् माया है क्योकि यह ब्रह्म की अनन्त यथार्थता का सत्य नही है।

शकर बलपूर्वक कहते है कि ब्रह्म तथा जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या तार्किक विभागो के द्वारा करना असम्भव है। "यथार्थ का सम्बन्ध अयथार्थ के साथ किसी भी प्रकार का कभी भी नही देखा गया।"[3] जगत् किसी न किसी प्रकार से अस्तित्व रखता है और ब्रह्म के साथ इसका सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। शकर भिन्न-भिन्न व्याख्याओ को लेकर कहते है कि ये सब असन्तोषप्रद हैं। यह कहना कि अनन्त ब्रह्म सान्त जगत् का कारण है तथा इसे बनाता है, एक प्रकार से यह स्वीकार करना है कि अनन्त काल-

1 अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्म कार्यत्वात तदनन्यत्वात् शाकरभाष्य, 2 1, 20)।

2 इसके साथ स्पिनोजा के कारण-कार्य के सिद्धान्त की तुलना करें। ईश्वर को कुल जगत की सीमित वस्तुओ का अन्तर्यामी रूप से कारण बताकर वह कारणकार्य सम्बन्ध को केवलमात्र द्रव्य तथा गुण के सम्बन्ध का रूप देता है। ऐसा सम्बन्ध, जो मूलाप्रकृति, अथवा ईश्वर का तुलाप्रकृति, अर्थात विश्व के साथ है—ऐसे सम्बन्ध के समान जो ज्यामिति की सत्या और विविध प्रकार के उन अनुमानो के साथ होता है जो इससे निष्पन्न होते हैं। स्पिनोजा के दृष्टिकोण से ईश्वर और जगत् इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं जिस प्रकार एक त्रिकोणकृति म कोण उसके पार्श्व भागा के साथ सम्बद्ध होते हैं।

3 न हि सदसता सम्बन्ध (माडूक्योपनिषद पर शाकरभाष्य, 2 . 7)।

सम्बन्धी प्रतिबन्धों के अधीन है। कारण-कार्य के सम्बन्ध का प्रयोग ब्रह्म तथा जगत् के सम्बन्ध विषय में नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारण का कुछ अर्थ तभी बन सकता है जब कि सत् के सीमित प्रकार ऐसे हों कि उनके मध्य एक शृंखला वर्तमान हो। हम ऐसा नहीं कह सकते कि ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है, क्योंकि इसका तात्पर्य होगा कि हम ब्रह्म और जगत् में भेद करते हैं और एक ऐसी वस्तु का निर्माण करते हैं जिसका सम्बन्ध अन्य वस्तु के साथ है। इसके अतिरिक्त जगत् सीमित है और सोपाधिक है तो फिर एक अनन्त, जो निरुपाधिक है, इसका कारण कैसे हो सकता है? यदि सान्त जगत् प्रतिबन्धयुक्त तथा अस्थायी है तब अनन्त सीमित जगत् के प्रतिबन्ध के रूप में स्वयं सीमित हो जाता है और तब वह अनन्त नहीं रहता। यह सोच सकना असम्भव है कि किस प्रकार अनन्त अपने से बाहर जाकर सीमित रूप धारण कर सकता है। क्या अनन्त किसी विशेष क्षण में आवश्यकतावश सीमित रूप धारण करने के लिए बाहर आता है? शंकर गौड़पाद के 'अजाति' अथवा 'अविकास' सम्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। यह जगत् न तो विकसित ही हुआ और न उत्पन्न ही हुआ है, किन्तु ऐसा केवल प्रतीत होता है, क्योंकि हमारी अन्तर्दृष्टि परिमित है। यह जगत् ब्रह्म की अव्यतिरिक्तता से अभिन्न (अनन्य) है। "कार्य अभिव्यक्त जगत् है जो आकाश से प्रारम्भ होता है; कारण सर्वोच्च ब्रह्म है। इस कारण से सर्वोच्च यथार्थता के अर्थों में कार्य का तादात्म्य सम्बन्ध है किन्तु इससे परे उसकी कोई सत्ता नहीं।"[1] यह एक तादात्म्य की अवस्था है अथवा लौकिक परिभाषा में नित्यस्थायी सह-अस्तित्व है किन्तु लौकिक पूर्वापर अनुक्रम नहीं है जो हो केवल कारण शक्ति के रूप में घटनाओं की व्यवस्था का निर्णायक होता है। जगत् की अन्तस्तम आत्मा ब्रह्म है। यदि यह ब्रह्म से स्वतन्त्र प्रतीत होता है, तब हमें कहना होगा कि यह जैसा प्रतीत होता है वैसा नहीं है।[2] और न हो हम अनन्त के अन्दर कोई क्रिया बतला सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक क्रिया उपलक्षित करती है कि वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अथवा किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए है। यदि यह कहा जाए कि निरपेक्ष परब्रह्म अपने को सीमित रूप में अभिव्यक्त करता है तो शंकर का कहना उसके उत्तर में यह है कि इस प्रकार का मत रखना कि सीमित जगत् ब्रह्म को अभिव्यक्त करता है, एक मिथ्या विचार है। सीमित जगत् हो या न हो, निरपेक्ष परब्रह्म सदा ही अपनी अभिव्यक्ति करता रहता है, जैसे कि सूर्य सदा ही चमकता रहता है। यदि किसी समय हम सूर्य को नहीं देख सकते तो यह सूर्य का दोष नहीं है। निरपेक्ष परब्रह्म सदा अपने रूप में अवस्थित रहता है। हम उस निरपेक्ष परब्रह्म के सत् तथा उसकी अभिव्यक्ति के मध्य में भेद नहीं कर सकते। जो एक है वही दूसरा है। वृक्ष के रूप में प्रकट होनेवाले बीज का दृष्टान्त अनुपयुक्त है, क्योंकि ऐन्द्रिक प्रगति और विकास लौकिक प्रक्रियाएं हैं। लौकिक वर्गभेदों का प्रयोग नित्य के सम्बन्ध में करने का तात्पर्य होगा कि हम उस नित्य को एक लौकिक पदार्थ अथवा घटना के स्तर पर नीचे की श्रेणी का रूप देते हैं। ईश्वर के विषय में ऐसा कहना कि वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए सृष्टि के ऊपर आश्रित है, उसे सर्वथा अन्तर्यामी होने का रूप देना होगा। शंकर परिणाम सम्बन्धी विचार को नहीं मानते। क्या सम्पूर्ण ब्रह्म में अथवा उसके किसी एक भाग में परिवर्तन होकर जगत् का निर्माण होता है? यदि सम्पूर्ण

1 "कार्यम् आकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्; कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते" (शांकरभाष्य, 2 : 1, 14)।
2. देखें, शांकरभाष्य, 2 : 1, 14 ; 2 : 3, 30 ; 2 : 3, 6।

मे होता है तो सम्पूर्ण ब्रह्म जगत् के रूप मे हमारी आखो के सामने फैला हुआ है और ऐसी कोई अतीन्द्रिय सत्ता उस अवस्था मे नही रहती जिसकी खोज हमे करनी पडे और यदि उसके किसी भाग मे परिवर्तन होकर जगत् का निर्माण होता है तब ब्रह्म की अखण्डता नष्ट होती है। यदि किसी वस्तु के हिस्से, अथवा अवयव अथवा उसमे भेद हो तब यह नित्य नही हो सकती।[1] श्रुति का मत है कि ब्रह्म अवयव रहित (निरवयव) है।[2] यहा एक बार ब्रह्म चाहे आशिक रूप से और चाहे पूर्णरूप से जगत् का द्रव्य बन जाता है तो फिर यह जगत् का द्रव्य नही रहता और स्वतन्त्र भी नही रहता। यदि निरपेक्ष ब्रह्म परिणमन के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ-साथ बढता तथा विकास को प्राप्त होता है और यदि हमारे कर्मो से निरपेक्ष ब्रह्म के जीवन अथवा विकास मे कुछ अश दान मिलता हो तो निरपेक्ष ब्रह्म सापेक्ष हो जाएगा। तो भी यदि निरपेक्ष परब्रह्म सब प्रकार के भेदो को नष्ट कर दे और परिणमन रूप जगत् को भी आत्मसात् कर ले तब फिर इस विश्व मे गुण और परिणाम के विषय मे निर्धारण करने का जीवन के लिए कुछ अर्थ ही नही रहता। ब्रह्म का जगत् के साथ जो सम्बन्ध है उसको प्रकट करने के लिए वृक्ष का शाखाओ के साथ अथवा समुद्र का उसकी लहरो के साथ अथवा मिट्टी का सम्बन्ध जो मिट्टी से बने हुए बर्तन हैं उनके साथ, ये सब जो दृष्टान्त है वहा नही घटते क्योकि उक्त सबमे पूर्ण इकाई का जो उसके भाग के साथ सम्बन्ध हैं एव द्रव्य के साथ गुण का जो सम्बन्ध है उस प्रकार की बौद्धिक श्रेणियो का उपयोग किया जाता है। ब्रह्म तथा जीवात्माओ मे जो सम्बन्ध है, क्योकि दोनो ही बिना भागों के है, वह न तो बाह्य अर्थात् सयोग और न आन्तरिक अथवा समवाय ही हो सकता है। क्या आत्माए ब्रह्म के अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहती है अथवा ब्रह्म ही समवाय सम्बन्ध से आत्माओ के अन्दर रहता है? ब्रह्म को परिणमन रूप-जगत् के साथ सम्बद्ध करने के समस्त प्रयत्न असफल रहे है। सीमित जगत् का अनन्त आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है यह एक ऐसा रहस्य है जो मानवीय बोध की शक्ति से परे है। प्रत्येक धार्मिक व्यवस्था मानती है कि सीमित का मूल अनन्त के अन्दर है और यह कि दोनो का मध्यवर्ती जो सातत्य है उसमे कही भी विच्छेद नही है और फिर भी व्यवस्था ने आज तक दोनो के बीच के सम्बन्ध का तार्किक विधि मे स्पष्टीकरण नही किया।[3] हम अपने को समझा नही सकते कि किस विधि से आभासरूप व्यावहारिक जगत् निरपेक्ष परब्रह्म के साथ बधा हुआ है। ज्ञान मे उन्नति हमे इस योग्य तो कर सकती है कि हम उन

1 शाकरभाष्य, 2 1, 26।

2 श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6 19, मुण्डकोपनिषद्, 2 : 1-2, बृहदारण्यक, 2 4, 12, 3 8, 8।

3 शाकरभाष्य, 2 1 24-26। यह दिखाना कि विश्व कैसे और क्यो विद्यमान है, जिससे कि इसका जीवन सीमित है, सर्वथा असम्भव है। उससे यह उपलक्षित होता है कि केवल एक अग को देखकर सम्पूर्ण इकाई का ग्रहण क्रियात्मक रूप मे सम्भव नही है।" "यह कि अनुभव सीमित पदार्थों के केन्द्रो मे होना चाहिए और उसके रूप सीमित रूप के होने चाहिए अन्त मे जाकर व्याख्या के अयोग्य है।' "प्रतीतिरूप वस्तु कैसे सम्भव हो सकती है इसे हम नही समझ सकते' (एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी', पृष्ठ 204, 226, 413)। ग्रीन के अनुसार शाश्वत चैतन्य एक है जो तात्त्विक रूप मे कालाबाधित (अनन्त) तथा पूर्ण है और अन्यसीमित चैतन्य अपूर्ण, दोषपूर्ण तथा लौकिक हैं। इन दोनो के मध्य जो सम्बन्ध है, ग्रीन कहता है कि उसकी व्याख्या नही की जा सकती। इस प्रकार का प्रश्न करना कि क्यो एक निर्दोष चैतन्य अपनी अनेको दोषपूर्ण प्रतिकृतिया का निर्माण करता चलेगा, ऐसा ही प्रश्न है जैसा यह प्रश्न है कि यथार्थता जैसी है ऐसी क्यो है, और यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर नही दिया जा सकता। और भी देखें, 'भारतीय दर्शन', प्रथम खण्ड, पृष्ठ 152।

घटनाओं का वर्णन कर सकें जो विषयरूप जगत् को बनाती है और अधिकतर ब्योरे तथा यथार्थता के साथ भी उसका वर्णन कर सकें, किन्तु अनन्त के अन्दर से सान्त जगत् की उत्पत्ति अर्थात् संसार की ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या सर्वथा हमारी शक्ति से बाहर है। हमारे तर्क की शृंखला भले ही कितनी ही दीर्घ क्यों न हो और भले ही इसकी कितनी कड़ियां क्यों न हों, हम एक ऐसे स्थान पर पहुंच जाते हैं जहां जाकर विवरण रुक जाता है और हमें एक तथ्य को स्वीकार करना ही होता है जिसमें आगे किसी प्रकार के निगमन (अनुमान) की गुंजाइश नहीं रह जाती। 'माया' शब्द हमारी सान्तता को मन में अंकित कर देता है और हमारे ज्ञान में जो रिक्त स्थान है उसको दर्शाता है। एक जादूगर हमारे आगे शून्य से एक वृक्ष को उत्पन्न कर देता है। वृक्ष उपस्थित है, यद्यपि हम उसका समाधान नहीं कर सकते और इस प्रकार हम उसे माया कहते हैं। रस्सी और सांप के दृष्टान्त का उपयोग, जिसका बहुत दुरुपयोग हुआ है, शंकर ने संसार की समस्या को समझने के लिए किया है। रस्सी की पहेली विश्व की भी पहेली है। क्योंकर रस्सी सांप प्रतीत होती है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे स्कूल के लड़के उठाते हैं और दार्शनिक इसका उत्तर देने में असफल रहते हैं। इससे अधिक विस्तृत प्रश्न है ब्रह्म का जगत् के रूप में प्रतीत होना, और यह और भी अधिक कठिन है। हम केवल यही कह सकते हैं कि ब्रह्म जगत् के रूप में प्रतीत होता है, ठीक जैसे कि रस्सी सांप के समान प्रतीत होती है।[1] ब्रह्म तथा जगत् के मध्य सम्बन्ध की सामान्य समस्या का विशेष विनियोग है ब्रह्म तथा ईश्वर का पारस्परिक सम्बन्ध।

शंकर प्रतिपादन करते हैं कि जगत् यद्यपि ब्रह्म के ऊपर आश्रित है तो भी वह ब्रह्म के स्वरूप के ऊपर कोई प्रभाव नहीं रखता और एक इस प्रकार के कारण को जो अपने में बिना किसी प्रकार का परिवर्तन लाए कार्य को उत्पन्न करता है, अर्थात् 'विवर्तोपादान' रूप कारण को 'परिणामोपादान' से, जहां कारण स्वयं कार्य के रूप में परिणत होकर कार्य को उत्पन्न करता है, भिन्न प्रकार का बताता है। विवर्त का यौगिक (धात्वर्थ) अर्थ है विपर्यास या उलट जाना। ब्रह्म वह है जिसका विवर्त (विपर्यास) देशकाल आदि से बद्ध यह जगत् है। विवर्त शब्द प्रकट करता है निरपेक्ष परब्रह्म का देशकालबद्ध जगत् के रूप में प्रतीत होना। निःसन्देह मूलभूत ब्रह्म है जिसका रूपान्तर यह जगत् देशकाल के स्तर पर माना जा सकता है। चूंकि रूपान्तर हमारे लिए किया गया है, मूल ब्रह्म अपने अस्तित्व के लिए रूपान्तर के ऊपर आश्रित नहीं है। अनेकता-पूर्ण जगत् एक ऐसा रूप है जिसे यथार्थसत्ता हमारे लिए ग्रहण करती है, अपने लिए नहीं। जब दूध दही का रूप धारण करता है तो उसे हम परिणाम अथवा परिवर्तन कहते हैं और जब रस्सी सांप के रूप में प्रतीत होती है तो इसे विवर्त अथवा आभास कहते हैं।[2] शंकर के द्वारा प्रयुक्त किए गए भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों, जैसे रस्सी और सांप, सीप तथा चांदी, मरुभूमि तथा मृगतृष्णा आदि का प्रयोजन कार्य की कारण के ऊपर

तुलना करें मिलर से "ऐसा तर्क करना सर्वथा युक्तियुक्त होगा कि (सृष्टिरचना-सम्बन्धी) सम्पूर्ण प्रश्न अप्रामाणिक है क्योंकि इसकी मांग अत्यधिक है। यह इससे कम नहीं जानना चाहता कि यथार्थ सत्ता का अस्तित्व ही क्यों हुआ और उक्त तथ्य निरपेक्षरूप क्यों है? और यह उससे कहीं अधिक है जिसका कोई भी दर्शनशास्त्र पूर्णरूप से समाधान कर सकता है या जिसके लिए प्रयास भी कर सकता है ('स्टडीज इन ह्यूमनिज़्म')।

1 यथाभाव छ्येतद् यत् परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वेव सर्पादिभावेन।... (शांकरभाष्य, 2 : 1, 9)।

2 शांकरभाष्य, 2 : 1, 28।

एकपक्षीय निर्भरता; और कारण का अपने यथार्थरूप को सुरक्षित रखने का भाव दर्शाने से है। परिणाम की अवस्था मे कारण और कार्य दोनो यथार्थता के ही समान भाव से रहते है किन्तु आभास की अवस्था मे कार्य कारण से भिन्न सत् के एक भिन्न प्रकार के वर्ग का होता है।[1] जगत् ब्रह्म के अन्दर अवस्थित रहता है, जिस प्रकार कहा जाता है कि साप रस्सी के अन्दर रहता है।

अद्वैतवादी ग्रन्थो मे 'मायावाद' की अन्य कई प्रकार की व्याख्याए मिलती है।[2] माया ब्रह्म से भिन्न नही हो सकती, क्योकि ब्रह्म के समान दूसरी कोई सत्ता नही है। विश्व की उत्पत्ति ब्रह्म के अन्दर किसी अन्य यथार्थसत्ता के कुछ अश जुड जाने से नही हुई है क्योकि जो पहले से सर्वांगपूर्ण है उसमे अन्य किसी प्रकार के पदार्थ का सयोग नही हो सकता। इसलिए यह विश्व असत् के कारण से विद्यमान है। जगत् की प्रक्रिया यथार्थ-सत्ता के क्रमिक ह्रास के कारण है। माया की सज्ञा का प्रयोग विभाजक शक्ति के लिए, जो प्रतिबन्ध लगानेवाला तत्त्व है, हुआ है। यह वह तत्त्व है जो अपरिमित को माप मे परिमित कर देता है और रूप रहित मे रूप की सृष्टि करता है।[3] यह माया प्रधान यथार्थसत्ता का एक विशेष लक्षण है, न उसके समान है और न उससे भिन्न है। इसको एक स्वतन्त्र स्थान प्रदान करने का तात्पर्य होगा मौलिक रूप मे द्वैतवाद को मान्यता प्रदान करना। आनुभविक जगत् मे जो भेद पाया जाता है और जिसका हमे ज्ञान ह उसका कारण यदि हम नित्यब्रह्म मे खोजने का प्रयत्न करे तो यह अनुचित होगा। ज्यो ही हम माया का सम्बन्ध ब्रह्म से जोडने जाते हैं ब्रह्म ईश्वर के रूप मे परिणत हो जाता है और माया ईश्वर की शक्ति को प्रकट करती है। किन्तु ईश्वर के अपने ऊपर माया से किसी प्रकार का असर नही होता। यदि माया का अस्तित्व हे तो यह ब्रह्म के प्रतिबन्ध रूप मे रहती है। और यदि माया का अस्तित्व नही है तो जगत् के आभास की भी कोई व्याख्या नही बनती। जगत् को उत्पन्न करने मे तो इसकी यथार्थता समझ मे आ सकती है किन्तु ब्रह्म के प्रतिबन्ध रूप मे इसकी यथार्थता नही है। यह न तो ब्रह्म के समान *यथार्थ ही है और न आकाशकुसुम के समान अभावात्मक ही है।[4] हम इसे चाहे जो कहे,* भ्रातिमात्र अथवा यथार्थ किन्तु जीवन की समस्या के समाधान के लिए इसकी सत्ता को मानना आवश्यक है। यह ईश्वर की एक नित्य शक्ति है। 'सक्षेपशारीरक' के रचयिता का मत है कि ब्रह्म माया के माध्यम द्वारा विश्व का उपादान कारण है, क्योकि माया का क्रिया के लिए होना आवश्यक है। इसे ब्रह्म की उपज समझा जाता है, अर्थात् यह ब्रह्म की क्रियाशीलता का एक परिणाम है। यह जगत् मे अनिवार्य रूप से उपस्थित (अनुगत) रहती है तथा इसके अस्तित्व की निर्णायक (कार्यसत्ता नियामिका) है। माया द्रव्य नही है और इसलिए इसे उपादान कारण नही माना जा सकता। यह केवलमात्र एक व्यापार है जो ब्रह्मरूपी उपादान कारण से उत्पन्न होने के कारण भौतिक पदार्थ अर्थात् जगत्

1 परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्ति , विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताक-कार्यापत्ति: (वेदान्तपरिभाषा, 1)।

2 शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, 2 6।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसदभ्याम् अनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥
(सूर्यपुराण, साख्यप्रवचन भाष्य, 1 : 26 मे उद्धृत)।

3 एक एव परमेश्वर: कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदने यथा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्ति (शाकरभाष्य, 1 3, 19)।

4 शाकरभाष्य, 1 : 4, 3।

की उत्पत्ति करता है।[1] इस लेखक के मत मे माया ब्रह्म से सम्बद्ध है और प्रतिबन्ध की प्रक्रिया है, और इसके दो लक्षण हैं, 'आवरण', अर्थात् सत्य को छिपाना, और 'विक्षेप', अर्थात् उसकी मिथ्या-व्याख्या करना।[2] इनमे से पहला तो केवलमात्र ज्ञान का निराकरण है और दूसरा निश्चित रूप से भ्रम को उत्पन्न करता है। इसके कारण केवल इतना ही नहीं कि हम परम निरपेक्ष सत्ता के दर्शन नहीं कर सकते अपितु हमें उसके स्थान में किसी अन्य वस्तु का बोध हो जाता है। माया के कारण से ही विविध प्रकार के नाम और रूप का विकास होता है, और उन्ही का कुलयोग यह जगत् अथवा विश्व है। इस नाम और रूप के पुञ्ज के पीछे माया नित्यब्रह्म को भी हमारी दृष्टि से ओझल कर देती है।

माया के दो व्यापार हैं, यथार्थसत्ता को छिपा देना तथा मिथ्या का विक्षेप करना। विविधता रूप जगत् यथार्थसत्ता तथा हमारे मध्य पर्दे का कार्य करता है।

"कुछ लोग सोचते हैं कि सृष्टि उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिए है। मेरा कहना है कि इसका प्रयोजन उसे छिपाना है, और इसके अतिरिक्त यह और कुछ कर नहीं सकती।"[3]

चूंकि माया इस प्रकार स्वरूप में छली है,[4] इसे अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यह केवल बोध का अभाव ही नहीं है किन्तु निश्चित रूप से भ्रांति है। जब इस व्यापार का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ होता है तो ब्रह्म ईश्वर हो जाता है। "एक अचल, निरुपाधिक तत्व अपनी ही मायारूप शक्ति से ऐसा बन गया जिसे कर्ता की संज्ञा दी गई।"[5]

माया ईश्वर की शक्ति है, उसका अन्त स्थायी बल है जिसके द्वारा वह सम्भाव्यता को वास्तविक जगत् के रूप मे परिणत कर देता है। उस ईश्वर की माया, जो विचार के क्षेत्र से परे है, अपने को दो आकारों में परिवर्तित करती है, अर्थात् काम और संकल्प में। निरुपम ईश्वर की यह उत्पादिका शक्ति है और इसीलिए यह भी नित्य है; और इसी साधन से सर्वोपरि प्रभु ब्रह्म संसार की रचना करता है। माया का कोई पृथक् निवासस्थान नहीं है। यह ईश्वर ही के अन्दर रहती है, जिस प्रकार उष्णता अग्नि में रहती है। इसकी उपस्थिति इसके कार्यों द्वारा अनुमान से जानी जाती है।[6] माया नाम और रूप के समान है जो अपनी अविकसित अवस्था में ईश्वर के अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, एवं अपनी विकसित अवस्था मे जगत् का निर्माण करते हैं। इन अर्थों मे यह (माया) प्रकृति की पर्यायवाची है।[7] ईश्वर मे परमसत् की अपेक्षा यथार्थता कुछ न्यून है और अन्य पदार्थों मे यथार्थता का अभाव क्रमश: बढ़ता जाता है। क्रमिक व्यवस्था के नीचे के धरातल पर हमें ऐसा कुछ मिलता है जिसके अन्दर ऐसे निश्चयात्मक गुण है ही नहीं जिनके छिन जाने का प्रश्न उठे, अपितु जिसका अस्तित्व-

1 तत्सम्बन्धे सति तज्जन्यजनको व्यापार।

2 देखें वेदान्तसार, 4।

3 वार्डनिंग 'विजन ब्लोसम्स ऐपोलोजी'।

4 माया के छली रूप के लिए देखें, मिलिन्द, 4 : 8, 23।

5 अप्राणं शुद्धमेकं समभवद् अथ तन्मायया कर्तृभजत् (शतश्लोकी, पृष्ठ 24)। तुलना करें, पञ्चदशी, 10 1।

6 निस्तत्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् (पञ्चदशी)।

7 तुलना करें, ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिः (शांकरभाष्य, 2 : 1, 14)। और भी देखें श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4 10, भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, प्रस्तावना, और 7 : 4; सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 26।

मात्र है किन्तु जो असत् के रूप मे है। यह एक प्रकार की शून्यता है जो ऐसे स्थान पर शून्य भित्ति के रूप मे खडी है जहा यथार्थता का अन्त होता है। यह विश्वसम्बन्धी विकास का न तो कोई भाग है और न उसकी उपज ही है किन्तु अनेकत्व और अपहरण का एक अव्यक्त तत्त्व है जो समस्त विकास का आधार है। सर्वोपरि ईश्वर सृष्टिरचना के समय रूपविहीन तथा निरुपाधिको मे ऐसे रूपो तथा गुणो का आधान करता है जिन्हे वह अपने अन्दर धारण किए हुए है। "इस अविकसित तत्त्व को कभी 'आकाश',[1] कभी 'अक्षर'[2] अर्थात अविनाशी और कभी 'माया' के नाम से प्रकट किया जाता है।[3] सृष्टि-रचना मे यह भौतिक अधिष्ठान है।[4] यह परिवर्तनो के द्वारा विश्व को क्रमिक रूप से प्राकृतिक व्यवस्था मे ले आता है। यह ईश्वर के कारण शरीर का निर्माण करता है। साख्य के 'प्रधान' के विपरीत यह ईश्वर से स्वतन्त्र नही है।[5] यह एक ऐसा प्रतिबन्ध है जिसे ईश्वर अपने ऊपर लगाता है। प्रकृति के अन्दर जगत् की सम्भाव्यता केन्द्रित है, जैसे भविष्य मे उगनेवाले वृक्ष की सम्भाव्य क्षमता बीज के अन्दर निहित रहती है। यह प्रकृति, जिसमे तीनो गुण विद्यमान हैं,[6] न तो ईश्वर की आत्मा है और न ईश्वर से पृथक् ही है। यह प्रलय काल मे भी सर्वोपरि प्रभु ब्रह्मा के ऊपर आश्रित होकर बीजशक्ति के रूप मे विद्यमान रहती है। पुराणो मे यही माया अथवा प्रकृति ईश्वर की पत्नी के रूप मे प्रकट होती है, तथा सृष्टिरचना मे यह मुख्य साधन का काम देती है।[7] यह माया रूप जगत वस्तुओ की जननी व क्रीडाभूमि है जो सदा अपने को अनन्त रूपो मे ढालने के लिए उत्सुक रहता है।[8] परिणाम यह निकला कि यह विश्व ईश्वर के लिए अथवा ऐसे विषयी के लिए जिसका सम्बन्ध सदा विषय के साथ रहता है, आवश्यक है। ईश्वर को विश्व की आवश्यकता है, जो कि हेगल की परिभाषा मे ईश्वर की आत्माभि-व्यक्ति का एक आवश्यक रूप है।

हम यहा पर उन भिन्न भिन्न अर्थो को एकत्र करते हैं जिनमे अद्वैत दर्शन म माया शब्द का व्यवहार हुआ है। (1) चूकि यह जगत् अपनी व्याख्या अपने आप नही कर सकता इसी से इसका आभास स्वरूप प्रकट होता है और यही भाव माया शब्द मे ध्वनित होता है। (2) ब्रह्म तथा जगत् के मध्य की समस्या हमारे लिए एक अर्थ रखती है, क्योकि हम विशुद्ध ब्रह्म के अस्तित्व को प्रेरक के रूप मे स्वीकार करते हैं और फिर

1 बृहदारण्यक उपनिषद, 3 8, 11।

2 मुण्डक 2 1 2।

3 श्वेताश्वतर, 4 1। देखें शाकरभाष्य 1 4 3। 'अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्ति रव्यक्तशब्दनिर्देश्या तदेतद अव्यक्त क्वचिद आकाशशब्दनिर्दिष्ट क्वचिद् अक्षरशब्ददित क्वचिन्मायेति सूचितम।

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत सर्वमिद प्रसूयते॥
(विवेकचूडामणि पृष्ठ 108)।

4 तुलना करें थामिस्टिक दर्शन के 'मैटरिया प्राइमा' के सिद्धान्त के साथ।

5 न स्वतन्त्र तत्त्वम (शाकरभाष्य 1 2 22)।

6 माया मे इसम तमोगुण की प्रधानता के कारण पाच तत्त्व उत्पन्न होते हैं ऐसा कहा जाता है। उन्हीसे उसम सत्त्वगुण की प्रधानता होने स पाच ज्ञानेन्द्रिया उत्पन्न होती हैं तथा रजोगुण की प्रधानता स अन्त करण उत्पन्न होता है। पाच कर्मेन्द्रिया से और उनके सयोग से, पाच प्राण उत्पन्न होते हैं। य सब एक साथ मिलकर लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर को जन्म देते हैं।

7 तुलना करें बृहदारण्यक से भी 1 4 3।

8 तुलना करें, त्वमसि परब्रह्ममहिषी (आनन्दलहरी)।

जगत् के साथ इसके सम्बन्ध की मांग प्रस्तुत करते हैं जिसे हम तार्किक दृष्टिकोण से देखते हैं। हम यह कभी नहीं समझ सकते कि किस प्रकार परम यथार्थसत्ता अनेकत्वपूर्ण जगत् के साथ सम्बद्ध है क्योंकि दोनों विजातीय हैं और इसलिए इसकी व्याख्या के लिए किए गए सब प्रयत्नों का असफल रहना आवश्यक है। इसी दुर्बोधता का नाम माया है। (3) यदि ब्रह्म को जगत् का कारण माना जाए तो यह इन्हीं अर्थों में होगा कि जगत् ब्रह्म पर आश्रित है किन्तु ब्रह्म किसी प्रकार भी जगत् से प्रभावित नहीं होता, और जो जगत् ब्रह्म पर आश्रित है उसे माया के नाम से पुकारा जाता है। (4) ब्रह्म के जगत् रूप में आभास होने के सम्बन्ध में कारणरूप जिस तत्त्व की कल्पना की जाती है उसे ही माया कहते हैं। (5) यदि हम अपने ध्यान को व्यावहारिक जगत् तक ही परिमित रखें और तर्क के विचार-विमर्श का प्रयोग करें तो हमारे सामने एक पूर्ण व्यक्तित्व का भाव आता है जिसमें आत्म-अभिव्यक्ति की शक्ति है। इस शक्ति का ही नाम माया है, (6) ईश्वर की यह शक्ति उपाधि, अथवा प्रतिबन्ध में परिणत हो जाती है, जो अव्यक्त प्रकृति है और जिससे समस्त संसार उत्पन्न होता है। यह वह विषय है जिसके द्वारा सर्वोपरि विषयी अर्थात् ईश्वर विश्व का विकास करता है।[1]

31. अविद्या

मायाविषयक विचार का अविद्याविषयक विचार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। शंकर की कृतियों में ऐसे वक्तव्य आते हैं जिनमें आनुभविक जगत् का कारण अविद्या की शक्ति को बताया गया है। जगत् के आभासस्वरूप होने का कारण बुद्धि के स्वरूप के अन्दर खोजना चाहिए, ब्रह्म के अन्दर नहीं। छोटे से छोटे पदार्थ में भी ब्रह्म सम्पूर्ण तथा अविभक्त रूप में विद्यमान है और अनेकत्व की प्रतीति बुद्धि के कारण है जो देश, काल और कारणकार्य के विधान के अनुसार काम करती है। ब्रह्मसूत्र के भाष्य की प्रस्तावना में शंकर ने प्रतिपादन किया है कि किस प्रकार अविद्या की शक्ति हमें जीवनरूपी स्वप्न में उतारती है। इन्द्रियातीत और लौकिक दृष्टिकोणों को परस्पर मिला देने की प्रवृत्ति, अथवा अध्यास, कितना भी भ्रान्तिमय क्यों न हो, मनुष्य के मस्तिष्क के लिए स्वाभाविक है। यह हमारे बोधग्रहणकारी तन्त्र का परिणाम है।[2] जिस प्रकार हम अपनी इन्द्रियों में शब्द तथा रंग का प्रत्यक्ष करते हैं, यद्यपि यथार्थता केवल कम्पनमात्र है, ठीक इसी प्रकार हम चित्र-विचित्र विश्व को यथार्थ ब्रह्म के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, यद्यपि यह विश्व ब्रह्म का कार्य है। अनुभव के विषयनिष्ठ पक्ष की परीक्षा के द्वारा शंकर तर्क करते हैं कि हम यथार्थसत्ता का ज्ञान तब तक नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि हम अविद्या में फंसे हैं, अथवा तर्क की विचार-विधि को अपनाए रहते हैं। अन्तर्दृष्टि रूप ज्ञान के साधन से पतन होने का नाम अविद्या है, और यह सीमित आत्मा की मानसिक विकृति है, जिसके कारण दैवीय सत्ता सहस्रों भिन्न-भिन्न अर्थों में बंट जाती है। प्रकाश के अभाव का नाम अन्धकार है। जैसा कि ड्यूसन ने कहा है : "अविद्या हमारे ज्ञान का आन्तरिक धुंधलापन है"[3] और मन की ऐसी प्रवृत्ति है जिसके कारण मन वस्तुओं को

1 तुलना करें : ईश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये संसार-प्रपञ्चबीजभूते ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते (शांकरभाष्य, 2 : 1, 14)। और भी देखें, शांकरभाष्य, 1 : 4, 3 ; 2 ; 2, 2।

2 शांकरभाष्य, प्रस्तावना।

3 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 302।

देश, काल और कारण की रचना के द्वारा ही देख सकता है अन्यथा रूप मे नही। यह जान-बूझकर किया गया कपटाचरण नही है वरन् परिमित शक्ति वाले उस मन की अज्ञानवश प्रवृत्ति ही ऐसी है जो जगत् के अपूर्ण मानदण्ड के ऊपर ही निर्भर करता है। यह एक निषेधात्मक शक्ति है जो हमे अपने देवस्वरूप जीवन से दूर रखती है। ब्रह्म की जगत् के रूप मे प्रतीति हमारे अज्ञान के कारण है, वैसे ही जैसे कि रस्सी का साप के रूप मे प्रतीत होना हमारे इन्द्रियदोष के कारण होता है। किन्तु ज्यो ही हम रस्सी के असली रूप को देखते है तो साप अयथार्थ हो जाता है। जब हम ब्रह्म की यथार्थता का दर्शन कर लेगे तो जगत् की प्रतीति स्वय दूर हो जाएगी। उच्चतर अनुभव के द्वारा, जिसकी यथार्थता सिद्ध हो जाती है, उसका सम्बन्ध यथार्थता के साथ दृष्टिकोणो के विभ्रम के अतिरिक्त स्थापित नही हो सकता। प्रतीति रूप आभासो का निरपेक्ष परमसत्ता मे जाकर आकार-परिवर्तन हो जाता है। यदि हमे कहा जाए कि साप की प्रतिकृति को रस्सी की यथार्थता के साथ सम्बद्ध करो तो हम कहेगे कि इस प्रकार का कोई सम्बन्ध ऐसी वस्तु के, जो भावात्मक है, और दूसरी वस्तु के जो अभावात्मक है, मध्य सम्भव नही है। उस प्रतिकृति के लिए हम केवल आख ही को दोष देगे। जब हम रस्सी को रस्सी के रूप मे देखते हैं तब समस्या का अन्त हो जाता है और हम कहने लगते हैं कि रस्सी साप की भाति दिखाई देती थी। सापेक्षता का कारण दोषपूर्ण अन्तर्ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। ज्यो ही हम विशुद्ध चैतन्य के दृष्टिकोण से वस्तुओ को देखते हे तो उस तथ्य के आगे इसका कार्य स्वत बन्द हो जाता है। अविद्या या तो ज्ञान का अभाव है अथवा सन्दिग्ध या भ्रातिमय ज्ञान है। इसका केवल निषेधात्मक ही नही किन्तु भावात्मक रूप भी है। शकर के इस तर्कपूर्ण कथन का कि अविद्या का आधिपत्य सबके ऊपर है तात्पर्य यही है कि सीमितता एक तथ्य है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी भावना रहती है कि वह सब कुछ नही जानता।[1] इसकी साक्षी सार्वभौम रूप मे पाई जाती हे क्योकि सभी सीमित मनो मे यह न्यूनता एक समान है।

उपनिषदो मे अविद्या शब्द केवल अज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है और यह व्यक्ति रूप विषयी के ज्ञान से भिन्न है।[2] शकर के यहा यह विचार की तार्किक विधि बन जाती है जो मानवीय मन की सीमितता का निर्माण करती है। यह वन्ध्यापुत्र की भाति अभावात्मक सत्ता नही है क्योकि इसकी प्रतीति होती है और हममे से प्रत्येक को इसका अनुभव होता है, और यह एक यथार्थ और निरपेक्ष सत्ता रूप वस्तु भी नही, क्योकि अन्तर्दृष्टि के ज्ञान से इसका नाश हो जाता है। यदि यह असत् होती तो यह किसी वस्तु की उत्पादक नही हो सकती थी। और यदि यह सत् होती तो जो इससे उत्पन्न होता वह भी यथार्थ होता, आभासमात्र न होता। "यह न तो यथार्थ है, न आभासमात्र है और न यह दोनो ही है।"[3] यद्यपि इसकी उत्पत्ति तथा समाधान दोनो ही हमारी पहुच से परे है तो भी मानसिक वर्गभेदो के द्वारा इसका व्यापार स्पष्ट रूप मे समझा जा सकता है। यह अविद्या, जो सारे अज्ञान तथा पाप और दु ख की जननी हे, कहा से आती है? अविद्या व्यक्तित्व का कारण नही हो सकती, क्योकि यदि व्यक्ति न हो तो अविद्या का अस्तित्व ही नही रह सकता। यदि वह व्यक्तित्व का कारण हे तो इसकी उससे स्वतन्त्र सत्ता होनी चाहिए, अर्थात् इसका सम्बन्ध उस परम यथार्थ ब्रह्म के साथ होना आवश्यक

1 अहम अज्ञ इत्याद्यनुभवात्। देखें, वेदान्तसार, पृष्ट 4।
2 देखे छान्दोग्य उपनिषद, 1 1, 10 बृहदारण्यक उपनिषद, 4 3, 20, 4 . 4, 3।
3 विवेकचूडामणि, पृष्ठ 3।

है। किन्तु अविद्या ब्रह्म के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप नित्य प्रकाश है और अविद्या के प्रतिकूल है।[1] जैसा कि सर्वज्ञात्मनि का मत है, इसका निवास ब्रह्म के अन्दर नहीं हो सकता; और यह व्यक्ति में भी नहीं रह सकती, जैसा कि वाचस्पति का मत है।[2] यह कहना कि परिवर्तित ब्रह्म अविद्या का आवासस्थान है सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि प्रश्न यह है कि ब्रह्म में अविद्या के बिना परिवर्तन हो ही कैसे सकता है? रामानुज का आग्रह है कि हमें प्रत्येक आत्मा के लिए एक भिन्न अविद्या की कल्पना करनी होगी, क्योंकि अन्यथा एक आत्मा की मोक्षप्राप्ति अन्यों के लिए भी मोक्षप्राप्ति हो जाएगी। परिणाम यह निकला कि अविद्या आत्माओं की भिन्नता का ज्ञान रखती है किन्तु यह उसका कारण नहीं है और इसीलिए उसका समाधान नहीं कर सकती। यहां हमें तर्क सम्बन्धी चक्र में पड़ना होता है।[3] शंकर तो इस कठिनाई में से अविद्या को अव्याख्येय घोषित करके बच निकलते हैं। शंकर की अध्यात्म विद्या में यह प्रश्न निरर्थक है। हम एक लौकिक विधान का प्रयोग इन्द्रियातीत क्षेत्र में नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि अविद्या का अस्तित्व है और इसके कारण के विषय में प्रश्न उठाना निरर्थक है, ठीक जिस प्रकार सान्त आत्माओं की उत्पत्ति का प्रश्न है। यदि हम आत्मा के साथ अविद्या के सम्बन्ध को समझ सकते हैं तो हमें आवश्यक रूप से दोनों से ऊपर होना

1 "ईश्वर प्रकाशस्वरूप है और उसके अन्दर अन्धकार सर्वथा नहीं" (बाइबिल, प्र० जॉन, 5 2, बार,० 6 14)।

2 देखें, श्रीधरकृत न्यायकन्दली, ब्रह्मसूत्र पर रामानुज का भाष्य, 2 1, 15।

3 ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, 2.1, 15; सांख्यप्रवचनसूत्र, 1.21-24, 5:13-19, 54। पार्थसारथि मिश्र इस आक्षेप को इस प्रकार रखते हैं: "क्या यह अविद्या ही मिथ्याज्ञान है अथवा अन्य कोई वस्तु है जो मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करती है? यदि मिथ्याज्ञान है तो यह अविद्या किसका मिथ्याज्ञान है? यह ब्रह्म का नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वभावतः विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। सूर्य के अन्दर अन्धकार के लिए कोई स्थान नहीं। अविद्या आत्माओं से सम्बद्ध नहीं हो सकती क्योंकि वे ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। चूंकि अविद्या का अस्तित्व नहीं हो सकता इसीलिए एक अन्य वस्तु का भी नहीं हो सकता जो उसका कारण बन सके। इसके अतिरिक्त यदि मिथ्याज्ञान को अथवा इसके कारण को ब्रह्म के साथ सयुक्त मानते हैं तो अद्वैतता विलुप्त हो जाती है। ब्रह्म की अविद्या कहां से आई? अन्य कोई है नहीं, क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। यदि यह कहा जाए कि यह ब्रह्म के लिए स्वाभाविक है तो प्रश्न उठता है कि अज्ञान उसके लिए स्वाभाविक कैसे हो सकता है जिसका स्वभाव ही ज्ञान है।" "किं भ्रान्तिज्ञानम्? किं वा भ्रान्तिज्ञानकारणभूतम्, वस्त्वन्तरम्? यदि भ्रान्तिः सा कस्य? न ब्रह्मणः, तस्य स्वच्छविद्यारूपत्वात् न हि भास्करे तिमिरस्यावकाशः सम्भवति, न जीवानाम्; तेषां ब्रह्मातिरेकेणाभावात्। भ्रान्त्यभावादेव च तत् कारणभूतं वस्त्वन्तरमप्यनुपपन्नमेव। ब्रह्मातिरेकेण भ्रान्तिज्ञानम्, तत् कारणं वाभ्युपगच्छताम् अद्वैतहानिः किं कृता च ब्रह्मणोऽविद्या, न हि कारणान्तरम् अस्ति। स्वाभाविकीति चेत् कथं विद्यास्वभावमविद्यास्वभावं स्यात्?" (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 313-4; और भी, पृष्ठ 113)।

कुमारिल अद्वैत के विरोध में इस प्रकार तर्क करता है, "यदि ब्रह्म स्वतः सिद्ध है और विशुद्ध रूप है और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं तो अविद्या के व्यापार को कौन उत्पन्न करता है जो कि स्वप्न के समान प्रतीत होती है? यदि तुम कहो कि कोई अन्य इसका कारण है और कि यह ब्रह्म से भिन्न है तब अद्वैत विलुप्त हो जाता है, यदि यह इसका स्वभाव होता तो इसका कभी नाश न होता।"

स्वयं च शुद्धरूपत्वात् असत्त्वाच्चान्यवस्तुनः,
स्वप्नादिवद् अविद्यायाः प्रवृत्तिः तस्य किंकृता।
अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे द्वैतवादः प्रसज्यते,
स्वाभाविकीम् अविद्यां तु नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति॥

(श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, 84—85)।

चाहिए।[1] इसके अतिरिक्त यदि अविद्या आत्मा का एक अनिवार्य गुण होता तो आत्मा इससे कभी छुटकारा न पा सकती किन्तु आत्मा न तो अपने अन्दर किसी वस्तु का समावेश होने देती है और न ही किसी भी वस्तु का त्याग करती है। यह किसी भी सान्त प्राणी से सम्बद्ध नहीं हो सकती चाहे वह ईश्वर हो या मनुष्य हो क्योंकि मनुष्य की अविद्या सम्भव बन सके इसके लिए पहले उसकी रचना होना आवश्यक है। इसलिए मनुष्य की रचना उसकी अपनी अथवा अन्य किसी की अविद्या के कारण नहीं हो सकती ब्रह्म का व्यक्तित्व भाव सीमित आत्माओं की उत्पत्ति अविद्या के कारण नहीं हो सकती जो सीमित जीवन का विशिष्ट लक्षण है। यह दवीय क्रिया की घटना है। परन्तु अविद्या तथा ब्रह्म का सह-अस्तित्व कैसे रह सकता है यह एक ऐसी समस्या है जिसका कोई समाधान हमारे पास नहीं है शकर कहते हैं हम स्वीकार करते है कि ब्रह्म अविद्या की उपज नहीं है अथवा स्वय भ्रात भी नहीं है किन्तु हम यह भी नहीं मानते कि अन्य कोई भ्रात चैतन्य युक्त प्राणी ब्रह्म के अतिरिक्त है जो अज्ञान का उत्पन्न करने वाला हो सकता है।[2] सक्षेपशारीरक के अनुसार भेदशून्य परम बुद्धि अविद्या का आश्रय तथा विषय है।[3] ड्यूसन कहता है यथार्थ मे केवल एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं यदि हम इस प्रकार की कल्पना कर कि हम इस जगत मे उसके विकार का प्रत्यक्ष करते हैं तो यह व्यक्तियो के अनेकत्व मे उसका भेद अविद्या के ऊपर आश्रित है। किन्तु यह होता कैसे है? हम क्योकर एक परिवतन तथा अनेकत्व को देखकर जबकि यथार्थ मे एकमात्र ब्रह्म ही सत है अपने को धोखा दे देते हैं? इस प्रश्न के ऊपर हमारे ग्रन्थकार कोई प्रकाश नहीं डालते?[4] वे कोई भी ज्ञान इस विषय मे इसलिए नहीं देते क्योंकि उक्त ज्ञान की सम्भावना जो नहीं है। समालोचको के पास आलोचना तयार है इस दर्शन मे जिसके मत मे सब कुछ अव्याख्येय है अयुक्तियुक्तता का स्थान आक्षेप के रूप में नहीं है।[5] यह सत्य है कि भ्रांति में डाल देनेवाली अविद्या की शक्ति की उत्पत्ति का कोई भी समाधान सम्भव नहीं है जो मिथ्याज्ञान की जनक है और जो मूलभूत तथा स्वयभू ब्रह्म का नित्य स्थायी तथा निष्पक्ष पवित्रता के रहते हुए भी किसी-न किसी प्रकार से लौकिक अस्तित्व मे प्रकट हो गई है।[6]

1 भगवद्गीता पर शाकरभाष्य 13 2

2 बृहदारण्यक उपनिषद पर शाकरभाष्य 1 4 10। लक्ष्मीधर अपने अद्वैत मकरन्द नामक ग्रन्थ म कहता है अविद्या किस प्रकार स्वत प्रकाश आत्मा को स्पर्श कर सकती है जिसके एकमात्र प्रकाश से यह उक्ति बनी है क्या मैं प्रकाश नहीं देता हू तो भी चैतन्य के आकाश म कुछ इस प्रकार का कुहरा प्रतीत होता है जो चिन्तन के अभाव स सजीव है और जब तक चिन्तन का सूर्य उदय नहीं होता बराबर बना रहता है (16 17)

3 1 319 आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।

4 ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त अग्रेजी अनुवाद पृष्ठ 302

5 पार्थसारथि मिश्र अज्ञानस्यानिर्वचनीयत्वादेवानुपपत्तिर्न दूषणम

6 सक्षेपशारीरक विवरण वेदान्त मुक्तावली अद्वैत सिद्धि और अद्वैतदीपिका के ग्रन्थकारो का मत है कि अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म है ठीक जिस प्रकार घर के अन्दर का अन्धकार घर का आवृत कर लेता है वाचस्पति के विचार मे अविद्या का आधार जीव है तथा विषय ब्रह्म है सक्षेपशारीरक के मत मे ईश्वर भी जीवभाव का उपज है और जितने जीव हैं उतने ही ईश्वर भी अवश्य होने चाहिए इसके अतिरिक्त अन्योन्याश्रय का सिद्धान्त भी है। जीव अविद्या का आश्रित है और अविद्या जीव के आश्रित है इस प्रकार यह कहा जाता है कि अविद्या का आधार ब्रह्म म है और ब्रह्म अविद्या के प्रतिकूल नहीं है विद्वन्मनोरञ्जनी का ग्रन्थकार इस प्रश्न पर विशेष रूप से अद्वैत सिद्धान्त के दृष्टिकोण से इस प्रकार विचार विमर्श करता है कि प्रगाढ स्वप्नरहित निद्रा (सुषुप्ति)

32. क्या जगत् एक भ्रांति है

अविद्या का सिद्धान्त अपने विषयिनिष्ठ भाव के साथ व्यावहारिक जगत् के स्वरूप के एक भ्रान्तिपूर्ण विचार का सुझाव देता है अर्थात् कि यह एक भ्रांति है जिसकी उत्पत्ति मन के अन्दर हुई है। शंकर बार बार प्रतीतिरूप जगत् के अनेकत्व का कारण, यहां तक कि ईश्वर का भी कारण, अविद्या को ही बताते हैं।[1] किन्तु ब्रह्म के स्वरूप के ऊपर अविद्या का कुछ प्रभाव नहीं होता, क्योंकि यह तो केवल हमारे अपूर्ण ज्ञान के कारण ऐसी प्रतीत होती है। केवल इसलिए कि चक्षु इन्द्रिय के दोष वाले को दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं; चन्द्रमा तो वस्तुतः दो नहीं हो जाते। "सम्पूर्ण लौकिक यथार्थसत्ता अपने नामों व रूपों सहित, जिसके लिए न तो हम सत् अथवा न असत् की परिभाषा का ही प्रयोग कर सकते हैं, अविद्या के ऊपर आश्रित है। किन्तु उच्चतम यथार्थसत्ता के अर्थों में सत् बिना किसी परिवर्तन अथवा परिणमन के अपनी सत्ता को स्थिर रखता है। एक ऐसा परिवर्तन जो केवल शब्दमात्र के ऊपर ही निर्भर करता है, यथार्थ सत्ता की अविभाज्यता (अखण्डता) में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता।"[2] सृष्टि रचना तथा ईश्वर की सीमितता सम्बन्धी समस्याओं का सामना होने पर शंकर कहते हैं: "जब 'तत्त्वमसि' के समान वाक्यों के द्वारा अभिन्नता की शिक्षा से अभिन्नता विषयक चेतना जाग्रत हो जाती है तब आत्मा के जन्म-जन्मान्तरों में भ्रमण तथा ईश्वर का सृष्टिरचनात्मक व्यापार सब बन्द हो जाते हैं; क्योंकि विभाजन के प्रति जगत् की समस्त प्रवृत्ति मिथ्याज्ञान से ही उत्पन्न होती है और निर्दोष सम्यग्ज्ञान से दूर हो जाती है। तब फिर सृष्टि रचना कहां से हुई है? और फिर केवल कल्याण ही को उत्पन्न न करने का उत्तरदायित्व कहां से आया? क्योंकि संसार, जिसका विशिष्ट लक्षण पुण्य तथा पापकर्मों का करना है, यह एक मिथ्या विचार है और यह अविद्या से उत्पन्न निर्णय में भेदभाव के लक्ष्य न करने से उत्पन्न होता है और नामों और रूपों से निर्मित क्रियाशीलता के साधनों के सम्भाल से बना है। और यह मिथ्याज्ञान यहां तक कि जन्म तथा मृत्यु के द्वारा विभाग और पार्थक्य के प्रति आसक्ति के समान भी परमार्थ रूप में कोई अस्तित्व नहीं रखता।"[3] इसके अतिरिक्त, "उस अनेकत्व के अंश से जो अविद्या से उत्पन्न होता और नामरूप जिसके विशिष्ट लक्षण हैं, जो विकसित भी है और अविकसित भी है और जिसको हम न तो विद्यमान ही कह सकते हैं और न अभावात्मक ही कह सकते हैं, इस सब परिवर्तनशील जगत् का आधार ब्रह्म ही है, किन्तु अपने सत्य और यथार्थस्वरूप में यह इस व्यावहारिक जगत् से परे अखण्ड रूप में रहता है।"[4] उक्त मत के ऊपर विशेष रूप से बल देने पर हमें यह सुझाव मिलता है कि व्यक्ति की अविद्या के अतिरिक्त अनेकत्व का नितान्त अभाव है।

की अवस्था में जीवात्मा ब्रह्म के अन्दर लीन हो जाता है, और अपना मत इस प्रकार प्रकट करता है कि यदि अविद्या के अस्तित्व को निश्चित रूप से माना जाए तो यह केवल ब्रह्म में ही रह सकती है। देखें, 'पण्डित', सितम्बर 1872। शुद्ध चैतन्य अविद्या का विरोधी नहीं है किन्तु केवल वृत्तिचैतन्य है। जिस प्रकार विद्यारण्य इसका प्रतिपादन करता है, अन्तःकरण के परिवर्तन द्वारा, जो आत्मा का रूप धारण कर लेता है, अविद्या का आत्मा के अन्दर प्रत्याहरण हो जाता है।

1 एकत्वं पारमार्थिकम्, मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम् (शांकरभाष्य, 2 : 1, 14)।

2 तुलना करें, शांकरभाष्य, 2 : 1, 31 ; 2 : 1, 14 ; 2 : 3, 46 ; 2 : 1, 27।

3 और भी तुलना करें, अविद्याकृत कार्यप्रपञ्चम्—अर्थात् कार्यरूप विश्व अविद्या की उपज है (शांकरभाष्य, 1 : 3, 1)।

4 शांकरभाष्य, 2 : 1, 27।

सब प्रकार का परिवर्तन और गति, समस्त उत्पत्ति तथा विकास, समस्त विज्ञान तथा कल्पना, केवल स्वप्नरूप और छाया मात्र ही ठहरते हैं इसके अतिरिक्त और कुछ नही। ब्रह्म को जगत् का कारण बताने का जो समाधान है उससे सन्देह की पुष्टि ही होती है। यह प्रदर्शित करने की आतुरता के कारण कि जगत् मे जितने भी परिवर्तन होते ह ब्रह्म उन सबसे अछूता रहता है,[1] शकर कहते हैं कि ब्रह्म से जगत् का अध्यास[2] होता है, जैसे कि रस्सी मे साप का। "अधेरे मे एक मनुष्य एक रस्सी के टुकडे को भूल से साप मान कर भय के मारे कापता हुआ उससे दूर भागता है। इस पर दूसरा मनुष्य बतला सकता है, 'डरो मत यह केवल एक रस्सी है, साँप नही है,' और तब वह काल्पनिक साप से उत्पन्न हुए भय को त्याग देता है और भागना बन्द कर देता है। किन्तु इस समय मे बराबर उस मनुष्य को भ्राति से उत्पन्न रस्सी को साप समझ लेने के भाव से तथा फिर उस भाव के दूर हो जाने से रस्सी का अपने मे कुछ बनता-बिगडता नही है।"[3] तारे वस्तुत टिमटिमाते नही यद्यपि हमे ऐसे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकाश को वे तारे छोडते हैं वह बिलकुल स्थिर है, यद्यपि पृथ्वी के वायुमण्डल में जो विक्षोभ होते है और जिनके मध्य से होकर वह प्रकाश आता है, वे हमारी दृष्टि को इस प्रकार से प्रभावित करते हैं जिससे तारे निरन्तर टिमटिमाते हुए से प्रतीत होते हैं। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म के अन्दर अस्थिरता का सादृश्य भी मन का एक भ्रम है और यह हमारी विकृत दृष्टि के कारण होता है।[4] शकर के दिए हुए कुछेक दृष्टान्तो की जब हम शाब्दिक व्याख्या करते हैं तो हमे यह प्रतीत होता है कि सब प्रकार का भेद मानवीय कल्पना के द्वारा उत्पन्न मृगतृष्णिका मात्र है। सब प्रकार के भेद मानवीय विचार को समझाने के लिए हैं, जो एक त्रिपार्श्व काच की भाति विशुद्ध एकत्व को भिन्नता के रूप मे विभक्त कर देता है, जबकि, यथार्थ मे विविधता तथा उसका ज्ञान प्राप्त करने वाला मन दोनो ही अयथार्थ हैं। किन्तु इन सब रूपकालकारपरक दृष्टान्तो पर सीमा से अधिक बल देना भूल है और शकर आग्रहपूर्वक कहते है कि इन दृष्टान्तो का प्रयोग केवल कुछ समानताओ को प्रस्तुत करने के लिए ही किया है न कि सर्वथा तादात्म्यभाव दर्शाने के लिए।[5]

अनेक अर्वाचीन वेदान्तियो ने जगत् की विषयिनिष्ठ व्याख्या को अगीकार किया है। वाचस्पति का मत है कि अविद्या का सम्बन्ध प्रमाता, अर्थात विषयी, के साथ है और यह अविद्या आख के ऊपर आई हुई झिल्ली के समान विषय के स्वरूप को आवृत कर देती है।[6] मधुसूदन सरस्वती के मत म अज्ञान इस भ्रातिमय जगत् का कारण है और इसी अज्ञान के कारण हम ब्रह्म को इस जगत्

1 शाकरभाष्य 2 1 28 2 1, 9।

2 अध्यारोपितम्।

3 शाकरभाष्य 1 4 6। और भी देखें कठ उपनिषद् पर शाकरभाष्य, 3 14 4 11।

4 शाकरभाष्य 2 3 46।

5 शाकरभाष्य 3 21 17 19।

6 जीवाश्रय ब्रह्मविषयम। वह समझता है कि ब्रह्म के ऊपर जो भिन्न भिन्न रूप अध्यस्त किए जाते हैं वे अन्त करण के परिवर्तनों के कारण हैं और इस प्रकार परिवर्तना तथा उनके विषयो के अस्तित्व को स्वीकार करना होता है।

का उपादान कारण समझते हैं।[1] "इस प्रतीयमान विश्व का मूल चित्त के अन्दर है और चित्त के विलुप्त हो जाने पर इसका भी अस्तित्व नष्ट हो जाता है।"[2] चित्सुखी, अद्वैतसिद्धान्तमुक्तावली, और योगवासिष्ठ प्रबल आत्मवाद का आश्रय लेते हुए बलपूर्वक कहते हैं कि हमारा चैतन्य ही जगत् की उत्पत्ति करता है, और इसलिए विषयी-विषय-सम्बन्धी चैतन्य के विलोप होने के साथ ही यह असत् के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[3]

यदि पाश्चात्य समालोचकों ने जगत् के अद्वैत सिद्धान्त के विषय में इसी प्रकार के मत को स्वीकार किया तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। एडवर्ड केयर्ड के मत में जगत् विषयक ऐसी ही व्याख्या थी जब उसने लिखा : "ब्राह्मण धर्म केवल बहुदेवतावाद तक ही बढ़ा जो कि जगद्भिन्नत्ववादी था और उससे एकत्व की ओर बढ़ा जो कि वस्तुओं के अनेक भेदों की व्यवस्था का सिद्धान्त नहीं था, किन्तु एकमात्र एक प्रकार की खाई थी जिसके अन्दर समस्त भेद नष्ट हो जाता था।"[4] चूंकि यह मत, जो जीवन को एक दुःखान्त परिहास बनाता है, आनुभविक जगत् के विषय में किए गए शंकर के अनेक कथनों को निरर्थक कर देता है और प्रत्येक निर्दोष व्याख्या के विधान के साथ प्रतिद्वन्द्विता करता है, इसलिए हम यहां कुछेक विचारों को एकत्र कर सकते हैं जो जगत् के भ्रांतिमय स्वरूप के विरुद्ध व्यावहारिक रूप का समर्थन करते हैं।

अविद्या अपने-आपमें जगत् का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि यह सांख्य के 'प्रधान' के समान ही जड़ है। शंकर से जिन्होंने कि सांख्य के उक्त मत की समालोचना की है, यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अविद्या से जगत् की रचना-सम्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन करेंगे। हमें अपने मन में इस विषय पर भी ध्यान रखना होगा कि शंकर ने बौद्ध मत की कारण-कार्यसम्बन्धी शृंखला की भी समालोचना की है, जो अविद्या को लेकर ही चलती है। "अविद्या चैतन्यरूप विषयी की मानसिक कल्पित वस्तु है। बारह कड़ी वाली कारणकार्य की शृंखला में यह सबसे प्रथम कड़ी है जिसे अन्त में जाकर

1 अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यद् उपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते॥

(अद्वैत सिद्धि, पृष्ठ 238)।

2 चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन (विवेकचूडामणि, पृष्ठ 407)।

3 और भी देखें, सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, 12 : 17 19। दृष्टिसृष्टिवाद, जिसका मत है कि जगत् का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि यह दृष्टिगोचर होता है, इसे ही योगवासिष्ठ ने भी माना है :

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

समस्त चराचर जगत् मन का विषय है; इसके दमन से सारा द्वैत दिखाई देना बन्द हो जाता है। देखें, योगवासिष्ठसार जीवन्मुक्ति-सम्बन्धी अध्याय। संक्षेपशारीरक से भी तुलना करें : "तव चित्प्रदमतमसा अजित परिकल्पयत्यखिलम् एव जगत्।" नृसिंहतापनी उपनिषद्, "चिदीदं सर्वम्" (2 1, 7)।

तस्मादज्ञानम् एवास्ति न प्रपञ्चो न संसृति, (लिंगपुराण, सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 42, में उद्धृत)। ये ही वे हैं जो विज्ञानभिक्षु के इस कथन के औचित्य का समर्थन करते हैं : "एतेनाधुनिकानां वेदान्तिब्रुवाणाम् अपि मतं विज्ञानवादतुल्ययोगक्षेमतया निरस्तम्" (सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 43)।

4 'एवोल्यूशन आफ रिलीजन', खण्ड 1, पृष्ठ 263। अन्य पाश्चात्य लेखकों की समालोचना के लिए देखें, कौलिकार : 'स्टडीज इन वेदान्त', अध्याय 2।

मन और देह का स्वत सिद्ध पुञ्जरूप मान ही लेना होता है, नि सन्देह बिना इस विषय का प्रतिपादन किए कि ये एक दूसरे के साथ किस प्रकार सयुक्त होते है।"[1] शकर इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर देते हैं कि किसीका भी अस्तित्व नही है न प्रकृति का और न मन का, अर्थात् 'शून्यवाद'।[2] इसी प्रकार वे क्षणिकवाद को भी अस्वीकार करते हैं।[3] बौद्धधर्म के 'विज्ञानवाद' का खण्डन विचारशील विषयी के लिए जगत् की बाह्यता के प्रश्न पर निश्चयात्मक है। जीवन हमारी मानसिक वृत्तियो के ऊपर निर्भर नही करता। जब जगत् को ज्ञानस्वरूप कहा जाता है तो यह अध्यात्मज्ञान-सम्बन्धी सत्य का प्रतिपादन है। इसी प्रकार से शकर जाग्रतावस्था के अनुभव को स्वप्नावस्था के अनुभव के स्तर पर गिरा देने के समस्त प्रयत्नो को भी अस्वीकार कर देते हैं।[4] वे यह नही मानते कि यह जगत केवल अविद्या की उपज है। शकर के दर्शन मे अविद्या केवलमात्र अधिकरण-निष्ठ शक्ति न रहकर एक विषयरूपी यथार्थता रखती है।[5] यह समस्त भौतिक ससार ('पृथिव्यादि प्रपञ्च') का कारण है जो सबके लिए एक समान 'सर्वसाधारण' है। अविद्या का स्वरूप विध्यात्मक है, यह एक विषयरूप शक्ति है जो अनादि है[6] और स्थूल तथा सूक्ष्म दोनो रूप मे रहती है।[7] क्रियात्मक रूप मे अविद्या, माया और प्रकृति सब एक है।[8]

शकर तर्क करते हैं कि ब्रह्म की सर्वोपरि यथार्थता जगत् का आधार है। यदि ब्रह्म जगत् से सर्वथा भिन्न होता, यदि आत्मा जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था तथा निद्रितावस्थाओ से भिन्न होती तब जगत् की यथार्थता अथवा तीनो अवस्थाओ का खण्डन हमे सत्य की प्राप्ति की ओर न ले जा सकता। उस अवस्था मे हमे शून्यवाद को ही अपनाना होगा और समस्त शिक्षा को निष्प्रयोजन मानना होगा।[9] भ्रातिरूप साप की उत्पत्ति शून्य से नही होती और जब भ्राति का सुधार हो जाता है तो यह भी नही होता कि वह शून्य हो जाता हो। भ्राति का मूल तार्किक है, और मनोवैज्ञानिक है किन्तु आध्यात्मिक नही है। अनेकत्व रूप विश्व निर्णय की भूल के कारण है। भूल-सुधार का अर्थ है मत-परिवर्तन। रस्सी साप के समान प्रतीत होती है और जब भ्राति का अन्त हो जाता है तो भ्रातिरूप साप रस्सी के असली रूप मे लौट आता है। इसी प्रकार आनुभविक जगत्

1 शाकरभाष्य, 2 2, 19।

2 शाकरभाष्य, 2 2, 31।

3 शाकरभाष्य, 2 2, 18 21 और 26।

4 आधुनिक वेदान्ती इस प्रकार लिखते हैं मानो दोनो के बीच कोई भेद न हो। स्वयप्रकाश अपनी लक्ष्मीधर के 'अद्वैत मकरन्द' पर की गई अपनी टीका मे कहता है जिस प्रकार स्वप्नजगत् मेरे अन्दर भ्रान्ति के द्वारा आगे बढता है इसी प्रकार जाग्रत जगत् मेरे अन्दर भ्रान्ति का उत्पन्न किया हुआ है।' देखें, 'पण्डित', अक्तूबर 1873, पृष्ठ 128।

5 एक प्रसिद्ध श्लोक मे, जिसे 'सिद्धान्तरत्नमाला' मे उदधृत किया गया है कहा गया है—आत्मा ईश्वर विशुद्ध चैतन्य, प्रथम दो का परस्पर भेद अविद्या तथा इसका विशुद्ध चैतन्य के साथ सम्बन्ध—ये हमारे छ पदार्थ अनादि कहे गए हैं।"

जीव ईशो विशुद्धा चित विभागश्च तयोर्द्वयो।
अविद्या तच्चितोर्योग षडस्माकमनादय॥

6 अनादि भावरूप यद विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षण सम्प्रचक्षते॥ (चित्सुखी 1 13)।

7 आत्मन्यविद्या सानादि स्थूलसूक्ष्मात्मना स्थिता (सर्वसिद्धान्तसारसग्रह, 12 19)।

8 तुलना करें, लोकाचार्य तत्त्वत्रय, पृष्ठ 48, चौखम्भा ग्रन्थमाला आवृत्ति।

9 यदि हि व्यवस्थात्रयविलक्षण तुरीयम अन्यत तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावात शास्त्रोपदेशानर्थक्य शून्यतापत्तिर्वा (माण्डूक्योपनिषद पर शाकरभाष्य 2 7)।

का ब्रह्म के अन्तर्ज्ञान में रूप परिवर्तन हो जाता है। शंकर ने जगत् का निराकरण नहीं किया किन्तु उसकी नए सिरे से व्याख्या की है। जीवन्मुक्ति का विचार, क्रममुक्ति का विचार, योग्यताओं में परस्पर भेद, सत्य तथा भ्रांति में भेद, पुण्य तथा पाप में भेद, आनुभविक जगत् के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति—ये सब इस विषय का संकेत करते हैं कि इन प्रतीतियों के अन्दर यथार्थसत्ता है। ब्रह्म जगत् के अन्दर है, यद्यपि वह जगत् का रूप नहीं है। यदि यह आनुभविक जगत् मायारूप होता और ब्रह्म से असम्बद्ध होता तो प्रेम, ज्ञान, और त्यागभाव आदि हमें उन्नत जीवन के लिए तैयार न कर सकते। चूंकि शंकर के मत में हम पुण्य आचरण के द्वारा निरपेक्ष परब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते हैं, इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि वे इसके महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। जगत् अयथार्थ है, किन्तु मायारूप नहीं है। जीव केवलमात्र अभावात्मक वस्तु नहीं है क्योंकि केवल मिथ्यात्व के निराकरण से ही मोक्ष प्राप्त होता है और वह मिथ्यात्व आत्मा के स्वरूप के प्रतिकूल है। जैसा कि विद्यारण्य कहता है : "यदि समस्त जीवात्मा शून्य रूप होता तो मोक्ष से मनुष्यों का उपकार न होता।"

यदि ब्रह्म का अस्तित्व न होता तो न तो व्यावहारिक प्राणी ही होता और न भ्रांति ही होती। जैसा शंकर कहते हैं "एक वन्ध्या स्त्री किसी बच्चे को जन्म नहीं दे सकती, न तो यथार्थ में और न भ्रांति में ही"[1] यदि जगत् को निराधार माना जाए, अर्थात् जिसका मूल यथार्थसत्ता के अन्दर नहीं है, अथवा इसकी उत्पत्ति असत् से है तब हमें यथार्थतामात्र का ही खण्डन करना पड़ेगा, यहां तक कि ब्रह्म की यथार्थता का भी।[2] जगत् का आधार (आस्पद) यथार्थ है क्योंकि "मृगतृष्णिका भी तो बिना आधार के नहीं होती"[3] उस प्रकार का स्वप्न जिसे ईश्वर बनाता है और जिसका तत्त्व ईश्वर है, स्वप्न ही हो नहीं सकता।[4] यदि हम इस जगत् के द्वारा यथार्थ के अन्दर प्रवेश पा सकते हैं तो इसका कारण यह है कि इस आनुभविक जगत् में यथार्थसत्ता के चिह्न मिलते हैं। यदि दोनों परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें आपस में यथार्थ तथा आभास के सम्बन्ध रखने वाले भी नहीं माना जा सकता। यह जगत् निरपेक्ष ब्रह्म नहीं है, यद्यपि उसके ऊपर आश्रित है। जिसका आधार तो यथार्थ हो किन्तु जो स्वयं यथार्थ न हो उसे यथार्थ का आभास अथवा व्यावहारिक रूप ही तो कहा जाएगा। यह जगत् ब्रह्म का अनिवार्य सत्य तो नहीं है किन्तु प्रतीतिरूप सत्य है और यही वह एक प्रकार है कि जिसमें हम इसे सीमित अनुभव के क्षेत्र में यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए मानने को विवश हैं। किन्तु इस

1 गौडपाद की कारिका पर शांकरभाष्य, 1 : 6, और भी देखें, 3 : 28।

2 यदि ह्रसताम् एव जन्म स्याद् ब्रह्मणोऽसत्त्वप्रसंगः।

3 नहि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति (भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, 13 : 14)। और भी देखें, छान्दोग्य उपनिषद् पर शांकरभाष्य, 6 : 2, 3 ; माण्डूक्योपनिषद् पर, 1 : 7।

4 परवर्ती वेदान्त में स्वप्न के साथ जगत् की उपमा इतने अधिक विस्तृत रूप में दी गई है कि इसका विच्छेद होने लगता है। 'अद्वैतमकरन्द' कहता है : "इस अनिदीर्घ स्वप्न में, जो जगत् के रूप में है और जिसका विस्तार आत्मविषयक अज्ञान की गहरी निद्रा तक पहुंचा हुआ है, स्वर्ग तथा मोक्ष आदि की झांकियां भी चमक उठती हैं।"

आत्मातत्त्वप्रज्ञानिद्राजृम्भितेऽस्मिन् जगन्मये।
दीर्घस्वप्ने स्फुरन्त्येते स्वर्गमोक्षादिविभ्रमाः॥ (18)

सबसे इस जगत् की क्रियात्मक यथार्थता के प्रश्न का जरा भी प्रतिपादन नही होता।[1]

मोक्ष के सम्बन्ध मे जो शकर का मत है वह जगत् विषयक उक्त मत को पुष्ट करता है। वे बलपूर्वक कहते है कि मोक्ष का अर्थ जगत् का तिरोभाव नही है, क्योकि यदि ऐसा होता तो जब मोक्ष की सबसे प्रथम प्राप्ति होती तभी जगत् को विलुप्त हो जाना चाहिए था। यदि मोक्ष मे अनेकत्व का विलोप सम्मिलित हो तो इसका ज्ञान प्राप्त करने का उचित मार्ग विद्या मे अविद्या को दूर करना नही किन्तु जगत् का ही विनाश है।[2] शकर जीवन्मुक्ति (अर्थात् मोक्ष की उस अवस्था मे जिसमे मुक्तात्मा जीवित रहता है) तथा विदेहमुक्ति (अर्थात् ऐसी मुक्ति मे जिसमे कि मुक्त पुरुष देह त्याग कर देता है) मे भेद करते है। देह की उपस्थिति से मोक्ष की अवस्था मे कोई अन्तर नही आता, जो तात्त्विक रूप से ऐसी अवस्था है जिसमे शारीरिक बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। अनेकत्व की विद्यमानता अथवा विनाश से मोक्ष की अवस्था का कोई सम्बन्ध नही है, किन्तु यदि द्वैतपरक विश्व हमे पथभ्रष्ट करना छोड दे तो मोक्ष की अवस्था प्राप्त हो सकती है। जीवन्मुक्त पुरुष के लिए यह प्रकट है कि द्वैतभावयुक्त जगत्, जिसमे उसका अपना शरीर भी समाविष्ट है, नष्ट नही होता, किन्तु इस विषय मे उसका दृष्टिकोण सम्यक् रूप मे आ जाता है। मोक्ष की अवस्था मे द्वैतरूप जगत् का तिरोभाव नही होता, वरन् वह अन्य प्रकार के प्रकाश से प्रकाशित होता है। कामना से उत्पन्न अज्ञानता का भाव उक्त अवस्था मे नही रह जाता, क्योकि यह अज्ञानता ही है जिसके कारण उसके अभागे शिकार ससार की शृ खला मे ऐसी वस्तु की खोज मे व्यर्थ ही मारे-मारे फिरते है जो ससार मे मिल नही सकती। आत्मा तथा ब्रह्म की एकता के सत्य का बोध हो जाने पर आत्माओ तथा उनके विषयो (प्रमेय पदार्थो) के स्वातन्त्र्य सम्बन्धी मिथ्या विचार तथा उनकी क्रियाओ का उच्छेद हो जाता है।[3] अविद्या को कल्पनामात्र न कहकर यथार्थता एव आभास के मध्य भेद (विवेक) करने की शक्ति का अभाव समझना चाहिए। शकर को इस प्रकट तथ्य के विरुद्ध तो कुछ कहना नही है कि हमे अपने विषय मे ऐसा प्रतीत होता है कि हम ही जानने, अनुभव करने तथा इच्छा करनेवाले व्यक्ति है, किन्तु ऐसे तथ्यो के आधार पर निर्मित प्रकल्पना का वे निराकरण करते है कि परिमित शक्ति वाली आत्माएँ यथार्थ विषयी हैं और उन्हे जो होना चाहिए वही है। यथार्थ आभास को भी मान लेता है। आभासो का सम्बन्ध यथार्थसत्ता के साथ है। अद्वैतवाद जिस अनन्यत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है उसके द्वारा प्रस्तुत सत्य यही है। रामानुज इसकी समीक्षा इस प्रकार से करता है "यह निश्चित है कि जो लोग यह मानते है कि कार्य कारण से भिन्न नही होता, इस आधार पर कि कार्य अयथार्थ है, वे

1 जो कुछ बकले एक अन्य प्रसग मे कहता है वह शकर के विषय मे भी ठीक लागू होता है "इसलिए सूर्य, चन्द्र तथा तारो का क्या होता है? और फिर हम मकानो, नदियो, पर्वतो, वृक्षो, पत्थरो अपितु यहा तक कि अपने शरीरो के विषय मे भी क्या समझे? क्या ये सब केवलमात्र किसी मनमौजी की कपोल कल्पनाए तथा भ्रातिया हैं? मेरा उत्तर यह है कि पूर्वकथित तथ्यो के सिद्धान्त के अनुसार उस प्रकृति के किसी भी एक पदार्थ से वचित नही होते। हम जो कुछ देखते, स्पर्श करते, सुनते अथवा किसी भी प्रकार सोचते और समझते हैं वह बराबर सुरक्षित रहता है और सदा के लिए यथार्थ है। इस जगत मे एक प्राकृतिक अस्तित्व है और यथार्थसत्ताओ तथा कपोल-कल्पनाओ के मध्य का भेद अपनी पूरी शक्ति को स्थिर रखता है।" ('प्रिंसिपल्स आफ ह्यूमन नॉलिज', पृष्ठ 34)।

2 शाकरभाष्य, 3 . 2, 21।

3 ब्रह्मात्मदर्शिना प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम् (शाकरभाष्य 2 1, 14)।

जिस अभेद की स्थापना के लिए प्रयत्न करते हैं, उसे सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि सत्यरूप सत्ता तथा मिथ्यात्व के अन्दर कभी तादात्म्य नहीं हो सकता। क्योंकि यदि हो सके, जैसाकि ये मानते है, तो या तो ब्रह्म अयथार्थ होगा अथवा यह जगत् ही यथार्थ होगा।"[1] अद्वैतवादी यह नहीं मानता कि समस्त परिवर्तनों से रहित ब्रह्म अपने यथार्थ रूप में तथा परिवर्तनशील जगत् एक हैं। और न ही उसका सुझाव यह है कि वह ब्रह्म जो परिवर्तनशील जगत् को धारण करता है स्वयं में भी वैसा ही अयथार्थ है जैसा कि जगत् अयथार्थ है। उसका मत है कि व्यावहारिक प्रतीतिरूप जगत् अयथार्थ है, अर्थात् ब्रह्म से भिन्न *उसका यथार्थ अस्तित्व नहीं है। शंकर की व्याख्या में अनन्यत्व का तात्पर्य अभेद है अर्थात्* ऐसी एक वस्तु जो अपने कारण से भिन्न है।[2] वाचस्पति अपनी भामती टीका में इसको इस प्रकार और अधिक स्पष्ट कर देता है कि अभेद तादात्म्य का पक्षपोषण नहीं करता किन्तु केवल भेदभाव का निराकरण करता है।[3] कारणकार्यभाव के प्रश्न पर विवाद करते हुए तथा इसके आध्यात्मिक सत्य, अर्थात् तादात्म्य, पर भी विचार करते हुए शंकर कहते है कि कार्य कारण के समान है किन्तु कारण कार्य के समान नहीं है।[4] जहां एक ओर 'एकत्व' में सब प्रकार के भेद तथा विलक्षणताएं आत्मसात् हो जाती हैं, अद्वैतवाद में सापेक्ष तथा निरपेक्ष के मध्य का अन्तर एक सर्वग्राही निश्चयात्मक घोषणा के द्वारा नष्ट हो जाता है। उपनिषद् के इस वाक्य की व्याख्या कि मिट्टी के रूपान्तरों के पीछे *मिट्टी यथार्थ वस्तु है, शंकर के अनुसार इस सत्य की पुष्टि करता है कि यह जगत् तात्त्विकरूप में ब्रह्म है और ब्रह्म के ऊपर आश्रित है।* जिस किसी स्थान पर वे कार्यों की *यथार्थता का निराकरण करते हैं वहां वे अपने निराकरण में इस प्रकार की उपाधि का प्रयोग करते हैं, जैसे 'ब्रह्म से भिन्न' अथवा 'कारण से भिन्न',[5] वे कहीं भी यह नहीं कहते कि हमारा जीवन यौगिक अर्थों में एक स्वप्न है और यह कि हमारा ज्ञान एक मिथ्याभास है।*

चूंकि शंकर एक मूर्तरूप परम वस्तु के विचार को अमान्य ठहराते हैं इसलिए यह समझा जाता है कि वे जगत् को भी निष्प्रयोजन कहकर उसका निराकरण करते है। शंकर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म, जिसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं और न उसके *अनाश्रित कुछ है, एक अमूर्तरूप एकत्व प्रतीत होता है, यह एक इस प्रकार की शेर की* गुफा है जिसके अन्दर जो भी प्रविष्ट होता है वह खो जाता है। शंकर का मत है कि हम ब्रह्म तथा जगत् के मध्यवर्ती सम्बन्ध की तार्किक विधि से व्याख्या नहीं कर सकते। किन्तु उनका आग्रह उतना ही प्रबल है जितना कि एक मूर्त व्यापक की कल्पना के किसी समर्थक का हो सकता है, कि परम यथार्थसत्ता से पृथक् अन्य कुछ भी यथार्थ नहीं है। यद्यपि जगत् और ब्रह्म एक सम्पूर्ण इकाई में एक-दूसरे के पूरक अवयव नहीं माने गए हैं तो वे परमार्थरूप में परस्पर एक-दूसरे के प्रतिकूल भी नहीं हैं। और फिर भी बड़े-बड़े

1 ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, 2 : 1, 15 , 1, 19।

2 तद्व्यतिरेकेणाभाव: (शांकरभाष्य, 2 : 1, 14)।

3 न खल्वनन्यत्वमित्यभेद ब्रूम किन्तु भेद व्यासेधाम (भामती, 2 . 1, 14)। उसी भाव में टीकाकार कहता है "यह जगत् ब्रह्म के साथ तद्रूप नहीं है, केवलमात्र यह अपने अधिष्ठानरूप कारण से पृथक् अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता।" "कारणात् पृथक् सत्ताशून्यत्वं साध्यते न त्वैक्याभिप्रायेण।"

4 शांकरभाष्य, 2 : 1, 7।

5 *ब्रह्मव्यतिरेकेण अथवा कारणव्यतिरेकेण (शांकरभाष्य, 2 : 2, 3 ; 2 : 1, 14, और* गौडपाद की कारिका, 1 : 6)।

विद्वान् तुरन्त इस परिणाम पर पहुच जाते हैं।[1] शकर का यह मत कि यथार्थता तथा आभास का सम्बन्ध हम परिमित शक्तिवालो के लिए एक समस्या रहेगा, विचार की महत्तर पूर्णता का परिणाम है। हम मानवीय ज्ञान को भ्रान्तिरूप कहकर दूषित नही ठहरा सकते, यदि यह उस आवरण को जो समस्त परमार्थरूप क्रियाओ को ढके हुए ह हटाने मे समर्थ नही होता।

प्रश्न यह है कि क्या वे आभास जिनसे परे हम सत्यरूप यथार्थ के दर्शन करते है यथार्थमत्ता की वास्तविक अवस्थाए हैं, भले ही वे एक उत्पन्न तथा गौणरूप सत्ता ही क्यो न हो, अथवा वे केवल ऐसे विचार हैं कि जिनसे मानव का सीमित मन सत्य स्वरूप यथार्थसत्ता का उसके अपने स्वरूप के अनुसार विचार वन सकता है ? दूसरे शब्दो मे क्या सापेक्ष सत् मूलभूत यथार्थसत्ता का एक सत्य रूपान्तर है अथवा क्या यह मानव की सीमित बोधग्रहण शक्ति के द्वारा किया गया यथार्थ सत् का एक विपर्यास मात्र है ? इनमे से प्रथम प्रकार का मत रामानुज का है जो हेगल की प्रकल्पना से मिलता है अर्थात् जैसा कि हेगल मानता है कि यह सापेक्ष जगत् निरपेक्ष परब्रह्म की यथार्थ आत्माभिव्यक्ति हे। स्पिनोजा के दर्शन का यह विचार इसी स्थिति को स्वीकार करता ह।[2] दूसरे प्रकार का मत योगाचार सम्प्रदाय के अनुयायी बौद्ध लोगो का भी है जो, काण्ट के सदृश और अधिक पूर्णरूप मे शोपनहावर के समान, व्यावहारिक जगत् को चैतन्य के अन्तर्गत एक विषयिनिष्ठ आभास के रूप मे मानते हैं। और जिसे कि देशकाल तथा कारण कार्य-सम्बन्ध की श्रेणियो मे आकृति का रूप दे दिया गया है। शकर के दर्शन मे ऐसे स्थल आए हैं जिनसे हमे ऐसा विचार मिलता है कि उनका झुकाव जगत् को प्रामाणिक यथार्थ सत्ता का मानव के द्वारा प्रस्तुत रूप ही मानने की ओर है, किन्तु अन्य ऐसे भी स्थल है जहा वे इस आनुभाविक जगत् को विषयनिष्ठ रूप तथा सीमित व्यक्ति के अनाश्रित रूप मे प्रतिपादन करने मे भी प्रवृत्त प्रतीत होते हैं। शकर की स्थिति को समझने के लिए अविद्या का माया के साथ क्या सम्बन्ध है इसे समझ लेना चाहिए।

33. माया और अविद्या

जब हम विषय पक्ष के दृष्टिकोण से समस्या का निरीक्षण करते हैं तो हम 'माया' शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु विषयी पक्ष की दृष्टि से निरीक्षण करने पर उसी वस्तु के लिए हम 'अविद्या' शब्द का व्यवहार करते है।[3] ठीक जिस प्रकार ब्रह्म और आत्मा एक हैं इसी प्रकार माया और अविद्या एक ही हैं। जो वस्तुत एक है उसे अनेकरूप मानकर

1 ड्यूसन की व्याख्या प्रसिद्ध है। मैक्समूलर कहता है "ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि मे जिसने यथार्थ वेदान्त दर्शन के ढाचे को भली प्रकार से समझ लिया है, यह सर्वथा स्पष्ट है, जैसा कि मैंने भी यहा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि इसके अन्दर वस्तुत मनोविज्ञान, अथवा विश्वविज्ञान किंवा नीतिशास्त्र के लिए भी कोई स्थान नही है' (सिक्स सिस्टम्स आफ इडियन फिलासफी , पृष्ठ 170)।

2 पण्डित कोकिलेश्वरशास्त्री का कहना है कि शकर का भी इसी प्रकार का मत है। देखें, उनकी पुस्तक 'अद्वैत फिलासफी'।

3 "माया शब्द का व्यवहार हम तब करते हैं जब हमारी दृष्टि मे इसकी असाधारण कार्यों को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है तथा यह कर्ता की इच्छा के अधीन रहती है। दूसरी ओर अविद्या शब्द का व्यवहार तब करते हैं जब हमारे मन मे इसकी आवरण कर लेने की शक्ति तथा स्वतन्त्रता का भाव रहता है" (विवरणप्रमेयसग्रह, 1 1 , 'इण्डियन थॉट' खण्ड, 1 पृष्ठ 280)।

देखने की जो मानवीय मस्तिष्क की प्रवृत्ति है यही अविद्या है और यह सब व्यक्तियों मे एक समान पाई जाती है। क्योंकि जब शंकर अविद्या के विषय मे कुछ कहते हैं तो उनसे यह आशय नही होता कि वह किसी व्यक्ति विशेष की अविद्या है। यह एक व्यक्तित्व-विहीन ऐसी शक्ति है जो हमारे व्यक्तिगत चैतन्यो के साथ संयुक्त हो जाती है यद्यपि यह उनसे ऊपर भी उठती है। क्योंकि ज्ञान सम्पादन का हमारा यन्त्र ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध मे काम करता है जिनकी रचना पहले से हो चुकी है एव जिनका हम प्रत्यक्ष ज्ञान तो प्राप्त करते हैं किन्तु जिनका निर्माण हम नही करते। इस जगत् को ईश्वर ने उस व्यवस्था के अनुसार बनाया है जिसका विवरण श्रुति मे है और जिसे हम भी देखते हैं।[1] माया के दोनो ही रूप हैं अर्थात् विषयिनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ एवं व्यक्तिगत तथा व्यापक। यह वह वस्तु है जिसके अन्दर से बुद्धि तथा विषयनिष्ठ जीवन के सोपाधिक रूप की उत्पत्ति होती है। यदि वह शक्ति जिसके कारण यह कृत्रिम जगत् अपने को यथार्थरूप मे प्रस्तुत करता है, केवल विषयिनिष्ठ हो तो यह केवल कल्पनामात्र है और गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इसे जगत् का उपादान कारण नही माना जा सकता। उस अवस्था मे यह कुछ-कुछ सांख्य की प्रकृति के समान होगी और ऐसी अवस्था मे यह केवल वैयक्तिक अज्ञान का रूप नही हो सकती। व्यक्तिगत अविद्या तथा ब्रह्म की प्रकृति दोनो एकसाथ उत्पन्न होते हैं। इनमें से किसी एक का भी विचार दूसरे से पृथक् रूप मे नही किया जा सकता और इस प्रकार अविद्या भी परमसत्ता के ऊपर आश्रित है।[2] लौकिक आत्मा तथा व्यावहारिक जगत् परस्पर निहित तथ्य हैं।[3] अविद्या और प्रकृति दोनो एक समान नित्य हैं और आनुभाविक जगत् से सम्बद्ध हैं।[4] यथार्थता का देश, काल और कारणकार्य-सम्बन्धी रूप हमें अविद्या से ही मिला है और एक इस प्रकार के जगत् को हमारे आगे प्रस्तुत करने के प्रयोजन की अनुकूलता अविद्या मे है। शंकर न तो मानसिकवाद मे और न भौतिकवाद में ही फसते हैं। हम यह नही कह सकते कि प्रकृति हमारे चैतन्य का गोचर विषय है और न यही कह सकते हैं कि भासमान आत्मा प्रकृति की उपज है। विषयनिष्ठ अनुभव की सम्भावना की अवस्थाएं तार्किक आत्मत्व अथवा आत्मचैतन्य की सम्भावना की भी अवस्थाएं हैं। हमारे मन इस प्रकार की भ्रामक विधि से क्यों काम करते हैं ? अविद्या का अस्तित्व क्यों है ? देश, काल और कारणकार्यभाव से युक्त जगत् क्यों उत्पन्न हुआ ? माया का अस्तित्व क्यो है ? इस प्रकार के सब प्रश्न उसी एक समस्या को वर्णन करने के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, जिसका समाधान नही हो सकता। आत्मा ही, जो विशुद्ध ज्ञान है, किसी न किसी प्रकार से ह्रास को प्राप्त करके अविद्या के रूप मे परिणत हो जाती है ठीक जिस प्रकार ब्रह्म जो कि विशुद्ध सत् है, पथ-भ्रष्ट होकर देश, काल तथा कारणकार्य-सम्बन्धी जगत् के रूप मे प्रकट होता है। अविद्या के द्वारा ही हम विद्या तक पहुंचते हैं, ठीक जिस प्रकार इस व्यावहारिक जगत् के द्वारा ही हम ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। तो फिर यह सार्वभौमिक और आद्य प्रनीयता अथवा विकार क्यों होता है, क्योंकि यही अधिक से अधिक है जो हम कह सकते हैं, किन्तु तो भी

1 श्रुतिदर्शितेन क्रमेण परमेश्वरेण सृष्टम् अज्ञातसत्तायुक्तमेव विश्व तत्तद्विषयप्रमाणावतरणे तत्तत्तस्य दृष्टिसिद्धि (सिद्धान्तलेश, 2)।

2 तुलना करें, काण्ट तथा बर्गसा के इस मत मे भी कि प्रकृति की भौतिकता हमारे चैतन्य की बुद्धिसम्पन्नता के साथ साथ उत्पन्न होती है। बुद्धि तथा यह दृश्यमान जगत् एकसाथ ही उत्पन्न हुए तथा एक-दूसरे के अन्दर ओतप्रोत हैं।

3 तुलना करें, विष्णुपुराण : अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः (1 : 5, 5)।

4 अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 595।

हम मानते हैं कि न तो हमारे तार्किक मस्तिष्क और न यह जगत जिसका बोध यह ग्रहण करता है, भ्रातिमात्र हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय दृष्टिभ्रम अथवा कल्पना मात्र नही हैं। अविद्या और माया एक ही मूलभूत अनुभवरूपी तथ्य के विषयिनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। इसे अविद्या इसलिए कहते है क्योकि ज्ञान के द्वारा इसका उच्छेद हो सकता है, किन्तु विषयनिष्ठ शृखला माया कहलाती है, क्योकि यह सर्वोपरि व्यक्तित्व के साथ-साथ नित्य स्थायी है। शकर प्रलय अवस्था मे भी इसके अस्तित्व को स्वीकार करते है। सर्वज्ञ ईश्वर मे जो अपनी माया को नियन्त्रण मे रखता है, अविद्या का अभाव है और यदि शकर जहा-तहा एक भिन्न प्रकार की कल्पना को मान लेते है तो यह केवल आलकारिक अर्थो मे है और वह यह कि ईश्वर के अन्दर वह शक्ति है जो एक व्यक्ति के अन्दर अविद्या का नेतृत्व करती है। साख्य के विचारक किसी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, किंतु व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति वे एक प्राक्कालीन अविद्या से बताते हैं, जो अनादि कही जाती है। अविद्या बुद्धि का एक गुण है और इसलिए उसका स्थान भी बुद्धि मे होना चाहिए, और तर्क की दृष्टि से अविद्या के अनादि स्वरूप को बुद्धि मे भी, जो इसका स्थान है, उसके कारण मानना चाहिए। इस प्रकार बुद्धि प्रकृति का ही एक व्यक्त रूप है और प्रकृति मूलभूत द्रव्य पदार्थ है। इस प्रकार अविद्या का विषयनिष्ठ होना सर्वथा सुरक्षित है। विवरण प्रमेय सग्रह मे कहा गया है "इसमे सन्देह नही कि अविद्या चैतन्य का एक दोष है, क्योकि यह अद्वैतभाव के यथार्थ ज्ञान के मार्ग मे बाधक है और द्वैत भाव को उत्पन्न करती है, किन्तु दूसरी ओर इसका उत्तम गुण भी है और वह यह कि यह एक उत्पादन कारण की सृष्टि करती है और इस प्रकार ब्रह्म की पहचान को सम्भव कर देती है।"[1] इससे पूर्व कि हम अनन्त तक पहुच सके, सान्तता का होना आवश्यक है।

शकर ने तो अविद्या तथा माया शब्दो के प्रयोग मे कोई विशेष भेद नही किया[2] किन्तु परवर्ती अद्वैतवादी दोनो के मध्य भेद करते हैं। जहा एक ओर

1 'इण्डियन थॉट', खण्ड 2, पृष्ठ 177। तुलना करें, ईशोपनिषद् से जहा हमे अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करने को कहा गया है।

2 कर्नल जेकब माया तथा अविद्या को एक मानने के विरुद्ध है। देखें, वेदान्तसार, 5। अनेकत्वपूर्ण जगत अविद्या की उपज है। सीमित मत के प्रधान रूप देश काल तथा कारण भी प्रतीतिरूप व्यावहारिक जगत के आधार (आलम्बन) हैं। कहा जाता है कि अविद्या ही माया के नाम रूप को उत्पन्न करती है जिनके द्वारा व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति होती है। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावशवशेन (शाकरभाष्य, 2. 2, 2)। कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि मूलप्रकृति माया है एव इसके कार्य अर्थात् आवरण (छिपाना) तथा विक्षेप (आगे की ओर फेंकना) अविद्या हैं। अन्यो का मत है कि मूलप्रकृति विशुद्ध सत्त्वसमेत माया है और अशुद्ध सत्त्वरूप उपाधि से युक्त अविद्या है। विक्षेपशक्तिप्रधाना मूलप्रकृति अर्थात् मूलद्रव्य जिसमे विक्षेप की शक्ति का प्राधान्य है, माया है, किंवा आवरणशक्तिप्रधाना-मूलप्रकृति, अर्थात मूलद्रव्य जिसमे आवरण की शक्ति का प्राधान्य है, अविद्या है। वेदान्त के कुछ ग्रन्थो मे अविद्या को सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनो गुणो से युक्त कहा गया है और इसे ईश्वर की उपाधि माना गया है। यह विचार सर्वथा सन्तोषजनक नही है। यदि ईश्वर में रजोगुण तथा तमोगुण भी है तो उसमे और जीव मे भेद करना कठिन होगा। तुलना करें, स्कन्दपुराण से, जहा अविद्या को जीव का प्रतिबन्ध करने वाली आश्रित वस्तु और माया का सर्वोपरि ब्रह्म का प्रतिबन्ध करनेवाली वस्तु कहा गया है, जिसके कारण वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कहलाता है।

अविद्योपाधिको जीवो न मायोपाधिकः खलु।
मायाकार्यगुणच्छन्ना ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा॥

माया ईश्वर की उपाधि है दूसरी ओर अविद्या व्यक्ति की उपाधि है। विद्यारण्य के अनुसार माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप, अर्थात् उस ब्रह्म में जो विशुद्ध सत्त्वगुण से युक्त है, ईश्वर है एवं अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप, जिसमें रजोगुण तथा तमोगुण भी उपस्थित हैं, जीव अथवा जीवात्मा है।[1] शंकर का भी यही मत है क्योंकि वे कहते हैं : "जो सर्वोच्च ब्रह्म है वह विशुद्ध प्रतिबन्ध के साहचर्य से तब निम्न श्रेणी का ईश्वर बन जाता है जब कि कोई इसके विषय में विचार करता है।"[2] अविद्या से उत्पन्न ईश्वर की भी शक्तियां हैं। यह जगत् ईश्वर के स्वरूप की अभिव्यक्ति है; यह मनुष्य के तार्किक मस्तिष्क के ऊपर भी सापेक्षरूप से निर्भर है। जगत् की वस्तुएं दोनों ही प्रकार की हैं, अर्थात् दैवीय मस्तिष्क के विचार तथा मानवीय ज्ञान के प्रस्तुत विषय। ईश्वर को जगत् का निश्चित कारण कहा गया है[3] और तो भी यह जगत् जिसका ईश्वर की निजी आत्मा के साथ सम्बन्ध है अविद्या के द्वारा निर्मित भी कहा गया है।[4] ब्रह्म और माया विश्व के अन्दर विद्यमान हैं और जगत् के उपादान कारण हैं। दोनों ही एक सूत्र में आबद्ध हैं, एक यथार्थ और दूसरा विवर्त (आभास) रूप में इसके आश्रित है।

34. प्राकृतिक जगत्

शंकर यथार्थसत्ता का केवल वर्णन करके ही विश्राम नहीं लेते, किन्तु अपने सिद्धान्त के दृष्टिकोण से दृश्य जगत् के क्षेत्र की परीक्षा भी करते हैं तथा उस सत्य के विषय में, जो अपूर्ण विचारों के अन्दर पाया जाता है, नियमों का निर्धारण भी करते हैं एवं जैसे-जैसे वे सत्य के निकट पहुंचते हैं नानाविध दृश्यमान व्यापारों को एक व्यवस्था में क्रमबद्ध करते हैं। वे यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि किस प्रकार प्रत्येक दृश्यमान विषय यथार्थता के स्वरूप को व्यक्त करता है क्योंकि यथार्थसत्ता ही उसका आधार है। चूंकि अक्षय ब्रह्म सबके मूल में विद्यमान है इसलिए इस जगत् में निरन्तर उन्नत से उन्नत प्रकार की अभिव्यक्तियां अपने को प्रकट करती हैं।[5] "जिस प्रकार प्राणधारियों की शृंखला में जो ऊपर मनुष्य से लेकर नीचे घास की पत्ती तक में क्रमशः ज्ञान तथा शक्ति आदि गुण कम होते देखे जा सकते हैं, इसी प्रकार ऊपर की श्रेणी में भी नीचे की ओर मनुष्य से लेकर ऊपर हिरण्यगर्भ की ओर क्रमशः ज्ञान तथा शक्ति इत्यादि की बढ़ती हुई अभिव्यक्ति देखी जाती है।"[6] हम व्यावहारिक जगत् में इस प्रकार का भेद कर सकते

1 पंचदशी, 16-17।

2 शांकरभाष्य छान्दोग्य उपनिषद्, 3 : 14, 2। "विशुद्धोपाधिसम्बन्धात्।"

3. 1 : 1, 2।

4 तुलना करें, अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया माया (शांकरभाष्य, 1 : 4, 3)। और भी देखें, शांकरभाष्य, 2 : 1, 14 ; 1 : 3, 19। अविद्यया मायया।

5 यद्यप्येक एव आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजंगमेषु गूढस्तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्याद् आत्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरम् आविष्कृतस्य तारतम्यम् ऐश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते (शांकरभाष्य, 1 : 1, 11)।

6. शांकरभाष्य, 1 : 3, 30। यथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान् भवन् दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवति। और भी देखें, शांकरभाष्य, 1 : 3, 1।

हैं (1) ईश्वर, जो कर्मो के फल का प्रदाता है, (2) प्रकृति का विस्तार, अर्थात् नाम-रूप प्रपञ्च जगत्, जो कर्मफल का रगमच है, और (3) जीवात्माओ का अनेकत्व, जो व्यक्तित्व के प्रतिबन्धो मे विभक्त है और जो प्रत्येक नये जन्म मे विगत जन्मो मे किए गए कर्मो का फल भोगता है। जगत का अनेकत्व दो भिन्न-भिन्न अवयवो से उत्पन्न होता है, अर्थात् फलो के उपभोक्ता तथा भोग्य विषयो से। इनमे से एक इस जगत् रूपी नाटयशाला मे नाटक के पात्र हैं और दूसरा रगमच है। इस भौतिक जगत की सज्ञा है 'क्षेत्र', क्योकि यह एक ऐसा वायुमण्डल है जहा कि जीवात्माए कर्म कर सकती एव अपनी कामनाओ की पूर्ति कर सकती हैं तथा अपने पूर्वकर्मों के फलो का उपभोग भी कर सकती हैं।[1] यह जड (अगहीन) प्रकृति है जिसमे पाच तत्त्व हैं। ऐन्द्रिक प्रकृति मे शरीर आते है जिनके अन्दर आत्माए जो तत्त्वो मे समाविष्ट होकर वनस्पति, पशु जगत्, मनुष्य तथा देवता आदि योनियो मे भ्रमण करती तथा निवास करती हैं।[2] इस ससार रूप जगत् मे प्राणियो के नानाविध सघ है जिनके जीवन के भी नानाविध प्रकार हैं तथा भिन्न-भिन्न लोक है जो प्राणियो के अपने-अपने अनुभव के अनुकूल होने से आवश्यक हैं। इन प्राणियो की एक श्रेणीबद्ध परम्परा है, जिसमे निम्नतम श्रेणी मे वे प्राणी हैं जिनके पूर्वजन्म के कर्मानुभव अत्यन्त सीमित है और उन्नततम देवता है जो अतीन्द्रिय लोक के निवासी है।[3]

विश्व का विकास एक व्यवस्था-विशेष के अनुसार ही होता है।[4] प्रकृति से, जो अनात्म पदार्थनिष्ठता का तत्त्व है, पहले आकाश उत्पन्न होता है जो देश और प्रकृति का पूर्ववर्ती है। "सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से निकला है, जिसमे आकाश सबसे पूर्व आया और उसके अनन्तर अन्य तत्त्व एक-दूसरे के पश्चात उचित क्रम से आए।"[5] आकाश जो एक है, अनन्त है लघु और सूक्ष्म है, क्रियारहित है तथा सर्वव्यापक है सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है।[6] इसका प्रयोग दोनो अर्थों मे होता है अर्थात देश और एक अत्यधिक सूक्ष्म प्रकृति के अर्थो मे, जिसने समस्त देश को व्याप्त किया हुआ है। आकाश चाहे कितना ही सूक्ष्म द्रव्य क्यो न हो तो भी यह है उसी श्रेणी का जिस श्रेणी के द्रव्य वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी है। इस प्रकार शकर बौद्धमत के विरुद्ध अपना मत प्रकट करते हैं कि आकाश एक *अभावात्मक वस्तु है अर्थात केवलमात्र बाधाओ के अभाव का* नाम है।[7] शकर का मत है कि अभावात्मक परिणाम उसके भावात्मक स्वरूप का अन्त है।[8] आकाश से अन्य सूक्ष्म भूत ऊचे चढते हुए क्रम मे उत्पन्न होते हैं।[9] उपनिषदो के विवरण का अनुसरण करते हुए[10] शकर कहता है कि आकाश से वायु उत्पन्न होती है,

1 फलोपभोगाथम सवप्राणिकमफलाश्रय (शाकरभाष्य मुण्डकोपनिषद 3 1 1)।

2 वैदिक देवता भी विश्वसम्बन्धी प्रक्रिया मे आते हैं (शाकरभाष्य 1 2 17, 1 3 33)।

3 शाकरभाष्य 1 3 10 बृहदारण्यक उपनिषद पर शाकरभाष्य, 1 4 10।

4 *शाकरभाष्य 2 1 24-25।*

5 शाकरभाष्य 2 3 7।

6 शाकरभाष्य 1 1 22 1 3 41। देखें छान्दोग्य उपनिषद 3 14 3 8 14।

7 आवरणभाव (शाकरभाष्य 2 2 22)।

8 *वस्तुभूतम।*

9 शाकरभाष्य 2 3 8 13।

10 तैत्तिरीय उपनिषद 2 1, छान्दोग्य उपनिषद 6 2 2 3।

वायु में अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी । चूंकि ये पांच तत्त्व अपेक्षाकृत अपने परिवर्तित रूपों से अधिक स्थायी हैं, उन्हें आलंकारिक भाषा में अमर तथा अविनश्वर कहा जाता है ।[1] आकाश का गुण है शब्द, वायु का गुण है संघात तथा दबाव, प्रकाश का गुण है उज्ज्वलता तथा उष्णता, जल का गुण है स्वाद अथवा रस और पृथ्वी का गुण है गन्ध । गुणों का तत्त्वों के साथ वही सम्बन्ध है जो बीज का पौधे के साथ है । 'शब्द-तन्मात्रा', अथवा शब्द का सार, आकाश को जन्म देता है जो अपनी ओर से शब्द के बाह्य-रूप को उत्पन्न करता है । तन्मात्रा अथवा सारतत्त्व के अन्दर तत्त्व तथा उसका गुण दोनों समाविष्ट रहते हैं । हम यह भी देख चुके हैं कि तत्त्वों के अन्दर श्रेणीबद्ध परम्परा पाई जाती है । और वह सब आकाश तन्मात्रा के अन्तर्हित प्रतीत होते हैं । समस्त जगत् आकाश अथवा शब्द से उत्पन्न होता है ।

स्थूल प्रकृति से निर्मित जगत्, अर्थात् महाभूत, इन नानाविध सूक्ष्म भूतों के संयुक्त रूपों से मिलकर बना है ।[2] आकाश रूप स्थूल द्रव्य शब्द को व्यक्त करता है, वायु शब्द तथा दबाव को व्यक्त करती है, अग्नि इन दोनों को तथा इनके अतिरिक्त प्रकाश तथा उष्णता को व्यक्त करती है, जल में स्वाद (रस) के गुण हैं तथा साथ ही अन्य गुण भी हैं, इसी प्रकार पृथ्वी में अन्य द्रव्यों के भी गुण हैं और अपना विशेष गुण है गन्ध । प्रत्येक पदार्थ में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के गुण हैं । जहां एक ओर प्रकृति के सूक्ष्म मूल तत्त्व हैं ये आकार जो सजातीय तथा निरन्तर रहनेवाले हैं तथा जिनकी रचनावृत्ति में कोई परमाण्विकता नहीं है वहां दूसरी ओर स्थूल द्रव्य मिश्रित हैं यद्यपि उन्हें भी निरन्तर स्थायी तथा पारमाण्विक रचना से विहीन कहा गया है ।[3] स्थूल तत्त्व परिवर्तनों (परिणामों) के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं । प्रकृति निरन्तर अवस्था के परिवर्तन में से होकर गुजर रही है । परिवर्तन बाहर से भी आ सकते हैं । शंकर ने एक विश्वात्मक स्पन्दनरूप गति का वर्णन किया है ।[4] यह सब तत्त्व अचेतन हैं और स्वयं अपना विकास नहीं कर सकते । इन सबके अन्दर ईश्वर की अन्तर्यामिता कल्पित है ।[5] यदि भिन्न-भिन्न तत्त्वों की क्रियाओं का कारण भिन्न-भिन्न वैदिक देवता कहे जाते हैं तो उससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि देवता भी ईश्वर ही के व्यापारों के प्रतीक रूप हैं ।

प्रलय में सृष्टिरचना की व्यवस्था सर्वथा विपरीत दिशा में होती है ।[6] अर्थात्,

1 छान्दोग्य उपनिषद्, 4 : 3, 1 ; बृहदारण्यक उपनिषद्, 1 : 5, 22 ।

2 प्रत्येक स्थूल पदार्थ में सब पांचों सूक्ष्म तत्त्व पाए जाते हैं, यद्यपि भिन्न-भिन्न अनुपातों में । पांचों सूक्ष्म तत्त्वों को जगत् के स्थूल द्रव्यों में संयुक्त करने को पंचीकरण कहते हैं । शंकर उस पंचीकरण का उल्लेख नहीं करते जो परवर्ती वेदान्त में आकर अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है । देखें, 'वेदान्तसार' । वे त्रिवृत्करण के विचार को मानते हैं, अर्थात् तीन तत्त्वों का संयुक्तरूप । यही मत वाचस्पति का भी है ।

3 अद्वैत वेदान्त में अणु प्रकृति का अन्तिम अविभाज्य तथा अमूर्त घटक नहीं है । किन्तु यह प्रकृति का वह लघुतम परिमाण (मात्रा) है जिसकी कल्पना हम कर सकते हैं ।

4 सर्वलोकपरिस्पन्दनम् ।

5 परमेश्वर एव तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायन् तं तं विकारं सृजति (शांकरभाष्य, 2 : 3, 13) । रामानुज का मत है कि ईश्वर का संकल्प प्रत्येक परिवर्तन के समय आवश्यक नहीं है । यह केवल एक ही बार आकाश के उत्पन्न होने से पूर्व रहता है ।

6 देखें, शांकरभाष्य, 2 . 3, 14 । तुलना करें, ह्यूसन : "इस प्रकार का मत सम्भवतः क्रमिक विकास की शिक्षा की वैज्ञानिक प्रेरणा के ऊपर तथा तत्त्वों के विलय के विषय पर भी कुछ प्रकाश डाल सके, जिसके विषय में हमें और कुछ ज्ञान नहीं है । इस प्रकार का पर्यवेक्षण कि ठोस पदार्थ

प्रलयावस्था मे पृथ्वी पुन जल मे परिणत हो जाती है, जल अग्नि मे, अग्नि वायु मे तथा वायु आकाश मे और आकाश पुन ईश्वर के रूप मे परिणत हो जाता है।

मानसिक इन्द्रियो जैसे मन (अन्त करण) आदि की कल्पना शकर ने भौतिक तत्त्वो के स्वभाव के सदृश ही की है। मानव देह का सगठन अन्य वस्तुओ के समान पृथ्वी, जल तथा अग्नि इन तीन तत्त्वो से मिलकर बना है।[1] मन अथवा अन्त करण, प्राण अथवा जीवनप्रद वायु तथा वाणी क्रमश पृथ्वी जल और अग्नि की अनुकूलता मे हैं।[2] शकर इस विषय से अभिज्ञ है कि वे कभी-कभी भौतिक तत्त्वो से प्रकार म भिन्न माने जाते हैं तथा एक दूसरे के आगे और पीछे उत्पन्न होते हैं। हर हालत मे वे तथा तत्त्व भी अपने आप मे निर्जीव है और लक्ष्य के प्रति साधनमात्र के रूप मे ही उत्पन्न होते है। इन्द्रियविहीन प्रकृति परार्थ है अर्थात् एक ऐसे प्रयोजन को सिद्ध करती है जो इससे परे है।[3] इन्द्रियविहीन जगत् मे स्वभाव की समानता है।[4]

जब हम ऐन्द्रिय प्रकृति की ओर आते हैं तो एक नया सिद्धान्त (नियम) हमारे सामने प्रस्तुत होता है, अर्थात् जीवन की ऐसी शक्ति जो कुछेक वस्तुओ मे अन्तर्निहित है। यह वह शक्ति है जिसके द्वारा वे महत्तर पूर्णता को प्राप्त करने योग्य होती है और ऐसी शक्ति जो लक्ष्य को प्राप्त करा सकती है। एक पत्थर मे जीवन नही है क्योकि इसमे पूर्णताप्राप्ति के प्रति प्रवृत्ति नहीं है और न आन्तरिक झुकाव अथवा ऐसी शक्ति है जिससे यह अपने को एक खम्भे या मूर्ति के रूप मे परिवर्तित कर सके। किन्तु एक पौधे मे जीवन है। यदि अनुकूल अवस्थाओ मे उसे रखा जाए तो उसमे बढने की शक्ति है तथा पत्ती, मजरी, फूल और फल उत्पन्न करने की भी शक्ति है। इसके अतिरिक्त पशु मे पौधे की अपेक्षा अधिक पूर्णजीवन यतीत करने की योग्यता है। वह देखता है, सुनता है, अनुभव करता है, और कुछ-कुछ यह भी जानना है कि वह क्या कर रहा है। वह अनुकूल अवस्थाओ मे फलता-फूलता हो इतना ही नही, वरन् वह अनुकूल अवस्थाओ को ढूढने के लिए बाहर भी जाता है। वह एक उद्देश्य को लेकर गति भी करता है किन्तु पौधा गति नहीं करता। मनुष्यरूप प्राणी एक और ऊचा जीवन व्यतीत करता है। वह, जिसे शकर व्युत्पन्नचित्त के नाम से कहते है, उसमे चिन्तन की शक्ति, बोध-शक्ति तथा सकल्प शक्ति है। उसमे पौधे की-सी बढने की शक्ति है, पशु जैसी गति करने तथा इन्द्रियो द्वारा ज्ञान करने की शक्ति है तथा इससे बढकर आवरण के पीछे भी देखने की शक्ति है, नित्य तथा अनित्य मे भेद करने, तथा पुण्य पाप मे पहचान करने की शक्ति है। ऐसे मनुष्य जो अपनी महत्त्वाकाक्षाओ को सिद्ध कर लेते हैं, देवता है। इस प्रकार ऐन्द्रिय प्रकृति के अन्दर हमे प्राणियो के चार विभाग मिलते है, देवता, मनुष्य, पशु तथा पौधे।[5] उपनिषदो की भावना मे ही शकर स्वीकार करते है कि पौधे भोग-

जल मे घुल जाते हैं एव जल उष्णता पाकर वाष्प के रूप मे परिणत हो जाता है और यह कि अग्नि की लपटे वायु के अन्दर विलीन हो जाती हैं और वायु ऊचाई के अनुसार अधिकाधिक रूप मे सूक्ष्म होता हुआ रिक्त आकाश देश मे विलीन हो जाता है हमे जगत की क्रमिक प्रलय प्रक्रिया का मार्ग-दर्शन करा सके और इसके विपरीत क्रम से जगत की उत्पत्ति का भी निदर्शन करा सके, यह सम्भव है।"

डयूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त, अग्रेजी अनुवाद पृष्ठ 237)।

1 छान्दोग्य उपनिषद, 6 2 2 3।
2 शाकरभाष्य, 2 4 20, 3 1, 2।
3 भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, 13 22।
4 शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, 2 8।
5 शाकरभाष्य, 3 1, 24।

योनि हैं और उनके अन्दर जीवात्मा भी है[1] जो उन पौधों में अपने पूर्वजन्म के दुष्ट कर्मों के कारण गए हैं। यद्यपि वे सुख-दु:ख का पूरा ज्ञान रखने के योग्य नहीं हैं तो भी वे पूर्वजन्म के कर्मों का प्रायश्चित्त करते कहे जाते हैं, क्योंकि शंकर ने साधारणत: शरीरधारी जीवात्माओं के तीन विभाग किए है, अर्थात् देवता जो अनन्त सुखोपभोग की अवस्था मे हैं, दूसरे मनुष्य जिनके भाग्य मे सुख और दुःख दोनो का मिश्रण है, तथा तीसरे पशु जिनके भाग्य मे अनन्त दु:ख है।[2] अपने शरीरीरूप में जीवात्माएं प्राणों तथा सूक्ष्म शरीरों के संग रहते हैं और जब तक उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नही होती ये शरीर उनके साथ लगे रहते हैं। जीवात्माओं का निकास ब्रह्म से उसी प्रकार का बताया जाता है जैसा कि अग्नि से स्फुलिंग (चिनगारिया) निकलते हैं। भेद केवल इतना है कि जीवात्मा तो फिर से ब्रह्म में समा जाते हैं किन्तु स्फुलिंग अग्नि में वापस नही लौटते।[3]

35. जीवात्मा

वेदान्त का लक्ष्य मानवीय आत्मा के विश्लेषण से एकमात्र निरपेक्ष परब्रह्म की यथार्थता की ओर ले जाना है। वेदान्त के वाक्य मे यह दो प्रकार का प्रयोग पाया जाता है।[4] जीवात्मा के अन्दर स्मृतियो, साहचर्य सम्बन्धों, इच्छाओं, और अरुचियों तथा आदरातिशयो और प्रयोजन की सगठित व्यवस्था पाई जाती है। यद्यपि एक ही दृष्टि में हमारे लिए इस समस्त संगठित व्यवस्था को समझ लेना सम्भव नही हो सकता तो भी इसका सामान्य रचनाक्रम तथा प्रधान तत्त्व तो हमारे निरीक्षण के लिए खुला ही है। यह सगठित-व्यवस्था विज्ञानात्मा है जिसमे परिवर्तन सम्भव है किन्तु परमात्मा सब प्रकार के परिवर्तन से मुक्त है।[5] तात्त्विक रूप में जीव को आत्मा के समान कहा गया है। वह तू है।[6] "और इस प्रकार की आपत्ति मे कि विरुद्ध गुण रखने वाली वस्तुएं एक नही हो सकती कोई बल नही है; क्योंकि गुणो की प्रतिकूलता को असत्य सिद्ध किया जा सकता है।"[7] शकर सावधानतापूर्वक उस आत्मा में जो समस्त अनुभव में उपलक्षित होती है तथा उस आत्मा मे जो अन्तर्दृष्टि के द्वारा जाना गया एक निश्चित तथ्य है, एव आध्यात्मिक विषयी 'मैं' तथा मनोवैज्ञानिक विषयी 'मुझको' मे भेद करते हैं। अहम्प्रत्यय का विषय विशुद्ध आत्मा नही है, जो साक्षी है, वरन् वह है जो क्रियाशील कर्ता तथा फलोपभोग करनेवाला जीवात्मा है, जिसमे विषयनिष्ठ गुणों का समावेश है ऐसी आत्मा विषय है। जब मनोविज्ञानवेत्ता आत्मा के विषय में कथन करते हैं तब वे इसे अन्तर्दृष्टि का विषय मानकर उक्त शब्द का व्यवहार करते हैं। जबकि आत्मा

1 शांकरभाष्य, 3 . 1, 24।

2 शांकरभाष्य, 2 : 1, 34।

3 मुण्डकोपनिषद्, 2 · 1, 1 ; कौषीतकी, 3 : 3, 4, 20 ; बृहदारण्यक, 2 : 1, 20। देखें, शांकरभाष्य, 3 · 1, 20-21; ऐतरेय उपनिषद्, 3 : 3। और भी देखें, छान्दोग्य उपनिषद्, 6 : 2, 2।

4 शांकरभाष्य, 2 : 3, 25।

5 शांकरभाष्य, 1 : 3, 24। तुलना करें, कठोपनिषद्, 3 : 1 ; मुण्डक, 3 : 1, 1। श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4 : 6, 7।

6 तुलना करें, इसके साथ 'क्वेकर्स' ('सोसायटी आफ फ्रैंड्स' के सदस्यगण) के प्रसिद्ध सिद्धान्त को, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा में एक आन्तरिक प्रकाश रहता है, एक ऐसी ज्योति, जिसके द्वारा समस्त रूढियो तथा सिद्धान्तो का निर्णय करना होता है।

7. शांकरभाष्य 4 : 1, 3।

विशुद्ध रूप मे ज्ञान का सम्पादन करती है,[1] हमारी आत्मचेतना एक क्रियाशील चेतना है जो किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करती है। क्रियाशीलता का भाव हममे से प्रत्येक के लिए हमारा निकटतम अनुभव है। यह लौकिक आत्मा सब क्रियाओ का कर्ता है।[2] यदि कर्तृत्व ही आत्मा का तात्त्विक रूप होता तो उससे कभी मुक्ति न मिल सकती, ठीक जैसे कि उष्णता आग से कभी अलग नही हो सकती और जब तक मनुष्य अपने को कर्तृत्व से मुक्ति नही कर लेता तब तक वह अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने मे असफल ही रहता है, क्योकि कर्तृत्व अनिवार्यरूप से दु खद है। "आत्मा का कर्तृत्व केवल ऐसे गुणो की उपाधियो के ही आश्रित है जो इसके साथ लगी हुई है किन्तु इसके अपने स्वरूप के ऊपर आश्रित नही है।"[3] जीवात्मा तात्त्विक रूप मे एक कर्ता है अन्यथा वैदिक विधि-विधान आदि सब निष्प्रयोजन हो जाएगे। उपनिषदो मे ऐसे अनेक वाक्य पाए जाते हैं जिनमे आत्मा को कर्ता बताया गया है।[4] वस्तुत कर्तृत्व विज्ञान अथवा बोध के उपाधि अथवा प्रतिबन्ध मे रहता है। जीव विषयि-विषय, आत्मा तथा अनात्म, यथार्थता और प्रतीति (आभास) है। यह विषय के प्रतिबन्ध अथवा व्यक्तित्व से युक्त है।[5] यह आत्मा अज्ञान के साहचर्य से युक्त है। इमर्सन की भाषा मे "प्रत्येक मनुष्य ईश्वर है जो मूर्खता का अभिनय करता है।"[6] अविद्या अथवा तार्किक ज्ञान लौकिक आत्मा के व्यक्तित्व का भाव उत्पन्न करता है और यह "धोखा देना तथा धोखा खाने के समान है।" जीवात्मा का विशेष लक्षण इसका सम्बन्ध बुद्धि अथवा बोधग्रहण के साथ है और यह तब बना रहता है जब तक कि ससार की अवस्था सत्यज्ञान के द्वारा समाप्त नही हो जाती।[7] मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का बुद्धि के साथ सम्बन्ध बना रहता है। यह केवल मुक्ति प्राप्त होने पर ही टूट सकता है। सुषुप्ति की अवस्था तथा मृत्यु मे यह सम्बन्ध सम्भाव्यता की अवस्था मे गुप्त रहता है एव जागने पर तथा पुनर्जन्म की अवस्थाओ मे क्रमश यह वास्तविक अवस्था मे आ जाता है। यदि हम इसता गुप्त रूप

1 शाकरभाष्य, 2 · 3, 40।

2 शाकरभाष्य, 1 1, 4।

3 शाकरभाष्य, 2 3, 40। तस्माद् उपाधिधर्माध्यासेनैवात्मन कर्तृत्व न स्वाभाविकम्। और भी देखें, शाकरभाष्य काठ उपनिषद् पर, 3 4।

अद्वैत और साख्य दोनो ही आत्मा अथवा पुरुष को कर्ता के कर्मों से निरुपाधिक मानते हैं। जिस समय यह व्यक्तित्व के प्रतिबन्धो से मुक्त समझी जाती है तो कर्ता है। इस प्रकार का सम्भ्रम अथवा अभेद वेदान्त के अनुसार अविद्याकृत है और साख्य के अनुसार प्रकृति के कारण है।

4 बृहदारण्यक उपनिषद्, 4 · 3, 12, तैत्तिरीय, 3 . 5। और भी देखें, शाकरभाष्य, 2 3, 33।

5 शाकरभाष्य, 2 3, 40।

6 सुरेश्वर जीव की तुलना एक ऐसे राजकुमार के साथ करता है जिसे कोई गडरिया उठा ले जाए और उसका लालन पालन ग्रामीण जनता के मध्य हो। जिस समय उसे अपने राजकुलोत्पन्न होने का पता चलता है तो वह अपने गाय चराने के व्यवसाय को त्यागकर अपने राजसी स्वभाव को जान जाता है।

राजसूनो स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्तते।
यथैवम् आत्मनोऽस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यत ॥ (सिद्धान्तलेशसग्रह)।

और भी देखें, शाकरभाष्य बृहदारण्यक उपनिषद्, 2 1 20, बृहदारण्यक उपनिषद् पर सुरेश्वर का वार्तिक, 2 1, 507-516।

7 शाकरभाष्य, 2 3, 20।

में निरन्तर बना रहना न मानें तो कारणकार्य का विधान भंग होता है क्योंकि विना प्रस्तुत कारण के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती ।[1]

मनोदैहिक संगठन में ऐन्द्रिक शरीर,[2] जो स्थूल तत्त्वों से बना है और जिसे मृत्यु के समय मनुष्य उतार फेंकता है, प्राण[3] और सूक्ष्म शरीर,[4] जो ऐसे तत्त्वों के सूक्ष्म अवयवों से बने हैं जो शरीर के बीज को बनाते हैं,[5] ये सब सम्मिलित हैं। सूक्ष्म शरीर[6] में 17 तत्त्व हैं अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि[7]। यह सूक्ष्म शरीर भौतिक होते हुए भी पारदर्शक भी है और इस प्रकार जब जीवात्मा भौतिक देह को छोड़कर परलोक के लिए प्रस्थान करता है तो यह दिखाई नहीं देता। किन्तु सूक्ष्म शरीर और पञ्चप्राण मोक्षप्राप्तिपर्यन्त आत्मा के स्थायी अवयवों के रूप में बने रहते हैं। कर्माश्रय रूप अवयव परिवर्तन होता रहता है और यही जीवात्मा के संग प्रत्येक नये जीवन में जाता है तथा एकदम ऐसे नये रूप का निर्माण करता है जो पूर्वजन्म में नहीं था।[8] *व्यक्तित्व का आधार आत्मा में अथवा उपाधि में भी नहीं है किन्तु नैतिक निर्णय में* है और यह ज्ञान। विद्या), कर्मों तथा प्रज्ञा (अनुभव) का मिश्रण है।[9] जीवधारक शक्तियां निरन्तर बनी रहती हैं, जैसे कि सूक्ष्म शरीर जो उन्हें अपने साथ में ले जाता है और तब तक रहती हैं जब तक कि संसार विद्यमान है और आत्मा के साथ लगी हुई जाती हैं, यहां तक कि यदि आत्मा एक पौधे में प्रवेश करे तब भी ये साथ रहती हैं, यद्यपि उस अवस्था में अन्तःकरण और इन्द्रियां स्वभावत अपने को व्यक्त नहीं करतीं। चूंकि संसार अनादि है इसलिए आत्मा का अनादि काल से इन पञ्च प्राणों के यन्त्रपुञ्ज से सुसज्जित रहना अत्यन्त आवश्यक है। एक तीसरा कारण-शरीर भी कहीं-कहीं अनादि तथा अनिर्वचनीय अविद्या के समान निर्देश किया गया है। कारण-आत्मा एक अपेक्षाकृत स्थायी मानवीय आत्मा है जो एक के बाद दूसरे सब पुनर्जन्मों में कर्मविधान के निर्णय के अनुसार विद्यमान रहता है। मनोवैज्ञानिक संगठन का उक्त विवरण सर्वथा सांख्य के विवरण के समान है, भेद केवल पांच जीवधारक शक्तियों के सम्बन्ध में है।

पांचों ज्ञानेन्द्रियां, पांचों कर्मेन्द्रियां और मन ये सब उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं,[10]

1 यह कहा गया है कि बुद्धि से युक्त आत्माएं इस अवस्था में जब कि सम्बन्ध गुप्त रहता है, ईश्वर के अन्दर रहती हैं यद्यपि ऐसा भी कहा गया है कि मृत्यु के उपरान्त तथा सुषुप्ति अवस्था में जीवात्माएं स्वयं ब्रह्म के अन्दर प्रवेश कर जाती हैं (छान्दोग्य उपनिषद्, 6 : 8 ; शांकरभाष्य, 2 · 3, 31)।

2 देह, स्थूल शरीर, अन्नमयकोश।

3 जीवन में इन्द्रियां दो प्रकार की हैं। एक वे जो चेतनावस्था की अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां (बुद्धीन्द्रियाणि), पांच कर्मेन्द्रियां और मन, जो ज्ञान तथा कर्म दोनों का नियन्त्रण रखता है, तथा अचेतनावस्था की इन्द्रियां। मुख्य प्राण, जो जीवन का प्रधान श्वासनिःश्वास है, पांच भिन्न-भिन्न प्राणों में विभक्त है, जो श्वास-प्रश्वास की क्रिया तथा पोषण आदि भिन्न-भिन्न व्यापारों में सहायक होते हैं। इसका आकार सीमित होने पर भी यह अदृश्य है। शांकरभाष्य, 1 : 4, 13)।

4 सूक्ष्म शरीर, लिंग शरीर, भूताश्रय।

5 देहबीजानि भूतसूक्ष्माणि।

6 यह सांख्य के लिंग शरीर से अनुकूलता रखता है।

7 कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टजीवो मनोमयादिपञ्चकोशविशिष्टः।

इसके अवयवों का निर्धारण यान्त्रिक कारणकार्य भाव के द्वारा किया जाता है। देखो, शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद, 1, 4, 17।

8 शांकरभाष्य, 2 4, 8-12, 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त,' पृष्ठ, 325-6।

9. देखो, बृहदारण्यक उपनिषद्, 4 4, 2।

10. शांकरभाष्य, 2 . 4, 1-4।

एव सूक्ष्म अथवा अणु तथा सीमित (परिच्छिन्न) हैं। वे अणु के आकार के (परमाणुतुल्य) नही हैं क्योकि उस अवस्था मे उनका समस्त देह मे व्याप्त रहना कठिनता से समझ मे आ सकेगा। उन्हे सूक्ष्म माना गया है क्योकि यदि वे स्थूल होते तो मृत्यु के समय निकलते हुए दिखाई दे सकते। वे आकार मे परिमित हैं, अपरिमित नही, क्योकि यदि अन्त रहित होते तो उनका निकलना, गति करना अथवा वापिस लौटना सम्भव न हो सकता। इस समस्त विवरण मे शकर की दृष्टि इन्द्रियो के व्यापारो की ओर है किन्तु उनके भौतिक प्रतिरूपो की ओर नही है। इन्द्रिया सर्वव्यापी नही हैं किन्तु समस्त देह के विस्तार क्षेत्र मे उनकी पहुच अवश्य है जिसके अन्दर वे व्यापार करती है।[1] अनेको इन्द्रिया सदा की भाति भिन्न-भिन्न तत्त्वो से बनी हैं[2] और कहा जाता है कि वही देवता जो तत्त्वो का नियन्त्रण करते है इन इन्द्रियो का भी नियन्त्रण करते हैं। मुख्य प्राण जीवन को धारण करने वाला तथा उसमे जीवन डालने वाला तत्त्व है। यहा तक कि मनोवैज्ञानिक यन्त्र-पुञ्ज भी इसके आश्रित है। इन्द्रियो को भी मुख्य प्राण से ही सहारा मिलता है और इस प्रकार उन्हे भी प्राण कहा गया है।[3] उपाधियो के द्वारा आवृत आत्मा जीव है, जो कर्त्ता भी है और फलो का उपभोग करने वाला भी है। किन्तु सर्वोच्च आत्मा उक्त दोनो अवस्थाओ से मुक्त है।[4]

जीव शरीर तथा इन्द्रियो के ऊपर शासन करता है और कर्मो के फलो से भी उसीका सम्बन्ध है। चूकि इसका सार तत्त्व आत्मा है इसे विभु अथवा व्यापक कहा गया है, अणु अर्थात् परमाणु के आकार का नही। यदि यह अणु होता तो शरीर के सब भागो से आने वाले सवेदनो का यह अनुभव न कर सकता।[5]

> वे लोग जिनका मत है कि आत्मा अणु है तर्क करते हैं कि अनन्त आत्मा गति नही कर सकती जबकि वह एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे जाती हुई देखी जाती है। शकर के अनुसार यह वाक्य आत्मा के सम्बन्ध मे नही है किन्तु उसके प्रतिबन्धो के विषय मे है[6] इस प्रकार की आपत्ति का कि यदि आत्मा को अणु माना जाए तो यह शरीर मे केवल एक ही स्थान पर रहेगा और इस प्रकार सारे शरीर मे व्यापक न हो सकेगा, इस दृष्टान्त से निराकरण किया गया है कि जिस प्रकार चन्दन की लकडी का एक टुकडा सारे शरीर मे नवीन चेतना उत्पन्न कर देता है यद्यपि उसका स्पर्श शरीर के केवल एक ही स्थान पर होता है इसी

1 2 4 8, 13।

2 शाकरभाष्य, 2 4 14-16, बृहदारण्यक उपनिषद, 1 3, 11, 3 2, 13, ऐतरेय उपनिषद् 1 2, 4।

3 2 4 16।

4 परमब्रह्म अपहतपाप्मत्वादिधर्मक तदेव जीवस्य पारमार्थिक स्वरूपम्—इतरद उपाधिकल्पितम् शाकरभाष्य, 1 3 19)। प्लेटो का भी मत इसी प्रकार का है, जिसे वह ग्लोकस के समुद्र की तह ने डुबकी लगाने के अदभुत दृष्टान्त के द्वारा समझाता है। यदि हम उसे वहा देखें तो हम उसे पहचान नही सकते क्योकि उसका शरीर समुद्र की काई सीप, मछली तथा अन्य वस्तुओ द्वारा इतनी अधिक मात्रा म ढक जाता है कि पहचाना नही जा सकता। इसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा विकृत रूप है और जब तक हमे ससाररूपी समुद्र से निकालकर इसके ऊपर जमगए घाई सीप तथा तलछट आदि मलो को हटाकर शुद्ध नही कर लेते तब तक हम इसके सत्यस्वरूप को नहीं पहचान सकते।

5 शाकरभाष्य, 2 3 29।

6 वही।

प्रकार आत्मा समस्त शरीर की सवेदना का ग्रहण स्पर्शेन्द्रिय द्वारा कर सकती है क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय तो सारे शरीर के ऊपर फैली हुई है। शंकर इस सुझाव का खण्डन यह कहते हुए करते हैं कि काटा भी जिसके ऊपर कोई व्यक्ति चलता है सारे शरीर की सवेदन शक्ति के साथ सम्बद्ध है यद्यपि दुःख केवल पैर की तली में ही अनुभव होता है सारे शरीर मे नही होता। अणु के विचार के समर्थकों का सुझाव है कि अणुरूप आत्मा अपने गुण अर्थात् चैतन्य के कारण सारे शरीर मे व्याप्त रहती है ठीक जिस प्रकार एक दीपक का प्रकाश एक स्थान पर ही रखे जाने पर भी वहां से सारे कमरे में फैल जाता है। शंकर का कहना है कि गुण द्रव्य के परे नही जा सकता। दीपक की ज्वाला तथा इसका प्रकाश परस्पर द्रव्य तथा गुण के रूप मे सम्बद्ध नही हैं। दोनों ही अग्निमय द्रव्य हैं; केवल ज्वाला में अवयव अधिक एक-दूसरे के निकट हैं किन्तु प्रकाश में वे अधिक विस्तृत रूप में पृथक्-पृथक् हैं। यदि चैतन्य का गुण अथवा आत्मा सारे शरीर में व्याप्त होता है तब आत्मा अणु नही हो सकता। उपनिषदो के ऐसे वाक्यों का लक्ष्य जो आत्मा को अणु बताते हैं,[1] आत्मा नही है किन्तु बोध शक्ति तथा मन के गुणों के मूल केन्द्र विन्दु हैं। उनका आशय आत्मा की सूक्ष्मता को दिखाना है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान मे नहीं आती।[2] यह मानी हुई बात है कि लौकिक आत्मा जो मन आदि से जकड़ी हुई है अनन्त नही है किन्तु सर्वोपरि यथार्थसत्ता अनन्त है।[3] यदि इसे अणु कहा गया है तो इसलिए क्योंकि लौकिक दृष्टि मे यह बुद्धि की सहचारी है।[4] आत्मा के हृदय के अन्दर निवास स्थान सम्बन्धी सब कथन इस कारण से हैं क्योंकि बुद्धि का स्थान उसमें बताया गया है। इसके अतिरिक्त, जो सर्वत्र है निश्चित रूप से एक स्थान मे भी है, यद्यपि इसके विपरीत जो एक स्थान पर है वह सर्वत्र हो ऐसा नहीं है।[5] इस विधि से शंकर उपनिषदो के ऐसे समस्त वाक्यों की व्याख्या करते हैं जो आत्मा के देश-सम्बन्धी प्रतिबन्ध का वर्णन करते हैं।[6] धार्मिक दायित्व के समस्त जीवन का आधार लौकिक आत्मा की आपेक्षिक यथार्थता के ऊपर है। क्रियात्मक अनुभव का समूचा क्षेत्र अपनी पुण्य व पाप की योजना समेत, एव पवित्र विधान का आधार, अपने विधि निषेधों सहित स्वर्ग में सुख तथा नरक मे दुःख की भावी आशाओ सहित ये सब देह, इन्द्रियों तथा उसके साथ संलग्न अवस्थाओं और आत्मा के तादात्म्य की कल्पना कर लेते हैं। किन्तु जीवन की समस्त शृंखलाओं मे यह आत्मा नही है अपितु उसकी छाया-मात्र है जो शोक करती है तथा असन्तोष प्रकट करती है एवं इस जगत् के रंग-मच के ऊपर अपने कथानक (वस्तु विषय) का अभिनय करती है। आत्मा जब तक उपाधियों से मुक्त नही होती तभी तक सुख, दुःख तथा वैयक्तिक चैतन्य के अधीन रहती है।[7]

1. मुण्डकोपनिषद्, 3 · 19; श्वेताश्वतर उपनिषद्, 5 : 8-9।
2. शांकरभाष्य, 2 : 3, 29।
3. देखें, शांकरभाष्य, 2 : 3, 19-32।
4. 2 : 3, 29।
5. शांकरभाष्य, 2 : 1, 7; 2 : 3, 49।
6. देखें, शांकरभाष्य, 1 : 3, 14-18, 1 : 2, 11-12।
7. विशेषविज्ञान।

शकर आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का वर्णन करते हैं। जाग्रत अवस्था मे कुल ज्ञान सम्पादन करने वाली यन्त्र-योजना कार्य करती रहती है और हम पदार्थों का ज्ञान मन तथा इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त करते है। स्वप्नावस्था मे सब इन्द्रिया विश्राम करती है और केवल मन ही क्रियाशील रहता है। जाग्रतावस्था मे जो प्रभाव इन्द्रियो के ऊपर रह जाते है उन्हींके द्वारा यह पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करता है। स्वप्न देखने वाला आत्मा परम आत्मा नही है किन्तु यह अधीन वस्तुओ से प्रतिबन्धयुक्त आत्मा है। यही कारण है कि हम स्वप्नावस्था मे अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु का निर्माण नही कर सकते। यदि हम ऐसा कर सकते तो किसी को भी बुरा स्वप्न नही आता।[1] सुषुप्ति अवस्था मे मन तथा इन्द्रिया निश्चेष्ट रहती हैं एव आत्मा एक प्रकार से अपने-आप मे विलीन रहकर अपने यथार्थस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। शकर का तर्क है कि चूकि कर्म निरन्तर रहता है इसलिए आत्मा का अस्तित्व भी निरन्तर रहता है। फिर उसकी स्मृति भी होती है। आत्मानुसरण की चेतनता सिद्ध करती है कि जो आत्मा सोई थी वही जागी है। श्रुति इसका समर्थन करती है और यदि सुषुप्ति से आत्मा के नैरन्तर्य मे अन्तर आता तो श्रुति वाक्य निरर्थक हो जाता। यदि कोई व्यक्ति सोने से पूर्व 'क' हो और उठने पर 'ख' हो तो कर्मो की निरन्तरता नही बन सकती। यहा तक कि मुक्तात्मा भी जाग जा सकते। इसलिए यह स्पष्ट है कि सुषुप्ति अवस्था मे भी मृत्यु के समान व्यक्तित्व का मूल केन्द्र बिन्दु बना रहता है। इसके विरोध मे कुछेक स्वच्छद कथनो के रहते हुए भी यह माना गया है कि सुषुप्ति अवस्था मे भी वह उपाधि जो जीव के साथ ससार मे प्रतिबन्ध के रूप मे रहती है गुप्त रूप मे विद्यमान रहती है। यदि सुषुप्ति अवस्था मे, जैसे कि मोक्ष की अवस्था मे, विशेष बोध का सर्वथा अभाव रहता है तो किस प्रकार और किसमे सोया हुआ मनुष्य अविद्या के बीज को स्थिर रखता है जिसके कारण जागना होता है? सुषुप्ति अवस्था मे सम्पन्न ब्रह्म के साथ अस्थायी सयोग तथा मोक्ष अवस्था के स्थायी सयोग मे शकर भेद करते हैं। "सुषुप्ति की अवस्था मे सीमित करने वाली उपाधि विद्यमान रहती है जिससे कि जब यह फिर अस्तित्व के रूप मे आती है तो जीव भी अस्तित्व के रूप मे आ जाता है।"[2] मोक्ष की अवस्था मे अविद्या के सब बीज भस्म हो जाते हैं।[3]

मूर्छा की अवस्था को एक पृथक स्थान दिया गया है क्योकि यह जाग्रतावस्था से भिन्न है। इस अवस्था मे इन्द्रिया पदार्थो का प्रत्यक्ष नही करती। विषयरूप जगत् के प्रति यह उपेक्षा भाव अन्य पदार्थों पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान देने का परिणाम नही है। यह स्वप्नो की अवस्था से भिन्न यो है कि इसमे चेतना साथ नही रहती, मृत्यु से भिन्न इसलिए है कि शरीर मे जीवन रहता है, तथा सुषुप्ति से भिन्न इसलिए है कि शरीर के अन्दर बेचैनी रहती है। मूर्छित मनुष्य को इतनी आसानी के साथ नही जगाया जा सकता जैसे कि सोते हुए मनुष्य को जगाया जा सकता है। मूर्छा की अवस्था को सुषुप्ति तथा मृत्यु की मध्यवर्ती अवस्था कहा गया है। "इसका सम्बन्ध मृत्यु से इसलिए है, क्योकि यह मृत्यु का द्वार है। यदि आत्मा का कोई अपुरस्कृत कर्म शेष रहता है तो वाणी की शक्ति

1 शाकरभाष्य, 3 2, 6।
2 शाकरभाष्य, 3 2, 9।
3 देखें, गौडपाद की कारिका पर शाकरभाष्य 3 14।

तथा मन मूर्छित मनुष्य में लौट आते हैं। यदि कुछ कर्म शेष नहीं रहते तब श्वास और उष्णता भी छोड़ जाते हैं।"[1]

तात्त्विक रूप मे प्रत्येक मनुष्य सर्वोपरि यथार्थसत्ता है एवं अपरिवर्तनशील और अपरिवर्तित तथा खण्डरहित है और तो भी हम आत्मा की उत्पत्ति तथा विकास की चर्चा करते हैं। क्योंकि जब आश्रित वस्तुएं उत्पन्न होती अथवा विलय होती हैं कहा [illegible] आत्मा उत्पन्न हुई अथवा विलीन हुई।[2] प्रतिबन्ध करनेवाली आश्रित [illegible] प्रदान करती हैं।[3] उन्हीसे देह [illegible] की अवधि का भी निर्णय होता है आदि-आदि।[4] इन्हीं आश्रित वस्तुओं के भेद से आत्माओं में भी भेद है, और इसलिए न तो कर्मो मे और न कर्मफलों मे ही परस्पर मिश्रण होने पाता है।[5] यहां तक कि यदि जीवात्मा को आभास अथवा प्रतिबिम्ब रूप भी मान लिया जाए जैसे कि जल के अन्दर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो भी आत्माओं के व्यक्तित्व मे कोई अन्तर नहीं पड़ता।[6]

36. साक्षी और जीव

प्रत्येक जीवात्मा के अन्दर बोधग्राहक, भावुकतापूर्ण तथा इच्छाशक्ति-सम्बन्धी अनुभूति के अतिरिक्त भी एक साक्षीरूप आत्मा विद्यमान है। शाश्वत चैतन्य को साक्षी कहा जाता है जब कि अन्तःकरण इसके नियामक रूप में सहायक का कार्य करता है, और उक्त सहायक के द्वारा यह प्रमेय विषयों को प्रकाशित करता है। इस सहायक की उपस्थिति परम चैतन्य को साक्षी रूप आत्मा में परिणमन करने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि यह साक्षीभूत चैतन्य प्रमेय पदार्थों की अनुभूति के साथ से ही उत्पन्न होता है अनुभूति इसका कारण नहीं है किन्तु यह अनुभूति को पूर्व कल्पना कर लेता है। जब आंतरिक अवयव मनुष्य के अन्दर प्रविष्ट होता है और उसका इन्द्रिय-सम्बन्धी एक घटक अवयव बन जाता है तो उसे हम जीव कहते हैं।

साक्षीरूप आत्मा तथा जीव मे परस्पर क्या सम्बन्ध है? अर्वाचीन अद्वैत विषयक पुस्तकों में इसकी परिभाषा विविध रूप से की गई है। विद्यारण्य के मत में साक्षीरूप आत्मा निर्विकार चैतन्य है और यह स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों की प्रतीति का अधिष्ठान है, उनके कार्यों का निरीक्षण करता है किन्तु किसी प्रकार भी उनसे प्रभावित नहीं होता।[7] जब फलोपभोग करने वाले अहं का

1. शांकरभाष्य, 3 : 2, 10।
2. शांकरभाष्य 2 : 3, 17।
3. शांकरभाष्य, 3 : 2, 9।
4. सुरेश्वरकृत वार्तिक, पृष्ठ 110-113।
5. शांकरभाष्य, 2 : 3, 49।
6. "जिस प्रकार सूर्य की एक प्रतिबिम्बित प्रतिकृति में जब कम्पन होता है तो उसी कारण से दूसरी प्रतिबिम्बरूप प्रतिकृति में भी कम्पन नहीं होने लगता इसी प्रकार जब एक आत्मा का कर्मों तथा कर्मफलों के साथ सम्बन्ध होता है तो दूसरी आत्मा उसी कारण से उसके समान सम्बद्ध नहीं होती। इसलिए कर्मों तथा कर्मफलों में परस्पर मिश्रण नहीं होने पाता।" (शांकरभाष्य, 2 : 3, 50)।
7. पंचदशी, 8। सिद्धान्तलेश (अध्याय 1) में विद्यारण्य के मत का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है . "देहद्वयाधिष्ठानभूतं कूटस्थचैतन्यं स्वावच्छेदकस्य देहद्वयस्य साक्षादीक्षणान्निर्विकारत्वात्साक्षीत्युच्यते।"

कार्य समाप्त हो जाता है तब दोनो देहो का प्रकाशन इसी साक्षी रूप आत्मा के कारण होता है। यह साक्षीरूप आत्मा दोनो प्रकार की देहो से प्रत्यक्षरूप मे उनके सहचारीरूप से कुछ समय भी अभिज्ञ होती है जबकि फलोपभोक्ता आत्मा कार्य करना बन्द कर देती है। साक्षीरूप आत्मा की निरन्तर उपस्थिति, अह रूप आत्मा से भिन्न किसी अन्य के सम्बन्ध मे जो मानसिक विचार है उनकी शृ खला मे, द्रष्टा के व्यक्तित्व को स्थिर रखने मे सहायक होती है। विद्यारण्य का मत इस विषय मे स्पष्ट है कि साक्षीरूप आत्मा को जीव के समान न समझना चाहिए, क्योकि जीव जीवन तथा इसके व्यापारो मे भाग लेता है। उपनिषद इसे गुणो से रहित केवल साक्षीमात्र तथा निरीक्षक प्रतिपादन करती है और यह फलो का उपभोक्ता नही है।[1] एक अन्य स्थान पर विद्यारण्य इसकी तुलना एक ऐसे दीपक के साथ करता है जो रगमच पर रखा जाने पर नाटक के सूत्रधार, नाटक की नायिका तथा दर्शको सबको एक समान प्रकाशित करता है और इन सबकी अनुपस्थिति मे भी स्वय प्रकाशित होता है।[2] उक्त दृष्टान्त निर्देश करता है कि साक्षीरूप आत्मा एक समान जीव (लौकिक अह), अन्त -करण तथा प्रमेय पदार्थो को प्रकाशित करता है तथा सुषुप्ति अवस्था मे जब ये सब अनुपस्थित रहते हैं तब अपने-आप भी प्रकाशित रहता है।[3] निष्क्रियता साक्षी आत्मा को विशुद्ध ब्रह्म के नाम से कहा गया है, जो प्राणिमात्र का सार्वभौम तथा व्यापक आत्मा है, और जो प्रत्येक जीवात्मा का अधिष्ठान होने के कारण जीवो के अनेक होने से अनेक रूप प्रतीत होती है। साक्षी रूप आत्मा और सोपाधिक ब्रह्म, अर्थात् ईश्वर, एक ही नही हैं, क्योकि इसे निरपेक्ष परम तथा निर्गुण कहा गया है, और न साक्षी रूप आत्मा तथा जीव ही एक हैं, क्योकि जीव कर्ता तथा कर्मो और उनके फलो का भोक्ता है।[4] पञ्चदशी तथा तत्त्व प्रदीपिका मे प्रकट किए गए मत को शकर का समर्थन प्राप्त है।

कौमुदी का कथन है कि साक्षीरूप आत्मा ईश्वर का एक विशेष रूप है। इस पुस्तक का लेखक अपना आधार श्वेताश्वतर उपनिषद् के उस वाक्य को मानता है जो ईश्वर को साक्षी कहता है। वह ईश्वर जीव की क्रियाशीलता तथा कार्य से विरत होने से अभिज्ञ होते हुए भी किसी प्रकार भी उनसे विचलित नही होता।[5] वह जीव के अन्दर व्यापार करता है, उसकी अविद्या को तथा उससे सम्बद्ध अन्य सबको प्रकाशित करता है। जब सब क्रियाए रोक दी जाती हैं, जैसे कि सुषुप्ति अवस्था मे, तब उसे प्रज्ञा के नाम से पुकारा जाता है।[6] तत्त्व-शुद्धि का लेखक इस विचार से सहमत है। 'ईश्वर साक्षी है' यह प्रथम विचार को व्यक्त करने का धार्मिक अथवा लौकिक प्रकार है। हमे शकर के

1 तुलना करें "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेताश्वतर उपनिषद)।

2 नृत्यशालास्थितो दीप प्रभु सभ्याश्च नर्तकीम।
दीपयेदविशेषण तदभावेऽपि दीप्यते ॥ (पचदशी, 10 11)।

3 वही, 10 12।

4 तत्त्वप्रदीपिकायामपि मायाशबलिते सगुणे परमेश्वरे 'केवलो निर्गुण' इति विशेषणनुपपत्त सयप्रत्य मून विशुद्ध ब्रह्म, जीवाद् भेदेन साक्षीति प्रतिपाद्यत इत्युदितम। (सिद्धान्तलेश, 1)।

5 परमेश्वरस्यैव रूपभेदा कश्चित जीवप्रवृत्तिनिवृत्त्योरनुमन्ता स्वयमुदासीन साक्षी नाम, (सिद्धान्तलेश, 1)।

6 देखें, वेदान्तसूत्र, 1 3 42।

लेखों में इसका समर्थन मिलता है। उपनिषद् के इस प्रसिद्ध वाक्य पर[1] टीका करते हुए जिसमें दो पक्षियों को एक ही वृक्ष पर बैठे हुए बताया गया है, शंकर कहते हैं : "इन दोनों में से जो इस प्रकार वृक्ष पर बैठे हुए हैं, एक जो क्षेत्रज्ञ है और सूक्ष्म-शरीर धारण करता है, अज्ञान के कारण कर्मों के फलों को जो सुख तथा दुःख रूप में प्रकट होते हैं खाता है (अर्थात् उनका उपभोग करता है), जो नाना प्रकार की स्थितियों मे स्वादु है। दूसरा जो नित्य प्रभु है, निर्मल तथा बुद्धि सम्पन्न और अपने स्वरूप में स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है तथा सत्त्वगुण से सम्पन्न है, वह नही खाता (अर्थात् कर्मफल नही भोगता); क्योंकि वह भोक्ता तथा भोग्य दोनों का संचालक है।" उसका केवल साक्षी होना ही संचालन के समान है, जैसा कि किसी राजा द्वारा होता है।"[2]

कुछेक अन्यों का कहना है कि अविद्यारूप उपाधि से युक्त जीव ही साक्षीरूप आत्मा है क्योंकि वस्तुतः निरीक्षक है किन्तु कर्ता नहीं है। केवल उसी अवस्था मे जब कि वह अन्तःकरण के साथ अपना तादात्म्य-सम्बन्ध मान लेता है वह कर्ता तथा भोक्ता बनता है।[3] इस प्रकार जीव के दो पहलू हैं, एक यथार्थ तथा दूसरा अयथार्थ, अर्थात् साक्षी निष्क्रिय रहते हुए केवल दर्शकरूप का तथा दूसरा अभिमानी रूप कर्ता तथा भोक्ता का। उक्त प्रकार के मत में यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि सर्वत्र व्याप्त अविद्या को साक्षीरूप जीव की उपाधि माना जाए तो इस साक्षीरूप जीव को केवल अपने ही मन को नही अपितु अन्य समस्त प्राणियों के मनों को प्रकाशित करने योग्य होना चाहिए। किन्तु अनुभव से इसकी पुष्टि नहीं होती। इस प्रकार जीव ही अन्तःकरण की उपाधिसमेत साक्षीरूप आत्मा है और यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न है। सुषुप्ति मे समझा जाता है कि यह सूक्ष्मरूप में रहता है और इस प्रकार तीनों अवस्थाओं मे यह विद्यमान रहता है। लौकिक 'अहं' तथा साक्षीरूप आत्मा मे भेद यह है कि जहा अन्तःकरण लौकिक 'अहं' का गुण है यह साक्षीरूप आत्मा की उपाधि है जो उसमें प्रतिबन्ध लगाती है।[4] वेदान्त परिभाषा का यह मत है तथा अन्य मतो के साथ इसका विरोध भी नही है क्योंकि इसका निर्देश है कि परम निरपेक्ष चैतन्य जब यह किसी व्यक्ति विशेष विषयी के अन्दर कार्य करता है तो साक्षी कहलाता है। नित्य चैतन्य अथवा आत्मा को जीव साक्षी की संज्ञा दी गई है उस अवस्था मे जब कि यह मनुष्य के शरीररूपी यन्त्र के अन्दर कार्य करता है तथा जब यह विश्व के अन्दर व्यापार कार्य करता है तब इसे ईश्वर साक्षी कहते हैं। दोनों अवस्थाओं मे उपाधि भेद ही दो भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का कारण है। प्रथम प्रकार के साक्षी में अन्तःकरण तथा शरीर इत्यादि उपाधियां हैं और दूसरे प्रकार के साक्षी अर्थात् ईश्वर के विषय में सत् रूप समग्र जगत् उपाधि है। ईश्वर जगत् की आत्मा है जबकि जीव मनुष्य की आत्मा है।

1 मुण्डकोपनिषद् 3 : 1, 1।

2 पश्यत्येव केवल दर्शनमात्रेण हि तस्य प्रेरयितृत्वम् राजवत्। (शांकरभाष्य, मुण्डकोपनिषद्, 3 · 1, 1)।

3. केचिद् अविद्योपाधिको जीव एव साक्षाद् द्रष्टृत्वात् साक्षी ; जीवस्यान्तःकरणतादात्म्यापत्त्या कर्तृत्वाद्यारोपभाक्त्वेऽपि स्वयमुदासीनत्वात्. (सिद्धान्तलेश, 1)।

4 अन्तःकरणोपधानेन जीवः साक्षी···अन्तःकरणविशिष्टः प्रमाता, (सिद्धान्तलेश, 1)।

37. आत्मा और जीव

हम जीवगत 'अह' का सारवत्ता अथवा सरलता के रूप मे कोई विशेष लक्षण निर्धारित नही कर सकते । वह एक आणविक इकाई नही है किन्तु एक अत्यन्त जटिल रचना है। यह विशिष्ट व्यक्तिगत केन्द्र की चेतनामय अनुभूतियो की एक सुव्यवस्थित सयुक्त इकाई है जिसका अपने-आप मे निर्धारण प्रारम्भ मे ही शारीरिक सघटन तथा अन्य अवस्थाओ के द्वारा होता है। शरीर और इन्द्रिया आदि इसकी अनुभूति के अन्दर प्रविष्ट होकर इसमे एक प्रकार की एकता तथा निरन्तरता का सचार करते है। शरीररूपी यन्त्र के साथ सम्बद्ध चैतन्य विशुद्ध सीमित है जिसमे चैतन्य की विषयवस्तु के भाग के रूप मे शारीरिक अवस्थाए सम्मिलित है। जिस प्रकार शरीर का निर्माण क्रमश होता है इसी प्रकार इसकी चैतन्ययुक्त अनुभूति भी क्रमश बढती है। सान्त आत्मा अपने चैतन्य का अन्तिम कारण नही है। अह रूप आत्मा लौकिक चैतन्य का अनुभव एकत्व है जो समय के अन्दर विकसित हो रहा है। यह एक विचार-सम्बन्धी रचना है अथवा भावात्मक विचार का प्रमेय विषय है।[1] यह उसी व्यक्ति के अन्दर स्थान परिवर्तन करता रहता है और इसलिए निर्विकार तथा अपरिवर्तनीय सारतत्त्व के साथ इसकी एकात्मता नहीं हो सकती। यह आत्मा जो लौकिक अह (जीवात्माओ) का अधिष्ठानरूप आधार है न परिवर्तित होता है और न किसी प्रकार के मनोवेगो का अनुभव करता है।

यद्यपि वह अचिन्त्य है तो भी इसका मनुष्य जीवन के पूर्वेतिहास से कोई सम्बन्ध नही है जिसका यह भक्तिपूर्वक सहचारी भाव से अनुसरण करता है। निरन्तर साक्षी के रूप मे जिसकी कल्पना की गई है वह आत्मा केवल एक चित्रपट का कार्य करती है। अथवा यह ऐसी आधारभूमि है जिसके ऊपर मानसिक तथ्य अभिनय करते हैं। हम यह नही कह सकते कि ये इससे उत्पन्न होते है, क्योकि यथार्थ के ऊपर उनका कुछ असर नही होता जिसको भ्रमवश आत्मा मान लिया जाता ह। केवल इसीलिए कि हम उन्हे ठीक-ठीक नही समझ सकते, वस्तुए अपने स्वरूप मे परिवर्तन नही कर लेती। किस प्रकार निर्विकार आत्मा सान्तरूप मे प्रकट होती है एव किस प्रकार बुद्धि का नित्यप्रकाश किसी भी बाह्य-साधन के द्वारा अन्धकारावृत हो सकता हे क्योकि यह सब सम्बन्धो से मुक्त है ? यह पुराना प्रश्न है कि किस प्रकार यथार्थ लौकिक रूप मे आ जाता है। शरीर इन्द्रियो, मन तथा इन्द्रियविषयरूप उपाधियो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से ही आत्मा को लौकिकरूप प्राप्त होता है। किन्तु आत्मा तथा मनोवैज्ञानिक आत्मा के मध्य का यह सम्बन्ध अव्याख्येय है, मायारूप है अर्थात रहस्यमय है। यदि आत्मा नित्य स्वतन्त्र तथा विशुद्ध चैतन्य है और उसे किसीकी चाह नहीं, वह करती भी कुछ नहीं है, तब वह शरीरधारी आत्मा के रूप मे गति तथा इच्छा का कारण कैसे बन सकती है ? उत्तर मे कहा जाता है कि "एक ऐसी वस्तु है जो स्वय मे गति रहित है तो भी अन्य वस्तुओ मे गति उत्पन्न कर सकती है। चुम्बक अपने-आप मे गति रहित है किन्तु फिर भी यह लोहे मे गति उत्पन्न करता है।"[2] जब हम सान्त आत्माओ के अनन्त आत्माओ के साथ सम्बन्ध मे कथन करते हैं तो हमे ऐसी सीमित उपाधियो का प्रयोग विवश होकर करना होता है जो ठीक-ठीक उपयुक्त नही बैठती।

1. तुलना करें, वाड 'साइकोलाजिकल प्रिंसिपल्स', पृष्ठ 361 382।
2. शांकरभाष्य, 2 2 2।

जीवात्मा तथा ब्रह्म के मध्य जो सम्बन्ध है और जिसका वर्णन ब्रह्मसूत्र में किया गया है शंकर उसके विषय में आश्मरथ्य, औडुलोमी तथा काशकृत्स्न द्वारा प्रकट किए गए विचारों के ऊपर विचार-विमर्श करते हैं। आश्मरथ्य अपना आधार ऐसे उपनिषद् वाक्यों को बनाता है जो जीवात्माओं तथा निरपेक्ष परब्रह्म के मध्यगत सम्बन्ध की तुलना आग की चिनगारियों तथा आग के परस्पर सम्बन्ध के साथ करता है। जिस प्रकार अग्नि से निकलती हुई चिनगारियां अग्नि से सर्वथा भिन्न नहीं हैं, क्योंकि वे रूप मे अग्नि के समान हैं और दूसरी ओर सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं क्योंकि उस अवस्था में उन्हें न तो अग्नि से ही पृथक् रूप मे पहचाना जा सकता और परस्पर भी उनमें भेद किया जा सकता; इसी प्रकार जीवात्मा न तो सर्वोपरि यथार्थसत्ता से भिन्न ही हैं क्योंकि इसका तात्पर्य होगा कि वे ज्ञानस्वरूप सत्ता के स्वभाव के नहीं हैं, और न ही सर्वथा उससे अभिन्न हैं क्योंकि अवस्था मे वे एक-दूसरे से भिन्न न होंगे। इस प्रकार आश्मरथ्य इस परिणाम पर पहुंचता है कि जीवात्मा भिन्न भी हैं और ब्रह्म से भिन्न नहीं भी हैं।[1] औडुलोमि का मत है कि जीवात्मा, जो प्रतिबन्ध रूप शरीर, इन्द्रियों तथा मन आदि सहायकों के द्वारा सीमित है ब्रह्म से भिन्न है यद्यपि ज्ञान तथा ध्यान समाधि के द्वारा यह शरीर से बाहर निकलकर उच्चतम आत्मा के साथ ऐक्यभाव प्राप्त कर लेता है। वह मानता है कि उस जीवात्मा में जो मुक्ति को प्राप्त नहीं हुआ तथा ब्रह्म मे सर्वथा भेद है तथा मुक्त आत्मा ब्रह्म में सर्वथा तादात्म्यभाव है।[2] शंकर काशकृत्स्न के साथ सहमत हैं।[3]

जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्मरूप आत्मा का अंश नहीं हो सकता जैसाकि रामानुज का विचार है क्योंकि परब्रह्म देश व काल की परिधि से परे होने के कारण अंशरहित अर्थात् अखण्ड है। यह परमब्रह्म से भिन्न भी नहीं हो सकता जैसाकि मध्व कल्पना करता है क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, वह एकमात्र अद्वितीय जो है।[4] यह परब्रह्म का परिवर्तित रूप भी नहीं हो सकता जैसा कि वल्लभाचार्य का विचार है क्योंकि निरपेक्ष परमब्रह्म निर्विकार है। हम जीवात्मा को ईश्वर की कृति भी नहीं मान सकते क्योंकि वेदों में जहां अग्नि तथा अन्य तत्त्वों की रचना का वर्णन है वहां आत्मा की रचना का कोई वर्णन नहीं है। जीव न तो परब्रह्म से भिन्न है, न उसका अंश है और न उसका परिवर्तित रूप है। यह स्वयं आत्मा है। हम इसके स्वरूप को नहीं पहचानते, क्योंकि यह उपाधियों से आवृत्त है।[5] यदि यह सर्वोपरि आत्मा के समान न होता तो वे श्रुतिवाक्य जो अमरता का प्रतिपादन करते हैं सब निरर्थक हो जाएंगे। आश्मरथ्य की शिक्षाओं का उल्लेख करते हुए शंकर कहते हैं: "यदि जीवात्मा उच्चतम आत्मा से भिन्न होता तो उच्चतम आत्मा के ज्ञान से जीवात्मा के विषय मे ज्ञान उपलक्षित न होता और इस प्रकार एक अन्यतम उपनिषद् में प्रतिज्ञात यह वचन कि एक ही यथार्थसत्ता के ज्ञान के द्वारा हरएक वस्तु का ज्ञान प्राप्त

1. शांकरभाष्य, 1 : 4, 20।
2. शांकरभाष्य, 1 : 4, 21।
3. शांकरभाष्य, 1 : 4, 22।
4. शांकरभाष्य, 4 : 3, 14।
5. देखें, मुण्डकोपनिषद् पर शांकरभाष्य, 2 : 2, 1; कठोपनिषद्, 2 : 2, 1।

हो जाता है, पूर्ण न हो सकता।[1] तैत्तिरीय उपनिषद का भाष्य करते हुए शकर लिखते हैं "यह सम्भव नही है कि दो ऐसी वस्तुओ मे जो सर्वथा एक दूसरी से भिन्न है कभी तादात्म्य नही हो सकता।"[2] और जैसाकि उपनिषदो मे कहा है कि ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म हो जाता है तो ज्ञाता को अवश्य ब्रह्म के साथ एकात्मरूप होना चाहिए।

सर्वोपरि आत्मा तथा जीवात्मा के मध्य आध्यात्मिक एकत्व स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु सर्वोपरि आत्मा तथा जीवात्मा के सम्बन्ध विषयक प्रश्न के ऊपर इससे पूर्व विचार नही हो सकता जब तक कि यह इसके यथार्थस्वरूप के ज्ञान तक नही पहुच जाता। हमारी लौकिक अह रूप आत्माए गति करती हैं तथा उपाधियो के भार से दबी रहती हैं।[3] यह अच्छी तरह जानते हुए कि निरपेक्ष परब्रह्म तथा जीवात्मा के बीच जो सम्बन्ध है उसे तर्क द्वारा स्पष्ट रूप मे प्रतिपादन नही किया जा सकता शकर कुछ ऐसे दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं जिन्हे अर्वाचीन वेदान्त मे विशद प्रकल्पनाओ के रूप मे परिष्कृत किया गया है।

आयरलैण्ड के एक व्यक्ति के विषय मे ऐसा कहा जाता है कि जब उससे पूछा गया कि अनन्त आकाश का वर्णन करो तो उसने उत्तर मे कहा कि "आकाश एक ऐसे सन्दूक के समान है जिसका ढक्कन, पेंदी और पार्श्वभाग उनमे से निकाल दिए गए हो।' जिस प्रकार एक सन्दूक अपनी सीमाओ से घिरा हुआ आकाश नही है ठीक इसी प्रकार ऐसे जीवन जो मन तथा इन्द्रियो से बद्ध हैं ब्रह्म नही है। जब हम अपने सीमित व्यक्तित्व के पार्श्वभागो तथा तली को अलग कर देते है तो हम ब्रह्म क साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते है। प्रतिबन्ध की प्रकल्पना[4] का प्रयोग कई स्थानो पर किया गया है। शकर एक ब्रह्माण्डीय आकाश तथा आकाश के हिस्सो की उपमा का प्रयोग करता है क्योकि इसके द्वारा ब्रह्म तथा जीवात्माओ के साथ सम्बन्ध विषयक कुछेक लक्षण भली प्रकार समझाए जा सकते हैं। जब घडे आदि पदार्थों के द्वारा बनाई हुई परिधिया हटा दी जाती हैं तो सीमाबद्ध आकाश के भाग एक ही ब्रह्माण्डीय आकाश के अन्दर समा जाते है। इसी प्रकार जब देश, काल तथा कारणकार्य सम्बन्ध की परिधिया हटा दी जाती हैं तो जीव निरपेक्ष परब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मे आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त जब एक घडे के अन्दर का आकाश धूल और धुए से भरा हो तो आकाश के अन्य भागो पर इसका असर नही पडता। इसी प्रकार

1 शाकरभाष्य 1 4 20।

2 तैत्तिरीय उपनिषद पर शाकरभाष्य 2 8 15।

3 जब यह कहा जाता है कि आत्मा के सान्निध्य के कारण अहकार ज्ञाता बन जाता है जो अहकार में प्रतिबिम्बित हो जाता है तो रामानुज पूछता है क्या चैतन्य अहकार का प्रतिबिम्ब होता है अथवा अहकार चैतन्य का प्रतिबिम्ब बनता है ? प्रथम प्रकार का विकल्प स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि आप चैतन्य के अन्दर ज्ञाता होने के गुण का आना पसन्द नही करेंगे और यही बात दूसरे विकल्प के विषय मे भी है क्योकि जड अहकार कभी भी ज्ञाता नही बन सकता। (रामानुज भाष्य 1 1 1)।

4 अवच्छेद्यावच्छेदक। शाकरभाष्य 1 3 7, 1 2 6 1 3 14-18 1 2 11 12 2, 1, 14 22, 2 3 17, 3 2 34।

जब एक जीव को सुख या दुःख का अनुभव होता है तो अन्यो पर उसका असर नही होता। एक देश (आकाश) विशेष को उसकी उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न नाम दिए जाते हैं किन्तु आकाश स्वय अपरिवर्तित है। जब निरपेक्ष पर-ब्रह्म इन उपाधियों के अन्दर लीन हो जाता है (उपाधि-अन्तर्भाव) तो ब्रह्म का स्वरूप आवरण से छिपा रहता है। (स्वरूप-तिरोभाव) और निरपेक्ष ब्रह्म की स्वाभाविक सर्वज्ञता भी उपाधि से परिच्छिन्न रहती है। उपाधियों का यह सम्पर्क उस स्फटिक के समान है जो लाल रग के साहचर्य से लाल रंग का प्रतीत होता है।[1] आकाश शरीरो के साथ चलता नही और न पात्रों के साथ गतिमान होता है।[2] घट के अन्दर जो आकाश है उसे अनन्त आकाश का अश परिवर्तित रूप नही कहा जा सकता; ठीक इसी प्रकार जीव आत्मा के अश अथवा परिवर्तित रूप नही हैं। जिस प्रकार आकाश बच्चों को धूल से मैला दिखाई देता है इसी प्रकार आत्मा अज्ञानी पुरुषों को बद्ध अथवा पाप से मलिन दिखाई देती है। जब घड़ा बनता है या टूटता है तब उसके अन्दर का आकाश न बनता है न बिगडता है। इसी प्रकार आत्मा न उत्पन्न होती है और न मरती है। वेदान्त के कुछेक अर्वाचीन अनुयायी इस मत को मानते हैं और उनके मत मे जीव विश्वात्मा है जिसे अन्त करण सीमित करता है।

प्रतिबन्ध की प्रकल्पना के विरुद्ध यह तर्क किया जाता है कि जब एक जीव अपने पुण्यकर्म की क्षमता के कारण स्वर्ग जाता है तो स्वर्ग मे इससे प्रतिबन्धित बुद्धि उससे भिन्न है जो मर्त्य लोक मे इससे प्रतिबंधित थी। इसका यह असंतोष-जनक नैतिक असर होगा कि हमारे कर्मों का नाश (कृतनाश) तथा ऐसे कर्मों का फल मिलना जो हमने किए न हो (अकृताभ्यागम)। हम यह नही कह सकते कि वही सीमित बुद्धि स्वर्ग को जाती है क्योंकि इसका तात्पर्य यह होगा कि जो सर्वव्यापी है उसमे हम गति का आधान करते हैं। हम घड़े को जहा-जहां हटाएगे ईथर (आकाश) वहां-वहां उसके साथ नही जाता।

कर्मफलों के उपभोक्ता आत्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिए उक्त आत्मा को सान्त बुद्धि न मानकर प्रतिबिम्बित बुद्धि माना गया है जो कि अवियुक्त रूप मे प्रतिबिम्ब डालने वाले अर्थात् मन के साथ सम्बद्ध है।[3] बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य मे[4] शंकर प्रतिबिम्ब विषयक कल्पना का सुझाव देते हैं। जिस प्रकार जल के अन्दर सूर्य और चन्द्रमा केवल प्रतिबिम्ब मात्र हैं यथार्थ नही हैं अथवा जिस प्रकार एक श्वेतवर्ण स्फटिक में लाल रंग केवल लाल फूल का प्रतिबिम्ब मात्र है यथार्थ नहो, क्योकि जल को हटा लेने से केवल सूर्य और चाद रह जाते हैं प्रतिबिम्ब नही रहता और लाल फूल के हटा लेने से केवल श्वेतवर्ण स्फटिक अपरिवर्तित रूप मे रह जाता है इसी प्रकार सब तत्त्व तथा जीवात्माएं एक मात्र यथार्थसत्ता के अविद्या के अन्दर पड़े प्रतिबिम्ब मात्र हैं और यथार्थ कुछ नही। अविद्या के नाश होने पर प्रतिबिम्बों का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और केवलमात्र यथार्थसत्ता रह जाती है। निरपेक्ष परब्रह्म बिम्ब

1 शांकरभाष्य, 3 : 2, 15। आत्मबोध, पृष्ठ 16।

2 शांकरभाष्य, 1 : 2—8।

3 शांकरभाष्य, 2 : 3, 50 गौडपाद की कारिका पर शांकरभाष्य, 1 : 6।

4 शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, 2 : 4, 12। और भी देखें, ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, पृष्ठ 12।

(मौलिक सत्ता) है, और जगत् प्रतिबिम्ब है। इसके अतिरिक्त यह विश्व अपनी नानाविध आकृतियो मे एक समुद्र के समान है जिसमे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नाना प्रकार से पडता है और शकर इस मत का समर्थन इसलिए करते है कि इसका महत्त्व एक विशेष सुझाव मे है अर्थात् यह देखकर कि इससे इस विषय का प्रतिपादन हो जाता है कि प्रतिबिम्ब की मलीनताओ से मौलिक वस्तु अछूती बची रहती है। जिस प्रकार प्रतिबिम्बो मे परस्पर भेद दर्पणो के परस्पर भेद के कारण होते है, इसी प्रकार निरपेक्ष परब्रह्म जो अद्वितीय है भिन्न-भिन्न अत करणो मे प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न जीवात्माओ के रूप मे प्रकट होता है। जब उस जल मे जिसमे कि प्रतिबिम्ब पडते हैं हल-चल होती है तो प्रतिबिम्ब भी स्वय विक्षुब्ध प्रतीत होता है। जहा प्रतिबन्ध की कल्पना के समर्थक यह मानते हैं कि अविद्या जो एक सूक्ष्म वस्तु है अन्त करण के रूप मे अवच्छेदक अथवा प्रतिबन्ध है अथवा विशेषण अथवा जीव का एक आवश्यक भाग है जिसके बिना जीव का अस्तित्व नही रह सकता वहा प्रतिबिम्ब सम्बन्धी प्रकल्पना के समर्थक अत करण को केवल उपाधि मानते हैं[1] और यह एक ऐसा द्रव्य है जो विशुद्ध बुद्धि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है और यह इसके लिए उपहार स्वरूप है। किन्तु जीव के वास्तविक स्वरूप के साथ इसका कोई सम्बन्ध नही है।

वेदान्त के कुछेक अर्वाचीन अनुयायी इस मत को मानते हैं और जीव को विश्वात्मा का अन्त करण के अन्दर पडा हुआ प्रतिबिम्ब मानते हैं।[2] यदि जगत् छाया मात्र है तो ब्रह्म सारवान् द्रव्य है जो इस छाया का कारण है। प्रतिबिम्ब विषयक प्रकल्पना की अनेक आधार पर समीक्षा की जाती है। एक आकृतिविहीन वस्तु किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब नही डाल सकती और विशेष करके आकृतिविहीन प्रक्षेपक (यथा दर्पण आदि) मे तो सर्वथा ही नही डाल सकती। विशुद्ध प्रज्ञा और अविद्या दोनो आकृतिविहीन हैं। यदि जीवात्मा एक प्रतिबिम्ब है तो वह पदार्थ जिसका प्रतिबिम्ब पडता है अवश्य प्रक्षेपक के बाह्य होना चाहिए और यथार्थसत्ता को भी जो मौलिक है अवश्य ही विश्व तथा समस्त सृष्टि के पदार्थों से परे होना चाहिए। यह इस दर्शन के अन्तर्यामिता-सम्बन्धी विचार के प्रतिकूल है। प्रतिबिम्ब सम्बन्धी प्रकल्पना भी प्रतिबन्ध परक विचार की समस्याओ से मुक्त नही है। प्रत्येक मन का प्रतिबिम्ब बुद्धि के कारण है जो इसका समीपवर्ती है। और इस प्रकार परिणाम यह निकलेगा कि उसी एक मन के प्रतिबिम्ब भिन्न स्थानो मे भिन्न होगे। इस प्रकार की समीक्षा बुद्धि के समान स्वरूप को भुला देती है। यदि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तो यह ब्रह्म से भिन्न है और इसीलिए यथार्थ नही है। विवरण नामक ग्रन्थ का लेखक इस समस्या का एक समाधान प्रस्तुत करता है। आखो से निकलने वाली किरणें प्रक्षेपक से टकराती हैं। वापस लौटती है और वास्तविक चेहरे को देखने योग्य बनाती है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब स्वय मौलिक है। इस विचार को अर्थात् विम्बप्रतिविम्बाभेदवाद (अथवा मूल विम्ब तथा प्रतिबिम्ब मे अभेद)

1 विशेषण एक ऐसा आवश्यक विधेय है जो कि काय मे समवेत सम्बन्ध से उपस्थित रहता है अर्थात् ऐसी वस्तु जिसका वर्णन किया है किन्तु उपाधि वर्णित वस्तु का आवश्यक गुण नही है। रग एक रगीन वस्तु का विशेषण है किन्तु एक मिट्टी का पात्र उस आकाश की उपाधि है जिसे यह अपने अन्दर रोक रखता है।

2 अन्त करणेषु प्रतिबिम्ब जीवचैतन्यम्, (वेदान्तपरिभाषा 1)।

को, स्वीकार नहीं किया गया। यदि अलंकार की शाब्दिक व्याख्या करें तो हमें एक पृथक् ज्योतिर्मय वस्तु की आवश्यकता है, दूसरी वह वस्तु जिसके ऊपर छाया डाली जाएगी, और एक तीसरी वस्तु जो प्रकाश को बीच में रोकती है। प्रतिबिम्ब के लिए एक वास्तविक अस्तित्व रखने वाले माध्यम की आवश्यकता है जो विक्षेप से भिन्न हो किन्तु यह ब्रह्म के अद्वैतभाव के प्रतिकूल जाता है। ऐसे व्यक्ति जो प्रतिबन्ध और प्रतिबिम्ब सम्बन्धी दोनों ही कल्पनाओं को अस्वीकार करते हैं[1] कहते हैं कि अपने सत्यस्वरूप से अनभिज्ञ निर्विकार ब्रह्म ही जीव है। शंकर तथा सुरेश्वर दोनों का झुकाव इस मत की ओर है शरीरधारी चैतन्य ब्रह्म का एक अव्याख्येय रूप है।[2] जीव प्रकट होता है किन्तु कैसे प्रकट होता है सो हम नहीं जानते।

38. ईश्वर और जीव

यदि ईश्वर ब्रह्म है, और यदि जीव भी आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म के समान है, और यदि दोनों प्रतिबन्धों के अधीन हैं तो ईश्वर तथा जीव के मध्य का भेद बहुत न्यून हो गया। शंकर का मत है कि जहां ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वव्यापक है, वहां जीव अज्ञानी है, लघु आकृति तथा दुर्बल है। "यह प्रभु जो निरतिशयोपाधि से युक्त है[3] जीवात्माओं के ऊपर हीनतर प्रतिबन्धक सहायकों के साथ शासन करता है।[4] ईश्वर सदा अविद्या से मुक्त है।[5] ईश्वर के प्रतिबन्धों से उसके ज्ञान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ईश्वर की माया उसके अधीन है और इसलिए ईश्वर के स्वरूप का आवरण नहीं होता। अविद्या उसके गुणों को छिपाती नहीं, ठीक जैसे कि एक कांच, जो पदार्थों का आवरण बनकर भी उनके गुणों को नहीं ढंकता है। माया, जो ईश्वर की उपाधि है, शुद्ध तत्त्व से बनी है और अविद्या अथवा अन्तःकरण को उत्पन्न नहीं करती। यह उसके वश में है और सृष्टि-रचना तथा संहार में उसकी सहायता करती है। यह माया अथवा आत्माभिव्यक्ति की शक्ति, जो ईश्वर के अन्दर है, जिसका परिणाम जगत् का अनेकत्व है, जीवात्मा के अन्दर भ्रम उत्पन्न करती है जिससे मिथ्या विश्वास के कारण वह जगत् तथा उसके अन्तर्गत आत्माओं को स्वतन्त्र समझने लगता है। अविद्या माया का परिणाम है। ब्रह्म का विशुद्ध चैतन्य जब इन अर्थों में माया के साहचर्य में आता है तब उसे ईश्वर कहते हैं और जब अविद्या के साहचर्य में आता है तो उसे जीव कहा जाता है। चूंकि सृष्टिरचना में ईश्वर की कोई स्वार्थमयी इच्छा अथवा हित नहीं है, इसलिए उसे अकर्ता कहा गया है, किन्तु जीव कर्ता है। ईश्वर की पूजा होती है और वह कर्मों के अनुसार पुरस्कार वितरण करता है और उसे ब्रह्म के साथ अपने ऐक्यभाव का ज्ञान है। इस प्रकार सब समय वह अपने मन में परमानन्द का सुख प्राप्त करता है। जीव पूजा करने वाला है जिसे अपने दिव्य उत्पत्ति-स्थान का ज्ञान नहीं है और इसीलिए उसे संसार में आना होता है। धार्मिक क्षेत्र में हमें स्वामी तथा भृत्य का-सा संबंध दिखाई

1. इन प्रकल्पनाओं की समीक्षा के लिए देखें, सांख्यप्रवचनभाष्य, 1 : 152 और 153।
2. देखें, बृहदारण्यक उपनिषद् पर शांकरभाष्य, 2 : 1।
3. शांकरभाष्य, 2 : 3, 45।
4. शांकरभाष्य, 2 : 3, 43।
5. नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात् (शांकरभाष्य, 3 : 2, 9)।

देता है।[1] अन्य स्थान पर सान्त जीवात्माओ को ईश्वर का अशरूप बताया गया है जैसे चिनगारिया अग्नि का अश होती हैं।[2]

अर्वाचीन अद्वैत मे ईश्वर तथा जीव के सम्बन्ध-विषयक भिन्न-भिन्न सुझाव दिए गए हैं जिनके ऊपर हम यहा सक्षेप मे दृष्टिपात करेंगे। 'प्रकृतार्थविवरण' मे कहा गया है "उस माया मे, जो अनादि तथा अवर्णनीय है जो जड जगत् का उत्पत्ति-स्थान है, और जिसका सम्बन्ध केवल बुद्धि के ही साथ है, बुद्धि का प्रतिविम्ब ही ईश्वर है। उसी माया के असख्य लघु अशो के अन्दर जो प्रतिविम्ब है, जिसमे दो शक्तिया आवरण तथा विक्षेप की है और जिसे अविद्या कहा जाता है वह जीव है।"[3] इस ग्रन्थकर्ता के अनुसार माया और अविद्या पूर्ण इकाई तथा अशो का वर्णन करते हैं। माया ईश्वर के आश्रित है, अविद्या जीव के। इसी प्रकार का मत सक्षेप शारीरक ने भी स्वीकार किया है यद्यपि यहा पूर्ण इकाई तथा अशो का भेद अविद्या तथा अन्त करण का है, जिसमे अविद्या कारण है और अन्त करण कार्य है।[4] चूकि यह ग्रन्थकार प्रतिबिम्ब की प्रकल्पना का समर्थन करता है, यह पूर्ण इकाई तथा अशो के विभाग को स्वीकार नही करता। पचदशी नामक ग्रन्थ एक प्रकार का भेद मानता है जो इससे मिलता-जुलता है। मूल प्रकृति का आद्य जडतत्त्व, जिसमे तीन गुण हैं, दो रूप का है। इसका वह भाग जो सत्त्व, रजस् तथा तमस् के अधीन नही है, किन्तु उक्त दोनो पर आधिपत्य रखता है, माया कहा जाता है और ईश्वर के आश्रित है, और वह जिसमे सत्त्व अन्य दोनो गुणो के अधीन है, अविद्या कहलाता है और यह जीव के आश्रित है। यहा माया और अविद्या का भेद सख्या के रूप मे नही, अपितु गुणपरक है। पचदशी के एक वाक्य मे भी यह आता है जहा पर प्रकृति को अपनी विक्षेपक शक्ति के साथ माया कहा गया है और वही जिसमे छिपाने की शक्ति का प्राधान्य है, अविद्या है।[5] पचदशी मे[6] विद्यारण्य आकाश के अन्दर इस प्रकार भेद करता है (1) घट के अन्दर आवद्ध, अर्थात् घटाकाश, (2) वह आकाश जो वादलो तूफानो आदि के साथ घडे के अन्दर पडे हुए जल मे प्रतिविम्बित होता, अर्थात् जलाकाश, (3) सीमाविहीन महदाकाश, और (4) वह आकाश जो जल के कणो मे प्रतिविम्वित होता है, जो फुहार के समान है, जिसे आकाश के बादलो मे अवस्थित रूप मे अनुमान के द्वारा पीछे से वरसने वाली वर्षा के द्वारा जाना जा सकता है, अर्थात् मेघाकाश। ठीक इसी प्रकार चितिशक्ति के भी चार विभाग है (1) कूटस्थ, अर्थात अपरिवर्तनशील चितिशक्ति, जो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरो से प्रतिबद्ध है; (2) चितिशक्ति, जिसका मन के अन्दर प्रतिविम्ब पडता है, जिसे मूल से अपरिवर्तनशील चितिशक्ति के ऊपर बलात् ऊपर से

1 2 3 43।

2 शाकरभाष्य, 2 3, 43।

3 अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसम्वन्धिनी माया, तस्या चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर । तस्या एव परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेष्वावरणविक्षेपणशक्तिमत्स्वविद्याभिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीव इति (सिद्धान्तलेश, 1)।

4 अविद्याया चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर, अन्त करणे चित्प्रतिबिम्बो जीव (सिद्धान्तलेशसग्रह)।

5 1।

6 6।

आरोपित किया गया है—यह जीव है; (3) अनन्त चितिशक्ति, और (4) वह चितिशक्ति जो सब प्राणियों के मन के सूक्ष्म[1] प्रभावों के अन्दर प्रतिबिम्बित होती है और जो मेघरूपिणी माया के अन्दर अवस्थित है और जिसका ईश्वर-रूपी ब्रह्म के ऊपर प्रभाव है। उक्त विवरण से यह परिणाम निकलता है कि जहां जीव मन के अन्दर प्रतिबिम्बित चितिशक्ति का नाम है, ईश्वर वह चितिशक्ति है जो माया के अन्दर प्रतिबिम्बित है और माया प्राणिमात्र के सूक्ष्म प्रभावों से रंजित है। 'पंचपादिकाविवरण' नामक ग्रन्थ का रचयिता जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानता है।[2] कहीं-कहीं माया से प्रभावित जीव को ही ईश्वर कहा गया है।

39. एकजीववाद तथा अनेकजीववाद

शंकर ऐसे सिद्धांत का समर्थन नहीं करते जिसके अनुसार अविद्या की उपाधि से युक्त जीव एक है जिस प्रकार अविद्या एक है। क्योंकि यदि सब आत्माएं एक जीव हैं तब जब पहली-पहली बार कोई एक आत्मा मुक्ति को प्राप्त होती है तो सांसारिक जीवन की समाप्ति हो जानी चाहिए थी किन्तु तथ्य ऐसा नहीं है। ब्रह्म अविद्या से उत्पन्न भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों की उपाधि से प्रतिबन्धित अनेक जीवात्माओं में विभक्त हो जाता है, किन्तु माया और अविद्या के ब्रह्म के साथ सम्बन्ध की समस्या ने अर्वाचीन अद्वैत के अन्दर अनेक प्रकल्पनाओं को जन्म दिया जिनमें से मुख्य दो हैं—एकजीववाद और अनेकजीववाद।

जीव एक है और भौतिक शरीर भी एक है। यह शरीरधारी चितिशक्ति यथार्थ है एवं अन्य शरीरों में स्वप्न में देखे गए शरीरों के समान चितिशक्ति का अभाव पाया जाता है। अनेकत्व विशिष्ट जगत् एक जीव की अविद्या के कारण कल्पित किया गया है किंतु इस प्रकार के एकजीववाद का ब्रह्मसूत्र, 2 : 1, 22 ; 2 : 1, 33 और 1 : 2, 3 के साथ विरोध होता है। जगत् का स्रष्टा जीव नहीं है, किन्तु जीव से भिन्न ईश्वर है, जिसकी सृजनात्मक क्रियाशीलता केवल लीला के कारण है। क्योंकि उसकी समस्त इच्छाएं पहले से ही पूर्ण हैं इसलिए उसे सृष्टिरचना के लिए अन्य कोई प्रेरक भाव नहीं हो सकता। इस प्रकार इन लेखकों का मत है कि मुख्य जीव एक ही है अर्थात् हिरण्यगर्भ जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और अन्य जीव उसी एक जीव के केवलमात्र आभास हैं जो हिरण्यगर्भ के प्रतिबिम्ब हैं और इन्हीं आभासों के साथ बन्धन तथा अन्तिम मोक्ष सम्बद्ध है। ये लेखक जीव की एकता के सिद्धान्त को इस शर्त के साथ स्वीकार करते हैं कि अनेक भौतिक शरीर भी विद्यमान हैं जिनमें से प्रत्येक के अन्दर एक अयथार्थ जीव है। एकजीववाद का एक तीसरा भेद भी है जिसके अनुसार जीव एक ही है जो अनेक शरीरों में से प्रत्येक के अन्दर रहता है। चितिशक्ति का

1 धीवासना।

2 ये सब बृहदारण्यक उपनिषद्, 6 : 7, और भगवद्गीता के ऐसे वाक्यों को, जैसे 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' को अपने मत की पुष्टि के लिए आधार मानते हैं।

व्यक्तित्व भौतिक शरीरो के सख्या-सम्बन्धी भेद के ऊपर निर्भर करता है। इस मत को माननेवाले कहते हैं कि इस प्रकार की आपत्ति मे कोई बल नही है कि जिस प्रकार वही एक व्यक्ति जब कि उसके शरीर के भिन्न-भिन्न भाग प्रभावित होते हैं नाना प्रकार की अभिज्ञता रखता है, इसी प्रकार एक ही जीव उन सब सख्याकृत भिन्न-भिन्न भौतिक शरीरो के, जिनमे वह रहता है, सुख-दु ख से भी अभिज्ञ हो सकता है। क्योकि उनका कहना है कि यह तथ्य कि हमे पूर्वजन्मो के सुख एव दु ख का ज्ञान नही रहता, यह सिद्ध करता है कि यह भौतिक शरीरो का सख्याकृत भेद ही है जिसके कारण इस प्रकार के ज्ञान मे बाधा आती है। वे जीव के एकत्व-सम्बन्धी सिद्धान्त के साथ-साथ शरीरो के अनेकत्व को भी मानते है।

अविद्या के सम्बन्ध मे जो भिन्न-भिन्न विचार हैं उनके कारण अनेकजीववाद के भी विविध भेद है (1) अन्त करण के रूप मे जो अविद्या की उपस्थिति है वह जीव के स्वरूप के लिए अनिवार्यत. आवश्यक है। यदि अन्त -करण आदि ऐसी उपाधिया है जो किसी जीव का निर्माण करती हैं और यदि ऐसी इन्द्रिया अनेक है तो परिणाम यह निकलता है कि जीव भी अनेक हैं। (2) दूसरो का मत है कि यद्यपि अविद्या एक है जो ब्रह्म के अन्दर अधिष्ठान के रूप मे निवास करती है तथा ब्रह्म को ढक देती है, और मोक्ष भी इसके अतिरिक्त और कुछ नही कि इस अविद्या का नाश हो जाता है तो भी अविद्या के हिस्से हैं और यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि अविद्या के कुछ हिस्से (जिसे दूसरे शब्दो मे इसकी विक्षेपकशक्ति कहा गया है) ऐसे मनुष्य की अवस्था मे विद्यमान रहते हैं जो जीवन्मुक्त हो जाता है; यह अविद्या एक अश मे तब समाप्त हो जाती है जब ब्रह्म का ज्ञान उत्पन्न होता, और अन्य भागो मे, अर्थात् शेष प्रतिबन्धक अवस्थाओ मे, पूर्व की भाति निरन्तर रहती है। (जीवन्मुक्त अवस्था मे जीवात्मा अपने शरीर के अस्तित्व से अभिज्ञ रहता है, सस्कार के रूप मे अथवा मानसिक धारणा के रूप मे जो अविद्या का सूक्ष्म-रूप है; विदेह-कैवल्य की अवस्था मे शरीर की चितिशक्ति विलुप्त हो जाती है।) (3) एक तीसरे प्रकार का मत, उक्त मत के ही सदृश, यह मानता है कि बन्धन अविद्या तथा चितिशक्ति के कारण ही होता है और इस सम्बन्ध की समाप्ति पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। अविद्या का चितिशक्ति के साथ क्या सम्बन्ध है, इसका निर्णय अन्त करण अथवा मन के द्वारा ही होता है। जब ब्रह्म के साक्षात्कार से मन की समाप्ति हो जाती है तब अविद्या का सम्बन्ध भी चितिशक्ति के उस विशेष भाग के साथ समाप्त हो जाता है यद्यपि पूर्व की भाति चितिशक्ति के शेष भागो के साथ यह सबध बराबर बना रहता है। (4) अविद्या एक पूर्ण इकाई है और वह प्रत्येक जीव मे पूर्णरूप से अवस्थित रहती है, जो जीव से ब्रह्म को ढके रहती है। परम मोक्ष तब प्राप्त होता है जब अविद्या किसी जीव का साथ छोड देती है। (5) अविद्या के कई भाग हैं, जो प्रत्येक जीव को बाटे गए हैं। जीव-विशेष से सम्बद्ध अविद्या के नाश का नाम ही मोक्ष है। जगत् का उत्पत्ति-स्थान एक पूर्ण इकाई के रूप मे सामुदायिक रूप से सब अविद्याओ के अन्दर है और ज्यो ही इनमे से कोई भी सूत्र नष्ट हो जाता है तो यह समाप्त हो जाता है और उस समय शेष बचे हुए सूत्रो से जैसे कपडे का एक नया थान उत्पन्न होता है इसी प्रकार यह जगत् सब अविद्याओ से सामूहिक रूप

में उत्पन्न होता है और जब जीवों में से कोई भी मोक्ष प्राप्त करता है तो यह समाप्त हो जाता है और उस समय सब जीवों के लिए एक सामान्य नया जगत् शेष अविद्याओं से उत्पन्न होता है। (6) अविद्या का प्रत्येक भाग एक पृथक् तथा भिन्न प्रकार के जगत् को जन्म देता है। ऐन्द्रिक तथा समस्त जगम जगत् प्रत्येक व्यक्ति के लिए परिमित है और उस व्यक्ति-विशेष के अन्दर रहनेवाली अविद्या से उत्पन्न हुआ है उसी प्रकार जिस प्रकार केवल प्रतीति-रूप चांदी (जिसका आभास सीप के स्थान पर हुआ है) प्रत्येक द्रष्टा के लिए भिन्न है और उस व्यक्तिविशेष के अन्दर रहनेवाली अविद्या से उत्पन्न हुई है।"'किन्तु ये अनेक जगत् एकरूप प्रतीत हों यह उसी प्रकार एक बिलकुल मिथ्या विचार है जैसे कि यह कहना कि "मैंने भी उसी चांदी को देखा जिसे तुमने देखा।" (7) कुछ दूसरों का मत है कि जगत् केवल एक ही है जिसका उपादान कारण माया है और जो ईश्वर में रहती है और जो जीवों में रहनेवाली अविद्याओं के पुञ्ज से भिन्न है। दूसरी ओर इन अविद्याओं का काम अंशतः ब्रह्म को ढकना और अंशतः प्रतीतिरूप पदार्थों का विक्षेप द्वारा प्रदर्शन करना है, जिस प्रकार मिथ्यारूप चांदी जो सीप के अन्दर दिखाई दी, तथा वे पदार्थ जो स्वप्न में दिखाई दिए।[1]

40. नीति शास्त्र

इस विश्व के समग्र विषय क्रम में केवल मानवीय जीवात्मा ही एकमात्र नैतिक नियमों के अधीन है। वह जानता है कि उसके सम्बन्ध अनन्त तथा सान्त दोनों लोकों के साथ हैं। सान्त जगत् में अनन्त का व्यापार कवितामय दृष्टिकोण नहीं वरन् दर्शन-शास्त्र का एक गम्भीर सत्य है। उस अनन्त (ब्रह्म) का समस्त सान्त जगत् में निवास है और मनुष्य इस तथ्य से अभिज्ञ है। यद्यपि वह एक ऐसे संघटन में आबद्ध है जिसका निर्णीत निर्माण यान्त्रिक रचना की दृष्टि से भूतकाल के द्वारा होता है तो भी सत्य, सौन्दर्य और कल्याण रूपी अनन्त आदर्श उसके अन्दर कार्य करते हैं तथा उसे इस योग्य बनाते हैं कि वह उक्त आदर्शों में चुनाव कर सके तथा उन्हें अधिकतर क्रियात्मक रूप दे सके। यह इसलिए है चूंकि अनन्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति अत्यधिक रूप में मनुष्य नीति के ही अन्दर होती है और इसलिए मनुष्य नैतिक तथा तार्किक क्रियाशीलता का अधिकारी है।[2] जब तक जीवात्मा उक्त नैतिक आदर्शों के लिए परिश्रम करता है किन्तु उन्हें प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह बन्धन में है; किन्तु जैसे ही वह अनन्त ब्रह्म के समीप पहुंचता है, आन्तरिक खिंचाव शिथिल हो जाता है और आनन्द के स्वातंत्र्य से उसकी आत्मा पूर्ण हो जाती है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही जीवन की समस्त क्रियाओं का उद्देश्य है क्योंकि ब्रह्म केवल सत् एवं चित् ही नहीं है वरन् आनन्द-रूप भी है। और इस प्रकार समस्त प्रयत्नों का ध्येय है।[3] ब्रह्मात्मकत्व अथवा अनन्त यथार्थ सत्ता के साथ तादात्म्य भाव का बोध ग्रहण ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, "प्रत्येक आत्मा का समुचित भोजन"[4] और एकमात्र

1 देखें सिद्धान्तलेश।
2 प्राधान्यात्"'कर्मज्ञानाधिकारः (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, 2 : 1)
3 'प्रयोजनसूचनार्थम् आनन्दग्रहणम्' वेदान्तपरिभाषा पर शिखामणि की टीका-प्रस्तावना)।
4 फीड्रस, पृष्ठ 247।

सर्वश्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण है। जब तक इसकी प्राप्ति नही होती, सान्त आत्मा अपने-आप मे बेचैन रहती है।" तीनो लोको मे प्रत्येक व्यक्ति सुख के साधनो के सचय के लिए प्रयत्नवान् रहता है, दु ख के साधनो के लिए नही।"[1] सब मनुष्य सर्वोत्तम की खोज मे रहते है और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जैसा कि ब्राउनिंग ने भी कहा है

> "उन सबका, जो अपने मिथ्या कर्म के रहते हुए भी श्रेष्ठता से सम्पृक्त है, सभी का झुकाव ऊपर की दिशा मे है यद्यपि वे दुर्बल हैं, खान मे उगने वाले ऐसे वानस्पतिक पौधो के समान, जिन्होने कभी सूर्य का लाभ नही उठाया, वे केवल उसका स्वप्न देखते और अनुमान कर लेते है वह कहा हो सकता है, और इस प्रकार अपनी ओर से पूरा-पूरा पुरुषार्थ उस तक पहुचने के लिए करते हैं।"

ऐसे सर्वोत्तम फल भी जो हम सासारिक जीवन-रूपी वृक्ष से तोड सकते हैं, हमारे मुख मे जाकर भस्म हो जाते हैं। सर्वाधिक सुख नीरस हो जाता है, यहा तक कि स्वर्ग का जीवन भी अत्यल्प अथवा क्षणभगुर है। कल्याणकारी कर्ममात्र अथवा मधुर सगीतलहरी का आनन्द *अथवा* चिन्तनशील अन्तर्दृष्टि क्षणभर के लिए हमे अपने व्यक्तित्व के सकीर्ण क्षेत्र से ऊपर उठाता प्रतीत हो सकता है किन्तु ये सब हमे चिरस्थायी सन्तोष प्रदान नही कर सकते। केवल एक ही विषय ऐसा है जो हमे चिरस्थायी सन्तोष प्रदान कर सकता है और वह है ब्रह्म का अनुभव। यही सुख तथा शान्ति की सर्वोच्च अवस्था है एव जीवात्मा के विकास की पूर्णता है।[2] दुर्भाग्यवश हमें कष्ट इसलिए होता है कि हम इस जगत् मे लिप्त रहते हैं, इसके छायाभासो के ऊपर भरोसा रखने मे रुचि दिखाने और जब परिमित सन्तोष की उपहास-रूप प्रतिकृतिया, ज्योही हम उनके समीप पहुचने लगते है, विलोप हो जाती हे तो निराशा का अनुभव करने लगते है। "जीवात्मा पाप और सन्ताप मे निरतर नीचे ही नीचे डूबता जाता है जब तक वह यह समझता है कि यह शरीर ही आत्मा हे, किन्तु ज्यो ही उसे यह निश्चय हो जाता है कि यह विश्वात्मा का ही अश है, उसका दु ख-सन्ताप नि शेष हो जाता है।"[3] हम यथार्थ सत्ता को अपने किसी मानसिक आदर्श के अनुकूल बनाकर स्वार्थसिद्धि नही कर सकते किन्तु केवल मात्र उसका शासन कर सकते हैं। शकर की दृष्टि मे, दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति 'क्या होना चाहिए' मे नही, अपितु 'क्या है' इसके बोधग्रहण मे है। अनन्त सत्ता का यथार्थ सत्ता के रूप मे आध्यात्मिक ज्ञान हमे शाति और सुख की ओर ले जाता है।

समस्त नैतिक कल्याणकारी कार्यो का महत्त्व इसीमे है कि वे उद्देश्य-प्राप्ति के साधन हैं क्योकि वे भेदपरक जगत् से जकडे हुए हैं। आत्मसाक्षात्कार ही परम कल्याण-

1 शतश्लोकी, पृष्ठ 15।

2 "मोक्ष का सार असीम सुख तथा दु ख का नितात अभाव है। चूकि यह सर्वथा स्पष्ट है कि मनुष्य दोनो को चाहते हैं इसलिए मोक्ष की कामना सदा ही बनी रहती है।" (सक्षेप शारीरक, 1 67), तुलना करें, स्पिनोजा "हमारा समस्त सुख अथवा दु ख केवल ऐसे प्रमेय पदार्थ के ऊपर निर्भर करता है जिसके ऊपर हमारा प्रेम केन्द्रित है—किन्तु ऐसी सत्ता के प्रति प्रेम, जो नित्य और अनन्त है, मन को ऐसे सुख से भर देता है जिसमे शोक व दु ख का लेशमात्र भी नहीं है" ('द इट-लेक्टस् एमेंडेशन पृष्ठ 9 और 10)।

3 शाकरभाष्य, मुण्डकोपनिषद् पर, 3 1, 2।

कारी कार्य है एवं नैतिक कल्याणकारी कर्म केवल सापेक्ष दृष्टि से ही इस श्रेणी में आ सकते हैं। नैतिक दृष्टि से जो कल्याणकारी है वही अनन्त की प्राप्ति मे सहायक हो सकता है और जो नैतिक दृष्टि से अश्रेयस्कर है वह इसके प्रतिकूल है।

उचित कर्म वह है जो सत्ता को धारण करता है और अनुचित वह है जो असत्य से पूर्ण है।[1] जो कोई भी कर्म हमे उत्तम भविष्य जीवन की ओर ले जाते हैं वे कल्याणकारी कर्म हैं और जो हमे अधम प्रकृति के भविष्य जीवन की ओर ले जाते हैं वे पापकर्म हैं। जीवात्मा अपने अनन्त स्वरूप को उत्तम बनाने का प्रयत्न करता है और जगत् उसकी रचना है। ईश्वर मे विश्वास रखने वाले पुरुष को चाहिए कि वह समस्त विश्व से प्रेम करे, क्योंकि यह ईश्वर की कृति है। सच्ची शान्ति तथा श्रेष्ठता स्वाधिकार के प्रति आग्रह करने मे नही है, न व्यक्ति के निजी कल्याण के लिए प्रयत्न करने मे ही है, अपितु अपने को विश्व के यथार्थ सत् के प्रति भेंट-रूप मे समर्पण कर देने मे है। अहंकार का भाव सबसे अधिक अशुभ कर्म है तथा प्रेम और दया सबसे अधिक कल्याणकारी कर्म हैं। समाज-कल्याण के साथ अपनी एकता स्थापित करके हम यथार्थ मे अपने वास्तविक उद्देश्यों की प्राप्ति करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों का, जो अहंकार उत्पन्न करती हैं, दमन करना चाहिए; अभिमान का स्थान नम्रता को देना चाहिए, क्रोध का स्थान क्षमा को, परिवार के प्रति संकीर्ण आसक्ति के भाव का स्थान जीवमात्र के प्रति उपकार के भाव को लेना चाहिए। कर्म-मात्र का ही इतना महत्त्व नहीं है जितना कि उस इच्छा का है जो अपने स्वार्थमय हित का दमन करके सामाजिक हित की इच्छा को प्रधानता देती है। कर्तव्य के रूप में मनुष्य को इस प्रकार के अवसर दिए गए हैं कि वह अपने पृथक् आत्म-भाव को छोड़कर सारे जगत की उन्नति में अपनी उन्नति समझे। शंकर अपने समय की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए हमे उपदेश देते हैं कि शास्त्र द्वारा निषिद्ध पाप-कर्मों से हमे बचना चाहिए। वेद का स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तपश्चर्या और उपवास ये सब ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं।[2] ये सदाचार के पोषक हैं, आत्मा को पवित्र करते और अन्तर्दृष्टि को सूक्ष्म बनाते हैं। यद्यपि कुछेक अपवाद-स्वरूप आत्माएं सत्य को तुरंत ग्रहण कर ले सकती हैं तो भी एक साधारण मनुष्य के लिए समय और पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। जीवन के दैनिक कर्तव्यों की पूर्ति तथा गृहस्थ-सम्बन्धी पवित्रता की मांग[3] मन को ब्रह्म-साक्षात्कार के योग्य बना देती है।[4] वैदिक कर्मकाण्ड, यदि उसका नियमपूर्वक पालन किया जाए तो, अभ्युदय (अर्थात, यौगिक अर्थों में संसार-रूपी सोपान के ऊपर चढ़ना अथवा उन्नति करना) का कारण है किन्तु नि:श्रेयस् अर्थात् मोक्ष का कारण नहीं है।[5] जहां परम यथार्थ सत्ता के स्वरूप-ज्ञान के लिए आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान का परिणाम मोक्ष होता है वहां ईश्वर की पूजा किसी भी रूप मे नानाविध कार्यों की ओर

1. तुलना करें, "ऐसा प्रत्येक व्यक्ति, जो कुकर्म करता है, प्रकाश से घृणा करता है" (सेंट जॉन, 3 19)।

2. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4 : 4, 22।

3. शांकरभाष्य, 3 : 4, 26।

4. 4 : 1, 4।

5. मुण्डकोपनिषद् पर शांकरभाष्य, प्रस्तावना।

हमे ले जाती है यद्यपि ये सब सासारिक जगत तक ही सीमित हैं।[1] वे हमे स्वार्थपरक इच्छा, घृणा तथा आलस्य मे बचने मे एव दुख के समय धैर्य, शान्ति तथा स्थिरता प्राप्त करने मे सहायक होते ह। भक्तिपूर्वक ध्यान लगाने से ज्ञान-प्राप्ति होती है। भक्ति ज्ञान मे सहायक होती है। यथार्थ ज्ञान केवल ऐसे ही पुरुष प्राप्त कर सकते हैं जिनके मन कठोर नियन्त्रण द्वारा इसके लिए सज्जित है। इसका तात्पर्य यह नही है कि मन के अन्दर एक इस प्रकार के ज्ञान को डालना है जिससे वह वञ्चित है। सत्य आत्मा के मध्य मे विद्यमान है। वह अपना प्रकाश दे सके, इसके लिए मन को नश्वर जगत् की ओर मे हटाना चाहिए। हमे अपनी बोधग्रहण की शक्ति को ऐसा पारदर्शक बनाना चाहिए जमा कि लैम्प का शीशा होता है जिसमे से अन्दर का प्रकाश अपनी चमक देता है। "यद्यपि आत्मा सब कालो मे विद्यमान है और सब वस्तुओ मे है किन्तु वह सब वस्तुओ मे प्रकाशित नही होती। इसका प्रकाश केवल बोधशक्ति अथवा मेधा के द्वारा ही होता है जिस प्रकार प्रतिबिम्ब केवल चिकने धरातलो पर ही पड सकता है।"[2] शकर ने दार्शनिक ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया है और यह धार्मिक जीवन व्यतीत करने से ही प्राप्त हो सकता है। ज्ञान ही एकमात्र मोक्ष की ओर ले जाता है अन्य साधन परोक्षरूप मे उसकी प्राप्ति के लिए साधन बनते हैं।[3] "ब्रह्म को जानने की अभिलाषा ऐसे ही पुरुष के अन्दर उठती है जिनका मन पवित्र हो, जो कामनाओ के वश मे न हो और जो इस जन्म मे अथवा पूर्व-जन्मो मे किए कर्मो से स्वतन्त्र होकर लक्ष्यो तथा उनके साधनो के बाह्य एव अल्पकालिक मिश्रण से निराश हो चुका हो।"[4] शकर योगभ्यास के सिद्धान्त को मानते हैं जिसका मुख्य लक्ष्य है समाधि, जिसे उन्होने सराधन अथवा पूर्ण सन्तोष का नाम दिया है और जिसका अर्थ है इन्द्रियो को प्रत्येक बाह्य वस्तु से हटाकर अपने ही स्वरूप के अन्दर केन्द्रित करना। अद्वैत यम, नियम-आदि बहिरग साधनो तथा धारणा और ध्यान-रूपी अन्तरग साधनो मे भेद मानता है।[5] आभ्यन्तर माग है कि नित्य और अनित्य के अन्दर भेद करना चाहिए, लौकिक अथवा पारमार्थिक कल्याण के लिए सब प्रकार के स्वार्थपरक प्रयत्नो से अनासक्ति तथा साम, दाम, उपरति (त्याग), तितिक्षा, समाधि (एकाग्रता) तथा मानसिक श्रद्धा और अन्त मे मोक्ष-प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा की आवश्यकता है। इन सबसे सत्य ज्ञान का उदय होता है।[6]

एक ऐसा विचारक जो सत्य के एक विस्तृततर विचार की ओर पग बढा रहा

1 शाकरभाष्य, 1 1, 24, और भी देखें, 3 2 21।

2 सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
बुद्धया वेवावभासेत स्वच्छेपु प्रतिबिम्बवत ॥ (आत्मबोध पृष्ठ 17)

3 शाकरभाष्य, 4 1, 1, तत्तिरीय उपनिषद् पर शाकरभाष्य, 1 3।
प्लटो दार्शनिकों के लिए ज्ञान प्राप्ति का विधान करता है जिसका अन्तिम फल कल्याण (श्रेयस्) का विचार है तथा अन्यो के लिए सत्य सम्मति का जिसकी पहुच अपने स्थान तथा कर्तव्यो तक ही है। देखें 'फ़ाडो' और 'रिपब्लिक'। इसी प्रकार अरस्तु साधारण पुरुषो के लिए 'नैतिक धर्मों' का विधान करता है जा अधिकतर मानवीय व्यापार है' और ऐसे मनुष्या के लिए, जिनका लक्ष्य अमरत्व प्राप्ति है तक का प्रयोग बताया गया है "जो उत्तम तथा दैवीय वस्तुआ का बोध करा सकता है।" ('निकोमैकीन एथिक्स, 10 8)।

4 केनोपनिषद् पर शाकरभाष्य, प्रस्तावना और भी देखें, छान्दोग्य उपनिषद् पर शाकरभाष्य, प्रस्तावना, और 8 ‹, 1, बृहदारण्यक, 4 4 22, कठ 1 2 15।

5 वेदात प्रतिपादित श्रवण और मनन धारणा इसके उपायो के अनुकूल है। तथा निदिध्यासन ध्यान के और दर्शन समाधि के अनुकूल है।

6 शाकरभाष्य 3 4, 27।

है, अपने समय की सामान्य मान्यताओं की सर्वथा उपेक्षा नहीं करता। यद्यपि जन्म के ऊपर आश्रित वर्ण की व्यवस्था का प्रभाव शंकर की दृष्टि में शक्तिशाली नहीं रह गया था, तो भी, उन्होंने इसके अन्दर विश्वास के लिए गुंजाइश रखी है। इस प्रकार की परम्परागत प्रकल्पना के आधार पर, कि किसी वर्ण-विशेष में जन्म लेना आकस्मिक घटना नहीं है वरन् किसी पूर्व जन्म में किए गए आचरण का आवश्यक परिणाम है, शंकर का झुकाव उच्च वर्णों के मनुष्यों, देवताओं तथा ऋषियों के लिए ही वेदाध्ययन का अधिकार मानने की ओर है।[1] यद्यपि शंकर का यह मत है कि किसी भी वर्ण का कोई भी मनुष्य उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[2] उनका आदेश है कि ऐसे मनुष्यों को जो ब्राह्मण धर्म में प्रतिपादित जीवन के नियमों का पालन करते हैं, वर्णों तथा आश्रमों के लिए निर्दिष्ट कर्त्तव्यों पर आचरण करना चाहिए। यद्यपि ब्राह्मण का कार्य वेदाध्ययन करना तथा ज्ञान-सम्पादन करना है, अन्यों को पूजा इत्यादि करनी चाहिए तथा ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति के उसी सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिए।[3] शंकर के विचारों में इस प्रकार के दावे के लिए कि केवल वेदाध्ययन ही से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, समर्थन ढूंढना कठिन है। दर्शनशास्त्र तथा हिन्दू धर्म-सम्बन्धी अपने विचारों में भी शंकर ने परस्पर-विरोधी दावों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग को बिना किसी जाति तथा सम्प्रदाय के भेदभाव के पुरुष-मात्र के लिए खुला बताकर शंकर ने अपनी मौलिक मानवीयता का परिचय दिया है। इसीसे अपने वेदान्त दर्शन के तार्किक संकेतों के प्रति उनकी दृढ़ भक्ति का भी परिचय मिलता है किन्तु वे ब्राह्मण धर्म के इस प्रकार के विश्वास को भी मानते हैं कि विदुर के समान शूद्र, जिन्होंने उच्चतम ज्ञान प्राप्त किया, अपने पूर्व जन्म के आचरण के बल पर ही किया था। यदि किसी शूद्र के अन्दर इस समय सत्य को ग्रहण करने की योग्यता पाई जाती है तो हमें मानना चाहिए कि उसने पूर्व जन्म में वेद का अध्ययन किया है। इस प्रकार शंकर इस विश्वास का कि केवल द्विजाति के पुरुषों को ही मोक्ष-प्राप्ति का एकाधिकार प्राप्त है, उच्छेदन कर देते हैं। वे ऐसे सब व्यक्तियों को, जिन्हें आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त है, अपना गुरु मानने को उद्यत थे, भले ही वे ब्राह्मण हों अथवा अस्पृश्य शूद्र हों। "ऐसा व्यक्ति, जो इस लौकिक जगत् को अद्वैत के रूप में देखता है, मेरा सच्चा गुरु है चाहे वह चाण्डाल हो अथवा द्विज हो। यह मेरा दृढ़ विश्वास है।"[4]

आश्रम-सम्बन्धी नियमों के ऊपर बल दिया गया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य को संन्यासी बनना आवश्यक नहीं है। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषदों में गृहस्थों ने ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की तथा उसकी शिक्षा भी दी, तथापि संन्यासियों का अधिकार उक्त कार्य के लिए सर्वोपरि है; उनके लिए अन्यों की अपेक्षा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति आसान है, क्योंकि उनके लिए क्रियात्मक पूजा करना, गृहस्थ के कर्त्तव्य, (वैदिक क्रियाकलाप) आवश्यक कर्त्तव्य नहीं है। शंकर ने इस विषय पर बल दिया है कि जो आश्रम-धर्म का पालन करते हैं उन्हें मोक्ष-प्राप्ति से पूर्व अवश्य संन्यास ग्रहण करना

1. जनश्रुति (छान्दोग्य उप०, 4 : 1, 2), जिसे रैक्व ने शूद्र कहा यद्यपि जिसे उसने वेदों को पढ़ाया, और सत्यकाम जाबाल के आख्यानों की व्याख्या इस आधार पर की गई है कि जब तक शूद्र को सांसारिक जीवन में एक उच्च वर्ण में दीक्षित नहीं कर लिया जाता, वह ज्ञान की रक्षा करने के योग्य नहीं होता।

2 शांकरभाष्य, 3 : 4, 38।

3 पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति।

4. मनीषापञ्चक। और भी देखें, कौपीनपञ्चक, पृष्ठ 3 और 5।

चाहिए यद्यपि ऐसे व्यक्तियो के लिए जो आश्रमधर्म का पालन नही करते, यह आवश्यक कर्तव्य नही है। सन्यासियो की स्थिति ब्रह्म मे है (ब्रह्मसस्था.) "अन्य तीनो आश्रमो मे अवस्थित पुरुषो के लिए इस प्रकार की अवस्था प्राप्त करना असम्भव है, क्योकि श्रुति कहती ह कि यदि वे अपने-अपने आश्रमो के कर्तव्य-कर्मों तथा नियमो का पालन न करेंगे तो उनकी हानि होगी, किन्तु उक्त कर्तव्य कर्मों के करने से सन्यासी की कोई हानि नही होती।"[1] इनके अतिरिक्त, "यद्यपि ज्ञान-सम्पादन का आदेश सब किसी के लिए है वह चाहे जीवन के किसी भी सघ मे क्यो न हो, तो भी केवल सन्यासी का प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही मोक्ष-प्रप्ति की ओर ले जाता है, ऐसा ज्ञान नही जो कर्म से सयुक्त हो।[2] शकर ने हिन्दुओ के क्रियात्मक धर्म मे नियन्त्रण के अभाव का अनुभव किया और यह भी अनुभव किया कि उसका कोई सामान्य मानदण्ड भी नही है। अतएव उन्होने इस प्रकार सन्यासी सघ की एक ऐसी सस्था फिर से बनाई तथा हिन्दू धर्म के बौद्ध सघ के समान नियन्त्रण के लाभ भी पाप्त किए।[3] सन्यासव्रत की दीक्षा से दीक्षित सस्था मे स्त्रियो को प्रविष्ट करने के जो कुपरिणाम शकर के समक्ष थे उनसे उद्विग्न होकर शकर ने अपने मठो मे से स्त्रियो का बहिष्कार किया क्योकि उक्त मठ मुख्य रूप मे ज्ञान-प्राप्ति के पीठ थे और ऐसे व्यक्तियो के लिए आश्रम का कार्य करते थे जो स्वेच्छा से निर्धनता, जीवन की कठोर पवित्रता तथा जगत् की दासता से मुक्ति को स्वीकार किए हुए थे। शकर ने अपने स्थापित मठो मे जन्मगत जातिभेद की सर्वथा उपेक्षा की।

वर्णाश्रम धर्म के नियम हिन्दुओ के लिए आवश्यक हैं, क्योकि वे मनुष्य-समाज के उच्चतर मस्तिष्क के प्रवक्ता है। ऐसे व्यक्तियो के ऊपर जिनका जीवन केवल मनुष्य-समाज के लिए ही नही है, उक्त नियमो को बाहर से हठात् आरोपित किया गया है, ऐसा न समझना चाहिए। किसी भी व्यक्ति का नैतिक मूल्य पूर्णरूप से उसीके आधार पर नही आका जाना चाहिए जो कुछ वह मनुष्य-समाज को देता है। मनुष्य एक मिट्टी का ऐसा ढेला नही है जिसका बाहर से रूपान्तर किया जा सके। उसको अन्दर की प्रेरणा की आवश्यकता है। शास्त्र किसी मनुष्य को विशेष प्रकार का कार्य करने के लिए विवश नही करते, किन्तु एक जाति-विशेष के सामूहिक अनुभव रखने वाले मनुष्यो को केवल प्रेरणा देते हैं।[4] सामान्य सिद्धान्तो के अतिरिक्त परम्पराए भी स्थान-भेद से परिवर्तित होती रहती हैं।[5] ज्यो-ज्यो हम ऊपर की ओर उन्नति करते जाते हैं, नैतिक जीवन गहन होता जाता है।[6] प्रथा के अनुसार प्रचलित नैतिकता एक ऐसी वस्तु है जो सदा उन्नति करती रहती है। जीवन की वैदिक व्यवस्था ज्ञान के लिए

1 शाकरभाष्य, 3 4, 20।

2 शाकरभाष्य, मुण्डकोपनिषद की प्रस्तावना। सन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधन न कर्म सहितेति।

3 शकर के अनुसार विद्यारण्य (देखें, ऐतरेयोपनिषद पर भाष्य की प्रस्तावना) ने विविदिषा सन्यास अर्थात् जिज्ञासु के विद्वत्सन्यास एव मुक्त पुरुषो के सन्यास मे भेद किया है। इनमे से प्रथम तो ऐच्छिक है और दूसरा विद्या की प्राप्ति के पीछे आता है। पहले प्रकार का सन्यास यदि स्वीकार किया गया तो शास्त्रीय विधि से उसको निभाना चाहिए, दूसरे के लिए कोई नियम-व्यवस्था बाध्य नही करती। देखें, जीवन्मुक्तिविवेक।

4 ज्ञापक हि शास्त्र न कारकम्। और भी देखें, बृहदारण्यक उपनिषद् पर शाकरभाष्य 2 1, 20।

5 शाकरभाष्य, 1 · 1, 4।

6 वही।

अनिवार्य सहायक नही है। यहा तक कि ऐसे व्यक्तियों ने भी जिनका उक्त व्यवस्था में *अधिकार नही था, उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त किया है।* निर्धन लोग तथा जाति-बहिष्कृत भी प्रार्थना एवं पूजा तथा उपवास और स्वार्थ-त्याग के द्वारा ईश्वर की दया से उद्देश्य तक पहुंच जाते हैं।[1]

ऐसा पुरुष, जो उद्देश्य तक पहुंच गया है, सच्चा ब्राह्मण है, अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला है। जिस प्रकार से वह जीवन-निर्वाह करता है, शंकर ने उसका वर्णन किया है और निम्नलिखित वाक्यों को उद्धृत किया है :

> "जिसे उच्च वर्ण अथवा नीच वर्ण में जन्म लेनेवाला कोई भी नही जानता, न कोई शिक्षित विद्वान् अथवा अशिक्षित की कोटि में जानता है, न कोई जिसे पुण्य कर्मों को करनेवाला और न पापकर्मों के कर्ता-रूप मे जानता है, वही यथार्थ में ब्राह्मण है। जो कर्तव्यों में छिपे-छिपे रत रहता है और सर्वथा पूर्ण है उसका समस्त जीवन गुप्त रूप से ही बीतना चाहिए, मानो कि वह दृष्टिहीन, बधिर तथा इन्द्रियों से विहीन है; इस प्रकार यथार्थ ज्ञानी को संसार मे से गुजरना चाहिए।"[2]

यह एक ऐसा जीवन है जिसके अन्दर नम्रता तथा शान्ति का, पवित्रता तथा आनंद का भाव है किन्तु केवल चिन्तनशील निष्क्रियता में निमग्न रहना नही है। उसके कर्म उसके बन्धन का कारण नही बनते। उसका कर्म सामान्य अर्थों में कर्म नही है।[3] जहां कुछेक मुक्तात्मा केवल जीवन-धारण के लिए ही (जीवनयात्रार्थम्) न्यून से न्यून कर्म करने का व्रत लेते हैं; अन्य व्यक्ति सांसारिक कर्मों में लिप्त हो जाते है (लोक-संग्रहार्थम्)[4] मुक्तात्माओं की इस प्रकार की क्रियाशीलता वैयक्तिक दृष्टिकोण मे केन्द्रित नही होती[5] और इस प्रकार जीवात्मा को संसारचक्र में बांधनेवाली नही मानी जाती।[6] मुक्तात्मा—जो अपने पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त करते हैं, संसार-मात्र को अपने दृष्टान्त से मोक्ष का मार्ग निर्देश करते हैं।

1 शांकरभाष्य, 3 : 4, 36-39।

2 य न सन्त न चासन्त नाश्रुत न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्त न दुर्वृत्त वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढधर्माश्रितो विद्वान् अज्ञातचरित चरेत्।
अन्धवत् जडवच्चापि मूकवच्च मही चरेत्॥

(शांकरभाष्य, 3 4, 50, 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', अंग्रेजी-अनुवाद, पृष्ठ 144)

3 विदुष क्रियमाणमपि कर्म परमार्थतोऽकर्मैव (भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, 4 : 20)।

4 भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, 4 · 19।

5 शांकरभाष्य, 4 · 1, 13।

6. "केवल ऐसा ही पुरुष नि सन्देह आत्मज्ञानी है जो जाग्रतावस्था में प्रगाढ निद्रा की अवस्था के समान द्वैत को नही देखता, और यदि देखता भी है तो भी इसे अद्वैत ही की दृष्टि से देखता है; और जो कर्म करते हुए कर्मों के फलों से उन्मुक्त है।" (उपदेशसाहस्री, पृष्ठ 45)। "वही पुरुष यथार्थ में जीवन्मुक्त कहा जाता है जो अपने अहम्भाव को कर्म के साथ नही जोड़ता और न ही अपने मन के ऊपर किसी प्रकार का असर होने देता है।' "यथार्थ मे जीवन्मुक्त उसे कहा जाता है जो समस्त पदार्थों के साथ घनिष्ठतम सपर्क रखते हुए भी सदा ही शान्त और उदासीन रहता है जैसा कि किसी अन्य व्यक्ति के कार्य मे ही एव शान्ति तथा सन्तोष के भाव से पूर्ण हो।" राम ने वसिष्ठ से प्रश्न किया "मुझे बताइए कि इन दो प्रकार के व्यक्तियों मे कौन एक-दूसरे से श्रेष्ठ है—वह जो कि संसार मे विचरता हुआ भी शान्त रहता है मानो दीर्घकाल की समाधि से अभी उठा हो; अथवा वह

वैदिक निषेधाज्ञाओ और नैतिक नियमो की आवश्यकता ऐसे व्यक्तियो के लिए है जो संसारचक्र मे बधे हुए हैं किन्तु ऐसे पुरुष के जो इच्छा के समस्त वातावरण को पीछे छोड देता तथा संसार के भेदो की ओर से मुह मोड लेता है उनकी कोई आवश्यकता नही रहती।[1] प्रश्न उठाया जाता ह कि क्या मुक्तात्मा पुरुष जो चाहे वह कर सकता हे? शकर उत्तर देते है कि स्वार्थपूर्ण आसक्ति, जो कर्म प्रेरक है, मुक्तात्मा मे विद्यामान नही रहती इसलिए वह सर्वथा कोई कर्म नही करती।[2] कर्म की उत्पत्ति अविद्या से होती हे, इसलिए आत्मा के सत्य ज्ञान के साथ कर्म नही रह सकता।[3] जहा एक ओर इस प्रकार के समाधान मुक्तात्मा के सम्बन्ध मे सब प्रकार के कर्मो का निषेध करते प्रतीत होते हैं वहा शकर के साहित्य मे अन्य भी कितने ही वाक्य ऐसे है जो प्रतिपादन करते हैं कि मुक्तात्मा जो सब प्रकार की स्वार्थपरक इच्छाओ से परे है अनासक्ति के भाव से कर्म करता हे।[4] उसके लिए कुकर्म करना असम्भव है। नैतिक विधान से मुक्ति मोक्ष की अवस्था मे एक प्रकार के गौरव का विषय तथा अलकार (आभूषण) हे, ऐसा कहा गया है; किन्तु उक्त अवस्था नैतिक विधान के नियमो का उल्लघन करने के लिए कोई आमन्त्रण नही है। किसी भी अवस्था मे उक्त मोक्ष की दशा को नैतिकता की उपेक्षा के लिए प्रोत्साहन न मानना चाहिए। मुक्तात्मा ऊपर उठकर निरपेक्ष परमब्रह्म के साथ एक इस प्रकार के निकट-सम्बन्ध मे आ जाता है कि उसके लिए पापकर्म करना असम्भव हो जाता है। यथार्थ मे पापकर्म करने के यह सर्वथा अयोग्य हो जाता हे। शकर के उक्त विचार का ईसाई धर्म के स्वेच्छाचारी सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित विचार के साथ मिश्रण न करना चाहिए। यह निश्चित सत्य है कि "मुक्तात्मा के सम्मुख कोई उद्देश्य पूर्ति के लिए शेष नही रहता क्योकि वह सब कुछ प्राप्त कर चुका होता है",[5] तो भी वह ससार के कल्याण के लिए कर्म करता है। इसके अतिरिक्त, जहा एक ओर शकर का यह मत है कि मुक्तात्मा के लिए नैतिक बन्धन का कुछ अर्थ नही है, वे यह नही कहते कि वह नैतिक गुणो का परित्याग कर देता है।[6] नैतिक पूर्णता नैतिकता का अन्त नही, अपितु नैतिक व्यक्तित्व का ही अन्त करती है। सदाचार के नियमो का महत्त्व उसी समय तक रहता है जब तक हम अपने अन्त स्थ पशुभाव के साथ ऊपर उठने के लिए

जो जगत् के किसी एकान्त कोने मे समाधि लगा ले और उसी मे बैठा रहे ?" गुरु वसिष्ठ ने उत्तर मे कहा 'समाधि केवल उस आन्तरिक शान्ति का नाम है जो इस ससार तथा उन गुणो को, जो इस ससार की सृष्टि के कारण हैं, अनात्म रूप मे जानकर प्राप्त होती है। इस प्रसादगुणयुक्त शान्ति को अपने अन्दर से इस निश्चय के साथ प्राप्त कर लेने पर कि 'मुझे पदार्थ से कुछ प्रयोजन नही है, योगी चाहे तो ससार मे रहे, चाहे अपने को ससार से विरत करके समाधिस्थ हो जाए। हे राम! दोनो ही एक समान कल्याणकारी है यदि इच्छारूपी अग्नि उनके अपने अन्दर ठण्डी हो गई है" (योगवाशिष्ठ, जीवन्मुक्तिविवेक मे उद्धृत 1 और 4)।

1 तुलना करें, निस्त्रैगुण्ये पथि विचरता को विधि को निषेध ?

2 न च नियोगाभावात् सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसग · सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्तकत्वात अभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिन. (शाकरभाष्य, 2 3, 48)।

3 देखें शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद् प्रस्तावना।

4 भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, 4 : 21।

5 भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, 5।

6 सुरेश्वर कहता है "ऐसे पुरुष के लिए, जिसके अन्दर सर्वोपरि ब्रह्म का साक्षात्कार उदय होता है, अद्वेष तथा अन्य गुण एक प्रकार से स्वभाव रूप बन जाते हैं, जिसके लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नही। अब वे ऐसे गुण नही रहते जिनको प्राप्त करने के लिए इच्छापूर्वक प्रयत्न करना पड़े" (नैष्कर्म्यसिद्धि, 4 : 69)।

संघर्ष करते रहते हैं। जब कभी बुरे मार्ग पर जाने का भय हो तो वे हमें यथोचित मार्ग पर चलाने में सहायक होते हैं। जिस प्रकार हत्या तथा चोरी आदि के समान अपराधों के सम्बन्ध में बनाए गए नियमों का विधान एक सभ्य सुशिक्षित पुरुष के लिए नहीं है, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष परम्परागत नैतिकता के नियमों से बंधा हुआ नहीं है।

41 शंकर के नीतिशास्त्र पर किए गए कुछ आरोपों पर विचार

शंकर के नैतिक विचार अत्यधिक आलोचना के विषय रहे हैं और इसलिए हम उनमें से अनेक आरोपों पर यहां विचार करेंगे।[1] यदि समस्त अस्तित्व रूप जगत् ब्रह्म है तथा अनेकत्व विशिष्ट जगत् केवल आभासमात्र है तो फिर पुण्य व पाप में कोई वास्तविक भेद नहीं हो सकता। यदि जगत् केवल छाया-मात्र है तो पाप छाया से भी न्यून है। तब भी क्यों न मनुष्य पाप के साथ क्रीडा करके पाप का आनन्द भोगे, क्योंकि वे सब भी तो छायामात्र हैं। ऐसी अवस्था में यदि हम जंगली पशुओं से युद्ध करके इस जीवन-रूप स्वप्न में धर्म के अन्वेषण के लिए अपने हितों का स्वार्थत्याग करें तो हमें क्या लाभ होगा? यदि नैतिक भेद प्रामाणिक हैं तो जीवन भी यथार्थ है। यदि जीवन अयथार्थ है तो वे भी प्रामाणिक नहीं। उक्त सब प्रकार के आरोप स्वयं निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं यदि हम संसार के केवल भ्रान्तियुक्त स्वरूप को अस्वीकार कर दें। धर्म और अधर्म का नैतिक महत्त्व सर्वोपरि उद्देश्य के दृष्टिकोण से ही है।

जीवात्मा तथा ब्रह्म का आध्यात्मिक एकत्व मान लेने पर, यह कहा जाता है कि नीतिशास्त्र के आदेश-पत्र के लिए फिर कोई स्थान नहीं रह जाता। यदि ब्रह्म ही सब कुछ है तो फिर नैतिक पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं। इस आरोप का आधार यथार्थता और जीवन के मध्य भेद न करने से तथा नित्य और लौकिक के अन्दर भेद न करने से उत्पन्न होता है। शंकर ने यह कभी नहीं कहा कि लौकिक घटनाओं की निश्चित रूप में अपूर्ण तथा दोषयुक्त शृंखला तथा सत्य एवं अकाल ब्रह्म एक ही हैं। ब्रह्म की एकता का आध्यात्मिक सत्य लौकिक व्यवहार के स्तर पर किसी भी प्रकार से नैतिक भेदों की यथार्थता के ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकता। शंकर कहते हैं: "अग्नि एक ही है तो भी हम उसी अग्नि से बचते हैं जिसने शवों को जलाकर भस्मसात् किया है, अन्य किसी अग्नि से नहीं; इसी प्रकार सूर्य भी एक ही है तो भी हम उसके प्रकाश के केवल उस भाग से बचते हैं जो अपवित्र स्थानों के ऊपर पड़ता है किन्तु उस भाग से नहीं जो पवित्र स्थानों को प्रकाशित करता है। मिट्टी की कुछ वस्तुओं की हम कामना करते हैं, जैसे हीरे तथा पन्ने आदि, जब कि अन्य वस्तुओं से जो उन्हीं के समान मिट्टी से बनी हैं जैसे मृत शरीर आदि से हम दूर भागते हैं।"[2] ठीक इसी प्रकार यद्यपि परमार्थरूप में सब वस्तुएं ब्रह्म ही हैं तो भी उनमें से कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जिनका हम त्याग करते तथा अन्य ऐसी हैं जिनकी हम कामना करते हैं। 'मैं ब्रह्म हूं' (अहं ब्रह्मास्मि) इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि क्रियाशील आत्मा का परमार्थरूप ब्रह्म के साथ सीधा तादात्म्य है,[3] किन्तु उन मिथ्या उपा-

1. अद्वैत वेदान्त के नीतिशास्त्र की तीव्र समालोचना के लिए तथा ड्यूसन के उस नीतिशास्त्र के पुनः मूल्यांकन के लिए देखें, प्रोफेसर होग का लेख, 'अद्वैत एण्ड एथिक्स' जो मद्रास क्रिश्चियन कालेज मैगज़ीन, दिसम्बर 1916 में प्रकाशित हुआ है।

2 शांकरभाष्य, 2 . 3. 48।

3. मुख्यसामानाधिकरण्य।

धियो के दूर हो जाने पर, जो यथार्थरूप आत्मा अवशिष्ट रहती है उनका परस्पर तादात्म्य भाव है।[1] नैतिक समस्या इसलिए खडी होती है कि आत्मा के अनन्त रूप तथा उसके सीमावद्ध चोले मे, जो इसने स्वय धारण किया है, निरन्तर सघर्ष होता रहता है। वस्तुत मनुष्य की स्वाभाविक दशा है तो अखण्डता की ही, किन्तु वर्तमान भ्रष्टता की अवस्था उपाधियो के बल से उक्त दशा से पतन हो जाने के कारण है।[2] अपूर्णता के साथ हमारे सघर्ष का कुछ अर्थ नही होगा, यदि हम ऐसे दृष्टिकोण तक उठ सके जिससे हम यथार्थ सत्ता का दर्शन करते हैं। यह सघर्ष तब तक बराबर चलता ही रहेगा जब तक कि अनत से पृथक्त्व का सर्वथा ही उच्छेद नही कर दिया जाता। जब तक सीमित आत्मा यह नहीं जान लेती कि वह ब्रह्म है, वह अपने अन्दर ही बेचन रहती है तथा अपने आदिनिवास तक पहुचने के लिए तडपती रहती है। हम चूकि परिमित शक्ति वाले कर्ता हैं इसलिए हमारे अपने निश्चित कर्तव्य तथा गन्तव्य स्थान है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का उत्तरदाता स्वय है और किसी एक व्यक्ति द्वारा किए गए कर्म को कोई दूसरा व्यक्ति पूरा नही कर सकता।[3]

शकर के नीतिशास्त्र को बुद्धिपरक कहा जाता है, क्योकि अविद्या अथवा अभेद ही बन्धन का कारण है।[4] जीवन का मिथ्याज्ञान ही समस्त अनुभव तथा क्रियाशीलता का आधार है; सम्यक् ज्ञान अथवा एकत्व का ज्ञान ही हमे मोक्ष की ओर ले जाता है।[5] चूकि सर्वोच्च आत्मा तथा जीवात्मा के अन्दर भेद मिथ्या ज्ञान मे है,[6] हम सत्य ज्ञान के द्वारा ही इससे मुक्त हो सकते हैं। इस सबसे एक व्यक्ति यह विश्वास करने लगता है कि मोक्ष केवल आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का ही परिणाम है, नैतिक पूर्णता का परिणाम नही। ड्यूसन अद्वैत वेदान्त की इस विशिष्टता को इसके 'भूलभूत अभाव' का नाम देता है। वह कहता है "वेदान्त ठीक ही सत् के अपने अन्दर के सत्य ज्ञान को, अर्थात् हमारी अपनी ही आत्मा को एकमात्र स्रोत मानता है जिसके द्वारा हम सत्य ज्ञान तक पहुच सकते हैं, किन्तु यह भूल से ऐसी आकृति मे आकर ठहर जाता है जिसमे यह साक्षात् हमारे चैतन्य को एक ज्ञाता के रूप मे रुचिकर हो सकता है, यहा तक कि चाहे हम समस्त बौद्धिक सामग्री को पृथक् कर देने पर भी अर्थात् लौकिक जगत् इसे अनात्म के साथ सम्बद्ध कर दे, ठीक वैसे कि यह सर्वथा उचित रूप मे सर्वोच्च आत्मा का निवास, डेकार्ट की भाति, मस्तिष्क को नही अपितु हृदय देश को सकेत करता है।"[7] यदि एकाकी तथा एकमात्र सत्ता, अर्थात् ब्रह्म, पहले से ही पूर्ण तथा निर्दोष है और हमे इसके अतिरिक्त और कुछ करने को नही है कि इसकी यथार्थता को स्वीकार करें तथा अन्य सब वस्तुओ

1 बाधासामान्याधिकरण्य।

2 एकहार्ट पूछता है "मनुष्य को इससे क्या लाभ कि यदि वह राजा होकर भी अपने राजा होने का ज्ञान नही रखता?" स्वर्ग का राज्य एक छिना हुआ क्षेत्र है।

3 शाकरभाष्य, 3 3 53। और भी देखें 3 2, 9।

4 शाकरभाष्य, 2 3, 48।

5 शाकरभाष्य, 1 2—8। और भी देख, 3 2, 25 और 4 2 8, शाकरभाष्य 1 3, 19।

6 मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृत (शाकरभाष्य, 1 3, 19)। देखें, गौडपाद की कारिका पर शाकरभाष्य, प्रस्तावना।

तुलना करें ज्ञान विना मोक्षो न सिद्यति (आत्मबोध)। विवेकाविवेकमात्रेणैव (शांकर भाष्य 1 3 19)। और भी देखें अपरोक्षानुभूति, पृष्ठ 14।

7 ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त, अंग्रजी-अनुवाद, पृष्ठ 59।

की यथार्थता का निषेध करें, तो फिर नैतिक कर्म के लिए किसी प्रकार की भी प्रेरणा नही रह जाती। यदि अनित्यता के दोषों से बचने का एकमात्र उपाय उनका निषेध कर देना ही है तब फिर किसी गम्भीर नीतिशास्त्र के लिए कोई स्थान नही रहता। हमें द्वेष-भाव को दमन करने अथवा अपने स्वभाव मे परिवर्तन करने के लिए तत्पर होने की आवश्यकता नही। किन्तु हमे स्मरण रखना होगा कि अविद्या, यद्यपि यह प्रधानतः एक तार्किक विचार है, तो भी संसार की अध्यात्मविद्या में जीवन की सम्पूर्ण मनः स्थिति का द्योतक है। "अविद्या एक प्रकार का अभिमान है कि 'मैं' शरीर रूपी हूं। इसलिए शरीर की पूजा उपजती है, जो 'राग' है, और इसको तुच्छ समझना ही द्वेष है, इसको चोट लगने के विचार भय-आदि को उत्पन्न करते हैं" आदि-आदि।[1] मिथ्याज्ञान समस्त स्वार्थपरक इच्छा तथा क्रियाशीलता का आधार है।[2] अविद्या सीमित जीवात्मा का प्रतिबन्ध है जो उसे इच्छा और सघर्ष का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करती है और जो इस कारण से है कि वह ब्रह्म के साथ एकत्व के विषय में अज्ञान रखता है। चरित्र के दोष न केवल मूर्खता तथा भूल हैं वरन् इच्छा शक्ति का विपर्यास भी हैं तथा ईश्वर की वाणी का उल्लंघन हैं। शंकर बार-बार एक समस्त पद 'अविद्याकामकर्म' का प्रयोग करते हैं,[3] जिसमें अविद्या से अभिप्राय है बोध-सम्बन्ध भूल, जिसके कारण जीवात्माओं की विविधता को यथार्थ मान लिया जाता है;[4] काम से अभिप्राय है प्रमेय विषय के प्रति भावुकतापूर्ण प्रतिक्रिया और कर्म से अभिप्राय है, इसे प्राप्त करने अथवा छोड़ने के लिए क्रियात्मक चेष्टा। यही समूचा विचारक्रम व्यक्तित्वभावपूर्ण कर्म का है जो यथार्थ और अयथार्थ के असमजस मे जड़ जमाए हुए है और इसीसे संसार की नीव पड़ती है।[5] कर्म की उत्पत्ति अविद्या से है, और कर्म काम का परिणाम है। मोक्ष की अवस्था मे भूल का निवारण, सत्य संकल्पों की फिर से प्राप्ति तथा सब प्रकार के स्वार्थमय प्रयत्नों का दमन रहता है।[6] नैतिक जीवन के अनुशासन में स्वार्थपरक कार्यकलाप का दमन, सत्य कामनाओं का विकास और लौकिक व्यक्तित्व के भाव पर विजय सम्मिलित हैं। जब तक अन्तिम कार्य सम्पन्न नही होता तब तक हमारे स्वरूप में पूर्णता नही आ सकती। हम अपने काम का दमन कर सकते हैं, हम जगत् के कल्याण के लिए भी कर्म कर सकते हैं किन्तु फिर भी इसकी ओर सर्वथा निश्चिन्त नही हो सकते कि जीवन के किसी अन्य क्षण में हम असत्य इच्छा अथवा स्वार्थपूर्ण कर्म करने के प्रलोभन का कभी शिकार न होंगे; निश्चय ही जब तक हम उत्सुकतापूर्ण इच्छा तथा तुच्छ अहंकार के मूल का सर्वथा ही उच्छेदन तथा अविद्या का लोप नही कर देंगे हम निश्चिन्त नही हो सकते कि हम कभी सत्यप्रकाश के व्यक्तित्वहीन मनोभाव को प्राप्त कर सकेंगे। नैतिक पुरुष संयोगवश उदासीन होता

1 देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या; ततस्तत्पूजनादौ रागः, तत्परिभवादौ द्वेषः, तदुच्छेददर्शनाद् भयम्, इत्यादि शांकरभाष्य, 1 3, 2)।

2 शांकरभाष्य, केनोपनिषद् पर प्रस्तावना, संसारबीजम् अज्ञान काम-कर्मप्रवृत्तिकारणम्। आगे कहा गया है · "अविद्याकामकर्मलक्षण संसारबीजम्" (केनोपनिषद् पर शांकरभाष्य 4 : 9)।

3 मुण्डकोपनिषद् पर, शांकरभाष्य, 3 : 1, 1।

4 अविद्याकल्पित लोकप्रसिद्ध जीवभेदम् (शांकरभाष्य, 2 : 1, 14; 1 : 3, 19)।

5 अनात्मदर्शिनो ह्यनात्मविषय कामः; कामयमानश्च करोति कर्माणि; ततस्तत्फलोप-भोगाय शरीराद् उपादानलक्षण. संसारः (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, 1 : 11)।

6 सर्ववासनाक्षय सर्वकामविनाशन सर्वकर्मप्रविलयम्।

है, किन्तु सन्तपुरुष सदा अपने सत्य-प्रकाश के बल पर उदासीन है।[1]

शकर परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् अनुभव मे भेद करते है। परोक्ष ज्ञान तर्क के द्वारा प्राप्त वह ज्ञान है जिसे हम पुस्तको तथा शिक्षको से प्राप्त करते हैं; अर्थात् सर्वोपरि आत्मा तथा जीवात्मा एक है। अपरोक्ष ज्ञान एक ऋषि का अनुभव है जिसने अपने पृथक्त्व के भाव को सदा के लिए त्याग दिया है और सर्वोपरि आत्मा के साथ अपने एकत्व का साक्षात्कार कर लिया है।[2] शकर हमे बतलाते हैं कि परोक्ष ज्ञान हमे बन्धन से छुडाने मे असमर्थ है। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्य करते हुए[3] शकर कहते हैं कि मनुष्य क्रमश. केवल पाण्डित्य की दशा से बाल्यकाल की सरलता की ओर उठना चाहिए[4] और उससे मौन धारण किए मुनि की दशा को, और सबसे अन्त मे एक सच्चे ब्राह्मण की दशा तक उठने का प्रयत्न करना चाहिए, जो भाव-रूप मे भी अपनी समस्त सम्पत्ति तथा सुखो को, जो ब्रह्म से भिन्न है और जो हमे फिर से दासत्व मे घसीट सकते हैं, त्याग देता है। अद्वैत दोनो ही है, अर्थात् दर्शन तथा धर्म। ज्ञान के प्रकाश का परिणाम साक्षात् तथा निश्चित अनुभव है।[5] यह किसी दूरस्थ आदर्श की खोज नही है।

उसी भाव से यह भी माना गया है कि आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए चित्त-शुद्धि भी पूर्व रूप मे आवश्यक है। इसके लिए सत्त्व गुण की अधिकाधिक प्रधानता तथा रजोगुण एव तमोगुण का दमन होना चाहिए, इसका सम्पादन अनासक्त भाव से कर्म करने तथा योगाभ्यासादि के द्वारा होता है। यह नैतिकता का अतिक्रमण नही करता किन्तु उसका सकेत करता है। "जब और जिस किसी के के लिए व्यक्तिगत अहभाव के विचार का जो 'मैं' अथवा 'अह' शब्द से सूचित होता है, और वैयक्तिक सम्पत्ति का, जो 'मेरी' (मम) शब्द से सूचित होती है, यथार्थ प्रतीत होना समाप्त हो जाता है, तब वह 'आत्मा' को जाननेवाला होता है।'[6] जब तक स्वार्थपरक इच्छा (काम) का दमन नही होता तब तक अविद्या का मूलोच्छेद नही हो सकता। ज्ञान शब्द का प्रयोग अग्रेजी के 'नॉलेज' शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थों मे होता है। यह सत्य-ज्ञान है, अर्थात् जीवन का सर्वोच्च विस्तार है।[7] यह किसी प्रचलित रूढि की स्वीकृति नही है किन्तु एक सजीव अनुभव

1 देखे, पोफेसर हिरियन्ना का अत्यन्त सुझावपूर्ण लेख इस प्रश्न के ऊपर, प्रोसीडिंग्स आफ दि इण्डियन ओरियण्टल कान्फ्रेंस, पूना, खण्ड 2 मे प्रकाशित। सम्यज्ञान तथ' सौन्दर्य सम्बन्धी आनन्द के अन्दर जो भेद है उसके विपय मे कहते हुए वे लिखते हैं 'शकर के शब्दो मे काम व कर्म की सदा बार बार आनेवाली शृखला अथवा रुचि और क्रियाशीलता ही जीवन का निर्माण करते हैं। काम और कर्म का निष्कासन, जब कि उनका कारण अविद्या गुप्त रूप मे निरन्तर बनी रहती है, सौन्दर्य रूप मनोवृत्ति का लक्षण है। अविद्या का त्याग इस अन्तर्लीन अवस्था मे भी सन्त की मनोवृत्ति का लक्षण है।" (पृष्ठ 241)।

2 तुलना करें, वराहोपनिषद् ·

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अह ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कार स उच्यते॥

3 3 8 10। छान्दोग्योपनिषद् भी देखें, 4 1, 7।

4. तुलना करें, सेण्ट मैथ्यू, 18 3।

5. अनुभवारूढम् एव च विद्याफल न क्रियाफलवत् कालान्तरभावि (शाकरभाष्य, 3 4, 15)।

6 उपदेशसाहस्री, 14 29। और भी देखें 14 · 141। और भी देखें, केन उपनिषद् पर शाकरभाष्य प्रस्तावना।

7 देखें प्लेटो 'टाइमियस', पृष्ठ 90, अरस्तू 'निकोमैकियन एथिक्स' 10 7।

है जिसका बुद्धि के द्वारा ग्रहण केवलमात्र बाह्य प्रतीक है। शंकर की दृष्टि में अमूर्त एवं भावात्मक प्रज्ञा का कुछ विशेष महत्त्व नही है। उनके अनुसार इस विषय का ज्ञान कि केवल बुद्धि ही पर्याप्त नही है, सबसे उच्च ज्ञान है। यह सत्य है कि अविद्या का नाश लक्ष्य है; किन्तु केवल इसकी यथार्थता का निषेध करने से ही हम अविद्या से मुक्त नही हो सकते। केवल ब्रह्म का एक कल्पनात्मक विचार रखने से ही यह नही कहा जा सकता कि हम ब्रह्म को जान गए। निरय के अन्दर मूलरूप में अपने विद्यमान रहने का आध्यात्मिक साक्षात्कार ही ब्रह्मज्ञान है और यही स्थिर निधि है तथा हमारे अपने यथार्थ सत् का एक अश है।

कहा जाता है कि शकर के दर्शन की यह एक निर्बलता है कि वह नैतिक गुणो के महत्त्व को परमार्थ रूप में यथार्थ नही मानता। नैतिक भेदों का तभी तक कुछ महत्त्व है जब तक हम अपने अहम्भाव को उस समस्त जगत् से पृथक् रूप में लक्षित करते हैं जो अपने शरीर से बाह्य दैशिक सत्ता रखता है और अपने काल-सम्बन्धी अनुभव से परे है। नैतिक जगत् का सम्बन्ध, जो अपने सदस्यों के पृथकत्व तथा स्वातन्त्र्य को स्वतःसिद्ध मान लेता है लौकिक जगत् के साथ है। ऐसे कर्तव्य जिनका पालन करना आवश्यक है तथा ऐसे अधिकार जो पूरे होने चाहिए दोनो ही एक समान मनुष्यों के वैयक्तिक व्यवहार हैं। कर्तव्य और अधिकार परिमित शक्ति वाले जीवात्माओं की स्वतन्त्रता की कल्पना के के ऊपर आश्रित हैं। जब तक हम वैयक्तिक नैतिकता के दृष्टिकोण को अपनाए हुए हैं, हम सासारिक जगत् में हैं जिसमे सकट भी हैं और कठिनाइयां भी हैं। वैयक्तिक दृष्टिकोण मे क्रमश. सुधार ही नैतिक उन्नति है और जब यह सुधार पूर्णता तक पहुच जाता है, नैतिक अपने रूप मे नि शेष हो जाता है। और जब तक नैतिक विद्यमान है तब तक आदर्श अप्राप्त ही रहता है। नैतिकता के अन्त का तात्पर्य है अपने को निजी व्यक्तित्व के ऊपर उठाकर अशरीरी विश्वात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर लेना। किन्तु जब तक नैतिक विषय के साथ लेशमात्र भी व्यक्तित्व का भाव लगा रहेगा, यह ऊपर उठना केवल आंशिक ही है। सान्त का आश्रय लेकर अनन्त के साथ एकत्व प्राप्त करना स्पष्टतया एक असम्भव कार्य है। आदर्श की प्राप्ति के लिए हमे नैतिक जीवन के भी परे जाना होगा और ऐसे आध्यात्मिक साक्षात्कार तक उठना होगा जो सीमित सघर्ष तथा पुरुषार्थ के जीवन से अतीत है। इस प्रकार शकर बार-बार बलपूर्वक कहते हैं कि नैतिक सदाचार और सीमित शक्ति का पुरुषार्थ जहा तक पूर्णता के आदर्श का सम्बन्ध है अपर्याप्त है। कर्म हमे मोक्ष की ओर नही ले जा सकता। सान्त को अपनी सान्तता से ऊपर उठने की आवश्यकता है। अविद्या के ऊपर, जो समस्त सीमित जीवन का आधार है, विजय पाना अत्यावश्यक है। सर्वोपरि आत्मा के साथ अपने एकत्व को पहचानने के लिए हमें संसार-चक्र, अज्ञान, आसक्ति तथा कर्म (अविद्याकामकर्म) का उच्छेद करना है। हम कितने भी नैतिक क्यो न हों, जब तक केवल सदाचार हमे सान्त जगत् से परे नही ले जा सकता और अविद्या की रुकावटों को दूर नही करता, तब तक पूर्णता हमसे परे है। इस प्रकार शकर का तर्क है कि हम कितना पुरुषार्थ भी क्यों न करें मोक्ष को प्राप्त नही कर सकते; क्योंकि सब प्रकार का कर्म, चाहे वह वैदिक क्रियाकलाप का पालन हो अथवा ईश्वरभक्ति हो, सान्त को सान्त रूप मे ही स्थिर रखता है और हमें संसार में लिप्त रखता है अथवा अनन्त की प्राप्ति के लिए परिमित शक्तिवाले जीवात्मा का यह संघर्ष बहुत समय तक रहेगा जिसका कही अन्त नही है। इस निरन्तर घूमने वाले संसार-चक्र से मुक्ति केवल ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होती है अथवा ऐसी अन्तर्दृष्टि के द्वारा, जो हमे

अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठाकर अनन्त के साथ एकत्व प्राप्त करा दे।[1] नैतिकता का स्वरूप विकास का है और इसलिए वह सत्य ज्ञान की प्राप्ति नही करा सकती, क्योकि सत्य स्वतः सत् है। यदि नैतिक उन्नति मनुष्य के जीवन की मुख्य विशेषता है तो ऐसी कोई अवस्था न होगी कि जब वह यह कह सके कि उसने उद्देश्य की प्राप्ति कर ली और अपने स्वरूप को प्राप्त कर लिया। यदि ईश्वर मनुष्य का स्वरूप है, तब नैतिक उन्नति का कुछ मतलब ही नही है विशेषतः जब कि मनुष्य यह कह सकता है कि 'मैं ईश्वर हूं।' ऐसा मनुष्य जो नैतिक नियमों के अनुकूल कार्य करता है यह अनुभव नही कर सकता कि उसने अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लिया। यदि नैतिक जीवन ही सब-कुछ होता तो अत्यन्त वैभवशाली जीवन एक निरर्थक वस्तु समझी जाती, प्रेम एक क्षणभंगुर भ्रान्तिरूप होता और सुख सदा ही पीछे हटने वाला लक्ष्य बन जाता। संत पाल[2] आग्रहपूर्वक कहते है कि विधान (कानून) के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है। हम चाहे जो कुछ भी कर किन्तु जब तक हम अपनी स्वार्थपरता को सर्वथा नही छोड़ देते, हम त्राण नही पा सकते। हम अपने स्वार्थ की प्रेरणा से प्रेरित होकर भी नैतिक विधान की पूर्ति कर सकते है, किन्तु इसका अधिक नैतिक महत्त्व न होगा। अपनी पापपूर्ण प्रकृति से मुक्त होने के लिए, जिसे शंकर अविद्या के नाम से पुकारते है, संत पाल कहते है कि श्रद्धा व विश्वास की आवश्यकता है, और शंकर के मत मे ज्ञान की आवश्यकता है, क्योकि एकमात्र वही हमे अपनी सीमितता से एव पाप से ऊपर उठा सकता है। मुक्ति अन्वेषणा अथवा रचना का प्रश्न नही है, वरन् तथ्य के प्रकाशन अथवा अनावरण का विषय है। नैतिकता का सम्बन्ध सदा ही किसी ऐसी वस्तु से होता है; जा उससे परे है, किन्तु ज्ञान अथवा केवल मात्र दर्शन अथवा साक्षात्कार अपने-आप में पूर्ण है। इसमें कोई त्रुटि नही और न इसका कोई लक्ष्य अथवा प्रयोजन है। श्रुति की घोषणा है कि स्वतःसिद्ध नित्य मोक्ष कर्म के द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता।[3]

यदि हम व्याख्या की इस निर्दोष धार्मिक व्यवस्था को याद रखें कि किसी धार्मिक मन्त्र का यथार्थ तात्पर्य जानने के लिए सबसे उत्तम मार्ग यह है कि जिन पाखण्ड-धर्मों का वह निराकर करना चाहता है उनपर विचार किया जाए, तो हम इस विषय के

1. स्वर्गीय प्रोफेसर बोसेंक्वेट की इस प्रश्न के विषय मे सम्मति (शंकर की सम्मति के सदृश है, और श्रद्धा के द्वारा औचित्य की उनके द्वारा की गई व्याख्या ज्ञान-मार्ग से मोक्ष-प्राप्ति के सम्बन्ध मे शकर के विचार के समान है। तुलना करें, "हम श्रद्धा ही के बल पर पूर्ण इकाई के समान है, कर्मों के द्वारा नही। यहा हमारी अपूर्णता नष्ट हो जाती है। यही 'मोक्षदायक अनुभवो' का तात्पर्य है। हम अपने को विश्व की कृपा के ऊपर छोड देते है और उसके साथ एकत्व के भाव मे एक प्रकार की पूर्णता पाते है जो हम सीमित शक्तिवाले कर्त्ताओ के लिए आत्मविरोधी है" (दि मीटिंग आफ एक्सट्रीम्स इन कटपरेरी फिलासफी, पृष्ठ 173)। और भी देखें 'माइड,' न्यायसूत्र, खण्ड 30, पृष्ठ 98।

2. 'एपिसल टू दि रोमन्स,' 3, 8, 10, 13, और 'दि एपिसल टू दि गैलेशियन्स,' 2 और 3।

3 "नास्त्यकृतः कृतेन।" शकर ने इसका भाष्य यो किया है—अकृतो मोक्ष. कृतेन कर्मणा नास्तीति। और भी देखें, शाबरभाष्य तैत्तिरीय उपनिषद् पर, प्रस्तावना। आगे चलकर : "कर्म वह है जिनको करने का विधान विद्यमान वस्तुओ के स्वभाव से भिन्न रूप मे और किसी व्यक्ति के चित्त के ऊपर आश्रित रूप मे किया गया हो।" ज्ञान प्रमाणो के द्वारा प्राप्त होता है (प्रमाणजन्यम्) जिनके विषय ससार की विद्यमान वस्तुए हैं और ज्ञान सर्वथा उन वस्तुओ के ऊपर ही निर्भर है वस्तुतन्त्रम्) न कि वैदिक कथनो या मनुष्य के चित्त पर" (शाकरभाष्य, 1 1, 4)। और भी देखें, शाकरभाष्य, 4, 22। माध्यमिक लोग ज्ञान की सामग्री (ज्ञानसम्भार) को नितान्त स्वातन्त्र्य (धर्मकाय) को प्राप्त करने वाला मानते हैं किन्तु पुण्य की सामग्री (पुण्यसभार) को आनन्दमय देह (सभोगकाय) को प्राप्त करनेवाला मानते हैं (माध्यमिकावतार, 3 : 12)। देखें, कीथ : बुद्धिस्ट फिलासफी, पृष्ठ 277।

महत्त्व को समझ सकेंगे कि पूर्णता के लिए, अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए, कर्ममार्ग की विफलता पर शंकर ने क्यों अनावश्यक रूप में बल दिया है। उन्होंने अनुभव किया कि मीमांसकों ने यह घोषणा करते हुए कर्मपक्ष के पक्ष को आवश्यकता से अधिक झुका दिया कि केवल कर्मकाण्डपरक क्रियाकलाप हमारी आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त है। इसलिए शंकर ने जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मों को अपर्याप्त बताया, वह मीमांसकों के द्वारा वैदिक क्रियाकलाप के ऊपर जो अतिशयोक्ति-पूर्ण बल दिया गया था उसकी प्रतिक्रिया थी। अन्तिम मोक्ष अज्ञान के निवारण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। "उच्चतम सत्ता की प्राप्ति केवल-मात्र अविद्या को दूर करना ही है।"[1] "ब्रह्म के स्वरूप के विषय में जो अज्ञान है उसके दूर हो जाने पर जीवात्मा अपने निजी स्वरूप में अवस्थित होता है और सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।"[2] ब्रह्म का ज्ञान किसी ऐसी नई वस्तु को प्राप्त करना नहीं है जो हमारे पास नहीं थी वरन् अपने उस सत्यस्वरूप को पहचान लेना है जिसमें हम पहले अनभिज्ञ थे। अविद्या का नाश हो जाने पर विद्या स्वयं प्रकाश देती है,[3] ठीक जिस प्रकार एक रस्सी के टुकड़े का उस समय यथार्थ ज्ञान हो जाता है जब कि 'यह सांप है' इस प्रकार का मिथ्या विचार खण्डित हो जाता है।[4] केवल-मात्र कर्म, जिसके कार्य क्षणभंगुर घटनाएं हैं, हमें नित्य मोक्ष की, जो एक तथ्य है, प्राप्ति नहीं करा सकता। कर्म अविद्या का नाश नहीं कर सकता, क्योंकि दोनों परस्पर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। जब कहा जाता है, कि ज्ञान कर्म का पूर्वगामी है तो यह वह उच्चतम आध्यात्मिक दृष्टि का ज्ञान नहीं है, किन्तु किसी न किसी विषय का बाह्य ज्ञान है। कर्म सदा किसी इच्छा की पूर्ति के लिए किया जाता है। मोक्ष इच्छा की उपस्थिति के साथ संगति नहीं रखता। जब तक कोई व्यक्ति अपने कर्तृत्व में विश्वास न रखे तथा अपने को प्रमेय विषय से भिन्न न समझे, तब तक कर्म का कुछ अर्थ है ही नहीं।[5] किन्तु जब तक ये भेद बने हैं, मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। "भेद के दर्शन से मोक्ष असम्भव है और कर्म भेद के दर्शन के बिना असम्भव है।"[6] ऐसी आशा की जाती है कि कर्मों का अग्रलिखित में से कोई-न कोई परिणाम होना चाहिए . "एक नई वस्तु की उत्पत्ति, अवस्था में परिवर्तन (विकार) संस्कार और आप्ति" मोक्ष इनमें से किसी एक श्रेणी में भी नहीं आता।[7] कर्म का महत्त्व साज-सज्जा तैयार करने में है। किन्तु यह एक आंशिक विचार पर आश्रित है और इसलिए अपने-आपमें यह अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं करा सकता। ज्ञान अथवा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि ही मोक्ष का साधन है।[8] इस तथ्य के ऊपर कभी-कभी शंकर अनावश्यक रूप में बल देते हैं . "यह सोचना अयुक्तियुक्त है कि ब्रह्म ज्ञान को जिसके आगे कार्यों के भेद, कर्ता और फल आदि के सब प्रकार के विचार विलुप्त हो जाते हैं, अपनी प्राप्ति के लिए किसी बाह्य वस्तु की सहकारी या सहायक के रूप में आवश्यकता

1. शांकरभाष्य, मुण्डकोपनिषद् 1 : 5। "अविद्यापाय एव हि परप्राप्तिः। अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः।

2 शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रस्तावना। "अविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं पर-प्राप्तिः।"

3 शांकरभाष्य, 3 : 2, 21।

4 शांकरभाष्य, 2 : 1, 14।

5 शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, प्रस्तावना।

6. शांकरभाष्य, केन उपनिषद्, प्रस्तावना।

7. शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, 2 : 11।

8. आत्मबोध, पृष्ठ 203।

हो सकती है और न ही इसके फलस्वरूप मोक्ष को ऐसी किसी वस्तु की आवश्यकता हो सकती है। इसलिए ज्ञान को अपने किसी सगत कर्म की सहकारी रूप मे आवश्यकता नही होती।"[1] शकर स्वीकार करते है कि कर्तव्य कर्मो (नित्यानि कर्माणि) का पालन हमे पूर्वजन्म के पापो के फलो को नष्ट कर देने मे सहायक होता है, किन्तु ऐसे पुरुष जो विशेष पदार्थों की अभिलाषा रखते हो, उनकी प्राप्ति के लिए नियत कर्मो (काम्य कर्मो) को कर सकते हैं। ये दोनो प्रकार के कर्म मनुष्य की इच्छाओ की पूर्ति कुछ समय के लिए कर सकते हैं किन्तु इनमे से कोई भी उसे नित्य जीवन की प्राप्ति मे सहायक नही हो सकते। मीमासक का मत है कि यदि हम स्वार्थयुक्त तथा निषिद्ध कर्मो से दूर रहे यदि ऐसे कर्मों को, जिन्होने अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया है, उनके फलो का उपभोग करके नि शेष कर दें तथा यदि कर्तव्य कर्मो के न करने रूपी पापो को हटा सकें, तो बिना किसी प्रयत्न के मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। उत्तर मे शकर का कहना है कि कितने ही ऐसे कर्म हैं कि जिन्होने फल देना अभी प्रारम्भ नही किया और जिनके फलो को एक जन्म के अन्दर भोगकर नि शेष करना भी सभव नही हो सकता, ये कर्म हमारे अन्य जन्म के बधन के कारण बनेंगे और इसके कारण नये कर्म बढकर एकत्र होते जाएगे। इसलिए जब तक हम ऐसी इच्छाओ को नही त्याग देते जो कर्म को उत्पन्न करती हैं, तब तक हमारे लिए कोई आशा नही हो सकती। इच्छाओ का कारण अविद्या को बताया गया है और इस प्रकार केवल विद्या ही जो अविद्या का नाश करती है, हमे कर्म के पाश से मुक्ति दिला सकती है।[2] ब्रह्मविद्या इन सब बाह्य कर्तव्यपालनो के आधार ही को नष्ट कर देती है।[3] जिसका महत्त्व है वह बाह्य आचरण नही अपितु आन्तरिक जीवन है। इसकी दु खदायी समस्याओ का समाधान नियमो के द्वारा नही हो सकता। हमारे रहस्यमय हृदय, हमारी प्रार्थनाए तथा ध्यान आदि हमे जीवन की समस्याओ को हल करने मे सहायक होते है। इसलिए उच्चतम नैतिकता उचित भाव के विकास मे ही है। नैतिक प्रतिभा का रहस्य हमारे चैतन्य को धार्मिक रूप देने मे ही है। नैतिक जीवन आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का आवश्यक परिणाम है। जब तक आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो, नैतिक नियमो का पालन एक बाह्य आचार के रूप मे करना ही होगा।

दूसरे अर्थों मे नैतिक कर्तव्य व्यक्ति की अवस्था के अनुसार सापेक्ष होते हैं। आधुनिक जगत् मे नैतिकता को भ्रम से प्राय सामाजिक महत्त्वो के साथ मिला दिया जाता है, किन्तु सामाजिक महत्त्व सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण नही है। समाज के विषय मे जो हमारे विचार हैं केवल वे ही नही, अपितु ईश्वर विषयक जो हमारे विचार है, उनका

1 देखें, शाकरभाष्य, केन उपनिषद्।

2 शाकरभाष्य 1 . 1, 4 । तुलना करें, प्लेटो "ऐसे पुरुष जिन्होने प्रचलित तथा ऐसे सामाजिक धर्मो का अभ्यास किया है जो स्वभाव तथा अभ्यास से अते हैं और जिनके लिए किसी दशन अथवा तक की आवश्यकता नही, जन्म जन्म के चक्र मे सबसे अधिक सुखी रहते हैं क्योकि यह सम्भव है कि वे अपने ही समान नम्र और सामाजिक रूप म फिर वापिस आ जाए, जैसे कि मधुमक्खियो मे, भिडो मे अथवा चीटियो मे, और वे मनुष्य-शरीर के रूप मे भी आ सकते हैं और उन्ही के अन्दर से योग्य नागरिक बन सकते हैं। किन्तु दार्शनिक अथवा सत्यज्ञान के प्रेमी के अतिरिक्त, जो सर्वथा शुद्धात्मा हैं, अन्य किसी को इस मर्त्य लोक से जाकर देवताओ की कोटि मे जाने का अधिकार नही है। (फीडो, पृष्ठ 82)।

3 इदानी कर्मोपादानहेतुपरिहाराय ब्रह्मविद्या प्रस्तूयते शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रस्तावना)।

महत्त्व है। कोई रोबिन्सन क्रूसो किसी निर्जन द्वीप में अपने साथी फ्राइडे के अभाव में भी गुणों को धारण करने की अभिलाषा कर सकता है।

शंकर का मत है कि अन्तरात्मा का ज्ञान कर्म का विरोधी है और स्वप्न में भी इसके साथ नहीं रह सकता। यदि धर्मशास्त्रों में लेखबद्ध किए गए ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें कर्म करने वाले गृहस्थ पुरुष भी पवित्र ज्ञान रखते थे और उन्होंने उस ज्ञान को अपने शिष्यों तक पहुंचाया तो इस प्रकार के कथन एक प्रत्यक्ष तथ्य का प्रत्याख्यान नहीं कर सकते क्योंकि "प्रकाश तथा अन्धकार को सैकड़ों नियमों के द्वारा भी एक साथ नहीं रखा जा सकता। और फिर इस प्रकार के संकेतों का तो कहना ही क्या है।"[1] यह कुल विवाद-विषय कर्म शब्द के सन्दिग्ध प्रयोग से ओतप्रोत है। यदि कर्म से तात्पर्य ऐसी क्रिया से है जो एक व्यक्ति अपने किसी न किसी निजी उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकार करता है तो यह आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से भिन्न तथा असंगत है। इसके विपरीत व्यक्तिभाव से विहीन कर्म, अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के अनन्तर यदि कोई पुरुष सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वीकार करता है तो यह कर्ता के बन्धन का कारण नहीं होता और न उसके सांसारिक जीवन का कारण बनता है। पहले अर्थों में कर्म आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के साथ-साथ नहीं रह सकता।[2] यदि ज्ञान और कर्म प्रकाश तथा अन्धकार के समान एक-दूसरे के विरोधी हैं तो यहां कर्म से तात्पर्य स्वार्थपरक क्रिया से है और ज्ञान से तात्पर्य है निःस्वार्थ ज्ञान से। शंकर के अनुसार मुक्तात्मा जो कर्म करता है उसे कर्म ही न कहना चाहिए। मुक्तात्मा का कर्म, जो लोकसंग्रह के लिए है, वास्तविक अर्थों में कर्म नहीं है। मुण्डकोपनिषद के उस वाक्य का भाष्य करते हुए, जो इस प्रकार है "आत्मा के अन्दर क्रीड़ा करता हुआ, अपने अन्दर तथा दैनिक कर्मों को करता हुआ जो प्रसन्नता प्राप्त करता है वह उन पुरुषों में सर्वोत्तम है जो ब्रह्म को जानते हैं,"[3] शंकर कहते हैं कि इस प्रकार का विचार कि यह उपनिषद्-वाक्य कर्म तथा ज्ञान के संयोग का आदेश देता है केवल 'अज्ञानियों का प्रलाप मात्र' है।[4] किसी न किसी प्रकार की क्रिया होनी चाहिए यह स्वीकार किया गया है, इससे निषेध नहीं किया जाता। शंकर जो कुछ मानते हैं वह यह है कि वह क्रिया नहीं है जिसे हम साधारणतः कर्म कहते हैं क्योंकि कर्म का आधार अहंकार है।[5] एक अन्य वाक्य में वे कहते हैं, "ऐसे पुरुष के लिए जो ज्ञानी है कोई कर्म आसक्ति का कारण नहीं बन सकता यदि जीवन भर भी वह कर्म करता रहे—इससे पता लगता है कि ज्ञान की महत्ता है।"[6] कर्म उस सब क्रिया को कहते हैं जो सांसारिक जीवन की निरन्तरता की ओर ले जाती है और इसका सत्यज्ञान से विरोध है। अन्य किसी प्रकार की क्रिया को कर्म नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यह काम अथवा स्वार्थपरक इच्छा की प्रेरणा से नहीं होती है। मुक्तात्मा अपनी स्वार्थपरक इच्छा का दमन कर लेता है (अकाममान)। दूसरी ओर कुछेक वाक्यों में,

1 विद्याकर्मविरोधाच्च न हि ब्रह्मात्मैकत्व[illegible] गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृत्वादिलिंग न तत् [illegible] तमःप्रकाशयोरेकत्र सम्भवः शक्यते कर्तुम्। कि[illegible] प्रस्तावना)।

2 देखें, शांकरभाष्य, ईशोपनिषद्, 18।

3. 3 . 1, 4।

4 असत्प्रलपितमेवैतत्। देखें शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, प्रस्तावना।

5. कर्महेतुः कामः स्यात् (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रस्तावना)।

6 शांकरभाष्य, 3 : 5, 14; और भी देखें, शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, 2 : 23, 1।

जहा उनका तात्पर्य मुक्तात्मा के ससार की बाधाओ से उन्मुक्त होने पर वल देने मे ही है, वे कहते हैं चूकि समस्त क्रियाशीलता का अन्त दु खमय है इसलिए मुक्तात्मा के लिए कोई भी क्रियाशीलता सम्भव नही है ।[1]

शकर के नीतिशास्त्र के विरुद्ध बार-बार यह आरोप लगाया जाता है कि यह वैराग्य का उपदेश करता है। शकर अनेक प्रकार से बलपूर्वक कहते हैं कि लौकिक जीवन मे कभी भी ऐसा कुछ नही है जिस पर आचरण किया जा सके।[2] रोग और मृत्यु हमे आते हैं, यदि आज नही तो कल और वे जिनसे हम प्रेम करते हैं एव इस लोक मे जिनको हम प्यार करते है, उन सब का धूल और राख के अतिरिक्त और कुछ शेष नही रह जाता। इस लोक मे मनुष्य की आत्मा को कोई भी वस्तु निश्चित आधार प्राप्त नहीं करा सकती। ससार की निष्फलता तथा इससे आसक्ति का निर्देश एक यात्री की प्रचलित कहानी मे दिया गया है जो जगली जानवरो से अपने को बचाने के लिए, जो उसका पीछा करते हैं, एक सूखे कुए मे उतर जाता है। किन्तु उस कुए के नीचे के भाग मे अपना मुख खोले उसे निगलने के लिए एक नाग बैठा है। वह यात्री जगली जानवरो के डर से बाहर नही निकल सकता, न नीचे तक उतरने की ही हिम्मत कर सकता है और इसलिए वह कुए की दीवारो मे उगे हुए एक जगली पौधे की शाखा को पकड लेता है। वह थक जाता है और अनुभव करता है कि शीघ्र ही उसका विनाश होने वाला है यद्यपि मृत्यु दोनो ओर उसकी प्रतीक्षा कर रही है तो भी वह शाखा को खूब मजबूती से पकडे हुए है। किन्तु देखो! दो चूहे निकलते है, जिनमे से एक श्वेत वर्ण का, दूसरा काला है जो उस जगली पौधे के तने को काट रहे है। यह तना शीघ्र ही टूट जाएगा और यात्री मृत्यु के मुख मे जाने से नही बच सकता। ठीक इसी प्रकार हम, जो ससार-चक्र के ऊपर यात्रा कर रहे है, अपने जीवन के फदो को जानते हैं, यह भी जानते हैं कि जिन वस्तुओ से हम चिपटे हुए हैं वे अवश्य ही नष्ट हो जाएगी, किन्तु इस सबके होते हुए भी हमे कुछ जगली पौधो के पत्तो पर पडी मधु की कुछ बूदें दिखाई पडती हैं और हम उन्हे चाटने मे प्रवृत्त हो जाते है। यद्यपि हम जानते है कि मृत्युरूपी नाग हमारी प्रतीक्षा मे है, एव यह जानते हुए भी कि दिन और रात रूपी दो श्वेत तथा काले चूहे उस शाखा को काट रहे है जिसे हम पकडे बैठे हैं, तो भी जीवन-रूपी वृक्ष का मोह हमसे नही छूटता। नाग उपस्थित है किन्तु फिर भी हमे उसकी परवाह नही क्योकि मधु जो मीठा है। हम वृक्ष को सत्य समझे बैठे है और इस भयकर तथ्य का सामना नही करना चाहते कि ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही जो मनुष्य के अन्त स्थ अनन्त के लिए सन्तोषप्रद हो सके। शकर हमे बतलाते है कि सर्वोपरि त्याग का परिणाम तथा पुरस्कार सर्वोपरि पूर्ति है। इसकी प्राप्ति तभी होती है जब कि इच्छा का नाश तथा सुख और दु ख दोनों को एक समान दूर कर दिया जाए। आध्यात्मिक पूर्णता के लिए अत्यन्त पूर्ण गुण और ऊचे से ऊचा बौद्धिक दृष्टिकोण भी अपर्याप्त है। शकर आत्मत्याग के जीवन पर बल देते हैं और हमे आदेश देते है कि हम देह के प्रति आसक्ति से अपने को मुक्त करे।

1 शाकरभाष्य, 2 3 40।

2 तुलना कर, प्रथम जॉन 2 15 17। "जगत से प्रेम मत करो और न उससे ही जो कुछ जगत मे है, यदि कोई जगत से प्रेम करता है तो उसके अन्दर अपने पिता के प्रति प्रेम नहीं है। क्योकि जगत मे जो कुछ भी है अर्थात शरीर की कामना और आखो की इच्छा तथा जीवन के गौरव का अभिमान यह सब पिता का नही जगत् का है, और ससार क्षणभगुर है और अपनी इच्छा के साथ ही नष्ट हो जाता है, किन्तु जो ईश्वर की इच्छा का पालन करता है वह सदा के लिए स्थिर रहता है" (मोफेट कृत अग्रेजी अनुवाद)।

आत्मा का शत्रु शरीर स्वय इतना नही है जितना शरीर के प्रति हमारा बंधन तथा 'मेरे-पन' का भाव है।[1] मृत्यु से पूर्व मुक्तात्मा का अपना शरीर रहता है किन्तु शरीर की उपस्थिति आत्मा के मोक्ष के साथ असंगति नही रखती। चूंकि साधारण मनुष्य मे शरीर आत्मा की स्वच्छन्द उन्नति में सहस्रों बाधाएं उपस्थितकरता है इसीलिए हम शंकर को इस प्रकार का तर्क करते हुए पाते हैं कि भौतिक शरीर के संयोग से आध्यात्मिक जीवन मे विरोध तथा बाधा उपस्थित होती है। वैराग्य के अभ्यास का कारण यह है कि शंकर ने बार-बार विषयासक्ति तथा शरीर की वासनाओं और लालसाओं को दमन करने का उपदेश दिया है।

यह कहा जाता है कि शंकर के जगत् के निराकरणपरक दर्शन मे सामाजिक जीवन अथवा नागरिक कर्तव्य का कुछ अर्थ ही नही है। यदि यह संसार मिथ्या है तो हमें इसमे रुचि दिखलाने की कोई आवश्यकता ही नही है। यह भी कहा जाता है कि शंकर ससार [illegible] करते। [illegible] देते हैं। [illegible] अवस्था इतनी बुरी नही जैसी कि प्रतीत होती है, यह स्वयं शंकर के जीवन से ही स्पष्ट है और उक्त आरोप का स्थिर खण्डन है कि अस्तित्वयुक्त जगत् की व्यवस्था अपनी संस्थाओं समेत एक ऐसी वस्तु है जिससे बचना चाहिए। उनका समस्त दर्शन इस कल्पना का खण्डन करता है कि व्यक्तित्व पृथक्त्व पर आश्रित है। मनुष्य को जगत् के समस्त दूषणों से अपने को पवित्र बनाना है, सब प्रकार के आवरणों को उतार फेंकना है, और प्रत्येक अनुचित वस्तु को पीछे छोड देना है। उसे अपनेपन, वासना तथा इन्द्रिय-समूह की दासता का बन्धन तोड़ फेंकना चाहिए। अपने निजी मनोभावों तथा पसन्दगी को दृढसंकल्प के साथ त्याग देना, सब कुछ त्याग कर प्रतीतिरूप में शून्यता का भाव, 'एकाकी से एकाकी ओर' एक उड़ान, इन सब का तात्पर्य है नित्य जीवन। शंकर के दर्शन मे ससार से अवकाश प्राप्त कर लेने पर बल नही है किन्तु आत्मा संन्यास के ऊपर है। ससार से भागना कही आसान है किन्तु आत्मा से भागना उतना आसान नहीं। शंकर हमें अपनी स्वार्थपरता का दमन करने के लिए कहते हैं और इस कार्य के लिए यदि एकान्तवास तथा अवकाश ग्रहण की आवश्यकता है तो उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधन के रूप मे इन्हें अपनाने का आदेश देते हैं। ऐसे पुरुष के लिए, जिसने अपने को स्वार्थ-परता से मुक्त कर लिया हो, सांसारिक जीवन व्यतीत करने की छूट है। उसकी मनोवृत्ति न तो ससार को प्राप्त करने की ओर न इससे भागने ही की होगी, वरन् संसार को मोक्ष प्राप्त कराने की होगी। पूर्णता को प्राप्त मनुष्य केवल अपने लिए जीता और मरता नही, वरन् मनुष्यमात्र के लिए जीता और मरता है, तो भी यह सत्य है कि शंकर हमें ससार के अन्दर रहने को तो कहते हैं किन्तु संसार का बनकर रहने को नहीं। वैसे ही जैसे कि जल का एक बिन्दु कमलपत्र के ऊपर रहता है किन्तु उसके अन्दर लिप्त नही हो जाता। ज्ञान का कार्य अपनी आंखें खुली रखकर स्वप्न देखना है, अर्थात् संसार में बिना लिप्त हुए किन्तु उसके प्रति किसी प्रकार का द्वेषभाव भी लिए बिना जीवनयापन करना।[2]

1 धमस्पोको, पृष्ठ 15।

2 शोपनहावर के इस कथन का कि "उपनिषदों के अध्ययन ने मुझे जीवन मे शान्ति प्रदान की और यही मुझे मृत्यु-समय में भी शान्ति प्रदान करेगा", उल्लेख करते हुए मैक्समूलर कहता है: "शोपनहावर कर्मविहीन लेख लिखने वाले लेखकों में नहीं था और न वह ऐसा व्यक्ति था जिसने

इस प्रकार की समालोचना, कि यदि मोक्ष की व्याख्या मे ऐसा कहा जाए कि यह शान्ति का स्वर्ग है, जहा जाकर समस्त जीवन मौन हो जाता है एव चैतन्य और व्यक्तित्व का दमन हो जाता है और ऐसे मोक्ष को हम केवल मानवीय जीवन छोडकर ही प्राप्त कर सकते हैं, तो हमे उपस्थित विषय से दूर एक अधिक महान् प्रश्न की ओर ले जाती है, और वह प्रश्न यह है कि अनन्त का सान्त के साथ क्या सम्बन्ध है, क्योकि नैतिकता का क्षेत्र सान्त वस्तुओ की व्यवस्था ही हो सकती है। तार्किक दृष्टिकोण से अन्तर्दृष्टि का बुद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है, एव आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का तार्किक ज्ञान के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय का यह प्रश्न है। चूकि तार्किक ज्ञान आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के ऊपर आश्रित है, हम नही जानते कि ये दोनो ठीक-ठीक किस प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं। लौकिक जगत् ब्रह्म के ऊपर आश्रित है किन्तु हम यह नही कह सकते कि किस प्रकार आश्रित है। ठीक इसी प्रकार नैतिक जीवन का सम्बन्ध आध्यात्मिक मोक्ष के साथ है किन्तु किस प्रकार का यह सम्बन्ध है यह हम नहीं कह सकते। एक से दूसरे का सम्बन्ध-विच्छेद करना, अर्थात् अन्तर्दृष्टि का बुद्धि से, ब्रह्म का जगत् से, धार्मिक साक्षात्कार का नैतिक जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद करना, इस प्रकार की समालोचना को औचित्य प्रदान करता है कि शकर की दृष्टि मे ससार एक भ्राति है, हमारा ज्ञान अलीक है और हमारा नैतिक जीवन एक उपहास है। किन्तु शकर बार-बार घोषणा करते हैं कि जगत् का मूल ब्रह्म मे है। जगत से परे जाने के लिए हमे लौकिक जगत् के अन्दर से गुजरना होगा। जिस प्रकार यथार्थ तक पहुचने का मार्ग लौकिक जगत के अन्दर से है, इसी प्रकार पूर्णता-प्राप्ति का मार्ग नैतिक जीवन के अन्दर होकर है। यद्यपि अन्तिम लक्ष्य एक ऐसी वस्तु है जिसमे नैतिक से परे जाना होता है, इसका तात्पर्य यह नही है कि आध्यात्मिक का नैतिक के साथ कोई सम्बन्ध नही है। खोजने वाले को कभी भी सासारिक कर्तव्यो को त्याग देने अथवा ईश्वरभक्ति के विरुद्ध प्रोत्साहन नही दिया गया। नैतिक परिस्थिति की अयथार्थता केवल तभी उत्पन्न होती है जब कि नैतिकता का कर्तव्य पूरा हो जाता है। अन्तिम नि श्रेयस् दूर नही है किन्तु नैतिक सघर्ष यहा एक भूल और निष्फलता का क्षेत्र है। इसकी यही और अभी प्राप्ति हो सकती है। यह कहना कि नैतिक पुरुषार्थ सापेक्ष है, उसके अन्दर जो आदर्श का अश है उसे पहचान लेना है। यह विचार कि पाप व पुण्य के अन्दर भेद हमारे सीमित स्तर की अपेक्षा रखता है, इस क्रियात्मक जगत् मे इसके पालन को अनुचित नही ठहराता है। ऐसे पुरुषो के लिए भेद की अयथार्थता का कोई अर्थ नही है जो अपने को स्वार्थपरता की शृखलाओ मे जकडे हुए है और इस प्रकार सीमाबद्ध जीवन को दीर्घकालिक बनाते हैं। शकर विधान या नियम को सर्वथा त्याज्य नही मानते, अपितु उनका मत है कि मोक्ष का मार्ग विधान

तथाकथित अगम्यवादी और अव्यक्त विचारो के ऊपर अपने को अचेतनावस्था म जाने दिया हो। और मुप ऐसा कहने मे न तो कोई भय है और न लज्जा ही है कि मैं उसके वेदान्त के प्रति उत्साह मे उसके साथ हिस्सा बटाने को उद्यत हू और अपने को इस जीवन मे से गुजरते हुए जो कुछ सहायता इससे मुझे मिली है उसके लिए मैं वेदान्त का ऋणी हू। वस्तुत प्रत्येक मनुष्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह क्रियात्मक जीवन मे अवश्य ही भाग ले चाहे देश की रक्षा म अथवा उसके शासन मे धन सचय करने म अथवा मजदूरी करने मे, किन्तु जो पुरुष चिन्तनात्मक तथा शान्तिमय जीवन निर्वाह करने के योग्य है उनके लिए वेदान्त से बढकर सामग्री अन्यत्र न मिलेगी। एक मनुष्य प्लेटो के समान आदर्शवादी होते हुए भी एक उत्तम नागरिक तथा क्रिश्चियन हो सकता है और यही बात मैं वेदान्ती के लिए भी कहता हू।"

('सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी,' पृष्ठ 193।)

के द्वार से होकर ही है। बुद्धि का आश्रय अन्तर्दृष्टि है और नैतिक जीवन का आधार आध्यात्मिक मोक्ष है। यह वह अंकुर है जिसके अन्दर से पूर्णता का फूल विकसित होता है।

42. कर्म

शंकर ने कर्म के विधान को स्वीकार किया है। व्यक्तित्व, अर्थात् पृथक्त्व, कर्म के कारण है और अविद्या की उपज है।[1] इस प्रकार का जगत् जिसमें हम उत्पन्न हुए हैं केवलमात्र कर्ता के ऊपर उसके पूर्व कर्मों का प्रतिदान है।[2] मनुष्य का शारीरिक संगठन एक कार्य करने वाला यन्त्र-समुच्चय है,[3] जिसका प्रयोजन उस प्रतिदान को कर्मों तथा उनके फलों के रूप में, जो दुःख एवं सुख के रूप में होते हैं, उत्पन्न करना है। कभी-कभी किसी एक जीवन के कर्मों का प्रतिदान अनेक आने वाले जन्मों में मिलता है। ठीक जैसे कि भूतपूर्व कर्म का परिशोधन पूर्ण होता है तो नये कर्म एकत्र हो जाते हैं, "इस प्रकार परिशोधन रूप घड़ी बराबर ऊपर-नीचे चक्र-रूप में चलती रहती है।[4]" नैतिक जीवन एक अविराम, क्रियाशील तथा शक्तिपूरक है, जो कभी भी सर्वथा निःशेष नहीं होता। मानवीय जीवन की अवस्थाओं की मांगों की नानाविधता के अनुसार यह भी अनन्त आकार धारण करता है। यह प्रक्रिया बराबर के लिए चलती रहती है जब तक कि पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती और यह कर्म के बीज को भस्म कर देती है तथा पुनर्जन्म को असम्भव कर देती है। कर्म के विधान की अधीनता से मुक्ति पाना मानवीय जीवन का लक्ष्य है। अविद्या से छुटकारा पाना ही कर्म-विधान से मुक्त होना है। किन्तु जब तक जीवात्मा सीमाबद्ध है तब तक वह कर्म-विधान के अधीन है, अर्थात् वह सदा ऐसे आदर्श को प्राप्त करने के लिए श्रम करती है जिस तक वह कभी नहीं पहुंचती। नैतिकता एक प्रकार का सीढ़ी का पत्थर है किन्तु विश्राम स्थान नहीं है। ऐसे सब कर्म, जो फल की आकांक्षा से किए जाते हैं, कर्म-विधान के अनुसार ही अपने फल देते हैं। किन्तु ऐसे कर्म जो, निःस्वार्थभाव अर्थात् ईश्वरार्पण के भाव से किए गए हैं, मन को पवित्र करते हैं।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपने पूर्व कर्मों की रस्सियों से खींचे जाकर कठपुतलियों की भांति कार्य करते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि व्यक्ति अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है और ईश्वर केवल सहायक के रूप में मध्यस्थ का कार्य करता है एवं उसके कर्मफलों को सुरक्षित बनाए रखता है।[5] ईश्वर किसी को विवश नहीं करता कि तुम ऐसा नहीं ऐसा कर्म करो; यहां तक कि ऐसी प्रवृत्तियों के ऊपर भी जिनसे हम बद्ध हैं, हम इच्छाशक्ति के द्वारा विजय पा सकते हैं।[6] योगवासिष्ठ में वसिष्ठ राम को स्वतन्त्र पुरुषार्थ के द्वारा उस शृंखला को तोड़ फेंकने का आदेश देते हैं जो हमें बन्धन में जकड़े हुए है।[7] मनुष्य का स्वभाव प्रेरणापरक है जिसके कारण उसमें राग तथा द्वेष

1 शांकरभाष्य 3 2, 9।
2 क्रियाकारकफलम्।
3 कार्यकारणसंघात।
4 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त,' अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 354।
5 शांकरभाष्य, 2 : 3, 42।
6 भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, 3 . 3, 4।
7. देखें, जीवन्मुक्तिविवेक, अध्याय 1।

उत्पन्न होते हैं।[1] मनुष्य, यदि प्राकृतिक स्वभाव के अनुसार चले जिसे लेकर उसने जन्म ग्रहण किया है तो सर्वथा अपनी अन्त प्रेरणाओ के अधीन रहता है, और जब तक उसकी क्रियाए इन अन्त प्रेरणाओ से सचालित होती हैं वे क्रियाए स्वतन्त्र नही हैं। किन्तु मनुष्य केवलमात्र अपनी अन्त प्रेरणाओ का ही पुज नही है। उसके अन्दर अनन्त का निवास है। आत्मा कारणकार्य-भावरूपी शक्ति के रूप मे व्यावहारिक शृ खलाओ के बाहर विद्यमान रहती है और उनका निर्धारण करती है। मनुष्य का इतिहास केवलमात्र कठपुतली का तमाशा नही है। यह एक रचनात्मक विकास है।

43 मोक्ष

मोक्ष एक ऐसी सत्ता के साक्षात्कार का विषय है जो अनन्त काल से विद्यमान है, यद्यपि वह हमारे दृष्टि के क्षेत्र से परे है। जब प्रतिबन्ध दूर हो जाते हैं तो आत्मा मुक्त हो जाती है। यह जहा थी और जो कुछ है और अनन्त काल से है तथा वस्तुमात्र के मूलतत्त्व रूप मे वैसी ही वर्तमान रहती है। यह वह शान्ति है जो ससार नही दे सकता। न उसे हर सकता है, यह सर्वश्रेष्ठ तथा अद्वितीय स्वर्गीय सुख है। "वह जो परम अर्थों मे यथार्थ है, निर्विकार है, नित्य है, आकाश के समान सर्वान्तर्यामी है, हर प्रकार के परिवर्तन से मुक्त सर्वसन्तोषप्रद, अविभक्त, जिसका स्वरूप ही उसका अपना प्रकाश है, और जिसके अन्दर न तो भला है न बुरा, न कोई प्रभाव है, न भूत, न वर्तमान और न भविष्यत को कोई स्थान है—इस अलौकिक को मोक्ष कहा गया है।"[2] जब अविद्या का लोप हो जाता है तो यथार्थ आत्मा स्वत प्रकाशित रह जाती है ठीक जिस प्रकार असर करने वाली मलिनताओ के छूट जाने पर सुवर्ण मे चमक आ जाती है अथवा जैसे मेघ शून्य रात्रि मे तारे प्रकाश देने लगते हैं जब कि उन्हे अभिभूत करने वाला दिन छिप जाता है।[3] मनुष्य का अपने समस्त स्वनिर्मित बन्धनो से दास्यविमोचन एक ऐसा ऐश्वर्य है, जो विचार के क्षेत्र से सर्वथा परे है, एक ऐसी शान्ति जो हमारे सब प्रकार के पुरुषार्थ का प्रयोजन है, हमारे अपन निकटतम चैतन्य से भी अधिकतर समीप विद्यमान है। शकर हमारे सम्मुख एक ऐसे स्वर्ग का चित्र प्रस्तुत नही करते जो इस लोक से पृथक अथवा इस लोक के अनुभव की व्यवस्था से भिन्न प्रकार का है, अपितु एक ऐसा स्वग है जो सर्वदा यहा उपस्थित है, यदि केवल उसे हम देख सकते। यह किसी काल्पनिक भविष्य के गर्भ मे अवस्थित नही जो वर्तमान जीवन की समाप्ति पर आने वाले लोक म निरन्तर स्थायी जीवन हो, अपितु यह *यथार्थतत्त्व के साथ एकत्व (तादात्म्य) की एक अवस्था है जो इसी लोक मे है और वर्तमान काल मे भी है।*[4]

मुक्तात्मा अपने यथार्थस्वरूप को धारण कर लेते है (स्वात्मन्यवस्थानम)।[5]

1 भगवदगीता पर शाकरभाष्य 8 18 3 33।

2 इद तु पारमार्थिकम कूटस्थम नित्यम व्योमवत सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितम नित्य तृप्तम निरवयवम स्वयज्योति स्वभावम यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रय च नोपावर्तेते तद अशरीर मोक्षाख्यम (शाकरभाष्य 1 1 4)।

3 शाकरभाष्य 1 3 19।

4 इसकी नागार्जुन के मत से तुलना करें जिसके अनुसार निर्वाण की न उत्पत्ति है न विनाश है, यह न एक है और न अनेक है न गतिरहित अथवा गति का अभाव है न नित्य है और न विनश्वर है और यह कि वह ससार के सदृश है (माध्यमिक कारिका 25 19)।

5 शाकरभाष्य 4 4 13। तुलना कर आत्म पेशाविद्या निवृत्ति (अद्वैतब्रह्मसिद्धि)।

आत्मा के विलोप का नाम मोक्ष नहीं है, अपितु चैतन्य के विस्तार तथा प्रकाश के द्वारा अपनी अनन्तता और निरपेक्षता का साक्षात्कार कर लेने का नाम मोक्ष है। चित्सुखाचार्य का कहना है कि आनन्दमय का साक्षात्कार ही मोक्ष है।[1] आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को, जो परमानन्द है, दुःख आवृत कर लेता है और अज्ञान इसमें सहायक होता है। अज्ञान के अभाव में दुःख लुप्त हो जाता है और आत्मा का स्वरूप, जो विशुद्ध आनन्द है, अपने को व्यक्त कर देता है। मोक्ष-प्राप्ति कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं जिससे हम समस्त जगत् को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। यह इस प्रकार की कोई प्रक्रिया नहीं "जैसे कि घी को आग के ऊपर रखकर उसके कड़ेपन का विनाश किया जाता है।"[2] समस्त संसार के विनाश-जैसा महान् कार्य केवल एक मनुष्य के द्वारा होना असम्भव है। यदि मोक्ष से तात्पर्य अनेकत्व का विनाश हो, तब पहले-पहल जब किसी एक मनुष्य ने मोक्ष प्राप्त किया होगा तभी समस्त जगत् को विनष्ट हो जाना चाहिए था।[3] सत्य ज्ञान की प्राप्ति से तात्पर्य अनेकत्व का विनाश नहीं है किन्तु केवलमात्र अनेकत्व के भाव का अभाव है।[4] यह एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि है जो जगत् के चित्र को ही बदल देती है और 'सब वस्तुओं का नये सिरे से निर्माण करती है।' यह अन्तर्दृष्टि, जीवन तथा इसकी घटनाओं के प्रति इस प्रकार का परिवर्तित दृष्टिकोण मोक्ष की अवस्था नहीं, अपितु साक्षात् मोक्ष है।[5] संसार की अन्त न होनेवाली यह शृंखला अपने ऊंच-नीच के साथ बराबर चलती रहेगी, किन्तु उसके प्रति जो मुक्तात्मा की आसक्ति है वह समाप्त हो जाती है।

अविद्या शब्द का प्रयोग स्थिति के सारतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। मोक्ष की प्राप्ति से संसार में तो कोई भी परिवर्तन नहीं होता, केवल इसके प्रति जो हमारा दृष्टिकोण है वह परिवर्तित हो जाता है। इसकी क्षणभंगुर वस्तुएं, जो अल्पमति व्यक्तियों के लिए एक प्रकार का मोहक आकर्षण रखती हैं, मुक्तात्मा को सर्वथा आकृष्ट नहीं करती। दुःख का कारण केवल मिथ्याज्ञान की भ्रांति है,[6] और भ्रांति से मुक्ति पा जाने पर दुःख से भी मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार मोक्ष संसार का विलय नहीं है वरन् केवल एक मिथ्या दृष्टिकोण का मिट जाना-मात्र है। मुक्तात्मा की फिर से लौकिक जगत् में वापस आने की सम्भावना नहीं रहती; इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की उत्सुकता से शंकर बार-बार सुझाव देते हैं कि मुक्ति के अन्दर समस्त व्यावहारिक विभागों व गुण तथा विषय-विषयी के भेदों का भी पूर्णरूप से विलय हो जाना आ जाता है।[7]

1 अनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिः (सिद्धान्तलेशसंग्रह)।

2 शांकरभाष्य, 3 : 2, 21। और भी देखें, बृहदारण्यक उपनिषद्, 4 :5, 13।

3 एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगत् अभविष्यत्। (शांकरभाष्य, 3 : 2, 21)।

4 ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।

5 तुलना करें, शुद्ध ब्रह्माश्रयविषयम् एकमेव ज्ञानं तन्नाश एव च मोक्षः। कृष्णानन्द, जिसने सिद्धान्तलेश पर टीका की है, लिखता है : चैतन्यस्याज्ञानसम्बन्धो बन्धस्तदसम्बन्धो मोक्षो न तु तन्निवृत्तिः। पद्मपाद का मत है कि मिथ्याज्ञान के अभाव का नाम मोक्ष है : मिथ्याज्ञाननिवृत्तिमात्रम् मोक्षः।

6 मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव (शांकरभाष्य, 2 : 3, 46)।

7 सुरेश्वर कहता है : "जब अनन्त प्रकाश का साक्षात्कार अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है तब समस्त प्राणी ब्रह्म से लेकर नीचे वनस्पति-जगत् तक स्वप्नावस्था के समान एक प्रकार की भ्रांति में परिणत हो जाते हैं (मानसोल्लास, 1)।

इस प्रकार की आपत्ति की, कि यह जगत् केवल एक भ्राति-मात्र है, इस प्रकार के विचार से पुष्टि होती है कि यह आनुभविक जगत्, आत्मा, वस्तुए तथा ईश्वर आदि भेदो सहित ऐसे व्यक्ति के लिए, जो बाह्य तथा आत्मा के एकत्व को जान जाता है, विलुप्त हो जाता है।[1] शकर मे ऐसे असत्य वाक्य आते है जो बलपूर्वक कथन करते है कि जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान हो जाने पर साप-विषयक मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है तथा जाग जाने पर स्वप्नावस्था की रचनाए स्वत नष्ट हो जाती है, ठीक इसी प्रकार मुक्ति प्राप्त होने पर ससार का अस्तित्व मिट जाता है। हमारी सीमित अन्तर्दृष्टि को जगत् जिस रूप मे प्रतीत होता है, वह रूप आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व को जान लेने पर परिवर्तित हो जाती है। निरपेक्ष ब्रह्म के अन्दर वे वस्तुए, जिन्हे हम इस क्रियात्मक जीवन मे अपनी परिस्थितियो की कथावस्तु के रूप मे जानते हैं उस रूप मे अपना अस्तित्व नही रखती।[2] शकर नाना प्रकार से इस तथ्य के ऊपर बल देते हैं कि परब्रह्म के लिए यह जगत् उस प्रकार का अस्तित्व नही रखता जिस प्रकार का कि हमारे लिए रखता है। ब्रैडले को भी शकर के समान ही निश्चय है कि प्रतीतिस्वरूप-जगत् का भेदसम्पन्न स्वरूप परब्रह्म के अन्दर जाकर नही रहता। ये सब किस प्रकार से यथार्थ सत्ता मे जाकर विलीन हो जाते है, इस प्रश्न का समाधान ब्रैडले ने तो 'किसी न किसी प्रकार से' कहकर दिया है और शकर ने इसे 'अनिर्वचनीय' नाम दिया है। ब्रैडले ने जो इसके लिए 'रूपान्तरकरण' शब्द का प्रयोग किया है उसपर शकर ने आपत्ति की है, यहा तक कि अपूर्ण के ऊपर प्रतिक्रिया जो कि उक्त शब्द के द्वारा प्रकट होती है, परब्रह्म की अपरिवर्तनीय पूर्णता के साथ सगति नही खा सकती। तार्किक सूक्ष्मता के लिए अत्यधिक रुचि के कारण ही शकर के कथन कुछ-कुछ भ्रामक रूप प्रतीत होने लगते है जैसे कि 'जगत् कुछ नही है।' हम जब 'प्रतीति-रूप के यथार्थसत्ता के अन्दर रूपान्तरकरण' की बात करते है तो बौद्धिक विभागीकरण का प्रयोग कर रहे होते हैं, अथवा यह एक प्रकार का अनादि अनत सामजस्य मे साकेतिक चिह्नो का 'सम्मिश्रण' है। ये सब शकर की सम्मति मे परब्रह्म मे अनेकत्व और लौकिक भेदो को प्रविष्ट करने का प्रयास करते हैं जिसके लिए कोई आध्यात्मिक प्रमाण नही है। यथार्थसत्ता सब प्रकार के सम्बन्धो से ऊपर है। परब्रह्म सदा एक ऐसी वस्तु रहेगा जिसका आख्यान हम अपने पारिभाषिक शब्दो के द्वारा नही कर सकते। सापेक्ष का सापेक्षरूप मे परब्रह्म के अन्दर कोई स्थान नही है। जब वह वस्तु जो निरपेक्ष परब्रह्म को सापेक्ष का रूप देती है, नष्ट हो जाती है तो जो कुछ शेष बचता है वह निरपेक्ष परब्रह्म है। 'माण्डूक्योपनिषद्' पर भाष्य करते हुए शकर कहते हैं कि 'तुरीय' अथवा चतुर्थ अवस्था (अविकल अनुभव) की प्राप्ति अन्य तीन अवस्थाओ अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओ के उसमे एकत्रीकरण के द्वारा होती है। सबसे ऊर्चा अवस्था मे शेष तीनो सम्मिलित है और वह उन तीनो से ऊपर है।[3] 'प्रपञ्चोपशम' की परिभाषा के प्रयोग से तात्पर्य है जगत् का ब्रह्म के अन्दर विलीन हो जाना, किन्तु यह जगत् का निराकरण नही है। हमारे अन्दर इतनी शक्तिया विद्यमान हैं जो सत्य की व्यवस्था के अनुसार कार्य करने मे समर्थ हैं और जिनका प्रयोग हमारे विश्व के समस्त स्वरूप मे ही परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। जब हम तुरीय अवस्था को प्राप्त करते हैं हम एक अन्य दृष्टिकोण से एव एक प्रकाश

1 गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात् (शाकरभाष्य, 1 2, 6)।
2 शाकरभाष्य, 1 2 12, 1 2, 20।
3 त्रयाणा विश्वादीना पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्ति प्रविलय शब्द सम्मिलित हो जाने का सकेत करता है किन्तु निराकरण अथवा निषेध नही।

के द्वारा भासित यथार्थसत्ता को पाते हैं। केवल यही दृष्टिकोण तथा यही प्रकाश निरपेक्ष है। जब हम इस दृष्टिकोण से यथार्थसत्ता का बोध करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि जगत् का यथार्थ तत्त्व स्वयं ब्रह्म ही है।[1] जिसका हम निराकरण करते हैं वह एक भ्रांतिमय दावा है और जो शेष बचता है वह अपने-आपमें यथार्थ है।[2] मुक्तात्मा के ऊपर आवरणस्वरूप माया का कोई वश नहीं है। जब अनुभव के द्वारा ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व तक हम पहुंच जाते हैं तो वह बन्धन जो हमें नानारूपों से जकड़े हुए है कट जाता है और उक्तरूपों के अपने अन्दर कोई आकर्षण नहीं रह जाता। वे रह सकते हैं और रहेंगे जब तक इन्द्रियां जीवित रूप में विद्यमान हैं और बुद्धि क्रियाशील है किन्तु उन्हें अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञान ब्रह्म के साथ सम्बद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। जब मृगतृष्णिका की भ्रांति वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा मिट जाती है तो भ्रांतिजनक प्रतीति रहती अवश्य है; किन्तु अब यह हमें आगे से भ्रांति में नहीं डाल सकती। हम उसी आभास को देखते हैं किन्तु अब उसका महत्त्व भिन्न प्रकार का ही होता है। जब भ्रांति की भ्रांतिमत्ता प्रत्यक्ष हो जाती है तो यह भ्रांति नहीं रह सकती। चाहे भिन्न-भिन्न रूप (आकृतियां) निराकार के अन्दर अपने को विलीन कर दें अथवा अपने को केवलमात्र ब्रह्म की प्रतीतियों के रूप में प्रदर्शित करें, दोनों में से किसी भी दृष्टिकोण से यह जगत् केवल भ्रांतिमय नहीं है।

शंकर ने अनेक वाक्यों में यह घोषणा की है कि मुक्ति का स्वरूप ब्रह्म के साथ एकत्व का है[3] और यहां तक कि ब्रह्म अनुभव के सब प्रकार के विभागों से ऊपर उठा हुआ है। इस प्रकार मोक्ष की अवस्था का वर्णन हमारे ज्ञान के शब्दों में नहीं किया जा सकता। चूंकि हमारा ज्ञान देश, काल, कारण और कार्य, व्यक्तियों तथा वस्तुओं एवं कर्मों तथा दृश्यों, में सम्बन्ध रखने वाले भेदों का प्रतिपादन करता है, इसलिए यह कहा जाता है कि इनमें से कोई भी भेद मोक्ष की अवस्था में लागू नहीं होता। यह नहीं कहा जा सकता कि मुक्तात्मा पुरुष किसी एक भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं जिसका नाम स्वर्ग अथवा ब्रह्मलोक है; और न यही कहा जा सकता है कि वे अनन्तकाल तक रहते हैं। क्योंकि शंकर अरस्तू के साथ इस विचार से सहमत है कि "अनन्त काल की अवधि न तो उत्तम को उत्तमतर बना सकती है और न श्वेत को अधिक श्वेत ही बना सकती है।"[4] हम मोक्ष की अवस्था को निरन्तर क्रियाशीलता की अवस्था के रूप में नहीं मान सकते। यह सर्वोन्नत अनुभव है जो सब प्रकार की क्रियाशीलता से अतीत है और यहां तक कि इस अवस्था में आत्मचैतन्य भी मिटा दिया जाता है। आत्मा संसारचक्र से ऊपर उठकर जिसके साथ विकास और क्षय, जन्म और पुनर्जन्म का सदा चलते रहने वाला प्रवाह लगा हुआ है, ऐसे नित्यत्व के अनुभव को प्राप्त कर लेती है जिसका लक्षण करते हुए बोथियस ने कहा है कि यह "अनन्त जीवन की सम्पूर्ण रूप में तथा क्षणमात्र के अन्दर प्राप्ति है।[5] मोक्ष की अवस्था विश्वात्मा के साथ सर्वात्मभाव प्राप्त करना है, अर्थात् उस ब्रह्म के साथ जो कि व्यावहारिक जगत् के समस्त भेदों से ऊपर उठा हुआ है।[6] मोक्ष की अवस्था अपने निजी ब्रह्मरूपी आन्तरिक रूप के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु

1 शांकरभाष्य 1 : 3, 1।

2 शांकरभाष्य, माण्डूक्योपनिषद्, 2 : 7।

3 ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था। 4. 'निकोमैकियन एथिक्स,' 1 : 6।

5. 'एवेलिन अण्डरहिल कृत जेकोपोन डो टोडी' के पृष्ठ 245 पर उद्धृत।

6. स सर्वात्मभाव सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वम् एव (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उप० 2 : 1)।

नही है और स्वर्ग की भाति कोई उपार्जित अवस्था भी नही है। शास्त्रो (श्रुति) मे शिक्षा दी गई है, और यही तर्कसम्मत भी है, कि ब्रह्म का एक ही रूप है और इसलिए मोक्ष भी एक ही प्रकार का है, चाहे उसे ब्रह्म प्राप्त करे चाहे मनुष्य। सालोक्य (ब्रह्म के साथ एक ही लोक मे निवास) और अन्य प्रकार के विशिष्ट मोक्ष जिनका वर्णन आता है चूकि अर्जित परिणाम हैं इसलिए भिन्न-भिन्न कोटियो की पूजा के कारण उनमे श्रेष्ठता आदि का भेद हो सकता है, किन्तु 'मुक्ति' उस स्वरूप की नही है।[1] चूकि ब्रह्म "सब स्थानो मे उपस्थित है, हर एक वस्तु के अन्दर है, और सब वस्तुओ की आत्मा है, यह सर्वथा असभव है कि यह गति की प्रक्रिया का लक्ष्य बन सके। क्योकि जिस पर हम पहले से ही पहुच गए है उसके प्रति चलने का कुछ अर्थ नही है। अनुभव हमे बताता है कि मनुष्य अपने से पृथक् की ओर जाता है।"[2]

शरीरधारी ईश्वर के उपासक तो ब्रह्मलोक को जा सकते है किन्तु उन्हे नही जाना होता जिन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया है।[3]

मोक्ष का वर्णन निषेधात्मक रूप मे ऐसी स्वतन्त्रता की अवस्था के रूप मे किया गया है कि जहा न दिन है न रात है, जहा काल की धारा का प्रवाह रुक गया है, और जहा सूर्य तथा तारे आकाश से दूर कर दिए गए हैं। ज्ञान के भेद इसके अन्दर कोई शक्ति नही रखते।[4] यह ईसाइयो के स्वर्ग के समान है, जो भ्रष्टाचार से शून्य है, अकलुषित है और कभी क्षीण नही होता। किन्तु इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि यह नितान्त अभाव की अवस्था है। मुक्तात्मा किसी अन्य को नही देखता, वरन अपने को सबके अन्दर देखता है।[5] ठीक जिस प्रकार ब्रह्म हमारे लौकिक दृष्टिकोण से केवल शून्य मात्र प्रतीत होता है इसी प्रकार मोक्ष की अवस्था सर्वथा हानि-रूप ही प्रतीत होती है, अर्थात् विलुप्त होते-होते विस्मृति मे परि त हो जाती है। यह एक प्रकार से प्रकाश का बुझ जाना एव क्षीण हो होकर अभावरूप मे परिणत हो जाना है, जैसा कि जार्ज इलियट ने अपने 'दि लीजेंड आफ जुबल' मे प्रस्तुत किया है। "एक बुझी हुई सूर्य की लहर जो मर्त्यभाव को छोडते हुए अपने अन्तिम विश्राम-स्थान उन सर्वस्रष्टा के सान्निध्य मे रहने को प्रस्थान करती है।" चूकि जिस प्रकार शकर इस विचार का विरोध करते है कि ब्रह्म केवल दुर्बलात्माओ को असद् रूप मे प्रतीत होता है उसी प्रकार वे तर्क करते हैं कि हमारे लौकिक दृष्टिकोण से यह महान् सर्वात्मा के साथ एकत्व की प्राप्ति भी ऐसी प्रतीत तो होती है मानो अन्त मे मृत्यु-मुख मे चली गई और फिर जीवित न होगी, किन्तु यथार्थ मे यह ऐसा नही है। ऐसे वाक्य भी आए है जिनमे यह प्रतिपादन किया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति पर चैतन्य रहता है। इस प्रकार के वाक्य को लेकर शकर तर्क करते है कि इस अवस्था मे वैयक्तिक चेतना (विशेष-विज्ञान) लुप्त होती है, समस्त चैतन्य नही। आत्मा का विशुद्ध सारतत्त्व (विज्ञानघनात्मा) विद्यमान रहता है।[6] इसी प्रकार उनका मत है कि मोक्ष मे केवल

1 शाकरभाष्य, 3 4 52।

2 शाकरभाष्य, 4 3, 14 और भी देख 3 31।

3 शाकरभाष्य 4 3, 7-8।

4 दर्शनादिव्यवहाराभाव (शाकरभाष्य 1 3, 9)।

5 मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात् भमानो द्वितीयाभाव (शाकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद, 8 12 3)

6 शाकरभाष्य 1 4 22। उन्होने बृहदारण्यक उपनिषद् (4 3, 30) को भी शाकरभाष्य (1 3 19), म उद्धृत किया है और इस प्रकार टीका की है "विशेपविज्ञान विनाशाभि प्रायमव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम।"

प्रतिबन्ध उत्पन्न करने वाले सहायक नष्ट हो जाते हैं किन्तु स्वयं आत्मा नष्ट नहीं होती।[1] मोक्ष निर्जन प्रदेश में विलुप्त हो जाना नहीं है। हमारे लिए अपने सीमित दृष्टिकोण से जीवात्मा अपने शरीर, इन्द्रियों, चित्त तथा बोधशक्ति तक ही सीमित दृष्टिकोण से यथार्थ है; और वह मुक्तात्मा, जिसने विश्वात्मा के साथ अपने एकत्व को साक्षात् कर लिया है, काल पर विजय प्राप्त कर ली है, और नित्य जीवन को प्राप्त कर लिया है, यथार्थ प्रतीत होती है। हम शारीरिक जीवन के अर्थों में एक निरन्तर रहने वाले अमरत्व के जीवन की अभिलाषा करते हैं। शंकर ऐसी आत्मा को उक्त प्रकार का जीवन प्रदान करते हैं जिसका दृष्टिकोण शरीर, इन्द्रियों तथा चित्त से परे नहीं जाता। शंकर केवल ऐसी आत्मा को एक विशिष्ट एवं प्रतीतिमय वस्तुओं में से एक आभास मात्र मानते हैं, जो उत्पन्न होती तथा नष्ट हो जाती है। किन्तु जब ये सब वस्तुएं जो सीमित को सीमित बना देने वाली हैं नष्ट हो जाती हैं और जब यह शरीर जो सीमितता का प्रतीक है, विनष्ट हो जाता है, अर्थात् जब सीमित अनन्त के स्तर तक ऊंचा उठा दिया जाता है, तब हम यथार्थ निःश्रेयस् की अवस्था को यहीं और वर्तमान काल में प्राप्त कर लेते हैं। इसकी ठीक-ठीक विषय-वस्तु क्या है, यह वर्णन करना कठिन है। यह सत्य है कि इसको आंखों ने नहीं देखा, न कानों ने सुना और न ही इसने मनुष्य के हृदय में प्रवेश पाया और न कभी उस दिव्य ज्योति के भावमात्र का भी विचार किया जिसकी अभिव्यक्ति अवश्य कभी न कभी होकर रहेगी। तो भी यदि मोक्ष का हमारे लिए कोई महत्त्व है तो हमें अमरत्व के विचार को काल-सम्बन्धी भाषा में रखकर इसे 'सर्वात्म भाव' के नाम से पुकारना चाहिए।[2]

इसी प्रकार ऐसे भी वाक्य हैं जिनमें शंकर ने बलपूर्वक कहा है कि जीवात्मा का सत्य स्वरूप वही है जो सर्वोपरि प्रभु का है, "सर्वोच्च प्रभु की आत्मा शरीरधारी जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप है; और शरीर-रूपी बन्धन की अवस्था प्रतिबन्ध करने वाले सहायकों के कारण है।"[3] "जैसे कि काल्पनिक सांप अविद्या के दूर हो जाने पर रस्सी के वास्तविक रूप में आ जाता है इसी प्रकार भासमान जीवात्मा का, जो कर्तृत्व और अनुभव, राग, और द्वेष तथा अन्य त्रुटियों के कारण दूषित है और अधिकतर पाप के अधीन है, ज्ञान के द्वारा उस सर्वोच्च ईश्वर के निष्पाप सारतत्त्व में रूपान्तरण हो जाता है जो इन सब अपूर्णताओं के प्रतिकूल है।"[4] अप्पयदीक्षित इस वाक्य को उद्धृत करते हुए कहता है कि शंकर स्पष्ट रूप में मोक्ष के ईश्वर के साथ एकत्व सम्बन्धी विचार का समर्थन करते हैं।[5] और स्वयं भी वह इसे मानता है।[6]

1 उपाधिप्रलयमेवाय नात्मप्रलयम् (2 . 1, 14)।

2 सर्वात्मभावो मोक्ष उक्तः (शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उप०, 4 : 4, 6)।

3 पारमेश्वरम् एव हि शरीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु शारीरत्वम् (3 · 4, 8)। आगे चलकर, एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतो व्योमवद् असंगत्वा विशेषात् (शांकरभाष्य, 1 3, 19)। और भी देखें, शांकरभाष्य, ईशोपनिषद्, 14।

4 यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादिदोषकलुषितम् अनेकानर्थयोगि तद्विलयनेन तद्विपरीतम् अपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपाद्यते सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादिना (शांकरभाष्य, 1 : 3, 19) इसके सम्बन्ध में 'कल्पतरु' और 'परिमल' भी देखें।

5 भाष्यकारोऽप्यतिस्पष्टं मुक्तस्य सगुणेश्वरभावाप्तिम् आह।

6. देखें, सिद्धान्तलेश, 4। यह सुझाव दिया जाता है कि अनेक जीववाद के अनुसार मुक्ति ईश्वर के साथ एकत्व का नाम है जब तक कि सब मुक्त नहीं हो जाते, और उस समय यह ब्रह्म के साथ तादात्म्य का रूप धारण करती है। देखें, सिद्धान्तलेश 4, और इसके ऊपर ब्रह्मानन्द की व्याख्या।

ऐसा कहा गया है कि मुक्तात्मा को सर्वोच्च सत्ता से भिन्न नही किया जा सकता (अविभाग)।

इस प्रकार के अभेद की व्याख्या नाना प्रकार से की जाती है। जैमिनी[1] के अनुसार मुक्तात्मा मे अनेक गुण विद्यमान रहते हैं, यथा पाप से निर्लिप्तता, विचार की सत्यता एव सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता। औडुलोमि को इसमे आपत्ति है और अपना मत वह यो प्रकट करता है कि मुक्तात्मा मे केवल एक विध्यात्मक गुण, अर्थात् आध्यात्मिक चैतन्य, और निषेधात्मक गुण, अर्थात् पाप से निर्लिप्तता, रहता है।[2] अन्य गुण, जो जैमिनी ने मुक्तात्मा मे बताए है, उपाधियो के कारण हैं। बादरायण इन दोनो मतो मे किसी प्रकार का परस्पर-विरोध नही पाता है।[3] शकर भी बादरायण से सहमत है। औडुलोमि ने हमारे आगे आध्यात्मिक सत्य को प्रस्तुत किया है जिसे निचोडकर लौकिक विभागो मे नहीं रखा जा सकता, किन्तु यदि हमारा आग्रह लौकिक विवरण के ही ऊपर हो तो हमे अवश्य ही जैमिनी का विचार स्वीकार करना होगा। इस प्रकार जैमिनी और औडुलोमि मोक्ष की एक अवस्था का बौद्धिक तथा अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करते हैं। बादरायण यह कहते हुए कि लगभग अनन्त शक्ति और ज्ञान, जो मुक्तात्मा को मोक्ष-अवस्था मे प्राप्त हो जाते है, यह भी कहता है कि चाहे जो कुछ भी क्यो न हो सृष्टिरचना, शासन करने तथा विश्व के नाश करने की शक्ति ईश्वर के अतिरिक्त किसी मुक्तात्मा को प्राप्त नही होती, क्योकि ये शक्तिया केवल ईश्वर को ही प्राप्त हैं।[4] मध्व के साथ इस विचार की सगति है, जिसका मत है कि निम्नपदस्थ आत्माओ के लिए ईश्वर जैसी अनन्त शक्ति तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त करना असम्भव है। रामानुज के सामने अपने ब्रह्म के आन्तरिक भेदो तथा मुक्तात्मा एव ईश्वर के बीच के शाश्वत भेदो के कारण कोई समस्या नही है। शकर इस विचार को उपनिषदो के बार-बार दोहराए गए विचारो, जैसे "मुक्तात्मा विशुद्ध सत्ता के साथ अत्यन्त समानता प्राप्त कर लेता है", "वह जगत् का स्रष्टा हो जाता है," आदि के साथ असगत पाते हैं। तो भी बादरायण कहता है कि वह ससार का शासक नही हो सकता। शकर स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते है कि परममुक्ति की दशा मे न तो विषयी रहता है और न विषय रहता है, न आत्मा रहती है और न जगत् रहता है और इस प्रकार शासन अथवा सृष्टिरचना का प्रश्न उत्पन्न ही नही होता, किन्तु जब तक हम ईश्वर के तथा आत्माओ और ससार के स्तर पर हैं तब तक परमार्थभाव से मोक्ष प्राप्त नही हुआ और इस प्रकार, उस अवस्था मे यह सत्य है कि मुक्तात्मा मे सृजनशक्ति आदि को छोडकर ईश्वर के सब गुण हैं।[5] शकर के अनुसार ऐसा पुरुष जिसमे आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि है, ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है, यद्यपि इस दशा को हम केवल ईश्वर के सादृश्य के रूप मे

1 शाकरभाष्य, 4 4, 5, छान्दोग्य उपनिषद भी देखें, 8 1, 6, 8 7, 1।
2 शाकरभाष्य, 4 4 6, बृहदारण्यक उपनिषद भी देखें, 4 5, 13।
3 शाकरभाष्य, 4 4, 7।
4 वेदान्तसूत्र 4 4, 17।
5 बादरायण तथा उपनिषदो मे जो प्रकटरूप मे परस्पर-विरोध है और बादरायण के भी कुछ कथनो मे जो विरोध है (4 2 13 और 16 तथा 4 · 4, 17 और 21), उसका शकर इस प्रकार दूर कर देते हैं।

ही वर्णन कर सकते हैं किन्तु ऐसे पुरुष जिनके अन्दर आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि तो नहीं किन्तु शरीरधारी ईश्वर की वे पूजा करते हैं, सर्वथा अविद्या से मुक्त नहीं हैं और इस प्रकार ब्रह्मलोक में सृष्टिरचना तथा संसार की शासन सम्बन्धी शक्तियों के अतिरिक्त अन्य सब शक्तियों को प्राप्त कर लेते हैं। वे ईश्वर से पृथक् अपना व्यक्तित्व रखते हैं यद्यपि वे ईश्वर के भाव से युक्त हैं।

क्या मोक्ष की दशा, अथवा संसार में मुक्ति, संसार के लिए कार्य करने के साथ संगति रखती है? शंकर की प्रवृत्ति इस प्रश्न का निषेध के रूप में उत्तर देने की है, क्योंकि समस्त क्रियाशीलता, जिससे हम परिचित हैं, पहले ही से द्वैतभाव को मान लेती है और अद्वैतरूपी सत्य के ग्रहण करने के साथ संगत नहीं हो सकती। तो भी जहां तक जीवन्मुक्तों का सम्बन्ध है उनके अन्दर क्रियाशीलता रह सकती है। परिणाम यह निकला कि क्रियाशीलता, क्रियाशीलता के रूप में अद्वैत के सत्य के साथ असंगत नहीं है। मुक्तात्मा जीवित अवस्था में भी अहंभाव से ऊपर उठ जाते हैं और इस प्रकार विधान तथा कर्म के शासन से भी परे हो जाते हैं और वे सर्वोच्च सत्ता के भाव से ओत-प्रोत होकर कर्म करते हैं। कर्म तथा मुक्ति के अन्दर अनिवार्य प्रतिकूलता नहीं है।

इस सम्बन्ध में मुक्तात्मा द्वारा एक नवीन जीवन धारण करके इस लोक में वापस आने के प्रश्न पर भी विचार किया गया है।[1] ऐसा कहा गया है कि अपान्तरतमस् तथा अन्य कुछेक ऋषि सर्वोच्च ज्ञान रखते हुए भी शारीरिक जीवन में फिर वापस आ गए। शंकर का कहना है कि वे ऐसा करते हैं अपने अधिकार, अर्थात् संसार के कल्याण की पूर्ति के लिए; और जब उनका यह कार्य पूरा हो जाता है, उनका वैयक्तिक जीवन भी समाप्त हो जाता है और फिर उनके वापस आने की कोई सम्भावना नहीं रहती। किन्तु यह स्पष्ट है कि यथार्थसत्ता का अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी हम संसार के अन्दर रुचि रख सकते हैं यद्यपि हमारा इस संसार में फिर से आना केवल निरीक्षण के रूप में है, इस लोक में निवास के विचार से नहीं। इसके अतिरिक्त शंकर यह भी आग्रहपूर्वक कहते हैं कि मोक्ष की अवस्था संसार की अवस्था के प्रतिकूल है, और चूंकि *क्रियाशीलता संसार का एक विशिष्ट लक्षण है इसलिए मुक्तात्मा के अन्दर इसका* अभाव रहता है।

परवर्ती अद्वैत में मोक्ष के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार हठात् हमारे सम्मुख आते हैं।[2] वे लोग जो एक जीव के सिद्धान्त को मानते हैं कहते हैं कि मोक्ष ब्रह्म के अन्दर मग्न जाने का नाम है जिसमें व्यावहारिक जगत् का विनाश, ईश्वर और मनुष्य भी सम्मिलित है।[3] किन्तु *वे लोग जो जीवों के अनेकत्व के सिद्धान्त* को मानते हैं व्यावहारिक जगत् का कारण प्रत्येक आत्मा की अविद्या को बताते हैं। यद्यपि अविद्या का नाश हो जाने पर भी यह व्यावहारिक जगत् अन्य *व्यक्तियों की दृष्टि में*, जो अभी मुक्त नहीं हुए हैं, वर्तमान रहता है। इस सिद्धान्त के आधार पर कि ईश्वर और आत्माएं दोनों ही ब्रह्म के प्रतिबिम्ब हैं, मोक्ष का अर्थ है प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाले सब दर्पणों का टूट जाना और

1. शांकरभाष्य, 3 : 3, 32।
2. सिद्धान्तलेश, 4।
3. 'एकजीववादे तदेकाज्ञानकल्पितस्य जीवेश्वरविभागादिकृत्स्नभेदप्रपञ्चस्य तद्विद्योदये विनाशान्निर्विशेषचैतन्यरूपेणावस्थानम्।'

मौलिक रूप मे समा जाना। ऐसा मत भी प्रकट किया गया है कि जहा विशुद्ध आत्मा ईश्वर और जीव दोनो की पृष्ठभूमि मे रहती है वहा जीव ईश्वर का एक प्रतिबिम्ब रूप है। इस विचार के आधार पर मोक्ष ब्रह्म के साथ एकत्व का नाम नही है, वरन ईश्वर के साथ एकत्व का नाम है और यह तब तक रहेगा जब तक कुछ जीव मोक्ष-प्राप्ति के बिना विद्यमान रहेगे। जब एकमात्र मुख कई दर्पणो मे प्रतिबिम्बित होता है तो किसी एक दर्पण के हटा देने से जहा तक मौलिक का सम्बन्ध है प्रतिबिम्ब उसमे समा जाना होता है। किन्तु मुख का अपना विशिष्ट मूलभूत रूप नष्ट नही होगा जब तक कि सारे दर्पण न टूट जाएगे। तदनुसार, जब तक मुक्ति रहित आत्माए हैं तब तक मोक्ष का तात्पर्य है ईश्वर के साथ एकत्व, किन्तु जब सब आत्माए मुक्त हो जाएगी तब ईश्वर भी अपना विम्ब अथवा मूलस्वरूप खो देगा और लौटकर ब्रह्म के अन्दर समा जाएगा, और इस प्रकार समस्त मुक्तात्माओ के लिए ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त हो जाएगा। किन्तु चूकि सनातन अद्वैत के अनुसार ससार का अन्त नही ह, मोक्ष से तात्पर्य ईश्वर के साथ एकात्मता है।

सचयी ज्ञान के स्वरूप के विषय मे एक मनोरञ्जक प्रश्न उठाया जाता है। जब तक ज्ञान है मोक्ष की प्राप्ति नही होती, किन्तु जब तक हम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नही कर लेते, मोक्ष हो नही सकता। तो क्या यह ब्रह्मज्ञान, ज्ञान के रूप मे अन्तिम फलोपभोग के साथ असगत नही है? यह मान लिया गया है कि परम अवस्था मे कोई ज्ञान नही होता और सर्वोच्च ज्ञान का नाश अपने-आप मे असख्य दृष्टान्तो के द्वारा उत्पन्न होता है जिस प्रकार 'कतक' के फल का चूरा गदले पानी मे डाले जाने पर वह उसकी सारी मलिनता को साथ लेकर तली मे बैठ जाता है, जिस प्रकार पानी की एक बूद लाल तपे हुए लोह के गोले पर डाली जाने पर उसकी ऊष्मा के एक भाग को ले लेती है और उसके साथ स्वय भी लोप हो जाती है, जिस प्रकार अग्नि एक घास के ढेर को जलाने के बाद अपने-आप ही बुझ जाती है, इसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान भी हमारे अज्ञान को तो नष्ट करता है किन्तु स्वय भी नष्ट हो जाता है।[1]

शकर क्रममुक्ति को स्वीकार करते है। प्रश्नोपनिषद् के एक वाक्य के ऊपर भाष्य करते हुए ओम् के ध्यान के विषय मे वे कहते हैं कि इस प्रकार का ध्यान ब्रह्मलोक की ओर ले जाता है जहा हम क्रम से पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं।[2] एक अन्य स्थान पर वे तर्क करते हैं कि शरीरधारी ईश्वर की उपासना का उद्देश्य पापकर्मो से मुक्ति (दुरित-क्षय), ऐश्वर्य प्राप्ति अथवा क्रमिक मुक्ति है।[3] ब्रह्मलोक मे आत्मा अपना पृथक् अस्तित्व स्थिर रखती है। शकर की दृष्टि मे अन्य सब रहस्यवादियो की भाति एक ऐसे स्वर्ग का विचार कि जहा पर आत्मा ईश्वर और केवल ईश्वर ही के ऊपर एकनिष्ठ रहती है, आदर्श से न्यून है। यह हो सकता है कि आत्मा ईश्वर के साक्षात् दर्शन करती है और उसकी उपस्थित से प्लावित हो जाती है किन्तु तो भी आत्मा तथा उसके विषय

1 देखें सिद्धान्तलेश 3।
2 शाकरभाष्य 1 3 13।
3 शाकरभाष्य 3 2 21।

मे परस्पर भेद अवश्य है। आत्मा दर्शन का विषय नही है और इसका सीमित उत्पत्तियुक्त रूप इसके विषय बनने में बाधा देता है।

शंकर ने जो जीवमुक्ति का वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक मृत्यु के पश्चात् शाश्वत जीवन कोई जीवन की अवस्था नही है। जब अन्तर्ज्ञान का सूर्योदय इसी लोक मे हो जाता है तो मोक्ष की प्राप्ति हो गई। ऐसी अवस्था मे मृत्यु-पर्यन्त शरीर की विद्यमानता प्रवचना का कारण नही बन सकती है। जिस प्रकार मिट्टी का पात्र बन जाने पर भी कुम्हार का चक्र कुछ समय तक चलता ही रहता है ठीक इसी प्रकार मोक्ष के बाद भी जीवन बना रहता है। क्योंकि पहले से जो गति इसने प्राप्त कर ली है, उसे रोकने का कोई कारण उसके अन्दर नही है।[1] शंकर एक ऐसे मनुष्य का भी दृष्टान्त देते हैं जो चन्द्रमा को उसके द्विगुण रूप में देखता है क्योंकि उसकी आंख मे कुछ दोष है और यह जानते हुए भी कि वस्तुतः चन्द्रमा एक है वह अपने को इस प्रकार देखने से रोक नहीं सकता।[2] मुक्तात्मा अपने समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पण समझकर करता है।[3]

44. परलोक

केवल सत्य को जानने वाला मनुष्य शाश्वत जीवन प्राप्त करता है जो कि मरणोत्तर जीवन से भिन्न है और जो उसके अतिरिक्त अन्य सब मनुष्यों के हिस्से में आता है।[4] जब तक शाश्वत जीवन प्राप्त नही होता, हमारा जीवन संसार के साथ अथवा अन्तविहीन परिणमन के थकाने वाले चक्र के साथ बंधा रहता है। यह संसार काल की प्रक्रिया का व्यक्त रूप है और जीवों को इस अन्तविहीनचक्र में परलोक जीवन का तब तक के लिए निश्चित भरोसा दिया गया है जब तक कि वे काल से ऊपर उठकर आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि द्वारा शाश्वत जीवन प्राप्त नही कर लेते। शाश्वत (नित्य) की उपस्थिति काल की परिभाषा मे अपने को अन्तविहीन निरंतरता के रूप मे प्रदर्शित करती है। प्लेटो के 'टाईमियम' नामक ग्रन्थ के प्रसिद्ध शब्दों मे "काल नित्यता की गतिशील प्रतिकृति है।" परलोक के सत्य को प्रमाणित करने के लिए शंकर ने कोई नया तर्क उपस्थित नही किया। ऐसा माना जाता है कि जब यह भौतिक शरीर शून्यता को प्राप्त हो जाता है तो उसके पीछे एक बीज शेष रह जाता है जो उसी जाति के एक नये सुसगठित शरीर को जन्म देता है। शंकर भौतिकवादियों के इस मत का खण्डन करते हैं कि जीवात्मा

1 शांकरभाष्य, 4 1, 15।

2 शांकरभाष्य, 4 1, 15।

3. परवर्ती अद्वैत मे भिन्न भिन्न प्रकार के विचार प्रस्तुत किए गए हैं, जैसे ; (1) मोक्ष की अवस्था में जीवितावस्था मे बाधा अविद्या अपनी विक्षेप शक्ति को कुछ शिथिल कर देती है; (2) अविद्या का प्रभाव इसके विनाश के पीछे भी कुछ समय तक बना रहता है; (3) बाद अविद्या जले हुए कपड़े के समान निर्जीव अवस्था में रहती है, और (4) मुक्तात्मा के लिए यह जगत्, जिसमें शरीर आदि सम्मिलित हैं, अपनी सत्ता खो देता है। देखें, सिद्धान्तलेश, 4।

4 शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, 1 : 1, 1। सर्वज्ञानात्ममुनि इस मर्त्यलोक मे मुक्ति का अस्तित्व नही मानता, यद्यपि अन्य लगभग सभी अद्वैतवादी जीवन्मुक्ति के विचार का समर्थन करते हैं।

ही शरीर है और शरीर के विलयन के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है।[1] किन्तु आत्मा शरीर की अनाश्रित है और इसका अस्तित्व ही स्मृति आदि को सम्भव बनाता है।[2] यद्यपि हमारा शरीर छिन्न-भिन्न होकर राख मे परिणत हो जाता है तो भी एक ऐसी वस्तु हमारे अन्दर है जो मरण के उपरान्त भी रहती है, और यही वह वस्तु है जो हमारे भविष्य-जीवन का निर्णय करती है। ऐसा ज्ञान जिसे हमने प्राप्त किया है और हमारा चरित्र, जिसे हमने बनाया है, हमारे दूसरे जीवनो मे साथ-साथ जाएगे।[3] नैतिक तथा धर्मात्मा मनुष्य तराजू के पलडे पर ऊचे उठेंगे और अनैतिक तथा पापी नीचे आएगे। भविष्य-जीवन का स्वरूप भूतपूर्व जीवन की नैतिक कोटि के ऊपर निर्भर करता है। जन्म और मृत्यु केवल-मात्र जीवात्मा के शरीर के साथ सयोग तथा वियोग से सम्बद्ध हैं।[4]

शकर के अनुसार वैदिक देवता भी अमर नही है क्योकि "देवताओ के अमरत्व का तात्पर्य केवल-मात्र एक दीर्घ समय तक जीवित रहना है, ठीक जैसे कि वे सब प्रभु भी आत्मनिर्भर न होकर केवल ईश्वर के उपहार हैं।"[5]

शकर मृत्यु के उपरान्त शरीर से आत्मा के प्रस्थान करने का विस्तृत रेखा-चित्र प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद मे बताया गया है कि सत्पुरुषो की आत्माए यम के प्रकाशमय स्वर्ग मे चली जाती हैं, जहा वे पितरो के मध्य एक आनन्दमय जीवन व्यतीत करती हैं[6]; और दुरात्मा पुरुषो की आत्माए, जिनके लिए स्वर्ग का द्वार बन्द है, निम्नतर श्रेणी के अन्धकार मे गिरती हैं।[7] उपनिषदो मे हम अध्ययन करते है कि प्रज्ञावान् देवायान मार्ग से ऊपर ब्रह्म तक ले जाए जाते है जहां पहुचकर फिर पुनर्जन्म नही होता। कर्म करने वाले पुरुषो की आत्माए पितृयान मार्ग से ऊपर की ओर ज्योतिर्मय चन्द्रलोक मे जाती हैं तथा वहा अपने कर्मों के फलों का उपभोग करती हैं और तब एक नये जीवन मे आने के लिए

1 यदि इस तथ्य के आधार पर कि आत्मा के गुण तब तक रहते हैं जब तक शरीर रहता है, ऐसा अनुमान किया जाए कि ये शरीर के गुण हैं तो उत्तर मे ऐसा तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि वे शरीर के गुण नही हैं, क्योकि मृत्यु के समय शरीर यद्यपि रह जाता है किन्तु ये गुण नही रहते। हम ऐसा नहीं कह सकते कि चूकि अधेरे मे प्रत्यक्ष ज्ञान को अपने अस्तित्व के लिए एक दीपक की आवश्यकता होती है इसलिए यह दीपक का गुण है। इसी प्रकार दीपक के समान शरीर केवल साधन-मात्र है। इसके अतिरिक्त शरीर के सहयोग की सदा ही आवश्यकता नही होती, क्योंकि शरीर जब निद्रा मे होता है तो भी हम अनेक वस्तुओ का प्रत्यक्ष करते हैं। शरीर के गुणो, जैसे आकृति इत्यादि जो सबके प्रत्यक्ष में आते हैं तथा आत्मा के गुणो मे भेद है जो उस रूप मे प्रत्यक्ष नही होते। यह सत्य है कि शरीर के अस्तित्व से चेतनामय गुणो की उपस्थिति प्रमाणित की जा सकती है किन्तु शरीर की अनुपस्थिति से चेतनता के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता। यह अन्य शरीर मे प्रवेश करके रह सकती है। यदि चैतन्य भौतिक तत्त्वो तथा उनसे उत्पन्न वस्तुओ का एक गुण है तो उत्पन्न वस्तुए चैतन्य का विषय नही हो सकती। चूकि तत्त्वो तथा उनसे उत्पन्न वस्तुओ का अस्तित्व इस तथ्य से अनुमान किया जाता है कि वह प्रत्यक्ष देखी जाती है, हमे अवश्य यह परिणाम निकालना चाहिए कि प्रत्यक्ष उनसे भिन्न है।

2 शाकरभाष्य, 3 : 3, 54।

3 शाकरभाष्य, 3 : 4, 11, और बृहदारण्यक उपनिषद् 4 : 4, 2। और भी देखें, शाकरभाष्य, 3 1, 5, 6।

4 शाकरभाष्य, 2 : 3, 16-17।

5 शाकरभाष्य, 1 : 2, 17।

6 10 : 14, 10।

7. 10 · 152, 4।

नीचे उतरती हैं, जिसका निर्णय भूतकाल के जन्म के द्वारा होता है। और वे, जो न ज्ञान और न कर्म में निरत रहे होते हैं, एक तीसरा स्थान पाते हैं और निम्नतर श्रेणी के पशुओं तथा वनस्पति के अन्दर जन्म लेते हैं जिन्हें चन्द्रलोक के आनन्द का रस नहीं प्राप्त होता।[1] शंकर उक्त तीनों को संसार के चक्र में तीन भिन्न पड़ावों के रूप में मानते हैं, किन्तु मोक्ष का अपना ही सबसे पृथक् रूप है और उक्त तीनों से भिन्न है। जहां एक ओर पितृयान फिर से लौकिक अस्तित्व की ओर ले जाता है, वहां दूसरी ओर देवयान ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है, जहां से फिर इस संसार में लौटना नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद् के विवरण में[2] केवल दो ही मार्ग बताए गए हैं, अर्थात् देवयान और पितृयान। और ये सब जो ज्ञान से रहित हैं, सज्जन हों अथवा दुर्जन हों, उन्हें पितृयान से जाना होता है। शंकर अतीत तथा नये जन्म में द्विगुण प्रतिशोध के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं जिससे कि वेद तथा उपनिषदों के विचारों में समन्वय किया जा सके।[3] एक प्रयास इस विषय में भी किया गया था कि वैदिक कर्मकाण्ड, जिसका पुरस्कार परलोक में कर्मकर्ता को मिलता है, तथा नैतिक जीवन में परस्पर भेद किया जाए, क्योंकि नैतिक जीवन का फलोपभोग इसी लोक में होता है।[4] वे आत्माएं, जो परम्परागत नैतिक आधार का पालन करती हैं तथा यज्ञ-यागादि करती हैं, बिना किसी सत्य ज्ञान के पितरों के मार्ग का अनुसरण करती हैं और धूम्रमय क्षेत्र से गुज़रते हुए चन्द्रलोक में पहुंचती हैं और वहां अपने कुछ कर्मों का फलोपभोग करने के पश्चात् एक नये जीवन में प्रवेश करने के लिए इस लोक में वापस लौट आती हैं, जब कि अन्य; जो शरीरधारी ईश्वर की उपासना करते हैं और ज्ञानपूर्वक कर्म करते हैं, देवयान मार्ग से ऊंचे-ऊंचे सूर्यलोक के मध्य से गुज़रते हुए ब्रह्म लोक में पहुंचते हैं।[5] शरीरधारी ईश्वर की पूजा करने वाला अपनी शक्तियों और प्रभुत्व का भाग प्राप्त करता है, यद्यपि "उसका अधकार अभी तक दूर नहीं हुआ" और उसकी अविद्या भी अभी तक नष्ट नहीं हुई। वे जो निम्न-श्रेणी के देवताओं की पूजा करते हैं वे भी अपना पुरस्कार पाते हैं, यद्यपि इस प्रकार की पूजा उन्हें मोक्ष के उच्चतम मार्ग पर नहीं ले जा सकती।[6] वे जो अनैतिक जीवन व्यतीत करते हैं, नीचे गिरते हैं।[7] किन्तु इनमें से कोई भी ईश्वर के प्रेम से वंचित नहीं रहता एवं निर्जन शून्यता में नहीं उतारा जाता।[8]

मृत्यु के अवसर पर इन्द्रियां मन के अन्दर समा जाती हैं और मन मुख्य-प्राण

1 बृहदारण्यक उप०, 6 . 2; कठोपनिषद्।
2. 5 : 3, 10, देखें, शांकरभाष्य, 3 : 1, 12-21।
3 शांकरभाष्य, 3 : 1, 8।
4 शांकरभाष्य 3 : 1, 9-11।
5 शांकरभाष्य, 4 : 3, 1-6।
6 शांकरभाष्य, 4 : 1, 4; 4 : 3, 15-16।
7 शांकरभाष्य छान्दोग्य उपनिषद् पर, प्रस्तावना। और भी देखें, 3 : 1, 1—7, 18।
8 एक रुचिकर प्रश्न उन आत्माओं की अवस्था के सम्बन्ध में उठाया जाता है जिन्होंने देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में प्रवेश किया है। बादरि का मत है कि उनके शरीर सर्वथा नहीं होते किन्तु जैमिनी का मत है कि उनके शरीर होते हैं, और बादरायण इन दोनों में यह व्यवस्था देकर कि वे जिनमें प्रभुता है अपनी रुचि के अनुसार चाहें तो शारीरिक और चाहें शरीररहित रूप में रह सकते हैं (शांकरभाष्य, 4 : 4, 8-22)।

मे लीन हो जाता है। यह मुख्यप्राण अपने क्रम मे आत्मा के नैतिक यान द्वारा सूक्ष्म शरीर मे समा जाता है। आत्मा, जिसके प्रतिबन्धक तथा सहायको मे अविद्या, धर्म तथा पूर्वजन्म के अनुभव हैं, अपने सूक्ष्म शरीर के साथ शरीर को छोड जाती है।[1] इस सूक्ष्म शरीर को सूक्ष्म इसलिए कहा जाता है क्योकि कहा गया है कि यह नाडियो के मार्ग से शरीर को छोडता है। इस सूक्ष्म शरीर मे विस्तार (तनुत्व) है जिससे सचार तथा पारदर्शिता (स्वच्छत्व) सम्भव होते हैं जिसके कारण इसे मार्ग मे कोई बाधा नही रोकती और कोई इसे देख भी नही सकता।[2] यह सूक्ष्म शरीर मोक्ष से पूर्व कभी विलय को प्राप्त नही होता।

45 धर्म

प्राय कहा जाता है कि शकर का अद्वैत बुद्धि की एक विलक्षण रचना तो अवश्य है किन्तु इससे धार्मिक पवित्रता के लिए प्रेरणा नही मिल सकती। शकर का निरपेक्ष परब्रह्म आत्मा के अन्दर उत्कट प्रेम तथा भक्ति के भावो को प्रज्वलित नही करता। ऐसे निरपेक्ष परब्रह्म की हम पूजा नही कर सकते जिसे किसी ने नही देखा, अथवा न कोई देख सकता है और जो ऐसे प्रकाश मे निवास करता है जिसके समीप कोई पहुच नही सकता। इस-लिए निराकार परब्रह्म का चिन्तन 'साकार' रूप मे किया जाता है जिससे कि उसकी पूजा की जा सके। ईश्वर की पूजा का मिथ्यात्व के साथ जानबूझकर सहयोग नही है, क्योकि ईश्वर ही एक ऐसा रूप है जिस रूप मे सीमित मानवीय मन निरपेक्ष परब्रह्म का चित्रण कर सकता है। सर्वोच्च यथार्थसत्ता ऐसे जीवात्मा के समक्ष, जिसने ब्रह्म की अपने रूप के साथ एकता का अनुभव नही किया है, अनेको पूर्णताए लिए हुए प्रकट होती है।[3] शरीरधारी ईश्वर का भाव उच्चतम तार्किक सत्य का अगाध धार्मिक श्रद्धा के साथ सम्मिश्रण है। यह शरीरधारी ईश्वर यथार्थ पूजा तथा आदरभाव का विषय है किन्तु ऐसा कोई नैतिक आचारविहीन देवता नही है जो मनुष्य की आवश्यकताओ तथा भय की आशकाओ के प्रति सर्वथा उदासीन हो। उसे विश्व के स्रष्टा, शासक और न्यायाधीश के रूप मे माना गया है, जिसके अदर शक्ति तथा न्याय, न्यायनिष्ठता, दया, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता के गुण हैं। शकर द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के मुख्य लक्षणो मे आचार की पवित्रता तथा नैतिक सौन्दर्य हैं। मानवीय जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति स्वामी का भृत्य के प्रति, पिता का अपने पुत्र के प्रति तथा मित्र का अन्य मित्र के प्रति होता है। आध्यात्मिक अमूर्त भावो की कठोरता वहा शिथिल पड जाती है जहा शकर दैवीय गुणो की विविधता के विषय मे प्रतिपादन करते हैं जिसके द्वारा अनत ब्रह्म अपने अन्दर उन वच्चो की भावना को भरता है जिन्हे उसने बनाया है। शकर की दृष्टि मे धर्म कोई सिद्धान्त अथवा अनु-ष्ठान नही है अपितु जीवन तथा अनुभव है। इसका प्रारम्भ आत्मा की अनन्त-सम्बन्धी भावना से होता है और इसके अनन्त बन जाने मे जाकर अन्त होता है। जीवन का लक्ष्य है साक्षात्कार अथवा यथार्थसत्ता का अन्तर्ज्ञान। यथार्थ भक्ति अपने सत्य स्वरूप

1 2 2 1—5।
2 4 2 9—11।
3 शाकरभाष्य 3 3, 12।

को खोज निकालना ही है।[1] ऐसी अनेकों विधाएं अथवा चिन्तन की विधियां हैं जिनका उपनिषदों में समर्थन किया गया है।[2] और प्रत्येक व्यक्ति को इनमें से अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल किसी एक का चुनाव करना होता है।[3] जहां तक प्रमेय विषय का सम्बन्ध है यह सबके लिए एक ही है यद्यपि उस तक पहुंचने के मार्गों में नानाविधता है। धार्मिक पूजा के साधारणतः दो प्रकार हैं अर्थात् शरीरधारी ईश्वर की सगुण ब्रह्म के रूप में पूजा और दूसरी प्रतीक की पूजा।[4] जब उपासक ईश्वर को अपने से बाह्य समझकर पूजा करता है तो यह पूजा प्रतीक की पूजा है।

उपासना करने वाले व्यक्ति तथा उपास्य विषय के मध्य जो सम्बन्ध है वह इस विषय का संकेत करता है कि दोनों में भेद है।[5] सर्वश्रेष्ठ पूजा हमें ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराती है जहां कि जीवात्मा तथा सर्वोपरि ब्रह्म का भेद अभी भी विद्यमान रहता है। और उस अवस्था से केवल क्रमिक रूप में मुक्ति प्राप्त होती है। प्रचलित विचार के अनुसार धर्म एक ऐसी वस्तु है जिसे अतीन्द्रिय होना चाहिए। यह एक अपूर्ण अनुभव है जो तभी तक रहता है जब तक हम यथार्थसत्ता के यथार्थबोध के ग्रहण में असफल रहते हैं। इसका विलय निश्चित है, क्योंकि "जब वह जो पूर्ण है प्राप्त हो गया तब वह जो केवल अंशरूप है अवश्य ही समाप्त हो जाएगा।" शंकर धर्मपरायण ऋषियों के वाक्यों का उद्धरण देते हैं जो जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता का व्याख्यान करते हैं: यथा, "यथार्थ में तू मैं हूं, हे पवित्र ईश्वर, और जो मैं हूं वह तू है।"[6] धर्म का प्रतिपादन करने वाले प्रत्येक दर्शन को इस प्रकार के कथनों का कुछ न कुछ समाधान देना ही होता है, यथा 'मैं ब्रह्म हूं' (अहं ब्रह्मास्मि), 'वह तू है' (तत् त्वमसि), जिनके अन्दर स्रष्टा तथा निमित्त जीव के भेद को पृथक् कर दिया गया है। शंकर इन सब का समाधान यह कहकर करते हैं कि धार्मिक चैतन्य अपने समस्त भेदों के साथ लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर स्वतः समाप्त हो जाता है। एक 'साकार ईश्वर' का कुछ अर्थ क्रियात्मक धार्मिक चैतन्य के लिए तो हो सकता है किन्तु उच्चतम साक्षात्कार के लिए नहीं।[7] सीमित जीवात्मा को, जिसके आगे परदा पड़ा हुआ है, निरपेक्ष परब्रह्म व्यवस्थित तथा अपने से पृथक् प्रतीत होता है। बन्धन तथा मुक्ति का कुछ अर्थ सीमित जीव के लिए हो सकता है जिसका चैतन्य शृङ्खलाबद्ध है और जिसका दमन निम्नतर प्रकृति ने कर रखा है। यदि शरीरधारी ईश्वर जीवात्मा से व्यतिरिक्त ही सबसे ऊंचा होता तो योगविद्या के अनुभवों का तात्पर्य ही समझ में नहीं आ सकता और हमें एक सीमित ईश्वर तक ही सन्तोष रखना होता। ईश्वर यदि सर्वात्मा नहीं तो वह ईश्वर ही नहीं; किन्तु यदि वही सर्वात्मा है तब धार्मिक

1 स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते (विवेकचूडामणि, पृष्ठ 31)।
2 3 : 3, 5।
3 शांकरभाष्य, 3 : 3, 59।
4 शांकरभाष्य, 4 : 1, 3।
5 उपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव (शांकरभाष्य, 1 : 2, 4)।
6 त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि भगवो देवते (शांकरभाष्य, 4 : 1, 3)।
7 तुलना करें, ब्रैडले : 'मेरी दृष्टि में निरपेक्ष परमब्रह्म ईश्वर नहीं है। मेरे लिए धार्मिक चैतन्य से बाह्य ईश्वर का कुछ अर्थ नहीं है और वह तात्त्विक रूप से क्रियात्मक है। मेरी दृष्टि में निरपेक्ष ब्रह्म ईश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि अन्त में निरपेक्ष का सम्बन्ध किसी के साथ नहीं रहता तथा इसके सीमित संकल्प के अन्दर कोई क्रियात्मक सम्बन्ध नहीं हो सकता। जब आप निरपेक्ष सत्ता की अथवा विश्व की पूजा करना प्रारम्भ करते हैं और इसे धर्म का विषय बनाते हैं तो आपने उस क्षण इसका रूपान्तरण कर दिया" ('ट्रूथ एण्ड रियलिटी', पृष्ठ 428)।

जीवन सबसे ऊचा नही ठहरता ।[1] यदि ईश्वर का रूप पूर्ण है तो यह ऐसा हो नही सकता जब तक कि मनुष्य का अपूर्ण रूप उसके अतिरिक्त अपना अस्तित्व रखता है। और यदि यह पूर्ण नही है तब यह ईश्वर का स्वरूप नही। इस प्रकार धार्मिक जीवन मे एक मौलिक मतभेद है और यह स्पष्ट सकेत करता है कि इसका सम्बन्ध अविद्या के क्षेत्र से है।

कर्मकाण्ड की स्वीकृति के साथ-साथ वैदिक देवताओ के अस्तित्व को भी मानना आवश्यक है। शकर ने, जो इस सम्बन्ध मे परम्परागत विचार को ही मान लेते है, उन्हे केवल प्राकृतिक तत्त्वो के ही नही, अपितु प्राकृतिक शक्तियो के भी चेतनामय प्रतिरूप माना है। 'देवताओ के आदित्य इत्यादि नाम, यदि यह भी मान लिया जाए कि, प्रकाश इत्यादि का सकेत करते हैं, श्रुतियो के अनुसार हमे उनकी ऐसे आध्यात्मिक प्राणियो के रूप मे कल्पना करने के लिए बाध्य करते हैं, जो तत्त्वो के अनुकूल है और जिन्हे ऐश्वर्य का वरदान मिला हुआ है क्योकि उनका प्रयोग वैदिक ऋचाओ और ब्राह्मणो मे हुआ है।'[2] ये देवता जीवन के भिन्न-भिन्न अनुष्ठानो मे अधिष्ठाता के रूप मे अध्यक्ष होते है।[3] कहा गया है कि अग्नि वाणी का सहायक है, वायु श्वास का और आदित्य चक्षु का। जीवात्माओ के अनुभवो का देवताओ के ऊपर कोई असर नही होता।[4] मृत्यु के समय ये देवता जीवित इन्द्रियो के साथ भटकते नही फिरते, वरन् केवल अपनी सहायक शक्ति को हटा लेते है। सर्वोपरि ब्रह्म देवताओ, मनुष्यो तथा पशुओ की सृष्टि उनके पुण्य व पाप के अनुसार करता है। देवताओ का अमरत्व तो अपेक्षाकृत है, किन्तु वे ससार मे लिप्त होने के कारण क्षणिकता के भी वश मे रहते है।[5] उन्हे भी मोक्षप्राप्ति सम्बन्धी ज्ञान की आवश्यकता होती है और वे सर्वोपरि प्रभु के आश्रित हैं। हमे धर्मशास्त्रो मे ब्रह्मविद्या सीखते हुए देवताओ के दृष्टान्त मिलते हैं। इस प्रकार की आपत्ति का कि यदि ये देवता व्यक्तिरूप हैं तो वे जीवन तथा मरण के भी वशीभूत हैं और यह तत्त्व वेदो के नित्यस्थायी रूप पर भी असर डालेगा, इस आधार पर निराकरण किया जाता है कि वेद के शब्द व्यक्तियो का सकेत नही करते, सामान्य भावनाओ का सकेत करते हैं। 'इन्द्र' शब्द से तात्पर्य किसी व्यक्ति-विशेष से नही, वरन् श्रेणियो मे विभक्त प्राणियो की सस्था की एक विशेष उपाधि (स्थानविशेष) से है। उस स्थान पर जो भी अधिष्ठित होता है वह उक्त नाम धारण करता है। आपत्ति की जाती है कि उनका व्यक्तित्व न तो यथार्थ है, क्योकि यज्ञो मे उनके दर्शन नही होते और न ही सभव है क्योकि एक व्यक्ति एक ही समय मे अनेक स्थानो मे विद्यमान नही हो सकता जैसा कि यज्ञाहुतियो ग्रहण को करने के लिए होना चाहिए। शकर उक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं कि देवता इसलिए नही दिखाई देते क्योकि उनके अन्दर अपने को अदृश्य बनाने की शक्ति रहती है और योगियो की भाति वे अपने शरीरो को सहस्रगुणा कर सकते हैं।

यद्यपि शकर के धार्मिक मत को किन्ही मन्दिरो अथवा मठो की आवश्यकता नही है और न किसी क्रिया-कलाप की ही आवश्यकता है, तो भी उन्हे एक इतिहासज्ञ के समान पर्याप्त अनुभव था, जिसके आधार पर उन्होने, ऐसे व्यक्तियो के लिए जिन्हे इनकी आवश्यकता है, इनका भी विधान किया।[6] वेदान्त के अन्य कितने ही व्याख्या-

1 देखें, ब्रैडले : 'ट्रुथ एण्ड रियलिटी', पृष्ठ 436 और आगे।

2 डयूसन, 'डयूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ 65—66।

3 ऐतरेय उपनिषद 1 2 4।

4 जो ही एकमात्र भोक्ता है जबकि देवता 'भोगोपकारणभूत' हैं।

5 शारीरभाष्य 1 3 28।

6 ऐसा कहा जाता है कि शकर ने मन्दिरो मे बार बार जाने के लिए अपनी मृत्युशय्या पर क्षमायाचना की थी, क्योकि ऐसा करके उन्होने मानो एक प्रकार से ईश्वर की सर्वव्यापकता का निषेध किया।

कारों के विपरीत शंकर धर्मसम्बन्धी विषयों में ईश्वर ज्ञान-सम्बन्धी प्रवृत्तियों से भिन्न दार्शनिक प्रवृत्ति को ही अंगीकार करते हैं। एक अध्यात्मवादी सामान्यतः एक विशेष साम्प्रदायिक आधार का आश्रय लेता है। एक विशेष धार्मिक समुदाय का सदस्य होने के कारण वह अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को क्रमबद्ध करने, विस्तृत रूप देने तथा उनका समर्थन करने में तत्पर रहता है। वह अपने मत को सत्य समझ लेता है और उसके साथ ही उसका धर्म स्थिर रहता अथवा नष्ट होता है। किन्तु दूसरी ओर, एक दार्शनिक होने के नाते अपने को किसी एक धर्मविशेष के क्षेत्र में सीमित नहीं रखता वरन् धर्म को धर्म के स्वतन्त्र रूप में अपना क्षेत्र बताता है एवं उसका आग्रह यह भी नहीं होता कि जिस धर्म में वह उत्पन्न हुआ अथवा जिस धर्म को वह अंगीकार किए हुए है वही एकमात्र सत्य धर्म है। शंकर हमारे समक्ष उस सर्वग्राही तथा सहिष्णुप्रकृति हिन्दू धर्म के एक महानतम व्याख्याकार के रूप में प्रकट हुए, जो सदा ही विजातीय मतों को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेने के लिए उद्यत रहा है। सहिष्णुता की उक्त प्रकार की प्रवृत्ति न तो उसके अन्धविश्वास का परिणाम थी और न ही एक समझौते का साधन मात्र थी, अपितु उसके क्रियात्मक धर्म के एक अनिवार्य अंग के रूप में थी। उसने सब मतों की सीमितता को पहचाना और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को उन मतों की परिधि के अन्दर दबाकर रखने से निषेध किया। कोई भी विवेकी व्यक्ति ऐसा नहीं सोच सकता कि उसके सम्प्रदाय ने ईश्वर का भार लिया अथवा उसकी रचना को माना और इस प्रकार की अपनी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कोई अपना ऐसा पृथक् सम्प्रदाय बनाया जिसे उसने निर्दोष घोषित किया हो। प्रत्येक मत एक प्रकार का धार्मिक विश्वास सम्बन्धी साहसिक कार्य होता है और यह आत्मानुभव के समीप पहुंचने का मार्ग है। यह एक ऐसा साधन है जो हमें जीवित धार्मिक अनुभव की ओर ले जाता है और यदि धार्मिक अनुभव की यथार्थता ऐसे व्यक्ति के लिए कोई अर्थ रखती है जो सत्यनिष्ठा के साथ ईश्वर के पास किसी भी मार्ग से पहुंचने का प्रयत्न करता है तो हमारे लिए उससे अपना निजी मत परिवर्तित करने के लिए आग्रह करना सर्वथा अनुचित है। शंकर ऐसे कट्टरपंथी नहीं थे कि वे उन व्यक्तियों के धार्मिक अनुभवों में शंका उठाते जो अपनी श्रद्धा तथा प्रेम के उपहार द्वारा ईश्वर के साथ सीधा सम्पर्क रखने का दावा करते हैं। यदि नितान्त भिन्न विचार रखनेवाले व्यक्ति नैतिक स्पन्दन, मानसिक शान्ति और प्रधान आध्यात्मिक यथार्थसत्ता के साथ सारूप्यसम्बन्धी एक समान परिणामों तक पहुचने में समर्थ हो सकते हैं तो शंकर उन्हें अपने-अपने विचार रखने की पूरी स्वतंत्रता देते हैं। जैसा कि संसार के एक महान् धार्मिक मेधावी ने कहा है कि "उनके फलों से," किन्तु उनके मन्तव्यों से नहीं, "तुम उन्हें जानने का यत्न करो।" इसमें कुछ अन्तर नहीं आता कि हम ईश्वर की पूजा चाहे किसी भी नाम से करें किन्तु हमारी आत्मा ईश्वर की भावना से ओतप्रोत हो तथा उसमें सेवा-भाव के लिए उत्साह हो, यह आवश्यक है। एक ही यथार्थ सत्ता का मनुष्यों के मतभेद के कारण विविध प्रकार से व्याख्यान किया जाता है।[1] जब हम उसको प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं जो इस प्रतीति-रूप जगत् से परे है तो हम ऐसे प्रतीक ढूंढ लेते हैं जो हमारी आवश्यकताओं के अधिक से अधिक अनुकूल सिद्ध हो सकें। शंकर ने धार्मिक भ्रांतियों से सर्वथा मुक्त होने के कारण तथा अपने अन्तस्तल में मानवीयता को लिये हुए, मनुष्यों के स्वप्नों पर भी ध्यान दिया क्योंकि ये ही इस मायारूप जगत् में एकमात्र किसी महत्त्व की वस्तुएं प्रतीत होती हैं।

1. हरिस्तुति, पृष्ठ 18।

उन्होने अपने को किसी मत-विशेष का प्रचारक बनने से एव अपने धार्मिक उपदेश के क्षेत्र का विस्तार करने के विचार से अपने दार्शनिक मानदण्ड को भी गिराने से निषेध किया। शकर के अनुसार, हिन्दूधर्म अपने क्षेत्र के अन्दर समस्त विचारो के भिन्न-भिन्न रूपो तथा मानसिक प्रवृत्तियो के लिए स्थान रखता है। उन्हे 'षट्मतस्थापनाचार्य' की उपाधि दी जाती है, अर्थात् वे एक ऐसे आचार्य थे, जिन्होने छ मतो की स्थापना की।[1] धार्मिक विषयो मे ऊची उडान वाली आदर्शपरक विचारपद्धति को अपनाना आसान है जिनमे इस भूलोक के सब तथ्यो को दृष्टि से ओझल कर दिया गया हो, जिस प्रकार ऐसी असस्कृत यथार्थवादी पद्धति को अपनाना भी उसी के समान आसान है जो अन्य सब आदर्शों का खण्डन करती हो, किन्तु एक विशद दृष्टिवाले यथार्थवाद को आदर्श के प्रति एक दृढ भक्ति के साथ सयुक्त कर देने का कार्य कठिन है और यही कार्य था जिसे करने का प्रयत्न शकर ने किया। एक धर्मप्रचारक के लिए छ भिन्न-भिन्न प्रकार की धार्मिक पद्धतियो का औचित्य सम्पादन करना एक अनुपम घटना है और यह घटना हिन्दूधर्म के माननेवाले भारतवर्ष मे ही सम्भव हो सकती है। जैसा कि विद्यारण्य ने कहा कि मनुष्यो ने सब प्रकार के पदार्थों को अर्थात् अन्तर्यामी आत्मा से लेकर स्थावर एव वृक्षो तक को, ईश्वर का रूप दे दिया।[2] जिस समय वैष्णवमत, शैवमत और शाक्यमत आदि के अनुयायी एक-दूसरे से लड रहे थे, शकर ने इन प्रचलित मतो को केवलमात्र वादानुवाद की धूलि से ऊपर उठाकर शाश्वत सत्य के निर्मल वातावरण मे खडा कर दिया। उन्होने प्रचलित विधियो को एक सर्वसामान्य आधार प्रदान किया और उन सबका सम्बन्ध एक प्रधान समन्वयकारक विचार के साथ जोड दिया। उन्होने सत्यधर्म के ऊपर बल दिया जिसका मूलाधार आध्यात्मिक आन्तरिकता मे है। समस्त धर्मो का उद्दिष्ट सत्य आत्मा है ? और जब तक हम यथार्थसत्ता के साथ अपनी आत्मा के एकत्व को नही पहचान लेते, जो इन सब अपूर्ण वस्तुओ से अतीत है, तब तक हम ससार-चक्र मे घूमते रहेगे। अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से वे कहते हैं कि यद्यपि निरपेक्ष परब्रह्म का दर्शन अनेक प्रकार से हो सकता है किन्तु उन सबकी पृष्ठभूमि मे यथार्थसत्ता वही एक है। यथार्थसत्ता के अन्दर तो कोई वर्गीकरण नही है, यद्यपि सत्य के अन्दर श्रेणी विभाग, यथार्थसत्ता के बोधग्रहण के प्रकारभेद के कारण हो सकता है। उन्होने सहसा ऐसा परिणाम निकालना उचित नही समझा कि ईश्वर है ही नही, क्योकि अगर होता तो ईश्वर विषयक विचार मे मनुष्यो का परस्पर मतभेद न होता। मतभेद मनुष्यो के प्रतिबन्धो के कारण है।[3] इस प्रकार वे सशयवाद तथा हठधर्मिता दोनो से ही उन्मुक्त

1 शैव वैष्णव सौर शाक्त गाणपत्य और कापालिक मत।

2 अन्तर्यामिनम आरभ्य स्थावरान्तेशवादिन (पचदशी 6 121)। और भी देख 6 206—209।

3 शाकरभाष्य 1 1 20। बैरन फान ह्यू गेल की नवीनतम कृति मे एक सदर्भ है जो प्रस्तुत प्रसग म शकर क दृष्टिकोण को प्रकट करता है। स्पष्ट है कि प्रत्यक्षत अनन्त भिन्नताए जा भिन्न पृथधर्म तथा अन्य पृथधर्म के मध्य म या किसी एक मन तथा अन्य मन क मध्य म रहती हैं, अथवा जो क्रमश एक ही धर्म क अन्दर या किसी एक मन क अन्दर दीख पडती हैं, जो सचमुच अधिकाश व्यक्तियो और धर्मों के द्वारा अभिव्यक्त और मत अनुभव और उसक विषय की अशिष्ट मूर्खता दिखाती हैं, इस स्थिति की आलोचना नही करती कि एक ही महान विषयी अतीत अतिमानव सत्ता इस प्रकार इन समूहो या पुरुषो द्वारा विभिन्न ढग स और अपूर्णत यद्यपि यथावत समझी जाती है। इस सत्ता को जो जगत मे विद्यमान है जो जगत क भीतर और उसक ऊपर काय कर रही है जो मानव-आत्मा से भिन्न है तथा मानव-आत्माओ के भीतर तथा ऊपर काय कर रही है, मनुष्य की ईश्वर को पाने की लम्बी और लगातार खोज का निर्धारक निमित्त, विषय तथा कारण

रहने में अद्वितीय थे। उन्होंने अपनी उक्त धारणा के प्रति सत्यनिष्ठा का प्रमाण देते हुए भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति में श्लोकों की रचना की। ये श्लोक ऐसे हैं जिनकी प्रेरणापरक शक्ति अनुभव है। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उन्होने सब प्रकार के अन्धविश्वास तथा मूर्तिपूजा को उचित ठहराया। उन्होंने बड़े प्रबल रूप में कुछ ऐसी घातक क्रियाओं का खण्डन किया जो धर्म के नाम पर प्रचलित थी। अपने अद्वैत सिद्धान्त को जनसाधारण के मस्तिष्क में बैठाकर उन्होंने ईश्वर के आध्यात्मिक महत्त्व की व्याख्या का मर्म समझने में मनुष्य-समाज की सहायता की। उन्हें विश्वास था कि मन मे सत्य को ग्रहण करने की शक्ति है, यदि हम अपने सर्वोत्तम प्रकाश के अनुसार उसे ग्रहण कर सकें। उनकी वृत्ति उस समय के प्रचलित धर्मों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण तथा समालोचनात्मक दोनो ही रूप की थी। शकर का ध्येय नये युग के आगे हिन्दूधर्म की व्याख्या इस रूप में करना था जिससे उक्त धर्म के विशिष्ट सन्देश की रक्षा तो हो ही सके, किन्तु आगे से अधिकतर विशदरूप में वह साधारण जनता पर अपना अधिकार जमा सके। इस अधिक विस्तृत एव उदार आशय के अन्दर सम्भवतः हम इस देश के निवासियो को एकता के सूत्र में बाधने के विचार को भी लक्ष्य कर सकते हैं। किन्तु इस एकत्व को सम्पन्न करने के लिए उन्होने किसी विशेष बाह्य संगठन अथवा आन्तरिक विश्वासों का आग्रह नही किया। उन्होने उक्त प्रकार की एकता को सम्पन्न करने के लिए एक विस्तृततर धार्मिक सहिष्णुता का आश्रय लिया। धार्मिक जीवन के व्यक्तिगत रूप के ऊपर बल देकर उन्होने आध्यात्मिक रूप लिये हुए हिन्दूधर्म को अत्यन्त उदारता का रूप दिया।

हिन्दू विचार की पुन. नये सिरे से व्याख्या करने में उन्होंने किसी स्थान पर इसके अन्दर ऐसे अंशों को भी पाया जो प्रकटरूप मे उनके अपने विचारो के साथ सगति नही खाते थे।

शास्त्रार्थ-काल के क्षोभ तथा हलचल के पश्चात् शंकर का अद्वैत आया जिसमे मौलिक स्थिरता थी तथा जनसाधारण में युक्तिपूर्ण दृढ विश्वास उत्पन्न कराने की समर्थता भी थी। यह न तो अधिकारपूर्ण रूप में आज्ञा ही देता है और न किसी रूढि की ही स्थापना करता है, फिर भी इसकी प्रभावशाली तथा पूर्ण निश्चयात्मक घोषणाओं मे नैष्ठिक प्रयत्न तथा परिपक्व चिन्तन का गुरुत्व पाया जाता है। यह धार्मिक यथार्थता को मनुष्य के चैतन्य केन्द्र के अन्दर दृढतापूर्वक जमा देता है जहां से इसका उच्छेद नही किया जा सकता। मनुष्य का एकमात्र आध्यात्मिक व्यापार यथार्थ सत्ता की खोज मे निहित है न कि उसमें जो हमारे लौकिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। और इस यथार्थसत्ता की खोज तभी हो सकती है जब कि मनुष्य के निरर्थक तथा अपने महत्त्व के प्रति अत्यधिक अभिमान का सर्वथा परित्याग करने मे अहंकारी और आत्मकेन्द्रित दृष्टिकोणों को पूर्णरूपेण छोड दिया जाय। हमें ईश्वर की परिकल्पना अपने सीमित ज्ञान और अनुभव की परिभाषा में करने के सब प्रयत्नों को त्याग देना होगा। सबसे प्रथम तो, ईश्वर का अस्तित्व अपने लिए है वह केवल हमारे लिए ही नहीं है। हमारे तर्कशास्त्र तथा नीतिशास्त्र, दोनों ईश्वर को हमारे अपने उद्देश्यों को आगे

माना जा सकता है। इसे मनुष्य की धार्मिक अनुभूतियों की गहराई और सूक्ष्मता के क्रमिक विकास का, धार्मिक अनुभूति और निश्चय मे मनुष्यों को पूर्ण शान्ति तथा स्थायी आधार पाने का और मनुष्य के नि.श्रेयस् की आवश्यकता तथा इस वास्तविक अनुभूत सत्ता को अभिव्यक्त करने वाली समस्त मानवीय वर्णनाओं और परिभाषाओं की अपर्याप्तता के प्रति एक साथ अधिक जागरूक होने का कारण माना जा सकता है" (फिलासफी आफ रिलीजन' पृष्ठ 44—45)।

बढाने के लिए एक साधन मात्र बना लेते हैं। ईश्वर के सम्बन्ध मे इस प्रकार का विचार जिसे मनुष्य का दुर्बल मन अपनी क्षुद्र योजनाओ को आगे बढाने के लिए बना लेता है, मनुष्य के लिए भले ही प्रतिष्ठादायक सिद्ध हो सके किन्तु उससे ईश्वर की प्रतिष्ठा नही बढती। शकर एक प्रकार मे स्पिनोजा के ही इस सिद्धान्त वाक्य को पुष्ट करते है कि वह जो यथार्थ मे ईश्वर से प्रेम करता है, यह अभिलाषा नही रख सकता कि बदले मे ईश्वर भी उससे प्रेम करे।

यदि शकर का अद्वैत हमे अमूर्त भाववाचक प्रतीत होता है तो इसका कारण यह है कि हम एक ऐसे स्तर पर ही रहकर सन्तोष कर लेते हैं जो सर्वोच्चसत्ता से कही नीचे है और यही हमारे लिए सम्भव भी है। सगुणोपासना के प्रति शकर के विरक्तिभाव के कारण उनको धर्म कुछ-कुछ नीरस प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम निरपेक्ष परम आत्मा मे सकल्प तथा ज्ञान का अभाव मानते हैं तो इसे उस निरपेक्ष की उपाधि अथवा प्रतिबन्ध न मानना चाहिए, अपितु यह उसकी पूर्णता के कारण है। शकर मे धार्मिक भावना की किसी प्रकार भी न्यूनता नही थी। उनके लेखो मे उक्त भावना की स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति पाई जाती है जो प्राय मन को छूने वाली है और कभी-कभी तो यह धार्मिक व्यग्रता के स्तर तक पहुच जाती है। किन्तु हमारे प्रचलित धार्मिक विचार उनकी तर्कपूर्ण समीक्षा मे नही बचे रह सके और हमारे ईश्वर-सम्बन्धी विचारो को ऐसा ही अस्थायी और क्षणभगुर बताया गया है जैसे कि हम स्वय है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसके अतिरिक्त यह भी है कि हमे ज्ञात होता है कि शकर ने अन्तस्तल मे प्रविष्ट होने वाली दैवीय वस्तुओ के बौद्धिक दर्शन को योग-सम्बन्धी चिन्तन के साथ सयुक्त किया है। इस विषय मे हम शकर को ही अपने साक्षी-रूप मे उपस्थित करेंगे कि योग-सम्बन्धी चिन्तन के मार्ग मे बुद्धि का साहसपूर्ण प्रयोग बाधक होता है। वह यह भी दर्शाता है कि बाह्य आजीविका के साधनो से छुटकारा पा लेना चिन्तनशील जीवन के लिए आवश्यक नही है। शकर ने धर्म के अन्तर्गत जो व्यक्तिगत अथवा रहस्यमय, सस्थाओ के नियम सम्बन्धी अथवा निरकुश तथा बौद्धिक अथवा दार्शनिक अश है उनमे एक-दूसरे के साथ परस्पर समन्वय दिखाया है।

46 उपसंहार

उपनिषदो की भाषा दर्शन तथा विज्ञान दोनो ही से मिश्रित है। उपनिषदे उच्चतम यथार्थ सत्ता को निरपेक्ष और ईश्वर, ब्रह्म तथा परमेश्वर के रूप मे प्रस्तुत करती है। वे मोक्ष का प्रतिपादन करते समय ब्रह्म के साथ सारूप्य हो जाना एव ईश्वर की नगरी मे निवास करना भी मान लेती है। ब्रह्म का 'नेति नेति' के रूप मे वर्णन तथा उसके नकारात्मक चरित्रचित्रण, जो उपनिषदो मे पाए जाते हैं प्रत्येक महान् धार्मिक साहित्य मे भी ऐसे ही मिलेंगे। रहस्यवादी, यहूदी, ईसाई और मुस्लिम, हमे एक अन्धकार का समाचार देते हैं जो वाणी के क्षेत्र से परे है। अन्य लोग ईश्वर की पूर्णता का हमारे आगे वर्णन करते है। जहा एक ओर विचारक और रहस्यवादी ईश्वर के प्रतिबिम्बविहीन स्वरूप के ऊपर बल देते हैं, वहा धार्मिक भक्त लोग ईश्वर को मित्र, सहायक तथा मोक्षदाता की दृष्टि से देखते हैं। प्रत्येक धर्म के दर्शनशास्त्र को सब प्रकार के धार्मिक अनुभव के दो प्रकार के रूप को ध्यान मे रखना होता है और उसके औचित्य पर भी ध्यान देना होता है। जिस समस्या को शकर ने अपने ऊपर लिया है, यद्यपि वह उस धार्मिक अनुभव के सीमित प्रकरण मे, जिसे उपनिषदो मे अभिलिखित किया गया है, उत्पन्न होती है, वह सार्वभौम

हित की है और इसके जिस समाधान पर वे पहुंचे हैं वह भी सन्तोषप्रद है, बशर्ते कि सभी अंश अपने सन्तुलन को स्थिर रख सकें। तात्त्विक रूप में यह एक दार्शनिक समाधान है क्योंकि शंकर हमें ऊंचा उठाकर सुख व शान्ति के आदर्श में पहुंचा देते हैं और इस कार्य के लिए वे विचारशक्ति का उपयोग करते हैं, क्योंकि यही एकमात्र साधन है जो जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षों का परस्पर समन्वय कराता तथा उन्हें उत्तम बनाता है। यह सत्य है कि वे स्वीकार करते हैं कि विचार सब समस्याओं को हल नहीं कर सकता एवं उसे यथार्थसत्ता के साक्षात् ज्ञान ग्रहण करने के लिए अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है। यद्यपि शंकर प्रसन्नतापूर्वक जीवन के रहस्यों के आगे सिर झुकाते हैं तो भी वे इन रहस्यों के लिए ही लालायित नहीं हैं। शंकर के दर्शन के आधार में सृष्टि-रचना का शाश्वत रहस्य है और यह एक ऐसा रहस्य है जिसके अन्दर जीवन की प्रत्येक गति तथा संसार का प्रत्येक अणु उलझा हुआ है।

यदि इस जगत् को एक ऐसी वस्तु समझने की अपेक्षा, कि जिसकी उत्पत्ति के विषय में हम ठीक-ठीक कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकते, हम साथ ही साथ कतिपय अर्वाचीन अद्वैतवादियों के मार्ग का अनुसरण करते हुए, इसे यह कहकर कि यह विश्वज्ञान सम्बन्धी भ्रांति है, जो न जाने किस प्रकार उत्पन्न हो गई है एवं इसका उद्देश्य भ्रम में पड़े हुए हम मरणधर्मा मनुष्यों को एक दुःस्वप्न की भांति दुःख देना है, इसे अन्यथा सिद्ध कर देते हैं, तो शंकर का दर्शन असन्तोषजनक सिद्ध होता है। किन्तु इस प्रकार का विचार रखना शंकर के साथ अन्याय करना होगा।

आध्यात्मिक गहराई तथा तार्किक शक्ति में शंकर का दर्शन अद्वितीय है। स्वभावतः विचार के पश्चात् विचार रहता आता है जब तक कि अद्वैतवाद सबका शिरोमणि स्थान लेकर इस भवन को पूरा नहीं कर देता। यह एकेश्वरवाद-सम्बन्धी आदर्श का एक महान् दृष्टान्त है जिसका खण्डन उसके सदृश अन्य किसी नितान्त निश्चयात्मक आध्यात्मिक विचार द्वारा नहीं हो सकता। शंकर जीवन की एक ऐसी कल्पना को स्वीकार करते हैं जिसे कविता तथा धर्म के उच्चतम क्षणों में भी स्वीकार किया जा सकता है जबकि हमारा झुकाव उसके बोधग्रहण के प्रकाश की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि को अधिक महत्त्व देने के विचार के साथ सहमति प्रकट करने की ओर होता है और जब तक वे ऊंचे धरातल पर खड़े हैं उन्हें किसीको उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। किन्तु बराबर स्थिर रहने वाला संशय अधिकांश मनुष्यों को दबाता रहता है क्योंकि वे बहुत ही कम इतनी उच्चताओं तक पहुंच सकते हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि उस जगत् को, जिसके अन्दर वे रहते, चलते-फिरते, और अपना अस्तित्व स्थिर रखते हैं, इतने अधिक उच्च कोटि के उपेक्षाभाव से छोड़ देना अनुचित होगा। और इसलिए इसका कारण अज्ञान अथवा अन्धकार को बताते हैं और अपने को केवल यह कहकर शान्ति दे लेते हैं कि समस्त अरुचिकर आभासरूप पदार्थ शीघ्र ही नष्ट होकर अनन्तप्रकाश के अन्दर विलीन हो जाएंगे। उनकी दृष्टि में सब परिवर्तनों का कारण आकाशस्थ सूर्य का प्रकाश कृत्रिम है और वे यह भी कहते हैं कि शंकर का दर्शन, तथ्य के प्रति एक रहस्यपूर्ण उपेक्षा का भाव रखता है। यह कि मानवीय दुःख दूर हो जाएगा, एवं समस्त संसार एक दयनीय मृगतृष्णिका की भांति लुप्त हो जाएगा, और यह कि हमारी सारी कठिनाई हमारी अपनी ही बनाई हुई है और यह कि संसार के अन्तिम यवनिकापतन में सब लोगों को मालूम होगा कि निरपेक्ष एकत्व जो सब हृदयों के लिए पर्याप्त है, सम्पूर्ण क्रोध को शान्त करता है और सब पापों का प्रायश्चित्त करता है—यह सब अनेक व्यक्तियों को केवलमात्र कल्पनाएं प्रतीत होती हैं। मूर्च्छारूप आत्मविलय में, जो अपने को पवित्र घोषित करता

है, क्रियात्मक जीवन के प्रति एक क्रूर उपेक्षा का भाव रहता है, जो कि एक मध्यम वृत्ति के बुद्धिमान् व्यक्ति को अभिमत नहीं हो सकता। शकर इस सवका ज्ञान रखते हुए हमारे समक्ष एक ऐसे तर्कसम्मत अस्तित्ववाद को प्रस्तुत करते है जो तुच्छ समझकर बुद्धि की उपेक्षा नही करता, युगो के प्राचीन ज्ञान का उपहास नही करता, और अपने-आपमे भी सत्य का उच्चतम बौद्धिक विवरण है।[1] शकर हमे इस विषय मे कुछ नही बताते कि अन्तर्ज्ञान के निरपेक्षवाद और तर्कशास्त्र के व्यावहारिक ईश्वरवाद के अन्दर क्या भेद है, क्योकि, जैसा कि गेटे ने विवेकपूर्ण कथन किया है "मनुष्य की उत्पत्ति विश्व की समस्या का समाधान करने को नही हुई वरन् यह जानने के लिए हुई है कि समस्या प्रारम्भ कहा से होती है और उसके पश्चात् वह अपने को बोधगम्य सीमाओ के अन्दर नियन्त्रित करता है।" शकर ने यह अनुभव किया कि एक क्षेत्र ऐसा भी है जिसके अन्दर हम प्रवेश नही कर सकते और इसलिए एक ज्ञान-सम्पन्न अज्ञेयवाद ही एकमात्र विवेकपूर्ण मन्तव्य है। शकर की सफलता की महत्ता का आधार विचार की विशिष्ट घनता और उज्ज्वलता है जिसे लेकर वे यथार्थसत्ता की खोज का कार्य सम्पादित करते हैं और इसके लिए आत्मा के उस उच्च आदर्श का आश्रय लेते है, जो जीवन की कठिन समस्याओ से भी जूझ सकता ह, भले ही इसका आध्यात्मिक परिणाम कुछ भी हो। इसके अतिरिक्त, शकर सिद्धि के एक ऐसे दर्शन का आश्रय लेते है जो मानवीय जीवन मे एक दैवीय ऐश्वर्य का आधान करती है।

एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप मे सर्वश्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुचने मे तथा व्यापक सहिष्णुता मे एक मनुष्य के रूप मे महान्, शकर ने हमे सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी। बारह शताब्दिया व्यतीत हो गई किन्तु आज भी उनका असर देखा जा सकता है। उन्होने अनेको रूढियो का, उनके ऊपर उग्ररूप मे आक्रमण करके नही अपितु शान्तिपूर्वक उनसे अधिक युक्ति-युक्त क्रियाओ का सुझाव रखकर विनाश किया, और साथ ही साथ यह विधान अधिक-तर धार्मिक भी था। उन्होने आवश्यक ज्ञान के एक विस्तृत रूप को तथा क्रियात्मक विचारो को, जो कि यद्यपि उपनिषदो मे निहित तो अवश्य थे किन्तु जिन्हे लोग भूल गए थे, जनसाधारण के मध्य प्रसारित किया और इस प्रकार एक अतीत के प्राचीनकाल का हमारे लिए फिर से सृजन किया। वे कोई स्वप्नदर्शी आदर्शवादी नही थे वरन् एक कर्म-वीर कल्पनाविहारी व्यक्ति थे, दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक कर्मवीर रख थे, जिसे विस्तृत अर्थो मे एक सामाजिक आदर्शवादी कह सकते है। वे व्यक्ति भी जो जीवन के प्रति उनकी सामान्यवृत्ति से सहमत नहीं भी है, उनको अमर महापुरुषो की पक्ति मे स्थान देने के लिए अनिच्छा प्रकट न करेंगे।

1 तुलना करें प्लेटो "यदि तव देवताओ तथा विश्व की उत्पत्ति के विषय मे अनेका सम्मतियो क बीच हरएक अश मे हम अपने विचारो को परस्पर सगत तथा सूक्ष्म रूप मे ठीक नही बना सब तो किसी को आश्चय न करना चाहिए। यदि हम कोई ऐसा विवरण दे सकें जो दूसरे की अपेक्षा कम सम्भव हो, क्योकि हम अवश्य याद रखना चाहिए कि मैं जो बोलता हू और तुम जो उसका निणय करत हो हम सब मरणधर्मा मनुष्य हैं। इस प्रकार इन विषयो क ऊपर हम एक सम्भव गाथा मे ही सन्तुष्ट रहना चाहिए और उससे अधिक की माग न करनी चाहिए" ('टाइमियस', पृष्ठ 27)।

नवां अध्याय

रामानुज का ईश्वरवाद

प्रस्तावना—आगम—पुराण—रामानुज का जीवन—इतिहास और साहित्य—भास्कर—यादवप्रकाश—ज्ञान के साधन—कारण तथा द्रव्य—आत्मा तथा चैतन्य—ईश्वर—जीवात्मा—प्रकृति—सृष्टिरचना—नैतिक तथा धार्मिक जीवन—मोक्ष—सामान्य मूल्यांकन।

1. प्रस्तावना

दर्शनशास्त्र का मूल मनुष्य की क्रियात्मक आवश्यकताओं में निहित है। जो विचार-पद्धति मनुष्य की मौलिक सहज प्रवृत्तियों की युक्तियुक्तता को नही दरशा सकती एव धर्म के गम्भीर तत्त्व की व्याख्या नही कर सकती उसे सर्वसाधारण स्वीकार नही कर सकते। दार्शनिको की वे कल्पनाए जो हमे विपमावस्था तथा दुःख में सन्तोष नही प्रदान कर सकती, केवल बौद्धिक मनबहलाव की वस्तुएं हैं। उन्हें गम्भीर विचार नही कह सकते। शंकर का निरपेक्ष ब्रह्म, जो नियमनिष्ठ एव गतिशून्य है और जो कोई प्रेरणा नहीं दे सकता न तो हमे प्रभावित ही कर सकता है और न हमारी पूजा व भक्ति का विषय ही हो सकता है। ताजमहल के समान, जिसे अपने दर्शकों के द्वारा की गई प्रशंसा का कुछ भी ज्ञान नही है, शकर का निरपेक्ष ब्रह्म अपने उपासको के भय अथवा प्रेम के प्रति सर्वथा उदासीन रहता है और उन सबके प्रति भी जो धर्म के लक्ष्य को—ईश्वर को जानना यथार्थ सत्ता का ज्ञान है—दर्शनशास्त्र का उद्देश्य मानते हैं। शकर का मत एक विद्वान् पुरुष की भूल का साक्षात् दृष्टान्त है। वे अनुभव करते हैं कि जिस प्रकार एक प्रशिक्षित बुद्धि के लिए यह असन्तोषजनक है, उसी प्रकार सहज प्रवृत्तियों के लिए भी असन्तोषप्रद है। जगत् को आभास-मात्र कहा गया है, और ईश्वर एक शुष्क निरपेक्ष अन्धकार है जिसके साथ प्रकाश की पराकाष्ठा भी है। अनुभव के इस प्रकट तथ्य को दृष्टि से ओझल कर दिया गया है कि जब निर्बल तथा भूल करने वाले मनुष्य गहराई मे डूबे हुए पुकार करते हैं तो किसी अज्ञात शक्ति का करुणामय सहायक हाथ उन्हें संभालने के लिए प्रकट हो जाता है। भक्तो को अपने जीवन की विषम अवस्थाओं मे इस प्रकार के सहायक का जो वास्तविक अनुभव हुआ है उसके प्रति शकर ने न्याय नही किया। उनका कहना है कि मोक्ष की प्राप्ति अज्ञात समुद्र में अपने को खो देना है। व्यक्तिगत गुण व्यक्तिगत-हीन गुणो के अधीन रहते हैं किन्तु ईश्वरवादी का इसके विरोध मे यह कहना है कि सत्य, सौन्दर्य और सज्जनता आदि गुणों का पृथक् भावात्मक रूप मे कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। एक ऐसा अनुभव, जिसका कोई विषयी कर्ता नही है, केवल शाब्दिक विरोधमात्र है। सत्य, सौन्दर्य और पूर्णता—ये सब हमें एक आदिम मस्तिष्क के विषय में सूचना देते हैं जिसके अनुभव मे ये सदा से अनुभूति का विषय रहे हैं। ईश्वर स्वय सर्वोच्च यथार्थ सत्ता एव महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त ईश्वर का अन्तस्तम सत्त्व केवलमात्र सनातन सत्ता का प्रत्यक्षीकरण अथवा पूर्ण सौन्दर्य का उपभोग ही नहीं है वरन्

पूर्ण प्रेम है, जो दूसरो के लिए अपना विस्तार करता है। विश्वात्मा के प्रति सीमित जगत् का महत्त्व उन आत्माओ मे है जिन्हे उसने अपने समान प्रतिमा का रूप धारण करने की क्षमता प्रदान की है। स्वय आत्माए ईश्वर की निगाह मे एक महत्त्व रखती है, और भावात्मक रूप मे न केवल उनकी बुद्धि अथवा सद्गुणो की वे श्रेणिया ही, वरन् जिन्हे उन्होने अपना लिया है। परिणाम यह निकला कि उनका निर्माण केवल भग होने तथा त्याग किये जाने के लिए ही नही हुआ।

रामानुज अपना ध्यान, जगत् का ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध है, उसी के ऊपर केन्द्रित करते है और तर्क करते है कि ईश्वर वस्तुत. यथार्थ सत्ता है तथा स्वतन्त्र हे, किन्तु जगत् की आत्माए भी यथार्थ है। यद्यपि उनकी यथार्थता सर्वथा ईश्वर की यथार्थता के ऊपर निर्भर है। उनका विश्वास है कि इस जगत् के मूल मे एक आध्यात्मिक तत्त्व है अतएव इस जगत् को हम भ्राति मात्र नही समझ सकते। वे मुक्तात्माओ की निरन्तर सत्ता के ऊपर भी बल देते हैं। यद्यपि यह भौतिक जगत् तथा जीवात्मा अपनी-अपनी यथार्थ सत्ता रखते है तो भी उनमे से कोई भी तात्त्विक रूप मे ब्रह्म के समान नही है। क्योकि जहा ब्रह्म अनादि काल से सब प्रकार की अपूर्णता से अलग है, प्रकृति चेतना-रहित (जड) है और जीवात्मा अज्ञान तथा दुःख का शिकार बनता हे। इतने पर भी इन सबमे एकता है, क्योकि प्रकृति तथा आत्माए केवल ब्रह्म के देहमात्र रूप से अपना अस्तित्व रखते है। इसका तात्पर्य यह हे कि उनका अस्तित्व इस रूप म इसलिए है क्योकि ब्रह्म उनकी आत्मा तथा नियामक शक्ति के रूप मे है।[1] ब्रह्म के अतिरिक्त उनका अस्तित्व कुछ नही है। जीवात्मा तथा जड प्रकृति तात्त्विक रूप मे उससे भिन्न हैं, यद्यपि उसके अतिरिक्त अथवा उसके उपयोगी होने के अतिरिक्त उनकी कोई सत्ता अथवा उपयोगिता नही है। इस प्रकार रामानुज का सिद्धान्त अद्वैत सिद्धान्त है यद्यपि उनके अद्वैत सिद्धान्त मे एक विशिष्टता है, अर्थात् वे बहुत्व को स्वीकार करते है क्योकि सर्वोपरि आत्मा आकृतियो के बहुत्व मे जीवात्मा तथा प्रकृति के रूप मे विद्यमान रहती हे। इसीलिए रामानुज के सिद्धान्त को 'विशिष्टताद्वैत' नाम दिया गया है, अर्थात् विशेप प्रकार का अद्वैत।

नीतिशास्त्र के विषय मे भी शकर ने अनुयायियो द्वारा अभिमत बुद्धिवाद तथा *मीमासको के कर्मकाण्डवाद के साथ रामानुज का विरोध रहा। यहा तक कि प्राचीन से* प्राचीन अर्थात् ऋग्वेद के काल मे भी हमने देखा कि कभी-कभी प्रार्थना के द्वारा देवताओ के आगे विनय की जाती थी और अन्य समयो मे कर्मकाण्ड के द्वारा उन्हे विवश किया जाता था। यज्ञो को मानने वाले धार्मिक सम्प्रदाय सदा ही सर्वोपरि ब्रह्म की भक्तिभाव-पूर्वक पूजा से, जो प्रतीको द्वारा प्रारम्भ मे गुफाओ मे और बाद मे मन्दिरो मे की जाने लगी, अपने को सतुष्ट करता था। वेदो के यज्ञप्रधान धर्म मे यज्ञ सम्पादन कराने वाला पुरोहित देवता से भी बढकर महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता था। किन्तु दुःखी हृदय को यह दानपरक अवस्था कुछ शान्ति प्रदान नही कर सकी। इसके अतिरिक्त कुमारिल ने, जो ब्राह्मण था और समाज का निर्माणकर्ता था, बौद्ध धर्म के द्वारा जो अस्त-व्यस्त व्यवस्था उत्पन्न हो गई थी उसके अन्दर से ब्राह्मणवादी सम्प्रदाय को सुदृढ करके एक स्वस्थ

1 "इस जगत् मे प्रत्येक वस्तु, क्या जीवात्मा और क्या भौतिक जड पदार्थ, उसी सर्वोपरि आत्मा (ब्रह्म) के शरीर का निर्माण करते हैं और इसलिए उसे हम निरुपाधिक शरीर—आत्मा कह सकते हैं। इसी कारण से योग्य व्यक्ति शास्त्रों को, ब्रह्म के शरीर-रूपी विषय का प्रतिपादन करने के कारण 'शारीरक' कहते है।"

समाज के निर्माण करने का प्रयत्न किया जिसमें वर्ण-व्यवस्था की नींव को बलवती बनाते हुए एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया गया जिसमें केवल ऊपर के तीन वर्णों को ही यज्ञ करने का अधिकार दिया गया था और अन्यान्य जन-साधारण को उनके अपने-अपने भक्तिप्रधान सम्प्रदायों में रहने के लिए खुला छोड़ दिया गया था। इस प्रकार मीमांसकों के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसने धर्म के ईश्वरवादी सम्प्रदायों अर्थात् वैष्णवमत, शैवमत तथा शाक्तमत को जन्म दिया जो किसी व्यक्ति के वर्ण, जाति अथवा सामाजिक स्थिति का कोई विशेष विचार नहीं करते थे। ईश्वरवाद के अन्दर सामाजिक महत्त्वाकांक्षा स्वतः आ जाती है। एक ही माता-पिता (अर्थात् उस ईश्वर) के बच्चे होने के कारण हम सब एक ही स्तर के हैं। मनुष्यमात्र, चाहे वह ऊंचा हो या नीचे दर्जे का, पितृ-हृदय के लिए उतना ही मूल्यवान् है।

यद्यपि ज्ञान से शंकर का अपना आशय केवल सैद्धान्तिक विद्या से नहीं था, तो भी उनके शिष्यों में से कुछ का झुकाव धर्म को हृदय तथा इच्छाशक्ति का विषय बनाने की अपेक्षा मस्तिष्क का ही विषय बनाकर रखने की ओर था।[1] उन्होंने भूल करने वाली [illegible]

[illegible]

भक्ति पर बल दिया।[2] सिद्धान्त-सम्बन्धी मतभेदों के रहते हुए भी ये सब मायावाद-विचार त्याग देने में एकमत हैं। ये ईश्वर को शरीरधारी एवं आत्मा के पृथक् व्यक्तित्व को, जो सर्वोपरि ब्रह्म में विलीन नहीं होता किन्तु उसका सहचारी है, मानने में भी सब एकमत हैं।

2. आगम

ज्यों-ज्यों भारतवर्ष के आदिम निवासी अधिकाधिक रूप में और सर्वतोभावेन आर्य जाति के प्रभाव में आते गए त्यों-त्यों हिन्दू-धर्म का महान् विस्तार हुआ। उच्च श्रेणी के द्राविड लोग तथा निम्न श्रेणी के आदिम निवासी दोनों ने ही पुराने वैदिक सम्प्रदाय को मन्दिरों की पूजा तथा सार्वजनिक उत्सवों के रूप में परिवर्तित कर देने में सहायता की। नई जातियों को अपने अन्दर मिला लेने पर नये-नये सम्प्रदाय बन गए जिनमें से प्रत्येक के अपने-अपने विशेष चिह्न (तिलक), दीक्षा के प्रकार, गुरु, मंत्र तथा शास्त्र थे। हिन्दू धर्म के सबसे प्रारम्भिक काल में वैष्णव, शैव तथा शाक्त, सम्प्रदायों का विकास हुआ और उनके विशिष्ट धर्म-ग्रन्थ थे पंचरात्र-संहिता, शैव आगम तथा तन्त्र।

> आगम साधारणतः चार भागों में बंटे हुए हैं जिन्हें ज्ञान, योग (अथवा ध्यान), क्रिया अर्थात् मन्दिरों का निर्माण तथा उनमें मूर्तियों की स्थापना-सम्बन्धी कर्म और चर्या, अर्थात् पूजा की विधि का नाम दिया गया है।[3] स्पष्ट है कि आगमों में मूर्तिपूजक धर्मों का प्रतिपादन हुआ है। क्योंकि उनमें मन्दिरों

1 तुलना कीजिए : वाक्यार्थज्ञानमात्राद् अमृतमिति (तत्त्वमुक्ताकलाप, 2 : 45)।

2 रामानुज का श्री सम्प्रदाय, मध्व का ब्रह्म सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी का रुद्रसम्प्रदाय, और निम्बार्क का सनकादि सम्प्रदाय।

3 पद्मसंहिता, 1 : 2.6, 2 : 1.3 ; 3 : 1.6; 4 : 1.1।

के निर्माण तथा पवित्रीकरण के नियमो का विधान है। शाक्त और शैव क्रियात्मक रूप मे एक ही थे, केवल भेद इतना था कि शाक्तो ने आदिवासियो के कुछ विधि-विधानो को भी साथ मे ले लिया था तथा वे शिव की पत्नी शक्ति की पूजा करते थे। ऐसे ईश्वर का विचार, जिसके स्त्री व बच्चे हैं, एक असभ्य काल का विचार था जो कि वस्तुत ईश्वर का मानवीकरण ही था। पुरुष तथा प्रकृति-सम्बन्धी सास्यदर्शन का सिद्धात शक्ति के, जा जीवन का तथा अभिव्यक्ति का तत्त्व है, औचित्य का समाधान करता था। चूकि शिव अज्ञेय, अगम्य तथा सर्वथा निष्क्रिय है, अत शक्ति, जोकि तन्मय एव सदा क्रियाशील है, दैवीय कृपा की स्रोत बन गई।

नालदियार, शीलप्पधिकारम्, मणिमेघलायी तथा कुरल—इन तमिल ग्रन्थो से यह प्रकट है कि बौद्ध तथा जैन मतो का दक्षिण भारत मे क्रिश्चियन युग की प्रारम्भिक शताब्दियो मे पर्याप्त प्रभाव रहा। शीलप्पधिकारम् (प्रथम शताब्दी ईस्वी) के अनुसार कावेरीपत्तनम् नामक नगर मे विष्णु के मन्दिर, बौद्ध विहार और जैनियो के भी पूजा-स्थान थे। अशोक ने ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी मे अपने धर्मप्रचारक भेजे, और अनुश्रुति के अनुसार, लगभग इसी काल मे भद्रबाहु ने भी मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ जैनियो के दक्षिण भारत की ओर अभियान का नेतृत्व किया। किन्तु बौद्ध मत तथा जैन मत उन द्राविडो की स्वाभाविक मनोवृत्ति को सन्तोष न दे सके, जो ऐसे ईश्वर के लिए लालायित थे कि जो प्रेमपूर्ण भक्ति को स्वीकार करके उसका उचित पुरस्कार दे सके। एकेश्वरवादी धार्मिक सम्प्रदाय, यथा वैष्णव और शैव मत, विकसित हुए और दोनो सम्प्रदायो के महात्मा उक्त मतो के आगमो से पर्याप्त प्रभावित हुए।

3 पुराण

पुराण सम्प्रदायो के काल मे बने धार्मिक काव्य हैं जो कल्पित कथाओ, कहानियो, प्रतीको तथा दृष्टान्तो के द्वारा ईश्वर तथा मनुष्य-सम्बन्धी उस समय के विचारो, विश्व-विज्ञान तथा सामाजिक व्यवस्था को दरशाते हैं। उनकी रचना मुख्य रूप से उस समय के नास्तिक विचारो के मूलोच्छेदन के उद्देश्य से की गई थी। उनका स्वरूप दार्शनिक सिद्धान्तो के साथ प्रचलित मान्यताओ को मिश्रित करने के कारण सार-सग्रही है। ऐसा प्रसिद्ध है कि व्यास पुराणो के कर्ता हैं।[1] पुराण अपने मे वेदो की परम्परा को निरन्तर स्थिर रखने वाले समझते है।[2] पुराण[3] यद्यपि दार्शनिक सिद्धान्तो का उल्लेख करते हैं किन्तु

1 उनमे से कुछ विष्णु को उनका कर्ता बताते हैं। देखें पद्मपुराण, 1 62 18।

2 वायुपुराण 1 · 11 194 202।

3 मुख्य पुराण अठारह हैं। विष्णु भागवत (देवी भागवत की अपेक्षा श्रीमदभागवत अधिक), नारदीय, गरुड पद्म तथा वराह स्वरूप से वैष्णव हैं। शिव, लिग, स्कद, अग्नि (अथवा अन्य व्यक्तियो के अनुसार वायु) मत्स्य और कूर्म शैव मत पर बल देते हैं। अन्य पुराण अर्थात ब्रह्म (अथवा सौर) ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त (जो कृष्ण की अत्यधिक प्रशसा करता है), मार्कण्डेय, भविष्य और वामन ब्रह्मा के विषय का प्रतिपादन करते हैं। इन्हें क्रमश सात्त्विक, तामस और राजस कहा जाता है। देखें, मत्स्यपुराण 52। ये महापुराण हैं और दूसरे गौण पुराण हैं, जिन्ह उप पुराण कहा गया है। कहा जाता है कि प्रत्येक पुराण म सर्ग, प्रतिसर्ग, वश मन्वन्तर और वशानुचरित का विषय-प्रतिपादन किया गया है। पुराण महाकाव्यो की अपेक्षा अर्वाचीन हैं और उनमे से सबसे पहले का

उनका उद्देश्य किसी क्रमबद्ध पद्धति का विकास करना नहीं है। उनका मुख्य आशय प्राचीन विचारकों की शिक्षाओं, विशेषकर वेदान्त और सांख्य, की शिक्षाओं को जनसाधारण तक पहुंचाना है। उनका नाम ही संकेत करता है कि उनका अभिप्राय प्राचीन परम्पराओं की रक्षा करना है। वे सब स्वरूप से ईश्वरवादी अर्थात् आस्तिक हैं और प्रकृति, जीवात्मा तथा ईश्वर के भेद को मानते हैं। त्रिमूर्ति के विचार ने प्रधान स्थान लिया, यद्यपि प्रत्येक पुराण का कार्य विष्णु अथवा शिव के किसी-न-किसी विशेष रूप पर बल देता है। एक ऐसे पुराण में, जिसमें विष्णु की सर्वश्रेष्ठता पर बल दिया गया है, शिव और ब्रह्मा भी विष्णु की पूजा करते हैं और वे यहां तक घोषणा करते हैं कि वे जो विष्णु की उपासना करते हैं, शिव और ब्रह्मा के प्रिय हैं।[1] भागवत पुराण के अनुसार शिव प्रचेता. से कहते हैं कि जिसने अपने को विष्णु के अर्पित कर दिया, वह मुझे प्रिय है।"[2] ईश्वर ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का कारण है।[3] पुराणों में सर्वश्रेष्ठ देवता को, उसे चाहे जो भी नाम दिया जाए, कल्पना में आने वाली समस्त पूर्णताओं से युक्त बताया गया है। "जिसे इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जा सकता, जो सब वस्तुओं में श्रेष्ठ है, सर्वोपरि आत्मा, स्वयम्भूः है, जो सब प्रकार के विशिष्टता बताने वाले लक्षणों अर्थात् वर्ण आदि से रहित है, जो जन्म, विपर्यय, मृत्यु, ह्रास अथवा वृद्धि से रहित है, जो सदा रहता है और एकाकी है, जो सर्वत्र उपस्थित है और जिसके अन्दर इस जगत् की सब वस्तुएं स्थित हैं और इसीलिए जिसको वासुदेव नाम दिया गया है।"[4] सांख्य में वर्णित प्रकृति तथा उसके विकास के विधान को स्वीकार किया गया है; किन्तु उसके साथ इतना और जोड दिया गया है कि प्रकृति सर्वोपरि आत्मा के अनुशासन में ही कार्य करती है। कहीं-कहीं प्रकृति को ईश्वर-रूप पिता की सहचारी देवी का रूप भी दे दिया गया है। विष्णुपुराण के तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में मैत्रेय ने पाराशर से पूछा है कि "विशुद्ध ब्रह्म का सर्गादि-कर्तृत्व गुण कैसे हो सकता है" और उत्तर में कहा गया है कि समस्त जगत् उसके अन्दर है, जिस प्रकार अग्नि में उष्णता है।[5] पुराण जगत् के यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और माया के भाव का उल्लेख केवल उसे दोष देने के विचार से ही करते हैं।[6]

धर्म के क्षेत्र में हम वैदिक पूजा से स्पष्ट अतिक्रम पाते हैं। वैदिक पूजा में जहां प्रार्थना तथा यज्ञ का विधान था, पुराणों में हमें मूर्तिपूजा तथा भक्ति का समावेश मिलता है। पुराणों में प्रतिपादित नीतिशास्त्र प्रचलित नीतिशास्त्र से भिन्न नहीं है। इनमें कर्म

पुराण भी त्रिश्चियन सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व वर्तमान था। यद्यपि बाद में उनमें बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं। ये "कम-से-कम पांचवीं शताब्दी (ईसा से पूर्व) तक तो विद्यमान थे ही। यह निम्नतम अवधि 150 से 200 वर्ष या उसमें पूर्व तक भी हटाई जा सकती है, यदि आपस्तम्ब का समय उससे पूर्व का रखा जाए।" (पार्जिटर : 'एंशियण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन', पृष्ठ 51)। छांदोग्य उपनिषद्, 3 : 41, शतपथ ब्राह्मण, 11 : 5 6. 8 ; अर्थशास्त्र, 1 ; 5, आदि में पुराणों का उल्लेख हुआ है।

1 तुलना कीजिए, विष्णुपुराण, 1 : 2 2। "शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्माविष्णुशिवात्मिकाः (1 : 9)। भागवत भी देखें, 1 : 2.23।

2 भगवत वासुदेव प्रपन्नः स प्रियोहि मे (4 : 24 28)। देखें, 4 ; 24 30।

3 विष्णुपुराण, 1 2.4।

4. वही 1 : 2 1।

5. 1 : 3।

6. पद्म पुराण, 6 ; 263-70।

के सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म एवं पुण्यकर्म तथा ज्ञान के द्वारा मोक्ष की सम्भावना को स्वीकार किया गया है। ईश्वर की भक्ति को, किन्तु रूढ़ि को स्वीकार करना नही, भक्ति का सारतत्त्व माना गया है और इसे ही कलियुग मे मोक्ष-प्राप्ति का सबसे अधिक शक्ति-साधन माना गया है।[1] भक्ति पहाड़ो तक को हिला दे सकती है। भक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नही है।[2] ध्रुव को उसकी माता ने सज्जन बनने, पवित्र जीवन व्यतीत करने तथा समस्त जगम सृष्टि के प्रति प्रेम का व्यवहार करने और उसका भला करने के लिए सदा तत्पर रहने का उपदेश दिया।[3] "उसे विष्णु का भक्त करके जानो जो अपने वर्ण के कर्तव्य कर्मो मे विचलित नही होता, जो मित्र तथा शत्रु को एक समान दृष्टि से देखता है, जो ऐसे किसी पदार्थ को नही लेता जो उसका नही है, जो किसी प्राणी को नही सताता और जिसका मन निष्कलक है।"[4] "समाज का अध पतन होने लगता है जब धन सम्पत्ति के कारण ही ऊंचा दर्जा प्राप्त होता है, लक्ष्मी को ही पुण्य का एकमात्र आधार मान लिया जाय, विषय-भोग ही पुरुष और स्त्री के मध्य प्रेम सम्बन्ध का आधार बन जाए, जीवन मे असत्य व्यवहार ही सफलता का साधन माना जाने लगे, यौन सम्बन्ध ही एकमात्र सुख का साधन बन जाए, और जब बाह्य आडम्बरो को ही भूल से आन्तरिक भाव समझ लिया जाए।"[5] इस प्रकार के समाज को एक सुधारक की आवश्यकता होती है। ईश्वर की समानता (ईश्वर-सादृश्य) ही मोक्ष है।[6] रामानुज के धार्मिक विश्वास को विष्णु और भागवतपुराणो ने अत्यधिक प्रभावित किया।

4 रामानुज का जीवन

रामानुज का जन्म श्रीपेरुम्बुदूर मे 1027 ईस्वी मे हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि छुटपन मे ही उनके पिता की मृत्यु हो गई। सामान्य प्रशिक्षण प्राप्त करने के अनन्तर, जैसा कि उस वर्ग के लडको को दिया जाता है, उन्हे काजीवरम् के यादवप्रकाश के अधीन वेदान्त के अध्ययन का अवसर मिला किन्तु वे यादव के द्वारा की गई वेदान्त की व्याख्या को सर्वांश मे स्वीकार न कर सके। श्रीरगम्-स्थित मठ के मठाधीश आचार्य आलवनदार पर रामानुज की विद्वत्ता का बहुत प्रभाव हुआ और उन्होने मठाधीश की गद्दी पर रामानुज को बैठाने का विचार किया। जब आलवनदार का अन्त-समय निकट आ पहुचा तो उनके शिष्यो ने पेरियनाम्बि को रामानुज को लिवा लाने के लिए भेजा। किंतु रामानुज के पहुचने से पूर्व ही आचार्य का अन्त हो गया, और अनुश्रुति से ऐसा जाना जाता है कि

1 भागवत 12 3 52। भागवत भक्ति के भिन्न भिन्न मार्गो का वर्णन करता है

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यम आत्मनिवेदनम॥ (7 5 23)

2 1 12।

3 विष्णुपुराण 1 11।

4 विष्णु पुराण, 3 7।

5 अथएवाभिजनहेतु, धनम् एव अशेष धर्महेतु, अभिरुचिरेव दाम्पत्यसम्बन्धहेतु अनृतमेव व्यवहारजयहेतु स्त्रीत्वमेवोपभोगहेतु, ब्रह्मसूत्रमेव विप्रत्वहेतु लिंगधारणम् एव आश्रमहेतु (विष्णुपुराण 4 24 21 22)।

6 आगमो मे भक्ति पर बल दिया गया है। इच्छाओ की पूर्ति के लिए अधिक स्वतत्रता दी गई है। मन्त्रो, यन्त्रो तथा यौगिक आसनो पर अधिक ध्यान दिया गया है।

जब रामानुज गुरु के मृत शरीर के निकट पहुंचे तो उन्होंने उनके दाएं हाथ की पांच उंगलियों में से तीन को जुड़ा हुआ पाया। शिष्यों ने इसका अर्थ यह निकाला कि गुरु की तीन इच्छाएं पूर्ण होने से शेष रह गईं, जिनमें से मुख्य इच्छा ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक सरल भाष्य करने की थी। रामानुज कांजीवरम् लौट आये और उन्होंने ईश्वर के प्रति यथापूर्व भक्ति-भाव जारी रखा। एक दिन अत्यन्त उद्विग्नता के साथ उन्होंने मन्दिर के पुजारी से कहा कि मेरे भविष्य के सम्बन्ध में ईश्वर की क्या इच्छा है; इसका निर्णय करो। ईश्वर की इच्छा एक श्लोक में इस प्रकार व्यक्त हुई—"मैं सर्वोपरि यथार्थ सत्ता हूं, मेरा विचार परस्पर भेद विषयक है। आत्म-समर्पण मुक्ति का अमोघ कारण है, वैयक्तिक प्रयत्न इतना आवश्यक नहीं है, अन्त में मोक्ष मिलेगा। पेरियनाम्बि सर्वोत्तम शिक्षक हैं।"[1] ईश्वर ने ऐसा कहा अथवा रामानुज ने इस प्रकार की वाणी को सुना और उसका पालन करना प्रारम्भ कर दिया। वे मधुरान्तकम् में पेरियनाम्बि से मिले जिसने रामानुज को वेदान्त के रहस्यों की दीक्षा दी। महान् व्यक्तियों को शायद ही कभी अपने उपयुक्त पत्नी मिलती है और इसी नियम के अनुसार रामानुज को भी ऐसी किसी स्त्री को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ जो उनके आदर्शों की प्राप्ति में सहायक बनकर उनकी शक्तियों को बढ़ा सकती—विचार के सम्बन्ध में प्रतिकूलता को छिपाना कठिन होता है इसलिए रामानुज को भी गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, प्लेटो तथा दर्शन की भांति शीघ्र ही यह अनुभव हुआ कि मनुष्य-जीवन की पूर्णता की प्राप्ति में उच्चतम शिखर तक पहुंचने अथवा ईश्वर के समीप पहुंचने के लिए त्याग एक आवश्यक सीढ़ी है। जब उन्होंने सन्यास धारण कर लिया तो वे बहुत प्रसिद्ध हो गए और प्रशंसक जगत् ने उन्हें यतिराज की उपाधि दी। रामानुज श्रीरंगम् में बस गए और उन्होंने विश्वायमयी का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया। अपने शिष्य कूरत्तालवार की सहायता से, जिसे बोधायनवृत्ति कण्ठस्थ थी, रामानुज ने वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह और वेदान्तदीपिका नामक ग्रंथ लिखे तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर अपनी महत्त्वपूर्ण टीकाएं लिखीं। विद्वान् वैष्णवधर्मावलम्बियों ने रामानुज के ब्रह्मसूत्र पर गए लिखे भाष्य को स्वीकार किया और यह वैष्णवों के लिए भी भाष्य बन गया। रामानुज ने सारे दक्षिण भारत की यात्रा की, अनेक वैष्णव-मन्दिरों का पुनरुद्धार किया और बहुत बड़ी संख्या में लोगों को वैष्णव धर्म में दीक्षित किया।

महान् विचारक अपने युग का प्रवक्ता या प्रतिनिधि होता है और प्राचीन ज्ञान का उसके अन्दर संक्रमण होने के कारण वह अपने अनुभव में उक्त ज्ञान से भी अनुप्राणित होता है। वे सन्त पुरुष तथा शिक्षक, जिनके बीच रामानुज उठते-बैठते थे, धार्मिक तथा पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। आलवार लोगों के मन्त्र ऐसी ईश्वराधिष्ठित आत्माओं के उद्‌गार थे जिनकी दृष्टि में ईश्वर केवल इस जीवन का स्रष्टा ही नहीं, एक अन्तरंग मित्र तथा पथप्रदर्शक भी था। अपनी सहज धार्मिक प्रवृत्ति के कारण ईश्वर को एक

1 श्रीमान् परम् तत्त्वम् अहम्, मत मे भेदः प्रपत्तिनिरपायहेतुः। नावश्यकी च स्मृतिरन्त्ये मोक्षो महापूर्णः इत्यार्यवर्यः।

2 पञ्चरात्र धर्म का मुख्य लक्षण यह है कि जीवन के अन्त में सब मनुष्य मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। देखें, वेदान्तदेशिक-कृत पञ्चरात्ररक्षा।

पुरुष मानने के ठोस विचार ने रामानुज के हृदय पर अधिकार कर लिया। शकर और रामानुज, दोनो ही वेदान्त के महान् भाष्यकार हुए। उक्त दोनो आचार्यों के मन मे एक समान समस्याए उत्पन्न हुई, उनके पाठ्यांश भी लगभग एक ही समान थे और उनकी कार्यविधिया भी एक समान मान्यताओ पर आधारित थी और तो भी उनके परिणाम परस्पर अत्यन्त भिन्न देखे जाते हैं। जिन निष्कर्षों पर उक्त दोनो विद्वान् पहुचे वे उनकी दिव्य दृष्टियो का प्रदर्शन करते हैं और उनके अपने-अपने प्रकार से सत्य को ग्रहण करने के रूपो को दरशाते हैं। रामानुज धार्मिक अन्त प्रेरणा पर पूरा-पूरा भरोसा करते हैं और उन्होंने एक ऐसे गम्भीर धार्मिक विचार का प्रतिपादन किया जो मनुष्य के प्रति ईश्वर को सृष्टि के द्वारा, ईश्वरीय वाणी के द्वारा, ईश्वरीय दूतो के द्वारा, तथा अवतारो के द्वारा अभिव्यक्त करता है। उन आलवारो की शिक्षा और आचार्यों के द्वारा मिले प्रशिक्षण ने उन्हे उन तत्त्वो के विकास करने मे सहायता प्रदान की जो अन्यथा उपनिषदो तथा ब्रह्म-सूत्र के अन्दर ही गुप्त पडे रहते। एक क्षण के लिए उन्होंने कभी यह अनुभव नही किया कि वे अपने स्वतन्त्र दर्शन का प्रचार कर रहे हैं; वे केवल सब कालो के ज्ञानी पुरुषो के ज्ञान का ही प्रचार करते थे।

5. इतिहास और साहित्य

वैष्णव मत का निरन्तर इतिहास लगभग महाकाव्य-काल से ही प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद मे विष्णु को सौर जगत् का एक देवता कहा है जिसे व्यापक माना गया है और जिसका स्थान सर्वोच्च आकाश मे है।[1] वरुण का आदर्श सुदृढ रूप से एकेश्वरवादी स्वरूप का है। हमे वेदो मे 'भग' देवता का विचार मिलता है जो शुभ वरदानो का दाता है। शीघ्र ही उक्त देवता को उदारता तथा सौजन्य का देवता माना जाने लगा और इसलिए ऐसे व्यक्ति को भी जिसके अन्दर उक्त प्रकार की शक्ति हो, भगवान् के नाम से पुकारा गया। ऐसा धर्म, जिसमे पूजा का विषय भगवान् (अथवा भगवत्) हो, वह भागवतधर्म कहलाया। हमे महा-भारत मे भागवत धर्म का उल्लेख मिलता है। वैष्णव धर्म भागवत धर्म का ही विकसित रूप है जिसमे विष्णु तथा भगवान् एक माने गए हैं। वैष्णव धर्म के विशिष्ट लक्षण पञ्चरात्र[2] धर्म मे मिलते है, जिनका वर्णन महाभारत मे आया है। किन्तु महाकाव्य मे विष्णु के प्रतिद्वन्द्वी शिव हैं, यद्यपि विष्णुपुराण मे विष्णु की सर्वश्रेष्ठता मानी गई है। हरिवश मे विष्णु के सम्प्रदाय का समर्थन किया गया है। भागवत पुराण (900 ईस्वी) भागवत सम्प्रदाय के ऊपर बल देता है जिसका मुख्य आधार कृष्ण है। इसकी भक्ति भावनास्वरूप है एव ईश्वर तथा आत्मा के परस्पर सम्बध का प्रतीक पुरुष और कन्या का सबन्ध है। नाना-घाट के शिलालेख से यह स्पष्ट है कि भागवत सम्प्रदाय ने दक्षिण भारत मे ईसाई युग की प्रथम शताब्दी से कुछ समय पूर्व मे अपना स्थान बनाया। भागवत मे आता है कि कलियुग मे दक्षिण भारत मे नारायण के उपासक सख्या मे अधिक होगे।[3] आलवार कहलाने वाले सन्त कवियो के (जिनमे से बारह की प्रामा-

1 विष्णो परम पदम। ऋग्वेद, 1 22, 20।
2 इण्डियन फिलासफी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 490, 496-99।
3 10 . 5 38-40।

णिकता मानी गई है) श्लोक 'नालायिरप्रबन्ध' के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] आलवारों में एक महिला, अनेक शूद्र तथा एक राजकुमार भी हैं। उनके उत्तराधिकारी आचार्य हुए अर्थात् ऐसे धर्मशास्त्रविद्, जिनका मुख्य उद्देश्य एक शरीरधारी ईश्वर की पूजा उस ईश्वर की रक्षक अनुकंपा में विश्वास रखनेवाले के लिए किसी दार्शनिक आधार की स्थापना करना था। रामानुज से पूर्व जो शिक्षक हुए उनमें मुख्य नाथमुनि और आलवंदार अथवा यामुनाचार्य हैं। कहा जाता है कि नाथमुनि (दसवीं शताब्दी) ने, जो आलवारों के अन्तिम गुरु के शिष्य थे, आलवारों के छन्दों को क्रमबद्ध किया। 'न्यायतत्त्व' तथा 'योगरहस्य' उनके द्वारा रचित बताए जाते हैं। यामुनाचार्य ने वैष्णव आगमों की रक्षा के लिए कठिन परिश्रम किया तथा यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि उनका आशय वेदों ही के समान है। उनके मुख्य ग्रंथ यह हैं : आगमप्रामाण्य, महापुरुषनिर्णय, सिद्धित्रयम्, गीतार्थसंग्रह, चतुःश्लोकी और स्तोत्ररत्न। वैष्णवों के पवित्र साहित्य का प्रायः उभयवेदान्त के नाम उल्लेख किया गया है क्योंकि उसमें 'संस्कृत प्रस्थानत्रय' तथा 'तमिलप्रबन्धम्' भी सम्मिलित हैं। एक लम्बे समय से यह परम्परा प्रचलित रही है कि आलवारों के छन्दों तथा वैदिक धर्मग्रंथों का मत एक समान है। शंकर के अद्वैतवाद ने किसी मत के साथ समझौता नहीं किया अतएव रामानुज के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे वेदों के आस्तिक्यपूर्ण विचारों को दोहराते। उनका कहना है कि बोधायन की वृत्ति में जो विचार प्रकट किए गए हैं वे केवल उन्हीं का विकास कर रहे हैं। वे अपने समान विचार रखने वाले अन्य शिक्षकों का भी उल्लेख करते हैं, यथा टंक, द्रमिड[2], गुहदेव, कपर्दिन् और भारुचि[3]। शंकर ने रामानुज के द्वारा दी गई जिस आस्तिक परम्परा पर बल दिया है और उसकी प्राचीनता को स्वीकार किया है। तदनुसार हम कतिपय आस्तिकवादी उपनिषदों, महाभारत के उन भागों जिनमें नारायणीय विभाग सम्मिलित है, भगवद्गीता, विष्णुपुराण, वैष्णव आगमों, तथा आलवारों और आचार्यों के ग्रन्थों को भी रामानुज के दर्शन का पूर्ववर्ती साहित्य मान सकते हैं। उनके अपने मुख्य ग्रन्थों में उपनिषदों, गीता और ब्रह्म-

1 यह संग्रह, जिसमें चार हजार छन्द (नालायिरम्) हैं, चार भागों में विभक्त किया गया है। पहले भाग में, जिसे मुदलायिर कहते हैं, नानाविध सन्तों यथा पेरियालवार और साध्वी आण्डाल की वाणियां दी गई हैं। दूसरा भाग, जिसका नाम पेरियातिरुमयी है, तिरुमगाई का ग्रंथ है : और तीसरा नम्मालवार का प्रसिद्ध तिरुवायमयी है। चौथा भाग इयार्प पहले ही के समान एक विविध भाग है। नम्मालवार का तिरुवायमयी वेदों का तमिल-रूपान्तर है। तुलना कीजिए, "वेदन्तमिलशेयदमारन्," और भी—

> कृते कलियुगे प्राप्ते नास्तिकैः कलुषीकृते ।
> विष्णोरंशांशसम्भूतो वेदवेदार्थतत्त्ववित् ॥
> स्तोत्रं वेदमयं कर्तुम् द्राविड्यापि च भाषया ।
> जनिष्यति सतां श्रेष्ठो लोकानां हितकाम्यया ॥ (भविष्यपुराण)

'तिरुवायमयी' के विषय में नाथमुनि कहते हैं, "सहस्रशाखोपनिषत् समागमम्..."द्राविड् वेदसागरम्।" तिरुवायमयी का मुख्य उद्देश्य परम यथार्थसत्ता, जीवात्मा, सर्वोपरि ब्रह्म के साथ इसका सम्बन्ध, निषिद्ध का विनाश तथा क्षेम कर पदार्थ—स्त्र. गोन्द विषयों (अर्थपंचकम्) का स्पष्टीकरण है।

2 आनन्दगिरि के अनुसार, शंकर ने अपनी छान्दोग्य उपनिषद् की टीका (3 : 104) में उक्त लेखक का उल्लेख किया है।

3. वेदार्थसंग्रह।

सूत्र का वैष्णव सन्तो के विश्वासो तथा मतो के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि उनकी मौलिकता तथा स्वतत्र विचार किस सीमा तक है यह निर्णय करना सरल कार्य नही है तो भी इतना तो कहना ही होगा कि ब्रह्म-सूत्र मे एकेश्वरवाद के आधार को ढूँढ निकालने के लिए भी श्री भाष्य मे किया गया उनका प्रयत्न उनके पूर्व किए गए अन्य सब प्रयत्नो की अपेक्षा श्रेष्ठ था।[1] रामानुज का मत उनके अनेक पूर्ववर्ती तथा परवर्ती विद्वानो की अपेक्षा कही अधिक दार्शनिक तथा सयत है। उन्होने वेदो के कर्मकाण्ड तथा विधि विधान को निषिद्ध ठहराने की चिंता कही प्रकट नही की और न पुराणो की गाथाओ को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के सिद्धात का प्रचार करना तथा यह सिद्ध करना था कि उपनिषदो, गीता और ब्रह्मसूत्र की मुख्य शिक्षाए भी इसी का प्रतिपादन करती है। सुदर्शन भट्ट की श्रुतप्रकाशिका रामानुज के भाष्य के ऊपर एक सुप्रसिद्ध टीका है।

तेरहवी शताब्दी के लगभग तेंगलायियो (दक्षिणी सम्प्रदाय) और वड-गलाइयो (उत्तरीय सम्प्रदाय) के बीच में भेद-भाव बहुत बढ गया। तेंगलायी लोग तमिलप्रबन्धम् को शास्त्रीय मानते हैं तथा सस्कृत परम्परा के प्रति उदासीन हैं। वडगलायी लोग दोनो को एक समान प्रामाणिक मानते है। तेंगलायी लोग 'दोष-भोग्य' के भयंकर सिद्धात को मानते है जिसके अनुसार ईश्वर पाप का फल भोगता है क्योकि वह अपनी कृपा के प्रदर्शन के लिए एक विस्तृत क्षेत्र चाहता है।[2] वडगलायी लोग तमिल की अपेक्षा सस्कृत का अधिक उपयोग करते हैं और लक्ष्मी-विषयक अपने विचार मे शास्त्रो के ईश्वरवाद के तत्त्वो को सम्मिलित करते हैं।[3]

पिल्लई लोकाचार्य तेंगलायी सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि हैं। उनकी शिक्षा है कि ईश्वर की कृपा का मिलना अवश्यम्भावी है और उसे केवल भक्ति के द्वारा ही नही अपितु निष्क्रिय आत्म-समर्पण (प्रपत्ति) के द्वारा भी प्राप्त करना चाहिए। विचारकों के इस सम्प्रदाय ने धार्मिक गुरु (आचार्य) के प्रति पूर्ण-रूपेण आत्म-समर्पण पर समूचा बल दिया है। यह मानना पडेगा कि यह शिक्षा बिलकुल वैसी नही है जैसी क्रियात्मक तथा विचारपूर्वक भक्ति की शिक्षा रामानुज ने दी। लोकाचार्य अठारह ग्रथो के रचियता है जिन्हे रहस्य का नाम दिया गया है और जिनमे से मुख्य दो हैं—अर्थपञ्चक और तत्त्वत्रय। मणवाल महामुनि तेंगलायियो के मुख्य सन्त हैं।

1 कीथ : 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स', खण्ड 10, पृष्ठ 572।

2 देखें, ऑस्कर वाइल्ड-कृत 'दि प्रोफडिम' : "ऐसा प्रतीत होता है कि ईसामसीह अपने अन्त करण की किसी दैवीय प्रेरणा के कारण पापी से प्रेम करता था क्योकि उसकी दृष्टि मे यह मनुष्य के अन्दर पूर्णता को प्राप्त करने का सबसे निकट का सम्भव उपाय था "एक ऐसे रूप मे जिसे अभी नहीं समझा जा सका है। वह ससार के पाप और दुख को अपने आप में सौन्दर्ययुक्त तथा पवित्र वस्तु एव पूर्णता के प्रकार मानता है।'

3 उनका विश्वास है कि विष्णु की पत्नी भी विष्णु के समान अजन्मा है और उसकी भी विष्णु के समान ही पूजा होनी चाहिए, क्योकि वह भी वरदान देने वाली है; इसके विपरीत तेंगलाई लोग उसे ईश्वर द्वारा उत्पन्न मानते हैं और यद्यपि वह दैवीय है फिर भी केवल प्रभु की कृपा को प्राप्त करने का माध्यम है। देखें, गोविन्ददासस्वामी कृत 'अष्टादशभेद', 'जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी', 1910।

वेदान्तदेशिक अथवा वेंकटनाथ (13वीं शताब्दी), जो रामानुज के प्रधान उत्तराधिकारियों में अन्यतम हैं, वादगलायी सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। वे यद्यपि थे तो काजीवरम् के निवासी तो भी उन्होंने अपने जीवन का मुख्य भाग श्रीरंगम् में व्यतीत किया। उन्होंने यद्यपि अनेक विषयों पर कई ग्रंथ लिखे किन्तु उनके मुख्य दार्शनिक ग्रथ हैं : परमतभंग, और रहस्यत्रयसार, जो तमिल भाषा में हैं। उनके पंचरात्र-रक्षा तथा सच्चरित्ररक्षा में पंचरात्र सम्प्रदाय के सिद्धान्तों व क्रियाओं का प्रतिपादन किया गया है। उन्होंने श्रीभाष्य पर तत्त्वटीका नाम की एक टीका तथा गीता पर रामानुज की टीका के ऊपर तात्पर्यचन्द्रिका नाम की एक टीका लिखी। उनकी सेश्वरमीमांसा में पूर्व तथा उत्तरमीमांसा को एक ही सम्पूर्ण इकाई के अंश माना गया है और उसमें उन्होंने तर्क उपस्थित किया है कि कर्म बिना दैवीय प्रेरणा के फल नहीं दे सकता। उनके 'न्याय-सिद्धांजन' और 'तत्त्वमुक्ताकलाप' नामक ग्रंथ 'सर्वार्थसिद्धि' टीका सहित उपयोगी ग्रन्थ हैं। उनके विवादात्मक ग्रथ 'शतदूषणी' के ऊपर भी, जो अद्वैत दर्शन पर आक्षेपपरक है, एक रहस्यसूचक टीका 'चण्डमारुत' नाम की थी (जिसका समय सत्रहवीं शताब्दी है)। श्रीनिवास आचार्य की 'यतीन्द्रमत-दीपिका' सत्रहवीं शताब्दी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। अप्पयदीक्षित ने, यद्यपि वे शैवमत के अनुयायी थे, वैष्णव मत की कई पुस्तकों पर टीका लिखी है।[1] रंगरामानुज ने (जो अठाहरवीं शताब्दी में हुए) उपनिषदों के ऊपर रामानुज के अस्तिवाद के पक्ष में टीकाएं लिखी हैं। रामानुज का प्रभाव हिंदू धर्म के पर-वर्ती इतिहास में बराबर पाया जाता है। मध्व, वल्लभ, चैतन्य, रामानन्द, कबीर और नानक द्वारा प्रचारित धार्मिक आन्दोलन तथा बंगाल का ब्राह्म धर्म का सुधारवादी संगठन रामानुज के ईश्वरवादी आदर्शवाद के बहुत-कुछ ऋणी हैं।

6. भास्कर

भास्कर ने ब्रह्मसूत्र पर 'भास्करभाष्य' नामक एक टीका ईसा के लगभग 900 वर्ष पश्चात् लिखी।[2] यह साम्प्रदायिक ग्रंथ नहीं है और न तो यह शंकर के विचारों का ही समर्थन करता है और न पंचरात्र वैष्णवों के विचारों का। भास्कर भेदाभेदवाद को मानने वाले हैं, जिस सिद्धांत के अनुसार एकता तथा अनेकता एक समान हैं।[3] ब्रह्म विशुद्ध चेतनता का भेदभाव-शून्य पुंज नहीं है किंतु समस्त पूर्ण इकाइयों को अपने अंदर धारण करता है। ब्रह्म की कारणावस्था

1 काजीवरम् की एक पण्डित-सभा में उन्होंने कहा कि मैं शिव तथा विष्णु में कोई भेद नहीं पाता, और इसलिए वे शिव के ही भक्त बराबर बने रहे :

महेश्वरे वा जगताम् अधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे॥

2 उनके विचारों पर उदयन ने अपनी कुसुमांजलि में, जिसका निर्माणकाल 980 वर्ष ईसा के पश्चात् का है, आक्षेप किए हैं।

3 इसकी समालोचना के लिए देखें, ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, 1 : 1.4।

एकत्व है एव उसीकी विकास-प्राप्त अवस्था बहुत्व की अवस्था है।[1] वस्तुए अपने कारणात्मक तथा उत्पादक रूपो मे अभेदसूचक है अथच कार्य और व्यक्तिगत रूप मे भेद सूचक हैं। जिस प्रकार अग्नि घास को मिटा देती है, उस प्रकार अभेद भेद को मिटा नही देता। दोनो ही एक समान यथार्थ है। भास्कर यथार्थ विकास (परिणाम) मे विश्वास रखते है।[2] भ्रान्तिविषयक कल्पना को वे अप्रमाणिक मानते है और उनके मत मे यह विचार बौद्ध धर्म के प्रभाव से आया है।[3] उनका मत है कि भौतिक जगत् की यथार्थ सत्ता है यद्यपि तात्त्विक रूप से इसका स्वरूप वही है जो ब्रह्म का है। जब प्रकृति ब्रह्म के ऊपर प्रभाव डालती है तो इसका कार्य शरीर तथा इन्द्रियो के आकार मे उसको सीमाबद्ध करने वाले उपसहायक का है और इस कार्य से ही व्यक्तिरूप जीवात्माओ का उदय होता है। वे उपाधियो की यथार्थता स्वीकार करते है और उनका कारण अविद्या को नही मानते। जीव और ब्रह्म स्वभावत एक ही हैं और इसका ब्रह्म से भेद उपाधियो के कारण है।[4] जीवो का ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है इसके दृष्टान्त के लिए कहा जाता है कि जैसे चिनगारियो (स्फुलिगो) का सम्बन्ध अग्नि से है। ससार का जीवन ब्रह्म और उपाधियो मे परस्पर असामजस्य के कारण ही है। धर्म तथा पवित्रता के द्वारा हम दोनो मे भेद कर सकते है और तब हम सुरक्षित हो सकते हैं। भास्कर का मत है कि ब्रह्म वस्तुत दु ख भी भोगता है और जीवात्माओ के समान पुनर्जन्म भी धारण करता है। उनके अनुसार धर्म ज्ञान का एक आवश्यक अग है जिसका परिणाम ही मोक्ष है। वे रामानुज के मत को स्वीकार करते ह, अथवा इसे अधिक सही रूप मे ज्ञानकर्म-समुच्चय, अथवा कर्म और ज्ञान का सयोग, कहना चाहिए।

7 यादवप्रकाश

यादवप्रकाश ने, जो कुछ समय तक रामानुज के गुरु थे और काजीवरम् मे 11वी शताब्दी (ईसा के पश्चात्) मे हुए, एक स्वतन्त्र टीका लिखी थी, जिसका झुकाव अद्वैतपरक व्याख्या की ओर था। उन्होंने ब्रह्म परिणामवाद को स्वीकार किया है। उनका मत है कि ब्रह्म वस्तुत चित् (आत्मा), अचित् (प्रकृति) और ईश्वर के रूप मे परिणत होता है। यदि ईश्वर को भी चित् की ही श्रेणी मे ले आए, तब दोनो चेतन और अचेतन स्वरूप केवल मात्र अवस्था मे भिन्न रहते है (अवस्था-भेद), और एक ही द्रव्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाए हैं किन्तु द्रव्य अपने-आपमे भिन्न नही हैं। उनके सिद्धात को 'भेदाभेद' सज्ञा दी गई है जिसका अर्थ है कि एक ही समय मे भेद और अभेद दोनो है। ब्रह्म परिवर्तन मे से गुजरते हुए भी अपनी विशुद्धता को नही खोता। यादव को इस कथन मे कोई भी परस्पर-विरोध नही प्रतीत होता कि एक ही पदार्थ भिन्न भी हो सकता है और

1 कार्यरूपेण नानात्वम अभेद कारणात्मना। 1 1 4 के ऊपर भास्कर।

2 भास्करीयस्तु चिदचिदशाविभवत ब्रह्म द्रव्यम अभिदशन विनीयते (सर्वार्थसिद्धि, 3 27)।

3 माहायानिकबौद्धगाथित मायावादम। 1 4 25 के ऊपर भाष्य।

4 जीवापरयोश्च स्वाभाविकोऽभेद औपाधिकस्तु भेद। 4 4 4 के ऊपर भास्कर। और भी देखें, 4 4 15 2 3 18।

उसी समय में अपने से अभिन्न भी हो सकता है। उनका कहना है कि सब पदार्थ सर्वदा अपने को इन दोनों भिन्न-भिन्न पार्श्वों में प्रस्तुत करते हैं। वे अभिन्नता प्रस्तुत करते हैं, जहां तक उनके कारण तथा जातिगत सम्बन्ध की अवस्था है; एवं वे भिन्नता को प्रस्तुत करते हैं, जहां तक उनकी कार्यावस्था तथा व्यक्तित्व के लक्षणों का सम्बन्ध है। इस प्रकार ब्रह्म तथा जगत् दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।[1] जहां एक ओर भास्कर का मत है कि ब्रह्म एक प्रकार से परिमित शक्ति वाली आत्माओं का भी अनुभव प्राप्त करता है; यादव का तर्क है कि ब्रह्म सदा अपनी पुरातन गौरवपूर्ण स्थिति को बनाए रखता है।[2] यदि हम यह समझें कि तीनों, अर्थात् ईश्वर, आत्मा और प्रकृति, परम निरपेक्ष यथार्थ सत्ताएं हैं और ब्रह्म के परिणामस्वरूप नहीं हैं, तो हम भ्रम में रहते हैं। ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है और शेष सब कुछ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। यादव की दृष्टि में भेद उतने ही यथार्थ हैं जितना कि एकत्व; किन्तु भास्कर की दृष्टि में भेद उपाधि के कारण हैं और ये उपाधियां निःसन्देह यथार्थ हैं किन्तु एकत्व परमनिरपेक्ष सत्य है। संसार इससे अधिक और कुछ नहीं है कि यह जीवन इस भ्रमात्मक ज्ञान के आधार पर स्थित है कि चित्, अचित् और ईश्वर परमरूप में भिन्न-भिन्न हैं। इस भ्रमात्मक ज्ञान को दूर करने के लिए कर्म एवं ज्ञान दोनों ही उपयोगी हैं।

रामानुज इस आधार पर कि ब्रह्म तथा ईश्वर के मध्य भेद करना अप्रामाणिक है, यादव के विचार का विरोध करते हैं। ईश्वर से परे और कुछ नहीं है और ईश्वर को केवलमात्र ब्रह्म का परिणाम ही नहीं समझना चाहिए। शक्तियों अथवा ईश्वर, आत्माओं एवं प्रकृति की क्षमताओं का सम्बन्ध, शक्त्याश्रय रूप में ब्रह्म के साथ सर्वथा स्पष्ट नहीं है।

8. ज्ञान के साधन

रामानुज प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण को ज्ञान के प्रामाणिक साधन मानते हैं और अन्य साधनों के प्रति वे उदासीन हैं। उनके अनुयायी उक्त सूची में एक या दो और जोड़ देते हैं। प्रत्यक्ष का विषय वह है जो भेद के द्वारा प्रतीत होता है और जिसमें सामान्य लक्षण, जिनसे उसकी आकृति का निर्माण होता है, विद्यमान हैं।[3]

रामानुज सविकल्प तथा निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अंदर जो भेद है उसे स्वीकार करते हैं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष न तो एक ऐसे पदार्थ का बोध है जिसके अन्दर अन्य पदार्थों से नितान्त भेद का ज्ञान हो गया है और जो विशुद्ध सत् है; और न ही एक सोपाधिक पदार्थ तथा उसके लक्षणों का बोध है जो परस्पर असम्बद्ध हैं। यह पूर्व श्रेणी का नहीं है क्योंकि पदार्थों का बोध सब प्रकार के भेद-भाव के तत्त्वों से सर्वथा शून्य रूप में करना असम्भव है। चेतनता का अनिवार्य स्वरूप भेद करना है और हम बिना उसके विशेष लक्षणों का बोध प्राप्त किए किसी पदार्थ का बोध ग्रहण नहीं कर सकते। समस्त पदार्थों

1. सर्वार्थसिद्धि, 3 : 27।
2. 1 . 1 17 के ऊपर भास्कर
3. तत्त्वमुक्ताकलाप, 3 : 28।

का ज्ञान पदार्थ के किसी न किसी विशेष गुण से मिश्रित ही होता है।[1] क्योंकि सविकल्प प्रत्यक्ष मे भी केवल वे गुण ही, जिनका बोध निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे हुआ था, स्मरण होते है। दोनो के बीच मे भेद इसका ही हे कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे हम एक व्यक्ति को सबसे पहले देखते है और यद्यपि हम उसके वर्गगत स्वरूप का बोध करते हैं, हमे इस विषय का निश्चय नही होता कि अमुक लक्षण उक्त वर्ग के अन्य व्यक्तियो मे भी सामान्य रूप मे पाया जाता हे या नही।[2] किन्तु जब हम उसी व्यक्ति को दूसरी तथा तीसरी बार देखते हैं तो हम उस जातिगत लक्षण के समस्त वर्ग के अन्दर समान रूप से विद्यमान होने का ज्ञान प्राप्त कर लेते है।[3]

रामानुज की दृष्टि मे केवल व्यक्ति ही यथार्थ सत्ता रखते हैं, वर्ग अथवा श्रेणीगत तत्त्व नाम की कोई वस्तु उनके अन्दर विद्यमान नही होती, यद्यपि व्यक्ति के अन्दर सादृश्य होता है किन्तु वह उसके अशो की व्यवस्था अर्थात् सस्थान है। हम उस सादृश्यरूपी तथ्य से अपना एक सामान्य प्रत्यय बना लेते हैं। वह सादृश्य ही है जो कि उसी शब्द के प्रयोग का आधार है।[4] वेदान्तदेशिक तर्क करता है कि भेद अपने-आप मे किसी भाति भी उस तथ्य से सम्बद्ध नही है जिसे यह भिन्न करता है। तदनुसार प्रत्यक्ष हमे तथ्य का ज्ञान भी कराता है और भेद भी बताता है।[5] वे दोनो एक दूसरे का निर्णय नही करते और एक-दूसरे के ऊपर निर्भर नही है। वे तब एक-दूसरे का निर्णय करते हुए प्रतीत होते है जब उन्हे परस्पर सयुक्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। किन्तु यदि हम इस सबको मान भी लें तो भी किसी प्रकार कोई भेद कुछ भी भिन्नता प्रकट नही कर सकता, यह समझना कठिन है।[6]

रामानुज के अनुयायी योग द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष को ज्ञान का निरपेक्ष साधन स्वीकार नही करते। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का विशेष क्षेत्र रखती है, और वह चाहे कितनी ही प्रशिक्षित क्यो न हो, अन्य इन्द्रियो के विषयो का ज्ञान प्राप्त नही कर सकती। कान देखने का कार्य नही कर सकता और न आख सुन सकती है। यदि योग द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष इन्द्रियो के द्वारा कार्य करे तब यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न नही हैं, और यदि यह सब प्रकार के अनुभव से स्वतन्त्र है तब यह अप्रामाणिक है।

स्मृति को प्रामाणिक माना गया है और इसे पृथक् स्थान दिया गया है। हम इसे प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि मे नहीं रख सकते, केवल इसलिए कि समस्त स्मरण-विषयक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान की पूर्व कल्पना कर लेता है क्योकि उस अवस्था मे अनुमान को भी, जो प्रत्यक्ष ज्ञान को पूर्व से मान लेता है, प्रत्यक्ष की कोटि मे रखना पडेगा।

अनुमान ऐसा ज्ञान है जो एक सामान्य सिद्धान्त से निकाला जाता है। वस्तुत· एक ही घटना मामान्य सिद्धात को सुझाने वाली हो सकती है। एक से अधिक बार की

1 बाह्य गुणो का तो प्रत्यक्ष हो जाता है। जब हम किसी शब्द को सुनते हैं तो कानो की वृत्ति बाहर की ओर होती है। वायु इन्द्रियो का विषय है। प्रकाश का ज्ञान स्पर्श तथा चक्षु इन्द्रिय के द्वारा हो सकता हे, भले ही वह ज्ञान गन्धविहीन हो।

2 सविशेषवस्तु विषयत्वात् सवप्रमाणानाम (1 11)।

3 तत्त्वमुक्ताकलाप, 4 32।

4 इसकी जैनमत मे तुलना कीजिए।

5 सर्वार्थसिद्धि, 5 14।

6 प्रभाव को प्रत्यक्ष का विषय कहा जाता है क्योकि किसी वस्तु की अनुपस्थिति का तात्पर्य यह है कि वह अन्यत्र कही उपस्थित है। अनुपलब्धि से हमें यह ज्ञान होता है कि चेतनता के वे विषय, जिनके साथ वह सम्बद्ध होती है, सर्वथा विद्यमान नही रहते (1 11)।

घटनाएं हमे सदेह के निवारण में सहायता करती हैं। तर्क के द्वारा अथवा परोक्ष प्रमाण के द्वारा तथा विधि और निषेधात्मक दोनों प्रकार की घटनाओं से हम गौण विषयों को हटाकर सामान्य नियम की स्थापना करते हैं।[1] अवयवघटित वाक्य में तीन अवयव होते हैं अर्थात् न्याय के पंचावयव-घटित वाक्य के या तो पहले तीन या पिछले तीन अवयव। उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण नही माना गया है क्योंकि यह मानो स्मृति की अवस्था है अथवा अनुमान की अवस्था है। अर्थापत्ति और सम्भव को भी अनुमान की कोटि मे ही ले लिया गया है।

रामानुज धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। सर्वोच्च यथार्थ सत्ता, जो जगत् का एकमात्र कारण है, ज्ञान के अन्य साधनों का विषय नही हो सकती, किन्तु केवल शास्त्रों के द्वारा ही जानी जा सकती है।[2] ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नही है।[3] अनुभव द्वारा प्राप्त कोई भी व्याप्ति (सामान्य नियम) न तो ब्रह्म को यथार्थता को सिद्ध ही कर सकती है और न उसे असिद्ध ही कर सकती है।[4] उसकी यथार्थता, जिसकी ओर बुद्धि संकेत करती है, एक ऐसे क्षेत्र मे विद्यमान रहती है जिसे परिमित शक्तिवाली बुद्धि के द्वारा वस्तुत: देखा या समझा जा सकता है। अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास धर्मशास्त्र ही एकमात्र साधन है यद्यपि शास्त्र के समर्थन में तर्क का उपयोग किया जा सकता है।[5] वेद नित्य हैं, क्योंकि हरएक सृष्टि के युगारम्भ में केवल ईश्वर ही उनका व्याख्यान करता है। स्मृतियां तथा महाकाव्य वेदों के अन्तर्गत विचारों का ही भाष्य करते हैं। और इसलिए वे भी प्रामाणिक हैं। पंचरात्र आगमों को भी प्रामाणिक माना जा सकता है क्योंकि उनकी उत्पत्ति दैवीयशक्ति वासुदेव से हुई है।[6] ऐतिह्य अथवा परम्परा यदि वे सत्य हैं तो वे भी आगमज्ञान का विषय हैं।[7]

रामानुज स्वीकार करते हैं कि विचार अपने आप में हमे यथार्थता का साक्षात् ज्ञान नही करा सकते। यहा तक कि वेद भी हमें केवल परोक्ष ज्ञान ही प्रदान करते हैं। केवल शास्त्रों के शब्दों को समझ लेने से भी कुछ अधिक की आवश्यकता होती है। यथार्थता का साक्षात्कार, जो इसका तर्क सिद्ध ज्ञान नही है, ऐसी समाधि मे ही सम्भव है जो भक्ति का रूप धारण करती हो।[8] वामदेव तथा अन्यो ने भी एक ऐसे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जिसमे भौतिक एव अभौतिक पदार्थ थे और जिनके कारण उसकी अवस्थाओं मे भेद प्रकट होता था।[9] इस उच्चतम ज्ञान में आत्मा के अपरिज्ञानशील तत्त्व भी सम्मिलित हैं। यथार्थता के स्वरूप को ढूढ निकालने के लिए मन के पास अन्य उपाय भी हैं, और उक्त सब साधन (उपाय) अपने अन्तिम उद्देश्य की सिद्धि तथा आदिम स्रोत के सम्बन्ध मे परस्पर सम्बद्ध हैं।

1 सर्वार्थसिद्धि, 4 : 47।
2 1 2, 1।
3 1 1, 3।
4. 1 . 2, 23।
5 2 1, 12। यामुनाचार्य अपने प्रतिपक्षी मतवादो से निपटने के लिए एक सर्वथा युक्तिपूर्ण विचार का आश्रय लेते हैं। अपने प्रतिपक्षी के कथन को अस्वीकार करते हुए वे कहते है "यह सारी शिक्षा अन्धविश्वासियो के लिए तो महत्त्वपूर्ण हो सकती है लेकिन हम ऐसे भोले-भाले नहीं हैं और इसलिए हमें निश्चय दिलाने के लिए तर्क की आवश्यकता है" (सिद्धित्रय, पृष्ठ 88)।
6 तत्त्वमुक्ताकलाप, 4 : 121।
7. यदि मिथ्या है तो वह आगमाभास है।
8 ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, 3 : 2. 23।
9 3 : 2, 24।

सत्य का यथार्थ रूप मे अनुभव करने के लिए मन को अपने समस्त साधनो का प्रयोग करना चाहिए और अपने जीवन के उच्चतर स्तर पर कार्य करना चाहिए। मन अपने पूर्णतम विस्तार मे तर्क तथा भावना दोनो से आवृत रहता है। यह बिलकुल सत्य है कि अनुचित भावनाए भी है, जैसे मिथ्याबोध है। और यह भी सत्य है कि निम्नतर स्तर पर भावनाए अकेली पड जाती है, और यही हाल बोधो का है। किंतु चूकि बोध व्यवस्थित होते है, उसी प्रकार से भावनाए भी परिवर्तित तथा नियंत्रित की जा सकती हैं, अर्थात् युक्तिसम्मत बनाई जा सकती हैं। चूकि वह विषय जिसके सम्बन्ध मे अतर्ज्ञान किया जाता है प्रत्यक्ष रूप मे प्रस्तुत नही किया जाता, इसलिए अन्तर्ज्ञान का स्वरूप परोक्ष अथवा आदर्श श्रेणी का होता है। तो भी जहा तक इसकी तात्कालिकता तथा विशदता का सम्बन्ध है यह प्रत्यक्ष ज्ञान से हीनतर नही होता।[1] जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, दैनिक प्रार्थना तथा पूजा के पुरस्कारस्वरूप यह अन्तर्ज्ञान दैवीय कृपा के कारण उपजता है। यह धार्मिक अनुभव अथवा अनन्त का तात्कालिक अनुभव है। जीवात्मा परमतत्त्व के सायुज्य मे है।

यदि समस्त ज्ञान यथार्थ सत्ता का ही है[2] तो यह कैसे होता है कि हमारा ज्ञान कभी-कभी वस्तुओ के साथ साम्य नही रखता? मिथ्या प्रत्यक्ष मे प्रकट होने वाला पदार्थ भ्रातिमय न होकर यथार्थ हे क्योकि 'पचीकरण' के सिद्धान्त के अनुसार, भौतिक जगत के समस्त पदार्थ सयुक्त द्रव्य हैं जो नानाविध अनुपातो मे पाच तत्त्वो को अपने अन्दर धारण किए हुए हैं। "यह कि एक वस्तु को 'चादी' कहते हैं और दूसरी को 'सीप' इसका कारण यह है कि किसी मे किन्ही तत्त्वो की कमी है तो अन्य वस्तु मे अपेक्षाकृत अधिकता है। हम देखते हैं कि सीप चादी के समान होती है, इस प्रकार प्रत्यक्ष स्वय हमे सूचित करता है कि चादी के कुछ तत्त्व सीप मे वस्तुत वर्तमान है।" समानता कुछ अशो मे पदार्थ की आशिक एकता की द्योतक हे। हम मृगतृष्णिका मे पानी देखते हैं केवल इसलिए चूकि प्रकाश तथा रेत के कणो मे पानी विद्यमान रहता है। जब सफेद रग का शख एक ऐसे पुरुष को जो आखो के पीलिया रोग से पीडित है पीला प्रतीत होता है, उस समय आखो मे का पीलापन आख रूपी इन्द्रिय की किरणो के साथ-साथ शख मे सक्रमित हो जाता है और शख के ऊपर का सफेद रग धुधला हो जाता हे। यह कल्पना भले ही कितनी ही अवैज्ञानिक क्यो न हो इससे यह प्रदर्शित होता हे कि रामानुज अपने इस मत को कि ज्ञान सदा यथार्थ वस्तु का होता है, त्यागने के लिए उद्यत नही है। स्वप्नो मे भी ईश्वर व्यक्ति विशेष की प्रसन्नता अथवा दु ख के लिए, जैसे भी उसके पुण्य अथवा पाप कर्म हो उनके अनुसार, वस्तुओ की रचना करता है।[3] ईश्वर "जब समस्त जगत् की रचना करता है, जिसका उद्देश्य भी प्राणियो के अच्छे और बुरे कर्मो का उचित फलोपभोग कराना है, तब कुछ ऐसी वस्तुओ का निर्माण करता है जिनका स्वभाव चेतनता के सामान्य पदार्थो के रूप मे है एव कुछ अन्य ऐसी वस्तुओ का निर्माण करता है जो केवल विशेष-विशेष व्यक्तियो के द्वारा ही देखी जा सकती है और जो एक परिमित समय तक ही विद्यमान रहती है। यह उन वस्तुओ के परस्पर का भेद है जो सामान्य चेतनता का विषय है और दूसरी वे वस्तुए जो ऐसी नही हैं और यही कारण है जिससे अस्वीकार करने वाली वस्तुओ तथा "अस्वीकृत वस्तुओ मे भेद होता

1 ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, 3 4, 26।
2 सत्र विज्ञानजात यथार्थम् (1 1, 1)।
3 और भी देखें, ब्रह्मसूत्र पर शाकरभाष्य, 3 2, 5, और 6।

है।"[1] यह सोचना भूल है कि कुछ बोधों के विषय मिथ्या पदार्थ हैं और दूसरों के विषय सत्य पदार्थ हैं।

रामानुज के मत से ऐसा प्रतीत होता है कि सब प्रकार की भूल का समाधान हो जाता है। यह ठीक है कि उनका मत है कि समस्त ज्ञान यथार्थ का ही होता है किन्तु उनका तात्पर्य यह भी नही है कि ज्ञान समस्त यथार्थ सत्ता का होता है। हमारा ज्ञान प्राय: अपूर्ण तथा आंशिक होता है। जब हम सीप के एक टुकड़े को भूल से चादी समझ बैठते हैं तो हम कुछ लक्षणो को तो लक्ष्य करते हैं और अन्य को लक्ष्य करना छोड देते हैं। पीले शंख की भ्राति में हम शख की सफेदी को लक्ष्य करना छोड़ देते हैं। स्वप्नकाल के अनुभवो में हम इस तथ्य को दृष्टि से ओझल कर देते हैं कि स्वप्नगत पदार्थ व्यक्तिगत हैं जो केवल स्वप्नद्रष्टा से ही सम्बन्ध रखते हैं, अन्यों से नही। यहां तक कि जिसे हम सत्य ज्ञान समझते हैं उसके ऐसे बहुत कुछ अश को दृष्टि से ओझल कर देते हैं जो क्रियात्मक रूप मे अनावश्यक है। सत्य ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान हैं तो दोनों ही अपूर्ण, किन्तु सत्य ज्ञान में हम ऐसे लक्षणों पर ध्यान देते हैं जो हमारी दृष्टि में हमारे हित तथा उपयोग के हैं और मिथ्याज्ञान हमें लक्ष्य की प्राप्ति कराने में असफल रहता है। सत्यज्ञान जीवन के लिए उपयोगी है। मृगतृष्णिका एक भ्रांति है इसलिए नहीं कि उसमे जल का अंश उपस्थित नही है किन्तु इसलिए कि उसका जल हमारी प्यास को नहीं बुझाता। सत्य वह है जो यथार्थ वस्तु को प्रस्तुत करता है और जो क्रियात्मक रूप मे उपयोगी (व्यवहारानुगुण) है।[2]

यह ठीक है कि सारा ज्ञान यथार्थता के कुछ रूपों को प्रस्तुत करता है किन्तु तब तक यह पूर्ण नही है जब तक कि इसमें सम्पूर्ण यथार्थता का समावेश नहीं होता। भ्रांति की सम्भावना तब तक दूर नही होती जब तक कि हमारा ज्ञान सम्पूर्ण और सर्वग्राही नही होता और ज्ञान का कर्ता व्यक्ति सब प्रकार के दोषों से मुक्त नहीं होता। संसार में रहते हुए यह सम्भव नही है यद्यपि महत्त्वाकाक्षा तो विद्यमान है ही।

रामानुज का मत है कि ज्ञान के स्वरूप में एक अन्तर्निहित आवश्यकता कार्य करती है। यही आवश्यकता है जो निर्विकल्प बोध को सविकल्प बोध में परिणत होने योग्य बनाती है। हमारे निर्णयो का निरन्तर यह प्रयत्न रहता है कि वे विषयों का सम्बन्ध वृहत्तर पूर्ण इकाई के साथ स्थापित करें। जब ज्ञान अपनी उच्चतम अवस्था में होता है अर्थात् जब वह अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है तब हमें एक मात्र व्यवस्थित अनुभव प्राप्त हो जाता है जिसके अन्तर्गत अनेक भाग अपने विशिष्ट व्यापारो समेत सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार की सम्पूर्ण इकाई में प्रत्येक अवयव का वैशिष्ट्य अपने स्थान तथा व्यापार से लक्षित होता है और परिमित होने पर भी अपना व्यक्तित्व तथा विशेषता रखता है। जीवात्मा जब मोक्ष प्राप्त करता है तो निर्दोष ज्ञान के आदर्श को प्राप्त कर लेता है।

शकर का इस प्रकार सोचना बिलकुल ठीक है कि विचार के द्वारा निरपेक्ष व्यक्तित्व का ग्रहण नही हो सकता किंतु यदि विचार असम्भव को प्राप्त न कर सके तो इसमें उसे दोष भी नही दिया जा सकता। यदि विषय (प्रमेय पदार्थ) एक साधारण आत्मनिर्भर वस्तु है तो इस प्रकार का निर्णय जिसके आधार पर हम कहते हैं कि 'स' 'प' है सत्य नही है क्योंकि हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि 'स' 'स' है। अर्थ-

1 1 : 1, 1।
2 यतीन्द्रमतदीपिका।

पूर्ण प्राक्कथन मिथ्या है तथा पुनरुक्ति रूप निर्णय निरर्थक है। किन्तु रामानुज बलपूर्वक कहते हैं कि यद्यपि निर्णय इस विषय को पुष्ट करता है कि प्रतिपाद्य विषय तथा विधेय एक समान हैं तो भी उतना ही महत्त्वपूर्ण दूसरा भी एक अवयव है अर्थात् प्रतिपाद्य विषय तथा विधेय परस्पर भिन्न है। जब तक वस्तुओ के भिन्न-भिन्न रूपो के अन्दर भी समानता अपने को अक्षुण्ण नही बनाए रख सकती तब तक कोई निर्णय हो ही नही सकता। किंतु समानता ऐसी हो जो भेद मे भी अपने को व्यक्त कर सके और भेद पर विजय पा सके। समानता एक सम्बन्ध है और प्रत्येक सम्बन्ध के लिए दो भिन्न पदो का होना आवश्यक है। यदि वे पद स्पष्ट रूप मे भिन्न नही हैं तो वे परस्पर सम्बन्ध नही हो सकते। सब प्रकार के भेद-भाव का निषेध समानता के सम्बन्धो को भी असम्भव बना देता है। सर्वथा निरपेक्ष आत्मसमता मे समानता के विषय मे कोई बात उठ ही नही सकती। जब हम यह कहते हैं कि 'स' 'स' है तब भी हम इस प्रकार का कथन प्रस्तुत भेद के उत्तर मे ही करते हैं। शकर का तर्क है कि जब हम यह कहते हैं कि 'वही तू है' तो दोनो के मध्य मे प्रतीत होने वाला भेद है किंतु निर्णय उनके मध्य समानता को बतलाता है। परन्तु रामानुज का कथन इसके विपरीत यह है कि समानता एव भेद उन पदो के सम्बन्ध मे लागू होते है जो यथार्थता के समान एक ही स्तर पर हैं। जितनी भी समानता है यह भेद के अन्दर तथा उसके द्वारा ही है और प्रत्येक निर्णय इसका दृष्टान्त है। 'आकाश नीला है' इस वाक्य मे 'आकाश' और 'नीला' दोनो मे तादात्म्य नही है। और न ही वे सर्वथा भिन्न हैं। नीले रग का पदार्थ और गुण दोनो एकसाथ विद्यमान रहते है यद्यपि दोनो के मूल्याकन अलग-अलग है। विचार का सम्बन्ध-विषयक रूप यथार्थता के स्वरूप की व्याख्या के सर्वथा अनुकूल है, क्योकि यथार्थ एक ऐसी निर्दोष पद्धति है जिसका निर्णय उसके अन्तर्गत तत्त्वो के निर्णय से ही होता है। विचार के युक्ति पूर्ण स्वरूप का एक त्रुटि समझना बुद्धिगम्यता का मिथ्या मानदण्ड है। ज्ञान को तभी ज्ञान कहा जाता है जब कि वह ऐसे सम्बन्धो को खोलकर विकसित रूप मे प्रकट कर दे जिनके द्वारा ही उसकी अपनी सत्ता है। क्रियाशील जीवन का तत्त्व वह है जो आभ्यन्तर रूप मे भी अपना स्पष्ट व्यक्तित्व रखता है और साथ-साथ अपनी इस क्रिया मे स्वतन्त्र सत्ता को भी स्थिर रखता है। शकर का मत है कि सम्बन्धो की परम्परा हमे अन्तरहित पश्चाद्गति की ओर ले जाती है। सम्बन्ध दो पदो के अस्तित्व का उपलक्षण है, जो सम्बन्ध के साथ मिलकर तीन हो जाते हैं और यदि हम उनके साथ उनके परस्पर सम्बन्ध को भी जोड दे तब हमे बलात् एक अन्तविहीन पश्चादगति की ओर जाना होता है। रामानुज इस विचार को अस्वीकार करते हैं क्योकि उनके अनुसार यथार्थता क्रियाशील है जो अपने अन्दर आत्मप्रकाश की सम्भावना को धारण किए हुए है। वे इस बात को स्वीकार नहीं करते कि जहा एकत्व है वहा सम्बन्धो का अभाव है और यह कि जहा सम्बन्ध है वहा एकत्व नही है। ज्ञान की दृष्टि मे यह जगत् एक व्यवस्थित सम्पूर्ण इकाई है और एकमात्र तत्त्व का ब्यौरेवार विकास अथवा अभिव्यक्ति है। ईश्वर तथा यह जगत् एक समान यथार्थ है और इनमे से प्रत्येक दूसरे के द्वारा ही यथार्थ है और यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि हम इस सारी पद्धति को किसी शरीरधारी नमूने का एक मात्र अनुभव समझें। विचार के द्वारा ईश्वर को आत्मचेतन प्रज्ञा के रूप मे समझना ही उसके स्वरूप का पर्ण बोध-ग्रहण है। यथार्थता एक सत्ता है एव उसके अश हीनतर सत्ताए हैं।

9. कारण तथा द्रव्य

रामानुज सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक कार्य यह संकेत करता है कि उसका उपादान (भौतिक) कारण पहले से विद्यमान था। अवस्था में परिवर्तन ही कारणकार्य भाव है।[1] धागे कपड़े के कारण हैं क्योंकि कपड़ा केवल मात्र धागों को ताने-बाने वाली व्यवस्था का नाम है।[2] अस्तित्व एवं अभाव एक द्रव्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं ही हैं। अभाव केवल सापेक्ष है निरपेक्ष अर्थात् परम अवस्था नहीं है।

कोई भी वस्तु जिसके अन्दर गुण हैं द्रव्य कहलाती है। आधार द्रव्य है और वह जो इसके ऊपर निर्भर करता है अर्थात् आधेय है वह अद्रव्य है। इस प्रकार सब पदार्थ द्रव्य हैं तथा गुण और सम्बन्ध अद्रव्य हैं। दीपक एक द्रव्य है और उन्हीं अर्थों में प्रकाश (प्रभा) द्रव्य है यद्यपि प्रकाश एक गुण भी है। बुद्धि एक द्रव्य है क्योंकि इसके अन्दर फैलने और सिकुड़ने का गुण है, यह आत्मा का गुण भी है।[3] समस्त जगत् जो ईश्वर का विशेषण है ईश्वर के दृष्टिकोण से अद्रव्य है यद्यपि इसके अन्दर द्रव्य एवं अद्रव्य तत्त्व तथा गुणों के रूप में अन्तर्निहित हैं। ज्ञान की भांति एक विशेषण द्रव्य भी हो सकता है। द्रव्य उपादान कारण हो सकते हैं किंतु अद्रव्य नहीं हो सकते।[4] द्रव्यों में प्रकृति, काल, शुद्धसत्त्व अथवा विशुद्ध प्रकृति, धर्म भूत ज्ञान अथवा गुणात्मक चेतना, जीवात्मा तथा ईश्वर इनकी गणना है।[5] इनमें से प्रथम तीन जड़ हैं एवं ईश्वर तथा जीवात्मा अजड़ (चेतन) हैं और ज्ञान दोनों के लक्षण में है। इसमें जड़ द्रव्यों से विशेषत्व यह है कि यह अपने को भी अभिव्यक्त करता है एवं बाह्य पदार्थों को भी। तो भी ज्ञान कभी भी अपने लिए नहीं किंतु सर्वदा दूसरे के लिए अर्थात् आत्मा के लिए है। ज्ञान आत्मा का एक अद्भुत अवलम्ब है और 'धर्मभूत ज्ञान' कहलाता है। आत्मा एक न एक पदार्थ को सभी जानती है जब कि ज्ञान किसी न किसी इन्द्रिय के द्वारा बाहर आता है तथा पदार्थ के सम्पर्क में आता है। यह कल्पना की जाती है कि विषय और पदार्थ अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं और ज्ञान के द्वारा ही एक-दूसरे के सम्बन्ध में आते हैं।

शब्द के पांच गुण, प्रतिरोध शक्ति, आकृति, रस और गंध, संयोग, परिमाण, संख्या, पृथक्ता, व्यक्तित्व, संश्लेष, भेद एवं इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और संकल्पशक्ति तथा बोधशक्ति ये सब अद्रव्य हैं।

10. आत्मा तथा चैतन्य

शंकर का मत है कि ज्ञाता तथा प्रमेय (ज्ञेय) के मध्य जो भेद है वह सापेक्ष है क्योंकि यथार्थ तो भेदशून्य ब्रह्म ही है। रामानुज इस विचार को नहीं मानते और उनका मत है कि चैतन्य का स्वरूप यह निर्देश करता है कि कोई विचार-शील ज्ञाता भी है एवं आत्मा से भिन्न प्रमेय पदार्थ भी हैं।[6] ज्ञान के अन्तर्गत भेद का प्रत्यक्ष भी आ जाता है। हमें भेदशून्य सत्ता को जानने योग्य बता सके ऐसा ज्ञान का कोई साधन नहीं है। और

1 अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता (भगवद्गीता पर रामानुज का भाष्य, 13 : 2)
2 ब्रह्मसूत्र पर रामानुज भाष्य, 2 : 1, 19—20। और भी देखें, 2 : 1, 16।
3 तत्त्वमुक्ताकलाप, 4 : 7।
4 वही, 5,2।
5 वही, 1 6।
6 न च निर्विषया काचित् संविद् अस्ति।

यदि होता भी तो वह ब्रह्म को एक ज्ञेय पदार्थ की स्थिति मे रखता और इस प्रकार ईश्वर नश्वर पदार्थों के क्षेत्र मे आ जाता। विशुद्ध चैतन्य नाम की कोई वस्तु नही हो सकती। यह बात या तो सिद्ध हो या असिद्ध हो। यदि विशुद्ध चैतन्य की यथार्थता सिद्ध हो जाए तो परिणाम यह निकलता है कि उसमे गुण है, और यदि सिद्ध नही होती तब यह अनत् है जैसे कि आकाश कुसुम।[1] शकर ने भी चेतनता के अदर नित्यता एव स्वत-प्रकाशता आदि गुण बताए हैं। ज्ञान तो निश्चित रूप मे स्वत प्रकाश है किंतु चेतनता ज्ञान के लिए एक ज्ञेय (वेद्य) पदार्थ है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक वस्तु जो जानी गई है, उ า जड पदार्थ ही होना चाहिए।

यदि ज्ञान अपरिमित होता तो उसके विषय (ज्ञेय पदार्थ) भी उसी प्रकार अपरिमित होते, किन्तु यह बात नही है। यह सोचना भूल है कि सुषुप्ति अवस्था मे तथा तत्सदृश अन्य अवस्थाओ मे भी ज्ञान विशुद्ध ज्ञान के रूप मे विद्यमान रहता है, अर्थात् सब विषयो से रहित। "क्योकि कोई व्यक्ति प्रगाढ निद्रा से उठकर कभी स्वप्नावस्था मे अपनी चेतनता की अवस्था को इस प्रकार से प्रस्तुत नही करता कि 'मैं विशुद्ध चैतन्य था जिसमे किसी प्रकार का अहभाव नही था एव जो स्वरूप मे प्रत्येक अन्य वस्तु से विरुद्ध था और अज्ञान को देख रहा था।' यह जो कुछ सोचता है केवल यह है कि —'मैं बहुत अच्छी तरह सोया।' इस प्रकार के चिन्तन से यह प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्था मे भी आत्मा अर्थात् 'मैं' एक जानने वाला प्रमाता (कर्ता) था और सुख को अनुभव करता था। यहा तक कि जब आत्मा कहती है कि 'मुझे कछ चेतना नही थी' तो उसका तात्पर्य हुआ कि जानने वाला 'मैं' विद्यमान था और जिसका निषेध किया गया वे ज्ञान के विषय (प्रमेय पदार्थ) थे।"[2] बिना प्रमेय पदार्थ के सम्बन्ध के ज्ञान नही जाना जाता और प्रगाढ निद्रा मे यह कार्य नही करता क्योकि उस समय कोई प्रमेय पदार्थ नही होता। प्रगाढ निद्रा मे आत्मा अपनी आन्तरिक स्वत चेतनता के अदर ज्ञान के साथ रहती है जो कि उस समय काम नही कर रही होती। आत्मा सदा ही एक अहभाव है और कभी भी विशुद्ध ज्ञान नही। शकर इतना तो स्वीकार करते हैं जब वे कहते हैं कि आत्मा प्रगाढ निद्रा मे सामान्य अज्ञान के साक्षी रूप मे विद्यमान रहती है यदि अहकार का भाव विलीन हो जाता है। किन्तु वह जो ज्ञान ग्रहण नही करता साक्षी भी नही हो सकता। विशुद्ध ज्ञान साक्षी नही है। साक्षी एक जानने वाला होता है अर्थात् वह प्रमाता (ज्ञान का कर्ता) होता है। यह प्रमाता प्रगाढ निद्रा मे भी विद्यमान रहता है यद्यपि हमे उसकी चेतना नही होती क्योकि चैतन्य तमोगुण से परिभूत होता है। यदि प्रगाढ निद्रा मे यह विद्यमान न होता तो नीद से जागने पर हम यह स्मरण न कर सकते कि हम अच्छी तरह सोये। यदि यह आत्मा नित्य न होती तो स्मृति भी असम्भव होती और जिस वस्तु को कल हमने देखा था उसे आज पहचान न सकते। यदि चेतनता को चेतन प्रमाता के साथ एक रूप मे मिला दिया जाए तो भी पहचान की घटना की व्याख्या सरलता से नही हो सकती। क्योकि उक्त अनुभव इस विषय का उपलक्षण है कि कोई चेतनावान ज्ञाता प्रारम्भ के क्षण से लेकर अन्तिम क्षण तक विद्यमान रहता है केवल चेतनता ही नही।[3] आत्मा स्वत प्रकाशित ज्ञान नही है किन्तु केवल उसका कर्त्ता है।

1 सवित सिद्धयति वा न वा, सिद्धयति चेत् सधर्मता स्यात्, न चेत् तुच्छता गगन कुसुमा-दिवत (1 1, 1)।

2 1 1, 1। और भी देखें, 2 3 31।

3 प्रतिसन्धान हि पूर्वापरकालस्थायिनम् अनुभवितारम् उपस्थापयति, नानुभूतिमात्रम् (1 : 1, 1)।

हम ऐसा नही कहते "मैं चैतन्य हूं"[1] किन्तु केवल यही कहते हैं कि "मैं चेतनावान् हूं"।[2] ज्ञान का स्वत: प्रकाशित स्वरूप आत्मा अथवा ज्ञाता से ही प्रादुर्भूत होता है। ज्ञान का अस्तित्व तथा उसका स्वत: प्रकाशित स्वरूप उसके एक आत्मा के साथ सम्बन्ध के ऊपर ही निर्भर करते हैं।[3] इस प्रकार का तर्क करना कि ज्ञाता, जिसकी सिद्धि इस प्रकार हो गई, विषय पक्ष मे ही सम्बद्ध है, "इससे अधिक कुछ नही है जैसे कि किसीका यह मत प्रकट करना कि उसकी मां एक बांझ स्त्री है।" हम अहंकार को, जो प्रकृति की एक जड़ उपज है, ज्ञान के समान ज्ञातृत्वभाव नही दे सकते। आत्मा ज्ञान का सार तत्त्व है और ज्ञान उसका गुण है।[4] यह एक ज्ञाता है केवल मात्र प्रकाश नही।[5] हमें यह न सोचना चाहिए कि ज्ञाता होने से ही अवश्य परिवर्तनशील भी होना चाहिए। क्योंकि ज्ञाता बनने का तात्पर्य ज्ञान रूपी गुण का आधार होना है; और चूंकि जानने वाली आत्मा नित्य है, इसलिए ज्ञान भी जो इसका गुण है नित्य है। यही नित्य ज्ञान है जो अपने को सदा अभिव्यक्त नही करता। ज्ञान जो अपने में अपरिमित (स्वयम् अपरिच्छिन्नम्) है संकोच एवं विस्तार दोनों को अपना सकता है। कर्म के प्रभाव से यह संकुचित हो जाता है जब कि यह अपने को भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों के अनुकूल बना लेता है और भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा विविध प्रकार से निर्णीत होता है। इन्द्रियों के कारण इन्हीं अनुकूलताओं के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि यह उत्पन्न हुआ और नष्ट हुआ। इसका विलोप कभी नहीं होता, यद्यपि जीवन भर यह कार्य करता है कभी कम और कभी अधिक सीमाओं के अन्दर। किन्तु चूंकि अनुकूलन का गुण अनिवार्य नहीं है और कर्म से ही उत्पन्न होता है इसलिए आत्मा को वस्तुत: अपरिवर्तनशील ही माना जाता है।[6]

रामानुज इस मत का खण्डन करते हैं कि चैतन्य कभी भी प्रमेय पदार्थ नही है। यद्यपि यह प्रमेय विषय नहीं है जबकि यह दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है तो भी यह प्राय: प्रमेय पदार्थ बन सकता है और बन जाता है, क्योंकि साधारण अनुभव दरशाता है कि एक व्यक्ति का चैतन्य दूसरे के बोध का विषय बन जाता है। जैसे कि जब हम अन्य पुरुष के मैत्रीपूर्ण अथवा अमैत्रीपरक रूप से किसी वस्तु का अनुमान कर लेते हैं अथवा जब कि किसी मनुष्य के भूतकाल के चैतन्य की अवस्थाएं उसकी वर्तमान काल की पहचान का विषय बन जाती हैं। चैतन्य केवल इसीलिए कि यह चेतनता का प्रमेय विषय बनता है अपना स्वरूप नही खो देता। हम यह नही कह सकते कि चैतन्य स्वत सिद्ध है। रामानुज की इस दृष्टि मे चैतन्य का वास्तविक स्वरूप वर्तमान क्षण में अपने आपके द्वारा अपने अधिष्ठान के प्रति व्यक्त करने में अथवा इसके अपने विषय को अपनी सत्ता के द्वारा सिद्ध करने के लिए साधन बनने में है।[7] जब जड़ वस्तुएं प्रकाश में आती हैं तो वे अपने प्रति व्यक्त नही होती। आत्मा के अन्य गुण जैसे आणविक विस्तार,

1 अनुभूतिरहम।
2 अनुभवाम्यहम्।
3 1 : 1, और भी देखें, 2 : 3, 18
4 चिद्रूप···चैतन्य गुणक।
5. ज्ञातैव न प्रकाशमात्रम्। और भी देखें, बृहदारण्यक उपनिषद्, 4 : 3, 7 और 14 ; 4 : 5, 15 छान्दोग्य, 8 : 12, 3 ; और 4, 8 : 26, 2; और प्रश्न, 4 : 9; 6 : 5 ; तैत्तिरीय, 2 : 4।
6. 1 1, 1।
7. अनुभूतित्वं नाम वर्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वं स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वं वा (1 : 1, 1)।

नित्यता, आदि और चैतन्य की भूतकाल की अवस्थाए अपने निज के द्वारा व्यक्त नही होती वरन् ज्ञान की एक क्रिया के द्वारा व्यक्त होती हैं जो उनसे भिन्न है।[1]

11 ईश्वर

रामानुज के ज्ञानसम्बन्धी सिद्धात से यह परिणाम निकलता है कि यथार्थ सत्ता निर्गुण नहीं हो सकती। यह एक व्यवस्थित पूर्ण इकाई है जो अपने स्वरूप को नाना भेदो मे भी स्थिर रखती है। जहा रामानुज का मत इस विषय मे स्पष्ट है कि एक निरपेक्ष आत्मा का अस्तित्व है वहा वे यह भी स्पष्ट रूप मे कहते हैं कि प्रत्येक सान्त यथार्थता इस आत्मा की अभिव्यक्ति है। अस्तित्व वाली वस्तुओ की अनेकता मे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया को सम्भव बनाने के लिए विश्वरूपी इकाई का निर्माण करने वाले तत्त्वो के अन्दर भी एकता तथा परस्पर निर्भरता का एक सामान्य बन्धन होना ही चाहिए और वह अवश्य एक आध्यात्मिक तत्त्व (सूत्र) होना चाहिए। न केवल तर्कशास्त्र की अपितु धार्मिक अनुभव की माग है कि सान्त के सरक्षण तथा एक शरीरधारी अनन्त के अस्तित्व को स्वीकार करना ही चाहिए। ईश्वर के साथ व्यक्तिगत सयोग के अन्दर किसी अन्य दैवीय सत्ता के साथ यथार्थ साहचर्य (मित्रता) का भाव स्वत अन्तर्निहित रहता है। धार्मिक अन्तर्दृष्टि ऐसे निर्गुण ब्रह्म को, जो हमारी त्यागमयी भक्ति तथा मौन साधना का विचार न करके केवल मात्र साक्षी बना हुआ जड दृष्टि से हमारी ओर ताकता रहे, स्वीकार नही कर सकती। रामानुज के अनुसार शकर की पद्धति उसे एक शून्य की ओर ले जाती है जिसे वह भावो के एक निरर्थक नाटक के द्वारा छिपाने का प्रयत्न करता है। उनका निर्गुण ब्रह्म एक ऐसी शून्य सत्ता है जो हमे ऑरलैंडो की उस प्रसिद्ध घोडी की याद दिलाता है जो और सब प्रकार से पूर्ण थी किन्तु केवल एक ही छोटा-सा दोष उसमे था, अर्थात वह मरी हुई थी। इस प्रकार के ब्रह्म को किसी भी साधन से अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा धर्मशास्त्र द्वारा नही जाना जा सकता।[2] यदि ज्ञान के सब साधन सापेक्ष हैं तो वे हमे ऐसी सत्ता के विषय मे जो अनुभवातीत है कुछ नही बता सकते, यदि धर्मशास्त्र अयथार्थ हैं तो वह ब्रह्म भी अयथार्थ हुआ जिसका प्रतिपादन ये धर्मशास्त्र करते हैं। उस परम यथार्थ सत्ता मे जिसे ईश्वर कहते हैं निश्चय, सीमितता, भेद अन्यता जो साथ-साथ विलीन हो जाती है ये सब अन्तर्निहित है और उस एक मे एकत्रित हैं। सान्तता स्वय अनत के ही अदर है ब्रह्म मे अपने अदर ही स्वगत भेद है और वह एक सश्लिष्ट पूर्ण इकाई है जिसमे आत्माए तथा प्रकृति उसके लिए महत्त्व की सत्ताए हैं (चिदचिद्विशिष्ट)।[3] सत्, चित् तथा आनन्द ये तीनो ब्रह्म को एक विशेष स्वरूप तथा व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। ब्रह्म का ज्ञान साक्षात् है और इन्द्रियो के ऊपर निर्भर नही है।[4] वह सर्वज्ञ है और उसे सब कुछ का प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान होता है। ब्रह्म का व्यक्तित्व सर्वोपरि है जबकि जीवात्माए शरीरधारी हैं और उनके साधन भी अपूर्ण हैं। व्यक्तित्व के अन्दर योजना बनाने की शक्ति और अपने उद्देश्य को प्राप्त करने की शक्ति उपलक्षित है। ईश्वर का व्यक्तित्व पूर्ण है क्योकि वह समग्र अनुभव को अपने अन्दर धारण करता है और अपने से बाह्य किसी वस्तु के ऊपर निर्भर नही करता। ऐसे भेद जो व्यक्तित्व के लिए आवश्यक हैं सब उनके अन्दर हैं। ईश्वर के सबसे प्रधान गुण हैं ज्ञान, शक्ति तथा

1 देखें, श्रुतप्रकाशिका।
2 1 1, 2।
3 1 1, 2 सर्वदर्शनसग्रह 4। 4 1 2 19।

करुणा। करुणा के कारण ही ईश्वर ने जगत् की रचना की, धार्मिक विधान का निर्माण किया, और वह उन सब व्यक्तियों की जो पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं बराबर सहायता करता है।[1] यद्यपि प्रत्येक गुण अपने आप में अन्यों से भिन्न है तो भी वे सब एक ही सत्ता से सम्बद्ध हैं और इसकी अखण्डता में विभाग उत्पन्न नहीं करते। उस प्रभु का इन सबके साथ सम्बन्ध स्वाभाविक तथा सनातन है।[2] यह गुण भाववाचक कहे जाते हैं एवं प्रकृति तथा जीवात्माओं से भिन्न हैं, यद्यपि वे भी ईश्वर के गुण हैं। ईश्वर अपने तात्त्विक गुणों का आधार है और उन पदार्थों का भी आधार है जो उसके ऊपर निर्भर हैं।[3] उस सर्वोपरि सत्ता की "एक दैवीय आकृति है और अद्वितीय है जो प्रकृति की सामग्री से नहीं बनी और न कर्म के ही कारण उसका निर्माण हुआ है।"[4] शरीर केवल मात्र तत्त्वों का सम्मिश्रण नहीं है न ऐसा ही पदार्थ है जिसका प्राण के द्वारा धारण होता है। यह इन्द्रियों का अधिष्ठान नहीं है अथवा सुख-दुःख का कारण नहीं है। रामानुज के अनुसार "यह एक ऐसा द्रव्य है जिसे चेतना सम्पन्न आत्मा पूर्णतया नियन्त्रण में रख सकती है तथा अपने स्वार्थ साधन के लिए धारण करती है और जो आत्मा की सर्वथा अधीनता में है।[5] शरीरधारी होने पर भी ईश्वर दुःख नहीं पाता क्योंकि वह जानता है कि दुःख का कारण कर्म है शरीरधारी होना मात्र नहीं।[6] वह कर्म का प्रभु है क्योंकि कर्म स्वयं फल प्रदान नहीं कर सकता। कर्म जो ज्ञानरहित और क्षणिक है ऐसे किसी भी फल को उत्पन्न करने के अयोग्य है जिसका सम्बन्ध भविष्यत् से हो।[7] यह सर्वोपरि प्रभु ही है जो इस लोक में तथा परलोक (स्वर्ग) में भी नानाविध सुखों को प्रदान करता है। हम यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्म आकृतिरहित है"[8] यद्यपि विविध प्रकार की आकृतियों से उसका सम्बन्ध है क्योंकि "जीवात्मा उस शरीर की आकृति में सम्बद्ध है जिसके अन्दर यह रहता है, यह उन सुखों और दुःखों में भाग लेता है जो शरीर के कारण उत्पन्न होते हैं किन्तु चूंकि ब्रह्म इन सुखों में तथा दुःख में भागीदार नहीं बनता इसलिए उसकी कोई आकृति नहीं है।"[9] ब्रह्म जीवात्माओं के दुःखों अथवा प्रकृति के विकारों से अछूता रहता है। जितना भी पाप है, वह भूतकाल की भूल का परिणाम है और जीवात्माओं के सांसारिक जीवन की उपज है। ईश्वर इसके लिए बिलकुल जिम्मेदार नहीं है। जन्म-जन्मान्तरों की अन्तविहीन श्रृंखला के ऊपर वह प्रकाश में रहता है जहां कि कोई भी छाया उसके गौरव को मलिन नहीं कर सकती है।[10] इस प्रकार का जीवन मुक्तात्माओं के लिए भी सम्भव है, इसलिए ईश्वर के लिए तो उससे भी अधिक सम्भव है।[11]

जीवात्माएं तथा प्रकृति प्रभु के तत्त्व की एकता में समाविष्ट हैं, और सर्वोपरि

1. रहस्यत्रयसार, 23।
2. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य 2 1, 15।
3. रहस्यत्रयसार, 3।
4. 1 : 2, 1।
5. 2 : 1, 9।
6. 1 : 1, 21।
7. 3 . 2, 37।
8. ब्रह्मरूपरहिततुल्यमेव।
9. 3 . 2, 14।
10. 1 : 1, 21।
11. 3 : 3, 27।

ब्रह्म के साथ उनका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि गुणो का सम्बन्ध द्रव्यो के साथ है, या जैसे सम्पूर्ण इकाई के साथ उसके हिस्सो का होता है, अथवा शरीर का सम्बन्ध उसमे जीवन डालने वाली आत्मा के साथ है।[1] उन्हे प्रकार अथवा वृत्ति, शेष अर्थात् सहायक, नियाम्य[2] अथवा वशीभूत नाम से भी पुकारा जाता है। जब कि ईश्वर सहारा देने वाला (प्रकारी), नियन्ता और प्रमुख (शेषी) है।[3] वे यथार्थ और स्थायी हैं यद्यपि अपने सब विकारो और विकासो के सम्बन्ध मे एक ब्रह्म के नियन्त्रण के अधीन है। कहा जाता है कि शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध साधारणत जगत् की ईश्वर के ऊपर निर्भरता को प्रतिपादित करने के लिए है। चूकि जब आत्मा शरीर से विदा होती है तो शरीर का क्षय होता है इसलिए शरीर की सत्ता केवल व्युत्पन्न है, शरीर की चेष्टाए आत्मा की इच्छा के अधीन है।[4] यह जगत भी ईश्वर के साथ वैसे ही सम्बन्ध मे बधा है, अर्थात् इसकी सत्ता का निकास उसीसे है और उसीकी इच्छा के यह अधीन है।[5] ईश्वर के अस्तित्व मे जीव आभ्यन्तर तथा यह जगत् उसका बाह्य शरीर है। यदि आत्माए तथा प्रकृति ईश्वर के गुण हैं तो इसका तात्पर्य यह नही है कि वे अपने मे गुणो को धारण करने वाले द्रव्य नही हैं, जिनके अपने भिन्न-भिन्न प्रकार हैं एव शक्तिया तथा कार्यक्षेत्र हैं। आत्मा तथा शरीर का दृष्टान्त निर्देश करता है कि शरीर के अपने गुण हैं यद्यपि वह भी आत्मा को उपाधि से युक्त करना है। इस परिकल्पना के आधार पर रामानुज विश्व मे वर्तमान सामजस्य तथा यथार्थ सत्ताओ मे परस्पर प्रतिक्रिया की व्याख्या कर सकते हैं जिससे कि एक विश्व का निर्माण होता है। यह जगत् एक इकाई है उस सर्वोपरि मस्तिष्क के कारण जो कि अनेक आध्यात्मिक यथार्थ पदार्थों को ऐन्द्रिक सम्बन्ध और एक स्थान देता है तथा उनमे से हर एक को कार्य बाँटता है। आत्माए (भोक्ता), प्रकृति (भोग्य) और ईश्वर (प्रेरिता)[6] अपने स्वाभाविक स्वरूप-भेद से ये तीन है किन्तु पद्धतियो तथा द्रव्य (प्रकार तथा प्रकारी) के ऐक्य के कारण एक है।[7] ऐक्य का तात्पर्य है कि ऐसी सत्ता जो पथक् न हो सके (अपृथक् सिद्धि)।

रामानुज का ईश्वरसम्बन्धी विचार यथार्थ विचारशील आत्मचेतन व्यक्तियो की ऊपर चढती हुई शृखला मे अन्तिम पद मात्र का नही है और न ही केवल अतीन्द्रिय-निरपेक्ष सत्ता का है, जिसका अस्तित्व इस सीमाबद्ध विश्व मे ऊपर तथा परे है। चेतन और जड जगत् के पदार्थ ईश्वर के साथ-साथ रहते हैं तो भी उनके अस्तित्व का कारण है ईश्वर ही और उनका धारण भी उसीके द्वारा होता है। अनेकत्वयुक्त विश्व ठीक उन्ही अर्थो मे यथार्थ है जिन अर्थो मे ईश्वर यथार्थ है। यह विश्व ईश्वर के ऊपर निर्भर करना है जो इसका आधार अथवा अस्तित्व हेतु है किन्तु इसका उपादान कारण नही। ईश्वर को केवलमात्र अन्तर्यामी आधार ही न समझना चाहिए क्योकि तब ईश्वर को पूर्णरूप से अनेक मे भिन्न अथवा अनेक को पूर्णरूप मे ईश्वर के अभिन्न एकत्व मे विलीन हुआ

1 तुलना कीजिए—जगत सव शरीर त। रामायण, युद्धकाड, 1 20, 26, तिरुवायमोयी · I 1, 8, बृहदारण्यक उपनिषद, 5 7।

2 वेदान्तदशिका ने नियाम्यत्व की परिभाषा इस प्रकार दी है—"तत्सकल्पाधीनसत्ता-स्थितिप्रवृत्तिक त्वम।'

3 3, ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य 2 4, 14।

4 स्वाश्रयाश्रित तत्सकल्पाधीनम।

5 'ईश्वरस्य स्वाश्रितम' और इच्छाधीनम्।'

6 श्वेताश्वतर उपनिषद् 1।

7 ब्रह्म प्रकार विशिष्टप्रकारी है।

मानना पड़ेगा। रामानुज की दृष्टि में ईश्वर इस जगत् का भौतिक सृष्टि से अतीत और अन्त:स्थित दोनों ही प्रकार का आधार है। ईश्वर एक व्यक्ति है किन्तु केवल अन्य व्यक्तियों का एक पुंज मात्र नहीं और इसलिए उसे अन्य विचारवान् जीवधारियों और उनके विचार के विषय की श्रेणी में न मिला देना चाहिए।

ईश्वर विश्वसम्बन्धी व्यवस्था के अन्दर से इस विश्व को इसके परम आधार के रूप में धारण करता है और प्रलय के समय फिर से इसे वापिस ले लेता है।[1] सृष्टि-रचना तथा सृष्टि विघटन (प्रलय) इन दोनों घटनाओं को काल की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए किंतु उनकी व्याख्या का महत्त्व एक सर्वोपरि सत्ता के ऊपर तार्किक दृष्टि से निर्भरता के रूप में है। केवल ब्रह्म ही अजन्मा है और शेष सब कुछ उत्पन्न वस्तु है।[2] यद्यपि वह अपूर्ण जगत् का कारण है किंतु उसके ऊपर जगत् की अपूर्णता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रामानुज ने सर्वोपरि आत्मा तथा विष्णु को एक ही माना है और श्रेष्ठतम गुणों से युक्त माना है। ब्रह्मा और शिव भी विष्णु हैं।[3]

दिव्य आत्मा का अनेक प्रकार में चिंतन किया जा सकता है। जब आत्माएं तथा प्रकृति इसके गुण समझे जाते हैं तब 'ब्रह्म' का अर्थ होगा केन्द्रीय एकत्व अथवा जब केवल मात्र ब्रह्म ही ब्रह्म को यथार्थ माना जाए तो ब्रह्म का अभिप्राय होगा एक संयुक्त किंतु अपने-आप में पूर्ण इकाई। ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ यथार्थ सत्ता है और यह जगत् उसका शरीर अथवा विशेषण है। यह जगत् चाहे व्यक्तरूप में हो जैसा कि सृष्टि-रचना में; अथवा अव्यक्त रूप में हो जैसा कि प्रलय में। प्रलयावस्था में भी आत्माओं तथा प्रकृति के विशेषण विद्यमान रहते हैं यद्यपि सूक्ष्म रूप में। सब पदार्थों के लिए निरपेक्ष मोक्ष की अवस्था जगत् के अवसान की अवस्था है। यह एक आदर्श है जो विश्व की प्रक्रिया का लक्ष्य है। जब यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है तो आत्माएं फिर से अपनी निर्मलता प्राप्त करके स्वर्ग में ईश्वर के सम्मुख निवास करती हैं। प्रकृति भी अपनी सात्त्विक अवस्था का प्रदर्शन करती है। यह आदर्श जगत् ईश्वर के अन्तर्निहित है। यह एक ऐसी अवस्था है जो पूर्व से व्यक्तीकृत है। प्रलय में जो अवस्था आत्माओं तथा प्रकृति की रहती है उसके समान इस अवस्था को नहीं माना जा सकता। जगत् रूप शरीर के अतिरिक्त ईश्वर की एक आदर्श भौतिकता भी है, एक प्रकार की स्थिति स्थापक सामग्री (जो जीव-जन्तुओं के निर्माण की क्षमता रखती है), जिसके द्वारा वह अपनी असीम शक्ति का प्रदर्शन करता है तथा जिससे वह नानाविध तथा कई गुण रूप धारण कर सकता है यद्यपि वास्तविक रूप में वह एक ही है। इतने पर भी उसके सार तत्त्व को इस नित्य विभूति से भिन्न समझना चाहिए।

रामानुज यथार्थता के अपने भाव को धर्मशास्त्रों से पुष्ट करते हैं। वेद घोषणा करते हैं कि ब्रह्म शुभ गुणों से युक्त है। "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है" यह उपनिषदों में कहा है। ये अनेक पद एक ही सर्वोपरि श्रेष्ठ सत्ता का निर्देश करते हैं और प्रकट करते हैं कि निरपेक्ष ब्रह्म निर्विकार पूर्णता है, और वह ऐसी बुद्धि से मुक्त है जो उसने अन्य किसीसे ग्रहण नहीं की है, जबकि मुक्तात्माओं की बुद्धि कुछ समय तक अन्यों से ग्रहण

1 1 1। तुलना कीजिए, तिरुवायमोयी, 10 : 5 : 3। रामानुज के दर्शन को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है जिसका अन्य कारणों के अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि यह दो भिन्न पदार्थों के अद्वैतभाव पर बल देता है—विशिष्टयोरद्वैतम्।

2 2 : 3, 9।

3 तुलना कीजिए, तिरुवायमोयी, 10 : 10, 1।

किए गए रूप मे रहती है। यह अनन्त है क्योकि यह स्वभावत समस्त देश, काल और द्रव्य सम्बन्धी सीमाओ से स्वतन्त्र है तथा और सब वस्तुओ से भिन्न प्रकृति का है। अन्तता ब्रह्म के गुणो तथा स्वरूप का लक्षण बता देती है किंतु आत्माओ के सम्बन्ध मे, जो नित्य है, यह लक्षण लागू नही होता।[1] यह पहला और एक ही है, इसके बाद दूसरा और कुछ नही है, क्योकि ईश्वर के अलावा और कोई दूसरा ईश्वर नही है। रामानुज स्वीकार करते हैं कि ऐसे श्रुतिवाक्य है जिनमे ब्रह्म के सम्बन्ध मे सब प्रकार के विशेषणो (गुणो) का निषेध किया गया है किंतु उनका कहना यह है कि उक्त वाक्यो मे केवल सान्त तथा मिथ्या विशेषणो का ही निषेध है, सब प्रकार के विशेषणो का नही। जहा यह कहा गया है कि हम ब्रह्म के स्वरूप को भलीभाति नही समझ सकते, वहा इसका तात्पर्य यही होता है कि ब्रह्म का ऐश्वर्य इतना विस्तृत है कि यह परिमित शक्ति वाले मानवीय मस्तिष्क की पहुच से बाहर है। ऐसे वाक्यो की व्याख्या मे, जो अनेकता का निषेध करते है, कहा जाता है कि उनका तात्पर्य सर्वोपरि आत्मा से पृथक् वस्तुओ के यथार्थ अस्तित्व का निषेध करना है, क्योकि उक्त आत्मा का सब वस्तुओ के साथ तादात्म्य है। सर्वोपरि आत्मा प्रत्येक वस्तु मे विद्यमान है क्योकि वह सबकी आत्मा है (सर्वस्यात्मतया)। उच्चतम अन्तर्दृष्टि मे उपनिषदे घोषणा करती हैं कि "हमे ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नही होता, सुनाई नही देता और किसी अन्य का ज्ञान नही होता है।" रामानुज व्याख्या करते है कि—"जब समाधि मे बैठकर एक भक्त ब्रह्म का अनुभव करता है, जिस अनुभव मे निरपेक्ष आनन्द का ही अनुभव होता है, तो वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ को नही देखता, क्योकि समस्त वस्तुओ का सगृहीत पुज ब्रह्म के स्वरूप और बाह्य अभिव्यक्ति (विभूति) मे समाविष्ट है।"[2] प्रसिद्ध वाक्य 'तत् त्वमसि' की व्याख्या रामानुज अपने ज्ञान के दृष्टिकोण से करते हैं। शकर का मत है कि 'तत् त्वमसि' का उद्देश्य ब्रह्म तथा जीवात्मा के मध्य आध्यात्मिक एकत्व का प्रतिपादन करना है जब कि विशेष-विशेष लक्षणो को दृष्टि से ओझल कर दिया जाता है। "यह वही देवदत्त है" इस अनुमान के अतिम निर्णयात्मक वाक्य मे जो विचार मन मे आता है वह यह है कि देवदत्त है और वही अकेला है। 'स' और 'य' के एकत्व को समझने के लिए हमे 'इस' तथा 'उस' के भाव को पृथक् कर देना होगा और जब तक हम यह नही करते तब तक 'स' और 'य' मे तादात्म्य कभी नही हो सकता और हमारा कथन परस्पर भेदभाव को ही पुष्ट करेगा। इस प्रकार 'तत् त्वमसि' वाक्य का अर्थ है, ब्रह्म तथा जीवात्मा का नितात एकत्व और इस एकत्व का साक्षात् हम तभी कर सकते हैं जब कि अविद्या के कारण उत्पन्न काल्पनिक भेद को हम सर्वथा त्याग दें। इसके विरोध मे रामानुज का कहना है कि प्रत्येक अनुमान का अतिम निर्णय परस्पर भेदो का सश्लेषण ही है। जब ब्रह्म तथा जीवात्मा को उद्देश्य और विधेय के स्थान पर रखा जाता है, (सामानाधिकरण्य)[3] तब इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि दोनो मे भेद है। उद्देश्य और विधेय उस एक ही द्रव्य के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। यदि दोनो अर्थ उसी एक द्रव्य मे एक साथ सम्बद्ध नही होते तो अनुमान का अतिम निर्णय असिद्ध ठहरता है। हम उद्देश्य और विधेय मे उनके अर्थ अथवा तात्पर्य के विषय मे भेद करते हैं किंतु उनके उपयोग अथवा विस्तार मे उन्हे सयुक्त कर देते हैं। इस प्रकार 'तत् त्वमसि' वाक्य परम यथार्थता

1 देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितम् सकलेतरवस्तुविजातीयम् (1 1, 2)।
2 1 3 7।
3 समानम्=एकम्, अधिकरणम्=विशेषणानाम आधारभूत विशेष्यम।

के जटिल (संश्लिष्ट) स्वरूप का प्रतिपादन करता है, जिसके अन्दर जीवात्माएं समाविष्ट हैं।[1] ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध द्रव्य (विशेष) और गुण (विशेषण) का-सा सम्बन्ध है, अथवा आत्मा तथा शरीर के समान सम्बन्ध है।[2] यदि दोनों में कोई भेद न होता तो हम यह न कह सकते कि एक-दूसरे के समान है। धर्मशास्त्र में ऐसे वाक्य आते हैं जिनमें सन्तों की आत्मा अपने को सर्वोपरि सत्ता के साथ एक करके अन्यों को प्रेरणा करती है कि वे उसकी पूजा करें। इन्द्र के कथन "मेरा ध्यान करो" और वामदेव की इस घोषणा का कि "मैं मनु हूं, मैं सूर्य हूं," की व्याख्या में रामानुज कहते हैं कि इससे यह मत पुष्ट होता है कि ब्रह्म ही सबका अन्तरात्मा (सर्वान्तरात्मत्वम्) है।[3] चूंकि अनंत सबके अंदर निवास करता है इसलिए उसे किसी भी व्यक्ति विशेष में निवास करने वाला माना जा सकता है और इस प्रकार कोई भी व्यक्ति प्रह्लाद की भांति कह सकता है कि चूंकि ब्रह्म "मेरे अहंभाव का निर्माणकर्ता है, इसलिए सब-कुछ मुझसे निकला है, मैं ही सब कुछ हूं, मेरे ही अन्दर सब-कुछ है।"[4] सभी शब्द प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं।[5]

वैष्णवों का ईश्वरवाद वेदों, आगमों, पुराणों तथा प्रबन्धों के ऊपर आधारित है। वेद एक ऐसे निरपेक्ष ईश्वर का वर्णन करते हैं जो अपने-आप में पूर्ण है और अन्दर से शासन करता है। पंचरात्रों के आगम व्यूहों अथवा अभिव्यक्तियों की प्रकल्पना को स्वीकार करते हैं। पुराण राम और कृष्ण के समान अवतारों की पूजा का विधान करते हैं। द्राविड़ प्रबन्ध भक्तिपरक वाक्यों से भरे हुए हैं, जो दक्षिणी भारत के मन्दिरों में स्थापित मूर्तियों को सम्बोधन करके कहे गए हैं। इस प्रकार यह कहा जाता है कि निरपेक्ष सत्ता, जो विष्णु ही है, पांच भिन्न-भिन्न आकृतियों, मूर्तियों (अर्चा), अवतारों (विभव), अभिव्यक्तियों (व्यूहों), संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, जो वासुदेव की सूक्ष्म आकृति है अथवा सर्वोपरि आत्मा और सर्वान्तर्यामी शासक है, में विद्यमान है। कहीं-कहीं उच्चतम अवस्था (परा) को नारायण अथवा ब्रह्म कहा गया है जो वैकुण्ठ में निवास करता है,[6] जहां ईश्वर केवल सत्त्वगुण से निर्मित शरीर के साथ विद्यमान है। ईश्वर अपनी अनन्त पूर्णता में अपनी अभिव्यक्तियों से ऊपर है : ईश्वर का जो निर्दोष व्यक्तित्व है वह विश्व-सम्बन्धी रूपों में व्यय नहीं हो जाता। ईश्वर का अपना स्वतन्त्र जीवन है किन्तु उसके साथ वैयक्तिक सम्बन्ध सम्भव है। वैकुण्ठ में प्रभु शेषनाग पर बैठा हुआ है और उसकी धर्मपत्नी लक्ष्मी उसे सहारा दिए हुए है। लक्ष्मी जो ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति का काल्पनिक प्रतीक है, परवर्ती वैष्णव-धर्म में विश्व की दिव्य माता बन

1 और भी देखें, 2 : 1, 23।

2 जीवपरमात्मनोः शरीरात्मभावेन तादात्म्य न विरुद्धम्। देखें, वेदार्थसंग्रह, पृष्ठ 32, 35, 44 और 3 : 10।

3 1 : 1, 31।

4 विष्णुपुराण, 1 : 19, 85। ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य में उद्धृत, 1 : 1, 31।

सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहम् अवस्थितः।
मत्तः सर्वम् अहं सर्वं मयि सर्वं सनातने॥

5 वेदार्थसंग्रह, पृष्ठ 30।

6 परब्रह्म परवासुदेवादिवाच्यो नारायणः (यतीन्द्रमतदीपिका)।

जाती है जो कभी-कभी ईश्वर के साथ दुर्बल और दोषपूर्ण मनुष्य जाति की ओर मध्यस्थता का कार्य करती है। वह ऐसी शक्ति है जो सनातन काल से प्रभु के साथ सयुक्त है। जहा ईश्वर न्याय का प्रतीक है वहा लक्ष्मी दया की प्रतीक है और दोनो गुण ब्रह्म मे एक साथ संयुक्त हैं। लक्ष्मी मे जो विष्णु की शक्ति है, क्रिया के दो रूप हैं, अर्थात् नियमन तथा नियन्त्रण का तत्त्व और भूति अर्थात परिणमन का तत्त्व। ये दोनो शक्ति तथा प्रकृति के अनुकूल है और विष्णु को कार्यक्षम बनाते हैं। प्रकृति से विश्व की उत्पत्ति होती है। सर्वोपरि सत्ता मे छ: प्रकार की पूर्णताए है अर्थात् ज्ञान, शक्ति, बल प्रभुता, पराक्रम तथा प्रतिभा।[1] सर्वश्रेष्ठ आत्मा वासुदेव तो छहो पूर्णताओ को धारण किए हुए है अन्य तीन व्यूह इनमे से केवल दो ही पूर्णताओ को धारण किए हुए हैं। रामानुज के मत के अनुसार व्यूह वे आकृतिया है जिन्हे सर्वोच्च ब्रह्म अपने भक्तो पर दया दिखाने के लिए धारण करता है। वे क्रमश जीवात्माओ (सकर्षणो), मनो (प्रद्युम्न) और अहभाव (अनिरुद्ध) पर शासन करती हैं।[2] विभवरूप विष्णु के अवतार हैं। अपने गीताभाष्य की प्रस्तावना मे रामानुज कहते है कि
त दया से "नानाविध रूप धारण किए किन्तु अपने ईश्वरत्व
र रखा। समय-समय पर उसने अवतार धारण किया,
ो हल्का करने के विचार से ही नही वरन् इसलिए भी कि
ो पहुच मे आ सके। इस प्रकार उसने अपने को जगत् के
जिससे कि सारा जगत् उसे देख सके, और ऐ़ ही अन्य
;, जिससे कि वह ऊचे अथवा नीचे वर्ग के मनुष्य मात्र के
मुग्ध कर सके।" रामानुज का ईश्वर कोई ऐसा उदासीन
स्वर्ग के उच्च शिखरो से केवलमात्र देखता ही है वरन्
ावन के अनुभवो तथा उद्देश्यो मे हमारा साथ देता है,
के लिए प्रयत्न करता है। अवतार, शब्दार्थ के अनुसार
स्था मे अवतरण हैं। वे मुख्य अथवा गौण हैं। जहा विष्णु
पे हस्तक्षेप करते हैं वह मुख्य अवस्था है, ईश्वरीय प्रेरणा
(अवतार है।[3] मोक्ष के अभिलाषी अवतारो की पूजा
अभिलाषियो की उपासना वे करते हैं जिन्हे लक्ष्मी, शक्ति
भिलाषा होती है। ईश्वर विधिपूर्वक मन्त्रो द्वारा पवित्र की
अथवा विग्रह मे निवास करता है। अर्थपचक मे उस दु ख का
है जो कि प्रभु मनुष्यो के प्रति प्रेम के कारण एक मूर्ति मे निवास
ने से सहन करता है।[4] ईश्वर अन्तर्यामी होने से सब प्राणियो के
रता है और आत्मा के प्रत्येक भ्रमणचक्र मे, स्वर्ग तथा नरक मे

ले भी, 6 - 5, 79।
2 ाभाष्य, 2 2, 40।

4 "सर्वज्ञ होते हुए भी वह अज्ञ के रूप मे प्रकट होता है आत्मा होते हुए भी अनात्मरूप अपने आपका स्वामी होते हुए भी ऐसा प्रकट होता है कि मनुष्यो के अधीन है, सर्वशक्तिमान् होते भी अशक्त प्रकट होता है, सब प्रकार की आवश्यकताओ से स्वतन्त्र होने पर भी आवश्यकतावान्, ... होते हुए भी असहाय रूप मे प्रभु होते हुए भी भृत्य के समान, अदृश्य होते हुए भी ... रूप मे, स्वाधीन होने पर भी अधीन होने योग्य प्रकट होता है।"

उसके साथ-साथ रहता है। मनुष्य के अन्दर ईश्वर नील वर्णमेघ के अन्दर चमकती हुई बिजली के समान प्रकाश का एक स्फुरण है।[1] अन्तर्यामी के रूप में ईश्वर ही सबसे उच्च तथा श्रेष्ठ है।[2]

12. जीवात्मा

रामानुज के दर्शन में ईश्वर की परिपूर्णता सोपाधिक है जिसके कारण उसकी सर्वव्यापी गतिविधि के क्षेत्र में स्वतन्त्र आत्माओं की सत्ता को भी स्थान है जिन्हें सब-कुछ ईश्वर से ही मिला है। तो भी उनमें एक स्वेच्छा तथा चुनाव करने की योग्यता विद्यमान है जिसके कारण वे पुरुष कहलाने योग्य हैं। रामानुज ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध एक प्रबल तथा प्रभावशाली तर्क उठाते हैं जो मनुष्यों को उसी एकमात्र निरपेक्ष सत्ता के निरर्थक परिवर्तित रूप मानते हैं। जीवात्मा सर्वोपरि ब्रह्म के ही एक रूप के द्वारा यथार्थ, अद्भुत, नित्य, बुद्धि-सम्पन्न और आत्म चेतनता से युक्त, अखंड, अपरिवर्तनशील, अदृश्य और आणविक है।[3] यह शरीर, इन्द्रियों, शक्तिशाली प्राण और बुद्धि से भी भिन्न है। यह ज्ञाता है, कर्ता है और भोक्ता भी है। यह मानवीय स्तर पर स्थूल शरीर तथा शक्तिशाली प्राण से संयुक्त है जो कि एक साधन रूप है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि ज्ञानेन्द्रियां।[4] पांच कर्मेन्द्रियां और मन इसके साधन हैं। मन आत्मा के लिए आन्तरिक अवस्थाओं का प्रकाश करता है और इन्द्रियों की सहायता से बाह्य अवस्थाओं का ज्ञान भी पहुंचाता है। मन के व्यापार तीन प्रकार के हैं : निर्णय (अध्यवसाय), आत्मप्रेम (अभिमान) और चिन्तन।[5] आणविक जीव का स्थान हृत्पद्म में है। सुषुप्ति की अवस्था में यह इसी हृत्पद्म के अन्दर तथा सर्वोपरि आत्मा में भी रहता है।[6] निद्रा के द्वारा आत्मा के नैरंतर्य में भंग नहीं होता और इसकी यथार्थता कार्य के नैरंतर्य, स्मृति रूप तथ्य, धर्मशास्त्र के कथन और नीतिशास्त्र सम्बन्धी आदेशों के सही प्रमाणित होने से स्पष्ट है।[7] जीव का आकार अणु होने पर भी अपने ज्ञान रूपी गुण के द्वारा, जो संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता है, यह सारे शरीर में व्याप्त, सुख तथा दुःख का अनुभव कर सकता है, जैसे दीपक की शिखा यद्यपि अपने में बहुत छोटी है तो भी अपने प्रकाश से अनेक पदार्थों को प्रकाशित करती है, क्योंकि उसका प्रकाश संकोच तथा विस्तार को प्राप्त हो सकता है।[8] यह देश तथा काल की दूरी का भी विचार न करके अत्यन्त सुदूरस्थ पदार्थों का ज्ञान ग्रहण कर सकता है। आत्माओं का बोध, जैसा कि ईश्वर के

1 नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा (वेदार्थसंग्रह)।

2 तुलना कीजिए, पञ्चरात्ररहस्य।

पूर्वपूर्वोदितोपास्ति विशेषक्षीणकल्मषः।
उत्तरोत्तरमूर्तीनाम् उपास्त्यधिकृतो भवेत्॥

देखें, सर्वदर्शनसंग्रह, 4।

3 2 : 2, 19-32, 2, 3, 18। यतीन्द्रमतदीपिका, 8।

4 2 : 4, 10।

5 इन तीन व्यापारों के अनुसार इसे बुद्धि, अहंकार और चित्त—इन तीन भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।

6 3 : 2, 9।

7 3 : 2, 7।

8 2 : 3, 24—26।

विषय म है, स्वरूप मे नित्य है, आत्म-निर्भर है, सब वस्तुओ तक विस्तृत है और निर्दोष है, यद्यपि इसका क्षेत्र भूतकाल के कर्म आदि दोषो के कारण सकुचित हो गया है।[1] जीवात्माओ की अनेकता सुखो तथा दुखो के विभाग के कारण स्पष्ट है।[2] जब तक मोक्ष नही होता वे प्रकृति के साथ-साथ जकडी हुई हैं क्योकि प्रकृति जीवात्मा के लिए वाहन का काम देती है जैसे कि घोडा घुडसवार के लिए वाहन का काम देता है। यह शरीर का बन्धन 'यह मलिन तथा क्षय होने वाला परिधान (शरीर)" उस नित्य क दर्शन मे बाधा देता है और आत्मा को ईश्वर के साथ जो उसका मैत्री सम्बन्ध है, उसे पहचानने से रोकता है।

आत्मा अपने तात्विक स्वरूप क कारण समस्त जीवन एव मृत्यु की क्रियाओ क अन्दर अपरिवर्तित रहती है। यह इस चेतन जगत् मे अनेक बार जन्मी और फिर इससे विदा हुई, परन्तु फिर भी यह बराबर अपने उसी व्यक्तित्व को बनाए रखती है। हरएक प्रलय म जीव की विशेष आकृतिया नष्ट हो जाती है यद्यपि स्वय आत्माए अपने-आप मे अविनश्वर हैं। वे अपने भूतपूर्व जीवनो मे किए गए कर्मो के परिणामो से छटकारा नही पा सकती और नई सृष्टि मे उन्हे फिर इस ससार मे उपयुक्त शक्तिया प्रदान करके धकेल दिया जाता है। जन्म तथा मृत्यु से तात्पर्य है शरीरो से साहचर्य तथा विच्छेद, जिसके परिणामस्वरूप बुद्धि का सकोच अथवा विस्तार होना है और मोक्षपर्यन्त आवश्यकतावश आत्माए शरीरो से सलग्न है यद्यपि प्रलय मे वे एक सूक्ष्म सामग्री के साथ सम्बद्ध रहती ह जिसमे नाम व रूप के भेद का कोई स्थान नही है।[3] आत्मा अपन भूतपूर्व जीवन की साक्षी नही हो सकती क्योकि स्मृति वर्तमान शरीर से परे नही जा सकती।

जीवात्मा का विशिष्ट सारतत्त्व अह बुद्धि है। यह आत्मा का केवल गुणमात्र नही ह जो नष्ट हो जाए और जीवात्मा का अनिवार्य और मुख्य स्वरूप फिर भी अप्रभावित रह जाए। आत्मनिरूपण ही स्वय आत्मा का वास्तविक अस्तित्व है। यदि ऐसा न होता तो मोक्ष-प्राप्ति क लिए प्रयत्न करने का कुछ अर्थ ही न होता। बन्धन तथा मोक्ष, दोनो अवस्थाओ मे आत्मा अपने वैशिष्ट्य को, अर्थात् ज्ञानत्व के भाव को स्थिर रखती है। आत्मा एक सक्रिय कर्ता भी है। यह इसलिए, चूकि कर्मो का सम्बन्ध आत्मा से है और आत्मा ही कर्मो के परिणामो को भोगती है। केवल इसलिए कि इसमे कर्म करने की शक्ति हे। इससे यह परिणाम नही निकलता कि यह सदा ही कर्म करती हे। उस समय तक जब कि कर्म के कारण आत्माओ का सम्बन्ध शरीरा के साथ है उनके कर्म अधिकतर निश्चित है किन्तु जब वे शरीर-सम्बन्ध से मुक्त हो जाती है तो वे अपनी इच्छाओ की पूर्ति केवल सकल्प के द्वारा ही कर लेती हैं (सकल्पादेव)।

जीव और ईश्वर एक नही है क्योकि जीव मुख्य लक्षणो मे ईश्वर से भिन्न ह। इसे ब्रह्म का अग कहा जाता है। यद्यपि यह सम्पूर्ण इकाई मे से काटा गया भाग नही हो सकता, क्योकि ब्रह्म अखण्ड है अर्थात उसके हिस्से नही हो सकते[4] तो भी यह विश्वात्मा के अन्दर ही समाविष्ट है। रामानुज का कहना है कि आत्माए विशेषण के रूप म ब्रह्म

1 ईश्वरस्येव जीवानाम अपि नित्य ज्ञान स्वतश्च सवविषय प्रमात्मक च तत्तत्कर्मादिदोषवशात सकुचितविषयम् (वेदान्तदेशिका सेश्वरमीमासा)।
2 2 1, 15।
3 3 2 5।
4 2 3 42।

के अंश हैं, अथवा यों कहे कि शोपाधिक आकृतियां हैं ।[1] आत्माओं को ब्रह्म का कार्य माना गया है क्योंकि वे ब्रह्म से भिन्न नहीं रह सकतीं किंतु तो भी वे उत्पन्न होने वाली कार्य-रूप सत्ताएं नहीं है जैसे कि आकाश (ईथर) आदि है। आत्मा के तात्त्विक स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता। यह जिन अवस्थाओं में परिवर्तित होता है वे हैं बुद्धि का संकुचन तथा विस्तार जब कि ऐसे परिवर्तन जिनपर, दृष्टान्त के लिए ईथर की, उत्पत्ति निर्भर करती है, तात्त्विक स्वरूप के परिवर्तन हैं।[2] आत्मा के विशिष्ट लक्षण, जैसे दु:ख की सभावना आदि, ईश्वर में नहीं घटते। केवल-मात्र ईश्वर ही तात्त्विक स्वरूप सम्बन्धी परिवर्तनों से स्वतन्त्र है एवं जड़ पदार्थों के विशिष्ट लक्षणों और सकोच तथा विस्तार से से भी रहित है जो आत्माओं के विशिष्ट लक्षण हैं।

सर्वोपरि आत्मा (ब्रह्म) का आभ्यन्तर निवास जीव को अपनी संकल्प सम्बन्धी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं करता यद्यपि जीवात्मा का केवलमात्र प्रयत्न ही कर्म करने के लिए पर्याप्त नहीं है। सर्वोपरि आत्मा का सहयोग भी आवश्यक है।[3] जीवात्मा को अपने भविष्य के निर्णय करने में जो एकाधिकार प्राप्त है उसपर बल देते हुए भी, और यह भी स्वीकार करते हुए कि एक सज्जन पुरुष विश्व के केवलमात्र प्राकृतिक कानून से ऊपर उठ सकता है, रामानुज बलपूर्वक कहते हैं कि एकमात्र सर्वोपरि नैतिक व्यक्तित्व ईश्वर का ही है जो प्रकृति और कर्म के सब प्रकार के बन्धनों से स्वतन्त्र है।[4] ईश्वर को शेषी अथवा सर्वाधिपति प्रभु कहा गया है जिसके तथा जीवात्माओं के मध्य में स्वामी तथा उसकी प्रजा का-सा सम्बन्ध है जिसे शेषशेषी-भाव से प्रकट किया जाता है। शेषित्व ईश्वर की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शक्ति है जिसके आधार पर वह आत्मा के साथ व्यवहार करता है।[5]

रामानुज के दर्शन में जीवात्मा का स्वातन्त्र्य (कर्म करने में) तथा दैवीय आधिपत्य विशेष महत्त्व रखते हैं क्योंकि वह दोनों ही के ऊपर बल देता है। जीवात्मा अपनी क्रियाशीलता के लिए पूर्णरूप से ईश्वर के ऊपर निर्भर करते हैं। ईश्वर निर्णय करता है कि क्या अच्छा और क्या बुरा है, आत्माओं को शरीर प्रदान करता है तथा अपना कार्य करने की शक्ति देता है और अन्तिम रूप में आत्माओं की स्वतन्त्रता तथा बन्धन का कारण है। तो भी यदि संसार में इतना अधिक दु:ख और सकट है तो उसके लिए ईश्वर उत्तरदायी नहीं है वरन् मनुष्य उत्तरदायी है जिसे पाप व पुण्य कर्म करने की शक्ति प्राप्त है। मनुष्य का सकल्प ईश्वर की निरपेक्षता को सीमाबद्ध करता प्रतीत होता है। आत्माए, जिन्हे चुनाव के विषय में स्वातन्त्र्य प्राप्त है, ऐसा कर्म भी कर

1. "जीवात्मा विश्वात्मा का उसी प्रकार से अंश है जैसे कि किसी प्रकाशमान पिण्ड से निकलता हुआ प्रकाश, जैसे अग्नि अथवा धूप उस पिण्ड का अंश है, अथवा जैसे गाय या घोड़े के जातिगत लक्षण और सफेद या काला रंग रंगीन वस्तुओं का गुण (विशेषण) हैं और इसीलिए उन वस्तुओं के अंश हैं जिनके अन्दर वे रहते हैं, अथवा शरीर जैसे एक शरीरधारी पुरुष का अंश है। क्योंकि अंश से तात्पर्य है वह जो किसी वस्तु का एकदेश हो; विशिष्टता बतलाने वाला विशेषण उस विशिष्ट वस्तु का एक भाग (अंश) है। यद्यपि गुण और द्रव्य का परस्पर सम्बन्ध अंश का अंशी के साथ है तो भी हम उन्हें तात्त्विक रूप में भिन्न देखते हैं।" (2 : 3, 45)।

2 स्वरूपान्यथाभावलक्षण, 2 : 3, 18।

3 2 : 3, 41।

4 1 1, 21।

5 इसके साथ मोदजे की इस कल्पना की तुलना कीजिए कि आत्मा को अपने एकत्व का ज्ञान है और वह ईश्वर से भिन्न एक यथार्थ व्यक्तित्व रखती है। इसी प्रकार वह अन्य आत्माओं से भी भिन्न है यद्यपि आत्मा ईश्वर के उत्पादक तथा धारक स्वरूप से ही अपना स्वरूप ग्रहण करती है।

सकती हैं जो ईश्वर की इच्छा मे हस्तक्षेप हो। यदि निरपेक्ष ईश्वर भी कर्म का ही विचार करके तदनुसार कार्य करने को बाध्य हो तो वह निरपेक्ष नही ठहरता। रामानुज इस कठिनाई का समाधान इस प्रकार करते है कि सब मनुष्यो के कर्मों का कारण अन्ततोगत्वा ईश्वर है। किन्तु यह पापमोक्षवाद नहीं है क्योंकि ईश्वर कुछ निश्चित विधान के अनुसार कार्य करता है और उक्त विधान उसके स्वभाव की अभिव्यक्ति है। ईश्वर अपनी स्वेच्छा से किसी मनुष्य से पुण्य अथवा पापकर्म नही करवाता, वरन् निरन्तर कर्मविधान के अनुसार ही कार्य करने की पद्धति का प्रदर्शन करता है। यदि कर्मविधान ईश्वर से स्वतन्त्र है तो ईश्वर की निरपेक्षता मे अन्तर आता है। जो समालोचक यह कहता है कि हम ईश्वर के स्वातन्त्र्य की रक्षा बिना कर्मसिद्धान्त के निषेध के नही कर सकते, उसे ईश्वरविषयक हिन्दू विचार का सही-सही ज्ञान ही नही है। कर्मविधान ही ईश्वर की इच्छा को व्यक्त करता है। कर्म की व्यवस्था ईश्वर ने ही बनाई है जो कर्माध्यक्ष है। चूंकि कर्मविधान ईश्वर के स्वभाव के ऊपर निर्भर करता है इसलिए ईश्वर ही को पुण्यात्माओ को पुरस्कार तथा पापात्माओ को दण्ड देने वाला माना जा सकता है।[1] यह दिखाने के लिए कि कर्मविधान ईश्वर से स्वतन्त्र नहीं है, कभी-कभी यह कहा जाता है कि यद्यपि ईश्वर कर्मविधान को स्थगित कर सकता है तो भी वह ऐसा करने की इच्छा नही करता।[2] नैतिक विधान को क्रियात्मक रूप देने के लिए कृतसंकल्प, जो कि उसकी न्यायसगत इच्छा का आविर्भाव है, वह पाप को भी होने देता है जिसे वह अन्यथा रोक सकता है। अन्तर्यामी ईश्वर प्रत्येक अवस्था मे सकल्पपूर्वक प्रयत्न का ध्यान रखता है क्योंकि वही मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा देता है।[3] वह अपने ही विधान को उलटने का विचार भी नही करता जिससे कि सासारिक योजना मे हस्तक्षेप हो। ससार के अन्दर बैठकर भी ईश्वर अनुचित हस्तक्षेप करने वाला नही बनना चाहता।

जीवो के तीन वर्ग है : नित्य, अर्थात् वे जो वैकुण्ठ मे निवास करते और कर्म

1 2 2, 3, 3 2, 4।

2 लोकाचार्य कहते हैं "यद्यपि स्वेच्छानुकूल कर्म करने की शक्ति रखने के कारण ईश्वर छुड़ा देकर सब आत्माओ को एक ही समय म मुक्त कर सकता है अर्थात जीवात्मा के कर्म का टूटा कर जो अपने सारतत्त्व तथा स्थिरता आदि के लिए उसी के ऊपर निर्भर करता है उसके इस निर्णय का कारण कि वह आत्माओ को धर्मशास्त्रो द्वारा विहित नियमो अर्थात कर्म-विधान के ही अधीन रखेगा केवलमात्र उसकी लीला से प्राप्त प्रसन्नता रूपी इच्छा ही है।" यथेच्छ कर्तुं शक्तत्वात सकलात्मनोऽपि युगपदेव मुक्तान कर्तुं समर्थत्वेऽपि स्वाधीनस्वरूपस्थित्यादिनात्मन कर्म व्याजीकृत्य दूरीकृत्य शास्त्रमर्यादया तान अगीकुर्याम इत्थ स्थिति लीलारसेच्छयैव(तत्त्वत्रय, पृष्ठ 108)। ईश्वर स्रष्टा है एव कर्म गौण कारण है। दैवीय शक्ति अपनी शक्ति तथा महत्ता के अनुकूल लीला के वश होकर (स्वमाहात्म्यानुगुणलीलाप्रवृत्त) और उक्त कर्म का निश्चय कर देने के कारण, दो प्रकार के स्वभाव (द्वैविध्य) को है, अर्थात पुण्य और पाप तथा समस्त जीवात्माओ को शरीर और इन्द्रिया प्रदान करके जिससे कि वे इस प्रकार के कर्म को करने तथा अपने शरीरो और इन्द्रियो पर नियन्त्रण करने योग्य हो सके (तन्नियमनशक्ति), वह स्वय उनकी आत्माओ मे अन्तर्यामी आत्मा के रूप मे प्रविष्ट होकर उनके अन्दर निवास करता है। आत्माए प्रभु के द्वारा प्रदत्त समस्त शक्तियो से युक्त होकर अपनी ओर से और अपनी इच्छाओ से प्रेरित होकर पाप व पुण्य कर्म करने मे प्रवृत्त होती हैं (स्वयमेव स्वेच्छानुगुण्येन पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी उपाददते)। तब प्रभु ऐसे व्यक्ति को, जो शुभ कर्म करता है पहचानकर कि वह प्रभु के आदेशानुसार कार्य करता है, उसे धार्मिकता तथा धन-सम्पत्ति से भरपूर करता है एव सुख सम्पत्ति तथा मोक्ष प्रदान करता है, तथा ऐसे व्यक्ति को जो प्रभु के आदेश का उल्लघन करता है, इससे विपरीत दुखों को भुगवाता है" (2 23)।

3 2 8 41।

तथा प्रकृति से स्वतन्त्र रहकर आनन्द का उपभोग करते है; मुक्त, अर्थात् वे जो अपने ज्ञान, पुण्य और भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा बद्ध, अर्थात् वे जो अपने अज्ञान तथा स्वार्थपरता के कारण संसार-चक्र मे घूमते रहते हैं।[1] जहां एक ओर जीवात्मा ऊंचे से ऊंचे शिखर तक उठ सकता है, वहां यह शरीर के अन्दर ही अधिकाधिक लिप्त रहकर नीचे दर्जे तक गिर भी सकता है, यहां तक कि अपने ज्ञानमय जीवन को भी खो दे सकता है और उस निरुद्देश्य पाशविक जीवन तक पहुंच सकता है, जो मनोवेगों तथा भूख की तृप्ति का जीवन है।[2] संसार-चक्र में भ्रमण करते हुए जीवात्माओं के चार वर्ग है: आकाशीय अथवा अतिमानव, मानव, पशु और स्थावर। यद्यपि सब जीवात्मा एक ही कोटि के हैं तो भी उनमें उन शरीरों के कारण भेद किए जाते हैं जो उन्हें दिए गए हैं। जीवात्माओं के अदर वर्णभेद भी उनके भिन्न-भिन्न शरीरों के कारण हैं। स्वरूप में जीवात्मा न तो मानवीय हैं, न आकाशीय हैं, न ब्राह्मण हैं और न शूद्र हैं। संसार के अन्दर जीवात्माओं के विभाग दो प्रकार के हैं—एक वे जो सुखोपभोग की इच्छा रखते हैं और दूसरे वे जो मोक्ष के इच्छुक हैं। जब तक जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त नही कर लेता इसका पुनर्जन्म होना आवश्यक है जिससे कि यह अपने कर्मों के फल का उपभोग कर सके। जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करने के लिए गति करते समय मूल तत्त्वों से आवृत रहता है।[3] और ये मूलतत्त्व ही जीवन के अधिष्ठान का कार्य करते हैं।[4] जब तक बन्धन रहता है तब तक सूक्ष्म शरीर का भी अस्तित्व रहता है।[5] मुक्तात्मा पुरुष देव-यान मार्ग से, तथा पुण्यात्मा पितृयान से जाते हैं किन्तु पापात्मा चन्द्रलोक तक पहुंचने से पहले ही तुरन्त पृथ्वी पर लौट आते हैं। ईश्वर के दूत जीवात्मा को ऊपर की ओर का पथप्रदर्शन करते हैं।[6] यदि जीवात्माओं को दैवीय स्वरूप में किसी प्रकार का भी हिस्सा बटाना है तो उन्हें एक बार अपनी स्वतन्त्रता तथा पवित्रता प्राप्त करनी चाहिए। वे इनको खोलकर कर्म के विधान में कैसे आएंगे? रामानुज का मत है कि न तो तर्क और न धर्मशास्त्र ही हमे यह बतलाने मे समर्थ है कि किस प्रकार कर्म ने आत्मा को अपने वश में किया क्योंकि विश्व की प्रक्रिया अनादि है।

13. प्रकृति

प्रकृति, काल और शुद्धतत्त्व तीनो अचेतन द्रव्य हैं। वे भोग्य पदार्थ हैं जिनमें परिवर्तन हो सकता है और जो मनुष्य के उद्देश्य के प्रति उदासीन हैं।[7] प्रकृति का अस्तित्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय नही है। इसे श्रुति के प्रामाण्य के आधार पर माना जाता है।[8] इसके तीनो गुण अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् सृष्टि-रचना के समय इसमें प्रकट होते हैं। प्रलय-काल मे प्रकृति का अस्तित्व अत्यन्त सूक्ष्म दशा मे रहता है जिसमे नाम व

1 देखें, रहस्यत्रयसार, 4। ऐसे भी कुछ विशिष्टाद्वैती हैं जो मानते हैं कि ऐसे भी व्यक्ति हैं जो सदा के लिए संसारचक्र में जकड़े हुए हैं (नित्यबद्धाः) देखें, तत्त्वमुक्ताकलाप, 2 : 27-28।

2 1 . 1, 4।

3 3 1, 1।

4 3 : 1, 3।

5 4 : 2, 9, और 3 · 3, 30।

6 4 : 3, 4।

7 सर्वदर्शनसग्रह, 4।

8 तत्त्वमुक्ताकलाप, 1 : 11।

रूप का कोई भेद नही होता और उसे तमस् कहते हैं। प्रकृति अज (जिसकी कभी रचना नही हुई) है यद्यपि इसके रूप प्रकट होते तथा विलुप्त होते रहते हैं।

> सृष्टि रचना के समय तमस् से महत् प्रकट होता है महत् से अहकार अथवा भूतादि प्रकट होते हैं। सात्त्विक अहकार से ग्यारह इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं, तामस् से पाच तन्मात्राए अथवा पाच तत्त्व और राजसाहकार इन दोनो प्रक्रियाओ मे सहायक होता है।[1] अहकार से शब्द का सूक्ष्म तत्त्व प्रकट होता है और उसके पश्चात आकाश। आकाश से प्रकट होता है सूक्ष्म तत्त्व स्पर्श (त्वचा) का और उसके आगे वायु आदि दूसरे तत्त्वो के लिए भी यही प्रक्रिया है। शब्द, स्पर्श आदि गुणो ~ हम तदनुकूल द्रव्यो का अनुमान लगा लेते हैं। शब्द सब तत्त्वो मे है। स्पर्श का अनुभव तीन प्रकार का है, उष्ण, शीतल और न शीतल न उष्ण। रग पाच है जो गरमी पाकर परिवर्तित भी हो सकते है। विशिष्टाद्वैतवादी आकाश के अतिरिक्त अन्य किसी यथार्थ देश को नही मानते और तर्क करते हैं कि हम इसके अन्दर ही कुछ बिन्दु निश्चित कर लेते है जैसे कि पूर्व, जहा कि सूर्य उदय होता है, और पश्चिम, जहा यह अस्त होता है, और इन्ही दृष्टि-कोणो द्वारा सामीप्य अथवा दूरी को माप लेते है।[2] मुख्य प्राण को इन्द्रियो के साथ न मिला देना चाहिए, यह वायु की एक अवस्था-विशेष है।[3] साख्य के विपरीत विशिष्टाद्वैत का मत है कि प्रकृति का विकास तथा उसका नियन्त्रण ईश्वर के द्वारा होता है।[4]

काल को एक स्वतन्त्र स्थान दिया गया है। यह अस्तित्त्व मात्र का एक रूप है।[5] यह प्रत्यक्ष का विषय है। दिनो और महीनो आदि के भेद, काल के ही सम्बन्ध के ऊपर आधारित है।[6]

जबकि प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् हैं, तब शुद्ध तत्त्व का केवल एक गुण है सत्त्व। यह ईश्वर के शरीर की उसकी नित्य विभूति की दशा मे निर्माण-सामग्री है। यह आन्तरिक स्वरूप को नही छिपाता है। ईश्वर प्रकृति की सहायता से तथा अपनी लीलामय विभूति के द्वारा अपने को विश्वरूपी शक्ति मे अभिव्यक्त करता है। और शुद्धतत्त्व की सहायता से अपनी नित्य विभूति के द्वारा अपने को अतीन्द्रिय अस्तित्त्व मे व्यक्त करता है।

ये सब अचेतन सत्ताए, जो ईश्वर की इच्छा के अधीन काम करती है,[7] वे सब अपने-आप मे न अच्छी हैं न बुरी हैं, किन्तु जीवात्माओ को उनके कर्म के अनुसार सुख अथवा दु ख पहुचाती हैं। उनके व्यवहार का निर्णय करना ईश्वर का काम है क्योकि "यदि वस्तुओ के परिणाम केवल उनके अपने ही स्वभाव के ऊपर निर्भर करते तो प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समय मे सब मनुष्यो के लिए सुख अथवा दु ख ही देने वाली होती। किन्तु देखा

1 सर्वार्थसिद्धि, 1 11।
2 तत्त्वमुक्ताकलाप, 1 48।
3 तत्त्वमुक्ताकलाप 1 53—54।
4 सर्वार्थसिद्धि, 1 16।
5 तत्त्वत्रय के अनुसार काल तत्त्वशून्य है।
6 उपाधिभेद (तत्त्वमुक्ताकलाप 1 69)।
7 2 2 2।

जाता है कि यह बात नहीं है। "सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के लिए, जो केवल अपने ही अधीन है; वही सम्बन्ध लीलामय खेल का स्रोत है और यही उन वस्तुओं को प्रेरणा भी देता है और विविध प्रकार से उनका नियन्त्रण भी करता है।"[1] ऐसे व्यक्ति के लिए जिसने अपने को अविद्या तथा कर्म के सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त कर लिया है, यह संसार वस्तुतः आनन्दमय प्रतीत होगा, जहां आत्माएं तथा प्रकृति दोनों ईश्वर के शरीर अथवा गुणों को बनाती हैं। उसका सीधा सम्बन्ध जीवात्माओं के साथ है और प्रकृति के साथ केवल परोक्ष रूप में है क्योंकि प्रकृति का नियन्त्रण आत्माओं के द्वारा होता है। प्रकृति अत्यधिक पूर्णता के साथ जीवात्माओं की अपेक्षा ब्रह्म के ऊपर निर्भर है क्योंकि आत्माओं को चुनाव करने की स्वतन्त्रता है। जीवात्माएं दैवीय जीवन में भाग ले सकती हैं और इस प्रकार परिवर्तन तथा मृत्यु से ऊपर उठ सकती हैं।

14. सृष्टि-रचना

रामानुज के अनुसार हर एक कार्य का एक उपादान कारण होता है और जगत्रूपी कार्य स्वतन्त्र सत्ता वाली आत्माओं तथा अविकसित प्रकृति की ओर संकेत करता है। यद्यपि आत्माएं तथा प्रकृति ईश्वर के प्रकार हैं तो भी उन्होंने अनन्त काल से स्वतन्त्र अस्तित्व का उपभोग किया है और इसलिए पूर्ण रूप से ब्रह्म के अन्दर विलीन नहीं हो सकते। एक प्रकार से उनकी गौण सत्ता है जो उन्हें अपने ही विधान के अनुसार विकसित होने योग्य बनने के लिए पर्याप्त है। वे दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं जो समय-समय के व्यवधान से क्रम के अनुसार आती हैं—पहली एक सूक्ष्म अवस्था है जिसमें उनके अन्दर वे गुण विद्यमान नहीं होते जिनके द्वारा साधारणतः वे जानी जाती हैं, और इस अवस्था में नाम व रूप का कोई भेद नहीं लक्षित होता। इस अवस्था में प्रकृति अव्यक्त है और प्रज्ञा संकुचित अवस्था में रहती है। यह प्रलय की अवस्था है जबकि कहा जाता है कि ब्रह्म कारणावस्था में वर्तमान होता है। उसके पश्चात् जब प्रभु की इच्छा से सृष्टि की रचना प्रारम्भ होती है तब प्रकृति सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था में परिणत हो जाती है और आत्माएं उन भौतिक शरीरों में प्रविष्ट हो जाती हैं जो उन्हें उनसे पूर्व के जन्मों में किए गए पुण्य या पापकर्मों के अनुसार प्राप्त होते हैं, और उनकी बुद्धि का विकास एक निश्चित प्रकार से होता है। इस प्रकार आत्माओं तथा प्रकृति के सम्पर्क से युक्त ब्रह्म व्यक्त होकर कार्यावस्था में आ जाता है, ऐसा कहा गया है। सृष्टि तथा प्रलय केवल सापेक्ष हैं और उसी एक ब्रह्मरूपी कारणात्मक तत्त्व का द्योतन करते हैं।[2] आत्माओं तथा प्रकृति का दो प्रकार का अस्तित्व है, एक कारणात्मक और दूसरा कार्यात्मक। अपने कारणात्मक अस्तित्व में आत्माएं अभौतिक होती हैं और प्रकृति साम्यावस्था में रहती है, किन्तु जब सृष्टि-रचना का समय आता है तो आत्माएं अपने कर्म के प्रभाव से तीनों गुणों (सत्त्व, रजस और तमस्) की साम्यावस्था में हलचल उत्पन्न करती हैं और प्रकृति उनके कर्मफल को दैवीय शक्ति के अन्तर्गत क्रियात्मक रूप प्रदान करती है। आत्माएं अपने कर्मों के फल का उपभोग कर सकें इसीलिए सृष्टि-रचना होती है। ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है जिससे कि आत्माओं को अपने कर्मों के

1 3 : 2, 12।
2 देखें, भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, 13 . 2, 9 : 7।

अनुकूल फल मिल सके। इन अर्थों मे ईश्वर का रचनात्मक कर्म स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष नहीं है।[1]

> पञ्चरात्र के वर्णन के अनुसार 'शुद्ध सृष्टि' तथा 'स्थूल सृष्टि' मे भेद किया गया है। शुद्ध सृष्टि वस्तुत सृष्टि न होकर एक प्रकार से ईश्वर की अनवरत विद्यमान रहने वाली आन्तरिक अभिव्यक्ति है जिसमे ईश्वर के सर्वज्ञता, ऐश्वर्य, सृजनशक्ति, समस्त विश्व को धारण करने की शक्ति, निर्विकारिता-स्वरूप वीर्य और दैवीय पूर्णता तथा तेज आदि गुण अपने को प्रकट करते है। ये गुण ही वासुदेव और लक्ष्मी अथवा लक्ष्मी के साहचर्ययुक्त वासुदेव के शरीर का निर्माण करते है। व्यूह और विभव भी विशुद्ध सृष्टि से ही सम्बद्ध है। वैकुण्ठ, जिसका भौतिक कारण भी शुद्ध सत्व है, इसी शुद्ध सृष्टि के साथ सम्बद्ध है।[2] स्थूल सृष्टि की रचना पूर्ववर्णित व्यवस्था के अनुसार प्रकृति द्वारा होती है जो तीन गुणो से मिलकर बनी है।[3] ईश्वर के लिए सृष्टि की रचना केवल लीला मात्र है।[4] लीला का उदाहरण रूपी अलकार सृष्टिरचना रूपी कर्म के अन्तर्निहित नि स्वार्थ भाव, स्वातन्त्र्य तथा आह्लाद को प्रकट करता है। इससे रामानुज का यह जो आग्रह है कि ईश्वर नितान्त स्वतन्त्र है और किसीके ऊपर निर्भर नहीं है, इस सिद्धान्त का समर्थन होता है। प्रकृति और आत्माए ईश्वर की उक्त लीला के साधन मात्र है और किसी अवस्था मे भी उसकी इच्छा के मार्ग मे बाधा नही दे सकते। इस जगत्‌रूपी समस्त नाटक का भार ईश्वर अपनी स्वतत्र इच्छा के अनुसार ग्रहण करता है।[5]

शकर के समक्ष जो समस्या है कि नितान्त पूर्णरूप ब्रह्म से अपूर्णतायुक्त जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है, कम से कम सीमित बुद्धि के लिए इस विषय की व्याख्या करना असम्भव है। *अनन्त से सान्त की सृष्टि किस प्रकार हुई, यह समस्या रामानुज के समक्ष* नही आती क्योकि वे श्रुति के प्रमाण के आधार पर सान्त जगत् की सृष्टि अनन्त से होती है इसे स्वीकार करने को उद्यत है। और जो कुछ श्रुति ने कहा उसे तर्क द्वारा भी अवश्य सिद्ध किया जा सकता है। क्या यह भी ईश्वर की इच्छा के अधीन हो सकता है अथवा नही कि अव्यक्त प्रकृति तथा अभौतिक आत्माए विद्यमान हो? यह बिलकुल सत्य है कि उक्त स्वत सिद्ध तत्त्व जिनके ऊपर दैवीय इच्छाशक्ति सृष्टिरचना मे निर्भर करती है, कही बाहर से नही आए, जैसा कि मध्व का मत है, किन्तु ईश्वर के अन्दर उसके प्रकार-रूप से निहित है। हर हालत मे ईश्वर की इच्छा उनके पूर्व अस्तित्व के ऊपर निर्भर करती है। इस प्रकार की कल्पना करना सम्भव हो सकता है कि भिन्न प्रकार की सामग्री मे इससे उत्तम प्रकार के जगत् का निर्माण किया जा सकता था। ईश्वर सब

1 2 1, 34-35।

2 वैष्णव धर्म का बगाली सम्प्रदाय इस योजना को स्वीकार करता है, किन्तु विष्णु और लक्ष्मी के स्थान पर कृष्ण तथा राधा को रख लेता है।

3 पचरात्र सम्प्रदाय की सहिताओ मे एक मध्यवर्ती सृष्टि को भी माना गया है।

4 तुलना कीजिए क्रीडा हरेरिद सर्वम। आगे कहा गया है—हर विहरसि क्रीडाकन्दुकैरिव जन्तुभि। और यह सूत्र भी—लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।

5 स्वसकल्पकृतम् (भगवद्गीता पर रामानुज भाष्य, 1 25)। तुलना कीजिए, 'ईश्वर अनन्त साधनो से अनन्त आनन्द का उपभोग करता है'' (ब्राउनिंग 'पैरासेल्सस')।

प्रकार के सम्भव जगतो में से सर्वोत्तम जगत् को तो नही चुन सकता था किन्तु प्रस्तुत सामग्री द्वारा ही सर्वोत्तम जगत् का निर्माण कर सकता था। ब्रह्म की सत्ता सर्वथा निरुपाधिक है[1] किन्तु जड़ प्रकृति के विषय में यह लागू नही है क्योकि वह परिवर्तन का आधार है और आत्माएं प्रकृति में फसी हुई हैं। किन्तु यह समझना एक कठिन कार्य है कि किस प्रकार ब्रह्म को निर्विकार माना जा सकता है जब कि उसके गुणों में अवस्था-परिवर्तन होता है तथा आत्माओं और प्रकृति मे भी परिवर्तन होता है। उक्त प्रकार सूक्ष्म से स्थूल अवस्था में परिवर्तित होते हैं तथा इसके विपरीत भी। इसलिए रामानुज को बाध्य होकर स्वीकार करना होता है कि ईश्वर भी परिवर्तन के अधीन है।[2] रामानुज सान्त को अनन्त के गुण के रूप में मान लेते हैं। उक्त मत से यह परिणाम निकलता है कि अनन्त का अस्तित्व अपने गुण के बिना नही रह सकता और इस प्रकार अनन्त के लिए गुण आवश्यक है। तो भी रामानुज इसे स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, क्योकि श्रुति के अनेक वाक्य इसके विरोधी हैं। – "ये प्राणी मेरे अन्दर नहीं हैं,"[3] इस वाक्य पर टिप्पणी करते हुए रामानुज कहते हैं : "अपनी इच्छा के कारण मैं सब प्राणियो का धारणकर्ता हूं किन्तु तो भी इन प्राणियो मे से किसी से भी मुझे कोई सहारा नही है।" "मुझे अपने अस्तित्व में इन सबसे किसी प्रकार की भी सहायता प्राप्त नही है।"[4] जगत् का अस्तित्व दैवीय शक्ति के लिए सर्वथा अनावश्यक है। इस प्रकार के मत को अनुकूलता रामानुज के इस साधारण मत के साथ नही बनती कि जगत् का आधार ईश्वर के स्वभाव के अन्दर है। गीता के इस कथन पर कि "भक्तिपूर्वक जो कुछ भी पत्र-पुष्प मुझे अर्पण किया जाए मैं उसी से प्रसन्न हो जाता हू" टिप्पणी करते हुए रामानुज कहते हैं : "यद्यपि मैं अपने स्वाभाविक, निस्सीम तथा अपार आनन्द में रहता हूं तो भी मैं उक्त उपहारो से प्रसन्नता लाभ करता हूं मानों मेरी इच्छा की परिधि से बाहर का कोई प्रिय पदार्थ मुझे अर्पित किया गया हो।"[5] ईश्वर अपने भक्तों की स्वेच्छापूर्वक की गई—भक्ति के द्वारा भी प्रसन्नता-लाभ करने को उद्यत है किन्तु उसी प्रकार अन्यों के दुःखों अथवा क्लेशो से अपने को अभिभूत करने के लिए उद्यत नही है। यदि आत्माएं प्रभु के अंश हैं तब तो आत्मा के दुःख से प्रभु को भी दुःखानुभूति होनी चाहिए, जिस प्रकार कि हाथ अथवा पाव की पीडा मे मनुष्य भी दुःखित होता है। इसी प्रकार सर्वोपरि प्रभु को भी आत्मा की अपेक्षा अधिक दुःख अनुभव होगा।[6] किन्तु इसके उत्तर मे रामानुज का कहना है कि आत्माओ का दुःख ईश्वर के स्वभाव को कलुषित नही करता। यदि सृष्टि-रचना, सृष्टि का धारण तथा सृष्टि का विनाश ये कर्म ईश्वर को प्रसन्नता प्रदान करते हैं तो क्या हम इससे यह परिणाम निकल सकते हैं कि ईश्वर प्रसन्नता मे भी परिवर्तन सम्भव है और वह उक्त व्यापारों द्वारा बढती है? ईश्वर का स्वभाव अतीन्द्रिय आत्मा के रूप मे आह्लादमय है और उसके गुणों के परिवर्तन भी उसके आह्लाद में वृद्धि ही करते हैं। जिस प्रकार आत्मा तथा देह का सम्बन्ध तर्क द्वारा निश्चित नही हो

1 निरुपाधिकसत्ता, 1 : 1, 2। तुलना कीजिए, श्रुतप्रकाशिका : केनापि परिणामविशेषेण तत्तदवस्थस्य सत्ता सोपाधिकसत्ता, अतो निरुपाधिकसत्ता निर्विकारत्वम्।

2. उभयप्रकारविशिष्टे नियन्तांशे तदवस्था तदुभयविशिष्टतारूपविकारो भवति (ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, 2 . 3, 18)।

3. भगवद्गीता, 9 4।

4 मत्स्थितो तैर्न कश्चिदुपकार. (भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, 9 : 4)।

5 भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, 9 : 20 :

6 ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, 2 : 3, 45।

सकता, इसी प्रकार अतीन्द्रिय आह्लाद, जो अपने आप मे निर्दोष और परिवर्तनरहित है तथा उसके शरीर से उत्पन्न आह्लाद मे जो भेद है उसकी बुद्धिपूर्वक व्याख्या नही की जा सकती।

रामानुज मायावाद तथा जगत् के मिथ्यात्व का बलपूर्वक विरोध करते है। यदि जगत मे विद्यमान भेद मनुष्य के अपने मन की अपूर्णता के कारण है तो फिर ईश्वर की दृष्टि मे इस प्रकार का कोई भेद नही होना चाहिए किन्तु धर्मशास्त्र हमे बतलाता है कि ईश्वर ससार की रचना करता है और भिन्न-भिन्न आत्माओ को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है। इस प्रकार धर्मशास्त्र का सकेत है कि ईश्वर ससार के अन्दर वर्तमान भेदो को स्वीकार करता है। हम यह नही कह सकते कि अनेकत्व मिथ्या है जिस प्रकार कि मृगतृष्णिका है, क्योकि मृगतृष्णिका तो इसलिए मिथ्या है कि उसके द्वारा प्रेरित हमारी क्रिया निष्फल होती। किन्तु ससार को प्रत्यक्ष करके जो क्रिया हम करते है वह इस प्रकार निष्फल नही होती। और न ऐसा कहना ही तर्कसगत होगा कि जगत की यथार्थता जो प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित होती है, शास्त्र के प्रमाण से अन्यथासिद्ध हो जाती है क्योकि प्रत्यक्ष तथा शास्त्र के क्षेत्र एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं और इसलिए वे एक-दूसरे के विरोधी नही हो सकते।[1] सब प्रकार का ज्ञान पदार्थों का प्रकाश मे लाना है।[2] यह कहना कि पदार्थो का अस्तित्व नही है केवल इसलिए कि वे स्थिर नही रहते बिलकुल अजीब बात है। इस तर्क मे एक विरोधाभास है जो विरोधी तथा भिन्न पदार्थों मे भेद न करने के कारण उत्पन्न हुआ है। भेद के कारण किसी पदार्थ का निषेध नही किया जा सकता। तथा जहा पर दो प्रकार के ज्ञान (बोध) परस्पर-विरोधी हो वहा दोनो ही यथार्थ नही हो सकते। किन्तु घडे, कपडे के टुकडे आदि-आदि एक दूसरे के विरोधी नही है क्योकि स्थान तथा काल-भेद से वे अलग-अलग हे। यदि किसी पदार्थ का अभाव एक ही समय और एक ही काल और एक ही स्थान मे ज्ञान का विषय बना जहा पर और तभी उसका अस्तित्व भी देखा गया, तब हमे दो ज्ञानो का परस्पर विरोध मिलता है। किन्तु जब किसी पदार्थ का जो किसी स्थान पर और किसी काल मे देखा गया है, किसी अन्य स्थान तथा काल मे अभाव देखा जाए तब कोई विरोध नही उत्पन्न होता।[3] रस्सी को भूल से साप समझ लेने के दृष्टात मे अभाव का बोध पूर्व से निर्धारित स्थान और समय के सम्बन्ध म उत्पन्न होता हे। इस प्रकार वहा विरोध है। किन्तु यदि एक समय विशेष मे देखा गया कोई पदार्थ अन्य समय अथवा अन्य स्थान मे नही रहता, तो हमे तुरन्त इस परिणाम पर नही पहुच जाना चाहिए कि वह पदार्थ मिथ्या है। शकर और रामानुज दोनो ही सारूप्य के तर्क पर बल देते हैं,[4] केवल रामानुज का मत है कि यथार्थ सारूप्य परस्पर भेद तथा निश्चित रूप को उपलक्षित करता है यद्यपि यह परस्पर विरोध तथा निषेध का उपलक्षण नही है।

रामानुज ने अद्वैत मत के अविद्यारूपी सिद्धान्त के विरोध मे अनेक आक्षेप उठाए

1 आकाशवाय्वादिभूता पदार्थग्राहिप्रत्यक्षम, शास्त्र तु प्रत्यक्षाद्यपरिच्छेद्य सर्वान्तरात्मत्व सत्यत्वाद्यन तविशेषणविशिष्टब्रह्मस्वरूपा विषयम, इति शास्त्रप्रत्यक्षयोन विरोध (वेदार्थसग्रह पृष्ठ 87)।

2 अर्थप्रकाश।

3 देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयानुभूतस्यान्यदेशकालयोरभावाप्रतिपत्तौ न विरोध (1 1 1)।

4 ब्रह्मसूत्र पर शाकरभाष्य 2 2, 33, ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य 2 2, 31।

हैं। अविद्या का आश्रय क्या है? यह ब्रह्म नही हो सकती क्योंकि ब्रह्म पूर्ण निर्दोष है। यह जीवात्मा नही हो सकती क्योकि जीवात्मा अविद्या की उपज है। अविद्या ब्रह्म को आवृत नही कर सकती क्योंकि ब्रह्म का स्वभाव स्वरूप से तेजोमय है। यदि यह कहे कि यह आत्मप्रकाशित चेतना है जिसका न कोई प्रमेय विषय है और न अधिष्ठान है और जो पूर्णता के प्रभाव से, जो उसके अन्तर्निहित है, अनन्त पदार्थों के साथ सम्बद्ध होने का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, तो वह अपूर्णता यथार्थ है अथवा अयथार्थ है? अद्वैतवादियों के अनुसार इसे स्वयं ईश्वर ने विद्यमान रहने दिया है। मानवीय ज्ञान के अन्दर जब कोई अव्यक्त पदार्थ व्यक्त रूप मे आता है तब हम किसी ऐसे पदार्थ की कल्पना कर लेते हैं जिसने उसके व्यक्त होने में बाधा डाल रखी थी। किन्तु ब्रह्म के विषय मे ऐसे किसी दोष की कल्पना नही की जा सकती। इसके अतिरिक्त यदि माना जाए कि अविद्या ब्रह्म को भी अपने जाल मे फंसा लेती है। तब व्यापक मिथ्यात्व ही केवल मात्र यथार्थता रह जाएगी और हम उससे नही निकल सकते। तर्क के द्वारा अविद्या के स्वरूप का निर्णय नही हो सकता है। यह न तो यथार्थ है और न अयथार्थ ही है। यह कहना कि कोई वस्तु अनिर्वचनीय है तर्क के विरुद्ध है; कोई भी प्रमाण अविद्या के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकता। न प्रत्यक्ष, न अनुमान और न आगम प्रमाण ही अविद्या के अस्तित्व को सिद्ध कर सकता है। धर्मशास्त्रों में माया शब्द का प्रयोग ईश्वर की अद्भुत शक्ति को संकेत करने के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका नित्य स्थायी अयथार्थ अविद्या से कोई सम्बन्ध नही है। अद्वैत सिद्धांत के अनुसार धर्मशास्त्र भी इस मिथ्या जगत् का एक भाग है और इस प्रकार समस्त ज्ञान की आधारभित्ति ही नष्ट हो जाती है। यदि अविद्या का नाश (निवर्तन) उस ब्रह्म के ज्ञान से होता है जो सर्वथा निर्गुण है तो अविद्या का नाश कभी सम्भव नही हो सकता क्योकि इस प्रकार का ज्ञान असम्भव है। अमूर्त भावात्मक ज्ञान के द्वारा अविद्या-रूपी जो एक ठोस यथार्थता है उसका विनाश (निवृत्ति) नहीं हो सकती। वस्तुतः जगत् इतना महान् तथा अर्थपूर्ण है कि इसे इतने सरल रूप मे केवल अविद्या की उपज कहकर मिथ्या नही घोषित किया जा सकता। यथार्थ अविद्या, जिसके हम सब शिकार हैं, भ्रम की वह शक्ति है जिसके कारण हम विश्वास किए बैठे हैं कि हमारा अपना तथा जगत् का भी अस्तित्व ब्रह्म के अस्तित्व मे स्वतन्त्र है।

15. नैतिक तथा धार्मिक जीवन

इस संसार मे जीव, जिनकी आत्माएं शरीरो से आवृत हैं, उन द्वीप निवासियों की भांति हैं जो समुद्र के ज्ञान के बिना ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वे समझते हैं कि वे ईश्वर के विविध प्रकार न होकर प्रकृति की देन हैं। अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण आत्मा अपने को एक ऐसे भौतिक शरीर के अन्दर आबद्ध पाती है जिसका आभ्यन्तर प्रकाश बाह्य अन्धकार के कारण धुंधला पड़ गया है। यह भूलकर प्राकृतिक आवरण को ही अपनी यथार्थ आत्मा समझ बैठी है एवं शरीर के गुणो को अपने गुण समझने लगी है तथा मानवीय जीवन के अस्थायी सुखों को यथार्थ आनन्द समझकर ईश्वर से विमुख हो जाती है। आत्मा का अधः पतन कर्म तथा अविद्या के कारण है जिनके कारण ही इसे शरीर धारण करना पड़ा। आत्मा का, जो कि एक विशुद्धसत्त्व है, प्रकृति के साथ सम्पर्क होना ही आत्मा की अवनति है; इसका पाप न केवल ऊपर की ओर इसकी उन्नति मे बाधक है अपितु ईश्वर के प्रति अपराध भी है। अविद्या का स्थान विद्या को

अथवा इस अन्तर्दृष्टि को लेना है कि ईश्वर ही विश्वमात्र का आधारभूत आत्म-तत्त्व है।

रामानुज के अनुसार जीवात्माओ को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। जहा तक उत्तरदायित्व का सम्बन्ध है, प्रत्येक व्यक्ति (जीवात्मा) ईश्वर के अतिरिक्त तथा उससे भिन्न है। जब जीवात्मा ईश्वर की अधीनता को पहचानने मे असमर्थ रहता है, तो ईश्वर उसे उक्त सत्य को पहचानने मे कर्म-रूप यन्त्र द्वारा सहायक होता है तथा जीवात्मा को दण्ड देता है, और इस प्रकार उसे अपने पाप-कर्मों का स्मरण कराता है। अन्तर्यामी ईश्वर के व्यापार द्वारा जीवात्मा अपने पापमय जीवन की पहचान करता है और ईश्वर से सहायता के लिए याचना करता है। रामानुज के दर्शन मे पाप के लिए दण्ड तथा इसके लिए मानव के उत्तरदायित्व पर विशेष बल दिया गया है। यामुनाचार्य ने अपने को 'सहस्र पापो का पात्र' कहकर वर्णन किया है और ईश्वर की अनुकम्पा के लिए याचना की है। वैष्णव मत तपस्या तथा त्यागमय जीवन को प्रोत्साहन नही देता।

आस्तिक होने के कारण रामानुज का विश्वास है कि मोक्ष ज्ञान और कर्म के द्वारा नही, वरन् भक्ति और ईश्वर के प्रसाद (दया) के द्वारा सम्भव है। धर्म-शास्त्रो मे ज्ञान से तात्पर्य ध्यान और निदिध्यासन अर्थात् एकाग्रतापूर्वक समाधि से है।[1] भक्ति की साधना इस सत्य के ऊपर एकाग्रतापूर्वक ध्यान लगाने से हो सकती है कि ईश्वर ही हमारा अन्तस्तम आत्मतत्त्व है और यह कि हम उसी तत्त्व के प्रकारान्तर मात्र हैं। किन्तु इस प्रकार का ज्ञान तब तक नही प्राप्त हो सकता जब तक कि दुष्ट कर्म का विनाश नही होता। निष्काम भाव से किया हुआ कर्म ही पिछले सचित कर्मों को दूर करने मे सहायक हो सकता है। जब तक कि शास्त्रो मे विहित कर्म को नि स्वार्थ भाव से नही अपनाया जाता, उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती। यज्ञादि कर्मकाण्डो के परिणाम अस्थायी हैं किन्तु ईश्वर-ज्ञान अक्षय है। किन्तु यदि हम ईश्वर के प्रति अर्पण के भाव से प्रेरित होकर कर्म करें तो यह हमे मोक्ष के मार्ग की ओर चलने मे सहायक सिद्ध होगा।[2] इस प्रकार के भाव से किया गया कर्म सात्त्विक प्रकृति का विकास करता है और पदार्थो के विषय मे सत्य ज्ञान को ग्रहण कर सकने मे आत्मा का सहायक होता है। ज्ञान और कर्म दोनो ही भक्ति के साधन है अर्थात् ये भक्ति के साधन जो हमारी स्वार्थपरता को जड-मूल से उखाड फेंकते हैं, इच्छाशक्ति को नया बल प्रदान करते हैं, ग्रहण करने की शक्ति को नई दृष्टि प्रदान करते तथा आत्मा को नये सिरे से शान्ति-लाभ कराते हैं।

भक्ति एक अस्पष्ट पारिभाषिक शब्द है जिसके अन्तर्गत निम्नतम कोटि की पूजा से लेकर उच्चतम आत्मदर्शन भी आ जाता है। भारतवर्ष मे इसका एक सदा से चला आया इतिहास है, जो ऋग्वेद[3]-काल से लेकर आधुनिक समय तक हमे मिलता है। रामानुज के दर्शन मे भक्ति मनुष्य के ईश्वर के पूर्णतम ज्ञान तक मौनरूप मे तथा

1 3 4, 26।

2 तदर्पिताखिलाचारता (नारद भक्तिसूत्र, पृष्ठ 19)।

3 तुलना कीजिए 'मेरे समस्त विचार सुख की प्राप्ति के लिए इन्द्र की स्तुति करते हैं और उसी को प्राप्त करने की प्रबल अभिलाषा रखते हैं। वे उसका उसी प्रकार से आलिंगन करते हैं जैसे कि पत्निया सुन्दर पति का आलिंगन करती हैं वह जो दैवीय उपहारो का प्रदाता है वह मेरी सहायता करे। मेरा मन तेरी ओर प्रेरित होता है और तुमसे विमुख नही होता मैं अपनी इच्छा को तेरे ऊपर केन्द्रित करता हू, हे अत्यन्त पुकारे जाने वाले!' (ऋग्वेद 10 43 1)।

एकाग्र समाधिपूर्वक पहुंचने का नाम है। वे भक्ति की पूर्ण साधनयुक्त तैयारी पर बल देते हैं जिसके अन्तर्गत विवेक अथवा भोजन-सम्बन्धी विवेचन-विचार भी आ जाता है,[1] विमोक, अर्थात अन्य सबसे सम्बन्ध-विच्छेद करके केवल ईश्वर-प्राप्ति के प्रति प्रबल इच्छा, अभ्यास अर्थात् निरन्तर ईश्वर-चिन्तन; क्रिया अर्थात् दूसरों का भला करना;[2] कल्याण अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति शुभकामना; सत्य-व्यवहार; आर्जव अर्थात् सच्च-रित्रता; दया; अहिंसा; दान अथवा दाक्षिण्य; अनवसाद, अर्थात् सदा प्रसन्न रहना और आशा।[3] इस प्रकार भक्ति केवल भावुकता ही नहीं है,[4] अपितु इसके अन्दर संकल्प-शक्ति बुद्धि के प्रशिक्षण का भी समावेश है।[5] यह ईश्वर का ज्ञान तो है ही, उसकी इच्छा के प्रति वशंवदता भी है।[6] भक्ति अपनी समस्त मानसिक शक्ति तथा हृदय के द्वारा ईश्वर से प्रेम करने का नाम है। इसका अन्त अन्तर्दृष्टि द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार में जाकर होता है।[7]

भक्ति और मोक्ष अंगाङ्गीभाव से परस्पर सम्बद्ध हैं, यहां तक कि भक्ति की प्रत्येक अवस्था में हम अपने को पूर्णता प्राप्त करा रहे होते हैं। भक्ति परिणामस्वरूप में मोक्ष है और अन्य उपायों में सर्वोत्तम समझी गई है क्योंकि यह अपना पुरस्कार अपने-आप है (फलरूपत्वात्)।[8] भक्ति के द्वारा आत्मा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के विषय में अधिकाधिक अभिज्ञता प्राप्त कर लेती है। यहां तक कि अन्त में यह अपने को ईश्वर के अर्पित कर देती है जो इसकी आत्मा की भी आत्मा है। उस अवस्था में आत्म-प्रेम अथवा स्वार्थ का आगे जाकर कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि ईश्वर ने आत्मा का स्थान ले लिया और सम्पूर्ण जीवन ही परिवर्तित हो गया। नम्मालवार कहते हैं; "तेरे महान् तथा उत्तम उपहार के लिए अर्थात् तुम्हारी आत्मा के साथ मेरे अपने आत्मा को मिला देने के बदले में मैंने सम्पूर्णरूप से अपनी आत्मा को तुम्हारे अधीन कर दिया है;[9] अपने रक्त का एक-एक बिन्दु, अपने हृदय की एक-एक धड़कन और अपने मस्तिष्क का एक-एक विचार ईश्वराधीन कर दिया है। यह अवस्था वह है कि मैं मैं नहीं रहा।" भक्ति के दो भेद हैं, एक वैधी (औपचारिक) और दूसरी मुख्या (श्रेष्ठ)। वैधी भक्ति निम्नरूपी अवस्था है जिसमें हम प्रार्थना, कर्मकाण्डसम्बन्धी क्रिया-कलाप तथा मूर्ति-पूजा में संलग्न रहते हैं। ये सब आत्मा को उन्नत करने में सहायक होते हैं किन्तु स्वयं मोक्ष-प्राप्ति के द्वारा आत्मा का उद्धार नहीं कर सकते। हमें सर्वोपरि प्रभु की ही पूजा करनी चाहिए

1. शंकर की यह व्याख्या उचित है कि हमें इन्द्रियों के विषयों में लिप्त न होना चाहिए।

2. इसके पांच प्रकार बताए गए हैं;—स्वाध्याय, ईश्वरोपासना, पूर्वजों के प्रति, मनुष्यसमाज के प्रति तथा पशु सृष्टि के प्रति कर्तव्य।

3. सर्वदर्शनसंग्रह, 4।

4. स्वप्नेश्वर ने अनुरक्ति शब्द पर टिप्पणी करते हुए, जिसका प्रयोग शाण्डिल्य ने किया है, कहा है कि 'अनु' का अर्थ है पश्चात् और 'रक्ति' का अर्थ है लिप्त होना, और इस प्रकार अनुरक्ति का अर्थ है : ऐसी आसक्ति जो ईश्वर-ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होती है। अन्धविश्वास भक्ति नहीं है।

5. ज्ञानकर्मानुगृहीत भक्तियोगम् (रामानुज की प्रस्तावना, भगवद्गीता पर)। धीप्रीतिरूपा भक्तिः (तत्त्वमुक्ताकलाप)।

6. वेदार्थसंग्रह में रामानुज ने साधन भक्ति तथा पराभक्ति के मध्य भेद किया है। साधन भक्ति में शरीर, मन और वाणी का नियन्त्रण, अपने कर्तव्य कर्मों का पालन, स्वाध्याय तथा अनासक्ति आदि आ जाते हैं।

7. 1 · 1, 1।

8. नारद भक्तिसूत्र, सूत्र 26।

9. तिरुवायमोरी, 2 : 3, 4।

क्योकि अन्तिम विश्लेषण मे अन्य कोई भी ध्यान का विषय नही बन सकता।[1]

प्रपत्ति ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पण कर देना है[2] और भागवतों के मत में यह मोक्ष-प्राप्ति का सबसे अधिक उपयुक्त साधन है। यह मार्ग सबके लिए खुला है, अर्थात् विद्वान् के लिए भी और मूर्ख के लिए भी, उच्च श्रेणी वालों के लिए भी तथा निम्न श्रेणी वालों के लिए भी; किन्तु भक्ति का मार्ग, जिसके अन्दर ज्ञान तथा कर्म आ जाते हैं, केवल ऊपर के तीन वर्णों तक ही सीमित है। किन्तु कोई भी व्यक्ति गुरु से दीक्षा लेकर अपने को ईश्वर के समर्पित कर सकता है और उसके अन्दर आश्रय पा सकता है। दक्षिणदेशीय सम्प्रदाय तेंगलाई के अनुसार भी, जो आलवारों की परम्परा का अक्षरश. अनुसरण करता है, प्रपत्ति ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग है और भक्त को और अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर उस व्यक्ति का मोक्ष द्वारा उद्धार करता है जो अपने को सर्वथा उसके अधीन कर देता है। उत्तरदेशीय सम्प्रदाय (वड्गलायी) का मत है कि प्रपत्ति लक्ष्य की प्राप्ति का अन्यतम उपाय है किन्तु एकमात्र उपाय नही है। उनके मत मे मोक्ष-प्राप्ति के लिए मानवीय पुरुषार्थ एक आवश्यक अंग है। ऐसा व्यक्ति जिसने अपने को कर्म, ज्ञान तथा प्रपत्ति से योग्य बना लिया है, प्रभु की दया प्राप्त करता है। यह सम्प्रदाय 'मर्कट-न्याय' को मानता है, अर्थात् जिस प्रकार बन्दर के बच्चे को पुरुषार्थ करने पर अपनी मां का प्रेम प्राप्त होता है। दूसरी ओर दक्षिणी सम्प्रदाय 'मार्जर-न्याय' को मानता है, अर्थात् जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चो को मुह मे पकडकर ले जाती है। इस सम्प्रदाय का मत हे कि मनुष्य के प्रयत्न के ऊपर कुछ निर्भर नही है क्योकि ईश्वर ही स्वयं अपनी कृपा से मोक्ष-प्राप्ति के योग्य पुरुषों का चुनाव करता हे। इसका यह भी मत है कि किसी एक ही उत्तम कर्म में ईश्वर जीवात्मा को अपने वश मे ले लेता है और बार-बार उस कर्म की पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही होती, जब कि उत्तरीय वर्ग इस बात पर बल देता है कि आत्मा को चाहिए कि वह निरन्तर अपने को ईश्वरार्पण करती रहे।

भागवत पुराण में भक्ति का स्वरूप रामानुज की अपेक्षा कम संयत है। मनुष्यों मे धार्मिक भाव के विकास के लिए एक अत्यधिक उत्साह की विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है। आत्मा की शुद्धि के लिए प्रवृत्त हुए व्यक्ति के हृदय में भय तथा आह्लाद रहता है। भागवत में भक्ति एक उमड़ती हुई भावना है जो कि सारे शरीर को पुलकित कर देती है,

1. रामानुज एक आचार्य का इस प्रकार उद्धरण देते हैं : "ब्रह्म से लेकर घास के एक गुच्छे तक समस्त पदार्थ, जो इस जगत् मे विद्यमान हैं, कर्मों के कारण ससार में जन्म लेने को बाध्य हैं, इसलिए वे ध्यान के योग्य विषय बनने मे सहायक नही हो सकते क्योकि वे सब अज्ञान मे हैं और ससार-रूपी बन्धन के अधीन हैं" (1 : 1, 1)।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तरव्यवस्थिता:,
प्राणिन: कर्मजनितससारवशवर्तिन:।
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारका:,
अविद्यान्तरगता. सर्वे ते हि ससारगोचरा: ॥

2. देखें, भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, अध्याय 7 की प्रस्तावना तथा 7, 14। प्रपत्ति के छ: अवयव वर्णन किए गए हैं जो इस प्रकार हैं : (1) ऐसे गुणों की प्राप्ति जो एक व्यक्ति को इस योग्य बना सके कि वह ईश्वर के प्रति उपयुक्त उपहार बन सके। (आनुकूल्यस्य सम्पत्ति:); (2) ऐसे आचरण का त्याग जो ईश्वर को स्वीकृत नही है (प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्): (3) इस प्रकार का विश्वास कि ईश्वर उसकी रक्षा करेगा (रक्षिष्यतीति विश्वास:), (4) रक्षा के लिए आवेदन (गोप्तृत्ववरणम्); (5) अपनी तुच्छता का अनुभव (कार्पण्यम्); और (6) नितान्त समर्पण (आत्मसमर्पणम्)। अन्तिम अवयव प्रपत्तियुक्त है यद्यपि अन्य उसके साधन हैं।

वाणी को भी स्तब्ध कर देती है और इस प्रकार साधक अन्तर्लीनता की अवस्था की ओर अग्रसर होता है। भागवत यज्ञादि विद्वानों के प्रति उदासीन है और उसका बलपूर्वक कहना यह है कि हमें ईश्वर से उसके अपने लिए प्रेम करना चाहिए न कि किसी पुरस्कार पाने की अभिलाषा से। यह स्वीकार करता है कि ईश्वर के साथ संयोग का मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला है बशर्ते कि वह इसकी ओर ध्यान दे। वह इसे भक्ति के द्वारा प्राप्त कर सकता है; किन्तु वह आत्मा, जो ईश्वर से सदा अपने को भिन्न रखती है, जिसकी कि वह उपासना करती है, उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सुखी रहती है जिसने अपने को ईश्वर में विलीन कर दिया है।[1] भागवत के ईश्वर में एक घनिष्ठ मानवीय भावना पाई जाती है। वह स्वतंत्र नहीं है क्योंकि वह अपने भक्तों के अधीन है।[2] अपने भक्त सतों के धार्मिक सम्प्रदाय के बिना ईश्वर अपने विषय में कुछ अधिक सोच-विचार नहीं करता।[3] भागवत की एक विशिष्टता जो लक्षित होती है वह है कृष्ण और गोपियों की कथा का आदर्शवाद। यह उपाख्यान भक्ति के आदर्श रूप में परिणत हो गया है और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, वैष्णवधर्म के परवर्ती सम्प्रदायों पर इसका पूरा प्रभाव हुआ है।

> वैष्णव धर्म की भक्ति ने अधिकतर घनिष्ठ मानवीय सम्बन्धों का उपयोग मनुष्य तथा ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन करने के लिए प्रतीक के रूप में किया है। ईश्वर को गुरु, मित्र, पिता, माता, शिशु और यहां तक कि प्रिया के रूप में भी चित्रित किया गया है। अन्तिम रूप पर आलवारों, भागवत पुराण तथा बंगाल के वैष्णव सम्प्रदाय ने बल दिया है। सर्वोत्तम प्रेम में भक्ति के समान अपनी प्रिया की उपस्थिति में वर्तमान रहना उच्चकोटि का सुख तथा सृजनात्मक रचना है। और उससे विरहित जीवन दुःख, निराशा तथा वन्ध्यापन है। हम समझते हैं कि प्रेम का प्रतीक दोषपूर्ण है क्योंकि हम कल्पना कर लेते हैं कि प्रेम में ऐन्द्रिक आकर्षण ही सब-कुछ है; किन्तु सच्चे प्रेम में ऐन्द्रिक आकर्षण बहुत न्यून है। अनेक स्त्रियां और कुछ पुरुष भी जो प्रेम में पशुओं के स्तर से ऊपर उठते हैं, विरोध में कहेंगे कि प्रेम में केवलमात्र नये मनोवेगों की खोज ही नहीं है अपितु सच्चे प्रेम में दो आत्माएं एक-दूसरे के अन्दर उन अन्यों की अपेक्षा अधिक विश्वास रखती हैं जिनसे वे कभी पहले मिली थीं या जिन्हें जानती हैं। एक प्रेमी अपने प्रियपात्र के लिए संसार से युद्ध करने के लिए उद्यत रहता है, सब प्रकार का पार्थक्य सहन करता, और गरीबी में, प्रवास में तथा अत्याचार में भी सुख का अनुभव करता है। यदि ऐसे स्त्री-पुरुष अनेक प्रकार अत्यन्त दीर्घकाल के पश्चात् दिखाई देता हो, और यहां तक कि असम्भव भी हो तो भी वे दोनों एक-दूसरे को नहीं छोड़ सकते और अन्य सब-कुछ छूट जाने का सकट उपस्थित होने पर भी पारस्परिक प्रेम ने जो स्थायी शृंखला निर्मित कर दी है उसे जीवित बनाए रखते हैं, एवं केवल मृत्यु ही उस शृंखला को तोड़ने में समर्थ हो सकती है। सीता, सावित्री, दमयन्ती और शकुन्तला की गाथाओं ने इस प्रेम के पाठ को भारतवर्ष के हृदय के अन्दर कूट-कूटकर भर दिया है। इस-

1. भागवत, 3 : 25, 33।
2. 9 : 4, 67।
3. नाहम् आत्मानम् आशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना (9 : 4, 6)। तुलना कीजिए—भक्तप्राणो हि कृष्णश्च कृष्णप्राणा हि वैष्णवाः (नारदपंचरात्र, 2 : 36)।

लिए इसमे तनिक भी आश्चर्य का विषय नही है कि एक भारतीय वैष्णव ईश्वर को अपनी प्रिया के रूप मे देखे[1] और अपने सब मनोवेगो, अभिलाषाओ तथा मानवीय प्रेम को ईश्वर के प्रति प्रेरित कर दे। भक्त लोग तब अपने को असहाय तथा अशान्त अनुभव करते है जब उन्हे ईश्वर की उपस्थिति का अभाव प्रतीत होता है, क्योकि ईश्वर की समीपता के अलावा उन्हे और कोई वस्तु सतुष्ट नही कर सकती। उनके अनेक छन्दो मे हमे ईश्वर के लिए हृदय की पुकार मिलती है, और उसकी अनुपस्थिति मे निर्जनता का भाव दिखाई देता है, उसकी मित्रता मे एक प्रसन्नता की पूर्वकल्पना से विशेष प्रकार की अनुभूति और एक ऐसा भाव है जो है तो यथार्थ तथापि उसकी परिभाषा नही की जा सकती और उसके प्रेम की अमूल्यता अनुभव होती है। वैष्णव सन्तो के गद्गद होकर प्रकट किए गए उद्‌गारो मे हम एक प्रकार की परमाह्लादपरक प्रसन्नता का अनुभव करते है जिसके द्वारा एक ब्रह्म साक्षात्कारवादी आध्यात्मिक भाव से ईश्वर के साथ सम्मिलन के लिए आतुर प्रतीत होता है। नम्मालवार उच्च स्वर मे बोल उठता है "हे स्वर्ग के उज्ज्वल प्रकाश! तू मेरे हृदय के अन्दर मेरी आत्मा को द्रवित करता और खपाता हुआ विद्यमान है। मैं कब तेरे साथ एकात्मभाव प्राप्त करूगा?"[2] ईश्वर मे प्रगाढ आसक्ति के कारण अन्य सब पदार्थों के प्रति उदासीनता आ जाती है।[3]

एक हिन्दू भक्त इच्छा को नष्ट करने का प्रयत्न नही करता अपितु इसको इस मर्त्यलोक से ऊपर उठाकर स्वर्ग की ओर तथा इस सृष्टि से हटाकर सृष्टि के उस सृजनहार की ओर प्रेरित करता है। मणवाल का कहना है . "अज्ञानी पुरुष को इन्द्रियो के विषयो मे जो सुख मिलता है, उसीको जब ईश्वर की ओर प्रेरित किया जाता है तो वही भक्त के नाम से पुकारा जाता है। नम्मालवार की सृष्टि मे यह भक्ति सौन्दर्य की खान है तथा प्रभु के प्रति प्रेम का रूप धारण करती है और इसलिए आलवार लोगो के लिए प्रेम के नमूने की भक्ति प्रकट होती है।"[4] यह ठीक है कि जो लोग पति-पत्नी के प्रतीक का प्रयोग करते है उनमे से अनेक व्यक्तियो को कामवासना छू तक नही गई और वे सदाचार की दृष्टि से सर्वथा निष्पाप है तो भी इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि

1 तुलना कीजिए स एव वासुदेवो सउ साक्षात् पुरुष उच्यते।
स्त्रीप्रायम् इतरत सवम् जगद ब्रह्मपुरस्मरम् ॥
अर्थात, सर्वोपरि प्रभु ही एकमात्र पुरुष है अन्य सब ब्रह्मा से लकर नीचे तक स्त्रिया है, उसी के ऊपर निभर रहो और उसके साथ मिलन की आकाक्षा करा। और भी तुलना कीजिए,
स्वामित्वात्मत्वशेषित्वपुस्त्वाद्या स्वामिनो गुणा।
स्वेभ्यो दासत्वदेहत्वशेषत्वस्त्रीत्वदायिन ॥

2 तिरुवायमोयी, 5 10, 1।

3 अनुरागाद विराग। भक्ति मार्ग मे चार गतिया हैं (1) आत्मा की इच्छा, जब यह ईश्वर की ओर झुकती है और मनोभावो का उसकी ओर बलात् प्रेरित करना, (2) अतृप्त प्रेम का दुख, (3) प्राप्त प्रेम का आह्लाद और उस आह्लाद का अभिनय, और (4) दैवीय प्रेमो का नित्य सुख जो कि दैवीय आनन्द का हृदय है।

4 या प्रीतिरस्ति विषयेष्वविवेकभाजाम्
सेवाच्युते भवति भक्तिपदाभिधेया।
भक्तिस्तु काम इह तत्कमनीयरूपे।
तस्मान् मुने रजनि कामुकवाक्यभगी ॥ (द्रामिडोपनिषद्सगति)।

इसका दुरुपयोग नही हुआ।[1] किन्तु इस प्रकार के दुरुपयोग के उदाहरण साधारण नियम के अपवाद मात्र ही हैं।

जाति-पांति के भेद आत्मा के स्वरूप को स्पर्श नहीं करते। अधिक से अधिक उनका सम्बन्ध शरीरों तक ही है और वे उन कर्तव्यों के निर्णायक हैं जो मनुष्यों के समाज के प्रति हैं। किन्तु जातिगत भेद का आत्मा के गुणों के साथ कोई सम्बन्ध नही है। अनेक आलवार, जिनकी पूजा ब्राह्मण लोग भी करते थे, जन्म से शूद्र थे। रामानुज की व्यवस्था है कि ईश्वर से प्रेम करने वालों में परस्पर कोई भेद न होना चाहिए।[2] वे स्वीकार करते हैं कि जो आश्रमो में नही भी हैं वे भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।[3] वस्तुत: भक्ति-धर्म के लिए और प्रपत्ति अर्थात् समर्पण, के लिए किसी पुरोहित की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रेम के समर्पण के लिए किसी धर्मशास्त्र का विधान भी नही चाहिए, तथा ईश्वर की दया मनुष्य के अधिकार में नहीं है। भक्ति रस से आप्लुत पुरुष के लिए कोई भी धर्मशास्त्र अथवा नियम नहीं है।[4] रामानुज ने समता का प्रचार किया और यह घोषणा की कि भक्ति समस्त जाति-भेदों के ऊपर है। उन्होंने परिया लोगों को मेलकोट के मन्दिर मे प्रविष्ट कराया। किन्तु इस विषय का स्पष्टीकरण किसी प्रकार नही होता कि वे उस समय की मान्य व्यवस्था को पूर्णरूप में अमान्य ठहराने के लिए उद्यत हुए हों। परम्परा को उचित सम्मान देते हुए वे स्वीकार करते हैं कि विचार-स्वातन्त्र्य केवल ऊपर के तीन वर्णों के लिए ही है और दूसरों को कर्म करते रहना चाहिए तथा अगले जन्म की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसलिए हम यह नही कह सकते कि वे अपनी शिक्षाओ को तार्किक समस्याओ का पूरा-पूरा समाधान करने में समर्थ हो सके। एक अर्वाचीन वैष्णव आचार्य रामानन्द (तेरहवी शताब्दी) ने जाति भेद का विरोध किया। उन्होंने कहा है: "किसी भी मनुष्य को अन्य मनुष्य की जाति अथवा मत न पूछना चाहिए। जो कोई ईश्वर की पूजा करता है वह ईश्वर को प्रिय है।" उनके चेलों में, जो लगभग एक दर्जन थे, ब्राह्मण, नाई, चमार, राजपूत तथा एक स्त्री भी थी। चैतन्य ने सबके लिए भक्ति तथा प्रेमधर्म का प्रचार किया, बिना किसी जाति अथवा वर्ग-भेद के। दूसरी ओर दक्षिण भारत मे वेदान्तदेशिका ने कर्मकाण्डपरक धर्म के ऊपर बल दिया।[5] भारतीय सभ्यता के इतिहास में बार-बार जाति-पांति सम्बन्धी जटिल भेदो के विरुद्ध आन्दोलन हुए हैं, किन्तु उक्त सभी विरोधी आन्दोलन राष्ट्र के मन पर जाति-पाति के भेद ने जो अधिकार जमा रखा है उसके ऊपर नियन्त्रण करने में कुछ अधिक सफल नही हो सके।

1 'भारतीय दर्शन' प्रथम खंड, पृष्ठ 404-405, 434 435।

2 तुलना कीजिए : नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेद: (नारद भक्तिसूत्र, पृष्ठ 72)। और भी तुलना कीजिए,

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु यतिश्च श्वपचाधमः॥ (भागवत)।

3 3 : 4, 36; 1 : 3, 32-39।

4 अत्यन्तभक्तियुक्ताना नैव शास्त्र न च क्रम:।

5 श्रुति स्मृतिर्ममैवाज्ञा यस्ताम् उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णव:॥
देखिए, रहस्यत्रयसार में शास्त्रनियमनाधिकार-सम्बन्धी अध्याय।

16 मोक्ष

रामानुज के मत मे मोक्ष आत्मा का तिरोभाव नही है, किन्तु बाधक मर्यादाओ को भग करके स्वतन्त्र होना मोक्ष है, क्योकि आत्मा का तिरोभाव यथार्थ आत्मा का विनाश (सत्यात्म नाश) होगा।[1] एक तत्त्व दूसरे तत्त्व मे परिणत[2] नही हो सकता। मनुष्य चाहे कितना ही ऊंचा क्यो न उठ जाए, उसके ऊपर एक सर्वशक्तिमान् की सत्ता रहेगी ही, और उसके प्रति एक स्थायी प्रेम जो श्रद्धायुक्त ही रहेगा, और उसे उसकी पूजा व उपासना भी करनी ही चाहिए। रामानुज, जो हमारे लिए उच्चतम धार्मिक अनुभव के मार्ग का अबाध विधान करते हैं, कहते हैं कि उक्त धार्मिक अनुभव किसी 'अन्य' शक्ति की ओर सकेत करता है। मुक्तात्मा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करता है यद्यपि उसके साथ तद्रूपता को प्राप्त नही होता।[3] वह सर्वज्ञ हो जाता है और उसे सदा ही ईश्वर का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त होता है।[4] उसे और किसी वस्तु की अभिलाषा नही होती और इसीलिए उसको ससार मे वापस आने की भी कोई सभावना नही रहती।[5] आत्माभिमान ही मोक्ष का विरोधी है किन्तु व्यक्ति का पृथक् अस्तित्व मोक्ष का विरोधी नही है। तात्त्विक स्वरूप यद्यपि अनादिकाल से सिद्ध है तो भी ससार की अवस्था मे होने से अविद्या तथा कर्म के द्वारा आवृत है। मोक्ष की अवस्था से तात्पर्य बुद्धि के स्वाभाविक गुणो के अबाधित व्यक्त रूप तथा परमानन्द से है। मुक्तात्मा को 'स्वराट्' कहा गया है, इस अर्थ मे कि वह कर्म-विधान के अधीन नही है।[6] रामानुज के दृष्टिकोण से जीवन्मुक्ति नामक कोई चीज़ नही है। समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर तथा भौतिक शरीर के भी त्याग होने पर मनुष्य को ईश्वर का साहचर्य प्राप्त हो जाता है। मोक्ष की अवस्था मे आत्माए सब एक ही प्रकार की होती हैं। उस अवस्था मे देवताओ, मनुष्यो, पशुओ तथा वानस्पतिक पौधो मे कोई भेद नही रहता। इन भेदो का अर्थ सासारिक जगत् तक ही परिमित है। प्रकृति के सम्पर्क मे आकर ही आत्मा के अन्दर विशिष्टता प्रकट होती है, अन्यथा नही। किन्तु आत्माए उक्त सम्बन्ध से अपने को स्वतन्त्र कर सकती हैं क्योकि यह सम्बन्ध नैसर्गिक नही है।[7] परिणाम यह निकला कि शारीरिक सम्बन्धो के द्वारा जो पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व निर्मित होता है वह अनादिकाल से न होने के कारण नित्य नही है। जब उक्त सम्बन्धो का उच्छेद हो जाता है तो आत्मा ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तथा अपने यथार्थ स्वरूप को व्यक्त करती है। इसमे कोई नया विकास नही होता।[8]

मोक्ष की अवस्था मे आत्माओ मे केवल दो अशो को छोडकर, सर्वोपरि ब्रह्म की अन्य सब पूर्णताए विद्यमान रहती हैं। वे आकार मे अणु-प्रमाण हैं जब कि सर्वश्रेष्ठ

1 1 · 1, 1।

2 विष्णुपुराण, 2 14, 27।

3 ब्रह्मणा भाव न तु स्वरूपैक्यम् (1 · 1, 1)।

4 परिपूर्णपरब्रह्मानुभवम्। तुलना कीजिए, "सर्वदेश सर्वकाल सर्वावस्थैगलोलुम, सर्वेश्वरनैई, अनन्तमगलान, विग्रह गुण विभूति चेष्टितसमगलील योनम्म् कुरयामल निरतिशयभोग्य माक, विपयिकारित्तु कोण्डीरकुम" (रहस्यत्रयसार, 22)।

5 ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, 4 : 4, 22।

6 श्रुतप्रकाशिका, 1 1, 1।

7 कर्मान्यज्ञानमूल. न स्वरूपकृत. (1 : 1, 1)।

8 4 . 4, 1।

आत्मा विभु सर्वव्यापी है। अणु आकार की होने पर भी आत्मा अनेकविध शरीरों में प्रवेश कर सकती है और प्रभु के रचे हुए भिन्न-भिन्न जगतों का अनुभव कर सकती है।[1] किन्तु जगत् की सृजनात्मक गतिविधियों के ऊपर इसका कोई वश नहीं है क्योंकि वह केवल ब्रह्म की ही विशेष शक्ति है।[2]

ईश्वर की नगरी मे अनेक आत्माएं विद्यमान हैं जिनमे केवल-मात्र एक दूसरे की पुनरावृत्ति ही नही होती। वे जो आकृतियां धारण करती हैं वे विशुद्ध सत्त्व के कारण हैं। उसी विशुद्ध सत्त्व की सहायता से मुक्तात्माएं अपने विचारों तथा इच्छाओं को एक आकार देती हैं। नाटक के अन्त में—यदि इस प्रकार की कल्पना की जा सके—प्रत्येक जीवात्मा पूर्णता प्राप्त कर चुकी होगी किन्तु तो भी वह निरपेक्ष ब्रह्म की आश्रित ही समझी जाएगी। वह निरपेक्ष ब्रह्म जो केवल एक ही आत्मा है, अपने अन्तर्हित तत्त्व के कारण आत्माओं की परस्पर सम्बद्ध इकाई बन जाता है किन्तु उससे उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नही आती। इसकी अपने चारों ओर एक सामाजिक स्थिति है। आत्माओं के प्रत्येक समाज का लक्ष्य अपने किसी निहित स्वार्थ की ओर नही होता वरन् सार्वभौम तथा सर्वव्यापी सत्ता की ओर ही होता है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में मुक्तात्माओं के दो पृथक् वर्ग किए गए हैं : एक वे हैं जो इस लोक मे ईश्वर की सेवा के लिए कृतसंकल्प हैं और इसलिए दिव्य लोक में भी वे यही कार्य करते हैं; दूसरे वे 'केवलिन्' हैं जो अन्यों से सर्वथा पृथक् हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप के ऊपर निरन्तर ध्यान देकर अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है।

उस दिव्य लोक का चित्र, जहां पर मुक्तात्माओं का निवास है, प्रायः दिए गए विवरण से अधिक भिन्न नहीं है।[3] स्वर्ग की उस कल्पना से जो सर्वसाधारण में प्रचलित है, केवल वेश, रीति-रिवाज तथा प्राकृतिक दृश्य सम्बन्धी ब्योरे में कुछ भेद है। वहां जीवनप्रद स्वच्छ जल की नदियां हैं, सुस्वादु फलों से लदे वृक्ष हैं, शीतल मन्द-मन्द वायु बहती है, और स्वर्गवासियों को प्रसन्न बनाए रखने के लिए स्वर्ण रंग का सूर्य का प्रकाश है। उक्त आनन्दमय क्षेत्र में वे प्रसन्नता-लाभ करते हैं तथा उत्तम-उत्तम भोजन ग्रहण करते हैं, दिव्य संगीत का आनन्द उठाते हैं, तथा समय-समय पर दार्शनिक विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। किन्तु स्वर्ग का इस प्रकार का दृश्य ब्रह्म-साक्षात्कार करने वाले योगी को सन्तोष प्रदान नही करता जो फिर एक बार एक विशेष प्रकार की प्रकृति मे अपने को एक प्रकार के बन्दीगृह मे अवरुद्ध अकेला पाकर उससे छूटने की पुकार करता है। वह व्यक्तिगत जीवन की मर्यादाओं को तोड़कर अपने को विश्वात्मा के तात्त्विक जीवन के अन्दर विलीन कर देने के लिए छटपटाता है। अपनी मोक्ष-सम्बन्धी कल्पना में रामानुज ब्रह्मसाक्षात्कारी योगियों को सन्तुष्ट नही कर सकते, जिनकी सर्वश्रेष्ठ यथार्थ सत्ता के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेने की बुभुक्षा वैसी ही बनी रहती है। उनकी दृष्टि मे ऐहलौकिक अनुभव के आधार पर निर्माण की गई व्यवस्था मे, भले ही उसे कितना भी आदर्श का रूप क्यों न दिया हो, एक ऐसे स्वर्ग की कल्पना सांसारिक अनुभव से कुछ भी भिन्न नही है। यद्यपि आत्मा ईश्वर को और केवल ईश्वर को ही देखती है और उसकी उपस्थिति मे वहीं चली जाती है तो भी वह अपने व्यक्तित्व को

1. 4 : 4, 13—15।
2. 4 : 4, 17।
3 नारदपञ्चरात्र, 6।

स्थिर रखती है, और अपना पृथक् अस्तित्व रखते हुए वह दर्शन का विषय नही बन सकती। अपनेपन को त्याग कर ईश्वर मे विलीन हो जाने की ओर कुछ उपनिषदो के ऋषियो का झुकाव रहा है तथा यूनान के प्राचीन आरफियस गायक का भ्रातृसघ, कुछ ईसाई तथा सूफी-सम्प्रदाय के ईश्वर-साक्षात्कारियो का भी झुकाव इस ओर रहा है। वे केवल अपने शरीरो से ही छुटकारा पाने मे प्रयत्नशील न रहे अपितु अपने व्यक्तित्व को भी छोडकर अपनी आत्मा को ईश्वर मे विलीन कर देने के लिए प्रयत्न करते रहे। किंतु इस प्रकार की कोई साक्षी उपलब्ध नही होती कि किसी ब्रह्मसाक्षात्कारी ने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया हो। रामानुज का कहना है कि वस्तुस्थिति के विचार से इस प्रकार की ब्रह्मलीनता की साक्षी मिलना असम्भव है। वह व्यक्ति जिसने ईश्वरत्व प्राप्त कर लिया, वापस लौटकर हमे अपना अनुभव तो बताएगा नही, और जो व्यक्ति ऐसी बाते करेगा, उसने ईश्वरत्व प्राप्त नही किया होगा।

17. सामान्य मूल्यांकन

जहा शकर के दार्शनिक सिद्धान्त के प्रति उन उच्च कोटि के मस्तिष्को के लिए कुछ आकर्षण हो सकता है जो समस्याओ के भावुकतापूर्ण समाधानो से चौकते है और सकल्पशक्ति के दमन मे ऐसी आन्तरिक तृप्ति को खोजते है जो उन्हे इस योग्य बना दे कि *वे एक स्थितप्रज्ञ आत्मसयमी की भाति शान्त भाव से अपने ऊपर आ पडने वाली* अत्यधिक विकट परिस्थितियो को भी सहन कर सकें, तो भी शकर स्वीकार कर लेते है कि लाखो मनुष्य ऐसे ईश्वर के लिए तृषित है कि जिसके अन्दर हृदय अर्थात् दया का भाव हो। रामानुज का मत सत्य के उच्चतम उद्गार को प्रकट करता है यद्यपि शकर का कहना यह है कि यथार्थ सत्ता हमारे विचार की परिधि से महान् तथा गुरुतर है। रामानुज तर्क करते हैं कि हमे यह कल्पना न कर लेनी चाहिए कि धर्म के द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है वह उच्चतम सत्ता नही है।[1] रामानुज जिस प्रकार के ईश्वरवाद का समर्थन करते है उस प्रकार का ईश्वरवाद शकर को भी जीवन तथा धर्म के क्षेत्र मे मान्य है। यह हिन्दू धर्म का विश्वास है चाहे वह वैष्णव, स्मार्त, शैव अथवा शाक्त मत के रूप मे हो। यह आश्चर्य का विषय है कि पश्चिमी विचारक तथा समालोचक इस प्रकट सत्य को दृष्टि से ओझल करके समस्त हिन्दू धर्म को एक अव्यावहारिक भाव-प्रधान एकेश्वरवाद बताकर ससार के समक्ष अन्यथा रूप मे रखने का आग्रह करते रहे।[2] यह ठीक है कि रामानुज द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त किसी भी प्रकार से ईश्वरवाद के अन्य रूपो से हीनतर नही है तो भी आस्तिकवाद के दृष्टिकोण से जो समस्याए स्वभावत उत्पन्न होती हैं, उनसे अछूता वह भी नही है।

विशेष्य और विशेषण के परस्पर सम्बन्ध की कल्पना द्वारा अथवा द्रव्य और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना द्वारा रामानुज केवल एक ही तत्त्व के अस्तित्व

1 तुलना कीजिए, ब्रैडले "वह मनुष्य जो धार्मिक चेतना से अधिक ठोस यथार्थता की माग करता है, यह नही जानता कि वह क्या चाहता है।"

2 हीगल लिखता है "पूर्वीय धर्मों मे पहली माग यह है कि एक और अद्वितीय पदार्थ ही सत्य है और जीवात्मा तब तक न तो अपने अन्दर और न अपने से बाहर किसी सत्य परमार्थ को प्राप्त कर सकता है, जब तक वह अपने को स्वत उस स्वतन्त्र और स्वप्नयोजनीय पदार्थ के विरोध मे मानता है। उसे परमार्थ की प्राप्ति उस पदार्थ के तादात्म्य के द्वारा ही हो सकती है, जिसमे उसके कर्तृत्व तथा ज्ञातृत्व का विलय हो जाता है और वह स्वय अचेतनावस्था मे विलीन हो जाता है।"

की यथार्थता की स्थापना करने का प्रयत्न करते हैं[1] तथा अन्य तत्त्वों को भी उसी एक मे समाविष्ट करते हैं। ब्रह्म के सत्, चित् तथा आनन्दरूपी गुणों के साथ के सम्बन्ध को लेकर रामानुज तर्क उपस्थित करते हैं कि उक्त गुणों का एकत्व अपने-आप में निरपेक्ष एकत्व न होकर उनके अन्तर्निहित समवाय सम्बन्ध का एकत्व है जिसमें द्रव्य तथा गुण का भेद भी विद्यमान है, तथा स्वयं गुणों के अपने अन्दर भी भेद विद्यमान है। ईश्वर समान रूप से सबका आधारभूत अधिष्ठान है जिसमे अनन्त गुण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। यदि रामानुज परम यथार्थ सत्ता को ढूंढ निकालने मे समर्थ तार्किक परिणाम को स्वीकार करते हैं, तो उन्हें इसी परिणाम पर अगत्या पहुंचना होता है। समस्त निर्णय उद्देश्य तथा विधेय अथवा द्रव्य तथा गुण का संश्लेषण मात्र है। किन्तु समस्त निश्चयात्मक घोषणाएं सान्त प्रमेय पदार्थों के विषय में ही प्रतिपादन करती हैं जिनका एकत्व समवाय सम्बन्ध का अतिक्रमण नही करता। और सान्त पदार्थों के ज्ञान में हमें निरपेक्ष एकत्व नही मिलता। उस यथार्थ सत्ता तक पहुंचने के लिए, जहा कि उद्देश्य और विधेय निरपेक्ष हैं, हमें परिवर्तनशील तथा सान्त पदार्थों से युक्त जगत् से ऊपर उठने के लिए बाध्य होना पडता है। और इस प्रकार की *यथार्थ* सत्ता की कल्पना ही समस्त तर्क-सम्मत कार्य-पद्धति का आधार है। एक तार्किक निर्णय मे हम यथार्थ सत्ता के पूर्ण स्वरूप को *निर्णयों की शृंखला के द्वारा प्रतिपादित करने का पूरा प्रयत्न करते हैं।* किन्तु भावात्मक वस्तुओ की एक लडी ही मूल्यवान् यथार्थसत्ता का तब तक ठीक-ठीक प्रतिपादन नही कर सकती, जब तक कि हम यह भी स्वीकार न करें कि परम (निरपेक्ष) यथार्थ सत्ता विचार मे भी *आ सकती है। यही निरपेक्ष निर्णीत सिद्धान्त प्रारम्भ से हमारे मस्तिष्क* मे उपस्थित रहता है कि वह सत्ता तथा विचार एक है।

इस तथ्य से अधिक कि सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप निरपेक्ष तत्त्व एक यथार्थ सत्ता है जिसके अन्दर उक्त सब भेदक गुण निहित हैं, रामानुज हमें यह नही बतलाते कि ठीक-ठीक परिमाण मे उक्त गुण उस निरपेक्ष सत्ता के अन्दर अंगांगी-भाव से सम्बद्ध पाए जाते हैं।

द्रव्य और गुणो[2] मे ब्रह्म तथा जगत् मे एक प्रकार का अभेद सम्बन्ध है, समवाय सम्बन्ध नही, क्योकि समवाय सम्बन्ध एक अन्तर्निहित भेद का द्योतक है।

क्या आत्माओ तथा जगत् का भी ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव है? और यदि ऐसा है तो किन अर्थों मे? विशेषणों अथवा गुणों की निर्भरता नित्य है और उसके वास्तविक स्वरूप से सम्बद्ध है।[3] यह जगत् केवल मात्र विशेषण ही नही है वरन् सर्वोपरि ब्रह्म के स्वरूप से भी इसका सम्बन्ध है। यह यथार्थ सत्ता के आन्तरिक निर्णय का व्यक्त रूप है। जीवात्माओं के विषय मे इस कथन को, कि वे ब्रह्म के साथ-साथ ही नित्य हैं, एक सीमा है। ब्रह्म की अनन्तता इसके निर्माणकर्त्ता अवयवों की निरुपाधिक अनन्तता से संयुक्त है। यदि ब्रह्म और आत्मा दोनों एक साथ नित्य काल से अवस्थित हैं तो उनके मध्य क्या सम्बन्ध है? उनके मध्य नित्य सम्बन्ध, चाहे अनिवार्य हो और चाहे आकस्मिक, एक *प्रकार का ऐसा रहस्य होगा जिसकी व्याख्या न हो सकेगी। ब्रह्म की आत्मा उसकी देह*

1 न्यायसिद्धाजन, पृष्ठ 96

2 द्रव्य और गुणों के सम्बन्ध का भाव असन्तोषप्रद है। यदि दोनों समरूप हैं तो भेद का कुछ अर्थ नहीं; और यदि दोनों परस्पर भिन्न हैं तब सम्बन्ध केवल बाह्यमात्र है। यदि दोनों आन्तरिक रूप से समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं, तो यह सम्बन्ध अपने-आप में दोनों पदों से सम्बद्ध है, इत्यादि-इत्यादि जिसका कोई अन्त नहीं।

3 स्वरूपानुबन्धित्वेन नियतत्वात् (2 : 4, 14)।

से भिन्न है और हम उसे निरुपाधिक आत्मा कह सकते हैं।

रामानुज की योजना मे अनुभूत ज्ञान के सीमित केन्द्र ईश्वर के जीवन मे गतियो के रूप मे परिणत हो गए प्रतीत होते हैं। यदि परमतत्त्व एक निर्दोष व्यक्तित्व है जिसमे समस्त आत्माए तथा जगत् भी सम्मिलित है तो यह जानना कठिन है कि सीमित शक्ति वाली आत्माए अपनी-अपनी चेतनाओ के साथ विशिष्ट अर्थों एव मूल्यो सहित किस प्रकार स्थिर रहती हैं। एक आत्मा दूसरी आत्मा का भाग नही हो सकती। रामानुज का ब्रह्म केवल सर्वोपरि आत्मा न होकर अनादि-अनन्त आत्माओ का एक नित्यस्थायी समाज है। ईश्वर किस प्रकार उसी परम भाव से जीवात्मा को अपने अन्दर तथा बाहर धारण कर सकता है ? हम उस ईश्वर तथा निम्नतम श्रेणी की आत्माओ मे जो अपने अस्तित्व को उसी से प्राप्त करती है, भेद कर सकते है क्योकि परमतत्त्व उस समस्त प्राणिजगत् को, जिसके विषय मे हम सोच सकते हैं, अपने अन्दर समाविष्ट किए हुए हैं। ईश्वर, आत्माए तथा प्रकृति परमतत्त्व हैं, केवल ईश्वर ही नही। तो भी रामानुज केवल ईश्वर को ही परमतत्त्व मानते है जिसके अतिरिक्त और जिसके परे और कुछ नहीं है जब वे अपने दर्शन के एकेश्वरवादी रूप के ऊपर बल देते है तो यह प्रतिपादन करते है कि सर्वोपरि यथार्थ सत्ता के अन्दर आत्मचेतना तथा प्रकृति और आत्माए उस श्रेष्ठतम आत्मा के जीवन मे केवल क्षणमात्र हैं। जब उन्हे जीवात्मा के स्वातन्त्र्य को अक्षुण्ण बनाए रखने की चिन्ता होती है तो वे इस प्रकार तर्क करते हैं कि समस्त जीवात्मा चेतनता के केन्द्र है और ज्ञानवान् प्रमाता है जिनमे आत्मचेतना विद्यमान है यद्यपि उनके आत्मत्व का उद्गमस्थान ईश्वर ही है।

आत्माओ तथा प्रकृति से युक्त इस विश्व ब्रह्माण्ड का उपादान तथा निमित्त कारण ब्रह्म है। परिवर्तनो का सम्बन्ध ईश्वर की देह से है किन्तु देही आत्मा निर्विकार रहती है।[1] "उस उच्चतम आत्मा से भिन्न प्रत्येक पदार्थ चेतन हो अथवा जड, उसकी देह है किन्तु केवल आत्मा ही एकमात्र निरुपाधिक शरीरधारी आत्मा है।"[2] ईश्वर की देह उपादन कारण है और आत्मा नैमित्तिक कारण है, और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईश्वर इस जगत् का उपादन तथा नैमित्तिक दोनो ही प्रकार का कारण है। इस भेद को स्वीकार करना ही चाहिए क्योकि रामानुज का विश्वास है देह के परिवर्तन ईश्वर की आत्मा पर अपना कोई असर नही रखते, ठीक वैसे ही जैसे कि जीव के देह-परिवर्तन का जीव के सारतत्त्व पर कोई असर नही पडता। तो फिर ईश्वर का वह सारतत्त्व कौन-सा है जो निर्विकार बना रहता है। क्या सूक्ष्म अवस्था मे जैसे कि प्रलय मे, अथवा स्थूल अवस्था मे जैसे कि सृष्टि मे, अथवा एक जीवधारी की अवस्था मे, यद्यपि अपूर्ण अवस्था मे नही, जैसे कि मोक्ष की अवस्था मे, ईश्वर का सारतत्त्व जगत् के सारतत्त्व से भिन्न है ? ईश्वर की नित्य विभूति से भी इसे पृथक् करना आवश्यक है। यदि हम सत्, चित् तथा आनन्द रूपी गुणो को पृथक् कर दें तो परमसत्ता के स्वरूप को समझना कठिन होगा; क्योकि अन्ततोगत्वा यही तो एकमात्र गुण हैं। तो भी यदि उक्त गुण ही ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का निर्माण करते हैं तो उनके अन्दर परिवर्तन की प्रक्रिया भी उसके स्वरूप पर प्रभाव रखेगी। क्या इस सबका यह अर्थ नही होता कि ईश्वर निरपेक्ष यथार्थता नही है किन्तु स्वय भी निर्माण की अवस्था मे है ? अन्त मे जाकर इस प्रकार का भेद भी, कि ईश्वर की आत्मा निमित्त कारण और उसकी देह उपादान कारण है,

1 तत्त्वमुक्ताकलाप, 3 : 25।

2 स्वव्यतिरिक्त चेतनाचेतनवस्तुजात स्वशरीरम् इति, स एव निरुपाधिक शारीर आत्मा (1 · 1, 13)।

ठहर नहीं सकता। यह नहीं हो सकता कि एक मुर्गी के आधे भाग को तो हम पकाने के लिए ले लें और शेष आधे भाग को अण्डे देने के लिए छोड़ दें।[1]

समस्त एकेश्वरवाद के समक्ष सान्त का अनन्त के साथ सम्बन्ध एक समस्या है। सान्त यथार्थ सत्ताओं की व्यवस्था स्वयं में अनन्त नहीं हो सकती। सान्त के ऊपर भी कुछ होना चाहिए। रामानुज जगत् के समस्त रूपों को विचार तथा प्रकृति के दो विभागों के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। और उनका कहना है कि दोनों एक-दूसरे के प्रति सर्वथा अनुकूल हैं और इस प्रकार इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि ईश्वर ही समस्त जगत् की प्रक्रिया का सचालन करता है। तर्कशास्त्र इसको प्रस्तुत करता है, धार्मिक चेतना इसका समर्थन करती है और इस प्रकार हममें से अधिकांश इसे स्वीकार करते हैं। किन्तु यह समस्या का समाधान नहीं है। यह कहा जा सकता है कि समस्त *व्याख्या यथार्थता* के अन्दर है और उसकी व्याख्या नहीं है। हम यह कभी नहीं कह सकते कि यथार्थ सत्ता जैसी है, वैसी क्यों है। किन्तु यथार्थ सत्ता के अन्दर भी सम्बन्धों का निर्णय तर्क के द्वारा नहीं होता। सान्त यदि विचार तथा प्रकृति के साथ समीकृत है तो इस प्रकार के परस्पर-विरोधी अंश उसी एक यथार्थता के नहीं हो सकते। या तो सम्पूर्ण इकाई के एकत्व में अथवा गुणों के भेदों में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। रामानुज ने किया यह कि उन्होंने दोनों को एक परम सत्ता के अन्दर संयुक्त कर दिया जो एक स्थूल ऐन्द्रिक पूर्ण इकाई है जिसके सब भाग तथा अंश एक सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के अन्दर तथा उसके द्वारा स्थित हैं, और जो स्वयं शरीर रूप से उनके अन्दर अवस्थित है। शंकर के सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्ति यह है कि वे निरपेक्ष परम सत्ता को इतनी ऊंचाई पर पहुंचा देते हैं कि नीचे के मनुष्य समाज तक पहुंचने के लिए कोई मार्ग नहीं रहता। रामानुज का आशय हमारे समक्ष एक अधिक सन्तोषजनक एकत्व रखने का है जो न तो *सारूप्य* है और न ही अवयवों का पुञ्ज है, वरन् समस्त भेदों तथा सम्बन्धों को समाविष्ट किए हुए है। प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रकार का एक निरपेक्ष जीवन केवलमात्र निरंकुश कल्पना है जिसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता। हम शब्दों को जोड़कर एक युक्ति-संगत कथन अवश्य कर सकते हैं किन्तु तदनुकूल कोई यथार्थ सत्ता है भी, यह संशयास्पद है। यदि निरपेक्ष सत्ता को अतीन्द्रिय तथा निर्विकार रूप में कल्पना की जाए तब यह समस्या उपस्थित होती है कि इस प्रकार का निरपेक्ष, जिसका कोई इतिहास नहीं मिलता, कैसे काल की प्रक्रिया तथा जगत् के विकास को अपने अन्दर निहित रखता है? इसलिए जब तक रामानुज निरपेक्ष सत्ता की निर्विकार पूर्णता की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं कर देते और उसके स्थान में निरन्तर परिवर्तित होती हुई प्रक्रिया को नहीं रखते जो एक प्रगतिशील पूर्णता है तब तक वे हमारे समक्ष इसकी कोई भी सन्तोषजनक व्याख्या नहीं प्रस्तुत कर सकते कि निरपेक्ष की आत्मा का उसकी देह के साथ क्या सम्बन्ध है।

और फिर प्रकृति का संगठन तथा आत्माओं का क्षेत्र किस प्रकार एकत्व में संयुक्त हैं? जगत् की एकता को तथा व्यक्तियों के परस्पर भेद को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना ठीक है किन्तु *यदि हमारे दुःख तथा संघर्ष, पाप और त्रुटियां निरपेक्ष के* आन्तरिक भाग हैं और उस दैवीय मस्तिष्क में उसकी प्रशान्त तथा मंगलदायक चेतना के स्पष्ट घटकों के रूप में अनादि काल से उपस्थित हैं, तो क्या आत्माएं ईश्वर के मस्तिष्क में केवल निश्चित तथा स्थायी तत्त्व नहीं हैं? दूसरी ओर यदि हम पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं तो ईश्वर भी हमसे पृथक् अवश्य होगा। केवलमात्र इस तथ्य के कारण कि

1. ब्रह्मसूत्र पर आनन्दगिरि का भाष्य, 1 : 2, 8।

हम सबका जीवन एक समान है, व्यक्तित्व मे न्यूनता नही आती।[1] रामानुज आत्मा तथा शरीर के दृष्टान्त का प्रयोग यह सगत करने के लिए करते हैं कि शरीर अपने अन्दर अवस्थित आत्मा के विना नही रह सकता। जब आत्मा चली जाती है तो शरीर नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त शरीर का अस्तित्व केवलमात्र आत्मा को सुख व दु ख का अनुभव कराने के लिए है। शरीर का लक्ष्य आत्मा है किन्तु यदि इस दृष्टान्त के ऊपर अधिक वल दिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि ईश्वर ही सव कुछ है तथा आत्माए और शरीर केवल ईश्वर की प्रसन्नता के साधन मात्र है। हीगल के समान, कुछ विचारको का द्रव्यवाचक सर्वव्यापी एक ऐसा शब्द है जो समस्या का समाधान तो नही करता किन्तु उसे फिर से दोहरा देता है। उनकी दृष्टि मे दर्शन ज्ञान एक सम्पूर्ण इकाई मे निरपेक्ष की नित्यपूर्णता तथा जगत् की अनन्त प्रक्रिया को परस्पर सम्बन्धित कर देता है।

रामानुज को जीवात्माओ की स्थायी तथा स्वतन्त्र यथार्थता को सुरक्षित-स्थिर रखने की चिन्ता है और इसलिए वे बलपूर्वक ऐसे मत का विरोध करते है, जो व्यक्तित्व का केवल एक भ्रामक प्रतीतिमात्र के रूप मे निदर्शन करता है। एक ही यथार्थ सत्ता के अन्दर जिसे हम निरपेक्ष कह सकते है ईश्वर, जीवात्मा तथा जड प्रकृति मे परस्पर भेद किया गया है।[2] जीवात्मा सर्वोपरि शक्ति है क्योकि सव पदार्थ ईश्वर की देह का निर्माण करते हैं।[3] रामानुज जिसे जीवात्मा मान लेते हैं वह आनुभविक अह है जो एक सान्त सत्ता है और जिसके पूर्व तथा पश्चात् दोनो हैं। ऐसा आग्रहपूर्वक कथन करना कि समस्त ज्ञान के अन्दर ज्ञाता (प्रमाता) तथा ज्ञेय (प्रमेय विषय) का भेद समाविष्ट रहता है अधिक सगत न होगा। क्योकि यह भेद सापेक्ष है। देखने की क्रिया मे दर्शनीय स्थान को हम दृष्टि का विषय तथा आख को द्रष्टा अथवा ज्ञाता मानकर दोनो मे भेद करते है। इसी प्रकार चेतनायुक्त अनुभव मे हम इस चेतना के विषय को इसकी आकृति से पृथक् करके चेतना को ज्ञाता तथा उसके विषय को ज्ञेय पदार्थ कहते हैं, यद्यपि वस्तुत ये दोनो उस एक ही जगत् के साथ सम्बद्ध है। जिसे रामानुज ज्ञाता (प्रमाता) कहते हैं वह यथार्थ मे ज्ञाता के रूप मे विचार मे नही आता किन्तु ऐसा ज्ञाता है जो अपने आप मे इस जगत् के अनुभव मे आने वाले अनेक विषयो मे से एक है।[4]

रामानुज का कहना है कि शरीर-सम्वन्धी परिवर्तनो से आत्मा मे कोई विकार नही आता।[5] यह स्वभावत: निर्मल और निर्विकार है। भौतिकता की कृष्णवर्ण छायाए केवलमात्र इसकी उज्ज्वलता को आवृत करती हैं किन्तु इसके उक्त गुण का नाश नही करती। भौतिक रूप केवल आकस्मिक है, जिसे दूर किया जा सकता है। यह भौतिक रूप

1 ब्रैडले कहता है कि "यदि हम व्यक्ति रूप मनुष्यो, तुम्हे और अपने को यथार्थ मान लें और इनमे से प्रत्येक अपने अधिकार मे है तो ईश्वर के लिए यह कहना कि वह धार्मिक चेतना मे यथार्थ है, निरर्थक है" ('ट्रुथ एण्ड रियलिटी' पृष्ठ, 434 35)।

2 इसके साथ रैशदल के मत की तुलना कीजिए ('थियरी ऑफ गुड एण्ड ईविल,' खण्ड 2, पृष्ठ 238 और आगे)।

3 सर्वात्मत्वात् प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मा परमात्मा।

4 तुलना कीजिए, बैंटाइल "यदि फिर हम मन की अतीन्द्रिय क्रिया के तत्त्व को जान लें तो हम इसे दर्शक और दृश्य के रूप मे प्रस्तुत नही करेंगे, अर्थात् मन ज्ञान का विषय और ज्ञाता एक वाह्य दर्शक। जब चेतना भी चेतना का विषय है तो वह चेतना नही रहती। नही अर्थो मे यह ज्ञाता नही अपितु ज्ञेय पदार्थ है अह भी नही है, प्रत्युत अनह है।" ('थियरी आफ माइड ऐज प्योर ऐक्ट,' अग्रेजी-अनुवाद, पृष्ठ 6)।

5 स्वशरीरगतबालत्वयुवत्वस्थविरत्वादयो धर्मा· जीव न स्पृशन्ति (1 : 1, 13)।

पाप की उपज है किन्तु निर्मल आत्मा पाप नहीं कर सकती। इस प्रकार पाप बिना शरीरधारी आत्मा के सम्भव नहीं हो सकता और बिना पाप के शरीरधारी जीवात्मा नहीं हो सकता। अन्य हिन्दू विचारकों के अनुसार, रामानुज भी अनादि संसार की कल्पना द्वारा इस कठिनाई से छुटकारा पा लेते हैं। किन्तु इसमें आत्मा की विशुद्ध धार्मिकता आ जाती है। पाप तथा दण्ड दोनों ही का सम्बन्ध पदार्थ विषयक शृंखला से है और उस विशुद्ध ज्ञाता का इससे कोई मतलब नहीं जो पाप नहीं कर सकता; किन्तु यदि आत्मा पाप कर सकती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसका सम्बन्ध प्रकृति के साथ पहले से ही है और यह विशुद्ध आत्मा न होकर ससारी अहं है। यदि यह कहा जाता है कि विश्व रूप शृंखला अनादि है तो हमारे पास विशुद्ध आत्मा एक ओर है और दूसरी ओर ज्ञेय विषय है और दोनों ही निरपेक्ष अस्तित्व रखते हैं क्योंकि अपने से अतिरिक्त उनकी कोई व्याख्या हमें नहीं मिलती। आत्मा अपने-आप में निर्मल है, शरीर इससे चिपका रहता है। यह किस प्रकार होता है ?

आत्मा का ज्ञान के साथ क्या सम्बन्ध है ? ये परस्पर भिन्न हैं या एक हैं ? यदि भिन्न हैं तो शरीर में किसी स्थान विशेष पर सुख अथवा दुःख का अनुभव ज्ञान को होगा, आत्मा को नहीं और इस प्रकार आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव न हो सकेगा। हम यह नहीं कह सकते कि ज्ञान आत्मा का व्यापार है, क्योंकि तब इसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। किन्तु रामानुज के मत में ज्ञान नित्य तथा स्वतंत्र है किन्तु उत्पन्न वस्तु नहीं है। यदि आत्मा और ज्ञान एक है तब आत्मा भी विस्तार तथा संकोच के अधीन हो जाएगी। किन्तु आणविक आत्मा न फैलती है न सिकुड़ती है। आत्मा, जो स्वयं चेतनता से बनी हुई है,[1] और ज्ञान का सम्बन्ध स्पष्ट रूप में नहीं समझा जा सकता। आत्मा चेतनता से ओत-प्रोत है और चेतनता इसका गुण भी है।[2] "ज्ञान जानने वाले प्रमाता (ज्ञाता) से भिन्न है जिसका यह गुण है जिस प्रकार गन्ध, जो पृथ्वी का गुण है, पृथ्वी से भिन्न है।"[3] किन्तु रामानुज स्वीकार करते हैं कि प्रगाढ़ निद्रा में चेतना रहती है यद्यपि यह विषयरूप पदार्थों से सम्बद्ध नहीं रहती।[4] आत्मा का स्वरूप ज्ञान इतना नहीं है जितना कि विशुद्ध चेतनता है जो बराबर विषयों से सम्बन्ध रखती है।

जीव का सम्बन्ध जो ब्रह्म के साथ है उसमें भी कठिन समस्याएं उपस्थित होती हैं। रामानुज का कहना है : सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ने अनेक होने का निश्चय किया। उसके पश्चात् उसने सारे जगत् का आविर्भाव किया जिसमें अग्नि, जल आदि समवेत थे, और इस प्रकार आविर्भूत जगत् में चेतन जीव वर्ग के समस्त पुंज को प्रविष्ट करके उनके अन्दर भिन्न-भिन्न दैवीय तथा मानवीय आदि शरीरों का जो प्रत्येक जीवात्मा के गुणावगुण के अनुरूप हो, निर्माण किया और अन्त में अपनी इच्छा के अनुसार उक्त आत्माओं के अन्दर प्रविष्ट होकर, जिससे कि उनका जीवान्तरात्मा बन सके, उक्त सब पुञ्जों में नाम व रूप का विकास किया, अर्थात् प्रत्येक पुञ्ज को एक सारवान् रूप दे दिया जिससे कि उसे किसी एक विशेष शब्द के द्वारा प्रकट किया जा सके।[5] इस प्रकार जीव सम्पूर्ण यथार्थता का एक प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक जीव में (1) अन्तर्यामी ब्रह्म, अर्थात् वह प्रकाश जो प्रत्येक जीवित सत्ता को प्रकाश देता है, (2) आत्मा जो विश्व का ज्ञाता

1 विज्ञानमयो हि जीवो न बुद्धिमात्रम् (1 : 1, 13)।
2 2 : 3, 29।
3 2 . 3, 27।
4. ज्ञानस्य विषयगोचरत्वं जागर्यादावुपलभ्यते (2 ; 3, 31)।
5. 1 · 1, 13।

है, और (3) जड साधन, जिनके द्वारा आत्मा कर्म करता है, ये सब विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक जीवात्मा एकत्व के अन्दर द्वैत प्रतीत होता है, वैसे ही जैसे कि ब्रह्म है।[1] ब्रह्म मूल वस्तु है और जीवात्मा उसका प्रतिरूप है क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूर्णता की सान्त तथा भौतिक रूपरेखाओं को धारण किए हुए है। इसके अतिरिक्त, जब आत्मा शरीर का परित्याग करके मोक्ष की अवस्था में प्रविष्ट होती है तो यह जीवन की विशुद्ध विषयवस्तु रूप हो गई प्रतीत होती है। इसका ईश्वर से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता क्योंकि दैवीय जीवन की धाराएं इसके अन्दर होकर प्रवाहित होती हैं। क्या इन जीवात्माओं का परस्पर एक दूसरे पर अतिछादन तो नहीं होता? यदि नहीं तो वह क्या वस्तु है जिससे इनमें परस्पर यह लक्षित होता है? क्या वे अपने तात्त्विक रूप में द्रव्य है या केवल निरपेक्षता के अन्दर गुणमात्र है? रामानुज का दृढ मत है कि इनमें से प्रत्येक आत्मा में प्रधानता है और ऐसे अनुभव है जिनके द्वारा यह एक एकत्व का संगठन करती हैं किन्तु एतत्सम्बन्धी तर्क कुछ निर्बल प्रतीत होता है।

जीवात्मा के सम्बन्ध में रामानुज का जो विचार है वह हमें द्रव्य सम्बन्धी पाण्डित्य प्रदर्शक कल्पना का स्मरण कराता है जिसके ऊपर काण्ट ने अपने 'रेफ्युटेशन ऑफ रैशनल साइकोलॉजी' नामक ग्रंथ में तथा शंकर ने ब्रह्मसूत्रों पर किए गए अपने भाष्य में आक्षेप किए हैं। रामानुज के अनुसार जीवात्मा एक शाश्वत रूप में रहने वाली सत्ता है और वह नित्य है किन्तु शंकर का मत है कि शाश्वत स्वयम्भू सत्ता केवल आत्मा ही है। रामानुज के मत को मानने से आत्मा के एक समान सार तत्त्व तथा निरन्तर विकास के मध्यवर्ती सम्बन्ध को जानना कठिन है। जैसा कि हीगल के दर्शन में है, हमें यहां प्रक्रिया की एक समानता मिलती है, ऐसी समानता जो भेद में भी स्थिर रहती है। यदि एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने पर, अथवा सामयिक चेतना के विराम से, जीवात्मा की समानता पर कोई असर नहीं होता तो इससे परिणाम यह निकलता है कि शारीरिक सम्बन्ध, स्मृति एवं चेतना आत्मा के स्वरूप के मौलिक सिद्धान्त नहीं हैं। हम नहीं समझ सकते कि आत्मा का स्थिर तथा अपरिवर्तनशील स्वरूप क्या है जिसके लिए सब ज्ञात अनुभव असंगत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक भावात्मक अमूर्त स्वयम्भू व्यक्तिवाद पर आ पहुंचे हैं जहां निजी समानता, चेतना की निरन्तरता, अतीति और पूर्वसत्ता आदि शब्द कोई अर्थ नहीं रखते। भावात्मक मूलभूत स्वयम्भू को चेतन तथा अनुभवी आत्मा से कुछ सरोकार नहीं है। इस प्रकार का मत रखना कि सरल तथा वर्णविहीन इकाई जिसे आत्मा कहा जाता है, प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अलग-अलग है केवल एक कल्पना मात्र है। हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर एक मूलभूत आत्मा का निवास है जिसका प्रगतिशील विकास के साथ सम्बन्ध है।

शंकर और रामानुज दोनों ही वेदान्त के प्रकाण्ड विचारक हुए हैं और प्रत्येक के सर्वोत्कृष्ट गुण दूसरे के लिए दोष हैं। शंकर का प्रकट रूप में शुष्क तर्क उनके दर्शन को धार्मिक दृष्टि से अनाकर्षक बनाता है। रामानुज द्वारा प्रतिपादित परलोक की सुन्दर गाथाएं, जिनका वर्णन वे एक ऐसे व्यक्ति के विश्वास के साथ करते हैं जिसने सृष्टि की उत्पत्ति में व्यक्तिरूप से सहायता की हो, सर्वथा अविश्वास के योग्य हैं। शंकर की उच्छेदकारी आन्वीक्षिकी विद्या, जो कि ईश्वर मनुष्य तथा जगत् आदि सबका आदि-कारण एक ही परमचेतना को बतलाती है रामानुज के अनुयायियों को बिलकुल निरुत्तर

1 अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मा (I 1, 13)।

कर देती है। शंकर के अनुयायी अपने गुरु से भी आगे बढ़ जाते हैं और उनके सिद्धांत को आपत्तिजनक रूप में अनीश्वरवाद सम्बन्धी भ्रष्ट बुद्धि की सीमा तक पहुंचा देते हैं। रामानुज के अनुयायी भी उसी सात्त्विक आश्वासन के साथ दैवीय मस्तिष्क के न्यायालयों के मार्ग से आगे बढ़ते हैं, जैसे कि मिल्टन स्वर्ग के विशाल प्रासादों से होकर आगे बढ़ता है; तो भी रामानुज में धार्मिक क्षेत्र में एक महान् प्रतिभा थी। उनके मस्तिष्क से नाना-विध स्रोतों से यथा उपनिषदों और आगमों से पुराणों तथा प्रबन्धों से अपूर्व विचार स्वत: प्रवाहित होते थे और उसके अन्दर अपनी निजी धार्मिक वृत्ति के कारण उक्त विचारों को उचित स्थान मिलता था। उक्त विचारों के समस्त भिन्न-भिन्न अवयव अनिर्वचनीय धार्मिक अनुभव में समाहित पाए जाते हैं। रामानुज में दार्शनिक भाव तो प्रबल था ही किन्तु धार्मिक आकांक्षाएं भी उतनी ही प्रबल थीं। उन्होंने धार्मिक भावनाओं की मांग का तार्किक विचार पद्धति के साथ समन्वय करने का पूरा प्रयत्न किया है। यदि उन्हें एक क्रमबद्ध तथा अपने-आप में पूर्ण धार्मिक दर्शन-पद्धति को हमारे समक्ष रखने में सफलता नहीं मिली तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। उनकी गम्भीर तत्परता तथा ठोस तर्क, जिनके आधार पर उन्होंने समस्या को समझा और धर्म तथा दर्शन के बीच प्रकट रूप में जो विस्तृत खाई देखी जाती है, उसे पाटने का पूरा प्रयत्न किया, वह अलौकिक है। एक दुर्बल बुद्धि, जिसके साथ आत्मा की गम्भीरता नहीं है, ईश्वर के विधि-विधान की ओर से आंखें मीच सकती है और समस्या का एक प्रतीयमान सरल समाधान भी दे सकती है। किन्तु रामानुज में वह बात नहीं है। उन्होंने हमारे समक्ष एकेश्वरवाद का एक सर्वोत्तम नमूना रखा है जिसे बुद्धि ग्रहण करती है तथा जिसमें सर्वान्तर्यामिता का भी पुट दिया गया है।[1]

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य : थिबौत-कृत अंग्रेजी-अनुवाद, 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' 48।

ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य : रंगाचार्य-कृत अंग्रेजी-अनुवाद।

भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य : गोविन्दाचार्य-कृत अंग्रेजी-अनुवाद।

यतीन्द्रमतदीपिका : गोविन्दाचार्य कृत अंग्रेजी-अनुवाद।

सर्वदर्शनसंग्रह, अध्याय 4।

1. शंकर का सगुण ब्रह्म तथा ब्रह्म लोक, रामानुज के विष्णु और वैकुण्ठ के समान है। शंकर इस विषय पर बल देते हैं कि ये विचार यद्यपि उपलब्ध विचारों में सबसे श्रेष्ठ हैं, परन्तु स्वयं में श्रेष्ठतम नहीं हैं। जहां तक जीवन का सम्बन्ध है, इस प्रकार के प्रतिबन्ध से कुछ अधिक अन्तर नहीं आता है।

शैव, शाक्त तथा परवर्ती वैष्णव ईश्वरवाद

शैव सिद्धान्त—साहित्य—सिद्धान्त—प्रत्यभिज्ञा दर्शन—शाक्त सम्प्रदाय—मध्वाचार्य—जीवन तथा साहित्य—ज्ञान का सिद्धान्त—ईश्वर—जीवात्मा—प्राकृतिक जगत्—ईश्वर और जगत्—नीतिशास्त्र और धर्म—समीक्षात्मक विचार—निम्बार्क—वल्लभ—चैतन्य का आन्दोलन।

1. शैव सिद्धान्त

प्रारम्भ से ही वैष्णव मत का सबसे मुख्य प्रतिद्वन्द्वी शैव मत रहा है,[1] जो कि आज भी दक्षिण भारत में एक अत्यन्त प्रचलित मत है। वैसे तो यह दक्षिण भारत में ईस्वी सन् के पूर्व से ही प्रचलित था, किन्तु इसे बौद्ध तथा जैन मत का विरोधी होने के कारण अधिक बल प्राप्त हुआ, जिसको उसने वैष्णव मत के साथ मिलकर ईसा के पश्चात् की पांचवीं अथवा छठी शताब्दी में दबा दिया। लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में इसने शैव-सिद्धान्त के नाम से एक विशिष्ट दर्शन को परिष्कृत रूप दिया। डाक्टर पोप ने, जिन्होंने इस दर्शन पर बहुत अधिक विचार किया, इसे "अत्यन्त परिष्कृत, प्रभावशाली और निःसन्देह भारत के समस्त धार्मिक सम्प्रदायों में सबसे अधिक आन्तरिक रूप में मूल्यवान् पाया।"[2] यद्यपि यह ठीक है कि शैव सिद्धान्त तथा काश्मीर के शैव मत में अद्भुत समानताएं हैं तो भी हम नहीं कह सकते कि शैव सिद्धान्त का साधारण संगठन अथवा महत्त्वपूर्ण मन्तव्य काश्मीर के शैवमत से लिया गया है। सबसे प्राचीन तमिल ग्रन्थ, जैसे 'तोलकाप्पियम' उन अरिवारों अथवा ऋषियों का उल्लेख करते हैं जिन्होंने मोक्ष तथा परमानन्द के मार्ग का निर्देशन किया। इन ऋषियों को ब्राह्मणग्रंथों, महाभारत और श्वेताश्वतर उपनिषदों के[3] रुद्र तथा रुद्रशिव सम्प्रदाय के वैदिक विचार ने प्रभावित किया। इनके अतिरिक्त अट्ठाईस शैव आगम, विशेषकर वे भाग जो ज्ञान के विषय का प्रतिपादन करते हैं, शैव सन्तों की छन्दोबद्ध वाणियां तथा अर्वाचीन अध्यात्मवादियों के ग्रन्थ दक्षिणी शैव मत के मुख्य स्रोत हैं।

2. साहित्य

अट्ठाईस आगमों को मान्यता प्राप्त है[4] जिनमें से मुख्य है कामिक, जिसमें

1 माधव ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में शैव मत के चार सम्प्रदायों का उल्लेख है . नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर। उनमें से अन्तिम दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रथम सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्तों के लिए देखें, 'भारतीय दर्शन' खण्ड 1, पृष्ठ 399 400।

2 तिरुवाचगम पृष्ठ 74।

3 देखें भारतीय दर्शन' खण्ड 1, पृष्ठ 70, 399-400, 417 और आगे।

4 कांजीवरम् के कैलासनाथ मन्दिर में हमें अट्ठाईस शैवागमों का सबसे प्राचीन शिलालेख मिलता है, जिसमें पल्लव राजा राजसिंह वर्मन ने अपने धार्मिक विश्वास का वर्णन किया है और यह पांचवीं शताब्दी (ईसा के पश्चात्) के अन्त का बना कहा जाता है।

वह विभाग भी आ जाता है जो ज्ञान के विषय का प्रतिपादन करता है। इसे मृगेन्द्र आगम का नाम दिया गया है। तमिल सन्तों यथा माणिक्कवासगर (सातवीं शताब्दी) और सुन्दरार ने इनका उल्लेख किया है। शैव मत के भक्तिपरक साहित्य[1] का निर्माणकाल पाचवीं से नवीं शताब्दी तक है। शैव मंत्रों को, जिनका संकलन नम्बी आण्डर नम्बी (1000 ईस्वी) द्वारा किया गया है, सामूहिक रूप से तिरुमुराई कहा जाता है। पहले भाग में, जिसे 'देवारम' नाम दिया गया है, संबंदर, अप्पर और सुन्दरार के निर्मित छन्द हैं। अन्यों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है माणिक्कवासगर का 'तिरुवासगम'। सेक्करार के पेरिया-पुराण मे (जिसका निर्माणकाल ग्यारहवीं शताब्दी है), जिसमें तिरेसठ शैव-सन्तों का चरित्र वर्णित है, कुछ महत्त्वपूर्ण विचार सामग्री सन्निहित है। मेकण्डेर का शिवज्ञानबोधम् (तेरहवीं शताब्दी), जिसे रौरव आगम के बारह श्लोकों का विस्तृत रूप माना जाता है, शैव सिद्धान्त के विचारो का आदर्श भाष्य है। अरुलनन्दी शिवाचार्य, जो मेकण्डेर के उन्नीस शिष्यों मे सर्वप्रथम था, 'शिवज्ञानसिद्धियार' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का रचयिता है। 'उमापति' के ग्रन्थो मे (चौदहवीं शताब्दी) शिवप्रकाशम और तिरुअरुलपयन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। शैवसिद्धान्त वेदो तथा आगमो की दो प्रकार की परम्परा के आधार पर स्थित है[2] और इन दोनो के क्रमबद्ध समन्वय का कार्य नीलकण्ठ[3] (चौदहवीं शताब्दी) ने किया। उसने ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक भाष्य लिखा और उक्त ग्रंथ की व्याख्या शैव पद्धति के आधार पर की। वह सामान्य रूप से रामानुज के दृष्टि-कोण को स्वीकार करता है और एक ओर ईश्वर के निरपेक्ष एकात्मभाव तथा नितान्त भेद एवं दूसरी ओर आत्माओं तथा जगत् के एकात्मभाव एवं नितान्त भेद का विरोध करता है।[4] शिव सर्वोपरि है और अम्बा उसकी पत्नी है एवं चेतन और जड़ वस्तुएं उसके शरीर हैं। अप्पय दीक्षित का शिवार्कमणि दीपिका नामक भाष्य भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

3. सिद्धान्त

सर्वोपरि यथार्थ सत्ता को शिव कहा गया है, और वह अनादि, अजन्मा, सर्वथा निर्दोष,

1 "संसार के अन्य किसी भी मत ने इससे अधिक मूल्यवान् भक्ति-प्रधान साहित्य उत्पन्न नहीं किया तथा उज्ज्वल कल्पनाशक्ति का सहज मनोभाव एवं भावुकता के उत्साह और कथन की ऐसी भव्यता अन्यत्र नहीं देखी गई" (बारनेट : 'दि हार्ट आफ इण्डिया', पृष्ठ 82)।

2 तिरुमूलर, सिद्धान्तदीपिका, नवम्बर 1911, पृष्ठ 205 पर उद्धृत। शिवज्ञानसिद्धियार कहता है : "वेद और शैवागम ही एकमात्र यथार्थ पुस्तकें हैं।...इनमें से वेद सामान्य हैं और सबके लिए खुले हैं। आगम विशिष्ट हैं और उनका प्रकाश सौभाग्यशाली व्यक्तियों के लिए हुआ है तथा उनमें वेद और वेदान्त के सारभूत सत्य निहित हैं। दोनों ही ईश्वर द्वारा प्रदत्त कहे जाते हैं।" (1 46)। तुलना कीजिए, नीलकण्ठ : वयं तु वेदशिवागमयोः भेदं न पश्यामः। (ब्रह्ममीमांसा, पृष्ठ 156)।

3 देखें, नीलकण्ठ, 1 : 1, 3।

4 कितने ही प्रमुख वाक्य केवल रामानुज के भाष्य की प्रतिध्वनिमात्र हैं। उदाहरणार्थ तुलना कीजिए—सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कारणम्, स्थूलचिदचिद्विशिष्टं तत् कार्यं भवति (1 : 1, 2)। किंतु देखें, अप्पयदीक्षित कृत आनन्दलहरी।

सब कार्यों का कर्ता और सर्वज्ञ है जो जीवात्माओ को उन बन्धनो से मुक्ति दिलाता है जो उन्हे जकडे हुए हैं। सच्चिदानन्द के सूत्र की व्याख्या मे आठ गुण उपलक्षित हैं, अर्थात् स्वयम्भूत्व, अनिवार्य निर्मलता, अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी ज्ञान, अनन्त बुद्धि, सब बन्धनो से स्वातन्त्र्य, अनन्त दया अथवा प्रेम, सर्वशक्तिमत्ता तथा असीम आनन्द। ईश्वर की सत्ता के कुछ प्रमाण दिए गए हैं। ससार मे निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इसका उपादान कारण प्रकृति मिट्टी के समान जड है और स्वय जगत् के रूप मे परिणत नही हो सकती। यह विकास तत्त्वो के कारण से नही है क्योकि तत्त्व ज्ञान से शून्य हैं। कर्म भी उन्हीके समान अनुपयोगी हैं। मेकण्डर के अनुसार काल अपरिवर्तनशील है यद्यपि देखने वाले को यह परिवर्तित होता प्रतीत होता है।[1] सस्मत क्रिया की यह एक उपाधि है किन्तु अपने-आप मे सक्रिय कर्त्ता नही है। किन्तु यदि ईश्वर प्रत्यक्ष रूप मे कारण है तो उसकी स्वतन्त्रता और पूर्णता मे सम्भव है बाधा उपस्थित होगी। इसीलिए कहा जाता है कि ईश्वर अपनी शक्ति के द्वारा व्यापार करता है और वह शक्ति उसका साधन रूप कारण है। कर्म सिद्धान्त मनुष्य के धार्मिक लक्ष्यो के अनुसार कार्य करता है। यह उद्देश्यो का निर्माण नही करता और न ही अच्छाई व बुराई मे भेद करता है। इनका निर्णय एक अनन्त आत्मा के द्वारा होता है जो अपनी शक्ति की सहायता से इस विषय का भी ध्यान रखती है कि आत्माओ को अपना उचित फल (पुरस्कार) मिले। जिस प्रकार कुम्हार घडे का स्रष्टा है, डण्डा व चक्र उसके साधन रूप कारण हैं, और मिट्टी उसका उपादान कारण है इसी प्रकार शिव ससार का स्रष्टा है, शक्ति साधन रूप कारण है और माया उपादान कारण है। जिस प्रकार शब्द राग के समस्त स्वरो मे व्यापक रूप से रहता है, अथवा सुगन्ध फूल मे समाई रहती है, इसी प्रकार ईश्वर अपनी शक्ति के द्वारा समस्त ससार मे इतनी पूर्णता के साथ व्याप्त रहता है कि यह ससार मे पृथक् प्रतीत नही होता। ईश्वर आत्मा है और प्राकृतिक विश्व तथा मनुष्य उसके शरीर है। ईश्वर और ये एक समान नही हैं यद्यपि ईश्वर इनके अन्दर निवास करता तथा ये ईश्वर मे निवास करते है। अद्वैतवाद से तात्पर्य एकत्व नही है, अपितु उसका तात्पर्य यह है कि उन्हे पृथक्-पृथक् नही किया जा सकता।

शिव नित्य स्थायी है क्योकि वह काल के द्वारा सीमित नही है। वह सर्वव्यापी है। वह अपनी शक्ति के द्वारा कार्य करता है और वह शक्ति जड न होकर चेतन शक्ति है और वही ईश्वर की देह है। यह देह पाच मन्त्रो से मिलकर बनी है[2] और सृष्टि के सृजन, धारण तथा विश्व के विनाश, तिरोधान और जीवात्माओ के मोक्ष—इन पाच प्रकार के व्यापारो का उपकरण बनती है। उसका ज्ञान सदा उज्ज्वल है और तात्कालिक है। पौष्कर आगम के अनुसार शक्ति, जिसे कुण्डलिनी अथवा शुद्ध माया भी कहते हैं, वह है जिससे शिव अपने सब व्यापारो का सम्पादन करता है और जिसके अन्दर उसका अस्तित्व निहित है। शक्ति ही शिवरूपी विशुद्ध चेतना तथा जड प्रकृति के मध्य एक कडी है। यह वह उपाधि है जो शिव के व्यापारो के मध्य भेद करने का कारण है।[3] यह अनन्त से लेकर जो केवल ईश्वर से उतरकर है, निम्नतम सब प्राणियो के बन्धन का

1 शिवज्ञानबोधम, 1 4।

2 सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान। तुलना कीजिए, तैत्तिरीय आरण्यक 10 43, 47।

3 पौष्कर आगम, 2 1।

तथा मोक्ष का कारण है। शक्ति, जिसे प्रायः उमा भी कहा जाता है, केवल मात्र शिव की अनुरूप परिणति है और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। परमसत्ता अपने आप मे शिव है और पदार्थों के सम्बन्ध मे वही शक्ति के नाम से पुकारी जाती है। शैव सिद्धान्त मे शिव केवल अध्यात्मशास्त्र की परमसत्ता न होकर धर्म का ईश्वर भी है। वह रक्षक और गुरु है, और वह मनुष्य जाति के प्रति अपने महान् प्रेम के कारण इस आकृति को धारण करता है। वह ईश्वर प्रेममय है।[1]

समस्त पशु अर्थात् आत्माओं का समूह उसी प्रभु (पति) के हैं। वह उनका रचयिता नहीं है क्योंकि वह नित्य है। आत्मा देह से भिन्न है और देह एक भोग्य जड़ पदार्थ है। स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा के द्वारा उसकी उपस्थिति प्रमाणित होती है। वह सर्वव्यापी, शाश्वत तथा चेतन कार्यकर्ता है। वह अनादि, अनन्त और सर्वव्यापी चित् शक्ति का निवासस्थान है।[2] उसके अन्दर चैतन्य विद्यमान है जिसका सार देखने की क्रिया मे निहित (दृक्क्रियारूपम्) है। 'शिवज्ञानसिद्धियार' के अनुसार आत्मा स्थूल शरीर से भिन्न है और सूक्ष्म है यद्यपि उसके साथ सम्पृक्त है और इच्छा, विचार तथा क्रिया (इच्छा ज्ञानक्रिया) उसके व्यापार हैं।[3] यह जिस वस्तु मे निवास करती है कुछ समय के लिए उस जैसी बन जाती है। संसार में रहकर वह सांसारिक पदार्थों मे लिप्त रहती है किन्तु मोक्ष की अवस्था में वह अपनी एकाग्रता को ईश्वर मे केन्द्रित करती है। प्रलय की अवस्था मे शरीर-रहित आत्माएं क्षमता तथा शक्ति के रूप मे महान् शिव मे विश्राम करती हैं। जीवात्माओं की संख्या न बढ सकती और न घट सकती है। ज्यों-ज्यों अधिक आत्माएं मोक्ष प्राप्त करती जाती हैं, त्यों-त्यों शरीरधारी आत्माओं की संख्या कम होती जाती है। मुक्तात्माओं मे चैतन्य निर्दोष रूप में प्रकट होती है किन्तु सांसारिक आत्माओं मे यह आवृत रूप मे रहती है। जीवात्माओं के तीन वर्ग हैं जिनका विभाग तीन, दो अथवा एक प्रकार की मलिनताओं के अनुसार होता है।[4] यह पृथ्वी तथा शेष समस्त पदार्थ ईश्वर की रचना के कार्य रूप हैं। ये सब जड़ हैं और आत्माओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हैं।

बन्धनो का जाल (पाशजाल) तीन प्रकार का है—अविद्या, कर्म और माया।[5] पहले की संज्ञा है आणवमल, अर्थात् अणुत्व (सान्तत्व) भाव का मिथ्या विचार जो आत्मा में रहता है। आत्मा जो विशुद्ध चैतन्य रूप है अपने को सान्त और शरीर के ही अन्दर आवद्ध तथा परिमित ज्ञान व शक्ति वाली समझती है। यह अपने चैतन्य स्वरूप से अनभिज्ञ है और शरीर को ही भ्रम से यथार्थसत्ता मान लेती है। यह आत्मा (पशु) का बन्धन (पशुत्व) है। यह अविद्या सब प्राणियों में एक समान है और अनादि, प्रगाढ, महती तथा नाना आकृतिवान् है। रचना और विनाश आदि सान्त जगत् के ही संबंध

1 शिवप्रकाशम्, 1 : 1, नल्लस्वामी पिल्लई : शैवसिद्धान्त, पृष्ठ 277।
2 मृगेन्द्र आगम 7 · 5।
3 3 1।
4 सबसे उच्च वर्ग के जीवात्मा (विज्ञानकाल) माया और कर्म से मुक्त हैं। उनमें 'आणवम्' की केवल एक ही मलिनता है। अगले (प्रलय काल) वे हैं जो आणवम् और कर्म की मलिनताओं के अधीन है तथा जिनके कारण वे पुनर्जन्म के बन्धन मे बद्ध हैं, और अन्तिम (सकाल) वर्ग मे वे सब प्राणी आ जाते हैं जो तीनों मलिनताओं के अधीन हैं।
5 मृगेन्द्र आगम 2 . 3-7।

मे घटते हैं और इस प्रकार उन्हे अविद्या के परिणाम समझा जाता है।[1] जड शरीर के साथ चेतन आत्मा के सयुक्त होने का कारण कर्म हे। यह अविद्या का सहायक है। इसे कर्म इसलिए कहा गया है कि यह प्राणियो की क्रियाओ से उत्पन्न होता है। इसकी सज्ञा अदृष्ट है, क्योकि यह सूक्ष्म है। सृष्टि रचना मे यह प्रवृत्त होता है और प्रलय मे फिर माया मे विलीन हो जाता है। इसका नाश तो नही हो सकता किन्तु अपना परिणाम अवश्य ही दिखाता है।[2] माया जगत् का भौतिक कारण हे और स्वरूप से अचेतन है।[3] यह विश्व का वीज है, अनेक प्रकार की शक्तियो से सम्पन्न, सर्वव्यापी और अविनाशी है। "जिस प्रकार तना, पत्ता और फल, जो बीज मे निहित है, बीज से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार काल से पृथ्वी (क्षिति) पर्यन्त यह विश्व माया से विकास के रूप मे आता है।[4]

शैव दर्शन मे सृष्टि रचना की प्रक्रिया पर विशेष ध्यान दिया गया है। शिव विशुद्ध चैतन्य है। प्रकृति विशुद्ध रूप मे जड है और शक्ति दोनो मे मध्यस्थ है। वह (शक्ति) जगत का उपादान कारण नही हे, क्योकि वह चैतन्य स्वरूप है। शक्ति एक बाह्य तत्त्व हे जो स्थूल तथा सूक्ष्म को, भौतिक तथा आध्यात्मिक को, शब्द तथा भाव को मिलाने वाली कडी है[5], शुद्ध माया है जो विश्व की माता है, वाणी अथवा नाद हे तथा 'मौन की वाणी है।" शैवसिद्धान्त साख्य के पच्चीस तत्त्वो के विरुद्ध समस्त विश्व का विश्लेषण छत्तीस तत्त्वो मे करता है। पुरुष के ऊपर पच कचुक अर्थात पाच प्रकार का आवरण हे यथा नियति (व्यवस्था), काल, राग, विद्या (ज्ञान) तथा कला (क्षमता)। कला के ऊपर माया, शुद्ध-विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव हैं। शिवतत्त्व अपने आप मे एक विशिष्ट श्रेणी का है सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या विद्या तत्त्वो का निर्माण करते हैं और शेष बत्तीस माया से नीचे तक आत्मतत्त्व है। ये विकास के विभिन्न पडाव है। माया सबसे पूर्व सूक्ष्म तत्त्वो के रूप मे विकसित होती है और उसके बाद स्थूल तत्त्वो मे। कला, जो माया से विकसित तत्त्वो मे से सर्वप्रथम है, चैतन्य की अभिव्यक्ति मे बाध के स्वरूप मलिनताओ पर विजय प्राप्त करती है और इसके कर्मानुसार अभिव्यक्त होने मे सहायक होती है, विद्या-रूपी अगले तत्त्व से आत्मा सुख और दुख का अनुभव ग्रहण करती हे। "विद्या वह साधन है जिससे क्रियाशील आत्मा बुद्धि के व्यापारो को ग्रहण करती है।'[6] माया वह इच्छा हे जिसके ऊपर समस्त अनुभव निर्भर करता है। काल भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् के अनुभवो का नियन्त्रण करता है। काल नित्य नही है, क्योकि नित्यता काल से विमुक्त होने का नाम है। नियति एक नियत व्यवस्था है जिसके द्वारा शरीरो, इन्द्रियो इत्यादि का भिन्न-भिन्न आत्माओ के लिए नियन्त्रण होता है। पुरुष इन पाचो से आवृत है। शैव सिद्धात का मत है

1 वही 7 2।
2 8 15।
3 9 2-4।
4 पौष्कर आगम 3 4।
5 पौष्कर आगम 2 17।
6 वही, 5 9।

कि सांख्य की मूल प्रकृति भी स्वयं एक उत्पन्न वस्तु है और उससे भी परे सूक्ष्म पांचों तत्वों को वह स्वीकार करती है। इन पांच में प्रथम तीन का कार्य ज्ञान (विद्या), कर्म तथा मनोभावों की शक्तियोंको व्यक्त करना है और शेष दो काल तथा देश के समानान्तर हैं। प्रकृति वह सामग्री है जिससे पुरुष के भोग्य लोको का निर्माण होता है। यह सर्वप्रथम स्थूल विकास है। प्रकृति के गुणों का विकास होता है, और गुणो से बुद्धि का, शेष सारा विकास सांख्य-वर्णित पद्धति के अनुसार होता है।

शिवतत्त्व निष्फल है, अर्थात् समस्त चैतन्य तथा क्रिया का अभिन्न आधार है। "जब शुद्ध माया जो शिव की शक्ति है अपना क्रियात्मक जीवन प्रारम्भ करती है तब शिव भोक्ता हो जाता है; वह सदाशिव है, यह सदाख्य भी कहलाता है, जो वास्तव में शिव से भिन्न नहीं हैं। जब शुद्ध माया वस्तुतः क्रियाशील होती है तब भोक्ता शिव अधिकारसम्पन्न शिव हो जाता है। उस अवस्था मे वह ईश्वर है जो वस्तुतः सदाशिव से भिन्न नही है।"[1] जिसका शरीर पांच मन्त्रो का है वह सदाशिव है, शिव नही। शुद्धविद्या यथार्थ ज्ञान का कारण है। संसार के कालचक्र के बीच निष्क्रियता के विश्राम आते हैं और उसके अन्त मे विकास प्रारम्भ होता है। वह प्रभु-मलिनताओं को व्यक्त होने देने मे सहायता प्रदान करता है और उनके विकास की समस्त प्रक्रिया को आत्माओं के उपकार के लिए, जो उसकी कृपा पर निर्भर करती हैं, अक्षुण्ण बनाए रखता है।[2] वह आत्माओं के कर्मों का हिसाब रखता है तथा उन्हें उन्नति के मार्ग मे सहायता करता है। कर्मविधान के प्रति आदर भाव रखना ईश्वर के स्वातन्त्र्य को सीमित करना नही है क्योंकि कर्मविधान वह साधन है जिसका वह उपयोग करता है।[3]

शैव सिद्धान्त जगत् के भ्रान्तिमय विचार का समर्थन नही करता। अनादि ससार प्रकृति तथा आत्माओ से मिलकर बना है, और ये दोनों नित्य हैं। संसार की पृष्ठभूमि मे एक गम्भीर आशय रहता है और इसलिए इसे केवल भ्रांतिमात्र अथवा परिहास की वस्तु कहकर तुच्छ रूप न देना चाहिए। ईश्वर सदा प्रकृति के बन्धन से आत्माओ की मुक्ति करने मे तत्पर रहता है। ससार का अनवरत गतिमान प्रवाह, जिसका नियन्त्रण कर्मविधान के द्वारा होता है, मनुष्य को उच्चतर जीवन के प्रति आकृष्ट करने के लिए चलता रहता है। "शिव की अभिलाषा रहती है कि समस्त जन उसे जानें," ऐसा मेकण्डर का कहना है।[4] केवल मनुष्य की ही महत्त्वाकांक्षा ईश्वर को जानने विषयक नही है, अपितु स्वयं प्रभु की भी यही इच्छा है।

पाप तीन प्रकार का बन्धन है जिससे हमे छुटकारा पाना है। हमें आणवम् अथवा अविद्या से अवश्य मुक्ति पानी है, क्योंकि यह आत्मा के प्रकाश को अपवित्र तथा अन्धकारावृत किए हुए है तथा कर्म को निःशक्त बनाती है क्योंकि बार-बार जन्म

1. पौष्कर आगम, 1 25-26।
2. 7 : 11-22।
3. सर्वदर्शनसंग्रह, 7; शिवज्ञानबोधम् 2 : 5।
4. शिवज्ञानबोधम् 12 3।

इसी के कारण होता है, माया को भी दूर करना है क्योकि यही सब मलिनताओ की जड है। ईश्वर हमे अपने प्रयत्नो मे सहायता करता है। एक ऐसी आध्यात्मिक निरपेक्ष परमसत्ता, जिसके ऊपर आत्मा के सुख और दुःख का कोई असर नही होता, किसी प्रयोजन की नही है। किन्तु शिव दया से पूर्ण है और क्रमिक युगो मे आत्माओ के द्वारा ज्ञात होने तथा भक्तिपूर्ण प्रेम को प्राप्त करने की प्रतीक्षा करता रहता है। एक प्रकार का व्यक्तिगत वन्धन आत्मा को ईश्वर के साथ सम्पृक्त रखता है। ईश्वर की कृपा ही मोक्ष का मार्ग है। इसे प्राप्त करने के लिए शिव मे वच्चे की भाति विश्वास रखना आवश्यक है। "जो निकट नही आते उन्हे कोई आशीर्वाद प्राप्त नही होता। किन्तु जो उसके निकट आते हैं उनके लिए वह सब प्रकार के उपकार का आश्वासन देता है, वह महान ईश्वर किसी से घणा न्ही करता।"[1] शैवमतानुयायी सन्त लोग ईश्वर का साक्षात करने को तृषित रहते हैं। माणिक्कवासगर के एक गीत का भाव है

> "इस पापमय ढाचे (शरीर) को उतार फेकने के लिए, शिव के निवास-स्थान मे प्रवेश पाने तथा उस अदभुत प्रकाश को देखने के लिए जिससे कि ये आखें प्रसन्नता प्राप्त कर सकें, हे अनन्त! जिसके भक्त समाज की कोई तुलना नही, हे पुराणपुरुष! तेरा दर्शन करने को तेरे दास की आत्मा तरस रही है।"[2]

पाप के ज्ञान का गहरा अनुभव करके कुछ सन्त लोग उच्च स्वर मे कहते है कि पापो ने ही उन्हे ईश्वर के साथ सयुक्त भाव प्राप्त करने से रोक रखा है।[3] शैवो की भक्ति अधिक वीरतापूर्ण तथा पुरुषत्व रखती है किन्तु वैष्णवो की भक्ति मे वह भाव नही है।

'तिरुवासगम्'[4] ने कितने सुन्दर छन्दो मे अज्ञान तथा वासना के वन्धन से प्रकाश और प्रेम के स्वातन्त्र्यपूर्ण जीवन की ओर उन्नति करने इसके सर्वप्रथम उदवोधन, इसके आह्लाद तथा उत्कर्ष, यथेच्छाचारिता तथा विषाद, सघर्ष और वेचनी एव शान्ति और ईश्वर के साथ मिलन के प्रसाद का चित्रण किया है। ईश्वर के अन्तर्ज्ञान

1 तिर अरुल पायन 1 9।

2 पोप कृत अनुवाद तिरुवासगम 25 9।

3 तुलना कीजिए अप्पार

मेरी जाति पापमय है मेरे गुण भी सब पापमय हैं
मैं केवल पाप म ही महान हू मेरी भलाई भी बुराई है।
मेरी अन्तस्तम आत्मा पापी और मूख है जो विशुद्ध सत्ता से दर रहती है
मैं पशु ता नही हू किन्तु ता भी पशुआ के कम मैं कभी त्याग नही सकता।

आह! मैं जो एक नीच पुरुष हू
मैं कहा स इस जन्म म आ गया।"

(किग्सबरी और फिलिप्स हिम्स ऑफ दि तमिल 'शैवाइट सटस' पृष्ठ 47)

4 शैवसिद्धान्त व साहित्य के विषय म सर चाल्स इलियट लिखते हैं ऐसे किसी भी साहित्य म जिसका मुख्य परिचय है व्यक्तिगत धार्मिक जीवन इसके सघष और नैराश्यपूण क्षण इसकी आशाए और भय इसके विश्वास और इसकी विजय ने—इससे अधिक स्पष्ट और अधिक पूणता के साथ अपना चित्रण प्रस्तुत नहा किया।

('हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म,' खण्ड 2 पृष्ठ 217)।

में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात का भेद विलुप्त हो जाता है, ऐसा कहा गया है।[1] शैवमत के प्रारम्भिक रूप में हर हालत में सहिष्णुता का भाव था। "तुम चाहे किसी भी ईश्वर की उपासना करो उसी में शिव प्रकट हो जाएगा। वह जो कि इन सबसे ऊपर है तुम्हारी यथार्थपूजा को ग्रहण करके तुम्हारे ऊपर कृपा करेगा।"[2] मोक्ष की योजना में गुरु अथवा शिक्षक का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। सच्चा गुरु वह है जो अपने अंतिम जन्म में है; और गुरु के अन्दर स्वयं शिव का निवास बताया गया है, जो गुरु के नेत्रों के माध्यम से शिष्य पर स्नेह की दृष्टि रखता है।[3] शिव के अवतार नहीं होते यद्यपि वह अपने भक्तों की भक्ति की परीक्षा लेने तथा उन्हें सत्य में दीक्षित करने के लिए स्वयं बार-बार प्रकट होता रहता है। किन्तु शिव कभी जन्म नहीं लेता और न ही उसका कोई मानवीय जीवन होता है।

नैतिक गुणों पर विशेष बल दिया गया है। सिद्धियार कहता है : "जिन्हें मनुष्य-मात्र से प्रेम नहीं है उन्हें ईश्वर से भी प्रेम नहीं हो सकता।[4] यद्यपि कर्म का विधान तो भंग नहीं किया जा सकता तो भी आत्मा के समक्ष चुनाव संबंध में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ईश्वर सदा मनुष्य के पुरुषार्थ का समर्थन करता है। कर्म और ज्ञान एक साथ मिलकर मोक्ष को जन्म देते हैं।[5] प्रत्येक यथार्थ ईश्वरवाद में जन्मगत जाति भेद शिथिल पड़ जाते हैं। यद्यपि माणिक्कवासगर ने तो जन्म और जातिगत भेद सम्बन्धी नियमों के प्रति किसी प्रकार का विरोध भाव प्रकट नहीं किया तो भी परवर्ती शैव पट्टणत्तु पिल्लई, कपिलार और तेलगू कवि, वेमन जातिभेद के विषय में दोषदर्शी रहे। तिरुमुलार का मत है कि वर्ण एक ही है जैसे ईश्वर एक है।[6] वासव (बारहवीं शताब्दी के मध्य में) के सुधार सम्बन्धी आन्दोलन में ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता के विरुद्ध विद्रोह स्पष्ट लक्षित होता है यद्यपि वासव स्वयं भी ब्राह्मण था।[7] यह सम्प्रदाय पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानता।

कहा गया है कि पाश (बन्धन) के नष्ट हो जाने पर जीवात्मा शिव बन जाता है।[8] अर्थात् सम्पूर्णरूप से उसका सादृश्य प्राप्त कर लेता है, यद्यपि सृष्टि की उत्पत्ति आदि पांच व्यापार केवल ईश्वर के लिए ही सुरक्षित हैं।[9] चूंकि आत्मा में किसी प्रकार का मल अथवा अज्ञानान्धकार नहीं है इसलिए ईश्वर का प्रकाश उसके अन्दर चमकता है। मुक्ति से तात्पर्य ईश्वर-रूप हो जाना नहीं है वरन् ईश्वर की उपस्थिति का सुख प्राप्त करता है। मैकण्डर कहता है—"शिव के साथ सम्पृक्त होने पर यदि आत्मा का विनाश हो जाता तो किसी भी नित्यसत्ता का साहचर्य ईश्वर के साथ नहीं हो सकता था। और

1 तिरु अरल पायन, 8 74।
2 शिवज्ञानसिद्धियार।
3 तिरु-अरल-पायन, 5।
4 12 2, 'सिद्धान्तदीपिका,' नवम्बर 1912, पृष्ठ 239 पर उद्धृत।
5 नीलकण्ठ, 1 : 1, 1।
6 "ओनरे कुलमुम् ओरु वने देवनुम्" (तिरुमालम्)।
7 यद्यपि सुधारवादी लिंगायत सम्प्रदाय ने जाति-पांति के भेद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन आरम्भ किया किन्तु वर्तमान समय में लिंगायत सम्प्रदाय वाले वर्णभेद मानते हैं।
8 मृगेन्द्र आगम 6 : 7। "निरन्तर शिवोऽहमिति भावनाप्रवाहेण शिथिलितपाशतयाऽपगपशु-भाव उपासक: शिव एव भवति" (नीलकण्ठ, 4 : 1, 3)।
9 4 : 4, 7 पर नीलकण्ठ की टीका।

यदि इसका विनाश नहीं होता और यह एक असम्बद्ध प्राणी के रूप मे वर्तमान रहता है तब इश्वर के साथ इसका मिलन नही हुआ। किन्तु मलिनताएं आत्मा के ऊपर प्रभाव डालना बन्द कर देगी और तब आत्मा जिस प्रकार नमक और पानी का सयोग होता है शिव के साथ उसके दास के रूप में संपृक्त हो जाएगी और उसीके साथ सयक्त होकर उसके चरणो मे निवास करेगी।[1] पाप के दूर हो जाने पर आत्मा स्वय शिव के पद को प्राप्त कर लेती है।[2] मुक्तात्मा शरीरधारी अथवा अशरीरी अवस्था में रह सकते हैं।[3] कुछ शवो का विश्वास है कि मोक्ष म शरीर स्वय शिव क प्रकाश से द्युतिमान हो उठता है। दूसरो का विश्वास है कि आत्माओ को अद्‌भुत शक्तिया प्राप्त हो जाती है। किन्तु इससे पूर्व कि वे सर्वोपरि प्रभु के साथ सयुक्त हो आत्माओ के लिए अपने सब कर्मों का फल भोग लेना आवश्यक है। शरीर म रहते हुए भी मुक्तात्मा मनोभावो तथा क्षमता मे सर्वोपरि प्रभु के समान हैं। मुक्तात्मा ऐसे कर्म नही करता जिनके कारण आगे चलकर उसे देह धारण करना पड। उसमे ईश्वर का सान्निध्य व्याप्त हो जाता है।[4] जब तक उसका पिछला कर्म फल नही द चुकता तब तक वह शरीर धारण किए रहता है और इस मध्यवर्ती समय के कर्म ईश्वर की कृपा से नष्ट हो जाते हैं।[5] मुक्तात्माओं के जितने भी कर्म हैं वे उनके अन्दर अवस्थित ईश्वर की प्रेरणा से होते हैं।[6]

4 प्रत्यभिज्ञा दर्शन

यद्यपि आगम ही काश्मीर के शैव मत के भी आधार थे तथापि परवर्ती ग्रंथों का झुकाव स्पष्ट रूप मे अद्वैतवाद की ओर दिखाई देता है।

वसुगुप्त (8वी शताब्दी) के विषय मे कहा जाता है कि उसने शिवसूत्र की खोज की और उसे कल्लट को पढाया। इस सम्प्रदाय के कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ये हैं स्पन्दकारिका जिसे वसुगुप्त अथवा कल्लट ने बनाया सोमानन्द की शिवदृष्टि (900 ईस्वी) उत्पल का प्रत्यभिज्ञासूत्र (930 ईस्वी) अभिनव गुप्त का परमार्थसार और प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी तन्त्रालोक क्षमराज की शिव सूत्रविमर्शिनी और स्पन्दसन्दोह। ये शैव आगमो तथा सिद्धान्त ग्रंथो को प्रामाणिक मानते ह और उन्हे शंकर के अद्वत सिद्धान्त की दिशा म परिवर्तित करते हैं। य ग्रंथ जिनमे परस्पर मतभेद भी हैं कहा जाता है कि एकेश्वरवाद सम्बन्धी आदर्शवाद का प्रतिपादन करते हैं और इन तीनों को एक ही त्रिक नाम से

1 शिवज्ञानबोधम 9 5 देख पोप की टिप्पणी 3 तिरुवासगम पृष्ठ 42।
2 नीलकण्ठ 4 4 4।
3 नीलकण्ठ 4 4 5।
4 तिरु अरुल पायन 10 93।
5 वही 10 98
6 "मेरी जिह्वा भी तो तुम्हे पुकारती है—अन्य सब शक्तिया
मेरे सम्पूर्ण जीवन की तो पुकार उठती हैं—व सब तू ही है
तू ही मेरी शक्ति का मार्ग है कम्पन रूप रामाच जो दौड़ता है
मेरे अन्दर तू है। मैं ही सम्पूर्ण बुराई और समद्धि हू और कोई नहीं
(पोप कृत अनुवाद तिरुवासगम 33 5)।

पुकारा जाता है।[1] शिवसूत्र, भास्कर-कृत वार्तिक और क्षेमराज-कृत विमर्शिनी एक विशेष प्रवृत्ति को प्रस्तुत करती हैं; वसुगुप्त-कृत स्पन्दकारिका कल्लट-कृत वृत्ति के साथ एक ऐसे आदर्शवाद का प्रतिपादन करती है जो कि पहले से कुछ अधिक भिन्न नहीं है। सोमानन्द-कृत शिवदृष्टि और उत्पल-कृत प्रत्यभिज्ञासूत्र तथा अभिनवगुप्त के ग्रंथ अद्वैतवाद के समर्थक हैं।[2] इनमें से माधव को अन्तिम ग्रंथ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ क्योंकि वह ग्रंथ दोनों का समावेश अपने अन्दर कर लेता है।[3] और उक्त सिद्धान्त के समर्थक भी मानते हैं कि अन्य सब दर्शन इसके लिए तैयारी करने के पड़ाव-मात्र हैं।[4]

विश्व मे एकमात्र यथार्थसत्ता शिव है जो अनन्त चैतन्य स्वरूप तथा अनियन्त्रित स्वातन्त्र्य स्वरूप है। उसकी अन्य भी अनेक विशेषताएं हैं, जैसे सर्वव्यापकता, नित्यता, निराकारता, यद्यपि स्वच्छन्दता उसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है। शिव प्रमाता (ज्ञाता) भी है और प्रमेय (ज्ञेय) भी है, अनुभवकर्त्ता भी है और अनुभूत पदार्थ भी है।[5] "चूंकि चैतन्य जिसके ऊपर, यह समस्त उत्पन्न जगत् स्थिर है और जहां से यह प्रादुर्भूत होता है वह अपने स्वरूप में स्वतंत्र है इसलिए इसकी गति सर्वत्र अबाधित है। जाग्रत् तथा स्वप्न आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अपने को उन्ही के अन्दर मिलाता हुआ जब यह गति करता है तो भी अपने यथार्थ स्वभाव से च्युत नही होता, अर्थात् ज्ञाता ही रहता है।"[6] अद्वैत वेदान्त की धुन में ऐसा कहा गया है "कि वह जिसमें न सुख है और न दुःख है, न वह ज्ञात है और न जानने वाला है और फिर वह जडता भी नहीं है, केवलमात्र उसीकी सत्ता है।[7] प्रमाता की यथार्थ सत्ता के प्रमाण की आवश्यकता नहीं क्योंकि सब प्रकार के प्रमाण उसे मान लेते हैं।"[8] शिव के समान दूसरा कोई नही। यह संसार चैतन्य के अंदर ही स्थित है यद्यपि उससे बाह्य प्रतीत होता है। "चित् (बुद्धि) स्वरूप प्रभु इच्छा के वशीभूत होकर समस्त सामूहिक विषयों (पदार्थों) के प्रकाश का कारण बनता है मानो वे उससे बाह्य हों, यद्यपि बिना किसी अधिष्ठान के जिस प्रकार कि एक योगी करता है।"[9] कर्म के समान प्रेरक कारण अथवा प्रकृति के समान उपादान कारण को सृष्टि के विषय मे उन्होने स्वीकार नहीं किया और न ही माया-रूप तत्त्व को माना है, जो भ्रांति-मूलक आकृतियों का निर्माण करती है। ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र है और उस सब जगत् का

1 उन्हें यह संज्ञा इसलिए दी गई है कि वे तीन परमसत्ताओं अर्थात ईश्वर, आत्मा और प्रकृति का प्रतिपादन करते हैं।

2 देखें, परमार्थसार, पृष्ठ 34, 36, 48 50 और 54।

3 सर्वदर्शनसंग्रह, 8।

4 तद्भूमिका. सर्वदर्शनस्थितय: (प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र, पृष्ठ 8)।

5 स्पन्दकारिका, पृष्ठ 29।

6. वही, पृष्ठ 2-4।

7. स्पन्दकारिका, पृष्ठ 5।

8 शिवसूत्रविमर्शिनी, पृष्ठ 5।

9 ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र, 5 : 6। परमार्थसार का कहना है कि वह प्रभु जो कि विचार तथा आनन्द का संयुक्त रूप है शक्ति, माया, प्रकृति और पृथ्वी को उत्पन्न करता है। (देखें 4)। प्रभु देवताओं तथा मनुष्यों आदि की समानता को धारण कर लेता है (6)।

जो वर्तमान है, अपनी इच्छाशक्ति से निर्माण करता है। वह संसार को अपने अन्दर ऐसा प्रतीत कराता है मानो उससे भिन्न हो यद्यपि ऐसा है नहीं, जिस प्रकार कि एक दर्पण में पदार्थ अवस्थित न रहते हुए भी दिखाई देते हैं। ईश्वर भी अपनी सृष्टि के पदार्थों से इसी प्रकार अछूता रहता है जिस प्रकार कि दर्पण अपने अन्दर प्रतिबिम्बित आकृतियों से अछूता रहता है। अपनी अद्भुत शक्ति के द्वारा जो उसके अन्दर निहित है, ईश्वर आत्माओं के रूप में प्रकट होता है और उनके भोग के लिए पदार्थों को बनाता है।[1] अनन्त तथा निर्मल आत्मा ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है और जो विश्व का एकमात्र अधिष्ठान है और जिसका स्पन्दन समस्त प्रकार के भेदों का कारण है।

शिव तो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में निर्विकार यथार्थसत्ता है, किन्तु उसकी शक्ति के असंख्य रूप हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य हैं. चित् (बुद्धि), आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया (उत्पादक शक्ति)। छत्तीस प्रकार के तत्त्व माने गए हैं। जब शक्ति चित् स्वरूप से व्यापार करती है तब परमार्थसत्ता विशुद्ध जीवन रूप धारण करती है जिसे शिवतत्त्व कहते हैं। जैसे ही शक्ति के आनन्द रूप व्यापार के द्वारा जीवन का उद्भव होता है हमारे समक्ष शक्तितत्त्व की दूसरी अवस्था आती है। आत्माभिव्यक्ति की इच्छा सत की तीसरी अवस्था को उत्पन्न करती है। अगला सत् का चैतन्यमय ज्ञान है जिसे शक्ति तथा विश्वरचना की इच्छा सहित ईश्वरतत्त्व माना गया है। अगली अवस्था में ज्ञाता तथा ज्ञान का विषय है जब कि क्रिया प्रारम्भ होती है। यह शुद्ध विद्या की अवस्था है। इस प्रकार पांच अतीन्द्रिय तत्त्व शिव की शक्ति के व्यक्तरूप हैं जो पांच प्रकार की शक्ति से उत्पन्न हैं।

यह दृश्यमान जगत् माया की शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है जिससे नियति, काल, राग, विद्या और कला रूपी प्रतिबन्ध प्रादुर्भूत होते हैं। मायारूपिणी शक्ति के बल से अनन्त अनुभव अपने-आपको असंख्य अनुभवों अथवा पुरुषों के रूप में प्रकट करता है। किन्तु समस्त प्रतिबन्ध किसी प्रतिबन्धकारी की ओर संकेत करता है। इससे प्रकृति तथा पुरुष में भेद उत्पन्न होता है। इसके आगे का विकास सांख्य-वर्णित योजना की पद्धति के ऊपर है। विकास की सब अवस्थाएं एकमात्र परमार्थ शिव की ओर ही ले जाती हैं। कालचक्र सम्बन्धी संसार के उद्भव तथा तिरोभाव को भी माना गया है। विश्व के आभास की प्रक्रिया निरपेक्ष शिव की निर्मलता को मलिन नहीं करती क्योंकि वह अपने सब अभिव्यक्त रूपों के ऊपर उठा हुआ है।

चूंकि आत्मा चैतन्य स्वरूप है और जीवात्मा भी वही है जैसा कि विश्वात्मा है इसलिए आत्माओं के निरपेक्ष अनेकत्व का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। हममें से सबके अन्दर विशुद्ध चैतन्य निवास करता है। यद्यपि मिथ्या उपाधियों के द्वारा यह आवृत हो जाता है। हमारा बन्धन अज्ञान के कारण है।[2] क्षेमराज कहता है "अनन्त चेतन स्वरूप होकर भी आत्मा यह समझती है कि

1 परमार्थसार पृष्ठ 48 50।
2 शिवसूत्र, 2।

'मैं सान्त हूं'; स्वतन्त्र होने पर भी वह समझती है कि मैं ही शरीर हूं'[1] यह भूल जाती है कि शिव से भिन्न जगत् सम्पूर्ण रूप में अयथार्थ है और यह कि आत्मा तथा शिव एक समान हैं।"

यथार्थसत्ता की प्रत्यभिज्ञा की ही मोक्ष के लिए आवश्यकता है। यदि जीवात्मा तथा विश्वात्मा एक हैं तब यह प्रश्न उठ सकता है कि इस तथ्य की प्रत्यभिज्ञा की क्या आवश्यकता है? माधव इस प्रश्न का उत्तर एक दृष्टान्त से देता है। एक कामातुर स्त्री की सन्तुष्टि उसके प्रेमी की उपस्थिति मात्र से ही नहीं हो सकती किन्तु उसे प्रेमी को उसी रूप में अनुभव करना आवश्यक है। अज्ञान के बन्धन पर विजय केवल इसी प्रत्यभिज्ञा से प्राप्त हो सकती है। जब आत्मा अपने को ईश्वर के रूप में पहचान लेती है तब वह ईश्वर के साथ ऐक्य भाव के अलौकिक परमाह्लाद में निवास करती है। स्पन्द सम्प्रदाय के अनुसार आत्मा प्रगाढ योग सम्बन्धी चिन्तन के द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है; विश्व में शिव की श्रेष्ठता को पहचानती, तथा शान्ति और मौन की अलौकिक समाधि में लीन हो जाती है। शिवसूत्र में वर्णित मोक्ष-प्राप्ति के तीन प्रकार शैव, तन्त्र और योग के हैं।

अभिनवगुप्त के अनुसार मुक्तात्माओं के तीन वर्ग हैं: एक वे जो सर्वोपरि सत्ता में समा गए (प्रमुक्त) हैं, दूसरे वे जो उससे उसके व्यक्त रूप में सयुक्त हैं (अपर मुक्त), और तीसरे वर्ग के वे जो अभी शरीर धारण किए हुए हैं (जीवन्मुक्त)। मुक्तात्मा सर्वोपरि सत्ता के साथ एकाकार हो जाता है क्योंकि यह स्वीकार किया गया है कि "मुक्तात्मा से भिन्न ऐसी कोई सत्ता नहीं है कि जिसकी उसे स्तुति करनी है या पूजा करनी है।[2] "जब इस प्रकार द्वैत की कल्पना समाप्त हो गई तो जीवात्मा भ्रांति रूप माया के ऊपर आधिपत्य प्राप्त कर लेती है और वह ब्रह्म में विलीन हो जाती है, जैसे जल जल में तथा दूध दूध में घुल-मिल जाता।"[3]

5. शाक्त सम्प्रदाय

शक्ति[4] की पूजा का प्रारम्भ ऋग्वेद में पाया जाता है। एक ऋचा में शक्ति को ऐसी शरीरधारिणी क्षमता के रूप में प्रस्तुत किया गया है: "जो पृथ्वी का धारण करने वाली है और स्वर्ग में निवास करती है।"[5] वही सर्वोपरि शक्ति है "जिसके द्वारा समस्त विश्व का धारण होता है"[6] और यह "भक्तों (सुव्रतानाम्) की पूज्य माता" है। और यही शीघ्र आगे चलकर केन उपनिषद् में वर्णित 'हैमवती उमा' रूप में आ गई है। महाभारत में यह कृष्ण की भगिनी के रूप में है और इस प्रकार वैष्णव मत के साथ इसका सम्बन्ध हो गया। शैवों ने इसे शिव की पत्नी मान लिया। पुराणों के अन्दर यह चण्डी के रूप में

1. शिवसूत्र पर टीका करते हुए, 1 : 2।
2. 'जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी,' 1910।
3. परमार्थसार, पृष्ठ 51।
4. 'भारतीय दर्शन', खण्ड 1, पृष्ठ 398-399।
5. 1 : 136, 3।
6. देखें, छान्दोग्य उपनिषद्, 3 : 12; बृहदारण्यक उपनिषद्, 5 : 14।

प्रकट होती है जिसकी दैनिक पूजा का विधान है और शरद् ऋतु का जिसका उत्सव मनाया जाता है। शीघ्र ही देवी के रूप मे इसकी पूजा होने लगी जिसका ब्रह्म के साथ ऐक्य भाव है, जो ब्रह्म परम निरपेक्ष तत्त्व है और जिसका स्वरूप सत्, चित् और आनन्द है और जिसका पुमान, स्त्री अथवा निर्गुण रूप मे भी चिन्तन किया जा सकता है।[1] शनैः शनैः जगन्माता के रूप मे उसकी पूजा ने वैदिक कर्मकाण्ड का स्थान ले लिया। हिन्दू धर्म के इस रूप से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य को तन्त्र के नाम से पुकारा जाता है। यह स्त्री जाति के प्रति आदर-भाव के लिए प्रसिद्ध है और स्त्रियो को दैवीय माता की प्रतिकृति करके माना गया है।[2]

> सतहत्तर आगम जो शाक्त मत मे है वे पाच शुभागमो मे विभक्त हैं (जिनका दूसरा नाम समय है)। ये ज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति की ओर ले जाने वाली क्रियाओ की शिक्षा देते हैं। चौसठ कौलागम हैं, जो ऐसी क्रियाओ की शिक्षा देते है जिनका उद्देश्य जादू की शक्तियो का विकास करने मे सहायता करना है। आठ मिश्रागम हैं, जिनका लक्ष्य दोनो प्रकार का है। भास्कर राय अपने ललितसहस्रनाम भाष्य मे शक्तिसूत्र नामक एक ग्रथ से नौ सूत्रो का उद्धरण देता है। यह ग्रन्थ आज हमे उपलब्ध नही है। तन्त्र ग्रन्थ, जो शिव और देवी के मध्य सवाद के रूप मे हैं, सातवी शताब्दी तथा उससे आगे के हैं। हमे सर जान वुडरफ को उनकी लगन एव परिश्रम के लिए धन्यवाद देना चाहिए, जिनके कारण ही पाप्त होने वाले ये मुख्य तन्त्र सूत्र आज प्रकाशित रूप मे उपलब्ध है।

इस तन्त्र दर्शन मे शिव का स्वरूप सर्वव्यापक (अखिलानुगत), विशुद्ध चैतन्य (प्रकाश), अकाय और निष्क्रिय बताया गया है। यह एक विशुद्ध सत् है जो सर्वथा निर्लिप्त है। क्रियाशील शरीरधारी तत्त्व शक्ति के अन्दर ही सब जीवात्माए समाविष्ट है। सौन्दर्य लहरी का प्रारम्भिक श्लोक इस प्रकार है शिव जब 'शक्ति के साथ सयुक्त होता है तो सृष्टि रचना के योग्य होता है, अन्यथा वह गति करने के अयोग्य है।"[3] शिव और शक्ति का सम्बन्ध ऐसा ही है जैसे कि प्रकाश और विमर्श का सम्बन्ध होता है। भास्करराय विमर्श का लक्षण करता है कि परम यथार्थ सत्ता के तात्कालिक स्पन्दन का नाम विमर्श है।[4] विशुद्ध परमसत्ता के अन्दर सबसे प्रथम जो सम्बन्ध का सम्पर्क है वह विमर्श है। और इसी के कारण समस्त प्रकार के भेदो का प्रादुर्भाव होता है। विमर्श अथवा शक्ति वह सामर्थ्य है जो परम सत्ता अथवा विशुद्ध चैतन्य मे अन्तर्निहित है। वह मूर्तरूप परमसत्ता है, जो चैतन्य प्रमाता के रूप मे परिणत हुई है और यही अपने विरोधी

1 तुलना कीजिए पुरुपा वा स्मरेद देवी स्त्रीरूपा वा विचिन्तयेत्।
अथवा निष्कला ध्यायेत सच्चिदानन्दलक्षणाम्।

2 विद्या समस्त स्तव देवि भेदा।
स्त्रिय समस्ता सकला जगत्सु॥ (सप्तशती 11 5)।

3 शिव शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त प्रभवितुम।
न चेदेव देवो न खलु कुशल स्पन्दितुमपि॥

4 देखें, ललितसहस्रनाम मे विमर्शरूपिणी के अन्तगत की गई उसकी टीका, पृष्ठ 548।

अनात्म अथवा ज्ञेय विषय के रूप में परिणत हो जाती है। यदि शिव चित् स्वरूप है तो शक्ति चिद् रूपिणी है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव अपने-अपने कर्मों, अर्थात् क्रमशः सृष्टि-रचना, स्थिति तथा विनाश को शक्ति के आदेश के अनुसार ही सम्पन्न करते हैं।[1] आनन्द रूपी निर्दोष अनुभव में शिव तथा शक्ति के अन्दर भेद नहीं किया जा सकता। दोनों मिलकर एक ही सत् रूप हो जाते हैं। शिव अपरिमित ब्रह्म की निष्क्रिय अवस्था के अनुकूल है; जबकि शक्ति परिमित ब्रह्म है जिसके अन्दर इच्छा, ज्ञान और क्रिया उपस्थित हैं, जो समस्त अनात्म जगत् को रूप देती हैं। शिव और शक्ति एक हैं क्योंकि शक्ति संसार में अन्तर्निहित है। शक्ति निष्क्रिय तथा क्रियाशील दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान रहती है। समस्त अनात्म जगत् की क्षमता शिव की शक्ति के रूप में वर्तमान रहती है।

शक्ति दो प्रकार की है : स्थूल और सूक्ष्म। वह सब पदार्थों की जननी है। उसके पांच कार्य बताए गए हैं : आभास, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थान और विलापनता। अचेतन प्रकृति को मान्यता दी गई है, जो सांख्यदर्शन की प्रकृति के प्रतिरूप है।

> प्रकृति अथवा माया को देवी का सार तत्व कहा गया है।[2] शक्ति के गर्भ में माया अथवा प्रकृति है जो विश्व का गर्भाशय है और प्रलय-काल में सुप्त तथा सृष्टि की उत्पत्ति में क्रियाशील है। सांख्य-प्रतिपादित प्रकृति के द्वारा विकास का अनुसरण किया गया है। शक्ति के आदेश से माया अनेक भौतिक तत्त्वों के रूप में किंवा समस्त चेतन प्राणियों के भौतिक अंशों के रूप में विकसित होती है। प्रत्येक जीवित प्राणी के अन्दर चैतन्य पाया जाता है, यद्यपि विविध प्रकार के भौतिक संयुक्त पदार्थों के कारण यह प्राणियों को अनेकत्व में विभक्त प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन के 25 तत्त्वों के स्थान में यहां पर 36 तत्त्व हैं जिनका वर्गीकरण इस प्रकार से है : (1) शिवतत्त्व, जो सर्वश्रेष्ठ है; (2) विद्यातत्त्व, अथवा शक्ति के सूक्ष्म व्यक्त रूप और (3) आत्मतत्त्व, अथवा भौतिक विश्व माया से लेकर नीचे मर्त्यलोक पर्यन्त। ये तीनों प्रकाश (शिव) विमर्श और अनात्म के अनुकूल हैं। शाक्त मत के विधान की सर्वोपरि भावना के अन्दर आन्तरिक भेद हैं यद्यपि स्थान-स्थान पर हमें मोक्ष तथा संसार की एकता के विचार भी मिलते हैं जो हमें शंकर के अत्यधिक कठोर अद्वैतवाद का स्मरण कराते हैं।[3] सबसे पूर्व यहां परब्रह्म है, उसके पश्चात् हमें परिमित शक्तिवाला ज्ञाता मिलता है जो शक्ति-गुण सम्पन्न है। तुरन्त ही नाद प्रकट होता है और नाद से बिन्दु[4] प्रकट होता है और तब शुद्धमाया। ये पांच शैवों के मान्य शिव, शक्ति, सदाख्य, ईश्वर और शुद्धमाया के अनुकूल हैं, शेष विकास शैव योजना से भिन्न नहीं है।

1. आनन्दलहरी, पृष्ठ 2 और 24।
2. साम्यावस्था गुणोपाधिका ब्रह्मरूपिणी देवी।
3. इसे एक प्रकार का अद्वैतवाद कहा जाता है। कुलार्णवतन्त्र, 1 ; 108। सर जान वुडरफ का जिन्होंने तन्त्र सम्प्रदाय का विशेष अध्ययन किया है, विश्वास है कि "इसके दार्शनिक सिद्धांत का स्थान कुछ अर्थों में सांख्य के द्वैतवाद और शंकर के वेदान्त की अतिएकेश्वरवादी व्याख्या के मध्य में आता है।" ('इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू', खण्ड 1, पृष्ठ 122)।
4. शारदातिलक, 1।

माया के प्रभाव से जीव अपने को एक स्वतन्त्र कर्त्ता तथा उपभोक्ता समझता है जब तक कि उसे मोक्ष प्राप्त नही होता। शक्ति का ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है[1] जो कि सर्वोपरि ब्रह्म के आनन्दमय ज्योति पुञ्ज में विलीन हो जाने का नाम है। यह कहा गया है कि "उस व्यक्ति के लिए जो समझ लेता है कि सब वस्तुएं ब्रह्म हैं न तो योग की और न पूजा की आवश्यकता है।"[2] जीवनमुक्ति अर्थात् इसी जन्म मे मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।[3] मोक्ष निर्भर करता है आत्म सस्कृति के ऊपर, जो आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान की ओर ले जाती है। यह आत्मसंस्कृति "मन्त्रो के उच्चारण मात्र से नही आती, न यज्ञायादि से और न सैकडो उपवासो से ही प्राप्त होती है। मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है, इस ज्ञान से कि वह स्वय ब्रह्म है।[4] *मन की वही अवस्था सबसे उत्तम है, जिसमे यह बोध हो जाता है कि केवल ब्रह्म (ब्रह्मसद्भाव) ही एकमात्र सबसे श्रेष्ठ है,* और जिसमे ब्रह्म के अन्दर ध्यान का भाव मध्यम कोटि मे है स्तुति और मन्त्रो का जप उसके पश्चात् है और बाह्य पूजा सबसे निम्न कोटि मे है,[5] कर्मकाण्ड धर्म के प्रति विद्रोह का भाव दर्शाया गया है। कुलार्णवतन्त्र मे आता है "यदि शरीर मे मिट्टी रगडने तथा भस्म रमाने से मोक्ष मिलता हो तो समझो गाव के कुत्तो को भी मोक्ष मिल गया, क्योकि वे तो बराबर मिट्टी मे लोटते रहते हैं।"[6] वर्ण तथा जातिगत भेदो को गौण स्थान दिया गया है और तन्त्र के अनुसार आचरण का विधान मनुष्यमात्र के लिए खुला है।[7] भक्ति को मोक्षप्राप्ति मे सहायक माना गया है। पूजा के विषय मे पूरी स्वतन्त्रता है। "जिस प्रकार सभी नदिया बहकर समुद्र मे जाती हैं इसी प्रकार किसी भी देवता की पूजा ब्रह्म को स्वीकृत है"[8] कम महत्त्व रखने वाले देवता कर्म तथा काल की शक्ति के अधीन हैं।[9]

योगदर्शन के रहस्यपूर्ण पक्ष ने आदि से अन्त तक अधिक भाग लिया है। मन्त्र पवित्र है और उन्हे दिव्य रचना के रूप मे माना गया है। कुछ अर्थों मे वे शक्ति के अनुरूप हैं क्योकि शब्द है जो नित्य एव अविनश्वर है। शरीर के अन्दर की शक्तियो को जाग्रत करने के ऊपर विशेष बल दिया गया है। पूर्णता को प्राप्त मनुष्य कुण्डलिनी को जाग्रत करके छ चक्रो का भेदन करता है।[10] शाक्तमत के विचारको ने कर्म, पुनर्जन्म तथा स्थूल व शरीरो के सिद्धान्तों को स्वीकार किया है।

1 शक्तिज्ञान विना देवि निर्वाण नैव जायते (निरुत्तरतन्त्र)।
2 महानिर्वाणतन्त्र 14 123। और भी देखें 124-127।
3 वही, 14 135।
4 वही, 14 115 116।
5 महानिर्वाण तन्त्र 14 122।
6 कुलार्णव तन्त्र, 1।
7 अन्त्यजा अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिण ।
स्त्रीशूद्रब्रह्मबन्धूना तन्त्रज्ञानेऽधिकारिता ॥ (व्योमसहिता)।
8 महानिर्वाण तन्त्र, 2 50।
9 ये समस्ता जगत्सृष्टिस्थितिसहारकारिण ।
तेऽपि कालेषु लीयन्ते कालो हि बलवत्तर ॥
10 देखें, एवलान दि सरपेंट पावर। शाक्तो की साधना के विषय मे बहुत कुछ निन्दावाचक शब्द कहे जाते हैं। यद्यपि बहुत-से अपवाद ऐसे निराधार हैं तो भी उसमे बहुत कुछ उन्नति की गुजायश है।

6. मध्वाचार्य

शङ्कर के अद्वैतवाद के विरोध में एक प्रमुख प्रतिक्रिया स्वरूप द्वैतदर्शन है जिसका संबंध मध्वाचार्य के नाम से है, और यह अनेक विषयों में रामानुज के यथार्थ सत्ता सम्बन्धी विचार के समान है।[1] मध्व विशुद्ध द्वैतवाद को मानते हैं और पांच महत्त्वपूर्ण भेदों के ऊपर बल देते हैं : ईश्वर और जीवात्मा, ईश्वर और प्रकृति, जीवात्मा तथा प्रकृति, एक जीवात्मा तथा अन्य जीवात्मा एवं प्रकृति का एक तथा अन्य अंश। विष्णु के पुत्र वायु की एकमात्र मध्यस्थता का सिद्धांत, नित्यस्थायी नरक तथा अपने मत का धार्मिक जोश ईसाई धर्म के प्रभाव की ओर संकेत करते हैं यद्यपि इसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं है। इस तथ्य के आधार पर कि केन उपनिषद् के ऊपर की गई मध्व टीका 'ब्रह्म-सार' ग्रन्थ से ली गई है, यह विचार करना युक्तिसंगत होगा कि द्वैतमत का प्रचार मध्व से पहले भी था। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे मध्व ने बड़ी चतुरता के साथ सांख्य और न्याय वैशेषिक के सिद्धान्तों का प्रयोग किया है।

7. जीवन तथा साहित्य

मध्व, जिन्हें पूर्णप्रज्ञ तथा आनन्दतीर्थ के नाम से पुकारा जाता है, 1199 ईस्वी में दक्षिण कनारा जिले में उदीपी के निकट एक ग्राम में जन्मे।[2] वे बहुत शीघ्र वैदिक ज्ञान में अत्यन्त विलक्षण सिद्ध हुए और जल्दी ही संन्यासी हो गए। उन्होंने अनेक वर्ष प्रार्थनोपासना तथा समाधि और स्वाध्याय तथा शास्त्रार्थ में व्यतीत किए। उन्होंने अपने गुरु अच्युतप्रेक्ष के साथ, जो शङ्कर के अद्वैतमत के अनुयायी थे, वाद-विवाद करके अपने द्वैतपरक दर्शन का विकास किया। उन्होंने विष्णु को परमेश्वर घोषित किया और अपने कन्धों को विष्णु की भुजाओं से दागने की प्रथा को निर्दोष बताया। इस प्रथा को रामानुज ने प्रचलित किया था। उन्होंने देश के भिन्न-भिन्न भागों में अपने धर्म में अनेक शिष्यों को दीक्षित किया, उदीपी में कृष्ण के मन्दिर की स्थापना की और उसे अपने अनुयायियों के सम्मिलन का मुख्य केन्द्र बनाया। यज्ञों में पशु हिंसा का निषेध करके उन्होंने एक उपयोगी सुधार किया जिसका श्रेय उन्हें है। उनहत्तर वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हुई।

उक्त विचारधारा के मान्य ग्रन्थ केवल मध्व के ही रचित हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक भाष्य लिखा है और अनुव्याख्यान नामक एक अन्य ग्रन्थ में अपनी उक्त व्याख्या को युक्तियुक्त ठहराया है। भगवद्गीता तथा उपनिषदों[3]

1. मुख्य-मुख्य मतभेद ये हैं : रामानुज के मत में जीवात्माएं अपने स्वाभाविक रूप में एक समान हैं किंतु मध्व के अनुसार उनमें भेद है। मध्व ब्रह्म को उपादान कारण नहीं मानते किंतु रामानुज मानते हैं। मध्व की दृष्टि में विश्व ईश्वर का शरीर नहीं है। रामानुज के मत में ऐसी एक भी आत्मा नहीं जो मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य हो और मुक्तात्माओं के अन्दर परमाह्लाद भोगने के विषय में कोई भेद नहीं है।

2 देखें, 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दि हिंदूज,' खण्ड 1, 3 और 14।

3 नारायणाचार्य के मध्वविजय और मणिमञ्जरी में मध्व के जीवन तथा उनके ग्रन्थों का यथार्थ वृत्तान्त दिया हुआ है। यदि हम उनमें से चमत्कारी तथा अप्राकृतिक घटनाओं को निकाल दें जो उनके अनुयायियों द्वारा प्रक्षिप्त हैं तो हमें मध्व के जीवन तथा उद्देश्य का ऐतिहासिक आधार मिल सकता है।

के ऊपर किए गए उसके भाष्य, उनके द्वारा रचित महाभारत का संक्षिप्त सार जिसे 'भारततात्पर्यनिर्णय' नाम दिया है, और भागवत पुराण का भाष्य उनके दार्शनिक सिद्धान्त के स्पष्टीकरण मे सहायता प्रदान करते है। उन्होने ऋग्वेद की पहली चालीस ऋचाओ पर भी टीका लिखी है और अपने 'प्रकरणो' मे अनेक दार्शनिक तथा अन्य विषयो पर समीक्षा की है। उनके ग्रन्थो को पढने से ऐसा आभास मिलता है कि प्रस्थानत्रय अर्थात् उपनिषदे, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र—की अपेक्षा उन्होने बराबर पुराणो के ऊपर अधिक भरोसा किया है। मध्व के लिए उक्त मान्य ग्रथो की व्याख्या अपने द्वैतपरक दर्शन को सिद्ध करने के लिए आसान नही थी। मध्व के सूत्रभाष्य तथा उसके अनुव्याख्यान के ऊपर जयतीर्थ का जो भाष्य, जिसका नाम न्यायसुधा है, अत्यत महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। मध्व के सूत्रभाष्य के ऊपर जयतीर्थ का जो भाष्य है उसके ऊपर भी व्यासराय ने एक भाष्य लिखा है, जिसका नाम चन्द्रिका है। पूर्णानन्द के तत्त्वमुक्तावली[1] नामक ग्रथ मे अद्वैतवाद के ऊपर बहुत बडा आक्षेप किया गया है।

8. ज्ञान का सिद्धान्त

मध्व ज्ञान के तीन साधनो को स्वीकार करते है प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण। उपमान प्रमाण को अनुमान ही की कोटि का माना गया है। प्रत्यक्ष और अनुमान स्वय विश्व की समस्या को हल करने मे हमारे सहायक नही हो सकते। प्रत्यक्ष की पहुच उन्ही तथ्यो तक है जो इन्द्रियगोचर है। अनुमान हमे कोई नवीन तथ्य नही दे सकता यद्यपि अन्य साधनो द्वारा प्राप्त हुए तथ्यो की परीक्षा करने तथा उन्हे क्रमबद्ध करने मे यह सहायता अवश्य करता है। यथार्थ सत्ता के सत्य ज्ञान के लिए हमे वेदो का आश्रय लेना होगा। मध्व वेदो के प्रामाण्य को सामूहिक रूप मे स्वीकार करते है, यद्यपि उनके भिन्न-भिन्न भागो मे परस्पर भेद नही करते। वेदो की ऋचाए और ब्राह्मण ग्रथ उतने ही उपयोगी तथा प्रामाणिक है जितनी कि उपनिषद। मध्व पौरुषेय (अर्थात् मनुष्यकृत, जो दोषपूर्ण हो सकता है) तथा अपौरुषेय (अर्थात जो मनुष्यकृत नही है) के मध्य की अप्रामाणिकता तथा प्रामाणिकता मे भेद करते हैं। अपौरुषेय ज्ञान सर्वथा निर्दोष तथा प्रामाणिक होता है। वेदो को, जिनकी व्याख्या को मध्व का दर्शन यथार्थ मानता है, मध्व ने अपौरुषेय माना है और इसलिए उनका स्वरूप प्रामाणिक है।

बोध-ग्रहण चाहे किसी भी साधन से हुआ हो, उस वस्तु के विषय मे प्रत्यक्ष प्रमाण है जिसका बोध हुआ है। वे साधन, जिन्होने बोधग्रहण मे मध्यस्थता का कार्य किया है, बोध के अपने अन्दर उपस्थित नही है। ज्ञाता तथा ज्ञात के मध्य जो सम्बन्ध है वह साक्षात् तथा तात्कालिक है। प्रत्यक्ष, अनुमान और वैदिक (आप्त) प्रमाण इसीलिए प्रमाण कहलाते है कि ये ज्ञान की उत्पत्ति मे साधन-रूप बनते हैं। और यह तथ्य तब प्रकट होता है जब कि हम ज्ञान का बाह्य रूप से अध्ययन करते हैं। तथ्यविषयक प्रत्येक बोध-ग्रहण जो हमे होता है निर्दोष है और यह तथ्य के अस्तित्व का सकेत करता है, भले ही यह बोध के क्षण तक ही क्यो न अस्तित्व रखता हो। यदि हम इसे निर्दोष बताकर इसका खण्डन करते हैं तो वह किसी अन्य बोध के कारण होता है जिसका प्रामाण्य हम स्वीकार करते हैं। सूर्योदय तथा सूर्यास्त तब तक केवलमात्र घटनाए हैं जब तक कि

1 कावल द्वारा अनूदित। देखें जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', खण्ड 15, भाग 2।

हमें आगे चलकर यह ज्ञान न हो कि सूर्य न तो उदय होता है और न अस्त होता है। मध्व प्रत्येक बोध की अपने रूप में प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं और ऐसी प्रत्येक कल्पना का खण्डन करते हैं जो हमारे ज्ञान को केवल प्रतीति मात्र बताती है। यदि हमारा ज्ञान यथार्थता के स्वरूप को नहीं प्रकट करता और प्रमेयविषयक अस्तित्व का ही द्योतक है एवं केवलमात्र अनुचित दिशा में हमें ले जाता है तो अयथार्थ वस्तु प्रतीत भी नहीं हो सकती तथा भ्रान्तिपूर्ण बोध का विषय भी नहीं बन सकती, और न ज्ञान के साथ कारण-कार्य भाव से सम्बद्ध हो सकती है। यदि समस्त ज्ञान भ्रामक है तो सत्य और मिथ्या विचारों के बीच जो भेद है वह भी नहीं रह सकता। भ्रांति का विश्लेषण करने से हमें ज्ञात होगा कि चेतना के समक्ष एक प्रमेय पदार्थ (विषय) अवश्य प्रस्तुत किया जाता है यद्यपि हम इसके स्वरूप के विषय में भूल कर सकते हैं, जो या तो इन्द्रियों के किसी दोष के कारण होता है अथवा ज्ञान के किन्हीं अन्य साधनों के कारण भी हो सकता है। मिथ्या प्रत्यक्ष ज्ञान के अवयव मिथ्या नहीं होते। वे अनुभवसिद्ध तथ्य हैं। किसी दोष के कारण हम प्रमेय विषय का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु हम इसका जो भी अंश देखते हैं वह स्वरूप में उसके समान वस्तु का स्मरण कराता है यद्यपि उससे भिन्न है, जिससे हम प्रस्तुत सामग्री को भ्रम से मिला रहे होते हैं। भ्रांति की प्रत्येक अवस्था में दो यथार्थ वस्तुसत्ताओं का संकेत होता है : एक प्रस्तुत वस्तु का और दूसरा संकेतित वस्तु का। संसार की अयथार्थता के भाव का तात्पर्य है कि यथार्थ वस्तु कुछ है अवश्य जिसे हम भूल से अन्यथा समझ बैठे हैं। इससे ऐसा तात्पर्य कभी नहीं होता कि यथार्थ वस्तु एकदम कुछ है ही नहीं।

मध्व का आधार अनुभव अथवा ज्ञान है और उनका तर्क है कि ज्ञाता तथा ज्ञात के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। ज्ञान के कर्ता अथवा ज्ञात प्रमेय पदार्थ के बिना ज्ञान के विषय में कुछ भी कथन करना निरर्थक है। जानने वाले प्रमाता तथा ज्ञात प्रमेय पदार्थों इन दोनों का अस्तित्व आवश्यक है। यह संसार अयथार्थ वस्तु नहीं है। यदि हम पदार्थों के मध्य भेद को स्वीकार नहीं करते तो हम विचारों में परस्पर भेद की व्याख्या भी नहीं कर सकते। हमारा ज्ञान हमें बतलाता है कि भेद विद्यमान है। हम उन्हें केवलमात्र औपचारिक नहीं मान सकते, क्योंकि औपचारिकता भेद उत्पन्न नहीं करती।

कभी-कभी कहा जाता है कि भेद का अस्तित्व देश और काल के बल पर होता है और ये केवलमात्र ज्ञाता पुरुष की बुद्धि के आकार मात्र हैं। यदि देश और काल ज्ञान प्राप्त करने वाली आत्मा के समान होते तो यह समझना कठिन है कि इस प्रकार का भाव, कि वे ज्ञाता के सदृश हैं, कैसे उदय हो सकता था। यदि आत्मा ज्ञान के रूप में सर्वव्यापक है तो देश और काल का भेद भी सम्भव नहीं हो सकता। देशकाल के भेद को अविद्या के बल के कारण बताना भी हमें सन्तोष नहीं दे सकता, क्योंकि अविद्या के स्तर और आत्मा के साथ उसके सम्बन्ध की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती। अविद्याविषयक प्रत्येक समाधान देश व काल के पूर्व अस्तित्व की कल्पना कर लेता है, और इसलिए देश व काल को केवल अविद्या की उपज बताकर सन्तोष नहीं हो सकता। देश और काल को यथार्थ एवं सम्पूर्ण इकाई माना गया है जो भागों में विभक्त है। यदि उनके कोई भाग न हों तो हमें यहां और वहां का तथा अब

और तव के भेद का ज्ञान न मिलता। देश के भाग (टुकडे) हमारे समक्ष प्रस्तुत होते है क्योकि ऐसा मानना ठीक न होगा कि हमारे आगे प्रस्तुत प्रत्येक पदार्थ कुल देश को असीम तथा अविभाज्य रूप मे व्याप्त कर लेता है। हमे परिमित शरीरो का ही ज्ञान है जो देश के कुछ भागो को घेरते तथा एक-दूसरे के प्रतिबन्ध बनते हैं। हम देश और काल के अशो का ही प्रत्यक्ष करते है। इस प्रकार उनका अस्तित्व है यह भी स्वीकार करना चाहिए। मध्व के अनुसार वे साक्षी रूप आत्मा के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय है।

मध्व के मत मे पदार्थ दो प्रकार के हैं स्वतत्र और परतन्त्र। ईश्वर जो सर्वोपरि पुरुष है वही एकमात्र स्वतन्त्र पदार्थ (यथार्थ सत्ता) है। परतन्त्र प्राणी दो प्रकार के है भाववाचक तथा अभाववाचक। भाववाचको के दो वर्ग हैं एक चेतन आत्माए और दूसरे अचेतन पदार्थ, जैसे प्रकृति और काल। अचेतन पदार्थ या तो नित्य है जैसे कि वेद, या नित्य और अनित्य जैसे प्रकृति, काल और देश, अथवा अनित्य जैसे प्रकृतिजन्य पदार्थ।[1]

9. ईश्वर

तीन वस्तुए अनादि काल से अनन्त काल तक रहने वाली है जो मौलिक रूप से एक-दूसरे से भिन्न हैं, अर्थात् ईश्वर, आत्मा तथा जगत्। यद्यपि ये सब यथार्थ और नित्य है, फिर भी पिछले दो अर्थात् आत्मा तथा जगत् ईश्वर से निम्नश्रेणी के तथा उसके ऊपर आश्रित हैं। स्वतत्र यथार्थ सत्ता एकमात्र ब्रह्म है, जो विश्व का निरपेक्ष स्रष्टा है। हम वेदो के अध्ययन द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं,[2] और इस प्रकार उसका स्वरूप ऐसा नही है, जिसका वर्णन न हो सके। अधिक से अधिक उसके विषय मे जो कहा जा सकता है, उसका तात्पर्य यही होता है कि उसके विषय मे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कठिन है।[3] सर्वोपरि ब्रह्म सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान से परे है।[4] समाधि मे ध्यान लगाने पर कल्पना के द्वारा जो आकृति दिखाई पडती है वह ब्रह्म नही है। मध्व इस मत को स्वीकार करने के लिए किसी प्रकार भी उद्यत नही हैं कि धर्मशास्त्र के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न प्रकार के ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि सर्वोपरि ब्रह्म तथा उसके गुण एकरूप हैं तो भी भिन्न-भिन्न शब्दो मे उनका वर्णन हो सकता है।[5] इस सुप्रसिद्ध वाक्य का, कि ब्रह्म केवल एक है और दूसरा नही है (एकम् एवाद्वितीयं ब्रह्म), तात्पर्य यह है कि उत्कर्ष मे ब्रह्म से बढकर दूसरा कोई नही है और उसके समान भी नही है, क्योकि वह सबके अन्दर समाविष्ट है। ईश्वर के गुण अपने स्वरूप मे निरपेक्ष है और इस प्रकार से उसे सीमित नही करते। ब्रह्म मे सब प्रकार की पूर्णता है। उसको तथा विष्णु को एकरूप माना गया है और कहा गया है कि वह अपनी इच्छा से ससार का सचालन करता है एव अन्य सबका

1. मध्वसिद्धातसार के अनुसार, पदार्थ दस हैं
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषविशिष्टाशिशक्तिसादृश्यभावा दशपदार्था ।
2 महाभारत, 3 3, 1।
3 महाभारत, 1 1, 5।
4 महाभारत, 3 2 23।
5 देखें न्यायसुधा, 1 1, 2, 1 1, 6। मध्वसिद्धातसार से भी तुलना कीजिए—भेदाऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहिका अनन्ता एव विशेषा (21)।

भी, जो उसके अन्तर्गत है स्वतन्त्र शासक के रूप में संचालन करता है। वह संसार को बार-बार रचता तथा उसका संहार करता है। उसकी देह अतिप्राकृतिक है और उसे सब संसार से ऊपर माना गया है तथा वह संसार के अन्तर्निहित भी है क्योंकि वह सब जीवात्माओं में अन्तर्यामी है।[1] वह अपने को नानाविध आकृतियों (व्यूहों) में प्रकट करता है, समय-समय पर अवतारों के रूप में प्रकट होता है और कहा जाता है कि पवित्र मूर्तियों के अन्दर गुप्त रूप मे उपस्थित रहता है। वह सृष्टि को रचता, उसको धारण करता तथा उसका विनाश करता है: वह ज्ञान का प्रदाता है, अपने को नाना प्रकार से व्यक्त करता है, कुछ को दंड देता तथा अन्य को मुक्त करता है। लक्ष्मी उसकी पार्श्ववर्तिनी है जिसमे नाना रूप धारण करने की शक्ति है, किन्तु जिसकी देह भौतिक नही है। ईश्वर के साथ-साथ वह भी नित्य है और सर्वव्यापी है। वह अनन्त काल से ईश्वर के वैभव की साक्षी है। अन्य देवताओं तथा देवियों के विपरीत, जो कई जन्मों के अनन्तर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, लक्ष्मी नित्ययुक्त है। लक्ष्मी ईश्वर की उत्पादक शक्ति का शरीरधारी रूप है। वह ज्ञानसम्पन्न प्रकृति है यद्यपि ईश्वर उससे सूक्ष्मता तथा गुणों मे महान् है।[2] ईश्वर आत्मओं तथा प्रकृति के ऊपर शासन करता है यद्यपि वह न तो अभाव से उनका निर्माण ही करता है और न उन्हें नष्ट करके अभावात्मक बनाता है। वह जगत् का उपादान कारण न होकर निमित्त कारण है, क्योंकि जड़ जगत् की उत्पत्ति एक सर्वोपरि ज्ञानसम्पन्न से नही हो सकती। ईश्वर की क्रियाशीलता उसकी अत्यधिक पूर्णता का परिणाम है। केवल इसलिए कि ईश्वर जीवात्माओं के कर्मों का विचार करता है यह नही कहा जा सकता कि प्रभु कर्म के ऊपर निर्भर करता है, क्योंकि मध्व का कहना है कि "स्वयं कर्म का अस्तित्व तथा अन्य वस्तुओं का अस्तित्व भी ईश्वर के आश्रित है।"[3]

10. जीवात्मा

मध्व के मत मे इस लोक का प्रत्येक पदार्थ एक जीवित संघटन है। यह विश्व जीवनयुक्त प्रकृति का एक सुविस्तृत क्षेत्र है जिसमे देश का प्रत्येक अणु जीवो से पूर्ण है। अपने तत्त्व-निर्णय नामक ग्रंथ मे वे कहते हैं: "देश के एक अणु में निवास करने वाली अनन्त आत्माए हैं।"[4] मध्व ब्रह्म और जीव के मध्यगत भेद को यथार्थ मानते हैं।[5] और उनका मत है कि यह समझना भूल है कि मोक्ष की अवस्था मे जीव और ब्रह्म अभिन्न हो जाते हैं और ससार मे भिन्न हैं। क्योंकि दो भिन्न पदार्थ किसी भी समय मे अभिन्न नही हो सकते और इसके विपरीत दो अभिन्न पदार्थ भिन्न नही हो सकते। सर्वथा ब्रह्म के आधिन होते हुए भी जीवात्मा तात्त्विक रूप में क्रियाशील कर्त्ता है और उसके ऊपर जिम्मेदारियां भी हैं।[6] आत्मा स्वतन्त्र कर्ता नहीं है क्योंकि वह परिमित शक्ति वाला है और प्रभु उसका मार्गप्रदर्शन करता है।[7] जीव को आकार मे अणु बताया गया है और

1 1 2 13।
2 4 : 2, 9।
3 2 : 1, 37; 3 : 2, 39-42।
4 परमाणुप्रदेशेष्वनन्ताः प्राणिराशयः।
5. 1 2, 12।
6 2 3, 33-42।
7. 2 : 3, 38, 2 . 3, 28।

यह उस ब्रह्म से भिन्न है जो सर्वव्यापी है।[1] आकार मे परिमित होने पर भी वह अपने ज्ञानरूप गुण के कारण समस्त शरीर मे व्याप्त रहती है। ज्ञानेन्द्रिय को साक्षी कहा गया है जिसके समक्ष भौतिक मन अपने सब प्रभावो को प्रस्तुत करता है। यह पहचान करने वाला तत्त्व ही है जिसके कारण अहभाव की चेतना उत्पन्न होती है और यही व्यक्तित्व का आधार है। आत्मा स्वभाव से आह्लादमय है यद्यपि यह अपने पूर्व कर्म के अनुसार भौतिक शरीरो से सम्बद्ध होने के कारण सुख व दुख के अधीन है। जब तक यह अपनी मलिनताओ से विरहित नही होती, यह नाना जन्मो म अपनी आकृतिया बदलती हुई भ्रमण करती रहती है। आनन्द के समान इसके गुण मोक्ष की अवस्था मे व्यक्त होते हैं।[2] यद्यपि आत्माए नित्य हैं, वे अपने शारीरिक सम्बन्ध के कारण जन्म धारण करती हुई कही जाती हैं।[3] कोई भी दो जीव स्वरूप से एक समान नही होते, जीवन की तराजू मे प्रत्येक का अपना-अपना मूल्य व स्थान है। जीव प्रभु के आश्रित हैं जो नि सन्देह उन्हे अपने पूर्व आचरण के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य करता है।[4]

चैतन्य-विशिष्ट आत्माए तीन प्रकार की हैं (1) एक वे जो सदा से मुक्त हैं जैसे लक्ष्मी, (2) वे जिन्होने अपने को ससार से मुक्त कर लिया है, यथा देव तथा मनुष्य, ऋषि और पितृगण, और (3) बद्ध। अन्तिम वर्ग मे वे जो मुक्ति पाने के योग्य हैं और वे जो मुक्ति के अयोग्य है, दोनो ही आ जाती है। अन्तिम वर्ग की वे हैं जो नरक मे जाने के लिए हैं अथवा तमोगुण के योग्य हैं, अथवा वे हैं जो सदा के लिए ससार-चक्र मे बधी हुई है (नित्यससारिण)। जहा कुछ ऐसी आत्माए हैं जो अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति के कारण मोक्ष के लिए पूर्व से निश्चित हैं वहा दूसरी वे है जिनका नरक मे जाना निश्चित है और एक तीसरा वर्ग ऐसा है जो अनादि काल से अनन्त काल तक ससार-चक्र मे घूमता रहता है और अन्तरहित क्रम से कभी सुख तो कभी दुख भोगता है। यह तीन प्रकार का वर्ग-विभाग तीन गुणो के आधार पर है। सात्त्विक आत्मा स्वर्ग को प्राप्त करती है, राजस गुण वाली ससार मे चक्रवत भ्रमण करती रहती है और तमोगुणी आत्मा नरक मे गिरती है। जीवित प्राणी अनेको वर्गो मे विभक्त हैं जैसे देव, मनुष्य, पशु तथा वनस्पति। एक नियत श्रेणीविभाग जो जीवो के भेदो (तारतम्य) पर आश्रित है, परिष्कार के साथ बना हुआ तैयार है। ऐसे जीवात्माओ मे भी जो मोक्ष के योग्य हैं किन्ही दो आत्माओ मे भी एक समान योग्यता नही पाई जाती। इस लोकगत साम्राज्य मे भी ब्रह्म और वायु का स्थान सबसे ऊपर है। विष्णु के आदेश मे ब्रह्म ससार की रचना करता है। वह सबसे महान् गुरु भी है और मध्व के ब्रह्म सम्प्रदाय नामक दर्शन का सर्वप्रथम बोधक है। ईश्वर तथा आत्माओ मे वायु मध्यस्थ का कार्य करती है। वह ज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति मे आत्माओ की सहायता करती है। उसे प्रेयसी प्रतिमा अथवा ईश्वर का पुत्र (हरे सुत) भी पुकारा गया है।[5]

1 2 3, 23।

2 2 3 31।

3 ब्रह्मसूत्र के ऊपर मध्व, 2 3 19।

4 2 3, 41 42। यहा तक कि स्वप्ना का आना भी ईश्वरेच्छा के अधीन ही बताया गया है (3 2 3 और 5)।

5 मध्व को उनके अनुयायी वायु का अवतार मानते हैं, जिसने पूर्वजन्मो म अपने को हनुमान तथा भीम के रुप मे प्रकट किया।

आत्माएं ब्रह्म हैं, इस प्रकार का मत रखना ठीक नहीं है। पूर्ण तथा अपूर्ण आत्माएं मिलकर एक नहीं हो सकतीं।

11. प्राकृतिक जगत्

भौतिक उत्पन्न पदार्थ जड़ जगत् के विषय हैं और उन्हीं से सब प्राणियों के शरीरों व इन्द्रियों का निर्माण हुआ है। वे सब आदिम प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और समयान्तर में उसीमें लौटकर वापस पहुंच जाते हैं। यद्यपि प्रकृति एकरूप प्रतीत होती है तो भी वस्तुतः यह भिन्न-भिन्न तत्त्वों से, जो सूक्ष्म अवस्था में हैं, मिलकर बनी है। जब ईश्वर तथा आत्माएं इसका उपयोग करते हैं तो यही विकसित होकर दृश्यमान जगत् के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ईश्वर प्रकृति में से आकृतियों को गढ़ता है, क्योंकि प्रकृति उपादान कारण है और उसके अन्दर वह स्वयं भी नाना आकृतियों में निवास करता है।[1] इससे पूर्व की हम अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि के सुपरिष्कृत आकारों तक पहुंचें हमें परिवर्तन-काल के अन्दर मध्यवर्ती 24 पदार्थों में से गुज़रना होता है अर्थात् महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, दस इन्द्रियां, पांच इन्द्रियों के विषय और पांच महत्तत्त्व। ये अपने विकास से पूर्व आद्य मूलभूत प्रकृति के अन्दर सूक्ष्म रूपों में स्थित रहते हैं।

प्रकृति के तीन पक्षों की अधिष्ठात्री लक्ष्मी के तीन रूप हैं; श्री, भू और दुर्गा। अविद्या प्रकृति का ही एक रूप है जिसके दो भेद हैं: जीवाच्छादिका, अर्थात् वह जो जीव की आध्यात्मिक शक्तियों को आवृत कर लेती हैं; और परमाच्छादिका, अर्थात् वह जो जीव की दृष्टि से सर्वोपरि सत्ता को दूर रखती है। अविद्या के ये दो रूप निश्चित तत्त्व हैं जो प्रकृति के सारतत्त्व में से बने हैं।

12. ईश्वर और जगत्

मध्व ऐसे समस्त प्रयासों को अस्वीकार करते हैं जो आत्माओं तथा प्रकृति से युक्त संसार को केवल भ्रांति मात्र अथवा ईश्वर से निकला हुआ कहकर उसके भिन्न अस्तित्व का अभाव प्रदर्शित करते हैं: इस प्रकार मध्व एक शुद्ध द्वैत का प्रतिपादन करते हैं। जीवात्मा ईश्वर के ऊपर आश्रित (परतन्त्र) है क्योंकि बिना विश्वात्मा के शक्ति-दायक सहारे के यह अपना अस्तित्व स्थिर नहीं रख सकता जिस प्रकार कि एक वृक्ष अपने रस के बिना न जीवित रह सकता और न फल-फूल सकता है। यहां तक कि विष्णु की पत्नी लक्ष्मी यद्यपि सर्वश्रेष्ठ तथा नित्य है फिर भी ईश्वर के ऊपर आश्रित है। वह उस प्रकृति की भी अधिष्ठात्री देवी है जो जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर किसी न किसी प्रकार से प्रकृति में शक्ति का संचार करता है जो उसके व्यक्तित्व का कोई अंग नहीं है और प्रकृति भी किसी न किसी प्रकार से अपने को ईश्वर के नियन्त्रण में दे देती है।

मध्व को अनेक श्रुतिवाक्यों के विरोध का मुकाबला करना पड़ा है जिनका वे किसी न किसी प्रकार द्वैतवाद में विनियोग करते हैं। मध्व उस महत्त्वपूर्ण वाक्य "तत् त्वम् असि" (वह तू है) को लेकर तर्क करते हैं कि यह वाक्य ईश्वर तथा आत्मा के मध्य किसी सादृश्य का द्योतक नहीं है। इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि आत्मा के

1. 1 : 4, 25।

अन्दर अपने सारभूत ऐसे गुण हैं जो ईश्वर के गुणो के समान हैं।[1] ऐसे वाक्यो का भी जिनमे कहा गया है कि आत्मा प्रभु का एक अंश है, यही तात्पर्य है।[2] कभी-कभी मध्व उक्त वाक्य को एक दूसरे प्रकार से ही देखते हैं, जैसे—'स आत्मा तत् त्वमसि' को वे पढते है "स आत्मा अतत्त्वम् असि' (वह आत्मा तू नही है)।[3] "अयम् आत्मा ब्रह्म," इस वाक्य के विषय में मध्व का कहना है कि यह या तो एक सरल प्रशसापरक वाक्य आत्मा के लिए कहा गया है अथवा यह ध्यान का एक विषय है। यह भी सुझाव दिया जाता है कि यह तो पूर्वपक्ष है जिसका खण्डन करना है। ऐसे वाक्यो की व्याख्या करने के लिए, जो जीवात्मा तथा विश्वात्मा को एक बताते है, मध्व आत्मा तथा ब्रह्म के व्युत्पत्तिपरक अर्थों का उपयोग करते हैं। आत्मा ब्रह्म है क्योकि यह बढती है (वर्धनशील) अथवा इसलिए कि यह सर्वत्र प्रविष्ट होती (अतनशील) है।

ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता के कारण विश्व मे एक व्यवस्था तथा समानता का भाव आता है, अन्त मे जाकर भेद भले ही क्यो न हो। विशेष के गुण द्वारा, जो गुण को द्रव्य से भिन्न बनाता है, एक अश को सम्पूर्ण इकाई से भिन्न किया जाता है और एक तथा अनेक परस्पर सम्बद्ध किए जाते हैं।[4] विशेष सख्या की दृष्टि से अपरिमित है क्योकि यह नित्य तथा अनित्य दोनो पदार्थो मे रहता है और विधि तथा निषेधात्मक सत्ताओ से सम्बन्ध रखता है। एक प्रकार की निषेधात्मक सत्ता का दूसरे से भेद विशेष के द्वारा ही किया जाता है। किन्तु एक विशेष का भेद दूसरे विशेष से कैसे किया जा सकता है? यदि तो, यह अन्य किसी विशेष के द्वारा हो तो हमारे समक्ष पश्चाद् गति की एक बहुत बडी समस्या आती है क्योकि उसका कही अन्त नही होगा। इसलिए विशेष को आत्मा-निर्धारित ही माना गया है। विशेष गुण के द्वारा हम भेदपूर्ण जगत की व्याख्या कर सकते हैं जिसके लिए भेदपूर्ण जगत् को परम तत्त्व मानने की आवश्यकता नही है। विशेष के व्यापार के द्वारा ही हमे भेद का ज्ञान होता है। यदि विशेष सर्वोपरि सत्ता से भिन्न है तो उससे सर्वोपरि सत्ता की अखण्डता मे अन्तर आता है, और यदि यह उससे भिन्न नहीं हैं तो हम इसे विशेष नहीं कह सकते।

13 नीतिशास्त्र और धर्म

ज्ञान के द्वारा ही ईश्वर के ऊपर पूर्ण निर्भरता तथा उसके प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न होता है।[5] सब वस्तुओ के विषय मे यथार्थ ज्ञान, अर्थात् भौतिक तथा आध्यात्मिक, हमे ईश्वर के ज्ञान की ओर ले जाता है और उसका स्वाभाविक परिणाम ईश्वर के प्रति प्रेम है। अपने तत्त्व विवेक के अन्त मे मध्व कहते है "यह निश्चित है कि वह व्यक्ति, जो यह समझ लेता है कि यह सब जीवन जिसका अन्त है सदा ही हरि के वश मे रहता है, ससार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।'

1 2 3 29।

2 भगवदगीता 15 7।

3 सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज बृहदारण्यक उपनिषद पृष्ठ 114। छान्दोग्य उपनिषद भी देखें 6 8 7। इस वाक्य को भी 'त्वतदीयोऽसि' अथवा 'त्व तस्यासि' के समान ही माना जाता है। और भी देखें तत्त्वमुक्तावली जनल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी न्याय —न 15।

4 न्यायामृत खड 3 पृष्ठ 137।

5 3 3 49

मोक्ष-प्राप्ति के लिए सबसे पूर्व एक स्वस्थ तथा निर्दोष नैतिक जीवन का होना आवश्यक है। बिना किसी इच्छा अथवा फल-प्राप्ति के दावे के नैतिक नियमों का पालन करना तथा कर्तव्य कर्मों का निभाना आवश्यक है। धार्मिक जीवन हमें सत्य की गहराई तक पहुंचने में सहायक होता है। वेदों के अध्ययन से हम सत्यज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, और उसकी प्राप्ति के लिए एक उपयुक्त गुरु की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति में ब्रह्म के एक विशेष रूप का साक्षात् करने की क्षमता रहती है। ज्ञानसम्पन्न गुरु को चाहिए कि वह इन भेदों का ध्यान रखे, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि "जिसके योग्य कोई व्यक्ति है उसके प्रत्यक्ष से ही अन्तिम मोक्ष प्राप्त होता है, अन्य किसी साधन से नहीं।"[1] केवल देवताओं तथा तीन उच्च वर्णों के मनुष्यों को ही वेदाध्ययन की आज्ञा दी गई है और स्त्रियां तथा शूद्र पुराणों तथा स्मृतियों द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं। मध्व उन सब व्यक्तियों को वेदान्त के अध्ययन का अधिकार देते हैं जो उसे समझ सकते हैं।[2] जब-जब हो सके और जितनी प्रगाढ भक्ति के साथ हो सके, ईश्वर के वैभव में अपने को मग्न करके ध्यान लगाने का आदेश दिया गया है। ध्यान के द्वारा आत्मा दैवीय कृपा से अपने अन्तःकरण में ईश्वर का साक्षात् (अपरोक्ष ज्ञान) ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जब आत्मा को इस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जो सूर्य की भांति स्थिर होना चाहिए न कि केवल बिजली की भांति शीघ्रगामी व क्षणिक, तब इसके बन्धन कट जाते हैं और इसे मुक्त कहा जाता है।

ईश्वर के पास हम सीधे नहीं पहुंच सकते। वायु मध्यस्थ का कार्य करती है। भगवत्कृपा का सिद्धान्त, जिसे मध्व अंगीकार करते हैं, हमें आगस्टाइन के मत का स्मरण कराता है। मनुष्य स्वयं कभी बन्धन से छूटने के योग्य नहीं हो सकता। यह केवल भगवत्-कृपा से ही सम्भव है कि उसका मोक्ष हो सके। पुण्य कर्मों के भी किसी विचार से ईश्वर बाध्य नहीं होता। वह केवलमात्र कुछ को मोक्ष-प्राप्ति के लिए और अन्य को उसकी विरोधी अवस्था के लिए चुन लेता है। दैवीय इच्छा ही मनुष्यों को मुक्त करती अथवा बन्धनों में डालती है। किन्तु हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार मध्व ऐसा मत प्रकट नहीं कर सकते कि ईश्वर का चुनाव स्वेच्छापूर्ण अनुपाधिक तथा निराधार है। यद्यपि किन्हीं अर्थों में आत्मा की अवस्थाएं भी ब्रह्म के द्वारा[3] ही उत्पन्न होती हैं; तो भी यह मानी हुई बात है कि प्रभु की कृपा भी हमारी उसके प्रति भक्ति के अनुपात में ही प्राप्त होती है।[4] हमारा अपना आचरण ही स्वयं में हमें मोक्ष की ओर नहीं ले जा सकता; ईश्वर का सहयोग आवश्यक है। सर्वोपरि सत्ता, जो अव्यक्त है, हमारे अपने प्रयत्नों के बल से व्यक्त नहीं की जा सकती। जब हमारी भक्ति के द्वारा वह प्रसन्न होती है तभी वह अपने को प्रकट करती है।[5] ईश्वर की कृपा उपासक के विश्वास के अनुकूल ही होती है। मध्व के अनुयायियों में से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न परिमाणों में दैवीय नियति तथा मानवीय मोक्ष पर बल देते हैं। अन्तर्दृष्टि (आत्म-निरीक्षण), भक्ति तथा कर्मकाण्ड-सम्बन्धी क्रियाकलाप के सम्पादन पर बल दिया गया है, सर्वोपरि सत्ता की सेवा के लिए विष्णु के चिह्नों से शरीर को गोदना, अपने पुत्रों तथा

1 महाभारत, 3 53।
2 1 : 1, 1।
3 3 : 2, 9।
4. 3 : 2, 20-21।
5. 3 : 2, 23-27।

अन्यों को प्रभु के नाम देना और उनकी पूजा करना, वचन (सत्यभाषण तथा पवित्र ग्रंथों का स्वाध्याय), कर्म (दान-दाक्षिण्य) और मानसिक विचार (दया तथा विश्वास) आवश्यक हैं। दैवीय कृपा की प्राप्ति के लिए ईश्वर की पूजा अनिवार्य तथा प्राथमिक आवश्यकता है। ज्ञानपूर्वक किए गए कर्म हमें ऊपर की ओर उन्नति करने में सहायक होते हैं। क्रियाकलाप तथा यज्ञ और तीर्थयात्राएं करने का भी समर्थन किया गया है। पशुबलि को निषिद्ध बताया गया है और यज्ञ करने वाले पुरुषों के लिए विधान किया गया है कि वे जीवित पशुओं के स्थान पर आटे के पशु बनाकर उनसे काम लें।

जब तक आत्मा का प्रारब्ध कर्म क्रियाशील है, उसका शारीरिक जीवन रहता है, किन्तु जब यह शरीर से वियुक्त होती है तो सर्वथा मुक्त हो जाती है। नितान्त मोक्ष तथा सासारिक जीवन परस्पर अनुकूल नहीं हैं। न्यायामृत के ग्रंथकार का तर्क है कि ऐसा मनुष्य, जिसे सत्य का प्रकाश तो मिल गया किन्तु ईश्वर की कृपा प्राप्त नहीं हुई जो कि मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है, उसे हमेशा के लिए मर्त्यलोक में जीवन बिताना होता है। यह जीवन्मुक्ति है। नितान्त मोक्ष केवल ईश्वर की कृपा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

भागवत के अनुसार विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन (स्वरूपेण व्यवस्थिति) में पुन लौट जाना ही मोक्ष है, जिसमें समस्त अनावश्यक रूप (अन्यथारूप) दूर हो जाते हैं।[1] यह ईश्वर के साथ साहचर्य की अवस्था है किन्तु उसके साथ एकात्म-भाव नहीं है। यदि जीव और प्रभु के मध्य का भेद दृष्टिगत नहीं होता, जैसे कि प्रगाढ निद्रा अथवा प्रलय की अवस्था में, तो यह मोक्ष की अवस्था नहीं है।[2] मुक्तात्मा पुरुष अपने व्यक्तित्व की चेतना को प्रलय तथा सृष्टि-रचना, दोनों अवस्थाओं में स्थिर रखते हैं। मोक्ष-अवस्था में दुःख का अभाव तथा स्थिर सुख का अनुभव होता है। किन्तु आत्मा ईश्वर के सादृश्य तक ऊंचा उठने की योग्यता नहीं रखती। आत्मा उसकी सेवा करने ही के योग्य होती है। यदि ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करने को मोक्ष कहा जाता है तो यह सोपाधिक अर्थों में ही है, अर्थात् आत्मा को ब्रह्म का दर्शन हो जाता है। ऐसे श्रुति वाक्यों का भाव, कि "वह जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है ब्रह्म ही हो जाता है" यह नहीं है कि दोनों में नितान्त ऐक्य हो जाता है।[3] समस्त मुक्तात्मा पुरुषों की इच्छा तथा आशय एक समान होते हैं।[4] निःसंदेह उनमें यथार्थ अर्थों में इच्छाएं रहती हैं, किन्तु उनकी इच्छाएं सर्वोपरि प्रभु की इच्छाओं के ही समान होती हैं। वे स्वेच्छा से ध्यान करते हैं।[5] वे बिना किसी विशेष प्रयत्न के अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर लेते हैं।[6] वे अपनी इच्छा से शुद्ध सत्त्वस्वरूप शरीर धारण करते हैं यद्यपि यह शरीर कर्म की देन नहीं है, किन्तु जिन शरीरों को वे धारण करते हैं उनके साथ किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखते। यदि वे इस प्रकार का शरीर धारण न भी करें तो भी वे परम आह्लाद का अनुभव इसी प्रकार कर सकते हैं जिस प्रकार हम स्वप्नावस्था में करते हैं।[7]

1 1 1, 17। मध्व के मत में मुक्ति 'स्वरूपयोग्यस्वस्वरूपा है तथा आनन्दाभिव्यक्ति' है।

2 'सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज' बृहदारण्यक उपनिषद्, पृष्ठ 118।

3 तत्त्वमुक्तावली, पृष्ठ 55 56।

4 4 2 16।

5 3 3, 27।

6 4 4 8।

7 4 4, 10 16।

ऐसे पुरुष जो मोक्ष को प्राप्त करते हैं, संसार-चक्र से छूट जाते हैं किन्तु अन्य मृत्यु के उपरान्त एक भिन्न जीवन में चले जाते हैं जिसका निर्धारण कर्म के विधान द्वारा होता है। मृत्यु के समय इस स्थूल शरीर का अपने भागों में विलय हो जाता है एवं आत्मा, सूक्ष्म तथा अदृश्य प्राकृतिक शरीर धारण किए हुए जिसमे इन्द्रिया भी साथ होती हैं, या तो दिव्य लोक में चली जाती है, अथवा अस्थायी नरकों मे अथवा ज्योतिर्मय चन्द्रलोकों मे जाती है, जहां यह कुछ समय तक अपने सुकृत कर्मों के अनुसार ठहरती है। उसके पश्चात् माता के गर्भ में जाती है, जहां पर आत्मा की नई-नई ऐहलौकिक देह का निर्माण होता है।[1] इस प्रकार वार-वार जन्म होता रहता है। जब इसके अन्दर ईश्वर के प्रति पूर्णरूप में प्रेम अथवा द्वेष का भाव विकसित होता है, उस समय या तो यह मोक्ष प्राप्त कर लेती है अन्यथा नरक में धकेल दी जाती है।

14. समीक्षात्मक विचार

ज्ञानरूपी तथ्य हमे जगत् के विषय मे एक व्यवस्थित भाव तो दे देता है किन्तु इस जगत् के अन्दर ईश्वर, आत्माएं और प्रमेय पदार्थ जो बाह्यरूप में एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, उनके विभाग का औचित्य नही बताता। और न ही हम सारतत्त्व कहे जाने वाले पदार्थों अथवा जीवात्मा का सम्बन्ध, उन विश्वव्यापी तत्त्वों के साथ उस सम्बन्ध के विषय मे, कुछ समझ सकते हैं जो इस संसार में कार्य कर रहा है। यदि ईश्वर सृष्टि की रचना करता है, यदि संसार की प्रक्रिया का प्रारम्भ दवीय इच्छा का परिणाम है, तो निःसदेह हम सृष्टि की व्याख्या कर सकते हैं। किन्तु यह कठिनाई सामने आती है कि जो भी किसी अभाव को अनुभव करता है अथवा इच्छा करता है वह अपूर्ण तथा सान्त होता है। दृष्टिकोण से ईश्वर को सर्वोपरि तथा परिपूर्ण नही माना जा सकता। ईश्वर के ऊपर जगत् की निर्भरता का स्वरूप क्या है, इसका भी स्पष्ट रूप में प्रतिपादन नही किया गया। यदि ईश्वर वस्तुतः स्वतन्त्र है तब उसे ब्रह्म रूप से प्रतिबन्ध लगाने वाला कोई नही हो सकता। द्वैतवाद ईश्वर की स्वतन्त्रता को असम्भव बना देता है। मध्व अनन्त का विचार अमूर्त भावात्मक रूप में करते हैं और इसलिए उन्हें इसके तथा सान्त के मध्य कोई एकत्व लक्षित नही हो सकता। यदि ब्रह्म और यह जगत्, दोनों साथ-साथ नित्य हैं तो उसका परस्पर-सम्बन्ध क्या है? यदि वह सम्बन्ध भी समानरूप मे नित्य है तो क्या सर्वोपरि आत्मा अपने से भिन्न पदार्थों के साथ बद्ध है? हम ऐसा नही कह सकते कि सर्वोपरि आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह जीवात्माओं के साथ सम्बद्ध रहे, क्योंकि ईश्वर जीवात्माओं के अस्तित्व का कारण नही है। ऐसा विश्वास करना कठिन है कि ईश्वर के सारतत्त्व में ऐसे पदार्थों के साथ सम्बन्ध भी लगा है जिनका अस्तित्व इसके लिए आवश्यक नहीं है। यह मानना भी उतना ही कठिन है कि सम्बन्ध अनावश्यक अथवा आकस्मिक है क्योंकि एक नित्य घटना जो अनुत्पन्न आत्माओं को अपने अधीन रखती है और सर्वोपरि सत्ता को भी अपने वश में रखती है, केवलमात्र एक आकस्मिक घटना नही हो सकती। यदि आत्माएं तथा प्रकृति परब्रह्म के ऊपर आश्रित हैं तो उन्हें द्रव्य की कोटि में नही माना जा सकता। वास्तविक अर्थों में द्रव्य सज्ञा केवल ऐसे ही पदार्थ के लिए प्रयुक्त हो सकती है जो अपने-आप में पूर्ण हो, जिसका निर्धारण भी अपने से ही हो और जिसकी व्याख्या भी पूर्णरूप से अपने ही द्वारा हो

1 3 : 1, 29।

सके। मध्व इस विषय को जानते हैं कि इस प्रकार की यथार्थता केवल सर्वोपरि आत्मा ही के अन्दर है। अन्य सब विष्णु से ही उत्पन्न होते हैं जो सर्वोपरि आत्मा है, चाहे साक्षात् अथवा परोक्षरूप में। यहां तक कि उसकी पत्नी श्री और उसका पुत्र वायु भी पूर्णरूप में उसीके आश्रित हैं। किन्तु विष्णु को जगत् की सर्वोपरि यथार्थ सत्ता स्वीकार कर लेने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह *अन्य पदार्थों का उत्पादक अथवा आश्रय-स्थान नहीं है।*

इसके अतिरिक्त चुनाव की कल्पना से नैतिक जीवन को भी आघात पहुंचने का भय है। भाग्यवादी विचार की योजना से मध्व के आस्तिकवाद के अन्य अंशों पर भी बहुत बड़ी जिम्मेवारी आ जाती है। ईश्वर के नैतिक स्वरूप में भी इससे बहुत बाधा पहुंचती है तथा दैवीय न्याय के गुण तथा दैवीय प्रेम का भी कुछ अर्थ अथवा मूल्य नहीं रह जाता। मनुष्य के अपने पुरुषार्थ का महत्त्व विलुप्त हो जाता है, क्योंकि चाहे कोई व्यक्ति अपने को चुना हुआ समझे या न चुना हुआ समझे, उसकी स्वतन्त्र सत्ता न रह-कर उसके अन्दर उदासीनता तथा मानसिक जड़ता आ जाती है। यदि हम यह नहीं जानते कि हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है तो हमें निरन्तर अपने को पवित्र करते के लिए कर्म करते जाना चाहिए। ज्ञान के अभाव में हमें कम से कम आशावान होना चाहिए। *किन्तु इस प्रकार का सिद्धांत हमें अत्यधिक रूप में निराशा में जकड़ देगा* और तब यह प्रश्न उठेगा कि कहीं ईश्वर हमारे साथ कोई क्रियात्मक परिहास तो नहीं कर रहा, जब कि वह हमारे अन्दर एक ओर तो स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न करता है और दूसरी ओर हमें उसके अयोग्य बना देता है। जब तक हम इस स्थिति में नहीं होते कि हमें निश्चय हो जाए कि प्रत्येक व्यक्ति, जिसने मानवीय शरीर धारण किया है वह दैवीय रूप भी प्राप्त कर सकता है, और इस विषय की धार्मिक दृष्टि से पूरी-पूरी सम्भावना है, तब तक हमारे समक्ष वस्तुतः उपयोगी नैतिक शासन नहीं आ सकता। कुछ वाक्यों में मध्व कहते हैं कि जीवात्मा ज्ञान तथा परमानन्द का रूप है, यद्यपि उसे अपने इस रूप का ज्ञान नहीं है किन्तु ईश्वर अनादि काल से अपने ज्ञान तथा परमानन्द स्वरूप से अभिज्ञ है। इसलिए ईश्वर तथा मनुष्य के मध्य चाहे कितना ही महान भेद क्यों न हो, *किन्तु वर्ग का भेद नहीं है। प्रत्येक आत्मा का आध्यात्मिक तत्त्व सम्भ-*वत अपनी निष्प्रभता का परिणाम प्रस्तुत कर सके, किन्तु यह सिद्ध करना कठिन है कि आत्मा में नित्य आध्यात्मिक तत्त्व तब भी वर्तमान रहते हैं जबकि वह मोक्ष प्राप्त कर लेती है। इस सबमें हम अनुभव सम्बन्धी भेदों को ईश्वर के राज्य में केवल स्था-नान्तरित मात्र करते हैं।

15 निम्बार्क

निम्बार्क वैष्णवधर्मावलम्बी एक तेलगू ब्राह्मण थे जो रामानुज के कुछ समय पश्चात् तथा मध्व से पूर्व लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। उन्होंने ब्रह्मसूत्र के ऊपर 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक एक लघु भाष्य लिखा और दशश्लोक भी 'दशश्लोकी' नाम से लिखे जिनके द्वारा उन्होंने जीव, ईश्वर और जगत् के भेद सम्बन्धी अपने मत पर प्रकाश डाला है। उनके सिद्धान्त को द्वैताद्वैत कहा जाता है। केशव काश्मीरी ने भगवद्गीता पर एक भाष्य लिखा है जिसे 'तत्त्वप्रकाशिका' का नाम दिया है और जिसके द्वारा निम्बार्क के साधारण मत का समर्थन किया गया है। ब्रह्मसूत्र पर लिखे उनके भाष्य में ब्रह्म के परि-

णामवाद के सिद्धान्त का परिष्कार किया गया है। पुरुषोत्तम की स्वतन्त्र यथार्थता तथा जीव और प्रकृति की पराश्रित यथार्थताओं के अन्दर भेद बताया गया है। जीव और ईश्वर दोनों ही आत्मचेतन हैं किन्तु जीव परिमित शक्ति वाला है और ईश्वर वैसा नहीं है। जीव भोक्ता है, संसार भोग्य है और ईश्वर सर्वोपरि नियन्ता है।

निम्बार्क की शिक्षाओं के अनुसार जीव ज्ञानस्वरूप है किन्तु शंकर के अर्थों में नहीं। यह ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञान को धारण करने वाला भी है, ठीक जैसे कि सूर्य प्रकाशस्वरूप भी है और प्रकाश का स्रोत भी है। आत्मा का अपने गुणों के साथ सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि धर्मी का सम्बन्ध धर्म के साथ होता है। यह भेद और अभेद रूपी दोनों ही हैं। धर्म और धर्मी के मध्य नितान्त एकत्व नहीं है, किन्तु भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। जीव यद्यपि आकार में अणुरूप है तो भी ज्ञानरूपी गुण की सर्वव्यापकता को धारण किए रहने के कारण यह शरीरमात्र के अन्दर के सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है।[1] जीव कर्म का कर्ता है। ऐसे श्रुति-वाक्य, जो उसकी सक्रियता का निषेध करते हैं, उनका तात्पर्य जीव की कर्म में पराधीनता का प्रतिपादन करने से है। जीव का कोई स्वतन्त्र ज्ञान अथवा क्रिया नहीं है। आनन्द जीव के साथ इसकी प्रत्येक अवस्था में साथ-साथ रहता है। प्रगाढ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था तथा मोक्ष की अवस्था में भी जीव अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखता है। जिस प्रकार ईश्वर शासक है उसी प्रकार जीव का सब अवस्थाओं में शासित होने (नियाम्यत्व) का स्वरूप है। जीवों की संख्या अनन्त है यद्यपि उन सबका सर्वोपरि आत्मा के द्वारा धारण होता है।

जड जगत् के तीन मुख्य वर्ग (तत्त्व) हैं: (1) अप्राकृत अर्थात् जिसकी उत्पत्ति मूलभूत आद्यप्रकृति से नहीं हुई, जैसे कि दैवीय शरीर की सामग्री, जैसे रामानुज ने शुद्ध सत्त्व कहा और यह ईश्वर की नित्य विभूति का आधारभित्ति है; (2) प्रकृति अथवा जो कुछ त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न हुआ है; और (3) काल। प्रकृति और काल विश्व-जीवन के आधारभूत तत्त्व हैं। ये तीनों वर्ग भी जीवात्माओं की भांति नित्य हैं।

ईश्वर का नित्य स्वभाव शासन (नियन्तृत्व) करना है। निम्बार्क तथा केशव ब्रह्म के विशेषण रहित स्वरूप का खण्डन करते हैं और ब्रह्म को उत्तम तथा शुभ गुणों का आगार बताते हैं।[2] निम्बार्क ने सर्वोपरि आत्मा तथा कृष्ण को एक समान माना है तथा समस्त शुभ गुणों का आगार और अहम्मन्यता, अज्ञान, वासना और आसक्ति आदि दोषों से रहित माना है। उसके चार स्वरूप (व्यूह) हैं और वह अपने को अवतारों के रूप में प्रकट करता है। वह विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण है। वह उपादान (भौतिक) कारण है क्योंकि सृष्टि-रचना से तात्पर्य उसकी सूक्ष्मरूपिणी चित् और अचित् शक्तियों की अभिव्यक्ति है। वह विश्व का निमित्त कारण है क्योंकि वह जीवात्माओं को उनके अपने-अपने कर्मों तथा फलों के साथ संयुक्त करता तथा

1 2 : 3, 25।

2 केशव का कहना है : "नापि निर्धर्मकं ब्रह्म तस्य ज्ञानक्रियादीनां स्वाभाविकशक्तीनां शास्त्रसिद्धत्वात्" (1 : 1, 5)। आगे कहा गया है : "आनन्दमयशब्दनिर्दिष्ट आत्मा ब्रह्मैव" (1 : 1, 13)।

उनका अनुभव प्राप्त करने के लिए उचित साधनों को जुटाता है।

इस विश्व की उपेक्षा केवल भ्रान्ति मात्र कहकर नहीं की जा सकती, क्योंकि जो कुछ ईश्वर के स्वरूप में सूक्ष्मरूप से विद्यमान है उसी का यह विश्व अभिव्यक्त रूप (परिणाम) है। निम्बार्क विश्वविषयक विवर्तवाद के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं और तर्क करते हैं कि यदि यह संसार यथार्थ न होता तो इसे दूसरे के ऊपर अध्यस्त नहीं किया जा सकता।

जीव, जगत् और ईश्वर इन तीनों तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त एकत्व अथवा अभेदपरक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के मत को मानने से उपनिषदों के असंख्य वाक्यों का विरोध होगा जिनमें इनके पारस्परिक भेद पर बल दिया गया है, और भिन्न-भिन्न तत्त्वों के स्वरूप तथा गुणों में भी बहुत-सा असामञ्जस्य उत्पन्न होगा। किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त तीनों तत्त्व परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि ऐसा कथन उपनिषदों के अन्तर्गत साक्ष्य से दूर भागना होगा। यदि परमात्मा जीवात्मा और जगत् से सर्वथा भिन्न होता तो यह सर्वव्यापक न हो सकता। यह वैसे ही परिमित परिमाण का होता जैसे कि जीवात्मा तथा जगत् हैं और इसलिए इसे शासक (नियन्ता) नहीं माना जाता। इस प्रकार का सुझाव, कि अभेद यथार्थ है तथा भेद उपाधि अथवा अवच्छेद के कारण है, स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका अर्थ होगा कि हम ब्रह्म को अवस्थाओं के अधीन कर देते हैं। इस प्रकार के मत में ब्रह्म निर्मल नहीं रहता और मानना पड़ेगा कि वह त्रुटि भी कर सकता है तथा वह सुख-दुःख का अनुभव करने वाला भी ठहरेगा और यह सब ब्रह्म के सर्वमान्य स्वरूप के विरुद्ध होगा। इस प्रकार निम्बार्क इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि भेद और अभेद दोनों ही यथार्थ हैं। जीवात्मा तथा जगत् ब्रह्म से भिन्न हैं क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप और गुणों से भिन्न हैं। वे भिन्न नहीं हो सकते क्योंकि वे स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व स्थिर नहीं रख सकते और सर्वथा ब्रह्म ही के ऊपर आश्रित हैं। भेद पृथक्त्व का और आश्रित अस्तित्व का द्योतक है (परतन्त्रसत्ताभाव) और अभेद स्वतन्त्र अस्तित्व के अभाव का द्योतक है (स्वतन्त्र-सत्ताभाव)। भेदाभेद के इस सिद्धान्त की दृष्टि से सुप्रसिद्ध वाक्य "तत् त्वम् असि" की व्याख्या की गई है। 'तत्' नित्य तथा सर्वव्यापक ब्रह्म का द्योतक है, 'त्वम्' से तात्पर्य जीवात्मा से है जिसका अस्तित्व ब्रह्म के ऊपर निर्भर है; और 'असि' शब्द दोनों के परस्पर सम्बन्ध को बताता है जो कि अभेद के अविरुद्ध भेदपरक है। इस प्रकार का संबंध सूर्य तथा उसकी किरणों में अथवा अग्नि और उसकी चिनगारियों में पाया जाता है। यद्यपि आत्माएं तथा प्रकृति ईश्वर से भिन्न हैं वे उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी रखते हैं जैसे लहरें जल के साथ अथवा एक रस्सी के बल रस्सी के साथ रखते हैं। वे दोनों ब्रह्म से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। भिन्न सत्ताओं को एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् तथा विच्छिन्न ही माना जाए यह आवश्यक नहीं है। भेद तथा एकत्व, दोनों एकसमान यथार्थ हैं और जो भिन्न है वह एकात्म भी है।

फिर भी जीवात्माएं और जगत आत्मनिर्भर नहीं हैं वरन् ईश्वर के द्वारा इन्हें प्रेरणा मिलती है।[1] प्रलयकाल में ये दोनों ईश्वर के स्वरूप में विलीन हो जाते हैं जो जीव तथा जगत के सूक्ष्मरूपों को धारण करता है। विलय तथा पुनः सृजन के कालों के मध्य-वर्ती समय में समस्त तत्त्व चेतन और अचेतन सूक्ष्म अवस्था में उसके अन्दर निवास करते

1 दशश्लोकी, 7।

है। ब्रह्म की शक्ति के द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है जहां प्रत्येक पृथक् आत्मा उपयुक्त शरीर प्राप्त करती है।

निम्बार्क ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते जिसके अनुसार चेतन तथा अचेतन जगत् ब्रह्म के साथ मिलकर एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं और जहां तक उक्त व्यक्तित्व का सम्बन्ध है वही इस संसार का उपादान कारण है। निम्बार्क के अनुसार, ब्रह्म की शक्ति ही संसार का उपादान कारण है और शक्तिगत परिवर्तन ब्रह्म की अखण्डता के ऊपर कोई प्रभाव नहीं रखते। जिसे रामानुज ब्रह्म का शरीर कहते हैं उसे ही निम्बार्क शक्ति की संज्ञा देते हैं। संसार का निर्माण करने के लिए ईश्वर को किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। वह सर्वशक्तिमान है और वह केवल अपनी इच्छा मात्र से ही संसार की रचना करने में समर्थ है।[1] इस प्रकार ब्रह्म संसार का उपादान तथा निमित्त दोनों ही प्रकार का कारण है। संसार का ब्रह्म के साथ एकात्मभाव है और अपने परिणमन तथा कर्म करने की शक्ति के लिए वह ब्रह्म के ऊपर निर्भर करता है। और फिर भी कुछ अर्थों में यह संसार ब्रह्म से भिन्न है। तीन गुणों में प्रकृति के विकास संबंधी प्रचलित सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया है।[2]

सर्वोपरि आत्मा को सब प्रकार के दोषों से रहित माना गया है। वह सब प्रकार के औदार्ययुक्त गुणों का आगार है, दिव्य शरीर धारण किए हुए है, सौन्दर्य तथा कोमलता और माधुर्य तथा कान्ति से पूर्ण है।[3] आत्माएं संख्या में अनन्त और आकार में अणु हैं। प्रत्येक आत्मा ब्रह्म की, व्यक्तित्व के रूप में परिणत हुई किरण है।[4] उक्त सिद्धान्त का प्रयास, पूर्ण एकत्व से बचने की ओर है जिसमें गुण असमंजस में पड़ जाते हैं और भेद नष्ट हो जाते हैं और साथ-साथ वह केवल अनेकत्ववाद से भी बचने का प्रयत्न करता है क्योंकि अनेकत्ववाद ब्रह्म की सर्वव्यापकता को क्षति पहुंचाता तथा उसके स्वभाव और प्रभुता को भी परिमित कर देता है।

जीव का विशुद्ध स्वरूप अपने कर्म के कारण आवरणयुक्त हो जाता है और यह अविद्या का परिणाम है जो अनादि काल से है किन्तु फिर भी ईश्वर की कृपा से उसका अन्त किया जा सकता है। प्रपत्ति अथवा ईश्वर के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण करना ही मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। ऐसे व्यक्तियों के ऊपर, जो प्रपन्न पुरुषों के समान भाव रखते हैं, ईश्वर की कृपा रहती है और ईश्वर उनके अन्दर भक्तिभाव उत्पन्न करता है जो अन्त में जाकर ब्रह्म-साक्षात्कार में परिणत हो जाता है। भक्ति के अन्दर सर्वोपरि यथार्थ सत्ता का ज्ञान, जीवात्मा का स्वरूप, दैवीय कृपा का फल अथवा मोक्ष जो ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों का अव्यवहित साक्षात्कार है, जिससे सब प्रकार की स्वार्थपरता तथा अज्ञान पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं, और ईश्वर के साक्षात्कार में जो बाधाएं आती हैं जैसे कि आत्मा तथा शरीर को एवं इन्द्रियों अथवा मन को भ्रांति के कारण एक मान लेना, ईश्वर को छोड़कर अन्य का आश्रय ढूंढना, उसके आदेशों का उल्लंघन अथवा उनके प्रति उदासीनता का भाव, ईश्वर को साधारण प्राणियों के समान मान लेना, सच्ची भक्ति से उत्पन्न प्रसाद को मोक्ष समझ लेना ये सब आ जाते हैं। निम्बार्क के अन्दर

1. 1 : 1, 19।
2. दशश्लोकी, 3।
3. दशश्लोकी, 4।
4. ब्रह्मसूत्र पर भाष्य, 2 : 3, 42।

कृष्ण और राधा[1] नारायण तथा उनकी पत्नी का स्थान ले लेते हैं। भक्ति उपासना नही है अपितु प्रेम और श्रद्धा है। ईश्वर की कृपा सदा ही असहायों को ऊंचा उठाने और उन्हें वस्तुओं की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाने के लिए उद्यत रहती है। अन्य देवताओं की पूजा का निषेध है। शास्त्रविहित नैतिक आचार-सम्बन्धी नियमों के पालन पर बल दिया गया है। कर्म को ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति कराने का साधन बताया गया है।[2] जिसमे भक्ति भी साथ-साथ रहती है।[3]

रामानुज और निम्बार्क दोनों ही भेद और अभेद को आवश्यक मानते है और जीवित तथा जड सत्ताओ को ब्रह्म के गुण मानते हैं। रामानुज एकात्मता के सिद्धान्त पर अधिक बल देते है। निम्बार्क के लिए दोनों ही एक समान यथार्थ हैं और वही महत्त्व रखते हैं। इसके अतिरिक्त रामानुज जीवात्माओं (चित्), तथा जगत् (अचित्) को ब्रह्म के गुण (विशेषण अथवा प्रकार) के रूप मे मानते है। और उनके मत मे सर्वोपरि प्रभु के अद्वैतत्व पर बल दिया गया है, जीवात्माए तथा जगत् जिसके उपाधिस्वरूप है।[4] निम्बार्क इस मत का विरोध इस आधार पर करते है कि यह आवश्यक नही है कि शरीर-धारण गुणों की उपस्थिति का भी उपलक्षण हो। क्योंकि गुण का विषय उस वस्तु मे, जिसमे वह गुण है तथा उस अन्य वस्तु मे जिसमे वह नही है, परस्पर भेद करना है। यदि चित् और अचित् ब्रह्म के गुण हैं तो फिर वह यथाथ सत्ता कौन-सी है जिससे ब्रह्म का भेद इन लक्षणो से युक्त होने के कारण किया जाता है।

16. वल्लभ

वल्लभ (1401 ईस्वी) दक्षिण भारत के एक तेलगू ब्राह्मण थे जिन्होने उत्तर भारत मे आकर विष्णुस्वामी के मत का परिष्कार करके उसे बढाया। विष्णुस्वामी तेरहवी शताब्दी मे हुए। वे न केवल उपनिषदो, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र को प्रामाणिक ग्रन्थ मानते थे, अपितु भागवत पुराण को भी प्रामाणिक मानते थे। अपने ग्रथो अर्थात् 'अणु-भाष्य', 'सिद्धान्तरहस्य', तथा 'भागवत-टीका सुबोधिनी' मे[5] वे वेदान्त की एक ऐसी ईश्वरज्ञानपरक व्याख्या करते हैं जो शकर तथा रामानुज दोनों की व्याख्या से भिन्न है। उनके मत की सज्ञा 'शुद्धाद्वैत' है अर्थात् विशुद्ध अद्वैतवाद।[6] उनका कहना है कि समस्त जगत् यथार्थ है और सूक्ष्मरूप मे ब्रह्म है। जीवात्माए और जड जगत् तात्त्विक रूप मे ब्रह्म ही हे। वल्लभ मानते हैं कि जीव, काल और प्रकृति अथवा माया सब नित्य वस्तुए हैं, वे ब्रह्म के ही तत्त्व से सम्बद्ध हैं और उनकी कोई पृथक् सत्ता नही है। ऐसे व्यक्ति, जो माया की शक्ति को जगत् का कारण मानते हैं, शुद्ध अद्वैतवादी नहीं है क्योंकि वे ब्रह्म के अतिरिक्त भी एक दूसरी सत्ता को स्वीकार करते हैं।[7] जहा शकर जगत् की उत्पत्ति माया की शक्ति के द्वारा ब्रह्म से मानते हैं वहा दूसरी ओर वल्लभ मानते हैं कि ब्रह्म

1 दशश्लोकी, 5 और 8।
2 1 1, 4।
3 1 · 1, 7।
4 चिदचिद्विशिष्टपरमेश्वराद्वैत।
5 गिरिधर का 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' और बालकृष्ण का 'प्रमेयरत्नार्णव' इसी सम्प्रदाय के ग्रथ हैं।
6 जो शकर के केवलाद्वैत से भिन्न है।
7 1 1, 6।

माया जैसे किसी तत्त्व के साथ संबंध के बिना भी जगत् का निर्माण करने में समर्थ है। उनके मत में शास्त्र ही अन्तिम प्रमाण है और हमारा तर्क उसके आदेशों के विरोध में नहीं जा सकता।[1] ईश्वर सच्चिदानन्द है, और गुणों से युक्त है; श्रुति के उन वाक्यों का जिनमें कहा गया है कि वह निर्गुण है, तात्पर्य यह है कि उसमें साधारण गुणों का अभाव है।[2] ईश्वर शरीरधारी कृष्ण है जिनमें ज्ञान और क्रियारूप गुणों का आधान है। वही जगत् का स्रष्टा है और हमें यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं कि उसको किसी भौतिक शरीर की आवश्यकता है जैसी कि सांसारिक कर्मों के कर्ताओं को होती है क्योंकि हम लोगों पर जो बात लागू होती है उसका अतीन्द्रिय तथा सर्वोपरि ईश्वर के विषय में लागू होना आवश्यक नहीं है। वह केवल अपनी इच्छा की शक्ति से ही समस्त संसार की रचना करता है। वह केवल कर्ता ही नहीं भोक्ता भी है।[3] यद्यपि उसे शरीर धारण करने की तो कोई आवश्यकता नहीं होती तो भी वह नानाविध रूपों में अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए प्रकट होता है।[4] उसका सबसे श्रेष्ठरूप वह है जिसे यज्ञरूप कहा गया है और जिसका सम्बन्ध कर्म करने से है और उसकी पूजा, जैसाकि ब्राह्मण ग्रंथों में कहा है, कर्मों के द्वारा ही की जा सकती है। जब वह ज्ञान से सम्बद्ध होता है तो वह ब्रह्म है तथा उस अवस्था में ज्ञान के द्वारा ही, जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है, उसे प्राप्त कर सकते हैं। सर्वोपरि कृष्ण की पूजा गीता तथा भागवत के नियमों के अनुसार ही करनी चाहिए।

मनुष्यों तथा पशुओं की आत्मा में आनन्दरूप गुण अव्यक्त अवस्था में रहता है और इसी प्रकार प्रकृति में चैतन्य रूप गुण अव्यक्त अवस्था में है। ब्रह्म अपने गुणों के आविर्भाव तथा तिरोभाव द्वारा जिस रूप को चाहता है, धारण कर लेता है। जीव आकार में आणविक है[5] और ब्रह्म रूप है तथा उसका एक अंश भी है।[6] ब्रह्म के आनन्दरूप पर आवरण आने से हम उसे जीव कहते हैं। यद्यपि इसकी उत्पत्ति केवल आविर्भाव मात्र का नाम है। वस्तुतः यह ब्रह्म ही के समान यथार्थ और नित्य है। जीवों के अन्दर तीन प्रकार का भेद है। शुद्ध जीव वे हैं जिनके ऐश्वर्यादि गुण अविद्या की शक्ति से मलिन नहीं होने पाते। संसारी जीव वे हैं जो अविद्या के जाल में जकड़े हुए होने के कारण जन्म और मरण का अनुभव करते हैं क्योंकि वे स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर धारण किए रहते हैं। मुक्त जीव वे हैं जो अविद्या (ज्ञान) के बल पर संसार के बन्धनों से स्वतन्त्र हैं। जब आत्मा मोक्ष को प्राप्त करती है तो उसे अपने अव्यक्त गुण पुनः प्राप्त हो जाते हैं और वह ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है। जड़ जगत् भी ब्रह्म से पूर्ण (ब्रह्मात्मक) है। इसके अन्दर ब्रह्म के दो गुण, ज्ञान तथा आनन्द अव्यक्त हैं, और जो अवशिष्ट रहता है वह शुद्ध सत्त्व है अर्थात् अस्तित्वमात्र है। चूंकि यह जगत् के रूप में प्रकट हुआ ब्रह्म ही है, अतः इसे ब्रह्म का कार्य ही माना गया है। सृष्टि-रचना तथा प्रलय केवलमात्र सर्वोपरि सत्ता के आविर्भाव तथा तिरोभाव ही हैं और वही सत्ता उक्त रूप धारण कर लेती है। ब्रह्म भी एक उत्पन्न पदार्थ का रूप धारण कर लेता है। और उसका बोधग्रहण सृष्टि-रचना के रूप में होता है तथा प्रलय-काल में जगत् अपने मौलिक रूप में वापस लौट जाता है और

1 1 : 1, 20।
2 देखें, ब्रह्मसूत्र पर उनका भाष्य 3, 2 : 22।
3 1 1, 1।
4 1 : 1, 20-21।
5. 2 . 3, 19।
6 2 . 3, 43।

प्रत्यक्ष का विषय नही रहता। इसलिए जगत् ब्रह्म ही के समान तात्त्विक है और इसकी रचना तथा विनाश ब्रह्म की शक्ति के ही कारण है। जगत् को केवल भ्रांतिमय प्रतीति नही माना जा सकता और न ही यह तात्त्विक रूप मे ब्रह्म से भिन्न है। कारण-कार्यसम्बन्ध नितान्त एकत्व रूप सम्बन्ध है।[1] यह विश्व यथार्थ मे ब्रह्म है। ब्रह्म सर्वथा अपनी इच्छा से अपने को जीवात्माओ तथा जगत् के रूप मे प्रकट करता है किन्तु इससे उसके तात्त्विक स्वरूप मे कोई विकार नही आता। वह जगत् का उपादान तथा निमित्त दोनो ही प्रकार का कारण है।[2] पक्षपात तथा क्रूरता के दोष ब्रह्म मे नही आते, क्योकि वल्लभ ब्रह्म से जीवो का भेद स्वीकार करते है। वे यह भी मानते हैं कि माया के बन्धनो से मुक्त होकर जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

वल्लभ ईश्वर को सम्पूर्ण इकाई तथा जीव को उसका अश मानते है, किन्तु चूकि जीवात्मा भी उसी के समान तात्त्विक सार रखता है, दोनो के अन्दर कोई वास्तविक भेद नही है। स्फुलिगो का अग्नि के साथ जो सम्बन्ध है, उसी दृष्टान्त का प्रयोग इस महान् उद्देश्य को समझाने के लिए किया जाता है। जीवात्मा अविद्या की शक्ति से आवृत्त सर्वोपरि ब्रह्म नही, अपितु स्वय ब्रह्म ही है जिसमे एक गुण अदृश्य हो गया है। आत्मा दोनो ही है, अर्थात् कर्ता भी है और भोक्ता भी। यह आकार मे आणविक है यद्यपि अपने ज्ञानरूप गुण के द्वारा समस्त शरीर मे व्याप्त है, ठीक जिस प्रकार चन्दन का ज्ञान अपनी सुगन्ध के द्वारा जहा नही है वहा भी हो जाता है। रामानुज की दृष्टि मे, जो एक ही परम यथार्थसत्ता को मानते हैं और जो मूलभूत सत्ता है, ईश्वर तथा आत्मा के मध्य का भेद कभी नष्ट नही होता। रामानुज ईश्वर तथा आत्मा को सम्पूर्ण इकाई तथा उसके अशो के रूप मे प्रतिपादन करते हैं जहा कि अश वस्तुत पूर्ण इकाई के भिन्न-भिन्न महत्त्वो को प्रकट करते हैं, उनका सामानाधिकरण्य अथवा विशेषण-विशेष्य-भाव अनेको अशो मे उसी एक इकाई के अन्दर निहित होने का निर्देश करता है। इसके विपरीत वल्लभ हमारे समक्ष शैलिग के क्लीवाणु के समान ही का एक विचार रखते हैं जिसमे भेद नष्ट हो जाते हैं, किन्तु रामानुज का मत अधिकतर हीगल के समान है।

इस माया-रूप जगत् को भी अयथार्थ नही माना गया है[3] क्योकि माया इसके अतिरिक्त और कुछ नही जिसे ईश्वर स्वेच्छा से उत्पन्न करता है। "ब्रह्म विश्व का नैमित्तिक तथा उपादान दोनो ही प्रकार का कारण है। वह केवलमात्र विश्व का रचयिता ही नहीं है अपितु स्वय विश्व का रूप है।[4] वे बृहदारण्यक के वर्णन को स्वीकार करते है,[5] अर्थात् ब्रह्म ने अनेक होने की इच्छा की और स्वय अनेको जीवात्माओ तथा जगत् के रूप मे परिणत होकर प्रकट हो गया। ब्रह्म के अन्दर आत्म-अभिव्यक्ति की आन्तरिक इच्छा विद्यमान रहती है। वल्लभ के अनुसार, ईश्वर मे वह शक्ति है जिसके द्वारा वह जगत के विकास तथा विनाश को सम्भव बना सकता है। माया अविद्या से भिन्न है क्योकि अविद्या वस्तु-मा के एकत्व को आवृत किए रहती है तथा उस भेद के ज्ञान को भी उत्पन्न नही होने देती।[6] वल्लभ प्रकृति को क्रियाविहीन नही मानते क्योकि उसके

1. प्रागभाव अर्थात उत्पत्ति से पूर्व अभाव कारणात्मक अवस्था है, प्रध्वसाभाव केवलमात्र भाव के तिरोभाव हो जाने का ही नाम है।

2 1 1, 4।

3 1 1 4 पर अणुभाष्य।

4 अणुभाष्य 1 1 4।

5 1 4 3।

6 देखें शुद्धाद्वैतमार्तण्ड।

अन्दर ब्रह्म शक्ति देता है। यदि ब्रह्म स्वयं नही जाना जाता, तो भी जब वह जगत् के रूप मे प्रकट होता है तब जाना जाता है।

किन्तु ससार अयथार्थ है। संसार को यथार्थ मानने में तो आत्मा का व्यवहार ठीक है किन्तु जब वह इसको अनेकत्व के रूप में देखती है तब उसका व्यवहार ठीक नही है। संसार सत्य है, यद्यपि हमारी उसकी प्रतीति सत्य नही है। हम यह नही अनुभव करते कि यह ससार केवल ब्रह्म की ही एक आकृति है। इस प्रकार जीव के मस्तिष्क में जगत् के स्वरूप का एक भ्रांतिपूर्ण विचार बैठा हुआ है। ऐसे व्यक्तियो की दृष्टि में, जिन्होंने सत्य को प्राप्त कर लिया है, यह जगत् ब्रह्मरूप में ही प्रकट होता है। और ऐसे व्यक्तियो के लिए जिन्होंने धर्मशास्त्रों के द्वारा सत्य का ज्ञान प्राप्त किया है, यह ब्रह्म तथा माया दोनो रूप मे प्रकट होता है और ब्रह्म के अतिरिक्त रूप मे भी, यद्यपि वे जानते हैं कि ब्रह्म यथार्थ है और माया यथार्थ नही है। अज्ञानी पुरुष ब्रह्म की यथार्थता तथा अनेकों प्रतीतियों की अयथार्थता के मध्य कोई भेद नही करते। यह प्रतीतिमात्र वस्तुएं अपने को वाह्य तथा स्वतन्त्र रूप में प्रकट करती हैं। अविद्या का स्थान मनुष्य के मस्तिष्क के अन्दर है। इस प्रकार वल्लभ जगत् की अयथार्थता के विचार को इस रूप में स्वीकार नही करते। यदि जगत् अयथार्थ है तो यह भी नही कह सकते कि वह ब्रह्म के साथ एकाकार है, क्योंकि अयथार्थ वस्तु तथा प्रतीतिमात्र अयथार्थ वस्तु मे तादात्म्य का सम्बन्ध नही हो सकता। धोखे की सम्भावना तो है किन्तु यह ईश्वर द्वारा निर्धारित नही है।

माया के द्वारा जकड़ा हुआ जीव बिना ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त नही कर सकता। मोक्ष का मुख्य साधन भक्ति है यद्यपि ज्ञान भी उपयोगी है। यदि हम ईश्वर के अन्दर श्रद्धा रक्खें तो सब पाप दूर हो सकते हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे क्रियात्मक जीवन मे बहुत अतिशयोक्ति के साथ कहा जाता है। वल्लभ ने सब प्रकार की कठोर तपस्याओं को तुच्छ बताया है। यह शरीर ईश्वर का बनाया हुआ मन्दिर है और इसलिए इसे नष्ट करने का प्रयत्न करना कुछ अर्थ नही रखता। सर्वोपरि सत्ता के ज्ञान से पूर्व कर्म का स्थान है और जब उसका ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब भी कर्म विद्यमान रहते हैं। मुक्तात्मा पुरुष सब कर्मों को करते हैं।[1] उच्चतम लक्ष्य मोक्ष नही है वरन् कृष्ण की निरन्तर सेवा है तथा दिव्य लोकस्थ वृन्दावन की लीलाओ में भाग लेना है। वल्लभ, ब्रह्म की अतीन्द्रिय चेतनता में और पुरुषोत्तम मे परस्पर भेद करते हैं।[2] जीवन की वाधाओं से मुक्ति-प्राप्त आत्माएं भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। एक वे हैं जिन्होंने अपने को पूर्व की अधीनता से मुक्त किया है, जैसे सनक ऋषि और जो ईश्वर की नगरी में निवास करते हैं जहा उन्हें ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त होता है। दूसरी वे हैं जो भक्ति का आश्रय लेती हैं और पूर्ण प्रेम का परिष्कार करके ईश्वर के सहचारी हो जाती हैं। वल्लभ ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम के जीवन पर अत्यन्त बल देते हैं।

एक पक्ष मे ब्रह्म और दूसरे पक्ष में जीवात्माएं तथा जड प्रकृति के मध्य का सम्बन्ध विशुद्ध ऐक्यभाव (तादात्म्य) का सम्बन्ध है, जैसे अंश और अंशी का परस्पर सम्बन्ध होता है। भेद को तो वल्लभ ने गौण बताया, किन्तु अभेद ही यथार्थ तथा मुख्य है। वे 'तत् त्वम् असि' (वह तू है) इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह अक्षरश: सत्य है। किन्तु रामानुज तथा निम्बार्क इसे आलंकारिक अर्थों में लेते हैं। जब आत्मा परमानन्द को प्राप्त कर लेगी और जड जगत् चैतन्य तथा परमानन्द दोनों को

1. अणुभाष्य, 1 : 1, 1।
2. वही, 4 . 3, 27।

प्राप्त हो जाएगा, तब ब्रह्म तथा इनके मध्य का भेद सर्वथा मिट जाएगा—यह एक ऐसी स्थिति है जिसे रामानुज स्वीकार नही करते।

17 चैतन्य का आन्दोलन

दक्षिण भारत के वैष्णव मत ने वृन्दावन की लीला के गुणकीर्तन की ओर विशेष ध्यान नही दिया, यद्यपि कुछ आलवारो ने गोपियो के साथ कृष्ण की लीलाओ का वर्णन किया है। किन्तु उत्तर भारत मे स्थिति इससे भिन्न थी। निम्वार्क के मत मे राधा जो प्रियतमा उपपत्नी के रूप मे है, गोपियो मे केवल मुख्य ही न होकर कृष्ण की अनादिकाल से पत्नी है। 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव, विद्यापति, उमापति तथा चण्डीदास (चौदहवी शताब्दी) बगाल तथा बिहार मे राधाकृष्ण सम्प्रदाय के बढते हुए प्रभाव का दिग्दर्शन कराते हैं, जिसका श्रेय शाक्तदर्शन की विचारधारा तथा व्यावहारिक प्रचलन को है। इस प्रकार के वातावरण मे प्रशिक्षण पाकर वैष्णव मत के एक महान प्रचारक चैतन्य (पन्द्रहवी शताब्दी) विष्णुपुराण, हरिवश, भागवत और ब्रह्मवैवर्त-पुराण मे दिए गए कृष्णविषयक वर्णन से आकृष्ट हुए और उन्होने अपने व्यक्तित्व तथा आचरण से वैष्णव मत को एक नया रूप दिया। उनके उदार दृष्टिकोण तथा लोकतन्त्रात्मक सहानुभूति के कार्यों ने उनके अनुयायियो की सख्या मे वृद्धि की यद्यपि कट्टरपन्थियो मे उनकी चौका देने वाली कार्यप्रणाली से बहुत बेचैनी फैली। उन्होने बिना किसी रोक टोक के इस्लाम धर्म से आने वालो को भी गले लगाया, यहा तक कि उनके सबसे पहले शिष्यो मे एक मुसलमान फकीर भी था जिसने हरिदास के नाम से चैतन्य के वैष्णव सम्प्रदाय मे बडी ख्याति तथा आदर का स्थान पाया। उनके दो शिष्य रूप और सनातन हिन्दू-समाज से बहिष्कृत होकर मुसलमान हो गए थे, जिन्हे चैतन्य ने फिर से अपने सम्प्रदाय मे ले लिया। जीवगोस्वामी (सोलहवी शताब्दी) और उसके बहुत समय पश्चात् बलदेव ने चैतन्य के मत को दार्शनिक रूप दिया। इस सम्प्रदाय के दार्शनिक ग्रन्थो मे जीवगोस्वामी-कृत सत्सदर्भ तथा उसके ऊपर स्वय उसीका अपना भाष्य सर्वसवादिनी और ब्रह्मसूत्र पर बलदेव-कृत गोविन्दभाष्य हैं। बलदेव की प्रमेयरत्नावली भी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। ये लेखक रामानुज और मध्व के विचारो से भी प्रभावित हुए है।[1] ये पाच तत्त्वो को स्वीकार करते हैं ईश्वर, आत्माए, माया अथवा प्रकृति और स्वरूप शक्ति, जिसमे दो अवयव हैं—ज्ञान तथा शुद्ध तत्त्व, अर्थात् शुद्ध प्रकृति तथा काल है।

ज्ञान के सिद्धान्तविषयक प्रश्न पर ऐसा कुछ नही है जो इस सम्प्रदाय का अपना विशेषत्व रखता हो। ज्ञान के साधनो के विषय मे जो परम्परागत विवरण है, जिसमे वैदिक प्रामाण्य भी सम्मिलित है, वही इस सम्प्रदाय को भी मान्य है। जीवगोस्वामी तर्क करते हैं कि साधारण बोधस्वरूप चेतना की एक अवस्था है जो आगे चलकर निश्चयात्मक ज्ञान मे परिणत हो जाती है। असम्बद्ध तात्कालिक अनुभव निश्चयात्मक बोध के पूर्व आता है। पहला निर्विकल्प बोध है। निश्चयात्मक (सविकल्प) बोध मूल-रूप मे इसके अन्दर विद्यमान रहता है। यह एक तथ्य है जो निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में

1 प्रमेयरत्नावली, पृष्ठ 8।

विद्यमान रहता है, वही विश्लेषण के बाद निश्चयात्मक ज्ञान में बुद्धिगम्य होता है। परिणाम यह निकला कि निर्विकल्प ज्ञान चेतनता का एक तथ्य है और अन्तर्दृष्टि ज्ञान भी, जिसमें सम्बन्ध अनुपस्थित रहते हैं, इसी प्रकार का है। जीवगोस्वामी ऐसे सर्वव्यापी को नहीं मानते जिसमें सब भेद सम्मिलित हो।[1] हमें पहले सर्वव्यापी का उसके अपने रूप में ज्ञान होता है और उसके पश्चात् सोपाधिक सर्वव्यापी का ज्ञान होता है। ब्रह्म का अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त ज्ञान, जो शुद्ध तथा साधारण है, जीवगोस्वामी की दृष्टि में चेतना का एक सन्देहरहित तथ्य है यद्यपि इसका अतीन्द्रिय होना आवश्यक है।

परम यथार्थ सत्ता विष्णु है जो प्रेम तथा दया का शरीरधारी ईश्वर है और जो साधारण सत्, चित् तथा आनन्द के गुणों को धारण किए हुए है। वह इन अर्थों में निर्गुण है कि वह प्रकृति के गुणो मे रहित है और सगुण इसलिए है कि उसमें सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण विद्यमान हैं। ये गुण उसमे स्वरूप-सम्बन्ध से लगे हुए हैं। ये ब्रह्म के स्वरूप को भी अभिव्यक्त करते हैं तथा उसके अन्दर निहित भी हैं।[2] वही इस विश्व का विकास (उत्पत्तिस्थान), आधार तथा संहारक है और उपादान तथा निमित्त कारण भी है।[3] अपनी उच्चतर (परा) शक्ति के कारण वह इस विश्व का निमित्त कारण है[4] और उपादान कारण अपनी अन्य शक्तियों के द्वारा है जिनका नाम अपरा शक्ति और अविद्याशक्ति है। उसकी पहली शक्ति, अर्थात् पराशक्ति अपरिवर्तनीय है यद्यपि अपराशक्ति परिवर्तनों के अधीन है। ईश्वर का मुख्य स्वरूप प्रेम[5] और सुख की शक्ति है। अवतार सर्वोपरि ब्रह्म के तादात्म्य सम्बन्ध से हैं अन्य जीवात्माओं की भांति अंश नहीं है।[6] ईश्वर अनन्तरूप धारण करता है उनमें से प्रधान है कृष्ण का रूप जिसका सर्वश्रेष्ठ सुख प्रेम में है। कृष्ण जब सर्वोपरि शक्ति का रूप धारण करता है तो उसके अन्दर चित्, माया और जीव की तीन प्रधान शक्तियां आ जाती हैं। प्रथम शक्ति के द्वारा वह अपने बुद्धि तथा इच्छा के स्वरूप को स्थिर रखता है, दूसरी शक्ति से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है तथा तीसरी शक्ति से जीव उत्पन्न होते हैं। कृष्ण की सर्वोच्च अभिव्यक्ति आह्लाद शक्ति में है। राधा इस आह्लाददायक शक्ति का सार-तत्त्व है।[7] जीवगोस्वामी के अनुसार ईश्वर एक है और उसके समान कोई और नहीं है। यदि उसे अपने निजी स्वरूप मे देखें तो वह ब्रह्म है और सृष्टि के कर्त्तारूप में देखें तो वह भगवान् है। ब्रह्म रूप मे यह अमूर्त और भगवान् के रूप में वह मूर्त है। जीवगोस्वामी का कहना है। कि उनके भगवान् का रूप अधिक यथार्थ है। बलदेव के अनुसार सर्वोपरि सत्ता को हरि कहा जाता है. उसका ऐश्वर्य तथा ओजस्विता शरीरधारी नारायण के रूप मे प्रकट होती हैं तथा उसका सौन्दर्य और परमानन्द कृष्ण के रूप मे प्रकट होते हैं।

यह विश्व और इसके प्राणी ईश्वर की शक्ति के द्वारा ही प्रकट हुए हैं। वे उसके

1 भागवतसदर्भ, पृष्ठ 55।

2 मध्व का अनुसरण करके बलदेव ने भी विशेष के सिद्धांत को स्वीकार किया है यद्यपि वह इसे स्वरूपशक्ति तथा उसके परिवर्तन तक ही सीमित रखता है; क्योंकि ससार के भेद माने हुए तथ्य हैं और उनमें पहचान कराने के लिए किसी विशेष की आवश्यकता नहीं है।

3 वही 1 : 4, 24।

4 इसे थी के समान बताया गया है। देखें, बलदेव, 3 : 3, 40 और 42।

5 प्रीत्यात्मा 4 1, 1।

6 स्वांश अर्थात् मूल के समान अभिव्यक्ति तथा विभिन्नांश मूल से पृथक् अश; में भेद किया गया है। देखें बलदेव 2 3, 47।

7 तुलना कीजिए, "कृष्णस्वरूपिणी परमानन्दरूपिणी" (ब्रह्म वैवर्तपुराण, 5 : 4, 17)।

अधीन तथा आश्रित है यद्यपि उमसे पृथक् तथा भिन्न हैं। ये न तो ईश्वर के साथ एकत्व भाव ही रखते हैं और न ही उससे भिन्न हैं। एक प्रकार का दुर्बोध भेदाभेद ही वस्तुओ के विषय मे सत्य है।[1] यह जगत् तात्त्विक तथा यथार्थ है, भ्रातिमय नही है, इसे इसके स्वरूप के कारण माया कहते हैं क्योकि यह मनुष्यो को अपनी ओर आकृष्ट करता है और ईश्वर से दूर रखता है। ईश्वर का सेवक माया की शक्ति द्वारा जगत् का दास बन सकता है।

आत्मा प्रभु से भिन्न है क्योकि प्रभु आत्मा का शासक (नियन्ता) है। ईश्वर सर्वव्यापक है जबकि जीवात्मा अणु आकार का है।[2] जीवगोस्वामी के अनुसार, ईश्वर की स्वरूप शक्ति उसकी जीवशक्ति को सहारा देती है, जिसे तटस्थ शक्ति भी कहा जाता है जिसके द्वारा आत्माओ का निर्माण होता है। यह जीवशक्ति अपने क्रम मे मायाशक्ति (अथवा बहिरग शक्ति) को सहारा देती है। इनमे से कोई भी ईश्वर से पृथक् रहकर नही रह सकती। सृष्टिरचना के समय सर्वोपरि शक्ति प्रलय के ठीक पूर्ववर्ती जगत् के सगठन का स्मरण करती है और "अनेक रूप होने की इच्छा करती है," अर्थात भोक्ता रूप आत्माओ यथा योग्य पदार्थों को पृथक् अस्तित्व देती है, और वे उसी मे विलीन हो जाते हैं। वह महत् के महान् तत्त्व से लेकर नीचे ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा तक समस्त जगत की रचना करती है। तब वह वेदो को प्रकट करती है, ठीक उसी व्यवस्था तथा प्रबन्ध के अनुसार जैसे कि पूर्व सृष्टि मे थे और अपनी मानसिक शक्ति द्वारा उन्हे ब्रह्मा के अन्दर सक्रमित करती है जो सृष्टि-रचना की अन्य स्थितियो का कर्ता है। वेदो की सहायता से ब्रह्मा मूलादर्श सम्बन्धी आकृतियो को स्मरण करता है। और वैसे ही पदार्थों की रचना करता है जैसे पूर्व-सृष्टि मे थे। परिणाम यह निकलता है कि वेद जब इन्द्र इत्यादि के विषय मे कुछ उल्लेख करते हैं तो ऐसे नमूनो का उल्लेख करते है जो नष्ट नही होते यद्यपि व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं।[3] जहा रामानुज आत्माओ तथा प्रकृति को ईश्वर के विशेषण रूप मानते है वहा जीवगोस्वामी तथा बलदेव उनको ईश्वर की शक्ति के व्यक्त रूप मानते हैं। उक्त दोनो विद्वान् जड प्रकृति को ईश्वर का विशेषण मानने के विरुद्ध हैं जिसके कारण ईश्वर के स्वरूप मे एक प्रकार की विषमता आ सकती है। इस प्रकार जीवगोस्वामी प्रकृति को ईश्वर की बाह्य शक्ति करके मानते है जो प्रत्यक्ष रूप मे उससे सम्बद्ध नही है, यद्यपि है उसी के वश मे। बलदेव माया तथा प्रकृति को एक करके मानते हैं जिसमे ईश्वर के ईक्षण मात्र से गति आ जाती है।

जीवात्माए माया की शक्ति के द्वारा ससार के बन्धनो से जकडी जाती हैं, जो कि उन्हे अपने वास्तविक स्वरूप को भुला देती है। किन्तु यदि हमारे अन्दर भक्ति हो तो कर्म की शक्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[4] कृष्ण के प्रति प्रेम (रुचि) का विकास करने मे हमे दैवीय शक्ति का अन्तर्ज्ञान हो सकता है। राधा के प्रति जो कृष्ण का प्रेम है उसमे ईश्वर का अपने प्राणियो के प्रति स्नेह प्रकट होता है। विश्व के स्रष्टा

1 अचिन्त्यभेदाभेद।

2 बलदेव 2 2 41।

3 बलदेव, 1 3 30।

4 चैतन्य ने भक्ति की व्यावहारिक अवस्थाओ को स्वीकार किया है (1) शात अथवा मौन भाव से ईश्वर का ध्यान, (2) दास्य अथवा ईश्वर की क्रियात्मक सेवा, (3) सख्य अर्थात मित्रता (4) वात्सल्य, (5) माधुर्य अथवा दाम्पत्य प्रेम की लाक्षणिक मधुरता। प्रत्येक अवस्था के अन्दर पूर्व की अवस्था अन्तर्हित रहता है, और इस प्रकार अतिम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। बगाल का भक्ति-साहित्य मनोभावो के विश्लेषण से पूर्ण है। देखें, रूप कृत उज्ज्वलनीलमणि।

की यह इच्छा है कि उसके प्राणी मोक्ष-प्राप्ति की आशा से केवलमात्र उसी के साथ लगे रहें। काम अथवा यौन प्रेम से धार्मिक प्रेम को भिन्न बतलाया गया है। भक्ति मोक्ष का मार्ग है। वेदों तथा भागवत पुराण इत्यादि धार्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय पर बार-बार बल दिया गया है। गुरु के प्रति आदर का भाव एक प्रधान विशेषता है। धर्म सम्बन्धी विषयों में ऐसा कहा गया है कि तर्क के ऊपर निर्भर करना उचित नहीं है। वर्ण तथा जातिगत भेदों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। ईश्वर की कृपा के लिए कोई भी पुरुष अथवा स्त्री अत्यन्त नीच नहीं है। प्राणिमात्र के प्रति दया के नैतिक गुणों, नम्रता, शान्तभाव, सांसारिक इच्छाओं में अनासक्ति और हृदय की पवित्रता आदि पर बल दिया गया है।

प्रेम (प्रीति) के शाश्वत अनुभव में ही मोक्ष है।[1] दिव्य लोक में स्थित आत्माएं अपने पद को ईश्वर के दास के रूप में अनुभव करती हैं और पूर्ण रूप से उसके प्रति भक्तिभाव रखती हैं। प्रेम मोक्ष है। भक्ति ही यथार्थ में मुक्ति है। इसके द्वारा बार-बार जन्म लेने का बन्धन टूट जाता है और आत्मा ईश्वर की समानता के पद को प्राप्त करती है, यद्यपि कभी भी ईश्वर के अन्दर विलीन नहीं होती।[2] सत्तामात्र के अमूर्त सर्वव्यापी रूप में ईश्वर का अन्तर्ज्ञान, जीवगोस्वामी के अनुसार 'भगवान् के अन्तर्ज्ञान' का उपक्रम है और वह भगवान् समस्त चराचर जगत् की मूर्तरूप यथार्थ सत्ता है। प्रथम, ज्ञान के कारण, निरपेक्ष तथा अन्तिम रूप नहीं है। और भगवान् का अन्तर्ज्ञान भक्ति के कारण केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि शरीर का परित्याग कर दिया जाए। यद्यपि ब्रह्म के अन्तर्ज्ञान के विषय में जीवमुक्ति सम्भव है किन्तु भगवान् के प्रेम के लिए इसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं।

जीवगोस्वामी विशेषणों के सिद्धान्त के स्थान पर, जिसका समर्थन रामानुज ने किया है, अपने शक्ति विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु यदि ईश्वर एक ऐसे गुण को धारण नहीं कर सकता है जो स्वरूप में उसकी सत्ता के विरुद्ध है तो वह ऐसी शक्ति को कैसे धारण कर सकता है जो उसी के समान सत्ता के विरुद्ध है। यद्यपि इस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विद्वान् लेखक अपने को मध्व का अनुयायी कहते हैं किन्तु वस्तुतः विचार में वे रामानुज के अधिक निकट हैं क्योंकि वे तादात्म्य पर बल देते हैं, भले ही वे भेदों को स्वीकार करते हों। उक्त भेदों का कारण वे उन शक्तियों को बताते हैं जिनका सम्बन्ध किसी अचिन्त्य रूप में ईश्वर के साथ है। जीवगोस्वामी अपनी सर्वसंवादिनी में यह स्वीकार करते हैं कि हम ईश्वर तथा उसकी शक्तियों को न तो तादात्मक और न उससे भिन्न ही मान सकते हैं।

1. सच्चिदानन्दैकर से भक्तियोगे तिष्ठति (गोपालतापनी)। देखें, बलदेव, 3 : 3, 12।
2. बलदेव, 1 : 1 17।

ग्यारहवां अध्याय

उपसंहार

दार्शनिक विकास—समस्त दर्शन पद्धतियों का समन्वय—दर्शन और जीवन—आधुनिक युग मे दर्शनशास्त्र का ह्रास—वर्तमान स्थिति

1. दार्शनिक विकास

भारतीय विचारधारा के इतिहास मे मानवीय पुरुषार्थ के कर्म-क्षेत्र इस साधारण जगत् के पीछे विद्यमान एक ऐसे परलोक का आदर्श, जो इससे कही अधिक यथार्थ एव अधिक दुर्बोध है और जो आत्मा का वास्तविक निवासस्थान है, भारतीय जाति के मस्तिष्क मे निरन्तर चक्कर काटता रहा है। चिरन्तन दुर्बोध पहेली को सुलझाने के लिए मनुष्य के सतत पुरुषार्थ का और अपने को पशुओ के स्तर से ऊपर उठाकर नैतिक तथा आध्यात्मिक ऊचाई तक पहुचने के निरन्तर प्रयास का एक विलक्षण दृष्टान्त भारत देश मे ही देखने को मिलता है। हम उक्त प्रकार के सघर्ष को चार सहस्र वर्षो तक पीछे की ओर जाकर (अथवा इससे भी अधिक पीछे की ओर जाकर, यदि सिन्ध और पजाब मे हुई पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजो पर विचार किया जाए तो, जो प्राचीनकाल के इतिहास पर पडी हुई यवनिका को शनै-शनै उठाती जा रही है) ध्यानपूर्वक देख सकते है। इस प्रकार का बालसुलभ विश्वास कि इस जगत् का शासन सूर्य तथा आकाश के देवता करते हैं जो ऊचे आकाश मे बैठकर वहा से मनुष्य के आचरण को ध्यान से निहारते रहते हैं कि कौन सरल और कौन कुटिल है; फिर ऐसा विश्वास कि वे देवता, जिन्हे प्रार्थना के द्वारा अपने अनुकूल किया जा सकता अथवा कर्मकाण्ड के द्वारा अपनी प्रार्थना को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकता है, उसी एक सर्वोपरि यथार्थ सत्ता के रूप हैं, तथा इस प्रकार का दृढ विश्वास कि निर्मल तथा निष्कलक आत्मा, जिसको जानना ही शाश्वत जीवन है, तथा मनुष्य की अन्तःस्थ आत्मा एक ही है, एक भौतिकवाद, सशयवाद तथा दैववाद का उत्थान किंवा बौद्ध और जैन मत की नैतिक दर्शन-पद्धतियों का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि ईश्वर को मानें या न मानें सब प्रकार के पापो से दूर रहकर ही मनुष्य मानसिक, वाचिक तथा कर्म-सम्बन्धी दुष्कर्मों से छुटकारा पा सकता है, भगवद्गीता का उदार ईश्वरवाद जो विश्वात्मा के अन्दर आध्यात्मिक पूर्णताओं के साथ-साथ नैतिक पूर्णताओ का भी आधान करता है, न्याय की ऐसी तर्कप्रधान योजना जो हमारे समक्ष ज्ञान के मुख्य-मुख्य विभागो को प्रस्तुत करती है और जो अब भी प्रयोग मे आ रही है, प्रकृति के सम्बन्ध मे वैशेषिक की व्याख्या, विज्ञान तथा मनोविज्ञान-सम्बन्धी साख्य के काल्पनिक विचार, योगदर्शन की मोक्ष-मार्ग की योजना, मीमासा के नैतिक तथा सामाजिक नियम तथा सर्वोपरि यथार्थ सत्ता की धार्मिक व्याख्याए, जिन्हे एकत्र करके शकर, रामानुज, मध्व और निम्बार्क, वल्लभ और जीवगोस्वामी ने हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है—इन सबने मिलकर मनुष्य जाति के इतिहास मे दार्शनिक विकास के एक अद्भुत अभिलेख का निर्माण किया है।

आदर्श के पश्चात् आदर्श, सम्प्रदाय के बाद सम्प्रदाय तार्किक क्रम से हमारे समक्ष आते हैं। एक भारतीय का जीवन-क्रम सदा ही गतिमान रहा, ज्यों-ज्यो बढ़ता गया विशेष आकार धारण करता चला गया, एवं समय-समय पर अपने भौतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों के अनुसार परिवर्तित होता गया। प्रारम्भिक अवस्थाओं मे प्राचीन भारतीय प्रत्येक कार्य पहले ही करते थे क्योंकि उनके आगे भूतकाल का ज्ञान मार्ग-प्रदर्शन के लिए नही था। इसके अतिरिक्त अनेकों ऐसी कठिनाइयां भी थी जिनका उन्हें सामना करना पड़ा जो आज नहीं रह गई हैं। इन सबके होते हुए भी विचार तथा व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में उन्होंने जो कुछ प्राप्त कर लिया वह बहुत है। किन्तु यह चक्र अभी पूर्ण नही हुआ है, न संभाव्य आकृतियों की शृंखला ही समाप्त हुई है, क्योंकि वह चिरतन दुर्बोध पहेली अभी भी हमारा उपहास कर रही है। दार्शनिक ज्ञान अभी भी अपनी शैशव अवस्था मे है।

भारतीय विचारधारा का सर्वेक्षण, समस्त विचार-मात्र के सर्वेक्षण की भांति ही, प्रत्येक व्यक्ति के मन मे जीवन के रहस्य, उसकी विशालता तथा सौन्दर्य और उसे समझने के लिए मानवीय पुरुषार्थ के सम्बन्ध मे एक अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करता है। विचारको की सुदीर्घ पक्ति ने मानवीय ज्ञान के मन्दिर में कुछ न कुछ छोटा अश जोड़ने के लिए घोर संघर्ष किया है, और प्रयत्न किया है कि वे सदा अपूर्ण मानवीय ज्ञान के समूह मे कुछ न कुछ नवीन अंश जोड सकें। किन्तु मानवीय कल्पना उस आदर्श तक पहुच नहीं पाती जिसे यह न तो छोड़ ही सकती है और न पा ही सकती है। हम अपने चारों ओर के अन्धकार की गहराई के विषय में कही अधिक अभिज्ञ हैं, अपेक्षा इस अन्धकार को दूर करने वाली उन क्षीण प्रकाश वाली मशालो की शक्ति के, जो हमे अपने पूर्व के महान् भूतकाल से दाय के रूप मे प्राप्त हो सकी हैं। दार्शनिको के समस्त प्रयत्नों के बाद आज भी हम अन्तिम समस्याओ के सम्बन्ध मे वही खड़े हैं जहां युगों पूर्व भूतकाल में थे और सम्भवत: हम वही रहेंगे जब तक मानव हैं क्योंकि हम अपने परिमित शक्तिवाले मन की शृंखलाओ से रहस्यरूपी चट्टान के साथ प्रोमिथियस के समान जकड़े हुए हैं।[1] तो भी दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न निष्फल नही जाता। यह हमे उक्त शृंखलाओ की पकड तथा उनकी झकार को अनुभव करने मे सहायक सिद्ध होता है। यह मानवीय अपूर्णता की चेतनता को तीक्ष्ण करता है और इस प्रकार हमारे अन्दर उस पूर्णता के भाव को गहरा करता है जो हमारे क्षणिक जीवन की अपूर्णता को प्रकट करती है। इसमे कुछ भी आश्चर्य न करना चाहिए कि यह संसार हमारी बुद्धियों के लिए इतना सुबोधगम्य क्यो नही है जैसा कि हम चाहते हैं, क्योंकि एक दार्शनिक विद्वान् केवलमात्र ज्ञान का प्रेमी है किन्तु ज्ञान का स्वामी नही है। हमे समुद्र यात्रा के अन्त से इतना प्रयोजन नही जितना कि स्वयं यात्रा से है। यात्रा करते रहना पहुंच जाने से भी उत्तम है।

अपने मार्ग के अन्त में हम पूछ सकते हैं कि क्या इतिहास के द्वारा जाने गए तथ्य हमारे उन्नति विषयक विश्वास का समर्थन करते हैं? मानवीय विचारधारा की गति

1 जेनोफेनीज उच्च स्वर से कहता है कि "किसी ने भी देवताओं के विषय में और उसके विषय मे, जिसे मैं सर्वव्यापक प्रकृति कहता हू, सम्पूर्ण निश्चय प्राप्त नहीं किया है और न कोई इसे प्राप्त ही कर सकेगा। इतना ही नहीं, यदि मनुष्य को कभी सत्य का प्रकाश मिल भी जाए तो भी उसे यह ज्ञान न होगा कि उसे प्रकाश मिल गया है, क्योंकि प्रतीति समस्त वस्तुओं को आवृत किए हुए है।"
(गाम्पर्ज : 'ग्रीक थिंकर्स', खण्ड 1, पृष्ठ 164)

आगे की दिशा में हुई अथवा पीछे की ओर रही ? अनुक्रम स्वेच्छाचारी तथा अर्थविहीन नहीं होता। भारत उन्नति में विश्वास करता है क्योंकि, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, चक्र परस्पर एक आधारभूत बन्धन से बंधे रहते हैं। निरन्तरता का आन्तरिक सूत्र कभी टूटा नहीं, यहां तक कि ऐसी क्रान्तियों ने भी, जिन्होंने भूतकाल को ग्रसने की चेष्टा की, केवलमात्र फिर से उनकी स्थापना करने में सहायता ही की। पीछे की दिशा में लौटने-वाले भवर भी धारा को पीछे हटाने की अपेक्षा परिणाम मे आगे की ओर ही बढाते है। सत्य तो यह है कि इस देश के निकट भूतकाल के समान ह्रास के युग भी, एक प्रकार से प्राचीन से अर्वाचीन की अथवा नवजीवन की दिशा मे सक्रमण काल ही थे। उन्नति तथा अवनति की दोनों धाराएं साथ-साथ परस्पर जुडी रही। यह हो सकता है कि किसी समय उन्नति के दल दृढतापूर्वक सुधार के बहाव के साथ आगे बढे, तथा अन्य समय में उनकी पक्ति कभी आगे बढती, कभी पीछे हटती रही और कभी पश्चाद्‌गामी दल ने उन्नति को दबा दिया, किन्तु अन्ततोगत्वा हमारा ऐतिहासिक अभिलेख उन्नतिपरक ही है। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस प्रक्रिया मे बहुत-कुछ नष्ट भी हो गया। किन्तु ऐतिहासिक भूतकाल ने जिस मार्ग का अवलम्बन किया है उसके घेरा बाधने की अपेक्षा अथवा उसपर रोने की अपेक्षा कुछ-एक नष्ट हो गई वस्तुए तुच्छ हैं। हरएक हालत मे अन्य किसी प्रकार का विकास अधिक दोषयुक्त होता। अधिक महत्वपूर्ण है भविष्य। हम अपने पूर्वजों की अपेक्षा उनके कन्धो पर चढकर अधिक दूर तक देख सकते हैं। भूतकाल में उदारतापूर्वक जो नीवें डाली गई हैं उनसे ही सन्तुष्ट रहने की अपेक्षा हमें एक ऐसा बृहत्तर भवन खड़ा करना चाहिए जिसमे प्राचीन प्रयासो तथा आधुनिक दृष्टिकोण मे अनुकूलता हो।

2 समस्त दर्शन-पद्धतियो का समन्वय

जो दो धाराए भारतीय विचारको के समस्त प्रयत्नों मे किसी न किसी रूप मे समानान्तर रूप म पाई जाती हैं वे हैं प्रचलित परम्परा के प्रति निष्ठा तथा सत्य के प्रति भक्ति। प्रत्येक विचारक इस विषय को अनुभव करता है कि उसके पूर्वजो के सिद्धान्त ऐसी आधार-शिलाए हैं जिनके ऊपर आध्यात्मिक भवन खडा है और यदि उनके ऊपर कलक लगा तो उसकी अपनी सस्कृति की निन्दा होगी। एक ऐसी उन्नतिशील जाति जिसकी प्राचीन परम्परा इतनी समृद्ध हो, उसकी उपेक्षा नही कर सकती, यद्यपि इसमें कुछ तत्त्व हो सकते है जो ज्ञानवर्धक न हो। विचारकगण परम्परा से प्राप्त ज्ञान की व्याख्या करने, रूपक दृष्टान्तो द्वारा उसे पुष्ट करने, उसमे उचित परिवर्तन करने तथा आपत्तिजनक अगो को निकालकर उसमें सशोधन करने की पूरी-पूरी चेष्टा करते हैं, क्योंकि मनुष्यों के मनोभाव उनके आस-पास केन्द्रित रहते है। परवर्ती भारतीय विचारक विश्व के सम्बन्ध मे पूर्वजो द्वारा दी गई भिन्न भिन्न व्याख्याओ की न्यायोचितता का प्रतिपादन करत हैं और उन्हे मात्रा-भेद से सत्यरूपी इकाई के निकट पहुचते हुए पाते हैं। विभिन्न मतो को मानवीय मस्तिष्क के परस्पर असम्बद्ध प्रयास का रूप मानकर उपेक्षा नहीं की गई, क्योंकि सभी प्रयास उसी एक अज्ञात के शासन-क्षेत्र मे किए गए हैं और न उन्हे दार्शनिक जिज्ञासाओ का एक सग्रह-मात्र ही माना गया। उन्हे इस प्रकार का रूप दिया गया है मानो वे एक ही मस्तिष्क के द्वारा प्रकट किए गए विचार हैं, जिसने एक विशाल मन्दिर का निर्माण किया। भले ही वह नानाविध दीवारों और बडे-बडे कमरो, गलि-यारो तथा खम्भो मे विभक्त किया गया हो।

तर्क और विज्ञान, दर्शनशास्त्र तथा धर्म परस्पर अंगांगी-भाव से सम्बद्ध हैं। विचारधारा की प्रगति में प्रत्येक नवीन युग तर्क-सम्बन्धी सुधार के साथ प्रारम्भ होता है। क्रियाविधि की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मानवीय विचार के स्वरूप के साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। न्याय का कहना है कि कोई भी स्थायी दर्शनपद्धति तर्क के आधार के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर नहीं बन सकती। वैशेषिक हमें सावधान करता है कि समस्त उपयोगी दर्शन के लिए भौतिक प्रकृति के संघटन का विचार करना आवश्यक है। हम बादलों के अन्दर किसी भवन का निर्माण नहीं कर सकते। यद्यपि भौतिक विज्ञान और अध्यात्मविद्या में स्पष्ट अन्तर है और इन्हें एक-दूसरे में मिलाया नहीं जा सकता; तो भी, एक दार्शनिक योजना का प्राकृतिक विज्ञान की खोज के परिणामों के साथ संगत होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु, जो कुछ भौतिक जगत् के विषय में सत्य है उसे समस्त विश्व के ऊपर लागू करने का तात्पर्य होगा कि हम वैज्ञानिक अध्यात्मविद्या सम्बन्धी हेत्वाभास में पड़ गए हैं और सांख्य हमें उक्त प्रकार के संकट से बचने के लिए सावधान करता है। प्रकृति के साधन चेतना उत्पन्न नहीं कर सकते। हम प्रकृति और चेतना को एक दूसरे के अन्दर परिणत नहीं कर सकते जैसाकि वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक अध्यात्मविद्या करने का प्रयत्न करती है। यथार्थता केवल विज्ञान और मानवीय जीवन में ही प्रकट नहीं होती अपितु धार्मिक क्षेत्र में भी प्रकट होती है और यह योगदर्शन का विषय है। पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त दोनों ही नीतिशास्त्र तथा धर्म के ऊपर बल देते हैं। प्रकृति तथा मस्तिष्क के मध्य का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसे वेदान्त ने उठाया है। यह कहावत, कि सन्त पुरुष एक-दूसरे का विरोध नहीं करते, दर्शन-पद्धतियों के विषय में भी सत्य है। न्याय-वैशेषिक का यथार्थवाद, सांख्य-योग का द्वैतवाद तथा वेदान्त का एकेश्वरवाद परस्पर सत्य अथवा मिथ्याभेद में भिन्न नहीं हैं किन्तु कुछ-कुछ कमोबेश रूप में सत्य होने के नाते भिन्न प्रतीत होते हैं।[1] वे क्रमशः मंदाधिकारी, मध्यमाधिकारी तथा उत्तमाधिकारी पुरुषों के अनुकूल हैं। भिन्न-भिन्न मत एक ही शिला के अन्दर से काटे गए और उसी एकमात्र इकाई के अंशरूप हैं जो अखण्ड, सम्पूर्ण तथा आत्मनिर्भर है। विश्व-सम्बन्धी किसी भी ऐसी योजना को हम पूर्ण नहीं कह सकते जिसमें तर्कशास्त्र तथा भौतिकविद्या, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र, अध्यात्मविद्या और धर्म के भिन्न-भिन्न पक्षों का समावेश नहीं है। भारत में जितनी भी विचारपद्धतियों ने विकास पाया उनमें से प्रत्येक के पास देने को अपना ज्ञान का सिद्धांत, प्रवृत्ति तथा मस्तिष्क, नीतिशास्त्र और धर्म की स्वतन्त्र व्याख्या थी। विश्व के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों की अधीनता में अत्यधिक मात्रा में बढ़ गया है और हम जीवन के किसी संकुचित दृष्टिकोण को लेकर अब सन्तुष्ट नहीं हो सकते। दार्शनिक रचनाओं के भावी प्रयत्नों को आधुनिक युग के प्राकृतिक विज्ञान के साथ सम्बद्ध रहना ही होगा।

1 माधव, सर्वदर्शनसंग्रह, मधुसूदन सरस्वती का प्रस्थानभेद ; विज्ञानभिक्षु कृत सांख्यप्रवचन भाष्य की भूमिका। तुलना कीजिए, कांट। "हम एक प्रकार से मानवीय तर्क की प्रतिष्ठा का समर्थन करते हैं जब हम उनका उसके अपने साथ समन्वय करते हैं, भिन्न भिन्न व्यक्तियों के विचारों में और सत्य की खोज कर लेते हैं जिसे इस प्रकार के पूर्णांश प्राप्त विद्वान् कभी भी त्याग नहीं कर सकते, भले ही ये प्रत्यक्ष रूप में एक-दूसरे का विरोध करते हों" (जे० वार्ड कृत 'ए स्टडी आफ कांट' नामक पुस्तक में पृष्ठ 11, टिप्पणी 1, में उद्धृत)।

3. दर्शन और जीवन

दर्शनशास्त्र का कार्य जीवन को व्यवस्थित करना और कर्म करने के लिए उचित मार्ग का प्रदर्शन करना है। इसका स्थान सबसे आगे है जहां से यह इस जगत् के परिवर्तनों तथा आकस्मिक घटनाओं के अन्दर से हमें उचित मार्ग का निर्देश करता है। यदि दर्शनपद्धति सजीव हो तो जनसाधारण के जीवन तथा दर्शन में दूरी का अन्तर नहीं रहता। विचारकों के विचार उनके जीवन काल की प्रक्रिया में विकास को प्राप्त होते हैं। हमें केवल मात्र उनके प्रति आदरभाव रखना ही न सीखना चाहिए अपितु उनके भाव को भी ग्रहण करना चाहिए। वसिष्ठ और विश्वामित्र याज्ञवल्क्य और गार्गी बुद्ध और महावीर, गौतम और कणाद, कपिल और पतञ्जलि, बादरायण और जैमिनी, शंकर और रामानुज ये नाम केवल इतिहासकारों के विषय न होकर ऐसे व्यक्तियों के नाम हैं जिनका व्यक्तित्व आदर्शरूप था। उनके लिए दर्शनशास्त्र संसारसम्बन्धी ऐसा विचार है जो चिन्तन और अनुभव के ऊपर आधारित है। विचार के अपने विषय में जब पूरा अन्त तक विचार किया जाता है तो वह ऐसे धर्म का रूप धारण कर लेता है जिसे जीवन में धारण किया जाता है तथा जीवन की सबसे श्रेष्ठ कसौटी पर कस लिया जाता है। दार्शनिक अनुशासन एक प्रकार से धार्मिक व्यवसाय की पूर्ति भी है।

4. आधुनिक युग में भारत दर्शनशास्त्र का ह्रास

इस ग्रन्थ में एकत्रित प्रमाणों के आधार पर इस सामान्य समालोचना की पुष्टि नहीं होती कि भारतीय मस्तिष्क विचारभीरु है। भारतीय विचारधारा की समस्त उन्नति को हम प्राच्य मस्तिष्क का प्रशंसात्मक उल्लेख करते समय उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते जो कि इतना अधिक शुष्क और पौरुषहीन हो कि विषम कल्पना तथा बालोचित पुराण विद्या से ऊपर न उठ सकता हो। तो भी विचारधारा के उस इतिहास में जो विगत तीन चार शताब्दियों का उपलब्ध है ऐसी पर्याप्त सामग्री विद्यमान है जो उक्त आक्षेप का गम्भीरता के साथ मुकाबला कर सके। भारत वर्तमान समय में एशिया के देशों में उच्च श्रेणी के ज्ञान के क्षेत्र में जो इसका सबसे आगे बढ़कर ऐतिहासिक महान् कार्य रहा है, उसे नहीं निभा रहा है[1] कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि वह नदी जो शताब्दियों तक बड़े वेग के साथ पूरी भरी हुई बहती रही है अब एक खड़े हुए अनुपयोगी तथा दूषित जल के रूप में परिणत हुआ चाहती है। इस पतनोन्मुख काल के दार्शनिक अथवा यों कहना चाहिए कि दार्शनिक विषय के लेखक, सत्य के उपासक होने

1 चीन के भारत के ऋणी होने के सम्बन्ध में प्रोफेसर लियांगची चो का कहना है भारत ने हमें निरपेक्ष मोक्ष के विचार को अपनाने की शिक्षा दी। यह मस्तिष्क की वह मौलिक स्वतन्त्रता है जो हम प्राचीन परम्परा के अभ्यास तथा किसी कालविशेष के रीति रिवाजों के समस्त बन्धनों को तोड डालने के योग्य बनाती है ऐसी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता जो भौतिक जीवन की दासता की ओर ले जाने वाली शक्तियों का भी उच्छेद कर देती है। भारत ने ही हमें परमार्थ प्रेम सिखाया प्राणी मात्र के प्रति ऐसा निर्दोष प्रेम जो ईर्ष्या क्रोध अधीरता घृणा तथा प्रतिस्पर्धा के समस्त जहर को निकाल फेंकता है और जिसकी अभिव्यक्ति मूर्खों दुष्टों तथा पापिष्ठ पुरुषों के प्रति अगाध करुणा तथा सहानुभूति के रूप में देखी जा सकती है। यह ऐसा निरपेक्ष प्रेम है जो समस्त प्राणियों के अन्दर अभेद को मानता है। आगे चलकर वे चीन के साहित्य कला संगीत स्थापत्य कला चित्रकारी तक्षणकला नाट्यशास्त्र काव्य पुराण ज्योतिष विद्या एवं चिकित्साशास्त्र शिक्षा पद्धति तथा सामाजिक संघटनों के क्षेत्रों में जो भारत की देन है उसका विवरण देते हैं। देखें विश्वभारती क्वार्टर्ली अक्तूबर 1924। बर्मा तथा लंका जापान तथा कोरिया पर भारत का प्रभाव सुप्रसिद्ध है।

का दावा करते हैं, यद्यपि इस दावे से उनका तात्पर्य सदाशयपूर्ण वितण्डावाद से अथवा किसी न किसी अति पवित्र हठधर्मी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में बाल की खाल निकालने से होता है। ये व्यवसायी तार्किक कल्पना कर लेते हैं कि जो क्षुद्र नदी उनके समीप है और मन्द प्रवाह के साथ बालू में समाते जा रही है अथवा जो कुहरे के साथ-साथ वाष्प बनती जा रही है, वह भारतीय दर्शनशास्त्र की विस्तृत धारा है।

नानाविध कारणों से उक्त परिणाम निकलता है। मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित होने के कारण जो राजनैतिक परिवर्तन इस देश में हुए, उन्होंने यहां के निवासियों के मतों को कट्टरता के सांचे की ओर मोड़ दिया। एक ऐसे युग में, जब कि वैयक्तिक स्वाधिकार की अधिकामना और व्यक्तिगत निर्णय को पग-पग पर अराजकता का भय था, तब पुरानी सामाजिक व्यवस्था और समस्त स्थायी निश्चयात्मक विश्वास तथा प्रामाणिक अधिकार की तुरन्त आवश्यकता प्रतीत हुई। मुसलमानों की विजय ने, जिसके साथ उनका प्रचार-कार्य भी रहता था और उसके पश्चात् ईसाई मत के आन्दोलन ने हिन्दू समाज की स्थिरता को हिला डालने का प्रयत्न किया और इसलिए एक ऐसे युग में जिसे अपनी अस्थिरता का गहरा ज्ञान हो, प्रमाण ही स्वभावतः एकमात्र ऐसी चट्टान थी जिसके ऊपर सामाजिक रक्षा तथा नैतिक व्यवस्था का पालन-पोषण हो सकता था। हिन्दू जाति ने संस्कृतियों के संघर्ष के अन्दर अपने को परम्परागत रूढ़ियों के दुर्ग में बन्द कर लिया और समस्त आक्रमणकारी विचारों के प्रवेश पर रोक लगा दी। हिन्दू-समाज ने तर्क पर अविश्वास करके और भ्रमवश होकर अपने को प्रमाण की भुजाओं में लिपट जाने के लिए छोड़ दिया जिसने सब प्रकार के सन्देहात्मक प्रश्न को पाप का रूप दे दिया। उसी समय से यह अपने उद्देश्य के प्रति निष्ठा रखने में असफल रहा। अब आगे चलकर विचारक भी नहीं रहे, केवल विद्वान् रह गए जिन्होंने कोई नया विचार जनता को देने से इन्कार किया और पुराने ही विषयों को प्रतिध्वनित करने में सन्तोष अनुभव किया। कुछ शताब्दियों तक वे अपने-आपको इस प्रकार धोखा देने में सफल रहे जिसे उन्होंने कल्पना रूप में अन्तिम सिद्धान्त समझा। जब दर्शनशास्त्र के क्षेत्र से रचनात्मक भाव निकल गया तब स्वभावतः दार्शनिक इतिहास को ही दार्शनिक ज्ञान मान लिया गया। इसने अपना असली कार्य त्याग दिया और यह भ्रमात्मक विचारों में ही आबद्ध रह गया और जब यह सामान्य तर्क का पथप्रदर्शक अथवा संरक्षक न रहा तो इसने अपने प्रति भी बहुत बड़ा अन्याय किया। अनेक व्यक्तियों का ऐसा विश्वास हो गया कि उनकी जाति ने बहुत लम्बी यात्रा की है और अब अन्त में जाकर वे लोग अपने लक्ष्य तक पहुंच गए हैं। उन्होंने अपने को क्लान्त अनुभव किया और समझ लिया कि अब उन्हें विश्राम करने की आवश्यकता है। यहां तक कि वे व्यक्ति भी जो जानते थे कि वे अभी लक्ष्य पर नहीं पहुंचे और एक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र भविष्य में आगे है, अज्ञात शक्ति तथा उसके दैवीय कोप से डरते थे। दुर्बलहृदय व्यक्ति मौत तथा निस्सत्ता-सम्बन्धी विषयों पर बिना भय की आशंका के प्रश्न नहीं उठा सकते। अनन्त के विषय की चकरा देने वाली खोज एक प्रकार का एक ऐसा सिरदर्द है जिससे बड़े-बड़े मस्तिष्क भी यदि बच सकें तो बचना चाहेंगे। अत्यन्त बलवती शक्तियों के अन्दर भी बीच-बीच में आलस्य आ जाता है और इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के अनुसार दर्शनविषयक मानसिक प्रेरणा के ऊपर भी इन तीन-चार शताब्दियों में आलस्य अथवा निष्क्रियता का आक्रमण हुआ।

5 वर्तमान स्थिति

आज संसार के महत्त्वपूर्ण धर्मों तथा विभिन्न विचारधाराओं का संगम भारत की भूमि पर हुआ है। पश्चिम की जीवन्त विचारधारा के साथ जो सम्पर्क हुआ उसने आधुनिक काल के प्रशान्त तथा सन्तोषमय वातावरण में क्षोभ उत्पन्न कर दिया है। एक भिन्न संस्कृति को आत्मसात् कर लेने का असर यह हुआ कि अन्तिम समस्याओं का कोई सम्प्रमाणित उत्तर नहीं है ऐसा माना जाने लगा है। इसने परम्परागत समाधानों के अन्दर जो विश्वास हो सकता था उसे हिला दिया और किसी अंश में एक विस्तृत स्वातन्त्र्य तथा विचार की नमनशीलता को सहायता पहुंचाई है। परम्परा ने फिर से प्रगतिशील रूप धारण कर लिया है ज्बकि कुछ विचारक अभी भी भवन का निर्माण प्राचीन नीवों के आधार पर ही करने में प्रयत्नशील है। दूसरी ओर अन्य विचारक उन नीवों को एकदम उखाड़ फेंकना चाहते हैं। यह संक्रमण का वर्तमान युग जहां एक ओर हितकारक है, वहा चिन्ता का कारण भी हो सकता है।

निकटवर्ती भूतकाल में अभी तक भारत अपने समकालीन विचार की प्रचलित और भरपूर धारा के बाहर एक ओर लङ्गर डाले मजे में पड़ा था, किन्तु अब यह शेष जगत से पृथक नहीं रह सकता। आगामी तीन-चार शताब्दियों के इतिहास-लेखक भारत तथा यूरोप के मध्य पारस्परिक आदान-प्रदान के विषय में बहुत कुछ कह सकेंगे, किन्तु अभी तक तो हमारी दृष्टि से वह सब परे है। जहां तक भारत का सम्बन्ध है हम देख रहे हैं कि व्यक्तियों के अनुभव का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है, समालोचनात्मक भावना की वृद्धि तथा कोरी कल्पना के प्रति अरुचि को भी हम लक्ष्य करते हैं।

किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पार्श्व भी है। विचार तथा कार्य दोनों के क्षेत्र में एवं अव्यवस्था तथा दासता दोनों ही अवस्थाओं में, मनुष्य के आत्मबल का ह्रास हो जाना निश्चित है। जहां तक संस्कृति तथा सभ्यता का सम्बन्ध है उसके लिए दोनों अवस्थाएं एक समान हैं। अव्यवस्था का तात्पर्य हो सकता है भौतिक असुविधा, आर्थिक तबाही तथा सामाजिक भय और दासता का तात्पर्य भौतिक सुख आर्थिक स्थिरता और सामाजिक शान्ति भी हो सकता है। किन्तु सभ्यता के मानदण्डों तथा आर्थिक कल्याण एवं सामाजिक व्यवस्था के रक्षण को एक समान समझ लेना अनुचित होगा। हमारे लिए उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के भारतवासियों की भावनाओं को समझ लेना आसान है जिन्होंने पीढ़ियों तक चलने वाले सार्वजनिक कलह तथा व्यक्तिगत दुःखों को सहने के बाद ब्रिटिश शासन का स्वागत एक स्वर्ण युग का प्रभात मानकर किया। किन्तु साथ-साथ हमें आधुनिक युग के भारतवासी की भावनाओं के प्रति भी सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए क्योंकि मनुष्य की आत्मा की उत्कट अभिलाषा केवल आराम पाने की ही नहीं होती वरन सुख-समृद्धि प्राप्त करने की भी होती है, शान्ति तथा शासन-व्यवस्था ही की नहीं वरन जीवन तथा स्वातन्त्र्य-लाभ की भी होती है, तथा केवल आर्थिक स्थिरता अथवा न्यायोचित शासन की ही नहीं, अपितु अपनी मुक्ति के लिए अधिकारपूर्वक कार्य करने की भी होती है, चाहे उसके लिए उसे कितना ही कठोर परिश्रम तथा क्लेश क्यों न उठाना पड़े। सच तो यह है कि ऐसे सद्गुण भी, जिनका राजनीति के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है राजनैतिक स्वराज के अभाव में नहीं फलते फूलते। ब्रिटिश शासन ने भारत को शान्ति तथा सुरक्षा अवश्य दी किन्तु यह अपने-आप में लक्ष्य नहीं है। यदि हम प्राथमिक वस्तुओं को प्रथम स्थान में रखें तो हमें स्वीकार करना होगा कि आर्थिक स्थिरता और राजनैतिक सुरक्षा कितनी ही महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक क्यों न समझी जाए आध्यात्मिक

स्वातन्त्र्य के केवल साधन-मात्र हैं। एक नौकरशाही का निरंकुश शासन, जो अपनी अख-ण्डता तथा प्रकाशन के लिए आध्यात्मिक उद्देश्यों को भूला देता है अपनी शासित प्रजाओं को शक्तिशाली नहीं बना सकता और इसीलिए उनके अन्दर कोई जीवन्त प्रतिक्रिया को भी उत्पन्न नहीं कर सकता। जब जीवन के स्रोत सूखे जा रहे हों, जब कि ऐसे आदर्श जिन को जाति ने सहस्रों वर्ष तक अपनाया हो, व्यक्तिगत भावनाओं तथा विचारों की समष्टि विषयक प्रभा, कार्यदक्षता का स्वतन्त्र प्रयोग, जीवन का अभिनय, मन की प्रसन्नता तथा शान्ति की पूर्णता, प्राणारामम्, मन-आनन्दम्, शान्ति-समृद्धम् ह्रास को प्राप्त हो रहे हों तो यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं कि क्यों भारतीय एक बोझ के उठ जाने के स्थान पर कुचल डालने वाले बोझ को ही अनुभव न करता। उसकी दृष्टि में ब्रिटेन के कार्य की विशालता के विषय में कुछ कहना कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि इतिहास सिद्ध कार्यों के धार्मिक स्वरूप को लेकर अपना निर्णय देता है। इसलिए यदि अर्वाचीन पीढ़ियों के नेता लोग केवल भूतकाल की ही नकल से सन्तुष्ट रहें और स्वतन्त्र अनुसन्धान न कर सकें, एवं यदि वे मौलिक विचार न देकर ज्ञान के क्षेत्र में केवलमात्र मध्यस्थ बने रहें तो इस अनु-त्पादकता का कारण अधिकांश में पाश्चात्य भावना का आघात तथा दासता की लज्जा-पूर्ण अवस्था है। ब्रिटिश जाति को भारत की वर्तमान प्रवृत्ति के बद्धमूल कारणों का पूरा-पूरा पता है जिन्हें चाहे जिन नामों से भी पुकारा जाए और वे हैं—विक्षोभ (अशान्ति), विद्रोह अथवा चुनौती। ब्रिटिश जाति ने अपनी उस सभ्यता को यहां फैलाने का प्रयत्न किया जिसे वह स्वभावतः उच्चतर भारतवासियों को प्रभावित कर सकने वाली समझती है और उसने अनुभव किया कि प्रकाश फैलाने तथा शिक्षा के कार्य में, जो अपने में अवश्य उत्तम हैं, बिना किसी हिचकिचाहट के बराबर बल देते रहना चाहिए। किन्तु भारत को इस प्रकार के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। वह दृढ आग्रह के साथ अपने प्राचीन रीति-रिवाजों में अनुरक्त है जिन्होंने उसकी वासनाओं की बाढ़ को तथा आवेश की अन्धता और इच्छा के प्रचण्ड आक्रमण को नियन्त्रण में रखने में सहायता की है। ऐसा व्यक्ति, जो इस देश के भूतकाल के इतिहास से परिचित है, इसकी अपने धार्मिक आवास के ही अन्दर बने रहने की उत्सुकता के प्रति अवश्य सहानुभूति प्रकट करेगा, क्योंकि "प्रत्येक मनुष्य अपने गृह का स्वामी है।"[1] राजनैतिक दासता को, जो इस आभ्यन्तर स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाती है, अत्यधिक अपमान की वस्तु समझा जाता है। स्वराज्य की पुकार आत्मा के अधिकार-क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए व्यग्रता को प्रकट करने का बाह्य रूप है।

अभी भी भविष्य आशामय है। यदि भारत स्वतन्त्रता प्राप्त कर ले तो पश्चिम की भावना भारतीय मस्तिष्क के लिए अत्यन्त सहायक होगी। संस्कृति के क्षेत्र में हिन्दू विचारधारा ने कभी 'मनरो के सिद्धान्त' को नहीं अपनाया। यहां तक कि प्राचीन काल में जब भारत पर्याप्त मात्रा में आध्यात्मिक भोजन उत्पन्न करता था जिससे वह अपने देशवासियों को पूर्णतया तृप्त कर सके, उस काल में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया जाता कि वह अन्य देशों के निवासियों की कल्पना से उत्पन्न विचारों को ग्रहण करने के लिए उद्यत एवं उत्सुक न रहा हो। अपने उन्नत काल में भी भारत ने एथेंस के निवासियों के ज्ञान को अपनाया जिनके विषय में पेरिक्लीज़ ने कहा है : "हम प्रसन्नता-पूर्वक अन्यों की सम्मतियों को ध्यान से सुनते हैं और जो हमसे मतभेद रखते हैं उनसे भी मुंह नहीं फेरते।" हमारे अपने अन्दर जितनी ही अधिक निर्बलता तथा विश्वास

1. "सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा"—प्रत्येक मनुष्य अपने घर में स्वामी है।

की न्यूनता होगी, उतना ही अधिक हमे बाह्य प्रभाव का भय सताएगा। यह सत्य है कि आज हमारे चेहरे पर दु ख की रेखाए पडी हुई है और वृद्धावस्था के कारण हमारे केश भी श्वेत हो गए है। हमारे अन्दर जो विचारशील व्यक्ति है वे आत्मा की अशान्ति के कारण गहन चिन्ता मे मग्न हैं, कुछ तो अत्यधिक उदासीनता मे डूबे हुए हैं और इस प्रकार बुद्धि के क्षेत्र मे एक प्रकार से वानप्रस्थ लिये बैठे हैं। पश्चिम की सस्कृति के साथ असहयोग अस्वाभाविक परिस्थितियो के कारण एक अस्थायी उपाख्यान-मात्र है। इस सबके होते हुए भी पश्चिम की सस्कृति को समझने तथा उसके महत्त्व को जानने के प्रयत्न हो रहे हैं। यदि भारत पश्चिमी सभ्यता के महत्त्वपूर्ण अशो को आत्मसात् कर ले तो यह केवल उन समानान्तर प्रक्रियाओ की, जो भारतीय विचारधारा के इतिहास मे अनेको बार हो चुकी है, एक पुनरावृत्ति-मात्र होगी।

ऐसे व्यक्ति, जो पाश्चात्य प्रभाव से बचे हुए है, अधिकतर बौद्धिक तथा नैतिक विशिष्ट वर्ग के है, जो राजनीति-सम्बन्धी विवेचनीय विषयो के प्रति उदासीन है और विश्वासपूर्ण आशा के विपरीत त्याग और अनासक्ति के आचरण को अपनाए हुए है। वे सोचते है कि उन्हे सीखने या भुलाने को कुछ नही है और यह कि वे भूतकाल के सनातन धर्म पर दृष्टि गडाए हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। वे अनुभव करते हैं कि अन्य शक्तिया कार्य कर रही है जिन्हे न तो वे रोक सकते हैं और न उनके ऊपर कोई नियन्त्रण ही रख सकते है और इसलिए वे हमे जीवन के विप्लवो तथा मायाजाल का सामना आत्मसम्मान, धैर्य तथा शान्ति के साथ करने का परामर्श देते हैं। यह वह वर्ग है जो अच्छे समय मे अधिक नमनशील था तथा युक्तिपूर्ण दर्शनशास्त्र का ईश्वरीय ज्ञानरूप धर्म के साथ समन्वय करने की दिशा मे किए गए प्रयत्नो को सदा ही दोहराता रहता था। इसने सदा ही विधर्मी तथा नास्तिको के मुकाबले मे धर्म की उचित व्याख्या तथा रक्षा की और ईश्वरज्ञान-सम्बन्धी व्याख्या को दृष्टान्त के द्वारा समझाने के उपाय का अवलम्बन किया। इस वर्ग की दृष्टि मे धर्म के क्षेत्र के अन्दर मनुष्य का सम्पूर्ण स्वभाव, उसकी बुद्धि, तथा यहा तक कि उसकी क्रियात्मक और भावनामय महत्त्वाकाक्षाए भी समाविष्ट होती हैं। आधुनिक काल मे यदि प्राचीन विद्या के प्रतिनिधि भूतकाल से प्रेरणा ले तो वे अन्य शक्तियो के साथ सहयोग करने की अपेक्षा मौलिकता तथा स्वातन्त्र्य के साथ एक नवीन योजना का निर्माण कर सकेंगे क्योकि उनके पास पूर्वजो के ज्ञान की शक्ति है। किन्तु ऐसा न करके वे विचार तथा कर्म दोनो ही के द्वारा आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनो ही विषयो मे शास्त्र-प्रमाण के लिए अतिशय आदर का भाव रखते हैं। और इस प्रकार के आचरण से वे अपनी मानसिक दासता तथा सुधारविरोधी मत-सम्बन्धी आक्षेपो के पात्र बनते हैं। जहा एक ओर मुसलमानो के आने से पूर्व शास्त्र-प्रमाण की दुहाई बौद्धिक स्वतन्त्रता के मार्ग मे कोई बाधा उपस्थित नही करती थी और जब मनुष्य अपने अभिमत प्रामाणिक ग्रन्थो के प्रति भक्ति-प्रदर्शन के लिए, चाहे वे वेद हो या आगमग्रन्थ हो, युक्तिपूर्ण आधार उपस्थित करने के योग्य तथा उसके लिए उद्यत थे और उस समय शास्त्रप्रमाण भी तर्क की ही वाणी मे कथन करता था क्योकि समालोचनात्मक चुनाव तथा उसकी दार्शनिक व्याख्या को अपनाया जाता था, किन्तु अब शास्त्रप्रमाण के प्रति आदर मानवीय भावना की सीमा के अन्दर आबद्ध हो गया है। शास्त्री के मत पर शका करना महान् भूतकाल की प्रामाणिकता के ऊपर आक्षेप करना है और उसे स्वीकार कर लेना शास्त्र के प्रति भक्ति का लक्षण है। जिज्ञासा और सशय, दोनो का ही मुह प्राचीन ग्रन्थो का उद्धरण देकर बन्द कर दिया जाता है, वैज्ञानिक सत्यो को यदि वे रूढिगत मन्तव्यो के प्रतिकूल ठहरते हो तो तुच्छ माना जाता है।

अकर्मण्यता, वश्यता और मौन स्वीकृति सबसे मुख्य बौद्धिक गुण हो गए हैं। आधुनिक काल के दार्शनिक लेख यदि प्राचीन युग के सर्वोत्तम ग्रन्थों के स्तर से अत्यन्त नीचे पाए जाते हैं तो इसमें कुछ आश्चर्य नही है। यदि विचारधारा के ऊपर इससे कम दबाव रहता तो यह कही अधिक विस्तीर्ण होती।

भारत के विचारक तर्क के प्रति श्रद्धा रखने की महान् परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। प्राचीन ऋषि लोग नकल करने की नही, वरन् नवीन रचना की इच्छा रखते थे। वे सदा ही सत्य के लिए नये-नये क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने तथा जीवन की समस्याओ का समाधान करने के लिए आतुर रहते थे, क्योंकि जीवन सदा परिवर्तनशील है और इसीलिए नवीन रहता है। उत्तराधिकार की बहुमूल्यता ने कभी उनके मस्तिष्क को दास नही बनाया। हम भूतकाल के समाधानो की केवल नकल करके ही सफल नहीं हो सकते, क्योकि इतिहास सदा एक समान नहीं रहता। उन्होंने अपनी पीढ़ी मे जो कुछ किया उसका फिर से किया जाना आवश्यक नही है। हमे अपनी आखें खोलकर रखनी चाहिए, अपनी समस्याओ का पता लगाना चाहिए और उनके समाधान के लिए भूतकाल से प्रेरणा लेने की चेष्टा करनी चाहिए। सत्य की भावना एक ही समान आकृतियों से संलग्न नही रहती, वरन् सदा उन्हे नवीन रूप देती रहती है। यहां तक कि पुरानी वर्णनपद्धति का भी नवीन रूप में प्रयोग किया जाता है। वर्तमान समय का दर्शनशास्त्र वर्तमान के साथ संगत होगा तथा भूतकाल के साथ सगत नही होगा। यह अपनी आकृतियों में तथा विषयवस्तु मे इतना ही मौलिक होगा जितना कि वह जीवन जिसकी यह व्याख्या करता है। चूंकि वर्तमान भूतकाल के साथ शृंखलाबद्ध है इसलिए भूतकाल के साथ तारतम्यभाव मे कोई सम्बन्ध-विच्छेद न होगा।

अनुदार विचारवाले व्यक्तियो का एक तर्क यह भी है कि सत्य पर काल का प्रभाव नही होता। यह कभी निष्प्रभाव नही होता और सूर्यास्त के सौन्दर्य तथा बच्चे के प्रति मां के प्रेम के समान सदा एकरस रहता है। सत्य निर्विकल्प हो सकता है किन्तु वह रूप जिसमे यह प्रकट होता है ऐसे अवयवों से मिलकर बना है जिनके अन्दर परिवर्तन सम्भव है। हम भूतकाल से भाव को ग्रहण कर सकते हैं किन्तु रूप तथा स्फूर्ति वर्तमान काल की होनी ही चाहिए। ये लोग भूल जाते हैं कि धर्म आज जिस रूप में हमारे सामने है, स्वय परिवर्तित युगों की देन है; और इसलिए कोई कारण नही है कि इसके रूपों में नवीन परिवर्तन न हो सके जब तक कि भाव की आवश्यकता बनी रहती है। यह सम्भव है कि अक्षर के प्रति अनुकूलता को स्थिर रखते हुए भी पूरा भाव ही उलट दिया जाए। यदि दो हजार वर्ष पूर्व के हिन्दू नेतागण जिनका अध्ययन कम था और ज्ञानोदय उससे कहीं अधिक था, इन सब शताब्दियो के पश्चात् फिर से इस लोक मे वापस आ जाए तो उन्हें ऐसे व्यक्तियों के अन्दर अपने अनुयायी कम मिलेंगे जो कभी भी उनके विचारों की नितान्त शाब्दिक व्याख्या से पथभ्रष्ट नही हुए।[1] आज के दिन उत्तराधिकारों का एक बहुत बडा पुञ्ज इकट्ठा हो गया है जो विचारधारा के प्रवाह तथा भाव-प्रधान स्वतन्त्र जीवन के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न कर रहा है। यह कहना कि मृतप्राय पद्धतिया जिनकी

1 तुलना कीजिए अरविन्द घोष : "यद्यपि उपनिषत्-काल, बौद्धकाल अथवा परवर्ती शास्त्रीय युग का कोई भारतीय आधुनिक भारत मे आ जाए तो वह देखेगा कि उसकी जाति भूतकाल के मात्र-रूपों तथा बाह्य-आडम्बरों और चिथड़ो मे लिपटी हुई है और उसके दस मे से नौ वास्तविक भाव गायब हैं।···मानसिक दारिद्र्य, निश्चेष्टता, एकरस पुनरावृत्ति, विज्ञान की समाप्ति, कला की दीर्घकालीन अनुत्पादकता, तथा रचनात्मक सहज बोध का दौर्बल्य किस हद तक पहुंच गया है, इसे देख उसे अवश्य अचम्भा होगा" ('आर्य', 5, पृष्ठ 424)।

पृष्ठभूमि मे उन्हें सहारा देने को कोई सशक्त सत्य नही है, अत्यधिक प्राचीन और आदरणीय हैं जिनमे परिवर्तन नहीं किया जा सकता, ऐसे रोगी के दु ख को केवल दीर्घकाल के लिए स्थायी बनाने के समान है जो भूतकाल के सडे हुए तथा रद्दी सामान मे उत्पन्न विप से कष्ट पा रहा है। अनुदार विचार वाले मस्तिष्क को परिवर्तन की आवश्यकता के लिए अवश्य उद्यत रहना चाहिए। चूकि यह उक्त आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त रूप मे उद्यत नहीं है इसलिए हमे दर्शन के क्षेत्र मे तह तक पहुचने वाली तीक्ष्ण बुद्धि और दर्शनशास्त्र के सिद्धातो के विपरीत असामजस्य का अद्‌भुत मिश्रण मिलता है। विचारशील भारतीयो की मुख्य शक्तियो का उपयोग इस प्रकार की समस्याओ के समाधान के लिए होना ही चाहिए कि पुरानी मान्यताओ को किस प्रकार अस्थायी उत्तराधिकारो मे से छाटकर पृथक् किया जाए, धर्म को किस प्रकार विज्ञान की भावना के साथ मिलाया जाए, किस प्रकार आभ्यन्तर प्रकृति तथा व्यक्तित्व के दावो का भुगतान तथा उनकी व्याख्या की जाए, और किस प्रकार विपक्षगामी प्रभावो को प्राचीन धर्म के आधार पर सगठित किया जाए। किन्तु दु ख का विषय तो यह है कि दुर्भाग्यवश कुछ परिषदें उक्त समस्याओ के प्रति ध्यान देने के स्थान मे ऐसे कार्यों मे समय दे रही हैं जो पुरातत्त्वविदो की माग के अनुकूल हो। यह क्षेत्र विशेषज्ञो का अखाडा बन गया है। राष्ट्र की धार्मिक शिक्षा को उदार नीति के आधार पर नही अपनाया गया। इस विषय पर किसी का ध्यान नही गया कि धार्मिक उत्तराधिकार के ऊपर कुछ विशिष्ट व्यक्तियो का एकाधिपत्य अब और आगे नही रह सकता। विचार शक्तिशाली होते हैं, और यदि मृत्यु की ओर अग्रसर होती हुई वर्तमान प्रणाली को रोकना है तो ऐसे विचारो को सर्वसाधारण के अन्दर प्रचुर मात्रा मे प्रचारित करना चाहिए। नि सन्देह यह आश्चर्यजनक बात होगी यदि उपनिषदो, गीता और बुद्ध के सवादो की भावना, जो मस्तिष्क को इतने सूक्ष्म विवाद-विषयो से स्पर्श कर सकती थी, मनुष्य जाति के ऊपर उसकी शक्ति को वृथा और नष्ट होने दिया जाए। इससे पूर्व कि बात वश के बाहर हो जाए राष्ट्रीय जीवन का यदि पुन सगठन कर लिया जाए तो भारतीय विचारधारा का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है, कोई नही बता सकता कि अभी और कितने पुष्पो को विकसित होना है और सशक्त पुराने वृक्षो पर अभी कितने फल और फल सकते हैं।

जहा एक ओर ऐसे व्यक्ति हैं जो अभी तक पश्चिम की सस्कृति के प्रभाव से दूर है और विचार तथा आचरण-सम्बन्धी सब विषयो मे अनुदार प्रवृत्ति रखते हैं, वहा दूसरी ओर उन लोगो मे से जिनकी शिक्षा-दीक्षा पश्चिम प्रणाली के अनुसार हुई है कुछ ऐसे भी हैं जिन्होने प्राकृतिक इतिहास-विषयक युक्तिवाद को अपनाया और हमे प्रेरणा देते हैं कि भूतकाल के बोझ को उतार फेंको। ये लोग परम्परा अथवा रूढि के प्रति असहिष्णु है और यहा तक कि उस युग के ज्ञान के विषय मे भी सन्देह प्रकट करते हैं। 'प्रगतिवादियो' की यह विचार-पद्धति सरलता से समझ मे आ सकती है। हमारी जाति के आध्यात्मिक उत्तराधिकार ने बाहर से आए आक्रमणकारियो तथा लुटेरो से भारत की रक्षा नही की। ऐसा प्रतीत होता है कि इसने देश को धोखा दिया और विश्वासघात करके देश को वर्तमान दासता मे डाल दिया। इस प्रकार के देशभक्त पश्चिम देशो की भौतिक सिद्धियो का अनुकरण करने को उत्सुक हैं और प्राचीन सभ्यता की जडो को एकदम ही उखाड देना चाहते है जिससे कि पश्चिम से आयात होने वाली अद्‌भुत वस्तुओ के लिए स्थान खाली हो सके। कुछ ही समय पूर्व तक भारतीय विश्वविद्यालयो मे भारतीय-दर्शन अध्ययन के विषयो मे सम्मिलित नही किया गया था और

अब भी विश्वविद्यालयों के दर्शनविषयक पाठ्यक्रमों में इसका स्थान नगण्य ही है। भारतीय सभ्यता के हीनता-सम्बन्धी विचार शिक्षा के समस्त वातावरण में व्याप्त हैं। मैकाले द्वारा जिस नीति का समारम्भ हुआ उसका बोझ अपने समस्त सांस्कृतिक महत्त्व के साथ तुला में एक ओर झुका हुआ है। जहां यह एक ओर इतना अधिक सावधान है कि हम पश्चिमी संस्कृति की शक्ति तथा सजीवता को न भूल सकें, वहां इसने हमें अपनी संस्कृति [illegible] रता नहीं
[illegible] को ऐसी
[illegible] द उद्धृत
किए जाते हैं। स्वभावतः इनमें से कुछ लोग भारतीय संस्कृति के इतिहास का विद्वेषपूर्ण मूल्यांकन करने में विदेशी समालोचकों से किसी प्रकार भी पीछे नहीं हैं। ये लोग भारत के सांस्कृतिक विकास को एक विषादमय पारस्परिक फूट व विरोध, अज्ञानता और मिथ्याविश्वास से भरी दृष्टि से देखते हैं। इनमें से एक ने अभी हाल में यहां तक घोषणा की कि यदि भारत को फलना-फूलना तथा समृद्धिशाली होना है तो इंग्लैंड को अपनी 'आध्यात्मिक माता' तथा ग्रीस को 'आध्यात्मिक नानी' बनाना होगा। निःसन्देह चूंकि उसको धर्म में आस्था नहीं है, अपने हिन्दू धर्म के स्थान में ईसाईमत को स्थापित करने का प्रस्ताव नहीं किया। तथाकथित भ्रमनिवारण तथा निराशा के वर्तमान युग के प्रभाव के वशीभूत ऐसे व्यक्तियों का कहना है कि भारतीय दर्शन के प्रति प्रेम रखना या तो राष्ट्रीय दुर्बलता है और या फिर सांस्कृतिक दृष्टि से विचार करने वाले व्यक्तियों का ढोंग है।

यह एक व्याकुल कर देने वाला विषय है कि ऐसे समय में जब कि पश्चिमी जगत् की दृष्टि में भारत अब विलक्षण प्रतीत होने के भाव से मुक्त हो रहा है, देश के कुछ अपने ही सपूतों की दृष्टि में यह इस प्रकार का एक अजनबी देश प्रतीत होने लगा है। पश्चिम ने भारत को यह समझाने के लिए पूरा प्रयत्न किया कि इसका दर्शनशास्त्र असंगत एवं विवेकशून्य है, इसकी कला बच्चों की सी तथा तुच्छ है, इसकी कविता में कोई प्रेरणा नहीं है, इसका धर्म विलक्षण है, और इसका नीतिशास्त्र असभ्य लोगों का है। अब जब कि पश्चिम अनुभव कर रहा है कि उसका इस विषय में निर्णीत मत बिल्कुल निर्दोष नहीं है, हममें से कुछ लोग आग्रहपूर्वक कहते हैं कि नहीं, पश्चिम का निर्णय सर्वथा ठीक था। यह ठीक है कि एक चिन्तनशील युग में मनुष्य जाति को फिर से संस्कृति की प्राचीनतर स्थिति की ओर धकेलना, जिससे उनकी संशयपरक भ्रम से तथा विवादास्पद विषयों की व्याकुल कर देने वाली शक्तियों से रक्षा की जा सके, कठिन है तो भी हमें यह न भूलना चाहिए कि पहले से पड़ी हुई नींवों के ऊपर भवन का निर्माण हम अधिक सरलता के साथ कर सकते हैं अपेक्षाकृत इसके कि हम उसके स्थान पर जीवन के नीतिशास्त्र तथा सदाचार के नए ढांचे का निर्माण करने का प्रयत्न करें। हम अपने को निज के जीवन-स्रोतों से सर्वथा विच्छिन्न नहीं कर सकते। दार्शनिक योजनाएं ज्यामिति की आकृतियां न होकर जीवन की देन हैं। अपने इतिहास का उत्तराधिकार वह जीवन है जिसे खाए और पचाए बिना हम क्षयग्रस्त हो जा सकते हैं।

कट्टर अनुदारवादी व्यक्ति भारत के प्राचीन उत्तराधिकार सम्बन्धी ऐश्वर्य के विषय में और उसकी प्रतिद्वन्द्विता में आने वाली आधुनिक-नास्तिकता प्रधान संस्कृति के रूप से पूर्णतया अभिज्ञ हैं; पूर्ण सुधारवादी भी ठीक उसी तरह भारत के प्राचीन उत्तराधिकार की निरर्थकता के विषय में निश्चय रखते हैं, एवं प्राकृतिक इतिहास-विषयक हेतुवाद या युक्तिवाद के महत्त्व के विषय में दृढ़ आस्था रखते हैं। इन दोनों प्रकार

के मतो के विषय में बहुत-कुछ कहा जा सकता है, किन्तु, यदि हम भारतीय विचारधारा का उचित रूप में अध्ययन करेंगे तो इस परिणाम पर पहुचेगे कि दोनो ही दोषपूर्ण हैं। वे जो भारतीय संस्कृति की निन्दा करते है, इससे अनभिज्ञ हैं और वे भी जो इसे सर्वांग सम्पूर्ण बताते हैं, उन्हीं के समान अन्य किसी संस्कृति से अनभिज्ञ हैं। पूर्ण सुधारवादी तथा कट्टर अनुदारवादी, जिन्हें नवीन आशा तथा पुरातन विद्या की खोज है, दोनों ही को परस्पर निकट सम्पर्क में आकर एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। एक ऐसे जगत् मे जहा कि हवाई जहाज और समुद्रगामी जहाज, रेलवे तथा तार की व्यवस्थाएं मनुष्यमात्र को एक जीवन्त इकाई के अन्तर्गत एक-दूसरे के निकटतम ला रही हो, हम अपने ही अन्दर मगन नहीं रह सकते। हमारी दर्शन-पद्धतियों को ससार की प्रगति के अन्दर क्रिया और प्रतिक्रिया (अथवा आदान-प्रदान के रूप) में भाग लेना ही होगा। गतिहीन विचारपद्धतियो मे ठहरे हुए पानी के पोखरो के समान हानिकारक पदार्थों की वढती हो जाती है जब कि प्रवाहित होने वाली नदिया अपने जल को प्रेरणा-रूपी स्रोतो से निरन्तर ताजा बनाए रखती है। अन्य जाति की संस्कृति को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेने मे कुछ दोष नहीं है, केवल हमे चाहिए यह कि जिन अशो को हम दूसरों से ले उन्हे आगे बढाकर शुद्ध कर लें तथा उनके अन्दर अपने मे जो सर्वोत्तम अश हैं, उनका समावेश कर दें। विभिन्न अशो को, जो बाहर से हठात् आकर हमारे अन्दर समाविष्ट हो गए है, अपने राष्ट्रीय पात्र मे एकत्र करने की जो सर्वोत्तम प्रक्रिया है उसका सकेत सरसरी तौर पर गाधी, टैगोर, अरविन्द घोष तथा भगवानदास की रचनाओ मे हमे मिलता है। उनके अन्दर हम एक महान् भविष्य की धुधली-सी आशा की झलक देखते हे, एव पाण्डित्याभिमान के ऊपर विजय के कुछ चिह्न तथा महान् भविष्य सवधी अन्वेषण की प्रतिक्रिया पाते हैं। भारत के प्राचीन मानवीय आदर्शवाद के स्रोतो से प्रेरणा लेते हुए इन महापुरुषो ने पश्चिमी विचारधारा के महत्त्व को भी साथ-साथ लिया है। इन्होंने प्राचीन आदिस्रोत को फिर से ढूढ निकालने की आतुरता दिखाई है तथा उक्त स्रोतो के जलो को शुद्ध और अनाविल नहरो के द्वारा उन भूमियो को सीचने का प्रयत्न किया है जो भूख और प्यास से व्याकुल थी। किन्तु जिस भविष्य को देखने के लिए हम लालायित हैं, वह अभी दूर है। राजनैतिक उत्तेजना के शिथिल हो जाने के साथ, जिसने इस समय भारत के श्रेष्ठतम मस्तिष्को की शक्तियो को अपनी ओर लगा रखा है, नये-नये विश्वविद्यालयों में भारतीय विचारधारा के अध्ययन का आग्रह बढने के साथ, जिसको पुराने विश्वविद्यालय अत्यन्त अरुचिकर रूप मे अपना रहे हैं, प्रभात का उदय सम्भव है। भूतकाल के जीवन को भविष्य-जीवन की अपेक्षा अधिक पसन्द करने वाली कट्टर अनुदारता की शक्तियो के आगे चलकर अधिक बल पकडने की सभावना कम है।

भारतीय दर्शन के सम्मुख जो समस्या आज उपस्थित है, वह यह है कि क्या यह एक सम्प्रदाय के रूप मे परिणत हो जाएगा, जिसका क्षेत्र संकुचित होगा एव वर्तमान समय के तथ्यो मे इसका कोई प्रयोग न हो सकेगा ? अथवा, इसे जीवन्त और यथार्थ बनना है जिससे कि यह ऐसा बन सके जैसा कि इसे होना चाहिए, अर्थात् मानवीय प्रगति के निर्माण करने वाले तत्त्वो मे से यह अन्यतम हो सके, और यह तभी सम्भव होगा जबकि यह आधुनिक विज्ञान के प्रचुर रूप मे बढे हुए ज्ञान का मिश्रण भारतीय दार्शनिको के प्राचीन आदर्शों के साथ कर सके। लक्षण तो इस प्रकार का सकेत करते है कि भारतीय दर्शन मानव-प्रगति के निर्माणकारी अवयवो मे से ही अन्यतम सिद्ध होगा। पूर्व की विचार-पद्धतियो के प्रति भक्ति तथा दर्शनशास्त्र के उद्देश्य की माग है कि हम अपने

दृष्टिकोण को ऐसा बनाएं जो सदा उदार हो। वर्तमान युग के लिए भारतीय दर्शन के अस्तित्व का कुछ अर्थ तथा न्यायोचितता तभी सिद्ध हो सकेगी जबकि यह आगे बढ़े और हमारे जीवन को उत्तम बनाए। भारतीय दर्शन के विकास की भूतकाल की प्रगति हमें अपनी आशा के प्रति प्रोत्साहन देती है। महान् विचारक, याज्ञवल्क्य और गार्गी, बुद्ध और महावीर, गौतम और कपिल, शंकर और रामानुज, मध्व और वल्लभ तथा अन्य दर्शनों विद्वान् भारत के अस्तित्व की महत्त्वपूर्ण क्षमता के द्योतक हैं, और यह भारत के एक जीवित राष्ट्र के पद पर विराजमान होने का स्पष्ट प्रमाण है। यह इस विषय का भी प्रमाण है कि आगे भी यह राष्ट्र अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर अपनी सर्वोपरि श्रेष्ठता के प्रेमोपहार को स्थिर रखने में समर्थ होगा।

टिप्पणियाँ

पहला अध्याय

पृष्ठ 11—पाणिनि 'अस्ति नस्ति दिष्टं मतिः' इस सूत्र में आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक शब्दों की व्युत्पत्ति करता है। आस्तिक वह है जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास करता है, (अस्ति परलोक); नास्तिक वह है जो परलोक को नहीं मानता (नास्ति परलोक); और दैष्टिक एक प्रकार का अदृष्टवादी है।

पृष्ठ 11—टि० 3—देखें, न्यायकोश।

पृष्ठ 12—टि० 1—'मणिमेखलाई' नामक तमिल-ग्रन्थ में लोकायत, बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा इन सबको शास्त्रीय माना गया है। देखें, एस० कृष्णस्वामी ऐयंगार 'मणिमेखलाई', पृष्ठ 21।

पृष्ठ 15, पंक्ति 27—वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही स्वीकार करता है।

दूसरा अध्याय

पृष्ठ 24—टि० 1—अक्षपादात्पूर्वं कुतो वेदप्रामाण्यनिश्चय आसीत्, जैमिनेः पूर्वं केन वेदार्थो व्याख्यातः; पाणिनेः पूर्वं केन पदानि व्युत्पादितानि; पिङ्गलात् पूर्वं केन छन्दांसि रचितानि (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 5)।

पृष्ठ 28—दिङ्नाग के पूर्व बौद्ध तर्कशास्त्र के एक संक्षिप्त विवरण के लिए देखें, उक्त विषय पर प्रोफेसर तुक्की का लेख, 'जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी' जुलाई, 1929। और भी देखें, 'जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', जनवरी, 1928, क्या न्यायप्रवेश दिङ्नाग-रचित है ?

पृष्ठ 29—पण्डित गोपीनाथ कविराज का तर्क है कि उपमान को प्रमाण अथवा ज्ञान का साधन मानने से भासर्वज्ञ द्वारा किया गया निषेध योगदर्शन के प्रभाव के कारण है। उसके द्वारा क्रियायोग को स्वीकार किया जाना, जिसमें तप, स्वाध्याय और योगदर्शन में प्रतिपादित अन्यान्य विशिष्ट साधन यथा यम, नियम आदि सम्मिलित है, उक्त मत का समर्थन करता है। प्रमेयों का हेय, तन्निवर्तक, आत्यन्तिकहान और हानोपाय आदि में विभागीकरण योगसूत्र, 2. 16-17, 25-26 की ओर निर्देश करता है। प्राचीन न्याय के ग्रन्थकार गौतम, वात्स्यायन और उद्योतकर तो योगिप्रत्यक्ष को नहीं मानते, किन्तु भासर्वज्ञ इसे स्वीकार करते हैं। योगिप्रत्यक्षं देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्। भासर्वज्ञ का ईश्वर-सम्बन्धी विचार आश्चर्यजनक रूप से योगदर्शन के विचार के साथ समानता रखता है।

भासर्वज्ञ ने 'न्यायसार' पर एक टीका भी लिखी है जिसका नाम 'न्यायभूषण' है।

वासुदेव कृत 'न्यायसारपदपञ्चिका' समेत भासर्वज्ञ के 'न्यायसार' का सम्पादन महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभयङ्कर और प्रोफेसर देवाधर ने किया है। पूना, 1922।

पृष्ठ 31—प्रमाण, प्रमेय आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग साधारणतया प्रामाणिक (निर्दोष) ज्ञान के सम्बन्ध में ही होता है, ज्ञानमात्र के लिए नहीं। ज्ञानमात्र के लिए ज्ञान और ज्ञेय शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

पृष्ठ 35-36—प्रत्यक्ष, जिसकी व्युत्पत्ति प्रति और अक्ष अथवा अक्षि से हुई है। चक्षु इन्द्रिय को प्रस्तुत करता है और यह परोक्ष से विपरीत है, जिसका अर्थ होता है चक्षु इन्द्रिय से परे अथवा दूर। प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान है और परोक्ष मध्यस्थ द्वारा प्राप्त ज्ञान है।

पृष्ठ 36-37—टि० देखें, तर्कसंग्रहदीपिका, पृष्ठ 7। बम्बई संस्कृत ग्रंथमाला।

पृष्ठ 38—मन का सम्पर्क विषय के साथ सीधा नहीं होता, केवल उस अवस्था को छोड़कर जहां कि प्रमेय विषय आन्तरिक अवस्था यथा सुख, दु.ख आदि हों।

पृष्ठ 42-43 – बौद्धों के अनुसार इन्द्रियां इन्द्रियों के गोलक हैं; मीमांसकों के अनुसार इन्द्रियां एक विशिष्ट शक्ति हैं; दूसरों का मत है कि यह न तो दिखाई देने वाली इन्द्रिय है और न ही विशेष शक्ति है, किन्तु एक सर्वथा भिन्न द्रव्य है जिसका स्थान दृश्यमान इन्द्रिय के अन्दर है। गोलकमात्राणीति सुगत:, तच्छक्त्य इति मीमांसका:, तद्व्यतिरिक्तानि द्रव्यान्तराणीत्यन्ये सर्वे वादिन. (विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ 185)। सांप सुनते हैं यद्यपि उनके कोई इन्द्रिय दिखाई नहीं देती। इन्द्रिय एक सूक्ष्म द्रव्य से बनी है जिसके गुण का ज्ञान इसके द्वारा होता है। आंख जो रूप का ज्ञान प्राप्त करती है उसी द्रव्य से बनी है जैसे कि प्रकाश, जिसके रूप को यह देखती है। नाक जो गन्ध का ज्ञान ग्रहण करती है मिट्टी से बनी है, क्योंकि गन्ध मिट्टी का गुण है। (वही, पृष्ठ 185-7)।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार इन्द्रियां 'प्राप्यकारी' हैं, अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के साथ वास्तविक सन्निकर्ष में आती हैं। (देखें, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ 187)। यदि इन्द्रियां पदार्थों का प्रत्यक्ष बिना उनके सम्पर्क में आए कर सकतीं तो हम दूरस्थ पदार्थों का भी स्वाद ले सकते थे। यदि कहा जाए कि चक्षु तथा श्रवण इन्द्रियां तो हर अवस्था में पदार्थों का ज्ञान ग्रहण कर सकती हैं, बिना उनके साथ वास्तविक सम्पर्क में आए भी, तो हमें दृश्यों तथा शब्दों का ज्ञान उनके लोप हो जाने पर भी होना चाहिए। इस प्रकार यही तर्क उचित प्रतीत होता है कि अपने ज्ञेय विषय रूप पदार्थों के सम्पर्क में आकर ही इन्द्रियां कार्य करती हैं।

दिखाई देनेवाली इन्द्रियां इन्द्रियां नहीं हैं वरन् सूक्ष्म भौतिक द्रव्य हैं, जो बिजली की तेजी से बाहर आने की क्षमता रखते हैं। शब्द कान तक चलकर नहीं आते हैं, जैसा कि न्याय का मत है, किन्तु अदृश्य इन्द्रिय शब्द उत्पन्न करने वाले पदार्थ तक चलकर जाती है। शब्दस्य च वीचिसन्तानवत् परम्परया श्रोत्रसमवाय: प्राप्तिरिति यत् तार्किकैरुच्यते तदसत्; तथा सतीह श्रोत्रा: शब्द इति प्रतीयेत, प्रतीयते तु तत्राशब्द इति (वही)। यही कारण है कि हमें दूर के शब्दों का प्रत्यक्ष होता है, केवल श्रवण-सम्बन्धी प्रभावों का नहीं। हमारी इन्द्रियां प्रमेय पदार्थों तक पहुंचती हैं न कि प्रमेय पदार्थ इंद्रियों तक पहुंचते हैं।

पृष्ठ 45—टि० 3—

त्रिलोचनगुरून् नीदमार्गानुगमनोन्मुखै:।
यथामान यथावस्तु व्याख्यातम् इदमीदृशम्॥
(न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1 : 1.4)।

पृष्ठ 46—नामजात्यादियोजनारहितं वैशिष्ट्यानवगाहि निष्प्रकारकं प्रत्यक्षं

निर्विकल्पकम्। चिन्तामणि में गणेश। भीमाचार्य-कृत न्यायकोश।

विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि ज्ञानम् (अन्नभट्ट-कृत तर्कसंग्रहदीपिका)।

पृष्ठ 53—बौद्ध आदर्शवाद के अनुसार बोध और उसका ज्ञेयपदार्थ दोनों एक साथ जान जाते हैं। "चूंकि नीला और नीले की चेतना का सदा ही एक साथ ज्ञान होता है इसलिए ये एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं।" (सर्वदर्शनसंग्रह)।

न्याय के मत की अद्वैतवादी समीक्षा के लिए देखें, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ 55।

पृष्ठ 54-55—लोचनगोचरेऽपि कुन्दकुसुमे तदविषयगन्धविशेषिते ज्ञानम् एवं बाह्येन्द्रियद्वाऽक्रमग्रहणम् अघटमानमिति मानसमेव सुरभिकुसुमम् इति ज्ञानम् (न्याय-मञ्जरी, पृष्ठ 461)।

योगजधर्मलक्षण के लिए देखें, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 167।

प्रतिगताऽभिज्ञानमिति प्रत्यभिज्ञा।

अतिक्रान्तकालविशेषितपूर्ववर्तिस्तम्भादिपदार्थविषयम् इन्द्रियादिसन्निकर्षोत्पन्नम् एवेद प्रत्याभिज्ञाज्ञानम् इति सिद्धम् (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 461)।

पृष्ठ 55 56—अतीतावच्छिन्नवस्तुग्रहण प्रत्यभिज्ञानम (सप्तपदार्थी, 167)। प्रत्यभिज्ञा, भूतकाल में अवस्थिति के विचार की उपाधि से युक्त वस्तु का ग्रहण है।

तर्कभाषा (50) के अनुसार, पूर्वविस्थानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवा प्रत्यभिज्ञा।

पृष्ठ 57—प्राचीन नैयायिक स्वप्नों को स्मृति न मानकर अनुभव मानते थे। देखें, न्यायसूत्र 3 1, 14, 4 2, 34-35, न्यायभाष्य, 1 1, 16, और न्यायवार्तिक, पृष्ठ 79। कणाद तथा परवर्ती नैयायिक, जैसे भासर्वज्ञ और जयन्त स्वप्नों को अनुभवात्मक मानते हैं। उदयन स्वप्नावस्थाओं को स्मृति के समान नहीं मानता। देखें, किरणावली, पृष्ठ 275। शंकर ने ऐसे मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार मन्त्रों, देवताओं और विशेष प्रकार के द्रव्यों द्वारा उत्पन्न स्वप्नों में कुछ सचाई रहती है मन्त्र-देवताद्रव्य विशेषनिमित्ताश्च केचित स्वप्ना सत्यार्थगन्धिनो भवन्ति (शांकरभाष्य 3 2, 4)।

पृष्ठ 57-58—देखें 'ड्रीम थियरी इन इण्डियन थोट' उमेशमिश्र-रचित, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, खण्ड 5।

पृष्ठ 78—जब हम उत्पन्न वस्तुओं का उल्लेख करते हैं तब उपादान कारण और समवायी (अन्तर्निहित) कारण एक ही पदार्थ है किन्तु गुण अथवा कर्म के विषय में समवायीकारण उपादान कारण नहीं होता। एक श्वेत वस्त्र के विषय में श्वेतता रूपी गुण का समवायी कारण वस्त्र है किन्तु यह उसका उपादान कारण नहीं है।

पृष्ठ 103-104—एक ही पदार्थ के धारावाहिक ज्ञान में जैसे कि हम किसी टेबल का निरन्तर कुछ क्षणों तक देखते हैं तो क्या हमारा दूसरे क्षण का ज्ञान वही होता है जो पहले क्षण का था? कुछ लोगों का तर्क है कि दोनों प्रकार के ज्ञान एक नहीं हैं। जिस प्रकार पदार्थ अपने स्वरूप में देश काल की स्थिति के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तन करता है उसी प्रकार ज्ञान में भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। नैयायिक इसमें इस आधार पर आपत्ति उठाता है कि हमारे अनुभव-ज्ञान के क्षण हमारी चेतनता में नहीं पहचाने जाते। हम जिसे प्रत्यक्ष करते हैं वह आणविक क्षण नहीं है वरन समय का विस्तार है क्षणा-नामतीन्द्रियत्वात् स्थूलोपाधिम् आदाय वर्तमानत्वग्रहणात् (तत्त्वचिन्तामणि, पृष्ठ 380)। क्षण तार्किक विश्लेषण की उपज हैं, किन्तु निरीक्षण के तथ्य नहीं हैं। जहां एक

ओर स्थायी ज्ञान प्रमेयपदार्थ-सम्बन्धी अवस्थाओं के ऊपर निर्भर करता है वहां स्मृति-जन्य ज्ञान पूर्व के अनुभव के ऊपर निर्भर करता है।

पृष्ठ 107—जब हम नीले रंग का बोध ग्रहण करते हैं तो नीलेपन के बोध की प्रामाणिकता स्वत: नहीं आती।

न हि नीलसंवित् प्रसवसमानान्तरं यथार्थेयं नीलसंवित्तिरिति संवेदनानन्तर-मुत्पादयमानम् अनुभूयते (न्यायमंजरी, पृष्ठ 168)।

पृष्ठ 108—बौद्धमतावलम्बी, जिनके मत में ज्ञान तथा उसके विषय (पदार्थ) क्षणिक हैं, पदार्थ के प्रकृति के अनुरूप होने का जो यथार्थवादियों का मानदण्ड है उसे स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि ज्ञान होने पर तुरन्त ही उनके मत से पदार्थ (विषय) का विलोप हो जाता है।

पृष्ठ 111 टि० 4 - तुलना कीजिए, प्लेटो के 'थिएटिटस' से।

पृष्ठ 112—शुक्तित्वप्रकारिका विद्या चाकचक्यादिसादृश्यदर्शनसमुद्बोधित-रजतसंस्कारसध्रीचीना काचादिदोषसवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते (वेदान्तपरिभाषा, 1)।

पृष्ठ 127—न्याय के अनुसार आत्माएं केवल गौण अर्थों में क्रियाशील हैं। एक सर्वव्यापी आत्मा के लिए न तो परिणाम ही हो सकता है और न परिस्पन्द ही माना जा सकता है।

पृष्ठ 140, टि० 1—और भी देखें, स्याद्वादमंजरी और राजशेखर-कृत षड्-दर्शन समुच्चय, 23।

तीसरा अध्याय

पृष्ठ 155-156—पण्डित मिश्र का विचार है कि लीलावती का निर्माणकाल बारहवीं शताब्दी (ईसा के पश्चात्) है। देखें, जे० बी० ओ० आर० एस०, पृष्ठ 158।

पृष्ठ 162-163—न्याय के मत में जो आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है (भाषा-परिच्छेद, 50-51), किन्तु वैशेषिक इसे अनुमान का विषय मानता है (अनुमानगम्य, वैशेषिकसूत्र, 8 : 1-2)।

पृष्ठ 171-172—मीमांसकों का युगों या चक्रों के सिद्धान्त में विश्वास नहीं है।

पृष्ठ 181 टि० 2—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थिति:।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रह:॥

पृष्ठ 188, टि० 1—पांच प्रकार की अयुतसिद्धि स्वीकार की गई है : अवयवा-वयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति (देखें, न्यायकोश)।

पृष्ठ 200—काल, आकाश और दिक् में जातिगत गुण नहीं होता।

चौथा अध्याय

पृष्ठ 220—मद्रास विश्वविद्यालय ने सांख्यकारिका का एक अत्युत्तम संस्करण प्रकाशित किया है जिसकी प्रस्तावना, अंग्रेजी-अनुवाद तथा टिप्पणियां एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा तैयार की गई हैं।

पृष्ठ 223-224—धर्मपरिणाम प्रकार विशेष को दिया गया नाम है। एक घड़ा

(अथवा जिसे घटाकार भी कहते है) मिट्टी का धर्मपरिणाम है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिट्टी पृथ्वी का धर्मपरिणाम है।

पृष्ठ 234, टि० 14—छान्दोग्य उपनिषद् मे तीन भूतो का उल्लेख है और शकर 6 4 पर अपने भाष्य मे त्रिवृत्करण का वर्णन करते हैं। प्राचीन उपनिषदो मे पञ्चीकरण का पता नही मिलता यद्यपि तैत्तिरीय मे पाच भूतो का वर्णन है। बादरायण अथवा शकर दोनो मे से कोई भी इनका वर्णन नही करता। यद्यपि परवर्ती भाष्यकरो ने जैसे आनन्दज्ञान आदि ने इनका उल्लेख दिया है। देखे, ब्रह्मसूत्रो पर उसकी टीका, 2 4, 20।

पृष्ठ 239—स्थान-परिवर्तन का नाम परिस्पन्द है। यह परिणाम से भिन्न है। जो आकृति का परिवर्तन है। परिस्पन्द तत्त्वो के सम्बन्ध मे ही होता है।

पृष्ठ 254—अर्थाकारेण परिणताया बुद्धिवृत्तेश्चेतने प्रतिबिम्बनाद् विषयप्रकाशरूप ज्ञानम् (न्यायकोश)।

पृष्ठ 257-258—

सारग्रवृद्धा सम्मुग्ध वस्तुमात्र तु प्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितम्।
तत् सामान्यविशेषाभ्या कल्पयन्ति मनीषिणः॥
(सास्यतत्त्वकौमदी, 27)।

पाचवां अध्याय

पृष्ठ 257—सर्वग्राही ज्ञान की एक सिद्धि है जिसमे स्वभावत प्रकृति तथा पुरुष का भेद ज्ञान भी आ जाता है और यही कैवल्य अथवा मोक्ष का यथार्थ कारण है।

पृष्ठ 319—सारय के अनुयायी नारायण के उपासक थ (नारायणपरा), किन्तु योग के अनुयायी ईश्वर की उपासना करने वाले थे, (ईश्वरदेवता), अथवा शिव के उपासक थे, जो सर्वोत्तम योगी है। देखे, हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय पर राजशेखर की टीका, पृष्ठ 34, 42-43।

छठा अध्याय

पृष्ठ 324-325—प्राभाकारो के दोनो सम्प्रदायो मे जो मतभेद हैं उनके विषय मे देखें, प्राफेसर हिरियन्ना का लेख 'प्रभाकर प्राचीन और अर्वाचीन', जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, अप्रैल-जून, 1930।

पृष्ठ 324-325—रामानुजाचार्य-कृत 'तन्त्ररहस्य' एक विस्तृत ग्रन्थ प्रतीत होता है, जिसके पहले पाच अध्याय 'गायकवाड्स ओरियण्टल सीरीज,' 1923 म प्रकाशित हुए है।

"मानमेयोदय' मे दो विभाग 'मान' और 'मेय' के ऊपर है, जिन्हे क्रमश नारायण भट्ट तथा नारायण पण्डित ने लिखा है। यह ग्रथ कुमारिल भट्ट के सम्प्रदाय के सिद्धान्तो की विशद व्याख्या करता है। इस ग्रथ को त्रिवेन्द्रम सस्कृत सीरीज मे टी० गणपति शास्त्री ने 1912 मे प्रकाशित किया है।

पृष्ठ 327—तत्चेन्द्रियसन्निकर्षज ज्ञान द्विविधम्, निर्विकल्पक सविकल्पक चेति। तत्र इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरम् एव द्रव्यादिस्वरूपमात्रावगाहि शब्दानुगमशून्य यत् सम्मुग्धज्ञानं जायते तद् विशिष्टकल्पनाभावाद् निर्विकल्पम् इत्युच्यते। यत्तु तदनन्तर शब्दस्मरण-

सङ्कृतं जात्यादिविशिष्टवस्तुविषयं स्वतोऽयं घटोऽयमित्यादिव्यक्तविज्ञानं तत् सविकल्पकम् (मानमेयोदय, पृष्ठ 8)।

पृष्ठ 327-328—

जातिः सर्वगता नित्या प्रत्यक्षज्ञानगोचरा।
भिन्नाभिन्ना च सा व्यक्तेः कुमारिलमते मता॥

(मानमेयोदय, पृष्ठ 85)

पृष्ठ 336-337—कुमारिल की दृष्टि में आकृति का अर्थ है जाति।

जातिमेव आकृतिं प्राहुः (1 : 3, 3)।

पृष्ठ 340 — ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में मीमांसा के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के मतों को जानने के लिए देखें, *न्यायकोश में प्रमात्वम्*।

सर्वेत्र ज्ञानहेतुभिरात्मनि साक्षात्कारवती धीरुपजन्यते'''सर्वत्र प्रमेयस्य अपरोक्षत्वियमाभावात्। स्मृतिषु अनुमानान्तरेषु च न प्रमेयम् अपरोक्षम्। सर्वत्र प्रतीतयः स्वयं प्रत्यक्षा, प्रकाशन्ते (प्रकरणपंचिका, पृष्ठ 56)।

यद्यपि समस्त ज्ञान बिना व्यवधान के साक्षात् होता है फिर भी इसे दो भागों में विभक्त किया गया है—*साक्षात् ज्ञान तथा मध्यस्थ द्वारा प्राप्त ज्ञान* और इनका विभाग प्रकार-भेद से होता है जिस प्रकार साक्षात् अथवा माध्यम के द्वारा विषय का बोध होता है।

पृष्ठ 341—न हि प्रदीपः स्वगतव्यवहाररूपे कार्ये प्रदीपान्तरमपेक्षते; तस्माद् न बुद्धिरपि बुद्ध्यन्तरम् (मानमेयोदय, पृष्ठ 103)।

बुद्धि स्वयप्रकाशेति गुरुशंकरयोर्मतम् (वहीं)।

पृष्ठ 346—टिप्पणी 1—मुरारिमिश्र के मत पर टीका करते हुए न्यायसिद्धांतमंजरी के ऊपर 'शिखिकण्ठीयम्' का कहना है "घटोऽयमिति व्यवसायः ततश्च घटमहं जानामीति अनुव्यवसाय', तेन प्रामाण्य गृह्यते।

पृष्ठ 350-351—मीमांसक तर्क करता है कि यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही बोध ग्रहण से बाह्य पदार्थ हैं तो बोधों को अपने-आप में निरपेक्ष अथवा लक्षणविहीन मानना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है।

न हि प्रामाण्याप्रामाण्यव्यतिरिक्त किञ्चिदपि स्वरूपम् अस्ति विज्ञानस्य (मानमेयोदय, पृष्ठ 76)।

यदि यह कहा जाए कि सारे बोध तब तक सन्देह की अवस्थाएं हैं जब तक कि उनकी परीक्षा नहीं हो लेती, तो न्याय जो संदेह (संशय) को अयथार्थ बोध करके मानता है, अन्तर्हित अयथार्थता के मत की ओर संकेत करता प्रतीत होता है, जो परतः प्रमाण के सिद्धान्त के विपरीत है।

पृष्ठ 350-351—न च देहेन्द्रियज्ञानसुखेभ्यो व्यतिरिच्यते।
नानाभूतो विभुर्नित्यो भोगी, स्वर्गापवर्गभाक्॥

(मानमेयोदय, पृष्ठ 82)

पृष्ठ 352—मानमेयोदय प्रभाकर की स्थिति से कुमारिल की स्थिति का भेद बतलाते हुए कुमारिल के ऊपर निर्भर करता है। प्रभाकर के अनुयायियों की दृष्टि में "मैं घड़े को बनाता हूं" इस प्रकार के बोध का स्वरूप समस्त बोधों के सामान्य लक्षणों का एक नमूना है। यदि आत्मा तथा बोध व्यक्त नहीं हैं तो इस प्रकार का ज्ञान असम्भव है। इस प्रकार आत्मा और बोध का अभिव्यक्त रूप स्वीकार करना चाहिए, जिससे आत्मा

विषयी (ज्ञाता) तथा बोध ज्ञानात्मक क्रिया है। (आत्मस्वात्मनो कर्तृतया वित्तितया च प्रतीयमानत्वम् अभ्युपगच्छति।) कुमारिल के अनुयायी स्वय आधार वाक्य के ऊपर ही आपत्ति उठाते हैं, अर्थात् सारे बोध इस रूप मे होते है "मैं पदार्थ को जानता हू।" शालिकनाथ का तर्क है यदि ज्ञाता विषयी सब बोधो मे व्यक्त नही होता तो किसी व्यक्ति विशेप के अपने बोध मे तथा दूसरे के बोध मे भेद कर सकना असम्भव हो जाएगा। (स्वपरवेद्ययोरनतिशय इति।) कुमारिल के अनुयायी उत्तर देते हैं कि आत्मा के द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान उसी रूप मे व्यक्त होता है। यदि कहा जाए कि आत्मज्ञान को भी व्यक्त होना चाहिए तो उत्तर मे कहा गया है कि कार्य बिना चैतन्यमय व्यक्ति के भी उपस्थित रह सकता है, उसी प्रकार जिस प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान बिना उस इन्द्रिय के ज्ञान के भी, जो व्यापार करती है, प्राप्त किया जा सकता है।

मुरारि मिश्र का मत भट्ट की स्थिति के अधिक निकट पहुचता है। मिश्रमतेऽय घट इत्याकारकज्ञानानन्तर घटत्वेन घटम् अह जानामि इति ज्ञानविषयकलौकिक-मानसमुत्पद्यते। तर्कसग्रहदीपिका पर नीलकण्ठ की टीका, निर्णयसागर सस्करण, पृष्ठ 167)।

हमे पहले "यह एक घडा है" इस प्रकार का ज्ञान होता है और तब प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि मैं घडे को घडे के रूप मे जानता हू। केवल कुमारिल के ही अनुसार पीछे का ज्ञान अनुमानपरक है, किन्तु मुरारि मिश्र के अनुसार यह प्रत्यक्षजन्य है। किन्तु दोनो ही प्रभाकर के इस मत के विरोधी है कि समस्त ज्ञान इस प्रकार का होता है कि "मैं एक घडे को जानता हू," सर्वमेव ज्ञान घटमह जानामीत्याकारकम् (न्यायसिद्धान्त-मजरी, पृष्ठ 341)।

तत्त्वचिन्तामणि के ऊपर टीका मे आलोक कहता है व्यवसायोत्पत्त्यव्य-वहितोत्तरक्षणोत्पन्ना अनुव्यसायव्यक्तेरेव भाट्टै ज्ञाततालिङ्ग अनुमितित्वेन मिश्रादि-भिश्च साक्षात्कारत्वेनाभ्युपगमात (प्रत्यक्षखण्ड, पृष्ठ 158, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल आवृत्ति)।

पृष्ठ 367—देखें, पूर्वमीमासासूत्र भी, पण्डित मोहनलाल सदल का अग्रेजी-अनुवाद, एस० बी० एच० ग्रन्थमाला।

सातवाँ अध्याय

पृष्ठ 368, टि० 1—ब्रह्मविद्याप्रतिपादकम् वेदशिरोभागरूप वेदान्तशास्त्रम् (बृहदारण्यक उपनिषद् पर शाकरभाष्य, 1 1, 1)।

आठवा अध्याय

पृष्ठ 388—डाक्टर झा ने 'खण्डनखण्डखाद्य' का अग्रेजी मे भाषान्तर किया है और श्री एस० वी० ऐयर ने सुरेश्वर-कृत 'सबन्धवार्त्तिक का भाषान्तर अग्रेजी मे किया है।

पृष्ठ401—भर्तृप्रपञ्च के द्वैताद्वैत मत का वर्णन शकर ने बृहदारण्यक उपनिषद् पर अपनी टीका मे किया है। (5 1)।

पूर्णात कारणात् पूर्ण कायम् उद्रिच्यते। उद्रिक्त कार्यं वर्तमानकालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुरूप द्वैतरूपेण। पुन प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्णताम् आदाय आत्मनि धित्वा पूर्णमेवावशिष्यते कारणरूप्। एवम् उत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्य-

कारणयोः पूर्णत्वेव। सत्रचैकैव पूर्णता कार्य कारणयोर्भेदेन व्यपदिश्यते एवं च द्वैताद्वैतात्मकं एकं ब्रह्म यथा किल समुद्रो जलतरंगफेनबुद्‌बुदाद्यात्मक एव। यथा च जलं सत्यं तद् उद्‌भवाश्च तरंगफेनबुदबुदादयः समुद्रात्मभूता एवाविर्भावतिरोभावधर्मिणः परमार्थसत्या एव। एवं सर्वमिदंद्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरंगादिस्थानीयम्, समुद्रजलस्थानीयं तु परं ब्रह्म (बृहदारण्यक उपनिषद् पर शांकरभाष्य, 5 : 1)।

पृष्ठ 404—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च हेतुस्तात्पर्यनिर्णये॥

पृष्ठ ·16—तुलना कीजिए, शंकर के निरपेक्ष चैतन्य को जहां सर्वश्रेष्ठ साक्षी बताया गया है उसके साथ; निम्नलिखित छन्द को तर्कभाषा ग्रन्थ का बताया जाता है :

संविद् भगवती देवी स्मृत्यनुभववेदिका।
अनुभूतिः स्मृतेरन्या स्मृतिः संस्कारमात्रजा॥

पृष्ठ 421—साक्षात् सम्बन्ध प्रत्यक्ष का अनिवार्य लक्षण है, इन्द्रिय की क्रियाशीलता नहीं। ईश्वर का ज्ञान ऐन्द्रिक नहीं है वरन् साक्षात् (माध्यमरहित) है।

पृष्ठ 422-423—कुछ अद्वैतवादियों का मत है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष हमें विशुद्ध सत् (सन्मात्रम्) का ज्ञान देता है, भिन्न पदार्थों का नहीं, क्योंकि भिन्न पदार्थ कल्पनाजन्य हैं (सिद्धान्तलेशसंग्रह)।

पृष्ठ 427—अद्वैत वेदान्त में केवल ब्रह्म ही एक नित्य है और इस प्रकार वेदों की उपयोगिता भी केवल सापेक्ष अर्थों में ही मानी गई है।

पृष्ठ 427—ईश्वर प्रत्येक निर्माणकाल में वेदों का नये सिरे से उपदेश करते समय शब्दों की भूतपूर्व व्यवस्था को ठीक-ठीक सुरक्षित रखता है।

पृष्ठ 431, टि० 4—ज्ञानन्तु वस्तुतन्त्रत्वान्न देशकालनिमित्ताद्यपेक्षते, यथा अग्निरुष्ण आकाशो मूर्त इति तथा आत्मविज्ञानम् अपि (बृहदारण्यक पर शांकर भाष्य, 4 5, 15)।

पृष्ठ 432—अद्वैत वेदान्त की सत्यता का प्रमाण यह है कि इसमें परस्पर-विरोध नहीं है। बौद्ध धर्म की सफल क्रिया के मानदण्ड को न्याय ने इस प्रतिबन्ध के साथ स्वीकार किया है कि यह सत्य की कसौटी है, न कि उसकी विषयवस्तु। प्रमेय पदार्थ के साथ अनुकूलता ही सत्य का निर्माण करती है। अद्वैत का तर्क है कि अनुकूलता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता, इसका समवेत होने के कारण केवल अनुमान होता है। अथवा अनुभव की एकरसता से भी अनुमान होता है। इस दृष्टि से कुल आनुभविक सत्य सापेक्ष है। जिसके विपरीत अभी तक कुछ ज्ञान नहीं है वही सत्य है। यह सम्भव है कि कुछ आगे या प्राप्त अनुभव अत्यन्त आनुभविक सम्भाव्य सत्य का भी विरोधी सिद्ध हो जाए। हम कभी भी निश्चित रूप से यह नहीं जान सकते कि अमुक आनुभविक सत्य नितान्त रूप से सत्य है (न्यायमंजरी), पृष्ठ 62 और आगे तक।

पृष्ठ 436-437—अज्ञान के प्रभाव में आत्म तथा अनात्म का भेद नितान्त निरपेक्ष चैतन्य में आ जाता है। आत्मा अहं (सीमित मैं) की भांति व्यवहार करती है जिसने अन्तःकरण की परिधियों को मान लिया है। प्रतिबन्ध से तात्पर्य है अन्य पदार्थ की उपस्थिति तथा सम्भाव्य अज्ञान। परिणाम में दूसरे पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान होता है।

पृष्ठ 442—टि० 6—ब्रह्मदर्शने साधनम् उच्यते। मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृते-

नाचार्योपदेशपूर्वकम चानुद्रष्टव्यम् (बृहदारण्यक उपनिषद पर शाकरभाष्य, 4 4, 19)।

पृष्ठ 448 449—निम्नश्रेणी का ज्ञान भ्रामक होता है केवल इस अर्थ मे कि यह यथार्थता को छिपा देता है।

पृष्ठ 484 485—ब्रह्म की दृष्टि मे अविद्या नाम की कोई वस्तु ही नही है। किन्तु ब्रह्म साक्षीरूप से अविद्या को प्रकट करता है। जहा तक ईश्वर का सम्बन्ध है वह अविद्या अथवा माया के माध्यम मे से आरपार देख लेता है जो ईश्वर से भिन्न है क्योकि उसके लिए कोई भी आवरण नही है।

पृष्ठ 501 502—

अनादिभावरूप यद् विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षण सप्रचक्षते॥

(सर्वदर्शनसग्रह 13)।

पृष्ठ 509 510 – तुलना कीजिए, बृहदारण्यक उपनिषद् पर शाकरभाष्य, 2 1, 20। *परब्रह्मव्यतिरेकेण ससारिणा नान्यद वस्त्वन्तरम् अस्ति।*

पृष्ठ 520—वाचस्पति का उद्धरण देते हुए भीमाचार्य कहता है मायावादिमते त्रयो हि जीवस्योपाधय, तत्र सुषुप्तौ बुद्ध्यादिसस्कारवासितम अज्ञानमात्रम्, स्वप्ने जाग्रद्वासनामय लिगशरीर जाग्रदवस्थाया सूक्ष्मशरीरससृष्ट स्थूलशरीरमुपाधिरिति।

पृष्ठ 530—शकर ने निम्नलिखित दृष्टान्तो का वर्णन किया है यथाऽदभ्य सूर्यचन्द्रादिप्रतिविम्बो, यथा वा स्वच्छस्य स्फटिकस्यालक्तकाद्युपाधिभ्यो रक्तादिभाव एवम यथोदकालक्तकादिहेत्वपनये सूर्यचन्द्रस्फटिकादिप्रतिबिम्बो विनश्यति चन्द्रादिस्वरूपमेव परमार्थतो व्यवतिष्ठते, तद्वत् प्रज्ञानघनम् अनन्तम् अपार स्वच्छम अवतिष्ठते।

नवा अध्याय

पृष्ठ 590 591—निर्विकल्पकम् एकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम्, द्वितीयादिपिण्डग्रहण सविकल्पकम ' प्रथमप्रतीत्यनुसहितवस्तुसस्थानरूपगोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टत्व द्वितीयादिपिण्डग्रहणावसेयमिति द्वितीयादिग्रहणस्य सविकल्पकत्वम् (ब्रह्मसूत्र, पर रामानुजभाष्य, 1 1, 1)।

पृष्ठ 610—शुद्ध तत्त्व को शुद्ध सत्त्व भी कहा जाता है।

दसवा अध्याय

पृष्ठ 670—और भी देखे, बलदेव का गोविन्दभाष्य और प्रमेयरत्नावली' एम० सी० वसु का अग्रेजी अनुवाद, 'सैक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज' ग्रन्थमाला।

एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री 'शिवाद्वैत आफ श्रीकठ'।

ग्यारहवा अध्याय

पृष्ठ 774 टिप्पणी—और भी देखें, उदयन कृत आत्मतत्त्वविवेक यथा सर्वज्ञात्म-मुनि कृत सक्षेपशारीरक।

पारिभाषिक शब्द

अत.प्रज्ञावाद · Intuitionism
अकर्मण्यता : Indolence
अद्वैतवाद : Non-dualism
अधोनैतिक : Sub-moral
अध्यात्मविद्या-सबंधी विचार : Metaphysical views
अनुमान : Inference
अनीश्वरवाद : Agnosticism
अनु— वाद, रूढिवाद : Conservatism
अनुपलब्धि : Non-apprehension
अनेकान्तवाद : Pluralism
अन्वय : Agreement
अपूर्णता : Inadequacy
अभाव : Non-existence
अर्थापत्ति : Implication
अवतारवाद : Anthropomorphism
असत् : Non-being
आगम अनुमान : Induction
आगमनात्मक Inductive
आचार-नियम : Maxims of morality
आत्मनिष्ठ, व्यक्तिनिष्ठ : Subjective
आत्मनिष्ठ उपाधि : Subjective condition
आनन्दमार्गी, सुखवादी : Hedonist
आस्तिकवाद, ईश्वरवाद : Theism
इन्द्रिय-निग्रह : Sense control
एकेश्वरवाद : Monotheism
कार्यकारणभाव : Causation
कालक्रमिक : Chronological
कालदोष : Anachronism
केवलान्वय : Single agreement
खंडन : Refution
तर्कना, तर्क · Reasoning
तर्कवाक्य . Proposition
तर्कसम्मत यथार्थवाद Logical realism
दर्शन, आत्मविद्या · Philosophy
द्वैतवाद : Dualism

ध्यान	Contemplation
निगमनिक	Deductive
निरपेक्ष, परम, चरम	Absolute
निरपेक्षतावाद, परमसत्तावाद	Absolutism
निष्पत्ति	Accomplishment
नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र	Ethics
नैतिक निर्णय	Moral judgment
नैतिक साधना	Ethical preparation
पदार्थ, उपादान, विषयवस्तु	Matter
परमाणुवाद, सूक्ष्मवाद	Atomism
परा तथा अपरा विद्या	Higher wisdom and lower knowledge
परार्थानुमान	Syllogism
परोक्ष अभिप्राय	*Indirect intenti n*
परोक्ष ज्ञान	Indirect knowle ge
पश्च विचार	After thought
पूर्ववर्ती परिस्थिति	Antecedents
प्राणायाम	Breath control
प्रतिकूल, विरुद्ध	Adverse
प्रत्यक्ष	Intuition
प्रत्यक्षज्ञानवाद	Phenomenalism
प्रत्यक्ष ज्ञान, साक्षात्कार	Perception
प्रमाणवाद	Epistemology
प्रमाता, विषयी, अहम	Subject
बहुत्ववाद	Pluralism
बुद्धिवाद	Intellectualism
भौतिकवाद, जड़वाद	Materialism
मताग्रहिता	Dogmatism
मरणोत्तर जीवन	After-life
महाकाव्य-काल	Epic period
यथार्थ सत्ता	*Reality*
लक्षण	Criterion
लौकिक जीवात्मा	Empirical individual
वस्तुनिष्ठ	Objective
वस्तुनिष्ठ उपाधि	Objective condition
विशुद्धाद्वैतवाद	Pure monism
विश्लेषक तर्कवाक्य	Analytic proposition
विश्लेषण	Analysis
विश्लेषण, आनुभविक	*Empirical analysis*
विश्व का विकास	Cosmic evolution

विषयगत मार्ग : Objective approach
विषयिविज्ञानवाद, व्यक्तिनिष्ठावाद : Subjectivism
वैराग्यवाद : Asceticism
व्यष्टिवाद, व्यक्तिवाद : Individualism
व्यष्टि-सापेक्षतावाद : Individual relativism
व्यावहारिक, उपयोगितावादी : Pragmatic
शास्त्र की आप्तता : Scriptural authority
शास्त्र-प्रमाण : Scriptural testimony
शास्त्रीयवाद : Scholasticism
शास्त्रीय वाद-विवाद : Academic discussion
संक्रमण : Transition
सन्यासवाद : Asceticism
संश्लेषण : Synthesis
सष्टिशास्त्र : Cosmology
सत्, परम सत्ता, जीव : Being
सदृश, अनुरूप : Analogous
समवाय : Inherence
समानुपाती : Proportional
समायोजन : Accommodation
सापेक्ष : Relative
साम्यानुमान : Analogy
साम्यानुमान, मिथ्या : False analogy
सिद्धान्तबोधन : Indoctrination
सौन्दर्यबोधी, सौन्दर्यानुभूति-विषयक : Aesthetic
स्वगुणार्थक परिभाषा : Analytic definition
हेत्वाभास : Fallacies

॥ ॐ ॥

श्री तुलसी पुस्तकालय

(संरक्षक–श्री राम मन्दिर, भीमगंज मण्डी, कोटा-2)

पाठको को चाहिए कि जो पुस्तक वे पुस्तकालय से प्राप्त करें, उसे 15 दिन के अन्दर-अन्दर जमा करदे अन्यथा 7 दिन के पश्चात उनको 25 पैसे प्रतिदिन दण्ड स्वरुप प्रदान करने पडेगे । पुस्तकों की सुरक्षा आपकी अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की सुरक्षा है ।

सदस्य का नाम अथवा क्रम स.	पुस्तक लौटाने की अंतिम तिथि	सदस्य का नाम अथवा क्रम स०	पुस्तक लौटाने की अंतिम तिथि

साहित्य परिवार

राजपाल एण्ड सन्ज,
1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट,
दिल्ली-110006